1876

श्राः उभयवेदान्तग्रन्थमाला

॥ श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीभगवद्रामानुजभाष्येश

कवितार्किकसिंह-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-

श्रीमद्वेंकटनाथ-वेदान्तदेशिक-विरचितया तद्व्यारुयया

तात्पर्यचिन्द्रकया

संपादकीय-रसाखादारुयटिप्पणेन च

समेता

# Sri Bhagavad Gita

with

Sri Bhagavad Ramanuja's Bhashya

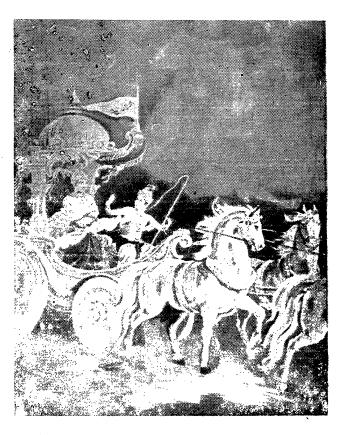
Srimad Vedanta Deoika's Commentary named Satparya Chandrika

Edited by Sri Abhinava Deoika (Uttamur) I. Viraraghavacharya with his footnotes

Price |

1972

[ Rs. 35



गीतार्थाः पार्थमोहः स्थिरचिदुपगितः कर्मयोगोऽस्य धीत्वं शैव्यं योगोऽथ भक्ताः तद्भिगितिभिदा भिक्तरूपं विभृतः । ऐशं रूपं च (तद्द्रग्धेतुश्र), पर्वक्रम इह भजनात् प्रागथ क्षेत्रतज्ज्ञौ त्रेगुण्यं पूरुवोऽप्रयोऽसुरकृति(हित)रिह दुश्श्रद्धता सर्वसारः ॥



Sri Bhagavad Ramanuja



Sri Vedanta Desika



Dr. V. Srinivasan

Rtd. Director General of Health Services, Government of India has borne the entire cost of this book.

இந்த கீதாபாஷ்ய தாத்பர்யசந்திரிகைகளின் அச்சுக்கு முழுப் பொருள் உதவி புரிந்த டாக்டர் ஸ்ரீநிவாஸன் பல தேசங்களில் உத் யோகம் செய்து ஓய்வெடுத்த பிறகு மீண்டும் உத்யோக முயற்சியை விட்டு ஸித்தாந்த ஸம்ப்ரதாய க்ரந்தங்களேப் பயின்றே போதுபோக்கு கின்றவரும், வித்யையின் அபிவிருத்திக்காகவே பணம் செலவு செய்ய வேண்டுமென்று பிறருக்கும் இவ் ஊக்கம் அளிப்பவருமான மஹான். முன்னே, புக்ட்ரஸ்டுக்கும் ரூ. 2500/- அளித்திருக்கிருர். மேலும் அளிக்க முன் வந்திருக்கிருர். சிறப்புடன் வாழ்க.



श्रीः श्रीम**द्भग**वद्गीताश्लोक-अकारादि

## प्रथम**प**ट्कम्

|                             |              | પ્રથમ                | <b>५ट्कम्</b>        |                  |
|-----------------------------|--------------|----------------------|----------------------|------------------|
| अकीर्ति चापि                | २ ३          |                      | ६ ३६ एवं बुद्धेः परं | ३ ४३             |
| <del>अ</del> च्छेद्योऽय     | २ २१         | ? असंशयं             | ६ ३५ एवं ज्ञात्व।    | 8 84             |
| अजोऽपि सन्नव्य              | 8 8          | स्थाकं तु            | <b>१</b> ७ एवं युझन् | ६२८              |
| अज्ञश्चाश्रद्               | 8 8 9        | ' अहो बत             | १ ४५ एषातेऽभि        | 7 39             |
| अन्तवन्त इमे                | २ १८         | : आचार्याः           | १ ३४ एषा ब्राह्मी    | ર હર             |
| अत्र शूरा                   | १ ६          | ? आत्मौपम्येन        | ६ ३२ कचित्रोभय       | <b>६ ३८</b>      |
| अथ केन प्रयु                | ३ ३६         | आपूर्यमाण            | २ ७० कथंन ज्ञेयम     | <b>१</b> ३९      |
| अथ चेत्त्वमिमं              | २ ३३         |                      | ६ ३ कथंभीष्म         | , , , ,<br>, , , |
| अथचैनं नित्य                | २ २६         | . आवृतं ज्ञान        | ३ ३९ कर्मजंबुद्धि    | ર પશ             |
| अथवा योगि                   | ६ ४२         | आश्चर्य              | २ २९ कर्मणैय हि      | ३ २०             |
| अथ न्यवस्थि                 | १२०          | इन्द्रियस्ये         | ३ ३४ कर्मणोद्यपि     | 8 <b>१</b> ७     |
| अधर्मामि                    | <b>8</b> 8 8 | इन्द्रियाणां         | २ ६७ कर्मण्यकर्म     | 8 <b>१</b> ८     |
| अनन्तविजयं                  | . १ १६       | इन्द्रियाणि परा      | ३ ४२ कर्मण्येवा      | २ ४७             |
| अनाश्रित:                   | ξ 🤻          | इन्द्रियाणि मनो      | ३ ४० कर्मब्रह्मो     | <b>૨</b> ૧૫      |
| अन्नाद्भव                   | ३ १४         | इमं विवस्व           | ४ १ कर्मेन्द्रियाणि  | <b>ξ</b> ξ       |
| अन्ये च बह                  | १९           | इष्टान् भोगान्       | ३ १२ काम एव          | ३ ३७             |
| अपरे निय                    | ४ ३०         | इ <b>है वतै</b> जिंत | ५ १९ कामकोध          | ५ २६             |
| अपर्याप्तं तद               | ११०          | उत्सन्नकुरु          | १ ४४ कःमात्मानः      | २ ४३             |
| अपाने जुह्नति               | ४ २९         | <b>उत्सीदेयुरिमे</b> | ३ २४ कायेन मन        | 4 88             |
| <b>अ</b> पिचेदसि            | 8 ३          | उद्धरेदा             | ६ ५ कार्पण्यदो       | ર ૭              |
| अयुनेषु च                   | १ ११         | एतं में संशयं        | ६ ३९ काश्यश्च        | શે ૧૭            |
| <b>भ</b> यति <b>३श्रद्ध</b> | ६ ३७         | एतान्न हन्तु         | १ ३५ काङ्क्षन्तः     | ४ १२             |
| अवरं भवतो                   | 8 8          | एवमुक्तो             | १ २४ किं कर्मकिम     | 8 <b>१६</b>      |
| अवाच्यवा                    | २ ३६         | एवमुक्त वार्जुन      | १ ४७ कुतस्त्वा       | २ २              |
| अविनाशितु                   | २ १७         | एवमुकवा हवी          | २ ९ कुलक्षये प्रण    | 8 80             |
| अव्यक्तादीनि<br>-           | २ २८         | एवं परम्परा          | ८ २ क्रुपया पर       | १ २८             |
| अन्यक्तोऽयं                 | २ २५         | एवं प्रवितर्ते       | ३ १६ कोघाद्ववति      | २ ६३             |
| अशोच्या                     | २ १ <b>१</b> | एवं बहुविधा          | ४ ३२ क्रैब्यंमा      | २ ३              |
|                             |              |                      |                      |                  |

### **उभयवेदान्तग्रन्थमा**ला

| गतसङ्गस्य              | 8 २            | ३ तस्य संजन           | {      | १२          | न हि प्रपर्या        | ર        | <           |
|------------------------|----------------|-----------------------|--------|-------------|----------------------|----------|-------------|
| गाण्डीवं               | <b>१</b> ३     | ० तानि सर्वाणि        | ₹      | ६१          | न हि ज्ञानेन         | 8        | ३८          |
| गुरूनहत्वा             | २ '            | ९ त्यवत्वाकर्म        | 8      | २०          | नात्यश्रतस्तु        | Ę        | १६          |
| चश्चलं हि              | ६ ३            | ३ तेंगुण्यविषया       | 2      | 84          | नादते कस्य           | 4        |             |
| चातुर्वण्यं            | 8 6            | ३ दुःखेष्वनु          | २      | 4 ६         | नासतो विद्यते        | <b>ર</b> |             |
| जन्म कर्म              | 8 (            | ९ दूरेण ह्यवरं        | २      | ४९          | नास्ति बुद्धि        | ع        |             |
| जातस्य हि              | २ २            | ॰ दृष्टा तु           | 8      | २           | निमित्तानि           | 8        | ₹.          |
| <b>जितात्मनः</b>       | ६              | ९ हर्षेमं खजनं        | 8      |             | नियतं कुरु           | ą        | ۷.          |
| ज्ञानविज्ञान           | ξ .            | देवान् भाव            | ą      | ११          | निराशीर्थ            | 8        | २१          |
| ज्ञानेन तु             | ٠٩ و و         | देही नित्य            | २      | ३०          | निहत्य धार्त         | ۶        | <br>३६      |
| ज्ञेयस्स नित्य         | ષ ફ            | देहिनोऽसिन्           | २      | १३          | नेहाभिक्रम           | ર        | 80          |
| ज्यायसी                | ₹ १            | दैवमेवापरे            | 8      | २५          | नैनं छिन्दन्ति       | ۶        | २३          |
| ज्योतिषा               | * ₹ <b>१</b> ५ | वोषेरेतै:             | १      | ४३          | नैव किश्चित्क        | પ્       | ۷.          |
| तंतथा कृप              | २ १            | द्वयग्जा              | 8      | २८          | नैव तस्य कृते        | 3        | १८          |
| ततश्रङ्खाश्च           | ११३            | दुपदो द्रौपदे         | ٤      | १८          | परित्राणाय           | 8        | `.          |
| ततः श्वेतेह            | <b>११</b> 8    |                       | ₹<br>₹ | ३८          | पश्यैतां पाण्डु      | *        | 3           |
| तत्त्ववितु             | ३ २८           | धर्मक्षेत्रे कुरु     | ٠ १    | 8           | पार्थ नैवेह          | ٠<br>٤   | 80          |
| तत्नतं बुद्धि          | ६ ४३           | <b>धृष्टकेतु</b> श्चे | 8      | Le          | पाश्चजन्यं           | <u>`</u> | ېرم         |
| तलापश्यत्              | १२६            | _                     | ર      | ६२          | पूर्वाभ्यासेन        | ۾        | 88          |
| तत्रेकाग्रं            | ६ १२           | न कर्तृत्वं           | ч      | <b>8</b> 8  | नकृतेः किय           | ÷        | २७          |
| तद्बुद्धय              | . ૫ ૧૭         | न कर्मणा              | ₹      | ,8          | प्रकृतेर्गुण         | <b>`</b> | २९          |
| त्द्विद्धि प्र         | ८ ई८           | न काङ्क्षे            | 8      | ३२          | प्रजहाति             | ۶        | <b>પુષ્</b> |
| तपस्विभ्यो             | ६ ४६           |                       | ą      | ξ           | पयलाद्यत             | ξ        | 84          |
| तमुवाच                 | २ १०           | न जायते               | २      | २०          | <b>प</b> ळपन्त्रिस्  | ų        | 9           |
| तं विद्यादुः           | ६ २३           | न त्वेवाहं            | २      | १२          | पशान्तमनसं           | ξ        | २७          |
| तसात्त्व               | ३ ४१           |                       | ષ      | २०          | <b>प्रशान्तात्मा</b> | ξ        | 88          |
| तसादसक्तः              | ३ १९           | न बुद्धिमेदं          | ₹      | २ ६         | प्रसादे सर्वदुःखा    | २        | ६५          |
| तसादज्ञान              | 8 85           | न मांकर्माणि          | 8      | <b>\$</b> 8 | प्राप्य पुण्यकृतां   | ξ        | 8 8         |
| तसाद्यस्य<br>तसात्राहो | २ ६८           | न मे पार्था           | ₹      | २२          | बहूनि में व्यती      | 8        | ч           |
| 4411416                | <b>१</b> ३७    | न हिकश्चि             | Ę      | 4           | बन्धुरातमातमनः       | ६        | ६           |

| बुद्धियुक्तो २ ५० यं छड्डिया ६ २२ यो मां पश्यति ६ ३ व्रिक्षण्याघाय ५ १० यं संन्यास ६ २ योऽत्रं योग ६ ३ व्रिक्षण्याघाय ५ १० यं संन्यास ६ २ योऽत्रं योग ६ ३ व्रिक्षण्याघाय ५ १० यं संन्यास ६ २ योऽत्रं योग ६ ३ व्रिक्षण्याद्व २ ३५ यस्त्रवेत्रान २ ५७ छमेते ब्रह्म ५ २५ मधान् भीष्म १ ८ यस्त्वास्म ३ १७ छोकेऽस्मिन् ३ मधान् भीष्म १ ८ यस्त्वास्म ३ १७ छोकेऽस्मिन् ३ मधान्म भीष्म १ ८ यस्त्वास्म १ १ व्रिक्षान्त्रियाणि ३ ७ व्रासांसि २ २ भीष्म विद्याणि ३ ७ व्रासांसि १ २ भीष्म विद्याणि ३ १० व्याप्तास्म १ १० विद्याणि १ १० व्याप्तास्म १ १० व्याप्त |                    |    |     | •                |     | •          |                    |          | -          |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------|----|-----|------------------|-----|------------|--------------------|----------|------------|
| बुद्धियुक्तो २ ५० यं स्टब्धा ६ २२ यो मां पश्यति ६ ३ व्रिक्षण्याधाय ५ १० यं संन्यास ६ २ योऽयं थोग ६ ३ व्रिक्षण्याधाय ५ १० यं संन्यास ६ २ योऽयं थोग ६ ३ व्रिक्षण्याध्य ५ १० यं संन्यास ६ २ योऽयं थोग ६ ३ व्रिक्षण्याद्व २ ३५ यस्त्रवेत्रान २ ५० स्टब्स्म ५ २ व्यक्तिऽस्मिन् ३ १० स्टेक्ष्रिम्म १ १ ८ यस्त्रवेत्रान ३ १० स्टेक्ष्रिम्म १ १ ८ यस्त्रवेत्राण ३ ० वासांसि २ २ में में में प्रथमित १ १० यह्म सर्वे समा १ १ ९ विद्याविनय ५ १० से में में में प्रथमित १ १० यह्म सर्वे समा १ १ ९ विद्याविनय ५ १० यह्म सर्वे समा १ १ १ विद्याविनय ५ १० यह्म सर्वे समा १ १ १ विद्याविनय ५ १० यह्म सर्वे समा १ १ १ विद्याविनय १ १ १ व्यवित्याय १ १ १ व्यव्यायता १ १ व्यव्यायता १ १ १ व्यव्यायता १ १ १ व्यव्यायता १ १ व्यव्यायता १ १ व्यव्यायता १ व् | बाह्यस्पर्शेष्व    | ч  | २ १ | यद्यप्येते न     | १   | ३८         | योऽन्तस्सुखो       | ų        | २४         |
| न्नसण्याधाय ५ १० यं संन्यास ६ २ योऽत्रं योग ६ ३ विमाणि निर्माणि निर्माण १ २५ यस्तिवेतान २ ५७ ल्यानिते निर्माण १ २५ यस्तिवेतान २ ५७ ल्यानिते निर्माण १ २५ यस्तिवेत्राण ३ ७ वासांसि २ २ मिणा विमाण १ २५ यस्तिवित्रयाणि ३ ७ वासांसि २ २ मिणा विमाण १ २५ यस्तिवित्रयाणि ३ ७ वासांसि २ २ मिणा विमाण १ २५ यस्तिवित्रयाणि ३ ७ विद्याविनय ५ १० मेणा विमाण १ २५ यस्तिवित्रयाणि ३ १० विद्याविनय ५ १० मेणा विमाण १ ३० यद्याधारित ३ १३ विद्याय का २ ७० मालास्पर्शास्त्र २ १४ यद्याधारित ३ १३ विद्याय का २ ७० मालास्पर्शास्त्र २ १४ यद्याधारित ३ १३ विद्याय का २ ७० मालास्पर्शास्त्र २ १४ यद्याधारित ३ १३ विद्याय का २ ७० मालास्पर्शास्त्र २ १४ यद्याधारित ३ १३ विद्याय का २ ७० मालास्पर्शास्त्र २ १४ यद्याधारित ३ १३ विद्याय का २ ७० मालास्पर्शास्त्र २ १४ यद्याधारित ३ १३ विद्याय का २ ७० मालास्पर्शास्त्र २ १४ यद्याधारित ३ १३ विद्याय का २ ७० मालास्पर्शास्त्र २ १४ यद्यामिमां २ १२ व्यामिश्रेणेव ३ व्यामिश्रेणेव १ १० व्यामिश्रेणेव १ व्यामिश्रेणेव १ व्यामिश्रेणेव १ १० व्यामिश्रेणेव १ १ व्यामिश्रेणेव १ व्यामिश्रेणेव १ व्या | बुद्धियुक्तो       | २  | ५०  | यं लब्धवा        | ξ   | २२         |                    |          | <b>३</b> ० |
| न्नभार्षणं त्रञ्च ४ २४ यं हि न ब्यथ ं - २ १५ रागह्रेषवियु २ ६५ भयाद्रणाहु २ ३५ यस्त्रंत्रान २ ५७ लमस्ते त्रञ्च ५ २५ मान्यान् भीष्म १ ८ यस्त्रास्म ३ १७ लोकेऽस्मिन् ३ ३ भीष्मद्रोण १ २५ यस्त्राह्मिन्य ३ १० लोकेऽस्मिन् ३ ३ भीष्मद्राण १ २५ यस्त्राह्मिन्य १ १५ विद्याविनय ५ १५ मोग्रिश्चर्यत्रसक्ता २ ४४ यज्ञाश्चाह्मत ४ ३१ विद्याविनय ५ १५ मालास्पर्शास्त्र २ ४४ यज्ञाश्चाह्मित ३ १३ विद्याय का २ ७५ मालास्पर्शास्त्र २ १४ यज्ञाश्चाह्मि ३ ९ वीतराम ४ १५ यानिया २ ६९ वेदाविना २ १५ यानिया २ ६९ व्यावित्रयमनो ५ २८ यावानर्थ २ १६ व्यामिश्रणेव ३ ३ व्यामिश्रणेव ३ ३ व्यावित्रयमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ व्यामिश्रणेव ३ व्यावित्रयमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ व्यामिश्रणेव ३ व्यावित्रयमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ व्यामिश्रणेव ३ व्यावित्रयमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ व्यावित्रयमनो ६ २० यक्ताहार ६ १७ य्रचौतिहैंव ५ २३ व्यावित्रयमते ६ २० यक्ताहार ६ १७ य्रचौतिहैंव ५ १३ व्यावित्रयास १ १ य युक्ततेवरम्य ३ ३२ श्रेयान्द्रव्य १ ३ व्यावित्रयास १ १ व्यावित्रयम्य ३ ३२ श्रेयान्द्रव्य १ ३ व्यावित्रयास १ १० ये मे मतमिदं ३ ३१ श्रेयान्द्रव्य १ ३ व्यावित्रया १ १ व्यावित्रयो १ १० ये प्रेष्टि संस्पर्य ५ २२ स एवार्य १ २० वेदावित्रया १ १ व्यावित्रयं १ ११ व्यावित्रयं १ १० वेद्याव्रया १ १ व्यावित्रयं १ ११ व्याव्रया १ १ व्याव्रयो १ १० वेद्याव्रया १ १ व्याव्रयो १ १० वेद्याव्यया १ १ व्याव्ययामम् १ ११ व्याव्यया १ १६ वेद्याव्यया १ १६ वेद्याव्यया १ १६ वेद्याव्यया १ १६ वेद्याव्यया १ १ व्याव्यया १ १ व्याव्यया १ १ व्याव्ययाम्य १ व्याव्ययाम्य १ १ व्याव्ययाम्य १ १ व्याव्ययाम्य १ १ व्याव्ययाम्य १ १ व्याव्ययाम्य १ व्याव्ययम्य १ व्याव्ययाम्य १ व्याव्ययाम्य १ व्याव्ययम्य १ व्याव |                    | ч  | १०  | यं संन्यास       | ξ   | <b>ર</b>   |                    |          | 33         |
| भवाहणाहु २ ३५ यस्तर्वज्ञान २ ५७ छमन्ते ब्रह्म ५ १९ भवान् भीष्म १ ८ यस्त्रास्म ३ १७ छोकेऽस्मिन् ३ १ मिण्नद्रोण १ २५ यस्त्रिह्मवाणि ३ ७ वासांसि २ २ भोगेषार्थवेष्ठसक्ता २ ४४ यह्तिह्मवाणि ३ १९ विद्याविनय ५ १९ मेगेषार्थवेष्ठसक्ता २ ४४ यज्ञिष्ठाष्ट्रास्त ४ ११ विद्याविनय ५ १९ यज्ञिष्ठाष्ट्रास्त ४ ११ विद्याविनय ५ १९ यज्ञिष्ठाष्ट्रास्त ३ १३ विद्याय का २ ७१ मालास्पर्शास्तु २ १४ यज्ञार्थास्कर्म ३ ९ वीतराग ४ १९ यण्ने वेति २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ २ ११ या मिमां २ ४२ च्यवसाया २ ४ वतो द्वापि २ ६० यावदेतान् १ २२ व्यामिश्रणेव ३ ३ व्यामिश्रणेव ३ ३ व्यामिश्रणेव ३ ३ व्यामिश्रणेव ६ १० युक्तावर्ग ६ १० ये वे मेमतिम्वं ३ ३१ श्रेयान्द्रव्य ४ ३ व्यामिश्रणेव ६ १० ये वे मेमतिमवं ३ ३१ श्रेयान्द्रव्य ४ व्यामिश्रणेव ६ १० ये वे मेमतिमवं ५ ११ य्यामिश्रणेव ६ १० ये वित्तवर्ग १ १० यामिश्रणेव ६ १० ये वित्तवर्ग १ १० ये वित्तवर्ग १ १० ये वित्तवर्ग १ १० ये वित्तवर्ग १ व्यामिश्रणेव ६ १० ये वित्तवर्ग १ व्यामिश्रणेव ६ १० ये वित्तवर्ग १ व्यामिश्रणेव ६ १० योग्रणेवर्ग १ १० यामिश्रणेव ६ १० योग्रणेवर्ग १ व्यामिश्रणेव ६ १० योग्रणेवर्ग १ व्यामिश्रणेव ६ १० योग्रणेवर्ग १ व्यामिश्रणेवर्ग १ व्यामिश्रणेवर्य १ व्यामिश् | त्रक्षार्पण ब्रह्म | 8  | २४  | यं हिन व्यथ      | i 7 | १५         | रागद्वेषवियु       | •        | ξ8         |
| भवान् भीष्म १ ८ यस्त्वास्म ३ १७ छोकेऽस्मिन् ३ १ भीष्मद्रोण १ २५ यस्त्विन्द्र्याणि ३ ७ वासांसि २ २ भीषामुं वज्ञ ५ २९ यस्त्र सर्वे समा ४ १९ विद्याविनय ५ १९ भोगेश्वर्यत्रसक्ता २ ४४ यज्ञाशिष्ट्राच्य ४ ११ विद्याविनय ५ १९ मेगेग्रेश्वर्यत्रसक्ता २ ४४ यज्ञाशिष्ट्राच्य ४ १३ विद्याय का २ ७१ मात्वास्पर्शास्तु २ १४ यज्ञाशिस्त्रमी ३ ९ वीतराग ४ १९ य एनं वेति २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ १९ या मिमां २ ४२ व्यवसाया २ ४ यत्तेति ह्यपि २ ६० यावदेतान् १ २२ व्यामिश्रेणेव ३ व्यतिद्र्यमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ श्रातिहेव ५ २३ यत्तेतिह्रयमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ श्रातिहेव ५ २३ यत्तेतिह्रयमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ श्रातिहेव ५ २३ यत्तेतिह्रयसनो ६ २० यत्तेतिहर ६ १७ श्रुचौ देशे ६ १९ यत्तेतिहर ५ ५ य युक्तांतिहेव ५ ११ यत्तेतिहर ५ ५ युक्तांतिहेव ६ १९ श्रुचौ देशे ६ १९ यशास्त्र १ १ १ श्रुचतेतिहर ६ १० युक्तांतिहेव १ ११ यद्वांति १ १ १ युक्तांतिहर १ १ १ य्रुचतेत्वस्य ३ ३२ श्रेयान्द्रव्य ४ ३ १ व्यामिश्रेय यथा दीपो ६ १९ युधामन्युश्च १ ६ श्रुचतिवित्रति २ ५ यथा विनियतं ६ १८ येषामर्थे का १ ११ श्रेवात्वस्य ३ ३२ श्रेवात्वस्य ३ ३२ योषान्यत्व १ १ १ य्याम्यत्व १ १ १ योषाम्यत्व १ १ १ योषाम्यत्व १ १ १ योषाम्यत्व १ १ १ स्त्राच्या १ १ १ व्याम्यत्व १ १ १ स्त्राच्या १ १ स्त्राच्या १ १ १ स्त्राच्या १ १ १ स्त्राच्या १ १  |                    | २  | ३५  | यस्सर्वत्रान     | ं२  | ५७         | लमन्ते ब्रह्म      |          | ૨५         |
| मोजारं यज्ञ ५ २५ यस्विन्द्रियाणि ३ ७ वासांसि २ २ स्मित्तारं यज्ञ ५ २० यस्य सर्वे समा ४ १९ विद्याविनय ५ १० मोगेश्वर्यव्यस्ता २ ४४ यज्ञशिष्टामृत ४ ११ विद्याविनय ५ १० मात्रास्पर्शास्त्र २ १४ यज्ञशिष्टामृत ४ ११ विद्याय विनि २ ५० मात्रास्पर्शास्त्र २ १४ यज्ञशिष्टामृत ३ १३ विद्याय का २ ७१ मात्रास्पर्शास्त्र २ १४ यज्ञशिष्टामृत ३ १३ विद्याय का २ ७१ मात्रास्पर्शास्त्र २ १४ यज्ञशिष्टामृत ३ १ विद्याय का २ ११ यण्ने विति २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ २ १ यज्ञशिष्टाच १ १ २० व्यामिश्रेणेव ३ व्यामिश्रेणेव ५ व्यामिश्रेणेव ६ व्यामिश्रेणेव | भवान् भीष्म        | 8  | ۷   | यस्त्वात्म       | ३   | १७         | <b>होकेऽस्मिन्</b> | ą        | 3          |
| मोक्तारं यज्ञ ५ २९ यस्य सर्वे समा ४ १९ विद्याविनय ५ १९ मोगैश्वर्यत्रसक्ता २ ४४ यज्ञशिष्टाचित ४ ३१ विद्याय का २ ७५ मात्रास्पर्शास्तु २ १४ यज्ञशिष्टाचित ३ १३ विद्याय का २ ७५ मात्रास्पर्शास्तु २ १४ यज्ञशिष्टाचित ३ १३ विद्याय का २ ७५ मात्रास्पर्शास्तु २ १४ यज्ञशिष्टाचित ३ १३ विद्याय का २ १५ य एनं वेति २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ २५ यज्ञाला न ४ ३५ यामिमां २ ४२ व्यवसाया २ ४ यत्रती ह्यिप २ ६० यावदेतान् १ २२ व्यवसाया २ ४ यत्रवेतिह्ययमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ छन्तेतिहिव ५ २ यत्रवेतिह्ययमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ छन्तेतिहिव ५ २ यत्रवेतिह्ययमनो ६ २० युक्ताहार ६ १५ श्रद्धावांछभते ६ २० युक्ताहार ६ १५ श्रद्धावांछभते ४ ३० यत्रवेतदभ्य ३ ३२ श्रेयानद्वय ४ ३० येत्रवेतदभ्य ३ ३१ श्रेयान् स्व ३ २० येवामर्थे का १ २२ यश्चामं ४ ११ श्रे श्रोलादीनी ४ २६ यद्या विनियतं ६ १८ येवामर्थे का १ २२ यश्चरां ६ १४ सक्ताः कर्म ३ २० यद्वा विद्या १ ४६ योगस्वन्यतः ४ ४१ स्व योगस्वन्यतः ४ ४१ स्व योवाचे १ ४६ योगस्वन्यतः ४ ४१ स्व योवचे १ १६ योगस्वन्यतः ४ ११ स्व योवचे १ १६ योगस्वन्यतः ४ ४१ स्व योवचे १ १६ योगस्वन्यतः ४ ४१ स्व योवचे १ १६ योगस्वन्यतः ४ ४२ योगस्वन्यतः ४ ११ स्व यावच्च १ १२ योगस्वन्यतः ४ ४१ स्व योगस्वन्यतः ४ ११ स्व यावच्च १ १२ योगस्वन्यतः ४ ३२ योगस्वन्यतः ४ ११ स्व यावच्च १ १२ योगस्वन्यतः ४ ४१ स्व योगस्वन्यतः ४ ११ स्व यावच्च १ ११ योगस्वन्यतः ४ ११ स्व योगस्वन्यः १ ११ स्व यावच्यः १ १२ योगस्वन्यः ४ योगस्वन्यः १ ११ स्व योगस्वन्यः १ १ १ स्व योगस्वन्यः १ ११ स्व योगस्वन्यः १ १ ११ स्व योगस्वन्यः १ १ १ स्व योगस्वन्यः १ १ योगस्वन्यः १ १ १ स्व योगस्वन्यः १ योगस्वन्यः १ १ १ स्व योगस्वन्यः १ योगस्वन्यः १ योगस्वन्यः १ योगस्वन्यः १ य | र्भ:ष्मद्रोण       | १  | २५  | यस्त्विन्द्रयाणि | 3   | ૭          | वासांसि            | ۶        | <b>२</b> २ |
| भोगैश्वर्यत्रसक्ता २ ४४ यज्ञशिष्टामृत ४ ३१ विषया विनि २ ५५ मिय सर्वाणि ३ ३० यज्ञशिष्टाशि ३ १३ विद्यय का २ ७५ मात्रास्पर्शास्त्र २ १४ यज्ञार्थास्कर्म ३ ९ वीतराग ४ १५ य एनं वेति २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ २५ यज्ञात्वा न ४ ३५ यामिमां २ ४२ व्यवसाया २ ४ यत्रते ह्यपि २ ६० यावदेतान् १ २२ व्यवसाया २ ४ यत्रते ह्यपि २ ६० यावदेतान् १ २२ व्यवसायो २ ४ यत्रते ह्यपि २ ६० याववित्रयमनो ५ २८ यावावर्थ २ ४६ श्रुक्तोतिहैव ५ २ व्यत्रते स्वरो ६ २६ युक्तः कर्मफळं ५ १२ श्रुक्तेतिहैव ५ २ यत्रते व्यत्राप्ते ६ २० युक्ताहार ६ १५ श्रुह्मते विवयते १ १ यत्रते प्रस्ते १ ५ ५ युक्तह्य सदा ६ १५ श्रुह्मते १ १ ५ युक्तह्य सदा ६ १५ श्रुह्मते १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           |                    | ષ  | २९  | यस्य सर्वे समा   | 8   | १९         |                    | 4        | १८         |
| मिय सर्वाणि ३ ३० यज्ञशिष्टाशि ३ १३ विहाय का २ ७१ मालास्पर्शास्तु २ १४ यज्ञार्थास्तर्भ ३ ९ वीतराग ४ १९ य एनं वेति २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ ११ याममां २ ४२ व्यवसाया २ ४ याममां ४ १ १६ श्रातिहिंद ५ २ यामिश्रेणेव ३ व्यवसाया १ ४ ११ यामभ्रेणेव ३ व्यवसाया १ ४ ११ यामभ्रेणेव १ ११ यामम्युश्च १ ६ १७ याम्युश्च १ ६ श्रातिविश्वति २ ५ व्यवसाया १ ४ थे ये त्वेतदस्य ३ ३१ श्रेयान्दस्य ४ ३३ य्रयामां ४ ११ श्रेवान्यत्य ४ ३१ श्रेयान्यत्य ४ ३१ श्रेवान्यत्य ४ ३१ श्रेवान्यत्य ४ ३१ श्रेवान्यत्य ४ ३१ थ्रात्याच्या १ ५० ये याममं ४ ११ श्रेवान्यत्य १ १ १ यामभ्रेवे का १ ३३ थ्रयुरान्यु १ १ १ यदा संहरते २ ५८ येपामर्थे का १ ३३ थ्रयुरान्यु १ १ व्यवसायत्य १ ४६ योगसंन्यत्य ४ ३१ स्वेत्यां १ १ १ व्यवसायत्य १ ४६ योगसंन्यत्य १ १ १ सक्ताः कर्म १ १ १ स्वेत्यत्य १ १ १ स्वेत्यस्य १ १ १ सक्ताः विनयत्य १ १ १ स्वेत्यस्य १ १ १ स्वेत्यस्यस्य १ १ १ स्वेत्यस्यस्य १ १ १ स्वेत्यस्य १ १ १ स्वेत्यस्यस्य १ १ १ स्वेत्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस्यस्                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                              | भोगैश्वर्यप्रसक्ता | २  | 88  | यज्ञशिष्टामृत    | 8   |            | विषया विनि         |          | ५९         |
| मालास्पर्शास्तु २ १४ यज्ञार्थास्कर्म ३ ९ बीलराग ४ १९ य एनं वेति २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ १९ या निशा २ ६९ वेदाविना २ १९ या निशा २ ६९ व्यवसाया २ ४ ४ या निर्मा २ ४२ व्यवसाया २ ४ ४ या निर्मा २ ४२ व्यवसाया २ ४ ४ या निर्मा २ ४२ व्यवसाया २ ४ ४ या निर्मा २ ४ १ १ व्यवसाया २ ४ ४ या निर्मा १ १ १ या निर्मा १ १ १ श्रे श्रे श्रे श्रे श्रे श्रे श्रे श्रे                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                        | मयि सर्वाणि        | ३  | ३०  | यज्ञशिष्टाशि     | 3   | -          | विहाय का           | ·<br>₹   | ७१         |
| य एनं वेति                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                    | मात्रास्पर्शास्तु  | २  | 88  | यज्ञार्थात्कर्म  | 3   |            |                    | •        | १०         |
| यज्ञात्वा न ४ ३५ यानिमां २ ४२ व्यवसाया २ ४ यततो ह्यापि २ ६० यावदेतान् १ २२ व्यामिश्रेणेव ३ ः व्यतेत्वियमनो ५ २८ यावार्व्य २ ४६ शक्तोतीहेव ५ २ व्यतिव्यमनो ५ २८ यावार्व्य २ ४६ शक्तोतीहेव ५ २ व्यतिव्यमनो ६ २६ युक्तः कर्मफळं ५ १२ शनैस्थानेस्प ६ २५ युक्ताहार ६ १७ शुनौ देशे ६ ११ यक्तोपरमते ६ २० युक्ताहार ६ १७ शुनौ देशे ६ ११ यखा दीपो ६ १९ युवामन्यश्च १ ६ श्रुतिवियति २ ५ यथा दीपो ६ १९ युवामन्यश्च १ ६ श्रुतिवियति २ ५ यथा दीपो ६ १० ये मे मतिमदं ३ ३१ श्रेयान्द्व्य ४ ३ यवायदा ४ ७ ये यथा मां ४ ११ श्रोलादीनी ४ २६ यदा विनियतं ६ १८ येवामर्थे का १ ३३ श्रशुरान्छ १ २५ यदा सेहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्य ४ वदा सहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्य ४ वदा व्यत्वा हि ६ ४ योगसंन्यस्त ४ ४१ स चोषो १ १६ यदा स्वा वदा वदा वदा वदा व १ ४६ योगसंन्यस्त ४ ४१ स चोषो १ १६ यदा व्यत्वा व १ २२ योगसंन्यस्त ४ ४१ स चोषो १ १६ यदा व्यत्वा व १ २२ योगसंन्यस्त ४ ४१ स चोषो १ १६ यदा व्यत्वा व १ २२ योगसंन्यस्त ४ ४१ स चेक्समीणि ५ १६ यदच्छालाम ४ २२ योगीयुक्तीत ६ १० सर्वक्समीणि ५ १६                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                   | य एनं वेति         | २  | १९  | या निशा          | 2   | ६९         |                    | <b>ર</b> | ٠<br>२१    |
| यतेन्द्रियमनो ५ २८ यावानर्थ २ ४६ शक्तोतीहैंव ५ २३ यतोवतो ६ २६ युक्तः कर्मफळं ५ १२ शनैदशनैरुप ६ १९ युक्तोद्दर्श ६ १९ युक्तोद्दर्श ६ १९ युक्तोद्दर्श ५ १ युक्तवेदं सदा ६ १५ श्रद्धावांछमते ४ ३९ यद्धावां स्था दिपो ६ १९ युधामन्युश्च १ ६ श्रुतिवित्रति २ ५३ यथेघांसि ४ ३० ये त्वेतद्दश्य ३ ३२ श्रेयान्द्रव्य ४ ३३ यद्धाते मोह २ ५२ ये मे मतिमदं ३ ३१ श्रेयान्द्रव्य ४ ३३ यद्धात्रवा ४ ७ ये यथा मां ४ ११ श्रोत्रवित्रिती ४ २६ यद्धायदा ४ ७ ये यथा मां ४ ११ श्रोत्रवित्रिती ४ २६ यद्धात्रवा ४ ५ ये हे संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ ३व यद्धा त्वेतित्रते २ ५८ ये हे संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ ३व यद्धा त्वेहरते २ ५८ ये हे संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ ३व यद्धा त्वेहरते २ ५८ ये हे संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ ३व यद्धा त्वेह मामप्रती १ ४६ योगसंन्यस्त ४ ४१ स घोषो १ १० यद्धा व्यव्या स ३ २३ योगसंन्यस्त ४ ४१ स घोषो १ १० यद्धा व्यव्या २ ३२ योगसंन्यस्त ६ ४० समं कायिश ६ १३ यहच्छ्या २ ३२ योगमांमपि ६ ४० सर्वक्रमाणि ५ १ ११ यहच्छ्या ४ ३२ योगी युक्तीत ६ १० सर्वक्रमाणि ५ ११                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                               |                    | 8  | ३५  | यामिमां          | २   | 83         | <b>च्</b> यवसाया   |          | 83         |
| यतीयती ६ २६ युक्तः कर्मफळं ५ १२ श्री-इश्री-स्थ ६ २९ यत्नीप्रमते ६ २० युक्ताहार ६ १७ युजी देशे ६ १९ यस्तांख्येः ५ ५ युक्ताहार ६ १७ श्रद्धावांछभते ४ ३० यस्तांख्येः ५ ५ युवामन्युश्च १ ६ श्रुतिविपति २ ५ यथ्या दीपो ६ १९ युवामन्युश्च १ ६ श्रुतिविपति २ ५ यथ्या तो मोह २ ५२ ये मे मतिमदं ३ ३१ श्रेयान्द्व्य ४ ३३ यदा ते मोह २ ५२ ये मे मतिमदं ३ ३१ श्रेयान् स्व ३ ३० यदायदा ४ ७ ये यथा मां ४ ११ श्रोलादीनी ४ २६ यदा विनियतं ६ १८ येषामर्थे का १ ३३ श्रयुरान्छ १ २५ यदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्य ४ वदा हि ६ ४ योगस्वन्यत ४ ४१ स घोषो १ १९ यदा सामप्रती १ ४६ योगसंव्यतः ४ ४१ स घोषो १ १९ यदि सामप्रती १ ४६ योगसंव्यतः ४ ४१ स घोषो १ १९ यदि स्वयं न ३ २३ योगस्वः कुरु २ ४८ सहश्चे चेष्टते ३ ३३ यहच्छ्या २ ३२ योगनांमपि ६ ४७ समं कायशि ६ १६                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                         |                    | २  | ६०  | यावदेतान्        | ?   | २२         | व्य≀मिश्रेणैव      | 3        | २          |
| यक्षोपरमते ६ २० युक्ताहार ६ १७ शुनौ देशे ६ १९ यस्सांख्येः ५ ५ युक्ताहार ६ १७ श्रुनौ देशे ६ १९ यस्सांख्येः ५ ५ युक्तान्युश्च १ ६ श्रुनिवियति २ ५ यथ्या दीपो ६ १९ युवामन्युश्च १ ६ श्रुनिवियति २ ५ यथ्या ति मोह २ ५२ ये मे मतिमिदं ३ ३१ श्रेयान् स्व ३ ३७ यदायदा ४ ७ ये यथा मां ४ १९ श्रोलादीनी ४ २६ यदा विनियतं ६ १८ येपामर्थे का १ ३३ श्रेशान्युश्च १ २५ यदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ वदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ वदा स्वा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ वदा सामप्रती १ ४६ योगसंत्र्यस्त ४ ४१ स घोषो १ १९ यदि स्वां न ३ २३ योगसंत्र्यस्त ४ ४१ स घोषो १ १९ यदि स्वं न ३ २३ योगसंत्र्यस्त ६ ४० समं कायिश ६ १३ यहच्छ्या २ ३२ योगनांमपि ६ ४७ समं कायिश ६ १३ यहच्छ्या २ ३२ योगी युक्तीत ६ १० सर्वक्रमाणि ५ १ १                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                   |                    | ч  | २८  | यावानर्थ         | २   | 8 ई        | शकोतीहैव           | 4        | २३         |
| यसां ख्ये: ५ ५ युझलेंचे सदा ६ १५ श्रद्धावां हुमते ४ ३५ युधामस्युश्च १ ६ श्रुतिविधति २ ५ व्यधामस्युश्च १ ६ श्रुतिविधति २ ५ व्यधामस्युश्च ३ ३२ श्रेथान् स्व ३ ३१ श्रेथान्य १ ३२ थ्योगिनाम्पि ६ ३० समं कायि ६ १३ थ्योगिस्व स्व ३ ३१ थ्योगीयुझीत ६ १० सर्वक्षमीणि ५ १३                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                 |                    | દ્ | २ ६ | युक्तः कर्मफलं   | ષ   | १२         | शनैश्शनैरुप        | Ę        | २५         |
| यसां रूपे: ५, ५, पुळालेचं सदा ६ १५ श्रद्धावां छभते ४ ३५ यथा दीपो ६ १९ युधामन्युश्च १ ६ श्रुलिविधति २ ५; यथेषांसि ४ ३० ये त्वेतद्भ्य ३ ३२ श्रेयान्द्रव्य ४ ३३ यदा ते मोह २ ५२ ये मे मतिमदं ३ ३१ श्रेयान्द्रव्य ४ ३६ यदा विनियतं ६ १८ येषामर्थे का १ ३३ श्रेयान्स्य १ २५ येषामर्थे का १ ३३ श्रेयान्स्य १ २५ यदा संहरते २ ५८ येषामर्थे का १ ३३ श्रेयान्स्य १ २५ यदा संहरते २ ५८ येषामर्थे का १ ३३ श्रेयान्स्य १ २५ यदा संहरते २ ५८ येषामर्थे का १ ३३ श्रेयान्स्य १ ३५ यदा संहरते २ ५८ येषामर्थे का १ ३३ श्रेयान्स्य १ ३० यदा संहरते २ ५८ येषामर्थे का १ ३३ श्रेयान्स्य १ ३० यदा संहरते २ ५८ येषामर्थे का १ ३० सक्ताः कर्म ३ २५ यदि मामप्रती १ ४६ योगसंन्यस्त ४ ४१ स्वोषो १ १९ यदि स्वयं न ३ २३ योगसंन्यस्त ४ ४८ सहशं चेष्टते ३ ३३ यटच्छवा २ ३२ योगनांमपि ६ ४० संग कार्यश ६ १३ यटच्छालाम ४ २२ योगी युझीत ६ १० सर्वकमणि ५ १ इ                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                      |                    | દ્ | २०  |                  | ξ   | १७         | शुचौ देशे          | દ્       | ११         |
| यभैषांसि ४ ३७ ये त्वेतदभ्य ३ ३२ श्रेयान्द्रव्य ४ ३:<br>यदा ते मोह २ ५२ ये मे मतिमदं ३ ३१ श्रेयान् स्व ३ ३९<br>यदायदा ७ ७ ये यथा मां ७ ११ श्रोतादीनी ४ २६<br>यदा विनियतं ६ १८ येषामर्थे का १ ३३ धशुरान्छ १ २५<br>यदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवायं ४ ३<br>यदा हि ६ ४ योगसंन्यता ७ ४१ सक्ताः कर्म ३ २५<br>यदि सामप्रती १ ४६ योगसंन्यता ७ ४१ स योषो १ १९<br>यदि ह्यं न ३ २३ योगसंन्यता ४ ४८ सहशं नेष्टते ३ ३३<br>यहच्छ्या २ ३२ योगनांमपि ६ ४७ समं कायशि ६ १३<br>यहच्छ्या ४ २२ योगी युझीत ६ १० सर्वक्मणि ५ १६                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           |                    | ч  | ч   | युञ्जन्नेयं सदा  | ६   | १५         |                    | 8        | 39         |
| यदा ते मोह २ ५२ ये मे मतिमदं ३ ३१ श्रेयान् स्व ३ ३५ यदा विनियतं ६ १८ येषामर्थे का १ ३३ खरुरान्छ १ २५ यदा विनियतं ६ १८ येषामर्थे का १ ३३ खरुरान्छ १ २५ यदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ १ ३ वदा हि ६ १ योगसुन्को ५ ७ सक्ताः कर्म ३ २६ यदि मामप्रती १ १६ योगसन्यस्त १ ११ सहां चेष्टते ३ ३३ यदि ह्यां व ३ २३ योगस्यः कुरु २ १८ सहशं चेष्टते ३ ३३ यहच्छ्या २ ३२ योगिनांमपि ६ १७ संकक्षमणि ५ १६                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                        |                    | દ્ | १९  |                  | 8   | દ્         | श्रुतिविप्रति      | २        | ५३         |
| यदायदा ४ ७ ये यथा मां ४ ११ श्रीलादीनी ४ २६ यदा विनियतं ६ १८ येषामयं का १ ३३ श्रद्धारान्छ १ २५ यदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवायं ४ ३ वदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवायं ४ ३ वदा संहरते १ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवायं ४ ३ वदा सामप्रती १ ४६ योगसंन्यस्त ४ ४१ स घोषो १ १६ यदि ह्यायं न ३ २३ योगसंन्यस्त ४ ४८ सहश्चे चेष्टते ३ ३ वदा स्वयं न ३ २२ योगमंगि ६ ४७ समं कायशि ६ १३ यहच्छालाम ४ २२ योगी युझीत ६ १० सर्वकमणि ५ १६                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                  |                    | 8  | ३७  | ये त्वेतदभ्य     | Ę   | ३२         | श्रेयान्द्रव्य     | 8        | ३३         |
| यदा विनियतं ६ १८ येषामर्थे का १ ३३ श्रग्रस्थ १ २५ यदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ ३ यदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ ३ यदा हि ६ ४ योगयुक्तो ५ ७ सक्ताः कर्म ३ २५ यदि मामप्रती १ ४६ योगस्यस्त ४ ४१ स घोषो १ १६ यदि ह्यं न ३ २३ योगस्थः कुरु २ ४८ सहशं चेष्टते ३ ३ व्यव्ह्व्छ्या २ ३२ योगिनामपि ६ ४७ समं कायशि ६ १६ यहच्छ्या ४ २२ योगी युद्धीत ६ १० सर्वक्रमणि ५ १६                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                | -                  |    |     | _                | 3   | ३१         |                    | રૂ       | ३५         |
| यदा संहरते २ ५८ ये हि संस्पर्श ५ २२ स एवार्थ ४ इ<br>यदा हि ६ ४ योगयुक्तो ५ ७ सक्ताः कर्म ३ २५<br>यदि मामप्रती १ ४६ योगसंत्र्यस्त ४ ४१ स घोषो १ १६<br>यदि ह्यं न ३ २३ योगस्यः कुरु २ ४८ सहश्चं चेष्टते ३ ३३<br>यहच्छ्या २ ३२ योगिनांमपि ६ ४७ समं कायशि ६ १३<br>यहच्छालाम ४ २२ योगी युझीत ६ १० सर्वकमणि ५ १३                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                    |                    |    | 9   |                  | 8   | <b>१</b> १ | श्रोत्नादीनी       | 8        | २६         |
| यदा हिं ६ ४ योगयुक्तो ५ ७ सक्ताः कर्म ३ २७ यदि मामप्रती १ ४६ योगसंन्यस्त ४ ४१ स योषो <b>१ १९</b> यदि स्रामप्रती १ ४६ योगसंन्यस्त ४ ४१ सहये चेष्टते <b>३ ३ व</b> यहच्छ्या २ ३२ योगिनांगपि ६ ४७ समं कायशि ६ <b>१३</b> यहच्छालाम ४ २२ योगी युङ्गीत ६ १० सर्वकमणि ५ १ इ                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           |                    | -  | १८  |                  | 8   | ३३         | -                  | ?        | २७         |
| बदि मामपती १ ४६ बोगसंन्यस्त ४ <b>४१</b> स बोधो <b>१ १०</b><br>बदि ह्यं न ३ २३ बोगस्थ: कुरु २ ४८ सहशं चेष्टते <b>३ ३३</b><br>बहच्छवा २ ३२ बोगिनांमपि ६ ४७ समं कावशि ६ <b>१३</b><br>बहच्छालाम ४ २२ बोगी युझीत ६ १० सर्वकमणि <b>५ १</b> ३                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                        |                    | 3  | ५८  |                  | ч   | २२         |                    | 8        | ş          |
| यदि ह्ययं न ३ २३ योगस्थः कुरु २ ४८ सहशं चेष्टते <b>३ ३३</b><br>यहच्छया २ ३२ योगिनामपि ६ ४७ सम कायशि ६ <b>१३</b><br>यहच्छालाम ४ २२ योगी युझीत ६ १० सर्वकमणि <b>५ १</b> ३                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                       |                    |    |     |                  | ч   |            |                    |          | २५         |
| यहच्छ्या २ ३२ योगिनामपि ६ ४७ समं कायशि ६ <b>१३</b><br>यहच्छालाम ४ २२ योगी युङ्गीत ६ १० सर्वकर्माणि <b>५ १</b> ३                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                               |                    |    |     |                  | 8   | ४१         |                    |          | १९         |
| यहच्छालाम ४ २२ योगी युङ्गीत ६ १० सर्वकर्माणि ५ १                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                              |                    | -  |     |                  | २   |            |                    | ३        | ₹३.        |
|                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                               |                    |    |     |                  | •   |            |                    | •        | १३         |
| यद्यदाचरात ३ २१ योत्स्यमानान् <b>१</b> २३ सर्वभृतस्थमा ६ <b>२</b> ९                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           |                    |    | • • |                  | •   |            |                    |          | १३         |
|                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                               | यचदाचरात           | ३  | २१  | योत्स्यमानान्    | ?   | २३         | सर्वभृतस्थमा       | ६        | २९         |

| उभयवेदान्तग्रन्थमाला |
|----------------------|
|                      |

| •                               |                 |            |     | उभयवेः                    | (ान्तग्रन्थ | माला |                         |    |            |
|---------------------------------|-----------------|------------|-----|---------------------------|-------------|------|-------------------------|----|------------|
| सर्वम्तस्थितं                   |                 | Ę          | ે ર | १ अनन्यचेता               | 8           |      | 14 इच्छाद्वेष           | 7  | 27         |
| सर्वाणीन्द्रि                   |                 | 8          | ₹.  | अनन्याश्चि                | 9           | :    | <sup>22</sup> इत्यर्जुन | 11 | 50         |
| सह यज्ञै: प्र                   |                 | ર          | ? 0 | अनपेक्षः                  | 12          |      | । 6<br>इदंतु ते         | 9  | 1          |
| सीदन्ति मन                      |                 | ?          | २९  | अनादि                     | 11          | ]    | <sup>9</sup> इहैकस्थं   | 11 | 7          |
| सुखदुःखे स                      | मे              | २          | ३८  | अनेकबाह्                  | 11          | 1    | 6 उच्चैश्श्रव           | 10 | 27         |
| सुखमात्य                        |                 | ξ          | २१  |                           | 11          | 1    | 0 उदाराः                | 7  | 18         |
| <b>स्ट्रहिम</b> लार्यु          |                 | Ę          | ९   | अन्तकालेच                 | 8           |      | <sup>5</sup> एतच्छत्वा  | 11 | <b>3</b> 5 |
| संकरो नर                        |                 | 8          | ४२  | अन्तवत्तु                 | 7           | 2    | ·.                      | 7  | -          |
| संकल्पप्रम                      |                 | Ę          | २४  | अपरेयमित                  | 7           |      | र एतां विभू             | 10 | 6<br>7     |
| संन्यासस्तु                     |                 | ч          | Ę   | अपिचेत्सु                 | 9           | 30   |                         | 11 | 9          |
| संन्यास:                        |                 | ч          | ₹   | अभ्यास                    | 8           | 8    |                         | 11 | 3          |
| संन्यासं कर्म                   |                 | ч          | ?   | अभ्यासे                   | 12          | 10   |                         | 12 | 1          |
| सांख्यवोगौ                      |                 | 4          | 8   | अमी सर्वे                 | 11          | 26   | ओमित्येका<br>-          | 8  | 13         |
| स्थितप्रज्ञस्य                  |                 | ₹ '        | 48  | अमीहि त्वा                | 11          | 21   |                         | 10 | 17         |
| स्पर्शान्                       |                 | ٩ :        | २७  | अवजानन्ति                 | 9           | 11   |                         | 8  | 9          |
| स्वधर्ममपि                      |                 | ₹          | ३१  | अव्यक्ता                  | 8           | 18   | कसाच ते                 | 11 | 37         |
| हतो वा प्रा                     |                 | ₹ :        | ३७  | अन्यक्तोऽक्षर             | 8           | 21   | कामैस्तै                | 7  | 20         |
| हृषीकेशं तदा                    |                 | <b>?</b> : | ११  | अव्यक्तं व्यक्ति          | 7.          | 24   |                         | 11 | 32         |
|                                 | <b>।</b> षट्कम् | Į          |     | अश्रद्धानाः               | 9           | 3    | किं तद्भवा              | 8  | 1          |
| अक्षरं ब्रह्म                   | 8               |            | 3   | अश्वस्थ <del>र</del> सर्व | 10          | 26   | किंपुनर्ज्ञ <u>ा</u>    | 9  | 88         |
| अक्षराणाम                       | 10              |            |     | अहं कतुरहं                | 9           | 16   | किरीटिन <u>ं</u>        | 11 | 46         |
| अभिज्योति                       | 8               | 2          |     | अहमात्मा                  | 10          | 20   | किरीटिनं                | 11 | 17         |
| अथ चित्तं                       | 12              |            |     | अहं सर्वस्य               | 10          | 8    | क्केशोऽधि               | 12 | 5          |
| अथवा बहु<br><b>%</b>            | 10              |            |     | अहं हि सर्व               | 9           | 24   | क्षिपं भवति             | 9  | 81         |
| अथैतद्दय                        | 12              |            | 1 ; | अहिंसा सम                 | 10          | 5    | गतिर्भर्ता              | 9  | 18         |
| अदृष्टपूर्वै<br>अद्वेष्टाः सर्व | 11              |            |     | भारत्याहि                 | 11          | 31   | चतुर्विधा               | 7  | 16         |
| अद्वष्टा सव<br>अधिमृतं          | 12<br>8         | 1          |     | भादित्या                  | 10          | 21   | जरामरण                  | 7  | 29         |
| आध्यज्ञ:                        | 8               |            |     | भावस <b>म्</b> व          | 8           | 16   | ज्ञानयज्ञेन             | 9  | 15         |
| अनन्तश्चा                       | 10              | 29         |     | नायुषा<br>सङ्ख्या         | 10          | 28   | ज्ञानं तेऽहं            | 7  | 2          |
| • •• ••                         |                 | 24         | ৬ ৬ | गह्र <del>स्</del> वा     | 10          | 13   | ततस्स विसमय             | 11 | 14         |
|                                 |                 |            |     |                           |             |      |                         |    |            |

#### श्रीमद्भगवद्गीता-अकारादि

| इदं ते नात                  | 18  | 67 | चिन्तामपरि                | 16 | 11 | नच तसाम                   | 18   |             |
|-----------------------------|-----|----|---------------------------|----|----|---------------------------|------|-------------|
| इदं शरीरं                   | 15  | 1  | चेतसा सर्वकर्मा           | 18 | 57 | न तदस्ति                  | 18   |             |
| इदं ज्ञानमु                 | 14  | 2  | ज्योतिषामपि               | 13 | 18 | न तद्भासयते               |      |             |
| इन्द्रियार्थेषु             | 13  | 8  | ज्ञानं कर्मच              |    |    | न द्वेष्टचकु              | 15   |             |
| इधरस्सर्व                   | 18  | 61 | शांप कनप<br>ज्ञानं ज्ञेयं | 18 | 19 | · ·                       | 18   |             |
| इत्कामन्तं                  | 15  | 10 | राग राय<br>ज्ञेयं यत्तरप  | 18 | 18 | न रूपमस्येह<br>नष्टो मोहः | 15   |             |
|                             | 15  | 17 |                           | 13 | 12 | _                         | 18   |             |
| उत्तमः पुरुष<br>उदासीनव     | 14  |    | ततः पदं                   | 15 | 4  | नहि देहमृ                 | 18   | 11          |
|                             |     | 23 | तच संस्मृत्य              | 18 | 77 | नान्यं गुणे               | 14   | 19          |
| उपद्रष्टानु                 | 13  | 22 | तत्र सत्त्वं              | 14 | 6  | नियतस्यतु                 | 18 ' | L 12        |
| कर्षं गच्छ                  | 14  | 18 | त्रवं सति                 | 18 | 16 | नियतं सङ्गर               | 18   | 2.          |
| ऊर्ध्वमूलमघ                 | 15  | 1  | त <b>रक्षेत्रं यम्ब</b>   | 13 | 3  | निर्मानमोहा               | 15   | ~~ວ         |
| ऋषिभिर्बहुषा                | 13  | 4  | तदित्यनभि                 | 17 | 2, | निश्चयं शृणु              | 18   | 4           |
| एतान्यपि तु                 | 18  | 6  | तमस्त्वज्ञान              | 14 | 8  | पञ्चेतानि                 | 18   | 13          |
| एतां दृष्टिभव               | 16  | 9  | तमेव शरणं                 | 18 | 62 | परं सूयः                  | 14   | i           |
| प्तैर्विमुक्तः              | 16  | 22 | तस्माच्छा                 | 16 | 24 | पुरुष: अकृ                | 13   | 21          |
| ओं त सदिति                  | 17  | 23 | तस्मादोमि                 | 17 | 24 | पृथक्तेन                  | 18   | 21          |
| <b>क</b> चिदेतच्छ्तं        | 18  | 72 | तानहं द्विष               | 16 | 19 | प्रक शंच                  | 14   | 22          |
| कट्वग्ललव                   | 17  | 9  | तेज; क्षमा                | 16 | 3  | प <b>कृ</b> तिं पुरुषं    | 13   | 19          |
| कर्मणस्युकृत                | 14  | 16 | त्याज्यं दोष              | 18 | 3  | प्रकृत्यैव                | 13   | 29          |
| कर्शयन्तः                   | 17  | 6  | तिविधा भव                 | 17 | 2  | प्रवृतिं च                | 16   | 7           |
| काममाश्रित्य                | 16  | 10 | त्रिविधं नरक              | 16 | 21 | प्रवृतिं च                | 18   | 30          |
| काम्यानां                   | 18  | 2  | दम्भो दर्गी               | 16 | 4  | बहिरन्तश्च                | 13   | 15          |
| कार्यकारग                   | 13  | 20 | दातव्यमिति                | 17 | 20 | बुद्धेर्भेदं धृते         | 18   | 29 -        |
| कार्यमित्येव                | 18  | 9  | दुख:मित्येव               | 18 | 8  | बुद्धःग विशु              | 18   | 52          |
| कृषिगौरक्ष्य                | 18. | 44 | देवद्विजगुरु              | 17 | 14 | ब्रह्मणोहि                | 14   | 27          |
| कैर्लिङ्गेश्विगु            | 14  | 21 | दैवी संपद्धि              | 16 | 5  | ब्रह्मभूत:                | 18   | 54          |
| ंक्षेत्रक्षेत्रज् <b>यो</b> | 13  | 34 | द्वाविमौ पुरुषौ           | 15 | 16 | ब्राह्मणक्षत्रिय          | 18   | 41          |
| क्षेत्रज्ञं चापि            | 18  | 2  | द्वौ भूतसर्गी             | 16 | 6  | भन्तया माम                | 18   | <b>\$</b> 5 |
| गामाविश्यच                  | 15  | 13 | घृत्या यया                | 18 | 33 | मचित्तसर्वदु              | 18   | 5-          |
| गुणानेतान्                  | 14  | 20 | ध्यानेना                  | 13 | 24 | मनः।।।।।।                 |      |             |

#### श्रीद्भगवद्गीता-अकारादि

| भव               | 18    | 65 यया धर्ममध                    | 13 | 2 1 | 1 श्रेयान्त                  |       | 10 | 47  |
|------------------|-------|----------------------------------|----|-----|------------------------------|-------|----|-----|
| निर्म            | 14    | 3 ययास्त्रं                      | 13 | -   | ा श्रीतंचक्ष<br>5 श्रीतंचक्ष | т.    | 18 |     |
| गे जीव           | 15    | 7 यसात्क्षर                      | 13 | _   | ० आस पर्<br>८ सत्कारमा       |       | 15 |     |
| वान              |       | 10 यस्य नाहंक                    | 18 |     |                              | *1    | 17 |     |
| भ्ता             | 13    | 5 यज्ञदानतपः                     | 18 |     | 7 सस्वं रज                   |       | 14 | 17  |
| 7च्च योऽ≅य       | _     | .6 यज्ञेतपसि                     | 17 | ,   | _                            |       | 14 | 5   |
| मानावमान         |       | 5 यातयामं                        | 17 |     |                              |       | 14 | 9   |
| मुक्तसङ्गो       |       | 6 यावत्सञ्जा                     | 13 |     |                              |       | 17 | 3   |
| <b>न्डम</b> हिणा |       | 9 ये शास्त्रविधि                 |    |     |                              | -     | 17 | 26  |
| । इदं पर         | 18 5  |                                  | 17 |     | 9.5                          |       | 14 | 24  |
| य एनं वेत्ति     | 13 2  | _                                | 15 | 19  |                              | ह     | 13 | 28  |
| यजन्ते सा        | _     | ५ सः सास्त्रायाय<br>१ रजस्तमश्चा | 16 | 23  |                              |       | 13 | 27  |
| यतः पृष्टति      | 18 40 |                                  | 14 | 10  |                              |       | 18 | 56  |
| यतन्तो योगि      |       |                                  | 14 | 15  |                              |       | 18 | 64  |
| यत्तद्रमे निष    | 15 11 |                                  | 14 | 7   | सर्वत:पाणि                   |       | 13 | 13  |
| यत्त्र कामे      | 18 37 |                                  | 18 | 27  | सर्वद्वारेषु                 |       | 14 | 11  |
| यत्तु कृतस्त     | 18 24 |                                  | 18 | 76  | सर्वधर्मान्                  |       | 18 | 66  |
|                  | 18 22 | . •                              | 14 | 12  | सर्वभूतेषु                   |       | 18 | 20  |
| यत्तु प्रत्युप   | 17 21 | विधिहीन                          | 17 | 13  | सर्वयोनिषु                   |       | 14 | 4   |
| यत्न योगेश्वरः   | 18 78 |                                  | 18 | 52  | सर्वस्यचाहं                  |       | 15 | 15  |
| यथा प्रकाश       | 13 33 | विषयेन्द्रिय                     | 18 | 38  | सर्वेन्द्रिय                 |       | 13 | 14  |
| यथा सर्वगतं      | 13 32 | व्यासप्रसा<br>-                  | 18 | 75  | सहजं कर्म                    |       | 18 | 48  |
| यद्भेचानु        | 18 39 | शमो दमस्त                        | 18 | 42  | सिद्धि प्राप्तो              |       | 18 | 50  |
| यदाहङ्कार        | 18 59 | शरीरं यद                         | 15 | 8   | सुखं त्विदा                  |       | 18 | 36  |
| यदादित्य         | 15 12 | शरीरवा                           | 18 | 15  | संन्यासस्य                   |       | 18 | 1   |
| यदाभूतपृथ        | 13 30 | शौर्व तेजो                       | 18 | 43  | स्त्रभावजेन                  |       | 18 | 60  |
| यदा सत्त्वे      | 14 14 | श्रद्धया                         | 17 | 17  | स्वेस्वे कर्म                |       | 18 | 45  |
| ययातु धर्म       | 18 34 | श्रद्धाचा                        | 18 | 71  |                              | श्री: |    | ,,, |



### **उ**भयवेदान्तग्रन्थमाला

|                          |    |            | •                      |                      |         |                                  |          |            |
|--------------------------|----|------------|------------------------|----------------------|---------|----------------------------------|----------|------------|
| यदक्षरं वेद              | 8  | 11         | श्रेयोहि               | 19                   | ?       | <sup>12</sup> अन्येत्वेवम        | 18       | 25         |
| यद्यद्विभृति             | 10 | 41         | सखेति                  | 11                   | 4       | 1 अप्रकाशो                       | 14       | 13         |
| यंयं वापि                | 8  | 6          | सततं कीर्त             | g                    |         | 4 अफलाका                         | 17       | 11         |
| यसान्नो                  | 12 | 15         | स तया                  | 7                    | 2       | 2 अभयं सत्त्व                    | 16       | 11         |
| यान्ति देव               | 9  | 25         | समोऽहं                 | 9                    |         |                                  | 17       |            |
| येचैव सात्त्वि           | 7  | 12         |                        | 12                   | 1       |                                  | 13       | 12         |
| थेतु घर्म्या             | 12 | 20         | सर्गाणामा              | 10                   | 3:      |                                  |          | 7          |
| तु सर्वाणि               | 12 | 6          | सर्वद्वाराणि           | 8                    | 15      | अञ्चलः ना                        | 18       | 28         |
| त्वक्षरम्                | 12 | 3          | सर्वभृतानि             | 9                    | 7       | - भागपास प                       | 13       | 16         |
| <i>i</i> त्वन्य          | 9  | 23         | सर्वमेतहतं             | 10                   | 14      | <sup>રા</sup> સાજાગાદ            | 17       | . 5        |
| ोषां त्वन्त              | 7  | 28         | सहस्रयुग               | 8                    | 17      |                                  | 17       | 28         |
| ो न हृष्य                | 12 | 17         | साधिमृता               | 7                    | 30      |                                  | 18       | 49         |
| ो मामज                   | 10 | 8          | खुर्दुईर्शमि <b>दं</b> |                      | 52      | -1/11/11/11                      | 18       | 9          |
| तेयो यां                 | 7  | 21         | अंतुष्टस्सततं          | 11                   |         | -1(1(4)14                        | 16       | 8          |
| सोऽह                     | 7  | 8          | संनियम्ये              | 12                   | 14<br>4 | **** * ***                       | 16       | 14         |
| ाजविद्या                 | 9  | 2          | स्थाने हवी             | 12<br>11             | 36      | अहंकारं बलं<br>अहंकारं वरं       | 16       | 18         |
| द्राणां                  | 10 | 23         | खयमेवात्म              | 10                   | 15      | अहंकारं बरूं<br>अहं वैश्वानरो    | 18       | 5 <b>8</b> |
| दादित्या                 | 11 | 22         | हन्त ते कथ             | 10                   | 19      |                                  | 15       | 14         |
| ह्रपं महत्ते             | 11 | 23         | र<br>तृतीयः            |                      | 19      | अहिंसा सत्य<br>आढचोऽभि           | 16       | 2          |
| <u>ब</u> ेलि <b>ब</b> से | 11 | <b>3</b> 0 | प्राप्त<br>अदेशकाले    | ૧૯૧ <b>૦મ્</b><br>17 | 22      |                                  | 16       | 15         |
| वक्तुमह                  | 10 | 16         | अधर्मे धर्म            | 18                   | 32      | आत्मसंभा                         | 16       | 17         |
| वनत्राणि                 | 11 |            | अधशोर्धं<br>अधशोर्धं च | 15                   | 2       | आयुस्सत्त्व                      | 17       | 8          |
| वायुर्थमो                | 11 |            | अधिष्ठानं              | 18                   | 14      | आशापाश                           | 16       | 12         |
| विस्तरेणा                | 10 |            | अध्यात्मज्ञान          | 13                   | 11      | आसुरी योनि                       | 16       | 20         |
| <sup>¹</sup> बृष्णीनां   | 10 |            | अध्येष्यते च           | 18                   | 70      | आहारस्त्व<br>====-}-             | 17       | 7          |
| वेदानां                  | 10 |            | न-प-नता प<br>अनादिस्वा | 13                   | 31      | इच्छाद्वेष<br>इति गुद्यतमं       | 18<br>15 | 6          |
| वेदाहं साम               | 7  |            | अनिष्टमिष्टं           | 18                   | 12      | शत गुलतम<br>इति ते ज्ञान         |          | 20         |
| वेदेषु यज्ञेषु           | 8  |            | सनुद्वेगकरं            | 17                   | 15      | इ.त.त. ज्ञान<br>इति क्षेत्रं तथा |          | 33<br>10   |
| शुक्लकृष्णे              | 8  |            | रज्ञार<br>अनुबन्धं     | 18                   | 25      |                                  |          | 18         |
| गुभ                      | 9  |            | भनेकचित्त              | 16                   | 16      | इत्यहं वासु<br>इदमद्य मया        |          | 74<br>13   |
|                          |    |            |                        | -                    |         | २५गव गया                         | 10 .     | īθ         |

| तत्रैकस्थं       | 11 | 13          | नमां दुष्कृति        | 7  | 1  | <sup>15</sup> भूमिरापो           | 7          | 4          |
|------------------|----|-------------|----------------------|----|----|----------------------------------|------------|------------|
| तपाम्यहं         | 9  | 19          | न में विदुः          | 10 |    | 2 भूयएव महा                      | 10         | 1          |
| तसात्प्रणम्य     | 11 | 44          | न वेदयज्ञा           | 11 | 4  | 8 मचितामद्भत                     | 10         | 9          |
| तस्मात्त्व       | 11 | 33          | नान्तोऽस्ति          | 10 | 4  | 0 मत्कर्म                        | 11         | 55         |
| तसात्सर्वेषु     | 8  | 7           | नाहं प्रकाश          | 7  | 2  |                                  | 7          | 7          |
| तुर्यनिन्दा      | 12 | 19          | नाहं वेदैन           | 11 | 5  |                                  | 11         | 1          |
| ते तं भुक्तवा    | 9  | 21          | नैते सती             | 8  | 2  |                                  | 7          | •          |
| तेषामहं          | 12 | 7           | पत्नं पुष्पं         | 9  | 26 |                                  | 9          |            |
| तेषामेवानु       | 10 | 11          | परस्तस्मात्तु        | 9  | 2( |                                  | 11         |            |
| तेषां सतत        | 10 | 10          | परं ब्रह्म परं       | 10 | 12 |                                  | 9          |            |
| तेषां ज्ञानी     | 7  | 17          | पवनः पव              | 10 | 81 |                                  | 9          | 1          |
| त्रिभिर्गुण      | 7  | 13          | परय मे               | 11 | 5  | •                                | 11         |            |
| त्तैविद्या मां   | 9  | 20          | पश्यादि              | 11 | 6  |                                  | 12         | •          |
| स्वमक्षरं        | 11 | 18          | पश्यामि              | 11 | 15 |                                  | 7          |            |
| रवमादिदेव:       | 11 | <b>3</b> 8  | पितासि               | 11 | 43 |                                  | i <b>2</b> |            |
| दण्डो दम         | 10 | 38          | पिताहमस् <b>य</b>    | 9  | 17 | महर्षय <del>स्</del> सप्त        | 10         |            |
| दंष्ट्राकरा      | 11 |             | ख्यो गन्धः           | 7  | 9  | गह्य <i>नरत्तत्</i><br>महर्षीणां | 10         |            |
| दिवि सूर्थ       | 11 | 12 5        | <b>रुष</b> स्स       | 8  | 22 | महात्मा<br>महात्मा               | 9          |            |
| दिव्यमारुया      | 11 |             | रोधसां               | 10 | 24 | <sup>नहारना</sup><br>मातेब्यथा   | 11         | j<br>4.    |
| ह्येदं मा        | 11 |             | १ <b>इ</b> तिं स्वाम | 9  | 8  | मा स ज्यया<br>मामुपेत्य          | 8          | 4.<br>11   |
| दैवी होषा        | 7  |             | याणकाले              | 8  | 10 | माइपत्य<br>मांहि पार्थ           | 9          | 32         |
| द्यावाष्ट्रिय    | 11 |             | हादश्रा              | 10 | 30 | माइ पाय<br>सृत्युस्सर्व          | 10         | 52<br>84   |
| दूतं छलय         | 10 | 86 <b>ब</b> | छं बलव               | 7  | 11 | मोघाशा                           | <u></u> [9 | 19         |
| द्रोणं च         | 11 | 34 ब्       | हुनां जन्म           | 7  | 19 | यचापहा                           | 11         | 42         |
| धूमो रात्नि      | 8  | 25 बी       | जं मां               | 7  | 10 | यचापि                            | 10         | 3          |
| नच मत्स्था       | 9  | 5 <b>बु</b> | द्धिज्ञीन            | 10 | 4  | यत्करोषि                         | 9          | 2          |
| नच मांता         | 9  | 9 बृह       | <sup>हर</sup> साम    | 10 | 85 | यत काले                          | 8          | 2          |
| नतु मां शक्ष्यसे | 11 | 8 Ha        | त्या त्वन            | 11 | 54 | यथाकाश                           | 9          | -          |
| नभस्म्पृशं       | 11 |             | ।।प्ययौ              | 11 | 2  | यथा नदी                          | 11         | 2{         |
| नमः पुरस्ता      | 11 | 40 भृत      | <b>ग्रा</b> म        | 8  | 19 | यथा प्रदीप्त                     | 11         | <b>-</b> ( |
|                  |    |             |                      |    |    |                                  |            |            |

प्रथमः इंश्योगिय्यास्यावरीत्या स्थित इति ए इंस्योगी जनवयाचार्यतः प्राचीन लिखन्ति। तत्र दुर्गास्तेवस्य वानापित्रिकः वालाञ्चायथार्थ्यं मेळनेत गायश्यक्षरसंख्ययः अध्यायसंख्यापिकः वानापित्रिकः त्राचीन विभागि वालाञ्चायथार्थ्यं मेळनेत गायश्यक्षरसंख्ययः अध्यायसंख्यापिकः विभागित त्राचीन विभागि विभागित विभागित

वस्तुत उपलब्धत्वेऽपितं नाडियेरिन्नत्येव मन्तव्यम् । शारते संब्यानिर्देशिस्लोकानां तेषां प्रक्षिप्तत्वात् । सारतान्तर्गतर्गातापाडविरुद्धसंस्थाविदेशस्य च प्राप्ताण्यमसंगवि। वस्तुत इमे इस्रोकाः मतत्वयभाष्यकाराणां तद्व्यास्यातृणां काले जासन्तित्येन वक्तव्यम् । अन्यथा एषां ी प्रक्षिप्तत्वसघटमानत्वञ्च त एवोद्धःचितवन्तः स्यः । तात्पर्यचन्द्रिकायाञ्चाऽऽचार्यरेकादशेऽध्याये यादवप्रकाशहर्शिताधिकस्लोकसङ्खद्भावविचारावसरे, 'वेदव्यासेन भारते स्लोकेयत्ता न निर्दिष्टा' इति कण्ठोक्तम् । अत एषां इलोकानां ततः पश्चादेव प्रक्षेप इति भाव्यमः । ततः 'अर्वाचीनास्विवश्वसनीयाः' इति वाक्यमेकमस्ति । तत् प्रकृतपक्षिकस्रोकादिनिराकरणर्थमेव प्रवृत्तञ्चेत , एतर्वपेक्षा सुनिश्चिता । यदि शांकरस्थं, "सप्तमिः स्रोकशतैनिववन्ध" इति वाक्य-मनाहत्येति मन्यते, तर्हि प्रवलप्रमाणोपलम्मे आरतदृष्टं स्रोकपाठमनुपेश्य अधिकानां स्रोकानां ग्रहणतिष त तिराक्षियते । याद्वप्रकाशीयैभीरतपाठमुहंभ्य अधिकस्ठोकप्रदर्शनं विवादास्पद-संख्याद्शिक्षोकाननुसरणञ्च भारतपाठे किञ्चिद्विश्वासं प्रकृतकोकानां तदानीप्रभावञ्च गणयतः। तत्र हि यादवप्रकाशीयै: 'इड केचिदेवं क्रोकान् पटन्ति' इति प्राक्तनपठितत्वेन तत्र तत्र केचित् स्रोकः अनुदिनाः व्यास्याताश्च इत्युक्त्या, तदनुसारिनारायणार्यादतस्रोकानपि प्रवर्द्यः कथं यादव-प्रकाशीय इप्रविद्वरसद्भाष्यकारस्ते उपेक्षिता इति शंकाप्रपि मनसि निधायोक्तम् , "पते स्रोकाः सन्ति न वेति देवो जानाति। पूर्वव्याख्यात्भिरनुदाहतत्वात् अध्ययनप्रसिद्धवभावाच भाष्यकारैर-नाइता:'' इति । भूर्जपत्नगीतायालयेवमेते स्ठोका न सन्ति । तत चन्द्रिकाटिपाणेऽस्मामिः शांकर-व्याख्यातरीत्यापि इलोकानां सप्तशात्यधिकत्वमुक्तं यत् तत् केपाश्चिद्वकौ विश्वासं विधाय । वस्ततः सप्तदात्येत्र तद्व्यास्यःतरीतौ । याद्वप्रकाशादिव्यास्यातरीतौ स्टोकाधिक्यात् तस्यः प्रामाणि-कलस्य प्रकृती शांकरेरिय भाष्यमुबलक्षणतया तन्त्रियोचेन नेयं स्यातः ताउस्थ्यातः। क्लोकाधिक्यमिनरः इतवतः मण्याचः यीणां भारतो कसंख्यारीतित्री भूर्जपतादिग्रीः मानास्यदम् । अधिकस्य यःताचेऽपि अधीयमःनार्ज् ।स्टोकुर्विन्यापुर शारमने अर्जुनप्रशर्म क्लेक्सिकं प्रवृक्षं तस्य प्रक्षित संपादकेन, तथा, गीताइपर केल शिरहेड श्रवशित्म ।

#### **उभयवेदान्तग्रन्थमा**ला

ाटस्थ्येन गीतातस्वं विचारयन्त्यां तात्पर्यचिन्द्रकायां देवो जानातीति लेखनम्, शांकर-ग्रालमभृति लम्ध्यचारे पाठे, यदि ततोपि प्राक्तमलिखितभारतकोशादिसाहाय्येन तल तल भेदो लम्येत, खरसश्च स्यात्, किं तित्तरस्कारेण। स्वमताभिनिवेशियत्विश्चित्पुरुपङ्तिवत् यन्न ७क्ष्यते, तदादरणे, नातीव दोष: इत्याशयेन स्यात्। एवं कृत्या भूजंपलगीतावलोकनेन तलत्येषु पाठभेदेषु केचिदिह सहृदयविमर्शकविचारपथमानीयन्ते एवम्—

- 2-3 स्होके तात्पर्यचिन्द्रकासंमतः 'मा क्रैच्यं गच्छ कौन्तेय' इति पाउ पव तत्र लक्ष्यते ।
- 2-5 उत्तरार्घे 'हत्वार्थकामांस्तु' इत्यत्न 'न त्वर्थकामांस्तु' इति पाठोऽस्ति। अत्न शांकर-भाष्ये न किञ्चित्। अस्मद्भाय्ये पूर्वश्लोकात् व्यवहितस्य कथमित्यस्यानुपङ्गोऽभिमत इव। अन्यथा-ऽनन्वयात्। नत्विति पाठे तु न कश्चित् क्लेशः।
- 2-8 यः शोकमुच्छोपणिमिति पादः, न तु यच्छोकमिति । अत्र यः पुरुषः राज्यमवाप्य
  मे शोकमपजुद्यात् तं न पश्यामि । ममायजस्य राज्यावाविभवेत्, स तावता कथं मे शोकं
  निवर्तयेदित्यर्थो वाच्यः । अवाप्येत्यस्यान्वये क्वेशामाच इत्येतावदेवात्र ।
- 2-12 'अशोच्यान् अनुशोचंस्वम्' इति शत्नन्तपाठः सम्यक्। परं प्राव्यवन्नामिभाषसे इति तत्नत्यात् पाठात् प्रसिद्धः पाठः श्रेयान् ।
- 2-21 कथं स पुरुषः पार्थ हन्यते हन्ति वा कथम् इति पाठः । पञ्चमे त्रयोदशे रुजेके तु, नबद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् इति णिजन्तपाठ एव । 2-37 हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गमिति परस्मैपदमेव ।

स्थितप्रज्ञः स्थितधीरित्यादिस्थलेषु स्थितशब्दस्थाने स्थिरशब्दः ।

- 2-64 रागद्वेषविमुक्तस्तु इति पाठः, न तु वियुक्तैरिति ।
- 3-38 यादवप्रकाशीयोदाहततया एकादशाध्याये चन्द्रिकानिर्दिष्टाः, 'एष सूक्ष्मः परः' इत्यादयः स्ठोका इह दृश्यन्ते ।
  - 7-18 ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः इति ; न तु मतमिति ।
  - 11-8 न तु मां शक्ष्यसि द्रष्टुम् इति परस्मैपद्म्।
  - 11-21 स्वस्तीति चोक्त्वैव महर्षिसंघाः इति ।
  - 11-26 अमी सर्वे धृतराष्ट्रस्य इत्येव पाठ: ; न तु अमी च (हि) त्वा इति ।
  - 11-54 भक्तवा त्वनन्यया शक्यो हाहमेवंविध इति । न तु शक्य अहमिति ।
  - 12-12 त्यागाच्छान्तिर्निरन्तरा इति ।
- 13. जयोदशाध्यायारमें केषुचित्कोशेषु अर्जुनप्रश्रूक्षणेण कश्चित् स्लोको दश्यते, "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव केलं क्षेत्रक्षमेन च। पतद् वेदितुमिच्छामि बानं ज्ञेयञ्चेव केशवः" इति। नायं रक्षोको भाष्ये कुलापि व्याख्यातः। अतः प्रक्षित्र इति केश्चिद्वकम्। भूजंपनकोशे तु प्रश्रूक्षपां विहाय भगवदुक्तिप्रारम्भक्षणेत्रायं रक्षोक पवं पठवते, "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षेत्रं क्षेत्रक्षमेव च। पतत्ते विद्यामि ब्रानं ज्ञेयञ्च भारत" इति। अत्रेदं वक्तव्यम्—तत्रत्रतार्जुनप्रश्र उपक्रमे केषुचिद्ध्यायेषु व्या विहाय स्वयमेव भगवदुपदेशातुवृद्धिरिष बहुषु, यथा वि 6, 7, 9, 10, 14, 15, 16 पर्वस्य द्वादश्यस्यः युषु सनाप्त्या उक्तांशिवश्रशिकःरार्थमेव क्षयोदशान

स्रोक उचितः । चतुर्दशारमे स्थितौ 'परं भूयः पताम् , तर्हि प्रशाः अनेन तु स्टोकेनोपदेशोपक्रमो न हृद्यो छक्ष्यते; प्रकृतिपुरुपविवेकस्यात्र क्रियमाणत्वेऽपि प्रकृतिपुरुपापेक्षया क्षेत्रक्षेत्रक्षयोरस्यत्वामावात् क्षेत्रक्षात्र क्षेत्रक्षयाः क्षेत्रक्षयाः क्षेत्रक्षयाः क्षेत्रक्षयाः क्षेत्रक्षयाः क्षेत्रक्षयाः क्षेत्रक्षयाः क्षेत्रक्षयाः विवेद्यामाति वा, प्रकृति क्षेत्रक्षयाः ते क्षेत्रक्षयाः वा ज्ञानि वा, प्रकृति क्षेत्रक्षयाः ते क्षेत्रक्ष पुरुपं तथा। ज्ञानश्च विशयं वश्ये हित वा रचना गुरुपते । अर्जुनप्रक्षस्याऽऽवश्यकत्वे, पूर्वे देहारम्मकद्वत्याणां विशेषक्षणाक्ष्यान्त्रत्य द्वय्यस्य तथा तिष्ठलक्षणस्याऽऽत्यम्बश्च वैशयं जिज्ञासत इति गुक्तमेव, अर्थापि पृथक् प्रकृतिपुरुपक्षेत्रक्षेत्रक्षज्ञानज्ञेयपद्रप्रयोगेण प्रकृत्य न प्रसक्तिः । अत् एतद्रप्यायम् आन्तं निर्राक्ष्य केनचिदुपक्षितोऽयं स्टोक इत्येव प्रतियते । अन्यादशः प्रक्षक्षयः उपदेशारम्मक्ष्यो वा स्टोकः कामं स्यात् । न त्वयम् । एतद्रपक्षया कस्यापि स्टोकस्यामाव एव श्रेयान् ।

- 14-23. गुणा वर्तन्त इत्येव यो बस्तिष्ठति नेङ्गते इति पाठः ; न तु यो वितिष्ठति इति ।
- 16-९. अपरस्परसंभूतमिकञ्चित्कमहेतुकम् इति ।
- 17-1. ये शास्त्रविधिमुत्सुज्य वर्तन्ते इति पाठः, न तु यजन्त इति ।
- 17-23. ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्रह्मणा तेन वेदाश्च यहाश्च विहिताः पुरा इति स्थोकः। ब्राह्मणा इति पदं न, किं तु ब्रह्मणा इति । तेनेत्यस्य ब्रह्मणेत्यर्थो माध्यभाष्ये छक्ष्यते । तत्पिर-पोषणमिदानीम्। ब्रह्मणा आत्मपूजार्थे वेदादयो विहिता इति तत्रोक्तम्। वेदविधानश्च स्वातन्त्र्येण अपीरुषेयवेद्यवचनमिति तत्रैव विवृतम् ।
  - 18-28. विषादी दीर्घस्त्रश्च इति ; न तु दीर्घसुती इति ।
  - 18-37. यत् तदात्वे विपमिव इति : न तु तद्ये इति ।
  - 18-38. तथा, 'यत् तदात्वेऽसृतोपमम्' इति ।
- 18-44. पर्युत्थानात्मकं कर्म इति, न नु परिवर्यात्मक्रमिति । रहस्यक्षाये परिवर्यारूपेऽथं पर्युत्थानशब्दमयोगोऽस्तीति चन्द्रिकातोऽवगम्यते, तत्नोदाहृतवशक्ये, 'शुद्रः प्रथमज्ञातिः, न वः पर्युत्थास्यामीति' इत्यस्ति । पर्युत्थानं परिचर्येति तत्न व्यास्थातम् ।
  - 18-64. इप्टोऽसि में इडम् इत्येव पाठः।
- 18-78. 'तत्र श्रीविजयो भूतिर्भुवाणीति मितमेम' इति पाटः। न तु भ्रवा नीतिरिति। एतत्याठे इतिशब्दाध्याहारक्केशो नास्ति। काइमीरपाटः, 'भ्रुवा इति मितमेम' इत्येवं दृष्टतया सर्पते। भ्रुवाः इति बहुवचनम्। स पाटः श्रेष्टः।

भूजेपत्नगीतायाम् अञ्चलपाटाः वहवः, बहुबेदिकप्रन्त्रप्रक्षेपश्च। एवमपि सहदयतयः विम्रप्टु-पुचितवदुपत्रन्थाः पाटा अत्रैवं दर्शिताः। पाठस्य क्किप्टनेऽपि अर्थे परिक्केरोऽपि व्यासमुखोहतमे । प्राह्मम् ; न तु सबुद्धवाऽस्माभिः शिक्षणीयम् । तस्वं तु देवो जानाति ।

#### भाष्यतारपर्यचिद्रकयोमिहिष्टत्वम

अर्थविमर्शः चेदे कर्मकाण्डे नित्यनैमित्तिकानीय काम्यान्यपि कर्माण्यनन्तानि विधीयन्ते । तत्तिविधियन्त्ववलेन तेषां तत्त्देवताराधनत्वमेशाऽऽयाततः प्रतीयते । वेशन्तविदिश्यानन्तरं तु "ये यजन्ति पितृन् देवान् ब्राह्मणान् सहुताशनान्। सर्वभूतान्तरात्मानं विण्णुमेश्यजन्ति ते" इति सर्वान्तवर्गिमनारायणसमाराधनत्वं सुगमम्। इदमेशाऽऽराधनरूपत्वं खुत्यादिवतुं शुक्रवर्षुवेदः कर्मिनिरूपणरूपायां संहितायामेवान्ते ईशोपनिवदं घटयति, "कुवैन्नेवेह कर्मीण जिजीविषेत् शतं समाः", "विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह" इति कर्मणामावश्यकत्वं दर्शयति च । भग-वद्गराधनरूपत्वमेव पूर्वं बातुं युक्तम्, स एव इत्युगधर्मः इत्यभिष्रत्वेव मनुना स्मृत्यारम्भ एव,

'आसीदिदं तमोभूतम्'' इत्यादिना भगवत्कर्तकसुष्टिरचर्णि, यथा, ''सह यक्षैः प्रजाः सृष्ट्वा'' इति गीतायाम्। आह च पराशारः, ''वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्य-सत्तोषकारकः'' इति। प्रायो जनानामर्थकामप्रावण्यात् प्रथमत एव मोक्षार्थत्वरूपकर्मयाथात्म्यस्योपदेशासंभवं विसृद्य पत्थार्थत्यरूपोपदेशासंभवं विसृद्य पत्थार्थत्यरूपोपदेशासंभवं विसृद्य पत्थार्थयं फल्टिवशेषानिष् कर्मणां व्यवस्थया परिकल्य तत्न तेऽर्थकामप्रवणाः प्रयोक्तेमत्यालोक्ष्य व्यथायथं फल्टिवशेषानिष् कर्मणां व्यवस्थया परिकल्य तत्न तेऽर्थकामप्रवणाः प्रयेक्ते भगवता कर्मकाण्डे। तत्न स्वस्य परमात्मनः स्वतनुभूतानां देवतान्तराणाञ्च स्वरूपादि-विवेचनं कर्मकाण्डे भगवतो नेष्टम्। यदाहुर्मीमांसापादुकायां श्रीदेशिकचरणाः,

"अन्तर्यन्तारमेकं निखिलदिविषदां प्रागवुध्वैय केचिंत् तज्ञातीयं च वुध्या कतिचन यदि वा संदिहाना यजन्ते । तेषामप्यन्तवत् तु स्मृतमिह हि फलं नैवमध्यात्मशास्त्रे तत्त्वे वुद्धे यथावस्थितभजनदशालिधतस्तत्पदाप्ते: ॥१६॥"

इति । तिद्दे सर्वेषां क्रमेणां भगवःसमाराध्वतक्षपत्वं गीतायां यथावदुपदिस्य, "यक्षदानतपःकर्म न स्याज्यं कार्यमेव तत्", "सर्वकर्मफळलागं प्राहुस्त्यागं विवक्षणाः" इति कर्मणामत्याज्यत्ववचन् नात् गीतेयं कर्मकाण्डाभिमतृतस्वप्रदृशिका भवति । इदमेत्र द्वाधीयते, "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविद्वित्तत्त यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति । अनाशकेति पद्विवरणमेवैवं गीतायाम् । न केत्रळं शास्त्रीयम्, ळौकिकमिं सर्वं कर्म तद्र्यं भावनीयमित्याह, यत्करोषि यद्श्वासि इति । तिद्दं चिन्तितनिमिषितादि सर्वं भगवद्धीनिमिति तस्यं विमृशताम्, श्रीपञ्चरात्रोकपञ्चकाळप्रकियानिरतानाञ्च सुव्यक्तम् ।

तत्र यत् कर्म अस्यन्तघोरं भूमण्डलमण्डनायितमहावलानन्तक्षत्रियगजनुरगपदातिरूप प्राणि-जातप्रणाशनरूपं महत् युद्धम्, तस्यापि यथावदनुष्टितस्य परमपुरुपत्यर्थप्रीणनत्वे प्रदर्शिते, तदन्येषां तत् कैमुत्यसिद्धिमिति विमृदय भगवान् भारतयुद्धारम्मे प्रपन्नमर्जुनं प्रति परमं धर्ममुपदेग्द्धं प्रारेभे । अतः कर्मत्यागेन बानैकनिष्ठता गीताविवश्चितेति पक्षो नोपक्षेपमर्दति । वैकल्पिकत्वमपि विद्यास्य कर्मानुष्टानस्यात्यन्तावस्यकत्वमेवार्जुनाय वोधनीयम् । अनुष्टानुर्जीवस्याऽऽरपधकस्य, आराध्यस्य भगवतश्च सर्वदा आराध्याराधकरूपेणवावस्थानम्, तथा आराधनमूनस्य वैदिकस्य कर्मणोऽपि यथायथं यावद्वणिश्चमविभागसत्तमवर्जनीयत्वञ्च शास्त्रप्रमितम् ।

एवस्मृतस्य कर्मणः प्राधान्यमिष्ट्वा किं तत्त्वज्ञानस्य तच्छेपत्वमेव, उत उभयोः समप्राधान्यम्, आहो ज्ञानस्य प्राधान्यमन्यस्य चाप्राधान्यमिति विवाद इतोऽवसरं छभते । तत्त तत्त्वज्ञानाभावे भगवदाराधनरूपेणानुष्टानस्यानिष्पत्तेः ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमनपळ्ण्यम् । इदञ्च ज्ञानं अत्रणमननात्मकम् । एतद्तिरिक्तं ध्यानोपासनादिदाच्दवाच्यमपि ज्ञानं सर्वेद्रोपितयत्सु नानाप्रकारं विधीयते इति गुणोपसंहारपादे भगवता वादरायणेन प्रत्यपादि ।तस्य कर्माङ्गतयाऽनपेक्षणात् तस्य कर्मणश्च समप्राधान्यं केचिद्राशेरते । 'कपाये कर्मभिः पक्षे ततो ज्ञानं प्रवर्तते,' 'विविदिष्टित यज्ञेन' इत्यादीनि वचनान्यवरुम्य कर्मणां विद्यां प्रत्यङ्गत्वं परे प्राष्टुः । अङ्गत्यमारादुषकारकविधयेति भास्करीयाः । संभवति संनिपत्योपकारकत्वे आरादुषकारकत्व-मन्याय्यमिति धर्माणकर्मविचारावसरे मीमांसकाः ।

ण्यम्भूतकर्माराध्यस्य ज्ञानविषयस्य च तत्त्वं निरूपयन्त्याः गीतोपनिषदः उपरातानि भाष्याणि आसन्, यतः पदवात् श्रीभगअद्रामानुजभाष्यमाविष्भृदिति वदन्ति । "तदिदं गीतादास्त्रमने-कैर्विद्वतमपि अत्यन्तविरुद्धानेकार्थकमित्युपरुभ्य विवेक्तोऽर्थनिर्घारणार्थं संक्षेपतो विवरणं करि- भूमिका 19

ष्यामि" इति च शांकरभाष्ये प्रारम्भे व्यलेखि। अद्येश प्राक् मुद्रणपूर्वरक्षणं सुक्ररं नासीदिति प्रायो नवीनस्यानेकविरगृहीतस्य व्याख्यानस्योपलम्भे प्राचीनानां रक्षणाशक्तव्या परित्याग प्रवावशमापतित इति क्रमेण सर्वे क्षीणम्। एवं शांकरे ल्रष्यत्रचारे तत्रानौचित्यद्दिनो भास्कर्याद्वयक्षाशाद्यः पृथक्षृथ्यभाष्यं वितेनिरे। 3. 43. 'यो बुद्धः परतस्तु सः' इत्यत्व स इत्यस्य आत्मेति शांकरोक्तप्रयेमुपेक्ष्य काम इत्यर्थे भास्कर आहेति माध्यभाष्यव्याख्याने जयतीर्थीये। तमेशार्थे श्रीभाष्यकृत् आदियते। अत जयतीर्थीकं दृषणं तु पूर्वपरानगुरोधात् अतीव फत्युः मनोधर्मत्वेऽिष कामस्यानुभवानुरोधेन बुद्ध-यपेक्षया परत्यसंभवाच, भूतान्वर्गतवाशुविकारस्य प्राणस्य, सर्वभूता-पेक्षया कारणत्वेन परं यद्दङ्कारतस्वम् तदन्तर्गतसात्त्वकाहंकारजन्येन्द्रयतिक्रितपरत्वद्रश्चीतात्। याद्वप्रकाशब्याख्यानं तत्नतत्व चन्द्रिकायां प्राद्दिः। २-१३ स्टोके यक्षसामिव्याख्यानमणुद्दाहारि "यान्ति मद्याजनोऽिष माम्" इत्यादिस्थले नारायणार्योऽिष कश्चिद्कः।

प्रसिद्ध मतलयभाष्येषु शांकरं समस्तपद्विभजनादिना प्रत्यक्षरव्याख्यानरू समित न यथावदन्यपतौष्टवं दर्शयित । पूर्वव्याक्षियानि स्सनेन स्वतप्रिक्षयाच्युः सद्भाय बहुषु स्थलेषु स्वातन्ध्येण
विस्तरो विहितः, प्रवमनुष्पाद्वने स्वाभिभतरीति मूलविरोधमत्या वाचका उपेक्षरिवित । माध्यभाष्यं तु तत्रतत्र विष्णुपारम्यप्रतिष्ठापनाय परादृष्टानि वाक्यानि परशातानि प्रमाणत्वेनोपन्यस्यद्वि
प्राक्तन्त्र्याख्यानत एव गतार्थतामालोच्य वा पुनरुक्तिप्रायेषु खोकेषु कि प्रत्येकव्याख्यानेनेति
प्रायशः मत्वा वा संग्रहेणेव प्रवृक्तं कतिपयश्चोकमात्रव्याख्याह्य लक्ष्यते । तावद्षि महाप्रावज्ञवाद्यीधकृतविश्वद्याख्यानवशादेवाधिगन्तव्यार्थम् । भगवद्रामानुजविरिचतं तु गीताभाष्यम्, एकप्रपि
स्थोकमविहायः, "स्त्राक्षराणि व्याख्यास्यन्तः" इति प्रवृतश्चीभाष्यरित्येव प्रतिगीताक्षरच्याख्यास्यम्वस्वपम्, विस्तरितया प्रायो गीतापदानुवादमविद्यार छोकेषु पदानां विकीर्णत्वेऽपि ययाऽन्वस्वपम्, विस्तरितया प्रायो गीतापदानुवादमविद्या खिवेशचिवाधिप्रतियद्वन्दसुन्दरसंदर्भमुखेन
निष्क्रपर्यं निष्कर्यं निराक्षकाणां हृदयेषु निक्षियतीति सद्वयः स्वयमेवानुभवितं शास्यम्वन्तया स्वात्रव्याव्याव्याव्यावित्यवित्यावापात्रवित्यन्वपात्रवित्यमस्थाने वाऽनच्यां वा भवत्यस्य प्रशेता । व्याख्यानशैवतेव वा योजनान्तराणां पराह्वानां परासः
सुगम इति तत्नापि प्राय औदासीन्यमेवाऽऽवहित । अहो प्रहृदसाकं भाग्यम्, यत् इंदशस्य भाष्यचन्द्रस्य सर्वसमाह्वादकस्य सुधाववित्याक्षयाद्वाद्वाद्वाद्वाद्वाद्वाद्वाद्वाद्वाति ।

श्रीभाष्यस्य श्रुतप्रकाशिकातः प्राक् वहूनि व्याख्यानानि विस्तरसंग्रहरूपाण्यवर्तियत । यदादुः, 
"यत् तत् सेनेश्वरार्थरगणि वकुळश्रुकिङ्कररेग्यकारि... विरादंविष्णुचित्तेविवेवे" इति । अन्यान्यपि
तृक्षिकामेघनाद्यारिस्पिय्याख्याप्रभुतीनि । तानि सर्वाणि परिशीक्ष्य तेषां प्रत्यक्षरत्याख्यारुपत्वामाव
परमतिनरसनप्रावण्याभावञ्चावेद्यः तत्वभवद्भिः कविताकिकतञ्जतेः त्रज्ञानिष्ठपरिवृद्धैः श्रीवात्स्यवरद्
गुरुभिः ऊहापोहपूर्वकमद्भुतानेकाभिज्ञस्य धार्थविशेषोपन्यासवैष्यर्ग वहुङ्वः प्रवचतावसरेषु यथायथा श्रीभाष्यप्रवचनं व्यधायि, तथातथा सर्वतत्संमेछनेन, योजनाभेदेषु प्रसक्तेषु यथाई पौर्वापर्यपरिशीछनेन च प्राज्ञतमेवद्वयासापरनामघेषैः श्रीसुदर्शनस्रिभिः प्रत्यक्षरिनरीक्षणेन श्रुतप्रकाशिकाच्या व्याच्या वैष्णवछोकभाग्यपरिणामरूपा प्राणीयत । यथैयम् , तथा प्रकृतस्य गीताभाष्यस्य
तात्पर्यचिन्द्रका तत्वभवद्भिः विततमस्रविधानस्यातवैशामित्रश्रीपुण्डरीकयायज्ञ्जपौतैः नानासिद्धान्तनीतिश्रमिवमछपीविछासानन्तस्रिस्सुनुभिः श्रीवरद्गुरुवर्यप्रशिष्यः, "अश्रौषं शेषकस्याद्दमिप विदुपो वादिद्दंसाम्बुवाहात्", "तं विष्यभेद्दियास्थितिय्वपस्थेयमृतम्" इत्येव
प्रशंसितानां न्यायकुछिशास्थाहनग्रन्थनिर्माणीनक्षपितवैदुष्यातिश्यामा श्रीभाष्यस्य त्रम्रन न्यायनामात्रेयरामानुजार्याणां शिष्यः, प्राक्तनातिचरानुस्यृत्वप्रवृत्तिवयस्थेरितिव्युद्धनेन न्याय-

मीमांसाराध्ययोनंवीकरणेत्र शतदृष्णीसर्वार्थेसिद्धः यधिकरणसारावस्यादि गरमाद् भुतपौढतमप्रवन्धप्रणयनेत च प्रस्यापितवेभवेः यतिनृपतिवचस्संग्रदेकाणेवे श्रद्धागुद्धावगाह्युभमितप्राह्मप्रकाण्डपरिषद्भिषिक्तेः श्रव्यद्वयकाव्यनिवन्धद्रमिडम्बन्धनानाविधभणित्रवाळ्एह्स्यग्रन्थनिर्माणोज्जीवितनिविळळाकेः कवितार्किकसिहसर्वतन्त्रस्वतन्त्रवेदान्ताचार्यादिविष्द्रभूषणेः श्रीवेकटेशमगवद्वतारमूतैः अत एव भावित श्रीवेकटनायनामयेषैः 'श्रीदेशिकः' इति सुप्रसिद्धेः रुतेयं भाष्यकारहृद्धतं भावं
स्वैमाविभिव्यन्ति, भाष्यद्द्यितगदार्थवाक्यार्थान्वयस्वारस्य-तद्वयप्रकारायोग-तत्तदुरपादकपुक्तपुञ्जपद्देशनेतः सर्वं गीतापर अर्थे प्रस्यक्षयन्ती सहद्वयान् चातकानिव स्वानुभवसंत्रहानेव कर्षयन्ती
प्राचीनानेकव्याख्यानाभावेऽपि शिक्षासौकर्यनुष्टिप्रचित्तगुरुक्तनानुष्रह - स्वप्रस्यक्षितश्रियवद्वगपरमानुष्रहर्त्वमितसमुद्धास्या स्वृक्षयः शेमुण्या सर्वार्थविव्यत्वाचरन्ती भगवतः श्रीरुष्णस्य मनः
प्रमोदयन्ती सर्वेषां भग्यपरिवाकभृता साद्रस्येव्या समुद्धस्ति। यया श्रीभगवद्यामुनमुनविनिमितस्य गीतार्थसंग्रहस्य भाष्यग्रहर्तितस्थळेऽन्यव च यथावसरं संयोजनेन सारस्यमनुमाव्यते।

तदेतत् व्याख्यानं गीतार्थसर्वसम्तं द्वितेषु स्थलेषु तालकोशयतविपस्या यथापूर्वमद्याप्यनुप-लन्धमपि यावदुपलम्मं यथावद्वधायाद्य प्रकार्यते । प्राचामियं शैली, यत् यैः कैश्चित् कृत-मन्यथाव्यास्यानं परं व्यवस्य वास्त्वार्थप्रकटनमित्येतावति अनुपरम्य उक्तानुक्तसंभाविवसर्वानुप-पन्नार्थविष्ठशीत स्थीकर्तव्यातिरिक्तसर्वार्थद्रपणमिति । अन्यैव शैल्या पूर्वोत्तरमीमांसास्त्राणि वेदार्थ-निर्णये प्रवर्तन्ते । नहि तत्र प्रत्यधिकरणं शहु यमानेनार्थेन किञ्चित्पुरुपोद्भावितेनैव भाव्यमिति नियमः। तथैवात तात्पर्यचन्द्रिकायां भाष्यकाराद्य श्रीतिरिक्तसंभावितसर्वार्थयुक्तायुक्तत्वविमर्शोऽपि प्रति-पदं कियते । अथित तत्न परोक्तोऽयोंऽ।प परास्तो भवति । प्रथमेऽध्याये, अपयित तदस्माकमिति ऋंकिऽत्यत वैवं द्रष्ट्यम्। विशिष्य परोक्तमनूय परिहरणर्माप परेपरे भवति। संप्रहेण च शांकरार्थः समाहृत्य सर्वधर्मानिति क्लोकव्याख्यानात् परतः पृथक् परास्तः । यद्यप्यानन्दतीर्थीयं भाष्यमपि तदा स्थितमेव, तद्ववाष्यातुज्ञयतीर्थाचार्यगरोरक्षोभ्यमनेः अद्वैताचार्यस्य विद्यारण्य-मुनेश्च वादकथायामन्ते वादद्वयं संगृह्य प्रेष्य तत्न मध्यस्थीभूय खारायमाविष्कर्ते प्रार्थिता इमेऽस्मरा-चार्याः एतत्तात्पर्यचन्द्रिकाकाराः सर्वेमालोड्योचितम्प्पादा, "असिना नत्त्वमसिना परजीव-प्रमेदिना । विद्यारण्यमहारण्यमक्षोभ्यमुनिरन्छिनत्" इत्युपसंजहरिति हि निश्चप्रचमेतत् । सर्वेवेद-समुचितमाध्यनिर्माणालंकमीणिस्य सर्वेद्शीयसंग्रहकृतो मीमांसादिनिष्णातस्य महतोऽपि विदुपः अक्षोभ्यमुनिमूला हानिर्महारण्यास्यासिमूलेव संपद्यत इति विद्यारण्यस्यात वैदृष्याधिक्यवण्याहत्य श्रापयन्ति । विद्यारण्येश्च सर्वेदर्शनसंत्रहेऽसाराचार्यस्लोको विशिष्टाद्वेतद्शेनसंवादायोदाहारि । एवमानन्दतीर्थीयस्य ततः प्राक् स्थितत्वे, श्रीमद्रहस्यतयसारे, आनन्दतीर्थीयाः परमसाम्यवचनं व्यस्म पुरिति बचन गपि प्रप्राणम् । एवमपि तस्य ब्राइषणं नत्नस्य तस्यैतद्देशे विशेषप्र वार्यवरहादिति भ(व्यम् ।

ईदशस्यास्य व्याख्यानस्य विस्तरेण व्याख्यानं यद्यपि युक्तम् , अथाय्यवेश्वकाणां तन्द्र।लुतामध-व्ययाधिकपमन्यकार्यवाहुत्पञ्चानुचिनस्य यथोचितटिष्यणमुखेनैव रसास्वाद इहासमाभिव्यधीयत ।

अष्टःदश्चवित्मकमहाभारतान्तर्गतस्याष्टादशाध्याय्यात्मनो गीताशास्त्रस्य प्रश्चस्यं प्रत्याच्यान्यन्यन्तः विलिखितात् वाक्यादिष सुबोधम् विश्वोतित्वित्वति श्रीभगवद्गीतास्पनियत्सु हित हि तलोक्षेखः । ओमिति भगवत्परत्वमस्याः झाय्यते । यथः हि नानःविधकार्यविधानस्याप्युपनिषत्सु दर्शनेऽपि तदाराध्यस्य सर्वेफलप्रदत्यः सिद्धोपायस्य प्राध्यतमस्य परमानन्दस्यकपस्य प्रक्लणस्य प्रधान्येनोपनिषचात्पर्यविषयत्वमः त्रक्ष्य भगवान् वाद्ररायणः, अथातो ब्रह्मजिक्कासेत्येव स्व्वयाञ्चकार, न भक्तिजिज्ञासेत्येवम्, स्थापयाञ्चकार च तस्य प्राधान्यं समन्वयाधिकरणे-तथा श्रीमगवद्यासुनमुनयोऽपि गीतायां तत्प्राधान्यम् अत प्रवोपनिषत्साम्यञ्च संत्रक्ष्य, "स्वधमेज्ञानवैराग्यसाध्यसच्येकगोचरः। नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्र समीरितः" इति परं ब्रह्मतिषदेन उक्तमर्थं
ध्वनयन्तो नारायणं प्राधान्येन निर्देद्वस्त् । तस्य च मोक्षतद्विरिक्तसवैक्तव्यद्वत्व तत्सिद्वित पद्द्वयेन क्रमेण ज्ञाप्यते। उपनिषदः सर्वीः सहस्रकृत्व आवर्तयद्विरिषे कर्मयोगज्ञानयोगमिक्तयोगरूपोपायव्यविन्ध्यितिकं दुर्ज्ञानिमिति विशिष्यत इयमुपनिषचोऽपि। अथाष्युयनिपदित्यवेयमपि
निर्देश्यते तत्रौरवाभञ्जनाय। उपनिषद्वज्ञा अपि विषयाः सर्वेज्ञभगवन्मुखास्युज्ञमकरन्यायान्यान्वाञ्चयविद्वाः सम्यक् विश्वसनीया एव भवन्ति, अथापि गीताध्यवतान्वत्तस्प्रपनिषदामपि
एतदर्थपरत्वमनायाससमिधाग्यमिति ज्ञापनाय, भगवद्गितासप्तिषद्व इति निर्देशः। )

गीतशब्दो गौरविते वाद्धाये संप्रयुज्यते । श्र्यन्ते हस्तिभिर्गीता हित रामायणे स्थितम् ॥ १ स्त्रीलिंगगीताशब्दश्च प्रसिद्धः स्लोकसंततौ । छन्दोनामानि गायश्यादीनि वेदे स्त्रियां यतः॥२ श्रुतिगीताशद्दगीतंत्येवं गीतास्थिताविष । एषैव भगवद्गीता गीतेति स्थातिमस्तुते ॥ ३ गीतास्थाश्चराध्यायाः पद चन्धारिशदादिम ४६ । अस्तिमति ७२ स्त्रयश्चरवारिशत् ४३ विद्यान्नवान्विता ३९ ॥ ४ एकोनित्रश्चर्ययं २९ चन्धारिशच सप्तभिः ४७ । ३० विद्याद्दश्चित्रस्य २८ चतुर्वित्रस्य १४ वश्च जगुः ॥ ५० विद्याद्दश्चित्रस्य २८ चतुर्वित्रस्य १५ व्याद्दश्चित्रस्य १५ वश्च जगुः ॥ ६ व्याद्दश्चित्रस्य १५ अश्च विद्यात्यास्थाताः २० श्रुक्षकित्रतिः २० ॥ ६ व्याद्वित्रतिस्थाताः २४ अश्च विद्यातिरेव २८ च । ५८ अश्च विद्यातिरस्य एवः इलोकसम्प्राती स्थितः ॥

विशिष्याबाध्यायानां नामानि तबतबान्यथाऽन्यथा निर्दिश्यन्ते । तत्र-

| 1 | अर्जुनविषादयोगः | 7  | विज्ञानयोगः           | 13 | क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः |
|---|-----------------|----|-----------------------|----|----------------------------|
| 2 | सांख्ययोगः      | 8  | अक्षरपरब्रह्मयोगः     |    | गुणत्रयविभागयोगः           |
| 3 | कर्मयोगः        | 9  | राजविद्याराजगुह्ययोगः | 15 | पुराणपुरुषोत्तनयोगः        |
| 4 | ज्ञानयोगः       | 10 | विभृति विस्तरयोगः     | 16 | देवासुरसंगद्विभागयोगः      |
| 5 | कर्मसंन्यासयोगः | 11 | विश्वेरूपसंदर्शनयोगः  | 17 | श्रद्धात्वयविभागयोगः       |
| 6 | योगाभ्यासयोगः   | 12 | भक्ति[पर्व]योगः       | 18 | मोक्षसंत्यासयोगः           |

इति क्रमेणाध्यायनायानि ब्राह्माणि । अद्वैतव्रन्थे क्रचित् चतुर्थे ज्ञानकर्मसंन्यासयोग इति, पश्चमे संन्यासयोग इति पीत्या निर्देशेऽपि नार्थमेदः । तत्तवानार्थादशाऽऽ- वश्यकस्थलेषु टिप्पणे पाद्शिषत । तवमाध्यायस्यैव भक्तियोगपरत्वात् , द्वादशे भक्तियोगो शीव्रकल- प्रदत्वस्य, भक्तियोगाशक्तस्य तद्दथस्तनपर्वणाञ्च वर्णनात् तद्ध्य पर्वयोग इति नाम युज्यते । सर्वाध्याय- प्रत्येकार्थसंग्रहस्लोकञ्च कश्चित् तात्पर्यचित्रकान्ते आचार्यनिर्माय योजितोऽस्ति । तत्न लेखक- प्रमादम्लकिञ्चिद्दश्चीकञ्च कश्चित् । अन्यञ्च तद्वसारेण निष्कृत्यास्माभिः इतः पूर्व गीतार्थ- संग्रहमुद्रणे इह चान्यत्न निवेशितोऽस्ति ।

#### परोक्तगीत।र्थविमर्शः

### नत्वा नारायणं कृष्णं कृष्णद्वैपायनश्च तम् । गुरूनपि परश्रोक्तो गीतार्थोऽथ विमृश्यते ॥

धार्मिकाश्रेत्तरस्य विरक्तस्य धनक्षयस्यामतिक्षितोपनतोऽयं मोहः परमस्य हितस्योपदेशमन्तरा न शाम्यतीति निश्चित्य भगवान् निःश्रेयसोपयोगितत्त्वमुपिददेश गीतायामिति सर्वे संप्रतिपन्नाः । उपितः स्थितं च द्वितीयषष्ठससमत्त्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशाष्टादशेषु यथावत् सर्वे तत्त्वम् । "न हि ज्ञानेन सदशं पवित्रमिह विद्यते", "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिमत्तत्त्वदर्शिनः" इत्यादिना ज्ञानमञ्युपाय हित चाञ्चत्यत्यते । एवमपि युद्धान्तित्रकृतस्य तस्य तत्र प्रेरणार्थमेव सर्वस्याप्युपदेशस्य वर्तनात्, "युध्यस्य विगतज्वरः", "तस्मात् युद्धयक्षं भारत", "मामनुस्तर युद्धय च", "करिष्ये वर्वनं तव" इत्यादितश्च तदर्थे कर्मानुष्ठानमावस्यक्रमिति च संप्रतिपत्वयम् । अत्यव अद्वैतिनोऽपि भारकरयादवप्रकाशादयो जगत्पारमार्थ्यमास्थिताः ज्ञानकर्मसमुच्चयमेव गीतार्थे प्रतिज्ञानते । समुच्चयः कीहरा इत्यवान्तरभदशोधनं तावदास्ताम्। अत्र शांकरभाष्यसरणित्वावदेवम् —

प्रवृत्तिनिष्ट्रतिरूपभंद्रयमलार्जुनायोपदिष्टम् । तदेव वेदन्यासः सप्तमिः इङ्गेकरातैरूपनिववन्ध । तिद्दं गीताशास्त्रमनेकैविंवृतपद्पदार्थवावयवावयार्थन्यायमप्यत्यन्तिवरुद्धानेकार्थस्वेन लौकिकैग्रीद्धमाण-मुपळभ्य विदर्ण क्रियते । अस्य शास्त्रस्य प्रयोजनं परं निःश्रेयतं संसारात्यन्तोपरमः । तच्च सर्वकर्म संन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्टारूपात् धर्माद्मवतीति ।

किमये पृष्टिषमीपदेश इति न पृष्ट्यस् । नात भाष्ये पृष्ट्विषदेन काम्यक्रमेरूपपृष्टिविषमीऽभियेतः । किंतु ईश्वरापणबुद्ध्या कियमाणं ब्रह्मण्याषाय कर्माणि, ब्रह्मापणम् इत्यादौ तद्विविर्धतं निष्कामकर्मैव कियारूपत्वात् पृष्टिविषदेनोच्यते । पृष्ट्त्यमावरूपत्वात् केवल्ञानमेव निष्ट्विषमं इति । ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य न गीतार्थः ; 'लोकेऽसिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनष्य । ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् । कर्मणैव हि संसिद्धिमास्यता जनकादयः । श्रेथान् द्वत्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप' इत्येवं विभिन्नकर्तृकत्वेनैव प्रतिपादनात् ॥ तत् किं कर्ममात्रेणापि निश्श्रेय-सप्राप्तिरिति चेत्—नैवम् । निष्कामकर्मानुष्ठानस्य सत्त्वद्वियोग्यताषायकत्या ज्ञानोत्पादकत्या वा प्रथमपर्वत्वात् । ततो ज्ञानिष्ठेव काक्षात् मोक्षहेतुः । तिर्वं ज्ञाने ज्ञाते परचात् कर्म त्याज्यमिति चेत् सत्यम् ; अथापि तदनुष्ठानेन सत्य फलाभावेऽपि लोकसंमहाय तदनुष्ठानम् । अत एव कर्मणैव हि संसिद्धिमिति वचनमुपपन्नम् । यदि जनकादयः तदानीमल्ब्यज्ञानाः, तदा कर्मणा तेषां ज्ञानिष्ठाख्या संसिद्धिः । यदि प्रागेव लब्बज्ञानाः, तदाऽपि लोकसंमहार्थमनुत्विष्ठन्त एव निःश्रेयसमाज इति । तल्लार्जुनं प्रति 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्युक्त्या कर्मापरित्याज्यस्वमत्नोच्यते । न सर्वेषामेवम् ; कर्मणा निष्कामेव विद्यसत्त्वानां सन्यासिनां परमहंसपरिवाजकानां ज्ञानिष्ठायामेवधिकारः । सेव साक्षात् हेतुः । तदःस्येषां कर्मयोगो भवति । स च 'सिद्धचसिद्धचोः समो मृत्वा' इत्युक्तरीत्या समस्वाख्ययोगगर्मः । ईश्वरापीणिषया क्रियमाणे ईश्वरपीतिसिद्धचसिद्धविवयेऽपि साम्यं माच्यम् । यो ध्वादित एव सत्त्व-

शुद्धिमान् , स तदैव संन्यासी ज्ञाननिष्ठायामवतरति । सा च शुद्धिस्तस्य नूनं पूर्वजन्मकृतिन्काम-कर्मायता । अन्यस्तु कर्मयोगं भारभ्य क्रमेण तथा भविष्यति । सर्वमिदं द्वितीयतृतीयाध्वाययोक्कः-मेवोपरिसर्वैरध्यायै: ४९००च्यते । ज्ञाननिष्ठा च स्थितप्रज्ञता अहं ब्रक्षास्पीत्यैकयाध्यवसाय इति ।

अलेदं वक्तव्यम्— अनेकपाचीनव्याख्यानीकपदपदार्थवानयवावयार्थग्रहणे परस्परविरोधो बहुछ इति अन्यथा व्याख्यानेऽस्मिन् क्रियमाणे पदपदार्थोदिनिरूपणं कियत समञ्जसमिति प्रत्यक्षरशोधने शारभ्यमाणे महदिदं भारतमन्यत् स्यात् । अतो मतप्रमेयसारशोधनमात्रे संपति च्याप्रियते । भाष्य-तार्वयचिन्द्रकादिविचारितमेव कामं सर्वम — अथापि सुखान्तरेणात् संग्रहणमिष्यते । यदत्र ज्ञानकर्म-समुचयवादखण्डनम् — तलेदं विचार्यम् – किमद्भैतज्ञानस्य कर्मणश्च मिथो विरोधात समुचयो न भवतीत्याशयः. उत मोक्षोत्पादने कर्मणोऽनुपयोगात् । नाद्यः — तथा सति लोकसंप्रहार्थं संपन्नज्ञानो-Sपि कमीनितिष्ठेदिति वचनस्याशवयत्वात । यदि तेषां ज्ञानमेवानिष्पत्रम् . तर्हि तदर्थत्वात कर्म-योगस्य. 'लोकसंग्रहार्थमेव : नानवाप्तमवाप्तत्यम् इति कथनमयक्तम् । लोकसंग्रहार्थमित्यक्तविधिमेव यदि कश्चिदपेक्षेत, ततः का हानिः । न काचिदिति चेत-तर्हि अर्जनं प्रति युद्धस्यावश्यकर्तेच्यत्वसुपदिष्टं न भवतीति व्यर्थः प्रयासः ॥ यदि होकसंग्रहार्थमपदिष्टस्यातिवर्तने भगवतोऽप्रीतिर्भवति : ततः सन्बहानिः स्यादिति पुनर्ज्ञानहानिः । भगवता त लोकसंग्रहार्थे कार्ये परित्यक्ते कस्यचिद्वयस्यार्शितिमुखेन तिसन् कस्याध्यद्वि हानेर्वक्तमश्चयत्वात् तेन खिवषये, 'नानवासमवासव्यम्' इत्युक्तं घटताम् : न तु जीवे इति किर्वयते—तर्हि न ज्ञानिनोऽपि कर्मण उपयोगस्य वर्णनात् समुचय इष्ट एव भवति । समुचयवादिनोऽपि प्रायो न समसमुच्यं वदन्ति । कर्मणो ज्ञानाङ्गत्विमच्छन्त्येव । अथापि केषाधित कर्मामावेऽपि कार्य-पर्टिरिति चेत - केषाम । ज्ञानमालनिष्ठानामिति चेत के ते ? परित्रीजका इति चेत-त्व सर्वसंमतम् । न हि तैरपि यज्ञादिकमनुष्ठेयमिति कश्चिदाह । संन्यासिधर्मर्त्वनाभिमतभिक्षाचर्यादित्यास्त भवताऽपि न भणितं शक्यते । तत कथम ? भेदगर्भत्वादद्वैतज्ञानिवरोधि भवेत कर्मेति? एतद्धि भिक्षाचर्या-दावि तुल्यम् ॥ विरोधप्रसक्ताविप विहितानुष्ठानजन्यभगवत्पीतिः सत्त्वस्थापनेन विरोधं शमियप्यति । अस्यथा अमीत्या हानिरेवेति चेत - अस्त । तथा चाविरोध एव । अत एवोक्तम . 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन नामोति किल्विषस्' इति भवता भिक्षाचर्यादि । तत्नापि शास्त्रोक्तरीत्या भिक्षाटनमक्रत्वा यशेच्छं लौकिकरीत्या भोजनादिकरणे किल्विषस्य भवरसंमन्तव्यतया न विधिवश्यत्वहानिरिति सिद्धो यथायथं तत्तदाश्रमकर्मसम्बदः।"

कि छातार्जुनं युद्धे प्रवर्तयता कृष्णेन देहास्मिविकोत्पादनेन आस्माविनाशं प्रज्ञाप्य, 'मोक्षसापन-तत्त्वज्ञानोपयोगिसस्वशुद्धिसंपत्तये स्वया युद्धं निष्कामं कार्यम्' इस्येतावत एव वक्तःयस्वात् जीव-ब्रह्मैवयज्ञानोपदेशः किमये कियते १ प्रस्युत तिस्मन् उपदिष्टं ज्ञानस्य जानस्वात् कर्म त्यक्ष्यामीति स्व वदेत् । अतो ज्ञाने सत्यपि स्वया कर्म कर्तस्यमिति कृष्णेन वक्तव्यम् । कुत इति स पृच्छेत् । छोकसंग्रहायेति वाच्यम् । तर्हि सर्वे लोकसंग्रहरता भवन्तु, विलीनं केवलज्ञाननिष्ठयेति प्रच्छेत् । परिवाजकमावे त्याज्यमिति प्रतिवक्तन्यम् । अथ श्रेयध्येतुं भैक्षमपीह लोके इति स प्रतिष्ठेत । क्षत्रियस्वात् ते तत्र नाधिकार इति वाच्यम् । 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति ऐवये अनुपदिष्ठे शंकालेशामावात् तस्य युद्धे प्रवृतिः सुस्थेति अध्यात्मशास्त्रानवतार एव शोभनः । यतस्तदवतारः, अतः शास्त्रार्थो नैवमद्वैतरूप इति निधीयते ।

वेदशिरसि वर्तमानानां वेदिकंकरत्वामावात् विपस्पैव संन्याम इति विधिमतिकस्य यर्वाजुनः संन्यस्येत् , का तस्य हानिः । जातेनाद्वैतज्ञानेन जगत एव वाधितत्वात् कस्य किमनिष्टमापाधेत । ननु सांस्थोगयोभिन्नाधिकारिकत्वेन गीतत्वात् कथं समुचय इति चेत्—'सांस्थयोगो पृथक्वालाः प्रवदन्तिः न पण्डिताः । एकमप्यास्थितः सम्यक् उभयोविन्दते फलम्'' इति तयोरुभयोरेकफलसाधनत्वं कथितं भवन्मते कथं घटते, कर्मयोगस्य सत्त्वदृद्धप्रथतायाः ज्ञानयोगस्यैव मोक्षहेतुतायाध भवदुक्त त्वात् । एवं पृथक्फल्लवादिनां बाल्यवमपण्डितत्वं तस्र गीतमविगीतं स्यात् ।

किश्च निष्कामकर्मानुष्ठानं सत्त्वगुद्धये इति यदुच्यते, तत् कर्म नित्यनिमित्तिकरूपं वा, काम्यमित् वा। अत्ये, इदमिदमिति प्रतिनियतं वा यथेच्छमनियतं वा। तत्त देवमेवावरे यज्ञमित्यादिना कथिथानि यदि नित्यानि, तिर्हे अवरे परे इति विभागो न युच्यते; नित्यानां सर्वानुष्ठेयत्वात्। काम्यत्वेऽिष यथेच्छं श्वयस्वैसमुच्चयसंभवात् विभागायोगस्तदवस्य एव । वचनवळात् कर्मयोगः: नाना भवन्ति; तत्त्रैकमाद्विथमाणस्यान्ये उपेक्ष्या इति चेत्—तिर्हे नित्यं कर्म कार्यं वा त्याप्यं वा। नित्यत्वादेव कार्यमिति चेत् —किसुमयं मिळितं कर्मयोगः। कि वा काम्यमात्रं निष्कामतया कियमाणम्। आद्ये परिवाजकानामित् स्वभामें भगवद्गिणबुद्धचा कर्तव्य एव भवतीति तेषामित्र कर्मयोगः स्यात्। एवञ्च निष्ठयोभित्राधिकारिकत्वभङ्गः। अतो नित्यस्य सर्वस्योपायाङ्गर्यं स्वीकृत्य काम्यानां नानामृतानां परं कर्मयोगत्वमिष्ट्या तदन्यतमस्य यथाहमनुष्ठेयत्वं प्रतिषाद्यन्। अयमेव योगः। अस्य सांस्थेन सह विकरुषः; न तु नित्यस्य। अत एव 'कर्मआन् विद्धि तान् सर्वान्', इति नित्याना तिन्नप्यादकत्वं वर्यते। एवमनयोरेकतरस्यैवान्ष्ठेयत्वात् विकरुषः सस्यः।

नम्बेवं कर्मयोगस्यापि ज्ञानतुरुयफरुकावे साक्षान्मोक्षहेतुस्वापितः । तथा च 'कषाये कर्मामः पके ततो ज्ञानं प्रवर्तते'', 'नान्यः पन्था अथनाय विद्यते' इत्यादिविरोध इति चेत् — यत इह सा क्षान्मोक्षाहेनुना कर्मयोगेन सह विकर्षयः कथितः सांस्वरस्य, अतोऽत्र विविधतं फरुं मोक्षातिरिक्तमिति मन्यताम् । परम्परया तूमयोरिष मोक्षहेतुस्वम् । किं तत् फरुमिति चेत् — 'समाधावचरु बुद्धिसदा योगमवापस्यित्यः इत्युक्तमात्मावरुोकनमेव पक्षे प्रपश्चिष्ययाणम् । न च तदेव सोक्षसाधनम् ; ''योगिनामिष सर्वेषां मद्भतेनान्तरास्मना श्रद्धावान् भजते यो मां स से युक्ततमो मतः'' इति शास्म ग्रेष्यस्य भगवद्योगिनो युक्ततमत्वोक्तया भगवद्योगस्यैव हितः मतया मोक्षहेतुस्वात् । स्पष्टमिद्मष्टनाष्टादश्चाः । तत् सिद्धं नित्यनैमितिककर्माणकेन ज्ञानयोगेन कर्मयोगेन वा जीवात्मखरूवप्रत्यक्षं संपाद्यमिति ।

तत्र ज्ञानयोगस्य प्रत्यक्षस्य चारमविषयकतया मनस्साध्यतया च कर्मयोगापेक्षयाऽन्तरङ्गत्वात ज्यायस्त्वमिति तत एवाऽऽत्मावलोकनसाधनसंभवे किमिति कर्मयोगस्योपदेशः क्रियत इत्यर्जनप्रश्ने, 'ज्ञान-योगप्रवृत्तेनापि कर्म न त्यक्तं शक्यते ; न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ; शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धचेदकर्मणः ; इन्द्रियसंयमनेऽपि मनस्सयमनं दुष्करम् ; अतः कर्मयोग एवाप्रमादः सुकर इचेरयेवं नित्यनैमित्तिककर्मांग्रकत्वं प्रवञ्च्य कर्मयोगस्यैव ज्यायस्त्वसुपिददेश तृतीये । ज्ञानयोगस्य कर्मयोगस्य चैकाश्रमिकार्यत्वे सत्येव ज्यायस्त्वाज्यायस्त्वविचारो घटते । ज्ञानयोगः संन्यासिन एव, कर्म-योगस्तदन्यस्येति नियमे त. 'तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसी'ति अर्जुनो न पृच्छेत् । असन्यासि-त्वात् ॥ क्षत्रियस्य संन्यासेऽनिधकार इति तेन न ज्ञातम् : अतः पश्च इति चेत् — तर्हि सोऽनिध कार एवं स्पष्टं कथनीय: । न च संन्यासे तदनधिकारो गीतायामुक्तोऽस्ति । तदवचनेनान्यविस्तरो वृथैव । यत ज्ञानयोगेन सांख्यानामिति विभिन्नाधिकारिप्रदर्शनम् , तत्न सांख्यशब्दः परमहंसपरि त्राजकवाचीत्यत न किञ्चित प्रमाणम् । अतः संन्यासी वा गृहस्थो वा सर्वोऽपि प्राणायामतीर्थयाता-श्वचनदेवार्चनयजनहवनादिषु स्वस्वोचितं कर्मयोगं ग्रहीतुमहिति । लोकसंग्रहमेवापीत्यस्य संन्यासप्रसक्तौ तमकृत्वा लोकसंग्रहार्थे गृहस्थवर्मानुष्ठानमिति हि भवन्मते प्रमेयसिद्धिः । एवं तर्हि सर्वे संन्यासात् वारिताः स्यः ॥ गृहस्थस्य लोकसंग्रहार्थान्ष्टीयमानकर्मणो न मोक्षहेतुर्ज्ञानिमिति चेत -- िकं ज्ञानमेव न जातम . जातमि वा सहकारिवैकल्यात कार्याक्षमम् । नायः लोकसंग्रहोक्तयेव ज्ञानसद्भावसिद्धेः प्रागेवोक्तरवात् । नान्त्यः, मिथ्याभृतत्वाज्जगतः तिन्नवृत्तिरूपमोक्षाय वत्त्वज्ञान।विरिक्तसहकार्यनपेक्षणात् । अपेक्षणे च जगत् सत्यम् : अपसिद्धान्तश्च । अत एव, 'ये यथा मां प्रवचन्ते तांस्तथैव' इत्यल, 'ये यत्फलार्थिनः, तान् तत्फलदानेन भजामि, ये मुमुक्षवः तान् ज्ञानपदानेन, ये ज्ञानिनः संन्यासिनः, तान् मोक्षपदानेन' इत्युक्तमप्ययुक्तम् । ज्ञाने जाते स्वत एव सर्वनिवृतिरूपमोक्षमावात् । दृष्टपिक्रयया हि तत्त्वज्ञानेन मिथ्यावस्तुनिवृत्तिः। तत्र भगवतो मोक्षप्रदर्वं ज्ञानिविषये उक्तमद्वैतिमतरीत्या न घटते।

एवं तावत् जीवन्नक्षेत्रयं जगिन्मध्यात्वश्च गीताभिमतिमित पक्षे स्थित्वाऽपि तदुक्तं निरस्तम् । अथ तत् गीतायां न पतिपाद्यत इति च निरूप्यते । उपदेशोपक्रमे तावत् , न त्वेवाहमिति स्थोके ईश्वरा-जीवानां, तेषां परस्परश्च भेद् एव दिशंतः । न च तदनन्तरं तिमध्यात्वं ऐक्यपारमार्थ्यश्च दर्शयत् किमपि वाक्यशक्तं इत्यते ।

यतु नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः इति वचनम्—ततः प्राक् मालास्पर्शानाम् आगमापायिदवस्यानित्यदवस्य चैव कथनात् उपिर आत्मदेहयोरिवनाशित्ववीरिवनाशित्वयोरेवोपपादनात् मध्य गतिमदमित्, 'न कस्याप्य पूर्वमिस्यतस्य पश्चादागतस्याविनाशित्वं, न कस्याप्य नादेविनाशित्वमित्येवार्थे वदितः , न मिथ्यात्वं तत्व कथमिप प्रतीयते । यत् कदाचित् असत् तत् सर्वदैधासदिति प्रथमपादार्थे वर्णनेन जगदसत्यत्वोपपादनमयुक्तम् ; कदाचिदसत्त्यं हि उपलम्भवलादेव वाच्यम्, तथा कदाचित्सत्त्वमप्यपल्लम्भवले सावयति तद्विरुद्धमनुमानं कथमुदियात् । अथ कारणव्यतिरेकेणासत्त्वात् कार्य

मिध्येत्यर्थ इति चेत्— तद्भिन्नत्वरूपेणासत्त्वे तद्दिमन्नत्वरूपेण सत्त्वमेव ; उपलम्यमानत्वात् । अस्यैव पादस्य घटादयो मिध्या व्यावर्तमानत्वरूपासत्त्वाश्रयत्वादित्यनुमानपंयवसानमप्ययुक्तम् ; केवल्डया-वर्तमानत्वस्य मिध्यात्वासाधकत्वात् । यद्देशकाल्संबन्धितया यद् वस्तु प्रतिपन्नम् , तद्देशकाल्संबन्धितयेया यद् वस्तु प्रतिपन्नम् , तद्देशकाल्संबन्धितयेया यद् वस्तु प्रतिपन्नोपाधौ बाधितत्वे) सत्येव हि मिध्यात्वम् । अन्यथा अन्यत्व अवर्तमानत्वात् ग्रुक्तिमति देशेपि ग्रुक्तरमावं लोको मन्वीत । 'नामावो विद्यते सतः' इत्यस्य, ब्रह्मणः कारणस्यामावो न भवतीत्यर्थवर्णनञ्च न युक्तम् । ब्रह्मरूपविशेषस्य प्रागपस्तुतत्वात् । अनेकेषामात्मनान्मवं देहानाञ्च प्राकृ प्रस्तुतत्वा, परिणामशील्स्यापरिणामित्वं स्वरूपतो निर्विकाराणाञ्च सविकारत्वं न भवतीत्येव तद्वर्थो युज्यते । न तावता मिध्यात्वसिद्धिः ।

षष्ठे, भजत्येकत्वमास्थितः हत्यस्य, 'योऽयं योगस्त्वया श्रोक्तः साम्येन मयुस्द्न' इति अर्जुन-निष्कर्षमनुस्त्यः साम्ययरत्वमेव । 'पण्डिताः समद्शिन' इति साम्यमेवान्यवाप्युक्तम् । एकत्वपदं साधारणं साम्यार्थकं भवितुमहिति ; न तु साम्यपदस्य रूक्षणया एकत्वरूपार्थं उचितः ।

यच त्रक्षापैणं त्रक्ष हिनिरित्यादौ, अपेणहिनरादिकमसत् त्रक्कैन सत् इत्यर्थवणेनस्, तत् लोक-संग्रहार्थकमीनुष्ठापनसंदर्भानुपयोगात् तथार्थत्यास्त्रसत्वाचायुक्तमेव । यदप्युक्तम्, अपेणादौ त्रक्षबुद्धिर्हि प्रतिमायां विष्णुबुद्धिवत् दृष्टिविधः स्यात् दृष्ट्या तु अतत्त्विषयिण्या न भवति मोक्ष इति— तदयुक्तम्—अपेणादीनां त्रक्षान्तर्यामिकत्वस्योच्यमानतया दृष्टिविध्यमसक्तेः । किञ्च दृष्टेः साक्षान्मोक्षाहेतु-त्वेषि तदक्षकर्ममध्यनिविष्टत्वं न दोषाय ; उद्गीषादिदृष्टिवत् वैश्वानरिवद्यायामिम्रहोत्नत्वस्य प्राणाहुतौ दर्शनवचोषपतेः । प्रतिमायां विष्णुदृष्टिरित्यप्ययुक्तम् । शाक्षवलात् तत्न मन्त्रतो विष्णुविमह्मवेशस्यैव संमतेः तद्वर्त्येव विष्णुत्वबुद्धेः । अप्रतिष्ठितप्रतिमाविषयस्त्वन्यः । अतो न मिथ्यात्वसाधकं किञ्चिद्धितः ।

यदि 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर' (2-61) इत्यत्न मत्परशब्दस्य जीवपरमातम्मैक्यपर इति व्याख्यानम्, तदिप स्थितविपरीतम् । मत्परशब्दो हि अहं परो यस्मादिति विमहे
उत्कृष्टमिद्विशिष्टः स्विभिन्नमत्क इत्येवार्थं गमयेत् ; न तु स्वाभिन्नमत्क इति । मदुद्देश्यकः मदासक्त
इत्येवमर्थेऽप्यमेदप्रतीते नैंवावकाशः । किञ्चाल 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्युक्तमधस्तात् । अतो रसवशात् इन्द्रियाणि भमाधीनि हरन्ति प्रसमं मनः इत्युक्त्वा तत्परिहारमार्ग
उपिद्दश्यतेऽन्न । तत्नेन्द्रियक्षोभपरिहारे बुसुस्तिते, इन्द्रियाणि संयम्य जीवपरैक्यभावनं कुरु इति वर्णनं
कथं घटताम् । अतः क्षोभपरिहारकमधिकाकर्षकवस्तुध्यानमत्नोपदेष्टव्यम् । अतो मदीयदिव्यमङ्काविमहस्य
शुभाश्रयस्य ध्यानं विधायेन्द्रियाशुद्धिं निवार्य ध्यातव्यध्यानपरो भवेत्युपदिश्रतीति पक्कते वक्तव्यम् ।
अतो भवदुक्तोऽर्थः सर्वेथेवासंगतः । निष्कारणमपि प्राचीनव्याख्यानस्त्रण्डनं शांकरे तत्न तत्न ।
(५. १८) 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुस्तं वशी । नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्य'
इति इस्रोके, देहे कर्माणि संन्यस्यिति प्राचीनं व्याख्यानमन् व निरस्यति 2. 21. इस्रोकाध्ये ।
इस्रोकोऽर्य सर्वकर्मसंन्यासरूपज्ञानयोगपर इति अत्न तन्मतम् । युक्तः कर्मफर्ळं त्यकृत्वेति पूर्ववरक्षेक-

पर्यन्तं कर्मयोगिप्रस्ताव इति निर्विवादम् । अत्र च स्रोके 'सर्वकर्माणि संस्थस्य' इति सामान्येनानवस्या मनसा सन्यस्येति कथनात क्रियमाणानामेव कर्मणां मनसा त्यागः अकर्तृत्वानसंधानमिति प्रतीयते । न हि मनस्साध्यानि सर्वकर्माणीत्यर्थः । नैव कुर्वन न कारयन इत्यपि, कं घातयति हन्ति कम इतिवत क्रियाकर्तत्वे उपलभ्यमानेऽपि वस्ततस्तदभावपरमेव । एवं स्थिते निःर्यापारत्वरूपज्ञाननिष्ठा नात्र विव-क्षिता । यदत्र संन्यस्येत्यस्याधिकरणानपेक्षत्वात् आस्ते इत्यस्य चाधिकरणसापेक्षत्वात् देहे इत्येतत् आस्ते इत्यत्वैवान्वेतीति-तन्न । ज्ञानयोगदशायां जीवो देहे अस्तीत्यस्य संवित्वन्नत्वात देहरूपाधि-करणस्यानपेक्षणात् । एतदपेक्षया विषयापेक्षत्वेन आत्मन्यास्ते इत्यक्तिः शोभना । न च संन्यास-स्याधिकरणमनपेक्षितम् : तथा सति, मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य, ब्रह्मण्याधाय कर्माणि इत्यादावधि-करणानन्वयप्रसंगात । अतः कर्मयोगी स्वगतं कर्तत्वं परमात्मनि वा प्रकृत्यादौ वा न्यस्य स्वमकर्तारं .भावयतीत्यस्यैव प्रकृते वक्तव्यत्वात अनेन श्लोकेन कर्मणां देहे न्यास उच्यते । अतः कर्मयोगि-विषयकत्वं नानवपन्नम् । वस्ततः उपरितनश्लोका अपि कर्भयोगिविषया एव । न च ज्ञाननिरूपणातिज्ञयः मालेण ज्ञानयोगिविषयता । कर्मयोगिनयपि ज्ञानमेळनात । ज्ञाननिष्ठस्य लोकसंग्रहार्थकर्मविस्तारस्य भव-दभ्यपगतस्वात । एत एव हि लोके भूग्ना लक्ष्यन्ते : परित्राजकानां दर्भिक्षात् । ज्ञानयोगानिधका-रिखे चार्जनस्य श्रीकृष्णाभिमते संन्यासाश्रमानहै तं पति ज्ञानयोगविस्तारः किमिति कर्तव्यः । अतस्त-रकर्तव्यमाल प्रपञ्चनमेव युक्तम् । द्वितीयेऽध्याये, 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृण्' इत्यन्ते प्रथममात्मस्बरूपनिरूपणपुरं सांस्वयकरणभपि कर्मयोगाधिकर्त्वयार्जनावश्यविज्ञेयात्मस्वरूपज्ञापनैदम्पर्यणैवः न संस्थासिकार्यज्ञानयोगनिरूपणाय । किञ्च यदि संस्थासिन एव ज्ञानयोगः । तर्हि तथैव स्पष्ट बयात । पश्चादिप तथाऽनुक्तेः सर्वस्य योगस्य सर्वाश्रमसाधारण्यमेव संमन्तव्यम् । एवं तर्हि कचित् , कर्म ज्यायो ह्यकर्मण इति. अन्यत्व 'श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः' इति मिथो विरुद्धं कथमुच्यते इति चेत-कथमल भवतो निर्वाह: । अकर्मण:-कर्मानारम्भात् तृष्णीम्भावात् कर्मानुष्ठानं ज्याय इति यदच्यते. तन्न. कर्माननुष्ठानस्य प्रशस्तत्वे हि अन्यस्य प्रशस्ततरस्वम् । तस्य हेयस्वात् तद्पेक्षया ज्याय-स्त्ववर्णनमयुक्तम् । वयं त अकर्मपदेन ज्ञानयोगं गृहीत्वा योगद्वयस्याप्येकाश्रम्यधिकार्यत्वात ज्ञान-योगात् कर्मयोगस्य ज्यायस्त्वमेव ब्रमः । अत एवार्जुनस्तत्तेव प्रेथते । ज्ञानयोगं विनाऽपि कर्मयोगस्य तत्कार्यकरत्वात ज्ञानयोगसापेक्षत्वप्रयुक्तमप्राशस्त्यं तस्य नास्ति । तच ज्यायस्त्वं कर्मणो ज्ञानगर्भत्व-मन्तरा दुर्वचिमिति तदंशसद्भावस्तल पञ्चमे प्रपञ्च्यते । कर्मयोगान्तर्गततदंशनिवन्धनमेव तस्य ततो ज्यायस्विमित्युपपादनाय, श्रेयान् दृब्यमयात् यज्ञादित्यादिना तदन्तर्गतज्ञानांशपभाव एव कथ्यते । अर्जुनस्य तत्र यथावत् रुच्युत्पत्तिर्पि ततो भवति । न पुनरर्जनोपेक्षणीयस्यान्याधिकारिकस्य ज्ञानयज्ञस्यात्र प्रशंसनम् ।

अत एव च प्राचीनैज्ञीनकर्मणोः समुचय इष्टः, यत्यासभवं भवान् मन्यते । न पुनर्ज्ञानिनिष्ठा कर्मनिष्ठयोः समुचयत्तदुक्तः । अव्ययदेश्चिकिश्विविषयो प्रथमं कर्मयोगः पश्चात् ज्ञानयोग इत्यय्बस्ययेव । प्रथमिषकारिणि उभयमिदमेकफलकम् । तदुक्तम्, "यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तत् योगैरिप गम्यते'' इति । भवम्मते इदं दुर्घटम् । यदि च ज्ञानयोगरूपो वा तल्लक्षमूतो वा योगोऽ र्जुनेन सैन्यासानधिकारिणा नानुष्ठीयेत, तदा, तसात् योगी भवार्जुनेति किमित्युपदेशः । नूनं बाह्मण-जन्मने पयतस्वेत्यादेशो युज्यते ।

यद्पि षष्टान्ते, योगिनामपि सर्वेशामित्यस्य व्याख्यानम् , तत्रेदं विकल्पनीयम् , रुद्रादि-त्यादिपराणां योगिनां मध्ये मयि वासुदेवे समाहितेनान्तः करणेन श्रद्धावान् यो मजते, स युक्ततमः श्रेष्ठ इति वा. जीवज्ञक्षेत्रयोपासकः श्रेष्ठ इति वा । नाधः ; पूर्वै जीवात्मज्ञाननिष्ठानामेव योगिनां प्रमक्तत्वात् योगिनामिति पदेन तदमहणायोगात् । प्रहणे च सम्यङ्मोक्षहेतुज्ञाननिष्ठापेक्षया सगुणवासुदेवोपासकस्य श्रेष्ठतया भवतोऽपसिद्धान्तः स्यात्। नान्त्यः मां , भजत इत्येव शब्दात् जीवैधरैवयबोधकामावात् । कल्पनायां रुद्रादित्यादिपराणामित्यर्थके योगिनामिति पदे, अहं मनु-रमवं सर्थश्चेतिवत् अहं रुद्रः आदित्योऽहमिति खिसान् रुद्राधैनयमपि कसादर्थो न भवेत् । व्या-वहारिकमेदस्तायत् स्वसात् रुद्रादौ वासुदेवे च समानः, पारमार्थिकामेदश्च समानः । तत्रेश्वर-स्वैनयोपासनञ्चेत् मुक्तये, रुद्राधैनयोपासनं कुतस्तथा न ; ईश्वरत्वादिमिथोविरुद्धविशेषणत्यागेन अहमेवेति अखण्डारमैवयमेव चेदुपास्यम् , तत् सर्वताविशिष्टम् । अतो गीतायां सर्वत मामुपाख मां प्रवद्यस्य इत्येवमेव कथनात् ऐक्योपासनाकथनात् , सगुणत्ववेषे च जीवैश्वरैक्यासंभवात् , अखण्डात्मैक्य-विवक्षायां देवमनुष्यतिर्यकुखावरसर्वोपासनस्यैव वक्तं शवयतया मामिति विशेषाभावात् , 'कामैस्तं-स्तेहृतज्ञानाः भषद्यन्तेऽन्यदेवताः' इत्यस्य निन्दनस्य सगुणविष्णविषयेऽपि तुरुयत्वात् निर्भणेवये विवक्षणीये देवतान्तरेऽपि तंद्विवक्षासंभवात् भवन्मते सर्वमिश्चष्टम् । यदि कस्यचित् स्वपरब्रह्मैक्यज्ञानं जीवान्तरेषु भेदज्ञानञ्च. न हि तदा मोक्षः । अतः सर्वमेकमित्येव ज्ञानमपेक्षितम् । तत्रैकतरपक्षपातो न घटते । असान्मते त सर्वस्य भिन्नत्वात खविषयकयोग-देवतान्तररूपजीवान्तरविषयकयोगोभयापेक्षया वासु-देवयोगस्य श्रीष्ठचवर्णनं सु ष्ट संपद्यते । एवमस्य श्रेष्ठचवर्णनात् ज्ञाननिष्ठाया निकृष्टत्वात् तया साक्षान्मोक्षो न सिद्ध्यतीति न भवद्भिमतरीत्या प्रथमषट्कार्थवर्णनं युज्यते । ननु षष्ठान्ते उक्तमेव द्वादशे विश्वदी-क्रियते । तत्र जीवारमोपासकापेक्षया संगुणोपासकस्य योगवित्तमत्वं येनाशयेनोक्तमः . तेनाशयेनेवात्र यक्ततमत्वोक्तिरिति चेत ---तत्वाप्यक्षरोपासकापेक्षया श्रेष्ठचं भवता नेष्टमिति तत्र निरूपियव्यते । अतस्तदवाक्यजातिमदश्च ज्ञानिनष्टे निकर्षस्य भवदनिभमतत्वात्र यथावस्थितार्थे भवतीति ध्येयम् । शिष्टं तत्र ।

एवमुपक्षिसस्य वासुदेवोपासनस्योपपादनार्थे सप्तमाद्यध्यायप्रदृत्तिरिति निर्विवादम् । सप्तमे प्रकृतिपुरुषरूपप्रकृतिद्वयविशिष्टतया स्वस्य निरूपणात् तत्त्वत्वयपक्ष एव गीतार्थः, न त्वद्वेतम् । यतु अत्र चतुर्विष्ठेषु भक्तेषु ज्ञानी जीवन्नस्वयज्ञानी, ज्ञानीत्वास्मैवेति अभिन्नत्वेनोक्तत्वादिति ; तत्त्र ; ऐक्यज्ञानस्य ज्ञानवदार्थत्वे ज्ञानिनो भक्तत्वं कथम् । स्वावधिकोत्कर्षवति स्वस्य प्रीतिर्हि भक्तिः। 'प्रियो हि ज्ञानिनः' इत्युक्तपरस्पर्रायद्योपपादनश्च तत्त कथम् । सर्वेषामप्येकात्मत्वे स्थिते अस्यैवात्मत्वं कथहि कथ्यते । अतोऽ-कथ्याष्ट्रत्तमपि न घटते, मामित्युक्तसगुणन्नक्षाति-

रिक्तनिर्विशेषानुत्तमगतिकत्वमेव श्वस्य । अष्टमे सगुणोपासने धूमादिमार्गेण स्वर्गादिपासितुरूयं सगुणो-पासनादिचिरादिना सगुणपासिरुच्यते । इयमेव परमुक्तिः । एवमपि, अपुनराष्ट्रित्रिषमुस्त्रमुक्ते पश्चात् पर्यवसानेऽपि स्वयममुक्तिरूपं तदित्युपन्यस्य नवमे यथावस्थितेक्यज्ञानं परममुक्तिहेतुरूच्यते इति मव दाद्ययः । तन्नापि सर्वव्यापित्व-सर्वविषयःयुत्य-विवेकिजनसमाराध्यत्व-स्त्रीवैश्यादिसर्वर्शेक श्रयणीयत्व-भक्तरोकयाज्यत्वनमस्कार्यत्वादिविशेषवर्णनत एव निगमनात् निर्विशेषाद्वितज्ञापकं किमपि न रूक्ष्यते ।

केचितु 'मयाततिमिदं सर्वम् , मत्स्थानि सर्वमृतानि' इत्युकृत्वा, 'न चाहं तेष्ववस्थितः, न च मत्स्थानि भूतानि' इति तित्रिषेधात् जगन्नास्तीति ज्ञायत इति वदन्ति । तन्न : मया सर्वस्य ततत्वेऽपि तस्य मां प्रति आधारत्वं नास्तीति 'न चाहं तेष्ववस्थित' इत्युक्तम् । तावता खस्य जगतश्च सद्भावः तत्न स्वनिरूपिताधार-त्वमालाभावश्च ज्ञायते ; न सर्वमिथ्यात्वम् ॥ मत्स्थानीत्युकृत्वा न च मतस्थानीत्युक्तं विरुध्यत इति चेत्-कथं विरोधपरिहारो भवन्मते । भगवतो जगतश्च सर्वथैवापळापे वावयद्वयमपि अपार्थम् । प्रथमवावय इव द्वितीयवावयेऽपि मत्पदार्थस्य भूतपदार्थस्य च सद्भावावगमात् स्थितिमात्रनिषेधः किल क्रियते । मत्स्थानीत्यक्तिरक्षणाय काचित् स्थितिरपि स्वीकार्या । अन्यादृशस्थितिनिषेधश्च निषेधवानयार्थः । लोके जलादिकं प्रति घटादेराधारत्वाय यो धर्मीऽपेक्षितः, ताहशो जगदाधारत्वाय न मेऽपेक्षित इति तदर्थैः । तर्हि कथमाधारत्वसामर्थ्यमिति चेत् आह्, पश्य मे योगमैश्वरम् इति । भवन्मते हि, पश्य सर्वस्याप्य-भाविमिति वक्तव्यम् । ऐश्वरस्वभावः संकल्पशक्तिद्येत्वास्तीत्युच्यते । तेन संकल्पतदाधारतद्विषयतद्धीन-स्थितिसर्वस्थितिरेव रुभ्यते । एतावद्विमर्शेऽप्यर्थ इह सुवचः, मध्यानि सर्वभूतानि सृष्टिकाले, न च मत्स्थानि प्रलयकाले, पश्य मे **योगमैश्वरं** सृष्टिपलयविधानज्ञक्तिमिति । अत एव पौन:पुन्येन सृष्टि-प्रस्यविधानवर्णनम् । किञ्च भवद्भाष्ये 'न चाहं तेष्ववस्थितः' इत्यस्य तत्संरलेषरहितः तद्भक्तः : 'असंगः ; न हि सज्यते' इति श्रतेरित्युक्तम् । तत्र सत्यमिथ्यावस्तुनोर्मिथस्संबन्धाभाव इति क्रिष्टार्थ-करुपनासुपेक्ष्य नित्यानन्दतृप्तस्य विभूत्यभावे निरानन्दत्वमिति या छोकरीतिस्तदभावात् , जीवो विभूति-मृतेष्विव नाहं तेष्वासक्तः : जीवार्थमेव सर्वसृष्टेः उदासीनवदासीनोऽहमसक्तस्तेषु कर्मस्विति तात्पर्यमपि वर्णियतुं शवयम् । तस्मात् पविल्लिमदमुत्तमं धर्म्यीमिति उपक्रमे. मद्याजी मां नमस्करु इत्यपसंहारे च श्रुतरीत्या पापनिवर्तकं शास्त्रविहितश्रेष्ठधर्मात्मकं प्रथमषट्कोक्तविरुक्षणं योगिनामपि सर्वेषामिति प्रति-ज्ञातमेव भक्तिरूपमुरकृष्टपुरुषाराधनरूपमेव हितं नवमाध्यायार्थः : न त तद्विपरीतमैवयज्ञानम् ।

दशमाध्यायदर्शितं भगवतो छोकमहेश्वरत्वेन स्वाधीनसर्वोत्पित्वपृष्ट्विकत्वेन, विशिष्टासु विभूतिषु विशेषरूपेणावस्थितत्वेन च भावनम् , एकादशोक्तं भगवद्विश्वरूपसंदर्शनञ्च एतद्विरुद्धं भगवर्ष्वेभव-मिथ्यात्वज्ञानमेव जनयतीत्येवं सर्वत्य तत्त्वज्ञानार्थत्ववर्णनं भगवद्विषयक भक्तियोगरूप, वेदान्तप्रसिद्धोपा-सनविद्वेषनिवन्धनम् । एवं गीतार्थवर्णनपृष्ट्वो यत् परमक्तिविधायकानामुपनिषद्वावयानामपि एवं सर्व-शब्द-तदर्थभक्षनेन निर्गुणपरत्वमेव वक्तुं न पृष्टचः, तत् नूनं तत्व शारीरकतृतीयाध्यायतृतीयपादमुखेव भगवतो व्यासस्य तत्वरिपन्थित्वात् । तत्स्वाणामप्यर्थान्यथाकरणं द्वतो न करोत्विति चेत्-आनन्दसयाधि- 3) भूमिका

करण इव त्लापि तथा कर्तुं शिष्यानेव नियुज्जीत। खयं तावद्धैर्यविरहात्। अन्यथा अधिकधेर्ये गुणोप-संहारपादो गुणध्वंसपादः क्रियेत। भक्तया मामभिजानाति यावानित्यत्न शांकरार्थशोधने किमिति भक्तिशब्दस्य भंगरूपमर्थे न वदन्तीत्यपि विष्ठष्टःयमस्ति। मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणीत्यत्न च स्वजातीयविज्ञातीयस्वगतभेदायोगाय मत्यदार्थेश्वरांशभंग इत्यथेः स्यादिति सर्वविष्ठयः।

अथ द्वादरो, 'एवं सत्तयुक्ता ये मक्ताः' इत्यारम्भ एव एकादशवर्यन्तैभगवदुवालनमुववादितमिति स्वष्टं कथयति, तद्विरुद्धतया एकादशवर्यन्तेन शुद्धजीवोवासनमेवोक्तम्, भगवदुवासनम्र तत्न तत्नेति सवद्वचनं हठ एव । अथ च सगुणव्रभोवासनं शुद्धजीवात्मज्ञानं च प्रथाधिकारिकार्यम् । तत्तद्वतोर्मध्ये कतरस्य योगवित्तमत्वमित्वर्जुनप्रभः; सगुणोवासकस्य योगवित्तमत्वं मगवदुक्तमिति स्वष्टहरयम् । भवन्मते तद्योगात् जीवात्मोवासनस्यैव मुख्यमोक्षहेतुत्वाच अक्षरोवासकश्चेष्ठश्चरक्षणाय किमिव दम्यनं कियते, अन्तिमक्षरोके 'अतीव मे प्रियाः' इति अक्षरोवासका एवोक्ता इति च । तद्वनिवतम्; पूर्वमक्षरोवासकं प्रयत्वमात्रेण एकवचनेन निर्दिद्य, 'ये तु धम्यम्तित्वम्द्र' इति बहुवचनेन तुशब्देन च तद्व्या वर्तनेन स्वोवासकानामर्तीवित्रयत्वं खत्न निर्वाधितिस्यम्; 'ते मे युक्ततमा मताः' (२) इत्यनेनैक कण्व्यञ्च । किञ्च भगवदुवासकान् प्रस्तुत्व, ''तेवामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । अवामि न चिरात् वार्षे मय्यावेशितचेतसाम्' इति शीवमेव मुख्यमोक्षपावणं स्वेन क्रियमाणमुच्यते । तदुवासनं मुमुखं कर्तुमिति च भागुक्तम् । अक्षरोवासकविषये क्रेशोऽधिकतरस्तेवामिति क्रेशाविक्त्यमुक्तम् । 'ते प्राप्तवित्त मामेव' इत्युक्तावित्, निर्वात् समुद्धर्त भवामीरथुक्तं फल्कश्चेत्रयं नास्तिति ज्ञायते । तत् शीव्रमुवासनासिद्धयाऽपि स्वात्, फलान्तरस्वयानाति । सर्वमिदं भवन्मतिवरित्तम्; सगुणोपसकस्य कममुक्तिमाजो विल्वन्देनैव यथावस्थितमोक्षः, अक्षरोवासकस्यातैव द्र्शनोदये अतेव ब्रब्धसमश्चमनमिति हीष्टम् । अत्र तु जीवात्मकास्य निक्रस्य मावत्वासिरेव मुख्यमोक्षस्य सिद्धम् ।

ष्ट्कद्वयनिरूपितार्थवैश्वायाय तृतीयषट्कस्यारमः। द्वितीयतृतीयोक्तार्थवैश्वायेव शिष्टम्, तद्विषकं नास्ति गीतायामिति चतुर्थारम्मे तद्भाष्ये व्यलेखि । संपूर्णायां गीतारत्नमाल्यां नायकमणिवत् निर्भासमानः "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि" इति त्रयोदशगतः खण्ड इति अद्वैतिनामाशयः। शांकरभाष्येऽप्यत् विस्तरः। सर्वत्र जीवेश्वरमेदस्येव प्रत्यायनेऽपि अत्र जीवेश्वरामेद एव स्थाप्यत इति वदतः प्रच्छामः, अस्यापि वाक्यान्तरवत् मेदाविरोधेनार्थे सुवचे किं सर्ववाधेनार्थेवर्णनेनिति । कथिमिति चेत-श्रूयताम्—पूर्वक्षोके शरीरस्य क्षेत्रत्यं शरीरविद्विद्धस्वदम्यस्य क्षेत्रज्ञत्वञ्चोक्तम् । तेन जङजीवद्वयमुक्तं भविति । अथ तस्य क्षेत्रज्ञस्य स्थानमुच्यते क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेप्वित । सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः, मया ततिमदं सर्वम् इत्येवमहं सर्ववर्तीति प्रसिद्धम् । उक्तं क्षेत्रज्ञं माञ्च सर्वक्षेत्रेषु विद्धि । अहमिव जीवोऽपि क्षेत्राधारतया स्थित इति वाक्यार्थः। एवं क्षेत्रज्ञस्यापि मद्विज्ञत्वेन ज्ञानमेव यथावस्थितमिति मे मतिमिति भेदस्थापनमेवालापीति । अन्यथापि स्ववम्—पूर्वोक्तो जीव एकैकक्षेत्रवेदित्वात् क्षेत्रज्ञः; अहं तु सर्वक्षेत्रेषु विद्विद्विन स्थितः । अतो मामप्येवं क्षेत्रज्ञातृत्वरूपगाद्विशैतयोगार्थपौ॰कर्यात

स्रेलचं विद्धि । स्रेलच्यावस्य परमास्मपरस्यं पैक्षिरहस्यत्राक्षाणादिवावयमहणेन सुष्ठु प्रतिष्ठापितमेव पूँवेस्प्
रिभिः । भाष्ये क्षेत्रज्ञाध्यायेऽत्र जीवविचाराय प्रवृत्ते जीवमेव क्षेत्रज्ञाव्दार्थं गृहीत्वैवानायासेनाओं
वर्णितः तत्त्वमस्यादिवावयनयेन । तत्वायमाद्ययः—उपि क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोज्ञानिमस्युक्तया अत्र क्षेत्रज्ञज्ञान्पीति समुज्ञायकशव्दसत्त्रात् क्षेत्रं क्षेत्रज्ञज्ञ मां विद्धीत्यर्थं एव स्तरसः । तत्र क्षेत्रामेद ईश्वरे नेव्यते अद्वैतिमः । अतो क्षेत्रं नास्ति त्रव्येवार्थात्याचायकरण्यमेव वक्तव्यम् । तदैकरूप्याय क्षेत्रज्ञो जीवोऽपि नास्ति, त्रव्यनास्त्रस्तित्वय्यं करुप्याय क्षेत्रज्ञो जीवोऽपि नास्ति, त्रव्यनास्त्रमस्तित्यर्थवर्णने जीवस्य याध्य एतित न जीवन्नक्षेत्रव्यविद्धः । वस्तुतो मामित्युक्ते ईश्वरे जीवकरूपनाभावात् त्रज्ञण्येव करुपनात् वाधार्थसामानाधिकरण्यमपि दुर्वचम् । जीव-वाधावसरे ईश्वरस्थापि सहैव वाधात् इश्वरपरिशेषो न भवति । मामित्यस्य ग्रद्धत्रक्षकक्षकत्वे क्षेत्रज्ञपरे मत्यदे च रुक्षणेति कथमयं स्वरसोऽर्थः । यदि कथित् नास्तिको त्र्यात् , क्षेत्रज्ञ्ञापि मां विद्धिः—यथा ईश्वरत्वेताहं कथित्रास्मि, जगतो निरीध्वरस्थात् , तथा क्षेत्रज्ञोऽपि कुत्रापि नास्तिति प्रतिपत्त्वयम् । तेन एकसिन् श्वरतेनाहं कथित्रास्ति, जगतो निरीध्वरस्वात् तत्किष्वत्विति एकजीववादः कथितद्वितिः क्षित्रमाणोऽपि नास्ति निरात्मकमेव जगदिति देहातिरिक्तजीवनिषध एवालेति—ताहनेव्यस्त्रैतिक्यास्थानम् , पूर्वोपरिकरोषात् ।

अस्तु तावदिदम्; अलाह्नैरयुपपादनं कियरसमझसमिति विमृशत । क्षेत्रवेदी जीव ईश्वरामित्र इरयुच्यते; श्लेलक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानिमिति तयोर्ज्ञेयस्वद्य । उमयमि तेषामनिष्टम् । क्षेत्रवेदिःवं हि ज्ञातृस्वम् । तचान्तःकरणस्यैव तम्मते; न तु आरमनः । अहंकारश्च, महाभूतान्यहंकार इति क्षेत्रेऽल्ञान्तर्भावितः । तथाच क्षेत्रातिरिक्तो ज्ञाता कथं तन्मते । अलेव घट्टे ''विज्ञानसरूपस्याविक्रियस्यैव विज्ञातृस्वोप-चारात् '' इति विज्ञातृस्वामाव एवोक्तः । तक्त्वोपदेशावसरे कृष्ण इहाविज्ञातारं विज्ञातृस्वेन कथयतीति साहसम् । एवं क्षेत्रज्ञस्य ज्ञानमेव मद्भिमतं ज्ञानमिति वश्वसायां सत्यामित्, 'ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि' इति उपरि ज्ञेयस्ववक्ष्यमाणस्वादेः कथनेऽपि, सर्वथैवाज्ञेयं जीवतत्त्वम्, ज्ञेयस्वे मिथ्यास्वं स्यादिति एतस्पघट्टे निरूपणं गीताया व्याख्यानं वा प्रत्याख्यानं वेति चिन्त्यम् ।

अत कथित प्रशः-जीवस्येश्वरत्वे असंसारित्वात् शास्त्रान्थेवयिति-ततेदं समाधानमुक्तम् हैतिनामिष वन्धावस्थायामेव शास्त्रसार्थेवयम्, न मुत्तयवस्थायामिति । किं तेन । अद्वैतिमते वन्धस्येवाभावात् शास्त्रवैयर्थ्यमिति प्रश्नस्तावता न समाहितः । तद्धिद्दाय यत् किञ्चिदन्यत् तदुपर्याह् — आरमनः अवस्थाद्यं दुर्वचम्; तदा वन्धावस्थाया अनादित्वात्राशो न स्यात्, मुक्तयवस्थायाः सादित्वात् नाशः स्यादिति । इदमयुक्तम् । अनादित्वं हीदं प्रवाहानादित्वम्, न त्वजन्यत्वम् । जनिपरम्परा नाश-परम्परा च भवतः । जनिपरम्परा विद्यात् उच्छेदश्च । मुक्तिश्च प्रध्नसस्त्रा न नत्यतीति सर्वेष्टम् । अन्यथा अविद्यानिद्याविद्या पुनरुन्मज्ञेत् । असाकं तु बानविकासपरम्परा प्रतिक्षणं प्रतिवन्धकन्तिस्वराद्यक्तिमानैवास्त्रीति न कदापि मुक्तेद्यानिः । अतो यथावत्समाधानमरुभमानस्य दिग्जमणमेतत् । तसाद्यज्ञयमाद्याच्यावृत्व किञ्चदारमतस्य न गीतार्थः ।

एतावत्यनुपरम्य, वक्ष्यते चाष्टादरो विस्तरेणेत्याह । तत्न किथमाणं गीतावधमपि पर्यत—
'सिर्द्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्रोति निवोध मे' इति ज्ञाननिष्ठायोग्यतासिद्धौ ज्ञानपासिरुपपायत इत्यारम्मः । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय करुपते इत्युक्त्वा, ब्रह्मभृत इत्यादि कथ्यते । कोऽयं ब्रह्मभावः । ब्रह्मभृतः ब्रह्मपास इति भाषितम् । इदममेदबुद्धिनिवर्तनेन मेदबुद्धचापादकमेव भवति । एवं
ब्रह्मभृतः 'मद्भिक्तं कंभते पराम्' इत्युक्तस्याप्त । जीवब्रह्मैवचे संपन्ने, कथं पश्चादीश्वरे भक्तिः । अथेश्वरभजनं नाम ज्ञानी चेति प्रागुक्तचतुर्थावस्या ब्रह्मैवयज्ञानमेवेति चेत् —तस्य कथं ब्रह्मभावः कारणम्,
ऐवयात् । कथ्रङ्मैवयज्ञानस्य मक्तिशब्दवाच्यता । तत्र यावान् यथ्यास्मीति नानाप्रकारविषयकस्वमपि
कथम् ; अस्वण्डब्रह्मगोचरत्वात् । 'तत्त्वतो ज्ञात्वा विश्वते तद्दनन्तरस्' इति वर्ण्यमानतत्त्वज्ञानतत्त्वप्रवेशौ
कौ । सर्वमेकमेव हि भवन्मते । तत्नापि पृच्छ्यते किं तदेकमिति । जीवब्रह्मैवयज्ञानमित्वादि सर्वमनन्वतं
भवन्मते । ब्रह्मज्ञानमिति किश्चित्रास्ति । ब्रह्मेत्यान्यस्यानम्यस्य योगः । तद्दभ्यास एव संपाद्यते इति
हि वः प्रक्रिया । ईदृश्यान्वर्वनगरसाम्राज्याभिषिक्तानामहैतिसार्वभौमानामुपन्यासं तल्रत्या एव श्र्णयः।

एवं वाक्यवयं विहाय भगवद्गिक्तं यथावस्थितामेव प्रकृतवाक्यवाच्यार्थत्वेनोपवर्ण्य एवं भक्त्याऽऽराध्यमानो भगवान् प्रीत ऐवयज्ञानं जनयिष्यतीति वर्णनं श्रेयः ; प्रमेयदौस्स्ये सत्यपि ईहशवाक्यानां
वास्तवार्थरक्षणात्। तथाच भथमष्ट्के कमंयोगानुष्ठानेन ज्ञानिष्ठायोग्यतां संपाद्य अतैवलोके जीवब्रह्मेवयज्ञाननिष्ठया लक्ष्यया मुक्तिर्ल्ण्येत्येकः पक्ष उक्तः । द्वितीयष्ट्के तु तदनुष्ठाने दौष्कर्यमाल्य्य्य सगुणब्रह्मेन्यात्येकः पक्ष उक्तः । द्वितीयप्र्यते तु तदनुष्ठाने दौष्कर्यमाल्य्य्य सगुणब्रह्मेन्यत्येकः पत्र पत्र सन् क्रमेण तत्यसादात् जीवब्रह्मेक्यव्यश्चित्वां मुक्तो भवेदिति द्वितीयः कर्वत्यः श्वानिष्ठाल्यमे यतमानस्य गार्हस्थ्यत्यागानन्तरं युद्धादेरकर्वव्यता स्वात् । द्वितीयकरूपे स्थितानां संन्यासस्यानपेक्षितत्वात् यावज्ञीवं गार्हस्थ्यत्यागानन्तरं युद्धादेरकर्वव्यता स्वात् । द्वितीयकरूपे स्थितानां संन्यासस्यानपेक्षितत्वात् यावज्ञीवं गार्हस्थ्ये स्थित्वेव सर्ववमोङ्ककः सगुणोपासनानुष्ठानस्य संप्रतिपच्चव्यत्वात् न कर्मत्यागप्रसिक्तरहित । तत् त्वं प्रथमकर्व्यरिव द्वितीय-कर्व्यति । प्रथमे युद्धादिकं कर्म त्यक्तमनहोऽसि । संन्यासे अनिषक्तारात् अस्मिन् जन्मिन श्वानिष्ठाया स्वया दुष्पापतया जन्मान्तरं कीदशे भविष्यतीत्यस्य दुङ्गीनत्वाच सगुणोपासने यतनमेव ते श्रेय इति स्वया कर्मापरित्याण एवेरयेवं शांकरमतरीत्याऽर्थशिक्षणं कार्यम् । तद्विहाय किमित्यस्थाने सर्ववाक्यवधः क्रियते । नृतं तथासति अद्वैतसाधकगीतावावयालाम इति विविच्येतत् ।

वस्तुत एतम्मतासंभवश्च सुप्रतिष्ठापित एव पाच्यैः, यत् उच्यते शांकर एव, 'अनादिमत्परं ब्रक्ष न सत् तन्नासदुच्यते' (१३-१२) इत्यत्न । अत्र हि पाचीनव्यास्थानं सण्डनायानूदितम् , ''बहुत्रीक्षुक्तार्थें मतुपोऽनवकाशात् अनादिमत् इति पदच्छेदायोगात् अनादीति प्रथक्कृत्य मत्पर्रमिति पदिवमागः कार्यः । अहं परो यसादिति तद्विमहः । तेन परमात्मा यस्मात् परः सोऽवरो जीवात्मा, एतत्प्रकरणार्थः इति । तेन जीवपरमेदः प्राच्यसंमत इति सिद्धम् । अद्वैतेऽपि शक्तिविशिष्टवासुदेवकछाया जीवकछा-

पेक्षया परत्वमत वक्तव्यं स्यात । शांकरं त निर्विशेषत्रसरूपत्वपक्षाभिनिवेशेन तत खण्डयति 'ब्रह्म न सत तन्नासदच्यते' इत्यक्तत्वात निर्विशेषमत्न वक्तव्यमित्याह । अथ सर्वत्यापि अस्ति नास्तीत्यन्यतर-प्रतीतिविषयत्वघ्रीव्यात कथमेकस्य सदसद्विरुक्षणत्विमिति स्वयमेवाशंक्य शब्दानां जात्यादिविशिष्ट-वाचित्वस्वाभाव्यात् ब्रह्मणश्चाद्वयस्वात् अविषयत्वात् आस्मत्वात् न केनचिच्छब्देनोच्यमानतेत्याह । एवं तर्हि ज्ञेयं यत तत् प्रवश्यामीत्येतावान् शब्दसंदर्भः कत्य वचनाय प्राप्तः १ मिध्यामतं सदसद्वि-रुक्षणिमिति कचित कथ्यते । सच्छव्देन ब्रह्मणो वाच्यत्वं तदा संमतम् । इदानीं सदिति मिथ्याभूत-ग्रहणं भवदिष्टम् । शब्दमुरूयार्थः कः, कस्य तथात्त्वं भवित्तमर्हतीति विचार्यम् । भवन्मते ब्रह्म न सर्वे . अवाच्यत्वात् , जगन्न सत् अस्थिरत्वात् । स्वयमेकं मतं परिकरूप्य वेदशिरसि तदारोध्य, प्राचीन-संप्रदायं प्रदृष्य, ''तथाहि सम्प्रदायविदां वचनम् , अध्यारोपापश्चार्मयां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति विलिख्य एवमनंगीकारे संपदायहानिरिति विभीषिका प्रदर्श्यते । 18 50 इस्लोके सिखतं वाक्यं बौद्धसंप्रदायमेव भवत्संप्रदायत्वेन स्थापयति, तथा धन्यते, ''अत एव हि विज्ञानवादिनी बौद्धाः विज्ञानव्यतिरेकेण वस्त्वेव नास्तीति प्रतिपन्नाः. प्रमाणान्तरनिरपेक्षताञ्च खसंविदितत्वाभ्यपगमेन । तस्माद्विद्याध्यारोपितनिराकरणमालं ब्रह्मणि कर्तव्यमः न त ब्रह्मविज्ञाने यस्तः ' इति । एवं जगद-पलापेन सह ब्रह्मणो ज्ञेयत्वमध्यपलपतां ब्रह्मणोऽत्यन्तपिसद्भत्वमपि कथ्यमानं कीदृशम् १ न तावतः ज्ञातत्वम . अज्ञेयत्वात . अथ संज्ञयविषर्ययानास्पद्दवमात्रमिति चेत् . एवं निश्चयानास्पद्दविमिति । सर्वाभाव एव ब्रह्मेति विज्ञानवाद्विरुक्षणः शुन्यवादोऽप्यापतेत् । गीताव्याख्यानारम्भः प्राचीन-व्याख्याननिरासाय नवीनमर्थमारोप्य च बौद्धमतस्त्र संवादाय प्रदर्श्य तस्य साम्प्रदायिकत्वमि वर्ण्यत इति चित्रम । कथं न साम्प्रदायिकं प्राचीनं च्यारूशनमेकं खमतानुसारि न प्रदर्श्वते इति । अभावादिति चेत अत एव तस्य गीताप्रेमेयत्वाभाव एव ।

प्रमाणापदर्शनेन स्वमतं सिद्धं कृत्वा यत् अष्टादशान्ते कथितम् 'आत्मज्ञानस्य तु केवरुस्य निदश्रेयसहेतुत्वम् , मेदप्रत्यय निवर्तकत्वात् ।', 'अधिद्यातमोनिवर्तकज्ञानस्य हृष्टं कैवरुयफलावसान-त्वम् , रज्वादिविषये सर्पाद्यज्ञानमोहनिवर्तकपदीपप्रकाशवत् ।' 'भगवत्कर्मकारिणो ये युक्ततमा अपि कर्मिणः अज्ञाः, ते उत्तरोत्तरहीनफलावसानसाधनाः, अनिर्देश्यक्षरोपासकास्तु उक्तसाधनाः', 'अविद्यावत एव सर्वं कर्म, ब्रह्महत्यादिवत् , 'कर्मविधिश्रुतिवत् , ब्रह्मविद्याविध्रुतेनिप्रामाण्यम् , आस्मावगतेरवाधात्', 'मिथ्यात्वेऽप्युपायस्य उपेयसत्यतया सत्यत्वमेव स्यात्' ।, 'अतः सन्यवद्गीता अत्यन्त एवोपरमः' इति, सर्वमिद्धं श्रीमाण्यादौ सत्तर्कप्रमाणोपन्यासेन श्रमितमेव । मोक्षश्चाद्वैतमेव शोधने तार्किकस्वीकृतवाषाणकरूपमोक्षादिष निकृष्टः । ब्रह्मणो हि निर्विशेषस्य ज्ञानत्वानन्दत्वादिकं सर्वमौपचारिकम् , प्रकाशरूपधर्मस्यैवानगीकारे आतुकूरुयपकाशरूपसुखानुभवस्य का प्रसक्तिः । जङ्काद्यदुःसत्वाद्यभावमातं हि तत् । तसान्दद्वैतिभिः स्वमतस्य गीतार्थत्वामावे विगीतता स्यादिति विमृश्य एवं सर्वगीतावावयश्यापादनं ईश्वरेशितव्यसविध्यविधितस्य प्रारन्धम् । विशेषतश्च भाष्य-तात्थयैवन्दिकादिषु तल तल तन्मतदौस्त्र्यं प्रवित्तन्विति कि बहुना ॥

#### मध्वप्रमेयपरिज्ञीलनम्

अथ माध्वसिद्धान्त्याहतो गीतार्थः संगृश्वते । एतन्मतशमाणप्रमेयतत्त्वहितपुरुवार्थपणाला श्रीमाप्यस्यासस्कृतमाप्यार्थदर्षणसहितस्य मुद्रणावसरे द्वितीयसम्पुटे मूमिकायां प्रकाशितेवासमाभिरिति नाल पिष्टं पिप्यते । अल तस्समतगीतार्थसंग्रहमाले नः शृहतिः, प्रायः प्रमेयस्य संमततया कीहशार्थ-ग्रहणे शब्दानां पूर्वोत्तरसंदर्भाणाञ्च स्वारस्यमिति विमर्शे एव कार्यो भवति । स चाऽऽच-तं सर्वश्रहणेन कार्यो विसर्रेण । अथापि संग्रह इह । बन्धुस्नेहकारुण्याद्याकुरुस्यार्जुनस्य विषादशमने युद्धे प्रृष्टति-मुत्कटामाधातुं मुमुक्षुवेद्यतत्त्वहितोपदेशे प्रवृद्धते भगवानिति सर्वसंग्रतिपन्नमलाप्यविशिष्टम् । 'जगिन्यया ; जीवन्नह्मैवयज्ञानाम्मुक्तिः ; तज्ज्ञानिन्द्यायोग्यतामात्रं निष्कामकर्मसंपाद्यस् ज्ञाननिष्ठाधिकारिणश्च चतुर्थाश्रमिण एव' 'इत्यद्वैतन्नित्रया विशिष्टाद्वैतप्रमृतिभिरिच एभिरपि दूप्यत एव । वैराग्यं भगवति मक्तिः उपासनं प्रत्यक्षमिति क्रमेणैतत्वक्षे मोक्षोपायाः । ततः परमभक्तौ जातायां भगवत्मसादे च प्राप्ते मुक्तिः संपद्यते । ताहशोषायोपदेश एवाल गीतायां क्रियते ।

जीवात्मनः खलरूपानन्दानुभव एव मुक्तिरिति तत्खरूपज्ञानस्यावश्यकत्वात् देहात्मश्रान्ति-निवर्तनेन तत्प्रतिबोधनं द्वितीयाध्याये प्रथममारव्धम् । एतन्मते जीवन्नसात्यन्तमेदे सत्येव न्नसपित-विम्बत्वमपि जीवस्य स्वीकृतम् । छोके जलादिस्वच्छद्रव्यपतिहतनायनर्शिमसंपर्कवलात् दृश्यमानः-स्यीदिबिम्ब एव प्रतिबिम्बत्वेन व्यविद्यत इति यत् विम्बप्रतिबिम्बेक्यं पूर्वोत्तरमीमांसावारीणपरिगृही-तम् , तदेभिनेष्यते । बिम्बात् प्रतिबिम्बस्य मेद् एव । अथाप्युपाध्यायत्तवा सादित्वापिर्जीवस्येत्यपि न ; अनाद्यपाधिनिबन्धना प्रतिबिम्बताऽप्यनादिरेव । उपाधेरनाज्ञाच सर्वदा प्रतिबिम्बतेव । प्रतिबिम्बन त्वञ्च विम्बभिन्नत्वे सति विम्बाधीनमादृश्यवत्त्वम् ''अंशोनानाद्यपदेशादिति सत्ते उपपादितम् । जीवस्य यथावन्निरूपणार्थं पृष्टते द्वितीयाध्यायप्रथमभागे सर्वगतः स्थाणुः अञ्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयिन-त्यादिना यत् परमात्मनिरूपणम् , तत् जीवे निरुक्तप्रतिविग्वत्वोपपादनार्थमेव । अस्य महापुरुषार्थ-रूपो मोक्षो भगवत्पसादात । प्रसादश्च भगवति सर्वोत्क्रप्टरवज्ञाने सरयेव रूभ्यते । विष्णो: ब्रह्म-रुद्रादिसर्वचेतनापेक्षस्वोत्कर्षश्च शास्त्रपसिद्धः । अत्र संदर्भे रुद्रादीनां निकर्षो विस्तरेण भाष्ये न्यरुपि । 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' इति जीवतत्त्वज्ञानोपदेशं समाप्य कर्माख्यस्य योगस्योपपादनसुपर्यारभ्यते ; कर्मयोगं विना यथावद्ज्ञानं न निष्पद्यते । 'नान्यः पन्था अथनाय विद्यते' इति श्रुत्या ज्ञानस्यैवोपा-यत्वेऽपि तच्छेषतया कर्मयोगानुष्ठानं कार्थमेव । कर्मयोगो नाम फलकामनादित्यागपूर्वनीश्वरार्पणबुद्धया नित्यनैभित्तिककर्मानुष्ठानमेव । स च चतुर्थाश्रमिणोऽपि यथाहँ भवति । तस्यापि न निरम्नित्वम् । बाह्याग्न्यभावेऽपि, 'ब्रह्मामावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोषजुहृति' इत्युक्तरीत्या किश्चिद्मिसद्भावात् । सांरूयस्य योगस्य च ज्ञानकर्मणोरतः समुच्चय एव । संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैन्यसि स संन्यासी च योगी चेति एकस्पैव संन्यासस्य फलत्यागरूपस्य ईश्वरोपेणबुद्धया कर्मकरणरूपयोगस्य च समुचय इच्यते । दूरेण ह्यवरं कर्मेति कर्मयोगापेक्षया ज्ञानश्रेष्ठचवचनात् किमित्यहं कर्मणि नियोज्यः ;

यत् नित्यकर्म न त्याज्यमिति, तत् सत्यम् । तथापि युद्धं तु काम्यमेव । तस्य नैमित्तिकत्वेऽपि संन्यस्य भिक्षाचर्यया ज्ञाननिष्टैव श्रेयसी । शतमिलादिभेदवर्धक-शमदमवाषक-पुद्धानुष्ठानपद्यतस्य मोक्ष-लामे श्रमात् इति मन्यमानमर्जुनं प्रति, 'चतुर्थाश्रमिणा युद्धाद्यभावेन शमदमादिसंपत्त्यतिशय इति सत्यम् : अथाप्याधिकारिकाणां न संन्यासेऽधिकारः । अत एव कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । अतो नैमित्तिकं नित्यवत् कर्तव्यम् । सिद्धचसिद्धचोः समो मृत्वा कुरु। योगः कर्मसु कौशलम् । परिपाकमंगभीतानुष्टेयज्ञाननिष्ठापेक्षया साम्यबृद्धिसंपादनेन जयापजयादौ दृष्टिमकूरवा भगवदर्पणेन करणं हि समर्थकृत्यमिति कर्नसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते इति । विशिष्ठाद्वैतिभिरिव एभिः नित्यनैमित्तिका-नष्टानातिरिक्तः कर्मयोगो नोक्तः । 'दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्यगसते' इत्यस्य यज्ञं विण्णं दैवसुपासत इति भगवदपासनार्थकत्वं वदन्ति । अथापि कर्मयोगात् ज्ञानातिञ्चयः ततो ध्यानं ततो दर्शनमित्यादि-वद्द्विरेभिरुच्यमान्भिदं कर्मयोगरूपमुपासनं न मुख्यध्यानरूपं भवेत् । अन्ततो भगवद्चैनस्तवनादिरूप-मपि भवेत । उपर्युच्यमानाः कर्मयोगाः नित्यनैमितिकातिरिक्ता एवेति नेव्यत एभिः । किश्च द्वितीये उपरि प्रस्तुतं ध्यानं परमात्मविषयकमेव । स्थितप्रज्ञता च न जीवध्यानात् ; किं तु परमात्मध्यानात् । अत एव 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इति भगवदृध्यानमेव विधीयते । अतंस्तत्वतत्न जीवारमयाथारम्यस्योपदिस्यमानस्वेऽपि सरूपानन्दानुभवरूपफळळिप्सुभिर्मुनुक्षिभित्तस्यावस्यज्ञेयस्वेऽपि गीतायां विधीयमानं ध्यानं परमात्मविषयकमेव : आत्मशब्दस्य परमात्मवाचित्वसंभवात : ब्रह्मशब्द-स्यैव बहुरुं प्रयुज्यमानुत्वाच ।

दैवमेवापरे यज्ञानित्यस्य देवार्चनपरत्वेन व्याख्यानाकरणेऽपि भगवद्चनं प्रकृष्टतयेष्टमेषाम् । 2-89 सांख्ययोगप्रस्तावे, "सांख्यं योगः षाग्रुपतं वेदारण्यकमेव च । ज्ञाना-येतानि भिन्नानि नाल कार्या विचारणा", "अक्षपादकणादानां सांख्ययोगजदामृताम् । मतमाल्य्वयं ये वेद तृष्यन्त्यव्यचेत्रसः", इति तेषां मिथो भिन्नमतत्वं तल वेदस्येव माद्यत्वम्, अन्येषां अम्प्रमादास्पद्यपुरुष्वुद्धिस्त्रत्वेनानुषादे- यत्वच्चोक्त्वा, "पश्चरात्रस्य कृत्त्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्" इति अपौरुषेयवेदप्रवर्तकनित्यस्वज्ञनारायणप्रणीतत्वा चित्रशित्वख्वव्यद्भिपत्रावाचित्रवर्तितत्वा महाभारते प्रश्नेसितस्य पश्चरात्रस्य कृत्त्नस्य प्रमाण्यम्, अनन्तस्यापि वेदस्याशेषम्यवद्विमप्रायाविक्कारकत्वायोगात् च्योतिष्टामादीनां धर्मत्वस्य भगवदिमप्रायानुरोधिः येव स्वीकारात् साक्षात् भगवत्प्रीक्तेषु वेदानुकेष्विप पद्मराल्यतिवाचार्थेषु वेदविरोधाभावादेव विश्वस्तिया चेति निरूपणात् पश्चकालप्रक्रियाममवदाल्यप्रतिष्ठापूजनादिपद्धतीनां कर्मयोगान्तर्भावः स्थित एव । वाराहे च, 'पाचरातं भागवतं मूल्रगामायणं तथा । पुराणं श्रीभागवतं वेदो विष्णुप्रक्तिरितः" इत्युक्त्वा स्त्री विष्णुप्रचोदितः स्वप्रकाशकानि विष्णोरकाशकानि च क्षुद्रशास्त्राणि चकारेत्युक्तिनित च दर्शितमत्व।

बुद्धियुक्तो जहातीत्यत सुक्तेज्ञीनमात्नासाध्यत्वं ज्ञानकर्मसमुचयसाध्यत्वश्चोक्तम् । स्वस्ववसुखा-नुभव एव सुक्तिः । स चाविद्यानिष्ट्रस्या । अविद्यावाऽऽवरणमिति न ; ईरवेरेच्छापि । अविद्यानिष्ट्रस्यां स्वरूपे बहुंशानुभवेऽपि जक्षत् क्रीडन् रममाणः, स यदि पितृलोककामो भवति, संकरपादेवास्य पितरस्त- मुतिष्ठति इत्यादिमुक्तकमंबछात् पूर्णस्कलानन्दाविमीवः । मुक्तानां देहाश्च च न कर्माधीनाः; न मौतिकाः। एवश्व ज्ञानकर्मसमुख्यो मुक्ति प्रति सुबचो भवति । निष्कामानामीश्वरार्पणरूपाणां कर्मणां ज्ञानोत्पादकत्वमि स्वीकृतमेव । तदा च ज्ञानं प्रति कर्म भवत्यङ्गम् । मुक्तौ सायुज्यं प्राप्तानां न दुःसम् । ये किश्चिद्दुःखिनः, ते सालोवयसामीप्यादिमात्रमाजः । चैद्यादयः पूर्वे भक्ता एव शापवशात् निरुद्ध-भक्तयस्वस्थाने पूर्विस्थितिभाजः । अतो भक्ति विना द्वेषादिना मुक्तिनै कस्यापि । युक्तमेवैतत् ; लोके महादिपीडावलादिप दीर्धकालं वैरस्यस्यानुरक्तेऽपि दर्शनात् । पूतनादिशरीरे जीवद्वयम् । तत्न साधोर्मुक्तः, अन्यस्य संस्तिरिति चान्यत्न तन्मतं दर्शितम् ।

तदल गीतायां प्रथमष्टकं साधननिरूपणप्राधान्येन प्रवृत्तम् । यथावज्जीवात्मप्रमात्मज्ञाना-वश्यकत्वं कर्मयोगानुष्ठानेन तद्वैशद्यम् , कर्मानुष्ठानस्य च आमोक्षाद्त्यागः इति सर्विमिष्टम् । भगवद्भिषयको योग एव षटकोक्तः । विशिष्टाद्वैतिभिर्जीवात्मविषयकयोगपरतया च्याख्याताः सर्वे भागाः परमात्मविषयकतयेव व्याख्याताः । तत् ब्रह्मविषयकपरोक्षज्ञानानन्तरमपरोक्षसाधनोपाय उक्तः, 'तदबुद्धः यस्तदारमानस्तनिष्ठास्तरपरायणाः' इति । यथैतत् . तथा सर्वेषामारमनां साम्यदर्शनञ्चावरोक्षसाधनं भवतीति च। अष्टमे चाध्याये साधका द्विविधा व्याख्याने दर्शिताः, केचित् भक्तिप्रधानाः, अन्ये वायुजयादि-प्रधानाः । वायुजयादिरहितानामपि ज्ञानभक्तिवैराग्यसंपूर्णानां भवत्येव मुक्तिः । ज्ञानाद्यसंपूर्णानामपि वायुजयादिना भवति मुक्तिः । सा त्वरुपा, परं तु शीव्रमित्युक्तम् । क्रुत्खस्याष्ट्रमस्यैकरूपोपासनपरत्व मेवेष्टम । 'अनिमित्ता भगवति भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी । जरयत्याद्य या कोशं निगर्णिमनलो यथा ।' मध्यम-भक्तानां नारायणाश्रयणं मोक्षार्थम् । उत्तमभक्तानां नारायणार्थेव वृत्तिः । मोक्षोऽपि नारायणार्थ-मपेक्ष्यते । यमेवैष वृणते तेन रूप्य इति भाष्ये उदाहृतम् । भक्तमेव वृणुत इति तत्र व्याख्या । भक्तेः संपादनाय सप्तमे ऐश्वर्यप्रपञ्चनम् । न त्. 'न च मत्स्थानि मृतानि' इति जगन्मिथ्यात्वोक्तिः । ऐश्वर्यनिरूपणार्थं प्रक्रम्य मिथ्यात्वकथनस्यायोगात् 'मतस्थानि सर्वभूतानि' इति पागुक्तमप्रतिवेध्यम् । उत्तरवाक्ये त्वयमर्थः---मृतानां पाणिनां तत्नतत्न स्थितानां लोके तत्तहेशवर्तितया स्वात्मोपलम्भोऽस्ति । परमात्मनि स्थितौ तु बद्भवदेशघार्यरवे सत्यपि भूतानां तद्भृतत्वेनोपरुम्भो नास्तीत्युच्यते, त्विगिन्द्रियामास्र-त्वात् परमात्मनः । अष्टमे उपासनविधानम् , नवमे सप्तमोक्त स्यैव प्रपश्चनम् । तद्वपयोग्यर्जनप्रार्थनापुरणं दशमैकादशयो: । अन्ते च निगमितम् , "भक्तया त्वनन्यया शवय अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं दृष्टश्च तत्त्वेन प्रवेष्ट्रञ्चेति । अतो दर्शनमेवोपायः अर्चिरादिद्वारागतस्यैव फलपाप्तिः । २-३९ स्रोके, 'बहुना किमिहोक्तेन यावत् स्वेतं न गच्छति । योगी तावन्न मुक्तः स्यात् एष शास्त्रार्थनिर्णयः' इति । नूनं इवेतद्वीपवासिनां यावत् पारमैकान्त्यम् , तावत् भक्तानां मुमुञ्जूणामपेक्षितमिति तद्र्थः स्यात् । स्वरूपा-नन्दानुभन्नो मुक्तिरिति वदद्भिरिप भगविकंकररवं नोपेक्षितम् । ल्खिन्तं च, न मोक्षसदृशं किञ्चित् अधिकं वा सुखं कचित् । ऋते वैष्णवमानन्दं वाङ्मनोऽगोचरं हि यत्' इति । आनन्दस्य बाङ्गमन-सागोचरत्वेऽपि मुक्तौ तारतम्यमेषामिष्टम् । तदुक्तम् , (2-52) मुक्तिमनिच्छन्त एव भगवद्भक्ताः ये

मुच्यन्ते, ते प्रशस्यत्ते, 'नात्यन्तिकं विगणयन्त्ययि ते प्रसादम्, नैकास्पतां मे स्पृह्यन्ति केचित्, एकत्वमप्युत दीयमानं न गृह्धन्ति' इत्येवम् । इच्छतामिष मुक्तिधैवति सुप्रतीकादीनाम् । यद्यभयेषा-मिविरोषः, तदा कथं स्तुतिरनिच्छताम् । इयं श्रुतार्थोपतिः । वचनञ्चास्ति, ''योगिनां भिन्निर्छगाना माविभृतसरूषिणाम् । प्राप्तानां प्रमानन्दं तारतम्यं सदैव हि'' इति, ''न त्वामतिश्चिय्व्यन्ति सुक्ताविष कदाचन । मद्वक्तियोगात् ज्ञानाच सर्वान् अतिशयिष्यम्ति'' इति च । साम्यवचनं तु प्रासुर्यविषयम्, दुःखाभावमात्वविशयक्षेति । अन्यदप्यानन्दतारतम्योषपादकं भाष्यार्थदर्षणभूमिकायां दर्शितमनुसंयेयम् ।

एवमेकादशपर्यन्ते वृत्ते, द्वादशे किञ्चिदर्जनः पृच्छति, भवद्वासकानामच्यक्तीपासकानाञ्च मध्ये के योगवित्तमा इति, प्रक्षोऽयं पूर्वं द्विविधोपासकोपन्यासे क्वत एव हि घटते । द्वैतिभिः परमात्मो-पासनमेव प्राम्ब्रुमभिमतमिति कथं प्रश्न इति चेत्-तत्नाहः-एकमात्नोक्ताविष प्रमाणवरुसिद्धद्वितीयप्रहणेन परनो घटत एवेति । तच्च द्वितीयमुपासनं न जीवात्मविषयकम् , किं तु रूक्ष्मीविषयकम् । रूक्ष्म्याः जीवकोटिबहिर्भतत्वं भगवदत्यन्तिवियत्वं भगवत इव सर्वव्यापित्वं सर्वेषाणिधारकत्वं सर्वेजीवजननीत्व-मित्यादि हैतीष्टम् । जीवभतामित्यस्य जीवपाणधारिणीमित्यर्थः । "उपास्य तां श्रियमव्यक्तसंज्ञां भक्तया मर्स्यो मुच्यते सर्ववन्धैः'' इति च तद्वपासनस्य मुक्तिहेतुरवे वचनम् । तन्महिमपराणि च वचनानि बहुन्यपन्यस्तानि । तस्या अञ्यक्तशब्दबाच्यता च मायाधिष्ठातीरवात । अत एव ब्रह्मशब्देनापि पूर्वे रुक्ष्मीरुक्ता । तत्पकृत्यधिष्ठाली हि सा। अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं ....निचाय्य तमिति कठश्रतिः पकृतेरुपा-मनं यदाह, तदपि लक्ष्मीविवक्षयैवेति । तदल भगवतोक्तं लक्ष्मीविषयकमुपासनमधिकतरक्केशसाध्यमिति । तर्हि किमर्थे तद्विधानमिति चेत्-तद्पासकानां पश्चात् भगवद्वपासनं शीव्रमेव संपत्स्यते । किञ्च स्रवतानां क्षिपं महदेश्वर्यं ददाति देवी : न त देव इति विशेष: । ततस्तिल्लप्सया अध्यक्ताभिमानि-रूक्ष्मीदेव्यपासने येऽवतरन्ति, तैः क्वेशः सद्यः । ननु अव्यक्तपदेन प्रकृति गृहीत्वैव पाकृतशरीराणा-मितरदेवतानामुपासकाः योगवित्तमा भवन्ति न वेरयेव द्वादशाध्यायत्रश्चार्थोऽस्विति चेन्नः तासां मोक्षा-र्थोपास्यःवाभावात् , योगिनामपि सर्वेपामिति पागेव तिवरासाच । लक्ष्मीस्तु तत्र न वार्यते, एतद्रपास-नस्यापि मोक्षहेत्रःवोक्तः । देवतान्तरवत् पाकृतहेयशरीरकत्वाभावात् जननीत्वाच तद्पासनमुचित-मिति । एतद्वपासनेऽपि, "दृष्टा च सा भक्तिमतीव विष्णौ दुःवोपास्तौ सर्वविध्नांदिछनिए" इति तदनग्रहपूर्वकं भगवदपासनस्यापि मोक्षार्थं कार्यतया विखम्बाधिवयमेवेति समाधानम् । एवञ्च (१४-२६) त्रह्ममुयायं करुपते, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इत्यदौ खस्मात् अभिन्नतया भिन्नतया च ब्रह्मिटिंशेऽप्यर्थः सुस्यः, ब्रह्ममूयशब्दोऽत्र प्रकृतिभूयवाची । प्रकृत्यिष्ठष्ठात्र्या रूक्ष्म्या साम्यमञ्जुते, ब्रह्मणः प्रकृतेः रूक्ष्म्याः प्रतिष्टाऽहमित्यर्थः । १८-५३ ब्रह्ममृयाय करुपते इत्यन्यत तु ब्रह्ममूयं- ब्रह्मणि स्थितिः सर्वेदा तन्मनस्कत्वम् । अनन्तरस्रोके ब्रह्ममृत इत्यस्य च स एवार्थः परब्रह्मैकमनस्क इति । अतो न जीव इह ब्रह्मशब्दोक्तः इति ॥

एवं माध्यमाच्यादिदर्शितरीतौ विभाव्यमानायाम . गीताशास्त्रे जीवात्मतत्त्वज्ञानं निष्कामकर्मानुष्ठानं परमारमध्यानं तन्मूळं तद्दर्शनं मोक्ष इत्येतायदुच्यते ; जीवध्यानतत्फळकैवल्यादिकं त नाल स्प्रयत इति वक्तव्यं भवति । तदल किञ्चिदिह विस्रयते---द्रादशेऽध्याये. 'ये चाप्यक्षरः महयक्तम्' इति भगवदपासनातिरिक्तं प्रस्तत्य द्वयोरुपासनयोस्तारतस्यं जिज्ञासतेऽर्जुन इति निश्चपचम् । तदिदमुपासनं प्रामुक्तमेवेति पक्ष एव प्रश्नसारस्यम् । अपसक्तविषयपश्चायोगातः : अपूर्वस्योपासनस्य च द्वैतिविवक्षितस्य स्फोरकं न किञ्चिदिह रुक्ष्यते । रुक्ष्मीविषयकोपासनञ्चेत अविवक्षिण्यत . ये चाप्य-क्षरमध्यक्तमित्यत. ये चापि जननीं रूक्ष्मीमित्येव प्रायोक्ष्यत । न हि अव्यक्ताक्षरपदयो: रूक्ष्म्यां रूढिः. न वा पूर्वत प्रयोगः । अध्यक्तं प्रधानम् , तद्दिभमानित्वात् तद्महणमिति त क्रिष्टगतिरेव । किञ्च रुक्ष्म्यपासनस्य साक्षान्मोक्षोपघायकत्वं न माध्वेष्टम् ; तदनुग्रह्बरुसिद्धात् भगवद्पासनत एव मोक्ष इत्युक्तत्वात् । एवश्च कथं छक्ष्युपासके योगवित्तमत्वरांका । ब्रह्मस्द्रोत्द्रादीनां पृथक्षुथग्छोकाधिकार-सत्वात् स्रतन्त्रतदुपासनप्रसक्तिरस्ति । अतस्तत्न वक्तव्यमस्थिरत्यादिकं प्रागेनोक्तम् । अतः स्वरस्तः प्रथक-रुक्ष्म्यपासनं मोक्षाय न प्रसर्जित । अस्य च रुक्ष्मीपरत्वमन्यक्तम् । तत्परत्वे चाक्षरं न किञ्चिद्व्यक्तमस्ति । गीतायामेवाष्ट्रमे, 'अन्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' इति एतत्पदह्रयसाहचर्यात उमयत्रेकार्ध्वनमन्तरुयम् । न च तत्र रुक्ष्मीपरतं तदिष्टम : परमारमपरतथैव वयाख्यानात । शक्यते त तथा व्याख्यातुम् : सप्तमे, भिन्ना-प्रकृतिरष्टघेति अपरां प्रकृति निर्दिश्य पश्चादुक्ता परा प्रकृतिः जीवमूता हि सर्वजीवपाणधारिणी छक्ष्मी-रिति व्याख्यातम् । तद्भविहापि अन्यक्तसंज्ञके छीयन्ते इति प्रस्तुतात् अन्यक्तात् अपर्प्रक्कत्यास्यात् परो भावोऽयमव्यक्तो छक्मीरिति सामञ्जस्यात् । तदुपासनस्यापि मोक्षहेतुत्वं तद्दर्शितमेवेति, 'तमाहु: परमो गतिम्' इतीदमपि घटते । एवं तर्हि छक्ष्म्याः सर्वभृतपाणधारकत्वस्येष्टत्वात उपरि परमपरुषमाले. 'यस्यान्तस्थानि मूनानि' इति वचनं न घटेतेति इदमि परमात्मपरमेव स्वीकृतिमिति चेत्—तिर्हि खान्तस्थसर्वभृतकव्यक्तिभिन्नः पूर्वोक्ताचेतनाच्यक्तभिन्नश्च जीव एवाव्यक्ताक्षरपदवाच्यो भवतु । तला-भस्य परमगतित्वं रूक्ष्याः परमगतित्ववत् परम्परया भवत्येव । अठयक्तोऽक्षर इति पुरिरंगनिर्देशश्च जीव-परत्वे धुघटित:। एवञ्च तद्धाम परमं मम इति धामशन्दोपि यथाश्रुतार्थो भन्नेत् ; धामशन्दस्य स्वरूपपरतया-च्याख्यानस्यापसिद्धार्थकत्वदोषद्षद्रत्वात् । अत एव सप्तमे परापक्वतिजीवभृतेत्यत्वापि जीवपाणधारि-णीति क्रिष्टार्थकरूपनेन लक्ष्मीपरस्ववर्णनं विहाय साक्षाज्जीवपरज्यमेव श्रेय: । एतद्योनीनि भूतानि इत्यक्तं चेतनिमश्रत्वं भूतेषु न हि व्याहन्यते । अतश्च तत्समानार्थकताया एव युक्तत्वात् द्वादरो, ये चाप्यक्षरम-मध्यक्तमिति जीवपरमेव । तद्पायस्य निक्कष्टत्वात् कथं तारतम्यविचार इति चेत् — मतत्वयेऽपि तत्त-दभिमतार्थे तारतम्यविचारानुपपत्तिरस्ति, तत्समाधानं तु यथायथमाशयविशेषप्रदर्शनेन कार्यम् । कृतञ्च गीताभाष्य एवास्मदीये तत् । वस्तुतोऽस्माभिः पश्चामिविद्यायाः जीवविद्रोप्यकोपासनरूपायाः अन्या-साझ विद्यानां परमात्मविद्रोध्यकोषासनरूपाणां स्वीकारात् सर्वासां मोक्षहेतुत्वाच तत्नोभयत कुत्र पृष्टुतस्य योगिवित्तमस्त्रमिति विचारो द्वादशाध्यायविवक्षित इति अनायासेन निर्वाहः कर्ते शवयते ।

अथापि ज्ञानीरवास्मैव मे मतम् इति पश्चाघिनिद्यानिष्ठःयतिरिक्त एव श्रेष्ठघस्य प्रागुक्ततया, तत्र फ्रङ्बिङ-म्बादेः प्रागेव ज्ञाततपा, अज्ञातफङ्शैद्यचाशैद्यचिषयकस्यमत्र उत्तरवावयावसेयमिति विस्टश्य सामान्यतो जीवास्मोपासनपरस्वमस्यदिष्ठम् ।

न च जीवारमोपासनं पाक् कुलापि नोक्तमिति शंवयम् ; द्वितीये तद्वपासनस्येव स्वरसतः प्रतितेः । तथाहि— नत्वेववाहमिति स्वस्कष्मभ्रभेनोपक्रमेऽपि 'एवा तेऽभिहिता सांख्ये' इत्येतच्छुोकात् पूर्वो भागो जीवारमित्वयक इति सर्वसंमतम् । अत एव तल्ल परमारमभरतायो जीवारमिन्छरणशेषतयेति तद्वाण्येऽपि भाषितम् । एवं सित नत्वेवाहमिति भगवता स्वारमोपक्रमः, 'जीवो गृह्यमाणः सर्वदा स्वरोषतयेव माह्यः, न स्वतन्त्रतया' इति ज्ञापनार्थः। तल्ल न जायत इत्यादेरिव, नित्यः सर्वगतः, अध्यक्तो ऽपमित्यादीनामिप साक्षाज्ञीवपरत्वे संभवति परमारमपरत्वक्षणनम् प्रकृतजीवाभेदेनैव तत्य-तीतेः । ननु अभेदमहणमिदं विम्वमित्विग्वमावकृतम् ; प्रतिविग्वता चावश्यं वक्तव्या ; तदानिमेव जीवस्याकर्तृत्वं परमारमनः कृतृत्वं च सर्वत्रोपित वश्यमाणमुपपादितं भवति । न हि प्रतिविग्वस्य पृथक्तकार्यकर्तृत्वं परमारमनः कृतृत्वं च सर्वत्रोपित वश्यमाणमुपपादितं भवति । न हि प्रतिविग्वस्य पृथक्तकार्यकर्तृत्वं सम्यगुपेपाय, इह कृत्वं स्वारमानत्यागितिषे हेतृकृत्य, ''अधिष्ठानं तथा कर्ता करणश्च पृथावयम् । विविधा च पृथक्तेष्वे स्वयः स्वयः स्वयः स्वयः स्वयः स्वयः स्वयः च पृथक्तिवृत्वा जीवस्य पञ्चकेऽनन्तमीवस्य 'केवलं तु यः' इत्यत्व कृतृत्वं तस्य निष्क्रयत्वातिपादनस्य च विकद्वत्वात् । गीतायां विग्वप्रतिविग्वमावाप्रतीतेश्च । उपाधिमुखप्रतिविग्वता विनेव चन्द्रमुखादिन्वव तद्वित्वत्वत्वात्वाद्वातः स्वातिकारम्यस्य स्वपादत्वा उपनिषरस्वप्यत्तितस्य तस्य स्वीकारस्यानपेक्षितत्वाच । प्रतिविग्वज्ञव्यः कृतिवन्न रक्षणयैव निरुद्धः स्वावित्वः इत्यादाविव ।

आस्तां स विषयः, प्रकृते सवै पदं जीवपरतयैव निरूढम् । अणोः कथं सर्वगतस्वमिति चेत्-बिलोकः संश्वारिणो नारदस्येव संसारे सर्वलोकसञ्चारिणो जीवस्य कालभेदेन सर्वसंवन्धात् सर्वगतस्वो।पपतेः। उपिर 'देही नित्यमवध्योऽयम्' इत्येवं जीवप्रस्तावस्येव दर्शनाच मध्ये अर्थान्तरग्रहणमयुक्तम् । एवं सांस्थ्यक्रवा कर्मयोगमारभ्य तल बुद्धियोगः कथिद्वपृत्वष्टः । एतदुभयानन्तरं परमासमस्तावं विनैव, 'समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्रस्यतीति कथितो योगः प्रस्तुतजीवविषयक एव युक्तः । एवश्च स्थितपज्ञादिशन्दानां परमासमञ्जापरस्य न प्रकरणानुगुणम् । एवश्च आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः इति आत्मपदम् , आत्मौप्येन सर्वतेत्थादाविव स्वात्मपरमेव स्वरसम् । ननु, 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मन्परः' इत्युच्यते इति चेत्-सत्यमुच्यते । तद्वद्वलास्वच्छन्दं विना आत्मशन्दप्रयोगादेव भिन्नार्थकर्वं युग्रहम् । अत्र परमपुरुष प्रसावस्तु जीवात्मध्यानस्येन्द्रियज्ञयकार्यतया तज्ज्यस्य च दुर्लभत्वेन दुष्करत्वशंकायां भगवतोपिदिस्यते मदीयदिव्यमंगलिवग्रहध्यानेन जितेन्द्रियमुतेन जीवात्मध्यानं कार्यमितीति सुस्यम् ।

तलान्ते एषा ब्राह्मी स्थितिरित्युक्तं कथमिति चेत्-न किश्चिदेतत् , जीवात्मज्ञानस्यापि परम्परवा ब्रह्मभाषकत्वात् । 'यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषपैम । समदुःखनुसं धीरं सोऽमृतत्वाय करूपते'

इति शीतोष्णादितितिक्षामानेऽप्यमृतत्वमुक्तम् । समत्ववुद्धिमानेऽपि, 'कर्भवन्धं पहास्यसी'त्यक्तमः । अङ्गिफलस्याङ्गे आरोपः सर्वत प्रसिद्धः । तदेव फलं परममुहिङ्येदं कियत इति बुद्धधनुवर्तनार्थमेवम् । किञ्च ब्रह्मशुरूदो जीवपरोऽपि भवति, गीतायां तत्र मूरिशयोगात् । तथाहि — परं ब्रह्म परं धामेत्यत्र परमातमपरतया प्रयोगेऽपि पायोऽर्थान्तर एव केवलनसग्रन्दः प्रयुज्यते — कर्म नन्नोद्धवं विद्धिः मम योनिर्महदु ब्रह्म, ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा इत्येवम् । तत्र अव्यक्ताक्षरशब्दद्वयसहप्रयोगः जीवात्म-विषयकत्रयेव गीतायामिति यथा. तथानियमाभावेऽपि, प्रायो जीवपरत्वमेव। तथा हि-कर्मयोगसिद्धि प्राप्तः ध्यानयोगपरो नित्यं ....निर्ममञ्ज्ञानतो ब्रह्मसूयाय करुपते, ब्रह्मसूतः प्रसन्नात्मा-- इत्यत्न ब्रह्मभावः न परमात्मभाव:. ब्रह्ममृतस्य पश्चादेव 'समस्ववेष भृतेष मृद्धक्ति लभते पराम्' इति भगवद्भक्तिलाभस्य वचनात । भगवद्भक्तेः पूर्वं जीवात्मस्वरूपयाथात्म्यज्ञानमपेक्षितमिति निर्विवादम् : द्वितीये 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' इत्येतावत्पर्यन्तं तद्पन्यासात् । विद्याविनयसंपन्ने .... पण्डिताः समदर्शिनः इति सर्वजीवसाम्यदर्शनमपि भगवद्भजनकारणमिति सर्वस्वीकृतम् । तत्र भगवतः सर्वत्र व्यातिरित्येताव-न्मात्रेण साम्यमिति संकोचे प्रमाणं नास्ति । सर्वसाम्यदर्शनञ्च खंखरूपदर्शनानन्तरमेव भवित्रमर्हति । तदिदं 'ब्रह्मभ्याय कल्पते, ब्रह्ममृतः' इत्यनेन प्रदर्श, 'समः सर्वेषु मृतेषु' इति तदनन्तरभावि साम्यदर्शनमपुरयस्य मद्धक्ति लभते पराम् इति भक्तिलाभः पश्चादित्यच्यते । खखरूपसाक्षात्कारात्मकश्च ब्रह्मभावः ध्यानयोगसाध्य इति ध्यानयोगपरो नित्यमिति पदेनोच्यते । इद्मेवाधस्तात् , 'सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे' इत्यारव्धम ।

एवमल ब्रह्मशब्दस्य शुद्धजीवसरूपपरस्वे पतिते, पश्चमे 'पण्डिताः समदर्शिनः' इति सर्वातम-साम्यमुक्त्वा, 'निर्दोषं हि समं ब्रह्मेत्यनुवादस्थले ब्रह्मपदं जीवातमपरं प्रतीतं तथैव स्वीकार्यम् । नेदं समदर्शनं समय्तपरमात्मदर्शनम् । समस्सर्थेषु भूतेण्वित्यत्वेव जीवगतसाम्यस्थैव ब्राह्मस्वात् । अतस्तत्व 'तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः, ब्रह्मनिव ब्रह्मणि स्थितः, स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, स योगी ब्रह्मनिवणिं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छिति, रूमन्ते ब्रह्मनिवणिम्, अभितो ब्रह्मनिवणिम्' इति तत्मघष्टस्थितानि सर्वाणि ब्रह्मपतानि अविदेशात् जीवस्यरूपपरतयैव समन्वितानि । निर्वाणपदस्य (2–72) 'निर्वाणमृच्छिति' इत्यत्न, 'कायो वाणं शरीरम्ब' इत्यमिधानकोशम्, ''एतद्वाणमवष्टभ्य'' इति प्रशोपनिषदम्योगम्ब प्रदर्श्य शरीरपरत्वोपपादनेन अशरीरमित्यर्थवर्णनं तत्कृतं ब्रह्मपदेन शुद्धजीवप्रहणस्य सुतरामनुकृरुम् ।

एवञ्च द्वितीयेऽध्याये जीवध्यानमेवोपन्यस्य 'एषा ब्राझी स्थितिः' इति ब्रह्मशब्दप्रयोगं तलोपकम्य उपिरतन्ताध्यायेषु ध्यानदर्शनाध्यवसरेषु तमेव ब्रह्मशब्दमावर्तयतीति परिशीस्त्रने जीवध्यानसाक्षात्कारौ गीताविवक्षिताविति संमन्तव्यं भवति । तावता ब्रह्मार्पणमित्यादौ परब्रह्मपरत्वम् , 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' इत्यत्न संदर्भोनुसारात् देहपरत्वमिति तत्न तत्न यथाईमर्थान्तरवचनं नानभिमतं भवति ।

न च जीवात्मनो ध्यानमेवाप्रामाणिकम्, कार्ये तु जीवज्ञानपूर्वकं परमात्मध्यानमेवेति कश्चित् वक्तुमईति ; 'उत्तराचेदाविर्मृतस्वरूपस्तु' (1-3 19) इति अपहृतपाप्मत्वादिविशिष्टजीवस्वरूपः परतायाः प्रजापतिवाक्यस्यावगमात् । तत्वैव प्रजापतिवाक्ये तद्ध्यानस्यापि विधानात् । पुराणादिषु 'दशमन्वन्वराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः' इत्यादिना अन्यक्तमहदहंकारेन्द्रियाचुपासनानां फल्लभेदस्य जीवास्मोपासने ततः फल्ल्यातिशयितस्य च कथनात् । कैवल्यस्य जीवासम्भानकभ्यतायाः सांख्याचुक्तायः स्वितिना निषेधे प्रमाणाभावाच । ध्यानं दर्शनहेत्रिति परमास्मविषये स्वीकृतं हि । तथाऽलापि स्यात् ।

अतः प्रथमषट्कस्य जीवताक्षात्कःरार्धजीवध्यानपरत्वमेव युक्तम् । 'युङ्गलेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः' इत्येवं मामित्यपयुज्य आत्मानमिति प्रयोगः जीवस्य स्वात्मोपासनपर्त्वमेव स्वरस्ततो दर्शयति । एवं जीवात्मयोगमेवोपन्यस्य, योगिनामपि सर्वेवां मद्गतेनान्तरात्मना इति वाक्येन, परमात्मविषय-क्योगस्य सप्तममारभ्य वक्ष्यमाणस्य प्रस्तावं कुरुत इति मेद्रप्रतीतिने हातःया । एवं 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या रूभ्यस्वनन्यया' इत्यादौ तुश्चद्रादिना पूर्वोगन्यस्तस्य परमपुरुषभिन्नविषयकत्वज्ञापनमि समञ्जसम् । यथा मद्गक्तिं रूपते परामित्येतदनुसारेण ब्रह्मम्याय, ब्रह्मभृत इत्यस्यार्थान्तरपर्वम्, तद्वत् । 'ये तु धम्यीमृतर्भिदं यथोक्तं पर्युपासते....मक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' इति तुशव्देन, अतीविषयतमस्व-कथनेन च ततः प्राकृ जीवात्मचिन्तनमेवाधिकृतमिति प्रतीतमप्यन्यथितं न भवति ।

अद्वैतिनो जीवपरेन्यमभ्युपगम्य भक्तिविधायकवावयानयि जीवज्ञानपरतया झन्तीति तत्परिहाराय तत्प्रत्यांकतया जीवध्यानविधायकवावयानामिष परमात्मध्यानपरत्वं वक्तव्यमित्याग्रहो न घटते । अतो यथायथं द्वैतिभिजीवपरात्यन्तभेदिन्छैः जीवध्यानपरतया केषाञ्चित्, भगवद्ध्यानपरतया चान्येषां निर्वाह एव शोभन । तत्वतत्व गीताकरपास्त्र्यं प्रमथं प्रमाणत्वेनोपन्यत्य वाक्ष्यानां स्वोक्ताध्यरत्वस्ये स्थापनं तु विवार्यम् । ब्रह्मसूलादौ लामिमतार्थस्थापनाय ब्रह्मार्कास्त्रो प्रम्थः, गीतायां गीताकरपास्त्र्यः प्रमणत्वेनासिमन्येत । वथा शांकरमतत्व ततः प्राक् गौडपादाचार्यः, रामानुज्ञमतस्य यामुनमुनिश्च यथाव-त्यवर्तकः, तथा आनन्दतीर्थायस्यापि ततः प्राक् पवर्तकः कश्चिदासीत् तत्कृतस्त्राहशो प्रमथ इति यदि कश्चित् वक्तुमुत्सहेत, तद्ववद्यमेषितव्यं भवेत् । तथेव व्यवस्तराणाः प्रतयः कामं ब्रुतित्वं कश्चिदाचार्यः प्रामासीदिति न तन्मतस्वैरुक्तमस्ति । माध्वमते उदाहियमाणाः श्वतयः कामं ब्रुतित्वेन निर्देशात् न सहसा ग्यक्कियरन् ; ईष्टशास्तु ग्रम्थाः कियत् प्रामाण्यं वहन्तितीदमद्य यावत् न विमर्शयमितिकामिति ।

यथेताहशझम्थामाण्येन आनन्दतार्तम्यमिष मुक्तौ साधयेत्, न तत्त विश्वसनीयता । २-५२ श्लोके प्रसंगात्, 'योगिनां भिन्नर्लिंगानामाविभृतस्वरूपिणान् । प्राप्तानां परमानन्दं तारतम्यं सदैव हि' इति, यथा मक्तिविशेषः, तथा मुक्तिविशेषोऽपि' इत्यादिकमुपन्यस्तं कुत्तत्यमिति विचार्यम् । तत्तदपेक्षितसाः लोक्यसामीप्यसारूप्यमात्रलामनिवन्यनतार्तन्यप्रस्तमात्रेण निवेहणीयं चा । मुक्तिमनिक्लन्तो मक्ताः मुक्तिमिक्छद्भचोऽधिकरत्नेन श्लाध्यन्ते, तस्मात् मुक्तौ तारतम्य स्यादिति उद्दोऽपि न स्थाने । मुक्तिसायनाङ्गतया-कर्मकरणात् । निष्यत्रोपाक्षियमाणं केङ्कर्यरूपेण कर्मानुष्ठानं श्रेय इत्येतावतेव तारतम्यसिद्धेः । कचिदति-शयवर्णनम्, 'तुल्याम ल्वेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवरसंगिसंगस्य मत्यांनां किमुताऽऽश्चिषः' इतिवत्

इह दुर्लमलाभपशंसेव । विद्याविनयसंपत्रे .... श्र्याके च पण्डिताः समदिशितः, येषां साम्ये स्थितं मतः, परमं साम्यमुपैतिति सर्वास्माध्यविषय इद मिथो वैषम्यमपि जीवस्रूष्णगतिमत्यत्व संप्रतिपन्नप्रमाणादर्शनेन सर्वपापमोक्षेऽपि ज्ञानपूर्वभावसाधकप्रमाणाभावेन च स्वरूपानुभवरूपानन्दे वा इतरानुकूल्वस्त्वनुभवरूपानन्दे वा वैषम्यस्य दुर्वचत्वात् । गीतायामानन्दतारतम्यादिपत्तावस्येषद्प्यमावेन प्रासङ्गिकेऽत्र विषये विस्तर इह भूमिकायां नोचित इति विरम्पते । मक्कते वक्तव्यं ताबदेतावत् — यथा भक्तिविद्यायकगीता-वावयानां जीवन्नश्चैवयपरत्या व्यास्त्रमानं शांकरभाष्यस्यं न हृद्यम्, तथा जीवोत्मोपासनपरत्या प्रतीयमानानां वावयानामिष परमास्मोपासनपरत्या वा लक्ष्मयुप्पसनपरत्या वा व्यास्त्र्यानमिष द्वैतिसंमतं न हृदयंगमम् । अतः कर्मयोगज्ञानयोगक्रतात्मावलेकनानन्तरिक्रयमाणपरभक्तिरूपोपायसमिष्यम्यः श्रीमान् नारायण इत्ययमेव गीतार्थ इति । एवं प्रसिद्धमतत्वयव्यास्यास्यामिदिनमर्शो व्यथायि । अन्यमत-प्रक्रियाश्चैतच्छायापन्नाः तत्वतक्षेत्रदेरि न प्रेक्षकरेरादरेणेह वीक्ष्यन्त इति एतावि स्थीयते ॥

----∳×∲---

# दूषकोक्तिपरीक्षणम्

इत्थम्भूतिमदं भाष्यिममं तात्पर्यवन्द्रिकाम् । द्वाघिष्ठेऽपि गते काले द्वौ प्रवृत्तौ परासितुम् ॥१॥ एको वेंकटनाथाख्यो भाष्यमात्नं व्यचारयत् । वेद्वंकोण्डो रामरायः सटीकं भाष्यमस्पृशत् ॥२॥ मध्वरामानुजोक्तार्थखण्डने तत्परोऽपि सन् । आद्यः स्वतन्त्रव्याख्याता कविन्नस्स्तृतिमस्नुते ॥३॥ अस्यति स्वमतेऽप्येवं मधुस्द्रसरस्ततीम् । अज्ञातास्सन्मतस्त्वन्य आग्रही व्यर्थविस्तरः ॥४॥ कवित् कर्णकटोरोक्तावेकस्यान्योऽनयोद्वैयोः । किं किनष्टः किसु ज्येष्ठ इति तर्कःः प्रवर्तते ॥ ५॥

तब प्रथमः शांकरार्थस्थापनेदम्परोऽपि तब्रतत्र तदुक्तं विहायान्यद्दि खाळोचितं पराभिमतं वाऽजुस्त्य स्वतन्त्रं व्यास्थाति । सहृदयो भवित्रव गीतागतशब्दस्वारस्यानुभवव्ययो विस्तरेण व्याकुर्वेन् स्वमताभिनिवेशे सत्यपि स्वगौरवितमधुस्त्वन्तस्यस्वत्याधुक्तमपि वहु तिरस्करोति ; श्रीधरीयमपि । द्वितीयस्तु शांकरभाष्यस्य व्यास्थाता परोक्तं सर्वे स्वण्डनीयमित्याग्रहमात्रेण प्रवृत्तोऽस्मन्मतप्रिक्रयामविज्ञायैव किमप्याह । शांकरभाष्यं नु यथाशक्ति अवधाय विमृशति ।

. तादशोक्तिविमर्शीर्थे पृथग्यत्नत्यजाऽधुना । स्थालीपुलाकनीत्यैव दोष ईषत् प्रदर्शते ॥

तत्रमौ प्रथमदितीयौ अस्मर्।चार्यान् रामानुजः वेदान्तदेशिकः इत्येकवचनेन निर्द्शातः, प्रथमः खण्डनाक्तरेऽपि मथुस्दनसरस्वसादीन् बहुवचनेन गृह्वातीति विमृश्य नास्माभिर्विमनायमा-नैभिन्यम् , स्वमतस्थेषु गौरवस्य अन्यत्न तद्भावस्य च सर्वसाधारणत्वात् ।

तत्न प्रथमेऽध्याये शांकरभाष्ये तिव्ववरणाभावेऽपि स्लोक एकैकोऽप्याभ्यां व्याख्यातः, यथा शांकरभाष्यानुसारिणि पैशाचभाष्ये । तत्र दुर्योधनस्य यत् द्रोणाचार्यं प्रति वचः, किं तत् अन्तविंषादमूलकम् उतोत्साहमूलकिमिति विमशें उत्साहमूलकिमिति पश्चितरस्वेन विषादमूल कत्वमेवास्मद्भाष्यानुसारेण चन्द्रिकायां व्यवस्थापितम्। तत्र प्राचीनः पैशाचभाष्यकारः द्रोणाचार्यस्य स्वशिष्यभृष्टशुम्नाधिष्ठितत्वात् पाण्डवसेनायाप्रादरोऽस्तीति मन्वानो दुर्योधनः पाण्डवसेनायाप्रस्य स्वशिष्यभृष्टशुम्नाधिष्ठतत्वात् पाण्डवसेनायाप्रादरोऽस्तीति मन्वानो दुर्योधनः पाण्डवसेनाया स्वसेनाञ्च प्रवलशूरमूर्यिष्ठत्वेन प्रशस्य तथाप्यसमृद्धले पाण्डववलविजये असमर्थमेवेति अपर्यातिमिति स्लोकस्य

पैशाचभाष्योक्तः आस्त्रकभाष्यस्थापितश्चार्थः प्राय एक एव । अत्र अपर्याप्तमिति स्होकम्, भीष्मामिर-श्चितमित्यस्य भीभ्याभिरश्चितमपीत्येकमर्थमुपवर्ण्य तत्नातृतः, भीष्मस्योभयपञ्चपातित्याद्सहृहं दुर्ब-रुम्, भीमस्यान्यादशत्वात् तद्वहं प्रयस्त्रीति यथावत् व्याचष्यौ । अस्मरीयैस्तु दुर्योधनस्य विपादः पाण्डवसेनादशैनप्रभृति स्थित इति 'दृष्ट्वा तु' इत्येतत्त्रभृति विशद्मवाम्यत् इत्युपापादि ।

प्रस्तप्रथमो ऽत्रास्मद्राष्योक्तं दुर्योधनस्थान्तर्विषादमादित एव स्थितमंगीकृत्य, दुर्योधनो द्रोणाचार्य पाण्डवपक्षपातिनं मन्यमानः निजं भयमाच्छादयन् स्वपक्षं प्रशेसतीति वदन्, तद्धल-प्रशंसानुकूळतया अपर्याप्तमित क्लोकस्यार्थं वर्णयति । अपर्याप्तमित्यस्य अपरिमितमित्यस्यं: "जगत्य-पर्याप्तस्वस्त्रभानुना" इति प्रयोगादित्याद्द् । परमत्न पैशाचभाष्यभि न खण्डपति, यथा 'अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वाः' इति (८,१८) क्लोकं प्रकृतेमेहदादयो विकास भवन्तीति पैशाचभाष्योक्तं शांकरविरोधादयुक्तमित्याद्द । अपर्याप्तियत्स्य एत्तुक्तोऽर्थस्वत्रस्त्रिः । पर्याप्तमित्यस्य पूर्णमिति, इतोऽधिकं नापेक्ष्य दृश्ये अपित्रदेश एत्यप्तिस्त्रमस्य कृतात्मनद्व इहैव सर्वे प्रविक्षीयनित क्लानः" इति यथा मुण्डको-पित्पद्व । वित्रीयस्वत्र , 'तत् तस्मात्' इत्यारभ्य यत् अस्वचिन्द्रकानिष्कृष्टयेवार्थं जगृहे, तदाइचर्यम् । एवं तावत् अंशतः अस्तर्तमतार्थेग्रहणमेकत्र प्राद्धिं।

तथा प्रथमेन 'त्रैगुण्यविषयाः वेदाः इत्यस्य त्रेगुण्यं संसारो विषयो येषां ते वेदा इति शांकरार्थं परित्यज्य, ''त्रयो गुणास्त्रेगुण्यं सस्यरजस्तमांसि । तत्रम्चुराः पुरुषास्त्रैगुण्यशब्देनोच्यन्ते । तत्रिषयाः वेदाः "इत्येवमस्यङ्गाच्यरीतिरेवाद्वियत । 'यावानर्थं उदापने सर्वतः संप्छुतोदके 'इत्यनन्तरङ्कोकेऽत्य सम्द्राच्यार्थं एव प्रथमेन प्रथममादतः ; ततस्तु, अर्थान्तरमपि संभवतीति शांकरमाध्यार्थोऽपि कथिश्चवनदितः ।

अत द्वितीयस्तु वाक्यार्थसौष्ठव मस्मद्भाष्ये मनसिकृत्य खण्डियतु मपारयन् कि प्रण्य वक्तव्यमित्यागृद्ध, ब्राह्मणदाव्यस्य वैदिकस्येत्यर्थवर्णनमयुक्तम् तत्त्वज्ञानरिहतवेदिकदर्शनादित्याह । इदं तु स्वप्ततेऽिप तुर्थम्, तत्त्वज्ञानरिहतस्य ब्राह्मणजातीयस्य संन्यासिनश्च शतशो दर्शनात् । वेदाध्ययनामावे विज्ञाने उपासने अनिधकारात् । ब्राह्मणव्यतिरिक्तश्चित्रयारेपि वेदाध्ययनेऽधिकारात्, प्रकृतेऽर्जुनं प्रति निस्त्रेगुण्यो भवेत्युकृत्वा, तव तावानेवार्थः सर्वेषु वेदिष्वत्यस्येव वक्तव्यत्या तवेत्येतत्स्थाने प्रकृतस्य ब्राह्मणस्येति प्रस्य विप्रवर्णपरत्वायोगाच्यास्यद्भाष्ये सामान्येन वैदिकस्येत्युक्तम् । ब्राह्मणस्येव संन्यासः, संन्यासिन एव विज्ञानेऽधिकारः इति चेद्रवोच्येत, अर्जुनं प्रति अयमुपदेशो व्यर्थ इति विद्वाकुर्वेन्तु । अथ चार्य द्वितीयस्यन्दिकारः इति चेद्रवोच्येत, अर्जुनं प्रति अयमुपदेशो व्यर्थ इति विद्वाकुर्वेन्तु । अथ चार्य द्वितीयस्यन्दिकारः इति चेद्रवोच्येत, अर्जुनं प्रति अयमुपदेशो व्यर्थ इति विद्वाकुर्वेन्तु । अथ चार्य द्वितीयस्यन्दिक्तं न ब्राह्मण इति श्वराय प्रज्ञादिषु पाठकत्यनं ब्राह्मण इति श्वराय प्रज्ञादिषु पाठकत्यनं ब्राह्मण इति दिद्याय प्रज्ञादिषु पाठकत्यनं ब्राह्मण इति विद्याय प्रज्ञादिषु पाठकत्यनं ब्रह्मण इत्येव प्रयोगप्रस्याचित्राय च शांकररामानुज्ञयोवाक्यपर्थयोः कतरः श्रेयानिति विवयं परित्यज्य ब्राह्मणश्चरद्विवारे गतमनेन । अस्तु तवायुच्यते—

ब्रह्मानितीति नोक्तं चिन्द्रकायाम् ; किंतु ब्रह्म अणतीति । माध्यमाध्येऽप्येवमेव । परं तत्र ब्रह्म-अण इति स्थितं ब्रह्माण इत्येच प्रयोगः स्यात् ; न तु ब्राह्मण इति इत्यालोच्य जयतीर्थव्यास्यायां वर्षाविपर्ययः (आकारस्य अकारस्य च विपर्ययः) निरुक्तवशादित्युक्तम् । चिन्द्रकायां व्याकरणमि प्रदर्श्यते, शकन्ध्वादेः प्रवादेश्चाऽऽकृतिगणत्वस्य निर्विवादत्वात् तत् घटनमिति । यनु कर्मण्यणि ब्रह्माण इति स्यादिति, तत्र ; अण्मत्यय इति चिन्द्रकायाम् चुक्तः । पचाद्यच एवाल सुप्रदत्वात् । प्रयुक्तव्यव्यवस्य अण इतीपदस्य चैवाल विप्रह इष्टः । ब्रह्म अणतीति तद्यीनुवादमालम् । अस्तु वा कर्मण्यण् : तथापि शाब्विकै: कुळशशब्दमत ग्रहीत्वा कुळ अर इत्यनयोः समासः, न तु कुळ-मरतीतीत्युक्त्वा, अण्यहणे किमित्याशंक्य कुळरेति राप् न स्यात्, किं तु डीप् इत्येवोक्तम् ; न तु कुळारेति दीर्घः स्यादित्यापादितम्। तेन शकन्ध्वादिषु पररूपोक्तात्रपि कुळमरतीति वित्रहदशा-याम् अकारस्यैव श्रवणात् अकारघटितमेव रूपम् ; अण्यहणं तु प्रातिपदिकत्यसंपादनायेति न तेनात्र दीर्घापित्तिरित्याशयो ज्ञायते । अस्थिदं कथमपि । ब्रह्मणः अण इति अन्यत्यय एवात्र विवक्षितः ।

यच्चान्यदुक्तम् ब्रह्मण इति प्रथमान्तप्रयोगो नास्तीति, तलोच्यते ; मा भूत् सः । प्रक्षादिपाठसंपस्यर्थमेय राकन्ध्वादिपाठस्वीकारात्, तथा लोकप्रयोगे सत्येय पाठः कार्य इति निर्वन्धाभावात् । पत्वर्यं शाब्दिकैरलोदाहतं मार्तण्डशब्दमधिकृत्य किञ्चिदुच्यते । मार्तण्डशब्दनिष्पत्तिः आकृतिगणतया शकन्ध्वादिषु पाठेनेति शाब्दिकोक्तम् । तस्य व्युत्पत्तिः कथिमिति विचार्य मृतण्ड इति कश्चिद्दशिः, मृत—अण्ड इति स्थिते शकन्ध्वादिपाठात् मृतण्डः तस्यापत्यं मार्तण्डः इति । अलेदं वक्तव्यम्—पयं मृतण्ड इत्येवोदाहरणं क्रियताम्, किं मार्तण्डः तस्यापत्यं मार्तण्डः इति । अलेदं वक्तव्यम्—पयं मृतण्ड इत्येवोदाहरणं क्रियताम्, किं मार्तण्ड इत्युद्दाहरणेन । अप्रसिद्धमृतण्डिकैत्यनमपेक्ष्य प्रवम् सुवचम्—छान्द्रोयो ३.१९ "आदित्यो ब्रह्मत्यादेशः" इत्यल्व "तद्दाण्डं निरवर्ततः तिल्वर्राभ्यतः । ते आण्डकपाले रक्ततं सुवर्णञ्च । रक्तं पृथिवी सुवर्णं द्यौः... अथ यक्तद्वात्यत स आदित्यः" इति मृतदण्डादादित्योश्चितः प्रव्यक्ष श्रूयते । एवं मृतादण्डाद्धयन्तयेव मार्तण्ड इति तन्नाम । तलाण्डस्य तस्य मृतण्डश्चित्वः व्यवहाराभावेऽपि मार्तण्डशब्दान्यानिष्तागमानं तत् । तस्य पृथगप्रयोक्तव्यत्वादेव मृतण्डत्येव ह्यादिणा मृतण्डशब्दिनाप्यानिष्यानिष्यानेकत्येव । तत्र मृतण्डश्चव्यण्डश्वर्ताच्यानिष्ति व्युत्यस्य विद्यमेत्र प्रवित्वा प्रवादिक्षयोऽणेय वाऽस्तु । तत्रद्वाण्याच्याच्याच्याच्याच्याचेकं चन्द्रिकायाम् ; न तु ब्रह्मण इति । अतो मार्तण्डवदेव शक्तव्यादिषु पाठः कार्यः । व्यव्याचेकं चन्द्रिकायम् ; न तु ब्रह्मण इति । अतो मार्तण्डवदेव शक्तव्यादिषु पाठः कार्यः ।

पवं ब्रह्म वेदः ; तत्संबन्धि ब्राह्मम् । तत् अणतीति तस्याण् इति वा ब्राह्मण इति प्रज्ञादि-पाठं विज्ञा शकन्ध्वादिमालपाठेजापि निर्वाहः संभगति । अतोऽर्जुनत्य ब्राह्मणत्वं यादशं क्षित्रय-त्वावस्थायामपि संमावितम् , तद्वचनमेवाल युक्ततिति तद्वीचतवै निर्वाह प्रदर्शनमालमेतत् ।

एवं प्रथमेन, नायं मृत्वा भविता वा न भृयः इत्यत शांकरं त्यक्तम् । असम्ब्राध्यमादतम् । अपरस्परसंभृतिमृत्यत्रान्ते असम्ब्राध्यरितिरेव । एवं वहुत्त । तथा "तानि सर्वािण संयम्य युक्त आसीत मत्परः" इति इछोकेऽपि । तल पूर्व 'यततो हापि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियािण प्रमाथीनि' इत्युक्तम् । तर्हि कथिमिन्द्रियनियह इत्यत्नोपायोगियोगिवरोधित्वादिन्द्रियाणां कथं परिहार इति प्रश्ने, इन्द्रियजयस्य परमात्मैक्यममुसंधातव्यमित्यर्थं उक्तः तद्मुसंधानोपयोगियोगिवरोधित्वादिन्द्रियाणां कथं परिहार इति प्रश्ने, इन्द्रियजयस्य परमात्मैक्यममुसंधातव्यमित्यर्थं उक्तः तद्मुसंधानोपयोगियोगिवरोधित्वादिन्द्रियाणां कथं परिहार इति प्रश्ने, इन्द्रियजयस्य परमात्मैक्यममुसंधातव्यम् परात्मदर्शनम् आत्मदर्शनादिन्द्रियजय इत्यन्योन्याथ्यय इति शंकायाम्, तद्र्यं मत्पर इत्यनेन भगवद्दिव्यमङ्गलवियह्यानेन प्रथममिन्द्रियजयः कार्य इत्युच्यत इति भाषितम् । अत्रायं प्रथमः शांकरार्थं परित्यच्य असम्ब्राध्यरीत्येवान्योग्याथ्ययशंकार्द्वाम्यतारिकामेन स्वत्वा, 'यथाविरुद्धत-दिखः कश्चं दहित सानित्यः । तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनः सर्विकिदिश्वम्, इति विष्णुध्यानं कार्यमिति असम्ब्राध्यरीत्येव व्याचख्यौ । एत्रमस्पर्थस्याद्वैतिसंज्ञतत्वे स्थितेऽप्यत्व द्वितीय आग्रहात् आह्, 'रामानुजोक्तममुक्तम्, सचिदानन्दात्मैन्यावस्थितस्य योगिवत् ध्यानधारणाद्यभावात्, स्थान्यत्वया परमात्मज्ञाने, वितीयाद्वै भयं भवतीति भयमेत्र स्थादिति—सर्विमिदं स्वत्यक्रियाविस्यराविभिति हि अद्वैतिनतम् । सप्तयाध्यायादौ च ज्ञानोपयोगितया भक्तिवैवर्यत इति तित्यद्धात्वः। उज्जनीवभावग्रहणाभावे कथं भक्तिः?

मञ्ज्ञकः, मद्याजी, मां नमस्कुरु इत्यादिकं कथम् ? प्रत्युत तटुक्तरीत्या द्वितीयाद्वै भयं भवतीति ऐक्याभिलापिणा क्रियमाणा भगवद्भक्तिहिरण्यकदिशुपौण्ड्रकवासुदेवादेरिव भयायैव स्यादित्यलम् ।

प्रथमेन तत्र तत्र मधुसूद्रनसरस्रतीदृषणमपि क्रियते । क्रचित् तत्र शांकरदक्षितसरणि परित्यज्य मार्गान्तरगति दृष्ट्वा व्यथितमनसः स्थेळान्तरेऽपि तदृदृपणे प्रवृत्तिरुद्भृत् । यत्र स्वयमेव सर्गण त्यज्ञति, तत्नास्य को नियन्ता। एतद्भयमत्न मनाक प्रदेश्यते। (७-८) ने हि प्रपश्यामि ममाप-नुद्यात् इति इलोके साधनचतुष्यसंपत्तिप्रतिपादनपस्ति, अवाष्य भूमाविति ऐहिकफलभोगे, अपि तैलोक्यराज्यस्य... सराणामपि चाधिपत्यमिति आ**म**िमकफलभोगे च विरागस्य. किं नो राज्येन. किं भौगैरिति शमदमादिसाधनसंपदः, श्रेयो भोकृतं मैक्षमपीति संन्यासस्यं, 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' इति नित्यानित्यवस्त्विवेकस्य च पद्रशेनादिति मधुसूद्रनसरस्वत्युक्तमयुक्तमित्याह । तत्रैवं हेत्रच्यते, अर्जुनस्य हात्र, यच्छोकमुच्छोपणमिति शोकोपाधिकमेत्र भोगवैराग्यम् : येपावर्थे कांक्षितमिति वन्युवधोपाधिकमेव वैराग्यम् । श्रेयो मोकृतं भैक्षमिति च रुधिरप्रदिग्धमोगानुभवजुगप्सामात-कृतम् । युद्धान्निवृत्तिपातमेवास्येष्टम् , न त् संसारान्निकम्य प्रवज्या । न हि संन्यस्य जुनस्तद्चित-गुरुसकाशादिदानीं परतस्त्रं श्रुणोतीत्येवम् । एवमभित्रयन् यदाहायं प्रथमः, "मा शृत्रः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डवं" इत्यताधिकारिविशेषणं विवक्षितमिति, तदपि विचार्यम्। तत्र आसुरविलक्षणदैवसंगन्मातकथनात् । तस्याः क्रमेण मोक्षपर्यवसायित्वेऽपि साधनचतप्रय-संपत्तरर्जुने स्थितत्वप्रदर्शकत्वायोगात् । सर्वगुह्यतमम् (१८-६४) इत्यत्नेवमाह—कर्मयोगात् क्षानाच 'मन्मना भव मद्भक्तः' इत्युपदेक्ष्यमाणं भजनं गुह्यतममिति सरस्वत्युक्त त्युक्तम्। एवं हि श्रीधराणामित्र भगवत्पादभाष्यातिलंघनं तद्रभिमतमिति । अनेनाद्वैतिनोऽपि श्रीधराचार्यस्य शांकररीतित्यागेन ज्ञानापेक्षया भजनप्राधान्यमिष्टम् , तथैव मधुसुदनसरस्वद्या अपीति स्वष्टम् । युकञ्चेततः द्वादशाध्याये अक्षरात्मज्ञान्यपेक्षया भक्तश्रेष्टवस्य विशदमुक्तेः। एवमनन्तरे सर्वधर्मा-निति स्रोके धर्माधर्मरूपिकयां सर्वा परित्युच्य ब्रह्मात्मैक्यानसंघानं कविति शांकरमर्थम्पेक्ष्य मधुसुदनसरस्वयुक्तोऽयमर्थः—अत्र धर्मशब्दस्याधर्मोपलक्षणत्वमयुक्तम् , सर्वकर्मसंन्यासस्यात अविधानात्। किंत् सर्वेपामपि शास्त्वाणामीश्वरशरण्यते व परमं रहस्यमिति शास्त्रान्ते तिन्नगम्यते। तदयमर्थः—सर्वान धर्मान परित्यज्य मामद्वितीयं सर्वेधमीधिष्ठातारं तत्फलदातारञ्च शरणं बज्ज । मम सर्वधर्मकार्यकारित्वात् तत्स्थानीयस्सन् अहं सर्वेषापेभ्यो मोक्षयिष्यामि । एवञ्च बन्धुनादान-निमित्तकेभ्योऽपि पापेभ्यो मुक्तो भविष्यसीति । अयञ्चार्थः विशिष्टाहैत्यभिमतशरणागित-रूपार्थ एव भवति । अत्रायं प्रथमः प्रच्छति तम् , 'किमपराद्धं तर्हि भक्तिशास्त्रमेव गीतेति चदता रामानुजेनेति, 'किमिति श्रीधरीयं भक्तिप्रधानम् , भगवद्भाष्यं तु ज्ञानप्रधानमिति भाष्याननुगुण-स्थले श्रीधरीयं त्यच्यते' इति च । एतच्छलोकवास्तवार्थप्रपञ्चनमन्यत कृतमेवेत्युपरम्यते, केवलं मधुसुदनसरस्वतीदृषणं प्रथमाभिमतं प्रदृश्यं। मध्ये च बहुषु स्थलेषु तद्व्याख्यानदृषणमेवं स्थित-मत्रोपेक्ष्यते, विस्तरो मा भृदिति।

अथ एक्समृतोऽयं प्रथमः स्वयमेव शांकरं परित्यज्यान्यथा गीतां व्यास्यदित्यपि किञ्चिद्दत पदस्येते, परम् अस्मदर्थस्यानिष्टत्वे तु प्रौढिवाद इत्याह । यथा, 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते स्तः'' इत्यत्न शांकरव्याच्या तावत्, 'असतः शांतोण्णघटपटादेभीवो नास्ति। यत् कदाचिदसत्, तत् सर्वदैवासत्ः सतश्चात्मनः अभावो नास्ति। इति । घटोऽस्ति पटोऽस्ति इत्यादौ सदिति आत्मैव भासते । घटादयस्तु व्यावर्तमानाः वाधिता इति तदाशयः । अत्रायमाहः प्रौढिवादेनैव तद्व्याच्यानम्, निरुपयस्यास्यत्वस्यात्मन्तासित स्वरसस्य

46 भूमिका

कदाचिद्विद्यपानदेहादिपरत्वोक्तेरनाञ्जस्यादिति । एवं श्रीधरीय गपि, सरस्वतीव्यास्यानादिकमपि दुषितम्। खयं तु असतः राराविपाणस्य भावः-उत्पत्तिनिस्तीति।भाव इति विनारास्याप्युपरुक्षणमिति व्याख्यात । तदिदं सदसद्विलक्षणत्वस्य प्रयञ्चे स्थापनाशया । इदमप्ययुक्तम् , अत्यन्तासति उत्पत्ति-प्रसक्त्यभावेन निषेधायोगात् । अत्यन्तासति सति च उत्पत्तिविनारोभयनिषेधस्पार्थत्वेऽभिमते प्रथकप्रथगेकैंककथनस्यायकत्वातः । 'नासतो विद्यते अभावः, न भावो विद्यते सतः' इत्यपि प्रयोग-प्रसंगात् , उभयताप्यभगस्याभावात् । 'भावाभावी सदस्तोर्न स्तः' इत्येकप्रयोगस्यैव च युक्तत्वापत्तेः। अत्यन्तासन्वात्यन्तसन्वामावेऽपि देहादौ कालभेदेन सन्वासन्बद्धयसम्बयप्रतीत्या सदसद्विलक्षण-त्वासिद्धेश्वेत्यलम् । असद्भाषं च यद्व खण्डयति, देहादेनीशस्य लोकसिद्धत्वात् साध्यहेत्वोर-विशेषाचिति—तन्नः कि मीष्मादेदेहनाशाद् विभेषि, आत्मनाशाद्वा । नाद्यः भीष्मादिदेहाः नाशितः नाशस्त्रभावजातीयत्वातः, अत्यानः अनेशिनः निरूपाधिकसस्वाश्रयजातीयत्वादित्यपपादने तात्पर्यात । ते च जाती देहत्वात्मत्वे इत्यादायेन भाष्ये देहस्य आत्वन इति पदे प्रयुक्ते । यद्यानेन, 'इदं बानमपाश्रित्य मन सःधर्म्यमागताः' इत्यत रामानुजो वश्रामेत्युक्तम् , तत्र केषां श्रान्तिरित्यत तटस्थाः प्रमाणम् । तत हि साधर्म्यमित्येव पदमस्ति मूले, च तु ऐक्यमिति । साधर्यशब्दस्य च समानधर्मकत्वमेत्र मुख्योऽर्थः । अत मद्भूता इत्यनुक्त्वा मत्र साधर्म्यमिति प्रयोगः खगतधर्मस-जातीयधर्मवस्त्ररूपार्थनेभेर्येणेति को नाज न निश्चितुयात्। एवं स्तति अत स्रोके अभेदस्य प्रसक्ति-लेशोऽपि नास्ति । ममेति पदञ्च सगुणब्रह्मबाचकम् । तदैक्यञ्च जीवस्य मवन्मतेऽप्यसंभावितम् । निर्गुणब्रह्मलक्षणायां तस्य निर्धर्मकत्वात् साध्मयेशब्दः सर्वथा न घटते । उत्तराधि, संगेऽपि नोप-जायन्ते इत्यादिवचनं मोक्षानन्तरमपि वहुचेतनसङ्गावं सर्गप्रलयसङ्गावम् , मुक्तानां परं सर्गप्रलया-भावं तद्धहरवञ्च वदतीति ब्रह्मनाह्मरारिशेषारूपाद्वैतस्य कदा प्रसक्तिः। अहो अकाण्डे त्यविभिनेवेशः।

अत्र ब्रितीयस्तु, असत्यदेन देहग्रहणमयुक्तं सत्कार्यवाद्विरोधात्। सत्यदेनाऽऽत्मतात्रग्रहणम-युक्तम् : तत्त्रत्रश्राभ्युगमात् । यथोपळिध्य इत्यध्याहारश्च कृतो दोषः आत्मतामनेकत्वपक्षे सत इत्ये-कवचनायोगश्चत्याह् । राज्ञ युक्तम् । सत एवासत्यदेन व्यवहारस्य वेदेऽपि प्रसिद्धत्वात् असदेवेदमग्र आसीदितिः देहादावसत्यदमयोगौजित्यस्य विष्णुपुराणे स्थापितत्वाद्य । एवं ज्ञस्त्यास्तरपृष्टीतत्वे सिद्धे सत इति तद्धिचग्रहणमेश युक्तम् । यथोपळिध्य इत्यध्याहारावद्यकत्वं च नामिप्रतम् । उप-रुविधिविरोधात् परमतस्थातां तत्त्वदर्शितं नास्तीति ज्ञापनाय यथोपळिध्य इत्युक्तम् । सत इत्येक-चचननिर्देशादेक एवाऽऽत्मेत्यप्रयुक्तम् । तथासति असत इत्येकववनात् शीतोष्णाद्यनेकग्रहणस्य भवन्मतेऽप्ययुक्तत्वप्रसंगात् । विभक्तयर्थेकत्वाविवक्षाः तु उभयोस्समानाः ॥ ७ ॥

एव तर्यं द्वितीयः, तमुत्राचिति स्ठोके, 'इदं ववः' इत्यनेतासाद्वः। प्ये तत्वेवाहमित्यादि मा ग्रुच इत्यन्तं वच इति व्याख्यानमगुक्तम्, समनन्तरस्ठोकस्य अशोच्यानित्यस्यापि ब्राह्यत्वित्याक्षिपति । अशोच्यानिति स्ठोकस्य सममन्तरत्वेनैवादरणात्, तस्य कृष्णयनोन्तर्मावमसद्भाष्यकारो न जाना-तीति तावत् अनेन दुवैवम्। एअमपि तदुपेक्षायां हेतुरित्त न वेत्येव विचायम्। अशोच्यानिति स्ठोकः प्रहासवाक्यस्वत्यया छश्यते इति स्पष्टम्। तत् यथा प्रहस्तेव तद्वच उवाच, तथा नत्वेवाह-मित्यःदिगहनार्थवचोऽण्युवःचित्याव्यविमिति क्रोकस्य वश्यमाणार्थसंत्राहकत्वमस्तीत्येतत् भाष्य एव व्य-कम्, गतास्त्रनातास्त्रतित्यस्य उपपादिषस्य नाणदेहजीवोमयविषयक्वत्तसंत्रहरूत्वस्य भाष्येप्यवात्। वक्तुमुपकान्तवत्वश्च श्रीष्टणस्य न हि अशोच्यानिति वचने नैर्भर्यम्, तस्य कुतस्त्वाकदमलमिति प्रागुक्तविवरणमात्रत्वाद्यः स्वराह्यावेच्याक्ष्यत्वादः।

कोडीकार्यमित्यारायः, कथं तर्हि भवान् मा शुत्र इत्यन्तं वजनमिति व्याख्याति : तदुपर्यपि वहनां स्रोकानां रुग्णोपदेरारूपाणां सद्भायात्। अतो वक्तुराराययनमबुध्यानावस्यकदृष्याविस्तरोऽयम् ।

अथाबोत्तराघंऽपि किञ्चिद् वक्तव्यमस्ति, गतासून् अगतासंख्य नातुशोचन्ति पण्डिता इति । अत देहान जीवांश्च प्रति न शोचन्ति आत्मज्ञानिन इत्यसद्भाष्यम् । मृतान् जीशनश्च प्रतीति शांकरभाष्यम् । एवमेव माध्यभाष्यमपि । जीवत इति दृष्टान्तार्थम् ; जीवद्विपय इव मृतविपयेऽपि न शोक इत्युक्तं तत्र । अत्र द्वितीयः जीवद्विषये कथं शोक इत्याशंक्य, जीवन्तोऽपि पुतादयो दुर्वताः सामयाश्च शोच्या एवेति प्रत्याह । इत्मेव रामानन्दव्यास्यायायप्यन्यवादि । इत्मयक्तम । यः शोक इह प्राक् प्रसक्तः, तस्य हि जीवब्रिपये उपपादनं कार्यम् । अत एव मधुस्दतसरस्वत्यकमपि प्रथमेन पराकृतम् । स हि शांकरं परित्यज्य, 'गतासवो मृताः : तद्वान्धवास्तदानीं मरणरहिताः अगतासवः ; तान् उभयान् न शोचन्तीति व्याचरव्यौ । अगतासवः तद्वन्धुभूताः तेषां प्ररणे कथं जीविष्यन्ति इति तद्विपये शोक इति तद्विवरणम् । इदं निरास्थत् प्रथमः, युयुत्सून् आगतान् वीक्ष्य मित्रिमित्तमेते मरिप्यन्तीति तन्मरणशोकस्यैव वक्तव्यतयः तद्वन्धुविपयकशोककथनमयुक्तमिति। एवं स्थिते जीवद्विपयकसामयत्वदुश्चरितत्वादिदोपनिवन्धनस्य शोकस्यात्र का प्रसक्तिः। अतो हितीयोक्तमयुक्तम् । यद्यपि सरस्वत्युक्तं गृह्येत, कुलक्षयं प्रवस्यद्विरिति कुलक्षयस्यापि पूर्वे प्रसक्त-त्वात् बन्धुविषयमरणविषयः शोकोऽपि प्रकृत इति-तथापि मरणविपयकत्वात् शोकस्य, सर्वेपामपि गतासुपदेनैव ग्रहणसंभवात् पृथङ् न वक्तव्यम् । यदत्र प्रथमः स्वयं व्याख्यत् , अगतासुन् गमिष्य-त्प्राणान् आसम्बारणानित्यर्थः: तथा च मृता इति मरिप्यन्तीति चा न शोकः पण्डितानामिति-तदिप न युक्तम् । मद्धीनमरणासत्तय इति शोकस्यैव प्रकृतत्वात् मृतविषयकशोकस्याप्रकृतत्वात् । अगतासुराज्यस्य तथार्थस्यरसत्वाभावाच । अखरसत्ववद्याः हि राजानुजभाष्यतागयतः । एक-पुरुषविषय एव वृत्तमरणभविष्यन्मरणरूपेषद्भेदशदर्शनपूर्वकशोकवर्णनस्यानावस्यकत्वाच । एवं क्रिप्टार्थवर्णनापेक्षया जीवत इति व्याख्यानभेव ज्याय:। परं तु जीवद्विषये सृतविषये च पण्डिता-नामपि नानाविधशोकसंभवस्य चन्द्रिकायामुपपादितत्वात् सामान्यतः शोकासंभवस्य दुवैचतया मता इति मरिष्यन्तीति बिविधोऽपि शोको न पण्डितानामित्येव वक्तव्यम् । तथा विभागस्य च न किञ्चित प्रयोजनमस्ति। अतोऽसम्द्राप्ये, 'देहनाश इति जीवनाश इति वा न शोक' इति विषयविभागः कृतः। एतदुभयस्यैवोपरि विस्तरेणोपपादनात् एतत्कथनमेव संगतम्। न च शब्दस्य तद्वाच-कत्वम् । गतास्वगतासुराज्ययोः कचिद्पि रूढत्वाभावात् योगव्युत्पत्तरेव ब्राह्मतया अन्वययोग्य-विशेष्यव्यक्तित्रहणस्य।दुएत्वात् । यौगिकानां शब्दानां सामान्यस्यत्वेऽपि वृद्धिस्थव्यक्तिविशेष-पर्यवसानोपपत्तः। अत्रागतासुपदेन जीवग्रहणे चानेकजन्मभाकृत्वस्य जीवेषु स्पष्टीकरणात् नाशा-भावाच शोक इति विशेपलामः। अतस्तत्तद्भिमतार्थापेक्षया अस्तद्भाष्यद्शितमेव साधीय इति।

अथ नत्वेवाहमिति रहोकेऽपि किञ्चिटुच्यते—अत जीवानेकत्वजीवेश्वरभेद्योः स्पष्टपतीत्या आत्माक्षेतवादस्राऽऽरम्भ एव कुठारप्रहार इति व्यक्तम् । एवमप्यौषाधिकभेद्वाद इति दृश्यनं तु मताभिनिवेशमेव दर्शयेत् । अक्षेतमते अहगदिशन्दानामहंकारहेहादिपरवस्यवेष्टश्यात् अहं त्वञ्च तथाऽन्ये च सर्वे संप्रति स्थिता अपि न भविष्याम एव । अवर्जनीये चात्र नाशे न शोचितुमहंसि । आत्मा त्वेको न तंक्ष्यतीत्येव वक्तव्यम् ।

अत्र स्टोकेऽस्पर्भाग्ये, श्रीभाग्ये ईपत् स्वितोऽर्थः इह सुविश्वसुकः, अहैतमले उपदेशासुप-पत्तिरिति । शिष्यं प्रति गुरूपदेशरूपेण प्रष्टुक्ता गीतेति अहैशतद्वरुपपस्युद्याटनस्यात्यन्तस्थिप्रता । इण्णः किमवः तत्त्वको वा । आद्ये उपदेश्यत्याकानादुपदेशासुपपत्तिः ; अल्ये उपदेश्यपुरुपान्तरा-भावात् उपदेशासुपपत्तिरिति । उपदेशो हि स्वातिरिक्तं जीवं प्रति भवति । स्वातिरिक्तस्याभावे निश्चिते

कं प्रत्युपदेशः । प्रतिविम्बा एव जीवा इति चेत्-तदाऽपि, किं तेषां ब्रह्मेक्यं मेदो वा । आधे उपदेशायोगः स्पष्टः : अभिन्नत्वात् । नान्यः : प्रतिविम्वान् प्रति उपदेशासंभवात् । स्वप्रतिविम्वं प्रति उपदेशायोगेऽपि परप्रतिविम्बं प्रत्यपदेशो घटत इति यदत द्वितीयोक्तम् , तद्युक्तम् , प्रति-विम्वत्वेत ज्ञाने सति कुत्राप्युपदेशायोगात्। प्रथमस्त अभेदेऽपि मिथोव्यवहारः श्रीरामपरश-रामयोर्देष्ट इत्याह । तन्न ; मनुष्यभावनायां स्थितस्य श्रीरामस्य परशुरामे भेदाभिनयेनैव व्यवहार-प्रवृत्तः । परश्रामे कार्यविशेषार्थं शक्यावेशेऽपि तस्य श्रीरामवत् अपाकृतावतारक्षपत्वाभावात . तत्रत्यजीवं प्रत्येव सङ्घापाच । क्रिमियद्दूर्गमनेतः, रामछक्ष्मणसङ्घापादेरेवत्वया सुर्शत्वात् , एतद-पेक्षया नरनारायणसङ्घापः. ब्रह्मणा वत्सवत्सपाङाद्यपहारे कृते कृष्णस्यैकस्य स्वयमेव नानावत्सत-त्पालक्षपेणावतार इति तत्र भूतः सल्लापोऽपि सुप्रदर्शः । वैदिकसुतानयनस्थले कृष्णक्षपवास्रदेवेन सह परवासुदेवसलाप एवातीव सुदर्शः। परं तु तत्न सर्वत्र परमात्मन एकत्वेऽपि तदन्यैः स्वग्रहीत-व्यक्तिषु विभिन्नात्मतया ग्रहणमस्तीति तान् प्रति तद्वुद्धिस्थैर्यावहोऽभिनयो वहुविधो भगवता कृत इति सुन्धिप्रम् । भवन्मते तु सर्वेषां जनानां मिथ्यात्वात् कृष्णेत च समूलस्य समेदवासनस्य प्रतिविभ्वादिरूपसर्वजीवविशिष्टस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेन सुनिश्चितत्वात् तन्निश्चयाभावे तद्वपदेशाः योगात कथम्पदेराप्रसक्तिः, प्रलोभनीयस्य शिक्षणीयस्य वा कस्याप्यभावात् अभिनयस्य वोपदेशस्य वा कथमबकाशः। फलं वा किमस्ति, प्रागेव मुक्तत्वात्। तत्र तु परशुरामस्य स्वभिन्नजीवत्वं परेभ्यो बाप्यमित्यस्ति फलम् । सर्वमिथ्यात्वे च वाघितानुवृत्तिलेशोऽपि दुरुपपादः इत्यादिकमसमाधेय-मेवेति स्थिते किं मिथ्यात्वसंत्यत्वरूपवैषम्यानाळोचनेन दृष्टान्तप्रदृश्नादिना विस्तरेण ।

अथ गुरुगतेन तत्त्वज्ञानेन जीवमुक्त्ययोगान् जीवस्यापि तत्त्वज्ञानमपेक्षितम्, नानाजीववाद-स्येग्टवादिति चेत्-गुरुः खाविद्याकदिरतजीवमात्तदर्शी अविद्यान्तरकिरतमन्यादरं जीवं प्रत्युपदेर्षुं न पार्यित, स्कव्यितास्तु जीवाः स्कीयेन तत्त्वज्ञानेन गुरुणा विल्लीपिता इति किमुगदेरोन, स्कविद्यतान् जीवान् स्वयं मिथ्यात्वेन जानन् कथञ्चोपदिशेत्। प्यमीध्यकिरियतान् जीवान् प्रत्यि गुरुनीपदिशेत्। वस्तुत ईश्वरकिर्यतत्वेन वा ईश्वरस्वृद्धत्वेन वा गुरुकिरतिश्योऽन्ये ईश्वरकिर्यताः के नाम । प्रकृते तु रुष्णस्येश्वरत्वात् सर्वे जीवा वाधिता इति सर्वथा तद्गुपपत्तिरेव । प्रतिविद्यत्वे चेतनत्त्वञ्च परस्यरविरुद्धमित प्रतिविद्यत्वज्ञाने सति अचेतनत्विश्वयाद्यि नोपदिशेत्। विद्यप्रतिविद्यत्वक्षेय परस्यरविरुद्धमित प्रतिविद्यत्वज्ञाने सति अचेतनत्वज्ञीयत्वारिकं विष्णवनुकारित्वक्षं प्रतिविद्यत्वसेव विष्णुभित्रेषु वर्णयन्ति । अतो न तद्दीतिरिहेत्यल्यम् ।

येन सर्वमिदं ततिम्त्यताऽऽह द्वितीयः सर्वेच्यापकत्वं जीवस्योक्तं न भवति । तथासित एकजीववादप्रसंगश्च, आत्मव्यतिरिक्तत्वञ्चाचेतनस्य दुवैचम् । आत्मनः आकाद्यः संभूत इति तत्कार्यत्वात् तस्येति । इदमयुक्तम् ; सर्वेच्यापकत्वे उनेकजीवस्थिते : कथं भंगः? सुखदुःखादिव्यवस्थया, नित्यानां चेतनानां चहुनामित्यादिश्वत्या चानेकत्वस्य तार्विक्रमत इव संभवात् । सर्वेगतत्वञ्च न युगपदेव सर्वेसंविध्यवस्प्रमात्मस्यः किं तु यत्न यत्नाचेतने संवध्याति, तत्न सर्वेचान्तः प्रवेद्याहित्वस्यं स्थपत्वमेव । अचेतनेष्वात्मव्यतिरेकद्व भवन्मतेऽपीष्टः। सत्यास त्ययोरिक्यायोगात् । सत्यव्यतिरेकणासत्यस्यामाव इति कुस्तेः तद्मन्यत्वाधिकरणे भामत्युक्तत्वेऽपि वाधितावाधितयोरिक्यं नेष्टिमिति द्विध्यस्य । यदुक्तं —तदिति क्विवनिदेशात् जीवब्रह्मणस्यास्यत्वेत्रक्ते त्रव्यस्य । यदुक्तं —तद्युक्तम् ; त्वन्ते जीवब्रह्मणस्यास्यत्वेत्रक्तेयः व्यथा मेदः नत्याऽस्थाक्तमपि ॥ आत्मदाव्यवाच्यत्ववाध्यत्वविवक्षयेति चेत् —तुत्यम् । "यद्द्वोभयोः समो दोपः परिहारोऽपि वा समः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्ताहगर्थविवारणे ।"

अन्तवन्त इसे देहा इत्यब—हिह उपवये इति उपचित्रवायुक्तम् , यहिद्वर्थववेदेहं आरब्धः तद्धिकावयवस्मावेशामावात् । देहराद्शत् सावयवयाळासस्य । शरीरिण इत्यव कर्मफलमोगार्थतयेति पूरणञ्चायुक्तम्—इत्याह । सर्वेब तुच्छं तुच्छत्ररिक्षयेवमुकत्या किमिप वक्तव्यक्षित्येपोऽ-भिनिविशते । त्रास्ताम् । प्रकृतं इद्मुच्यते-वेदान्तिवनं अवयवातिरिक्तावयव्ययावात् पूर्वदेहा-वयवैः सहात्येपामशानां संमेलने कौमारादिदेह इति कथं नोपवयः, कथं वा देहराव्यव्यक्षालामः शरीरीत्यस्य शरीरस्वामीत्यर्थकत्वात् स्थामित्वस्य च भोकृत्वक्षपतायाः लोके मीनांस्यदौ च प्रसिद्धत्वत् शरीर कर्मफलभोगार्थत्वं सुलभमेत्र ।

अथ य एनं वेत्ति हस्तारमिति क्लोके किञ्चिद्वच्यते । आत्मनो हत्तकर्तृत्वं हत्तकर्मत्वञ्च निपिध्यत इति स्पष्टमबायगस्यते । तत् विहायाऽऽत्मनो हनस्कर्मत्वमावनिपेधारतया व्याख्यातम् हन्तारमित्यस्य हननकर्नारमित्यर्थकस्य हननहेतुमित्यवर्णनमन्यचायुक्तमिति दृष्यते । वक्तव्यम्-आत्मनः कर्तृत्वं तस्य परायक्तवञ्च ब्रह्मस्रहे स्थापितमस्ति । तृष्टिरोधेन हननकर्तृत्व-निषेधो न युक्तः । देहहननकर्तृत्वेऽपि आत्महननकर्तृत्वं कस्तीत्युक्तौ आत्मनो हन्यमानत्वायाय-प्रयुक्तत्वात् तस्य हनतक्रमत्वनिषेध एव पर्यवसायम् । यदि सामान्यतः कर्तृत्वमेव नास्त्यातम इति विवक्षितमत्रेत्य्च्यते, तर्हि य एनं वेत्ति कर्ताएमिति वाक्येन भाव्यम् । हक्षकर्त्तृत्वनिषेधे हि अन्यकर्तन्वाभ्यागम एव भवेत् । अन्यथा भवन्तरीतौ सजातीयविज्ञातीयस्वगतभेदराहित्य-मिति सामान्यतो निविरोपत्वमेव वक्तव्यम् : न तु इन्तन्ताभाव: । एवं नहिं विशश्चिस्वदाहव-तत्वपुराणत्वादिविशेषोक्तिरपि न घटते : अतः प्रकृतस्याविगाशित्वस्योपपादनाय हन्यमानवामाव-विवरणस्पतया हननस्पिक्रयाविशेषकर्तृत्वाभावस्यात्र विवक्षितत्वे तुरुपयुक्तया करणादिकारकस्यापि आत्महनतकारकत्वाभावे स्लोकेन वित्रक्षिते महाविषयत्वं भवतीति कृत्या हन्तारमित्यस्य हननहेत्मित्यर्थो भाषितः । न च हेतुत्वस्याशब्दार्थत्वम् : 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इति सर्वेत्र सक्यापारे करित्वसस्वेत सर्वस्य कारकस्य तत्र तत्र करिशोक्तिसंभवात् । एवञ्च एतमि-त्यस्य कारकान्तराभेदायोगात् प्रतिराज्दोऽध्याहतः । तेन हन्यनानत्वासावोपभादनमेवेदं सर्वामिति च. छभ्यते । यद्यपि अस्माभिर्वेक्ष्यमाण सारिक्कत्यागरीत्या "नै । किञ्चित् करोमीति युक्तो मर्जात तस्ववित्" इति हननवर्तुत्वाभावमात्रमपि सुवचम् , अथापि अत विनाशाभावप्रतिपादनप्रकरणे तदंशवर्णनं विशिष्य हनधातप्रयोगादिकञ्च न घटत इति माध्ये तद्गीत्यपेक्षा । ईदशपहाविषयत्व-लाभो न सहाते चेत् , कामं यथा यतार्थ एवेप्यताम् ; का नो हानिः। क्ट्रैश्वनिषेध्यरत्वं तु प्रकृतासंगतम् : अच्छेयोऽयमिति स्रोकं यावत् अविनाशित्वस्यैवोपपाइनादेतत्प्रसत्त्वमावात्। अत एव 'कं घातयति हन्ति कम' इति अविनाशिक्षनिबन्धनो हननकर्मत्वामाव एव निगम्यते: ना नेन सह कर्तत्वा-भावोऽपि । बाहरायणसिद्धान्तविरुद्धञ्च । निर्विशेषै विशिष्य नन्मातकथनानौचित्यञ्जेत्यस्य ।

अथ अथवैनिमत्यादिस्ठोकद्वये किञ्चित् । अविनादिग्वमात्मनः प्रामाणिकमेतावत् प्रतियाव शोकस्य नावसर इत्युक्त्वा, आत्मनो विनादिग्वास्युपगमेऽपि न शोकः कार्य इति अन्वास्त्रवाद् इह क्रियते । अत्र शोकरे अन्तःकरणे कोधहपीछुत्यत्तौ तद्गरोपेण कृद्धो जातः हृष्यो जात इति आत्मन्युत्पत्ति मन्यसे चेदिति वा देहगतोत्पत्तिवरणे आरोप्य आत्मा जातो मृत इति मन्यसे चेदिति बोद्धाव्य तथापि न शोकः कार्य इत्यथों वर्णितः । अत्र प्रथमप्रये द्वितीयो व्याच्याता प्रोहिवाद् इति तत्याज । अन्तःकरणे कोधाष्ट्रतस्या अन्तःकरण प्रवोत्पत्तिव्यवहारामावे आत्मन्युत्तिव्याव-हारस्य का कथेति च दृष्यामास । प्रथमस्तु व्याच्याता, देहस्यैवाऽऽत्मत्वात् आत्मनः नित्यम्— अवद्यं जन्मवरणे मन्यसे चेदिति अस्मद्माप्यरीत्यैव व्याच्यत्तै : शांकरं सर्वयैवात्यार्क्षात् । परं तृ 50 भूमिका

देहातिरिक्तस्याऽऽत्मनः देहसंयोगरूपजन्ममरणे स्त इति अर्थान्तरमाह । तत् 'मन्यसे तथापि' इत्यम्युपगमवादपक्षाननुकूलत्वादुपक्ष्यम् । अत्र शांकरे पाठमेदो लक्ष्यते । अत एव एकैकदेहो-त्यिक्तकालेऽप्युत्वच देहताशकालेऽअविनक्ष्यतात्मेति देहातिरिक्तजन्मविनाशवदात्मपरतया योजनाऽपि शांकरार्थः स्यादिति तदुङ्कावनेन तिवरास्यवसारो रसामिः रसास्यादे टिप्पणेऽदृशि ।

अतासम्द्राप्याशयस्त्र-अन्तवन्त इमे देहा इति देहानां विवाशित्वमात्वनामविवाशित्वञ्चोपः पाद्य नित्यत्वाच शोचितव्यक्षित्यकृत्वा. अथानित्यत्वपक्षेऽपि न शोक इत्यक्ती देह एवाऽऽत्मे-त्युक्ताविप न शोक इत्येव स्वप्नप्रतिपन्नतया नित्यज्ञातनित्यसृतशब्दाभ्यां देहस्यैव प्रहणम् । अवस्य-म्माविजन्मनाशवस्यात्। आत्मनो देहसहोत्पत्तिविनाशवस्त्रेष्टौ देहातिरिक्तत्कस्पने, तदुपादात्रादि-कल्पने च गौरवाद्पि तदा देह आत्मेत्येव युक्तम् । तदुपपादनं जातस्यहीति श्लोके । ननु जातस्य मरणभौव्यात , अहो अप्रतीक्षितं मरणिमति शोकोनेति यक्तम् , मृतस्य जन्मभौव्यान् न शोक इति न युक्तम् : न हि मृतजन्मतो भीतिः शोकश्चार्जनस्य । न च लोके मृतं पुनजयिते, नपानां घटादीनां पुनरुत्पत्त्यदर्शनात्। मृतानां पितादीनां पुनरिह प्राप्तेः कदाप्यमावात्। अतो वाधितञ्चदम्, यत्, धुवं जनम मृतस्येति इति चेत्—एतदर्थमेव प्रथमो व्याख्याता मृतस्य देहस्य पुनर्जन्मेत्यर्थमिव, मृतस्य देहविश्लेपं प्राप्तस्य जीवस्य पूनर्जन्म देहान्तरप्राप्तिरित्यर्थम्।वर्णयति । तेन वाधितत्वरांका निवर्तते । 'जन्मप्रयुक्तः शोकः खद्य इति किमर्थमुच्यते, जनमनः शोकापादकत्वस्याप्रसक्तः' इति रांका त न समाहिता । पूर्वेश्लोके अन्वारुह्यबादस्यैय प्रसक्तत्वाच तदननुरोधी अयपर्थः तदुपपाद-कत्वाभिमते स्रोकेऽव न वक्तुमुचितः। तथा देहाद्रियुक्तस्य जीवस्य देहसंयोगभौव्यमपि नास्ति; मुकेरपि भावात् । अतो भीष्मादयो रूपान्तरेण सममीपे जनिष्यन्त इति समाश्वसिद्दीत्याद्ययोऽपि दुर्वचः । अतः, न जायते म्रिपते वा इत्यत्न प्रस्तुतत्वाच नाशरूपमृतिरेवात विवक्षिता । नप्टस्यापि पुनर्जन्म त लोकेऽस्त्येव । नाशो हि सत्कार्यवादे खावस्थाविरुद्धोत्तरावस्थाप्राप्तिः, तिहरोधिपूर्वा-वस्थैवोत्पत्तिः सुवर्णस्य पिण्डत्वावस्थाविरुद्धभूपणावस्थापन्नस्य पुनः पिण्डत्वावस्थाऽपि भवत्येव। वृतं विलीनं पुनर्घनीभवति । तः दशस्थले संभावितः शोकोऽपि सहाः । भ्रवशब्देनावस्थान्तरा-पत्तिरवस्यमित्येवोच्यते इति । अतः प्रथमेनापि प्रथममादता अस्मद्भाष्यसर्गिरकैव समुचिता ।

अन्नाद्भयन्ति भूतानीत्यत्न ब्रह्म वेदः, अक्षरं परमात्मा इति शांकरव्याख्या। तत्र चक्रासिद्ध्या तित्सद्धये प्रथमेन अक्षरशब्दः प्रणवपरो व्याख्यातः। यन्नः कर्मतः, कर्म वेदात् वेदः प्रणवात् प्रणविश्व भूतात्—प्राणिन इति तदुपपाद्तम्। अस्पामिस्तु कर्म भूतोद्भविमत्येतावदेव विवक्षितम्। तथाच चक्रसिद्धः। भूतशब्दाधं देद्दो जीवश्च घटक इति व्युत्पाद्ताय, कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्वि ब्रह्माक्षरसमुद्भवमित्युक्तम्; न तु तयोविभज्य चक्रे प्रवेशने तात्पर्थमित्युच्यते। द्वितीयस्तु अत्र वृथैव नानादृष्णारोपणप्रवणो छक्ष्यते। चक्रासिद्धि जगचक्रेत्यर्थवर्णमानाञ्जस्य श्रोकरपक्षस्थितं न राष्ट्रणति। अत्र एव हि प्रथमेन सा सर्पणनीत्यस्ता। यद्यपि प्रथमस्य पन्ने चक्रस्य यथावत् सिद्धिर्त्तते, अथापि वेदस्य प्रणवजन्यत्वं न मुख्यम्। वेदस्य भृतजन्यत्वे साक्षात् संभवित प्रणवद्धारा तदुपपादनं हिष्टपमिव। सप्रणवस्य वेदस्य भृतजन्यत्वे वाक्षात् संभवित प्रणवद्धारा तदुपपादनं हिष्टपमिव। सप्रणवस्य वेदस्य भृतजन्यत्वे विश्वतमिति चेत्, व्याचित्रस्या कर्म ब्रह्मोद्भवित्यादीत्यस्त्रस्वेकऽपि नासुपपत्तिः। द्यान विशेषः—उपक्रान्तस्य भृतस्योपसंहारेऽप्युक्तौ चक्रत्वं साक्षाद्मिद्दितं भवितः वेद्रपणविद्वरार्थस्य स्त्रसन्तरस्य स्तृतजन्यत्वमसाभित्रस्यमिति। एवञ्च, 'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यत्ने प्रतिष्टितम्' इत्यस्मित् अनन्तरेऽर्थेऽपि ब्रह्मशब्दिति। सर्वितः परविद्वरम् परसम्भयः अनन्तरेऽर्थेऽपि ब्रह्मशब्दाति। सर्वेरिपि यज्ञः कर्तव्य इति वक्तव्यांश्वर्यपति। सर्वेरिपि यज्ञः कर्तव्य इति वक्तव्यांश्वर्यादनलामश्च। तन्मते तु प्रथमब्रह्मशक्ते वेदपरः, द्वितीयश्च परव्वस्पर

इत्यर्थभेरः । निष्कामसकामसर्वसाधारण्येन यज्ञावदयकत्यप्रतिपादनस्यात चिकीर्षितत्वात् परब्रह्मणि यज्ञप्रतिपादनस्यात चिकीर्षितत्वात् परब्रह्मणि यज्ञप्रतिप्रावचने औचित्यमपि नास्ति ।

अथ यस्वातमरितरेव स्यादिति स्ठोकद्वयम् । इतः प्राक् यज्ञानुष्टानस्यावस्यकत्वमुक्तम् । तदेवोपरिष्टाद्पि प्रपञ्चिष्यते जनकादिनिद्र्यानेन। मध्ये स्टोकद्वयं कचित् कर्मामावमपि द्र्ययति । तदिदं मुक्तविषयमिति असाद्राध्यम् । मुमुश्चप्रस्तावप्रध्ये मुक्तस्य का प्रसक्तिः, मानवशन्दः इह-शब्दश्च तथाऽर्थवर्णनवाधको चेत्याह द्वितीय:। अत्रोच्यते । मुक्तविषयेऽपि वेदेन यदि, कर्म न कार्यमिति दासने कार्य स्यात्, तदा अब कथं प्रसंग इति पुच्छक्षेत । न हि वेदशास्यो मुक्तः । अतो वहमेवाधिकत्य, वसक्षोर्वी समक्षोर्वी आत्मानुभवतृत्तवकृषा मुक्तिदशा यहा, तदैव कर्मत्याग इत्युच्यते । तेन तावत्पर्यन्तमवर्जनीयं यज्ञान्ष्टानमिति तदावस्यकत्वे पर्यवसानम् । एवमनुकृत्वा संन्यासिनं ज्ञानयोगिन प्रधिकृत्य चेदिदं क्लोकद्वयमिष्टम्, तर्हि उपर्यपि कर्मिप्रस्तावात मध्ये एतन्न संगतम् । मानवपदं त-मानवं प्रत्येव कमीवश्यकत्वोपदेशात् मानवस्य कमीधिकारिणस्ते मुक्तिदशापर्यन्तं तदनुष्टेयमित्युपदेशाचासंगतम् । इहेति पदञ्च न लोकार्थकम् : किं तु इह— कर्मवृत्दमध्ये इत्यर्थकम् । यद्यप्यसाभिः इह लोके मानवो योगनिमग्नः आत्मतत एव यावन्तं कालमस्ति, दिनद्वयं संबत्सरमधिकं वा तनमध्ये स यशं नानुतिष्ठति : तस्य न प्रत्यवायः ; अन्यस्त् कुयदिवेति योगदशाविषयतयैव सर्विमिदं सुकरिनविहिम्, तदा न कस्यचिदाक्षेपस्यावसरः— अथापि आमोक्षात् कर्मानुवृत्तिदाढर्थव्युत्पादनायैवं भाषितम् । अथ भवद्भिनतमर्थप्रधिकृत्य किञ्चिदुच्यते—स्लोकद्वयमिदं सामान्यतः संत्यासिपरं वा, तस्त्रविपयपकपरोक्षज्ञानवत्परं वा, तदपरोक्षज्ञानवत्परं वा । नाद्यः. ऋोके संन्यासवाचकपदस्याभावात् । आत्मविषयकरतितृतिसंतो-पाणां जनकादौ स्थित्या गृहस्थेऽपि यज्ञाभावापातात् तदुचिते पदे प्रयोक्तव्ये आत्मरत्यादिरूपस्या-व्याप्तस्यातिव्याप्तस्य च धर्मस्य निर्देशायोगाच । न द्वितीयः परोक्षक्षानिभिर्गृहस्थैरिप कर्मत्याग-प्रसंगात् ; द्वितीयश्लोकानन्वयाच । न तृतीयः, जनकादिभिः तत्त्वदर्शिभिरपि कर्मानुष्टानात् । व्यासविष्ठजनकादीनां श्रीकृष्णस्य च तत्त्वसाक्षात्कारो नास्तीति तु वार्तम् । अत एव, 'संसिद्धि-मास्थिताः' इत्यस्य, चित्तराद्धि पाप्ता इति, जन्मान्तरे साक्षात्कारं प्राप्ता इति, संसिद्धिं गन्तं प्रवृत्ताः इति चाव्यवस्थितं व्यास्यानमप्ययुक्तम् । साक्षात्कृततस्या अपि प्रारच्धकर्मवशादकुर्वन् इति चेत्-तर्हि शानिष केचित कर्मयोगे, केचित तपोयोगे केचिद प्रन्थकरणे केचित् व्यवहारे केचिद वाणिज्ये प्रारम्भवशात् प्रवर्तन्त इत्युपपादयता भवता द्वितीयेनाद्वितीयं यज्ञावश्यकत्वं सम्पक् समर्थितं भवति । लोकसंग्रहार्थं तद्वुष्टानमिति चेत्-अस्त । तथा च आत्मरत्यादिकं कर्मत्यागे प्रयोजकं न भवतीति सिद्धम् । एवञ्च भवताऽपि सत्यपि साक्षात्कारे कमीत्यागस्य संन्यासि व्यतिरिक्ते प्रनथकरणनानालौकिकव्यापारव्यप्रतस्ये विषे महात्मक्षत्नियादिषु च यज्ञावश्यकत्वस्य स्वीकारात् आमुक्ति एतदनुवर्तनरूपास्मदभाष्यार्थग्रहणमेव ज्यायः।

प्रथमस्तु संन्यासिशव्दमप्रयुक्षानः, "यः कश्चिद्पि मानवः एवम्यूतः इतरुत्यः; त तु ब्राह्मणः त्वादिना प्रकर्षेण । उक्तं हि भगवत्यादैः, "चण्डाळोऽस्तु... द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा ममः" इति इत्याह । तेन पूर्वजन्मकृतकर्मयोगवानयोगवशात् तदानीमप्राप्त एव साक्षात्कारश्चण्डाळादिष्विप जन्मतो जायत इति तद्मिप्राय उद्धाते । तदाऽिष चण्डाळादेरनिधकारादेव यक्षाभावः, द्विजक्ष्मेत् लेकसंग्रहाय कर्म कुर्यदिव । तदुपिरंसायां तु संन्यस्येत् । न त्यात्मानुभवो जात इति कर्म त्यजेत् । तद्व रक्षोके संन्यासानुक्ष्मेत क्षान्योगिनो मध्ये निरूपणानौवित्याच कर्मीनुष्ठानस्य आमुक्ति अनुवृत्तियोधनाय मुक्तेष्वेव कर्माभावकथनमिति साधिष्टमेतत् ।

52 भूमिका

अंतर्मिण किञ्चित् - आत्मिन ब्राह्मण्यगाहंस्थ्याद्यथ्यास्विचिएस्येय कर्माधिकारः, विवेक्तिश्चाः ध्यासामावान्न कर्मेति भयदुक्तम् । तत्त्वदं भयान् पृष्टो व्याच्छाम् लोकसंग्रहार्थमज्ञीतष्ठतां जनकान्दीनामय्य्यासाभावात् कथमनुष्ठानमिति । किञ्च कि देहातमञ्चनिवन्धनवाह्मण्याद्यारोप इहाध्याः जनदिविज्ञिक्षतः, उत सर्वस्य ब्रह्मण्यध्यस्ताया एव सिद्धान्तसिद्धतया परमात्मन्यध्यस्ततादशाकार हित । जाद्यः । देहातिरिक्त आत्मिति हाने सत्येय स्वर्गादिपारलाकिकफलार्थकर्मधिकारात् । तेषु तथादिपारलाकिकफलार्थकर्मधिकारात् । तेषु तथादिपारलाकिकफलार्थकर्मधिकारात् । तेषु तथादिपारलाकिकफलार्थकर्मधिकारात् । तेषु तथादिपारलाक्ष्यस्त्राह्मणाद्याः वाधिताजुष्ट्रतेरंगीकृतत्वेन परमात्माध्यस्त्रवाह्मणाद्याः कारस्त्रवेत कर्मायायागात् । किञ्च ब्राह्मणोऽहमिति ह्यान्त् खलु प्रवृत्तिः । तस्य ब्रह्मणत्वाः ध्यासचिद्याद्ये कर्मायायागात् । किञ्च ब्रह्मणाद्याच्यासचित्रवाह्यस्त्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाह्मणात्रवाहम्यस्त्रवाहम्यस्त्रवाहम्यस्त्रवाह्मणात्रवाहम्यस्त्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहमणात्रवाहम

'इन्द्रियाणि पराण्याहरथेभ्यश्च परं मनः। मनसस्त परा वृद्धियों बुद्धेः परतस्त सः' इति क्लोके माध्वव्याख्यानम्, 'सर्विमदं देवतापरम् : इन्द्रियदेवताः यास्सन्ति तदपेक्षया मनोभिमानी रद्रः परः । ततो वद्भविमानिनी सरस्वती । ततो ब्रह्मा नहान आत्मा । ततो ऽन्यक्तरूपा लक्ष्मीः। ततो विष्णुः' इत्येवंरूपं निरस्य यथाशांकरं कठवल्लीमनुस्त्य स इति परमातम्परमित्याह प्रथमः। असम्द्राप्यं नास्प्रात् । कठवछीवेरूप्यात् प्रकृतत्त्राच कामस्यैव स इति ब्राह्मत्वम्पपादितमेव चन्द्रिकायां विस्तरेण । अप्रकृतस्य तत्पदेन परामर्शक्च न स्वरसः । भास्करभाष्येऽपि कामपर-त्वमेव दक्षितम् । द्वितीयस्तु कठवर्ष्टाविरोधादेवं न भवतीति दृषितमेव पुनर्गृह्वाति । तव-त्यानामर्थमहद्वयक्तानामनानुक्तया व तत्यत्यभिन्नेति शंकायाम्—महत्त्तरं ब्रह्मसूत्रभाग्ये प्रत्याख्यात-मिति प्रत्याह । स्वभाष्ये प्रत्याख्यानप्रातेण कथं तदसिद्धिः । न हि सांख्यगात्रोक्तं ततः ध्रितस्मृति-सिद्धत्वात । कठवल्यामपि महत्पदेन कस्य श्रहणमित्यपि विचारणीयमस्ति । वृद्धिमहतोरेकत्वं तद्भाष्येप्रमिति वदतः कठब्हीविरोघः कथं परिह्नियते । अथ, 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्टानमु-च्यते । एतैर्विमोहयत्थेपः' इति चतुर्भिमीहतीयत्थं देहिन उक्तमिति चन्द्रिकोक्तमयुक्तम्, इन्द्रियादेः केवलमधिष्टानत्वात् कामस्यैव मोहकत्वादित्याह । सर्विमिः किमप्युक्त्या खण्डितमिति वहि:प्रकृष्टनाय संरम्भमातम् । शरसहायेश रामेण रावणो हत इत्युक्त्या रामस्य शरस्य च तुल्यवल्यं नापद्यते । अधिष्टानानामपि मोहनुकारकत्वात तत्सहितेन कामेन मोहनीयो देहीत्यथे दोषाभावात । अत ईदरादृषणवचनानां परिहरणप्रवृत्तिरमपेक्षितेति नात विस्तृणाम इति विद्वांसो विदांकवेन्त् । स्वतस्थापनौपयिकं वाक्यं तत्तदुपन्यस्यनानं किपप्यस्ति चेत् , तदेव विचार्षम् । अन्यत यःकश्चिदधोऽस्त ; कि तत विशेषत आग्रहेण । अत एयान्ते उक्त तात्पर्यत्रन्द्रिकायाम्-, "एवमन्येष्विप भूतेषु भविष्यत्सु च श्रीमद्गीताभाष्येषु भगवधामुताचार्यभाष्यकारस्तानुसारेण दिङमोहः प्रशामयितव्यः ; श्चद्रस्खलितेषु अदृर्श्विप्रकृष्टयोजनान्तरेषु चोदासितव्यम्'' इति ।

उत परमास्या । त्राचः ; विवस्वरृद्धिकं प्रति उपदेषुः तत्तस्यदिव्यपुरुपस्यायोगात् । मान्यः, पर-मात्मसः कमेवस्यमनुष्यजन्माचयोगादिति । मिथ्यात्वसत्यत्यविचारस्तु अशब्दार्थः । अतो धिगोतत् अमङ्गत्यनशब्दार्थव्यास्यामम् —इति ।

अतोच्यते । अभिकोऽण्ययं शांकरप्रन्यं यथावदगृहीत्वा स्वाभिमतमेव तत्रस्वतया वहत्र मन्यते । तथा च "भगवत्पादभाष्यनिष्कर्परूपो यथोक एव प्रश्नन्त्रोकार्थः" इति यदत्न लिखितम् . तद्वधि-कृत्येव, तदीयं, ''धिगेतइसंगल्य प्रशन्दार्थाव्यास्यानम'' इति वाक्यं पठनीयम् । तथाहि शांहरोक्त-विवरणरूपमेवासम्हाप्यं प्रथमांशे । अन्हे तद्धाप्योक्तांशस्त्र निरस्यते वा. तस्याप्यक्षेत्र तान्पर्यमिति व्युत्पादते वेति यथारचि बाह्मम्। वयं तु तद्व्युत्पादनपक्षं रोचयायहे। यदुक्तमनेनार्जुनस्य पर्व श्रीकृष्णे परमात्मत्वनिश्चयो नास्तीति, भगवन्नामभिरेव संबोधयत्वर्जने कथमस्यैवं विवरीतग्रह इह ? तिक्ररासे युक्तयः शताधिकाः सन्तीत्यास्तां तावत् , तदीयशांकरिकद्विमत्येतावदलिम-दानीम् । तत्र हि, "भगवता विश्वतिपिद्धमिदमुक्तमिति मा भूत् कस्पचित् वुद्धिरिति तत्परिहारार्थं चोद्यमिव कुर्वन् अज्ञन उवाच" इत्यवतारिका। व्याख्यातञ्च तदीयैः, इवशव्दादर्जनः कृष्णं प्रमेश्वरं वेदैवेति सुच्यते" इति । उपरि च भाष्यम् , "या वासुदेवे अनीश्वरासर्वेज्ञाशंका मुखीणां तां परि-हरन भगवानवान, यदथों हार्जनस्य प्रशः" इति। ततापि तदीयै व्याख्यातम्, "जानतैवार्जनेन सर्व-प्रत्यायनार्थ-श्रीकृष्णं भगवन्तं संबे मुर्खा अपि जानीयरिति वदध्या-अर्जुनेन पृष्टवादस्यार्थस्य" इति। पत्रञ्ज यक्तिञ्चिनमहापुरुषत्वभ्रमोऽर्जनस्येति पत्रहचनं स्वभाष्यात्यन्तविरुद्धम्। 'प्वमेतद्यथात्य त्वम्' इति विश्वरूपदरानात् प्रागेत्र विकापितत्रति विजये कथमेवं मोख्यमयमारोपयति । तदुक्तप्रश्च-वाक्यार्थश्च न घटते, आदित्यादीन् प्रति उपदेष्टः कथं केवलमहापुरुपत्वमिति कोऽयं प्रश्नः। परमेश्वर-भिन्नयत्किञ्चित्महाप्रचपत्वेऽपि आदित्याद्यपेक्षया तदातनातिशयक्षातेणोपदेषृत्वसंभवात । प्रजापतेः इन्द्रविरोचनोपदेष्ट्रनाया उपनिपद्कत्वात । लोके गृहणां सजातीयत्वेऽपि शिष्यातिशायिमहा-पुरुपत्वमातेणोपदेशकत्वसंविविषक्तश्च । उत्कृष्टा देवाः परमात्मभिन्ना एव निकृष्टानां देवानामप-उ देष्टारः श्रमःणसिद्धा वहवः। यदुक्तं परमात्मत्वे कमिधीनमनुष्यदेहादिशाप्तिः कथमिति । तहिन-यसम्बाप्यप्रशार्थे आयातीति नात्र विशेषतो बैलक्षण्यम् ।

54 भूमिका

भासिकत्यसाधकत्यासंभवात् । प्रत्युत अर्जुनादिजनमनामिव प्रकृतिमूलवुण्यपापसापेक्षेश्वरेच्छा-जन्यत्वं तास्ति, आत्ममायास्यं पुण्यपापनिरपेक्षं संकरमातमवतारे कारणम् । अत एव इच्छा-गृहीताभिमतोरुदेह इत्यच्यते । ऐन्द्रजालिकवत् प्रातिभासिकमिति भवद्भाष्यकारेणानकतया तथा व्याख्यानं निरस्तीयम्। तथासति व्यावहारिकपातिमासिकयोमिथस्संव्यवहारायोगेन श्रीकृष्णमत्यी मिथ्याभनया सत्यस्य कंसादेवेधः पोड्यास्त्रीसहस्रादिविवाहविहारसंतत्यादिकं सर्वं करानापातं स्यात् । कंसादीनां पश्चादनुवृत्तिरिप स्थिता स्यात् । 'न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः', 'न तस्य प्राकृता मर्तिमीसमेटोस्थिसंभवां इति स्थिताया मतेरितरवैलक्षण्यमेवोज्यते. न त मर्त्यभावः। जन्म कर्म च मे दिव्यमिति दिव्यत्वेनोत्कपं कथ्यमाने, विश्वरूपाध्याये च माल्यभूषणायधादीनां दिन्यत्वे भयःकथ्यमाने को हि मिथ्यात्वेनामावं साधयेत । अत एव शांकरेऽपि तत्नाप्राकृतमित्येव व्याख्यातम् । यदि अप्राकृतत्वं प्रकृतिविलक्षणज्ञानानन्द्रमयशुद्धस्त्वद्भव्यमयत्वरूपं विशिष्टःहैतिमतं शांकरत्रन्थेप्रमिति नेप्यते, कामं मा भूत्। अथापि एकैय माया ऐश्वरांशोपयुक्ता जैवांशोपयुक्तत्यंश-भेडवती. त्रिगणमाया जैवोपयोगिनी दस्यमानदेहादिहेतः। ऐश्वरांशोपयोगिनी मांसमेदोस्यादि-धातमयपाञ्चभौतिकशरीरविलक्षण-तत्तद्यासकापेक्षितांशमावशालिन्यावहारिकदिव्यमंगलविग्रह -रूपेण परिणम्य तस्योपयुज्यत इति सेषा स्वमाययेत्युच्यत इत्यस्त । सर्वथा न प्रातिभासिकत्वम । अन्यथा मिध्याभृतया मृत्यी सारध्यगीतोपदेशादयोऽपि मिध्या स्यः। ऐध्वररूपमर्जुनदिदृक्षितम्-सत्यमिति वकतः कथं जिह्ना न जिह्नेति। योगादिमहिमशालिनां जीवानां भूमौ निम्नजनोन्मजनादिकं देवानां प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वादि च संभावितं व्यावहारिकम्, भगवतस्त अलौकिकं विचित्रमसंभा-चित्रत्वान्मिथ्येति कथमच्येत । मुर्तीनामपछ।पे मुर्तिप्रतिष्ठाशास्त्रादीनामप्यप्रामाण्यात भारतरामा-यणादिवर्णितेतिवृत्तानां परदेवतामृतीनाश्च प्रातिभासिकतैव स्थात् । देवतापछापिमीमांसकसोदर-तैबाद्वैतिज्ञां स्यात । अतः आचार्यकृतं पीठस्थापनादिकं प्रातिभासिकमेव स्यात । वैद्यम्पीच न स्व-प्तादिववत् इति सूत्रोक्तविधया च अवाधितानां कृष्णजन्मलीलादीनां व्यावहारिकसत्यत्वं दुरपह्नवम् ।

कर्त्ताह्र शांकरवाक्यार्थ इति चेत्—'संभवामि—देहवानिव जात इव' इत्यस्य कर्माधीनदेह-वानिव कर्माधीनज्ञन्मेत्र लौकिकबुद्धवा भवामि । न परमार्थतो लोकवत्-लोके संबंघां जन्म यादश-कारणाधीनं न तादशकारणाधीनम्, किन्तु कर्मनिरपेक्षात्ममत्याधीनम् । तथा लौकिकदेहवत् मां-समेदोस्थिमयत्वं न पारमार्थिकम् । उत्पन्नाया अपि मूर्तेस्तदंशे परं प्रातिभासिकत्वम्, तस्य कर्मा-धीनत्वात् , अप्राष्टते प्राष्ट्रतांशासंभवादित्यर्थः ।

यत्तुं यावद्य्यहारमर्जुनादिशरीरवत् वर्तमानस्यापि कृष्णविग्रहस्य तदा तदः भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यमानत्वात् मिथ्यात्वमिति-तन्नः हनुमदादेरपि अणिममहिमादिकं सर्वं तिहैं प्रातिभासिकं स्यादिति । 'जन्म कमें च में दिव्यमेवं या वेचि तत्त्रतः' इति सर्वस्य तात्त्विकत्वं मोश्रहेतुःचञ्चाच्युक्तम् । एवं प्रतिस्लोकमवतारतत्कार्यसङ्गावस्थापनपरत्वस्य स्पष्टमवगमादेव सत्यत्वासत्यत्वाज्ञह्वासस्याऽर्जुनमश्र इति भाष्ये उक्तम् । एतत्पक्षे तु अवरजन्मवता कथं विवस्तते उपिदृष्टमिति प्रश्ने, मम जन्म पृथैमपि नास्तीत् । पत्त्वाद्वीत प्रत्युत्तरयता साधु स्वस्योपदेष्टृन्वं स्थापितं स्यात् । अतो योगिनां कतिययजन्मस्याणं योगवलात्, यम तु सभावत एव सर्वजन्म-तत्त्वदृत्तादिसर्वविषयकसहज्जनत्वश्रमिति वैद्यस्यपुत्रकस्य कर्मजन्यदेहादेति विष्ठष्टस्सरणादिसहज्ज्ञाकिवाधकत्वं स्वद्वियम्मात्वित्रष्टे त्यात्वावाम् कर्मजन्यदेहादेति विषक्षप्रसरणादिसहज्ज्ञाकिवाधकत्वं स्वद्वियम्मात्वित्रष्टे त्यात्वाम् । सर्वास्यत्वाम् । तथासित पूर्वोक्तप्रकानिकामि । तथासित पूर्वोक्तप्रकामित । स्वर्था प्रथमेनोक्तपन्नित्वाम् । तथासित पूर्वोक्तप्रकामित सिद्धम् ।

डितीयम्तु तुर्च्छेतुर्च्छमित्यायुक्तिमात्रेण तृप्तः प्रतप्रक्रियामेयाज्ञातन् सम्बद्धातन्दे तिष्क्रेष्ठे व्रक्षणि रूपादिमिडियहस्तद्धायः दृश्यन्त्रेन प्रशदिवन्तिरयोति कित्रपादः। नेदं प्रातिभानिकत्यं स्थापयेत्। अतो भगवडियहादिकं लोकवन् संन्यारद्शायां शास्त्रसंभगाशे यथाय्य्वाधिनमेवा-वतिष्ठत इति अवतारतस्वापलापो न युक्त इति।

यद्त्व हितीयेनावतारानुवन्धिन विषये सप्तमे, 'अध्यक्तं व्यक्तिआपन्नमः' इति स्रोके विस्तृतम् , तदःयतिदःस्थमित्यविदयामः । तथा हि—अत्नायं लिखति, 'सर्वेश्वरो विणुरजहत्स्व-खमाय एव वसदेवसन्रवतीर्ण इति मसैवं परं भावमञाननाः, प्राक्तनराजसन्तसमानम् इतः-पूर्वमनभिन्यक्तमिदानीं कर्मवशाजनमविशेषं प्राप्य व्यक्तिमापत्रं मागबुद्धयो मन्यन्ते' इति रामा-नुजीयं भाष्यम्युक्तम् , कर्मवशादिति पदाभावात् । तर्हि कः स्रोकार्थ इति चेत्− शृद्धपरमात्मैशह-मित्यविदित्वा वैकुण्ठादिगतविष्ण्यादिः कृष्णरूपेणावतीर्णं इति मृढा अतस्यविदो जातन्ति, अवतारस्य मिथ्यात्वं प्रातिभासिकत्वं हि ज्ञातव्यमिति । अत भागवतगवतविष्यं प्रताणीकुरुते । अतेरुमुच्यते । शांकरभाष्यं ताबद्रत्न अवतारमिध्यात्वसाधकतया नोपळभ्यते । अत एव यद् रामानुजीयं भाष्य-मनेन दृष्यते, तदेवाऽऽदस्य तहदेव कर्मग्रशादिति पदमिष प्रयुज्य प्रथमस्थेयं व्यास्यातुः पङ्किः, "इतः पूर्वमनभिव्यक्तविदानीं कर्मवशाद् वसुदेवगृष्टे जन्मविशेषं प्राप्य व्यक्तिनापन्नं माम् इतरजीवसाधारणं जना मन्यन्ते" इति । समरसं योज्यानामपि ग्रन्थातां विरसार्थवर्णनेन वैराभिवर्धनमेवैतदृद्यास्यानफलम् । किञ्चदं प्रकरणं न ग्रुद्धस्क्रपोपदेशपरम् । इतःपूर्वस्मिन् यो यो यां यामिति रहोके हि शांकरभाष्यम्, "परमेश्वरेण सर्वझेन कर्मफलविभागञ्जतया विहितान कामान लभते'' इति । खस्य परमेश्वरत्वं सर्वेज्ञत्वं सर्वेफलप्रदत्वञ्च भगवान् आहेति वदताऽनेन भाष्येणात निर्मुणं ब्रह्म कथ्यत इति न वक्तुं शक्यते । अनन्तरे च, "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामिष" इति स्ठोके इन्द्रादिदेवतान्तरयाज्यपेक्षया 'चनविधा भजन्ते माम्' इति प्रागुक्तरीत्या सगुणब्रह्मोपासकस्य फळातिशयप्राप्तिवैर्ण्यत इत्येव शांकरमाप्यानुसारिणा प्रथमेनापि व्याख्यातम् । एवमेतत्पूर्वश्रोक इव एतदुत्तरश्रोकेऽपि 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' इत्यत्न शांकरमाप्ये. योगमायासमावृतं मां छोको नाभिजानाति, नासौ योगमाया सदीया सती ममेश्वरस्य मायाविनो ज्ञानं प्रतिवध्नाति, यथाऽन्यस्यापि मायाविनो माया, तद्वत्" इति सर्वज्ञं सगुणमेवोपक्षित्योत्तरेण, "वेदाहं समतीतानि वर्तेनानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन" इति न्होंकेनैकवाक्यता रक्षिता। न त निर्मुणपरत्वेन पूर्वीपरासंगतेरवकाशो दत्तः। अत योगमाया नाम गुणयोगरूपमायेत्युक्तं शांकरे । सत्त्वरजस्तमोगुणयोगरूपेत्यथोऽप्यत्न मन्येत । प्रथमस्त संकरारूपमायेति निर्विचिकित्समाह । अत्राव्यक्तराव्दाद्यर्थवर्णनकुसृतिरस्य द्वितीयस्य यथा-तथा भवत । अकाष्डे रामानुजीयखण्डनं त्वाग्रहमेव दर्शयति । 'भगवान् विष्णुलोकादवतीर्णः कृष्णरूपेण भक्तानुग्रहार्थ दुष्टशिक्षणार्थञ्च' इति वदन्तस्तावत् अविद्वांसः-आत्वानारनिववेकशून्या इति लिखन्नयं व्यासवास्मीकिप्रभृतीनेव, परित्नाणाय साधृनां विनाशाय च दुःकृताम्", "स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः। अर्थितो मानुषे छोके जज्ञे विण्णुः समातनः", "सीता लक्ष्मीभेवान् विष्णुः", तवद्भुतं वालकमम्बुजेक्षणम्" इत्यादिकमुपदिशतो निर्भीकं दृपयति। ननु तेन श्रीमागवतवचनमुपरि प्रदर्शितमस्ति, तद्विरोधः कथमसम्मने परिहार्य इति चेत-उच्यते। इमें खल ते स्रोकाः विदुर्भेतेयसंवादे तृतीयस्कन्धे, पष्टेऽध्याये,

''ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मःत्रस्याविकःरिणः । डीड्या वाऽपि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः॥ 56 भूमिका

जीडायामयमो अस्य कामश्चिकीडिपा उन्यतः । स्वतस्त्रसम्य च कथं निवृत्तस्य सदा स्वतः ॥ असाक्षीत भगवार विश्वं गुणमच्या ऽऽत्ममायया । तथा संस्थापयत्येतत भयः प्रत्यपिधास्यति ॥ देशतः काळतो योऽसी अवस्थातः खतोऽन्यतः । अविल्ह्यावबोधात्मा संयुज्येताजया कथम् ॥ भगवानेक एवेप सर्वक्षेत्रेप्यवस्थितः । अमुख्य दुर्भगत्वं वा क्रेशो वा कर्मिक्षः कृतः ॥ एतस्मिन में मनो विद्वन खिद्यतेऽज्ञानसंकटे । तस्मे पराणः विभो कश्मलं मानसं महल ॥ स इत्थं चोदितः क्षता नद्विजिद्यासुना मनिः। प्रत्यहं भगवचित्तः सायन्निवं गतसायः ॥ सेयं भगवतो माया यस्रयेन विरुध्यते । ईश्वरस्य विमक्तस्य कार्पण्यमत वन्धनम् ॥ यथाऽधेन विना पंसी मुपैवाऽऽत्मविवयंयः । . प्रतीयत उपद्रपद्र: स्वशिरक्छेदनादिना ॥ यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तः इतो गुणः । दश्यते सम्नपि द्रष्ट्ररात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥" इति ।

अतेदं वक्तव्यम्-अवतारादिकं प्रातिभासिकं व्यावहारिकसत्त्वयाऽपि शून्यमिति अस्य प्रकृ-तम . तहेदं वचनजातमीपदिप साधकं न दृश्यते । अह हि भगवतो जगत्सप्रश्चादिविषये कथन्ता. न त्ववतारविषये । तसार्संगतमेतत् । स्यादेतत् ; जगन्मिश्यात्वं ब्रह्मणश्चिन्मात्नसत्यत्वं चात्न प्रतीयत इत्यद्वैतमात्रतात्पर्येण परमतनिरासायोपात्तमस्विति चेत् —अद्वैतमतप्रक्रियामनुसूत्य यथेषामर्थो वर्ण्यते, तथाऽस्मद्रीत्याऽप्यर्थस्ततोऽप्युचिततरतयाऽपि वर्ण्यतैवेति किमनेन । तथा हि—अत्नो-पक्रमे भगवच्छव्यप्रयोगः इतः । स च बातराक्तिवर्छेभ्वर्यवीर्यतेजांस्यरोपतः । भगवच्छव्दवाच्यानि विना हेयेर्गुणादिभिः'' इति श्रीविष्णुपुराणे सर्वेकल्याणगुणाख्यपर इति निर्विशेषब्रह्मग्रहणम्यक्तम । एवञ्च चिन्नातस्येति पदम्, "एवमण्युपन्थासात् पूर्वभावाद्विरोधं वादरायणः", "प्रकाशवचा-धैशेष्यम् " इत्यादिवसस्त्रानुरोधेन सैन्धःखिल्पस्य कात्स्न्येन लवणत्ववत् परमात्मस्यस्यस्य कात्स्त्येन ज्ञानकपत्वमावपरम्, न तु तिन्नष्टगुणान्तरिनषेधकमिति तद्गि न वाधकम्। अविकारित्वे त परिणामाभावोऽसाभिरपीष्यते। एवञ्च निर्गुणस्येति पूर्वोक्तविष्णुपराणवचनवलादेव हेय-गुणानां सत्त्वरजस्तमसाञ्च तताभावपरिमति सिद्धम् । एवं लीलयाऽपीति पदं सगुणस्य ब्रह्मणोऽपि स्रष्ट्रवं "न, प्रयोजनवस्वात्" इति स्रुवेणाऽऽक्षिप्य, 'लोकवत्तु लीलाकैवस्यम्" इति यः समाधि-र्विहितः, तदुपर्यपि आक्षेपपरतामस्य वाक्यस्य दर्शयतीति सविशेषपरमेवेदम् , यदि, 'निर्विशेषे कथं सर्गादिक्यापारः॥ अजासंवन्धादिति चेत्-तत्संवन्ध एव तत्न कथम्' इति प्रश्लापत्वं स्यात् , 'सेयं भगवतो माया' इति वाक्यं तदुत्तरतां न प्रतिपद्यते । तस्य भगवत्पदार्थत्वाभावात्, मायासंबन्धः कथमिति प्रश्ने मायासंबन्धादिति समाधानस्याघटमानत्वाच । अजा मायात्वात् संवन्धुं प्रभवतीति चेत-अनिर्मोक्ष एव । खयं मतोपपादनासमर्थैर्मायायामनुष्यन्नतैकवेषतामारोष्य, सर्वे समाहितमिति मिथ्येव मन्यते । तद्त्र वक्तव्यार्थः सर्वोऽपि श्रीभाष्ये, ंनिर्गुणस्याप्रमेयस्य शृद्धस्याप्यमलात्मनः ।

कथं सर्गीदिक्तंत्वम्" इति श्रीविष्णुपूराणवास्तवार्थभाषणेन यथावदभाषित एवेति न विशेषतो वक्तव्यमस्ति । तदेवात प्रकृतार्हे संगृह्यते - लोके सविकारस्यैवोपादानत्वात् सत्वादिगुणाधीन-प्रयोजनापेक्षावत एव च पुरुपस्य निमित्तकारणत्वात उभयविद्यक्षणस्य ब्रह्मणः पूर्णकल्याणगणस्य निखिलहेयप्रत्यनीकस्य निमित्तोपादानता कथम । लीलाप्रवृत्ता वालका अपि किमीप तदधीनं सखं वाञ्छन्त्येवेति नित्यतप्रस्यावाप्तसमस्तकामस्य कथं कीडोद्यमोऽपि । अथ स्वयं निविकार-त्वेऽपि स्विकाराजारूपप्रकृतिविशिष्ट एवास्त्राक्षीदिति विशेषणे विकारान्त्रयः । सा च गणमयी आत्ममाया अनन्तजीवात्मसंमिश्रेवेति तेषां भोग एव स्रष्टिफलमिति चेत –अजासंबन्ध एव तस्य न घटते । अजायाः जीवेषु दःखादिहेत्त्वदर्शनात् ईश्वरेऽपि तदापत्तेः । अथ विपरीतकमीन्ष्राना-देव पापं क्षेत्राश्च भवतः : भगवति तादशकर्माभावान्न दोप इति चेत्-तन्न : कर्मापि शरीर-संवन्धं जनिवत्वैव हि दःखादिहेतर्भवति । अयञ्च भगवान एक एउ सर्वेक्षेत्रेष्ववस्थितः खयमेवेति अस्य क्वेशसंपत्तये न कर्म प्रतीक्ष्यम् : कर्मकार्यस्य क्षेत्रसंपन्धस्य जातत्वात् । पुयशोणितादिमजानं हि स्वतः कृतमप्यपुरुवार्थे एव । "न हवै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययो-रपहतिरिक्ति" इति च श्रुति:। प्रत्युत जीव एकैक एकैकिस्मिन् क्षेत्रेऽस्ति, अयं तु सर्वक्षेत्रेषु। अतो विश्वं देह: प्रभोश्चेत् स कथमतिपतेत् विश्वद:खानुभृतिम् इति प्रश्नसार: । समाधिस्त-सेयं भगवतो मायेति । भगवत्वविरोधात् दुःखादिकं न शंक्यम् । मायेत्वनेन अनुपपन्नतैकवेषा माया मिथ्याभृतोच्यत इति न मन्तन्यम् । अद्भुतकार्यकरणशक्तिरेवात मायाशन्दार्थः । तदैव, 'शक्तयः स्वीभावानाम्' इत्यारभ्य, "सगीया भावशक्तयः" इति पराशरपरमर्षिवचनैकरस्यमस्य तत्पुत्रपौत्रवचनस्य । 'यन्नयेन विरुध्यते' इत्यत नेति येनेति च पृथक्पदं कृत्वा, येन हेतुना विरुध्यते, तेन हेतना ईश्वरस्य कार्पण्यादिदोषो नेत्यर्थ इप्यतामः यदिति शक्तिसद्भावादित्यर्थकम्। यद्वा यन्नयेन, यादशशक्तिवलेन ईश्वरे कार्पण्यादिकं विरुध्यत इति वर्ण्यताम् । शक्तिवशात् दोप-प्रतिबन्ध इत्यक्तं भवति। इदं सर्वं विस्तरेण श्रीभाष्ये, "न स्थानतोऽपि परस्योभयितक्तं सर्वेत हि" इत्यत्र भाषितप्रायम् । विमुक्तस्य वन्धनमिति पृथक्कियते चेत्-यथा मुक्तस्य वन्धनं विरुध्यते तथेति दृष्टन्तार्थम् । ईरवरविरोपणत्वे त विमुक्तस्येत्यस्य सर्वदोपविमुक्तस्येत्यर्थः ।

अथ 'यथाऽथेंन' इत्यादेर्थ उच्यते-एवं सत्यि निर्झेष्टि, केचित् आत्मनो भगवतः सर्वान्तरात्मत्वादेवानात्मगुणान्—तिङ्क् बस्तुगतान् धर्मान् तत्वाऽऽरोपयन्ति, तिद्दं खप्ने खिद्यर- स्केदाभावेऽिष शिरस्केदो जात इति अमनुत्यम् । अथ वा खाप्नवस्तुसत्यत्वपक्षे तद्नयथा स्यात् । अतो जलगतकम्पादेश्वन्दे आरोपवदिति वृषः । एतच वचनमस्य द्वितीयव्याख्यातु निन्दने पर्यवस्यति । अयं हि अतिधृष्टमेवमाह, "देत्वहनार्थं सुगोभिर्या हत्वा तेन, 'अहमिव त्वमिप भार्यावियोगमनुभव' इति दत्तवापस्सन् विष्णुः तच्छापनिवर्षणार्थं तत्पापक्षयार्थश्च श्रीरामक्ष्रपणावतीर्यं स्तावियोगमनुभव हि । तथा रामावतारे निगृहस्तन् वालिनं हत्वा तत्पापफलभूतं किरात-शरतावनस्तं शरीरिवर्यागं स्लावियोगमनुभव हि । तथा रामावतारे निगृहस्तन् वालिनं हत्वा तत्पापफलभूतं किरात-शरतावनस्तं शरीरिवर्यागं स्लावतारेऽनुवस्त्र हि । एवम्भूतस्य कथमकर्मयरवश्वम्य' इत्यादि । सिद्धान्तलेशसंग्रहे, सीतावियोगादिकं नित्यश्रीकस्य भगवतः केवलमभिनय इत्युक्तमप्यदि- स्तितः । अयं तु कर्मवस्यत्वमेवाह । पूर्वं सर्वं प्रातिभासिकमित्युक्तवान् अयं साधुपरिबाणदुक्तिः नाशनादेः प्रातिभासिकःवेपि भगवतो दुःखानुभवो व्यावहारिकसत्य एवेति विवक्षतीव । पयम्भूत-भ्रमस्यैव चन्द्रे जलकम्यवत्वस्त्रमनुत्यत्वमत्र श्रीमागवते भण्यते । अथ मैत्रेयः सर्वशक्तौ भगवति इदं कथं, तत् कथमित्वादि प्रक्तं सर्वविध्यात्वश्रमञ्च परित्यस्य ये निवृत्तिधमेण यथावत् भक्ता

भवन्ति, तेषां देहात्मभ्रमस्वतःबात्मभ्रमजीवव्यक्षेक्यभ्रमाः वासुदेवानुकस्या व्यपयन्ति इत्यादि वद्ति । हेन पूर्वेवाक्यस्यार्थान्तरात्यवगम्बते । तत् तःवत्-धात्मनो जीवस्य धनात्यदेहः दिगुणारोपः देहगतशिरास्क्षेदस्य सन्द्वेद्दश्यवत्यस्यः, जलगतस्य कम्पस्य चन्द्रगतत्वभ्रमगुहयश्च । एवमादे-सितोधानं भगवदनुकम्पयेत्येवम् ।

एवपस्य भागवतवचनजातस्य निर्विशेषब्रह्मजान्त्रिथ्यात्वपरत्यमेय नास्ति, नतरामवतार-प्रातिभासिकत्वपरत्वम् । अवताराणां सत्यत्वस्याननार्थमेव महर्षिभः प्रयत्वते । अशिवानाङ्गीत-नस्तु जगत इव व्यायहारिकस्त्यत्यनपि न सहन्ते । अहो महतीयं भक्तिरेपःमित्यलमीदश-नास्तिकप्रस्थविषश्चीयप्रदेण॥

अष्टमे, 'अक्षरं ब्रह्म उत्तमं स्वभावोऽध्यात्ममुख्यते' इत्यत्न परमब्रह्माव्यस्यात् अक्षरं परमात्मैव: समावशब्दस्य प्रवृतिपत्येऽपि मूल्प्रकृत्त्यर्थकत्यं न भवति । अतो जीवस्य वास्तव-स्वरूपं तद्यं इत्याद् । तद्विप त्र । अत्र ष्रेष्ट्र चतुविधा भजनते इत्युःक्ष्यस्यात् वावयशैष्या-दिता चानेकोपासनपरत्वमेत्र, अन्यथा पौत्रठक्तवामिति तात्पर्यचन्द्रिकासामेत्र प्रपश्चितत्वात्, अव्यक्ताक्षरश्चरश्चस्य भगवद्गिरिक एबाऽऽत्त्रिन गीतायां प्रयोगास्त जीवस्य प्राह्यत्वं सिद्धम् । न स्रत अक्षरोहेकोन ब्रह्मत्वविधानम्, किंतु किं ब्रह्मति प्रकात् ब्रह्मशब्द एरमाक्षरपर इत्युच्यते । प्रसिद्धब्रह्मव्यतिरिक्तत्वादेव व्याष्यातःपेक्षा । स्वभावशब्दस्य, भवतेव अध्यात्मशब्दस्य देहस्तंवन्धविशायज्ञीवर्यत्वात्, 'स्वनाव्यमदेर्युणैः', 'कर्म स्वभावजम्' इत्यदिगीतावाक्य इव जीवद्वस्थात्मसंवन्धिवर्मपरत्वात् प्रकृतिसंवन्धक्षार्थार्यवस्तां स्वभावजम्' इत्यदिगीतावाक्य इव जीवद्वस्थात्मसंवन्धिवर्मपरत्वात् प्रकृतिसंवन्धक्षार्थार्यवस्तां सम्यण् भवत्यवेत्रस्यक्षम् ।

दशमेऽध्याये अस्पदुपगायमानं जगद्रहाणोः शरीरात्यमानं शरीरात्यमानं शरीरात्यमानं शरीरित्यपर्यन्तवाचित्वञ्चासृष्यमाणाविमौ अस्पदुगपादनप्रणातिमविञ्चायैव यत्किमपि विस्तीर्य आत्मानौ कृतकृत्यौ मन्येते इति किं तद्व्यर्थयादविमशेन ।

अथ त्रयोदशाध्यायवचनं विचारयामः । इदं क्षेत्रज्ञापि मां विद्धि इति वाक्यभूपि शरीर-शरीरिभावादेरप्रतिषेध्यत्वादेव न जीवव्रह्मैक्यं साधयिष्यति । आमुलाग्रःविजयाद्वैतिभिरैक्य-स्थापनायोपादेयमिदमेकमेवात वःक्यम् । उपदेशारम्म एव नत्वेवाहमित्यादिना भेदेनोपकयः। सप्तमे चैदम्पर्येण महामृताद्यारप्रकृतिवत जीवरूपपरप्रकृतेरपि स्वसाङ्गेद एव सुव्यक्तमुक्तः। स्ते मणिगणा इवेति चेतनाचेतनयोः सस्मिन् प्रोतत्वं सस्य सर्वाध्यक्षत्वञ्च स्यप्रमुक्तम् । 'मत्तः स्मृतिक्षीन प्रपोहनञ्ज', 'पश्याद्य सचराचरं मम देहे गुडाकेश' इत्येवं भेदन स्पस्यता भगवता कथञ्च जीवैक्यमत कथ्येत । न च क्षेत्रकराच्यो जीवे रूढः; 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहु: क्षेत्रक इति' इति योगव्युत्पत्तरेव दर्शमानत्वात् । प्रसक्तं जीवमे । गृहीत्वा प्रामाणिकं शब्दतः सुखेन सम्बन्ध जीवान्तर्यामित्वं भगवति प्रकृतववनप्रति । यं यदि न खार्सं मन्यते, तर्हि क्षेत्रज्ञराच्दोऽयं-पामिप क्षेत्रज्ञं विद्धीति, खस्य सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रीयसर्वौद्यविपयकज्ञानपौक्कस्यपरतयेत्र पूर्वीपरावाधेन योगराक्तया चरितार्थ इति न जीवैक्यं वाधितं प्रतिगद्यिष्यतीति निश्वीयताम् । "शरीरशरीरि-भावस्य प्रत्मेत्र निरस्तत्वात्" इति लेखनं तु, 'दशमाध्याये तदुक्तं सर्वे यथावन्त्रतमर्मज्ञानविरहात् अनाय सिनरस्यमेव । "तदनन्यत्वपारम्मणशब्दादिभ्यः" इत्यतः "अनन्यत्वमिति भेदं व्यासेधामः, न त्यमेदं वृतः" इति वाचस्पतिकुसृष्टिः प्राच्यैरेव पराकृतेति किं तेन । सदेवेरम् , तर्यमसीति अमेदे कथ्यमाने, अमेदं न ब्रम इति कथं बदेत् । न हि सुत्ने तदन्यन्नास्तीति कथ्यते ; किंतु स्थितस्य जगतस्तदैक्यमे बोच्यते घटे मृदैक्यवत् , न तु रज्जसपैंक्यवत् । अवस्थामेदो धम्यैक्यञ्चेत्र श्रुत्यर्थः । न तु अवस्थानां जगतक्वाभावस्तदर्थ इति कि निरस्तपक्षनिरस्तनेन ।

एष ब्रह्मसत्तपदेश्चैवेत्यत शांकरमर्थं परित्यस्यासम्बाध्योक्तमेवाद्वियत । एवं तत्र नत्नोक्त-माद्रियत इत्यनिभाय स्वयमेय विम्नष्टमित्र विक्रियन तत्र तत्र स्वतनिष्णात वितः य-शीधर-प्रध-सदनसरस्रत्यादिव्यास्थानानि परमत्व्यास्थानमपि खण्डयन् माध्यव्यादनने नाती लुगुण्सामा-विकरोति, यदाह, "अथ वा नेदं त्यय्याइचर्यम् । माठरकौरव्यमाण्डव्यमालुवेयादिश्रर्ताः ब्रह्मतन्त्व-पुरुषोत्तमतन्त्रव्रह्मतकोदिस्मृतीश्च कचिदपि प्रसिद्धस्मृतीतिहासपुराणेष्यनाघातनानगन्धाः त्य-त्सयथ्यैः राजानुजादिभिः कचिवय्यनुदाहृताः करुपयतः विपयोद्यानव्याख्याव्यनकरुपनस्या-नाश्चर्यत्वात्", 'इति । इदञ्च त्रेगुण्यविषया वेदाः' इत्यत "विषयशस्त्रो मसतो वचनगरः। आपातार्थरत्रेगुण्यम् । परमार्थस्त भगवान् । वेदस्य सर्वस्य भगवत्परत्वात् । यथा वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत इत्यव वस्तीति वसः, तनोतीति ति:। प्रवेपदस्य नकारममः। वसन्ते इति भगवतः संबुद्धिः । आइरात् द्विवचनम् । जि आ ऊति इति पदमेळगत् ज्योतिः, जगत् ओतं यस्मिन् सः, पः—प्राणः : तादशेति संबुद्धिः। आ समन्तात् यजैः यज्यभिः इत प्राप्तेत्यपि संबुद्धिः । एवम्भूतो वास्तवार्थस्त् बाह्यः । आपाततस्त् त्रेगुण्याख्यं विषे यापयन्ति ज्ञापयन्तीति वा वेदास्त्रैगण्यविषयाः । निस्त्रैगण्यां भव । आपातार्थं त्रेगुण्यं मा गृह्णीयाः' इति । यावानर्थं उद्याने सर्वतः संप्तृतोदके इत्यत च. "सर्वतःसंप्रतोदकरावः प्रत्यपरः तत् उदयानो भगवान् उत्-उद्रिक्तः, अपः-रक्षकरहितः, अनः-रक्षकः" इति॥ अत्रोक्तः कृतिपयांशो मध्वगीतामाप्ये न। ननं माध्वत्यास्यानमन्द्योक्तम् । एवं 'सर्वगतस्याणुः' इत्यत्न, "सर्वगतस्यश्रासौ अणुश्चेति जीवपरः । सर्वगते विष्णौ जीवस्य स्थितत्वात्" इति। एवम् , 'कर्मण्यकर्म यः पर्यत्' इत्यत अः विष्णुः तत्संवन्धि कर्म अकमेति । एवं तत्र तत्रान्य निरस्यति । एतादशस्य सर्वस्य यक्तायकवित्रर्शनं माध्या एव. अन्ये वा विद्वांसः खयमेव कुर्युरिति अत दिक्षद्रीन नातेण तिष्टासामः।

प्रमाणवाक्यस्वरसार्थमेत्र प्रायस्त्रमादृत्य मतस्थिति ये। प्राहुर्विनाऽन्याभिनिवेशमार्थाः प्राज्ञास्त एवाऽऽस्तिकतत्तृज्ञा नः॥

पतावता द्वित्रकोकसंख्याधिक्यस्यातिवैषम्यानावहत्वात् गीतःकोकसंख्या सप्तश्तिति स्थितमेव सम्यगिति, गीतायामुक्ता भक्तिः उपनिषद्वादिष्टोयासनात्वकभक्तियोगक्षेवेति तस्या अचि-रादियागेण परमपदप्रापिकाया इहलोके तस्वक्षानोत्पादकत्वमद्वैतीष्टं दुवैविविति, कर्मभक्तिपृष्टं क्षानं मोक्षसाधनिति रीतिमुपेक्ष्य कर्मक्षाताङ्ककभक्तियोग एव तथेति श्रीमगवद्रामानुज्ञदर्शित एव गीतार्थः इति च सिद्धम्। एवंस्थिते श्रीवकुलभूपणदिःवस्ति श्रीमुखस्कपष्टदशवद्रशावाधाव्या-ख्याने ईडुप्रवन्धे कर्मयोग क्षानयोगयोमोंक्षहेतुत्वं साक्षादुक्तमित्र प्रतीयवानं कथे घटत इति चेत्—

60 भूमिका

प्रक्रियया तदक्तिरिति । अयमाराय:-भक्तिज्ञानकर्मस्र बिष्वपि सर्वसाधारणेषु सत्स्र तब भक्तेरेवो-पायत्वे अन्ययोरङ्क्षे च वक्तव्ये. यसात् जनकादिव्यक्तिभेदेन एकैकप्राधान्यं समृतिराह. तसादिय-भौपनिषदप्रक्रियातोऽन्या प्रक्रिया । प्रशंसापराणां पुराणादीनामुपनिषद्छंघनेनापि प्ररोचनार्थे प्रवृत्तिर्भवति । यथा प्रपत्तौ कतिपयाङ्गमात्रवचने । तच्छाययात्र तस्य तस्य मोक्षहेतत्ववर्णनिमिति । लोके कांश्चित कर्मयोगितः, कांश्चित् ज्ञानयोगितः, कांश्चित् भक्तियोगिनश्च दृष्टवा । तेषामिसंधिम-परीक्ष्य. इमे कर्मयोगज्ञानयोगौ प्रधानतया मन्त्रते इति तत्प्रशंखनाय कृतेयं करपना । अतएव मक्ति-योगवचने कर्मज्ञानपदाभ्यां भगवद्विषयककर्मज्ञानयोरेव ग्रहणं कृतम् . भक्तियोगिनि जीवविषयज्ञान-प्रयासस्य दुवैचत्वात्। एवञ्च सर्वेत्यागेन प्रपत्तेर्याह्यत्वस्थापनाय प्रशस्तानामपि एतदपेक्षया निकर्ष पवेति निरूपणार्थप्रविद्यमानोत्कर्णारोपमातम् ईडुप्रयन्धचिकीर्षितमिति कर्मज्ञानाङ्गकभत्त्रयेकोपाय-त्वमेवोपनिषदर्थो गीतार्थश्च प्रपत्तिप्रवृत्तपुरुषेतर्विषये। जनके कर्मप्रावण्यस्य, आदिभरते ज्ञान-प्रावण्यस्य, प्रह्लादे च भक्तिप्रावण्यस्य दर्शनात् तत्व तत्र तस्य तस्य प्राधान्यं तद्वचनप्रारोपयति । इदमत्र चिन्त्यम्-वचनमिदं तत्तत्प्राधान्यपरमास्ताम् । अथापि भक्तियोगनिष्ठेषु 'मनमना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्करः इत्यक्तभगवद्विषयकमनोवाक्कायव्यापारेष्वेव कस्य चिदाधिक्यदृष्ट्या, नमस्कारे मानसवाचिककायिकभेदवत त्रित्वमाकलयति, किं वा आत्मावलोकनार्थकर्मयोगञ्चानयोगग्रहणेनेति। तत्र जनकनामनिदेशात तस्य च कर्मकाण्डोक्तयज्ञप्रायण्यप्रसिद्धेः कर्मयोगग्रहणेनैव प्रशंसनमिति ब्याख्यातुराशयः । सर्वेत्र प्रशंसावाक्यानि अन्यपराणि विहाय परामार्थविप्रशे भक्तेरेव प्राधान्यं सेत्स्यतीति सिद्धम्। यदत्रैषामहङ्कारगर्भत्यादिवर्णनम् , तदपि 'एष त वा अतिवदति' इत्यादिदर्शनात् तहदेव प्रपत्तिप्रशंसनार्थमतिवदनमित्यन्यत्र विस्तरः ॥

> विरचितरशास्त्रादेनैवं सभाष्यसचिन्द्रका सरसभगवद्गीता गीतार्थसंग्रहभासुरा । बहुकृतिकृता वात्स्यश्रीवीरराघवस्तरिणा सम्रुचितविमर्शेद्धा सम्यक प्रकाशमनीयत ॥

> > \*-\*-\*

#### शोधनिका

2-10 (र. ब्रा.) 9-6 आगतोऽसि 13-25 स्वयमेवाच 24-2 एवमुक्त्वा 25-28 धातोरूप 55--9 तथारारीराणि 201-14 स्ठोकालोचनया भृतानिति पुंलिङ्गप्रयोगोपि [इत्येतावदेव । अन्यद्शुद्धम् ] 312-30 319-25 परस्मैपदि 320-30 सगुणनिर्गुणश्र 32ह-30 सामर्थ्यसङ्गावः.....तत शिष्टं 538-15 इत्युत्तरग्रन्थ 541-32 ਬਿਬਿਸ਼ਜ਼ੀਲਾ 542-31 विषयराग

ग्रुभम<del>स्</del>तु

श्रीः

### श्रीगुरुभ्यो नमः श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यम

श्रीभगवद्रामानुजविरचितम्

## यत्पदाम्भोरुहध्यानविश्वस्ताशेषकरमपः । वस्तुताम्रुपयातोऽहं यामुनेयं नमामि तम् ॥

# कवितार्किकसिंह सर्वतन्त्रखतन्त्रशीमद्वेद्वटनाथ— श्रीमद्वेदान्ताचार्यविरचिता तात्पर्यचन्द्रिका

यतिपरिवृद्धो यद्गीतानामदर्शयदञ्जसा निगमपरिएन्नेदीयांसं निरामयमाशयम् । 
<sup>1</sup>जननपद्भीयातायातश्रमापहरां थियं जनयतु स मे देवः श्रीमान् धनञ्जयसारिथः ॥

<sup>2</sup>अनुचितपद्भीसिश्चिन्तयिरवा प्रयातान्यलमलमतिमात्रतासिषादैः ।
उपनिषदमुदारामुद्रमन् पाण्डवार्थे शरणमुपगतान्नस्नायते शार्न्नथना ॥

सन्तः <sup>8</sup>सारिल्हिश्चित्ततमःप्रमथनीमिमाम् । भजन्तु भगवद्गीतामाप्यतारपर्यचिन्द्रकाम् ॥

श्रीमद्गीतां व्याचिरुयानुः <sup>4</sup>अविश्वपरिप्रणपचयगमनार्थम् , परमाचार्यस्य संग्रहरुलोकनिर्माणमुखेन

#### श्रीरुष्णपरब्रह्मणे नमः

#### रसास्वादः

गीतासुधामुपनियःकलेशाग्तुराशेरुद्धृत्य यो बित्तुधजीवनमाततान । वन्देय वेदत्तुपनिर्वधिकोण्डवलं ते देवं व्यवस्परस्थणबद्धदोक्षम् ॥ वन्दे धमिक्षानभक्तिप्रपत्तिश्रीमद्दीताव्याक्रयाक्रयाक्रयाक्रम् । क्षितापार्थान् श्रान्तिकारुण्यक्षिन्धृत् चौशोव्याक्षात् सद्गुक्त् इष्णतुल्यान् ॥ गीतार्थस्कुटसंग्रदं विदाद्यत् मूलं।श्रीसर्वस्यद्-द्र्येतद्भाष्यमिति प्रदर्शयति नस्तात्पर्यस्वन्द्रिका । इष्ण-व्यासमुनीन्द्र-यामुनसुनि-श्रीयोगिरामानुज-श्रीमद्वेद्शिरोगुक्त् प्रणियतन् एतद्रसं स्वाद्ये ॥

1. जननेत्यादिकमुत्तरार्धं रातद्ववण्यां 34 वादे । 2. अनुचितेत्यादिरछोकः संकल्प-स्योंत्रचेऽपि (2. 14) तत्र संदर्भानु वारेण द्वितीये पादे पाउमेदः। तृतीये च । 3. सन्तः सातु-प्रहेश्चित्तरित पाठान्तरम् । 4. अविद्यारिप्रणं प्रजयगमनञ्ज प्रकृतमाध्यस्य विवक्षितम् । अस्य चतुर्थ्यन्तस्य आचरतीत्यकान्त्रयः। साचार्ये शीमहापूर्णं विद्वाय प्राचार्यविषयकमङ्गळोचरणं कृत दृश्यत्राह परमेति । सगुरुप्रणामः गुरुप्रम्पराप्रणामश्च सर्वत्रार्थसिदः। अतः प्रन्ये

वद्योपदेष्ट्रतां तदनुष्टतेः स्वाचार्यस्य संप्रीणनतामप्यनुसंद्रधानः, परमाचार्यभजनरूपं मङ्गरूमाचरित—
परपदाम्मो हेस्यादि । यच्छ्ङदेन सर्वेतिराचार्यगुणपोष्कस्यहेतुकां प्रसिद्धि स्चयित । अम्मो ह्हाब्देन
भोग्यत्वप्रतितिमीक्तरूपत्वं ध्वानस्य व्यव्यते । द्रोणाचार्यस्य एक्छ्ङ्य इव याम्रुनाचार्यस्याहिमत्यिमप्रायेण
ध्यानशब्दः । श्रेस्क्रसंदर्शनेन प्रायशः कल्मषाणि विध्यत्तानि, तन्मूळ्निरन्तरस्मरणेन तेषां सवासनोन्मूळ्नं क्वतिमत्यिमप्रायेण ध्यानिबद्धस्तःशेषकल्मषः इत्युक्तम् । वस्तुताम्— 'अस्ति ब्रह्मेति
चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' (ते आ. ३) इत्युक्तप्रकाराम् । अहं वस्तुताम्यात्र इत्याध्यर्यगर्भम् । एवमनिष्टनिवर्तनेष्टप्रापणरूपोपकारस्यतिप्रितवागाहित्रितयकरणकः प्रणामः शिष्यशिक्षणार्थे श्रोतृणां फल्मिसद्धयर्थं च प्रम्थे निवेशितः । तेन लाचार्यवत् तदाचार्यपरम्पराया अपि मजनमत्यादरेण करणीयमित्यिपि
शिक्षितम् । तथा च श्र्यते, ''स च (चैव) आचार्यवंशो ज्ञेयो भवति, आचार्याणामसावसावित्याभगवतः'' (र. बा.) इति ॥

अशाभिमतपर्देवतस्य भगवतः स्वरूपस्य[गुणविभव]दिभावनावर्णनाभ्यामर्थादमञ्जूरं मङ्गरुमाचरन्, "स्वर्भज्ञानवैराग्यसाध्यभक्ययेकगोचरः । नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः (गी.सं.१) इति असंब्रहानुरोधेन व्याख्येयशास्त्रप्रधानमृतिपादं च तपकारं दर्शयन्, शास्त्रप्रधानाण्यस्थापना्य वक्तुः स्वतः सर्वज्ञत्वपरमकारुणिकत्वसाधुपरिलाणोन्मुखावस्यत्वसर्वशिक्तत्वादिना अमिवप्रकृप्यप्रमादाशक्त्य[ाद्य] भावप्रदर्शनेनाऽऽप्ततमत्वं समर्थयन्, अपवर्शप्रधानचतुर्वगोपायवोधारमकमवान्तरप्रयोजनम् अपवर्शदशानुन्वन्यन्त्रेवन् सम्बद्धस्य परिमद्ध प्रद्यानम् । यतस्यात्र निवन्धनञ्च गीतार्थसंग्रहप्रस्यमनुस्यवेदं साध्य प्रणीयत इति व्यञ्जनाय । प्रायः शिव्याः प्रचार्यकर्णापावताभाग्यविर्द्धिणः स्वाचार्यानुष्रद्यवेकमेवोप-जीवित्तः । केपञ्चित्रयानुम्वत्वेत् साध्य प्रणीयतः परमाचार्यविद्यस्य संपद्धते । यत्वत्वत्यस्य संपद्धते । तत्वत्वत्यस्य संपद्धते । तत्वत्वत्यस्य संपद्धते । तत्वत्वत्यस्य संपद्धते । तत्वत्वत्यस्य संपद्धते । तत्वत्यस्य हेव व्यवत् गौर्यातिशयं न चहन्तीत्यपि छोके दृष्टम् । न तथा वर्तितव्यमिति शिक्षणमपि विषयम् । इदमेव वस्यति, 'परम्पराया अपि मजनमत्यादरेणं करणीयम् । इतमेव वस्यति, 'परम्पराया विषय मजनमत्यादरेणं करणीयम् । साम्प्रते । धीयामुनाचार्यशिष्यस्य चहुषु चरमन्त्रोकार्यविद्यस्य । तथा पदाम्भोष्टराच्यः । साम्प्रते साम्प्रते । वया पदाम्भोष्टराच्यः । स्वस्यावार्यस्वनम्यतिवन्धकरूकस्यविद्यस्य वस्यस्य तत्स्वनम्यात्वत्यस्य । स्वस्यस्य तत्स्वनम्यस्य वस्य तत्स्वनम्यस्य स्वस्य तत्स्वनम्यस्य । स्वस्यस्य तत्स्ववन्यस्य त्यस्य स्वस्य तत्स्यस्य स्वस्य स्वस्य तत्स्यस्य ।

- एकळ्य्यद्यान्तो यथासंभवं द्रष्ट्यः। आलार्याणां शिष्यिक्रियमाणध्यानाद्यक्षानेऽपि तत् फळ्य्येवेत्यव अयं द्रष्टान्तोऽत्यन्तसुपगुज्यते। 2. संदर्शनेनत्यनेत-केवळं श्रुतमात्रस्य ध्यानमिति नः भाचार्यस्यैतद्विषयकदर्शनामावश्च नः आलार्येणायं दूरात् संदष्ट एवः, श्रीमिति वरदे सिद्धान्तप्रवर्तकत्वसंपत्तये समर्पितभाश्च। तत्संदर्शनमप्यस्य निर्वृत्तमेषः न तु संभाषणादीत्ये-तावत्। पदास्भोयदेत्यनेन दृष्टदिःयविग्रहसीष्ठवानुभवाविष्करणञ्चिति झाव्यते।
  - ३. संग्रहानुरोधेनेति । तत्र संग्रहन्छोके परं ब्रह्म प्राधान्येन निर्दिष्टम् । तत्र्यसचिहेतुतया च

## मा ॥ श्रियः पतिः, निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानः,

माध्यसमकारमगवत्स्वरूपं च परमभयोजनं प्रकाशयन्, शंकरादिपश्चे शास्त्रोपदेशारमभावानुपपत्तर्वक्ष्यमाणायाः स्वपश्चे प्रसङ्गामावाय शास्त्रोपदेशाद्यनुङ्ग्ळजीवपरमात्मपारमार्थिकभेदादिकथनेन शास्त्रास्म्यसम्भ्यसम्भ्यसम्भयन्, <sup>1</sup>कारण-शोधनी(को)पासन-भेदाभेद्य-घटकवन्तसां सर्वेषामिष मुख्यतां ख्यापयन्, <sup>2</sup>गुण-तन्त्राति विकास कितानि कितानि कितानि कितानि कितानि स्वार्थि स्वर्थि स्वार्थि स्वार्य स्वार्थि स्वार्थि स्वार्य स्वर्य स्वर्थि स्वर्य स्वर्य स्वर्य स्वर्य स्वर्य स्वर्य स्वर्य

अल दिज्यात्मस्वरूपव्यतिरिक्तं समस्तमिप नारशब्दार्थतया विविच्य दर्शयित्यन् , तद्यनं स्वरूप-मन्यपदार्थतया उत्तरपदार्थतया वा (च) समासद्वयेऽपि प्रधानसूनं प्रथमं निष्कृष्य दर्शयति—श्रियः-पितिस्यादिना । श्रो. (4) विशेषद्वसये भतुरिभिगण्यत्वसिद्धये । समस्तमञ्जलाष्ट्ये च प्रथमं श्रीविद्योदिना ॥

"एष नारायणः श्रीमान् क्षीराणिवनिकेतनः । नागपर्थक्कमुत्सस्य ह्यातो मधुरां पुरीम्" (भा. व. 86. 24) अर्थो विष्णुरियं वाणी (वि. १. ८. १८) इत्यादिक्रमिह मान्यम् । कतिपयदेय-निवर्तकर्तार्थसेवादिःयुदासाय निर्मिष्ठतेति विशेषणम् । अत्र हेयशून्यत्वमर्थसिद्धम् । न हि परगतनिष्ठिष्ठ-स्वध्याति । उपनिपदां ब्रह्मप्राध्यस्य अयातो ब्रह्माज्ञासा, तत्तुसमन्वयादिति शारीरकसिद्ध-तया तद्दीत्या गीतोपनिपद्यपि तस्यैव प्राधान्यम् इतीदं भगवतो विशेषतो वर्णनेन स्थापयम् भाष्यकारः, अवतीर्थं भगवत्वतानि अन्यानि कार्याणि प्रदर्श्य सर्वावेश्वया गीतोपदेश प्रवावतार-मुख्यप्रयोजनिति भक्तियोगमवतार्थामासेत्यन्तेन प्रदर्श्यस्य गीतोपदेश प्रवावतार-मुख्यप्रयोजनिति भक्तियोगमवतार्थामासेत्यन्तेन प्रदर्श्यस्य गीतोपदेश प्रवावतार-मुख्यप्रयोजनिति भक्तियोगमवतार्थामासेत्यन्तेन प्रदर्शयस्य शास्यक्षित् ॥ । शोधकेत्यस्य प्रतिपदं व्याख्येयन्त्रेऽपि विस्तरिभया मुख्यस्थळ्तात्वमन व्याख्यास्यते॥ ॥ । शोधकेत्यस्य व्यावतेकाकारेत्यर्थः । घटकेत्यस्य शरीरात्मभावेत्वर्थः । अतः कारणादिपदेस्सह विष्रद्वः सुप्रद्वः।

- 2. गुणतनु इत्यत्र यद्ब्रह्मणो गुणशरीरेति तस्वसारक्षोकः,
- 3. विमूर्तिसाम्येत्यादौ आत्मैक्यं देवतैक्यमिति श्लोकश्चात्रसंघेयः।

# स्वेतरसमस्तवस्तुविरुक्षणानन्तज्ञानानन्दैकखरूपः, खाभाविकानवधिकातिग्रयज्ञान-वर्लैश्वर्यवीर्यग्रक्तितेजःप्रमृत्यसंख्येयकस्याणगुणगणमहोदधिः,

हेयिनिराकरणसमर्थः स्वरातं हेयं क्षमते । यद्वा हेयिनरोधिसमावतया हेयराः यिमि(न्ये १)त्यर्थः । तदा निर्मास्कराज्यः सर्वाचिद्धतं विकारादिकं सर्वचिद्धतं क्षेत्रादिकं च संगृह्णाति ; कुमतिपरिकल्पितम् अंशमेदेना-कल्याणस्पर्शमपाकर्त्वं कल्याणकर्तान् राज्यः । अत एव ज्ञानानन्देकस्यरूपः इत्यनेनापोनरुवत्यम् । अथवा सामान्यविशेषनिर्देशरूपरवादपुनरुक्तिः । यद्वा कल्याणकर्तानः [इति १] कल्याणगुणानामेवाश्रयभूत इति वश्यमाणगुणपपञ्चस्य संग्रहः ॥

त्रिविधानां चेतनाचेतनानां पराधीनस्वादिसाम्यादेवंम्तं वस्त्वन्तरं नास्तीत्यभिप्रायेणाह—स्वेतरेति । एतेन ज्ञान—भोगसाम्येऽपि सर्वभकारसम्तविषयः । "नित्यं विभ्रं सर्वगतम्" (म. १. १. ६)
"विधमेनेदं पुरुषः" (ना.) इत्यादिमसिद्धं त्रिविधपिरच्छेदराहित्यं प्राधान्यतः प्रथमाह—अनन्तेति ।
अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितम् । अत्रैव देशेऽस्ति, अत्र तु नास्तीति देशपरिच्छेदः ; अत्र कालेऽस्ति
अत्र तु नास्तीति काल्यिरच्छेदः ; इदिमदं न भवतीति वस्तुपरिच्छेदः, अल्पवर्णस्वर्णवत् स्वरूपापक्रष्टत्वादिकं वा। एवविधपरिच्छेदत्वयराहित्यं नाम सर्वदेशवर्षकाल्यापित्वसर्वान्त्यामित्वरूपम् । वस्तुपरिच्छेदराहित्यं हि समस्तवस्तुसामानाधिकरण्ययोग्यत्वादिकम् ; न पुनः मिथोविरुद्धविधवस्तुतादास्यं
स्वय्यितिरक्तसमस्तवस्तुमिथ्यात्वं वा ; तयोरत्यन्तासंभावितत्वात् । विस्तरस्तु स्वतदृषण्यां कृतेऽस्मामिः ।
आनन्दस्य ज्ञानिदेशेषत्वात् ज्ञानानन्दशब्दयोः सामानाधिकरण्यमुपपन्नम् । तर्हि आनन्दशब्दस्य
विशेषशब्दत्वात् ययद्वयम् इत्यादिवत् आनन्दश्चम् इति वक्तव्यमिति चेत् , तत्र ; विबुल्यहणेन
सर्वोपपतेः । यद्वा आनन्दशब्दस्य अनुकूलवेदनीयेषु जडेपविष प्रयोगात् तिद्वशेषणतया ज्ञानशब्दस्य
पूर्वत्वोपपतिः । स्वरूपं प्रति इदं विशेषणद्वयं वा।।

स्वाभाविकेति । सरूपापेक्षया गुणिध्यहादीनामपृथिवसद्धिसान्येऽपि विश्वहादिधारणनियमनादौ ज्ञानादिगुण[गण]।पेक्षत्वप्रदर्शनाय उत्तरोत्तरसुम्रहत्वसिद्धये च प्रथमं गुणोक्तिः । समस्तगुणवृन्दप्रधानतया षाङ्गुण्यस्य सरूपेणोपादानम् , इत्तरेषां च सौकील्याःीनां प्रमृतिशल्देन संप्रहणं कृतम् । "तवानन्त-गुणस्यापि षडेव प्रथमे गुणाः । देस्त्वयेव <sup>१</sup>जगत् कुक्षावन्येऽप्यन्तिनिवेशिताः ॥" (वा.पु. ७५) इति ह्याहुः । संहतिस्धिस्थितिहेतुस्तसंकर्षणादित्यृहत्वये ज्ञानवलादिद्वन्द्वतिकस्य यथाक्रमं तत्तत्कार्थ विदोषोन्मुख्तवेनाऽऽविभावविदेशपात्<sup>8</sup> ॥ ज्ञानवस्त्रेत्यादिकमिन्देशेषः कृतः । स्ततः सर्थ सर्वदा सर्वथा साक्षा

बहुछप्रहणेनेति । विशेषणं विशेष्यण बहुछामात सूत्रं बहुछप्रहणनेत्यथः ।

त्वया स्वकुक्षी अगदिव, यैः षड्भिगुणैः अन्य गुणिः स्वत्तिविधिताः इत्यर्थः । षण्णां गुणानां विततय प्रवान्ये गुणा इति भावः । एवं अनं शक्तिरिति गुणक्ष्यत्रेततय प्रव षड् गुणा इत्यपि ध्ययम् । 3. आविभावविधेषादिति । षाड्गुण्यात् वासुदेवः पर इति भगवान् मुक्तभोग्यो ब्हाक्यादिति खोकोऽबात्तुक्षेषेयः ।

## खामिमतानुरूपेकरूपाचिन्त्यदिञ्याद्श्वतिनत्यिनस्वद्यतिरतिश्वयोज्जवस्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौ -इमार्यखावण्ययोवनाद्यनन्तगुणनिधिदिज्यरूपः, स्वोचितविविधविचित्रानन्ताश्चर्यनित्यनिर-

त्करोति, तथा साक्षात्कृतं च सवै थारयित, धारयनेव नियच्छति, धारयनियच्छंश्वाशिष्ठियो भवित, अघिटतं च घटयित, तल च सहकारिनिरपेशो न केनचिद्रिमम्बते, किंतु सर्वामिभूभैवित इति च गुणकमपाठिविवक्षा । स्वाभाविकरवमनन्याधीनत्वम् । मुक्तनित्ययोरिप हि ताहशं ज्ञानादिकं तदनुगुण-परमात्मसंकरुपाधीनम् । अनविधिकरवमनोत्कृष्टाविधराहित्यम् । द्वान्यां विशेषणाभ्यां, "पराऽस्य शक्ति-विधिव श्रूयते स्वाभाविकते ज्ञानवर्णकया च" (क्षे. ६. ८) इत्यान्नाते परत्वस्वामाविकत्वे प्रतिगुण-मन्विते पदिशिते । असङ्ख्येयशव्देन महोद्धिशव्देन च, "यथा रत्नानि जलधेरसङ्ख्येयानि पुत्रक । तथा गुणा धनन्तस्य असङ्ख्येया महात्मनः" (वाम. पु. ७४. ४०;) इत्यादि स्मारितम् । करुयाणशव्देन गुणनिषेधवचनानां हेयगुणविषयत्वमुत्सर्गिपवाद(दावि)न्यायसिद्धं स्वितम् ॥

अथ कारणोपासनादिषकरणेषु अस्वम्षणाध्यायादिषु च प्रतिपत्तं विख्यणविष्यहयोगं दर्शयति—
स्वाभिमतेति । अभिमतेऽप्यननुरूपस्वस्य, अनुरूपेऽप्यनिमतत्वस्य छोके दृष्टवात् तदुभयव्यवच्छेदाय
स्वाभिमतानुरूपेरयुक्तम् । एकरूपेरयनेन व्यृह्विभवाध्यवस्यास्वि हेयशत्यनीकत्वानन्दावहृत्वमुमुक्षूपास्यत्वपाप्यत्वादिस्यमायापिरयागोऽभिहितः । यद्वा व्यृह्यिपरिणामे सत्यि परमव्योमनिरूय[स्व]विश्रहस्य प्राचीनसंस्थानावस्थितिरुक्ता । सावयवत्वादिनत्यम् इत्यादीनां धर्मिष्राहकवाधादिभिराभासतामभिष्रत्य अचिनत्यत्वोक्तिः । एको दिव्यशव्दः संस्थानवैळक्षण्यपरः, परमव्योमवर्तित्वमास्त्रपरो वा ;
इतरस्तु अधाक्रतत्वपरः। विचित्वावतारयोगः, प्रतिक्षणमपृवैवदनुभाव्यत्वम् , वयप्रवश्यम-विश्रव्याधावस्थागतमाश्चर्यत्वं च अद्गुत्तच्वत्वेन विवक्षितम् । निर्त्यत्वं काळानविच्छ्यत्वम् । तथा चाऽऽमनित्व रहसाम्नापविदः, "नित्या अख्तिः त्यभावसंसिद्धिरिन्द्रियाकारा अङ्गप्रत्यङ्गय्यवन्वती' (रहस्याम्नायत्राक्षणे) इति ।
श्रीपौष्करं च, "नित्यसिद्धे तदाकारे तत्परत्वे चपीष्कर। यस्यास्ति वैस्ता (सिक्तः) हृदये तस्यासौ संनिर्धि
त्रजेत्" इति । निर्वाद्यत्वं जरादिराहित्यम् । उत्ररोत्तरिच्यद्यशव्यदेषु पृवेपूर्वेभ्यः स्वश्रद्यतं वा विवक्षितम् ।
ग्रुमाश्रयत्वमोग्यत्वाद्यपुयुक्तमङ्गरूख्यग्रयोगो निर्मतिश्रयोज्यत्वस्य । औडज्वत्यं भास्तर्वम् । सौन्दर्यम्
अवयववशोभा । सवैगन्धः (छा. ३. १४. ४) इति श्रुतिरनुक्रुरुगन्धविषया ; सक्वन्दनादि चात्र कृतकरमित्यभित्रायोण सौगन्ध्यश्चःः। सौक्रमार्थे महावरुत्वेषि "पुप्पहासः" (सहस्वाम) इति नाम दृहानं

नित्यति । परवासुदेवमूर्तिः नित्या अछिङ्गा—अनुमानागम्या । अछिग्येति च पाठः । स्वभावसंसिद्धिः--स्याभाविकसर्वाशविशिष्टा, इन्द्रियाकारा—चश्चरादिसर्वेन्द्रियसंस्थानशोभिता । स्यक्षनं—पुरस्वप्रदर्शकाकारः । 2. 'यस्यास्ति सत्ता' इत्यत्र संदितायां सत्तापदस्थाने सकिरिति पाठो दृदयते । तदानीमर्थे क्केशो नास्ति ।

# वद्यापरिमितदिन्यभृषणः, स्त्रासुरूपासंख्येयाचिन्त्यशक्तिनित्यनिरवद्यनिरितञ्चयकस्याण-दिन्यायुषः, स्त्राभिमतासुरूपनित्यनिरवद्यस्यरूपरूपगुणविभवैश्वर्यशीलाद्यनविषकातिश्चया-

मार्दवम् । यथोक्तम्, "युकुमारौ महावलौ" (रा. आ. १९. १४) इति । स्नावण्यं समुदायशोभा, यत्तदुच्यते भगवच्छाले, "विश्वमाप्याययन् कान्त्या पूर्णेन्द्रयुत्तुल्यया" (सास्वतः २. ७०) इति । "भ्यिष्ठं तेज एवाद्विमैहुलाभिर्मृत्कृत्वत्म्" । चक्रुरानन्दजननं लावण्यमिति कथ्यते" (अहि. सं ५२) इति ह्याहुः । योवनं कौमारानन्तयोपल्क्षणीयः सभावविद्येषः, न तु कौमारानन्तरभाविन्येव दशा; तद्यौवनस्यानादित्वात् । देवादिषु च केषांचित् युवत्वे नैवोत्पत्तिदर्शनात् । आदिशब्देन, ग्रुभाश्रयप्रकरणेष्कृत्ताः सर्वे विश्वह्युणाः संगृहीताः ॥

एवं स्वरूपतद्गुणौ विमहतद्गुणौ च प्रतिपाद्य, विमहाश्रितमाभरणवर्गमायुघवर्गं च द्रशेयति— स्वोचितत्यादिपदद्वयेन । पूर्वोक्तविकक्षणविमहविशिष्टं स्वरूपमिह स्वशब्दार्थः । अल, "आयताश्र स्वष्टवाश्च वाहनः श्विरियोगमाः । सर्वमूषणमृषाहीः" (रा. कि. २.१५) इत्यादि भाव्यम् । किरीट-हारादिरूपेण वैविष्यम् । एकजातीयेष्वपिमणि-काञ्चनादिद्वःयविशेष-वर्ण-संस्थानादिविशेषविशिष्टव्यक्ति-भेदात् वैचित्र्यम् । अपरिमितेत्यसंख्येयत्वोक्तेः अनन्तर्वमाश्चर्यविशेषणम् । अनविधकाश्चर्यरसावह-त्वमनन्ताश्चर्यत्वम् ; अथवा अनन्तानि आश्चर्याणि संस्थानिवशेषसौगन्ध्यसुखस्पर्शत्वादीनि येषां मूषणानां तानि तथोक्तानि । नित्यनिस्वद्यशब्दौ पूर्ववत् । अपरिमित्तत्वमसंख्येयत्वमेव ; न तु हस्वदीर्घादिपरिमाणविरहः । यद्वा अनन्तेत्यसंख्येयत्वम् । अपरिमित्ति च विमहानुरूपमहत्त्वं विव-क्षितन् । मूषणायुषयोर्दिन्यस्वमपाङ्कतत्वम् ।

पूर्वोक्तगुणगणविमहाभरणविशिष्टलरूपं स्वानुरूपेत्यल स्वशन्दार्थः । असङ्क्रुचेयति । पश्चायुधस्वप्रसिद्धिः प्राधान्यादिति भावः । अचिन्त्यशक्तीति । कुठार—टङ्क--कुद्दालादिभिः प्रत्येकं
छुच्छ्रसाध्यं साल-शैल-वसुधातलविदारणम् एकेन हि महेषुणा छुतमिति भावः । निरतिश्चयक्तस्याणत्वं
निरतिश्चयानन्दावहत्वम् , भूषणकोटावध्यनुप्रवेशात् । यद्वा लोके यान्यायुधलक्षणानि मङ्गलावहतया
प्रसिद्धानि, तैः सर्वैः संपूर्णत्वम् ॥

पूर्वे स्वरूपिन्रूवकतया सामान्यतोऽभिहितां श्रियं विभृतिमध्येऽपि स्थितां विशेषतो दश्यन् अर्थात् तस्वरूपादिकमप्याह-स्वाभिमतेति । स्वरूपं-स्वासाधारणधभैविशिष्टं श्रियो दिव्यात्मस्वरूपम् । रूपं-दिव्यविग्रहः । रूपानन्तरो गुणशब्दः तद्गतिनरित्शयौज्ज्वव्यसौन्दर्यादिपरः । विभवशब्दः परिजनपरि-वहीदिपरः । परवसौरूभ्योपियकगुणवर्गद्वयम् एश्वर्यश्चीर्त्व[पद]।भ्यामुपब्रक्षितम् । ततस्य आदिशब्दः

<sup>1.</sup> तेज प्वाङ्किरिति । शरीरगततेजोवयवाः तत्तत्यजलांशैर्मृदुकृता इत्यर्थः ।

रामसङ्मणयोबोङ्कनां समुख्यात् बाहव इति बहुत्वम् ।

## संख्येयकल्याणगुणगणश्रीवल्लभः,

प्रत्येकमन्वयात् ज्ञानशक्त्यादिकं वात्सल्यादिकं च संगृह्णाति । ऐश्वर्यशीलादयः अनवधिकातिशयाश्च असंख्येयाश्च कल्याणाश्च गुणा इति विशेषणसमासः । एवंविधगुणानां गण इति षष्ठीतत्पुरुषः । ऐश्वर्य शीस्त्रादेरीणविशेषणत्वानौचित्यात . अनवधिकातिशयः वस्यापि गणविशेषणत्वे प्रत्येकं गुणानामुत्कर्षस्या-शाब्दरवात् गुणविशोषणतयैव समास उचितः । खळापम् , रूपम् , तद्गुणः, विभवः, ऐश्वर्यादिः गुणगणश्चेति द्वन्द्वः । खरूपादिपञ्चकं भगवद्भिमतानुरूपं नित्यं निरवदं यस्याः सा स्वाभिमतेत्यादि-गुणगुणेत्यन्तेनोक्ता । स्वरूपम् , रूपम् , तदुगुणः, विभवः, ऐश्वर्यम् , शीलम् , इत्यादिगुणगण इति योजनायां खरूपरूपयोरपि गुणानुपवेशपसङ्गः । खरूपादेः सर्वस्य परमात्माभिमतत्वं व्यक्तम् । सहस्परा नित्यत्वं निर्विकारतया सर्वकाळवर्तमानत्वम् । निरवद्यत्वं पूर्वं परमात्मखरूपे प्रतिपादितप्रकारम् ; तद्वत् पितृत्वप्रयुक्तकादाचिरकोप्मरुत्वादिराहित्यं वा । अतुरूपस्वं तुःयथाप्रमाणं प्राग्वदेव कल्याणैकतान-त्वादिकम् । ''शान्तानन्त'' (च. ४) इत्यादिकमिह भाव्यम् । रूपस्य नित्यत्वमवतारादिदशायामपि परम-पद्निस्यभगवदेकासनस्थितस्य तथावस्थितत्वम् । अनुहृष्टरवं च, ''अस्या देव्या यथा रूपमङ्गपत्यङ्ग-सौष्ठवम् । रामस्य च तथा रूपं तस्येयमसितेक्षणा" (रा. सु. १५. ५१), 'विष्णोर्देहानुरूपां वै करी-स्येषाऽऽत्मनस्तनुम् ' (वि. १. ९. १४५) इत्यादिमतिपादितम् । वित्रहगुणानां **नित्य**त्वं नाम औज्ज्व-स्यादेः कदाचिद्य्यपकर्षायभावः । निरवद्यस्यं च दुष्येक्षतादिराहित्यम् । अनुरूपत्वम् "घनकनकद्युती युवद्शामि मुम्धद्शाम्'' (श्रीगुण. को. २९) इत्यायुक्तप्रकारम् । विभवस्यानुरूपत्वं, "देवितर्यञ्चनुष्येषु पन्नामा भगवान हरि: । स्त्रीनाम्नी लक्ष्मीमैंत्रेय नानयोविंद्यते परम्" (वि. १. ८. ३५) इत्यादिभिरनु-संधेयम् । अनवधिकातिज्ञयत्ववचनादीश्वरव्यतिरिक्ताशेषगोचरस्यापि तदैश्ववस्य ईश्वराभिमतत्वान्न है-राज्यादिदोष:। ''अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी'' (यजु. ४.४.१२.५७) इति विष्णुपत्नीत्ववेषेण हि सर्वस्य जगत इयमीष्टे। ''ईश्वरीं सर्वमृतानाम्'' (श्री. स्.) इत्यत्न तु यद्यपि सर्वमृतानामिति प्रतिसंबन्धि-निर्देशात् स्त्रीप्रत्ययानुसारेण ईश्वरपत्नीति विवक्षा न शक्या, तथापि वाक्यान्तरबळादर्थस्य तथास्व-सिद्धिः । निरवद्यत्वं भगवदैः धर्यैकरसत्वं निम्नहादित्रसङ्गाभावो वा । प्रतिकृळदण्डकत्वं हि पुंस्त्वानुरूपं तद्वल भस्यैव भागः। शीळस्य नित्यत्वं महत्त्वे सत्यिप मन्दैः सह नीरन्ध्रसंश्लेषे कदाचिद्रिप स्वोत्कर्षप्रकाशनाभावः ; निरवद्यत्वं तत्न विप्रलम्माभिषायविरहः । अनुरूपत्वम् अनवधिकातिशयत्वं न, "तुल्यशीलवयोद्यताम्" (रा. सु. १६. ५) इत्यासक्तप्रकारम् । एवं श्रियः पृथङ्नित्यसरूपरूपगुणविभवैश्वर्यशीरादिप्रतिपाद**नेन** ज्ञानादिगुणवत् पृथविसद्धंशक्तिमालत्वम् , ब्यूहविशेषत्वम् , खरूपैनयम् अन्यदन्यदपि वदन्तो निरस्ताः । शक्तित्ववादास्त पत्नीत्वेन कार्योपयुक्तविशेषणत्वामिष्रायाः । प्रयुज्यते हि शास्त्रेषु सर्वत्र स्त्रीपुंसात्मकेषु द्वन्द्वार-रेष्विप स्वयंशे शक्तिशब्दः।[एकत्ववादास्तु समस्तपपञ्चपतियोगिकैकशेषित्वाश्रयत्वेन, विशिष्टैनयेन, आत्महविः प्रति उद्देरीकदेवतात्वादिवेषेण(विशेषेण)वा निर्वाद्याः । अत एव हि, 'व्यापकावतिसंक्षेषा स्वसङ्करपातुविधायिस्वरूपस्थितिप्रकृतिमेदाशेषशेवतैकरितरूपिनत्यनिरवद्यनिरितशय-ञ्चानिक्रयैश्वर्याद्यनन्तगुणगणापरिमितद्धरिभिरनवरताभिष्टुतचरणयुगलः, वाङ्मनसापरिच्छेद्य-देकतत्त्वमिवोदितौ' (अहि. ४. ७८) इरयुच्यते । उक्तं च श्रीरामिश्रीः पद्धर्थसंस्रेपे, ''उभयाधिष्ठानं चैकं शेषित्वम्'' इत्यादि'। एवंविधाया भगवत्याः श्रियो ब्रह्ममः प्रियतमः । श्रीः ब्रह्ममा यस्येति वा। न च अभिमत्वशब्दाः विनरुक्तिः. परयेकसमदायविधयतयाऽभिमतत्वातिशयव्यञ्जनपरस्वादिति ॥रे

अथ नित्यपरिजनविशिष्टतां दर्शयति—स्व**मङ्करपेति । स्वरूपं** धर्म्यैशः । स्थितिः अपन्यत तयाऽवस्थानम् । प्रवृत्तिः व्यापारः । नित्यानां स्वरूपस्थित्योः परमात्मसंकल्पानविधायिनवं नाम तिन्नत्येच्छासिद्धत्वम् । तच अनिच्छासंभवे निवर्तियतं शवयतामातम् । तेषु त्वनिच्छायाः कदाचिद्धय-भावात् स्थितेः सदातनत्वम् । इदं च परमात्मसङ्करपान् विधायिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं बद्धमुक्तप्रकृति-पाकृतकारु।दिव्यपि भाव्यम् । तच सर्वै पपञ्चियप्यते । शेषुता- शेषुत्र तिरित्यर्थः । अशेषशेषता यथाभिमताकारता । अल. "शरा नानाविधाश्चापि धनुरायतविग्रहम् । अन्वगच्छन्त काकुतस्यं सर्वे पुरुषविश्रहाः'' (रा. उ. १०९. ७), 'निवासशय्यासनपादका'' (स्तो, ४०) इत्यादि द्रष्टव्यम् । एकैकक्रतस्यैव केक्क्यंस्य मिथः सर्वार्थतयाऽनुसन्धानात् सेर्वेऽप्यस्य सर्वकैक्क्यंकारिणो भवेयः । यद्वा खरूपस्थितिपृत्तिमेदा एव अशेषराव्देन संगृह्यन्ते : तेषामशेषाणां परमात्मानं पति शेषता शेषमाव:५ एवमुक्तप्रकारायामशेषशेषतायामितरपरित्यागेन तदेकावलम्बिनी प्रीतिरेव रूपं-—खरूपं खमावो वा येषां ते अञ्चेषशेषतेकरतिरूपाः । ते च सेवं नित्याः । खरूपनित्यत्वस्य सर्वात्मसाधारणत्वातः मुक्तवत कदाचिदाविर्भृतसङ्ख(भाव)त्विमह नित्यशब्देन व्यवस्थते । नित्यासंकचितज्ञानादिगुणा इत्यर्थः । तत एव निरवद्याः—क्रेशकर्मस्वातन्त्र्याभिमानादिदोषात्यन्ताभाववन्तः । एषां ज्ञानस्य निर्तिश्चयत्वं परमात्मज्ञानतुरुयत्वम् । कियाया निरतिशयत्वं स्वच्छन्दानन्तकेङ्कर्यात्मकत्वम् । ऐश्वर्यस्य निरतिशयत्वं परमात्मकेङ्कर्योपयोगिस्वेच्छागृहीतशरीरेन्द्रियादिनियमने निर्विधातत्वम् : न त सर्वविषयत्वम् , "जगळा-पारवर्जं प्रकरणादसिन्निहितत्वाच्च" (ब्र. ४. ४. १७) इति न्यायात् । अत्र निरितशयज्ञानिकयैश्वर्यान दिरनन्तो गुणगणो येषामिति विग्रहः । ते च अपरिमिताः असङ्ख्येयाः सूरयः । "सदा पश्यन्ति सूरयः.....तद्विपासो विषन्यवो जागृवाँसः समिन्धते (सा. वे. ३. १८. २. ४) इत्याद्यनुसन्धाने-नाह—अनवरताभिष्टुतचरणयुगल इति । विषन्यवः— विशेषेण स्तुतिशीलाः । पण व्यवहारे स्तुतौ च, पन च इति हि धातुपाठः । अभिष्टतेत्यभिर्विशब्दार्थे । स्तुतिशील्स्वादनवरतत्वोक्तिः ॥

स्तुतिविषयत्वपस(यु)क्तमैश्वर्योदेरियतारूपं परिच्छेदमपाकरोति बाङ्मनसेति। एतेन— यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम् (के.) सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद (ऋ. ८. ७. ११. ११; यजु. २अ. ८. ९. ६) यतो वाचो निवर्तन्ते, अपाप्य मनसा, सह (आ.) इत्यादीनां वाष्यनसयोरवेदात्वार्थतां वदन्तो निरस्ताः। तथा सित, तिद्विज्ञिज्ञासस्य (सृ.)

खरूपस्यभावः( व )स्रोचितविविधविचित्रानन्तभोग्यभोगोपकाणमोगस्थानसमृद्धानन्ताश्चर्यानन्तमहाविभवानन्तपरिमाणनित्यनिरवद्याक्षरपरमन्योमन्तिस्यः, विविधविचित्रानन्तभोग्य-मोक्टवर्गपरिपूर्णनित्यस्यसम्बद्धस्यविभवस्यस्यस्यः,

मनसा तु विद्युद्धेन (....?) त्रक्षवित् (तै. उ. आ. १.) आनःदं त्रक्षणो विद्वान् (तै. उ.आ. १) इत्यादिभिः, यतो वाचो निवर्तन्ते (तै. उ. आ. १) इत्यत्व यच्छव्दादिभिश्च विरोधपमक्षः॥ विरोध-परिहाराय सुख्यवृत्तिनिषेधविषयतया व्यवस्थाप्यत इति चेत्, आगतोऽपि पन्थानम्; विषयव्यवस्था तु यथाप्रमाणमस्माभिः क्रियत इति विदोषः। वाङ्मनसेत्यादिकं परमध्योमविदोषणतया केचिद्याचश्चते, श्रीवैकुण्ठमद्ये तथोक्तेः। वयं तु अत्रैव षष्टाध्याये 'वोगिनामपि' (१७) इति स्रोके, 'वाङ्मनसापरिच्छेयत्वरूपस्मावम् १ इति परमात्मविदोषणस्वैनैवाभिधानात्, कुनिनिरासार्थमपेक्षतत्वाच अलापि तथा विवक्षामाचस्महे ॥

स्वीचितेत्यः दि । अलाप्यनन्तः अर्थश्वन्दः पूर्ववत् । विश्वशब्देन वाहनरलादिश्रहः। अनन्त-प्रिमाणत्वं तिर्थगृध्वीदिदेशापेश्रया । अधलात् प्रक्लत्यवच्छिन्नरतात् । अनन्तत्वाब्दाष्टतिः प्रस्थेनमानन्त्ये तारपर्यातिरेकात् । नित्यस्यं पाक्रतन्योमवत् उपरहितस्यम् । निरव्यस्यं शुद्धसत्त्वमयस्येन रज्ञतमस्त-त्कार्यराहित्यम् । अक्षरत्यम् अंशतोऽपि सृष्टिसंहारविरहः । पश्मशब्देन परिनिर्देष्टप्रक्रियया पाक्रतन्योमन्त्ययच्छेदः । पतेन, 'तदशरे परमे ब्योमन्' (तै.ना.) इत्यादिश्रुतिस्वनम् । एवं नित्यविमृतियोग उक्तः॥

अथ लीलाविम्तियोगप्रतिपादतमुखेन, 'यहो वा इनानि' (सृ. १) इत्यादिवावनैः, 'जन्माधस्य यतः' (त्र. १, १, १) इति स्लेग च निरूपितं जिज्ञास्यब्रह्मलक्षणयोगं दर्शयित—विविधित । शब्द-स्पर्शादिरूपेण दिव्यादिवादिभेदेन चाल भोग्यवैविध्यवैच्छिये । 'इनानि' इत्यादिश्रख्या इस्तप्रसारणेन तत्तस्यमाणसिद्धसमस्तकार्थमकार्शनदेशात् वहुवचनासङ्कोचाच भोक्णां ज्ञानसुखादितारतन्यदेशुम्तं देवादिरूपेण वैविध्यम् , तद्ववान्तरविधामृतब्राह्मणादिरूपेण वैचिध्यं च दर्शितम् । यहा विविध्यःवद एव सावान्तरभेदं समस्तं वैविध्यं संगृह्णाति । 'विच्छित्र शब्दास्वाध्यर्थ (पर) स्पत्वेन अन्या (मनना) शवयत्वपरः, 'मेघोदयः' इत्यारभ्य 'विष्णोर्विचिताः प्रभवन्ति मायाः' (स. भा. ३०३) इत्यादिवत् । ज्ञानसुखादितारतन्यभावेन परस्वोधि भोत्रतृवैविध्याभावात् परभोग्यतेकरसानां नित्यस्रीणां पृथगुक्तस्वाच तल्यभोत्रतृवर्णानुक्तः । भोगोपकरणभोगस्थानानि अलाप्यर्थसिद्धानि । एवविध्यायाश्च विषमस्प्षेविचितानादिन्यतनकर्मप्रवाहस्तर्थस्य वैषमस्परिद्दिष्यः । शित्रस्वर्धस्वर्णम् । एवं विभवशब्देन विष्णवत्यतारान्तर्योन्वर्यावर्तनम् । उद्यशब्देन सद्वारकप्रसारत्याध्यस्तर्थस्य । त्रस्वर्थस्य विष्णवत्यतारान्तर्योन्तर्यावर्तनम् । उद्यशब्देन सद्वारकप्रसारत्याधिस्तर्यः । त्रस्वर्थस्य विष्णवत्यत्यस्यम् व्यव्यविद्वर्यः । स्थादित्यन्यत्यस्येव व्यवस्यपि उपात्वविदिक्तयोः किमन्यः कर्तेति शङ्काव्यावर्तनाय सप्ट्यादिलयोपादानम् । जगदानां लयाणासुदयविभवळ्यानामेतद्वत्वर्थाल्यवेन व्यवदेशादुपादानस्य स्वत्तस्य । जगदाकारेण

परं त्रश्च पुरुषोत्तमो नारायणाः, त्रशादिखावशन्तमस्विलं जगत् <sup>1</sup>सुन्दा, स्वेन रूपेणाव-स्थितो त्रशादिदेवमतुष्याणां ध्यानाः । धनास्य नाद्यमो चरः, अपारकारुण्यसौशील्यवात्सस्य पैदार्थ-जायमानः वाद्यमिनः वाद्यमे । धनास्य नाद्यमे । त्रिः आ. ६., छा. ६. २.) इति हि जगत्कारणस्य तस्य संकरणः । स्क्ष्मचिद्वचिद्विशिष्ट । व्याससम् त्रकामस्य कथं जगद्यापार इति शङ्कां परिहरता लीला-शब्देन निर्मित्तत्वमि तस्येवेति सिद्धम् । एतेन निमित्तोपादानमेदं वदन्तो निरस्ताः । न च लोके निमित्तोपादानमेददर्शनमालात् विरोधः, लौकिककारणविल्यणत्वात् श्रुतिसिद्धस्य त्रक्षणः । अन्ततो वैशेषिकादिसिर्पि घटेश्वरगतसंयोग-निमाग-द्वित्व-द्विष्ट्यश्चरवादिकार्येष्वीश्वरस्येव निमित्तत्वसुपादानत्वं च अभ्यवगतमिति न कश्चिद्सन्तते दोषः । तथा द्विद्धिद्धस्य प्रकारतित्वस्यस्य ।

एवं ब्रह्मस्थान्योगाचारायनस्यैव परब्रहारंव दर्शयन्, सङ्क्षारमादिसामान्यशब्दानां नारायणास्व-विदोषपर्यवसानं च स्चयन्, 'नारायण परं ब्रह्म' (ते. ना.) इति श्रुत्यनुकारिणः, 'नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः' इति भीतार्थ(आलार्थ)संब्रहर्शो क्रस्य पपञ्चनमिह क्रियत इति ज्ञापयन्, उक्तैः प्रकारैः समास्व्यात्वयमस्यैव संगतमिति चोदाहरन्, उक्तेप्वर्थेषु वा समास्व्यात्वयं प्रमाणयन्, 'परं धाम पवित्नं परंगं भवान्' (गी. १०. १२) 'प्रथितः पुरुषोत्तमः' (गी. १५. १८) 'एष नारायणः श्रीमान्' (ह. वि. ५८. ५०) इत्यसीषां क्रव्णैकविषयस्यं च दर्शयन्, अमेदश्रुतीनां मेदश्रुतीनां घटकश्रुतीनां कारणशोधकोपासनृष्ठुतीनां च निष्कृष्टम्यं संगृहति—परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायण इति । सर्वसामानाधिकरण्यं स्भवैत्यस्ययं वदन्तो निरस्ताः । 'एको ह वे नारायण आसील ब्रह्म। नेशानः' इत्यारम्य, 'तत् ब्रह्म। चतुर्मुखोऽजायत' (महोप. १.२.१), 'यो ब्रह्माणं विद्यमित पूर्वं यो वे वेदांध्य प्रहिणोति तस्मै' (श्रे. ६. १८) इत्याद्यक्तकरणकलेवरप्रदान–हितोपदेष्टृत्वादिकमिषेत्रेत्याह—म्ब्रादि स्थावरान्तमस्थितं जनत् सुष्टुरितः। ब्रह्मस्वर्थस्य स्थावरपर्यन्तस्य जगतः परमात्मसुज्यस्ववचनात् ब्रह्मादिकञ्चिकतः परमात्मा तत्तत् सुज्तीति सिद्धम् ॥

अथ स्वेच्छयाऽवतारं तत्ययोजनं च वक्तुमनवतारदशायां तत्ययोजनानिर्वृत्ति दश्यति— स्वेनेत्यादिना अगोचर इत्यन्तेन । अगोचरत्वम् अध्यक्तत्वात् । यथोच्यते—" वैर्ह्सणैरुपेतस्स हरिरत्यक्तरूपधृत् । तैर्ह्सणैरुपेतौ हि ध्यक्तरूपधरौ युवाम्" (मा. मो. ३४४.४९) इति । श्रक्षादिदेवेति वचनात् , 'तदुपर्यपि बादरायणः संमवात्' (त्र. १.३.२५) इत्यिकरणेऽर्थित्वसामर्थ्याभ्यां समिथितं ब्रह्मस्द्रेन्द्राविदेवजातीनामिष परमात्मोपासनाधिकारित्वं सूचितम् । स्वययोजनामावे कथं प्रवर्देतेत्यलाह अपारेति । सार्थनिरपेक्षया परदुःसासहिष्णुतया, महत्त्वाप्रतिरुद्धया मन्दैः सह निरन्तर-

छ्प्वेत्यस्य अवतीर्थेत्यज्ञान्ययः, न तु अवस्थित इत्यत्र ।

महोदिधिः, खमेव रूपं तत्तरसजातीयभंत्यानं खस्यभावमजहदेव क्वर्वन् तेष्ठतेषु लोकेष्व-वतीर्यावतीर्यं तैस्तैराराधितस्तत्तिदिष्टानुरूपं धर्मार्थकाममोक्षाल्यं फलं प्रयच्छन्,

भृमारावतारणापदेशेनासदादीनामपि समाश्रयणीयस्वायावतीयोंन्याँ सङ्कलमनुज-नयनविषयतां गताः, परावरनिखलजनमनोनयनहारिदिन्यचेष्टितानि कुर्वन् ,

संक्षेपरिसक्तया, सामाविकेन परदोषितरस्कारिणा संबन्धविद्येषेण, पिशाचगोपारुगोपिकादिभ्यः स्वाससमर्थणे क्वतेऽपि कियइत्तमिति भावयता महौदार्थेण च भेरितोऽवतरतीत्यर्थः। (वि.पु.१.२२) अस्वसृषणाध्यायोक्तं विम्नहस्, "समस्ताः शक्तयश्चेता नृप यत्न प्रतिष्ठिताः। तत् विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्वरेसेहत्" इति परामृश्य, "समस्तशक्तरूपाणि तत् करोति जनेश्वर । देविविश्वचनुष्याच्याचेष्ठावित्त स्ववीख्या" (वि. ६.७.
७०.७१) इत्युक्तप्रकारेणायतारिव्यहस्याच्याकृतपरमपदिन्छप्रविग्रहांशिक्षोषस्यं दर्शियतुं स्वमेव रूपम्
इत्यादि उपन्यस्तम् (उक्तम्) । 'नैष गर्भस्वमापेदे न योन्यामवसत् प्रमुः' (मा. स. ६१. ३२),
'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मासमेदोस्थितंभवा (वायु. प्. ३४. ४०, वरा. ४. ४१.) 'न मृतसंष्यंस्थानो
देहोऽस्य परमात्मनः' (मा. उद्यो.) इति चोच्यते । 'अजोऽपि सन् ' (गी. ४. ६.) इत्यादिवश्यमाणमनुसंद्यान आह—स्वस्यावम्बद्वदेति । 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिभविति भारत....
समवामि युगेयुगे' (गी. ४. ७. ८.) इत्यादिविष्यः आह—तेषुतेषु लोकेष्ववतीयावतीयेति । 'स उ
श्रेयान् भवति जायमानः' (यजु. ३. अ. ६. १. ३) 'वस्त्रावतारकृपाणि समर्चन्ति दिवौकसः । अपश्यन्तः
परं रूपम्' (वि. १. १९. ८०) इत्यादिकं सारयितुम् अवतीयावतीये तैस्तराराधितः इत्युक्तम् ।
तत्तदिष्ठानुरूपम् इति वचनात् फलप्रदाने वैषयदोषः परिहतः । 'तस्तिन् प्रसन्ने किमिहास्त्यरूभ्यम्'
(वि. १. १७. ९१) इत्यादि चालानुसंथेयम् ॥

एवमवतारसामान्यं तस्प्रयोजनं च दर्शितम् । अत्न तद्विशेषं प्रस्तुतान्वितं दर्शयति—
भूभारावतारणेत्यादिना । भूभारावतारणं व्याजमात्रम् ; सर्वसमाश्रयणीयत्वं तु साक्षाद्धद्देश्यम् ।
दुष्कृद्विनाशस्य साधुपरित्नाणारूयमहाप्रयोजनानुषिक्तिरुवात् भूभाश्वतारणापदेशेन इत्युक्तम् ।
अस्मदादीनामिति । अयोगिनामित्यर्थः । सर्वसमाश्रयणीयत्वं विष्टणोति— सक्केति । "यत्र देवा
न मुनयो न चाहं न च शंकरः । जानन्ति परमेशस्य तत् विष्णोः परमं पदम्" (वि. १. ९. ५५)
इत्यादिप्रतिपादितप्रकारेण महायोगिनां परिशुद्धेन मनसाऽपि दुर्श्वहः सौकभ्यातिरेकात् मनुष्याणां
तत्नाप्यागोपाल्यम् , अवधीरितविकद्धाविरुद्धविभागानां मांसचञ्चषा श्राखोऽम्दिति भावः। एवमतरण-नयनविषयत्वयोने केवलमाराध्यत्वमेव प्रयोजनम् , किंतु तदनुभदोऽपीत्यभिष्रायेणाह परावरेति । पराः—
उपासनसमर्थाः जगरुद्-निनाकृर्वद्यः । अवशस्तु आभीरप्रभृतयः । तिस्वलजनेति स्विपुंसादिविभागोऽपि नास्तीत्यभिष्रेतम् ; 'युंसां दृष्टिचत्तापहारिणम् (रा. अ. ३. २९) इतिवत्। दिन्यचेष्टितानि-

पूतना - शक्ट <sup>1</sup>यमलार्जुनारिष्ट - प्रलम्ब - चेतुक - कालिय-केशि-कुवलयापीड-चाण्**र सृ**ष्टिक-तोसलकंसादीन् निहत्य अनवधिकदयासीहादानुसाममाविकोकतालायामृनर्विश्वमाप्याययन् . निरतिश्चयसीन्दर्यसीशीरयादिगुणगणाविष्कारेण अकूलमाञाकारादीन् परममागवतान् इत्ता, पाण्डुतनययुद्धप्रीत्साहनव्याजेन परमपुरुषार्थलक्षणमीञ्चलाधनत्या वेदान्तोदितं स्वविषयं नवनीतनटनादीनि । एवं विशेषणद्वयं साधुपरिलाणप्रकारविशेषतयाऽभिहितम् । अथ साधुपरिलाणान-षङ्गिकं दुःकृद्विनाशनप्रकारं पपञ्चयति--पूतने ति । भगवती वरुभद्रस्याप्येतदंशरूपत्वात् परुम्बस्र्षिका-दिहननमप्येतत्कर्तृकतयोपात्तम् । पुनः साधुपरिलाणान्तर्गतां भोग्यतां दर्शगति--- अनवधिकेति । शियतमस्वरूपसंदर्शनं धारकम् : तचेष्टितदर्शनं पोषकम् : तेन सहाऽऽछ,पादिः भोगपकारः इति नयन-विषयत्व—चेष्टितालोकनादिविभागनिर्देशागिप्रायः । दयाः सार्थनिरपेक्षा परदःखनिराकरणेच्छाः सौहादं — हितैष्त्वम् ; अनुरामः — प्रीतिः । एवं साधुपरिलाणं तदौपयिकं दृष्कृद्विनाशनं चोक्तमः अय धर्मसंस्थापनम् आराध्यस्ररूपप्रदर्शनेन, देशकार्लावप्रग्नानामपि परनारवाऽनुप्राहकेणीपदेशेन च दर्शनित-निर्मातक्षयेत्वादिना वाक्यशेषेण । एतचाखिलन्, 'परिलाणाय' (४.८) इनि श्लोके व्याख्यास्यते(ति)। तत्र हि साधनां रुक्षणस्यभावादिकमुक्त्वाऽनन्तर्मेवमुक्तम्---''मत्स्वरूपचे प्रतावरो-कनाळापादिदानेन तेषां परिताणाय, तद्विपरीतानां विनाशाय च. क्षीणस्य वैदिकस्य धर्मस्य मदाराधन-रूपस्य आराध्यस्यरूपप्रदर्शने र स्थापनाय च. देवमनुष्यादिरूपेण युगेयुगे संभवामि'' इति । उपदेशती धर्मस्थापनं व्यासादिमुखेनापि कर्तुं शक्यम् । आराध्याकारप्रदर्शनेन स्थापनं तु स्वेनैवावश्यकर्तव्यमिति भावः । वाह्यान्तरकरणप्राह्मगणवर्गद्वयपदर्शनतया सीन्द्रधेशीशीरययोग्रहणम् । पश्मभागवतान करवेति । भगवद्धक्तिरूपपरधर्मनिष्ठान् कृत्वेत्वर्थः ॥

एवं प्राचीनभगवचित्तस्य श्रीमद्गीतार्थीपदेशेन संगिः प्रदर्शिता । पाण्डुतनस्ययुद्धप्रोत्माह्ननव्याजेनेति तु भारतकथासंगितः । अत व्याजशब्देन, 'अस्थानज्ञेहक,रूण्यधनीपर्भिषयाऽऽकुलम् । पार्थ
प्रमण्डुहिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्' (गी. सं. ५) इत्यत्र उन्हेश्य इति पदस्याभिष्रायो विष्टतः ।
परमणुक्षार्थ इत्यादिना शास्त्रस्य परमभयोजनाभिधानम् । तेनाल भूवित्यायामिवात्मानुभवोक्तिरि
पश्चर्योक्तिवत् भगवदनुभवापेक्षया निकृष्यपुरुषार्थ[पर्व]त्वज्ञापनायित स्वितम् । मोक्षमाधननयेति साध्य
साधनभावनिर्देशेन संसार्थात्मन एव नित्यमुक्ति वदन्तो निराक्वताः । वेदान्तोदितं — वेदान्तविहितम् ,
न तु वेदान्तोत्पादितमित्यर्थः । एतेन अभिधेयज्ञानवादिनः निरस्ताः । वेदान्तोदितं स्वार्थस्योपग्रेहणमत्र
क्रियत इति भावः । स्वविषयमिति—मोक्षार्थीपसनवावयानामनन्यपरतया साक्षात्परमणुरुषाराधन-

<sup>1</sup> यमळार्जुनेति। नशकुवरमणिश्रीययोर्वक्षरोः । १ त्हापान् अञ्चन्त्रुश्वस्यक्षेण गोकुले जन्म । तच्छापविमोचनं कृष्णेनेति तक्ष्ये तास्यां अतीक्षा तः कृता । गोकुलस्याश्च वहुविधमद्रवदानेन तास्यां प्रीणिता रति हरिवेशे। अथापि यमळार्जुनयारसुरमावना दित्यवनन्धानुसारेण। तत्तासुरयोः प्रवेशन्म प्रतनोऽष्यानेः। गोपालेविश ैद्धरेतस्कीर्तनं यक्षयोरसुरयोश्चानुसंधानेनेति ध्येयम्।

## श्वानकर्मानुगृहीतं मित्तयोगसवनात्यामास ।

तत पाण्डवानः कुरूषां च युद्धे प्रारव्ये त भगवान् पृथ्वोत्तमः सर्वेश्वरेश्वरो जगदुपकृतिमत्यः आश्रितवात्मरयविव्यक्षः पार्थं रिधवमात्मानं च मार्थके सर्वेशोकसाक्षिकं चकार ।
विषयत्वमेव । अश्रविश्वरम्वदेशविद्यादिषु रुद्धेन्द्रादिनिः लख्य मुमुश्रूपाखत्ववचनेऽपि रुद्धेन्द्राद्यन्तर्यामिन्दः परमासैवोपास्य इति, 'शाख्यदृष्ट्या तृपदेशो वामदेववत्' (१,१,२१) इति सूत्रकारेरेन पति
पादितमिति भावः । एतेन वेदान्तोदितस्यमाद्यात्म्यवादिनो भगवतः 'खगुणाविष्क्रियादोषो नात्त
भृतार्थश्रासिनः' (काव्या. १,२१) इति स्वितम् । स्विवयमिति भक्तियोगस्य सिद्धरूपपरमप्रतिपाद्यानुवन्यत्वं दर्शितम् । प्रधानविश्वयाद्यानिन्कर्षाय भक्तियोगश्रित्युक्तम् । ज्ञानकर्मानुगृद्दीतत्वं
ज्ञानकर्मसाध्यत्वम् । एतेन तत्समुच्यादिपक्षा निरस्ताः । वेरान्यस्य संग्रहरूके (।) प्रथमक्तसापि निष्ठाद्वयानुपविष्टत्वादिहानुक्तिः। एवमुपायोपयाद्यक्तमुम्यमपि शाख्यतिपाद्यमिति संग्रहरूके कतात्पर्यमुक्तं भवति ।
भोक्षसाधनत्वा वेदान्तोदिनं भक्तियोगमिति वचनात् उपासनस्यार्वाचीनव्यवपादिसाधनत्वं
वावयार्थज्ञानमातस्य मोक्षसाधनत्वं च वदन्तः प्रस्तुकाः । ज्ञानध्यानाहिसामान्यवचलां भक्तिस्पविदेशेषे
पर्यवसानिति च भावः । एतस्याख्वरुक्तस्य व्यक्ति ॥

प्वं शाक्षं संगमय्य, शाक्षोपोव्यातं संगमयितुं धाण्डुतन्येत्यादिना स्चितं पूर्वहृतानंत शकटयन्, सारियत्वेनावस्थायाऽऽचार्यकृत्यकरणे प्रतारकत्वशक्कां च वारयित-तन्नेति । तन्न=प्रथमं मक्तियोगमवतार्ययुमेवं चकारेत्वर्थः ; यहा तत्व=युद्धे प्रारच्ये इत्यन्यः ; मक्तियोगावतरणव्याजमृतप्रोत्साहनविषयम्ते युद्धे प्रारच्ये इत्यथः । मगवतोऽवतारदशायामिष पूर्णत्वस्थाच्छन्यादिकं वात्सस्यादिमूलसार्य्यायपृष्टकर्मानुष्ठानस्य गुणरूपत्वादिकं च प्रदर्शयितुं स मगवान् इत्यादि उक्तम् । स मगवान् पुरुषोत्तमः सर्वेश्वरेश्वरः इति चतुर्भः पदैः सरूपगुणवैरुक्षण्यविभूत्यादिप्रतिपादनेन परत्वसंप्रहः । सर्वेश्वरेश्वरः इत्यनेन, 'सर्वेश्वरेश्वरः इत्यनेन, 'सर्वेश्वरेश्वरः इत्यनः' (वि. ध. ७५. ४३.) इत्यादिवचनोक्तं साच्छन्यं जगत्कुटु-चित्वं च ज्ञापितम् । जगदुपक्वतिमत्यं आश्वितवात्तस्यविवज्ञः इति सौकभ्यसंप्रहः । अविप्ररूप्तम्वतं च ज्ञापितम् । जगदुपक्वतिमत्यं आश्वितवात्तस्यविवज्ञः इति सौकभ्यसंप्रहः । अविप्ररूप्तम्वतं च चानेन व्यक्षितम् ; 'जगतामुक्काराय' (वि. पु. ६. ७. ७२) जगदुपक्वतिमत्यं को विजेतुं समर्थः (वि. ५. ३०. ८०) इत्यादिकमिह सारितम् । जगदुपक्वतिमर्थत्वेऽप्युत्कृष्टचित्तं परित्यच्य निक्वष्टसार्य्यादिक्तयं किमथं कुरते इत्यतोक्तन् — आश्वितवात्सस्यविवज्ञः इति । पार्थं रथिनमात्मानं च सारियमिति । अपकृष्टं पार्थत्कर्धे स्वयमे।वस्थाप्य आ(सा)त्मानमुत्कृष्टं निक्वष्टकृत्ये वकारेति भावः । पार्थश्वत्वते वात्सस्यौपयिकरोक्तिकसंवन्यविश्वोऽपि स्चितः ; पितृष्वसा हि पृथा भगवतः । स्वरोक्तसक्तिस्यादिक्रसिक्तिमिति । न चासौ निक्वष्टकृत्वं सापत्यो रहस्ये कृतवान् ; अत इदमपि आश्वितः

श्रीवराङ्कु रा दिःयस्रि श्रीमुखस्क 7-5-9. देशमरियबोर सारिथयायु इति ।
 तब—मक्तियोगावतारै निमित्ते इति प्रथमपक्षेऽर्थः। द्वितीये पक्षे तबेति युद्धविरोणं

<sup>2</sup> तत्र—मक्तियोगावतारै निमित्ते इति प्रथमपक्षेऽर्थः । द्वितीये पक्षे तत्रेति युद्धविशेणं सामानाधिकरण्येन ।

## श्रीभगवदीतायां प्रथमीऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच-

धमेक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समबेता युद्धासणः । गामकाः पाण्डवाश्चव किपकुर्वत सञ्जय ॥ भा. एवं ज्ञात्वाऽपि सर्वारमनाऽन्धो धृदराष्ट्रः सुयोधनविजयबुस्रत्मया सञ्जयं पत्रच्छ ।

वात्सस्यस्य नैरपेक्यस्य अर्थापह्रवाद्यसंभवस्य च लिङ्गिमिति भावः । यद्वा सर्वेषां स्वसमाश्रयणेन पुरुषार्थ-लामाय स्वस्य शास्त्रीकसमाधिगम्याश्रितपारतःच्यं सर्वलोकप्रत्यक्षं चकारेति भावः ॥

अथ 'त्वां शील्ह्यप' (सो. ५) इत्यादिक्रमेण अनन्यसाधारणशील-रूप-चरित-परमसत्त-प्रवलशाल-देवतापारमार्थ्यवेदिशान्तनवसङ्घयादिवनैरप्याप्तरप्रकृतीनां यथावदवगन्तुमशक्यतां प्रदर्शयन्, गितोपनिषद्यत्वावार्ये प्रथमश्चोकमयतारयित-एपः मिति । श्रियः पतिरित्यदिना पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यर्थः । स्वित्यमान्त्रं प्रयोधनविज्ञयास्त्रिल- न केवलं चल्लुपा, परलेह च हितमजानता मनसाऽपीत्यर्थः । स्वित्यमान्त्रं प्रयोधनविज्ञयास्त्रिलेण प्रथे हेतुः । अल मानकाः इति प्रथानत्या, ममकारेण, 'यल गोगेश्वरः' (१८. ७८) इत्यादिप्रतिवचनप्रक्रियया च स्वितः प्रष्टुप्तिमान्यं दर्शयितुं मुयोधनेत्यादिकमुक्तम् । सङ्गयापिति । व्यासप्रसादस्वयसकलभारतस्वरद्यतः तत्तसाक्षात्कारन् 'ग्रुद्धभावं गतो भवत्या शास्त्रात् विद्या जनादिनम् ' (भा. उ. ६८. ५) इत्यादिवादिनन् । एवं यथार्थदितित्व-यथादृष्यविद्याम्यामासतमत्वया निर्णीतिमिति भावः । पप्रच्छ समरवृतान्तमिति शेषः ॥

धर्भक्षेत्रे—धर्भस्य स्थानस्ते, समराध्वरसमुचिते इति भावः । कुरुशेत्रे पाण्डवधार्तराष्ट्राणां स्वकूटस्थनामोपळक्षितत्वेन <sup>1</sup>बहुमानिषय इति भावः । सुयुत्मवः समवेताः—मिश्रः प्रत्यनीकरूपेण व्यूडा इत्यर्थः । च, एव इत्यव्ययद्वयमनितिरक्तःथम् ; यद्वा समस्तम् एण्डळवर्तिनां राज्ञां तल <sup>2</sup>समा-हिरेऽपि तादर्थ्यात् वर्गद्वयमेव तथाऽभृदिति एपकाराभिषायः। अद्भवत इत्याग्मनेपदेन कर्त्तिभिषायिकया-फळविषयेण स्वार्थतीका ॥

एवं <sup>8</sup>सुबोधनविजयबुसुत्सया इटास्य प्रक्षस्य यत्न थोगेश्वरः इति साक्षादुत्तरं वक्ष्यन् , तत्पत्या-यनार्थमित्वरुमवान्तरवृत्त[ान्त]मपि सञ्जय उवाच-दृद्दे**ि । पाण्डवानीकं व्यृदं दृष्ट्**। इति सुयोधनस्य वैर्यभ्रशहेतुः । तद्यीनो वैर्थभ्रशरूपोऽवस्थाविरोषः तुशब्देन सुच्यते ।

हरिवंशोतः मिद्मिद्दोपोर टिप्पेषे प्रदर्यत । कुरुणा क्षत्रं कुरुलेत्रम् इति कुरूपळिलातंवे कुसुमाञ्जल्युक्तं सार्यते उपळिलातपेदन ।

<sup>2</sup> समाहारपदेन क्लोके चकारः अनुक्तसक्तराजादिसमुद्यायक इति दर्शितम ।

<sup>3</sup> नतु खुयोधनविजयबुभुत्सया प्रश्ने यश्योगेश्वर इति वाक्यमेव प्रथमं वक्तव्यम् । तद् विद्वाय दुर्योधनविषादादिकं किमथेमुच्यत इत्यवाह एवं सुयोधनेति मावः। श्रविस्तर्मवान्तरचुत्तान्तमपीति। अस्य सर्वेख दुर्योधनस्य विजयायोगोपपादकत्वादुक्तिरिति भावः। अस्नास्त्रिस्तरित पदेन विविद्धिः विवृद्धानः—घृतराष्ट्रप्रश्नोऽयं किविषयकः, तस्य कियददूरं समाधानमिति पूर्वोत्तरसंदर्भे मारते विवृद्धानः प्रमाद्यान्त स्वास्तर्भे केवायव्याने विवृद्धान्ति स्वर्षाद्यम् । तत्र भारते षष्ठे भीष्मपर्वणि जनमेन्नवम्भे वैदास्पायन एक्साह्य—स्यास्त्रभावान्

## सञ्जय स्वाच-

हप्ट्वा तु पाण्डवानीकं न्यूहं दुर्योधनस्तर् । आवार्ममुवसंगम्य राजा बचनमववीत् पद्येतां पाण्डवुत्राणामाचार्यं महतीं चमुन । न्यूहां दुवशपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

स्तुलिपाठ—परिषेचनादिकियामावामाविज्ञश्वामार्थोऽयं प्रदत होते । तहिद्दहं युद्धचिकोषेया प्रविधाः कि युद्धनेवारमन्त, आहो ततः आक् किमिप पश्चह्ये वृत्तिमिति प्रश्ततायर्थम् — एतत्तमाधानं दुर्योधनिवादरमन्त, आहो ततः आक् किमिप पश्चह्ये वृत्तिमिति प्रश्ततायर्थम् — एतत्तमाधानं दुर्योधनिवादरभावादि, अर्जुनिवादरत्विद्धारः श्रीतोतोपदेशादि अथ धर्मपुत्रकृतन्ति। भाषादिशणामादि वृत्ति समाधिकारः । अत्र आधात् धर्मसेते हति पदादि बायते—हरिवंशोक्तरीत्या (22) कृष्ठणा महात्मना बहुलेवत्त्वरकृततप्रसा यत्र देवेन्द्रानुमहो छेन्धाः, यत् पुण्यशास्त्रिवासस्थानं पुण्यक्षेत्रस्त्र तत्र प्रविधानां साधुनुद्धिः कर्ये निति धृत्रप्रदूशे क्रिकास्तर स्मिति । तद्वन्न प्रविधानां साधुनुद्धिः कर्ये निति धृत्रप्रदूशे क्रिकासिक स्मिति । तद्वन प्रविधानमिति स्मित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक स्मित्रप्रदेशिक समित्रपर्यक्ष समित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक समित्रप्रदेशिक समित्रपर्याचिक समित्रपरिक समित्रप्रदेशिक समित्रपरिक समित्रपरिक

टि॰-सेनोद्योगमभिलक्ष्य भृतराष्ट्रसविधमागन्यः, महत् युध्दं भविष्यति, सर्वे नक्ष्यन्ति । तहिदक्षा तेऽस्ति चेत्, चक्षर्शस्त्रामीति । घृतराष्टो ज्ञातवधं द्राद्ववनिष्कुः श्रवणोपायमेव पत्रच्छ । ब्यासः संजयाय देवं चक्षः प्रदाय, अयं ते सर्वे वङ्यताति चोकृत्वा दुर्निमित्तानि जातान्युपवण्ये युद्धनिरोधनं ते युक्तविति चोपदिदेश। धूनराष्टस्त-स्वार्थत्रवृतिः सर्वेस्रोकसाधारणी मामपि न जहाति। यद् भावि तद् भवेदेव। न च मे पुत्रा वशे स्थिताः इत्युक्तरवा जयलिङ्गानि कानीत्यपुच्छत्। तत्र वक्तव्यमसिचाय व्यासी जगाम। अथ तेन कियद्विस्तृतेयं स्मिः, यहिल्सया राजानः करंहायन्त इति पृष्टः सञ्जयो विस्तरेण भूमण्डलस्यवण्यं युद्धं द्रेष्ट्रमगरछ्ये । तत्र युद्धे भीष्मयधप्यन्तं सर्वे दण्दा पश्चादेव धृतराष्ट्रमासाय वृत्तं वयमयोचत् । अथ ल दुर्योधनपुद्धमवस्यनं चित्यमालक्ष्य विषण्णः, यदेतावत् वृत्तं तत् सर्वे विस्तरेण श्रोतुमैच्छत् । अथ सञ्जयः दुर्योधनेन भीष्मरक्षणाय छतं सर्वमभिधाय सैन्यद्वशोद्योगं परसैन्यद्दीनेत युधिष्ठिरस्य भवं तदा धनल्लय्झतं प्रोत्साह-नक्ष्त्रीकृत्वा, यतो धर्मस्ततः द्वष्णः यतः कृष्णस्ततो जयः इत्यदोचत् । अथ धृतराष्ट्रः पश्रच्छ--मामका वा पाण्डवा वा केऽब युद्धे सोत्साहा आधन् , के च विह्नला इति । उभयेपामण्यत्साहः समझ इत्युत्तरं सक्षयेन इतस्। तद्वन्तरमयं प्रश्नो घृतराष्ट्रस्य, 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इति। पतत्प्रश्नात पूर्वे भीष्मपर्वणि 24 अध्याया गताः। अथ गीता अद्यादशाध्यायी। अथानन्तरे त्रयश्चत्वारिशे अध्याये अर्जुनस्य सोत्साहदवृतिम्, धर्मपुणस्य कववादिकसुन्तुच्य पदभ्यामेव परसैन्यमध्ये प्रवेशम् . कियतदिति सर्देषां विस्तयसंभ्रतदिकम्, अथ धर्मपुत्रकृतं भीष्मद्रोणकृपाचार्यनमस्कारं, ततो युक्तः तुमति प्रार्थनं तैः इतमनुत्रहम्, ततो घर्षपुत्र स्वस्थानमागते युद्धप्रारमभञ्च वश्यति सञ्जयः । अथ चतुश्चत्वारिशे पुनर्धनसस्ट्रमञ्जा, उत्तयोः संत्योः प्रवृत्तयोः प्रयमं के प्रदर्शर आलिविति । तस्मात् प्रहारात्मक्युद्धकार्यप्रश्नः पश्चात् सविष्यति, अयं तु धर्वसेत्र इति प्रश्नलद्भयविषयक इति, अस्य समायानञ्च पुनः प्रश्नारस्भपर्यन्तभागोत्तमिति च खरसतोऽवसीयते । तद्व स्टोके ययःसवः समवेताः किमकुर्वन्निति प्रश्तमंग्याऽपि छुज्ञातस् । युपुरसदो हि युद्धे प्रविधाः युद्यसेव करिप्यन्ति । तत्र किमकुर्तनेति कोऽयं प्रश्नः । बुसुश्रव आसने उपविष्ठाः किष्ठकुर्वनेति यदि कश्चित पुष्छेत, तस्य मोजने संशयाजावात् पदनाभिष्रतयस्यद् वक्तस्यम्, कर्तस्यात् भोजनात् पूर्व अत्र शुरा महेष्यासा भीमार्जुनममा गुणि । युदुधानी विगटश्च हुपर्श्य महारथः ॥ ४ धृष्टकेतुश्चिकितानः शाशीगाजश्च नीर्यवाद । पुरुजित कृष्टिमोजश्च शैव्यश्च नरपुक्षतः ॥ ५ धृधामम्बुश्च विकास्त उ कौत्रश्च जिल्हा । भीमद्रो द्वावरियाश्च सर्वे पव महारथाः ६ अस्माकं तु विकिष्टा य नराने द्वाविद्याद्व हिजोत्तरः । भाषाश्चामार विकर्णश्च जीमश्चित्रसर्थेव च ॥ ८ सम्बे च वहव, शुरु मर्थ्ये राक्तिवित्तः । नामाश्चास्ववहरणाः मर्ने युद्धविद्यारदाः ॥ ९ सम्बे त्वस्याते तदस्यकं बले भ प्याभिरिक्तम् । पर्योतं दिवाशेने यां वले भामानि रिक्षित्तम् ॥ १० स्थानेषु च सर्वेषु वथामागम्बर्धः। । भीष्मोजः विषयं तु भवन्तः सर्वे द्वाविद्यार्थः । । भीष्मोजः विरस्त तु भवन्तः सर्वे द्वाविद्यार्थः ॥ १० स्थानेषु च सर्वेषु वथामागम्बर्धः। । भीष्मोजः विरस्त तु भवन्तः सर्वे द्वाविद्यार्थः । ।

दुर्योदनः स्वयमेव भीनाभिरक्षितं पाण्डवानां वस्तम्, आत्मीयं च भीष्माभिरिक्षतं वस्तमवस्नोक्य, अन्म (आत्मीय) विजये तस्य वस्तरा पर्याप्तताम् आत्मीयस्य वस्तरा तद्विजये चापर्याप्तवामाचार्याय विवेदा अन्तर्विपण्णोऽभवत् ॥ २—११ ॥

् दृष्ट्वेत्यादेः अनुनाद्यशित्यन्तत्याव्यक्तांशं व्यञ्जयति-दृयोधन इत्यादिना अकथयदित्यन्तेन । संज्ञार्थ-सम्यग्ज्ञानार्थम् ; संज्ञया परिसंख्यानार्थं वा । तल अन्तर्विषण्णोऽभवत् इत्यन्तेन भीष्ममे-वाभिरक्षन्तः भवन्तः सर्व एव हि इत्येतदन्तं व्याख्यातम् ।

अपर्याप्तमिति स्रोकस्यायमर्थः-तत्त्-तसात् ; असाकं वर्त्त भीष्माभिरक्षितम् अपर्याप्तं-परवरू-विजयाय नारुम् ; इदं त्वेतेषां पाण्डवानां वर्त्त भीमाभिरक्षितं पर्याप्तम् -असम्ब्रह्णविजयायारुम् -इति ।

निवदमनुष्यस्य , <sup>1</sup>तत् बल्हिति सामानाधिकरण्यपतीतिमङ्गायोगात् ; पूर्वत्न च परवलस्ववल्योः सामाध्यीसामर्थ्यहेतूपन्यासाभावात् । न च शीन्मद्रोणादिरक्षितं खदलमयमसमर्थं मन्यते । प्रवलानान्मेव हि भीष्मद्रोणादीनां वधः सोपाधिकः । 'न भेतत्वं महाराज' (भा. उ. ५५ १) इत्यादिषु च बहुशः स्वबल्द्येव सामर्थ्यं दुर्योधनेनोपन्यस्तम् । न चेदानीं तद्विपरीतप्रतीती कारणमस्ति । द्वितीय-दिवसारम्भे च दुर्योधन एवं वक्ष्यति—अपर्याप्तं तदस्माकं बलं पार्थाभिरक्षितम् । पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं पार्थिवसत्तर्माः ॥ (भा. भी. ५१. ६) इति । तल च अस्माकमपर्याप्तमित्येवान्वयः ; न पुनः अस्माकं चल्रम्रिति । ततोऽत्वापि तथैव वचनव्यक्तिरुचिता ।

तसात् (1)पाठमेदेन, (2)व्यवहितान्वयेन, (8)वाक्यभेदेन, (4)पदार्थभेदेन वा योजना स्थात् । तत्र भीमभीष्मशब्दयोर्विपर्यासात् पाठमेदः। तथाच भीमाभिरक्षितं तत् बरुमस्माकमप्रयोप्तिमित्यन्वये सामानाधिकरण्यम् ; तिद्विति विभक्वष्टिनिर्देशस्वारस्यम् ; दुर्योधनाभिपायाविरोधश्च सिध्यति । च्यवहितान्वयेऽप्ययमेवार्थः । द्विषा च व्यवहितान्वयोऽत्र शक्यः । भीमाभिरक्षित-भीष्माभिरक्षितशब्द-योर्विपर्यासादेकः । अपर्योप्तं तत् , पर्याप्तं तिवदम् , इत्यनयोर्विपर्यासात् द्वितीयः । अपर्योप्तित्याय त्र

शांकरभाष्यादिषु एनङ्कागब्याच्यानस्याकरणेऽपि अन्यप्रौदपण्डितस्रतः पूर्वपक्षोऽयमिति
 द्रष्टस्यम् । खगोष्ठधामेव विमुद्यमिति वा ।

व्यवधानमातं सद्धते । वाक्यभेदेऽप्येवं योजना-अपर्याप्तं तदित्येका प्रतिज्ञा ; पर्याप्तं तिवदिमिति द्वितीया । अत्र को हेतुरिति शंकायां हेतुपरं वाक्यद्वयम् ; अस्माकं वर्ल भीष्माभिरक्षितिमिति । अस्मद्बलस्य भवलाधिष्ठतत्वात् परवल्ख[च] दुर्वलाधिष्ठितःवादित्यर्थः । पद्धिभेदे त्वेवं योजना-पर्याप्तं
पर्यापनं समापनम् ; पर्याप्तमिति कर्तिरि क्तः, नाशनसमर्थम् ; अपर्याप्तं नाशनासमर्थमित्यर्थः। भीष्माभिरिक्षितमस्माकं वर्लं तत् अपर्याप्तं नाशियतुं न शक्तोति । तदिति अत्र पण्डववलं कर्तृतवा निर्दिश्यते ;
इदमिति च स्ववलं परवलपर्यापनकर्नृतया । निष्ठायोगाच न कर्मणि षष्ठीपाप्तिः । यद्वा अपर्याप्तम् —
अपरिमितमित्यर्थः; पर्याप्त-परिमितमित्यर्थः ; स्ववलस्यैकादशाक्षीहिणीयुक्तस्वात् , परवलस्य सप्ताक्षोहिणीयुक्तस्वाच । सर्वथा तावल स्ववलदौर्वल्यं परवलपावल्यं च युद्धारम्भे दुर्वोधनः प्रसङ्गयेदिति ।

सोऽयं <sup>1</sup>घण्टापथात् पाटचरकुटीरमवेशः। तथा हि-इह तावत् भीष्माभिरक्षितिमस्येतस्यितिशिरस्वया भीमाभिरक्षितिमिति केनाभिपायेण निर्दिश्यते १ न तावत् भीष्मयत् भीमस्यापि सेनापितस्वेतः । षृष्ट्युप्तस्य तस्पितस्वेनोक्तस्वात् । नापि भीष्मसमपौरुषद्वेन ; अत्यन्तविषमतया प्रसिद्धेः । यथोक्तं भीष्मणैव— "शक्तोऽहं धनुपैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान् । यथेषां न भवेत् गोप्ता विष्णुः कारणपूरुषः" (भा. भी. १२०.३१) इति । नापि प्रतिवर्षाधीश्वरस्वेन ; धर्मस्नोक्तथात्वात् । नापि परवरुमटम्प्रानत्वेन ; अर्जुनस्यैव तथा प्रसिद्धेः । अतो भीमस्य समस्त्रधातराष्ट्रवधदीक्षितस्वात् तदुचितसाहसवलसहायादि-युक्तस्वाच तस्य विशेषतो निर्देशः । एवं सित तस्यितिशरस्वेन भीष्मस्य निर्देशोऽपि समस्तपाण्डुतनय-सरक्षणप्रवणस्वेन प्रतिपन्नत्वात् । अतः शत्नुमयसहाया(यका १)तिशङ्के पदद्वयस्चितं इत्युक्तं भवति ।

यतुक्तं पूर्वत परवरुखवळ्योः सामर्थ्यांसामर्थ्यहेतुः कश्चित्रोक्त इति-तद्य्यसमिक्षितवचनम् । उपक्रमे हि प्रथममेव खवरुखतुरुशौहिणीन्यूनाऽपि महर्ती चमूस् इति प्रतिचमूर्विर्णता । अनन्तरं धीमता इत्यन्तेन प्रतिसेनापित्विर्णितः । तदनन्तरं च श्रत्र श्रूरा महेष्यासाः इत्यारभ्य सर्व एव महारथाः इत्यन्तेन इष्टान्तीकृतभीमार्जुनाभ्यां सह आसर्ज्ञविर्वातंस्त्वाः पुरुषा निरित्तशयपौरुषतया वर्णिताः । खपक्षे तु न चमूर्विर्णता ; नापि सेनापितः । खवरुप्रधानपरिसंख्याने च सस पुरुषा उपाताः । व्यतिरिक्तास्त्वाकृतिगणत्वेन, अन्ये च चह्यः श्रूराः इत्युक्ताः । मदर्थे त्यक्तजीविताः इति चोक्तम्, न तु मदर्थे जिपीषव इति । साभिसन्धिकत्वमेव तेनापि प्रतिपाद्यत इति चेत् , सत्यम् । तथापि वचनव्यक्तिमकार एवविषः । अभिसन्धिवानायापि हि त्यक्तजीवितवववचनं प्रतिभटानां बर्शयस्ववुद्धवेव भवति । अनन्तरं च 'तस्य संजनयन् हर्षे कुरुहद्धः पितामहः' इति दुर्वोधनत्य जनयितव्यहर्षत्वेन पूर्वे विषादः खरसतः प्रतीयते । (स्च्यते) एतदभिप्रायेणोक्तम् — अन्तर्विष्णोऽभवत् इति । परसाच्च "स घोषो धार्तराष्ट्रणां हृद्यानि व्यदारयत्" इति धार्तराष्ट्रहृद्धवसंक्षोम एवोच्यते । अत उपक्रमे प्रतिचन्तरहिना-पितसम्यभरवर्णनात्, उपसंहारेऽपि शङ्खश्चवन्तम् । हृद्यसंक्षोमवचनात्, मध्ये जनयितव्यहर्षत्वेन पितसम्बम्यवनेनात्, उपसंहारेऽपि शङ्खश्चवन्तम् हृद्दवसंक्षोमवचनात् , मध्ये जनयितव्यहर्षत्वेन

निक्ष्यद्ववराजमार्गे परित्यज्य चोरवासस्थानाथितमार्गप्रवेश इत्यर्थः ।

विषादोत्प(दाप) तितद्यनयनसूचनात् , एतच्छ्छोकस्वारस्याच, उक्तार्थं एव तारपर्यम् । अतस्वच्छ्ब्दस्य तसादिति हेत्वर्थत्समुपन्यस्य । अत एव विषक्वष्टिनिईश्चचोर्यं च परिहृतम् । न च परव्छमिदानीं दुर्योधनस्य परोक्षम् , ''हृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्'', प्रयेताम् , एतेषाम् इत्यादिशत्यक्षनिर्देशात् । यत्तु भीप्मद्रोणादिरक्षितस्य स्वव्यस्य द्रोवरुपश्चनीतिर(ने) युक्तेति—तदप्यसत् ; सोपाधिकस्यापि भीष्मद्रोणादिवषस्य ज्ञातोपाधिना दुर्योधनेन शिक्ष्वरुपत्यस्ति। टतु "न मेतत्यम्" इत्यादौ बहुशः स्वव्यसामर्थ्यमुपन्यस्तम् ; इदानी च तृहिपरीतमतीतौ हेतुर्नास्तीति—तदिप न । यथाऽर्जुनो ज्ञिशांस्य शरचापोधमनपर्यन्तं प्रवृतोऽपि हः न्व्यवन्यसमुद्रायसंनिधिसंदर्शनेनोल्यणैः स्रेहकारूण्यधर्माधर्मभयराकुर्लीकृतः पुनर्भगवता पर्यवस्थाप्यते, तथाऽस्तापि हदवित्वस्यहृबहुमहाभटनिविज्ञपतिभटवरु साक्षास्त्राराहुरुवणमयविषादो दुर्योधने कीन्सेण पर्यवस्थापि(प्य)त इति किमनुपपत्यप् ! प्रत्यक्षित् च दुर्वोधनेन गोप्रहण् स्वय्वस्य "अक्तरादीनि नामानि अर्जुनतस्त्वेतसः" (भा. स.) इति ।

यतु द्वितीयदिवसारम्भोक्तवचनः धिन्दिव अलापि वचनः चिक्तः कार्येति, तद्रिप मन्द्रम् । न द्ववस्यमेकदेश-साह्य्यात् सर्वथासाह्य्येन भवितव्यिति तिरामः ॥ प्रथमद्वितीयदिवसयोरिमायभेदोऽनुपपन्न इति चेत् , न ; युद्धसिद्धेश्वख्यव्यवस्योति नि विष्मत्यादिभिष्मायभद्धतेः । किं चालाचार्यभीष्माम्भा सह व्यूहान्तरमार्गेषु यथाभगमवस्यापन-सेनाथिपत्तिसंद्धः । दिदित्तनिरूपणे प्रवृत्तत्वादेवमिष्माय उपपन्नः । तदेतद्वितम्— अःचार्याप नि वेद्यान्दि हित्तिक्तरणे प्रवृत्तत्वादेवमिष्माय उपपन्नः । तदेतद्वितम्— अःचार्याप नि वेद्यान्दि । च प्रवृत्तत्वाद्यान्त्य हृत्या विद्यान्दि । तदेतद्व अखिलक्षमिष्मेत्य हृष्या दिवति तृद्यादः प्रवृक्तः । इदं च प्रारम्भे दैवोपहतस्य दुर्योधनस्यातिकतागतिवादिन् स्व स्वक्रस्यापयीत्ववचनमागामिनमपत्रयं स्वयति । अतः सर्वजनपितपाठस्वरसिद्धार्थस्य निर्देष-त्वात् , पाठमेदादिपक्षाः परिक्षीणाः ; पाठमेद-व्यवहितान्वय-वावयमेद-अपसिद्धार्थस्य निर्देष-त्वात् , पाठमेदादिपक्षाः परिक्षीणाः ; पाठमेद-व्यवहितान्वय-वावयमेद-अपसिद्धार्थस्य निर्देषः प्रवृत्ते । यो हि प्रवलो दुर्वेशे वा यद्धरं रक्षति , स तस्य पर्याप्तौ अपर्याप्तौ वा हेतुः स्यात् ; न द्य तस्यितवस्य । फरुतस्य वित्ते च वित् , तद्दा(था)ऽप्यसारस्यम् । प्रातिलोन्येन हेत्योरन्वय इति चेत् , तिर्द्धि समुच्चियक्षत्वयान्त्रायान्तः। हेतुद्धसं समुच्चियक्ष परिवेशः। एवं दृषणान्तराज्यपि माव्यवितान्वयासारस्यमेन परिहारः, समुच्चायकशव्दामावश्चाधिको दोषः। एवं दृषणान्तराज्यपि माव्यवितान्वयासारस्यमेनवर्षः इति ॥ २—११॥

गोशर्णिति । विराटनगरे गोशर्णस्याजेत पाण्डयः रिभवकरणाय गताः दुर्योधनादयः सक्षेत्र्या अर्जुतेन परिभृताः । खश्र्हणेति । वत्र्यासाधन्तरे स्ववैभवप्रदर्शनेन पाण्डवाबमाननाय गतास्ते यक्षेर्गृहीताः पाण्डवपराक्षमैणैव स्वयं ततो मोचिताः परिभृताः प्रत्यागताः ।

तस्य संजनयन हर्षे कुरुवुद्धः पितामहः । सिंहनर्द विनवीचैः शक्कं दश्मौ यतापवान् ॥ १२ ततः शक्काश्च मेथश्च पणवानकाोमुखाः । सहत्ववाभ्यहःयन्त स शब्दरुभुकोऽभवत् ॥ १३ ततः श्वेतर्देथेपुके महति स्यन्दने स्थितौ । माधवः याण्डनश्चेत्र दिश्यौ शक्को प्रदश्मतुः ॥ १४ पाञ्चन्ये हृषीकेशो देवर्क्ष घनखयः । पौण्ड्रं दश्मौ महाशङ्घ भीमकर्मा दृकोइरः ॥ १५ धनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । नकुङः सहदेवश्च सुधोपमणिपुष्पकौ ॥ १६ काद्दश्च परमेष्वासः शिलण्डी च महारयः । धृष्युत्तो विराटश्च सान्यिकश्चपराजितः ॥ १७ द्वपते द्वपते विष्वाश्च सर्वतः पृथिवीपते । सौमद्रश्च महावाहः शक्कान् दश्मः पृथक् पृथक् ॥ १८ तस्य विपादमालक्ष्य भीमसत्तस्य हर्षे जनियत्ते सहनादं शक्कान्यक्ष्यापराजितः ॥ १७ द्वपते द्वपते सान्यक्ष्य सर्वतः पृथिवीपते । सौमद्रश्च महावाहः शक्कान्य दश्मः पृथक् ॥ १८ तस्य विपादमालक्ष्य भीमसत्तस्य हर्षे जनियत्ते सिहनादं शक्कान्यने सर्वेश्वरेशः स्थिता स्था च प्राच्यत्व स्थाने स्थाने च कृत्वा, शक्कान्यने सर्वेश्वरेशः पार्थसास्थी स्थी च पाण्डतन यक्षैकोक्यविजयोगकरणभूते महति सन्दने स्थिती

तस्य संजनयन् इत्यादेः तुमुलोऽअवत् इत्यादसार्थमाह तस्येशि । जनयिति शतुः है, "ळक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (अष्टा. ३, १२६) इति हेत्वर्थस्वस्यचनाय जनयित् स् इत्युक्तम् । सिंहनादं विनदेरयेतत् , ओदनपाकं पचतीतिवदिति स्वयितुं कृत्वा इति पदम् । कृत्वा क्रियासामान्यवचना इति । एतद्यञ्जनायोदाहरणतया श्रङ्कध्मानं च कृत्वा इत्युक्तम् । ततः शङ्काः इत्यत ततःशवदेन विजिणीषास्चनाय भीष्मेण सेनापतिना कारितत्वं जापितिमत्यमिषायेणोक्तम् अकारयदिति । शङ्कभेरी इति पणवाद्युक्तक्षणम् । ततः क्षोकेऽपि कित्ययाद्यविशेषिनिदंश उपरुक्षणार्थं इति स्चितम् । सिंहनादशङ्कष्मानाभ्यां प्रिनेनिद्यन्त्याय्यक्षेत्रियः । कृत्वेत्यनेन अकारयदित्यस्य समुच्यार्थस्तृतीयः ॥

ततः श्रेतैरित्यादिकं धनंजयः इत्यन्तं व्याचये — ततस्तिमिति । तत इति व्याख्येयपदम् ; तं घोषमाकण्येति तद्विवक्षितकथनम् । सर्वेश्वरेश्वरः पार्धमारिथरिति । सर्वेश्वरेश्यर उत्कृष्टः परमपुरुषो निकृष्टात् मानुषमालादिष निकृष्टतामाश्चितवारसस्येन नीत इति भावः । पाण्डविजय-स्चनाय संजयेनोपातो माध्यवाबदोऽल श्रियःपित्त्ववाची सर्वेश्वरेश्वरत्यपर एव । सन्दने स्थिती इत्यविद्योषेण स्थितिव्यवस्थेश्वरत्या

१ सिंहनादिमिति । पाकं पचतीति अयोगे पाके पाकामेदोन्यये उपुरुषस्यभावात् पच्यथां न विविक्षितः । ओदनपाकं पचतीत्यत्र सामान्यि शिवक्ष्यत्वेऽ प पाकःवक्षपसामान्यक्षेष्ठापि क्षोदनपाकपदेनैव झातत्वात् पच्यथांविवक्षेत्र युक्तः । पाकोद्देशेन ओदनपाकविधानस्थके त्र तिद्ववक्षा स्थात् । अतः पचतात्यस्य करोतीत्यत्वे पर्ववस्थानम् । अत्र सिंहनादस्य पुरुषनादस्य च भिन्नत्वात् उपमाने कर्मणि चेति सूत्रात् णमुळ् । तत् कथं सिंह इव विनवेश्ययुक्तत्वा सिंहनाद् कृत्वेति विवरणमिति चेत् — ओदनपाकशब्दस्येच सिंहनाद्माव्दाव्यस्यापि पुरुषनादिवशेषे भूरित्रयोग-स्थात् नात्र घटनादां नव इत्यादाविव णमुळ् स्वी वर्ते य इति । तत्स्वत्रवृत्तावि सिंहनादमित्यस्य सिंह इत्येवार्थात् प्रकार्यात् प्रकार्यात् विवयस्य सिंह इत्येवार्थात् प्रकार्यात् विवयस्य तिस्य विवयस्य सिंह इत्येवार्थात् प्रकार्यात् विवयस्य तिस्य ।

<sup>2</sup> शतुः-शतुबत्ययस्य । हेत्वर्थेति । हेतुः प्रयोजनम् । फलम् ।

स घोषो घार्तराष्ट्राणां हृद्यानि व्यदारयत् । नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽप्य<sup>1</sup>(व्य)नुमादयन्॥ अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्रा धार्तराष्ट्रात् कपिध्वजः। प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुवस्य पाण्डवः॥२० प्रवृत्त इति । आवि शस्त्रसंपातहेतोः । हृषोकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते । अर्जन उवाच- सेनयोहमयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्यत ॥

त्रैलोक्यं **बर**पयन्ती श्रीमत्वाञ्चजन्यदेवदत्ती दिन्यी सङ्घी प्रद्म्मतः ॥

₹#

ततो युधिहिरो <sup>2</sup>वृकोदरादयथ स्वकीयान शङ्घान पृथक्षुथक् प्रदम्मः । स घोषो दुर्योधनप्रधुखानां सर्वेवामेव भवत्पुत्राणां हृदयानि विमेद । 'अधैव नष्टं कुरूणां बलम्' इति धार्तराष्टा मेनिरे । एवं तिक्वियामिकाङ्क्षिणे धृतराष्ट्राय सङ्घयोऽकथयत् ॥ १२--१९॥ . अथ युयुत्सून अवस्थितान् धार्तसम्द्रान् दृष्टा लङ्कादहनवानस्वजः पाण्डतनयो

त्रैलोक्येति । नात परिमाणादिमहत्त्वमात्रं विवक्षितमिति भावः । त्रैलोक्यं कम्पयन्ताविति-तयो: स्यन्दने स्थितिमालमपि लैलोक्यकम्पनहेतुरिति भावः । "यद्वा दिन्यौ शङ्कौ प्रदध्मतु:" इत्याचक्त-प्रक्रृष्टाध्मानमूळकशङ्क्योषातिशयेन, "नमध्य पृथिभी चैव" इति वक्ष्यमाणेन च फल्तिमिदम् । दिव्यत्वोक्ति-दर्शितशङ्कातिशयभैश्वाय पाञ्चजन्यदेवदत्तसंज्ञोक्तिः । एवं भीमसेनादिशङ्कचत्रप्रयविशेषे नामनिर्देशो Sपि । प्रथक प्रथक प्रद**्मारिति** । यथैकैकशङ्कथ्वनिरेव धार्तराष्ट्रहृदयभेदाय स्यात् , तथा प्रदृष्म्परिति भावः : यद्वा यथास्वं प्रहर्षयोतनाय क्रमात् प्रदस्मुरिति । स घोषः इति श्लोके नमश्च प्रथिवी चात्रनादयन्त्रिप धार्तराष्टाणामेव हृदयानि विमेदेत्यन्वयः ; अन्येषां तु हर्षहेतुरिति भावः । सर्वेषामेव भवतपुत्राणामित्यनेन तेषु हढिचतः कश्चिद्पि नास्तीति द्योतनाय धार्तराष्ट्रशब्दतद्वत-बहुवचनशोर्थ उक्तः । व्यदारयतः इत्यस्य वक्ष्यमाणाभिष्रायद्योतकं प्रतिपदं विमेदेति । घोषस्य शसादिवत् हृदयविदारणत्वं कथमित्यताह—अद्येवेति । स्वत्रकस्य विजयित्वमध्यवस्यतां तन्नाश्चविदिवे हि हृदयमेद इति भावः । धार्तराष्ट्रविजयवुभुत्सया प्रच्छते धृतराष्ट्राय प्रागुक्तप्रकारेण तदपजय-सचकमेव सञ्जयोऽकथयदित्याह—एवामिति ॥

अथ व्यवस्थितान् इत्यादेः क्ररून् इत्यन्तस्यार्थमाह-अथेत्यादिनाः, इति चानीचिदत्यन्तेन । तत वानयतये प्रथमेन वानयेन ''प्रियचिकीषेवः'' इत्यन्तत्यार्थ उच्यते । व्यवस्थितान् इत्यत विशब्द स्चितिवशेषव्यक्तये युयुत्स्न् इत्युक्तम् ; ''योद्धुकामानवस्थितान् '' इति धनन्तरमप्युच्यते । किष्वजः इत्यतः किष्तिमात्रप्रतिपन्नसायं निवार्यितं सौगन्धिकयात्रायां हन्महत्तं <sup>3</sup>वरम् . खरूप-संदर्शनमः लेग रक्षसामिव परेषां संक्षोभं च सूचिवतुं लङ्कादहनवानरभ्वजः इत्युक्तम् । अप्रच्युत-

अनुनादयन्त्रपीत चन्द्रिकायाम अपिशब्द्रपाठ एवेष्टः।

<sup>2</sup> स्ट्रोके युधिष्टिरस्य भीमानन्तरमुकाविप पूर्वग्रहणं भाष्ये गौरवात् । मूले अर्घगोर्विपर्यासो वा । 3 इज़महत्त्तमिति । (भा-व-153.) 'यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महावलं । तदाऽहं बृंहिबिष्यामि स्वरवेण रवं तव। यं श्रुट्वेव भविष्यन्ति व्यसवस्ते ऽरशो रणे। विजयस्य ध्वजस्थक्ष नादान् मोक्यामि दावणान् । शत्रुणां ये प्राणहराः सुखं येन दनिष्यथं दति भीमं प्रति हनुमद्रचनम् ।

यावदेतान् निरीक्षेऽदं योद्धुकामान् अवस्थितान् । कै र्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ योरस्यमानान् अवेक्षेऽदं य एतेऽच समागताः । धार्तराष्ट्रस्य दुर्वुद्धे युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३ सञ्जय जवाच—

प्रवमुक्तो ह्रषीकेशो गुडाकेशेन भारत । सेनयोरुभयोर्भध्ये ख्यापयित्वा रथोत्तमम् ॥ अश्वभाष्यमुख्यतः सर्वेषां च महीक्षिताम् । उवाच पार्थं पश्येतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५ तत्रापश्यत् ख्यितान् पार्थः पितृनयं पितामहान् ।

ज्ञानगक्तिबलैधर्यवीयतेजसां निधि स्वसङ्कल्पकृतजगदुदयविमवलयलीलं ह्वीकेशं परावरनि-खिलजनान्तरबाह्यकरणानां सर्वप्रकार<u>नियमनेऽवस्थित</u>माश्रितवात्सल्यविवशतया स्वसारथ्येऽ-वस्थितम्, 'युपुत्सन् यथावदवेक्षितुं तदीक्षणश्वमे स्थाने स्थं स्थापय' इत्यचोदयत् ॥

स्वभावत्वप्रतिपादकाच्युतपदाभिष्रेतव्यञ्जनाय ज्ञानेत्यादिकम् हिपीकेशपदव्याख्या परावरेत्यादि । यद्वा सृष्ट्यादिकं वीर्यादिकं तदप्रवृक्षितं ज्ञानादिकमपि हृषीकेशशब्दार्थ एव । यथोक्तमहिवधन्यसंहिता-यामु-''कीडया हृष्यति व्यक्तमीशः सन् सृष्टिरूपया। हृषीकेशत्वभीशत्वं (स्य) देवत्वं चास्यतत् स्फुटम्''॥ अविकारितया जहो हवीको वीर्थरूपया । ईशः स्वातन्त्रययोगेन नित्यं सुप्रचादिकर्मणि ॥ ऐश्वर्यवीर्थरूपरवं हृषीकेशत्वमुच्यते'' ॥ (५३, ४४, ४५, ५६) इति । आश्रितान् न च्यावयति, अतरच्यतोऽस्य नास्तीत्यच्यतशब्दस्य काचित्रिरुक्तिः । तां दर्शयति-आश्रितवात्मस्येत्यादिना । स्वमारथ्येऽवस्थित-मिति । हृषीकेशतया सर्वेषां करणानां सर्वप्रकारनियमने ऽवस्थितस्य रथय्ग्यमात्रनियमनं कियदिति भावः। निरीक्षे इत्यत्नोपसर्गार्थः यथावतः इति दर्शितः । यावच्छब्दोऽत्र साकल्यवाची : निरीक्षणकाला-विधवाची वा, ''यावतपुरानिपातयोर्हरु'' (अष्टा. ३. ३. ४) इति निरीक्षणस्य भविष्यत्त्वचोतको वा । यै: <sup>1</sup>सह मया योद्धव्यं तान्निरीक्षे इत्यत्न, मया सह यैर्योद्धव्यं तानवेक्ष इति नोक्तम : अतः योतस्य-मानानिति श्लोकस्योत्थानम् । ''घार्तराष्ट्रस्य दर्बद्धेः'' इति दर्योधनादिदोषप्ररूयापनतात्पर्याच न पौनरुबत्यम् । यद्वा ''सेनयोरुभयोर्मध्ये'' इति पूर्वीक्तरवात् , सेनयोरुभयोरपि स्थितानपश्यिदिति वक्ष्यमाणत्वाच, स्वसेनास्थितस्वसहायविषयः प्रविश्लोकः : तल कैर्मया सह स्थित्वा परैयोद्धव्यमित्यर्थः । उत्तरस्तु स्ठोक: प्रतिसैन्यस्थितघार्तराष्ट्रसहायविषय इति व्यक्त एव । प्रागेव तेषां विदितत्वेऽपि इदानीन्तनसरम्भादिविशेषदर्शनेन तत्त्वचितसाम्परायिकव्यापारसौकर्याय यथावदर्शनमिहार्जनेनाऽऽका-ङक्षितम् । सेनयोरुमयोर्मध्ये इत्यस्याभिषेतकथनं तदीक्षणक्षमे स्थाने इति । अचोदयत इत्यनेन "स्थापय" इत्यत्न प्रत्ययस्य नियोगार्थत्वं दर्शितम् । सर्वप्रशासिता नियोज्योऽभवदित्याश्चर्यमिति भावः॥

<sup>1</sup> यैरिति। कैश्वियेव मूळेपाडः उपरि तथैवानुवादात्। यैरिति पर्यवस्तिकथनम्। यैः सहैति। मयासहैति मूळे पाठेऽपि, समवेतान् कुकिनिति कुरुमालवचनात् अर्जुनवाष्यस्य प्रतिचमूमात्र-विषयकत्वाय यैः सह मयेत्यन्ययः कार्व इति भावेन प्रथमपक्षः। तर्हि योत्स्यमानानिति पुःविकिरिति वेत्—यैःसहेत्युक्तौ तेषां युक्करणोत्साहस्यास्पष्टस्यात् तदुकेरिति भावः।

भाचार्यात् मानुरान् भ्रात्न पुत्रात् पौत्रान् सर्खीस्तया ॥ २६ भ्रष्ठाप्रान् सुद्दश्चेव सेनबोरुमयोर**ि । तःन समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्ध्**न् अवस्थितान्॥ कृपया प्रयाऽऽविष्ठो विदीद्विदमव्रवीत् ।

अर्जुन उवाच--

हुमें खजन रुष्ण युगुरसुं समुपक्षितम् ॥ २८ सीदिन्ति मम गालाणि मुखं च परिशुक्षिति । वेषयुक्ष द्वारीरे में रोमहर्षक्ष जायते ॥ २९ गाण्डीयं संसते इस्तात् त्वक्षेव परिशुक्षिते । न च द्याक्तोम्यवस्थातुं अमतीव च मे मनः॥३० निम्तानि च पद्यामि विपरोतानि केशव। रेन च अपोऽतुपद्यानि इत्या स्वजनमादवे ॥३१ न काङ्कं विजयं रुष्ण न च राज्यं सुखानि च । किं नो राज्येत गोवित्य किं भोगैजीवितेन चा॥ येषामर्थे काङ्कितं नो राज्ये भोगाः सुखानि च त इमेऽविस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ आचार्याः पितरः पुत्रास्त्येयत्व च पितामद्वाः । गानुरुः स्वयुगः पौत्राः स्यार्थः संविन्धनस्त्या ॥ स च तेन चोदितस्तरक्षणादेव भोष्मद्वीणादीनां सर्वेषामेव महीक्षितां पदयतां यथा-

चोदितमकरोत् । ईटबी भवदीयानां विजयस्थितिरिति चाबोचत् ॥ २०—२५ ॥

स तु पार्थो महामनाः परमकारुणिको दीर्घवन्धुः परमधार्मिकः सम्रात्को

एवपुक्तः इत्यादेः महीक्षिताम् इत्यन्तस्यार्थमाह स चेति । अर्जुनवचनरथस्यापनयोन्ध्येवधायकामावफिलसुक्तं तत्क्षणादेवेति "भीष्मद्रोणप्रमुखतः" इत्यत प्रमुखराज्यः आदिशन्दसमानार्थः ; तद्वतस्तिसप्रत्ययश्च सार्विवमिक्तिकत्वात षष्ठीग्रहुवचनार्थ इत्यमिषायेणोक्तं मीष्मद्रोणादीनामिति । तदा चकारो
ऽत्रधारणार्थ इति दशैयितुं सर्वेषामेवेत्युक्तम् । अनादरे षष्ठीति ज्यञ्चनाय पश्यतामिति पदाध्याहारः; यद्वा
प्रमुखतः-अप्रतः इत्यर्थः । तदेव महीक्षिताम् इत्यतापि बुद्ध्या निष्कृष्य योजनीयम् । तदा चकारः
समुच्चार्थः । भाष्ये रवेवकारोऽपि तद्धे एव ; पश्यतामिति फिलतार्थोक्तिः । खताच पार्थ इत्यस्य
ताल्प्यमाह-ईद्द्यीति । "एतान् समवेतान् " इति जेतन्यसमुदायप्रदर्शनेन विजयस्थितिरिभयेतेति भावः।
धार्तराष्ट्रकर्मकविजयस्थितिरित्यर्थः । अथा धार्दराष्ट्रकर्मृकविजयस्थितिरित्यपित्रभयोतिति भावः।
धार्तराष्ट्रकर्मकविजयस्थितिरित्यर्थः । अथा धार्दराष्ट्रकर्मृकविजयस्थितिरित्यपित्रभयोतिति भावः।
धार्तराष्ट्रकर्मकविजयस्थितिरित्यर्थः । अथा धार्दराप्ट्रकर्मृकविजयस्थितिरित्यपित्रभयोति । अधि ।
धार्वराष्ट्रम् प्रति सञ्चयाक्तयाक्त्याक्ति ।
धार्तराष्ट्रस्य ग्राप्ट्रमिसनित्रः सञ्जयो धार्तराष्ट्रद्वयविदार्गादिकस्यमक्तथयत् । २०—२५ ।

अथाध्यायशेषस्य सङ्कालिंशर्थमाह—स त्विति । तुशन्देन पूर्वोक्तप्रकारात् दुर्योधनात् वस्यमाणप्रकारविशिष्टस्य पर्थस्य विशेषं स कीन्तेयः इत्यनेनाभिष्रेतं द्योतयित । वन्युन्यपदेश-मात्रयोग्यश्रुवधानिच्छया विजयादिकं लैलोक्यराज्याविधकमपि तृणाय मन्यत इति महामना

<sup>1</sup> सीर्न्तीत्यादिवजन न साशिक्तमूळकिमिति श्रापनाय तन्मूळं हिंगे स्वजनिमिति संप्रशितं विस्तरेणाह न च श्रेय श्र्यादिना।

पतान्न इन्तुमिच्छामि घनतोऽपि मधुसुदन । अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं न महीक्रते ॥ निहत्य घार्तराष्ट्राञ्चः का प्रीक्षिः स्वाज्ञनार्दन । पाःप्रेगश्रयेगसान इस्वैतान आततायिनः॥ तसान्नाही वयं इन्तं धार्तराष्ट्रान् सवरत्यवान्। अजनं हि कथं इन्या सुखिनः स्थाम मध्यव॥ यद्यत्येते न पर्यन्ति छोमोपहत वेतसः। इत्रक्षयकृतं दोवं मित्रहोर्दे च पातकम्॥ 36 कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्नियतितुत् । कुलक्षयकृतं दोवं प्रपद्यद्भिर्जनाद्य ॥ 39 <sup>1</sup>कुलंक्ष्ये प्रणस्पन्ति कुलचर्माः सनातताः। धर्ने नष्टे कुढं कृत्स्वमचर्नोऽभिभवत्यत् ॥ 80 अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुछस्त्रियः । स्त्रीषु दुणसु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ ४१ **रु**ङ्करो नरकारीव कुलझानां कुलस्य च । पतन्ति पितरो होषां लुप्तविण्डोदकिकयाः ॥ दोषेरेतैः कुलकानां वर्णसङ्करकारकैः । उत्सायन्ते जातिषर्माः कुलघर्माश्च द्याश्वताः ॥ 83 उत्सम्भक्तलघर्माणां मञ्ज्याणां जगाईन । नरके नियतं वास्रो भवतीत्यनुशुक्रम ॥ 35 अहो बत महत् गापं कर्तुं व्यविनता वयम् । यन् राज्यसुन्नलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ <sup>2</sup>यदि मामप्रतीकारस्थास्त्रं शस्त्र ॥णवः । घःतिगध्दा रणे दृग्युस्तन्मे सेप्रतरं भवेत् ॥ भवद्भिरतियोरैर्मारणैः जतुगृहदाहादि।भरसकृद्वश्चतोऽपि परमपुरुवसहायेनाऽऽत्मना हनिष्य-

इरसुक्तम् । न काङ्क्षे विजयम् इत्यादिकं हि वदति । श्रन्णामण्यसौ दुःखं न सहत इति परमकार्णणक्त्योक्तिः । कृष्या परयाऽऽविष्टः इति बुक्तम् । पितृनथ पितामहान् , आचार्याः पितरः
प्रताः इत्याद्यक्तेहिवपवपान्तुर्यं दीर्घयन्युश्रु देनोक्तम् । यद्वा वन्युना महापकारे इतेऽपि स्वयं न शिथिलवन्यो मवतीति भावः । सर्वान् वन्युन्, त्वजनं हि इत्यादिकिमिह भाव्यम् । आततायिपक्षस्थानामप्याचार्यादीनामहन्तव्यत्वानुसन्थनात् , कुरुक्षयादिजनिताधमेपारम्पर्यदृश्चेनाच्च परमधार्मिक
इत्युक्तिः ; आततायिवधानुज्ञानमाचार्योदिव्यतिरक्तिषयमित्यर्जुनस्य भावः । स्वान्तक इति ।
नायमेक एवैवंविधः, किंतु सर्वेऽपि पाण्डवा इति भावः । एतेन अस्यान् , नः, वयम् , असािमः
इत्यादिभिरुक्तं संगृहीतम् । यद्वा, न केवलं स्वापकारमालानादरादेष वन्युवधादिकमुपेक्षते ; अपितु आसक्तः
तरः चार्योदिस्थानीयवहुमित्स्वादिवयवधमराजद्रौपद्याद्याव्यकारेऽपीति भावः । आचार्यादिवधदोषो
आतृणामपि मा मृदित्यर्जुनाभित्रायः । इन्तव्यवस्चनाय प्रतोऽपि इत्युक्तम् । तत् विद्यणोति—भवद्भिरत्यादिना आततायिशवद्योदि व्याच्यातः; "अपिते गरद्येव शक्षपाणिकनापदः (हा) । क्षेत्रदारहरस्येव पडेते आततायिनः" ॥ "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवये दोषो हन्तुभैवति कश्चन" (मनु. ८. २५८) इति हि स्तरन्ति । आदिशवदेनासकुच्छ्वदेन
च आततायिश्वहेतवः प्रत्येकं बहुशः कृताः, न चेदानीमप्युपरतिमिति दर्शितम् । अनुपरतिश्च प्रतोऽपीति
वर्तमाननिर्वेदेनेन स्विता । भवद्भित्यनेन धृतराष्ट्मि, "मुखन्तमनुमुखानि द्रयीवनममर्पणम्"

निहरय, इत्था इत्युप्तयत समानकर्तृकःवाविवक्षया काळमात्रसिवक्षा । ख्यितपदाध्याहारेणान्वयो वा। आततायिन पतान् इति स्टाप्ट प्यान्वयः । इत्या आततायिनोऽसानिति स्वेष्याततायितं अवैदिति मतिर्वो । 1 बन्धुवत् अवन्थवोऽपि न इन्तःया इत्याह कुळेक्षये इति ।

<sup>2</sup> अशस्त्रभिति । सशस्त्रभे युद्धकरणात् तैहंग्तुमशक्योऽहम् । युद्धाकरणेऽपि सशस्त्रभे पराजित इति अयशः स्थात् । अतः शस्त्रभ्याग एव युक्त इति ।

सञ्जय उवाच-

वबसुक्शऽर्जुनः संख्ये रथोपस्य उगाविशत् । विस्तृज्य सरारं चापं शोकसंविग्रमानसः॥४३ इति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषस्य ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

अर्जुनविषाद्योगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥

माणान् भवदीयान् विलोक्य बन्धुस्तेहेन पर[म]या कृपया धर्मभयेन (धर्माधर्मभयेन) चातिमात्रसम्नसर्वगातः सर्वयाऽहं न <sup>1</sup>योत्स्यामीत्युक्त्वा बन्धुविश्लेषजनितशोकसंविग्नमानसः सञ्चरं चापं विस्रुज्य रथोपस्य उपाविशतः ॥

॥ इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीवद्गीताभाष्ये प्रथमोऽष्यायः॥ १ ॥

(मा. अ. १. १६६) इति पुलस्नेहवशादनुमन्तारं तत्त्वय व्यपदिशति । एवंच दुर्योधनादीनां सर्वेषामप्यतिलोभोपहतचेतस्त्वादिना महामना इत्युक्तविपरीतत्वमुक्तं भवति । शकुनिकणीदिसहायानां घार्तराष्ट्रादीनां हनिष्यमाणानामपि हतत्वनिश्चयेन शोकोत्पत्त्यर्थमुक्तं परमपुरुषेति । परमपुरुषः सहायो यस्येति विग्रहः ; परमपुरुषस्य सहायो निमित्तमालमिति वा । वक्ष्यति हि—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमालं भव सन्यसाचिन्'' (गी. ११. ३६) इति । अर्जुनश्च पूर्वं महाबलसहस्रेभ्योपि ं निरायुघस्य परमपुरुषस्य संनिधिमात्रमेव विजयहेतुतया निश्चित्य तमेव वत्रे । स्नेहाद्यस्थानत्वसूचनाय भवदीयान् विलोक्येत्युक्तम् । वन्धुस्त्रहेनेत्यादीनां —न ह्यसौ दुर्योधनवत् वन्धुद्वेषनृशंसत्वपतिभट-भयादिना विषणाः ; नापि परेषां गुणान्निवर्तते ; न च परमपुरुषसचिवस्य स्वस्य दौर्बल्यादिति भावः । सीदन्ति इत्यादेः मनः इत्यन्तस्यार्थः — अतिमात्रेत्यादिना संगृहीतः । 'एतान्न हन्त्रमिच्छामि'. 'यदि मामप्रतीकारम्' इत्यादेरिभिषेतमाह—सर्वथाऽहिमिति । सर्वथा बहुपकारम्—एषामाततायित्वेsq, इदानीं हन्तुमुचतत्वेsqि, युद्धानिवृत्तेरधर्माकीर्त्यादिहेतुत्वेsपि, युद्धस्य त्रैलोवयराज्याद्यपायत्वेsपि. कि बहुना---सर्वे[श्वरे]श्वरेण मम हिततमोपदेशिना भवतोक्तत्वेऽपीति भाव: । बन्ध्विनाशस्य सिद्धत्वाध्यवसायः शोकहेतुः । विषादमात्रपरो वाऽत शोकशब्दः, स च शोकः सशरचापपरित्यागे हेतुरिति व्युत्क्रमपाठेन दर्शितम् । संविग्नमानसः— अत्यर्थचित्रयुद्धाध्यवसाय इत्यर्थः । "ओ विजी भयचरुनयोः" इति घातुः । एवं चरुतियुद्धाध्यवसायत्वात् समराध्वरस्कृक्सुवादिस्थानीयं सशरं चापं विसज्य प्रायोपवेशादिपर इव रथोपस्थे रथिस्थानाद्विनिवृत्य रथोत्सङ्गे उपाविशदिति भावः ॥ सखीन--वयस्यान् ॥ सुदृदः वयोविशेषानपेक्षया हितैषिणः । सेनयोरुभयोरिप- एकैकस्यां सेनायामेते सर्वे पायशो विद्यन्त इति भावः । समीक्ष्य शास्त्रहोकयात्रायुक्तमवलोक्येत्यर्थः । सर्वान बन्धन । न ह्यतानागतः कश्चिह्रन्धुरवशिष्यत इति भावः । अधर्मोऽभिभवतीति । मानस-दोषोक्तिः ॥ प्रदुष्यन्तीति कायिकोक्तिः ॥ २६---४७ ॥ तात्पर्यचन्द्रिकायां प्रथमोऽष्यायः ॥

<sup>1</sup> योत्स्यामीति भाष्यपाठो विचार्यः। परास्मैपदे क्वेद्रात् ; मूळस्थसाधुपदत्यागायोगासः।

## ॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

सञ्जय उदाच---

तं तथा क्रपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुळेक्षणम् । विषोदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुस्द्रतः॥ श्रीभगवाजुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलिमिदं विषये समुपश्चितम् । अनार्यजुष्टमस्वर्यमिकीर्तिकरमजुन ॥ २ मा क्रैच्य गच्छ कीन्तेय नेतत् त्वय्युपपद्यते । श्चदं हृदयदौर्वव्यं त्यक्त्वोच्छिष्ट परन्तव ॥ ३ एवसुपविष्टे पार्थे कृतोऽयमस्थाने समुपस्थितः शोक्क इत्याक्षिप्य तमिमं विषमस्यं शोकमिद्दहसेवितं परलोकविरोधिनमकीर्तिकरमतिश्चदं हृदयदौर्वव्यकृतं परित्यज्य युद्धायोत्तिष्ठेति श्रीभगवानुवाच।।

अथ शोकापनोदनिवशो द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । संजयवावयाविच्छेदेऽपि सञ्जय उवाचेति निर्देशोऽध्यायान्तरारम्भरूपतयाऽन्योक्तिश्चक्षां प्रति । ते तथा इत्यादिश्चोक्तव्यं व्यास्याति एविति । विषीदन्तम् इत्यन्तस्य पूर्वध्यायोक्तानुवादस्य स्वियतुम् एवम्रपिष्टे पार्थे इत्युक्तम् । तथेति-श्व्यस्याः इत्यश्चः । 'कृपाया अनन्तरोश (कृपा च आन्तरो) विषादः (ततः अश्वपूर्णाकुछेञ्चणं वाद्यशोकेनाप्याविष्टमित्यर्थः । विषीदन्तं [तं १]-पूर्वध्यायोक्तरीत्या विषादं प्राप्योपविष्टम् । सधुद्दनश्चदेत् शोकम्ळूरुक्तस्योनिवईणस्यं स्वितम् । अस्यान इति विषमशब्दोपचिरितार्थः । कश्मरूसिः मृच्छिक्तवः शोकः ; शोकसंविद्यमानसः इति प्रकृतत्वात् । प्रख्यातवंशवीयश्चतादिस्चकाः अर्जुन, कौन्तेप, विषादः । त्रत्यप, परन्तप् इति शव्दाः आश्चेष्विकाकु]गर्भा इत्यभिप्रायेण आश्चिष्य इत्युक्तम् । कृतश्चव्यश्च हेत्वाभासस्य हेतुतां प्रतिक्षिपन् धिकारगर्भः । विषादं प्राप्यतिति परन्तपः । कृतश्चव्यश्च हेत्वाभासस्य हेतुतां प्रतिक्षिपन् धिकारगर्भः । विष्यस्य विष्यस्य स्थित्याच्यत्व संयम्यति तिममं विषमस्यमित्यादिना । अत्तर्वभ्यः कुतर्कभ्यः आरात् दूरात् याता बुद्धियंतं ते आर्याः विद्वासः ; तदन्ये त्वनार्याः । अस्वर्यम् इत्यताविशेषात् स्वर्गशब्दः परलोकमात्रोपयन्ति स्वर्मस्य स्थात्वत्यात्र स्वर्गश्चः स्थातिष्वस्य स्थात्वस्य स्थात्वस्य स्थाविष्यस्य स्थात्वस्य स्थावेष्यः । अस्वर्यम् इत्यताविशेषत्त अर्थतस्तरस्य स्थावेष्यः तथाविधावस्थान्यस्य । अष्ट्रशब्दस्यात्व संकोचकाभावेनापेश्विकश्चव्यवायोगान्महत्तरस्याजुनस्य तथाविधावस्थान्यस्य । अष्ट्रशब्दस्यात्व संकोचकाभावेनापेश्विकश्चव्यवायोगान्महत्तरस्याजुनस्य तथाविधावस्थान्यस्याने ।

1 अत्र कौन्तेयेति ब्रह्मणत् "मा हैन्यं गच्छ कौन्तेय" इति मूळवाटः साम्प्रदायिक इति ह्यायते । पा॰—हैन्यं मा स्म गमः पार्थ इति । अत्याधान्यस्य पूर्वाध्यायोक्तरीत्येत्यथपिक्षया छवाद्यनौ-चित्यरूपाळभ्यार्थपरत्वादायेन अस्थान इति न्याख्यानं छतम् । छवया परयाविष्टो विधीदिन्नति पूर्वोक्तानुवाद इह । तथेत्यनेन परयेत्युक्ताविष अस्थान इत्येव पर्यवसानम् ।

. 3 कृषाया अनन्तरोक्षिपादः इति स्थित पाठ एव युक्तः। रूपाशब्दस्य पूर्वं परमकाष्ठणिक इति दुःस्वासद्यत्यप्रया व्याख्यानात् तदैकरूप्यात्। विवादो विवीदन्तमित्येतद्ये एव । उपविष्ठमिति तिमिति विशेष्यपदस्यभ्यार्थः। तेन उपाविश्वदिति पूर्वोक्तपरामर्शात्। अतो विपूर्वकषद्रस्थातोष्ठप्रविश्वद्रस्थार्थः। सन् वावय्ये क्रयाविषादाश्चर्ष्णंत्वानां क्रमः कथ्यते। ।

4 परन्तपैत्यत्न पर्यामित न द्वितीयैकवचनस् । किं तु मुमागमः । अतः परानिति बहुत्वैऽप्येव-मेव ; तपतीति अणिजन्तं न ब्राद्यम् , 'द्विषरपरयोक्तापैः' इति सृत्रे णिजन्तनिर्देशात् इत्याशयेन परान् तापयतीति विब्रहः इतः । परन्तपैत्यस्य परतापनार्थमुचिष्ठेति भावः । वर्जन उवाच--

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसुरत । इषुभिः प्रतियोत्स्थामि पुजार्हाचरिसुरत ॥ गुरून् अहत्वा हि महानुभावान् 🖽 अथश्चर्त् (श्रेयो भोक्त्) मैक्षमपीट छोके।

हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय मोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥

पुनर्षि पार्थः स्नेहकारुण्यधर्माधर्मभयाकुलो भगवदुक्तं हिततममजाननिद्रमुवाच-भीष्म द्रोणादिकान् गुरून् बहुमन्तव्यान् कथम्हं हिन्द्यामि ? कथतर्गं भोगेष्वतिमात्रमक्तान् तान् इत्वा तेर्भ्रज्यमानांस्तानेव भोगान् तद्वधिरेगोपप्तिच्य तेष्वासनेषूपविकय भुक्रीय ? ॥ ४-५ ॥ पर्यालोचनाच काष्टापातं क्षुद्रत्वं विवक्षितमिति दशैचितुम् अतिक्षद्रमित्युक्तम् । कार्ये कारगोपचार इति वा, कारणत्यागस्य कार्यत्यागार्थतया पृत्रोत्तरक्षोकफलिनार्थविवक्षया वा हदयदौर्वन्यकृतम्हित्युक्तम् : अदृदृद्धयत्वकृतमित्यर्थः । प्रस्तपेत्यनेन ज्ञापितं प्रक्राणिकमर्थमध्यादृश्योक्तं युद्धायो।चिष्ठेति ॥१॥

अथ भगवदुक्तयुद्धारम्भस्य परम्पर्या परमनिःश्रेयभहेतुत्वरूपहिततमत्वाज्ञानात् तत्वितिक्षेप-रूपस्यार्जुनवावयस्योत्थानम् । तथाभियाज्ञानस्य चास्थानखेहाद्याकृरुताम्,रुत्वं वदन् उत्तरमवतारयति-— पुनरपीति । उक्तार्थविषयतया पुनरपीः मुवाचेन्युक्तम् । कथमित्यारिश्लोके चक्कारस्यानुक्त-समुचयार्थत्वपद्रशनाय आदिशब्दः : उपात्तस्यानुपात्तोपळक्षणतया वा । पूजाईशब्दविविधानबहुमन्तव्यत्व-हेतुतयोत्तरहोकस्थमलाकृष्योक्तं गुरूनिति । वहमन्तव्यानिति, महानुभावानित्युत्तरहोक-स्थानुसंघानाद्वा । ते स्वत एव बहुमन्तव्याः ; पितामहत्वधनुर्वेदाचार्थस्वादिसिरत्यस्वहुमन्तस्या इति [बा] भावः । पुष्पादिभिः पूजाहीणां पृजानिवृत्तिरेव साहसम् ; हननं त्वितसाहसम् । गुरुभकृत्या च तद्विरोधिभिः सह बोद्धव्यम् , न पुनर्गुरुभिदिति कथं गुरुनिपुभिः प्रतियोत्स्यामि इत्यस्य भावः । अहं शब्देन प्रख्यातवंशत्वादिकमभिषेतम् । **इप्रिः प्रतियोत्स्यामि** इत्यस्य हननपर्यन्तप्रतिसुद्धामि-पायत्वमुत्तरस्रोकेन विवृतमिति **हनिष्यामी**त्युक्तम् । मञ्**मूद्नारिस्दन**शब्दाभ्यां 'न हि त्वमपि सान्दीपिन्यादिस्द्नः इति स्चितम् । इति (भोक्त) मित्यत्र भावभातार्थस्तुमुन् , न तु क्रियार्थोपपदकः । यद्यपि या काचिज्जीविकाऽऽश्रयणीया: तथाऽपि गुरुवधरुव्धभोगेभ्य इह लोके परधर्मन्त्रभैक्षाचरणमपि श्रेयः-प्रशस्पतरमः महाप्रभावगुरुवधसाध्यपारलौकिकदःखस्यातिमहत्त्वादिति भावः । पक्रतः विरुद्धार्थत्वश्रमन्युदासाय पूर्वश्लोकस्यक्षयंशञ्दानुषङ्गात् , अतिनृशंसत्वसामर्थ्यात् तृशञ्दद्योतितवैषम्याच कथंतरामित्युक्तम्। 'गर्हायां लङ्पिजात्वोः' 'विभाषा कथमि लिङ् च' (अष्टा. ३. ३. १४२, १४३) इति गर्हार्थ इह लिङ्गत्ययः : अर्थकामानित्यल द्वन्द्वादिश्रान्तिनवर्तनाय समासतदंशद्वयार्थो भोगेष्वति-मात्रसक्तान् इत्युक्तः । अर्थेषु कामो येपामिति विग्रहः ; "अवज्यों हि व्यधिकरणो[ऽपि] वह-त्रीहिर्जन्माचुत्तरपदः" । अर्थ्यन्त इत्यर्थाः भोगाः : कामश्चातिमात्रसङ्गो वश्यते । यद्वा अर्थे कामयन्त इत्यर्थकामाः । ते निष्कामाश्चेत् , तद्भोगहरणमपि सह्चेत ; इदं तु क्षुधितानामोदनहरणवदिति भावः । हननादप्यतिनृशंसत्वसूचनाय **मोगरुधिग**दिशव्दैरथिसद्धः तशब्देन च द्योतितो विशेषः तैरित्यादिना

वर्तिमिति पाठ पव चिन्द्रकेयः, 13 श्लोके 'भैक्षं चर्ति श्रेयः' इत्यत्वादाच ।

न नेतत् विद्यः कतरन्त्रो गरीयो 1यद्वा जयेम यदि वा नो जयेगुः ।

श्यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रसुखे धार्षराष्ट्रः ॥ ६ कार्षण्यद्रोषोपहतस्वभावः पुरुछोत्र त्वा धर्मसंसृहचेताः । ।

यर्च्चेयः स्पानिश्चितं वृहि तन्त्रे तिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रथन्नम् ॥ ७ न हि प्रवस्यामि ममापनुचात् वर्च्छोत्रसुरुछोत्प्रचित्व्याणाम् ।

अवाष्य भूमावस्यन्तमुद्धं राज्यं सुराणामिष् चाऽऽविद्यस्यम् ॥ ८

एवं युद्धमारम्थ निवृत्तन्यापारान् भवतो घात्ताष्ट्राः प्रमहा इन्युरिति चेत् , अस्तु । तद्धल्डचित्रज्यादधम्यात् असाकं धर्माधमीवज्ञानद्भिः तहेननमेव गरीय इति मे प्रति-भातीत्युक्त्वा, यन्त्रह्यं श्रेय इति निश्चितम् , तत् कारणागताय तव शिल्याय मे बूहीत्यति-मात्र<sup>8</sup>कृपणो भगवत्यादायुषसमाद ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

उक्तः । इहैबेस्यनेन विविक्षतो नृशंसत्वाितशयः तेष्वित्यादिना दर्शितः । गुरुवधसाध्यभोगाः रुषिर-प्रदिम्धगुरुस्मृतिहेतुत्वात् स्वयमपि तथाविधा इव दुर्शोजा यदन्तिस्थैहरोिककसुस्वमपि नास्तीित रुधिरप्रदिग्धशब्दािभवाय इत्याह तद्रुधिरेणोप्सिच्येति । उदवेचनं हि स्वयमधमानं सत् अन्यस्थादनहेतुः । इह तदुभयमपि विपरीतिमिति भावः ॥ १ ॥ १ ॥

न नैतिद्विद्यः इत्यादेश्वकारयोतितग्रङ्कापृष्वकं तात्पर्विधवाह एविमिति । वन्युविनायाद्वीतेन त्यया धर्मसुतभीमनकुळाद्यासन्नतरवन्युविनाय एव कारितः त्यादिति भन्नत इत्यनेन स्चितम् । विद्यः इत्यादिवहुवचनानुसारेणाह अस्याद्भमिति । अस्याद्धिति भन्नत इत्यनेन स्चितम् । विद्यः इत्यादिवहुवचनानुसारेणाह अस्याद्भमिति । अस्याद्धित्यनेन इन्तव्यतया निर्दिष्टभीष्म-द्रोणावपेक्षया सर्वेषां शिव्यत्वादिकमभितेतम् । पूर्वेत्तरार्वाभ्यां विभन्नित्यनेन इत्यव्यतया निर्दिष्टभीष्म-द्रोणावपेक्षया सर्वेषां शिव्यत्वादिकमभितेतम् । पूर्वेतरार्वाभ्यां विभन्नित्यान् ज्यादेस्तः स्वहननानु-रूपस्वेनावस्थिता इति, यानेव इत्यादेरन्वयार्थः । न जिजीविष्यामः इत्यनेन स्चितामित्णिय-पर्वविस्ताम्, अत एव प्रश्वहेतुस्तां प्रतिभामाह इति ये प्रतिभातीति । यच्छ्रेषः इत्यादेरन्वयं फिलतार्थमुपदेशयोग्यस्वायोक्तां शिव्यगुणसंपति च स्कृत्यति—यन्यद्यसित्यादिना । निश्चेतव्या-कारिन्वकर्षणाय इतिकरणम् । शासनीयो हि शिव्यः ; अतः, शिव्यस्तेष्ठहं शाधि माम् इति वद्ति । स्वभावोऽक वैर्थम् ; कर्तव्यविशेषाज्ञानात् शोकापनोदनोपायराहित्यादिना वा अतिमात्रकार्षण्यम् । त्याज्यस्यापरित्यागोऽत्र कार्पण्यमित्येक ; दयाजनकदीनदृष्टिनिरतस्वमित्यपरे । मगवत्यादान्वपसादेति श्विस्यस्वप्रपन्नस्वाद्धक्तिकरुम् ॥ ६॥ ७ ॥ ८॥

<sup>1</sup> यहा जयेम—जयेमीत यत् तहा—अस्माक तज्ञयकर्तृत्वं वा, यदि वा नोजयेषुः— परेषामस्मज्ञयकर्तृत्वं वा। 2 याभेषेत्यादि। तेषां हनने उभयत्राशः, अस्मज्जनने तेषां वा जीवनम्। ततस्तद्गरीयः।गरिष्ठं तु अयुद्धेनोअयजीवनमिति भावः।

<sup>3</sup> अतिमान्नेत्यनेत, तद्वि प्रवद्यामीति स्ठोकार्थक्षेत्रहः। नवैतद्विद्यः इत्युक्त्या अञ्चानं, ममापनुचात् यच्छोकमित्युक्त्या शोकापनेदनीपायराहित्यञ्चोक्तमिति तदैव तज्वानं वा कार्पण्यम्। अन्यद्वि कार्पण्यं द्वेचा द्वेचति त्याज्यस्पति । दुष्टवन्युत्यागः कार्यः। छोभात तं न त्यज्ञति। दीन-

सञ्जय उवाच-

पवमुक्तवा ¹ह बीकेशं गुडाकेशः परन्ता । न योत्स्य इति गोविन्त्रमुक्त्वा त्ःशीं वसूव ह॥ ९ 'एवमस्याने(न)सपुवस्थितस्नेहकारूण्याभ्यामप्रकृति गतम्, श्वत्रियाणां युदं परमधर्मः

एवसुवरवेति स्ठोके हृषीकेञ्चपदेन सद्धेश्रवणायार्जुनहृषीक्येरकत्वम्, यच्छोकमुच्छोषणमिन्तिद्र-याणामित्यायुक्तेन्द्रियक्षोमशान्तिकरत्वं च व्यक्षितम् । हृप्यन्ति हृषयन्तीति वा हृपीकाणि=इन्द्रि-याणि । एवसुक्त्वा-स्वावस्थामावेद्येत्यर्थः । 'निद्रालस्ये गुडाका स्यात्' इति गुडाका निद्रा ; तस्याः ईशो गुडाकेशः ; शबुद्धस्थमाव इत्यर्थः ; पिण्डितकेश हृति वा । गोविन्दशब्देन शोकापनोदनयोग्य-यावछाल्डित्वम्, गोशब्दनिर्विष्टाया भुवो [लाभाय] भारावतरणार्थपश्चतत्व चामियेतम् ॥

एवमनेनोपोद्धातेनोचितावसरे वक्ष्यमाणशास्त्रावतरणसङ्गति वदन् अर्थाद्पोद्धातसंग्रहस्रोकं च व्याकरोति एवमिति । अस्यानशब्दस्य 'विषमे समुपस्थितम्' इत्येतद्विपयत्वं व्यञ्जयन् , तस्य स्नेह-कारुण्याभ्यामेवान्वयाय तयोः पृथङ्निर्देशं कृतवान् । अत्रकृतिं गतनिति आकुलशब्दार्थं उक्तः । तेन स्वभावतो धीरत्वं सूच्यते : उपहतस्वभावः (७) इति हि स्वेनैवीक्तम् । एतेन कार्यण्यदोषो-पहतस्त्रमावत्वं धर्मसंमूढचेतस्त्वे हेतुतयोक्तितस्यि द्शितम् । धर्मसंमूढचेताः इत्येतद्विवरणस्वपस धर्मा-धर्मधियेत्यस्य अर्थः क्षत्रियाणामित्यादिनोक्तः । धर्मेऽप्यधर्मधीः धर्मावर्मधीः, शुक्तिकारजतधी-रितिवत् । तत्र यथार्थक्यातिपञ्जे मेदामहो विविश्वतः । तामसी चेत्रं घीः । 'अधर्भ ध-मिति या मन्यते' र्वात्तरात । दैन्यमाकि क्रम्यम् अझानारा।क्तमस्यमः तद्धानः कायादिव्यापारो वात्तः । सा अर्जन-निष्ठा तद्विषये कृष्णस्य द्योत्थापिका। दुर्योश्वनादिनिष्ठ यत् कार्पः व तद्दर्शनजानता अर्जनस्य द्या : तहरात तस्य सभाव उपहत इति च स्थानाम अमुख्यतया । बृहदारण्यके गार्गिबाह्मणे, य एवदक्रं विद्वान सर्वे करोति स ब्राह्मणः, यो होतद्विद्वान यजने तपस्तप्यते वा स कृपणः इत्युक्तम्। अतः ब्रह्मज्ञानार्थमुपसर्पणं भवति तत्परिहाराय । अनुभाव्यं प्राप्तं ब्रह्माननुभवन् देयानुभवे प्रवृत्तः कृपण पव । तद्व्यत्रोपरि परतत्वाद्यपदेशात् व्यज्यते । तथा श्रेय इति पर्श्व 'श्रेयम् प्रेयश्च मनुष्यमेतः' इति कठोपनिषदुकं हिततमं मोश्लोपायं प्रयाविस्थलं दर्शयति । एवं मोश्लाधौपाय-प्रदनस्यःबस्यार्जुनोक्तौ अवगमः तद्विपयक्तव्यप्रवृत्यौत्कट्यदेतुः। निश्चितमिति। यग्मे श्रेयः, तत् त्वया निश्चितमेव । त्वया मत्स्थितिनिन्दशत् । तन्म बृहीत्यर्थः ।

नहीति खोकः, अपि त्रै लोक्यराज्यस्य हेताः किं तु महीलते इत्युक्त धवरणक्षय विवेति न विशिष्य ध्याख्यातः। एहिकामुष्मिकेश्वर्थविरक्तत्वात् न तेनाहं प्रलामनीयः, युद्धकलं त्वन्यन्नास्तीति भाषः। नतु अवाष्येति कुनान्वेतिः प्रपद्यामीत्यस्य समानकलंकत्वेऽपि स्ट्यमोगात् तस्य वर्तमानतया अवाष्यनन्तरत्वाभावात्। न च अपनुद्यादित्यनान्वयः; समानकलंकत्वाभावादिति चेत्—अवाष्य स्थितौ इत्यध्याहृत्य अपनुद्यादित्यनान्वयः कार्यः। यहा 'विभाषाऽऽपः' इति आप्नोत्तेरिजनतात् विकल्पात् अवाप्य्यत्ये अवाष्यंति भवतीति, यत् मां राजः प्राप्य्य शोकमपनुद्यात् तददिमदानीं न पद्यामीत्यर्थः। प्रपद्याभि इत्यन्न प्रति उपसर्भवस्य कुतस्त्वा कदमस्रमिति निन्दनात् स्यादुष्याय होत उत्यस्यामि, न तु प्रकर्षेण पद्याभीति अत्यति।

1 नतु पवमुक्त्वेत्यस्त्रम् ; नयोत्स्य इति गोविन्दमुकत्वेति किमर्थम् । प्रथमं वा उक्तवेति पदं

मध्यधर्मे मन्वानं धर्मबुध्वस्तया च शरणागतं पार्थप्रहिश्य, आत्मयायातम्यज्ञानेन युद्धस्य फलाभितिन्धरहितस्यात्मश्राप्त्युपायताज्ञानेन च विना अस्य मोहो न शाम्यति' इति मत्वा, भगवता परमपुरुषेण अध्यात्मशास्त्रवतरणं कृतम् । तदुक्तम् —(गी सं ६.) ''अस्थानस्तेह-कारुण्यधर्मार्थमिथिपाऽऽकुलम् । पार्थे प्रपन्नप्तृहिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्'' ॥ इति ॥ ९ ॥

(१८. ३२) इत्यादि हि वक्यते । अत्राख्यानस्नेहकारुण्याभ्यां जाता धर्माधर्मभिदिति विम्रहो द्रष्टव्यः । स्नेहकारुण्यधर्माधर्मभयाकुलेत्यादिपाचीनमाण्यानुसारेण धर्माधर्मभयाकुलमिति पाटे तु लयाणां द्वन्द्वः । प्रच्छामि त्वा इत्यादिसमिन्याहृतप्रपन्नशन्दार्थः धर्मघुमुत्सया च शरणागत्तित्युक्तः । एवं योग्योदेशेन पृष्टितिर्युक्तः इत्याह—पार्थमुद्दिश्येदि । व्याजलाममालेण शास्त्रावतरणं कृतमिति वा मावः । आकुलं पार्थमुद्दिश्य इत्याह—पार्थमुद्दिशयेदि । व्याजलाममालेण शास्त्रावतरणं कृतमिति वा मावः । आकुलं पार्थमुद्दिश्य इत्यस्य तात्पर्यम् आत्मेत्यादिना मत्वेत्यन्तेनोक्तम् । आत्मनो याधान्त्रम्यं नित्यत्वमगवद्यीनत्वादिकम् । न हि प्रप्रयामीत्यादिकं वदतोऽस्थायमेव शोकनिरासोपाय इति मावः । कृतित्यस्य केनेत्याकङ्क्षायां प्रवन्धकर्तृमुक्त्यासिद्राङ्काथ्यावनिनायोक्तं भगवता परमपुरुषे णेति । अनेन पदद्वयेन शास्त्रमाण्याद्युपयुक्तमुमयिकत्वायाह्नदृद्धमिति । प्रत्यथ्यायं सम्रदृक्षोके स्थिमेदेऽभिधीयमानेऽपि इतः पृवेश्य द्वितीयाध्यायकेदेशस्यापि शास्त्रोपेत्यातत्वम् , अतःपरस्य शास्त्र-श्वयेदेऽभिधीयमानेऽपि इतः पृवेश्य द्वितीयाध्यायकेदेशस्यापि शास्त्रोपेऽध्याये न्यवीविशत् । इदमिष स्वितम् तन्मोहस्नान्तये इति द्वितीयाध्यायकलं संगृहद्धिः । तत्रधास्थानस्नहेशाकुलस्वं प्रथमाध्यायर्थः ; 'सविशेषः स एवाल संगत्यर्थमनूदितः' इत्यपि दर्शितं भवति ।

¹नःवेवेविधमुह्दिय कथमपृष्टकर्मयोगज्ञानयोगभिक्तयोगादिविषयं शास्तमुपिद्दियते; "नाष्ट्रष्टः कस्स-चिद्तृयात्" (मनु. २. ११०) इति हि सारन्ति । विशेषतश्चायं गुद्धगुद्धतरगुद्धतमप्रकारोऽर्थः सहसो-पदेष्टुमयुक्तः । 'तसाद्युध्यस्य भारत', 'युध्य च' इत्यादिषु च पाकरणिकयुद्धप्रोत्साहनपरत्वमेव प्रतीयते । मा भूदिति चेत्—पूर्वं भाष्ये न योग्ट्य इन्युवादानेऽपि विख्यय सहारं चापमिति क्रियामान्नेण तत्यवद्गानम् । इच्लेन समाधानारम्भे इते पुनर्वकत्यमुक्त्वा शरणं प्रपद्मापि, नाहं संदिहानः किं तु अनपगतविषरीतिनिश्चय प्रवास्मीति स्वाशयः विष्कर्तं न योग्ट्य इति कच्छोक्तया तदा-विष्करणम् । योग्ट्य इति आत्मनेपदेन, नाहं मद्यं योद्युमिच्छामि, तव प्रीतये मया कर्तव्यं चेत् कुर्याम् । परन्तु तन्मूछापिततस्य पापच्यूहस्य कथं परिहारः, शोकस्य चेति सुच्यते। भगवांस्तु सर्वमिष कर्म मत्यीतय एव कर्तव्यमिति वस्यति। पश्चि विषयभेदात् अकृत्वापदद्वयम् ।

1 नन्धेवंविधमिति । मुमुक्षत्रे उपदेष्टव्यस्य परतत्त्वहितादेरसमे कथमुपदेशः। न हि राज्यानाकांक्षावचनमात्रेणायं मुमुक्षः। परान् हत्वा राज्यं न खिल्सते। दुर्योधन एव भीतो वाऽन्यथा वा यदि किञ्चिद्रास्यति, तर्हि ततोऽधिकं बुभुश्चरेव भवेदिति शंका। समाधिरुतु— पञ्चात्तनैतत्परिस्थित्यादिमात्रेणास्येदानीममुमुश्चत्वमिष न निर्धारियतुं शक्यम्। पश्चाद्गोगादि- तमुवाच हवीकेशः प्रहसन्निव भारत । सेनवीहभयोर्मध्ये सीदमानमिदं ववः ॥ १० [तम्] एवं देहात्मनीर्याथात्म्याञ्चाननिमित्तं विष्यु एवं देहात्मनीर्याथात्म्याञ्चाननिमित्तं व धर्म भावमाणम् , परस्परविश्वद्धपुणाः वतम् , उभयोस्सेनयीर्युद्धायोद्धन्तयोर्मध्ये अकसा-

अतो नास्य शास्त्रस्याध्यात्मपरत्विमिति । अतोच्यते—यच्छ्रेपः स्यादिति प्रश्नवाक्ये यच्छ्रेपः इति अनिर्घारितिविशेषं दृश्यते । न चार्जुनस्य युद्धमेव श्रेयस्वेन जिज्ञास्यमित्यस्ति नियमः, परमास्तिकस्य तस्य भगवति संनिद्दिते प्रस्तुतमुखेन परमिन्दश्रेयसपर्यन्तिज्ञासोपपतेः । अस्तु वा तस्य युद्धमातविषया जिज्ञासा ; तथाऽपि परमकारुणिकेन भगवता यच्छ्रेयः इति सामान्यवचनमारुग्च्य परमहितोपदेश उपपत्तः । युष्यस्वेत्यादिकमपि परमिनिश्लेयसोपायतयेति तत्रतत्र व्यक्तम् । तसाद्युक्तमिदम् अध्यात्म-श्रास्त्रावतरणमिति ॥ ८ ॥ ९ ॥

परिहासयोग्यत्वाय तमिति परामृष्टमाह-एवभित्यादिना । उभयोरित्यनेन सचितमुक्तं युद्धायोद्यक्तयोरिति । एतेनोपदेशावसरलाभोऽपि व्यक्तितः । मीद्मानमित्यनेन फिल्रितम् । यद्धनिवृत्त्यनहीवस्थाज्ञापकेन मध्ये इत्यनेनाभिषेतमाह-अकसादिति । पराजयादिको युद्धनिष्टतेः सम्यग्घेतुरत्न नास्ति : अहेतुकोपकान्तत्यागे त परिहास्यत्वमिति भावः । अत्र हृषीकेशस्वोक्तिफिलितं वक्ष्यमाणशास्त्रपामाण्याद्यप्युक्तं वनतुः पुरुषस्य सर्ववैरुक्षण्यं परमपुरुष इति दर्शितम् । यद्यप्यसौ हृषीकेशत्वात् पार्थस्य हृषीकादिकं सर्वे सङ्करपमालेण नियम्य मूभारावतारणाय प्रेरवितुं शक्तः, तथाऽपि जगद्पक्रतिमर्त्यतया पार्थतदितरात्मसाधारण-पुरुषार्थोपायशास्त्रोपदेशद्वारा प्रवर्तयतीति भाव: । यद्वा घीरमर्जुनं हृपीकेशतया स्वयं प्रक्षोभ्य प्रहसन्निव जगदपकाराय शास्त्रस्वाचेति । संबन्धविशेषात समनन्तरवावयपर्यालोचनया च परिहासार्थत्वौचित्यात प्रहासस्य पार्थकर्मकत्वमुक्तम् । यद्वा प्रपन्नस्य दोपनिरीक्षणेन परिहासासंभवम् , शिष्यं प्रति अध्यात्मोपदेशे प्रहासमात्रहष्टान्तानुपयोगं (परिहासमात्रानुपयोगं) चामिप्रेत्य पार्थशब्दः । प्रावण्येन जातमुमुक्षाह्वासस्यापि संभवात् । तत्प्रयुक्तश्रेयःकार्पण्यादिपण्यानि मुमुक्षुत्वे खरानानि । किञ्च भगवान् भूभारावतारणं छोकक्षेमायदानीं निश्चिकाय । तत्रैतत्तृत्यवीराभावात् एतन्तुखेने-स्यपि तेन संकिष्णतम् । तशस्य राज्यकामन्त्रे तस्यानायासेनैतत्त्रवर्तनं निष्पाद्यं स्थात् । स त राज्यं न कामयते । निष्फलंमपि कर्तव्यम् नैमित्तिकत्वादित्युक्तौ न तृष्वेत् । युद्धस्य वैश्वानरेष्ट्यादे-रिव संबिक्षताधिकारमूळत्वात् राज्यविजयाद्यनिमळाषे कथं नैमित्तिकत्वमिति अर्जनो मन्येत । महांखासी दुर्लमो धर्मः पारमर्थिक रूपेण सात्विकत्यागेन क्रियते चेत्-अस्य, नेहाभिक्रमना-शोऽस्तीतिन्यायेन यस्मिन कस्मिन्निय जन्मिन सम्यग्रययोक्ष्यते इति कत्वैव. मत्तः स्मृति र्जानमपोहनञ्जेतिरीत्या अस्यैवंत्रिधवृद्धिरुत्पादिता कृष्णेन । विश्वरूपसंदर्शनादिकमाकांक्षितवतोऽ-र्जनस्य, बहुमुखं प्रागेव भगवत्प्रभावं विदितवतो मुमुक्षा अस्थानस्नेहादिवत स्थात् । श्रेयश्चर्त भैक्षमपीति चाह । अतः कर्तन्ये युद्धेऽस्याऽऽबश्यकं प्रेरणमेवनेव संपाद्यम । ज्ञानकर्मणीः संबन्धो नास्तीति मोहापाकरणं मुख्यं गीताकार्यम् । 10 प्रद्वासमात्र-द्रशान्तानुपयोगमिति । प्रकर्षेण हासः अकर्मकः लोके प्रदोषदर्शनादिहेतको िक्रह्योगं पार्थमालोक्य परमपुरुषः महस्तिवेदसुनाच —पिहासवाक्यं बद्धित आत्मपर-मास्मयाथात्म्यतत्प्राप्युषायभूतकमेथोगज्ञानयोगभिकयोगगोवरं न त्वेवाहं जातु नासमि-त्यारभ्य अहं त्वा सवैषापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा सुचः इत्येवदन्तं वचनमु(वच उ)वाचेत्यर्थः ॥ श्रीभगवानवाच—

अशोच्यान् अन्वशोचस्तं प्रजावादांश्च भाषते। गतास्त् अगतास्ंश्च नाहुशोचित्त पण्डताः॥ अशोच्यान् प्रति अनुशोचितः । 'पतिन्त पितरो ह्येपां छुप्तपण्डोद्किक्तियाः' इत्यादिकान् देहात्मस्वभावप्रज्ञातिभित्तवादांश्च भाषते । देहात्मस्वभावज्ञानवतां नात किचिच्छोकः निमित्तमस्ति । गतास्त् देहात् अगतास्त् ; आत्माव्य प्रति [तयोः] तत्स्वभावयाथात्म्यविदो अतः प्रहृत्विविद्यनेन पर्तितं सरसत्वम् , सुप्रहृत्वम् , नित्तिलिनगमान्तगह्यतिलिनस्य महतोऽश्रेजातस्यानायासभाषणम् , इदंशव्यः वश्यमाणसमस्तभगवद्वात्रयविवयत्वन् , इक्तिनापि विविद्यतस्य वश्यमाणसमस्तभगवद्वात्रयविवयत्वन् , इक्तिनापि विविद्यतस्यनं च दश्यति-परिहास्त्यादिना । अशोच्यान् इति स्रोक्कात्मप उपदेशाध्वधानापादनार्थपरिहः सच्छायन्त्या शाक्षावतरणमात्तत्वेन साक्षाच्छाक्त्वाभावात् – न त्वेवाहम् इत्यादक्ष्यस्यस्यत्वकम् । यहात्रत्र अशोच्यान् हित स्रोक्षः प्रदृत्याकम् । यहात्रत्र अशोच्यान् हित स्रोक्षः प्रदृत्तावित्यस्य विषयः, न त्वेवाहम् इत्यादक्षित्रं व्यवस्य प्रकृतान्वयेन मक्ति।

'अशोच्यानन्वशोचः' इत्युक्ते केचिदशोच्याः शोचितः, तदनन्तरमयमि शोचतीति श्रानितः स्यात् ; तिलवृत्त्यर्थयुक्तम् अशोच्यान्य्रतीति । अन्वशोचः इति रुक्त्योगोऽनुपपनः, शोकस्याय-तन्त्वात् , भाषसे इति वर्तमानार्थःयपदेश्वेक्ष्ण्याचेत्यताह अनुशोचसीति । अवतन एव चिरानुवृत्तव्विवक्षया सोपसर्गेळक्ष्मयोगः ; यद्वा वर्तमानार्थः एव युतिष्ठुप्यहेत्यादिना ककारच्यत्ययः । 'प्रद्वा, बादांश्च भाषसे' इत्यल 'वर्तमानसार्गाच्ये वर्तमानवद्वा' (अष्टा. ३. ३. १३१) इत्यचुशासनात् भृते छ्यू । तेन 'तृष्णीं वस्य ह' इत्यनेन न विरोधः । अल प्रकृष्णज्ञानवाचिना प्रद्वाशासनात् भृते छ्यू । तेन 'तृष्णीं वस्य ह' इत्यनेन न विरोधः । अल प्रकृष्णज्ञानवाचिना प्रद्वाशासनात् भृते छ्यू । तेन 'तृष्णीं वस्य हुत व्यवहाराः प्रद्वातादा इति समासार्थव्यक्षनाय निमित्तः शब्दः । देहारममेदज्ञाने सिति हि पितृणां तद्वर्थपिण्डोदक्तिश्चायास्त्रहोपनित्तप्रयायादेश्च विश्वास-पृवेको व्यवहार इत्येतरस्वनाय प्रतन्ति इत्याद्वावाच्या । फिल्तमाह—देहारमेति । यावास् इत्यादेविविक्षितं विरोष्यं निर्दिशन्त् , पण्डितशब्दं प्रकृतोपयोगितया व्याकुर्वत् अन्वयमाह—गतास्तिति । यथपि—गतास्त्रमात्याद्विति शब्दौ निष्पाणसप्राणवाचको ; तथाऽपि तस्यार्थस्व प्रकृतासक्षतः—'अविश्वानमात्वास्तिति । वर्षाय्यमदेशिकम् । तमःकान्तारमध्यानं कथमेको गमिष्यसि॥' नाऽऽत्योपदेशस्यस्यस्यस्य वर्षाः सरसन्त्वादिविविश्वसः परिद्वासः ; स कृष्णनिष्ठ स्वा पेदृष्यक्रीये पतावन्दकतपरिहास्यावाच्यं यथा सरसन्त्वादिविविश्वष्टमस्तित् ; नयाभवदिदमपि परिद्वास्त्रस्थिति वक्तु परिद्वास्त्रस्थिति वक्तु परिद्वास्त्रस्थिति । स्वः

न शोचन्ति । अतस्त्विय विप्रतिषिद्धमिद्धपुष्ठभ्य(क्ष्य)ते , यत् एतान् हिनिष्यामीत्यनुशो-चनम् , यच देहातिरिक्तात्मज्ञानकृतं धर्माधममागम् । अतो देहस्वभाषं च न जानासि, तद्विरिक्तमात्मानं च नित्यम् , तत्प्राप्त्युषायभृतं युद्धादिकं धर्मं च । इदं च युद्धं फला-मिसन्धिरहितमात्मयाधात्म्यावाप्त्युषायभृतम् । आत्मा हि न जन्माधीनसद्भावः ; न मरणा-धीनविनाश्च्य, तस्य जन्ममरणयोरभावात् । अतः स न शोकस्थानम् । देहस्त्वचेतनः परि-णामस्वभावः; तस्योत्पत्तिविनाशयोगः स्वाभाविक इति सोऽपि न शोकस्थानमित्यभिप्रायः ॥ प्रथमं तावदात्मनां स्वभावं शृश्य—

प्रथम तांवदारमना खभाव १९७ — प्रथम तांवदारमना खभाव १९७ — प्रविचार जातु नासं न स्वं नेमे जनाधिपाः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः प्रम्॥ १२

भा. मो. ३३०. ३४), 'बद्धवैराणि म्तानि द्वेषं कुर्वन्ति चेत् ततः । शोच्यान्यहोऽतिमोहेन व्यातानीति मनीषिणा ॥' (वि. १. १७. ८२) इत्यादिषु पण्डितानामेव सप्राणनिष्पाणविषयशोक दर्शनात्, अशोच्यान्वयोचः इत्यस्य वश्यमाणे विस्तरे च, अञ्यक्तोऽयिनित्यादिना अथ चैनिनित्यादिना च नित्यस्यात्मनः अनित्यस्य शरीरस्य चाशोचनीयत्वेन वश्यमाणस्वादतापि तद्विषयतैव युक्तेत्यमित्रायः । देहास्तावत्र शोचनीयाः नश्चरस्वात्, आत्मानोऽपि तथा अनश्चरत्वात् इत्यृहाणोहक्षमबुद्धिरूपा पण्डा येषां तेऽत्र पण्डिताः । प्रज्ञावादिविपतिषिद्धशोकेनोत्नीतांस्तरज्ञानविषयानाह—अतो देहत्यादिना । शोकस्तु सिद्धः ; प्रज्ञा तु वादमालस्थिति भावः । को देहत्यमावः, कथमास्म दहातिरिक्तो नित्यश्च, कथं चानयोरशोच्यत्वम्, कथं वा घोरं युद्धादिकमात्मप्राप्र्युपायमृतम्, इत्याशङ्कय तदज्ञानविषयत्योक्तं लयं बुद्धिरुक्षकमेण विष्टणोति—इदं चेत्यादिना । इदमेव युद्धं बुद्धिविशेषसंस्कृतत्वादात्मयाथात्म्यपातिकरमित्यर्थः । उपायभृतमित्यत्व च्विमत्ययापयोगाद्वभेवास्य समावः ; फलान्तराभित्यन्ति तु स प्रतिवध्यत इति भावः । आतमा हीति हिशव्देन, 'न जायते' (क. २. १८) इत्यादिश्वतिप्रसिद्धं योतयति । आत्मा देहसंयोगवियोगलक्षणजन्ममरणसद्भावेऽपि नोत्पतिविनाशरूपे जन्ममरणे इत्यिभपायेणाह—तस्येति । देहस्विति तुशव्द आत्मापेक्षया वैलक्षण्यं प्रस्थक्षादिसिद्धं योतयति । देहस्वेनोपचयात्मकस्वादचेतनस्वाच घटादिवरपरिणामस्त्रमाव इत्यर्थः ॥११॥

एवमुपायोपेयनिवर्त्यस्वभावानभिज्ञं प्रति व्रितयोपदेशाय बुभुस्तीरपादिता । अथ पारलैकिक-फलोपायानुष्ठानाधिकारित्वाय देहातिरिक्तत्वेनावश्यं ज्ञातन्यं पुरुषार्थतयोपेयमात्मानं तत्प्राप्तीच्छामुखेन तदुपायेच्छाजननाय प्रथममेवोपदिशतीरबिमपायेणाह—प्रथमिति । शृण्वित्यनेन प्रकृतस्थोकस्य प्रतिवादिवावयवत् उपालम्भमालार्थतान्युदासाय अवधानापादनार्थत्वं न्यक्षितम् । जीवेश्वररूपेप्यासमु नित्यत्वे शीष्ठसंप्रतिपत्तियोग्यांशं प्रथममाहेत्यिभिषायेणाह—अहमिति । ईश्वरस्याहंग्रहः सर्वनियननृत्वगर्भ

<sup>1</sup> अशोच्यत्वं कुतः भीष्मद्रोणादीनां सद्वृत्तत्वादिति पूर्वमुकृत्वा तस्य सर्वानुगतत्वाभावेन नित्य-त्वादिति हेतुहकः शांकरभाष्ये। गतासून् मृतान् अगतासून् जीवत इत्यर्थो बर्णितः। अशोच्यत्वोप-पादकत्या, शोकस्ते देहं प्रतिवा जीवं प्रतिवा, उभयमयुक्तमित्यस्यैबान्वितत्वात शांकरोक्तत्यागः।

अहं सर्वेश्वरस्तावत्, अतः वर्तमानात् पूर्विस्मत् अनादौ काले, न नासम्—अपि त्वासम्। त्वन्मुसाञ्चेते ईशितच्याः क्षेत्रज्ञाः न नासन् ; अपि त्वासम्। अहं च यूर्यं च सर्वे वयम्, अतः परस्तिन् <sup>2</sup>अनन्ते (अतः परम्-असः द्वश्वक्षेत्रे इतले, न चैव न मिवव्यामः; अपि तु भविष्याम एव । यथाऽहं सर्वेश्वरः परमात्माः नित्य द्वि नाल तेश्वयः, तथैव भवन्तः श्रेत्रज्ञा आस्मानोऽपि नित्या एवेति मन्तव्याः ॥

<sup>1</sup> अन्तिमत्तवक्षेति । अद्वैतिभिर्तिविधेयतेच वस्त्विति वादिभिः सत्यभित्यस्यासद्ध्वासुन्धित्यर्थं इष्यते ; न तु सत्ताध्यय इति । अवापि न ासक्षेत्रयस्यक्षिमता असद्य्याद्वितरेवोका, न तु सत्तिति तैरुकेन । तिविधेयायिति आवः। यित्रयोगयभित्वी तदभावाआवेऽपि दुर्वच इति सस्वं स्वीकार्यमिति भावः। 2 भाष्यं अतः पश्म असावनन्तरे इत्यत्न, अतः परिसन् अनन्ते इति तालवाइः। पृषेमशाशावितिवत् अत्र अनन्ते इति तालवाइयक्स्।

<sup>3</sup> नतु मिर्यात्वात् निषेध प्वास्तु अनुषङ्गं विनेति वन्नः उत्तरार्धविरोधात्।

एवं भगवतः सर्वेश्वरात् आत्मनाम्, परस्परं च, मेदः पारमार्थिक इति भगवतेवोक्तमिति प्रतीयते ; अज्ञारमोहितं पति तिमृहत्तये पारमार्थिकनित्यस्वोपदेश्वसमये अहम्, त्वम्,
इमे, सर्वे, वयमिति व्यपदेशातः । औपाधिकात्मभेदवादे हि आत्मभेदस्यातात्त्विकत्वेन
निम्नत्यैव हि तस्य शोकादिः । ततोऽयमीश्वरं तिन्तर्यतां च सर्वेश्वरत्यादिसिद्धां सामान्यतो मन्यते ;
छोक्टष्ट्या जम्मविनाशादिदर्शनात्, 'न प्रत्य संज्ञाऽस्ति' (इ. ४. ४. १ २) इत्यादिश्वर्यर्थापातप्रतीत्या च,
जीवपकारिवरोषांस्तत्त्वतो न जानातीति न कश्चिहोषः । क्षेत्रज्ञाः आत्मान इति । यथा जीवात्
परमात्मनो वैलक्षण्येन जीवस्मावास्तस्यस्य भवन्ति, तथा क्षेत्राद्विलक्षण्यवेन वश्चमाणेन क्षेत्रगतमनित्यत्वादिकं तिन्वयन्तिः जीवे न शङ्कतीयमिति भावः ॥

अथ कर्नार ोनिक्षि विभिन्न आमृह्यच उमघटितवि(सं)घटितजर्रकर्पटराकरुकस्थासगन्धानां प्रबन्धानां दोषान् स्थाळीपुळाकन्यायेन निद्दीयन् , प्रथमं शास्त्रोपक्रमिवरोधं शास्त्रपञ्चन्यत्वपितं च वदति **एवभिन्छ।टिना । एवं**-तत्त्वोपटेशपवृत्तशास्त्रारम्भोक्तिपकारेणेत्यर्थः । **भगवतः सर्वेश्वरादिति ।** उभयिक इति सर्वनियन्तः अहमिति निर्दिष्टादित्यर्थः । यदि ईश्वराजीवानां मेदः पारमार्थिको न स्यात . उभयल्ङिस्वदःखित्वादिखभावसङ्करः स्यात् । यदि च आत्मनां मिथोमेदः सत्यो न स्यात् , बद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थानुपपतिः स्यादिति भावः । भगवत्तवः न त रथ्यापुरुपकरपेन केनचित् । यद्वा, 'त्वमेव त्वां वेतथ योऽसि सोऽसि' (यज्ञ. का. १. ६.), 'सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद' (ऋ. ८. ७. ११. ११) इत्युक्तेन समयता स्थ्रेनैव खास्य स्वराशीरभूनजीवानां च तत्त्वसुक्तामिति प्रतीयत इत्यभिषायः । अज्ञानमोहिन्दिमात् । न उ खर्यत्रभन्यमः णस्याऽऽतेनापि आन्तिरेवोत्पादनीयेति भावः । बुद्धाद्यवतारेणासुरादिभ्य इव, अयुपदेशः कि न त्यादित्यत्रोक्तं तुः निष्ठच्य इति । मोहनिष्टस्यर्था गीतोपनिषदिति भवद्भिरिप स्वीकृत्य व्यास्व्यान।दि च क्रुतमिति भागः । 'देहभेदाभिषायेण बहुवचनम् , नात्मभेदाभिषायेणेति शंकरोक्तं दृषयति-धारमार्थिकेति ! न ह्यसौ न त्वैवाहमित्यादिसन्थो आन्ति-निवृत्त्यर्थो मन्त्रपाठः, येन मेदनिर्देशस्यान्यपरतां मन्येमहि : कि त्वसौ तत्त्वार्थोपदेशरूप इति भावः । अहमित्यादि । अहम् इति पत्यवत्वेन, त्वम् इति स्वाभिमुखचेतनान्तरत्वेन, इमे इति स्वपराङ्मुखा-नेकचेतनत्वेन, सर्वे इति एकोपाधिसंगृहीतानेकव्यक्तित्वेन, वयम इति स्वेन सहाऽऽत्मत्यैकवर्गीकृतान-न्तव्यक्तित्वेन इति भावः । इति व्यपदेशादिति । न छत्न. न अहमिति किंचिदस्ति. न च त्वमिति. नापि अन्य इति प्रत्यादेशः कृत इति भावः । भारकस्मते भेदस्य सत्योपाधिष्रयक्तत्वात भेदनिर्देश उप-पद्मत इति शङ्कायाम् , तत्नापि सामान्यत उक्तं दृषणमपरिहार्यमित्याह-औपाधिकेति । हिशब्द उपाधि-भेदोपहितस्य परोक्तघटाकाशाद्यदाहरणेष्विप भेदांशातात्त्विकत्वाभ्युपगमपरः । उपाधिसत्यत्वेऽिप यथै-कस्यैव मुखचन्द्रादेमीणकृपाणसरित्समुद्रादिनिः सत्यैरप्यपाधिमिमेदोऽपारमार्थिकः, यथा चैकस्यैवाऽऽः काशादेर्घटमणिकादिसत्योपाधिभिर्षि संयोगभेदातिरिक्तो नोपाध्यधीनो भेदः, एवमन्तः,करणादिभिः

तन्त्रोपदेशसमये भेदनिर्देशो न संगच्छते । प्रश्वदुरुष्टास्मेदः स्वाभाविक इति श्रुतिरप्याह, 'नित्यो नित्यानां चेतनक्वेतनातामेको बहुनां ो शिद्यति कासस्' (क्वे.६.१३;क.५.१३) इति । नित्यानां बहुनां चेतनानां य एको नित्यक्षेतनस्यन्<sup>8</sup> काशान् विद्धातीत्यर्थेः। अज्ञान-

सत्यैरप्यपाधिभिर्निरवयवत्वेन छेदनभेदनाचयोग्यस्य सर्वत परिपर्णस्य बञ्चणो भेदोऽपारमार्थिक इत्यभ्य-पगन्तव्यम् । ततश्च तत्त्वोपदेशसमये तद्विपरीतोपदेशो हितोपदेशिनो न घटत इति भावः । द्वयोरपि पक्षयोः श्रतिविरोघोऽपि दृषणम् । स्वपक्षे च श्रत्यैकार्थ्याच बुद्धानमादिवत् मोहनार्थत्वशङ्कत्यमित्रायेणाह-भगव दिति । यद्वा भारकश्पक्षद्रपणार्येव श्रुतिरुपाता : ततश्च केंमुरयेन श्राह्मराक्षोऽपि द्षित: । अपिशब्द: प्रमाणद्वयसमुच्चये । **भगवरक्तात्मभेट** इत्यनेन श्रीतबदेव प्रमाणान्तरनैरपेक्ष्यं सच्यते । श्रीतरिप नित्या तदाज्ञारूपतथैव हि प्रमाणम् । 'नित्यो नित्यानाम्' (श्वे. ६. १३) इत्यत्न 'पविज्ञाणां <sup>1</sup>पवित्रम्' (वि.स.) इत्यादिवत योजनया जीव नित्यत्वपर्ववसितम(सिता?)र्धान्तरश्रमं निरम्यन् . नित्यत्वबहत्वचेतन-त्वसामानाधिकरण्येन निरुपाधिकमेदारमनां बहुत्वं चेतनस्य चेति <sup>2</sup> पदर्शयन् . तत एवारमानित्यस्य-वादिनां सौगतादीनाम्, अविद्यादिम्लभेदवादिनां श्रेकुशदीनाम्, आगमापायिचैतन्यवादिनां वैशेषि कादीनास , चिच्छक्तिमालित्यत्व शदिनासन्येषास्य निरासम्भित्रयन , प्रथमान्तपदचत्रष्ट्रयसामानाधि-करण्यवलादीधरेक्यं तदैक्यस्य हिरण्यगर्भरुद्रेन्द्र।दिवत् कालादिभेदाभेद्यत्वेन प्रवाहेश्वरपञ्चपतिश्चेपं श्रत्यन्त-रादिपसिद्धनित्यचैतन्यपसरादिकं च सूचवन् , <sup>8</sup>यदाभेवः (य. अ. ३. ९. १७) इत्यादिवदनुवादिलक्क सङ्घावेऽप्यपासत्ववलेन विशिष्टविधित्वं च व्यक्षयन् , सर्वदा सर्वत्र सर्वेषां चेतनानामेक <sup>2</sup>एवेश्वरस्तत्तत्कर्म-समाराधितस्तत्त्वनुरूपाण्यपेक्षितानि करोतीति श्रत्यर्थमाह—ित्यानार्धमति । पनः सिंहावस्रोकितेन **अंकर**मतस्योपदेशानुपपतिरूपं शास्त्रारम्भग्रळ्यातमाह अ**ङ्गानेति ।** किमयं भगवान स्वेन ज्ञातमर्थ-मुपदिशति, अज्ञातं वा ? ज्ञातमपि साक्षात्कृतम् , श्रुतमात्रं वा ? उभयतापि तदज्ञानं निवृत्तम् , अनिवृत्तं वा १ तन्त्रिवृत्तावपि तत्कार्यभेदभ्रमो निवर्तते, न वा १ इति विकल्पमिभिवेत्य साक्षात्कारात

<sup>1</sup> विव्रज्ञणाधिति । नतु पविज्ञाणां पविज्ञस्वहेतुरिस्त्वत् निस्यानां निस्यस्वहेतुरिस्तुक्ती अनित्यस्यं क्यं अवेदिति चंक्ताप्रभागय वानिस्यस्वयंविकति । विज्ञाणांमध्ये इदमतिद्याधित-विज्ञस्वयदित्यस्य नित्रिक्त स्वाप्ति स्वाक्तर्यक्षिति चांकरपिति क्रिज्ञद्विक्तस्यस्य नित्रिक्त स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्यस्य नित्रिक्ष स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्यस्य नित्रस्य स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्य स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्य स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्य स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्य स्वाप्ति स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्य स्वाप्ति स्वाप्ति विज्ञस्य स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्य स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्य स्वाप्ति स्वाप्ति क्रिज्ञद्विक्तस्य स्वाप्ति स्व

कृतमेददृष्टिवादे तु परमपुरुपस परमाथेद्देनिर्विदेशकूटस्थनित्यचैतन्यारमयाथारम्यसाधारका-राचित्रचाज्ञानतस्कायेतथा अज्ञानकुतमेदद्वीतं तन्तुलीपदेवारदेवयवदाराश्च न संगच्छन्ते ।

अथ परमपुरुपस्थाविषाताद्वाङ्गान्य वाविषातुद्वाचेरूपमिदं भेदझानं दग्धपटादिवश्व वन्धकमित्युच्यते — नैतदुपपद्यते ; मर्गान्युद्धाजलङ्मानादिकं हि वाधितमनुवर्तमानं न जलाह्र-रणादिम्मृदितिहाः । एवमलाप्यद्वेत्रझालेन वाधितं भेदझानमनुवर्तमानमिपि मिथ्यधिविषयत्व-निश्चयात्रोपदेशदिम्मृदित्वेद्वानेत्रयात्रोपदेशदिम्मृदिति । ने विश्वयस्य प्रमुप्तप्रस्थाते । केवलस्य हि अपरमाधिदृष्टिः स्यादिति भावः । निर्विद्यप्तयाद्वा स्वाति । निर्विद्यप्तयं सज्ञातीयिज्ञातीयक्षर्यः मेदराहित्यम् ; क्रूटस्यत्वं मायानिष्ठत्वम्, साधारण्यम् , निर्विद्यपत्वं सज्ञातीयिज्ञातीयक्षर्यः मेदराहित्यम् ; क्रूटस्यत्वं मायानिष्ठत्वम्, साधारण्यम् , निर्विद्यपत्वं वा । स्वयम् क्रियमाणस्वापि क्रूटस्य यथा स्वसंसर्गिणाम् अयः-प्रमृतीनां विकारहेत्वम् , तद्वत् ; तत एव । स्वयस्य कालानविच्छल्यस्म्। याधारम्यम् उक्तप्रकाराम् । अञ्चानम् अविद्याद्वानामिप परम्भुत्यस्य इति तद्वयुद्धासाय याधारम्यम् उक्तप्रकारोक्तिः । अञ्चानम् अविद्याद्वानमिपिकारिकार्येव्यवस्य इति तद्वयुद्धानाम् याधारम्यसाक्षात्व्यवहारो हि उपदेश्यादिव्यवहारो स्विद्याच्याविक्यविद्याचार्थप्रयोजनमेदादिनानिविधमेददर्शनम् । वत्वश्चाज्ञानतत्कार्थनिद्वती कथं तत्कार्यपरानुद्वितिरिति व्याधातापसिद्धान्तज्ञास्तानारम्भोपदेशाभाव-निष्कर्यरिक्षमत्व-श्रुतिवरोधाधिद्योपशत्वन्तिविद्विति भावः ॥

अद्वैतज्ञानादज्ञानिवृद्यावि वासनादिवशात् नेदभ्रमस्यानुवृति तस्य चावन्धकत्वमाशङ्कते-असेति । दग्धपटादिविति । यथा दग्धपटादेः पटादिमितिमासिविवयत्वेऽपि न पटादिकार्थकरत्वम्, तद्वद्वत्व मेदश्रमस्यानुवृद्यत्यापि न संसारहेतुत्विति भावः । नंतद्वपपद्यतः इति दृष्टान्तमालमुक्तम्, न तूपपतिः ; प्रस्तुतानुपपतिश्च विद्यतं इति भावः । अनुपपति सोदाहरणमाह—मगीचिकेति । एदमत्र प्रसङ्गः—विपतिपत्रं मेदज्ञानमद्वैतज्ञानवाधितत्या निध्यार्थनिति निश्चितं चेत् , न स्विषयानु-स्पपवृद्यिहेतुः स्यात् ; यथा बाधितानुवृत्तं मरीचिकाजलज्ञानम्— इति । एवंच वाधितानुवृत्तं मेदज्ञानं दग्धपटादिवत् न स्वकार्थकरिति वाधितानुवृत्तं परीचिकाजलज्ञानम्— इति । एवंच वाधितानुवृत्तं मेदज्ञानं दग्धपटादिवत् न स्वकार्थकरिति वाधितानुवृत्तं परीचिकाजल्ञानानिवृत्तं विद्यास्य हित् मावः । श्रुतमात्वपक्षेऽपि निर्विशेषिविषयसाक्षात्कारश्रवणयोर्धिवयानितरेकंणज्ञानिजृत्वित्वर्वतः कृत्वा सर्वेश्वरे वाधितानुवृत्तिस्वस्य वृत्वतः— न चेति । ईश्वरत्वादेय पूर्वमज्ञ इति वक्तं न शक्यते, अनीश्वरत्वप्रसङ्गात् । ईश्वरोऽपि चेत् पूर्वमज्ञः, तस्य शास्त्रोषियमोऽपि न संभवति । तद्यिकज्ञानवतोऽन्यस्य शास्त्रोपदेष्टुर्यनावात् । मावे वा, स एवंश्व (एवनीश्व १)रोऽनीश्वरो वा सन् कुतश्चित् सिद्धज्ञान इत्यनवस्थादि-दोषात् । न च प्रवाहेश्वरारम्पर्यमित्ति, तस्य दूपितत्वात् । न चेश्वरः स्वकृतेन शास्त्रेण तत्त्वमवगच्छिति,

पूर्वमङ्गस्यात । पूर्वमङ्गस्य पश्चात् तस्यकानोर्वात वा यात्रसुवृति अति चण्येते । पद-मीश्वरस्य न वक्तु शक्यते इत्यन्वयार्थः ।

तानुइत्तिः सम्यतं वक्तुस्, 'यः सबेझः सवितित्' (म. १. २. २.), 'पराऽस्य सक्तिविविव श्यते स्वामाविकी झःनवस्किया च' (श्रे ६.७), 'वेद ई समतीताने वर्तमानानि चार्जुन । मविष्याणि य भूतानि मां हा वेद न कश्चयः (सो. ७. २६) डांत श्रतिस्त्रीतिविभेषातु ।

किंच परभपुरुष्कच इदानीं वस्तुरुप्यस्परः च, अदिनीयात्मखरूप्यमिश्यमे सित अनुवर्त-मानेऽपि मेद्द्वाने, खिनश्रयानुरूपमद्वितीयात्मझानं एत्सा उपदिश्वतीति वक्तन्यम् ॥ प्रति-दिम्बद्दप्रतीयमानेभ्योऽर्जुनादिभ्य इति चेन् — नैरुदुःप्रद्यये ; न खनुम्मतः कोऽपि मिण-रुपाणदर्पणादिषु प्रतीयमानेषु खात्मप्रतिदिम्बेषु, तेषां स्वात्मतोऽनन्यस्वं जानन्, तेभ्यः वेदानित्यत्वान्योन्याश्रयादिप्रसङ्गात् । न चानादीनेव वेदान् स्तरवा तैर्श्वमिक्तगाम ; स्मृत्यादिहेतोः पूर्वोपरुम्मत्याप्युपदेष्ट्माशादितुःख्यत्यात् — इत्यादिग्रोषान् अभिभेत्योक्तम् — पूर्वमङ्गस्वेत्यादि । ईश्वरस्य पूर्वमञ्जले शाक्षाधीनज्ञानत्वे तदुपदेष्ट्रन्तरस्त्रावे श्रान्त्यनुष्ट्वते च श्रुतिस्त्रतिदिरोषमाङ्— यः सर्वज्ञ इति । खरूपतः प्रकारतश्य सर्वे जानाति वेत्तीति विवक्षया सर्वज्ञसर्वेदिण्डव्दवेरायुनरुक्तः ; सर्वे विन्दति—प्रामोतिति वा सर्ववित् ॥

एवमुपदेशस्य हेरवतुपपत्तिरुक्ता । अधोपदेष्टताऽपि नोपपयत इत्या**इ कि चेति ।** इदानीन्तनेति । न केवलभीश्वरकृतः प्रथम एवीपदेशोऽनुपपन्नः, अपि स्वदातनोऽपीति [कुनति-] मठप्रतिपरम्परायाः शिप्यान्नकक्षिम्भरेः शिप्याद्यभावात पायोपवेशनं प्रसज्यत इति भावः । अज्ञातोपदेश-वक्षानुवर्णतमभिष्रेत्याह स्वित्रश्चरेति । न ह्येतेऽनुवल्ल्ब्धार्थाः, नापि संदिग्धार्थाः, नापि विप्रतम्मकाः, न च परोक्तानुवादिनः, नापि वालोन्नच।दिवत् यथोपनतं जलपाकाः इति भावः । कसा इति । खसी परसी वा; पूर्वल भिन्नतया निश्चिताय, अन्यथा वा; भिन्नतयेत्यलापि सत्यतया निर्णीताय. असत्यतया वा : परसा इत्यतापि तान्त्रिकाय, अतान्त्रिकाय वा ; अतान्त्रिकत्वेऽपि तथा प्रतीताय, अन्यथा वा-इति विकरप्य प्रष्टे तदुत्तरं वक्तव्यमित्यर्थः । तत्र सार्थेव भिन्नस्य सत्यत्वनिश्चये अवसिद्धान्ताज्ञत्वादिदीषप्रसङ्घः । असत्यत्विभिश्चये वन्ध्यातनयादिभ्य इवानुपदेशः । अभिन्नतया निश्चिताय सस्मै चेत्, अर्जुनादिपतिभासमन्तरेण सर्वदोपदेशः स्यात्; न च तलोपदेशस्य किक्कित्प्रयोजनमस्ति । परस्मै तात्त्विकायेति त शरीरभेदेऽपि भवान्नाभ्यपगच्छति । अतात्त्विकतयैव मतीताय परस्मे चेत्, पूर्ववदेवानिर्वचनीयत्वेनासत्त्वेन वा निश्चितेभ्यः प्रतिविन्ववन्ध्यास्तादिभ्यो-Scagaदेशपसङ्गः । अतात्त्विकस्यैव परस्य तात्त्विकत्ववोधे तु तत्त्ववेदित्वमेव न स्यादिति न तत्त्वोपदे-शित्वसिद्धि।-इति स्थिते, परमार्थत एकत्वेऽपि श्रानत्या भिन्नतया प्रतीयमानेभ्यो वाधकज्ञानवलेनाभिन्न-तया निश्चितेभ्यश्चेति पक्षं शङ्कते प्रतिविभवनादेति । द्वयति नेति । अनुपर्गतं विद्युणोति न हीति । अनुन्मत्त इति ईश्वरादेरुन्माद एव भवता स्वीकृतः स्वादिति भावः । कोऽपीति । किसतेश्वर इति भावः । अनन्यत्वं जानिः निति । अनन्यत्वम (त्वं)जानन्तो वालादयः काममुपदिशेयः । अलो-

<sup>7</sup> परमयुरुपस्योपदेष्ट्रन्वासंभव उक्तः। सर्वस्थापि तदसंभव उच्यते किञ्चत्यादिना।

किमप्यु(कमप्थर्थमु)परिवर्ति । वास्तितानुष्ट्रितिए तैनै शक्यते वक्तुम् ; वाधकेनाद्विती-थीरमद्वाने वास्मवर्थे-रिकाभेष्वातकात्यकः [तः]नादेर्पिः धनात् । द्विचन्द्रज्ञानादौ तु चन्द्रेक-त्वज्ञानेन पारमार्थिकतिमिरादिदोषण्य द्विचन्द्रज्ञानहेतोर्श्यनप्रत्वात् बाधितानुवृत्तिर्युक्ता ; अनुवर्तमानमपि प्रवलप्रमाणवाश्यितस्वेनाकिचित्कस्म् । इह तु भेदज्ञानस्य सविषयस्य सकारणस्यापारमार्थिकत्वेन वस्तुपायातम्बज्ञानिवनप्रत्वात्य कथिवदपि वाधितानुवृतिः

पदेष्टरन्यत्वाध्यवसाये आन्तत्व।दिवसङ्ग इति भावः । किमपीति । छौिककमछौिककं वा. दृष्टार्थ-मदृष्यं वा ; कि पुनर्भोक्षार्थमित्वर्थः । वाधितानुवृत्तिस्तरूपमभ्युपगन्य पूर्वं दृषणान्तरमुक्तम् ; इदानी तन्मते तदेव न सिध्यतीत्याह वाशिते ते । जापादयति पा अकेनेति । न हि कारणामावे कार्य घटेत । न च दोषनिवृत्तौ आन्तिनिवृत्ति स्वाविति वक्तं युक्तम् । अनादेशिति । स्वरूपतः प्रवाहतो वा अनादेश्न्यानिवर्त्यतेतावन्तं कालमनुष्ट्वत्य भेदज्ञानकारणमृतस्य दोपस्य यदि अद्वैतज्ञानेनापि नाञ्चो न खात् , नित्यसंसारित्वं ब्रह्मणः स्यादिति मानः । अत्र अञ्चानादेशितं कश्चित्पाठः ; ततादिशब्देन मेदअमस्तद्विषयध्य गृह्यते । परैरुदाहृते दृष्टान्ते वाधितानुवृत्तेरुपपत्तिमाह द्विचन्द्रेति । पारमार्थिकेति । न हि पारमार्थिकं बाध्येत : तथा सि नाधावाधविद्यवनसङ्गादिति भावः । दिचन्द्रज्ञानहेतोरिति । न हि बाधकज्ञानेन पूर्वज्ञानस्य कारणं वाध्यते, इन्द्रियादेरपि वाधपसङ्गात् । अतो विषय ए.वारोपि-तस्तद्धिष्ठानविषयेण विरुद्धाकारप्राहिणा ज्ञानेन वाध्यः । न चाल तिमिरादि द्विचन्द्रज्ञानस्य चन्द्रै-कत्वज्ञानस्य वा विषय: । भवतस्तु समस्तभेदअमोरादानस्याज्ञानवासनादे: साक्षिचेतन्यविषयस्वात् , वाधक-ज्ञानस्य चाह्नितीयात्मव्यितिस्क समस्त(स्ता)भाव गोचरत्वात् कारणस्याय्यनादेवीय एवेति भावः । **युक्ते**ति। सामग्रधनुरुतौ कार्यानुरुत्तिस्पपन्नेनि भावः। यदि आन्तिरनुहुत्ता, कथं तर्हि तत्कार्यविसमयभयादिनिवृत्तिरिः त्यलाह **अनुवर्तमानसर्पाति । प्रवल**शब्देन परपक्षे भेदलमहहाधकशोरविशेषः सूचितः । द्वयोरपि हि अज्ञानकारणत्वे तैराश्रितम् , अन्यथा सत्बद्धययसङ्गात् । तथाच सित् कि कस्य बाधके बाध्ये वा ? न च दोषम्ळत्वं वाधकज्ञानस्याज्ञातमिति शच्यम् , प्रथममेव श्रवणवेरुग्यां ब्रह्मस्यतिरिक्तसमस्त्रमिथ्यात्वप्रत्ययात्। न चाज्ञातमिति <sup>1</sup>तावता तत्त्वसिद्धिः ; सत्यरजतवाधकेन शुक्तिकाज्ञानेनाज्ञातदोवणापि तत्त्वतो रजतस्व रूपनाघाभावात् । दोषमूल्रत्याविशेषेऽपि पूर्वत्वपरत्वाभ्यां बाध्यबाधकत्यवस्थति चेत् न ; दोषमूल्रत्वे ज्ञाते सति परत्वस्माकिश्चित्करत्वात् , श्रान्ततयाऽवगतेनोक्तसपि[वी]वाधकवाक्यवत् । अन्यथा शृत्वमेव तत्त्वमिति माध्यमिकवावयेन दोषमूळतया ज्ञातेनापि परत्वमालेण संत्रिन्मालस्यापि वाधः स्यात् । अथ कारणस्यापि बाध्यतयाविषयत्वापारमार्थिकत्वरुक्षणं दृष्टान्ताद्वैषम्यं विवृण्वन् वाधितानुदृत्त्यसंभवं इह त्विति । न कथि खदिपि । अनायज्ञानेन वा भेदज्ञानवासनादिभिवेत्यर्थः । ज्ञातं वा अज्ञातं

<sup>1</sup> अद्वैतविषयज्ञानस्य दोषमुळत्वाज्ञानमात्रेणाङ्गैतसिन्धिर्न मनति। न द्वि सन्पर्जः श्रुक्तिभ्रमे तस्य दोषमुळत्वाज्ञानमात्रण ग्रुक्तिसिन्धिरित्सर्थः।

संभवति । अतः सर्वेश्वरस्येदानीतनगुरुपम्परायाश्च तत्त्वज्ञानमस्ति चेत् , भेदद्र्शनतस्कार्योपदे-शायसभवः। नास्ति चेत् , अज्ञानस्य तद्वेतोः स्थितस्वेनः ज्ञस्यादेव सुतरामुपदेशो न संभवति ॥

किंच गुरोरद्वितीयास्यविज्ञानादेव बनाज्ञानस्य सकार्यस्य विनष्टस्वात् शिष्यं प्रस्तुपदेशो निष्प्रयोजनः। गुरुस्तव्ज्ञानं च कव्यिवामिति चेत् , श्चिष्यवव्ज्ञानयोशीय कव्यिवतस्वात् तद्ष्य-निवर्वज्ञम् । कव्यिवस्वेऽपि पूर्वविरोधिस्वेन निवर्वकसिति चेत् , तत् आवार्यज्ञानेऽपि समान-

वेति विकल्पामिष्रायेणोपकान्तासुपदेशकारणायनुपपति विकल्पस्कोरणेनोपसंहरति **अत हरित । सुतरामिति** जानतस्तु वाधितानुवृतौ दृष्टान्तमालमपि तावदस्ति : अजानत उपदेशे सोऽपि नास्तीति भाव: ॥

उपदेशस्य कारणाचन्पपतिरुक्ता : अथानर्थवयमाह कि चे ते । प्रतिविरुद्धवत्प्रतीयानेस्य इत्यादिना पूर्वमेत्र जीवाज्ञानपक्षस्यापि कृषितत्वाद्धसाज्ञानपक्षे अधिकद्वपणितदमुच्यते । ते खल्ल— एकमेव ब्रह्म अविद्यारावरुमेक एव जीव:: खमहरा इवैकस्प्रैव तस्य श्रमात् समदृष्टपुरुषाद्य इवान्ये जीवादयः प्रतिभान्ति : तस्यैकस्यैवानिध्यितदेह(स)विशेषस्थितेरनिणीतकालेन भविष्यता तत्त्वज्ञानजागरेण समस्तः पपञ्चोऽपि स्वप्नपश्चवह्याभ्यते-इति वर्णयन्ति । तत्नायमुपदेष्टा वासदेवादिर्गुरुः स एवः तददृष्टो वा : शिष्योऽप्यर्जुनादिः स एव, तदृदृष्टो वा इति विकल्पमिष्रेत्य, गुरुः स एवेति पक्षे दृषणमाह गुरोरिंति । सकार्यस्थेति शिप्याचार्थरबादेरपीति भावः ; तेनोपदेष्टभावः ; प्रष्टभावः, उपदेश-परिकराभावश्चोक्तो भवति । गुरोस्तदृदृष्टस्वाक्षमनुबद्धि गुरुषिति । न हि स्वप्नदृशा कल्पितपुरुषविज्ञानेन खारो बाध्येत: तद्वदलापि गुरोर्ज्ञानेन प्रपञ्चनाधामानात् तद्वाधायोगदेश: सप्रयोजन इति भाव: । दृषयति क्रिष्येति । अयं भाव:-न ताबदलार्जनादिः स एव जीव इति तृतीयकरुपे प्रमाणसुपरुभामहे : न च-अयं मम शिष्यो जीवो सक्तो भविष्यति. अहं त्यनेन खप्रदशेव कल्पितः इत्याचार्योऽपि मन्यते। तथा सति खसंहा(सा)रकारिणे महापकारिणे तस्मै नोपदिशेत् । स्वयं हि खप्तखमावाधियमेनैव निष्टत्तः स्यादिति न मोक्षोपायमाचरेत् : शिष्योऽपि यदि स्वाटष्टवत् गुरुं मन्येत, ततो न शृण्यात् । गुरुं तज्जानविद्रोषयो: खश्रान्तिकल्पिततया खयमेव तज्ज्ञानविषयविद्रोपं जानन तत: किमर्थं श्रुणोति ? न्यक्षिकोपदेव्यक्तिकेदेव्यकात् स्रशान्तिनिवृत्तिरिति च हास्त्रम् , तमन्तरेणापि स्वप्रत्यक्षश्रमादपि तिन्निवृत्त्यपपते: : न च ज्ञातार्थेऽप्यर्जुने अद्य यावत् अमनिवृतिर्देश्यते । अतः शिष्योऽप्याचार्यवत् समस्त-प्रपञ्चस्वप्रह्माऽन्येनैव दृष्ट इति चतुर्थः करुपः परिशिष्यते । ततश्च शुक्रवामदेवादिज्ञानवदुर्जुनादि-ज्ञानमपि नाज्ञाननिवर्तकमिति निष्फरुः शिष्याचार्याणां कृष्णार्जुनादीनां तिवरीपरित्यागेनापवर्गार्थप्रयास इति शास्त्रारम्भोऽनुपपन्नः । अथ परिहासकाकुपूर्वमपच्छेदनयमाशङ्कय परिहरति करिपतत्वेऽपीत्या-दिना । एवसुपदेशानुपपत्तौ तस्य सर्वद्रष्ट्ररेकस्थापि जीवस्य कदाचिदपि मोक्षायोगात् शास्त्रपयोजनमपि नास्तीति ततोऽपि शास्त्रारम्भानुपपितिरिति फलितम् । एवं शास्त्रोपदेशस्य ततुपदेष्टसाच्छोतुस्तत्पयोजनस्य

मिति तदेव निवर्तकं भवतीत्युपदेशानर्थक्यमेव-इति कृतमसमीचीनवादैः [निरस्तैः] ॥१२॥
देहिनोऽस्मिन् वथः देहे कीम रं शैवनं जरा । तथा देहान्तर गतिर्धारस्तत्र न सुद्धाते ॥ १३
एकसिन् देहे वर्तधानस्य देहिनः कोमारावर्थाः विद्याय यीवनः द्यवस्थाप्राप्तौ आत्मनः
स्थिरस्वगुद्ध्या यथा आत्मा नष्ट इति न शोचित , देहादेहान्तः प्राप्तावित तथैव स्थिर आत्मेति
दुद्धिमान्न शोचित (न तब सुद्धाते) । अत आत्मनां नित्यस्वादात्मानो न शोकस्थानम् १३
एतावदन्न कर्तव्यम-आत्मवां नित्यानः मेवानां दिक्षवद्यया तत्त्त्त्कभोंचितदेहसंस्रष्टानां

एतावदत्र कृतव्यम्-आत्मना । नत्यानःभवाना वकाववश्यतया तत्तत्कमा। चत्रदहससुष्टाना तैरेव देहैंवेन्धनिष्टत्तये कास्त्रीय स्ववर्गोचितं युद्धादिकपनःभवेहि। फलं कर्म कुर्वतामवर्जनी-

चानुपपत्तौ सामान्यतः संविक्तविष परनते दृषिते किमवान्तरनृपणैरित्यन्यपरतयोपसंहरति इति कृतिसिति । कृतम् अळिनित्यर्थः ; असमीनीत्तव दैश्यिनेन स्तरस्करादिमतेऽण्येवेविषदूषणशतं शारीरकमाप्यायुक्तं सारितम् ॥ १२ ॥

अथात हृद्रते प्रापकविषयोत्तरकोकद्भयक्तितं सङ्कल्य्य सङ्गतिमाह एतावदिति । बन्धिनवृत्तय हृत्यन्तः अमृतन्वायेत्यसार्थः। ग्रुद्धस्वगावानां संसारानुवपिवपिहारायोक्तम् अनादीति । कमैववयतया, न त्वनिवैचनीयाज्ञानादिवश्यतयेति मावः । स्वतेऽत्यन्तसमानानामात्मनां देहभोगादिवश्यतयेति मावः । स्वतेऽत्यन्तसमानानामात्मनां देहभोगादिवश्यत्यर्थस्कत्त् तत्त्वस्वस्विद्ध्यर्थस्वस्य निवृत्तयः हृत्ययः । यद्वा तैरेव देहैः कमै कुवैतामित्यन्वयः । तदा तु वन्धका एव देहा मोक्षसाधनौपिकास्त्रभवन्तीत्ववधारणाभिषायः । आस्त्रीय-मिति । अन्ययेश्वर्रश्रत्सनातिलङ्क्षनादण्ड एव स्थादिति भावः। स्वयणौिचतमिति । न तु त्वया युद्धादिकं परित्यज्य भैक्षं चर्तुं श्रेय इति भावः। अमृतत्वहेतुत्वायोक्तम् अनिमसंहितेति । प्रतिकृत्यसमावत्य कथं कर्तव्यत्वमिति शक्कानिवतेकश्वरुश्वरद्ध्योतितमवर्जनीयस्यं तितिक्षित्वव्यस्वे हेतुः, इत्येतावदत्र कर्तव्यन्यनिति शक्कानिवतेकश्वरुश्वरद्ध्योतितमवर्जनीयस्यं तितिक्षित्वव्यस्वे हेतुः, इत्येतावदत्र कर्तव्यन्य

1 ''निरस्तैः'' इति पाठे सिति श्रीभाष्ये एव अस्य मतस्य सुबहु निरस्तत्वं श्रेयम् । ततश्च श्रीभाष्यस्य पूर्ववृत्तत्वमिव बाषितं स्यात् । तत्रावृत्वित उपरेशातुपवरवंश एवौचित्यादिह दूषितः । 2 तुशब्दः ग्रीतास्थः । इत्येतावदीति । क्षन्तव्या इतीति इतिशब्दस्य एताबदिति पूर्वभाष्यपदेऽन्वय इत्यथः । यतया इन्द्रियैरिन्द्रियार्थस्पर्जाः शीतोष्णादित्रयुक्तसुखदुःखदा भवन्ति, ते तु यावच्छास्त्रीय-कर्भसमाप्ति श्वन्तव्या इति । इसमर्थसनन्तरसेवाह---

मात्रास्पर्शास्त कौन्तेय श्रीलोष्णसुखदुःस्वराः। आगमापायिनोऽनित्यास्त्रांस्तितक्षस्य भारत॥ शन्दर्पर्श्वरूपस्पान्थाः साश्रयाः तनमात्राकार्यत्वान्माता इत्युच्यन्ते । श्रोत्रादिभिस्तेषां स्पर्शाः श्रीतोष्णसृद्परुषादिरूपसुखदुःखदा भवन्ति । श्रीतोष्णस्वदः प्रदर्शनार्थः । तान् श्रेपेण मित्यन्वयः । <sup>1</sup> आत्मानित्यत्वप्रकरणपर्थवसाने वक्तस्योऽप्ययमधितात्वयाित्या् सहसोच्यत इत्याह इममर्थमनन्तर्गिति । 'आभिर्मीयन्ते शब्दाद्य इति श्रोतादीनीन्द्रियाणि मात्राः' इति श्रङ्कराचुक्तान् प्रसिद्धयोजनाख्युदासाय मात्राश्चदाधमाइ शब्देति । साश्रया इति । गुणविशिष्टद्रच्यत्य हि तन्मात्राकार्यत्वमिति भावः । तन्मात्राकार्यत्वादिति । तन्मात्राणां मात्राशब्दवाच्यत्वे तावन्नास्ति विवादः । शब्दमात्रा स्पर्शमात्रा इत्यादिप्रयोगाश्च सन्ति । ततश्च तत्कार्यद्रव्यस्यपि तदेकद्रव्यत्वात् तच्छव्दगोचर्त्वस्यप्रविनिति भावः । कर्मव्युत्पतेरिति भावन्युत्पतेरि । स्विस्ति । स्वा स्पर्शस्य प्रतिसंवन्ध्यन्तरं निर्विशन् समासाध्यम्प्याह श्रोत्रादिश्मस्तेष् च साक्षास्युत्वादि । श्रीतोष्णशब्दयोरपञ्क्षणस्य समासाध्य चाह श्रीतोष्णसृदुपरुषादिरूपेति । एवं हेतुफरुष्टभावं श्रीतोष्णशब्दरास्यस्यः स्वद्राश्चेति योजनायां प्रथम्यपदेश्चर्यमिति भावः । समाने श्रीतोष्णगोरपसक्त

<sup>1</sup> ननु गताखगासु प्रस्तावाद तिव रूपणाय (16) नासतः इति स्ठोके आरब्धःये किमिदमन्य-दच्यते इत्यञावतारयति आत्मनित्यत्वेति । यद्यमात्मनित्यत्ववर्णनं तत्फरं पूर्वे प्रदर्शते । नत देहातिरिक्ताःभज्ञानादेव नरकाविप्रापककुळक्षयाद्यापित्तरांकया शोकः इति पूर्वरळोकोपरि शंकायाम्-फलकाम उपायक्करां न गणयति । फलञ्च न द्वेष्यं मोक्षकपत्वात् । उपायश्चायमेव, नान्यः । अतः तितिक्षस्वेत्याह। यहा यद्यपि देहा आत्मानो वा न शोकस्थानमः - अथापि किमिति मातास्पर्शाः दःखकरा आदरणीया इत्यव तन्तितिक्षणीयत्वमाह माहेति । किमर्थमित्यत फलं दर्शयति उत्तर क्षोकेन। तितिक्षा यदज्ञानपूर्विका यद्ज्ञानजनिका च भूत्वा मोक्षहेतुः, तद्वच्यते तद्वपरीति विव-क्षितम् । ननु कि ते आत्मनाश इति शोकः, देहनाश इति वा, मात्रास्पर्शासहावाद्वेति विकल्प. नत्वेवाहमित्यादिश्लोकवयेण समाधानमित्यपि चक्तं शक्यत इति चेत्—अस्तु, निरूपणप्रक्रियाया नानात्वसंभवात । सर्वथा नत्वेवाहभित्यारभ्य क्रोकचतुष्कं वक्ष्यमाणसर्वसंग्रहरूपम् । तत्र अहमिति प्रथमं स्वप्रसावः स्वविषयकभक्तपैव 'अमृतत्वायकस्पते' त्युक्तफलस्य प्राप्यत्वात् । द्वितीयस्त्रोको न देहानित्यत्वेदम्परः । तथादेहान्तरप्राप्तिरित्यक्तया वासांसीति स्त्रोकवत् आत्मनिरूपणशेषभृतः। तृतीयन्ध्रोके शीतस्रखदा इति सुखस्यापि सञ्चत्वोक्तवा सुखनिरपैक्षममञ्ज-विषयत्वं ज्ञायते ; अमृतत्वाय कल्पत इत्युक्तया च । अतो विजयलभ्यराध्यसुखमपि सहाम . (किं दुस्सई तव विभृतिपरित्रहो चेति पादुकासहस्रे सुखस्य दुस्सहत्वमुक्तम् ) युद्धादौ दुःखमपि सहाम् , तत्तरकर्म स्वधर्वतया प्राप्तिमिति कर्तव्यम्। एवं क्रमेण मोक्षराभ इति पूर्ण शास्त्राथौं किरिति।

य भाष्ये प्रथम शीतोष्णमयुक्तसुखदुः खेत्युक्तम् । तेन शीतोष्णसुखदुःखेत्यत्र ब्रन्द्रो नेष्ट इति सिद्धम् । तेन शांकर प्रथमयोजनाव्याद्यतिः। अत्र शीतोष्णक्ष्येत्युक्तम् । तेन शीतोष्णास्तन्तः सुखदुःखद् इति शांकरद्वितीययोजनाया अनिषेद्यो गम्यते । तत्रापि हेतुफल्लभावलाभादिति भावः।

यावद्युद्धादिशास्त्रीयकर्मसमाप्ति तितिक्षस्त । ते चाऽऽगमापायित्वात् धेर्यवतां श्वन्तुं योग्याः । अनित्याश्च ते । बन्धहेतुभृतकर्मनाशे सति आगमापायित्वेनापि न वर्तन्ते <sup>1</sup>(निवर्तन्ते)हत्वर्थः॥

तत्थ्यमा किमर्थेत्यत्नाह —

र्य हि न न्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषंभा। समदुःखलुखं धीरं सोऽमृतत्वाय करुपते ॥ १२ यं पुरुषं धैर्ययुक्तमवर्जनीयदुःखं सुखबन्मन्यमानम् , अमृतत्वसाधनतया स्ववर्णोचितं युद्धादिकमं अनभिसंहितकलं कुर्वाणं तदन्तर्गताः सस्त्रपातादिमृदुकूरस्पर्भाः न व्यथयन्तिः, स

त्वात् किमथैमिदमुच्यत इत्यताह ज्ञीतोष्णाज्ञादः प्रदर्शनार्थ इति । शक्षपातादेरिनि शेपः। शीनोप्णा-दिकं तु तेषु तेषु वर्णाश्रमधर्मेषु यथासंमवं प्राह्मम् । धीमिनित वक्ष्यमाणम् , धीमस्तित्रेति पूर्वेक्तं चाऽऽ-कृष्याह तान् धेपंणीति । यद्रा अतैव कीन्तेपभारतशब्दाभ्यां क्षित्रियासास्त्रश्रद्यामाप्ति क्षित्रयामाप्त्राहम्भा-त्वानिकस्य ते धेथैमेवोचितमिति स्चितम् । यथा तपश्चर्यायां यागाद्रौ च वातातपश्चित्पपाप्त्राहम्भा-द्यो यावतत्कर्मसमाप्ति क्षन्तस्याः ; तथाऽत्रापि शक्चपातशक्ववधादयः । तस्माद्यर्जनीयेन्द्रियार्थस्यी-निमित्तदुःखानां शोकेन दुप्पिह्रस्वात्रिर्थके शोके तितिक्षेत्र युक्ते। भावः । अत्र युग्वांशस्य क्षमा नाम उपेक्षया अनुत्सेकः । तलापि हेतुरागमापायित्वमेष । अनित्यशब्दस्यापीनस्वत्यायाह वन्धेति । अनित्यशब्दोऽल प्रवाहनित्यतानिषेषकः । नित्या इति पदच्छेदेन नित्यानुवन्वित्यत्य नार्क्षाति भावः॥

तत्क्षमा किमथेंति । कि दृष्टार्थस्वात् , उतादृष्टार्थस्वात् , उत स्वरस्वाहिःवेनावर्जनीयस्वात् ? न प्रथमः, दुःखरूपतयोपरुमात् । न द्वितीयः, गुरुवधकुरुश्चयादिरूपाधम्बद्धरुस्वात् । न तृतीयः, युद्धान्नदृत्त्ये राक्षपताधमावादिति भावः । तितिक्षाहित्वधोतनाय धीरमिति पदम् । मुख्दुःखयैषम्यान् चत्वत्रमं तयोस्समपिसाणस्वादिश्चमं च व्युद्(निर)स्वन् किमथेति शक्कां च प्रतिवदति अवर्जनीयदुःस्वं सुखवन्मन्यमानमिति । यथा खारोग्यकाम औषधादिक्केशं सुख्वसाधनस्वात्सुख्वन्मस्वा प्रवर्तते ; यथा चार्थार्थीं समुद्रतरणादिक्केशम् ; तथा तापत्रयनिवृत्ति निर्रातश्चानन्दं च लिप्सुः तदुपायनान्तरीयकदुःस्वं सुख्वदेष मन्येतेति भावः । तस्करादिप्विपितामस्युद्धेप्विपि संभावितस्य द्वन्द्वतिक्षामानस्य मोक्षहेतु-स्वव्युदासायोक्तम् अमृतत्वसाधनतयेत्यादि । एते इत्यस्य तास्पर्यमवर्जनीयस्व च दर्शयितुमुक्तम् तद न्तर्गता इति । क्यथयन्ति अपातस्व(प्रात्वव्यद्व)धिया परितापेन व्याल्यन्तौत्यर्थः ; न तु पीडयन्तिति ;

<sup>1</sup> आगमापायितस्वातः सर्वदाऽनुवर्तःते चेत् , अमृतत्वं त भवेदिति कदाश्विद्धपरमावद्ययस्त्वं दर्शयति अनित्या इति । अवायिःचेतापीति । आगमापायित्वोक्त्या एकेक्ट्यिक्तरिष सर्वद्या च वर्तत इति विदितम् । सज्ञातीयव्यक्तवःत्तरसद्धायित्यमापि यद् वर्ततं तदिष न ; उपाये अनुष्ठिते पुनर्न भवतीति । निवर्तन्त इति शडोऽनित्यतः । अनित्या इति पदच्छेद एव मतश्रयेष्टः ; अथापि भाषवर्णनमत्त्रेष भाष्ये शोभनम् । 2 दुःखानुभव न सहात्वेषि सच्वात् न व्यथयन्तीत्यस्य न चाल्येयन्तीत्यस्य न सत्व्ययस्तिनः । व्यथ भयसंचळतयो रित पाठात ।

पवासृतत्वं साधयति । न त्वादशो दुःस्वासहिष्णुरित्यर्थः । आत्मनां नित्यत्वादेतावदत्र कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥

यत्तु आत्मनां नित्यस्वं देहानां खाभाविकं नाशित्वं च शोकानिमिचष्ठकम् , 'गतास्नग-तास्य नातुशोचन्ति पण्डिताः' इति, तदुपपादयितुमारभते—

नःसतो विद्यते मात्रो नामात्रो विद्यते सतः। उभवोरिष दृष्टोऽन्तस्त्वन्योस्तर्त्वद्रशिक्षिः॥ १६ असतः देहस् सद्भावो न विद्यते । सत्रश्चारमनो नासद्भावः । उभयोः — देहारमनो रुपलम्यमानयोर्थथोपळिव्य तश्वद्रशिभिरस्तो दृष्टः — निर्णयान्तरवाश्वरुष्ठपणस्य निर्णय हृद्ध अन्तर्गुवदेनोच्यते । दृहस्मानिद्धसृतुनोऽसस्त्वमेव स्वरुपम् । आत्मनश्चेतनस्य सस्त्वमेव स्वरूपमिति निर्णयो दृष्ट इत्यर्थः । विनाशस्त्रभात्रो ह्यसस्त्वम् । अविनाशस्त्रभावश्च सस्त्वम् । मृदुक्रुरस्पश्ची इति सदुस्परीस्ताप्युपादानात् । यत्तन्वछ्वस्त्वपपरोक्षनिर्देशेन पृरुपर्वम इति विपरीतकाका च फिल्तिनाह स एवेति । स्वरद्धाः अस्थानक्षेद्दावाङ्कः । अनन्तरस्त्रोकार्थमसङ्गाय आत्मनाद्यविकारनेरपेद्याय च निगमयति आत्मनां निरस्तरवाजिति । एताद्विति, तितिक्षामालं न तु शोकादि । अत्रति ; आगमापायिनां तत्त्वज्ञानेन निवर्तित्वमाणसन्तानानाममृतस्वलक्षणपरमपुरुषार्थापायानुष्ठानेऽ-वर्जनीयसन्त्रियीनां शक्षपाताविद्धः स्वानामागतावित्यर्थः । कर्तव्यमिति अकरणे स्वपर्वगरूपफलामावः स्वर्थमपरित्यागेन प्रस्ववायः । वैर्यद्यावानिमित्तकाकीत्विद्यसङ्ग्रस्य स्वाविति मावः ॥ १५ ॥

नासतः इति श्लोकं व्यवहितमङ्कतस्थापनोपक्रमतवाऽवतारयति— यस्विति । स्वामाविकम्—परिणामिस्वमावस्थावव्यंभावि, न त हेतुनिरपेक्षम् ; ग्लोकानिमित्तं— योकनिमित्तविरोधि, श्लोकानावनिमित्तविराधि, न त हेतुनिरपेक्षम् ; ग्लोकानिमित्तविराधि, श्लोकानावनिमित्तविराधि, वाक्षियाविर्वामावरूप्वत्यत् आरभत इत्युक्तम् । सद्यद्-मावाभःवादिश्व्हानां प्रकरणोवितमर्थिवरोषं विद्युण्यन् व्यास्याति असतः इति । असतः सत्येति व्यास्येयं पदम् । तस्य प्रकरणाविवरोषिताश्चित्रविर्वन् — देहस्य आरभन इति । असतः सत्येति व्यास्येयं पदम् । तस्य प्रकरणाविवरोषिताश्चिमित्तवम् — देहस्य आरभन इति । अनयोरिति विदेशकाल्विष्ठम् उपलस्यमानयोरिति । एतेन तत् व्रक्षः, तद्धावस्तत्विति गृङ्करोक्तमप्ति श्रह्मरोति । स्वय्वप्तर्विद्युण्यनित्वर्यः विनाशायोगाद्वत्तः व्यास्यस्विति गृङ्करोक्तमप्तः इद्दे देहास्मिविवेष्ठप्रकरणे तस्यर्शिमिरित । एतेन तत् व्यास्यस्य विनाशायोगाद्वतः व्याद्यस्य विर्वाधायान्तर्यः विर्वेष्ठस्य विद्याद्यस्य विनाशायोगाद्वतः व्याद्यस्य विर्वेष्ठस्य । तत्र शब्दविति । नत्र देहस्य सद्धायो न विद्यत इत्ययुक्तम् ; प्रत्यक्षादिवरित्रयं चाह निर्णयान्तरवादिति । नत्र देहस्य सद्धायो न विद्यत इत्ययुक्तम् ; प्रत्यक्षादिवरेष्ठायां , त्याप्यसच्छव्दवाच्यत्वात् । अवस्याविरोष्ठयाऽपि सत्त्वमसत्त्वं च देहासमनोर्द्वयोरित समानम् । अतो भाष्यान्तरवत् सत्कार्यवादिविषयत्याऽपं श्लोको व्यास्थेय इत्यत्वाद्द देहस्विते । अचिद्वस्तुनः चेतनस्य इति पदाभ्यां सत्त्वाद्वसत्त्वयोः स्वभावस्व हेतुः, चिद्वचिद्वयवया सदसस्वच्वव्ययेः प्रयोगश्च स्वितः । नन्येवसपि देहासमनोस्यदसस्वचोधं न परिहतिस्वलाह-चिनाश्चेति ।

यथोक्तं भगवता पराग्ररेण, "तसात्र विज्ञानसृतेऽस्ति किन्तित् कन्ति कदान्ति द्विज वस्तु-जातम्" (वि. २. १२.४३), "सङ्काव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्" (वि. २. १२.४५) "भनाशी परमार्थश्व प्राज्ञैरभ्युपगम्यते । तत्तु नाशि न संदेहो नाशिद्रभ्यो-पपादितम्" (वि. २ १४. १४), "यत्तु काळान्तरेणापि नान्यसंज्ञाग्रुपैति वै । पिणा-मादिसंभृतां तद्वस्तु नृप तच्च किम्" (वि. २. १३. १००) इति । अवापि "अन्तवन्त इमे देहाः" (२.१८), "अविनाशितु तद्विद्धि" (२.१७) इति ह्यच्यते । तदेव सन्तासन्वव्यपदेशहे-तसिति गम्यते ॥

अत तु सत्कार्यवादस्याप्रस्तुत (संगत)त्वाच्च तत्परोऽयं श्लोकः ; देहात्मस्वमावा-ज्ञानमोहितस्य तन्मोह्यान्तये छुभयोर्नाशित्वानाःश्चित्वरूपस्वभाववित्रेक एव वक्तत्यः । स एव ''गताद्यनगताद्यन् '' इति च प्रस्तुतः । स एव च, 'अविनाशि तु तिद्विद्धि, 'अन्तवन्त इमे देहाः' इति अनन्तरमुपपाद्यते । अतो यथोक्त प्वार्थः ॥ १६ ॥

हिश्चन्देन प्रयोगपिसिद्धिचौितता । तामेव दर्शवित यथोक्तमिति । <sup>1</sup>द्शश्लोक्याम् वस्त्ववस्त्विति । तासेव दर्शवित यथोक्तमिति । <sup>1</sup>द्शश्लोक्याम् वस्त्ववस्त्विति । तासित्तत्यासत्यशब्दानां श्रारिरक्तमाध्ये पुराणोक्ष्कमोपसंहारादिना, तत्प्रकरणोपक्षमोपसंहारादिना, मध्ये 'मही घटत्वम्' (वि. २. १५. ४२) इत्यादिना च सविकारत्वेनैवावस्तुत्वोपपादनात् श्रुतिस्पृत्यन्तर-प्रत्यक्षाचनुरोधाच निर्विकारस्त्रिकारत्या नित्यानित्यचेतनाचेतनविषयत्वं स्वापितम् । व्यवहाराहित्वान्हेन्त्वादिविषयौ सदसम्ह्यञ्चो तयोः परमार्थापरमार्थविषयसत्यासत्यशब्दाभ्यां कथ्येकार्थ्यमिति शक्कायां—नाशानाशयोरेव परमार्थापरमार्थादिशब्द्ययोगहेतुत्वे महर्षिवचनसुपादते अनाशीति । विनाशोपल् स्वितपरिणामदृद्धचादिभिः पूर्वावस्थापहाणेन संज्ञान्तरयोगादेव अवस्तुश्चन्दवाच्यत्मम्, तदमावाच वस्तु-शब्दवाच्यत्वमित्यस्मित्र्ये स्पष्टीकं दर्शयित यम्बिति । अवतेत्तरस्रोकह्यैकार्थ्यांचायमेवार्थ इत्याह-अवापिति । एतेन कचिन्नेतनविषयासम्ब्यञ्चरोऽपि देवादिनामरूपप्रहाणाद्यस्थाविश्वरेखुक्तं भवित । सक्ष्यतस्तु निर्विकारत्वात् सम्ब्यञ्चर्यवाच्यत्वमेव । श्लोक्योः व्युक्तमेजोपादानम् नासतः इति क्रमापेक्षया । ततः किमित्यत्वाह—तदेवित । प्रतिज्ञातस्थार्थस्य हेनुधीनन्तरं वाच्यः । तद्धेतुत्वं चाल सरस्तोऽवगम्यमानं परित्यत्वय अर्थानतरप्रत्वं व्याख्यातुं न युक्तमिति भावः ।

कुदृष्टिकिह्यितस्यास्यां दूषयति अत्रेति । न छल वैद्योपिक।दिनिरासः, एकित्रज्ञानेन सर्विविज्ञान-प्रतिक्रोपपादनं सांस्यासद्धान्तेपन्यासादिवी प्रक्रियते । न च सरकार्थवादेन देहारमिविवेकोपपादनं शोकशान्तिवी सिध्येत् । सर्वस्य नित्यत्वाचेतनानामपि नित्यत्ववर्णनमभिद्धस्यात्यन्तासिद्धेन साधनमिति भावः। उक्तार्थपरत्वे महाप्रकरणसङ्गतिमाह-देहेति । यदज्ञानान्मोहः, तस्येव हि ज्ञापनं तित्रवृत्तये स्यादिति भावः। अल तन्मोहशान्तये इति द्वितीयाध्यायार्थसंग्रहस्थोकः स्वितः। सरकार्यवादे पूर्वोत्तरविरोधमभिप्रयन् स्वोक्तस्यावान्तरप्रकरणसङ्गतिमप्याह स एवेति वाक्यद्वयेन । अनन्तरमिति । न हि मालयाऽप्यन्य-

<sup>1</sup> वि. पु. 2. 17. ज्योतींवि विष्णुरित्यादि । 2 उरपादनमिति पाठो न साधुः।

### आत्मनस्त्वविनाशित्वं कथमवग्रस्यत् इत्यत्रह

व्यवधानमस्तीति भावः। <sup>1</sup>प्रश्तुतः, उपयाद्यतः इति शव्दाभ्यामपौनस्वस्यं दर्शितम् । उपसंहरति अत इति । यथोक्तः एवेत्यवधारणेनान्येषामपि व्याख्यातुषामसस्यतिमासा निवर्श्यन्ते ।

एवं योजनान्तरेप्विप दूषणमृद्धम् । अतो महापकरणपूर्वापरादिसङ्गतेयंथोक्त एवार्थः ॥ १६ ॥ अथ प्राप्यविद्योषणतया तदनुषवेद्यास्पुरुषार्थभृतस्य सहसैव द्योकनिष्टतिहेतोरात्मनित्यस्वस्य 'नासतः' इति स्त्रोके चरमप्रतिज्ञातस्थापि बुद्धिस्थकमेण प्रथममुपपादनं क्रियत इत्यमिष्रायेणाह आरमनिस्त्वति । तुश्वदेन जननगरणादेः सवैद्योकसाक्षिकस्वात् , 'एतेभ्यो भृतेभ्यस्समुस्थाय तान्येवानु

<sup>1</sup> अन्नात्मब्रस्य देहात्मवादिनोऽपि तिलिक्षा दृश्यते, सा न फलायति तस्वोपदेश आरम्यते। अद्वैतिभिः भ्रष्टाद्योऽपरमार्थाः स्यावर्तमानत्वात्, सत् परमार्थः अनुवर्तमानत्वात्। घटः सत् पटः सिक्षिति सर्वत्र सर्वत्र स्वत्र प्रमार्थः अनुवर्तमानत्वात्। घटः सत् पटः सिक्षिति सर्वत्र सत्वेत्र सत्वेत्र स्वत्र हितः श्रीभाष्ये वर्णाते। तत्रैतच्छुोक शांकरभाष्यं मूल्लिक्षितः श्येयम्। अत्रैतत्वय्यनञ्च शिलोष्टादीनां मिथ्यात्वव्यप्ति श्येयम्। अत्रैतत्वय्यनञ्च शिलोष्टादीनां मिथ्यात्वव्यप्ति । अथमपादेऽपि अभाव इत्येव परमार्थसदेवोपि विविध्यत इति च। व्रद्मित एक्षित्र प्रमार्थसदेवोपि विविध्यत इति व्यर्थम् । सत्व इत्येव च्छेदः। प्रकृतिवृद्ध च सर्वदैवास्तीति वाक्यार्थः। अव पद्धं 'नाभावोविद्यत इति व्यर्थम् । सत्व इति सत्वार्ययादिनः प्रभुत्याद्य च निषयाद्यस्य च निषयाद्यस्य च । इति सत्कार्यवादिनः प्रभुत्यः। स्व वादोस्माकमिष्टोऽपि न प्रकृत इति भावः। अस्य स्रोकस्यायमर्थं। इति शांकरे 18-48.

अविनाशि त तक्किन सर्वेष्टिं ततस्य । विनाशनव्ययः शास्त्र न कश्चिन कर्तमहैति ॥ १७

तत् आत्मतन्त्रमधिनाशीदि विद्धिः येन आत्मतन्त्रेन चेतनेन तद्यतिरिक्तमिदमचेतन-तस्वं सर्वं ततं व्याप्तम् । व्यापकत्वेन विनश्चित्रयस्थमत्वादात्मनो विनाञानईस्व तद्व्यतिरिक्तो न कश्चित्पदार्थो विनाशं कर्तुमहीति, तद्व्याप्यतया तसात् स्यूलत्वात् । नाशकं हि शस्त्र-लाग्निवाय्वादिकं नाइयं व्याप्य शिथिलीकरोति । मुद्रगदयोऽपि हि वेगवत्संयोगेन वायम-विनश्यित' (वृ. ४. ४. १२) इति देहसमानयोगश्चेमत्वश्रवणाच कथमात्मनो देहाद्विरोष इत्यमिषेतम् । एवमपि विशेषोऽस्तीति <sup>1</sup>स्ठोकस्थत्शन्दार्थः । तच्छन्दार्थं नपुंसकतात्पर्थं पृतिज्ञांशं तत्राप्याश्रयसाध्य-धर्मयोभेंदं च व्यनक्ति तदारमतत्त्वमिति । न विनष्टं शीलमस्येति अविनाश्चि (हेर्व्वशमितपादकद्वितीयपादं व्याकर्वन् सर्वशस्य वाक्यान्वयौचित्यपाप्तं सङ्कोचम् इदंत्वनिर्देशसारस्यसूचितं वाह्यानां पराकृत्वं तिद्वपर्ययेणाऽऽत्मनः फल्टितं चेतनत्वं तत एवाचेतने चेतनस्याऽऽत्मत्वेन व्याति च गमयित येनेति । चेतनसमृदायेनाचेतनसमृदायस्तिळ्रै,लदारुबद्वायदिवत् यथांशं व्याप्त इत्यर्थः : यद्वा सर्वाचेतनानु-प्रवेशयोग्यत्विम्ह विवक्षितम्-इत्युभयथाऽपि नात्मागुत्वित्ररोधः । अक्षायं प्रयोगः -- आत्मा शस्त्राद्यवीन-विनाशो न भवति, तद्यापकःवेन ततस्युक्ष्मत्वात् , यथाऽऽकाशः । व्यतिरेकेण वा-यो यदधीन-विनाशः, स ततस्युक्षमो न भवति, यथा वायुविनाश्यो दीपः इति । इमं प्रयोगं व्यक्षयन् प्रयोगान्तरपरतयोत्तरार्धं व्याचष्टे व्यापकत्वेनेति । विनाञानर्हस्येत्यव्ययशब्दार्थः । तस्य हेतुः निरतिशयसक्ष्मत्वादिति । इदं च निरतिशयसुक्ष्मत्वमचेतनापेक्षया । कश्चित इत्यस्य ईश्वरोऽभीति पर[स्य]व्याख्या <sup>2</sup>खदर्शनविरुद्धेत्यभिमायेणाह **तद्यविरिक्तः कश्चित्पदार्थ** इति । धर्मिनिर्देशोऽयम् । आत्मनो विनाशं कर्तं नाईतीति साध्यार्थः । तत्न हेतुमाह तह्याप्यत्या तसारस्थलत्वादिति । तसारस्थलत्वःदिरयेव हेतुः । तस्यासिद्धिपरिहारायोक्तं तझाप्यतयेति । व्यासिपर्वे दृष्टान्तमाह नाशकामिति । घटादिनाशकमुद्धरादावनैकान्त्यमाशङ्कय परिहरति **मुद्धरेति ।** अयमभिषायः--- न तावत् मुद्गरादेरसंयोगमातं घटादिनाशकम् , मुद्गरोपरिस्थापितघटस्य नाशपसङ्गात् । नापि वेगमालम् , असंयोगेऽपि ध्वंसपसङ्गात् । नापि तदुगयमालम् , वेगवत्णसंयोगेऽपि प्रसङ्गात् । न च वेगवदुद्यविशेषसंयोगो नाशकः, तस्यैव पृष्ठभागसंयोगे नाशाद्शनात्। अतो वेगवत्काठि-न्यादिविशिष्टद्रव्यविशेषभागविशेषसंयोगविशेष एव नाशक इत्यविवादम् । तथा च वायुविशेषोत्पतिरिप प्रायशः प्रत्यक्षसिद्धत्वादिववादा । वायोश्य तत्तदृद्रव्यानुप्रवेशेन नाशकत्वं कठिनतरशब्दाभिघात-

<sup>1</sup> प्रथमपाद्विवरणं प्रथममकृत्वा प्रथमं द्वितीयपद्विवरणे कारण पुक्तस् अथ प्राप्यति। अनुभव-सिद्धःवादसदिष्यते, सत्तु नैव । अतः अथं तदभःवनिषेध इति शंकायां स्रोकप्रवृत्तिरिति तृशस्-विवरणेन श्राप्यते । - खदर्शनविरुद्धेति । ब्रह्मानिरिक्त जीवेश्वराभाववादेन तन्निह्नपणस्वते कश्चिदिति अतिरिक्त त्येश्वरप्रदृणे सिद्धान्तविरोधः। कश्चिदिति स्वातिरिक्तप्रदृणस्वरसःसात्, तत्सद्भावस्यैव स्रोकतोऽवगमात् इतरवस्तुमिथ्यास्यै तात्पर्यं न भवतीन्याशयः। अस्मत्यस्ये कृत्वरप्रदृणं वक्ष्यते ।

त्पाद्य तद्द्वारेण नाशयन्ति । अत आत्मतत्त्वमविनाशि ॥ १७ ॥ देद्दानां तु विनाशित्वमेव स्वभाव इत्याह—

अन्तवन्त इमे देहा निष्यस्थोकाः शरीरिकः अत्राधिनोऽप्रमेषस्य तस्मात् युध्यस्य भारत॥१८
''दिह उपचये'' इत्युपचयरूपा इमे देहा अन्तवन्तः विनाशस्यभावाः । उपचयातमका हि
घटादयोऽन्तवन्तो दृष्टाः। नित्यस्य श्रुतीरिकः कर्मफलभोगाश्रेतया भृतसंघातरूपा देहाः, ''पुण्यः
पुण्येन'' इत्यादिशास्त्रेरुक्ताः कर्मावसानविनाशिनः । आत्मा त्वित्रनाशीः , कुतः ? अप्रमेय-त्वात् । न बात्मा प्रमेयत्रयोपसम्यते, अपि तु प्रमातृत्या चि] । तथा च वक्ष्यते,

संक्षीभ्यमाणपदार्थेन्वभ्युवगतम् । एवं सित वस्त्रकारणभावस्यातापि विद्यमानस्य वायुविशेषस्य नाशहेतुत्वमवश्याभ्युपगमनीयम् । स च वायुः घटाव्यपेक्षया सृक्ष्मः । यत्र तु वेनाभावेऽप्या-कमणादिमालेण नाशकत्वम् , तत्र सुद्धराश्यवनुत्रा वटादिदृश्यावयविशेषाः भागान्तरं स्वस्मात्स्थूल तरमनुप्रविश्य भिन्दन्ति, आक्रमणमूलाऽऽन्तरवायुनिस्तरणवशाद्वा वायुप्रत्मिक्षकाक्रमणादिप्ववेति । अत इति । उक्तहेतुद्वयेन शस्त्रादेरनाशकत्वान् , आस्मनो(भ्यो)ऽपि सूक्ष्मतरस्य तत्राशकस्यान्यस्या-दर्शनात् , ईश्वरस्यापि तत्राशमसङ्कपामायदिति भावः ॥ १७ ॥

नासतः इति प्रतिज्ञांशस्योपपादकतयोत्तरश्लोकमवतारयति देहानामिति । अवधारणेनश्चभाव-शब्देन च असद्वयपदेशैकान्त्यं सूचितम् । अन्तवन्तः इति साध्यस्य हेत्वाकाङ्क्षां शमयन् धर्मि-प्रतिपादकमेव देहराव्दं निर्विक्ति दिह उपचय इति । उपचयरूपाः सावयवा इत्यर्थः । देहराव्दो रूढचा धर्मिप्रतिपादकः योगेन हेतुप्रतिपादनपर इति भावः । साध्यनिर्देशे प्रकृतिप्रत्यययोर्ग्थमाह विनाजस्वभावा इति । नात निरूपणापेक्षया देशाचपेक्षया वा निर्णयपरिमाणादिरन्तो विवक्षितः । मतुष् च नित्ययोगादिविषय इत्यर्थः। व्याप्तिदृष्टान्तावाह उपचयेति । श्रुतितदर्थापिचभ्यामपि श्ररीरस्य विनाशस्वभावतासुपपादयतीत्याह शित्यस्येति । नित्यस्य स्वरीरिणः इति पदद्वयस्चिते श्रतितद्रथी-पत्ती । कथं कैरुक्ता इत्याकाङ्कां शमयति कमेंत्यादिना । शुरी देण इति इनिपरययेन षष्ठचा च प्रतीतस्य संबन्धस्य कर्माख्यो हेतु: प्रकृतोपयोगात् दक्षित: । ईश्वरादिशरीराणामकर्माधीनत्वात् तद्व्यवच्छेदार्थम् इमे इति निर्देशस्चितमुक्तम् भूतसङ्खात्ररूपा इति । अनेकभृतसङ्खतात्मकत्वमपि अनित्यत्वे हेतुः । कर्माः **वसान विनाशिन** इति शरीरशब्दनिर्वचनफल्लिम् । विशरणाद्धि शरीरम् । कैश्चिच्छास्त्रैस्तावत् देहाना मुत्विविनाशौ द्वावप्यमिधीयेते । यैश्च कर्माधीनोत्वित्तमालमुक्तम् , तैरप्यशीत् कर्मावसाने विनाशोऽप्युक्त एव स्यादिति भावः । एवं च इमे, देहाः, श्रीरिणः इति पदलयेण सूचितं भृतसङ्घातस्वयत्वसावयवत्व कर्मफलभोगार्थत्वरूपं शरीरानित्यत्वे हेतुलयमुक्तम् । अनाश्चिनोऽप्रमेयस्येति पदद्वयमात्मनित्यत्वारूय-साध्यतद्धेतुपरतया व्याख्याति आत्मा तिवति । नित्यत्वस्य नाज्ञानर्हत्वेन स्थिरीकरणात नित्यस्य अनाशिनः इत्यनशोरपुनरुक्तिः: स्थूलसुक्ष्मनाश्चिरहाभिषायाद्वा । असिद्धो हेतु:, आत्मनोऽप्यसा-िसद्धान्ते प्रमाविषयत्वादित्यलाह न ह्यात्मेति । प्रमेयत्वपर्धदासः प्रमेयतैकस्वभावशरीरादिव्यावर्तन- 'एतत् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' (गी. १३. १.) इति । न चानेकोपचयात्म<del>कः व</del> आत्मोपलभ्यते, सर्वत देहे 'अहामेदं जानामि' इति देवस चान्यस च प्रमात्तत्यैकरूपेणो मुखेन प्रमातृत्वपर्यवसितः, नजोऽल तदस्यवाचित्वात् । एवमेव हि क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेको वक्ष्यत इत्याह तथा चेति । एतेन ज्ञान।विषयत्वमत्न(मात्नं) व्याकुर्वित्रिरस्तः । प्रमेयस्वं चात्र भोग्यत्वपर्यवसितम् । तद्वचितरेकश्च पूर्वोक्तकर्मफलमोगार्थत्वरूपहेत्व्यतिरेकरूपो(रूपेण) मोक्तृत्वपर्यवसितः । ततश्चायं पूर्वोक्त-हेरवन्तरद्भयव्यतिरेकस्यापि प्रदर्शनार्थं इति मत्वा तयोरपि व्यतिरेकमाह न चेत्यादिना । सावयवत्वे योग्यानुपरुव्धिमाह सर्वत्रेति । सर्वशब्दोऽत देहांशकात्स्वीपरः । तेनाणोरप्यात्मन 'पादे मे वेदना, शिरसि मे सुखम्' इत्यादिसुखदः खनिमित्ततत्तद्वयवा विच्छन्नव्यवहारदशायामपि निर्वयवत्योपळिब्धरुक्ता । यद्या देवादिरूपेण विचित्रप्रकारेष्वनन्तेषु देहेषु कचिद्रि देहे देहिनस्सावयवस्वं नोपलव्यमिस्यर्थः। अहमित्येकवचनमेकिस्मन् देहेऽभिमन्तुरात्मन एकत्वं सूचयति । यद्यातमा सावयवस्यात् , तदा वयिनित कदाचिद्वलभ्येत, प्रत्येकं तद्वयवानामपि चैतन्यस्यावश्याभ्युवगमनीयत्वात् । (अवयज्ञोऽहमिति) सावयवरवे ह्यवयवसङ्कातरूपो प्रवयविरूपो वा स्यात . उभयथाऽप्यवयवगतविशेषगणमन्तरेण न तत् विशेष-गुणसिद्धिः। किण्यादिप्विप हि प्रत्येकमसिद्धाऽपि मदशक्तिः पाकिश्योषात् रसिवशेषादिवत् प्रत्येकं जायते। शक्तेश्चापर्यनुयोज्यत्वेऽपि विशेषगुणेप्वयं नियमो दुस्त्यजः ज्ञानस्य द्रव्यत्वपक्षेऽप्येवमेव, निप्यमसमुदाये सप्रभत्वायोगवत् । एवंच सित समाजवदेकस्मिन् देहे (देहिनि) मिथः कलहासूयेन्यीनिग्रहानुग्रहादयोः ऽप्युपलभ्येरन् । समुदायावयविनोध्यातिपीडायामवयवन्यतिरिक्तयोरभावादवयवानामेवानुभवितृत्वं स्यात् । तथा सति पाण्याद्यविच्छन्नात्मावयवानुभूतं तदन्योऽवयशे न प्रतिसन्दर्शतेति दक्षिणहस्तेन मयैव स्पृष्टं वामहस्तेन पुनः स्प्रशामि इत्यादिप्रतिसन्धानं न स्यात् । न चात्मावयवानामाशुतरसञ्चारात् तदुपपत्तिः, आत्मनश्चूर्णपुञ्जकलपत्वप्रसङ्गेन सङ्घादविशेषस्याप्यसिद्धित्रसङ्गात् । न च वस्त्रादिपु मृगमद्वासनेव अन्यवासनासंक्रमः, मालानुभूतस्य गर्भस्थेन।पि सरणप्रसङ्गात् । न च भेदाभेदात् सर्वोपपत्तिः, तस्यैव न्याघातादिदः स्थत्वस्य **भारीरकभाष्यादिष्** प्रपश्चितत्वात । तदेवम् अहमित्येकत्वेनोपलम्भो निरवयनत्वमन्तरेण नोपपद्यते । एतेनार्थात् देहेन्द्रियपाणानामप्यात्मत्वं निरस्तं वेदितव्यम् । तथाहि---न हि पाण्याद्यारब्घोऽवयव्यस्ति, सत्कार्थवादस्थापनात् । न च पाण्यादय एवात्मानः, प्रत्येकमहंत्वाद्य-भावात् , अविवादिनियमासंभवाच । न चात्र परस्परोपकार्योपकारकभावाभिमानः सुवचः । अत एव च न तत्त्तमुदायः । एविमिन्द्रियमामे, पाणारूयसङ्घातेऽपि इति । देहस्य चान्यस्य चेति । गृहक्षेतादितुस्यो ममेदम् इति देहस्येदंगहः । स्थ्रलोऽहम् इत्यादिकं तु पबुद्धस्यापृथितसद्धेः, अप्रवद्भारा तु आन्त्येति न कश्चिद्दोष इति भावः । प्रमातृतयेति । विमर्शदशायां प्रमेयस्याप्यात्मनः . प्रमात्रत्वेनैव हि सर्वदा विषयग्रहणवेळायां स्फ़रणम् । 'अज्ञासिषम्' इत्येवमादिरूपेण अन्यदाऽपि प्रमातृत्वं परामृष्टम् । आत्मग्रहणेऽपि 'मां जानामि' इति प्रमातृत्वमपि सुस्थितमेवेति भावः । एकस्पेणेति । सावयवत्वे कस्यचिद्वयवस्य कदाचित्प्रमातृत्वेऽन्येषां चाप्रमातृत्वेन स्फूरणं स्यात् ।

पलन्धेः । न च देहादेश्वि प्रदेशभेदे प्रमातुशकारभेद उपलभ्यते । अत एकरूपत्वेन अनुपचयात्मकत्वात् प्रमातृत्वात् व्यापकत्वाच आत्मा नित्यः । देहस्तु उपचयात्मकत्वात् ,

न ह्यनेकेषां चेतनानामवयनानां प्रमाप्रसर्योतपद्यनिययोऽस्तीति भावः। अथ पूर्वोक्तमेव मुखमेदेन साधयन् विजातीयसङ्घातास्मकत्वे योग्यानुपर्किचं चाह न चेति । पाञ्चमौतिकेषु देहादिषु तत्तद्भृताश-मृत्तवगस्टब्यांसादौ तत्तद्भृतप्रयुक्ताकारभेद उपरुभ्यते ; नैवं प्रमातिरे। तथा च श्रूपते, "कृत्वः प्रज्ञानवन एव" (इ. ६. ५. १३) इत्यादि । यद्वा आकृत्रारभेद् इति पाणिपादादिसन्निवशमेदो विविक्षतः।

्रतिदेवमात्मनो नित्यत्वे देहस्य विनाशित्वे च प्रत्येकं हेतुचतुष्ट्यं श्लोकद्वयसिद्धं सुखग्रहणाय सङ्करुय्य दर्शयति — अत् इति । एकस्प्रयत्वेन — अम्तसङ्घातात्मकत्वादित्यर्थः । अनुपचयात्म-कत्वात — निरवयवत्वादित्यर्थः ।

रसादिमिर्भहदादिमिश्चानैकान्त्यम् ; प्रमात्त्वं च यदि कर्मफ्रुभोकृत्वं विवक्षितम्, तदानीम् असाघारणानैकान्त्यम् , सक्रष्ठसपक्षविवक्षक्ष्याञ्चते । तत्न चेश्वरादेरि पश्चीकारे भागासिद्धिश्च । यदि प्रमाश्रयत्वमातं विवक्षितम् , तदा सर्वप्रमातृपश्चीकरणे पृश्चवस्साधारण्यम् । जीवमात्तपश्चीकारे त्वीश्वर्यन्तत्वत्वस्यापि हदाभ्युपगमाभावात् तस्मिन् हष्टान्ते संदिग्धसाध्यवैक्रव्यादिदोगः । व्यापकत्वं च यदि सर्वश्रयापकृत्वम् , तदा स्वरूपासिद्धः ; प्रत्येकं क्षेत्रज्ञानामण्नां तदमावात् , ईश्वरापेक्षया व्याप्यत्वाच । यदि कतिपयव्यापकत्वम् , तदा श्वरूपासिद्धः ; प्रत्येकं क्षेत्रज्ञानामण्नां तदमावात् , ईश्वरापेक्षया व्याप्यत्वाच । यदि कतिपयव्यापकत्वम् , तदा श्वरूपाचित्रवेशेषे । एवं कर्मफ्ळभोगार्थत्वं च यदि तद्वेत्वस् , तदा ईश्वर्जीवस्-रूपादिभिः पृवेवदनेकान्त्यम् । यदि तद्वेषुत्वस्त्वम् , तदा व्यश्चिदोषणत्वम् ; उत्पन्नत्वमातेण व्याप्तिसिद्धः । सङ्घातरूपत्वम् सावयवव्यवद्वनैकान्त्वम् । व्याप्यत्वं च यदि सर्वापेक्षया तदा व्यसिसिद्धः । सङ्घातरूपत्वम् सावयव्यव्यद्वनैकान्त्वम् । व्याप्यत्वं च यदि सर्वापेक्षया तदा व्यसिद्धिद्दोषः । न हि शरीरादिकं पर्वतादिमिद्याप्यते । अपितद्वतं च हेतोः, कुलचिदिषि तस्यामावात् । यदि कतिपयापेक्षया, तदा ईश्वरच्याप्यत्विति विद्याप्ति कित्यत्वते , तदा नित्यस्रिविद्याप्ति । प्रकृत्वादिमिश्च प्राग्वद् व्यमिचारः । एतेन क्षेत्रज्ञव्याप्त्विति विद्याप्ति । यदे प्रत्यम् । यदि प्रत्याम्यत्विति विद्याप्ति । विरस्तम् । यदि प्रत्यान्यत्विति विद्याप्त्विति विद्याप्ति । विद्यस्ति । विद्य

अलोच्यते—असङ्घातत्वनिर्वयवत्ययोस्तावत् अर्जुनादिबुद्ध्या घातकतयापस्तुतशस्त्राग्न्याद्यधीन-विनाशनिवृत्तेस्साध्यत्वात् न महदादिभिरनैकान्त्यम् । द्रव्यत्वेन विशेषणात् नाम्नचादिनाश्यरूपादिभिरनै-कान्त्यम् । एवं प्रत्यक्षादिसिद्धनाशकनिषेये महदादिवत् केवलमीश्वरसङ्करपादिना नाशः शङ्कयेत, तदिष् श्रुत्येव प्रतिषिध्येतेति भावः । प्रमातृत्वस्य भोकृत्वपर्यवसाने कमैफलभोगार्थत्वरूपप्रमेयत्वनिषेषमु-स्वेनानुत्पतिपर्यवसितत्वात् अनुत्पन्नत्वस्य च नित्यत्वेन व्याप्तिसिद्धेः आत्मस्त्ररूपानुत्पतेश्य शास्त्रसिद्धत्वान्न कश्चिद्देषः । प्रमाश्रयत्वमात्वस्य हेतुत्वे त्वीश्वरो दृष्टान्तः । तत्न साध्यसन्देहो न त्वेवाहम् इत्यस्य व्याख्यानदशायां निराकृतः । व्यापकत्वस्य प्रयोगस्त पूर्वमस्मद्याख्यातप्रकारेण शस्त्रादिविषयतया पठितन्य इति न तलापि दोषः । शरीरानित्यत्वसाधनेषु च सावयवत्वभृतसङ्घातत्वयोः प्राक्रतत्वे सतीति विशेषणान्न व्यभिचारः । एतद्थै हि इसे देहाः इत्यक्तम । कर्मफलभोगार्थत्वमपि तदर्थम्रत्यन-स्वमेव: न च व्यर्थ(र्थ)विशेषणम्, मुक्तात्मज्ञानविकासस्य व्यवच्छेद्यत्वात्। न हि सोऽनत्पन्नः. प्राक अभावात् । निवृत्ते प्रतिबन्धके करणनिरपेक्षखरूपाधीनोत्पत्तित्वमालेण हि स्वामाविक उच्यते ; न स्वतुरपन्नरवेन । "दोषप्रहाणाच्च ज्ञानमारमनः क्रियते तथा । ....प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते" (वि. ध. १०४) इत्यादिकं त्ववबोधादिस्वरूपस्यानुतपन्नतामाह, न त तद्विकासस्य । अथवाऽवस्थारूपत्वेन तस्योत्पन्नत्वं मा भूनाम (मा नाम पृथिनचन्यताम् )। तद्ववस्थावस्थितस्य व्यवच्छेदाय विशेषणं स्थात । अस्त वा विशेषणनैरपेक्ष्यम् : तथाऽप्यत्पन्नत्वमान्नेणानित्यत्वं तावत् सिद्धम् , अज्ञातोत्पत्तिषु केषुचिच्छरीरेषु हेत्वसिद्धिशङ्कापरिहारः कर्ममूळत्वप्रदर्शनेन कियते । कर्मावसान-विनाशित्वस्य वा साध्यत्वात तदौचित्याय चेदं विशेषणं सार्थम् । व्याप्यत्वं च शस्त्राद्यपेक्षया विविक्षितम् । साध्यं च तदधीनविनाशित्विमिति न कश्चिहोष:। ननु यो यद्याप्य: स तद्धीनविनाश इति न व्याप्तिः. ईश्वरव्याप्यैः प्रकृतिप्रचषकालादिभिरनैकान्त्यादिति चेन्नः योग्यत्वस्य साध्यत्वात् तत्नापि तत्सद्धा(संभ)वात् । ईश्वरनित्येच्छापरिमहादेव हि तन्नित्यत्वम् , अन्यथा यदि ईश्वरो जीवादिस्वरूपमपि संजिही पेंत . करतस्य शासिता ? तर्हि जीवाकाशादिक्याप्यैस्तदधीननाशरहितै: शरीरादिभिन्यभिचार इति चेन्न, तेषामपि तन्नार्यस्वयोग्यस्यात् । तन्नाराकर्ता ईश्वरस्त न तन्न जीवादीन्यप-करणीकरोतीति विशेषः । ततश्चैरं प्रयोगः--शरीरादि शस्त्राद्यवीनविनाशयोग्यम् , तद्याप्यत्वात् । यत् बद्याप्यं तत् तद्धीनविनाशयोग्यम् इति । यद्वा तिष्ठतु सामान्यत्याप्तिः । शस्त्रादिनाश्यत्वमेव साध्यम . शस्त्रादिन्याप्यत्वादित्येव च हेतुः : यत् शस्त्रादिन्यःप्यं तत् शस्त्रादिनाश्यम् , यथा कदलीकाण्डादीति । न चाकाशादि शस्त्रादिन्याप्यम् , सूक्ष्मत्वे सति अनुप्रवेशस्य विवक्षितत्वात् , सुक्ष्मत्वस्य<sup>1</sup> चाल-यत्र यत् प्रतिहन्यते, तलाप्रतिहतत्वं ततस्सुक्ष्मत्विमिति निष्कर्षात् । योगिप्रसृतिशरीराणां त शस्त्रादिन्याप्यत्वमेव परिणामविशेषादेनिष्टत्तम् । अतस्तद्धीननाशाभावः । शस्त्राद्यपेक्षया न्याप-कत्वमेव तेषामिति तैर्न व्यभिचारः । ततोऽपि सुक्ष्मतरेरीश्वरसङ्करपत्वसङ्करपादिभिस्त तन्नाज्ञः । एतेन रास्त्रास्त्रादिमतिवन्धकौषधायनुगृहीतरारीरवृत्तान्तोऽपि व्याख्यातः ; औषधादिभिस्तत्व प्रवेशपतिवन्धात् । तस्मात् सिद्धमष्टावपि हेतवोऽष्टदिग्विजयिनः इति ।

<sup>1</sup> नन्वाकाशारेक्षया शस्त्रं सुक्ष्मभेव अलपपरिमाणावादित्यवाह सुक्षमत्वस्य चैति । तत्प्रति-धातकत्वे सित तेनाप्रतिहन्यमानत्वे तनस्सुक्षमत्वम् । द्वयोः पाषाणयोः मिथः प्रतिधातकत्वेऽपि कस्यचित्र स्कृत्यस्य । अतोऽप्रतिहत्तत्वपपि निवेश्यम् । आकाशाप्रतिहतत्वात् पुनश्शस्य सुक्षमत्वापचिरिति तत्प्रतिधातकत्वस्यात विवक्षा । स्वप्रतिधातकशस्त्रादिव्याप्यत्वक्ष्यहेतोराकाग्रे अभावात्र स्यभिवारः ।



शरीरिषः कमैपल्लभोगार्थस्वात् , अनेकरूपस्वात् , व्याप्यस्वाच विनाशी । तसात् देहस् विनाशस्त्रभावस्वात् आस्प्रनो नित्य[स्वभाव]त्वाच उभाविष न शोकस्थानमिति, शस-पातादिपरुपस्पर्शात् अवर्जनीयान् स्वगतान् अन्यशतांश्र वैर्वेण सोड्डा अमृतस्वप्राप्तये अनिभ-संहितफलं युद्धाख्यं कर्माऽऽरभस्त ॥ १८ ॥

य यन वेत्ति हन्तारं यश्चेनं मन्यते हतम् । उश्चो तौ न विज्ञानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ एनम्--- उक्तस्वभावमात्मानं प्रति, हन्तारं हननहेतुं कमिप यो मन्यते ; यश्चैनं

ननु किमधीमह छोकसिद्धं शरीरानित्यत्वं प्रसाध्यते । केषुचिच्छरीरेषु प्रत्यक्षत एव नाशो दृष्टः । अधिनष्टेषु भीष्मादिशरीरेष्विप तत्तुरुयतया नाशित्वं निश्चितमेव । अन्यथा शतून् प्रति शस्त्रादिकमिष न प्रदीयेत । स्वयमिष शत्रुशस्त्रादिकं न निवारयेत् । अतः शरीरानित्यत्वस्य संप्रति-पत्रत्वात् संदिग्धे च न्यायापेक्षणात् निर्थकमिह साद्यवद्वाद्यनुमानचतुष्टयम् इति ।

अलोच्यते-प्रथमं तावत् आस्मिनित्यस्वानुमानानां-यत् राख्यायधीगिवनाशम्, तत् सावयवं यथा शरीरमिति व्यतिरेकव्यातिपदरीनमेकं प्रयोजनम् । तत् एव देहारमनेष्टिकद्वधमपप्रश्चनेन मेदस्थाप्रने द्वितीयम् । शिखादिनिवारणरसायनसेवादिभिनित्यस्वमपि किं संभवेदिति संदेहापाकरणं तृतीयम् । एवं देहानां नाशतद्वेदयम्भावित्वपतिपादनेन स्वदेहवैराग्यजननं चतुर्थम् । परदेहेषु च स्वस्येकस्येव नाशहेद्धत्वश्रमनिरसनेन वश्यमाणप्रकारेण स्वतन्त्वकर्तृत्वाभिमानक्षारुनं पद्यमम् । नाशहेतौ सति अवस्यं नश्यतीति प्रतिपादनात् फर्डामिसन्थरहितकर्मानुष्ठानादिना अत्यन्तनाशस्यापि संभावनाद्योतनं षष्ठम् । नथर स्वभावत्वादशोचनीयस्वं सप्तमम्। शीधं मोक्षसाथने प्रवर्तितव्यमित्यध्यम्। एवं यथोचितमन्यदिष भाव्यमिति।

तसाधुष्यस्व भारत इत्यत्न तसादित्यस्य व्याख्यानं देहस्येत्यादि, न शोकस्यानमिती-त्यन्तम् । मात्रास्पर्शास्तु इत्यादिक्षोकद्वयमितपदितेन द्वन्द्वतितिक्षाक्षपपरिकरेणामृतत्वक्षपकलेन च प्रयन् आह शस्त्रेति । अत्र परगतान् प्रति शोचतः स्वगताभिषानं मर्मोद्धाटनेन मानजननार्थम् । शास्त्रीयत्वादेव हि स्वगतमि दुःखं सखते, तथा अत्रत्रात्वृत्वन्ति सोडव्यमिति प्रदर्शनार्थं च । युद्धस्यानीप्सितराज्यादिक्षुद्वस्योगान्तरप्रधानकरवय्युदासाय प्रकर्णारम्भोक्तमेव फल्युचितमिति अमृतत्व-प्राप्तये इत्युक्तम् । धारवर्थस्य पराभिमतं करणतयाऽन्ययमपाकुर्वन् युष्यस्वेत्यत्व प्रकृतिप्रत्ययार्थौ विविच्याह युद्धाख्यं कर्माऽऽरस्यस्वेति । अयमर्थः सेख्यसीमासायां () प्रपश्चितोऽस्माभिः ॥ १८ ॥

अश्र अविनाशि तु इति स्रोकेनोकं नैनं छिन्दन्ति इति प्रम्वयिण्यमाणं शस्त्रादीनामा-रमनश्च हन्तृत्वहन्तव्यत्वायोग्यत्वं तद्विपर्थयवेदिनिन्दया द्रदयति य एनमिति । सामानाधिकरण्यभ्रम-निरासायोक्तं-प्रतीति । हन्तारम् इत्यस्य तृचन्तत्वात् एनमिति द्वितीया, 'न छोकाव्ययनिष्ठाख्यश्च-तृनाम्" (अष्टा. ३. ३. ६९) इति क्वचोगपश्चीनिषेषात् । हननहेतुमिति । प्रत्ययसात हेतुमात्वविव-श्चेति भावः । न कश्चित्कर्तुमहेति इति पूर्वोक्तयत् पदार्थविवक्षया पुष्टिङ्गत्वोपपितिरिति ज्ञापनायोक्तम् — कमपीति । छेदनादिहेतुषु कश्चिदपीत्यर्थः ।

# केनापि हेतुना हतं मन्यते ; ताबुभौ न निजानीतः, उक्तेहेंतु भिरस्य नित्यत्वादेव पनमयं न हन्ति

ननु "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥" (क. १. २. १९) इत्यस्य कठवलीवाक्यस्योग्दृहणरूपोऽयं स्टोकः । तस्य च वावय-स्याऽऽत्मनो हन्तुत्वहन्तव्यत्वनिषेषाश्चेत्वम् , "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्यात् " (ब. २. ३. ३ ३) इत्यिकिरणभाष्ये पूर्वपक्षिणोक्तम् । सिद्धान्ते च, "यदुक्तं हन्तः चेन्मन्यते इत्यादिना हननिक्षयायामकर्तृत्वमात्मनः श्रूयत हित" एवमनूद्य, "तदात्मनो नित्यत्वेन हन्तव्यत्वाभावादुच्यते" इति परिहृतम् । तत् कथमत्र एनं हन्ताश्मित्यादिना स्वरसिद्धसामानाधिकरण्यादिमक्षेन हन्तव्येत् स्मर्योत्यस्याह्स्य व्याख्यायते ? ॥

उच्यते । न तावदस्र शारीरकमाप्यिवरोधः, ऐकार्थ्यात् । अस्त हि यस्य कस्यापि हेतोरात्महननहेतुत्वं नास्तीत्युक्तम् । तथा सित आसमनोऽप्यात्महननहेतुत्वं नास्तीत्युक्तम् । तथा सित आसमनोऽप्यात्महननहेतुत्वं नास्तीत्युक्तम् मवित । एवंचास्न सामान्योक्तस्य विशेषिनष्ठतामभ्युपेरयोक्तं शारीरके । न तस्न (चास्न) सामानाधिकरण्याभ्युप्पमः, आसमनो हन्तारमिति वैयधिकरण्येऽपि फिल्हितोक्तः । तस्त द्यपिक्षतपदान्तरस्य योग्यविभक्त्यन्तत्वाऽध्याहारः । अस्र तु सामानाधिकरण्यादिष, क्रियाकर्मणोराकाङ्क्षादिमतोः परस्परान्य एव स्वारस्तिकः । सामान्यविषयत्वे च प्रकरणीचित्यम् । आसमनो हन्तुत्विनिधेयकपिशेरोपेपसहारस्तु वेदाविनाशित्तम् इति स्ठोके भविष्यति । तस्मात् अयमिति शब्दस्य मिनार्थत्वादिकमिन न दोषायेति सिद्धम् ।

पतिज्ञान्तरत्वश्रमव्युदासायाह उक्तेशित । अस नित्यत्वादिति । तत्कार्यशक्तमपि न हि तदयोग्ये प्रवर्तत इति भावः । <sup>2</sup>एनम् इति पूर्ववाक्यादनुक्वयोक्तम् । अत एक्चेति । अयोग्यतया हेत्वभावे तिक्कयाविषयत्वरूपकाणाय इति भावः । अयं हननहेतुः, अयमातमा इत्युभयत्व अयंश्वव्ययोगात् तन्त्रेणोचरितोऽयं शब्दो हन्ति, हन्यते इत्यनयोगिवश्वस्य कर्नृकर्मसमर्पक इति

<sup>1</sup> अस्य ऋोकस्याऽऽप्रप्रिताशित्वदकःणमध्यस्यस्यत् न सांस्यमतरीत्या कर्तृत्वनिषेधपरत्वस् । पतत्स्वमानार्थकत्वात् कद्वश्वीः वि अक्षितः । प्रत्यत्वे । प्रत्यनिषेधारश्चेत् , य पने वेत्ति
कर्तारमित्येदोच्येत । इनवक्षर्तृत्वनिष्णानु अन्यक्षिञ्च कर्त्वाप्तत्वे ज्ञायते । अतः सांस्यप्रतिकृष्ठवेवेदम् । पवश्च छोके वय् इःवक्षर्त्वत्वम्तिः, तःपि एटन-भोजक्षत्विक्षत्वव्य आत्मनिष्ठभेवेति
तद्यावस्यात्मनि दुवैचत्वात् , यनित्वस्य इन्तारिक्षः निर्द्धत्वेष्पात्यं परित्यस्य इन्तारिमिति इननक्षियाकमैतयाऽभ्वय इष्यते । तथा चात्मद्वनक्षर्तार्थे थो येन्तोत्वर्यः । इननं नादानम् । अत पव
हत्यमाने शरीरे इत्युच्यते । घटादिनाश्चवत्वत्रेष्ठप्यात्मकः आत्मताः । नर्वते नास्ति । प्रयमेवार्थवर्णनसंभवेऽपि, द्वेतुसामान्यनिष्यसंभवे विशिष्य कर्त्वित्येयो मा भूतित इन्तारिक्षयस्य इननहेतुमित्यर्थ उच्यते । इननहेतुं वेत्ति, इननहेतुविषयक्षाः वानित्युक्तौ कस्यचित् इननहेतुत्वद्वानवानिति
अध्याहारं विवेव तिभ्यति । यन्त्रवात्महत्वनहेत्वस्यावे उक्ते, हन्त्रवात्मदिवऽऽन्यानस्यते व नेति भावः ।
हेत्वसावोक्तिः फर्ळाभावमयुक्तैवेति कथितं भवति । उत्तरार्थे अप्रमित्यदं इन्तृत्वेन मतं इतत्वेन्
मतञ्च वक्तीति सर्वक्षमतम् । पनिति कर्मानुर्वः । सामान्यतो तनकर्तृत्वस्य वा इननहे
तुत्वस्य वा निषेधायोगात् । इन्तारिक्षस्य २३ नैनमिति स्रोको विवरणम् । इतमित्यस्य सन्तन्वेद्व इति २। स्रोकः । 2 पनित्वस्यस्य सन्तरेव्यस्य निष्यस्य न इन्तीति भाष्ययाद इति झावते।

असायं हननहेतुर्न भवति । अतः एव चायमःतमा न हन्यते । हन्तिधातुरप्यात्मकर्मकः अरीरिवयोगकरणवाची । "न हिंसात् सर्वा भूःनि", "बाबणो न हन्त्वन्यः" इत्यादीन्यिप शास्त्राणि अविहित्वरीरिवयोगकरणविषयाणि ॥ १९॥

न जायते चियते था कदाव्यिचायं भृत्वा भविता वा न भृयः। अजो नित्यः शाश्यतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ उक्तेरेव हेतुभिर्नित्यत्वेनापरिचामित्वादात्भनो जननभरणादयः सर्व एवाचेतनदेहधर्मा

भावः । कथं तर्हि मनुष्यं हन्ति इत्यादिप्रयोगः । न झसौ झरीरमातहननविषयः, मृतश्रारीरवातकेषु पिनृहा मानृहा इत्यादिप्रयोगोपकोशाद्यभावात् । मनुष्यादिशब्दाध्यात्मपर्यविसता इति निस्सद्धान्तः । मां जिवांसित इत्यादिप्रयोगेपु व्यक्तमेव इत्तेरात्मकर्मकत्वम् । अतो हिंसायोग्यक्षेतन एव हन्तिवातोः कर्ममृतः । तथा सित नायं हन्ति न हन्यते इत्यक्तमुभयमपि नोपपदाते इत्याशङ्कचाऽऽइ हन्तिधातु-रिति । आरमकर्मक इत्यनेन शङ्कासुचनम् । सत्यमात्मकर्मक एव खतो हन्तिधातुः, न तु [तल्ल] तत्त्वस्वप्रवप्रच्युतिपतिपादकः ; किंतु मारणपरः । तथेव हि लोकवेदयोःप्रयोगः । मार्ण च शरीरादि-विश्लेषणात्मकम् । 'मृङ् प्राणत्यागे' इति चानुशिष्यत इति भावः । एवं लोकप्रयोगो निर्व्यृदः । 'न हिस्यात् सर्वा भृतानि' इति शास्त्रययोगस्य कोऽर्थः ? स चास्तु यःकश्चित् । स तावत् सामान्यतो विशेषतथ निषद्धत्वादकर्तव्य इत्याशङ्कचाह न हिस्सादिति । पर[ाम]मत्रक्रवया उत्सर्गापवादन्यायाद्वा, स्वमतेन विहितशरीरिवयोगकरणस्य पशुशत्वप्रमृतीनामपि हिततमस्वेन हिसास्वस्वैयाभावाद्वेति भावः ॥ १९ ॥

अथ विषश्चित् इत्यधीतस्य अल कदाचित् इत्येकपदमालविशेषितस्य 'न जायते' इति कठविक्षीक्षोकस्य पौनस्वत्य-प्रत्यक्षविरोधादिदोषमाशक्ष्याह उत्तैरेषेति । एतेन प्रतिज्ञामालत्वशक्षा परस्ता ।

नित्यत्वेनापरिणामिरवादिति । अविनाशत्वेन विकारमालस्यापि निरस्तत्वादित्यर्थः । तथाहि-विनाशो
नाम पूर्वावस्थाप्रहाणक्षपनामान्तरभजनाहिवस्थान्तरापितः । यथा घटादिद्वस्यस्य कपाळाद्यवस्था ; तदवस्थोन्मुस्त्यं च तस्या अपक्षयः । सेव कपाळाद्यवस्थस्य तस्येव द्वस्यसोत्पतिः । एवं परिणामग्रद्धचादिकमुदाहरणीयम् । वक्ष्यति चेममर्थम् , जातस्य हि ध्रुवो मृत्युरित्यल । अतो विनाशित्वनिराकरणेन जननादिकमप्यर्थतो निरस्तम् । सर्व एवेत्यपौनरक्तचार्थमुक्तम् । एवकारोऽत्व अपिशब्दसमानार्थः । न
केवळं हन्तस्यत्वमालमेव नास्ति ; अपि तु जन्यत्वादिकमपीत्यपुनरुक्तिरिति भावः । देहधमी इति
हन्यमाने श्रीरे इति स्चितजननमर्णादित्यवहार्गविषय उक्तः ; तल हेतुः अचेतनेति । जननादयो
देहधमी आत्मनो न सन्तित्युच्यत इत्यात्मिन देहधमीन् प्रत्यक्षादिनाऽभिमन्यमानायार्जुनाय, 'न जायते'
इत्युपनिपनमन्त्रेणैव यथावस्थिताकारो विविच्याभिधीयते ; न तु देहसंयोगवियोगळक्षणजननमर्णपति-

<sup>1</sup> शरीरिवयोगकरणेति, अविहितशरीरिवयोगकरणेति व भाष्यं परमतरीत्या मारणार्थकत्वम् उत्सर्गापवादन्यायश्च स्वीकृत्य । तद्यि मारयतीत्यादौ तथैव निर्वाह्यत्वात् । इन्तीत्यत्र तु अन्योऽपि निर्वाह्मेऽन्यत्र (2-31) भाषितः ।

न सन्तीत्युच्यते । तत्र जायते, ब्रियते इति वर्तमानसया सर्वेषु देहेषु सर्वेरनुभूयमाने जननमरणे कदान्तिद्यात्मानं न स्पृष्टतः । नायं मृत्वा भविता वा न मयः-अयं करणादौ भृत्वा भृयः करणान्ते च न न मिवता ; केषुचित्मजापितममृतिदेहेष्वागमेनोपलभ्यमानं करणादौ जननं करणान्ते च मरणमात्मानं न स्पृश्वतीत्थर्थः । अतः सर्वदेहमत आरमा अजः ; अत एव नित्यः । शाश्वतः — प्रकृतिवद्विश्वद्सत्वपरिणामैरिप नान्वीयते, पुराणः — पुराऽपि नवः ; सर्वेदा अपूर्ववदनुमान्य इत्यर्थः । अतः शरीरे इन्यमाने न इन्यतेऽयमात्मा ॥ २० ॥

. क्षेपः क्रियत इत्यर्थः । बाशब्दश्रार्थः। स्टोकस्थपदानां पौनरुक्त्यपरिहाराय वर्तमानादिनिर्देशसिद्धां व्यवस्थां व्यक्तयन् आह तत्रेति । ननु **कदाचि**दित्वनेन वर्तमानकालविवक्षायां वैयर्थ्यम् , लकारेणैव गतार्थस्वात् । मृतमविष्यतोस्संग्रहे वर्तमाननिर्देशो न सङ्गच्छत इत्याशङ्कयोक्तम् वर्तमानत्येत्यादि । तत्तत्काछीनैः पुरुषेस्तेषुतेषु देहेषु जायते श्रियते इति वर्तमानतथैव हि जननमरणयोरनुभव: । अतस्तदपेक्षया वर्तमान-निर्देशोपपत्तिः । तेन करुपाद्यन्तव्यितिरक्तः समस्तः कालः कर्माचिदिति संगृहीत इति भावः । **भृत्वा** इति पूर्वकालनिर्देशाभिष्रेतमाह **करपादा**विति । तत्र भृयदशब्दः कल्पान्तपरः । भृत्वा मविता इत्य-नयोः क्रिययोः प्रत्येकं नजनवयभ्रमञ्युदासायोक्तम् न न मिश्तेति । मूत्वा न मवितेति विशिष्टं नज-न्तरेण प्रतिषिध्यते । ननु नायं भूत्वा इत्यादिकं किमश्रेमुच्यते ? न जायते इत्यादिनैव संग्रहीतं श्वयत्वादित्याग्रङ्कचाह **केषु**चिदिति । अयं भाव:-कालविशेषे देहविशेषेपु सृष्टिपलयविशेष: श्रयते । स च न देहसंबन्धतिद्वयोगमालम् , "तोयेन जीवान् व्यससर्ज मून्याम् " (ना, १, ४) इति कण्ठोक्ते:, प्राक् सृष्टेः एकत्वावधारणात् , एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपतेः एकस्यैव बहुमवनसङ्करपादेश्चेति जीवस्व-रूपोरपचिनाञ्चाबेबाभ्युपमन्तस्याबिति जीवानाग्यक्याद्यस्याविज्यसम्बद्धाः हिराधाय--**नायभृन्य।** इत्यादि उक्तम् । तत्र चैवमुत्तरम् -जीवानां विस्रृष्टिनीम सदेहीकरणेन विश्लेषः । प्राक्स्प्रेरेकत्वावधारणं नामरूप-विभागाभावात् । एकविज्ञानेन सर्विविज्ञानं च सुक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकस्य ब्रह्मणः स्थूलचिचिद्वस्तुशरी-कतया परिणामात् । अत एव बहुभवनसङ्कल्पाद्यपपिद्धः । अतः कल्पाद्यन्तयोरपि ज्ञानसङ्कोचिकास-करदेहविश्लेषसंश्लोषमात्रमेव, न पुन: खरुपोत्पत्तिः इति । अ**जो नित्यः** इत्यनयोः पूर्वोक्तार्थस्य सङ्करुघ्य निगमनरूपतया, तत्तत्कालेषु जन्मादिनिषेधेन सर्वदेहगतात्माजत्वादिविवक्षया वा अपौनरुकृत्यमित्य-भिषायेणाह **अतस्सवेदेहगत** इति । **अतएव नित्य** इति । उत्पत्तिरहितस्वान्नाशित्वरहित इत्यर्थः। सृष्ट्य-वस्थागतस्थ्र्रुपरिणामानामात्मिनि निरस्तत्वात् प्रलयाद्यवस्थागतसृक्ष्मपरिणामनिरासपरः **शाश्चत**श्चट इत्यिनि-प्रायेणाह प्रकृतिविदिति । पुराणशब्दमपि 'अक्षरसाम्यात्रिक्र्ययात् ' इत्यक्तन्यायेन निर्विक्ति पुराऽपि नव इति । किमिदं पुराऽपि नवत्वम् , अनुत्पन्नस्य कदाचिदपि नवत्वायोगात् । उत्पन्नत्वेऽपीदानीमपि नव इति वा परस्तादिष नव इति वा वक्तव्यम् , पुरा नवस्वस्याविस्यनीयस्वादित्याशङ्कचाह सवेदेति ।

<sup>1</sup> पूर्वार्घवाक्यत्रयोक्तम् अजोत्तित्यः शाश्वतः इति संगृहीतम्। पुराण इति संगृहीत-विवरणं चतुर्थपाद इत्यिपि स्थात्। शांकरे शाश्वत इत्यपस्याभावः, पुराण इति वृद्धधभावः, नहत्यत इति परिणामाभाव इत्युक्तम्। मान्वे पुरं शरीरम् अणतीति पुराण इति । इदं तु भाष्यं प्रगुणम्।

वैदाविनाशिनं नित्यं य एनसजन्ययस । कथं स पुरुषः पार्थं कं घातयति हन्ति कत् ॥ २१ एवमविनाशिन्वेनाजन्वेन व्यथानहिन्देन च नित्यमेनमातमानं यः पुरुषो वेद, स पुरुषो देवमतुष्यतिर्थक् स्थावश्चरीरावस्थितेष्य २१ सु कमण्यातमानं कथं घातयति ? कं वा कथं हन्ति । कथं नाशयति ; कथं वा तत्त्रयोजको अवशीत्यर्थः। एतान् आत्मनो चातयामि हन्मी- त्यनुशोचनमात्मस्वरूपयाधात्म्याद्वानम् लमेनेत्याभित्रायः ॥ २१ ॥

यद्यपि नित्यानामात्मनां शरीरविश्लेषमात्रं क्रियते—तथाऽपि रमणीयमोगसाधनेषु शरीरेष नश्यत्स तद्वियोगरूपं शोकनिमित्तमस्त्येवेत्यवाह—

<sup>1</sup>वासांसि जीर्णानि यथा विद्वाय नवानि गृह्वाति नरोऽपराणि।

तथा शरीरिण विद्वाय जीर्णस्थयान संयात मुद्धान सराज्यान निर्माण विद्वाय जीर्णस्थयान संयात निर्माण निर्माण स्थान संयाति निर्माण स्थान संयाति निर्माण स्थान संयाति निर्माण स्थान स्थान संयाति निर्माण स्थान स्यान स्थान स्य

य एनम् इत्युक्तविषयेयपरे वेद इत्यादिक्षोके नित्यमिति परमताध्यानुवादः । अविनाशिन-मित्यादिकं तु तद्धेतुरित्यभिनायेणाह एवमिति । व्ययशब्देनास जन्मनाशब्यितिरक्तविकाराः विवक्षिताः ; अपक्षय एव वा ; छेदनादियोग्यावयविक्षेषादिवी । क्षमिति निर्धारणस्यानिर्धारितानेकव्यक्तिसापेक्षत्या-दाह देवमनुष्येत्यादि । घातयित्दहन्त्योः पौनरुक्त्यमाशङ्कय बुद्धिस्थक्तमेणार्थमाह कथं नाशयती-त्यादि । वेदिनुविंशेषण हन्तृत्वादिनिषेधो न युज्यते । आत्मनो नित्यत्वे तदवेदिनुरिप तद्धनायो-गादित्याशङ्कापरिहाराय फलितार्थं वदन् प्रकृतेन सङ्गमयति एतानिति । नाल स्रोकं हन्तृत्वादिमात्वं निष्धियते ; किंतु तत्वयुक्तं शोचनम् ; तद्वत्यादकप्रकारप्रतिषेधायेव खल कथंशव्द इति भावः ॥२१॥

शक्कापूर्वकं वासांसि इति क्षोकमवतारयति यद्यपीति । नतु सार्वभौमादिशरीरपरित्यागे तत्तत्कर्मानुरूपनार्किर्तिशृक्षावरादिशरीरपरिग्रहसंभावनया, प्रत्यवत् अपरिगृहीतशरीरतयाऽविश्वितिः संभावनया वास्त्येव शोकिनिमत्तम् । न च नृत्तन्त्वमात्तं सुखाय, चिरन्तननरपितभवनपरित्यागेनापि नृतनकारागारप्रवेशादेः, जीर्णांशुकप्रहाणेन नृत्तनगोर्णाग्रहणादेश्च दुःखरूपत्वात् । न च वयमिह मानुषादिशरीरवित्यसमनन्तरम्, अभिनववस्तपरिधानवत्, अनिमिषदेहादिसंग्रहसुपत्रभामह इत्याशक्याह धर्मसुद्ध इति । अधिकतरेति कत्याणिवशिष्णम् । नवशब्दाभिष्रतेतिः कृत्याणानिति । हर्ष-निमत्तमेवेति । पुरा शोकाविषयमात्रे शोकः इतः ; इदानीं तु तद्विपरीतहर्षविषये क्रियत इति भावः ॥

<sup>ा</sup> येन सर्व मिदं ततमिरयेतत् पद्धतोपयोगितयाऽपि वितृणोति वासांसीति । अतोऽविनाशविषय-मध्येऽयं ऋोकः। 2 'अन्यस्वतरं कल्पाणतरं रूपं क्रुक्ते' इति वृ. उ. ६.४.

पुनरिप 'अविनाशि तु तिहिद्धि येन सर्विमिदं ततम्' इति पूर्वोक्तमविनाशित्वं सुख-ग्रहणाय व्यक्षयन् द्रव्यति —

नैनं छिर्नित शस्त्राणि नैवं वहनि पावकः । न चैनं छेर्यन्त्यापो न शोषयित मास्तः ॥ २३ अच्छेद्योऽयमहाद्योऽयमहेद्योऽशोष्य यव च । नित्यस्ववंगतः स्थाणुरचळोऽयं सनातनः ॥ २४ शस्त्राग्न्यम्बुवायवः छेद्नद्दन्वलेद्नशोषणानि आत्मानं प्रति कर्तुं न सक्तुवन्ति, सर्वगतत्वादात्मनः सर्वतत्त्वव्यापनः स्थापद्यापनः सर्वस्यस्ववंश्यस्यक्ष्यस्यस्यस्यस्यस्य तैर्व्योप्त्यनर्द्व-त्वात् ; व्याप्य कर्तव्यत्वाच छेदनद्दन्वलेद्दनशोषणानाम् । अत आत्मा नित्यः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः स्थिरस्वमावोऽप्रकर्म्यः प्रशाननश्च ॥ २३ ॥ २४ ॥

अवयक्तोऽयमिवन्त्योऽयमविकार्योऽयमुज्यतं । तस्मादंवं विदित्वेनं नानुशोचिनुमईस्ति ॥ २५ छेदनादियोग्यानि वस्तुनि यैः प्रमाणैव्येज्यन्ते ; तैरयमात्मा न व्यज्यत इत्यव्यक्तः; अतः छेद्यादिविसजातीयः । अविन्त्यश्च सर्ववस्तुविजातीयरवेन तत्तत्त्वमावयुक्ततया चिन्त-

पूर्वोक्तेन पुनरुक्ति दाहर्य-सुक्षप्रहणरूपप्रयोजनमेदेन परिहरन् नैनम् इति क्षोकद्वयमवतारयित पुनरपीति । नैनम् इत्यादौ सार्वक्षीके वैद्याया पृथमुक्तं करणासामर्थ्यं विषयायोग्यत्वं च परस्पर्वियोगितया अन्यतर्व इतरदन्तर्भवतीति भाष्ये पृथमनुपात्तम् । अन्छेद्यः इत्यादौ प्रत्ययोऽहर्षिः । तेन नैनं छिन्दन्ति इत्यादिष्विप तद्वर्द्त्यं द्यायति । प्रत्योऽहर्षिः । सर्वगतत्वरं पूर्वोक्तहेद्वनुणदत्तया व्याच्छे सर्वगतत्त्वादात्मन इति । अणीरात्मनः कथं सर्वगत्वविनित्याशङ्कयाद सर्वतर्वति । नात्न बहुश्रुत्यादि विरुद्धं जीवविभुत्वं सर्वगत्तव्यत्यते ; किंत्वनुष्येवत्वविद्याग्यतेति स्वभावशब्दं प्रयुक्षानस्य भावः । व्यापित्यस्य पूर्वोक्तं हेतुत्वप्रकारं प्रपञ्चयति सर्वेभ्य इति । अत आत्मा नित्य इति । स्वश्नत्वाद्याग्यत्वादात्मा नाशरिहत इत्यर्थः। स्थिरेत्यादि । स्थापुरचक इति पदद्वयं नित्यत्वप्रपञ्चनरूपम्, नाशायोग्यत्वनाशकाविष्यत्वपरं वा, त्वाभाविकौषाधिकाविद्यपरं वेति भावः । पुगतन इति । अत नित्यशब्देनानन्तत्वस्योक्तत्वात् सनात्वशब्दोऽनादित्वपरत्या सङ्कोचनीय इति भावः ॥ २३ ॥ २४ ॥

पूर्वोक्तानुमानामुप्रचम्भयुक्तिवरोधपरिहारसुखेन सर्वदूषणपरिहारपरं मक्कतोपसंहारपरं च अव्यक्तः इति स्रोकं व्याख्याति छेदनेति । शरीरादीनि यैः प्रमाणैश्छेदनानियोग्यतया प्रत्याय्यन्ते ; तैस्तथाऽसौ न प्रत्याय्यते । अहं जानामि हत्यादिरूपेणेव झात्मन उपलम्मः । शास्त्रतस्तु नित्यत्वादि-विश्विष्ठस्पेणेति न पूर्वोक्तानुमानानां धर्मिग्राहकविरोध इति भावः । निरूपितश्च मोक्षधर्मे व्यक्ताव्यक्तश्चर्याः, "इन्द्रियेण्डेखते यद्यत् तत्तव्यक्तमिति स्थितिः । अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिक्क्पाझमतीन्द्रियम्" (भा. शा. ३३०. ४१) इति । ननु कुस्त्रजनिहितवीजस्याङ्करायोग्यत्वे साध्ये न तावत् व्यक्त्यपेक्षया धर्मिग्राहकविरोधः । तथाऽप्यन्वयव्यतिरेकविषयम्तवीजत्वजात्याकान्तत्वया सामान्यतो विरोध एव भवति । तद्वद्वापि दृष्टसजातीयत्या विरोधः स्यादित्याशङ्कधाह अतश्चिद्धादिविसजातीय इति । साजात्यग्राहकाभावात् वैज्ञात्यग्राहकाचेति भावः । सहेतुकं सप्रकारं चाचिन्त्यशब्दार्थमाह सर्वेति । एतेन

यितुमपि नाईः ; अत्रश्चाविकार्यः विकासनईः । तसादुक्तलक्षणमेनम् आत्मानं विदित्वा तत्कृते नानुञोचितुमईसि ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यज्ञातं नित्यं वा मन्यसे 1 मृतम् । तथाऽपि त्वं महावाहो! नैवं शोचितुमहिस् ॥ अथ नित्यज्ञातं नित्यमृतं देहमेवैनमात्मानं भनुषे, न देहातिरिक्तमुक्तळक्षणम् ; तथाऽपि एवम् अतिमात्रं न शोचितुमहिसः; परिणामस्यभावस्य देहस्योत्पत्तिविनाश्चयोरवर्जनीयस्वात् ॥ सौगतायभिमतानाम् आत्मानित्यत्वसाधनानां सत्त्वादीनां तदनुप्राहकतर्काणां उपलम्भगमादिविरोधात् मृळशैथिल्यमुक्तं भवति ; अत्थेति पूर्वोक्तप्रमाणानां वाधकाभावादपीत्यर्थः । यद्वा अनुमानान्तरमिदमुच्यते । तथा हि—आत्मा विकारानहः, विकारित्वग्राहकप्रमाणश्चर्यत्वत् , यथेश्वररूपम् इत्यन्वयदद्यान्तः ; यथा घटादिः इति व्यक्तिरेकः । यद्वा सामान्येन व्यक्तिः । यत् याहशाकारमाहकप्रमाणश्चर्यम् , तत् ताहशाकारं न भवति , यथा नीलं न पीताकारमिति । अविकार्य इत्येताविते निर्देष्ट कादाचित्कविकाराभावमालेण सिद्धसायनेता [श्रद्धा] स्वोदिति तत्परिहारकरं(कं) प्रत्ययार्थं विवृणोति विकारानहे इति । निषेधापेक्षया वेदनत्व पूर्वकालस्वात् क्वानिर्देशः ; न तु शोकापेक्षया । तेनात्म-वेदनस्य शोकामावहेतत्वसुक्तं भवति । अद्वेति आस्मवेदिनस्ते शोकयोग्यतैव न स्वादिति सावः ॥ २ ५

प्वं देहाितिरिक्तात्माभ्युपगमे शोकितिमित्ताभाव उक्तः। अथ नात्तिकृष्टष्टया देहात्मवादेऽपि शोकितिमित्तं नास्तीरचुच्यते अथचेत्यादिना क्ष्रोकृत्वयेष । अथेति पक्षान्तरारम्भार्थः, प्रसार्थो वा ; अभ्युपगमार्थो वा । वाशब्दो[ऽपि] विशेषणद्वयसमुच्चयार्थः । वित्यस्त तित्यस्तं नित्यस्तं नित्यस्तं नित्यस्तं । व च जन्ममरणिक्रियात्वरूपं । उत्तरक्षोके चेममर्थं पपञ्चयिष्यति । न हि नित्यस्य जात्त्वस्त्रत्वसंभवः । न च जन्ममरणिक्रियात्वरूपं नित्यस्त्व विशेषणिद्वं शक्यस्य । व्यक्तस्य नित्यशब्दस्यात्मविशेषणत्वअमम्बद्धसाय नित्यज्ञतस् हतिवत् नित्यस्त्रत्तम् इति समस्योक्तस् । देहिमिति विशेषणादिसामर्थ्यक्रितमुक्तस् । एवति चशब्दार्थः । अवधारणफिल्तमाह नदेहित । पूर्वमात्मनो नाशामाचाच्छोकपसङ्ग एव नास्तीरचुक्तम् । इदानीं देहत्वयाऽभिमतस्याऽऽरतनो नाशे सत्यपि दुष्परिहरत्वानमहावाहुस्वं नातीव शोचितुमईसीत्यिभाशेण एवंशब्दः । यद्वा पूर्वं देहातिरिक्तात्माभ्युपगमात् परलोकादिभयेनातिमात्वशोकोऽपि युज्यते । इदानीं तु संसारमोचकादिवत् महाबाहोस्त्वातिमात्वर्शितस्त्राने कथमितमात्वशोक इति भावः । स्वं महाबाहो इति । शूरस्य ते खपरमरणोद्वेगो न युक्त इत्यक्त्रत्वम् । प्रतिज्ञाया हेतुसाकाक्वस्वादुत्तरक्षोकस्थं वा विशेषणद्वयस्त्वितं वा हेतं निष्क्रस्याऽऽह परिणामेति ॥ २६॥

<sup>1</sup> मृतराब्दस्य देहाहिन्छिप्टर्थ्यक्षारस्थानालोक्य, भूतेभ्यः समुत्थाय तान्यवानुन्निक्यतीत्यतदा-पातार्थप्रद्वणेत देहेन सद जायते ज्ञियते चेति, देहातिरिक्तानित्यात्मपरतया इलोकव्यास्यानसंभवे-ऽपि आमरणानुवृत्तदेद्वांशात्मत्वसंभवेऽतिरिक्तात्मस्वीकारस्य निष्ययोजनत्वात् गौरवाच्चोपेक्षा। मृतराब्दस्य त्यक्तप्राणदेहपरत्वे तस्य प्राणसंयोगस्यजन्म भ्रुविमिति न सुवनस् । देहविश्विष्ठप्रणणपर-त्वेऽपि तस्य पुनर्देहसंयोगो न ख्रुवः। अतो मृतराब्दो नष्टमात्रपरः। नजायतेज्ञियत इत्यत्न तयैवार्थात् ।

<sup>2</sup> नित्यति । योयो देहः सस जातः सस मृत इति जननमरणयोर्नियतत्वम् ।

ज्ञातस्य हि धुवो मृत्युर्धुवं जन्म <sup>1</sup>मृतस्य च । तस्माद्द्यपिष्ठा<sup>3</sup>ऽधे न त्वं शोचितुमहैसि ॥
उत्पन्नस्य विनाशो भुवः अत्रर्जनीय उपलभ्यते ; तथा विनष्टस्यापि जन्म अत्रर्जनीयम् ।
कथामद्रपुप्पद्यते विनष्टस्योद्पत्तिरिति । सत् एवोत्वन्दपुप्रुक्तेशः, असत्रश्चानुरुक्षेः । उत्पचिविनाशाद्यः सतो द्रव्यस्थावस्थाविशेषाः । तन्तुप्रमृतीति हि द्रव्याणि सन्त्येव ।चनाविशेप्युक्तानि पटादीन्युरुवन्ते । असत्कार्यवादिनाऽप्देतायदेवोपलभ्यते । न हि तत्र तन्तुसंस्थानविशेषातिरेकेण द्रव्यान्तरं प्रतीयते । कारकव्यापार-नामान्तरभजन-व्यन्दारिवशेषाणासेतावत्तेवोपपत्तः न द्रव्यान्तरकत्वपना युक्ता । अत उत्पत्तिविनाशाद्यः सतो द्रव्यस्थावस्थाविशेषाः ।

**ध्रवमृत्युमृतादिशब्दानामर्थान्**तर्द्युदासाय प्रक्रुतोपपादकं जानस्येत्यादिकं व्याख्याति उत्पन्नस्येत्यादि । उपस्थयतः इति हिशब्दस्वित्यमाणपसिद्धिरुच्यते । हेतुपरत्वेऽपि हिशब्दस्य, अर्थात्तरसद्धः । मृतस्य जन्मव्याघातासियायेण चोदयनि ऋथमिति । यदि केवरुमौपदेशिकोऽयमर्थः स्यात् , तदाऽभ्युपगम्येत । अत तु जात्रसः हीति लोकसिद्धानुवादेनोच्यते । लोके च पागसत एवोत्पत्तिर्दृष्टा ; न तु कदाचिदुत्पद्य निरुद्धस्य । यदि च नष्टं पुनर्जायेत, तदा दु:खात्यन्तनिवृत्तेर-शक्यत्वात् अपवर्गशास्त्रमखिलमपम णं स्यात् । व्याधिशलविजयादिप्रयासश्च निरर्थकम्स्यात् । प्रलादिमरणे च न शोचनीयम् । अतो नेद्मुपपतिमदिति भावः । परिहरति सृत एवेति । नन्विद्मुभयनप्ययुक्तम् , सत उत्पत्तिनेश्पेक्ष्यात . प्रागसतामेव च घटादीनामुस्पत्तिदर्शनादित्याशङ्कचाह उत्पत्तीति । निदर्शयति तन्तुप्रमृतीनि हीति । अन्त्य(न्य)तन्तुसंग्रीगात्पूर्वं दीर्घेकतन्त्वार्ट्ये च त्ववाऽप्येविव्यत इति भावः । उक्तं च नारायणाचार्यैः, "एकसात् दीर्घतमात् तन्तोः पटादेरुत्पचिर्दृष्टः" इति । असरकार्यवादिन प्रति, किस् अवयंत्रीति कश्चिदवयवसमुद्रायातिरिक्तः पदार्थी दृश्यते कल्प्यते वेति विकल्पमिष्रेत्य प्रथमकल्पे दूषणपाह असदिति । एतावत् रचनाविशेषयुक्तत्वनात्रमित्यर्थः । वादिनोपरुभ्यतः इति पदाभ्यां बाध्यनसविसंवादमभित्रेति । एशावदेदेत्युक्तमर्थे प्रपञ्चयति नर्हाति । द्वितीयकरुपं दूषयति काश्केति । यदि साङ्गचवत् वयमपि सर्वस्याप्यनागन्तुकत्वं वदामः, तदा भवेदेव कारकव्यासर(ादि)नैरर्थक्यादिदोषः । वयं हि द्रव्याणां सर्वेषामनागन्तकत्वं तदवस्थानां चागन्तुकत्वं ब्रुमः । घटादिवत् प्रदीपादिष्वप्यवस्थान्तरापितरनुमीयते । चूर्णितविशीर्णघटस्येव तु सुक्ष्मावस्थां-पाप्त्याऽनुपरम्भः । अतो न कश्चित् दोष इति भावः । व्यवहारविशेषोऽत्र उदकाहरणादिरभिमतः. नामान्तरभजनस्य पृथगुक्तत्वात् । एतेन 'कारणसंख्यापरिमाणवुद्धिसंस्थानादिभेदः पूर्वत्वोत्तरत्व-नष्ट[त्व]ानष्टत्वादिरपि निर्व्यूदः। द्रव्यान्तर[त्व]करुपनायां गुरुत्वान्तरकार्योदिपसङ्गस्यावयवावयविगुरुत्वयो-रन्यतरप्रतिबन्धादिना निर्वाहश्चातिक्किष्ट इत्यभिष्ठायेणाह न द्रव्यान्तरेति । आहुश्च, "यदि द्रव्यान्तरं कार्यं कारणेभ्यो भवेदिह । गुरुत्वमितिरि व्येत कार्ये तच न दृश्यते । द्विपलं घट इरयेतद्यपदेशो न युज्यते" (भा. मो.) इति । निगमयति अत इति । तावत एवोपलम्भादस्यस्याप्यनुपलम्भात् कल्पकानां

<sup>1</sup> सृतशन्दस्य सप्राणवस्तुविनारा एव प्रसिद्धधा देहमात्रपरत्वेपि तम्य भस्मादिभृतत्व सृद्धाविना पुनरुग्लेहधस्वात् हीति प्रसिद्धिरस्त्येव । एवञ्च तुरुवन्यायेन घटादेरि । प्रहण्यः ।

#### . उत्परचारूपामनस्याप्रपपातस्य द्रव्यस्य तद्विभेष्यवस्थान्तरप्राप्तिर्विनाञ्च इत्युव्यते । मृद्द्रश्यस्य पिण्डत्वघटत्वकपालत्वचूर्णत्वादिवन् परिणासिद्रव्यस्य परिणामपरम्परा अवर्जनीया ।

वान्यवैशेषपत्रस्वाहित्यर्थः । ननु भवतु नामीत्पिर्विद्वयस्यावस्याविशेषः ; विनाशस्यमावरूपः तद्विरुद्धश्च कथं तद्वस्थैरपुच्यत इत्यलाह उरपन्याख्याभिति । अयमिष्यायः — न तावत् अभावास्यं किश्चित् पदार्थान्तरं विशिच्योगरुपमहे । नापि नास्तित्यवहारादिना करपित्यं युक्तम् , उभयसप्रतिपत्नावस्थान्तरादिनैव तिवर्वाहात् । न च स्यामावस्थामहाणेन रक्तावस्थापरिमहे घटनाश्चयवहारप्रसन्नः, कषाठांधवस्थावत् रक्तावस्थाया घटावस्थावरोधित्वस्य भवताऽप्यनभ्युपगमात् । न च मावत्वैनैकरात्यनुप्तिद्वान्य । विरोधो न युप्यतं इति वाच्यम् , तेजस्तिपरं स्वीतोष्ण-तृणदहनादीनां भावानामेव सहान्यस्थान नवस्यवातुकत्वरुक्षणविशेषद्वीनात् । अभावाभावस्य च भावत्यस्वीकारात् । अन्यथा पदार्थस्वेनैकराशस्यापि भावविशेषो न कथित्वतुपयवते । तदेवं विरोध्यत्तरस्था प्रच्यतः । विरोधिनपूर्वावस्या पार्याः । वस्त्वस्यातासाथारणविरोधिवर्धः एव समानाविकरणव्यधिकरणनिषेषमदेनान्योज्यास्यापि स्वार्वेकार्यः भेदविशेषः, तत्कृतावस्थाविशेषो यः संसार्गामावः । प्रतियोग्यादिः भेदाः विरुद्धित्वस्वरादिन्यवहारवत् अस्तिनास्ति।स्यादिन्यवहार्यिचित्र्वप्रस्वादिन्यवहार्यवत् अस्तिनास्ति।स्यादिन्यवहार्यिचित्र्वप्रस्वादिन्यवहार्याद

ननु यदि कपाळत्वायुत्तरावस्थापातिर्विनाशः, तर्हि कपाळिन्नाशे षटविनाश एव विनष्टः स्यादिति चूर्णावस्थायां षटोन्मज्जनप्रसङ्गः । यदि च पिण्डावस्था घटपागमावः, तदा पिण्डीकारा(करणा)त्पूर्वे प्रागमावामावात् घटसिद्धिर्घटात्यन्ताभावो वा स्यादित्यत्वाह मृद्द्रव्यक्षेति । अयमिषप्रायः—न तावदेकैव कपाळत्वावस्था घटस्वावस्थाविरोधिनी, चूर्णत्वावयस्थानामिष तिद्वरोधिरवात् । अभावस्थं प्रध्वंसमभ्युप्रगच्छतोऽपि विरोध्यवस्थापरंपरा अवर्जनीया । ततः कपाळत्वचूर्णत्वादीनां विरोध्युत्तरावस्थात्वाविरोषात् तास्य सर्वास्वयस्थासु घटविनाशव्यवहारोपपत्तिः । एत्र प्रागमावेऽपि विरोधिपूर्वावस्थात्मपर्या निर्वोहः ।

एवमनभ्युक्तमे अ(व्य)िरिक्ताभावपश्चेऽप्युक्तदोषो दुर्वारः। <sup>1</sup>ततापि हि यदि घटास्यं द्रव्यं घटनागभावितिशृत्तिः, ति घटनिश्वतौ घटपागभाविनश्चित्तरेव निश्वति पुनः घटपागभावोन्मज्जनप्रसङ्गः। तथाच सित मध्ये प्रागभावस्य विच्छेदायोगात् घट एव न स्यात्। प्रागभावस्य च सामग्रीसम्पतौ भाव-शिरस्करवात् नष्टाया एव घटव्यक्तेः पुनरुम्पज्ञं स्थात्। एवं यदि प्रध्यंसस्य घट एव प्रागभावः, तदा घटोत्पतेः पूर्वं प्रध्यंसमागभावाभावात्विण्डावस्थायां घटपध्यंसः स्थात्। तथा च सित घट एव कदाचिद्रिष्तेः पूर्वं प्रध्यंसमागभावाभावात्विण्डावस्थायां घटपध्यंसः स्थात्। तथा च सित घट एव कदाचिद्रिष्तेः स्थात्। तथा च पति घट एव कदाचिद्रिष्तेः स्थात्। स्वाधंसे वर्तमाज्ञनप्रसङ्गात्। एवं च पिण्डावस्थायां घटविनाश्यसङ्गे विनाशस्य भावोत्तरुग्रेजनित्वात् पिण्डात्यागेव घटसिद्धिः स्थात्। तत्रश्च तिसिद्धिनाशकाल्योहियोरिष कारकव्यापारान्धेवयं स्थात् इत्यादि दूषणगतं देयम्। अतस्युष्ट्रकं पिरोध्यवस्थापरम्परेव प्रागमावप्रधंसौं इति। पिण्डत्यघटनवेत्यादिना, "मही घटत्वं घटतः कपालिका

<sup>1</sup> अभावामावस्य भावस्यत्वात् वटप्रागभावश्वेतः घटश्वेसप्रागभावश्वे घट पवैति तार्किकाः । अतस्तेषामपीदं समानं दूषणं परिहरणञ्जेति ।

तत्र पूर्वावस्थस द्रव्यस्योत्तरावस्थात्राप्तिर्विनाञ्चः। सैव तदवस्थस चोत्पत्तिः। एवप्रुत्पत्तिविना-शाख्यपरिणामपरम्परा परिणामिनो द्रव्यसापरिहार्येति न तत्र शोचितुमईसि ॥ २७ ॥

सतो द्रव्यस्य पूर्वावस्थाविरोध्यवस्थान्तरप्राप्तिदर्शनेन योऽन्त्रीयान् शोकः, सोपि मनुष्यादिभृतेषु न संभवतीत्याह—

1अन्यक्तादीनि भतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का श्विरदेवना ॥ उट मत्व्यादीनि भ्रतानि सन्त्येव द्रव्याणि अनुगलन्धपूर्वावस्थानि उपलन्धमतुःयत्वादिमध्यमावः स्थानि अनुपलन्धोत्तरावस्थानि स्वेषु स्वभावेषु वर्तन्त इति न तत्र परिदेवनानिमित्तमस्ति ॥ कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः"। (वि. २. १२. ४३) इति भगवत्पराग्रस्वचनं सारयति । तत्र हि प्रकरणे नास्त्यवस्त्वसत्यादिशब्दानामवस्थान्तरापत्तिनिबन्धनत्वं स्पष्टम् । व्याख्यातं च शारीरकमाध्ये । नन्वेबमपि **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः** इत्येतावदुपपद्यताम् , उत्पन्नस्य घटादेर्नाशदर्शनात् ; ध्रुवं जन्म मनस्य च इति त नोपपद्यते, नष्टस्य घटादेः पुनरुत्पत्यदर्शनात् । न च पुनरुत्पत्तिस्य शोकिनिभित्तम् , येन तस्यावर्जनीयत्वं पतिपाद्येतेत्यवाह तत्रोति । अयम्भिपायः-यदवस्यस्य द्रव्यस्य विनाज्ञः, न तदवस्थस्यैव पुनस्त्वतिरूच्यते ; किंतु तस्यैव द्रव्यस्यावस्थान्तरविशिष्टस्य । एकमेव हि द्रव्यं घटाकारेण नष्टं कपालाकारेणोत्पचतें। एकैन हि कपालानस्था घटानस्थस्य दःयस्य नाशः, कपाळावस्थस्य तस्यैवोत्पत्तिः । अत एवमुपपन्नं नष्टस्योत्पत्तिरिति । सैव उत्तरावस्थापाप्तिरित्यर्थः । अल प्राप्तिशब्देन प्रथमक्षणागमस्य विवक्षितत्वादुत्तरेषु क्षणेषुत्विशब्दप्रयोगाभाव उपपन्न इति स्त्रचितम् । एवं सति पुनरुत्पत्तेरवर्जनीयत्वपतिपादनं च नाशावर्जनीयत्वपतिपादनमेव । तत एव शोकापनोदनार्थताऽपि युक्ता । यद्वा यदी(दि)दमचिद्रुव्यं नष्टमिति शोचसि, तर्हि तदेव द्रव्यं तदुत्तरा-वस्यतयोत्पन्नमिति किं न शीयस इति सावः 🗡 एकस्यैव परिणामस्य निरूपणभेदादुः पत्त्यारूया विनाशास्त्रा चेति **उत्पत्तिविनाग्ना**स्य**परिणामे**खुक्तम् । एवं प्रत्यापेक्षया स्टोर्विनाशस्वेऽपि पुरुषार्थयोगायोगादिविवक्षया व्यवहारस्यवस्था । परिणामिन इति अपरिहार्यस्वकारणं तत्स्वभाव-त्वमुक्तम् । **इति**शन्दे**नापरिहार्यपदं** हेत्वभिषायमिति न्यञ्जयति ॥ २७ ॥

एवमपरिहार्यत्वेनाशोचनीयत्वमुक्तम् । अथ तत्तद्वस्तुनां प्रतिनियतस्वभावत्वेन पूर्वोत्तरावस्थायां सुस्वरुपत्व-दुःस्वरूपत्वयोरन्यतरिवेवेकानर्हानुष्रस्यद्यशापत्या चाशोचनीयत्वमुच्यते अन्यक्तादीनीति । अन्यक्तन्यक्तादिशन्दानां प्रकृत्यवस्थाविशेषादि-परत्वश्रमन्युदासाय यादवप्रकाशोक्ततद्व्रह्मादिपरत्वश्रमन्युदासाय यादवप्रकाशोक्ततद्व्रह्मादिपरत्वस्य च प्रकृतानुपयोगज्ञापनायोक्तम् अनुप्रकृष्ये-त्यादि । "अदर्शनादिहाऽऽयातः पुनश्चादर्शनं गतः । नासौ तव न तस्य त्वं व्रथा किमनुशोचिस" (भा. स्त्री. २. १२. १३) इति सन्यत्वाप्युच्यते । स्वेषु सभावेषु वर्तन्त इति । अयमभिष्रायः-

श्व अनुतरान्द्रो देहमात्रपरः । मूले विशेषणत्रयेण क्रमात् प्रागभाव-जन्म-विनाराकपाव स्थात्रयन्युत्पादनम् । 2 केति किंकारणिकेत्यर्थः ।

एवं **श्व**रीसत्मवादेऽपि नास्ति शोकनिमित्तमित्युक्त्वा श्वरीसतिस्कि आश्चर्यस्वरूपे आत्मनि द्रष्टा वक्ता <sup>श्र</sup>वणायत्तात्मनिश्चयश्च दुर्छम इत्याह—

आश्चर्यवर् पर्यति कश्चिर्नमाश्चर्यवत् वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवचैनमन्यः श्रणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

રર

एवमुक्त त्रभावं स्वेतरसमस्तवस्तुविसजातीयतया आश्चर्यवदवस्थितमनन्तेषु जन्तुषु महता तपसा श्लीणपापः उपचितपुण्यः कश्चित् पश्यति । तथाविधः कश्चित् परस्मे वदति ।

न ताबदेषां द्रव्याणां मनुष्यत्वादिव्यक्तावस्था स्वभावः. संहतिविशेषादिसाध्यत्वात् । नाष्यव्यक्त-पूर्वोत्तरावस्था, तस्या अपि विभागादिसाध्यत्वात् । अतः सामान्यतः परिणामित्वमातं स्वभावः । ततश्च यथा परिणामिनो द्रव्यस्याव्यक्तपूर्वावस्था व्यक्तमध्यावस्था च न शोकनिमित्तमः एवसूत्तरा-वस्थाऽपीति । एवकारोऽलावर्जनीयत्वपरः, स्वभावप्राप्तिपरो वा । यद्यव्यक्तावस्थैव स्वभाव इति मनुषे, तदा स्त्रभावपरित्यागळक्षणमनुष्यत्वाद्यवस्थैव शोचनीया। यदि पुनर्भनुष्यत्वाद्यवस्थैव स्त्रभाव: ; प्रतिबन्ध-कवशादन्यक्तावस्थेति मन्बीथाः,, तदाऽपि प्रतिवन्धकस्यावर्जनीयत्वादागन्तुकस्य तस्य कदाचिदपगमे पुनर्भनुष्यत्वादिसिद्धेश्रायत्नरुभ्यत्वाल कथित्रदिषि शोचनीयम् । यदि तु स्वभाव एव वस्तुनां सामान्यतश्शोकनिमित्तम . तर्हि प्रतिनियतविचित्रस्यभावानन्तवस्त्रसन्तते जगति सर्वस्य सर्वदा दःखजळ-निधावेव मज्जनमिति नेदानी विशेषतक्शोकनिमित्तमस्ति । अथौपधिकस्यापि संखहेतोर्वियोगाच्छोकः. तदा द:खहेतनां शलपभतीनां भैक्षचर्यादेश्च परमार्थतरशोकनिमित्तत्वमः न त सखहेतोः शलनिरस-नस्य सार्वभौमत्वादेवो । अथ सुखहेतोः स्वश्रीरादेनीशात् विभेषि ? तर्हि महाबाहुना भारतेन त्वया जिघांसनां सिन्नधौ यथाशक्ति व्यापारेण(व्यापरणेन ?) शरीरादिरक्षणं कार्यम् । च वन्ध्रवधादिनिमित्तलोकापावादादेभीतिः, तदा समर्थस्य ते बन्ध्संरक्षणाद्यभावनिमित्तो महीयान् अपवादस्यात । भीरुत्वादिनिमित्ता मरणातिरिक्ता चाकीर्तिस्यात । नचायं दुस्त्यजः शीतातपादिसां-स्पर्शिकद:खवत शोक:, किंत्विवचारितरमणीयाभिमानमूळतया तिचन्नच्या परिहार्य:: अत एव(व) देहारममोहमहाग्रहगृहीतस्तं लोकायतसमयरहस्यतत्त्विचारेणापि न कथश्चिदपि शोचितमईसीति परिदेवना किंनिमित्तेत्वर्थः । तदिद्मुक्तम् . न तत्न परिदेवनानिमित्तमस्ति इति ॥ २८ ॥

एवमन्वारुखवादपरिसमापनेन पूर्वोक्तं स्वसिद्धान्तमेव देहारममोहमूळ्दुरितावळीमळीमसे जगित तद्विकारिदुर्ळमत्वादिकथनेन प्रशंसतीत्याह एविमिति । कतिपयपदविशेषितोऽयमौपनिषद् एव आर्थ्यविह्त्यादिर्छोकः । एवष्ट्रक्तस्वभावम् इति एनिमत्यस्यार्थः । 'अञ्यक्तोऽयम्' इत्यादिनोक्तं वैजात्यम् आर्थ्यव्हेतुत्वाऽऽह स्वेत्रेति । आर्थ्यव्ह्ळ्टस्य पश्यत्यादिक्तियाविशेषणत्वश्रमन्युदा-सायोक्तम् , आर्थ्यवद्वस्थित्मिति । आरमनो वैळक्षण्यकथनमेवालोचितिमिति भावः । एतेन कर्तृ-

<sup>1</sup> প্রবणायापि बहुभियों न स्रभ्यः श्रब्बन्तोपि बहुवो य न विद्युः। आश्वयों वक्ता कुशसोऽस्य स्रभ्या आश्वयों ज्ञाता कुशसानुशिष्टः (क. उ. 2. 7)

एवं कथिदेव भूगोित । श्रद्धां उप्येतं यथावद्वस्थितं तत्त्वतो न कथित् वेद । चकारात् द्रष्ट्वयत् श्रीन् व्वति । श्रद्धां तत्त्वतः श्रवणं दुर्कमिष्युक्तं भविति ॥ २९ ॥ द्रष्टान्वत्वया ग्रह्मरोक्तं योजनान्तरमपि वृष्ठितम् । कथिदिति निर्धारणार्थमाह अनन्ति विति । ज्ञाने हीनानां नराणामपि पशुमिरस्समस्वदर्शनायोक्तम् जन्तुष्विति । कथिदित्यस्य तात्वयर्थिमाह भइतेति । यथा (तथा) चोच्यते, "कषाये कर्ममिः पक्ते ततो ज्ञानं प्रवर्तते" इति । अन्यशब्दोऽल पूर्वोत्तरवाक्यगतक्षियच्छव्दसमानार्थः । परसा इत्यर्थक्वयोक्तिः । श्रुत्वाऽपि न वेद इत्युक्ते व्याधात-शास्त्रान्तरमादिदोषः स्यादित्याशङ्कोक्तम् , यथावद्वस्थितं तत्त्वतं इति । प्रामाणिकसमस्ताकारयुक्तमारोपितेन प्रकारेणेत्यर्थः । तत्त्ववेदिनोऽल दुर्लभत्वमाले तात्त्यं, श्रुत्वाऽपीत्यादिवावयस्यस्कारस्यानुक्तसमुच्चयर्थतं तत्समुच्चत्वयानि चाह चकाशदिति । 'देहातिरिक्तस्यात्मनो दृष्टैव तावद्दुर्लभः ; किमुन यथावस्थितद्वय । तत्वोप्योप्येषु सरस्वपि वक्तेय दुर्लभः ; किमुन सकरुरहस्यक्ता । तादशेषु सरस्वपि श्रोतेव दुर्लभः ; किमुनवर्गद्धान्तरस्यक्रवर्शव्यानि चाह चकाशवित्त । यथावस्थितश्रोता त्वादशः ' इत्यमिपायः । प्राप्ते श्रवणम् , ततो मननाच्य्रवणायतात्मिश्चयः, तत्रध्य वचनयोग्यता, तत्रापि चिराभ्यासादिना यथावस्थितवचनयोग्यता, तत्तथ निद्दिश्यासनाद्दर्शनम् , ततो[ऽपि] रत्यतत्त्वव चिरिनरिश्यसंस्करात् [स] विशेषदर्शनमिति वा क्रमः । अव<sup>3</sup> देहादिरिक्तश्चेदात्ता, क्रित्वा नेपलभ्यते इति शक्कापकरणाय दुर्ज्ञनत्वकथनम् । सर्वेद्वात्वये यो वस्तुनि कि त्वामेकमुपालकभे इति भावः ॥ २९ ॥

अथ यथा देवादिस्थावरान्तेषु भृतेषु देहांशे जातिगुणदेशकालदुर्भेदत्वसुभेदत्वादिवैषम्यमुपरुभ्यते ; तद्वत् देहिन्यपि सुस्तित्वदुःस्तित्वादिवैषम्य दृश्यते । <sup>व</sup>देवादिशब्दाश्च देवत्वादिविशिष्टात्मपर्यन्ताः । प्वं

कर्त्रह्मान्तत्वर्यात । व आत्नान पश्यति स आश्चर्यतुल्यः इप्येषं द्रष्ट्रवक्तुश्रीत्यु माश्चर्यतुल्यत्वं शांकरोक्तं मध्य, द्वांष्ट्रिक्षयादिकर्मणि आत्मनि आश्चर्यतुल्यत्वं तद्क्तिमृष्टमिति भावः। आश्चर्यवत्— आस्चर्येण हुल्यस् । हुल्यस्यै पतियन्ययः । आध्वीकार्यविवाद्यमिति यावत् । न तु मतुषु ; नपुंस राशैकित्यात् । नयु युतौशाक्षयी वक्तीत कर्नयैवाइचर्यस्यं श्रुपते-अवाष्यन्तिमेन षादे कर्तुरेवाभाव उच्यते । अतः द्रष्ट् दिदौर्लभ्यकथनमेवा । युक्तायति चेन्न- + हेदौर्लभ्यः । आत्मगताश्चर्यत्वप्रयुक्ततया अस्यैव साक्षाद्धिसंभयात । अत्तिमपाद एव चकारेण, पर्यक्षि न पर्वति, बदस्यपि न बदति, श्रव्यस्यपि न श्र्योति इति इत्यदिदीर्छभ्यस्य विवस्त्रणाच हेत्स्तातम-गताश्चर्यत्वस्यवस्य वक्तुनुचितत्वात् । "जगदेतन्महाश्चर्य कपं यस्य महात्मनः । नेनाश्चर्यवरेणाहं भरता कृष्ण संगतः" इत्युच । ऋर्यतमगरमात्मवश्च पद्यति । ये पत्वा चाधिकं स्रोमं मन्यते नाधिकं तत इत्युक्तेः। 2 तथाविषेषु सम्स्वपीलि । सम्यम्दर्शनासन्तरमपि बक्तुं न समर्थः। तथाहप्ट्वा वक्तुः सकारात अवजेऽपि प्रहणं दुष्करम् । अवजे जातेऽपि तिहेषयसस्य वारणमशक्यमिति प्रथम-कोजना। दर्शनं दुर्छमेमिति किस. वहनमपि दुर्छभम् , तत् किम् , अवगमपि दुरुममिति द्वितीय-योजना । श्रवणे यथावित्रणत्रे वचनादिकप्रनायासेन भवत्येवेत्यपि नेति, शुरुवापीन्यन्तिमपादेनोन च्यते । उसरोत्तरस्मिन् दौर्रुभ्याधिक्यं विवक्षितम् । 3 देहातिरिक्तइचेदिति । अत्र 'आत्मा' क्हातिरिक्तइचेत् किं तथा नोपलभ्यते । सर्वैर्कातुमशक्ये वा किं त्वाप्रेकपुरालमे इत्युक्तिपत्युक्ति-क्रवन्त्रोकस्फरणं भवति । 👍 देवादिशब्दाश्च द्वत्वादिविशिष्टारमपर्यन्ता इत्यस्यावमर्थः-

देही नित्यमबध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्यं शोचितुमईस्ति ॥३० सर्वस्य देवादिदेहिनो देहे <sup>1</sup>वष्यमानेऽप्ययं देही नित्यमबध्यो मन्तन्यः। तस्मात् सर्वाणि देवादिस्थावसन्तानि मृतानि विषमाकासणा युक्तेन स्वभायेन स्वरूपक्षमानानि नित्यानि च। देहगतं तु वेषम्यमनित्यत्वं च। ततो देवादीनि सर्वाणि मृतान्युद्दिश्य न शोचितुमईसि; न केवलं मीष्मादीन् प्रति ॥ ३०॥

स्पर्धभिषि चार्वेक्य न विकस्पितुमैद्देखि । धम्पाँद्धि युद्धार्ट्ह्येशऽस्यत् क्षत्नियस्य न विद्यते ॥ अपि चेदं प्रारुष्यं युद्धं प्राणिमारणम्यि अप्रीशेमीयादिवतः ख्वर्यमैमवेक्य न विकस्पि

नित्यत्वानित्यत्वादिलक्षणवैषम्यपि संमाध्येतिति श्रञ्जानिराकरणाशिच्यते देशीति । वध्यमानेऽपीति सामध्यीनीतमुक्तम् ; 'इन्यमाने शरीरे' (२.२०) इतिवत् । अन्यथा, देहे रावस्येत्यस्य नैरर्थवयं, देहीत्येतावतेव देहवर्तित्वसिद्धेः । <sup>2</sup>भूतशब्दोऽत्र श्रेत्रद्ययं वित्यवित्यद्य नैरर्थवयं, देहीत्येतावतेव देहवर्तित्वसिद्धेः । <sup>2</sup>भूतशब्दोऽत्र श्रेत्रद्यस्य निर्माक्ताराण्यपि इत्यन् वितः । देवादिसेदात् तत्प्रयुक्तसुखादिमेदाचेति शेषः । उक्तेन स्वभावेनेति । पूर्वीक्तसुक्षमत्वाच्छेयस्यवितः । देहमात्वगतं देवादिसित्ववेशवेषम्यम् । सुखादियेषम्यं त्वासमगतमपि तक्तेदेहिरातं तु वैपम्यमिति । देहमात्वगतं देवादिसित्ववेशवेषम्यम् । सुखादियेषम्यं त्वासमगतमपि तक्तेदेहिराविक्यभ्यम्तत्वानावस्याविशेषतारतम्यात्मकम् । चेतनानां देहा(वाः)दिशब्दैव्यपदेशस्य श्रिरस्यान् प्रथितसिद्धमात्रनिवन्यन इति भावः । प्रकृतसङ्गतिज्ञस्याय सर्वाणीत्यस्य व्ययक्रेष्ठमाह न केवर्र्यः भीष्मादीन् प्रतीति ॥ ३० ॥

एवम् 'अशोच्यानस्वशोचस्वम्' इत्यादिना 'न त्वं शोचितृग्रहिति' इत्यन्तेनास्यानकाकण्यमणेदितम् । अथ त्वधममित्यादिना मरणाद्वितिच्यते इत्यन्तेन धर्माधमधीरणेखते । अपि चेति
सह वेतन्यहेत्वन्तर्परपकरणभेदद्योतनार्थः । धर्मणीद्धि युद्धात् इति वावयशेषप्रदर्शितं स्वधमम्
इत्यत्य विशेष्यमाह इदं .... युद्धमिति । स्वो धर्मः त्वस्य वा धर्मः स्वधमः । विक्रम्यत्वित्तरत्तासर्थ्यसिद्धमुक्तं प्रारच्धमिति । अधर्मधीहेतुं सामान्यनिषेष[विषय]मनुवदित प्राणिमारणसपीति ।
प्रवतं विशेषशास्त्र निषेधशास्त्रात् , निषेधेत्याप्रसक्तिं वा सारयित अग्नीथोमीयादिवदिति । धर्मथुद्धव्यतिरिक्तस्य कस्यविदन्यत्य श्रेयसः क्षतिये सक्तपनिषेधश्रमं त्युदस्यन् क्षतियस प्रशस्तः र धर्मथुद्धादेवादिश्वशासात्मपर्यन्तत्वात् देह इवाऽऽत्यन्यापे देवत्यमेष्ठश्यम् । तस्य देहाकारिवशेषवत्
व्यात्मातस्यक्तित्वाद्विशेषक्रपमपीति । प्रतत्समाधानसुपरि चत्रतात्रामिति वाक्येन । देवत्यं
शारीराकार पवः न तु सुखित्वादिकम् । आत्मपर्यन्तप्रयोगस्तु शारीरापृथक्तिस्वयविति । तत्र देवादिशब्दिग्वदेवित्यस्य देवादिशव्दित्ति पाठो युक्तः अक्तिष्टस्य ; तस्यव पस्तकत्वात् । देदशब्दश्यात्मपर्यन्तत्यायः सिद्धान्तेऽभावास्य । 1 नत्र वध्यमाने इति कथम् । हत्यमाने इति प्रयोक्तव्याक्षात्र्यम् वय्यवान्यम् स्व वित्रवेति । तत्रव्यास्त्रवेति । तत्रवाभ्यम् वयः
हिसाधामितः भौवादिको धातुरिति शाब्धिकेष्ठम्तिम् । 2 भूतशब्दोऽत्रेति । 28 इक्षकेष् तुमईसि । धन्यति-न्यायतः प्रवृत्तात् युद्धादन्यम हि क्षतियस श्रेगो निघते । ''शीर्य तेजो षृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्र क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥'''(१८.४३) इति हि वक्ष्यते । अग्रीपोमीयादिषु च न हिंसा पशोः, निहीनतरच्छागादिदेहपरित्यागपर्वह-करयाणतरदेइस्वर्गादिप्रापकत्वश्रुतेः संज्ञपनस्य । "न वा उ एतन्त्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पश्चिमिस्सुगेमिः। यत यन्ति सुक्रतो नापि दुष्कृतः तत त्वा देवस्सविता दधातः (यजु. ४. ६. ९. ४६ ; यजु. जा. ३. ७. ७. ९४) इति हि श्रुयते । इह च युद्धे मृतानां दन्यन्नास्तीत्येतदर्थमन्वयमाह धम्यादिति । धम्यत्वं धर्मादनपेतत्वम् । तद्धेतः न्यायतः प्रवस्तवम् । तच निरायध-निवृत्त-शरणागतादिषु शस्त्रप्रयोगाद्यभावात् । हिशब्दसूचितं वक्ष्यमाणमाह शीर्यमिति । ननु अग्नीषोमीयादिवत इत्येतदेव न संप्रतिपन्नम् , तस्यापि हिंसात्वेनाधर्मत्वस्यावर्जनीयत्वात् । न च निषद्धत्वमुपाधिः : न हिंस्यादिति सामान्यनिषेधेन तस्य साधनव्यापकत्वात् । नापि विहितेतरत्वमु-पाधिः, अविहिताप्रतिषिद्धेष्विप तस्य विद्यमानत्वेन साध्यव्यभिचारात्<sup>1</sup>। न च सामान्यनिषेषी विद्रोषविधिवावयविरोधात सङ्कचितविषय: । सङ्कोचहेतोविरोधस्यैवाभावात् । सामान्यविद्रोषवावययोः प्रत्यवाय-कृतमाधनत्वपरत्वादेकस्यैव कृतुपत्यवायसाधनत्वाविरोधात् । न च प्रत्यवायसाधनं न विधीयेतेति वाच्यमः हरीतकीभक्षणादिष्विव कत्वनुप्रविष्टपायश्चित्ताहिहिंसासाध्यदः खस्यारुपतया कतुसाध्यसुखस्य च मृयस्तया तद्रपपतेः। उक्तं च साङ्कवैः, "हिंसा हि पुरुषस्य दोषमावश्यति<sup>2</sup> कतोश्चोपकरिष्यति" (सां. कौ. २) इत्यादि । आह च पश्चित्रात्वाचार्यः, "स्यात् खल्पसङ्करः [स]सपरिहरस्सपत्यवमर्शः<sup>9</sup> (र्षः)" (त्या. भा. १. १३) इति । अतोऽग्नीषोमीय(यादि)वदित्यसिद्धस्यासिद्धमेव निदर्शनमक्तमित्यताह अग्नी-बोमीयादिषु चेति । अधर्मसाधको हिंसात्वहेतुरसिद्धः। उपाधिश्च न पक्षव्यापकः, पक्षस्याहिंसारूपत्वात . तत एव निषेधाभावाचेति भाव: । अहिंसात्वमेवोपपादयति निहीनतरेति । अनर्थपापकव्यापारत्वं हि हिंसालक्षणम् । अत्र त तद्विपरीतत्वेन रक्षणत्वमेव यक्तमिति मन्त्रलिङ्गेन ज्ञापयति नवा इति । एत-दिति कियाविशेषणम् । सुगेभिरिति सुगैरित्यर्थः । पिष्टपश्चादिविधिस्तु कार्त्यगधर्मनिष्ठाधिकारिविशेष-नियत: । "परायज्ञै: कथं हिस्नैर्माहरारो यष्ट्रमहिति" (भा. मी. १७५. ३४) इत्यादिवचनाचेति भाव: । अस्त्वभीषोमीयादौ श्रुतिबलादहिंसात्वम् । इह तु कथिमत्यलाह इह चेति । अयमप्यर्थः श्रुतिस्मृतिसिद्ध इति भावः। नन् "अहिंसन् सर्वा भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" (छा. ८. १५. १) इत्यादिनाऽमीषोमीयादेर-

<sup>1</sup> इद्युवाषिः साध्यसमध्यासत्वाभिमायेण । स्वाबेः साध्यस्यापकत्ववत् साध्यध्याप्यत्त्वमि वृष्टेंद्रम् । तकास्तीत्यर्थः । किमर्थे तदिष्यत इति खेत्—उपाधिशब्द्य स्वगतःवासे-द्वेताबारोषकः इत्यर्थः । सत उपादेः साध्यस्याध्यत्वमाषद्यक्रमित्ति । सत्र विद्वितेतरत्वं पक्षेतर-त्वक्रपत्वाक्षोपाधिरिति च भाव्यम् । 2 आवक्ष्यति । वर्द्यातुः । दोषावद्वनं दोषोत्वादनं करिष्यति । पर्व पुरुषस्य दोषोत्पादनैऽपि तत्कतोः साद्गुण्यं करिष्यतीत्यर्थः 3 शकारस्थाने कक्षारः तस्यकौमुणाम् । प्रत्ववमर्थः सहनम् । सक्षो दोष इति । से, मी. दु 61 रिष्यणे विशेषः ।

कल्याणतरदेहप्राप्तिरुक्ता, ''वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति'' इत्यादिना । अतः, चिकित्सकशल्यादिकम् आतुरस्येव, अस्य रञ्चणमेवाप्रीपोमीयादिषु संज्ञपनम् ॥३१॥ यदच्छया चोपपसं खगंद्वारमपावृतमः । खुब्जिनः क्षत्रियाः पार्थं लभन्ते युद्धमीदशम् ॥३२ अपन्तोपनतिमदं निर्रातिशयसुत्वोपायभृतं निर्विद्यमीदशं युद्धं सुलिनः पुण्यवन्तः क्षत्रिया लभन्ते ॥ अथ चेत् त्विममं घर्म्यं संप्रामं न करिष्यिल । ततः स्वयमं कीर्ति च द्वित्वा पापः वाष्ट्यस्ति ॥ अथ चत्रियस्य स्वयमंभ्रतम् इमम्—आरुवं संप्रामं मोहान् करिष्यिस चेतृ—ततः

्नियस्य | हिंसात्वं प्रतीयते ; अन्यथा अन्यन्नेति तद्यवच्छेदानुपपत्तिरत्यताह अत इति । अयमिप्रायः—न ताविद्द दुःस्वजननमालं हिंसा, रक्षणरूपेषु चिकित्सकशस्यप्रयोगादिप्विप प्रसङ्गात् । नापि प्राणिवयोजनमालम् , अतद्र्षेषु सर्वस्वहरण-नारकपीडादिषु हिंसाशस्यप्रयोगादिप्विप प्रसङ्गात् । नचायमुप्वारः, नियामकाभावात् , विपरिवर्तस्यापि दुर्वारत्वात् । अतोऽनर्थपर्यवस्तितसादात्विकदुःस्वजनको स्यापारो हिंसेत्येव तत्त्वम् इति । ततस्य, 'अन्यत्न तीर्थेभ्यः' इत्येतत् पश्चादेभीविषुरुषाधिवशेषानभिज्ञपामरदृष्टयोक्तम् । तस्मित्विष वावये हिंसात्वं नास्तीत्येव तात्पर्यम् । उक्तं च मनुना, ''तस्मात् यज्ञे वधोऽव्यः' (मनु. ५.३९) इति । अत्रापि 'वध' इति पामरदृष्टयोऽनुवादः। 'अवध' इति तत्त्वकथनम् । यद्यपि कत्वनुप्रविद्यानां सोमोच्छिष्ट- भक्षणप्रभृतीनां हिंसास्व्यव्यवस्थानस्व स्थापन्तरेष स्थवच्छेदः ; तथाऽपि तेषां प्रत्यवायानाधायकत्ववचनवस्रदेव तथात्वमङ्गीकृत्वः; , न पुनः कत्वर्थत्या विद्यानात्वेष । नन्येवमुत्सर्गापवादन्य।यस्य कीद्यो विषयः १ तादशः एव, यत्र यत्रे निरवकाशविशोवश्चववविशेषादेव सावकाशसामान्यदान्दसङ्कोच इति निस्तरङ्गमेतत् ॥

पुत्तरि प्राणिमारणस्यापि युद्धस्य प्रशंसामुखेनाधर्मअममुन्मूळ्यति यहच्छयेति । यहच्छयेति । यहच्छयेति । यहच्छयेति । यहच्छयेति । यह्मिस्यलाहेतुकत्वादिअमध्युदासायाह अयलोयनतिमिति । प्राक्तनिरित्ययपुण्यविवाकरुभ्यत्वात् इदानीमयलोपनतत्वम् । निरित्ययसुखोपायभृतिमिति । स्वर्गशब्दो हि, "यस्तिलोण्णं न शीतम्", "यत्र दुःखेन संभित्रं न च यस्तमनन्तरम् । अभिलाधोपनीतं यत् तत् मुखं स्वःपदास्पदम्" (शा. मा. ६-१-१) इति निरित्ययमुखविद्योपे खुत्पत्रः । देशविद्योपस्तु ताहशसुखभोगस्थानतया स्वर्गः । धर्माणां च स्रतोनिरित्ययसुखसाधनत्वं स्वमावः । फलाभिसन्ध्यादिरुक्षणप्रतिवन्धकवशादन्यथात्वमिति च्विपत्ययम- युद्धानस्य भावः । अपायृतशब्दाभितेते निर्विष्मत्यम् । सुस्तिन इत्यस्य पुण्यवन्त इति प्रतिपदम् । न हि सुखमेवेदशयुद्धलामहेतुः ; अतोऽल सुस्त्रशब्देन सुखसाधनं रुक्थत इति भावः । यद्वा, अल सुस्त्राब्दः सुख्योग्यस्वरुक्षणस्वन्धपरः । तद्योग्यस्यं च पुण्यवस्वमेवेति भावः ॥ ३२ ॥

एवं युद्धस्य धर्म्यत्वेन निरितशययुखसाधनत्वमुक्तम् । अथ तदकरणे पत्यवायमाह अथचेदित । युद्धाकरणस्य बाक्षणादीनां पापहेतुत्वामावात् स्वंशव्दः क्षत्रियत्वपर इत्यभिषायेणोक्तम् **श्वत्रियस्य** स्वधर्मभृतिमिति । **इसम्** इति निर्वेशामियेतमुक्तम् आर**्धमि**ति । **मोहात्** धर्मेऽप्यधर्मत्वभ्रमादित्यर्थः ।

<sup>1</sup> पतिहिवेचनस्, 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इत्यत्र भाष्यार्थदर्पणेऽपि द्रष्टव्यस्।

प्रारब्धस्य धर्मस्याकरणात् स्वर्धकरं निरतिशयसुखन् , विजयेन निरतिशयां च कीर्ति हित्वा पापं निरतिशयमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

श्रकीतिं चापि भूतानि क्यांपरमन्ति तेऽ ययाम् । संमावितस्य चाकीतिः मरणादितिरुच्यते॥

न ते केवलं निरतिशयसुखकीर्तिह।निमात्रम् । 'पार्थो युद्धे प्रारच्ये पलायितः' इति
अव्ययां सर्वदेशकालव्यापिनीमकीर्ति च समर्थानि असमर्थान्यपि सर्वाणि भूतानि कथयिष्यनित । ततः किमिति चेत्—शोर्थवीर्थपराक्रमादिभिस्तवेसभावितस्य तदिपर्थयजा सकीर्तिः
मरणादितिरुच्यते । एपविषाया अकीर्तेमण्यमेव तव श्रेय इत्यर्थः । ३४ ॥

न हि युद्धस्याकरणमालं क्षतियस्यापि प्रत्यवायहेतुः, सर्वदा युद्धकरणपसङ्गादित्यत उक्तं प्रारम्थस्येति। स्वयंगिकलमिति । धर्मशब्दोऽल कलपरः, अन्यथा पौनस्वत्यात्, अनुवादमालत्वेऽनिष्टपसङ्गपर्यवसानामावाचेति भावः । आगापिकीर्तिविषयत्वायोक्तं विजयनेति । न केवलं दृष्टादृष्टरूपनिरितिशय-पुरुषार्थहानि(न)मालस्, निरित्शयनुःखहेतुम्तं पापम[प्य]वाप्स्यसीति वाववार्यः ॥ ३३ ॥

एवं दृष्टादृष्ट्यप्रकृहानिरदृष्ट्ययायश्चोक्तः। अथ दृष्ट्यत्यवायमाह अकीर्ति चेति । अकीर्तिरह दुष्कीर्तिः । न ते केवल मित्यादौ, 'नाप पारलौकिकनिरतिशयपापमालम्' इत्यन्सन्धेयम् । प्रारब्धे पलायित इति । कान्दिशीकतया प्रथमःयापारमप्यकृत्वेति भावः । अध्ययशब्देनःथिनाशित्वाभि-धानात सर्वकाळव्यापिरवमुच्यताम : सर्वेदेशव्य पित्वं त कथमुच्यते ! इत्थम्--यद्यकीर्तिः सर्वेदेशव्यापिनी न स्यात् , सर्वकालव्याधिन्यपि न स्यात् , कालकमेण सङ्कोचाद्विच्छेदोपपत्तेः इति । यद्वा देशतः कालतश्चा-न्यूनत्वमेवाल अन्ययत्वं विवक्षितम् । भूतान्यपीति अपिशब्दान्वयः । चापीत्यनतिरिक्तार्थत्वे निष्पयो जनत्वम् । ततः भूतार्गन् इति सामान्यनिर्देशात् , अपिशब्दान्वयवलाचोक्तं समर्थान्यसमर्थान्यपीत्यादि । अर्की ेरिष्टत्वमाशृङ्कभोत्तरार्धमुच्यत इत्याह ततः किमिति । चः शङ्कानिराकरणार्थः । अर्जुनस्य संभावितत्वहेतूनाह शौर्येति । सर्व रंगावितस्येति । पूर्वनिर्दिष्टैसमर्थेश्य मुतैसंभावितस्येत्यर्थः । नन् मरणादितरेकः कि हेयतया, उपादेयतया वा १ न प्रथमः, ''जीवन् भद्राणि पश्यित'' (भा.वि.३८. ४४). ''आत्मार्थे प्रथिवीं त्यजेत '' (मा. उ. १२७, ४९) इत्यादिवचनात । न द्वितीयः, प्रकरण-विरोधादित्यताह एवंविधाया इति । 'जीवन् भद्राणि' इत्यादिकं त क्षतियापतस्य तेऽद्य नोपादेयम् । न चेयमकीर्तिर्रुघीयसी, येन मरणाच्छेयसी स्यात् । किरवेवंविधा सर्वदेशकाळव्यापिनी । इयं च नरकायापि स्वात् , तथैव स्मृत्यादिसिद्धत्वात् । तथाचोत्तरिसन् रामायणे रघनाथवावयम् , "अकीर्तिर्यस गीयेत होके भूतस्य कस्यचित्। पतत्येवाधमान् होकान् यावच्छव्दः स कीर्त्यते" (४५. ११. १२) इति । बुद्धे मरणं तु तत एव खर्गाय स्यादिति भावः ॥ ३४ ॥

इत्यादाविति । इति प्रथसवावधे इत्यथः । 2 यात्रदिति । धर्माकरणादि प्रयुक्तपाप-फछानुसवः क्रियर्ग काल्पिणकाविधनमर्पकिमिदं वाक्यस् ॥

बन्धुस्तेहात् कारुण्याच युद्धानिष्ठत्तस्य श्रूस्य ममाकीर्तिः कथमागिष्यतीत्यत्राह्— भयाद् रणादुउरतं मंस्य[मन्य]न्ते त्यां महारथाः। येणां च त्यं बहुमतो भृत्या यास्यत्ति ल व्यवस्।। येषां कणेदुयोधनादीनां महारथानामितः पूर्वं त्यं श्रूरो वैरीति बहुमतो भृत्या, इदानीं युद्धे सम्रुपस्थिते निष्टत्तव्यापारतया लाव्यं —सु[नि]प्रहतां यास्यति, ते महारथास्त्वां भयात् युद्धादुपरतं मंस्यत्ते । श्रूराणां हि वैरिणां श्रृत्वभयात् ऋते बन्धुस्त्रोहादिना युद्धादुपर-तिनोष्वयते ॥ ३५ ॥ किंच,

अवाच्यवातांश्च बहुन् विद्यान्ति तवाहिताः। निन्दातस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ग्रूराणामस्माकं सिन्नधी कथमयं पार्थः श्वणमिष स्थातं शक्तुयात् , अस्मत्सिन्नधाना दन्यत्र ह्यस्य सामर्थ्यमिति तव सामर्थ्यं निन्दन्तः ग्रूराणामवाच्यवादांश्च बहुन् विद्यप्ति तव क्लवो धार्वस्थाः ; ततोऽधिकतरं दुःखं कि तथ ? एवंविधाबाच्यश्चवणान्मरणमेव श्रेय

एवं धर्माधर्मभ्रमो निवारितः । अथास्थानस्नेहः क्षिप्यते स्यात् इत्यादिना ।

बन्धुस्तेहादित्यादि । श्रूर्स्य सतः स्नेहकारण्याभ्यां निष्टुतस्य से कीर्तिरेव स्यादिति भावः । येषामित्यतिप्रसिद्धपरामर्शात् कर्णदुर्योधनाद्दीनानित्युक्तम् । तेनापकार[रि]र्मं सारयति । यद्यपि भीष्मादयो याथार्थं जानीयुः, तथाऽपि कर्णादयो न तथिति भावः । युत्वेत्यस्य यास्यसीरयुत्तरित्रयेकरस्येन 'स्वात्वा होण्यामि' इत्यादिष्यिव क्रियापेक्षया पूर्वेणापि भविष्यता कालेन संबन्धश्रमरयुद्दासायोक्तम् इतः पूर्विमिति । बहुभिगुँणैहेद्वं मतो हि बहुमत इत्यमिप्रायेणाह श्रुरो वेरीति । यदि श्रूरस्त्वं प्रागिपि निवैरः, यदि च वैरी त्वं शौधरहितः, तदा हि महास्था न त्वां गणयेयुरिति भावः । तत्वणाविष्वेरानुद्वतिस्वनायोक्तम् इदानीमिति । लाधवक्तलं सुह्वित्याचुक्तां लक्ष्यव्यव्देनोपचरिता । सु[नि]ग्रहत्वं चाल सु[नि]ग्रहत्वाभिमानविष्यत्वम् । वन्युरनेहादित्याचुक्तां शक्कां निराकरोति श्रूराणां हीति । यदि श्रूरस्ववैरित्वयोरन्यतर्वस्य स्यात् , तथा युज्येताप्यन्यथासिद्धिरिति भावः ॥

एवं प्राचीनमपकारं भविष्यक्षाववारोपं चाभिषाय पुनरागामिनाऽप्यपकारेणास्थानस्नेहत्वं द्रद्धतीत्वभिषायेणाह किचेति । प्रस्तुतोदस्तकलिकं सामर्थ्यनिन्दापकारमाह श्रुराणामसाकमित्यादिना ।
श्रूराणामवाष्ययादांश्च बहूर्गेनिति । श्रूरान् प्रति ये न वाष्याः, किंतु कान्दिशीकान् प्रति, तान्
पारुष्याश्कीलपरिहासादिवादानित्यर्थः । अहितशब्दोऽञ्ज अवाष्ययाददेतुपर इत्यमिप्रायेणाह श्ववचो
धातेराष्ट्रा इति । यदि च भीष्मद्रोणक्वपश्चर्यादयः किश्चिद्वदेशुः, तदा शौर्यगौरवादिना सखेतापि ।
कथं पुनरश्रुरेशश्रामिमानिभिमेहापकारिभिः कृतान् बहुन् अवाष्ययादान् सहैया इति भावः । ननु
गुणविशिष्टवाचिश्चव्येषु हि तरवायौचित्यम् , न जात्यादिश्चवरेषु ; न हि घटतर इत्यादिकं प्रयुज्यत
इत्यताह तत इति । ततः अवाष्ययादात् । तच्छूत्रणादिति फल्टितम् । दुःखशब्दः प्रातिश्रूल्यविशिष्टवाची । प्रतिकूळतर्मितवद्दुःखतरभित्यक्तिमित्यश्चिक्तरशब्देन प्रत्ययार्थं निष्कृत्य वदतो

<sup>1</sup> बहुत्वेन-अहत्वेन ।

इति त्वमेव मंखसे ॥ ३६ ॥

अतः ग्रुरस्य आत्मना परेषां हननम् , आत्मनी वा परेहननम् भयमपि श्रेयसे भवतीत्याह— हनो वा प्राप्यस्ये(सि) स्वर्ग जिल्हा वा मोश्यसं महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

शृङ्

धर्मयुद्धे परैईतश्रेत्, तत एव परमिनःश्रेयसं प्राप्सि ; परान् वा हत्वा अकण्टकं गाज्यं भोक्ष्यसे ; अनिमसंहितफलस्य युद्गारूयस्य धर्मस्य परमिनःश्रेयसोपायत्वात् तच परमिनःश्रेयसं प्राप्सि ; तस्मात् युद्धायोद्योगः परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनिमिति निश्चित्व तर्थमुं चष्ठ । कुन्तीपूत्रस्य तवैतदेव युक्तिमत्यभिप्रायः ॥ ३७ ॥

भावः । तवेति । न हि त्वं रथ्यापुरुषः, न च समाध्यादिनिष्ठः, येनाल दुःखिता न स्यादिति भावः । किंशन्दः पूर्वश्लोकोक्तदुःखतरमरणतत्पर इत्याह एविमिति । त्वयेव मंखसे इति । गाण्डीनसामथ्योदि-निन्दापसक्ते धर्मपुलमपि हि भवात् <sup>2</sup>हन्तुमुद्योक्ष्यते, किं पुनः कर्णादीन् । अत इदानीं निवृत्तोऽपि तदा दुःसहतरदुःखप्रेरितो युद्धं करिप्यसीति हृदयम् ॥ ३६ ॥

हती वा इति स्टोकं प्रैक्टोकवावयशेषतयाऽवतारयित अत इति । उमयथाऽपि तव लाम इति मावः । प्राप्यसे, भोक्ष्यसे इत्यर्जुनं प्रत्यमिधानेऽपि-सूरस्येत्यादिसाधारणाभिधानं भीष्मादिहन- नस्य तच्ल्रेयोहेत्ततया शोकहेतुत्वं नास्तिति ज्ञापनार्थम् । अयस इत्यनेन यथेच्छं स्वर्गराज्यादिस्यापवर्गान् संगृह्णाति । न हि इतत्वमातारपुरुषार्थं इत्यत उक्तं धर्मगुद्धं इति । तत एवेति । श्रेयस्साधनतया शास्त्रसिद्धः । परमिनश्रेयसिमिति । स्वर्गशब्दोऽलामृतत्वयकरणात् परमनिःश्रेयसपरः, तत्स्थानपरो वा । यथा, "स एतेन प्राज्ञेनास्तारनाऽस्मालोकादुत्कम्यामुन्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वा अमृतस्त्यमभवत्" (ऐ. ३. ४.), "अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति", (के. ४. ९) "स्वर्गलोका अमृतस्त्यमभवत्" (ऐ. ३. ४.), "अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति", (के. ४. ९) "स्वर्गलोका अमृतस्त्य मजन्ते" (क. १. १. १३) इति । 'राज्यं सुराणामिति चाधिपत्यम्' (गी. २. ८) इति क्षुद्रस्वर्गोपक्षकार्जुनोहेशेन वचनाच्ययमेवार्थं इति मावः । परान् वा इत्वेति । महारथानां भीष्मद्रोणकर्णादीनां जयो हि इननमन्तरेण न युज्यत इति मावः । जित्वा, मोक्ष्यसे इत्युमाभ्यां फल्तिसुक्तम् अकण्टकमिति । प्रतिकूलेषु जामरसु राज्यं सिद्धमि हि न भोगाय स्यादिति मावः । अर्जुनानाहतराज्यभोगमालप्रेवसानन्युदासायाह अनिमाहितेति । मुसुक्षोहिं राज्यमोगगदिरानुषङ्गिकः । संबुद्धितात्पर्यमा हुन्तिति । " विष्टुमितं स्ते क्षतिया राजपुत्री"

में अकीर्यपेक्षया मरणमेव रोजयमानस्य गुद्धे मरणभेव श्रेयसे । अन्यथा दोष इति झाप-थितुम् अं प्रधमशदः। 2 गुद्धमध्ये समये स्व शहाय्यार्थं नाऽऽगत इति अर्जुनं गाण्डीवञ्च निन्दति घमेषुत्रं, गाण्डीविनन्दकं हन्याभिते खप्रतिकानुरोषेन इन्तुयुगुक्तोऽर्जुनः भगवता रुण्णेन गुरोः तुक्कारहक्कारकरणमेव पर्यातं हननिमस्युपिदृष्टः यथाशक्ति आक्रोशत् । इदं भारते ।

<sup>3 &</sup>quot;शूरं खुते त्बद्धिघा राजपुत्री" इति भारते पाठः ।

# स्रम्थोर्यद्वानुष्ठानप्रकारमाह---

सुखदुःखे समे रुःवा लाभालामी जवाजयो। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाष्ट्याला॥
एवं देहातिरिक्तमस्पृष्टसमस्तदेहस्वभावं नित्यमात्मानं ज्ञात्वा युद्धे चावर्जनीयश्रह्म-पातादिनिमित्तसुखदुःख-अर्थलाभालाम-जयपराजयेष्विकृतवुद्धिः स्वर्गादिक्लाभिसन्धिरः हितः केवलकार्यवुद्धा युद्धमारभस्व । एवं कुर्वाणो न पापमवाष्ट्यसि—पापं-दुःखरूपं संसारं नावाष्ट्यसि ; संसारवन्धान्मोक्ष्यसे इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

एवमारमयाथारम्यज्ञानसुपदिश्य तरपूर्वकं मोक्षताधनभूतं कर्मयोगं वक्तुमारभते— पवा ते 5िमिद्दिता साङ्घ्यं बुद्धियोंने त्विमां श्रुणु । बुद्ध्या युक्तो यया पार्थे कर्मबन्धं प्रद्वास्यस्ति ॥ (मा. द्रो. ७७. १८) इति हि प्रसिद्धम । न हि सिहीस्रतेन हरिणीक्रमारचरितमनसरणीयम् । न

च ग्रद्धक्षेत्र(क्षत्र ?)जन्मना त्वया महीयसो धर्मस्य विच्छेदः कार्य इति भावः ॥ ३७ ॥

एवमस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुल्ल्यमुप्रामितम् । अथ धर्मत्वेन स्थापितस्य मुमक्ष-विषयानुष्ठानप्रकारं वदतीत्याह समुक्षोरिति । न हि राज्यादिकामि(मा)नामीहशी बुद्धिरपेक्षिता । अजोऽल्पास्थिरदःखिमश्रयद्धसाध्यफलेन किं ममेति नाशङ्कनीयनिति भावः । पूर्वोक्तमारमतत्त्वज्ञा-नमन्द्रानुद्रशायामनवर्तनीयत्या द्रशयति एवमिति । देहातिरिक्तमिति । सति धर्मिणि हेयविरहादि-धर्मचिन्तेति भावः । पौनरुक्तभ्रमपरिहाराय सामासामयोधनादिविषयत्वमुक्तम् । विषमयोस्य-स्वद:खप्रवाहयोस्समीकरणं कथमित्यत्रोक्तम् अविकृतवुद्धिरिति । विकारो हर्षशोकादिरूपः ; तद-भावकथनेन विवेकादि<sup>1</sup>सप्तकान्तर्गतानवसादानुद्धर्षयोग्रहणम् । युद्धायेति ताद्ध्यविभक्तिस्चिता अन्यार्थात्वनित्रतिरुच्यते स्वर्गादीति । 'मा फलेषु कदाचन' (२.४७), 'एतान्यपि तु' (१८.६) इत्यादिवक्ष्यमाणमलानुसंहितम् । तत् इत्यस्योपयुक्तहेतुविशेषपरत्वमेवोचितम् . आनन्तर्यादिपरत्वं त अनुपयक्तमित्यभिषायेणाह केवलकार्यचुद्धचेति । पापशब्दोऽल न गुरुवधादिशङ्कितपापपरः, युद्धस्य स्वधर्मतामात्रेण तन्निवृत्तौ सखदःखसाम्यादिबुद्धिविशेषस्य एविमित्यनूदितस्य नैर्थवयपसङ्गात् । न च क्रतपापपरः, नावाप्स्यसीत्यनन्वयात् । करिप्यमाणे च न प्रायश्चित्तम् । न च विद्याव्यतिरिक्तेषूत्तरा-घाक्षेषः । अतोऽलामृतस्वपकरणात् मुमुक्वपेक्षयाऽनिष्टफलस्वाविशेषेण पृण्यपापरूपसक्रसांसारिक-कर्मपरः । ततश्च तत्फलभूतः संसारोऽत लक्ष्यत इत्यभिषायेणाह दःखरूपं संसारमिति । नैवं पापम-बारस्यसि इत्युक्ते पापहेतुत्वाभावमातं शतिभातीत्यताह संसारबन्धादिति । परम्परयेति शेषः । 'सोऽमृतत्वाय कल्पते' (२. १५) इति पूर्वोक्तमिह स्मारितम् ॥ ३८ ॥

अथ पूर्वप्रकरणोक्तशोकापनोदनहेतुषु प्रधानार्थेनोचरप्रकरणारम्भं संगमयति एविमिति । तरपूर्वकशब्देन आत्मज्ञानकर्मयोगयोः क्रमाभिधानौचित्यमुक्तम् ; आत्मयाथात्म्यज्ञानोपदेशानन्तरं तिबन्तनरूपज्ञानयो-गाभिधानस्यौचित्येऽपि तस्य कर्मयोगसाध्यत्वात् प्रथमं कर्मयोग उच्यते । पश्चातु तत्फरूतया 'प्रजहाति यदा कामान्' (२. ५५) इत्यादिना ज्ञानयोगो वस्थते । वक्तुमिति । प्रसक्तं प्राधान्येन प्रपश्चियतुमित्यर्थः।

l विवेकविमोकाभ्यास क्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्याः सप्त श्रीभाष्ये लेकुसिद्धान्ते वकाः।

सङ्ख्या बुद्धिः ; बुद्ध्याऽवधारणीयमात्मतत्त्वं साङ्क्यम् । ज्ञातव्ये आत्मतत्त्वे तज्ज्ञानाय या बुद्धिरिभधेया-'न त्वेवाहम्' इत्यारम्य 'तसात्सर्वाणि भृतानि न त्वं शोचितुईसि' इत्यन्तेन सेषा तेऽभिहिता । आत्मज्ञानपूर्वकमोक्षसाधनभृतकर्मानुष्ठाने यो बुद्धियोगो वक्तव्यः, स इह योगग्रव्हेनोच्यते । 'दृरेण खवरं कर्म बुद्धियोगात्' (२.४९) इति हि नक्ष्यते । तत्व योगे या बुद्धिवंक्तव्या, तामिमामिभधीयमानां मृणु, यया बुद्ध्या युक्तः कर्मवन्धं प्रहास्यसि । कर्मणा बन्धः कर्मवन्धः ; संसारवन्ध इत्यथः ॥ ३९ ॥

सांख्ययोगाख्यवेदविरोधितन्त्राभिधानश्रमम् . सांख्यशब्दस्यात्र 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम' (३. ३) इति वक्ष्यमाणज्ञानयोगविषयत्वश्रमं च व्यवस्यन् आह संख्येति । 'बुद्धिर्मतिश्च मेघा संख्या संविधिरुपरुव्धिः' इति नैचण्द्रकाः । ''पुरुषं निर्मुणं सांख्यम् '' (म. उ) इत्याचौपनिषद्यसिद्धचा परमात्मवत् आत्मन्यपि <sup>1</sup>सांख्यशब्द उपपन्न: । न च 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम ' इत्यादिष्वर्थवैद्यप्य-प्रसङ्गः. तदबुद्धियोगेन सर्वेल तच्छव्दप्रयोगात् । सद्पि च दैरूप्यं प्रकरणाद्यानुगुण्येन सर्वेल सबते । एकवचनस्य जात्यभित्रायत्वज्ञापनाय आत्मतत्त्वभित्यक्तम् । तज्ज्ञानायेत्यनेन तन्निर्णयमान्नमव्यवहित-फलमिति दर्शितम् । बृद्धिरिति । निर्णयफलवानययुक्तिपरामर्शगर्भा वुद्धिर्विवक्षितेति न साध्यसाधन-भाविनरोधः । अथवा द्वाद्विरिह शास्त्रनिष्पाद्यो निर्णयः । तज्ज्ञानायेति साक्षात्कारादिपरः । आस्मतत्त्वाभिधानपदेशमवच्छिद्याह न त्वेवेति । ततः परस्तात् स्वर्धमीमत्यादिना धर्माधर्मभ्रम-अस्थानस्रेहयोराक्षेपो हि कियत इति भावः । योगशब्दस्यात प्रकरणादिविशेषितमर्थमाह आरमज्ञाने-त्यादिना । इहेत्यभिषेत विष्टणोति दरेणेनि । इमामिति निर्देशसूचितमविक्रम्बिताभिधानमाह अभिधीयमानामिति । एतेनानुष्ठानानुप्रविष्ट्युद्धेस्तद्विषयाभिधीयमान्युद्धेश्च भेदोऽपि दर्शितः । यद्वा. अनुष्ठानप्रकारविषयवुद्धिजनकमिमानं शृण्यित्यर्थः । <sup>८</sup>एतेन कर्मयोगशब्दोऽप्यत बुद्धिविशेष-योगमूल इति दर्शितम् । बुद्धचा ययेत्यनशेर्वैयधिकरण्येन क्रियाद्वयाग्वयसमं निरस्यति यया बुद्धचा <sup>3</sup>यक्त इति । कर्मवन्धशब्दस्यानितशयितार्थसमासान्तरमपाकरोति कर्मणा बन्ध इति । "तृतीया तत्कतार्थेनं गुणवचनेन" (अष्टा. २. १. ३०) इति तत्पुरुष: । वन्धशब्दस्यात सुरुवार्थासंभवात् अभिषेतमाह संसारेति । एतेनानुष्टीयमानकर्मसंबन्धहानभ्रमोऽपि निरस्तः ॥ ३९ ॥

<sup>1</sup> सांख्यमतेऽपि सांख्यत्रद्यगोग प्यभेव । संख्या एकत्यादिसंख्या, तया गण्यमान-वादिति तु तः प्रसत्तपोडशेलादिगणनायाः शास्त्रत्तरेऽपि सस्वात् । सांख्यम्—संख्यामात्र-विषयः, तस्वम् । संख्या झानम् । कपं तु झानाजुष्टानोभयविषयः । कर्मणोऽपुष्टेयावात् अप्राप्तमाति-स्वयोगसस्यात् योगशब्देन कर्मोच्यते । सांख्यैरुपायतया कर्मास्वीकारात् सांख्यमित्येव तन्नाम ।

<sup>2</sup> निन्नु कर्मयोगशब्दस्य कर्मास्य उवाय इस्यर्थः। तत् काम्य कर्मापे कर्मयोग प्रदेत्यत्राह प्रतेनित । कर्पसंबन्धी बुद्धियोग प्य कर्मयोगः। तिहिशिष्टकर्मापि स्ववदेन विवक्ष्यते । तती झान-योगनुक्ये कर्मयोगे कर्मयोगशब्दो भूरिप्रयोगादकृष्ट्या ।

<sup>3</sup> यया बुद्धयेति । यया धोगविषयिण्या बुद्धवा युक्तः—स्विद्धतः ।

## वक्ष्यमाणबुद्धियुक्तस्य कर्मणो माहात्म्यमाह--

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विश्वते। स्ववतायस्य धर्मस्य वायते मदातो भयात्॥ इह कर्मयोगे नाभिक्रमनाशोऽस्ति । अभिक्रमः — आरम्भः । नाशः फलसाधनभावनाशः । आरब्धस्यासमाप्तस्य विच्छिनसापि न निष्पालन्वम् । अः व्यवत्यायोऽपि न विद्यते । अस्य कर्मयोगाष्ट्यस्य धर्मस्य स्वत्यांशोऽपि महतो भयात् —सं प्रारभ्यात् तायते । अस्य कर्मयोगाष्ट्यस्य धर्मस्य स्वत्यांशोऽपि महतो भयात् —सं प्रारभयात् तायते । अस्यमर्थः, 'पार्थ नैवेह नाम्रुत्र विनाशस्तस्य विद्यते' (६. ४०) इति उत्तरत्न प्रपञ्चयिष्यते । अन्यानि हि लौकिकानि वेदिकानि च साधनानि विच्छिन्नानि न फलाय भवन्ति ; प्रत्यवायाय च भवन्ति । ४०॥

काम्यकर्मविषयाया बुढेमीक्षवाधनभूतकर्मविषयां बुद्धि विज्ञिनष्टि-

 व्यवसायात्विका वुद्धिरेकेट क्रवनन्द्रन । वहुग्राखा खनन्ताश्च वृद्धयोऽव्यवसाविनाम् ॥ ४२ रह—शास्त्रीये सर्वीसन् कर्मणि व्यवसायात्मिका वुद्धिरेका । मुमुञ्जणाऽनुष्ट्रये कर्मणि

नतु, इमां शृण्विरयुक्तेऽनन्तरं व्यवसायेत्यादि वक्तव्यम्, मध्ये नेहाभिक्रम इत्येतन संगच्छत इत्यताह वक्ष्यमाणेति । उपक्रमे माहास्यकथनेन वुभुत्सातिश्यजननाय प्ररोचना क्रियत इति भावः । इहित्यनेन सूचितं कर्मान्तरेभ्यो बैळक्षण्यमाह क्रमयोग इति । अभिम्रुस्क्रमणशक्कां व्युद्धस्रति अभिक्रम आरम्भ इति । उपक्रमशब्दवदयमिति भावः । क्रियारूपस्याभिक्रमस्य कथमविनाशित्व-मित्यलाह नाशः फलसाधनमावनाञ्च इति । तात्यर्थमाह आग्र्यथस्येति । प्रत्यवायशक्काहेतुं दश्येन् द्वितीयं पादं व्याकरोति आग्र्यथस्य विच्छेद इति । उक्तविश्रणरूपमुत्रार्थे व्याख्याति अग्र्यवि । संमारमयादिति । महत्त्वविशेषितं भयं संस रमयमेव हीति भावः । स्वर्याशस्यापि संसारमञ्जति हेतुत्यं देशकालादिवैगुण्यात् प्रामादिकाक्षत्यकरणादिना च विच्छित्यस्यप्यवस्यं पुनस्यन्यानादिति दश्यम् अस्य छोकस्योक्तियेकपर्यः संग्रहवितरुष्ट्रस्य व्यवच्छेषं दश्यमित अन्यानि हीति । क्रीकिकानीत्यति-शक्काहेतुद्धान्त उक्तः । वैश्वेकानीति सामान्यनिर्देशस्यायं भावः — नित्यनैमित्तिकान्यपि विच्छेदे सति न फलाय स्यः ; प्रत्यवायाय च भवेयुः । अश्वत्यादान्तस्यिवक्रकर्यमातं हि तत्न सख्य । कान्येषु त् अक्षरक्षस्वप्राप्तयायिति विशेष इति प्रस्थायाय च भवन्तीति । न केवळं स्यादिरुष्टाभमातम्, अक्षरक्षस्वप्राप्तयादिति सावः ॥ १० ॥

एवं माहात्म्याभिधानव्याजेनास्य कर्मणः सर्वेक्संभ्यो वैषम्यकुक्तम् । अथोपदेष्टव्यतया प्रतिज्ञातां सिद्धपयनुद्धि काम्यक्संविषयनुद्धिभयो हेतुफ्लवैषम्येण चिशिषग्नुपदिशतीत्याह **काम्ये**ति । इह इति सङ्फ्टीतमाहै आक्षीये स**र्वेश्मन् कर्मणी**ति । अविहिताप्रतिषिद्धरुष्टीकेकक्मणां भिन्नफल्रत्वात् तद्धि-पये(यत्वे)ऽप्येवयं मा मृदित्यत उक्तं शास्त्रीय इति । संप्राहकोपाधिकथनमिदम् । प्रस्तुतयुद्धाभि-

बुद्धिवर्षवतायात्मिका बुद्धिः । व्यवसायः निश्चयः । सा हि बुद्धिरात्मयायारम्पनिश्चयपूर्विका । काम्यकंपविषया तु बुद्धिरव्यवतायात्मिका । तत्र हि कामाधिकारे देहातिरिक्तासा-स्तित्वज्ञानमात्मपेक्षितम् , नात्मस्वरूपयाथात्म्यनिश्चयः । स्वरूपयाथात्म्यानिश्चयेऽपि स्वर्गादिक्लार्थित्व-तत्त्वाधनातुष्ठान-तत्कलातुमवानां संभवात् , अविरोधास् ।

मात्रन्युदासाय सर्वेरिमिन्निति। नित्यनैमित्तिककाम्य ।दयान्नरिथाभेदसंग्रहः । नानाकमैविषयनानाबुद्धेः कथमेकत्विमिति शङ्कायां विशेषणप्रकरणसाम्ध्येकल्पितेन विषयेण वृद्धि विशिनष्टि सृष्ठशुणेति । हयवसायशब्देन कृत्यध्यवसायश्रमं निरम्यति निश्चय इति । पौनरुषन्यःयुदासाय (ब्यवसाय) विषयं समासांशोत्तरपदलक्ष्यं च दशयन् सृष्ठसुण्रोत्युकसुष्पादयति मा द्वीति ।

व्यवसायात्मिकेत्येतद्यवच्छेद्यमाह काम्येति । ननु देहानिरिक्तपारलाकिकान्मज्ञानसन्तरेण कथं देहान्तरानुमाव्यस्तर्गादिसाधनयागादिमहापय सानुष्ठानिम यनाह तत्र हीनि । कामनयाऽधिकियत इति वा. कामेनाधिकारो यत्नेति वा कामाधिकारः काम्यकर्भः तद्धिकारित्वे वाः यद्वा तच्छास्रम्। अधिकारश्च मद्मिल्वितसाधनत्वान्मदर्थमिदं कमेंत्यभिमानः । देडानिरिक्तात्मराब्देन देहान्तरपरि महाहिस्थिरत्वमभिषेतम् ; अन्यथाऽतिरेकमात्रनिर्णयेऽपि देहममकालनाशित्यभ्रमे सति पारहौिकिक काम्यकर्माननुष्ठानप्रसङ्गात् । मात्रशब्दाभिषेतं विद्युणोति नारमेनि । त्रारमस्यरूपयात्रारम्यं चात्र नित्यत्वस्वयंप्रकाशत्वानन्द्रवमगवत्प्रकार्त्वस्वाभाविकापहत् अप्मत्वादिकः प्रमाभिषेतम् । नन् देहोत्तरकारू-मनभाव्ययोः खर्मापवर्गयोः कचिद्रात्मास्तित्वज्ञानमात्रमपेक्षितमः , कचित् नद्याथान्यतिश्चय इति कुतोऽयं विवेक इत्यताह स्वरूपेति । अयमभिषायः — कामाधिकारे याथान्यनिश्चयः अनुपपत्त्या वा शास-बलादाऽपेक्ष्यते १ पूर्वतापि याथात्म्यनिश्चयाभावे कि स्वर्गाद्यक्षेत्रेव न स्थान , उन नन्साधनानुष्ठानम् , उत तत्फलानुभवः १ न प्रथमः, सुखुरूपतया प्रमाणिसद्धेषु खुरुष्यत इच्छासिद्धेः । न द्वितीयः, तदर्शिनः स्तदनकळकरणकळेवरादिमतः, सन्य तत्फळकाळेऽप्यवस्थानं निध्यन्यनः पामरहृत्यादिन्यायेनानुहानोपपतेः। न तृतीयः, अविकलान्ष्रितोषायस्य फलोत्पत्तेरन्यनिरपेक्षत्यात् । अनुभवार्थमेवोत्पन्नतयाः च तदनुभवसिद्धौ सार्वभौमादिभोगेष्विव स्वर्गादिभोगेष्व[प्य]नुभववेस्य यामात्मयाथात्म्यानुभवनैरपेक्ष्यात् । तदेतदिस्त्रसुक्तं संभवादित्यन्तेन । अनुपपत्त्यभावोऽत संभवः । नापि शास्त्रवलादिति वक्तं युक्तम् ; शास्त्रमपि दंष्टार्थे वा विद्धीत, अदृष्टार्थं वा ? तल(अल) केवलदृष्टार्थत्वं दत्तोत्तरम् । अन्यकार्वि न तावत् यागदिकरणशरीर-निर्वर्तकत्वमः ; तदनालोचनात् । नापि कर्तुरात्मनस्संस्कारतयाऽनुप्रवेशः ; कामाधिकारप्रकरणेषु प्रीक्षणादि-विधिवत् आत्मानं तत्त्वतो जानीयात् इति विध्यभावात् : वेदान्तविहितज्ञानस्यातिश्चयितफ्छान्तरार्थत्वादिना कर्मशेषत्वाभावस्य शारीरके समर्थितत्वात् । आत्मतत्त्वामभिज्ञानामपि च स्वर्गादिफले प्रतिपादयाः है, "प्लवा होते अहडा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छेयो येऽभिनन्दन्ति मुद्धाः (मु.१.२.७) इत्याद्याः श्रुतयः । ''यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यन्तिपश्चितः'' इत्यादि चानन्तरमेबोच्यते । अविदुषां सेयं व्यवसायात्मिका बुद्धिः एकफलसाधनिष्वयतयेकाः एकस्मै मोक्षाच्यफलाय हि सिक्षोः सर्वाणि कर्माणि विधीयन्ते । अतः शाखार्थस्यैकत्वात् सर्वकर्मविषया बुद्धिरेकैव ः यथेकफलसाधनतया आग्नेयादीनां पण्णां सेतिकर्तव्यताकानामेकशाखार्थतया तद्विषया बुद्धिरेकेतः, तद्वादिखर्थः । अध्यवसायिनां तुः स्वर्गपुत्रवश्वन्नादिफलसाधनकर्माधिकतानां बुद्धयः फलाननत्यादनन्ताः । तत्नापि बहुशाखाः । एकस्मै फलाय चोदितेऽपि दर्शपूर्णमासादौ धूमादिमार्गेण स्वर्गारोहणादिकं चोपनिषत्य जोष्डण्यत्ये अतो विध्यमाबादेवाऽऽरादुपकारकत्वमपि निरस्तम् । तदेतदाखिलसक्तम् अविरोधाच्चिति । शास्त्रादिक्षिणामावादित्यश्चः । पक्षान्तरे च शास्त्र[क्रियाधः स्वादिति मावः । मोक्षाधिकारे तु निख्लिस्तम्भ्यया । तथा हि—यथावस्तितसक्त्यपासिरेव हि मोक्ष्पुरुषार्थः । स कथमनिश्चीयमान इच्येत । इत्यं च तज्ज्ञानं तदिच्छामप्यन्तरेण तत्साधनमनुष्ठीयेत । सक्ष्पयाथात्यव्यानं च विहिततया साधनानुष्यवेशीति कथं तद्यतिरेके[ण] साधनं पुष्कलमनुष्टितं स्यात् । कथं च सक्ष्पाविभीवल्क्षणफलानुभवः स्वनिश्वयश्चर्यस्य स्वात् इति युक्तिविरोधः । चोदयन्ति च शास्त्राणि मोक्षस्य सर्वविधोपकारकतया अस्मतत्त्वज्ञानम् । अतस्तद्वसावे शास्त्रविरोधः। चोदयन्ति च शास्त्राणि मोक्षस्य सर्वविधोपकारकतया अस्मतत्त्वज्ञानम् । अतस्तद्वसावे शास्त्रविरोधः। चोदयन्ति च शास्त्राणि मोक्षस्य सर्वविधोपकारकतया अस्मतत्त्वज्ञानम् । अतस्तद्वसावे शास्त्रविरोधः। चोदयन्ति च शास्त्राणि मोक्षस्य सर्वविधोपकारकतया अस्मतत्त्वज्ञानम् । अतस्तद्वसावे शास्त्रविरोधः।

ननु व्यवसायात्मिकाया बुद्धेः िक्तिमद्देमकत्वम् १ न तावत् व्यक्तयैक्यम् , तथाविधबुद्धिसन्तान-संभवात् । नापि विषयेवयादेकरूपस्वम् , अङ्गप्रधानाद्यवान्तरविषयभेदेन तदयोगात् । नापि समुदाय-गोचरत्वात् तद्योगः, काम्यकर्मसम् तित्ताम्यात् इत्यतं उक्तम् एकफलसाधनविषयतयेति । तदेवोप-पादयति एकसा इति । सर्वाणाति । नित्यनै मितिककाम्यानां सर्वेषां कर्मणां सुसुक्षुणाऽनुष्टितानां साक्षात् परम्परया वा मोक्षसाघनोपक्रारित्वेन मोक्ष एक एव प्रधानफळम्। 'सर्वमायुरेति' (छा. ४. ११. २) इत्याद्यवान्तरफळाभिधानमपि तर्पयोगित्वमातादिति भावः । अस्तु सर्वेषामेकफळसाधनत्वम् ; तथापि क्रमभाविकर्भस्ररूपनानात्वे कथं तद्वुद्धेरैवयमित्यताह अतः इति । एकफलसाधनतया सर्वेषां कर्मणामेक-विधि<sup>1</sup>गृहीतत्वेनैकशास्त्रार्थत्वात् ेत्रोचरवुद्धिरवान्तरकर्मभेदसङ्कावेऽप्येकशास्त्रार्थगोचरत्वा**देके**त्युच्यत इत्यर्थः । प्रथिविधिसिद्धानां/ प्रथम्बावयसिद्धेतिकर्तन्यताकानां कथमेकशास्त्रार्थस्विमत्यत् उक्तप्रकारेणैकत्वे दृष्टान्तमाह यथेति । अभियादयो हि सेतिकर्तन्यताकाः बङ्यागाः उत्पत्तिवाक्यैः <sup>2</sup>पृथगुरपन्नाः समु-दायानुवादिवावयद्वयेन सुमुदायद्वयत्वमापन्नाः कामाधिकारे पुनरेकफलसाधन[त्व]वेषेणैकतया विधीयन्ते । ्तथा चैकशास्त्रार्थगोचरत्र्या तदबुद्धिरप्येकैव । तद्रदित्यर्थः। अव्यवसायिनाम् इति हेतुपरमित्याह स्वर्ग-पुत्रेत्यादिना । फरु।न्/न्त्यादनन्ता इति । फरुबाहुल्यात् बहुरुाः ; स्वर्गाद्यनन्तफरुभेदेन तत्साधनानामपि कर्मणां भिन्नशास्त्रभेत्वात् तद्विषया बुद्धयोऽपि यावत्फलभेदं भेदिन्य इत्यर्थः। अनन्त-बहुशाखशब्दयोः प्रधानाप्रधानस्वरूपभेदप्रकारभेदविषयत्या पौनरुवर्य परिहरन् कर्मभेदापादकत्वाभावेऽपि वैषम्यान्तरपरं वहुशास्त्रशब्दं व्याचिष्टे तत्रापीति । एकैकस्वैव बहुशाखत्वमुपपादयति एकस्मा इति । एकैकमपि हि

विष्णुयन इति । 'अविद्यास मृत्युं तीन्वां', चिविदिषन्ति यक्षेत्रत्येवं विधिभिरिति देशः।
 उत्पत्तिष'
 —यवाभ्रेयोऽष्टाकपाळ इत्यादिकमस्वक्ष विधायकवाक्येः। समुदायानुवादीति।
 यपंत्र विद्याः
 चूमासी जाते, य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते इति त्रिकतिकानुवादीन्यर्थः।

#### श्रीभगवद्गीता- अ. 2. 41, व्यवसायात्मकता

कर्मणि, 'आयुराशास्ते' इत्याद्यवगतावान्तरफलमेदेन बहुग्राखत्वं च विद्यते । अतः वसायिनां बुद्धयोऽनन्ता बहुग्राखाश्च ।

एतदुक्तं भवति — निरवेषु नैमित्तिकेषु कमेषु प्रधानफळानि अवान्तरफळानि च यानि श्रूयमाणानि, तानि सर्वाणि परित्यज्य मोश्लेकफळतया सर्वाणि कर्माण्येकशास्त्रार्थतयाऽनुष्ठे-यानि ; काम्यानि च स्ववर्णाश्रमोचितानि, तत्तरफळानि परित्यज्य मोश्लसाधनतया निरुप्तनैमित्तिकैरेकीकृत्य यथावळमनुष्ठेयानि —दित् ॥ ४१ ॥

काम्यकमे प्रधानफळाविच्छित्रवेषेण एकपादपस्थानीयम् अविरोधिगुणफळाद्यविच्छित्रनतदंशमेदेन बहुग्रःसं भवेति । मोक्षशास्त्रे तु सर्वायुःपात्तवादिकमपि साधनानुष्ठानाद्यर्थत्वेन मोक्षोपयोगितया तदेकफळान्तर्भत्न मिरयुक्तम् । वैषम्यद्वयोपपतिस्थैर्याभिपायेण निगमयति अत् इति । प्रधानावान्तरफळमेदादित्यर्थः । आकाङ्काक्रमेणान्वयप्रदर्शनायानन्ताः बहुग्रास्यः इति व्युक्त्रपेण व्याख्यातम् ।

नत् कथं भिन्नप्रधानावान्तरफलसाधनत्रैव विहितानां नित्यैनैमित्तिककाम्यकर्मणामेकमेव फरूं स्यात् ; कथंतरामेकशास्त्रार्थत्वम १ काम्यानां च कर्मणां निष्कामेन कथमनवानम १ यदि च तत्तत्काम्यफला-भावेऽि तत्तत्कर्मा(त्काम्यकर्मा)नुष्ठानम् , तर्हि तत्तद्धिकाराभावैऽि ब्राह्मणादेः क्षत्रियादिधमानुष्ठान-पसङ्गः ; सर्वकाम्योपसंहारः फुळादिविरोधात् व्याहतः, दुष्करश्च । कृतिपयोपसंहारे तु किं कियदनुष्ठेय-/ मित्यत कि नियामकमित्योदिशङ्कापरिहाराय बुद्धचेकत्वबहत्वोक्तेः फुँठ (प्रयोजन)माह एउटक्कमिति । नित्यनैमित्तिकयोः प्रधानफरानि अवान्तरफरानि च प्राजापत्यरोकादिपाप्ति-उपात्तद्रितक्षय-अकरण-निमित्तवत्यवायपरिहारादिकपाणि । संबन्धितनित्यनैमित्तिकयोरप्यतः नित्यतैभित्तिकशब्देन संप्रहः । काम्यशब्दः केवलकाम्यपरः । नतु, तानि सर्वाणि परित्यज्येत्ययुक्तमे , मुमुक्षोरप्युपात्तदुरितक्षया-देरवस्त्रापेक्षिक्षत्वादित्यन उक्तम् मोक्षेक्षफलत्येति । दरितक्षयादेरप्यन्तः करणश्चिद्धारेणोपकारकत्वान पृथवफलत्वमिति भावः। एकस्मस्रार्थतयाऽतृष्ट्रेपानीति। विनियोगभेदादन्येते भिन्नफलत्वं भिन्नशास्त्रार्थत्वं च । अत तु सर्वेषामप्येकत विनियुक्तानां फुळैक्यं शास्त्रार्थेक्यं च युज्यते, 🥻 सिद्धं च नित्यकाम्यज्यो-तिष्टोमादाविप विनियोगपृथवस्विमिति भावः । स्ववणिश्रमोचितानीति । कर्येचिद्धः किश्वित्फलमुद्दिस्य कानिचिव कर्माण विधीयन्ते । तेषामेव कर्मणां फलान्तरार्थतया विनियौरीऽपि स एवाधिकारी भवितुमहितः, वलस्कृत्यविरोधे तु युक्तः वलसपरिग्रहः' इति न्यायात् । अधिकौर्धन्तरकरपने प्रमाणा-भावात् । यथा नित्यकाम्यज्योतिष्ठोमादौ, यथा चाध्ययनस्य जपादाविति भावः किनिष्कामस्य काम्य-कर्मान्छानोपपादनायोक्तमः वत्तरफरमनि परित्याज्यः मोश्वसाधनतयेवि । नियुन्धिमित्तिहैरेकी-करकेति एकंफलसाधनतकेकशास्त्रार्थीकरवेलकः । **यथावलकितं** । शवत्यकरेकेन हि सास्ति सास्त्र<del>मः</del> । आह च मनुः, "तद्धि कुर्वन यवाशक्ति प्राप्तोति परमां गतिम्" (मनु. ४. १८) इति । एवं नित्य-नैमितिकयोरिय काम्येष्वपि मुमुक्षोः कतिपयाङ्गवैकल्येऽपि न दोष इत्युक्तं भवति ⊬ केव्यं विच्छेदे

# अथ काम्यकर्माधिकृतान् निन्दति---

यानिमां पुष्यतां वाचं प्रवद्ग्यविपश्चितः । वेद्यादरताः पार्थं नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ कामान्मानः स्वर्गपराः जन्यक्रयंक्रळव ाम् । क्रियाविद्योगवहुळां भौगेश्वर्यगति प्रति ॥ ४३ भौगेश्वर्यग्रसकातां तथाऽपहृतचेतसाम् । व्यवसायानिका बुद्धः !समाधौ न विघोषते ॥ ४४ यामिमां पुष्पतां—पुष्पमात्रफलाम् , आपात्रमणीयां वाचम् अविपश्चितः—अस्पद्धाः भोगेश्वर्यगति प्रति वतिमानां प्रवदन्ति, वेदवादरताः — वेदेषु ये स्वर्गादिफलवादाः तेषु सक्ताः, नान्यदस्तीति वादिनः—तत्सङ्गातिरेकेण स्वर्गादेरधिकं फलं नान्यदस्तीति वदन्तः, कामान्मानः-कामप्रवणमनसः , स्वर्गपराः—स्वर्गपरायणाः , स्वर्गादिफलावसाने पुनर्जन्मकर्माख्यफलप्रदां, प्रत्यवायामावकथनमिव च्योतिष्टोमाद्येकेककर्मानुष्ठानेऽपि देशादिवैगुण्यकृतोत्तरानुष्ठानपरमिति च दर्शितम् ॥ प्रयाजादिवदितिकर्तव्यतास्थानीयेकेककर्मानुष्ठानेऽपि देशादिवैगुण्यकृतोत्तरानुष्ठानपरमिति च दर्शितम् ॥ ।

एवं काम्यकर्भविषयबुद्धितो मोक्षसाधनभूतकर्भविषयायाः बुद्धेवैरुक्षण्यमुपपाद्यः अनन्तरं मोक्ष-साधने प्रवृत्तिरीष्रवार्श्वमितरफल्वेतृष्ण्यजननायं तत्तरफल्साधनकर्माधिकृतात् निन्दतीत्युपरितनश्चोकल्लय-मवतारयति अथेति । काम्यकर्माधिकतानिति । काम्यकर्मस स्वर्गादिस्वाभिरुषितसाधनत्वस्वार्थता-बुद्धियुक्तानित्यर्थः । पुष्यितामित्येतत् फळव्यवच्छेदमुखेनासुखोद्कत्वपर्मित्यभिप्रायेणाह आपरत-रमणीयामिति । अरपज्ञा इति । विदिधं पश्यिचत्वं हि विपश्चित्तवम् । "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" (अष्टा. ६. ३. १०९) इति पश्यच्छव्दावयवस्य यच्छव्दस्य लोपः । तच बहुज्ञत्वम् । तद्यति-रेकश्चालोपनिषत्साध्यस्थिरास्थिरादिविवेकाभावादस्थजन्वमिति भावः । जन्मकर्मेत्यादेः गतिविशेषणत्व-अमन्यदासाय गति प्रतीत्यस्यापेक्षितपुरणाय च. कममुछङ्कच प्रागेवोपात्तं भोगेश्वर्यगति प्रति वर्तमानामिति । एतेन वाचमित्येतस्य काम्यविधिभागपरत्वमुक्तं भवति । सामान्येन वैदिकनिन्दा-अममपाकरोति स्वर्गादिफलबादा इति। वेदशब्दोऽत 'वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते' (वि. ६.४.४०) इस्यादाविव कर्मभागपरः । तत्वापि विधिभाग-फर्लाधीवादभागविषयतया परुषवावय-वेदवावयविषयतया वा वाच, वेदबादेत्यनशरपौनरुवत्यमिति भावः । नान्यदस्तीति वादे पूर्वीत्रपदानामर्थं हेतुतया उपादते तत्सु क्यातिरेकेणेति । अपवर्गस्वरूपनिषेधोऽशवय इत्यमिप्रायेणोक्तम अधिकं फलमिति । बादिनः इत्यनेन तथाबदनशीलत्विवक्षान्यञ्जनाय वदन्त इति वर्तमानप्रत्ययान्तेन व्याख्यातम्। कामप्रवणमनस इति । कामेषु आतमा मनो येषां ते कामातमान इति व्यधिकरणबह्वीहिरिति भाव: । स्वर्गपरायणा इति । स्वर्ग: परः परायणं परमप्राप्यं येषां ते स्वर्गपराः : मोक्षविमुखा इति भावः । कामातमानः स्वर्शपरा इति पदद्वयस्य सामान्यविशेषविषयतया दृष्टादृष्टविषयतया वा हेत-साध्यविषयतया वा कामौन्मुख्यान्यवैमुख्यपरतया वा पुनरुक्तिपरिहारः । स्वर्गादिफलभोगमध्ये जन्मादिश्रमं व्यदस्यति स्वर्गादिफलावसान इति । 'यावत्संपातम् षित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' (छा. ५. १०. ५) 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तसाह्रोकात् पुनरेत्यस्मै स्रोकाय

<sup>1</sup> आत्यसाक्षात्कारार्थमेष मनस्त्रृष्टिः। यतद्भावे सक्त्रहानिरित समाविक्र

क्रियाविशेषवहुरूां--तत्त्वज्ञानरहिततया क्रियाविशेषश्रचुराम् । (१) भोगैश्वर्थगति प्रति वर्तमानां-यामिमां पुष्पितां वाचं ये प्रवदन्तीति संबन्धः(१) । तेषां भोगैश्वर्थमसक्तानां तया--वाचा मोगै-श्वर्यविषयया अपहृतज्ञानानां यथोदितव्यवशायात्मिका बुद्धिः, समाधौ मनसि न विधीयते,

कर्मणे ॥' (ब. ६. ४, ६) 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' (गी. ८. १६) 'खर्गेऽपि वातभीतस्य क्षियण्णोर्नास्ति निर्वृतिः' (वि. ६. ५. ५०) इत्यादिश्रतिसमृतय इह द्रष्टन्याः । जन्मवत् कर्मगोऽप्यनज्ञयास्त्रकर्मज्ञोषफल्रत्वस्यापनाय समानाधिकरणसमासतां दर्शयति जन्मकर्मारूयफल-प्रदामिति । कर्भरोषेण पुनरुत्कृष्टापकृष्टजन्मपासौ श्रतिस्तावत् , "प्रवा ह्येते अददा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त-मवरं येषु कर्म। एतच्छेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापियन्ति" (मु. १. २. ७), "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिमाण्येरन ब्राह्मणयोनि वा क्षतिययोनि वा वैश्ययोनि वा, अथ य इह कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत् ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनि वा सकरयोनि वा चण्डालयोनि वा" (छा. ५. १०. ७) इत्यादि: । जन्मकर्मादे: सर्वस्य कर्मशेषमूलत्वे स्मृतयश्च. ''वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य स्वकर्मफलमनुभूय तत्तरहोषेण विशिष्टदेशजानिकलरूपायः-श्रतवृत्तवित्तसखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते । श्रिप्तञ्चो विपरीता नश्यन्ति" (गौ. २. ११. १०. ११) इति । तथा "ततः परिवृत्तौ कर्मफळशेषेण जातिं रूपं वर्णं वर्छं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति मतिपद्यते । तत् चक्रवत् उभयोर्लोकयोः सुख एव वर्तते" (आ. २. १. २. ३) इत्यादयः । वैराग्यपादे चायमर्थो व्यक्तमनुसन्धेयः । अत्र <sup>1</sup>जनमाख्यकर्भफलप्रदामिति केषुचित कोशेषु पाठः । ननु ज्योतिष्टोमादिकियाविशेषस्रूपमातं कामिनो ज्ञानिनश्च समानम् ; तत् कथं क्रियाविशेषबहुलाम् इति कामिनो विशिष्याभिधीयते ? तलोक्तम् तत्त्वज्ञानरहितत्येति । ज्ञानिना हि सर्वै कर्म किय-माणमपि ज्ञानप्रचरमेव । तचैकफलसाधनतया एकशास्त्रार्थरूपम् । न च मोक्षानप्यक्ताः सर्वे क्रिया-विशेषास्तेन क्रियन्ते । अतः प्रयासबहुछं परिमितनधरफुछं चामुमुक्षोः कर्मेति भावः । <sup>2</sup>अन्येषां वाचा अन्येषामपहृतचित्तत्वअमं निरस्यन् षण्ट्यन्तपदयोरदृष्ट्विशेष्ययोः प्रस्तुतविशेष्यविषयत्वं चाह तेषामिति । तयेति यदृशृत्तप्रतिनिर्देशरूपव्यारूयेयोपादानम् । तत्परासृष्टं प्रकृतं चेतीपहरणहेतुमाह भोगैश्वर्यविषय-येति । अपहत् चेत्साम् इत्यस्य पूर्वपदेनार्थभौनरुक्त्रचपरिहाराय, तदर्थस्य प्रकृतव्यवसाय।त्मकनुद्धच-भावहेतुत्वाय चोक्तम् अपहृतज्ञानानामिति । यथोदितेति पागुक्तप्रकारेत्यर्थः । न विधीयते

उन्मक्रमेंत्यादेः वान्वियेषणत्वमेव शांकरेऽपि । जन्माच्यक्रमं फलम्दामिति पाठान्तरं शांकरा जुलारि । भोगे द्वयंगति प्रतीत्यच्य क्रियावियेषेत्यत्रान्वयः शांकरे । वदन्ते त्यत्रान्वयः क्रियावियेषत्यत्रान्वयः शांकरे । वदन्ते त्यत्रान्वयच्य माध्वे । भाष्ये क्रियावयेषयुप्तामत्यत्रान्वयच्य सुप्रद्वतया भोगेत्यादि संबन्ध श्रत्यतं वाक्यं न स्थात् । तसु अन्वयाविस्मरणाय लेखकेस्तालकोशे लिखतं स्थात् । तद्वाक्यसस्ते जन्मेत्यादेः गतिमित्येतिह्रशेषणत्वभ्रम प्रवोत्पादितः स्थात् । तद्वाक्यमम् प्रवोत्पादितः स्थात् । तद्वाक्यमम् प्रवोत्पादितः स्थात् । तद्वाक्यमम् स्वते स्थात् । तद्वाक्यमम् स्वते । अविपश्चितो वाक्यं वदन्तिः तयाऽपद्वतं केतसामित्युक्तौ अन्यप्रद्वणमेव

नोत्पद्यते ; समाधीयते आस्त्रात्मज्ञानमिति समाधिर्मनः । तेषां मनस्यात्मयाथात्म्यनिश्च-यपूर्वकमोक्षसाधनभृतकभैविषया बुद्धिः कदाचिद्षि नोत्पद्यते इत्यर्थः । अतः काम्येषु कर्मसु सुम्रुक्षुणा न सङ्गः कर्तव्यः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

एवमस्यत्पफलानि पुनर्जन्मप्रसवानि कर्माणि मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वस्सलतस्तया आस्मोजीवने प्रकृता वेदाः किर्मर्थं वदन्ति, कथं वा वेदोदितं त्याज्यतयोज्यत इत्यत आह्— त्रैगुण्यविषया वेदा निक्षेगुण्यो सवाजेन । निक्षंको निय्यसरस्यो नियोगसम् आस्मवान ॥

केनचिद्धेतुना न कियत इत्यर्थः । ततः फल्तिसुच्यते नोत्पद्यतः इति । समाधिशब्दस्य बुद्धिविशेष-विवक्षायामलानन्वयात् मनोविषयत्वे व्युत्पतिमाह समाधीयतेऽस्मिन्नित । निधीयतेऽस्मिनिति निधिवत् । यथोदितेत्याद्युक्तं प्रकारं विद्युणोति तेषां मनसीत्यादिना । विधीयतः इति वर्तमाननिर्देशतास्पर्ये सिद्धम् कदाचिदपीति । एषां निन्दा किमर्थेत्यतः आह् अतः इति । व्यवसायासमकबुद्धिविरोधादित्यर्थः । सृमुक्षुणा न सङ्गः कर्यव्य इति निस्सङ्गेन काम्यानामपि करणमनुमन्यते । त्वरूपमालस्य मोक्ष-विरोधित्वाभावात् । मोक्षेच्छाऽस्ति चेत्, वस्थकेच्छा न कार्येत्युक्तं भवति ॥ ४२ ४३ ४४ ॥

अथैवं काम्यकर्मस्य तद्धिकृतेषु च निन्दितेषु हित्ततमोपदेशिनः शास्त्रस्येदृशकर्मविधानमनुपपन्नम् । विहितस्य चात्र त्याज्यतयोपदेशो व्याहतः: कर्मविधिशास्त्राणामप्रामाण्यं वा. तत्प्रामाण्यं वा।(१)...तत्प्रामाण्यं वा तन्त्रिषेधोपदेशन्याप्रमाण्यं प्रसञ्यत इति शङ्कासत्तरकोकद्वयेन परिहरतीत्याह एवमत्यरूपेत्यादिना । पुनर्जन्म येषां प्रसवभूतं तानि पुनर्जन्मप्रसवानि । संसार्विपिनवानस्पत्यानां हि कर्मणां परिणिनसोः फलस्य नियतपूर्वत्वस्चकत्वादिभिर्देहविशोषपरिग्रहः प्रस्तुनस्थानीयः। प्रियहितोपदेशितया मातापित्रोरुपा-दानम् । सर्वजन्मानुवृत्तिस्चनाय सहस्रशब्दः। सर्वोत्मसाधारणतया चतुर्विधपुरुषार्थ-सकलापुरुषार्थं निवृत्ति-तत्साघनाभिघायितया कदाचिद्रप्यनपरमादिना च वत्सळत्रत्वोक्तिः । अतिशयहेत्त्वयम् आत्मोर्जी-वने प्रवत्ता इति तिभि<sup>1</sup>स्सचितम् । न हि देहादेरारोग्यादिमाले कदाचिदेव व्यापृता इति क्रमाचयाणां भावः। किमर्थं वदन्तीति । न तावत् प्रतारणार्थम् , हितोपदेशित्वात् । नापि हितान्तरपर्यवसितोपच्छन्द-नार्थे. प्रतिप्रकरणं तत्तरफळमालपर्यवसितस्यात् । अतोऽनाधेयातिशयपरमकारुणिकपुरुषोत्तमाज्ञारूपाणां वेदा-नामामुळपर्यवसानमपरिमितदः खदर्दिनानुबन्धिसस्वकणसबोतसाधनोपदेशो विषसप्रक्तमधुभोजनोपदेशवत् अयुक्तः: निषेध एव त तल कंर्तव्यः। यद्वा न सोऽपि, प्रत्यक्षादेस्तत्प्रसञ्जकत्वाभावात् ; स्वयं प्रसच्य प्रति-षेषस्य जम्बारुमज्जनक्षारुनसमत्वादित्यभिष्रायः । कथंबेति । वेदिवरुद्धं हि त्याज्यतयोपदेश्यमः . न त स्वरस्थमः । अविपश्चिद्वादश्चवणेऽपहतचेतस्त्वं स्थात् । अतोऽविपश्चित्संगो न कायं इत्यक्ति-रुचितेच । अथापि तेषामविपश्चितामपि भोगैश्वर्यप्रसक्तत्वमेच, तत्पूर्वपुरुषप्रभवया तयैव बाचा तेषामप्यपहृतचित्तत्वमेवेति ज्ञापनाय तेषामित्युक्तिरिति भाषः। पराकर्षकस्ववाकचातर्थेण स्वयमपहृतिचत्ता अपि केचिद्भवन्ति । भोगैश्वर्यप्रसंग एव तत्र कारणम् ।

वेदो न देहविषयकः कि तु आत्मविषयकः। न जीवनविषयकः किंतु उज्जीवनविषयकः। न कराचिद्वपापृतः, कि तु प्रकर्षेण वर्तमान इति अर्थवयं पदत्रयगम्यम्।

वयो गुणाबैगुण्यं सत्त्वरजस्तमांसि । सत्त्वरजस्तमः प्रचराः प्रहपाबैगुण्यवान्देनोध्यन्ते : तद्विषया वेदाः तमःप्रज्ञशणां रजःप्रज्ञराणां सत्त्वप्रज्ञराणां च वत्सलतरतयेव हितमवबोधयन्ति वेदाः । यद्येषां स्वगुणानगण्येन स्वर्गादिसाधनमेव हितं नाववीधयन्ति, तदैते रजस्तमाश्रव-रतया सान्विकप्रसमोक्षविग्रस्याः स्वापेक्षितफलसाधनमजानन्तः कामप्रावण्यविवन्ना अनुपा-देयेषु उपादेयश्रान्त्या प्रविष्टाः प्रनष्टा भवेषुः। अतस्त्रेगुण्यं निषया वेदाः, त्वं त निक्षेगुण्यो भव-वेदविहितमिति भाव:। तयो गुणास्त्रेगुण्यमिति। अलार्थान्तरासंभवात् 'वातुर्वण्यादीनां स्वार्थ' इत्युप-सङ्ख्यानात स्वार्थिकप्रत्ययः । गुणशब्दस्य प्रयोगपाचर्यात संख्याविशेषान्वयवस्रात वक्ष्यमाणपर्याः लोचनाच सिद्धमधीवशेषं निर्दिशति सस्वरजस्तमांसीति । सागीदिफलकरणेतिकर्तव्यताधिकारिविशेषा-दिविषया हि वेदाः : न पनः सत्त्वरजस्तमोविषया दृश्यन्त इत्यलाह सन्वरजस्तमःप्रचुरा इति । तत्त-दगणपाचर्यात परुषास्तत्तच्छव्देनोपचर्यन्ते । भाष्यान्तरोक्ता त फळळक्षणा मन्दा : अधिकारित्यवस्थापनं . त्वत्रीपयुक्ततममिति भावः। अस्त्वेवं गुणत्रयपञ्चरपुरुषविषयः वेदाः इतिः चौद्यस्य किमायातमित्यताह तम इति । एकस्मिन्नेवाधिकारिणि गुणत्रवपाच्येत्रमनिरासेन तत्तद्विधिनिषेधविषयाधिकारिवैचिन्याभिन्यवत्यर्थे तमः प्रचराणामित्यादिष्टथङनिर्देशः । तामसाचिधकारिबाह्रल्याल्पत्वाल्पतरत्वप्रकाशनाय स्तमसामल व्युत्कमपाठः । ततश्च कमादैहिकामुप्मिकापवर्गाभिलाषिण उपलक्ष्यन्ते । सरवप्रचुराणा-मिति दृष्टान्ताभिपायम् । अत एव ह्यपपादकमन्थे यद्येषामित्यादिना रजस्तमः प्रचराणामेव महणम् । स्वगुणानुगुण्येनेति । यथा वातिषत्तकफोपात्तराद्धसमसङ्कीर्णप्रकृतीन् पुरुषान् आस्त्रोच्य हितोपदेशिनो वैद्यास्तत्तत्प्रकृत्यनुकूळं भोजनभेषजादि विद्यति, <sup>2</sup>अपथ्या(असात्म्या)दीनि च निषेधन्ति: तदभावे च यथा दरुपदेशादिमृद्धचेतमः प्राणिनोऽप्य्यगरलादिसेवया प्रणश्यन्ति. यथा च ताम्ब्रह्माद्यर्थिनः प्रताः पिलादिमिस्तत्प्रदानाभावे चौर्यादिना प्रणश्यन्ति, तथाऽलापीति भावः । स्वर्गादिसाधनमेवेति । न हि पिपासादिपीडितानां तदानीं रसायनादिकं विधेयमिति भावः । मोक्षवैमरूयं स्वापेक्षितफरुसान धनाज्ञानं च तमःक्रत्यम् । कामप्रावण्यादिकं तु यथांशं रजस्तमःक्रत्यम् : कामप्रावण्यविवशः काम्यफलाभिसन्धिबलेनात्मानं नियन्तुमराक्ताः । अनुषादेये विदत्यादि । यथा बौद्धादय इति भाव्यम् । प्रनष्टा भवेषुरिति दुष्कर्मिनपाकेन स्थानरादिभावमप्याश्रित्याचित्करुपतया पुरुषाश्रयोग्यतागन्धरहिता भवेयुरित्यर्थः । अतु इति उक्तप्रकारेण काम्योपदेशस्य हिततमत्वादित्यर्थः । स्वं त्विति तशब्देनाधि-कारि वैषम्यं बोतयति । किमत्याधिकारिणो वैषम्यम् , कथं च संसारिणस्त्रेगुण्यनिषेयः ; तथा सति नित्य-

इदानीं सत्त्वप्रज्ञस्स्यं तदेव वर्धयः नान्योन्यसङ्कीणगुणलयप्रज्ञो भवः न तस्प्राज्ययं वर्ध-येल्वर्थः । निर्द्धन्दः—निर्गतसकलसांसारिकस्वमावः, नित्यसत्त्वसः—गुणद्वयरिद्धनित्य-प्रवृद्धसत्त्वस्यो भवः। कथिमिति चेत् , निर्वोगक्षेमः अन्त्यस्वरूपतत्प्राप्रवृपायविद्धभूताना-मर्थानां योगं प्राप्तानां च क्षेमं परित्यज्य आस्मवान् भवः—आत्मस्वरूपान्वेषणपरो भवः। [अप्राप्तस्य प्राप्तियोगः प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेषः।] एवं वर्तमानस्य ते स्वस्तमःप्रज्ञुस्ता नश्यित, सत्त्वं च वर्षते ॥ २५ ॥

सन्बस्यः इत्यनेन विरोधश्च स्वादित्यलाह इदानीं सन्वप्रचर इति । शिव्यस्तेऽहम् (२. ७) इत्यादि-वचनपरामशीदिदमुक्तस् । अर्जुनशब्दसंबुद्धितात्पर्येलव्यो विशेषोऽस्य सत्त्वपाचर्यम् । अर्जुनशब्द-स्यावदातपर्यायत्वात् सत्त्वस्यापि शुक्कशब्दत्यपदेशाद्धिकारिवैषम्यस्य चापेक्षितत्वात् तथा प्रसिद्धया-दिवलाचेदमेवाल तात्पर्थम् । तदेव वर्धयेति । न तु सिद्धं सत्त्वप्राचुर्वं परित्यज्य विहिताकरणनिषिद्ध-करणादिना रजस्तमसी वर्धयेत्यर्थः । निस्त्रेगुण्यो भव इति निषंधे गुणत्रयसाधारणे सति कथं सत्त्वं वर्धयेत्यच्यत इत्यत्नाह नान्योन्येति । सत्यं गुणत्नयसाधारणो निषेधः : स त संकीर्णविषयः, अन्यथा निस्यसन्त्रस्थः इति वक्ष्यमाणानुषपत्तेरिति भावः । निस्त्रेगुण्यो भवेत्येतत् अरोगो भवेत्यादिवत पुरुषच्यापारासाध्यत्वेन प्रेषणानुपपत्तेः आशीरूपमिव दृश्यत इत्यताह न तदिति । रजस्तमःप्राञ्चर्यहेतुभूताहासदिकं परित्यजेत्यकं भवति । निर्मतेत्यादि । द्वन्द्वराब्दः पुण्यपापम्ल-सकलमांमारिकस्वभाववर्गव्यपर इति भावः । एतेन (?) फलखरूपं वा साधनानुष्ठानदशासमकाली-नस्वास्थ्यं वा द्वन्द्वतितिक्षारूपेतिकर्तव्यता वा विवक्षिता । गुणद्वयरिद्वतेति । निस्यसत्त्वस्थपदमञ्म क्षादिवत् अवधारणगर्भामिति भावः । यद्वा नित्यपदेन कदाचिदपि गुणान्तरानभिभूतत्विमिहासिष्रेतम् । अत एवं च प्रवृद्धःवम् । गुणान्तराभिभवे हि नित्यप्रवृद्धिन स्यादिति भावः । सत्त्वसंबन्धमात्रस्य सर्वक्षेत्रज्ञसाधारणस्वाभित्यप्रशृद्धेत्युक्तम् । ननु रजस्तमः शाच्यै न वर्धयेति निषेधः, सत्त्वपाच्यै वर्धयेति विधिश्च नोपपद्यते । न ह्यसौ--एतद्रजः, इदं च तमः, इदमहं वर्धशामि इति बुद्धचा पवर्तते ; यतो निषिद्धधेत, यतश्च सिद्धे रजस्तमसी शमयेत् । न चासौ सत्त्वतदुपायौ जानाति, येन तल पर्वतेत । अतः किमसौ कथं क्रयोदित्यभिवायेण शक्कते कथमिति चेदिति । तक निषेधस्य विधेश्चोपपादक-त्या निर्योगक्षेम आत्मवान इति पदद्वयं कमाद्याचष्टे आत्मस्वरूपेत्यादिना । निर्योगक्षेमः इति सामान्येन निषेषो मुमुक्षोर्विहितन्यतिरिक्तविषय इति ज्ञापनाय पहिभेतानामित्यन्तमुक्तम् । आस्मवान भव इत्यत मत्वर्थानुवपतिमाशङ्कशाह- आत्मखरूपान्वेषणपर इति । स्त्र्येवापमत्तागर्भसविद्धिः विशेषतः प्राप्त्यपेक्षया संबन्धविषयः प्रत्ययः। यद्धा स्ररूपान्वेषणादेव ह्यस्मात्मानं रुभते, अन्यथा आत्महानिरेक स्मादिति भावः । एवं निषेषस्य विधेश्चानुष्ठानाय विषय उक्तः । ततः किमित्यत्न तद्भयाधीनं फल्रुयमा**ह एव(म**ति । न साक्षात् गुणान् विषयीकृत्य तव किश्चित् करीव्यम् । तेषां तु निर्योगक्षेम-त्वातमवत्त्वाभ्यामसात्त्विकाहारादित्यामहेतुभ्यां स्वयमेव यथाई नाशोग्मेषौ स्थातामिति भावः।। १५ ॥

्रियाबान् अर्थ उद्दर्शने सर्वतः संन्छुनोदके । ताबान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विज्ञानतः॥ ४६ न च वेदोदितं सर्वे सर्वस्योपादेयम् ; यथा सर्वार्थपरिकल्पिते सर्वतःसंग्छुतोदके उद्दर्शने पिपासोर्थावान् अर्थः — याबदेव [पानीयं] प्रयोजनम् , ताबदेव तेनोपादीयते, न सर्वम् ; एवं सर्वेषु च वेदेषु ब्राह्मणस्य विज्ञानतः — वैदिकस्य म्रुमुक्षोः यदेव मोक्षसाधनं तदेवो-पादेयम् ; नान्यत् ॥ ४६ ॥

अतः सत्वस्यस्य मुमक्षोरेताबदेवीयादेयमित्याह-

अथ सनिदर्शनमधिकारिभेदं प्रतिपादयन्तं यावानर्थः इति श्लोकं व्याच्छे न चेति । वर्णा-श्रमप्रवरचरणादि मेदेन प्रतिनियताधिकारिविषया हि वेदोदिता धर्मा इति भावः । सर्वार्थपरिकरियत इति तत्तत्वयोजनाभिकाषिसवीधिकार्यर्थे परिकल्पिते । यदा सर्वशब्दः प्रयोजनकारस्व्येपरः स्नानपानादि-नानापयोजनार्थे परिकल्पिते । एतच **सर्वतस्**षंग्छतोदके इत्यनेनार्थसिद्धमुक्तम् । उदपानं क्रप्तटा-कादि । पिपासीरिति दार्ष्टीन्तिकप्रस्थानान्ररोधेनाध्याहारः । नन्वत्र दृष्टान्तदार्ष्टीन्तिकयोः का सङ्गतिः ? न हि पिपासीरुदपाने यावत्प्रयोजनं. तावदेव विजानतस्सर्वेषु वेदेषु इत्याशङ्कां परिहर्ते वावयपुरणाया-ध्याहृत्योक्तम् तावदेव तेनोपादीयत् इत्यादि । सर्वेषु चेति चकार उपादेयानुपादेयांशसङ्कलन-द्योतनार्थः । नन् जाक्रणस्येत्येतत् प्रकरणासङ्गतम् , क्षतियायैव ह्यपदिश्यते । कश्चात जाक्षणस्य विज्ञोष: ब्रह्मविद्याया अपि तैविशिकसाधारणत्वात् । विज्ञानत् इति चायक्तमः विज्ञानन्नेव हि कामाधिकारादिप्यपि प्रवर्तते । ब्राह्मणशब्दश्चाल न. 'तदधीते' (अष्टा. ४.२.५९) इत्याद्यर्थान्तरपरः 'बाह्मोऽजातौ' (अष्टा. ६. ४. १७१) इति निपातनेन जातिन्यितिरक्तार्थेषु बाह्म इत्येव वक्तन्यत्वात् । तलाह वैदिकस्य ग्रमक्षोरिति। ब्रश्न अणतीति निरुक्त्या ब्राह्मणः। "शकन्ध्वदिषु परस्वप वक्तव्यम्" (अष्टा. वा. ६.१.९४) इति पररूपे कृते प्रज्ञादित्वाद्णप्रत्यये च ब्राह्मण इति रूपं भवति । ब्रह्म चाल वेद:. वेदेष्विति अतैव प्रसक्तत्वात् । अतोऽल ब्राह्मणशुब्दो वैदिकमालपर इति न क्षलियार्थोप-देशाद्यनुपरितः । ब्राह्मशब्दस्यात्र सन्न्यासिपरत्वेन शृङ्करव्याख्या त्वतिमन्दा । "अमीनं च मीनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः'' (बृ. ५. ५. १) इति श्रतिस्तु योगिनः प्रकृष्टतरसत्त्वम(त्त्वा ?)वस्थाविशेषमाह । विजानत इति च विशिष्टज्ञानवत्त्वमुच्यते । विशिष्टत्वं च हेयोपादेय[विभाग]विषयत्या । तथाविधज्ञा-नवांश्च मुमुक्करेव स्यादिति । तावानित्यस्य व्यवच्छेद्यमाह नान्यदिति । वेदोदितमपि न मोक्षसाधन-व्यतिरिक्तमुपादेयम् , अनिधकृतत्वात् । न बन्यवर्णाश्रमान्यफलकामुकादिधर्मोऽन्यस्योपादेय इति भावः ॥

एवं तर्हि मोक्षसाधनेतरसकरूपित्यागे नित्यनैमितिकनिषेधशास्त्रातिरुङ्घनेन कामचारदोष: स्यात: ताबानिति च कियानुच्यत इति शङ्कायामुत्तरस्रोकमवतारयित अत इति । न कामचारदोष:,

<sup>1</sup> यावान अर्थ इत्यन्न अर्थपदं इष्टान्ते स्थितांशपरम्, दार्शन्तिके प्रतिपादांशपरम् [प्रतिपादकांशपरमेव वा] । इतरमतद्वये यावानित्यादेरथेस्तु, उद्पाने यावान् अर्थः, तावान् सर्वतः इंट्युडोदकेऽस्त्येव, पदं कर्मिफलं सर्वेद्यानिफलंग्तर्गतमिति । वाक्यमेदादिना क्रिष्टोऽयम् ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेख कदाचन । मा कर्मफलहेत्रर्भः मा हे सङ्गोऽस्त्वकर्मिणा ४७ नित्ये नैमित्तिके काम्ये च केनचित फळविशेषेण संबन्धितया श्रयमाणे कर्मणि ग्रमक्षीरते कर्ममात्रेऽधिकारः । तत्संबन्धितयाऽवसतेष फलेष -व कदाचिद्य्यधिकारः । सफलस बन्धरूपत्वात फलरहितस्य केवलस मदाराधनरूपस मोध-हेत्त्वाच । मा च कर्मफलयोहें तुर्भः । त्वयाऽनष्टीयमानेऽपि कर्मणि नित्यमन्वस्यस्य ग्रमक्षीस्तव अकर्तृत्वमप्यनुसन्धेयम् । फलसापि अन्तिवृत्त्यादेनं त्वं हेत्रित्यनुसन्धेयम् । तद्भयं गुणेषु तत्तरफलपरित्यागेन साधारणस्वरूपमात्रस्योपादेयत्वादिति भावः । कर्माण इति सामान्यशब्दस्य योग्यान् विशेषान् आह-नित्य इत्यादिना । केनचित् इत्यादिकं राशिलयेऽपि संबध्यते । तेन नित्य-नैमित्तिकयोरपूर्वमालार्थतामिच्छतां कुट्टधीनां दृष्टिरपहता । कमीन्तराधिकार---उपात्रदृश्तिक्षय-अकरण-निमित्तप्रत्यवायपरिहार-पाजापत्यादिलोक-पशुपत्नादि यथासंभवं नित्यादेः फल्सं । फर्किविशेषेणेकि । यथोत्पत्तिचावयै: खरूपेणैबोत्पन्नानां कर्मणां कामाधिकारे खर्गादिफलविद्योषेण संवन्धितया श्रतत्वात् स्वर्गादिकं फलमिष्यते : एवं मोक्षाधिकारेऽषि मोक्षाख्यफलविशेषेण संबन्धित्या अतस्वात सोडिष फलमिति मावः । ते इति शब्दस्य प्रकृतान्त्रिततात्पर्थमाह नित्यसत्त्वस्यस्य ग्रह्मक्षेतिति । मोक्षतस्माधना-दिफलन्यवच्छेदाय तरसंबन्धितयाऽवगते विद्युक्तम् । स्वर्गपश्चादिन्विति शेषः । वैति न निषेध-विधि: ; किंत्वभावमात्रवोधक इति न कदाचिदित्युक्तम् । फलयोग्यतानिषेधात् तत्सङ्गिनिषेधोऽपि फ़िल: ) कर्ममालाधिकारे फलानधिकारे च बुद्धिस्थकमेण हेत्रद्वयमाह — सफलस्येति । न हि मोक्षमिच्छतो बन्धरूपफलाभिलाष उपपन्न: : न च तद्धेतुपरित्याग उचित इति भाव: । **केवलस्ये**रयेतन फलराहित्यमालपरम् , फलरहितस्येत्युक्तत्वात् ; अपि तर्हि खरूपत एव प्रयोजनत्वपरम् । तल हेतः मदाराधन रूपस्येति । कर्मफलयोरिति । पनरुक्तिपसञ्जकषष्ठीसमासादि उभयपदार्थपथानो ब्रन्द एवोचित: ; वक्ष्यमाणाकर्तृत्वानुसन्धानसंग्रहश्चात युक्त इति भावः । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते', 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणिं इति पूर्वोत्तरवचनाभ्यामयं कर्महेत्तत्वनिषेधो व्याहन्येतेत्यलाह स्वयेति । नाल वस्त्रतो हेतुत्वं निषिध्यते; अपितु हेतुत्वानुसन्धानमित्यर्थः। नन् फलहेतुत्वनिषेधः पुनरुक्तः; मा फलैंपु कर्दाचन इत्युक्तत्वात् । यदि तः भोजनादिसाध्यक्षलिवत्त्यादिफलनिषेधः : तदा तदपायरागस्यापि निवृत्तेदेशरीर-धारणादेरप्यमावपसङ्गेनोपायानुष्ठानस्यैव लोपः स्यादित्यताह फलसापीति । श्रविष्ठनयदिरित्यनेन पौनरुक्त्यं परिहृतम् । न त्वं हेत्रिक्वनसन्धेयमिति । नाल क्षत्रिवृत्त्यादिलरूपं निषिध्यंते ; अपि त्वात्मनस्तद्भेतत्वानसन्धानमिति भावः । नन् कथं कर्मफलयोः खयं हेतुस्तन् न हेतुरित्यनुसन्धीयेत ? एवं च चार्वाकादिवत् अनयोर्निहेंतुकत्वमनुसन्धेयं स्यात् ; ततश्चोषायानुष्ठानमेव हीयेत ; अहेतुकतेया बुध्यमाने प्रयासायोगादित्यताह तद्भयमिति । उभयं कमहेतुत्वं फलहेतुत्वं च । उनस्तिति । अयमेव हि तृतीयाध्यायप्रधानार्थ: । तथा हि संग्रहः, "असक्त्या छोकरक्षायै गुणेष्वारोप्य कर्नुतास् । सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता" (७) इति । एवमहेत्वकरवचीयं तावत् परिहतम् ।

वा सर्वेश्वरे मिय वाऽनुसन्धेयिमित्युत्तरत वक्ष्यते । एवमनुसन्धाय कर्म कुरु । अकर्मणि— अननुष्ठाने, न योत्स्थामीति यत् त्वयाऽभिहितम्, न तत्न(तत्न न ?) ते सङ्गोऽस्तु ; उक्तेन प्रकारेण युद्धादिकर्मण्येव सङ्गोऽस्तिक्ष्यर्थाः ॥ ४७ ॥

## एतदेव स्फ्रटीकरोति-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय । सिद्धधसिद्धयोः समो भत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

86

राज्यबन्धुत्रभृतिषु सङ्गं त्यवस्वा युद्धादीनि कर्माणि योगस्थः कुरु, तदन्तर्भृतविजया-दिसिद्धचसिद्धचीस्समो भूत्वा कुरु । तदिदं सिद्धचसिद्धचोस्समत्वं योगस्य इत्यत्र योगशब्देनी-

तथाऽप्यासम्हेतुकत्वानुसन्धानिषधेन अननुष्ठानपसङ्गत्तदबस्य इति चेत्—मैवम् ; न छ्वानुष्ठानत्या ननुष्ठानत्या आन्तिरुच्यते ; येन विरोधः स्यात् ; किंत्वनेकहेतुके कर्सिश्चिदेकस्येव हेतुत्वं तैगुण्याद्युपिषके स्वरूपप्रयुक्तत्वं च आन्तिसिद्धमिति तदुमयं निषध्यते । वक्ष्यते हि 'शरीरवाज्यनोभः' (१८.१५) इत्यादौ, तृतीयाध्याये च । किंच, साक्षात्कर्तृत्वाननुसन्धानिवधावि नाकर्तृत्वानुसन्धान-कर्तृत्वपतिपिनिषध्योरप्यननुष्ठानप्रसङ्गः। स हि कुर्वेशेव खङ्कतोपकारिनगूहनवत् आहार्य(यिव)बोधेन तथा प्रतिपद्यते । अन्यव्य वा कर्मणि कियमाण इति न कश्चिहोषः । सर्वेश्वर इति निर्देशः तस्मिन् कर्तृत्वाध्यवसा-योचित्यार्थः । जीवस्यापि हि कर्तृत्वं तत्त्वतः परमात्मायनमिति 'पराचु तच्छृतेः' (ब. २. ३. ४०) इत्यधिकरणे स्थापितम् । पूर्वोत्तरवावयाद्यविरोधाय कर्मस्यरूपपरित्यागं परिहरति एवमिति । गुणेश्वराधीनत्ववद्यव्यावि किं मे परित्यक्तप्रस्टेन दुःखलरूपेण भोजनादिकर्मणिति त्वया नोद।सितव्यमिति भावः । अननुष्ठानस्य प्रतिषेधार्य प्रसङ्गं स्थारवि श्वरं स्थारवि व योरस्यामीति । अकर्मसङ्गिनिष्यत्व तद्यभावपर इति भावः । अननुष्ठानस्य प्रतिषेधार्य प्रसङ्गं स्थारवि व योरस्यामीति । अकर्मसङ्गनिष्वेषक्रित्यनयत्व सङ्गमाह उक्तेनीति ॥१०॥

अनन्तरमध्यं संगमयति एतदेवेति । अवधारणेनार्थान्तरपरत्वन्युदासः । स्फुटीकरोतीति वौनरुक्त्यपरिहारः । राज्यबन्धुप्रमृतिष्विति । राज्यबम्धतिषु सङ्गः फळद्वारा बाधकः ; बन्धुप्रमृतिष्वित । राज्यबम्धतिषु सङ्गः फळद्वारा बाधकः ; बन्धुप्रमृतिष् सङ्गस्त युद्धाधननुष्ठानद्वारेति तदुभयमपि त्याज्यत्वाद्व सङ्गशब्देन संगृहीतिमिति भावः । युद्धादीनीति प्रकृतविशेषप्रदर्शनम् । आनुषङ्गिकत्वस्त्वनायोक्तं तद्वन्तर्भृतेति । "लामालामौ जयाजयौ" (३८) इति पूर्वोक्तानुभ्रन्थानेनाह विजयादीति । अयोगस्थः, सिद्धधसिद्धश्रोस्समोभृत्येत्यनयोरेकवावयत्वे पौन-

<sup>1</sup> अन्यत्रेति । प्रतिपद्यत इत्यत्रपद्धः। क्रियमाणकर्मावययकर्तृत्वादिकम् अन्यत्र—गुण ईश्वरे वा प्रतिपद्यत इत्यप्तैः। संकल्पाधीनस्य फलेस्य सर्वथा त्यायः ; अवद्यम्माविफले संगत्यायः ; संदिद्यमानफले समत्ववृद्धः। मा फलेष्वित्यत्व सर्वे विवक्षितम् । 2 अवापि न शेतस्यामीति परस्मेणदप्रयोगात् पूर्वमिष तथा पाठात् गीतायां न योतस्यामीति गोविन्दमिति पाठ पव श्रीमाध्य- हृद्दिष्ट इव । मामनुस्पर युद्धय च इति परस्मेणदस्यापि दर्शनात् । 3 योगस्य इत्यस्य कर्मयोगस्य इत्यस्य कर्मयोगस्य इत्यस्य पीनकक्तपाभावेऽपि स नात्र ; समत्वं योग इति विवरस्वविरोधात् ।

च्यते । योगः-सिद्ध्यसिद्ध्योस्समत्वरूपं चित्तसमाधानम् ॥ ४८ ॥ किमर्थमिदमसक्रदच्यत इत्यत आह—

ट्रेण द्यवरं कर्म बुद्धियोगास्त्रवज्ञय । बुद्धौ द्यारणमिवच्छ कृषणाः फल्रहेतवः ॥ ४९ योऽयं प्रधानफल्यागविषयोऽवान्तरफ्ल मिद्ध्यसिद्ध्योस्समस्विषयम बुद्धियोगः, तद्युक्तात् कर्मण इतरत् कर्म दूरेणावरम् । महिददं द्वयोहरुकार्षण्यस्य स्वात्त्रप्यम् । उक्तबुद्धियोगयुक्तं कर्म निस्वलसांसारिकदुःस्वं चिनिवरयं परमपुरुषार्थलक्षणं च मोक्षं प्रापयति । इतरद्यरि-मितदुःस्वरूपं संसारिमिति । अतः कर्मणि क्रियमाणे उक्तायां बुद्धौ द्वरणमिववच्छ । शरणं—वासस्थानम् । तस्यामेव बुद्धौ वर्तस्वर्त्यथः । कृष्णाः फल्रहेतवः—फल्रसङ्गादिना कर्म कृर्वाणाः स्वत्यात् मित्रवावव्यवेव त्र तादशश्रुतिवावयविद्यापे। कृष्णाः फल्रहेतवः—फल्रसङ्गादिना कर्म कृर्वाणाः स्वत्यात् मित्रवावव्यवेव त्र तादशश्रुतिवावयविद्यापे। इत्यादिमदेशान्तरोक्तसम्स्वान्तर्व्यावर्तेनायोक्तम् कृर्वितीदमावर्तितम् । विद्यावित्रवयेव (५.१८) इत्यादिमदेशान्तरोक्तसमस्वान्तर्व्यावर्तेनायोक्तम् तिद्दं सिद्धचसिद्धयोरिति । सार्वितकत्रोगशब्दप्रयोगविषयव्याष्ट्रचर्यसक्तम् योगस्य इत्यत्रेति । योग्रवावन्यस्य सिद्धचसिद्धसान्ये । कविदिष्यः ; इदमिष समस्य तद्व्यतिति योगानुद्वास्वर्व्य इत्याकृतम् ॥ १८ ॥

अभ्यासरूपतारपर्यिष्ठज्ञविवक्षामिषयन् पौनस्वत्यशङ्काद्वारेणोत्तरस्थोकमवतारयति किमर्थमिति । इदं साम्यानुसन्धानरूपं चित्तसाधानम् । तद्धचनन्तरं प्रशस्यते । कर्ममालिन्दाप्रमं परिजिहिषिन् युद्धियोगशब्दस्य प्रकरणविद्येषितं वाच्यांशं तावदाह योऽयमिति । अजहल्लक्षणया युद्धिपानुर्यदेद्धेक्तत्या लक्षितमाह तद्युक्तास्कर्मण इति । इतरिद्धिने प्रकरणविद्दितकर्मश्यतिरिक्तविषयाऽत्र कर्मनन्दिति स्चितम् । द्रावरशब्दयोरल विवक्षितं निष्कर्षति महिद्धितं । नृतीया प्रकारे । कृपणाः फलहेतव इत्यनन्तरवावयेन, युद्धिपुक्त इत्यादिना च वश्यमाणं श्रुतिसमुत्यन्तरादितश्य सिद्धं वैरूप्यम्पत्रमाह उक्तेति । नीतिमन्त्रीषयकेवल्यागादित्यावर्तनाय निस्वल्य (दुःखः)शब्दः । तस्योपाधिवश्याविष्ठ्यव्यात् कारस्येऽपि प्रयोगादवच्छेदकोपाध्यन्तरस्यावर्तनायोक्तम् सांसारिकेति । केवल्कर्मसाध्यलगोदिव्यावर्तनाय परमशब्दः । अपरिमितशब्देन समावसंख्याकालदिवयुक्तसंमावितसमस्त-परच्छेदनिरासः । द्विशब्दस्य हेत्वर्थतामभिप्रयन् आह अत इति । प्रकरणादिवरुद्धसाङ्ख्रभाष्ट्रक्तसम्वर्थत्यत्यस्य हित भावः । "उपाये गृहरक्षित्रोः शब्दः शरणमित्ययम्" (अहि.

<sup>1</sup> सिद्धणिसद्धणोरित्यस्य शानप्राप्तिस्वक्षणिसद्धौ तद्द्रभावे च समो भूत्वा, ईश्वरस्तुष्यतु इत्येवाऽऽक्रस्रस्थतेत शांकरे व्याप्यातम्, संगंत्यक्त्वेति क्रस्रोत्तरत्यास्य प्रागेवोक्तत्वात् । अत्र तु सुमुक्षोर्जिश्वासोः शानप्राप्तीच्छाविरहस्य दुर्वचत्वात् तद्रथमेव हार्तया भगवत्यीतेरिष्टत्यात् सर्थान्तरसुक्तम् । अथापि 3-9. भाष्यदीके विमृद्धे । 2 निविस्तराद्यस्य संप्राहकतया, व्यावतं-कत्वाभावात् दुःखद्याद्य इति पाटः स्थात् । वस्तुतः उक्तव्यावर्तनाय दुःख द्यादः, दुःखमनिष्टसाधनं पुण्यं पापञ्चत्यम्यसंप्रहाय निविस्तराद्यः इति पाटः स्थात् ।

क्रपणाः—संसारिणो भवेयुः ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह<sup>7</sup> उमे सुक्रतदुष्कते। तसाठ् योगाय युज्यस्व योगः कर्भस्र कौशक्षम् ॥ बुद्धियोगयुक्तस्तु कर्म कुर्वाणः उमे सुक्षतदुष्कृते अनादिकाळम्बिते अनन्ते बन्धहेतुभूते जह्मतिः। तसाहुक्ताय बुद्धियोगाय युज्यस्व । योगः कर्मस्र कौशळम्—कर्मस्र कियमाणेष्वयं बुद्धियोगः कौशळम्—अतिसामर्थ्यम् । <sup>2</sup>अतिसामर्थ्यसाष्य इत्यर्थः ॥ ५०॥

३६. ३४) इत्यादिनाऽवगंत घरणशब्दस्य रक्षकाद्यर्थान्तरं व्यावतेयन् विवक्षितं वक्तुं वाच्यं तावदाह् वास्ययानिर्मितः । निन्वदमसङ्गतं बुद्धेवीसस्थानभृतगृहाद्याश्रयत्वामावादित्यताह तस्यामेवेति । कभैयोग-निष्ठा छ्रतोभिदिश्यत इति भावः । "कदेंथे क्रपणश्चद्रिकपवानिर्मतंपवाः" (नाम. ३. वि. ४९) इति कृत्रमस्थव्दस्य पुरुषविशेषे रूढस्वात् , बुद्धियुक्तः इत्यादिना फलाभिसन्धिरहितपुरुषाणां प्रशस्यमानः व्याव्, 'भा कमैफलरुहेतुर्भः' (४७) इति पुरुषे फल्डहेतुश्वदस्य प्रकृतत्वात् कृपणाः फल्रहेत्वः इत्यन्तावि फलाभिसन्धिपृवैककर्मकारिणः पुरुषा एव निन्धन्ते, न तु फल्डहेतुमालमित्यभिप्रायेणाह--फल्ड-सङ्गादिनी । पुरुषाणामित् हि स्वकर्मद्वारा फल्डहेतुत्वमस्येव, "जन्मवन्धविनिर्मुक्ताः" इत्यादेः प्रतिक्षतत्या परमनिक्श्रयसवैधुर्थस्यात कृपणशब्देनाभिष्यातुमुचितत्वात् संसारिण इत्युक्तम् । अकृपण-प्रदर्शनवरानन्तरश्चोकपरामर्शाच्यायमेवार्थं उचित इति भावः ॥ ४९ ॥

'बुद्धियुक्तो जहातीह' इत्यस्य इह कर्मणि क्रियमाणे बुद्धियुक्त इत्यन्वयमिभिन्नत्याह बुद्धियोगयुक्तस्तु कमे कुर्वाण इति । यद्वा, कर्म कुर्वाण इति प्रकरणापत्रमुक्तम् , इहराब्दस्य तु जहातिना
अन्वयः, 'इहेव तैर्जितस्तर्मः' (५. १९) इत्यादिवत् । तत्रश्च प्रतिवन्धकनिष्टिक्तरुक्ता भवति । बुद्धिरहितकेवरुक्तमीदिभिरनिवर्धित्वार्थमाह अनादिकारुमंचिते अनन्ते इति । अनादिकारुमंचितत्व
मनन्वत्वविदानम् । सुङ्कतस्य हानिरपुरुषार्थः स्यादित्यत्रोक्तम् चन्धहेतुभृते इति । न हि काञ्चनकाल्ययस्यञ्ज्ज्ञल्योः वन्धहेतुत्वे कश्चिद्धरोषः, मुमुक्ष्वपेक्षया च लगादिकारुणं सुकृतमिष दुष्कृतसेषः, अठौकिकत्वे सित अनिष्टफरुरुक्तमेवत्व । सर्गादेरिष हि मुमुक्ष्वपेक्षया निरयत्वम् , "एते वै निरयासात
स्थानस्य परमारमनः" (भा. मो. १९ ६६) इत्यादिभिः प्रतिपादितमिति भावः । बुद्धियुक्तः इत्यस्य
योगस्य इत्यस्य च भिन्नार्थपरवन्ध्यदासायाह तस्मादुक्ताय बुद्धियोगायेति । युज्यस्व सल्रश्चल् दुक्को भवेत्यर्कः । "समत्वं योग उच्यते" इतिवत् योगशब्दव्याख्याभ्रमनिरासायाह कर्मस्ति ।
कौश्वरशब्दस्य तात्यय वक्तुं वाच्यं तावदाह अतिसामर्थमंति । बुद्धियोगस्य कर्मसामर्थारमकत्वं
कश्चमित्यताह अतिसामर्थसास्य इत्यर्थ इति । कार्ये कारणशब्द उपचरितः । अनेन श्लोकेन बन्धकसक्वन्दस्कृतहानसुक्तम् ॥ ५० ॥

<sup>1</sup> इह उमे इत्यसंधिरार्थः। 2 योगः कर्मसुकौशळं—कर्मकां इक्तिविशेषस्थानायम्न इत्यर्थोपि भवेत्। पूर्वार्चे पुरुषप्रस्तावात् कौशस्रपदस्थावि पुरुषसामध्ये प्रसिद्धवास्थानस्थानस्थानस्थ

कर्मजं बुद्धिशुका हि कलं त्यक्त्वा मतीविणः!। जन्मवन्धिविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यमामयम् ॥ बुद्धियोगयुक्ताः कर्मजं फलं त्यक्तवा कर्म कुर्वन्तः, तस्मात् जन्मवन्धविनिर्मुक्ताः अना-मयं पदं गच्छन्ति हि— प्रसिद्धं शेवनु सर्वास्त्यविनपत्स्वित्यर्थः ॥ ५१ ॥

यहा ते भोहकछिछं बुद्धिःथैतितरिष्यति । तहा गन्तासि निर्वेदं श्रोतःथयः श्रुतस्य च ॥ उक्तप्रकारेण कर्मणि वर्तमानस्य तथा वृत्त्या निर्धृतकस्मषस्य ते बुद्धिर्यदा मोहकछिछम् अत्यरपफलसङ्गदेतुभूतं मोहरूपं कछषं स्यतितरिष्यति, तदा असत्तः इतःपूर्वे त्याज्यतया श्रुतस्य फलादेः इतःपश्चाच्छ्रोतस्यस्य च कृते स्वयमेव भूतिंदं गन्तासि—गमिष्यसि ॥ ५२ ॥

अध तत्मलभ्तवम्धनिष्ट्विपूर्वकामृतत्वप्राप्तिपरस्य क्रमंजिमिति स्टोकस्य हेतुफलमावकमेणान्वय-माह चुद्धियोगयुक्ता इति । कर्मजं फलं सांसारिकम् ; जन्मबन्धो जन्मना वन्धः खच्छन्दत्वहानिः ; अथवा जन्मैव वन्ध इति कर्मधारयः । अनामयं पदं स्थानविशोषो वा, परमप्राप्यं परमारमस्रक्षं वा, प्रकरणवशादल ब्रह्मपर्यन्तजीवस्वरूपं वा । पद्यते गम्यत इति पदम् । त्वयमिष हि साक्षादन्यथा वा मुक्तप्रायत्वात् पदशब्दवाच्यम् । हिशब्दस्यात हेतुत्वादिपरत्वासमवात् प्रसिद्धिपरत्वम् , प्रसिद्धि-स्थलं चाह प्रसिद्धमिति ॥ ५१ ॥

प्रमुक्तप्रकारो हेयोपादेयविकागो युवत्यागमित्रपेक्ष तथैव स्पष्टो भविष्यतिति चमत्काराधिमुच्यते यदा इति श्लोकेन । मोहतरणहेतु प्रकृतं दर्शयति उक्तिति । (पृण्यपापरूपसांसारिककर्मणा हि मोहः (हक्छधम् ?) । तच फलिससम्थादिरहितकर्मणा निवर्त्यम् । ततः कारणाभावात् कार्यामाव इति भावः । अत्यत्यप्रक्रसङ्गहेतुभृतिमत्यनेन मोहस्यदानी निर्वेदयितम्भकत्वमुच्यते । मोहस्रक्षातिरिक्तस्य तत्सा ध्यस्य कालुष्यस्यभावात् मोहस्यपित्यक्तम् । कलुष्यत्वादेऽक कालुष्यपरः ।) अस्यत्त इति । आसतमेभ्य इति भावः । त्याज्यतयेति निर्वेदिवोग्यत्वायोक्तम् । निर्वेदयेत्व श्रोतव्यस्य श्रुते च उपादेयांशो निर्वेदहेतुः ?। यद्या श्रोतव्यस्येत्यस्योपादेयविषयत्वाय श्रुतस्यत्यत्व त्याज्यतयेति विशेषणम् । हेयसङ्गमुपादेयवैत्तृष्यं च परामुद्य भवति हि निर्वेदः । स च स्वावज्ञारूषः । यथाऽऽहः सान्धवेवेदिमाः-"तत्त्वज्ञाना पदीष्योदिनिर्वेदः स्वावमाननम् " (दश. ४प.) इति । श्रोतव्यस्येत्यादेः संवन्धतानान्यपष्टधानिविक्षतः विशेषकथनम् कृत इति । स्ययमेवेति । असाद्वावयादिनिरपेक्ष इत्यर्थः । सन्तासि इत्यत्व पदमेदशमं निरस्यति समिष्यक्षीति । मन्तासि इत्यत्व द्वितीयान्वयात् तृजनत्त्वं न युज्यते । तृत्वन्तत्वे तु सवि-पत्त्वविवक्षा न स्वारसिकी । अतो लुजनत्वेवक्ष युक्तम् । एवं जेतासि (११. ३४) इति वक्षयमाणोऽपि । अनवतनविहितलुङन्तोऽपि शल्दो व्यतिरिष्यतीरयेतुत्वस्यत्या भविष्यमातार्थेन व्यव्यति । अनवतनविविहतलुङन्तोऽपि शल्दो व्यतिरिष्यतीरयेतुत्वस्यत्या भविष्यस्यातः ॥ भविष्यम्यातार्थेन व्यव्यति ।। ५२ ॥

मनीविण इति पर्द भाष्यादौ न व्याख्यातम्। ज्ञानिनो भृत्वेति शांकरमत्र प्राद्यम्। बुद्धि-योगस्तु समायबुद्धिः।

<sup>2</sup> नतुःस्याज्यस्वेनावधृतानां श्रोतब्यस्वं कथमिति चेत्-परनिर्वन्धवसात् कदाचित् श्रोतब्या भवन्ति । अत्र क्रेशास्त्रह यद्वेति ।

योगे त्विमां शृणु इत्यादिनोक्तस्याऽऽत्मयाधात्म्यज्ञानपूर्वकस्य वुद्धिविशेषसंस्कृतस्य धर्मानुष्ठानस्य लक्ष(क्ष्य)भृतं योगारुयं फलमाह—

श्रुतिविविविविवाते ते यहा स्थास्यति निश्चस्य । समाधाववस्य बुद्धिस्तदा योगमवाष्यसि ॥५३ श्रुतिः श्रवणम् । असत्तः श्रवणेन विशेषतः प्रतिपन्ना सकलेतरविसजातीयनित्यनिरितश्रयस्थ्यतत्त्वात्मविषया, स्वयमवस्य एकस्या बुद्धिः अमङ्गकर्मानुष्ठानेन निर्मेनीकृते मनसि
यदा निश्चना स्थास्यति, तदा योगम् आत्मावलोकनम् अवाष्यसि । एतदुक्तं भवति—
श्रास्त्रजन्यात्मज्ञानपूर्वककर्मयोगः स्थितप्रज्ञतारूयज्ञाननिष्ठामापादयति ; ज्ञाननिष्ठारूपा

"नित्यात्मासङ्गकर्मेहागोचरा साङ्ख्ययोगधीः । द्वितीये स्थितधीलक्षा प्रोक्ता तन्मोहशान्तये॥" (६) इति संग्रहश्रोकमनुसन्दथानो ज्ञानयोगाभिधानोपकमस्तुमत्तरश्लोकमवतारयति योगे त्वित । बुद्धिविशेषो 'व्यवसायास्मिका' इत्यादिना पूर्वोक्तः । लक्ष(क्ष्य)भृतम् उद्देश्यभूतमित्यर्थः । श्रुतिदि-प्रतिपन्ना इत्यस्य प्रकृतानुपयुक्तापक्रतवैदिकवाक्यविरोधार्थतास्रमं श्रोतन्यस्य स्रुतस्य च इति प्रकृतान्तरोधेन व्युदस्यति श्रृतिः श्रवणिमत्यादिना । अस्मत्त इति । सार्वचयसर्वशक्तिपरमकारुण्यादिभि-रनाष्ट्रातश्रमविष्ठरम्भप्रमादादिदोषगन्धाद्व्याजवन्धोरीश्वरादिति भावः । विश्वत्दस्य विरुद्धार्थता-व्युदासाय वैशिष्ट्यार्थतामीश्वराच्छवणेन सिद्धां दशीयति विशेषत इति । स्यास्पतीति स्थायित्वं बक्तम् । निशेषं पूर्वोक्तं व्यनक्ति सकलेतरेति । 'अर्थेनैय निशेषो हि निराकारतया घियाम्' इति हि प्रतिद्धमिति भावः । **निश्रहाचल**शब्दयोः पौनरुक्त्यपरिहारायोक्तम् स्वयमित्यादि । उ**हे**श्यान्तर्गत-मचलत्वम् , निश्चलत्वं तु तल विधेयो विशेष इति स्वयंशव्दस्य भावः । एकरूपार्थविषयत्वा**देकरूपा** विषयान्तरसञ्चाररहिता चेत्यर्थः । अथवा श्रुतिचिप्रतिपन्नेति श्रवणस्योक्तरवान्मननस्थिरीकृतत्वं कुर्तेकर-कम्पनीयत्वञ्च पदान्तराभ्यां विवक्षितम् । यद्वा पूर्वोक्तबहुशाखत्वान-तत्वनिषेधपरोऽच्छशब्द इत्यभिप्राये-णोक्तम् **एकरूपे**ति । समावीयते अस्तिन् आत्मज्ञानमिति समाधिर्मन इति निवेचनेन तैल्रधारावद-विच्छिन्नस्थितिहेतुतामभिषयतोक्तम् असङ्गेत्यादि । समाधिशब्दस्यात बुद्धिनिशोषपरत्वे पुनरुक्त्यादिः, तत्कारुपरत्वे तु रुक्षणा च स्यादिति भावः। योगशब्दस्यात ज्ञानयोगरूपनिश्चरुवद्धिसाध्यफ्रहविषयत्वात **आत्मावलोकन**मित्युक्तम् । 'योगस्सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिपु' (नाम. ३. ना. १७९) इत्यादिमिन रनेकार्थतया प्रसिद्धोऽयं शब्दस्ततद्वावयानुकृरुमनुसन्धेयः। ननूपायतया हि योगो विहितः, स कथं फलतयाऽल निर्दिश्यते (1) । आत्मज्ञानपूर्वकस्य च कर्मयोगस्यात्मज्ञानमे । साध्यं चेत् . आत्मा-पज्ञता (३)। निश्चरुपज्ञास्थितिमन्तरेण च कोऽसावपरस्तदापाद्यो योगः (४) इत्यताह एतदक्तिमिति । तत्र <sup>1</sup>प्रथमचोधं **कर्मयोग**शब्देन योगाख्यमात्मावलोकन्मित्यनेन च परिहृतम् । शास्त्रजन्यात्मज्ञा-

<sup>1</sup> वुद्धिनिश्चला स्थास्यतीत्यस्य स्थितप्रक्षो भवतीत्येतद्र्थकत्वात् तत्कारणमेव वक्तःयं श्रुतिविप्रतिपक्तेरयनेन । न तु डोलायितत्वम् । वादि-युक्तिमूळलंदेइस्यापि वार्यत्वात् श्रुतिविप्रति-

स्थितप्रज्ञता तु योगारूयमात्मावलोकनं साधयति इति ॥ ५३ ॥

एवम्रुक्तः(क्ते) पार्थोऽसङ्गकर्मातुष्ठानरूपकर्मयोगसाध्यस्थितप्रज्ञताया योगसाधनभृतायाः स्वरूपम् , स्थितप्रज्ञस्यातुष्ठानप्रकारं च पृच्छति — अर्जुत बवाच—

स्थितप्रक्रस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव । स्थितधीः कि श्वभाषेत किमासीत वजेत किम ॥ समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा को वाचक्रदशब्दः ? तस्य स्वरूपं कीदशमित्यर्थः । स्थितप्रज्ञा कि च भाषणादिकं करोति ? ॥ ५४ ॥

वृत्तिविशेषकथनेन स्वरूपमध्युक्तं भवतीति वृत्तिविशेष उच्यते— भीमगवाजवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थं मनोगातान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रश्रस्तदोच्यते ॥५२ आत्मन्येवाऽऽत्मना मनसा आत्मेकावरुम्बनेन तुष्टः तेन तोषेण तद्यतिरिक्तान् सर्वान्

नात्मावळोकनशब्दाभ्यामात्माश्रवादिनिरासः । आत्म्ज्ञानज्ञानिष्टाशब्दाभ्यां श्रवणमात्रसिद्धतत्त्व-निश्चय-ज्ञानयोगविषयाभ्यां तृतीयस्य परिहारः । <sup>1</sup>चतुर्थोऽ(र्थमः)प्युक्तश्रकारेण साक्षात्कारतद्धेतुस्पृति-सन्तितिभेदात् परिहृतः (तम् १) । प्रथमं शास्त्रतत्त्वज्ञानम् , ततः स्पृतिसन्तित्रत्वप्रमुपासनम् , ततस्तनमूख्स्साक्षात्कार इति ज्ञानपर्वभेदः प्रदर्शितः ॥ ५३ ॥

प्रश्रह्मप्योत्तरक्षोकस्थावतारं तल पूर्वोत्तराधयोः कमान्निष्कृष्टप्रसाधे चाह एवमित । पूर्वाध-स्याभितं वक्तुमन्वयं तावदाह समाधीति । समाधिरल पूर्वनिरुक्तप्रकारं मनः । तल स्थितिः तह्रसी-करणेनावस्थानम् । कि प्रभाषेतेत्यनेन पुनरुक्तिपरिहाराय स्थितप्रज्ञस्य का भाषा इत्यल कर्तृतयाऽ-व्ययञ्ज्ञमपाकरोति को पाचकश्याव्द इति । ननु स्थितप्रज्ञः इत्येव वाचके सिद्धे कि वाचकान्तरं पृष्क्रयते, कि चाल वाचकप्रश्रस्य प्रयोजनिमत्यलाह तस्येति । केनचिह्नाचकेन हि कस्यचिर्यकार्मृतप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्ट्रश्चित्रकार् निर्माति भावः । स्थितप्रज्ञयन्वत् स्थितधीशन्वस्यार्थान्तर-परत्वप्रमनिरासाय स्थितप्रज्ञः इति पूर्वाधीक्तराव्द प्रवालाऽऽवर्तितः । किंच भाषणादिकमिति । किं प्रभाषेत इत्यादयः किंशव्दाः कियाकिरोष्णत्याऽन्वीयमानाः कियाकारप्रश्रवरा इति भावः । किं प्रभाषेते वाचिके, कि व्रजेतेति कायिके च पृष्टे, किमासीतेति मानस्वरम् , ध्यानार्थन्त्वादलाऽऽस्तस्य ॥ ५४ ॥

एवं करणल्यानुष्ठानप्रकारप्रश्नस्य साक्षादुत्तरेषु प्रजहाति इत्यादिषु चतुषु स्टोकेषु प्रथमस्य सक्ष्यं प्रश्नोतरतामि दर्शयति द्वितिविशेषेति अकृष्टानुकृत्ययोगिन्यात्मि प्रीतिरूपस्य तोषस्य कामान्तर-प्रहाणहेतुत्वात् तथाऽन्वयमाह आत्मन्येवेति । सर्वशब्द्य आत्मनि तुष्टः इत्येतत्सित्रधानिसद्धं सङ्को-प्रकृति विशेषकथनञ्च न्यर्थम् । अतोऽर्थान्तरत्यागः । 1 चनुर्थोऽपीति पाठे चतुः अोऽपीत्यर्थः । 2 स्थितप्रकृत्य भाषण व्रजतिदिक्षयन्ति न वा । अस्ति चेत् तत् कोदृशमः । अयं योगश्चेत् -अस्थीत । अन्यथा व्रजतिचेत्यिव गम्यते । अत्र भाषणव्रजनोक्ष्यः योगराहित्य दशायामात्मप्रवता स्नायोग रष्टः। 3 आत्मना आत्मन्येव तुष्टः इति सत्तम्याः कियान्वयस्वारस्यात् प्रथमयोजना । आत्मन्ये-

मनोगतान् कामान् यदा प्रकर्षेण जहाति, तदाऽयं खितपत्र इत्युच्यते । ज्ञाननिष्ठाकाष्ठेयम् ॥ अनन्तरं ज्ञाननिष्ठस्य ततोऽवीचीनाद्रविप्रकृष्टावस्योच्यते—

इःखेष्वचुहिश्रमनाः सुखेषु विगतस्पृहः । वीतरागभयकोधः स्थितधीक्षेतिरूच्यते ॥ ५६ प्रियविद्रखेषादिदुःलिनिभित्तेषु उपस्थितेषु अनुद्धिमनाः—न दुःखी मवति ; सुलेषु विगतस्पृहः—प्रियेषु सिन्निहितेष्वपि विगतस्पृहः, वीतरागभयक्रोधः—अनागतेषु स्पृहा रागः, तद्रहितः; प्रियविद्रछेषाप्रियागमनहेतुद्र्शनिनिभित्तं दुःखं भयम् , तद्रहितः; प्रियविद्रछेषाप्रियागमनहेतुद्श्चितः । स्विभृतः सुनिः—गमनहेतुप्तवेतान्तरगतदुः स्वहेतुभृतस्वमनोविकारः क्षोषः, तद्रहितः ; एवंभृतः सुनिः—

चमाह तद्यतिरिक्तानिति । यद्वा आल्मन्येवातमना तुष्टः इति वयाक्रममेवान्वयः ; आल्मैकविषयेण मनसाऽन्यतेनातालंबुद्धिरूपसन्तोष इत्यर्थः । एतद्यिभायेणोक्तम् मनसाऽऽरमेकावरुम्बनेन तुष्ट इति । तेन तोषेणोति । "न विवेदात्मनो गात्तं तत्समृत्याह्णाद्धसंस्थितः" (वि. १. १७. ३९) इतिवत् । प्रकार्षेणोति अपुनरह्युग्नित्यर्थः । स्थितपञ्चविषयक्षोक्तचतुष्ट्यं तदवस्थाचतुष्टयविषयमिति मन्यानश्चतुः श्रीयमनस्येत्याह ज्ञानिष्ठाह्मष्ट्रेपिति । उक्तं च हुर्रण्यनभैः "दृष्टानुश्रविकविषयवितृण्णस्य वश्रीकारसंज्ञा वरिगयम्" (पा. स्. १. १६) इति । ऐहिकामुन्मिकसकरुफरुविमुखस्य यस्तेषु फलेषु सवासनरागत्यागः, सा वश्रीकारसंज्ञेत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अयेकेन्द्रियसं झारू वित्रामभय इति भयस्य पृथ्यामिषानात् । यद्वा अनुद्विप्र इति निर्तुः स्वत्मातं विविक्षतम् ; वित्रामभय इति भयस्य पृथ्यामिषानात् । यद्वा अनुद्विप्र इति निर्तुः स्वत्मातं विविक्षतम् ; तत एव दुःखेषु इत्येतद्वि दुःखहेतुपरमिति मन्वान आह दुःखिनिमिन्विति । आदिशब्देनािष्रयागमनसंग्रहः । भयहेतुव्याहृत्त्यर्थमुक्तम् उपस्थितेष्वित । दुःखोत्पादनपृश्वेष्वित्रथः । दुःखव्दिवात सुस्वशब्दस्यापि हेतुपरतां तत्नािष पृथ्वहिति । दुःखोत्पादनपृश्वेष्वित्रथः । दुःखव्दिवात । विगतस्पृह्वीत्ररागः शव्दयोत्पृत्वरक्षितां व्यनक्ति अनागतेषु स्पृह्वा राग इति । स्पृह्वारागश्वदौ सामान्यविशेषविषयो । तत्थ विशेषशब्दस्यविषाने गोवकीवर्दन्यायात् सामान्यशब्दः त्यावितिक्तित्तरम् हित । पुनरुक्तिपिद्वाराय भयस्य दुःखिक्शेषतामाह प्रियेत्यादिना हेतुदर्शन-निमिन्तं दुःखिमित्यन्तेन । प्रियविश्वेषाियागमनयोर्दुः सक्त्यशेस्तामग्रीदशामापत्रो यो हेतुः सूचकश्य निमिन्ति द्वानित्यन्तेन । प्रियविश्वेषािप्रयागमनयोर्दुः सक्त्यशेस्तामग्रीदशामापत्रा यो हेतुः सूचकश्च निमिन्तिः, तस्य बद्दीनं सक्त्यसहकारिसंपन्त्युरुधेक्षागर्भम् , दर्शनमिति ज्ञानमात्रपरं वा ; तेन यहः सं वदानिमेवाक्षकम्पादिहेतुरुत्वते, तद्वयमित्यर्थः । कोष्ववश्वेषा प्रियविश्वेषादिश्वेकारिकः, सर्वत कोषोन्त्रपित्वर्शात्ता । अन्वतनेषु वातातपकण्टकादिषु वाषकेष्वपि क्रोषातावात् चेतनेत्युक्तम् । यस्तृ-मत्तत्वापि कुप्यति, सोऽपि चेतनत्वाध्यासेन । अन्तराब्देत सद्युःसहेतुस्वमनोविकार्त्वात्तन् । स हि तथाविषे विदेदादिरूपस्यात् । क्रोषादात्महननाद्यपि परपीडामिसन्विम्पर्मम् । मनोविक्तरोऽत्व रक्तराविषे

भारमनेति मन्ययात् संनिकर्षसिद्धात् यद्वेति द्वितीययोजना । 1 प्रजहातीत्यतः प्रशस्दिशित-प्रकृषे स्व वस्यमाणाधस्थातौ वैलक्षण्यम् । स स सवासनत्यागः ।

## आत्ममननशीलः स्थितधीरित्युच्यते ॥ ५६॥

ततोऽर्वाचीनदशा प्रोच्यते--

यः सर्वेद्धानभिन्नेहस्तत्त्व भाष्य ग्रुआग्रुभम् । नाभिनन्दित न द्वेष्टि तस्य प्रदा प्रतिष्टिता ॥
यः सर्वेत प्रियेषु अनभिन्नेहः उदासीनः, प्रियसंब्र्हेषविक्रहेषस्यं ग्रुभाग्रुभं प्राप्याभिनन्दनद्वेषरहिता, सोऽपि स्थितप्रद्वाः ॥ ५७ ॥

ततोऽर्वाचीनदशामाह—

्यदा संहरते चार्य कुमोऽङ्गानीव सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्तव्य प्रश्ना प्रतिष्ठिता ॥ ५८ व्यदेन्द्रियाणीन्द्रियार्थान् स्पृष्टुष्ट्युक्तानि, तदेव कुर्मोऽङ्गानीव, इन्द्रियार्थभ्यः सर्वशः प्रतिसंहत्य मन आत्मन्यवस्थापयति, सोऽपि स्थितप्रज्ञः । एवं चतुर्विधा ज्ञाननिष्ठा । पूर्वपूर्वी उत्तरोत्तरनिष्पाद्या ॥ ५८ ॥

स्तमस्समुन्मेषकृतो व्यापारिविशेषः । तद्धीनो ज्ञानिवशेष इह तच्छव्देनोपचयेते । **मुनिः** मननशीस्त्र इति व्युत्पत्तिः । तस्य मननस्यात्र साक्षात्करिप्यमाणात्मविषयत्वव्यवत्व्यक्षमुक्तम् आतममननशीस्त्र इति । एक्मस्यास्तृतीयावस्थाया उद्वेगस्पृहादिविष्हसाम्येऽप्योत्सुवयमात्रक्षमवासनाशेषस्य भस्मच्छन्नदहनवद-वस्थितत्वात् चतुर्थावस्थातो विशेषः ॥ ५६ ॥

अथ व्यतिरेकसंज्ञाच्या द्वितीया दशोच्यत इत्याह-ततोऽर्वाचीनदशेति। अपियेषु सेहमसङ्गामावात् प्रियमालविषयः सर्वेत्रतिशब्द इति दशेयति प्रियेष्विति । अभिस्नेहस्य पृष्टतिपर्यन्ततया तदमाबोऽल तद्विपयोपातानपृष्टतिराहित्यपर्यन्त इत्याह उदासीन इति । एतेन, प्रियेत्यादिना च व्यतिरेकसंज्ञात्वं व्यनक्ति । अपकःन् कपायान् पकेम्यः पृथमगुसम्थाय तेषामपि पाकापादनदशा हि व्यतिरेकसंज्ञा । तल स्वयं प्रियेषु प्रवृत्तिरहितो दैवागतिष्रयसंश्चेषविश्चेषयोध्याभिनन्दनादिरहित इत्युक्ते पकेतिपा रागादीनां पाकाभिरूषेण मनोव्यापारविशेषनिवारणमुक्तं स्यात् । अभिनन्दनं चालाभितो नन्दनम् ; अनुवन्धिषु काळान्तरे च शीत्यनुवृतिहेतुमृतनन्दनमित्यर्थः ; एवं द्वेषेऽपि ॥ ५० ॥

र्वथमं बाह्येन्द्रियाणि विषयेभ्यः शतिसहत्य मन आत्मिनि व्यवस्थापयितुं यतेतः **इयं यतमान** संज्ञा 📗 अथ बलात्सहतान्यपि बाह्येन्द्रियाणि सावदोषरागद्वेषादिदोषकञ्जपितं मनः पुनःपुनरवसरे इदानी ज्ञाननिष्ठाया 1दुष्प्रापतां तत्प्राप्त्युपायं चाह-

विषया विश्विवतन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं द्वापुर निवर्तते ॥ ५९ इन्द्रियाणामाहारा विषयाः, निराहारस्य विषयेभ्यः प्रत्याहृतेन्द्रियस्य देहिनो विषया विनिवर्तमाना रसवर्जे विनिवर्तन्तेः रसः रागः । विषयरागो न निवर्तत इत्यर्थः । रागोऽप्यात्म-स्वरूपं विषयेभ्यः परं सुखतरं दृष्टा निवर्तते ॥ ५९ ॥

भेरयेत् . स्वयं चात्मिन स्थातुं न शक्तुयात् ; अतः पकावशिष्टरागद्वेषादीन् औदासीन्य-अनिभनन्दनादिक्रमेण पचेत् । इयं व्यतिरेकसंज्ञाः / ततः पकेऽपि दोषशेपेण अनादिविषयानुभवभावितवासनामात्तमात्मानमनुबुम्पन्तीं शेष्ठुपीं प्रतिविभन्तसेत् । तत निर्रतिशयानन्दरूपमात्मानम्, पुरुषद्वेषिण्या योषित इव
युवानम्, प्रदर्श्य प्रदर्श्य क्रमादात्मिन तोषग्रत्याय तेन तोषविशेषेण, दवीयसा च स्पृतिविष्ठुरेण कःलेन
बाह्यविषयवासनाजालग्रुम्पुरुवितुशिदे । संयमेकिन्द्रियसंज्ञा । या पुनस्तमस्तवासनाविलयादौत्सुक्यमात्रस्याप्यसंभवेन परमवैराग्यदशा ; सा वशीक्षाश्यंज्ञा ज्ञानिष्ठाष्ठा योगाल्यमात्मावलोकनं साथ
यित । तज्ञावलोकनं परम्परया निर्तत्तरायपुरुपार्थमृतामृतत्वाय कल्पत इति दर्शितं भवित । कामानां
तथात्वेनादर्शनं, तथा दश्यमानेन्विप निर्म्पन्नता, सक्रलेशेन मुज्यमानेव्यिप नातिस्नेदः, प्रजुरेऽपि रागे
तिन्नरोषसंसम्भ इति चावस्थावैषम्यम् । श्र्यासरितत्वं तस्य स्वरूपम् , आश्चर्यवद्वद्वित (२-२९) इति
तस्य तदेकमाषणं, तदनुसम्थानस्यं तदासनं, तर्शासय्येमष्टविक्षं तस्य वर्जनं चेति प्रश्चनुष्कीतरं सिद्धम् ॥

अश्रीतर्शकरणं पूर्वेण पृथगर्थं गद्दयं सङ्गमयन्नवतारयित इरानीमिति । ज्ञाननिष्ठायाश्चतु-विवाया अभीति होषः । निराहः १६३ त्यांने भोजनिषेषभ्रमं व्युद्ध्यति इन्द्रियाणामित्यादिना । न चैकान्तमनश्चतः', 'युक्ताहारिवहारस्य' (६. १६, १७) इति हि वक्ष्यते । अन्यन्नापि ''अत्याशना-दतीपानातः'' (ते. ना. १. ६९) इति हुच्यते । मोक्षधर्मे च-—'दशैतानीन्द्रियोक्तानि द्वाराण्याहार-सिद्धये' इति संवेन्द्रियविषयाणामाहारशन्देन ग्रहणं दृष्टम् । न च प्रसिद्धाहारिनपेधमालात् अशेषविषय-निवृत्तिः, तस्य कतिपयेन्द्रियविषयत्वादिति भावः । रसवर्जिमित्येतावित वावयतारपर्यमिति द्योतनाय विनिवर्तमाना इत्यन्दितम् । आत्मभोचररागव्यवच्छेदायाह विषयराम इति । प्रस्तुता एव विषयाः परमिति निर्देशस्याविषद्यमर्हन्तिति विषयेभ्यः परमित्युक्तम् । कालाविक्रतपरत्वमानस्यात्रानुपयुक्तत्वात् विषयरागनिवर्तनौपयिकं परशन्दार्थमाह सुस्वनरमिति । विषया हि सुस्वरुणाः ; आत्मश्चरूपं तु तत्तोऽप्यतिशयेन सुस्वरूप् । अत्र दृष्ट्वा निवर्षते इति दर्शनस्य रागकनुकत्वया निर्देश औपचारिकः । यद्वा, दृष्ट्वा स्थितस्य अस्य देहिगो रागो निवर्तत इत्यन्वयः । एवमात्मदर्शनेन विना विषयरागो न निवर्तत इत्युक्तम् ॥ ५९ ॥

<sup>1</sup> दुष्प्रापत्वं रहोश्द्व**ेनोच्यते । अधोपायः । 2 स्थितग्रहस्य का भाषे**ति रहोकगत-प्रश्नानां किमुत्तरमुक्तमित्यत्र तद् विशदयति आत्मरतित्वमित्यादिना ।

यततो द्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः। इन्द्रियाचि प्रमाधीनि हरन्ति प्रसमं मनः॥ ६० आत्मदर्शनेन दिना विषयरागो न निवृत्तेते, अनिवृत्ते विषयरागे विपश्चितो यत-मानस्यापि पुरुषस्येन्द्रियाणि प्रमाधीनि बरुवन्ति, सनः प्रसद्य हरन्ति ।

प्विमिन्द्रियज्ञयः आत्मद्र्शनाधीनः, आत्मद्र्शनिमिन्द्रियज्ञयाधीनमिति ज्ञानिष्ठा दुष्प्रापाः॥
तानि सर्वाणि संयस्य युक्त आसीत भरवरः। वरो हि यस्वेन्द्रियाणि तस्य प्रका प्रतिष्ठिता ॥
अस्य सर्वस्य परिजिहीषेषा निषयानुराधयुक्तत्तवा दुर्जयानीन्द्रियाणि संयस्य,
चेतसर्ग्याभ्रयभूते मिय मनोऽवस्थाप्य समाहित आसीत । मनिस मिद्विष्ये सिति निर्देग्धाः
शेषकत्वष्वत्या निर्मेलीकृतं निषयानुराधरहितं मन इन्द्रियाणि स्ववद्यानि करोति । ततो
वस्येन्द्रियं मन आत्मद्र्शनाय प्रभवति । यथोक्तम्, ''यथाऽग्निरुद्धत्विस्तः कस्यं दहति
स्रानिलः । तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकित्विष्यम् ॥'' (वि. पु. ६. ७. ७४;
गा. पु. २२२. १६) इति । तदाह वरो हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्टिति ॥ ६१ ॥

पर्यं मय्यनिवेष्य सनः स्वयन्तिवेषिन्द्रियज्ञये प्रवत्ती निष्ठो स्वतीत्याह—

अथानिवृत्ते विषयरागे दुर्जवानीन्त्र्याणीत्युच्यते यतत इति छोकेन । विष्विद्यस्यं यतमानत्वे हेतुरिति चोतनाबोक्तं विषश्चित्तो यतमानस्थापीति । अत्र विषश्चित्तं शास्त्रज्ञयहेयोपादेय-विवेकवत्त्वम् । वछवतां प्रमाथितं हि 'वछवानिन्द्रियमागे विद्वांसमपि कर्षति' (मनु. २. २१५) इति स्मर्थते इति ज्ञापनाय वस्त्रवन्तिस्यक्तम् । इन्द्रियाणां वस्त्रं च रागादिरेव ।

उक्तक्षोकद्वयतात्पर्यसिद्धमन्योन्याश्रयणं तत्फरुं चाह एवमिति ॥ ६० ॥

तक्षिन्योन्याश्रयदृषितेऽर्थे साध्यसाधनभावः कथं पृत्रेष्ठपिद्य इत्यत्नोच्यते तानि सर्वाणि इति । अस्येति अन्योन्याश्रयादिद्रोषस्येत्यर्थः । संयम्येति विषयस्पर्शनिवारणमालमलोच्यते, न त्विन्द्रियजयावश्चा । प्रत्यरः इत्यत्न वक्तृविग्रहवैशिष्टध्विवश्चया सिद्धं ग्रुमाश्रयविग्रहविद्योषयस्य चेतस इत्यादिना विष्टतम् । श्रुभशब्देन हिरण्यगर्भादेः अश्ययशब्देन परिशुद्धात्मस्रक्ष्यस्य च व्यवच्छेदः । प्रुक्तशब्देनात्न विषयस्मावात् सुकरं चित्तसमाधानं विवक्षितमित्याह समाहित इति । मत्यरः इत्येतावता कथमन्योन्याश्रयादिपरिहार इत्यत्नाह मनसीति । अलाशेषशब्दनेगीपायविरोधिसर्वकर्मसंग्रहः । निर्मर्शकृतं रजस्तनोविरहितं ; तत एव शब्दादिशिष्यानुगागरहितम् । अल प्रज्ञाशब्दस्य ज्ञानिष्ठाफक्ष्यर्थनत्वमात्मदर्शनशब्देनोक्तम् । शुमाश्रयानुसन्धानस्य करुमपविनाशकत्वे स्पृत्यन्तरसंवादमाह यथेति । आत्मदर्शनमन्तरेणविन्द्रियजयसिद्धेनीन्योयाश्रयः। अतः पूर्वोक्तसाध्यसाधनभावोपपितिरस्यत्रगारिस्य इत्याह तदाहेति ॥ ६१ ॥

उक्तान्योन्याश्रयणफलम्ताया इन्द्रियजयात्मद्दीनयोरसिद्धेः प्रकारः श्लोकद्वयेन प्रपञ्च्यत इत्याह एवमिति । अदद्यात्मखरूपस्य विषयान् ध्यायतः इत्यनुवादसिद्धां विषयेषु स्वरसवाहितां

<sup>1</sup> अत्र तस्य प्रज्ञापतिष्टितेत्युपदिष्टस्योपपादनारम्मः, 68 तस्य प्रज्ञा प्रति ष्टतेत्यत्र पतदुषसंद्वारः।

्रियायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात् संज्ञायने कामः कामात् कोघोऽभिजायने॥ कोघाद्भवति संमोद्धः संमोद्धात् समृतिविभ्रमः । समृत्वेभ्रंतात् वुक्रिनाको तुद्धिनामात् पणस्यति॥

अनिरस्तविषयानुरागस्य हि मय्यनिवेशितमनस इन्द्रियाणि संयम्यावस्थितसापि अनादिपापवासनया विषयभ्यानमवर्जनीय स्थात् । भ्यायतो विषयान् पुंसः पुनरपि सङ्गो ऽतिश्रवृद्धो जायते । सङ्गारसंजाते कामः । कामो नाम सङ्गस्य विषाकदशा । पुरुषो यां दशामापन्नो विषयान् अञ्चलवा स्थातं न क्रकोति, स कामः ॥ कामास्कोषोऽभिजायते । कामे वर्तमाने, विषये चासिन्नहिते, सिन्नहितान् पुरुषान् श्रति, एभिरस्मदिष्टं विहतमिति क्रोधो भवति । कोषाद्भवति संमोहः । संमोहः कृत्याकृत्यविवेकशून्यता । तया(यया) सर्वे करोति । ततश्र शारक्ये इन्द्रियजयादिके प्रयते स्मृतिश्रंशो भवति । स्मृतिश्रंशाद् बुद्धिनाशः आत्मज्ञाने यो व्यवसायः कृताः, तस्य नाशः स्थात् । बुद्धिनाशात् पुनरिप संसारे निमयो विनशे भवति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

सहेतकमाह अनिरस्तेति । अत संयम्धेति निमीलनाडिमावकृतं निवारणमुच्यते । उपजायत इत्यत्रोपसर्गासिप्रेतं विविच्य दर्शयति अति प्रश्वते जायत इति । सङ्गकामयोरभेदात् कार्यकारणभावानु-पपतिरित्यताह कामो नामेति । विपाकदशाशब्देन सामान्यत उक्तेऽपि व्यावृत्ताकारप्रतिपितन स्यादिति तल्लक्षणमाह पुरुष इति । सर्वदा कामस्य क्रोथहेतुत्वं नास्तीत्यत उक्तं विषये चासिकिहित इति । न केवळं कामप्रतिबन्धकानेव पुरुषान प्रति कोधः, अपि त कृत्याकृत्यविवेकान्धतया तस्यां दशायामुष्रुभ्यमानान् सर्वान् प्रत्यपीति द्योतनाय सन्निःहितानित्यक्तम् । ईश्वरोऽपि कोघवेगमभिनयन् कर्सिश्चिदेव रक्षिति द्रह्मति, ''सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं जगत् सरीलं परिवर्तयान्यहम्'' (रा. आ. ६४. ७६) इत्याह । अयं च अभिजायत इत्यत्नोपसर्गासिप्रतार्थः ; अभितो जायत इत्यर्थः । समित्येकीकारे, ततोऽत्र संमोहः कृत्याकृत्याविनेकात्मा मोह इत्यभिषायेणाह कृत्येति । संमोहस्य स्मृतिश्रंशहेतुत्वे अवान्तरव्यापारमाह तथेति । "कुद्धः पापं न कुर्यात् कः कुद्धो हन्यादुगुरूनिय" (रा. सु. ५५. ४) इत्याद्यनुसारेणोक्तम् **सर्व**मिति । **तत्रश्चे**ति । <sup>1</sup>सावान्तरम्यापारारुंगोह।दित्यर्थः । सर्तन्ये प्रस्तुतविषये स्मृतिश्रंशं योजयति प्रारब्धेति । स्मृतिश्रंजादित्यतस्यावयश्रङ्गलावशात स्मृतिविश्रमशब्दस्य तदे-कार्थःवायोक्तं समृतिभ्रंशो भवतीति । बुद्धिनाश्च इत्यत प्रकृतं बुद्धेविँशेषमाह आरमेति । न ताविदह सामान्यतो ज्ञानमातं मुद्धिशब्दार्थः, न च इतः पूर्वमात्मदर्शनं सिद्धम् : न च भविष्यदात्मदर्शनादिकः मिदानीं नाशयोग्यम् । अतस्तिक्षिप्सया कृतस्तदुपायानुष्ठानाध्यवसाय इहोपायस्मृतिसाध्यो वृद्धि-शब्देनोच्यत इति भावः । प्रणञ्यतीत्यव नित्यस्याऽऽत्मनो नाञो ह्यसत्समत्वम् । तच्च यथावस्थिताका-रानुपलम्भः। स च देहात्मभ्रमादिकृतः, तला(था)पि हेतुर्देहसंबन्ध इत्यभिषायेणोक्तं संसारे निमग्न इति॥

<sup>🕽</sup> अवान्तरव्यापारः अन्यकरणम् । करणं प्रयत्नः ॥ स्मृतेर्विभ्रमः विशेषेण चलनम् ।

रागद्वेपश्चिमुक्तेस्तु विषयाम् इन्द्रियेश्वरत् । अप्रमानद्वेषिवेयारमा प्रसादमधिनच्छिति ॥ ६४ उक्तेन प्रकारेण मधि सर्वेश्वरे चेतसद्युमाश्रयभूते न्यस्तमनाः निर्देग्वाशेषकस्मपतया रागद्वेपनियुक्तेस्तरमद्वेशिन्द्रियैः विषयांश्वरत् विषयांस्तिस्कृत्य वर्तमानः विधेयातमा विधेयम्मनाः प्रसादमधिगच्छिति निर्मेलान्तःकरणो अवतीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतस्ये हाःशु वृद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अस्य पुरुषस्य मनःप्रसादे सति प्रकृतिसंसभिष्ठयुक्तविदुःस्वानां हानिङ्गपजायते । प्रसन्नचेतसः आत्मावलोकनविगे विदोषशहितमनसः तदानीमेव हि विविक्तात्मविषया बुद्धिः पर्यवतिष्ठते । अतो मनःप्रसादे सर्वदःस्वानां हानिर्भवत्येव ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावता । न चाभावयतः बान्तिरशान्तस्य कुतः सुन्नम् ॥ मयि सन्त्यस्तमनोरहितस्य स्वयत्नेनेन्द्रियनियमने प्रवृत्तस्य कदाचिद्रिय विविक्तात्मविषया बुद्धिने सेत्स्यति । अत एव तस्य तस्त्रावनाः च न संभवति । विविक्तात्मानमभावयतो विषय-

अथ "तानि सर्वाणि" (६१) इरयुक्तार्थकरणेऽन्योन्याश्रयपरिहारपकारः परमध्योजनसूतसंसारनिवृत्तिश्च श्लोकद्वयेन प्रपञ्चयते रागद्वेपति । रागद्वेपवियोगोऽपि कुत इत्यक्त पूर्वोक्त एव हेतुरित्यिमप्रायेणाह उक्तेनेति । रागद्वेपयोगोऽक्वेन्द्रियाणामात्मवश्यताहेतुः । विषयाश्चरित्ययेन विषयभोगश्रमन्युदासायात्मवश्यत्वकितमाह विषयोगित्तरस्कृत्य वर्तमान इति । चर्गतिरत् गत्वर्थः, आक्रमणरूपगतिपरः, भक्षणार्थो वा संहरणपर इत्युभयथाऽपि क्तिरस्कारार्थत्वमत्न विवक्षितम् । तिरस्कारोऽत्र
अनादरः । तथा च नैवण्युकाः, 'अनादरः परिभवः परीभावित्तरिक्तया' (नाम. १. ना. २०४) इति ।

बाक्षोन्द्रयतिद्वषयविजयो हि मनोविजयार्थं इत्यभियायेणाह विधेयमना इति । विधेयारमेति मनसः
प्रमक्तत्वात प्रसन्नचेतम् इति वक्ष्यमाणत्वाच प्रसादो मनोनैमेश्वमित्याह निर्मेश्चेति ॥ ६४ ॥

प्रसादे इति स्टोके प्रसादहानिकाव्ययोः कमात् षष्टीद्वयान्यत्रमं व्यवस्थन् अन्वयप्रकारमाह अस्येति। "दुःखाज्ञानमळा वर्माः प्रकृतेस्ते न चात्मनः" (वि. ६. ७. २२) इत्याव्यभिन्नतेषाधिकत्वेन हानिकोग्यत्वार्थमाह प्रकृतीति। प्रतिवन्धकाभावे बाग्रु कार्योत्पत्तिरित्यभिन्नायेण प्रसन्नचेतस इत्य-स्यार्थमाह आत्मावस्रोकनिकोधिदोवरहितमनस इति। मनःप्रसादस्य सर्वदुःखहानिहेतुत्वमात्मदर्शन-हेतुत्वाद्यप्रयत इति हेत्वर्थस्य हिशव्दस्यार्थमाह अत इति॥ ६५॥

अथ पूर्वोक्तान्योनयाश्रयफळभूतामात्मदर्शनासिद्धि 'बुद्धिनाशात्मणश्यिति' (६६) इत्येतद्विवरणरूपेणान् ततः परमप्रयोजनस्याप्यछाभपकार उच्यते नास्तीति । यक्त आसीत मत्परः (६१)
इति पूर्वोक्तस्य निष्टितिरयुक्तशब्देनोच्यत इति तात्त्र्येणाह मघीति । यततो ह्यपीति (६०) पूर्वोक्तं स्मारयति स्वयन्नेनेति । नास्तीत्यनेनाभिषेतमाह कदाचिदपीत्यादिना । अतिचिरकालप्रयासेना-पीत्यर्थः । द्वितीयपादस्थमयुक्तस्येति पदं श्रृङ्खलौचित्यायायुक्तत्वफळभ्तवुद्धसभावलक्षकमिति तात्पर्येणाह अत एवेति । यहा तस्येत्युक्तपरामशैः, अत एवेति तु बुद्धस्थमावत्त्रेत्वर्थः । अथवा परम्परया स्पृद्दाश्चान्तिर्म भवति । अशान्त्रस्य विषयस्पृदायुक्तस्य कृतो <sup>1</sup>ित्यन्तिरतिशयस्यस्याप्तिः ॥ पुनस्युक्तेन प्रकारेणेन्द्रियनियमसम्बर्भवोऽनर्थनाह—

इन्द्रियाणां वि चरतां यन्यनाऽद्वान्यक्षीयते । तः स्य हरिः धवां वायुनांविभवाम्मस्ति ॥ ६७ ॥ इन्द्रियाणां विषयेषु चरतां वर्तमानानां वर्तममनु गन्मनो विधीयते पुरुषेणानुवर्यते, तन्मनोऽस्य विविक्तारमप्रवणां पद्मां हरित श्विप्यत्रवणां करोतीत्यर्थः ; यथाऽम्मसि नीयमानां नावं प्रतिकृत्वो वायुः प्रसद्ध हरित ॥ ६७ ॥

हेतुत्वमभिन्नेत्वायुक्तस्वादेवेति विवक्षा ; भिन्नविषयभावनान्तर्निषेषायोगात् तद्भावनेत्युक्तम् । 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (५९) 'रागद्वेषवियुक्तेः' (६४) 'राखेषु विगतस्प्रहः' (५६) इत्याधानु-गुण्येन शान्ति विशिन् विषयस्प्रहःश्चान्तिरिति । अञ्चान्तस्येव सर्गातिसुख्काभादमृतत्वप्रकरणिद्धं सुखस्य विशेषमाह नित्यनित्तित्वेति ॥ वैश्वनेन क्षोकेन प्रत्याहारादियोगावयवचतुष्ट्यस्य तत्फरुस्य निःश्चेयसस्य च यथासंभवमभिधातात्पर्वाभ्यो पूर्वपूर्वभावानुत्तरोत्तरस्याकामस्पूचितो गवति ॥ ६६ ॥

अथेन्द्रिवनिम्रहाभावे बुद्ध्यभायस्य पूर्वोक्तस्य मकारः इं द्रेप्ट्रेयःणाम् इत्यनःवरःश्लोकेनोच्यत इत्य-पुनरुक्तिः ; आदरार्थं वा पुनरुक्तितित्वनिधायेणाह पुनरुक्तिः । केवलस्पन्दादिमालस्युदासाय विषयेष्व-रयुक्तम् । इन्द्रियाणां सर्वेषां न विषयेषु संचारोऽत्ति, अतस्त्रोन्मुख्यमर्थं इति व्यञ्जनाय "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते" (गी. प. ९) इति प्रयोगान्तरानुसारेण वर्त्तमानानामित्युक्तम् । यत्त्रच्छव्ययोमेनोन्ववयस्यमेवीचितम् । प्रज्ञाहरणे तस्यैन प्रधानत्वात् ; अनत्तो वाह्योत्त्रियानुविधाने सर्वेन्द्रियसाधारण्येन वक्तस्य यदिति निधरिणस्य प्रयोजनाभावात् वाह्योत्त्रवस्य मनोनुविधाने प्रज्ञाहरणाभावाच । 'यवेकं क्षर्तिनिद्यम् ' (मनु. २. ९९) इति मनुवचने तु मन्त्रोऽनुक्तत्वादिन्द्रियशब्दाभ्यासादेकशब्द्यकाच निर्धारणार्थतेव । न च त्तुक्यत्वमस्यापि वाययस्य निर्वन्धनितिष्वरा वर्तनम् सु यन्मन इत्याद्यक्तम् । विश्रीयते इत्यस्य कर्त्रपेक्षां पूर्यति पुरुषेक्षेति । स्वस्त्रैवायमविनय इति भावः । अनभिसंहितदेशपापणं हि दृष्टान्तेऽभियेतिसित प्रदर्शयन् हरतिविनाशनार्थताश्रमान्यसिति । अनिष्टिवपयप्रापणनिदर्शनत्वायोक्तं प्रसित्तनाऽन्वयश्रात्तिमपाकरोति स्वर्श्यस्य नीवस्यभागिति । अनिष्टिवपयप्रापणनिदर्शनत्वायोक्तं प्रतिक्रक्ष इति ॥ ६० ॥

<sup>3</sup> यस्मनः इत्यत्र एकं द्वितीयान्तम् अन्यत् प्रथमान्तमिति स्वीकारं यदिति द्वितीयान्तं सेत् , इन्द्रियमध्ये यदिन्द्रियममु मनो विधीयते उत्यत्वे दोषमाह वाह्यन्द्रियमुविधाते इति । मना-पदं द्वितीयान्तं कृत्वा मनोऽनु यदिन्द्रियं विधीयतः इति पदे दोषमाह मनोनुविधाने इति । मनुस्मृतौ "इन्द्रियाणां हि सर्वेषां यद्येकं अरकीन्द्रियम् । नेनारः अरति प्रशा दतेः पादादिवोदकम्" इत्यत्व इन्द्रियमध्ये एकविति पत्येक्वप्रदेणात् तदैकक्ष्यम् । तत् कृतिस्यवाद यद्येकमिति । अतो यदिति प्रथमान्तं प्रथमान्तमनोविद्येषणभेति । अनुस्मृतौ यद्यक्तम् , तत् न केवलेन्द्रियविषयम् , क्वि क्वमनोनुवृत्तेन्द्रियविषयमिति इतो झायत इति भावः ।

तसात् यस्य महावाहो निग्रुशेतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८ तसादुक्तेन प्रकारेण श्रुमाश्रये प्रचि निविष्टमनसी यस्येन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशो निग्रुहीतानि, तस्यैत्रात्मनि प्रज्ञा प्रचित्रिता भवति ॥ ६८ ॥

एवं नियतेन्द्रियस प्रसन्तमनसः विद्वित्त ह

या निशा सर्वभृतानां तथां जागर्ति संयती। यथां जाग्रते भृताने सानिशा पर्यातो मुनः॥
या आत्मविषया बुद्धिः सर्वभृतानां निशा निशेवाप्रकाशा, तस्वामात्मविषयायां बुद्धौ
इन्द्रियसंयमी प्रसन्नमनाः जागर्ति आत्मानमवलोकयन् शास्त स्वर्यः। यथां बन्दादिविषयायां
बुद्धौ सर्वाणि भृतानि जागति अयुद्धानि भवन्ति; सा शन्दादिविषया बुद्धिशतमानं पर्यतो
मुनेर्निशेवाप्रकाशा भवति ॥ ६९ ॥

'यदा संहरते' इत्याद्युपकान्तः इन्द्रियनिष्रहोपदेश उपसंहियते तस्मादिति छोकेन ॥ तसा-दिति इन्द्रियानुविधायिनो मनसः पञ्चाप्रतिष्ठाविरोधित्वादित्पर्यः । नियहहेतुं प्रागुक्तमनुकर्षति— - उक्तेनेत्यादिना ॥ ६८ ॥

एवमुपायमुपदिश्य परुमुपदिश्वतीत्याह यत्रमिति । प्रामुक्तस्यैव फरूस प्रशंतापर्श्वादपुनर्हकः । अतो या निशेत्याहिमिः तिभिः छोकैः प्रजहातीत्यादिनोक्ताव्याच्छुष्टयिद्धिर्मिग्यते । 'विहाय कामान् , निःशृष्टः' इत्युभाभ्यां यतमान्यतिरेक्तसंज्ञ्योरुपर्यक्षणम् । यहा छोकह्येनावस्थाच्छुष्टय-फर्छ, तृतीयेन त्वस्थाच्छुष्यं निगम्यतं हित विभागः । या इति प्रसिद्धतया निर्देशोऽत्र प्रस्तुतम्ज्ञाविषयः । साक्षात्रिशाया देशकारुपेदेन विपरिवर्तमानायाः स्वभृतसाधारण्याभावादिति तात्येणाह् या आरम्पदिश्यति । उपचारनिमितं व्यनक्ति निश्चेषाप्रकःश्चेति । स्वप्रकाशाया अपि बुद्धेरमस्तत्वशायामप्रकाश-त्वमुपपद्यते । इन्द्रियनिग्रस्स प्रकृतत्यान् स प्रवात संयामस्वनदार्थ इत्यभिषायेणोक्तम् इन्द्रियसंय-मीति । या पुनः, ''त्वयमेकत संयमः'' (३. ४) इति धारणाध्यानसमाधीनां समुच्चितानां संयमत्वेन पात्रज्ञरपरिभाषा, साऽत न विवक्षितीत भावः । इन्द्रियसंयमस्य बुद्धिज्ञने अवान्तर्व्यापारं पूर्वोक्तमाह प्रसन्नमा इति । जागर्तीत्यत्व मुख्यार्थायोगादाह् आत्मानिमिति । बुद्धौ जागरणशब्दिनिर्दिष्ट प्रवुद्धन्वं प्रकाशमानप्रसत्बुद्धिविष्टवनेव ; सा च सविषया प्रकाशत इति भावः । बुद्धिप्रकरणत्वात् यस्यामिति निर्देशोऽपि बुद्धिविषयः ; सा च बुद्धिः भृतानीत्यसंयमिनिष्टत्व व्यवदेशात् आत्मदर्धिनी निश्चात्वचचनाच श्चद्दाद्दिविषयेत्यक्तम् । सर्वभृतानामित्यत्व समासनिमग्नोऽपि सर्वशब्दो भृतानीत्यत्वापि बुद्धवा निष्टुक्यान्वेतत्व इति सर्वाणीत्युक्तम् । पश्यत इत्यत्व कर्माकाङ्क्षायाम् आत्मान-मिति वकरणसिद्धमुक्तम् ॥ ६९ ॥

एवं शब्दाबदर्शनपर्यवसितात्मदर्शनमयी सिद्धिरुक्ता ; एतस्या एव सिद्धेरर्वाचीनामदूरविष्रकृष्टां

आपूर्वमाणमञ्ज्ञतिष्ठं समुद्रमाएः प्रविशन्ति यहत् । तद्वतः कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

यथा स्वेनैवाऽऽपूर्वमाणमेकरूपं सपुद्रं नादेय्य आपः प्रविश्वन्ति, आसामपां प्रवेशेऽप्यं प्रवेशेऽप्यं प्रवेशेऽप्यं प्रवेशेऽप्यं प्रवेशेऽप्यं स्वेशे च समुद्रो न कश्चन विशेषमापद्यते — एवं सर्वे कामाः श्रव्दाद्यो विषयाः यं संयमिनं प्रविशन्ति इन्द्रियगोचरतां यान्ति, स श्रान्तिमामोति । शब्दादिष्विन्द्रयगोचरतामापन्नेष्व- नापनेषु च स्वात्मायलोकनतृष्ययेव यो न विकारमामोति, स एव शान्तिमामोतीत्वर्थः । न कामकामी । यः शब्दादिभिर्विक्रियने, स कदाचिद्षि न शान्तिमापनोति ॥ ७० ॥

विद्वाय कामान् यः वर्षान् वृमांश्चरात निस्स्वृद्धः। निर्मनो निग्द्वारः स शान्तिमधिगच्छति॥ काम्यन्त इति कामाः शब्दादयः । यः प्रमान शब्दादीन सर्वीन विषयान विहाय तत्र निस्तपृद्धः तत्र ममनारहितथा, अनात्मिन देहे आत्माभिमानगहितथरित : स आत्मान शब्दादिविषयदरीनेऽप्यविकारतारूपामवस्थामाह अ.प्रयमाणमिति । अत प्रवेशाप्रवेशयोरविशेषोपल-म्मस्य विवक्षितत्वात् आपूर्यमाण्मिति न प्रविज्ञान्तीमिर्नादेथीमिरद्भिरापुर्णं विवक्षितम् , अपि त दार्धा-न्तिके विवक्षितायाः स्वात्मावळोकनतृप्तेः प्रतिनिर्देशः क्रियते इति दर्शयति स्वेनैवेति । अचलप्रतिष्ठ-शब्दोऽत्र सीमातिलङ्कानादिहेत् मृतवृद्धिहासराहित्यपर इत्याह एक्स्प्रमिति । नादेरय इत्यनेन समुद-प्रयत्निरिपेक्षं स्वतस्समुद्रपावण्यं सूच्यते । दृष्टान्ते निर्मिथतार्थमाह आसामिति । **कामा** इत्यत्न कर्मणि व्यत्पत्तिमभिषेत्याह श्रव्दादयो विषया इति । अविकारतासिद्धर्चर्थे यच्छव्दस्य पूर्वोक्तसंयमित्वाभिः प्रायतामाह यं संयभिनमिति । रूपादिविषयाणां पुरुषे प्रदेशो नाव्यपानादिवच्छरीरान्तःप्रवेशः । अतः तत्तविन्द्रियद्वारा ज्ञानविषयत्त्रमेव विवक्षितिमत्यभिष्रायेणाह इन्द्रियेति । यस्येति शेषः । तद्वदित्यनेन सिद्धमाह श्रव्दादिष्विति । नित्यनिरवधनिरित्ययसात्मानुभवानन्दसन्दोहमझो नश्चर-दुःखिमश्र-सातिशयविषयानुभवानन्दविन्दुपु न सज्जत इति भावः । न कात्रकाभी इत्येतत् पूर्योक्तस्यार्थस्य व्यति-रेकेण दढीकरणिमति व्यञ्जयित य इति । विकारस्य प्रसक्तत्वात् कामित्वं स्वकार्यं विकारमप्यजहन्न-क्षणया रुक्षयतीति विक्रियत इत्युक्तम् । कामान् कामियतुं शीरुं यस्य स कामकामी । कदाचिद-पीति । यावरकामपरित्यागमित्यर्थः । एतेन, यो विकियते, स न शान्तिमामोतीत्यनयो रैकार्थ्यशङ्का परि-हता । विषयदर्शने विकियमाणोऽन्यदाऽपि स्पृहारहितो न स्यादित्यर्थः ॥ ७० ॥

कि कामकामिनः सर्वदा शान्तिनै स्यादिति शङ्कामपाकुर्वन् अदर्शनाविकारत्वावस्थयोः कारणमृतां विषयसंग्रहण-स्पृहा-ममकार-देहारमञ्जमाणां कमात् कार्यकारणभावनिवन्धनानुरुगेमप्रतिरुगेमान्वयव्यतिरेक-द्वयानां निवृत्तिरूपामवस्थामाह विद्वायेति । पूर्वतात्र च रुरोके प्रयुक्तं कामशब्दं निर्वेत्ति काश्यन्त हति । चरतीति वर्तत इत्यर्थः । आत्मदर्शिपुरुषपविमेदविषयौ पूर्वरुखोकौ; अयं त्वात्मदर्शनार्थिपुरुष-

उत्तरत्नेवात्रापि अपिशब्दाभावेऽपि न किञ्चित्। अथापि विकारापाक्कत्वं प्रवेशस्याति-श्रिवतिमिति तदुक्तिः।

## दृष्टा शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

व्यवा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैना प्राप्य विमुद्यति । स्थि वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छिति ॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगज्ञास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंबादे

साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोध्याय:॥

एषा नित्यात्मज्ञानपूर्विका असङ्गकर्मणि स्थितिः स्थितधीलक्षा त्राज्ञी त्रप्तप्रापिका । ईटर्सी कर्मणि स्थिति प्राप्य न विमुखति पुनः संसारं नाप्नोति, अस्यां स्थित्यामन्तिमेऽपि वयसि स्थित्वा त्रज्ञ निर्वाणमुच्छति निर्वाणस्य त्रज्ञ गच्छति : सुर्वेकदानमात्मानमवाप्नोतीत्यर्थः ॥

एवमात्मयाथात्म्यं युद्धारूपस्य च कर्मणत्वत्श्राप्तिसाथनतामज्ञानतः श्ररीरात्मज्ञानेन मोहितस्य, तेन च मोहेन युद्धान्त्रश्चतस्य मोहश्चान्तये नित्यात्मविषया साङ्ख्यद्यद्धिः, तत्प्रिकेत च असङ्गकमोनुष्ठानरूपकर्मयोगनिवया दुद्धिः स्थितप्रज्ञतायोगसाथनभूता द्वितीये विषय इति विवेकं योतयित आत्मानं दृष्ट्वेति। अनयोः इलोकयोर्विषयानुमवनिद्वतिलक्षणा 'सा निशा' इति पूर्वविकोकोक्ति।। ११।।

एपा इति श्लोकेन परमश्योजनतया प्रकृतायाः संसारिनष्टिक्षक्षणशान्तेरुपसंहारः क्रियते ; यहा श्लोकत्रये श्लान्तिनिर्वाणशब्दाभ्यामेकमेव फरुमुच्यते । 'ज्ञानं रुव्ध्व परां शान्तिनिर्वाणशब्दाभ्यामेकमेव फरुमुच्यते । 'ज्ञानं रुव्ध्व परां शान्तिनिर्वाणधिगच्छिते' (४. २९) इत्यत्न परं निर्वाणमामोतीति हि व्याख्यास्ति । एपा मामी इति श्लोकेनाध्यान्यार्थस्य निगमनं फरुव्यमिचारस्थापनं च । एपा इति निर्देशस्य पूर्वोक्तनिखरुपकारपरामर्शित्वात् तं प्रकारमाह निरुवेति । स्थितधीरुक्षं यस्थास्सा स्थितधीरुक्षं ज्ञानयोगाख्यस्थितप्रज्ञतासाधनमृतेत्वर्थः । मामीत्यत्र तद्धितविश्वतिस्वन्यविशेषं दर्शयति ब्रह्मप्राणिकेति । एनामित्यन्वदिशोऽपि सप्यकार-परामर्शीति व्यञ्जयति ईद्दशीमिति । मोहनिषेधपरिकतमाह पुनिरिति । अन्तकारु इत्युक्तानिकारुप्रमन्युदासायाह अन्तिमेऽपि व्यसीति । "उत्तमे चेद्वयसि साखुवृत्तः" (वो. स्.) इत्यादिवत् । एतेन वाल्यादिषु विषयप्रवणस्थापि पश्चात्विर्विण्णस्याधिकारः स्चितः । किपुनविश्वचर्यादिकारुमारम्य स्थित इति च मावः । स्थित्यां स्थितिः-तत्संबन्धः । पष्टीसमासम्रमापाकरणायाह निर्वाणमयं ब्रक्षेति । निर्वाणव्रक्ष-शब्दयोरत्नावीनीनविषयतामाह सर्वेति ॥

ननु नित्यात्मज्ञानतत्साक्षात्कारयोरिष प्रकृतत्वात् कमीनिष्ठामाह्ननिगमनपरोऽयं क्षोक इत्ययुक्तमिति शङ्कायां प्रधानभृततदनुवन्धेनान्यकथनमिति दर्शयन् उत्तराध्यायचतुष्ठयसङ्गति वक्तमुक्तमर्थं च सङ्कठय्य वदन् नित्यात्मेत्यादिकं द्वितीयाध्यायार्थसंग्रहकोकमि व्याख्याति एवमिति । मोहस्य हेतुस्कष्मकार्याणि विश्वदयति आत्मोत्यादिना निवृत्तस्येत्यन्तेन । व्याख्यानव्याख्येयात्मना संग्रहकोकस्थसमासान्तरीत-पदद्वय(द्वन्द्व)स्य यथासङ्कर्य संवन्धं व्यनक्ति नित्यात्मेत्वादिना । साङ्खयबुद्धिरिति कमीयोगात्माक् 'एषा तेऽभिहिता साङ्क्षये बुद्धिः' (३९) इत्युक्तमात्मतत्त्वज्ञानमुच्यते ; तद्व्यक्त्यर्थं हि नित्यात्मविषये-त्युक्तम् । ज्ञानयोगस्तु कमीयोगसाध्यतयाऽनन्तरं प्रयगेवोपादीयते । स्थितधीकश्चेति । अत् स्थितधी-

अध्याये प्रोक्ताः ; तदुक्तम् , ''नित्यारभासङ्गक्रमेंहागोचरा साङ्ख्ययोगधीः । द्वितीये स्थितधी-स्रक्षा प्रोक्ता तन्मोहस्रान्तदेग (सं. ६. ॥) इति

इति श्रीसनबद्धामानुजविरिबते श्रीमद्दीतामाण्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

तदेवं मुष्ठक्षभिः प्राप्यत्या वेदान्तोदित-निरस्तनिखिलाविद्यादिदोषगन्धानविधकाति-भ्रयासंख्येयकत्याणगुणसण्ध्रस्त्रश्चपुरुषोत्तमप्राप्त्युपायभूत-वेदनोपासनध्यानादिग्रद्दवाच्य -(च्यां) तदेकान्तिकात्यान्तिकभर्तिः वेक्तुं तदक्षभृतं 'य आत्माऽपहतपाप्माः' (छा. ८. ७. १.) शब्दो भावप्रधानः ; तल्लक्षत्यं च तत्साधनत्वम् । स्थितप्रज्ञतायोगेत्यल स्थितप्रज्ञताशब्दो योगशब्देन सह विशेषणविशेष्यभावेन द्वन्द्वेन वाऽल समस्यते ; "योगाख्यं फलम्" इत्यपि पूर्वं (२. ५३) प्रथमुक्तेः । सांप्रदायिकत्वायाह तदुक्तमिति ॥ ७२ ॥

॥ इति श्रीमद्गीताभाष्यधीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ सङ्गति विवक्षः साक्षानधोद्योषायं वक्ष्यमाणं च तत्त्वरूपं तत्प्राप्यं च दर्शयन् द्वितीयाध्या-योक्तास्य । श्रेष्ट्य साक्षान्मोक्षोपायत्वाभावेनापवर्गप्रधाने शास्त्रे सङ्गत्यभावज्ञङ्कां परिहर्तिमितिकर्तव्यतात्वं प्रथयति तदेवमिति । ततः शङ्कराद्युक्तप्रकारनिराकरणेन यथावत् द्वितीयाध्यायनिर्वाह।दित्यर्थः । एवमिति स्वोक्तोचित्यं निर्दिशति । 'त्रह्मविदामोति परम्' (आ. १) 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' (छा.८.३.४) 'परात्परं पुरुषमुपैति' (मु. ३. २. ८), 'रसँ ह्येवाय स्टब्धाऽऽनन्दी भवति' (आ. ७), 'परमं साम्यसुपैतिं' (मु. ३. १. ३) इत्यादिश्रु तेशतं ''कर्मकर्तृत्यपदेशाच'' (ब्र. १. २. ४) इत्यादिसूत्रगणं चाभिषेत्योक्तम् हुयुक्षुभिः प्रारपत्येति । सुयुक्षुभिरिति बहुवचनेन सर्वब्रह्मविद्यानिष्ठानां पाप्यमे-कमिति चोतयति । उपबृंहणीयानुरोधेन तद्यपृंहणार्थवर्णनाय वेदान्तोदितेत्युक्तं प्राप्यत्वोपयुक्तं प्रकृतिपुरुववैरुक्षण्यम् , सगुणनिर्धुगािश्रृतिविषयन्यवस्थाम् , "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्र.३.३.११), ''अक्षरियां त्ववरोधः'' (ब्र. ३. ३. ३३) इत्यादिसुत्रोक्तसर्वविद्योपास्यसाधारणाकारं चाभिषेत्य निरस्तेत्यादिकमुक्तम् । कारणशोधकवाक्यै नार्थ्यं सामान्यशब्दानां विशेषोपसंहारम् , तत एव लिम्त्थैवय-साम्यातिरेकव्यवत्यन्तरत्विनरासम् , एकस्यैव जगदुपादानिमित्तत्वम् , उदाहरिष्यमाण्यतौ, "स उत्तमः पुरुषः" (छा. ८. १२. ३) इत्युक्तिम् , 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (१५. १७) इति वश्यमाणप्रकरणार्थे च द्शियतुं समाख्याद्रयमाह परवृक्षपुरुषोत्तमेति । ज्ञानकर्मसम्बयान्यतरानगृहीतान्यतरेकैकमालपक्षाणां निराकरणाय, 'नान्य: पन्था:' (पु.), 'नायमात्मा' (क. १. २. २३) इत्यादिनिषेधतात्पर्यं वेदनादि-सामान्यशब्दानां भक्तिरुक्षणचरमविद्रोषे पर्यवसानं चामिष्रेत्योक्तम् **उपायभृते**त्यादि । **तदैकान्तिके**त्यत तत्कतुन्यायसिद्धोपास्यपाप्यैत्रयद्योतनाय तच्छव्दः । एकलान्तो निश्चय एकान्तः ; तलिवन्यना भक्तिरैकाः न्तिकी । ऐकान्तिकत्वं नाम देवतान्तरफलान्तरपरित्यागेन प्राप्यप्रापकमृतैकनिष्ठत्वम् । ) उक्तं च **मोक्षधमें** "ब्रह्माणं शितिकष्ठं च याश्चान्या देवताः समृताः । प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यस्मात् परिमितं फलम् ॥" इत्यादिप्रजापतिवाक्योदितं प्राप्तुरात्मनो याथात्म्यद्र्शनं तक्षित्यताज्ञानपूर्वकासङ्गकर्म-निष्पाद्यज्ञानयोगमाभ्यष्ठकम् ।

प्रजापतिवाक्ये हि दहरवाक्योदितपश्विद्याशेषतया प्राप्तुसात्मनस्खरू-पदर्शनम्, "यस्तमात्मानमञ्जिद्य विज्ञानाति" (छा. ८. ७. १) इत्युक्तवा जागरित स्वमः कुष्पत्यतीतं प्रत्यगात्मस्करूपमश्चरीरं प्रतिपाद्य, ""एवमेवैष संप्रसादोऽस्मान्छरीसत्सद्धत्याय परं ज्योति-इपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिन्पद्यते" (छा. ८. १२. २) इति <sup>2</sup>दहरविद्याफकेनोपसंहतम् । (३५०-३६) इत्यादि । स्तरित च, "परमात्मिन यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि" (वा. स्प्ट) इति । वक्यति चात्रेव, "मक्त्या स्वनन्यया" (११. ५७), "मित्र चानन्यशोगेन भक्तिस्वभिचारिणी" (१३. १०) इत्यादि । विनाशाभावोऽस्यन्तशब्देन विवक्षितः । अत्रोऽत्र फळदशायामप्यनिवर्यन्तमात्यन्तिकत्वम् ) एकैव भक्तिवृह्णवहुळतमादिभावेनोपायदशामारभ्य फळदशायम्प्यनिवर्यन्तमात्यन्तिकत्वम् ) एकैव भक्तिवृह्णवहुळतमादिभावेनोपायदशामारभ्य फळदशायम्प्यनिवर्यमाना निरतिशयतामापद्यते । तत् यथा शारीरकेऽपि इतिकर्तन्यज्ञाचिन्दनात्परस्तात् भक्तिप्रक्रिनी सरूपते विशेषिता तद्वद्ववापीत्यभिवायेणाह भक्ति वक्तुं तदङ्गस्युतनित्वादि । अक्षतायां प्रमाणमाह य आरमेति । प्राप्तरिति परव्यावन्त्यर्थन ।

<sup>1</sup> प्वमेवेति श्रुतिस्थपदस्य अभविद्युदादीनां यथोपरिगतानां स्ववहपाभिनिष्पतिः, तथेरार्थः।

<sup>2</sup> दहरविद्यायामण्यस्य एषसंत्रसाद इत्यादिवाक्यस्य अवणात् इदं दहरविद्याफस्रिमिति सिद्धम् । तस्यात्रोक्तिरात्मद्शेनस्य तदङ्गत्वज्ञापनार्थेति भाषः ।

अन्यत्रापि, "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा घीरो हर्षशोको जहाति" (क. २.१२) इत्येवमादिषु, देवं मत्वेति विधीयमानपरिवद्याङ्गतया अध्यात्मयोगाधिगमेनेति प्रत्यमात्म ज्ञानमपि विधाय, "न जायते छियते वा विपिश्चत्" (१८) हत्यादिना प्रत्यमात्म ज्ञानमपि विधाय, "न जायते छियते वा विपश्चित्" (१८) हत्यादिना प्रत्यमात्म कर्षं विज्ञोध्य, "अणोरणीयान्" इत्यारम्य, (२०), "महान्तं विश्वमात्मानं मत्वा धीरो न शोचिति" (२२), "नायमात्मा प्रवचनेन रुम्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष इणुते तेन रुम्यत्सस्येप आत्मा विद्यणुते तन् स्वाम् ॥" (२३) इत्यादिमिः परस्वरूपं तदुपासनप्रपासनस्य च मक्तिरूपतां प्रतिपाद्य, "विज्ञानसारियर्यस्तु मनःप्रप्रद्वान्तरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विणोः परमं पदम् ॥" (३.९) इति परविद्याफलेनोपसंहृतम् । अतःपरमध्यायचत्वरुयेन इदमेव प्राप्तः प्रत्यमात्मनो दर्शनं ससाधनं प्रपञ्चयति(इन्चते)—

पनिषदमुक्तस्यार्थस्य निर्विशङ्कं विशदीकरणायोदाहरति अन्यतापीति । साङ्गफरुपधानविधिवानये प्रधानांशमङ्गांशं च विभजते देवं मत्वेति । अध्यात्मयोगाधिगमेनेत्यत्र साक्षात्परविषययोगपरत्वे मत्वेत्यस्य साध्यत्वायोगात् , शास्त्रजन्यज्ञाने योगशब्दस्यावाचकत्वात् , मत्वेत्यतः शास्त्रेणेत्यध्याहृत्य तद्द्युकमान्वयानौचित्यात् , जीवस्यापि परवत् तत्नैव विचारयि(वरि)व्यमाणत्वाच जीवारुम्बनयोगपरत्वं युक्तम् । अङ्गतया विहितस्य ज्ञानस्य ज्ञेैकनिरूपणीयस्वरूपस्यापेक्षितज्ञेयस्वरूपशोधनोपदेशमाह न जायत इति । एवं प्रथमषटकोपबृहणीयांश उक्तः । यथा संगृहीतम् , 'ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगळक्ष्ये(क्षे) सुसंस्कृते । आत्मानुमृतिसिद्धचर्थे पूर्वषट्केन चोदिते' (गीसं. २) इति । अथ द्वितीयतृतीयषट्को-पृष्टं जीयांशमुदाहरति अणोरणीयानित्यादिना । इदमपि संगृहीतम् , "मध्यमे भगवत्तत्त्वयाथात्म्या-वाप्तिसिद्धये । ज्ञानकर्माभिनिर्वत्यों भक्तियोगः प्रकीर्तितः ॥ प्रधानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वरविवेचनम् । कर्म धीर्भक्तिरित्यादिः पूर्वेशेषोऽन्तिमोदितः" (३,४) इति । अणोरणीयानित्यादेरर्थमाह परस्व-रूपमिति । महान्तं विभुमित्याद्युक्तमाह तदूपासन्मिति । नायमारमेत्यस्याभिषेतमाह उपासनस्य चेति । केवलमननध्यानश्रवणनिषेधमुखेन भनत्यास्यवरणीयताहेतुगुणविद्योषविधिपरमिदं वाक्यमिति **ञारीरकभाष्यादिषु** विशदं व्याख्यातम् । 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (क. १. २. १२) 'मत्वा धीरो न शोचितिं (क. १. २. २२) इत्युक्तस्यैव परिचाफलस्योपसंहारेऽपि विश्रदोपदेशं प्रत्यगात्म-ज्ञानस्यै(स)तदेकफळ्त्वप्रदर्शनायाह विज्ञानेति । एवसुपक्रमोपसंहारादिभिः परविद्यामयेऽस्मिन् प्रकरणे [तु] 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा' (क. १. २. १२) इति परमात्मज्ञानकारणतया निर्दिष्टं पृथवफलरहितं च प्रत्यगात्मज्ञानं परविचाङ्गतया सिद्धमिति तदुपबृंहणतया प्रतीयमानेऽसिन्नपि प्रकरणे तथात्वमध्यवसातव्यमित्युक्तं भवति ।

एवं सङ्क्षेपोक्तिपर्यवसाने प्रतिपित्तसौकर्याय कुमितमतमङ्गाय च आत्मज्ञानस्य वक्ष्यमाणपरिवद्या-ङ्गतासुपपाच, उक्तविस्तररूपस्य प्रथमषट्कशेषस्योक्तांशेन सङ्गतिमाह अतःपरिमिति । एकसिन्नेव पट्के संग्रहित्तररूपेण पेटिकाभेदपृष्टिः । इदमेवेत्यवधारणेनासिन्नस्यायचतुष्ट्ये <sup>1</sup>परमात्मप्रसङ्गत**द्धधानादेः** 

<sup>1</sup> परमात्मवसंगः-अवतारव्रस्तावादिः।

भर्जन उवाच--

ज्यायसी चेत् कर्भणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन । तर्दे कि कर्भणि बोरे मां नियोजयित कराव॥ १ व्याप्ति अणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव से । तद्दे के वर, निश्चत्य येन अयोऽद्वमाच्युयाम् ॥ २ यदि कर्मणो बुद्धिरेव ज्यायसीति ते मता, किमर्थ तर्हि घोरे कर्मणि मां नियोज्जयित । एतदुक्तं भवति–ज्ञाननिष्ठेवाऽऽरमावलोकनसाधनम्; कर्मनिष्ठा तु तस्याः निष्पादिकाः; आत्मावलोकनसाधनभृता च ज्ञाननिष्ठा सकलेन्द्रियमनसां शन्दादिविषयन्यापारोपरितिनिष्पाद्यस्यापारोपरितिनिष्पाद्यस्यापारोपरितिनिष्पाद्यस्य । हिन्द्रयन्यापारोपरितिनिष्पाद्यस्य । किमर्थं घोरे कर्मणि सर्वेन्द्रयन्यापारोपरितिनिष्पाद्यस्य । किमर्थं घोरे कर्मणि सर्वेन्द्रयन्यापारपरितिनिष्पाद्यस्य । किमर्थं घोरे कर्मणि सर्वेन्द्रयन्यापारस्य आत्मावलोकनित्रिति कर्मणि मां नियोजयसीति ॥ अतो मिश्रवाक्येन मां 'युक्त आसीत मत्परः' (२. ६१) इति पूर्ववदेवाऽऽरमदर्शनशेषत्वमवगमवित । पुनरुक्तिपरिहाराय प्रपश्च-यतीत्यक्तम । सप्योजनस्वाय प्रपश्चनकारमाह समाधनमिति ॥

अलाजनः प्रागेव समरव्यापारविरतिवासनायन्त्रितः कर्मश्रोगज्ञानयोगारव्यववतिवृत्त्यात्मकसाधनो-पदेशे निवृत्त्यपदेशांशरसिकः चोचमुखेन पृच्छति **उयाय**सीति । प्रथमश्लोकस्यान्वयं ताबदाह यदीति । कर्मणो बुद्धिच्यीयसीति कुत्रोपदिष्टम् ? 'दूरेण बावरं कर्म बुद्धियोगात् ' (२. ४९) इत्यादि तु बुद्धि-विशेषविशिष्टकर्मयोगपरमिति व्याख्यातम् । ज्यायस्त्वं च किरूपिमहाभिमतम् १ बद्धेज्यायस्त्वे च कर्मणि यथाधिकारं नियोगस्य को दोषः ? घोरशब्दश्च भयद्वरपर्यायः । न च कर्मयोगो भयद्वरः । **किंशब्द**श्चात प्रश्नपरो वा प्रतिक्षेपपरो वा इत्यादिकमाशङ्कचाह **एतदक्त**मिति। तत्र बुद्धेर्ज्यायस्त्वप्रकारं पूर्वे तद्क्तिपकारं चाह ज्ञानिनेष्टेवेति । स्थितप्रज्ञताप्रकरणे कर्मणो ज्ञाननिष्ठाहेतुत्वमुक्तम् ; ज्ञाननिष्ठाया एव च आत्मावलोकनहेतुत्वम् । ततश्च अव्यवधानात् बुद्धिज्यीयसीति । यथाधिकारं नियोगानहेत्वाय ज्ञान-निष्ठानिष्पादनस्य कर्मप्रत्यनीकरूपत्वमुक्तं प्रकटयति आरमेति । 'यदा संहरते' (५८) इत्यायुक्तं स्मारयति सकलेन्टि येत्यादिना । किंशब्दस्य प्रतिक्षेपपरत्वं ज्यायसीचेदित्यतः चेच्छव्दस्य निश्चितविषयत्वं चामि-वेत्य फलितमाह **इन्द्रियच्यापारे**ति । सक्तलकमेति असङ्गकर्मसंग्रहणपरम् । किमर्थमिति । न तावत स्वप्रयोजनार्थम् . परिपूर्णत्वात् । न च सांसरिकफलपदानार्थम् , जनार्दनस्य जनिनिरासकस्य तव तन्नि-वर्तनस्वाभाव्यात् । नापि भूभारभूतधार्तराष्ट्रादिवधनिमित्तकृतमद्विपरुम्भार्थम् ; प्रपन्नं मां प्रति केश्ववस्य ब्रह्मस्दादिपितुस्ते तदनौचित्यात् । नापि फरुरीव्रचार्थम् ; पारम्पर्थस्य प्रवेमुपदिष्टस्वात् । न च सौकर्यार्थम् . अकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहारार्थं वा, सकलेन्द्रियव्यापाररूपरवेन तद्रपरतिनिष्पाद्यात्मावलोकनिवरोधि-तया मुमुक्षोर्घोरत्वात् । न च ठोकसंग्रहार्थम् , ठोकस्यापि यथावस्थिताकारोपदेशस्यैवोचितत्वात् । अतो भवतः प्राणसमतया भवतैवोद्घोषितं मां भवदनिभमते कर्मणि न नियोजियतुमर्हसीति भावः । शास्त्रीयप्राणिपीडनपरत्वायोगात् प्रकृतोपयुक्तमभिष्रेतमाह सर्वेन्द्रियग्यापाररूप **घोर**शब्दस्यात इति । अथापि कथं घोरत्वमित्यताह **आत्मावलोकनविरोधिनी**ति । उक्तमर्थं हेत्कुर्वन् द्वितीय**स्रोका**र्थ- मोहयसीव-प्रतिभाति । तथा ह्यात्मावलोकनसाधनभृतायाः सर्वेन्द्रियन्यापारोपरतिहरायाः ज्ञाननिष्ठायाः तद्विपर्ययरूपं कर्म साधनम् , तदेव कुर्विति वाक्षयं विरुद्धं न्यामिश्रमेव । तसा-देकममिश्ररूपं वाक्यं वद, येन वाक्येनाहमनुष्ठेयरूपं निश्चित्य श्रेयः प्राप्तुयाम् ॥ १ ॥ २ ॥ श्रीमगनानवाच—

क्षामनवातुवाल— स्रोकेऽस्मिन् द्विविद्या निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ । ब्रानयोगेन साङ्ख्यानां समियोगेन योगिनाम ॥

€ 3

पूर्वोक्तं न सम्यगवष्टतं त्वया । पुरा बस्मिन् लोके विचित्राधिकारिपूर्णे, द्विविधा निष्ठा ज्ञानकर्मविषया यथाधिकारमसङ्कीर्णेव मयोक्ता । न हि सर्वो लौकिकः पुरुषः संजात-

माह् अत इति । अचेतनाया चुद्धेभीहनस्वीपचारिकत्वात् मानित्युक्तम् । इवशब्दचोतितमाह प्रति-भातीति । एतेन कार्राणकत्वात् स्व तावन्न मोहयसि, अहं तु मन्दो मुद्धामीत्युक्तं भवति । व्या-मिश्रशब्दाभिष्ठेतं व्यावातं तत्पकारं चोपपादयित । सिश्रप्रह्मित । तिष्ठप्रवियक्षं कमे तत्याः कथं साध-नन्, तिष्ठरुद्धं च कथं तद्धिनः कर्तव्यति व्याहितद्वयमिहाभिनेतम् । एक्सिन्त्येतच्च ज्ञानकर्मणोरम्य-तर्विवयम्, तयोरेकस्येव कर्नण उपिष्ठश्वति विवादत्वयमिहाभिनेतम् । एक्सिन्त्येतच्च ज्ञानकर्मणोरम्य-तर्मपेक्षणीयत्वात् तत्याश्च व्यामिश्रत्यित्वि विवादयत्वात् वाक्ष्यश्वति । तेत्व्यक्षं वेतच्छ्लोकगतत्रस्य विशेष्य-समर्पकरवैचित्यादित्यभिनेत्योक्तम् अभिश्वस्यं वाक्षयमिति । पूर्वणान्यश्रमच्युद्यासाय विविध्यायेर्ग्यं वाक्षया विवादयाये विवादयेत्यादेर्ग्यमिह । निश्चित्यस्य न तावत् वदेत्यनेनान्ययः, सर्वज्ञस्य तस्य प्रागप्यनिश्चयायोगात् । व्यामिश्रवावयेनापि पर्व्यामोहनमालत्य सङ्कित्वात् । अतोऽर्जुनस्येव निश्चयाकाङ्क्षाः, ततश्च निश्चित्यः श्रेयः प्राप्त्यमित्येवान्वयः । निश्चयसापेक्षं संदिग्यविवयमाह अनुष्ठेयस्वस्यिति ॥ १ ॥ २ ॥ २ ॥

एवमसङ्क्षीर्णेक्पे वावये बुसुत्सितं पूर्वोक्तस्यैवासङ्क्षीर्णेक्ष्यतं प्रकटयन् श्रीमगभानुवाच लोकेऽस्निविति । मया प्रोक्तेति निर्देशात् काका च फिल्टिमाह पूर्वोक्तमिति । अस्मिन् लोके इत्यस्य प्रकृतोन्यवोगितास्वर्यमाह विचित्राधिकारिपृदे इति । तेन ज्ञान-ोगकर्मयोगवोरिधकारिभेवसंभवः, परस्पर-विरुद्धानामि धर्माणां प्रतिनियताधिकारिधिवयरस्वर्यस्वप्रक्वणाश्रमदेशकालकामनानिमितादिद्दष्टान्तश्र स्वितः । अनच्चत्वतेनाप्येतदेवाभिष्रेतम् । अयाऽस्मिन् लोकेऽनध्यत्या स्वसपवर्गसाधनेऽधिकरोषि, इतरे तु काम्यादौ-तद्वत् अनधमात्रस्य कर्मयोगेऽधिकारः, अनधरुराणां तु ज्ञानयोग इति संसारदाह-व्यविक्तरस्य सर्वज्ञस्य भिष्मत्वतद्वस्थोचितोऽयसुपदेशः । प्रोक्तत्वस्य सोपसर्गस्याभिष्रेतमाह अस्म्याधिकारमिति । अधिकारःनितिलङ्वन्यस्य प्रकृषः । द्वेविध्यमालस्य ज्ञातस्वात् तदुक्त्यभिष्रेतमाह अस्म्याधिकारमिति । अधिकारःनितिलङ्वन्यस्य प्रकृषः । द्वेविध्यमालस्य ज्ञातस्वात् तदुक्त्यभिष्रेतमाह अस्म्याधिकारमिति । विद्विकारभेदविन्ना तत्तिद्धिकासमानस्य ज्ञातस्य ज्ञातेऽपि जन्मान्तर-शित्युचरिकस्यापित्रात्वा कर्मात्रेतेत्यक्षः । व्यायसि ज्ञानयोगे तिष्ठति कर्मयोगः कथमाद्वियेतस्थिति सावः । नन्वशक्तानं कदाचिद्यि ज्ञानयोगाधिकारः, तथा दर्शनात् ; ततः शकाश्रक्तिव्यत्या ज्ञानकर्मयोगयोध्येवस्थिति सावः । नन्वशक्तानं कदाचिद्यि ज्ञानयोगाधिकारः न

<sup>1</sup> तथा द्वीति—मदुक्तप्रकारेण द्वीत्यर्थः। 2 निश्चित्वेकं बदेति शांकरान्वयो न युकः इति आवः। 3 अनवःवे साक्षात् क्षानयोगानचिकारः क्रथमित्यत्राशयमात्र यथेति।

मोक्षामिलापस्तदानीमेव झानयोगाधिकारे प्रभवति, अपि त्वनिमसंहितफलेन केवलपरस-पुरुषाराधनवेषेणातुष्टितेन कर्मणा विध्वस्तस्वान्तमलः, अन्याकुलेन्द्रियो झानिन्धायामधिकरोति । ''यतः प्रवृत्तिर्भुतानां येन सर्विनिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यच्ये सिद्धि विन्दति मानवः'' (१८. ४६) इति परमपुरुपाराधनैकवेषता कर्मणां वश्यते । इहापि, ''कर्मण्येवाधिकारस्ते'' (२. ४७) इत्यादिना अनमिसंहितफलं कर्म अनुष्टेप विधाय, तेन विषयच्याकुलतारूपमोहादुत्तीर्णाबुद्धेः 'प्रजहाति यदा करमान्' (२. ५५) इत्यादिना झानयोग उदितः । अतः साङ्घ्यातासेव झानयोगेन स्थितिरुक्ता । योगिनां तु अर्मयोगेन । सङ्घ्या बुद्धिः तद्युक्ताः साङ्घ्याः-आत्मकविषयया बुद्ध्या संप्रनिधनः साङ्घ्याः अतदर्शः कर्मयोगाधिकारिणो योगिनः । विषयच्याकुलबुद्धियुक्तानां कर्मयोगेऽधिकारः ; अव्याकुलबुद्धीनां तु झानयोगेऽधिकारः उक्त इति न किचिदिद्द विरुद्धं च्यामिश्रमभिहितम् ॥ ३ ॥

सर्वस ठोकिकस पुरुषस मोक्षेच्छायां जातायां सहसैव ज्ञानयोगो दुष्कर इत्याह— <sup>1</sup>न कर्मणामनारम्माक्षेष्कर्मे पुरुषोऽद्युते । न च सन्यसनादेव सिद्धि समिवगच्छति ॥ ४ न शास्त्रीयाणां कर्मणामनारम्भादेव, पुरुषो नैक्नर्य-ज्ञाननिष्ठां प्राप्तोति । न चाऽऽरव्यस

स्यात् तच्छक्तिहेतुतयोक्तस्य कमियोगानुष्ठानस्य तद्मातिकृत्यचोयस्थितिरित्यत्नाह् अनिमंसिहृतेति । सर्वइत्यस्विशक्तित्वकारुण्यादिविशिष्टभगवदनुम्रहरूपादृष्टद्वारा ज्ञानहेतुत्वाय परमपुरुषाराधनरूपतोक्तिः ।
व्याकुलेन्द्रियत्वं हि ज्ञानिष्ठाविरोधि । तच स्वान्तमलम्लुल् । तद्दप्यनादिषुण्यपापरुषदुष्कर्ममूल्ररुज्ञातमोमयम् । तच सत्त्वोन्मेषहेतुभूतेवंशिवक्रमिनिहरणीयम् ; अत्ते ज्ञानिष्ठाहेतुस्तवानिहतिहत्वात् तद्दुकृत्र एव कमियोग इत्युक्तं भवति । "वर्मेण पापमपनुदति" (ना. ५०) इत्यादिक्रमिहाभितेतम् , अनिनसहितफल्रस्य पूर्वभयोक्तमिति कृत्वा केवलपरमपुरुषाराधनवेषतायां कर्मणैव सिद्धिमारो च व्यवमाणं
दर्शयति यत इति । ग्रोक्तशब्दनिर्द्धिष्ठमव्यामिश्राभिधानमित्रसहितफल्रस्योक्तं च व्यवक्ति । इह्मपीति ।
"यदा ते मोहकल्रिल्" (२.५२) "श्रतिविशतिपन्ना ते" (५३) इत्यावर्थं सार्यित विषयेति । आमिप्रायिकमवधारणं व्यक्तयन्तुत्रार्थं व्याचये अत्रस्ताङ्ख्यानाभेवेति । साङ्ख्ययव्दस्यात सिद्धान्तविरोपनिष्ठपर्त्वं व्युतस्यति सङ्ख्या दुद्धिरित्यादिना । अत्यद्शे हत्याकिष्विषयत्वं स्तृवितम् । कर्मयोगाधिकारिण इति । योगिशव्दस्थो योगो स्रव कर्मयोगः ; प्रत्ययार्थः संवन्ध्यात तथोग्यतारूप इत्येशः ।
अतदर्श्वं तद्वैत्वं च विशदयन् विरोधशङ्काषरिहारस्य फ्लित्वेनाव्यामिश्राभिधानमुप्रसहरति विषयेति ॥

ननु मोक्षेच्छैव हि कर्मयोगेऽपि पुरुषं पर्वतयति ; सा यदि जाता, ततः किमन्यवहिते ज्ञानयोगे न प्रवर्तयतीति शङ्का न क्संणाम् इति स्रोकेन निराक्रियत इत्याह सवस्येति । स्रोकिकस्येत्यनेन संसारस्रोकान्तर्गततया विषयन्याकुरुनिद्रयत्यमभिषेतद् । सहस्वेति । कर्मयोगमकुरुनेत्यर्थः । निषेषस्यान्यविषयत्वज्ञापनाय शास्त्रीयशब्दः नैष्कस्येशब्दस्याननुष्ठानादिपरत्वे साध्याविशेषादिदोषः स्यात् ।

कर्मयोगस्यागरभ्भात् नैष्कर्म्य नाइतुत, तित्यनैमित्तिकानामादित आरभ्य क्रियमाणानां संन्यासाच न तद्दतुत इति इस्रोकार्थः । युद्धमपि नैमित्तिकमारन्धञ्ज तिषिशिष्य तदुक्तम् ।

ग्नास्त्रीयस्य त्यागात् ; यतोऽनिभसंहितफलस्य परमपुरुवाराधनवेषस्य कर्मणः सिद्धिः सा<sup>1</sup> । अतस्तेन विना तां न प्राप्नोति । अनिभसंहितफलैः कर्मभिरनाराधितगोविन्दैरविनष्टानादि-कालप्रवृत्तानन्तपाषसश्चयैरन्याकुलेन्द्रियतापूर्विका आत्मनिष्ठा दुरसंपादा ॥ ४ ॥

एतदेवोपपादयति--

न हि कश्चित् श्रणमि जातु तिष्ठत्यकर्मरुत्। कार्यते द्यवशः कर्म सर्वः मरुतिजेर्गुणैः॥ ५ न ह्यस्मिन् स्रोके वर्तमानः पुरुषः कश्चित् कदाचिदिप कर्माक्कवीणसिष्ठतिः; न

अनन्वयश्कां परिहरत्नन्तर्श्लोकमवतारयित एतदेवेति । परमपुरुवाराधनवेषस्य कर्मणस्त्यागे ज्ञानिष्ठाया दुस्संपादत्वमेवेत्यर्थः । प्रथमो हिराब्दः पूर्वश्लोकार्थोपपादनद्योतकः । द्वितीयस्त्वेतच्छ्लोक-पूर्वाधौक्तोपपादनार्थः । प्रकरणारम्मे लोकेऽस्मिन् इत्युक्ताधिकारिवैचिन्यमिष कश्चित् , सर्वः इत्याभ्यान्मभिष्रेतमिति ज्ञापनाय अस्मिन् लोके इत्युक्तम् । जातुशब्दो दिवसादिस्थूलकालपरः । क्षणशब्दस्त्वत "क्षणो व्यापारवैकस्ये कालमेदारुपकाल्योः" (भट्टवाण) इत्यनेकार्थपाटात् तदन्तर्गतारुपकाल्यविषय इत्यपौन-स्वत्यम् । तदुभयसंग्रहेण अद्माचिदपीत्युक्तम् । प्रलयादिदशाव्यतिरिक्ते सर्वस्तिन् काल इत्यर्थः। स्वरतोऽिति ह्यापास्ये कर्म । अत एव हि तत्र देशकालादिनियमेनानुज्ञापितपेषौ भवतः । अकर्मकृत् इत्यताकर्मणः कर्ता न विवक्षितः ; किंतु कर्मणोऽकरेति व्यञ्जनाय कर्माकृवीण इत्युक्तम् । सर्वशब्दाभियेत-

<sup>1</sup> सा नैष्कम्थम । विषेपपाधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । पतत्स्थाने स्यादिति पाठोऽशुद्धः।

<sup>2</sup> कर्म प्रीतिः पापनाशो रजोहानिर्विरकता । इन्द्रियोपरमः प्रत्यक्प्रावण्यमिति संग्रहः॥

<sup>3</sup> जातु नेत्युक्ते सर्वदैवाकर्मकृदिति स्यात् । तद्वारणाय च कदाचिव्पीत्युक्तम् ।

किचित्करोमीति व्यवसितोऽपि सर्वः पुरुषः श्रकृतिसंभवैः सत्त्वरजस्तमोभिः प्राचीनकर्मानुगुणं प्रवृद्धिगुँगैः स्वीचितं कर्म प्रति अवशः कार्यते—प्रवर्त्यते । अत उक्तरुक्षणेन कर्मयोगेन प्राचीनं पापसंचयं नाश्चित्त्वा गुणांत्र सत्त्वादीन् वशे क्रत्या निर्मर्शनःकरणेन संपादी झानयोगः ॥ अन्यथा ज्ञानयोगाय प्रवृत्तो मिथ्याचारो अवतीत्याह—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्वरत्। इन्द्रियार्थात् विमुद्धारमा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ अविनष्टपापतया अजितान्तः करणः आत्मज्ञानाय प्रश्वत्तो विषयप्रवणतया आत्मिनि विद्युखीकृतमनाः विषयानेव स्वरत् य आस्ते, अन्यथा संबद्ध्य अन्यथा[आ]चरतीति स मिथ्याचार उच्यते । आत्मज्ञानायोद्यक्तो विषयीतो विन्नष्टो भवतीत्वर्थः ॥ ६ ॥

वस्त्रिवाणि मनसा नियस्यारभातेऽर्जुन । कर्मेनिद्वीः कर्मेगोगमस्कः स विशिष्यते ॥ ७ माह न किश्विरकरोमीति व्यवसितोऽपीति । अथं वार्थः 'कर्मेनिद्वाणि संवस्त्रे'खुतरखोके व्यक्तो भविष्यति । प्रकृतिजत्त्वेन विशेषणात् सत्त्वरजस्त्रामेशिरिति विशेषणामः । प्रकृतौ नित्यं विद्यमानानां कथं प्रकृतिजत्त्विनित्यत्रोक्तं प्राचीनेत्यादि । तथा चाहुः—'कर्मवश्या गुणा क्षेते सत्त्वाद्याः प्रथिवीगते' (वि. २. १३. ७०) इति । एतेन कर्मथोगतन् कृतगुणकज्ञाननिष्ठत्यवन्छेदः । स्वोचितशब्देन तृतीयप्रकृते वक्ष्यमाणः प्रकारो दर्शितः । स्वश्वन्दोऽत्र गुणपरः ; अवग्रस्तर्वः इत्युदेश्यविशेषणत्व-प्रमत्युदासाय अवश्वः कार्यत इत्युक्तम् । कार्यते इत्यत्य <sup>1</sup>प्रयोज्यकर्मपरस्वत्यद्यद्वासेन प्रयोज्यकर्मृ-विषयत्वय्वत्यय्वं प्रवत्यत्ययं प्रवत्यत्यत्ययं प्रवत्यत्ययं स्वयायायः विश्वयत्ययं प्रवत्यत्ययं प्रवत्यत्ययं स्वयायायः विश्वयत्ययं प्रवत्यत्ययं प्रवत्यतः । प्रवायायः विश्वयत्ययं प्रवत्यतः । प्रवायायः विश्वयत्यायः विश्वयत्यायः प्रवत्यतः । प्रवायायः विश्वविद्यायः । प्रवायायः विश्वयत्यः । प्रवायायः विश्वयत्यायः । प्रवायायः विश्वयत्यायः । प्रवायायः विश्वविद्यत्यायः । प्रवायायः विश्वयत्यायः । प्रवायायः विश्वविद्यायः । प्रवायायः विश्वयत्यायः । प्रवायायः विश्वयत्यायः । प्रवायायः विश्वविद्यायः । प्रवायायः । प्रवायायः विश्वविद्यायः । प्रवायायः । प्रवायायः । प्रवायायः । प्रवायः । प्रवायायः । प्रवायः । प्रवायायः । प्रवायः । प्रव

अकरणे बाधं वदतीत्याह अन्यश्रेति । कमियोगमक्कालेत्यर्थः । मनसा स्मश्न् इत्यनेनार्थिसिद्धं हेतुमाह अविनष्टेति । आत्मिन विमुत्तिकृतमना इति । विमुद्धारमा इत्यन्नात्मशब्दो मनोविषयः । विमुद्धत्मासमेश्रुस्त्यम् । येभ्य एकेन्द्रियाणि निरोद्युमिष्टानि तानेवेरयेवकारार्थः । मिथ्याचार- प्रकारमाह अन्यशासक्कृत्व्येति । अन्यशामाव एव द्यानतः सर्वत मिथ्यात्वम् । अलापि सक्कृत्यित्वान- योगविषरीताचारतया ज्ञानयोगाभिमतत्तत्याचारो मिथ्येत्युक्तं भवति । मिथ्याचारसंज्ञा[न]मालख्युदासेन दोषपर्यवसानायाह आत्मेति । विषरीतविनष्टशब्दाभ्यामुपायवेरीत्यात्मस्त्रवैपरीत्यमिति दर्शितम् । द्वितीयेऽध्याये 'ध्यायतो विषयान्' इत्यारभ्य, 'बुद्धिनाशात्मणश्यिते' (२. ६२, ६३) इत्यन्तेना- स्वैवार्थस्य प्रथवनं क्रतमिति विनष्टशब्दोन स्मारितम् ॥ ६ ॥

प्रथममेव ज्ञानयोगमारुरुञ्जमपोद्य(छ ?) कर्मयोगिनं प्रशंसति । यस्तिवति स्रोकेन । प्रकृतेन

<sup>1</sup> प्रयोज्यकर्मेति । वीरणाः कटक्रपेण कार्यन्ते इत्यत्र वीरणानामिव अवशस्य न कृतिकर्म-कारकत्वम् । न दि वीरणानां कटभाववत् अवशस्य कर्मभावः । अत एव कर्मेति द्वितीयान्तं कृत्वा प्रतिशब्दोऽध्याहृतः । शांकरे प्रतिशब्दो अष्टः स्यात् ।

अतः पूर्वाभ्यस्तविषयसजातीये बास्त्रीये कर्मणि इन्द्रियाण्यात्मावलोकन(ने)प्रवृत्तेन मनसा नियम्य तः स्वत एव कर्मप्रवर्णेतिन्द्रियेरसङ्गपूर्वकं यः कर्मयोगमारमते, सोऽसंमान्य-मानप्रमादत्वेन ज्ञाननिष्ठाद्षि पुरुषाद्विशिष्यते ॥ ७॥

नियतं कृष कर्ष स्थ क्यायो ह्यक् जाः । शरीरयाद्याप्ति च ते न मसिक्ष्येदकर्मणः ॥ ८ नियतं क्यासम् ; प्रकृतिसंसृष्टेन हि [अभि]क्याप्तं कर्म, अनादिवासनया प्रकृतिसंसृष्टस्यं नियतत्वेन सुग्रकत्वाद्यंभाः वित्रमादत्वाच कर्मणः, कर्मैव कृष्ठः ; अकर्मणः ज्ञाननिष्ठाया अपि कर्मैव ज्यायः । 'नैष्कथ्यं पृष्ठ्योऽक्तृते' (३.४) इति प्रक्रमादकर्मशब्देन ज्ञाननिष्ठियो स्थायते । ज्ञानिश्चिष्ठाव्यक्ति अत इति इन्द्रियःणां निरहोपनियमनस्य कर्मयोगारम्भस्य च मिथो विरुद्धत्वात् अविरोधसिद्ध्यर्थमुक्तं श्वःस्त्रीये कर्मे ले इति । न हि कश्चिद्धत्यादिना ज्ञानयोगस्य दुष्करत्वे यो हेतुरुक्तः, तस्यैव कर्मयोगे प्रस्युपक्रःरक्ष्वेन सौक्येपतिपादनार्थं पृत्रोभ्यस्तविषयसज्ञातीये इत्युक्तम् । यदि पूर्वाभ्यास द्यकारक्ष्येन स्वीक्रयते, तर्हि निषद्धेभ्यो नियमनमशक्यम् , तेष्वेव वासनायाः प्राजुर्योदिति शङ्कानिरासाय, कर्मेणः फलान्तरपरित्यागाय चोक्तम्—आरमावलोकन्त्रने प्रवृत्तेनिति । विषद्धानामात्मावलोकनितिरोधस्वाध्यवसायात् तेषु स्थिराऽपि वासना तिरिक्तियत इति मावः । कर्मेन्द्रवेद्दे इत्यनेनाभिषेतं सौकयै विश्वद्यति स्वत एव कर्मप्रवर्णेरिन्द्रयेरिति । असङ्गस्य कर्मयोगारम्भापेक्षितस्वाक्ष्यवस्य यद्ष्यत्वाव्यात्राह्मस्य चाविष्ठदेवित असंभाज्यसानप्रमाददयेन ज्ञाननिष्ठादपीति ॥ १॥

े अथ सौकर्यनिष्प्रमाद्दश्वसुस्यज्ञवादिहेतुमिः कर्मथोगस्येव ज्यायस्यं दशियन् 'ज्यायसी चेरकर्मणः' इत्यादेः साझादुक्तमाइ िष्यतिमत्यादिना । नियत्यव्यदस्य मन्दप्रयोजनात् क्रिया- विशेषणत्वादिष प्रमृतप्रयोजनतम्मानाधिकरणकर्मविशेषणत्वमेशेचितम् । ततश्च कर्मणो नियतत्वं स्वभावतः शाखतो वा स्यादुभयतो वा । तत्वैकस्मिन्नुभयविवक्षाक्छितिस्त्वावत् गरीयसी । ग्रगिरयाता इत्यत तु शाखीयकर्मि[णि]नियमःभिषायो व्याख्यात्वते । अतोऽत्व स्वभावतो नियतत्वं विवक्षितम् । ज्ञानिष्ठाया दुष्करत्वे प्रसृतुते कर्मानिष्ठायां (याः) सौकर्थमेव चानन्तरं वक्तुष्ठचितमित्येतदिख्लस्मिभेष्रत्याह नियतं व्यास्तित्यादि । केन किनिवन्धना व्यासिरित्यलाह प्रकृतिसस्यृद्धेनित । अकर्मण इतिपदे नम्बस्तदन्य-विषयत्वं विभक्तेश्च पञ्चमीत्वेनाविषविषयत्वं विश्वत्यत्व द्वानिष्ठायां भागे ते सङ्गोऽन्त्वकर्मणि (२.४७) इत्यत्व हि स एव कर्मामावविषयत्या व्याख्यातः ; तद्वद्वाप्यनुष्ठानत्यागे प्रसक्ते, तस्यादनुष्ठानमेव ज्याय इति वक्तुस्वितिमत्यलाह निष्कर्म्यमिति । अत्र उपक्रमे कर्मयोगज्ञानयोगयोः तारतन्यमनुयुक्तम् ; तस्यैव चोक्तरमिह विवक्षितम् । सुमुञ्जसाध्यत्वेन निर्दिष्टस्य नैष्कर्म्यः सुमुस्यादिसुक्रमकर्मामावत्वं चायुक्तम् , कर्मानारम्मालेष्कर्म्य- मित्यत्व साध्याविशेषप्रसङ्गाच । अतो ज्ञानिष्ठेवालाहम्मेशब्देनामिष्याव इत्यर्थः । करीनिष्ठाया

त्वाच ज्ञाननिष्ठायाः, कमिनिष्ठैव ज्यायसी ; कमोण कियमाणे च आत्मयाथारम्यज्ञानेनारम-नोऽकर्तृत्वानुसन्धानमनन्तरमेव वक्ष्यते । अत आत्मज्ञानस्यापि कमेणोगान्तर्गतत्वात् स एव ज्यायानिस्थर्थः । कमेणो ज्ञाननिष्ठाया ज्यायस्त्ववचनं ज्ञाननिष्ठायामधिकारे सत्येवीपपद्यते ।

यदि सर्वे कम परित्यज्य केवलं ज्ञानिष्ठायामधिकरोपि, तर्हि अकर्मणः ज्ञानिष्ठस्य ज्ञाननिष्ठीपकारिणी अरीरयात्राऽपि न सेत्स्वितः यावत्साधनसमाप्ति शरीरवारणं चावदयं कार्यम् । न्यायार्जितधनेन महायञ्चादिकं कृत्वा तः च्छिष्टाशनेनैव शरीरधारणं कार्यम्, ''आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः'' (छा. ७. २६. २) इत्यादिश्रुतेः । ''ते त्वधं भुक्तते पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'' (३, १३) इति वस्यते । अतो ज्ञाननिष्ठ-ज्यायस्त्वे वक्ष्यमाणं हेत्वन्तरमाह कर्माण क्रियमाणे चेत्यादिना । अनन्तरमेवेत्यासन्नत्वाभिधानेन तस्येहाभिषेतत्वं दर्शितम् । ज्ञानयोगशक्तस्यापि कर्मश्रोगानुष्ठानःयाभिषाविक्तमर्थमाह । कर्मन् इति । इह ज्ञाननिष्ठाया इति पश्चमी । अपसक्तप्रतियोगिकं ज्यायस्वयचनमयुक्तिविव मावः । उत्तरार्थस्या-वतारमाह यदीति । अल तु 'अकर्मण इति बहुत्रीहि:, ते इत्यनेन सामानाधिकरण्यात' इति व्यक्तनाय अकमंगस्ते ज्ञाननिष्ठस्येत्युक्तम् । ननु सर्वकर्मपरित्यागिनो वितृ शरीरयाताऽपि न स्वात् , ततो लब्धोपायस्य तस्य स्वरसतः प्रतिबन्धनिवृत्तेः अयत्रलभ्येव सुक्तिः स्वादित्याशङ्कवाह याबदिति । न हि साधनानुप्रवेशमातात्फलसिद्धिः, किंतु साधनसंपूर्तरेव । सा च न विचतुरदिवसलभ्या : येन शरीर-मुपेक्षेमहि । चिरकाळसाध्यायां च साधनसंपूर्ती तावन्तं काळं शरीरमवश्यं रक्षणीयम् । अनिष्पन्नीपाय-स्यौदासीन्यात् तत्परित्यागे प्रत्यवायोऽपि स्यादिति भावः । अस्तु शरीरघारणनपेक्षितम् , तथाऽपि तन्न स्वेच्छया चिरकालं कर्तुं शक्यम् , नाप्यौदासीन्यमालात् तन्निवृत्तिः, आरम्भककमीविशेषेण शरीरस्य नियतावधिकत्वात् । स्मरन्ति च कर्मिणां प्रतिनियतानि "विवाहो जन्म मरणम्" (इ. स. ३) इत्यादीनि । अस्तु वा स्वेच्छया शरीरधारणम् , तथाऽपि यत्कि अल्लोकिककर्मणैव तत् सुशक्तमित्यत्नाह **न्यायार्जिते**ति । अयमिश्रायः—द्विदिधानि कर्मफलानि, नियतानि अनियतानि चेति । प्रबल्हशापादिसंभवानि नियतानि : इतराण्यनियतानि । अनियतत्वं च तेषां देशकालाद्यपेक्षया. न तु स्ररूपत: ; येन कर्मणां निष्फळत्वप्रसङ्गः स्यात् । ततश्च यान्यत्रानियतानि तत्र खञ्यापारिषयताः यान्यधिकृत्य प्रायश्चित्तमन्त्रौषधनीतिशास्त्रादीनि । अन्यथा विजिगीप्रभिरुपपत्रप्रदेशांन्यभिर्पि न चत्रङ्गादिकमङ्गीक्रियेत: आत्ररेरिय न मेषजम्पभुज्येत: स्वेच्छ्या किञ्चित्करणाभावे स्वारसिक-कर्तृत्वाभावाच्छास्रस्याप्यनुद्यः: अत एवं ज्ञानयोगमारुरक्षता त्वया कर्मवस्यत्वमेव जगतो निवर्तितमिति सम्यगयत्नसिद्धो मोक्षः समर्थितः इति भावः । एवं शरीरधारणाभावे खारसिकं विशरारुत्वं चौतयित **अरीर**शब्द: । एवकारेण न्यायार्जनयज्ञशिष्टाशनादेनियमविधित्वं द्योतितम् । एवंविधा च शरीरयाला ज्ञान-योगसाध्यमक्तिवोगद्शायामप्यविच्छेद्येभिप्रायेणाहार्श्चाद्विश्वत्युपादानम् । श्रोतस्यार्थस्यादापि विविक्षत-त्वज्ञापनाय वक्ष्यमाणतामाह ते स्वधमिति । पूर्वोपपादितान् हेतून् बुद्धिस्थकमेण विविच्योदगृहन्

स्वापि कर्माकुवितो देहयात्राऽथि न सेत्स्वति । यतो ज्ञाननिष्ठस्यापि त्रियमाणग्रशिस्स्य यावत्साधनसमाप्ति महायज्ञादि निल्लेशिमित्तकं कर्मावश्यं कर्तव्यस्, यतश्य कर्मयोगेऽप्यान्तनोऽकर्तृत्वभावनयाऽऽत्मयाशात्म्यातुसन्धानमन्तर्भृतम्, यतश्य प्रकृतिसंसृष्टस्य कर्मयोगाः सुञ्चकोऽप्रमादश्च, अलो ज्ञाननिष्ठायोग्यस्यापि ज्ञानयोगात् कर्मयोगो ज्यायान् । तसात् त्वं कर्मयोगमेव क्ववित्यभिषायः ॥ ८ ॥

र्ष वर्ष द्रव्यार्जनादेः कर्मणोऽहङ्काश्ममकाशदिसवेन्द्रयव्याकुलतागर्भत्वेनास

पुरुषस्य कर्मवासनया बन्धनं भविष्यतीत्यत्राह—

यहार्थात् कर्दणोऽन्यत्र लोकोऽदं कर्मवन्यतः । तद्यं कर्म कौन्तय मुक्तसङ्गस्समाचर ॥
प्रशादिशास्त्रीयकर्मशेषभृताद् द्रव्यार्जनादेः कर्मणोऽन्यत्र आत्मीयप्रयोजनशेषभृते
कर्मणि क्रियमाणे अयं लोकः कर्मवन्धनो भवति । अतस्त्रं यद्यार्थं द्रव्यार्जनादिकं कर्म
समाचर । तत्रात्मप्रयोजनसाधनतया यः सङ्गः तस्रात्सङ्गान्यक्तत्म् समाचर ।

आनिमायिकं शास्त्रं च। खिलमर्थं सुखग्रहणाय सङ्कल्य्य दर्शयति यत इति । ज्ञानिष्ठायोग्यस्यापि कर्मथोगो ज्यायान् , तस्मात् त्वं ज्ञानयोग्योऽपि कर्मथोगमधिकुर्विति वा ; न त्विमदानी ज्ञानयोग्ययाः, अतः कैसुत्यात् कर्मथोगमेव कुर्विति वा त्वंशब्दामिष्रायः ॥ ८ ॥

्यञ्चार्थात् इति श्लोकः कमैविधिनिषेधयोविषयव्यवस्थापक इति ज्ञापयितुं शक्कते एवं तहींति। द्रव्यार्जनादेरित्यतः आदिशव्देन महायज्ञादिमहणम् । ममकाशदीत्यतः तु रागद्वेषाभिनिवेश-वचनादान-विहरणादिमहणम् । अहंकारममकारादेर्भनोवृत्तिविशेषत्वादिनिद्रयव्याकुलतारूपत्वोक्तिः । अस् पुरुषस्येति । मुसुक्षोरपीति भावः । कर्मवासनयेति । याचीनयाऽनुपरतयाऽद्यतनव्यापाराभ्यासोपदृष्टिन्तया चेत्रि भावः । वन्धनं मविष्यत्विति । उत्तरोत्तरशरीरवन्धादिना संसारानुवृत्तिमसङ्गः इत्यर्थः ।

अंशव "यज्ञो वै विष्णुः" (ज्ञ. ज्ञाः १. १. १. १. १ ३ ; यजु. १. ७. ४. ४) इति श्रुतेः "यज्ञः ईश्वरः" इति परैट्यांस्व्यातम् ; तश्चािकस्माकम् ; तथाऽपि समनन्तरस्रोकादिपिठतयज्ञ्याद्ये क्षाच्ये सुमुचितिमित्यिभायेणाह यज्ञाःद्वाश्चां यक्कमिति । यज्ञादीत्यादिश्वदिन यज्ञशब्दस्योपरुक्षणेपरुक्षणेपरुक्षणेपरुक्षणेपरुक्षणेप त्यास्य । तदिदं दर्शितम् शेपभूतादिति । क्षियं वन्धनं कर्मणा नर्दायत्व । यज्ञार्थात् यज्ञयाजनात् । तदिदं दर्शितम् शेपभूतादिति । क्षियं वन्धनं कर्मणा वा वन्धनं यस्य सक्ष्मवन्धनः । तस्य च वन्धकरं स्ववासनाद्वाराः ; न पुनः पापत्याः ; अविहितपतिषद्धविषयस्यादत्व क्ष्मवन्धनः । अस् पुरुषस्य कर्मवासन्या वन्धनं प्रविष्यानिति श्रुत्वप्यन्तिति । अत् इति । यज्ञार्थस्य कर्मणो वन्धहेतुत्वाभावादित्यर्थः । द्वन्यादिकामस्युक्तम् । त्यत्वर्थः सङ्गत्यावर्थः । द्वन्यादिकामस्युक्तम् । ताद्ययं सङ्गत्याम्थरित्यर्थः । द्वन्यादिकामस्युक्तम् । ताद्ययं सङ्गत्याम्थर्यस्य ति तन्नेति । यक्तिश्चत् प्रयोजनममुहिद्यं न मन्दोऽपि प्रवर्तते इति चेत्—

एवं ग्रुक्तसङ्गेन यञ्चाद्यर्थतया कर्मणि कियमाणे यञ्चादिभिः कर्मभिराराधितः परमपुरुषोऽस्थानादिकालप्रवृत्तकर्मवासनाग्रुच्छिद्य अव्याङ्कलात्मावलोकनं ददातीत्यर्थः ॥ ९ ॥ यञ्चित्रिष्टेनेव सर्वपुरुषार्थसाधननिष्ठानां श्वरीरधारणकर्तव्यताम्, अयञ्चशिष्टेन श्वरीरधारणकर्तव्यताम्, अयञ्चशिष्टेन श्वरीरधारणं क्वर्वतां दोषं चाह—

सह यहैः प्रजाः संदूर पुरोवाच अजापतिः। अने । यसकेष्यध्यवेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
'पति विश्वस्य (ना)' इत्यादिश्चनेनिक्पाधिकः प्रजापतिशब्दः सर्वेश्चरं विश्वस्य

सत्यम् ; पर्योजनसाधनत्ववृद्ध्यभावेऽपि सहृद्रपचारवत् भगवत्समाराधनस्वतया खरूपेण प्रयोजनत्व-बुद्धचा प्रवृत्त्यपपत्तिः । प्रक्तसङ्क इत्यल सङ्गस्य वन्धकत्वविवक्षया सङ्गानप्रक्त इत्यक्तम् । प्रकृत तचोद्यस्यादृष्टद्वारा फलभदत्वेन प्ररिहारं वदन् अतद्र्थस्य बन्धहेतुत्वोक्त्या फल्कितं तद्र्थस्य मोक्षहेतुत्व-प्रकारं दर्शयति एवमिति । एतेन कमणानप्रामाणिकापुर्वद्वारा फलप्रदत्वमिति क्रहप्रिमतं निरस्तम् . आर्थवादिकापेक्षितदेवताशीतिद्वारैव फलपदत्वोपपत्तौ 'स एनं शीतः प्रीणाति' (यज्ञ. ५. ५. १०. ४८) इत्यादिश्रतहानाश्रतकरुपनाद्यनुपपते: । कर्मिभराराधित इत्यनेन हिनर्गहण शीहिश्वाभिषेते ; परमपुरुष इति । तद्विनाभुतादित्यवर्णादिश्रतिसिद्धविष्ठहिक्रोषवत्त्वम् , सर्वत्रज्ञाण्डयुगपरकर्मसिविधिशक्तिश्च, ददा-तीति वरप्रदत्वमिति  $^{1}$ विष्रहादिपञ्चकप्रदर्शनम् । कर्मवासनाम्रचिष्ठद्येति विपरीतवासनाचोद्यं परिहृतम् ॥ उक्तमध्द्रयं 'सह यज्ञैः' इत्यारभ्य 'मोघं पार्थ स जीवति' इत्यन्तेन निन्दाप्रशंसादिभिर्द्रदयतीत्याह यज्ञशिष्टेनेवेति । सर्वपुरुषार्थसाधनानिष्टानामित्यनेन 'प्रजास्तप्टा' इति सामान्यनिर्देशफिलतमुक्तम् । अत प्रजापतिशब्दस्य हिरण्यगर्भादिविषयत्वव्यदासायाह पति विध्यस्येतीति । हिरण्यगर्भादेरपि । न त हिरण्यगर्भादिवदण्डा चवच्छित्रस्ये (न्निम ?)त्यर्थः । तत एवोक्तम् निरुपाधिक इति । अतार्थस्वभावादपि स एव सर्वप्रजापतिरिति पदर्शनाय सर्वेश्वरमित्यादिविशेषणोक्तिः । नारायणम् एतद्खिलं नारायणशब्द-वाच्यस्यैव हि नारायणानुवाकादिपु प्रतिपाद्यत इति भावः । उक्तं च जगत्पतित्वं सप्टत्वादिकं च समिचित्य भगवता पराकरेण 'कलौ जगत्पतिं विष्णं सर्वस्रष्टारमीश्वरम्' (वि. ६. १. ५०) इति । 'अनु-मानात्तदुद्धारं कर्तुकामः प्रजापितः' (वि. १. ४. ७) इति च वराहरूपे भगवति प्रजापितशब्दः तेन 'प्रजापतिः' (ना.१.१) इत्यादिश्रुत्यनुसारात्प्रयुक्तः। किंच स्रतन्त्रस्य कर्मपरतन्त्रान् प्रति नियोगो ह्ययम्। अतोऽत्र 'प्रजास्सृष्ट्या' इति प्रजाशुब्दरसर्वान् त्रक्षपर्यन्तान् जगदन्तर्व्यवस्थितान् कर्मजनितसंसारवशवर्तिनो यज्ञाद्यधिकारिणः प्राणिनः संगृहाति । अतोऽत प्रजापतिशब्दः उपक्रमस्थप्रजाशब्दानुरोधात संकोचेन तद्वैरूप्यायोगाच परित्यक्तरूदिरकर्मवस्यं नियोक्तारं सर्वेश्वरं नारायणमाह । तथा सञ्यसमस्तक्षेत्रज्ञ-विषयो ह्ययमनविच्छन्नः प्रजाशब्दः, पुरेति प्रस्यानम्तरकास्त्रामिधानात् । ततश्च 'सदेव सोम्येदमग्र आ-सीत्' 'तदेक्षत वह स्यां प्रजायेयेति' (छा.६.२.१) 'सम्मूलास्तोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनाः' (छा.

<sup>ः &#</sup>x27;विश्रद्धो हविरादानं युगपत् कर्यसंनिधिः प्रीतिः फलप्रदानश्च देवतानां न विद्यते' इति मीमांसकनिरस्तपञ्चकेरार्थः। तैः फल्पप्रदानं नास्तोत्युक्तम्। अत्र वरप्रदत्वमस्तीत्युक्त्यते ।

स्रष्टारं विश्वातमानं परायणं नारायणमाह । पुरा-सर्गकाले स भगवान प्रजारितरनादिकाल-६. ८.४), 'एको ह वै नारायण आसील ब्रह्मा नेशानः' इत्यारभ्य, 'तत्र ब्रह्मा चतुर्भुखोऽजायत बुद-बदात व्यक्षक्काळपाणि: परुषोऽजायत' (महो.१.१), 'सिस्यक्षविंविधा: प्रजा:' (मतु. १.८) इत्यादिष हिरण्यगर्भादेरपि प्रजात्वावगमात् नारायणस्य च तज्जनकत्वावगतेः प्रजास्सृष्टेत्यनवच्छेदेन निर्दिष्टो विश्वस्य स्रष्टा नारायण एवेति स एवाल प्रजापतिः । किंच 'तसावज्ञात सर्वहःः, ऋचस्सामानि जिन्नरे' 'सर्वाण रूपाणि विचित्य धीरः, नामानि ऋत्वाभिवदन् यदास्ते' (पु.) इति यज्ञैस्सह सर्वप्रजानां स्रष्ट्रतया निर्दिष्टो\_ ऽपि ¹अधिकारपरुषस्यापि स्रष्टा सहस्रद्यीषेत्यदिविशिष्टः [महा]परमपुरुष एव । अतोऽपि 'सह यजैः प्रजाः स्रष्टे'ति निर्दिष्टः प्रजापतिः विश्वस्य स्रष्टा स एव । तथा 'सृष्टि ततः करिष्यामि त्वामाविस्य प्रजापते' (वि. घ. ६८. ५१) इत्यादिवचनवलाद्धिरण्यगर्भाख्यप्रजापतिमुखेनापि विश्वस्रष्टा, 'सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिन्यो देव एको नारायणः' (स. ८) इति श्रतस्स एव विश्वारमा । किं चाल निर्दिश्य-मानं देवानां भावनादिकं परमात्मात्मकानामेवेति 'अहं हि सर्वयज्ञानाम' (९.२४) इत्यादौ ध्यक्तं भविष्यति । 'यस्मिन्निदं सं च वि चैति', 'प्रजापतिश्चर्गत गर्ने अन्तः' (ना.६.१) इत्यादिकम् विश्वस्थ स्रष्टारं विश्वारमानिमिति विशेषणाभ्यां सचितम् । अतोऽप्यत्न विश्वारमानं तमेवाह । तथा 'प्रजापते-स्समां वेश्म प्रपेषे' (छा. ८. १४. १) इत्यत प्रमप्राप्यतया च प्रजापतिशब्दनिर्दिष्टोऽपि प्रमात्मैवेति 'न च कार्थे पत्यभिसन्धिः' (ब्र. ४ ३. १३) इति सत्ने प्रत्यपादि । अतोऽपि परायणं तमेवाह । एवं सर्वेश्वरमित्यादिविशेषणेस्तत्तत्रमाणसूचनं कृतम् । एवं श्यामैकरूपसप्तदशायातयामाज्यदैवत्विष्ण्विषय-(तै.१.३.४) प्रजापतिज्ञव्दश्र<sup>2</sup>तिरप्यनुसन्धेया । **प्र**ाश्ववदस्य वचनान्वयप्रतीतिव्यदासेन ब्रह्माद्यगोचरसृष्ट्य-न्वयन्यक्त्यर्थमाह पुरा स्**र्गकाले** इति । श्रतिस्मृत्यादिषु सृष्टिप्रकरणप्रसिद्धिप्रकारमभिवैति स भगवानिति । भगवच्छक्देन सष्ट्रचादिपञ्चक्रत्योपयुक्तहेयपत्यनीककल्याणगुणविशिष्टत्वं दर्शितम् । तथा मानवे धर्म-शास्त्रे प्रथमम् 'आसीदिदं तमीभूनम्' इति प्रक्रयमभिधाय 'ततस्वयं भूभगवान्' इति भगवच्छव्देन सर्वस्रष्टा निर्दिष्टः । अनन्तरं च 'ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्पृतः', 'तद्विस्पृष्टस्स पुरुषो छोके ब्रह्मेति कीर्त्यते' (मनु. १. अ) इति हिरण्यगर्भारूयप्रजापते: स्रष्टा नारायण इत्युक्तम् । अत्न, प्रजापितस्वा-चेति पराक्तया निर्देशस्त सारथिभूतस्य खस्य प्रजापतिज्ञव्दप्रतिपन्नात् स्वसाद्वेदोपचारेणेति मन्तव्यम् । एवमुत्तरतापि सर्वत परावत्विनिर्देशेषु यथाईमनुसन्धेयम् । सर्वत स्प्रेष्टेस्सहारपूर्वकत्वदर्शनादतापि तथा विवक्षन् , संहारस्य प्रयोजनं सृष्टेहेंतुं चाह अनादीति। अनवरतसुखदु:खोपभोगायासपरिश्रान्तानां विश्रमार्थम् अश्रान्तापथप्रदृत्तिवासनाविच्छेदार्थं चोपसंहारः । अतो न संहारे नैर्वृण्यदोषः । ताहशसखदःखोपभोग-

प्रदाने च परमात्मनित्यसङ्करुपसिद्धजीवस्वातन्त्र्यनिवन्धनानादिकमप्रवाहहेतुकाचित्संसर्ग एव हेतुरिति न

तत्नापि वैषम्यनैर्पृण्ये । स्त्तितं च 'वैषम्यनैर्पृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयिते' (झ.२.१.३४) न कर्मा-1 नतु पुरुष स्तकं चतुर्मुखस्यैव वेददेवादिसृष्ट्यस्यवगम्यत इत्यवाह निर्विष्टोऽपीति । तत्र यो निर्दिष्टः सोपीत्यर्थः । 2 "स्यामा एकस्या सवन्ति एवसिव दि स्वजायतिः" इति ।

प्रवृत्ताचित्संसर्गविवशाः उपग्रंहतनामरूपविभागाः स्वस्मिन् प्रलीनाः सकलपुरुवार्थानर्हाः चेतनेतरकल्पाः प्रजाः समीक्ष्य परमकारुणिकसदु जिजीवयिषया स्वाराधनभूतयज्ञनिर्वृत्तये यज्ञैः सह ताः सृष्ट्रैवसुवाच-अनेन यज्ञेन प्रविष्यध्वम् , आत्मनी वृद्धि कुरुध्वम् ; एष वो यज्ञः परमपुरुवार्थलक्षणमोञ्जाख्यस्य कामस्य तदतुगुणानां च कामनां प्रपूरियता भवतु ॥ विभागादिति चेन्नानादित्वाद्रपष्यते चाप्युपरूभ्यते च' (त. २. १. ३५), 'क्रुतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयथर्यादिभ्यः' (त्र. २. ३. ४९) इति । उपसंहतनामरूपविमागाः स्वस्मिन् प्रस्तीना इति असद्वयपदेश एकत्वव्यपदेशादिश्च निन्येदः । नामरूपप्रहाणं स्वस्मिन् प्रस्त्यश्च मोक्षवत्परुषार्थ एव स्यादित्यःशङ्कचाह सक्छेति । तिवर्गेऽप्यनहीः : कि पुनरपवर्ग इति भावः । तल हेतमाह चेतन्तरहरूपा इति । स्वप्नशासवेऽप्यत्यन्तज्ञानसङ्कोचात् तस्कल्पत्वमः : न त ज्ञानविनाञ्चात । प्रजाः हिरण्यगर्भादिकाः : समीक्ष्य सम्यगवलोक्य : एतेन 'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येनमधुसुदनः' (भा. मो. ३५८. ७२), 'नाचेक्से यदि' (स्तो. १०) इत्यादिकमसिप्रेतम् । 'स एकाकी न रमेत' (महो. १) इति श्रतेः 'परमकारुणिकः किछ त्वम्' (महो. १) . इत्यादिस्मृतिसिद्धगुणविशेषे तारपर्यमाह **परमकः रुणिक** इति । अवाससम्प्रकामस्य जगद्यापारानु-पपति परिहरति तदुः जिजीवयिष्येति । कारुणिका हि खार्थनिरपेक्षा एव परोज्जिनीययिषया प्रवर्तन्ते, सेव प्रवृत्तिरस्य ठीलाऽपीति न दोष इति मावः । यज्ञैस्प्रहेति निर्देशः उज्जीवनोपाय विशेषनिष्यस्थ इत्यभिशयेणाह स्वाशधनेति । यज्ञैरिति वैविध्यस्चनाय वहवचननिर्देशे पूर्वे कृतेऽपि. अने ने त्येकवचने न परामर्थी जात्येकत्वपर इत्यमिषायेणाह अने न <sup>1</sup>यज्ञे ने ति । सहयज्ञाः इति शङ्करपादव-प्रकाशीयपाठस्त्वप्रसिद्धेरनाहतः: प्रसाँवेष्यध्वनित्यतः 'पूञ् प्राणिप्रसवे' 'पूङ् गर्नविनोचने' इति धातुद्वयेऽपि प्रजननमात्रप्रतीतिस्यात् ; न च <sup>2</sup>द्वादशाहादिवत् सर्वेषां यज्ञानीनां प्रजामातं फलम् । अतस्स तत्युपलक्षिता स्वि-प्याचा समृद्धिरत्न विवक्षितेत्यभित्रयेणाह आत्मनो वृद्धि क्रफःविमिति। यज्ञसाध्यः कामो निषिद्धेतर-धर्माविरुद्धसमस्तका व्यवर्गः : तलापि मोक्षतरसाधनोपकारिषु तारपर्यम् यस्विमस्यमिशायेण मोक्षतरस गणोपादानम् । रुचिवैचित्र्यज्ञापनाश्रष्टशान्देन विशेषणम्। मोक्षस्येष्टकामशान्देन संमहाय प्रमप्रहार्थार्थस् क्षणेत्युक्तम्। अवधीरितस्वर्गाय अर्जुनायोपदेशात् 'मा फलेषु' (२.४०), 'श्रेयः परम्' इति पूर्वापरान् गुण्याचाल मोक्षार्थतोक्तिर्युक्ता । प्रपूरियतैति । 'दुह प्रपूरणे' इति हि घातुः ॥ ननु प्रपूरणं हि पूरणा-भावेऽनुशिष्टम् , प्रस्थानप्रसारणादिन्विवालापि प्रशन्दस्थाभावविषयत्वात् । अत एव हि 'गां दोग्वि' इत्यादिप्रयोगः ॥ सत्यम् : तथाऽपि गां दोग्धीत्यतापि गोरेव पथोरेचनम् , न तु पयसः स्वरूपवैकल्यम् : तद्भद्रतापि गोस्थानीयायज्ञतः (यात् <sup>8</sup>मत्तः) क्षीरस्थानीयाः कामा रूभ्यन्ते ; तैस्तस्य रेचनं स्थातः

सर्वेषां यज्ञानां सर्वेरनुष्टेयस्व नास्ति, अपितु यथायध्यमेकदेश इति झापनाय अनेनेत्युक्तिः।
 2. द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति श्रुतिः।
 3 यज्ञस्य गोस्थानीयस्वे दोहनकमंणः
'धुक्' इतिः कर्तृस्वं कथम्मितः चेत्—गवां स्तत प्रवोदारतया (वळ्ळ्ळ् पेरम्पयुक्क्ष्र् इतिवत्)
स्वयस्व दोहनकर्तृस्वविवक्षया । वस्तुतस्तु गोस्थानीयात् मत्त दृत्येष तालेपादः ।

## कथम् ?

देवान् भ वध्तातेन ते देवा भाववन्तु वः । परस्परं भाववन्तः श्रेयः परमवाष्ट्यथा ११ अनेन देवताराधनभूतेन देवान् अच्छरीरभृतान् मदात्मकान् आराधयत । 'आहं हिं सर्वय-झानां भोक्ता च प्रभुरेव च (९, २४) इति हि वक्ष्यते । यञ्जेनाराधितास्ते देवा मदात्मकाः स्वाराधनापेश्चितान्नपानादिकेर्युष्मान् पुष्णन्तु । एवं परस्परं भावयन्तः परं श्रेयो मोक्षा-स्वाराधनापेश्चितान्नपानादिकेर्युष्मान् पुष्णन्तु । एवं परस्परं भावयन्तः परं श्रेयो मोक्षा-स्वमवाष्ट्यया ॥ ११ ॥

फलदातुःस्तकाशात् फलमादाय युप्मभ्यं ददान्तित्वर्थः ; तेन यज्ञाराधितोऽहं युष्मभ्यं कामान् ददामी-त्युक्तं भवति ॥ १० ॥

यज्ञेनात्मनो वृद्धिः कथम् ? क्षणिक क्रियारूपश्च यज्ञः कथं कालान्तरभाविफलसाधनम् ? 'नान्यः पन्थाः' (ष्.) इत्यादिना ज्ञानस्यैव मोक्षप्रदत्वे सिद्धे कथं स्वर्गादिसाधनतया निर्दिष्टो यज्ञो मोक्ष-साधनम् ? सारन्ति च. 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विसुच्यते । तसात् कर्म न कुर्वन्ति यत्यः पार-दर्शिनः'।। (भा. मो. ५४७. ७) इति । तथा 'नैव धर्मी नचाधर्मी' (भा.आश्व. १९. ७) 'ज्ञानं संन्यासरुक्षणम् ' (ना. प. उ : भा. आध. ४३. २६) इति च : कथं च मोक्षबहिर्भतानां विचित्र-सांसारिककामानां तद्नुगुणत्वम् इति शङ्कास्तवकमभिन्नेत्याह कथमिति । तत्र देवान भावयते प्रथमस्योत्तरम् । देवताराधनं ह्याराधकस्यातिशय एव. अतस्स एवातमनो वृद्धिः । यज देवपजायामिति यज्ञपद्मकृति धातं स्मारयति देवताराधनभतेनेति । यज्ञस्य मोक्षहेतुत्वानुपपतिपरिहारायाह मदा-हमकानिति । परमारमसमाराधनतया कृतं कर्मेव मोक्षसाधनज्ञानाङ्गतया स्थित्वा मोक्षं साधयतीति प्रागे-वोक्तमः । मदारमकानित्यस्यान्तर्यामित्राह्मणादिसिद्धत्वसूचनायः मच्छरीरभृतानित्युक्तम् । यज्ञेन देवानां भावनं हि सन्तोषवत्तया भावनिमत्यभिपायेणोक्तम् आराधयतेति । तद्भिपायेण च ब्राह्मणम् 'तसा-द्तिः प्रदानं देवा उपजीवन्ति' (यजु. ३. २. ९. ७) इति । मदात्मकानित्यस्यालानुक्तस्य कथमुपा-दानमित्यलाह अहं हीति । क्षणिकस्य फलपदानानुपपत्तिपरिहाररूपं द्वितीयं पादं व्याख्याति यज्ञेने-त्यादिना पुरुषिन्तवत्यन्तेन । प्रस्तुताकारपरामर्शितच्छव्दार्थः यद्मेनाराधिता इति । देवानां फल-पदानशक्तिसिद्धवर्षे पुनः मदात्मका इत्युक्तम् । एवं च क्षणिकस्यापि देवताप्रीतिरूपार्यवद्वारा फल-साधनत्वम् : महाप्रलये त्विन्द्रादिलयेऽपि परदेवतापीतिद्वारा पुनः फलप्रद्वसुपपन्नमित्युक्तं भवति । चतर्थशङ्कापरिहारमभिष्रत्याह स्वाराधनेति । देवैराराधकानां भावनं नाम अपेक्षितैः पोषणमित्यभिष्राये णोक्तम् पुष्णिन्त्वित । उत्तर्भिमुक्तस्यैवार्थस्य मोक्षोपयोगित्वज्ञापकमित्यभिमायेणाह एवमिति । खर्गा-दिरूपश्रेयोन्यावृत्त्यर्थं परत्विकोषणमित्यभिषायेणोक्तम् मोश्चारुयमिति ॥ ११ ॥

ष्टान् भीगान् हि वो देवा दास्यन्ते यहाभाविताः। तैर्द्शानप्रदायेभ्यो यो भुक्के स्तेन एव सः॥
यज्ञभाविताः—यज्ञेनाराधिताः मदास्मका देवाः इष्टान् भोगान् वो दास्यन्ते [ उत्तम-पुरुषार्थळक्षणं मोक्षं साध्यतां ये इष्टा भोगान्तान् पृत्वपूर्वयज्ञभाविता देवा दास्यन्ते । उत्तरोत्तराराधनापेक्षितान् सर्वान् भोगान् वो दास्यन्ते इत्यर्थः। स्वाराधनार्थतया तैर्दत्तान् मोगान् तेभ्योऽप्रदाय यो भ्रङ्के चोर एव सः। चौर्य हि नाम अन्यदीये तत्प्रयोजनायैव परिक्लिम वस्तीन स्वकीयतावुद्धि कृत्वा तेन स्वारायोपणम्। अतोऽस्य न परमपुरुषार्था- नईताम्।त्रम्; अपि तु निरयगामिन्वं च भविष्यतीत्यभिष्ठायः॥ १२॥

तदेव विद्याति-

यश्वशिष्टाशिनस्सन्तो मुच्यन्ते सर्विकिश्वियः। ते त्वधं भुञ्जने ए।पा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

'ते देवा भावयन्तु वः' इत्यक्तस्य पोत्रणस्य प्रकारः 'देवान भावयते'त्यस्य व्यितरेके प्रत्यवायश्चो-च्यते इंधानिति श्लोकेन । इष्टानित्यसार्थः उत्तरीत्तराराधनापेक्षितानिति । न हि मुमुक्षुभिरुदर-पुरणावर्थं भोगा इध्यन्त इति भावः । बहुवचनासङ्कोचमभिष्रेत्योक्तमः सर्वानिति दास्यन्त इति कर्त्तभि-प्रायक्रियाफ्लासन्पदस्वभावानुरोधेनात्मार्थपाचकानां चोरत्वसिद्धचर्थं **स्वाराधनार्थत्ये**त्यक्तम् । नन् किमल चीरत्वम् ? न हि देवानां भोगान् असौ गृढं प्रसद्य वा हरति । न च तैर्दत्तस्य स्वहस्तागतस्य भोगश्चौर्यम् । न हि राजादिसेवकास्तहत्तभोजिनश्चोरा इति शुलमारोप्यन्ते । एवं च सित सर्वेषां यज्ञा-दिफलभुजामविशेषेण चोरत्वं प्रसञ्यत इत्याशङ्कचाह चौर्यं हीति । परवद्भचा परप्रयोजनत्वेन परि-करिपतस्य स्वकीयस्य, परानमत्या स्वपयोजनतया परिकरिपतस्यान्यदीयस्य च व्यवच्छेदाय अन्यदीय इत्यादिविशेषणद्वयम् । **तेन स्वात्मपोषण**भिति चौर्यस्य फल्लम् । अन्यदीये सकीयताबुद्धिकरणमित्येव लक्षणम् । तस्प्रयोजनतयेत्यन्यदीयत्वफलप् । तेन खात्मपोषणानौचित्यद्योतनम् । वस्तशब्देन चोर-यितन्यावान्तरभेदाविवक्षां द्योतयति । **पुद्धिः कृ**रवेत्यनेन चौर्यस्य न कायिकन्यापारोऽवश्यापेक्षित इति सुचितम् ; बुद्धिपूर्वत्वं च द्योतितम् । एवं च सित 'योऽन्यथा सन्तम्' (सा. उ. ४२. ३५.) इत्यायुक्तात्मचौथमपि रुक्षितं भवति । भगवदीये तद्गतातिशयाधानेच्छ्यैव परिकल्पिते प्रत्यगात्मनि खाति-शयावहस्रतन्त्रत्वाभिमानरूपत्वात् तस्य । नन्वेवमध्यलोदाहरणे कथं चोरत्वम् १ उच्यते-देवो हि कर्मभि-राराधिता अपि हिविभ्रहणार्थमेव फले प्रयच्छन्ति; यथा राजान: षड्भागसंग्रहाय स्वाराधकेभ्य: क्षेत्रादिकम् । तल करमदानविमुखाः पुरुषा इव हविरादिकमप्रयच्छन्तो दण्ड्या एवेति ौ चोरत्वनिर्देशफरितं व्यनिक अत इति । चोरत्वादित्यर्थः । पुरुषार्थानहतेत्यनेन विहितकर्माकरणस्यः धिकारित्वनिष्टतिहेतुत्वमि ख्यापितम् । भविष्यतीत्यनेन प्रत्यवायस्य देहान्तरभावितया योग्यानुपळम्भवाषाभावः सूचितः ॥ १२ ॥

पुनरुक्तिपरिहारायाधीन्तरपरन्वयुद्धासाय चाह तदेव विष्णोति र्वा । तत पूर्वीर्ध 'श्रेय: पर-मवाप्त्यथ' इत्यस्य प्रकारकथनम् ; उत्तरार्धं तु 'तैर्दतान्' इत्याद्युक्तचोर्व्वपश्चनारनम् । यज्ञाक्कष्टयष्टव्या-

कुण्डलितं तालंकोशे नास्ति ।

इन्द्राद्यास्मनाऽवस्थितपरमपुरुषाराधनार्थनयैव द्रव्याण्युपादाय विषव्य तैर्थयावस्थितं परमपुरुषमाराध्य तन्छिद्याज्ञनेन ये शरीरयातां कुर्वते, ते त्वनादिकालोपार्जितेः किल्बिष्टे आत्मयाथात्म्यावलोकनविरोधिभिः सर्वेर्युच्यन्ते । ये तु परमपुरुषेणेन्द्राद्यात्मना स्वाराधनाय दत्तानि(न्) आत्मार्थतयोपादाय विषवयाश्रनित, ते पापात्मानोऽधमेव सुझते । अधपरिणामित्वा-द्यमित्यच्यते । आत्मावलोकनविद्यस्थाः नरकायेव पचन्ते ॥ १३ ॥

द्याकारविशेषकथनम् इन्द्राद्यात्मनेत्यादि । अवधारणेन केवलेन्द्राद्यर्थत्वत्यार्थत्वयोर्व्यवच्छेदः पादानपचनदश्चारिप परमपुरुषाराधनार्थस्वबुद्धिः कार्येति ज्ञापनाय द्रव्याण्युपादायेत्याद्यक्तम् ये पचिन्त इत्येतद्व्यित्रिकरूव्यम् । केवलेन्द्राचाराधनस्यापि वस्तुतः परमपुरुषाराधनरूपत्वादात्त तद्य-वच्छेदाय तत्तद्देवतायजनस्य परमपुरुषपयन्तत्वसिद्धये च यथावस्थितमित्युक्तम् । यज्ञशिष्टममृतारूयमित्रु शीलं येषां ते यज्ञिष्टाश्चिनः । रागप्राप्तशरीरयाता यज्ञशिष्टेनैव कार्येति नियमः । सन्तः यज्ञशिष्टाशिन एव वर्तमाना इत्यर्थ: । तदेतद्च्यते (येषां ते यज्ञशिष्टाशिन: सन्तः यज्ञशिष्टाशिन एव वर्तनाना इत्यर्थः। रागप्राप्तशरीरयाता यज्ञशिष्टेनैव कार्येति नियमः । तदेतदुच्यते?) **अरीरयातां क्वेते** इति । यता सन्त इति पदमुत्तरार्थस्यवापशब्दप्रतिस्थानीयत्वात्साध्रविषयम् । उत्तरार्धवदलापि साध्यसाधनांशविभाग-द्योतनाय यत्तुच्छदाभ्यां वावयभेदकरणम् । तुशब्देन सदभ्यः पापानां विशेषे बोधिते तेभ्योऽपि सतां विशेषोऽर्थात्सिद्ध इति द्योतनायाह ते त्वनादीति । अते चुल्ल्यादि<sup>1</sup>पञ्चसुनाकृतपापमात्रव्यवच्छेदार्थे सर्वशन्दबहुवचनाभ्यां पद्शितं किल्विषानन्त्यं समर्थयित्स अनादिकालोपार्जिकैरित्युक्तम् । द्विविधानि किञ्चिषाणि प्राप्तिविरोधीनि उप यविरोधीनि चेति । तस प्राप्तिविरोधीनि भक्तियोगैकन्विर्त्यानीति । तेभ्योऽल सर्वशन्दसङ्कोचमभिष्रदेशोकम् आत्मयाथात्म्यावलोकनविशेधिभिरिति । सारन्ति च--"जानमत्पद्मते पंसां क्षयात पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतरूपच्ये पश्यत्यारमानमारमनि" ॥ (भा. मो. २०३.८) इति । एतेन विरोधित्वाविद्योषात् सांसारिकपृण्यान्यप्यतः किल्विषशब्देनोच्यन्ते इत्यवि सचितम । पूर्वोत्तराघविधातिनो भक्तियोगात् विशेषसूचनाय उपार्जितेत्युक्तम् । आत्मकारणादित्यत्र कारणशब्दः प्रयोजनरूपहेत्वपर इति ज्ञापनायोक्तम् आत्मार्थतयेति । पचनमात्रस्यायभोजनत्वेन निन्दा-नुपपतेः आत्मकारणारपचन्तीत्यनेनार्थसिद्धमुक्तम् अश्वन्तीति । पुँछिङ्गोऽत पापराब्दस्तद्गुणसारन्या-यात पापविशिष्टविषय इत्यभिशायेगोक्तम् **पापारमान** इति । पापखभावा इत्यर्थः । **अघश**ब्दस्य भोज्य-निन्दार्थमौपचारिकत्वद्योतनायाध्यमेवेति एवकार उक्तः । उपचारनिमित्तं संबन्धमाह अधवरिणामित्वा-दिति । अघहेतुत्वादित्यर्थः । फलितमनिष्टद्वयमाह आत्मावलोकनविमावा इति । आत्मार्थे पचमानस्य पूर्विकित्विषनिवृत्त्यमावादारमावलोकनवैमुख्यम् : उत्तरोत्तरिकित्विषहेतुत्वाच पुनर्नरकपाप्तिरिति 'केवलाघो भवति के बलादी' (अष्ट, रू. ८; ऋग्वे. ८. ६. २३. १०. १०. ११७. ६) इति वचनाभिमेत-

<sup>्</sup>रिह्म पेवण्युःस्करः। कण्डनी चोधकुम्मश्च इत्युक्तवधस्थानानि। दः संमार्ज कण्डनी अः

पुनरिप लोकदृष्ट्या आस्त्रदृष्ट्या च सर्वस्य यज्ञम्हरुवं दर्शयित्वा यज्ञानुवर्तनस्थाव-इयकार्यताम् अननुवर्तने दोपं चाह---

अञ्चात् अवन्ति भृतानि पर्कन्याद्यञ्चसभवः। यद्यात् भवति पर्कन्यो यद्यः कर्मसमुद्भवः॥ १४ कर्म मह्योद्भवं विद्धि मह्याक्षरसमुद्भवम् । तस्यात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यद्यं प्रतिष्ठितम्॥ १५ पर्व प्रवितित् चर्म नातुवर्तयतीह यः। अवायुरिन्द्रियारामो मोधं पार्थ स जीवति ॥ १६ 'अञ्चात् सर्वाणि भृतानि भवन्ति पर्कन्याचान्त्रसम्भवः' इति सर्वस्रोक्षसाक्षकम् । यज्ञात्यर्जन्यो भवतीति च ब्राह्मणावगम्यते, ''अप्रौ प्रास्ताऽऽद्वृतिः सम्यगादित्यप्रुपतिष्ठते । आदित्याज्ञायते वृष्टिः'' (ज. पु. २९.४) इत्यादिना । यज्ञ्य द्रव्यार्जनादिकतृत्यापाररूपकर्मसमुद्भवः, कर्म च ब्रक्षोद्भवम् । अत च ब्रह्मश्चर्तिर्दिष्टं प्रकृतिपरिणामरूपं श्ररीरम् । ''तसादेतद्वमभ्य नाम रूपमन्नं च जायते'' (प्रु. १. २. ९) इति हि ब्रह्मश्चर्वन् मक्कतिनिर्दिष्टा। इहापि ''मम

उक्तस्यैवार्थस्य प्रमाणप्रदर्शनपूर्वकप्रपञ्चनम् 'अन्नाद्भवन्ति' इत्यादिना क्रियत इति आदरार्थस्वात् अपौनरुक्त्यमित्यभिषायेणाह पुनर्पोति । यद्यपि होकदृष्ट्या साक्षाद्यज्ञम्हत्वं द्रीयितुमश्रक्यम्, तथाऽपि शास्त्रदृष्टिमम्चितवेषेणैतदच्यत इत्यदोषः । विभक्ष्यते च लोकशास्त्रदृष्ट्योर्विषयांशः । पर्जन्यशब्देनाल पर्जन्यकार्यं वर्षं छक्ष्यते । असादित्यादौ 'वृष्टेरलं ततः प्रजाः'(मनु. ३. ७६) इत्ययमंशो होकसिद्धत्वादनुपात: । 'कर्मसमुद्भव:' इत्युक्ते पुण्यपापऋपकर्मसमुद्भव इति थी: स्यात् ; तद्वचदासाय दृष्यार्जनेत्याद्यक्तम् । अत्र मुरूयार्थसंभवात् यज्ञशब्देनापूर्वछक्षणां वदन्तो निरस्ता इति भावः । आदि-शब्देन द्रव्यस्यार्जितस्य पचनादि गृह्यते । ननु कर्तृव्यापाररूपस्य कर्मणः कथं ब्रह्मोद्भवत्वम् , तद्धि प्रत्यगात्मजन्यं शरीरेन्द्रियादिजन्यमिति वा निर्देष्टं युक्तम् : न च सर्वसाधारणं ब्रह्मणो हेतुत्वमिह विशिष्य निर्देष्टन्यम् ; ब्रह्मणश्चाक्षरसमुद्भवत्वमन् १पन्नमः ब्रह्मज्ञान्दस्य परमात्मविषयत्वे जीवविषयत्वे वा द्वयोर्षि नित्यत्वात् तत्कारणभृतस्य कस्यचिदक्षरस्याभावात् । त्रश्राक्षरशब्दयोर्वेदपरमात्मिविषयतया शङ्करच्याख्याऽपि चकत्वा[पत्त्य]सङ्गा । यादवपकाशायुक्तं व्रश्नशब्दस्य स्फोटादिपरत्वमक्षराणां तद्यक्षकत्वादिकं च तत्तत्विक्षयाद्वणादेव निरस्तम् । 'स्कोटस्त्वं वर्णसंश्रयः' (हरि. २७९. ५४) इति तु वर्णानां स्वार्थस्फ्रटीकरणशक्तिपरमित्याद्याशङ्कचाह अत्र चेति । चश्शङ्कानिवृत्तौ । अत्रेत्यनेन व्यवशब्दस्य साक्षात्परमपुरुषे मुख्यत्वेऽपि प्रकरणादिवलात् तस्मादन्यत्न तदगुणलेशयोगादौपचारिकोऽय-मित्यभिष्रेतम् । द्रव्यार्जनादिकर्मणश्चारीरिणा साध्यत्वात् तत् शरीर्थेशस्याश्वरशब्देन विविच्य वश्यमाण-स्वात् शरीरांशस्य विवक्षयाऽयं **त्रक**शब्द इति प्रकृतिपरिणामरूपं शरीरिमत्युक्तम् । प्रकृतिपरिणामरूपे शरीरे तदुदृःयत्वेन व्रक्षशब्दनिर्देशाय प्रकृतौ तत्प्रयोगं ताबदाह तसादेतदिति । एतत् प्रधानास्यं ब्रह्म कार्याकारेण नामरूपविभागविभक्तं चेतनभोग्यं च जायते इति हि श्रूत्यर्थः । न च तत्र ब्रह्मराज्दः परमात्मविषयः, 'यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्वस्य (सु. १.१९) इति परमात्मनः पृथक्निर्दिष्टत्वात् । नापि प्रत्यगात्मविषयः, 'नामरूपमन्नं च' इत्यनेन साक्षात्सवन्धायोगात् ; अन्नत्वं योनिर्महद्मक्षः इति वक्ष्यते । अतः कर्म ब्रज्ञोद्धवम् इति प्रकृतिपरिणामरूपश्रीरोद्धवं कर्मेत्युकं भवति । ब्रह्माक्षरत्मद्धवम् इत्यत्नाक्षरत्मब्दनिर्दिष्टो जीवारमा, अत्रपानादिना तृप्ताञ्च- राधिष्ठितं श्रीरं कर्मणे प्रभवतीति कर्मक्षाधनभृतं श्रीरमञ्चरसमुद्धवम् ; तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म सर्वाधिकारिगतं श्रीरं नित्यं यश्चे प्रतिक्षितं — यञ्चमूलमित्यर्थः । एवं परमपुरुषेण प्रवर्तित-

चात्यन्तामुख्यं त्यात् इति भावः । योनिशव्दनिर्देशात् ममेति परमात्मनः पृथङ्निर्देशाच 'मम योनिर्महद्वस्र' (१४, ६) इत्यत ब्रह्मशब्दस्य प्रकृतिविषयत्वं सिद्धम् । अतः इति ब्रह्मशब्दस्य प्रकृतौ प्रयोगाच्छरीरस्य च तत्परिणामरूपरवात द्रव्यार्जनादेश्शरीरसाध्यत्वात परमात्मनश्च जन्यत्वायोगादित्यर्थः । एवमत्रत्यत्रज्ञ-शब्दस्य शरीरविषयत्वे सिद्धे तदासन्ने प्रत्यगात्मनि अक्षरशक्दो यक्त इत्यमिपायेणाह ब्रह्माश्वरसम्बद्धन-मित्यत्रेति ।\ जीवस्य चाक्षरशब्दवाच्यत्वं 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः' (श्वे. १. १०) 'कटस्थोऽक्षरः' (१५. १३) इत्यादिसिद्धम् । नन्वेबमिष 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इत्ययुक्तम् ; स्वशरीरस्य सर्वस्य स्ववुद्धि-पूर्वत्वाभावात । न चाल चकत्वं दृश्यते. अलगभतिश्रारीरपर्यन्तस्य कार्यकारणभावेऽपि श्ररीरहेतोरक्षरस्य अलादिजन्यत्वाभावात् । न च 'अलाद्भवन्ति मृतानि' इति जीवो निर्दिष्टः, तल भृतशब्दस्यान्नविकार-शरीरमालविषयत्वातः तलाह अन्नपानादिनेति । अयमभिप्रायः-न तावदिह शरीरमालमक्षरजन्यतया निर्दिष्टम् , किंतु 'कम ब्रह्मोद्भवम् ' इत्यनेन कर्मसाधनमूतम् ; तत्साधनत्वं च शरीरस्य प्रत्यगात्माधिष्ठ-तस्येव : तस्य चाधिष्ठातुरवशक्तिरत्रपान।दिजनितत्तितिवन्धना । एवं च सति कर्मसाधनत्विविध्रष्टे शरीरं प्रत्यगात्माधिष्ठानहेतुकत्वादक्षरसमुद्भविति युक्तमेव । चक्रत्वं चोपपन्नम् , अक्षरस्यापि शरीराधि-ष्ठाने अन्नपान।दिसापेक्षत्वात : न ह्यवश्यसुत्पत्तावेवापेक्षा चक्रत्वहेतु: यद्गा कर्म जीवाधिष्ठितशरीर-जन्यम् . जीवाधिष्ठतं शरीरं चाञ्चजन्यम् , 'अञ्चाद्भवन्ति मृतानि' इति वचनात् । भृतशब्दश्चात 'भ्रामयन् सर्वमूतानि' (गी.१८. ६९) इत्यादाविव सजीवशरीरपरः । <sup>2</sup>अतोऽत्र चक्रत्वसुपपन्नम् इति । इमं च प्रकारमनन्तरं च वक्ष्यति । एवमस्मिन् चक्रेऽन्वर्तनीये प्रकास्य आस्त्रवश्यस्य कर्तव्यांशनिष्कर्षा-योच्यते तसादित । सङ्काचितस्य शरीरस्य सर्वव्याप्तत्वायोगादश्वरस्य च तदाघारस्य निर्दिष्टरवात् तदवा-न्तरभेदसंग्रहपरसर्वशब्द: इत्यभिष्रायेणोक्तम सर्वाधिकारिगतमिति । न केवलं कर्मयोगाधिकारिण: शरीरं यज्ञसापेक्षम् , किंत्र ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपीत्यर्थः । यज्ञेप्रतिष्ठितमित्यलाधिकरणत्वाद्ययोगादाह यज्ञमलिमत्यर्थ इति । प्रवर्तितमित्यस्य प्रवर्तकापेक्षायां 'सह यज्ञैः' इत्यादिना प्रकृतः, 'देवान् भावयतं इत्यादिना यज्ञेषु प्रजाः प्रवर्तयन् प्रजापतिरेवासौ भवित्तमहेतीत्यभिप्रायेणोक्तम् परमपरुषेणोति ।

<sup>2</sup> भूत-कर्ष-यब-पर्जन्य-अन्न-भूते।त कमात् चकता । भूतशब्दार्थं शरीर जीवरूपां-शद्वं पृथक्कृत्य कर्षे ब्रह्मोद्भविम्युक्ताविष भूतेति विशिष्टप्रद्वणमेव चिकीर्षितम् । माध्वे भूतालपर्जन्ययक्षकर्मब्रह्माक्षरभूतःनीति चक्रम् । शांकरे चक्रत्वाविवक्षा । माध्वे द्वयो व्यंग्यव्यक्षकभावः; अन्यत्र कार्यकारणभावः । ब्रह्म वेदः अक्षरं प्रमात्मेत्यर्थः। शांकरेऽपि । चक्रमिल्क्ष्यः वेद्यव्युर्वक जाष्वक्रियित्यर्थः।

लोकदृष्टिशास्त्रदृष्टिभ्यां सिद्धमन्याश्वयत्वमपरोक्षयतोक्तम् इदिनिति । अन्नादित्यादिना पुनरप्यन्नादि-त्यन्तेन चकत्वं व्यज्यते । न तावदल भूतशब्देन भवनिकयायोगिमालं निर्दिश्यते, महदादे: कार्यस्यान्न-जन्यस्वामावात् । अत एव न महाभुतानि । नापि वेतास्रादिसहपठितभृतजातिः, तस्कथनस्यालान्-पयुक्तत्वात् , अञ्चजन्यत्वे विशेषाभावाच ; नापि शरीरनात्नम् , केवलस्य शरीरस्यानुत्पत्तेः, शरीररुक्षणा-क्रान्तस्य सर्वस्यात्रजन्यत्वाभावाच ; नापि केवलजीवः, तत्स्वरूपनित्यत्वादेरक्तत्वात् । अतः परि-शेषात् भूतशब्दोऽत्र जीवविशिष्टाचित्परिणामविशेषपर इत्यभित्रायेणोक्तम् सजीवानि श्ररीराणीति । 'कर्म ब्रह्मोद्भवं' 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ' इत्याभ्यां फल्तितं समुचित्य चकत्वसिद्धधर्थे निर्दिशति **कर्म च** सजीवाच्छरीरादिति । अन्योन्यकार्यकारणभावेनेति यथासंभवं साक्षात्वरम्परया च सिद्धमुक्तम् । न हि साक्षात्सर्वेषामन्थोन्यकार्यत्वं कारणत्वं वा, अन्योन्याश्रयमस्तत्वात् ; यद्वा कस्यचित्कार्यत्वं कस्य-विस्कारणस्यं च सङ्कलस्यान्योन्यकार्यकारणभाव उक्तः । चक्रशब्दोपचारनिमितं व्यनक्ति चक्रवरप-रिवर्तमानमिति । ''इह लोके वर्तमानो यः पुरुषः'' इति अधिकरणाधिकर्तन्ययोस्सामान्यनिर्देशादिष. इह साधने वर्तमानो योऽधिकारिविशेष इति विशेषपरामश एवोचित:, इदंशव्दादेस्सन्निहितपरामर्श-प्रावण्यात . अनपेक्षिताभिधानाद्वि अपेक्षिताभिधानौ चित्याच इति साधने वर्तमानो य इत्यादेर्भावः। **अनुवर्तयती**त्यलानुमन्तृत्वादिमालव्यवच्छेदार्थे पुरुषव्यापारप्राधान्यद्योतनार्थे च **प्रवर्तयती**ति व्याख्यातम्। क्षोंके च अनुशब्दप्रयोगः परमपुरुषप्रवर्दितानुवर्तनरूपत्वात् प्रवाहरूपत्वाद्वा । अघापुरित्यादीनां लयाणां पृथवपृथादोषत्वव्यवत्यर्थं पूर्वपूर्वत्योत्तरोत्तरहेतुत्वज्ञापनार्थं च भवतीति पृथम्बावयकरणम् । अधकारणस्वाद-घकार्यस्वादुभयसंत्राहकावसंबन्धिस्वमालाद्वा**ऽत्र अघ**शब्देनायुषो लक्षणेत्यभिप्रायेण अ**घारम्भायेवे**त्यादि निर्वाहत्त्रयमुक्तम् । अतः एवेति । उक्तपकारेणाघायुष्ट्वादेवेत्वर्थः र्द्धिन्द्रियाण्येवेत्यस्याभिप्रेतं व्यवच्छेद्य-माह **नात्माराम** इति । विशेषणत्वादिसिद्धस्यवच्छेदाभिपायसिद्धर्यर्थे समासतदंशयोरश्रमाह **इन्द्रि**-याण्येवेति । इन्द्रियाणां कथमारामत्विमिति शङ्कायाम् 'एवं प्रवर्तितम् ' इत्यादिना 'इन्द्रियारामः' इत्यन्तेन फल्तिमाह अयज्ञशिष्टेति ) अत इति विषयभोगैकरतित्वादित्यर्थः । स इति निर्देशस्य पूर्वेन्यास्त्यात-पका**रय**छटदार्थिविषयरवार्त **मोघ**शटदस्य निष्फलपयत्रताविषयस्य प्रतिहन्तस्यप्रयत्नसाका**ङ**क्षत्वाचाह ज्ञानयोगादी यतमानोऽवीति ॥ १६॥

असाधनायत्तात्मदर्श्वनस्य हुक्तस्येव (स्यैव 19) महायद्यादिवर्णाश्रमोत्तितकर्मानारम्भ इत्याह्य यस्त्वात्मरितरेव स्वादात्मतृतश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्य न विवते ॥ १७ नेव तस्य क्रवेनार्थो नाक्रनेनेह कश्चन । न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थेव्यपाध्यः॥ - १८ यस्तु ज्ञातयोगकर्मयोगसाधनिनरपेश्वः स्वत एवात्मरितः आतमाभिष्ठस्यः, आत्मनेव त्रसः नाक्यपानादिभिरात्मव्यितिरिक्तः, अत्यात्मयेव च सन्तृष्टः, नोद्यानस्वन्दनगीतवादित-नृत्तादी, धारणपोषणभोग्यादिकं सर्वमात्मेव यस्म, तस्यात्मदर्शनाय कर्तव्यं न विद्यते, प्रस्त एव सर्वदा दृष्टात्मस्वरूपत्वात् अत एव तस्यात्मदर्शनाय क्रतेन तत्साधनेन नार्थः न किचित् प्रयोजनम् ; अकृतेनात्मदर्शनसाधनेन न कश्चिदनर्थः ; असाधनायत्तात्मदर्शन

एवं ज्ञानयोगाद्यिकारिणोऽपि कर्मकर्तन्यताया उक्तत्वात् , तसाद्यकः इत्यादिना वक्ष्यमाण-स्वाच तन्मध्ये यस्त्वारमगितः इत्यादिश्लोकौ न ज्ञानयोगाद्यविकारिविषयौ, किंत् फळदञ्जाविषया-वित्यमित्रायेणाह असाधनायत्तेति । एतेन 'अभयं सर्वमृतेभ्यो दत्त्वा नैकर्म्यमाचरेत् ' (मा. आध. ४६. १८) इत्याद्यक्तसंन्यासाश्रमिपरत्वेन परव्याख्यानं निरत्तन् : तत्यापि हि स्वाश्रमधर्मनिष्ठस्य सर्वेकर्म-निवृत्त्यभावात् । वर्णाश्रमविशिष्टस्यैव हि [मिन्न]वर्णाश्रमधर्मारम्भः, न पुनर्वर्णाश्रमादिनामरूपविनिर्मुक्त-स्येति ग्रक्तशब्दस्य भावः । यस्तिवति तुशब्दः साधननिष्ठव्यावृत्त्यर्थे इत्यभिषायेण ज्ञानयोगकर्म-योगमाधननिरपेक्ष इत्युक्तम् । कथं तर्हि साधनाभावे साध्यसद्भावः(सिद्धिः) इत्यताह स्वत एवेति। प्रतिबन्धकं हि तिव्यवर्त्थम् ; आत्माभिमुखत्वं तु स्वतःप्राप्तमिति भावः । <sup>(१</sup>रित्राञ्दोऽत्नाभिमुख्यविषयः, तृप्तचादेः पृथङ्निर्देशात् । आत्मरतिरेव आत्मन्येव इति पूर्वापरवत् आत्मतृप्ताः इत्यलाप्यवधारणं विव-क्षितमित्यभित्रायेणाह आत्मनैवेति । तृतितुष्टिशन्दौ हि पोषकभोग्येजन्यत्रीतिविषयतया प्रसिद्धावित्य-भिभेत्य तत्तदुचितं व्यवच्छेद्यमाह् **नामप्रानादिभि**रिति, नोद्यानेत्यादि च I\ 'आत्मरतिः' इत्यादेव्ये-वच्छेचल्यं सङ्करूप्य सचयन वानपार्थमाह धारणेति । अःदिशन्देन नोगस्थानादि विवक्षितमः यस्य तु ज्ञानशोगनिष्ठस्थापि धारणादिकमञ्जपान।दिभिरेव, तस्य किव्यं विद्यत एवेति भाव: । नत् 'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्ययक्तम , मुक्तस्यापि 'जक्षत् कीडन् ' (छा. ८, १२,३) इत्यादिकार्यश्रवणात् । न चात कार्यमिति न तस्य कार्यम् (श्वे. ६.८) इतिबच्छरीरादि निर्दिश्यते, तन्निषेधस्येदानीमनुपयक्तत्वात . तदत्यन्तिनिषेषस्य च 'द्वादशःहवत् ' (ब्र. ४.३. १२) इत्यादिस्त्रतिद्विषयश्रितिभिविरुद्धत्वादित्याशङ्क्योक्तम् आत्मदर्भनाय कर्तव्यं न विद्यते इति । यस्त्वात्मरतिः इत्यादिनाऽभिष्रेतं हेतं व्यनक्ति-स्वत णकेति । स्वत एव सर्वदा इत्यभाभयाम् उत्पत्त्यर्थे शिनाशपरिहारार्थे च साधनापेक्षा नास्तीति जापि-तम् । अर्थशब्दस्यात्र प्रयोजनिवषयतां वदन् , तस्य कार्यं न विद्यते-इत्यनेन पौनरुक्त्यं परिहरति न किंचित्रयोजनमिति । प्रयोजनाभावात्कर्तव्यं नास्तीत्यक्तं भवति । नाकतेनेत्यत्रार्थो न निषेध्यः कित्वकरणे प्रत्यवाय इत्यभिपायेणाह न कश्चिदनर्थ इति । अर्थानर्थी ह्यात्मद्रशनतद्भावी ; तल पूर्वस्य

स्ठोकह्वयस्य सम्यङ्गुक्तपरतवैव टीकायां स्वष्टं व्याख्यानात् अन्तिमभाष्यानुसाराद्य योगदशा-परत्वाभाषात् प्वकार प्वात्र युक्तः । क्षेत्रङःकरणीति श्रीभाष्यगृहोत्तविष्णुपुराणइह्योकषदिद्म ।

नत्वात् । स्वतः एवात्मन्यतिरिक्तयकलाचिद्वस्तुविद्यस्त्वास्य सर्वेषु प्रकृतिपरिणामविशे-वेद्याकाश्चिद्वि सकार्येषु न कश्चित् प्रयोजनतया साधनतया वा व्यपाश्रयः ; यतस्त्विद्यस्त्वी-करणाय साधनारम्भः ; स हि मुक्त एव ।। १७ ॥ १८ ॥

तसादसक्तस्सतं कार्यं कर्म समाचर । अतको द्याचर कर्म परमामित प्रवः॥ १९ यसादसाधनायचात्मदर्शनस्यैव साधनामृहचिः, यसाच साधने प्रवृत्तसापि सुक्रक-त्वादप्रमाद्त्वादन्तर्गतात्मयाथात्म्यानुसन्धानत्वाच ज्ञानयोगिनोऽपि मालया कर्मानुहत्य-पेक्षत्वाच कर्मयोग एवात्मदर्शनिवृत्तौ श्रेयात् , तसादसङ्गपूर्वकं कार्यभित्येव सत्तं या वदात्मप्राप्ति कर्मेव समाचर । अपक्तः, कार्यमिति वद्यमाणाकर्तृत्वानुसन्धानपूर्वकं च कर्माचरन् पुरुषः कर्मयोगेनैव परमामोति आत्मानं प्रामोतीस्थिः॥ १९॥

कर्मणेव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

यतो ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि कर्मयोग एवात्मदर्शने श्रेयान् ; अत एव हि जनकादयो राजर्षयो ज्ञानिनामग्रेसराः कर्मयोगेनैव संसिद्धिमास्थिताः आत्मानं प्राप्तवन्तः ॥

सिद्धत्वात् न साध्यस्वम् , उत्तरस्य चात्यन्तिनिद्धत्वात् निवर्तनीयस्विमत्यभित्रायेणाह् असाधनायत्ताः स्मद्रभैनस्वादिति । न चास्य इत्यादिना प्रतिवन्धनिद्दस्वभैमपेक्षा नास्तीत्युच्यत इत्याभित्रायेणाह् स्वत एवेत्यादि । अस्येतिशब्द आस्मरितिरित्यादिनिर्दिष्टपकारपरामर्शीत्यभिषायेणोक्तम् सक्छाचिद्वस्तु-विद्यस्ते । स्वशब्दस्यालासङ्कोचेन सावान्तरभेदसमस्त्रप्रकृतभोग्यविषयतामाह् प्रकृतीत्यादिना सक्कार्यिध्वत्यन्ते । परिणामशब्देनाल मृतशब्दस्य भवनिष्ठयायोगिपरत्वं दर्शितम् । अर्थव्यपाश्रयः इत्यतार्थशब्दो भावप्रधान इति व्यनक्ति प्रतोजनतया व्यपाश्रयः इति । व्यपाश्रयः इति क्रिकरणम् । अर्थ एव व्यपाश्रयः स्वीकरणीयमिति वाऽभिन्नेतम् । एतेन "प्रयोजनिमित्तो व्यपाश्रयः" इति परव्यास्या विरस्ता । न चास्येत्यादेईत्विभिपायेण वा, सुक्त एव हि साधनिरिपेक्ष इति स्रोकद्यार्थ-निगमनाभिपायेण वोच्यते स हि सुक्त एवेति ॥ १७ ॥ १८ ॥

तसादित्येतत् कर्मणः कर्तव्यतायां पूर्वोक्तसमस्तहेतुपरामशींत्यभिषायेणाह यसादिति। असकाः, कार्यम् इस्युभयमि कर्मणोऽनुष्ठानप्रकारपरिमित्यभिषायेणोक्तम् असङ्गपूर्वकं कार्यभिरयेवित । कार्य-भिरयेव-- तु तत्कार्यस्वर्गाद्यपेक्षयेत्यर्थः । सत्ततिमिति अत ज्ञानयोगाधिकारे सत्यिष कर्मयोगस्यैवानुष्ठेय-त्वाया(येत्या ?) ह यावदात्मप्राप्तीति । ज्ञानयोगत्यवधानमन्तरेणापि कर्मयोग एवात्मप्राप्ति साधयतीति असक्ती हि इत्यादिनोच्यत इत्यभिषायेणाह असक्त इति । कर्माचरन् ...परमामोतीति । न पुनः कर्मा-चरणानन्तरमन्यत् कृत्वेत्यर्थः । कर्माचरन् परमामोतीत्युक्ते अर्थसिद्धं कर्मणसाधनत्वं व्यनिक्ति कर्मयोगोनेवेति । अत्र पाप्यतया निर्दिष्टः परा देहातिरिक्तात्मप्रकरणत्वात् प्रकृतेः परो जीव इत्यमि-प्रायेणाह आत्मानं प्रामोतीत्यर्थ इति ॥ १९ ॥

कर्मयोगस्य ज्यायस्त्वं शिष्टानुष्टानेनोदाह्नियते कर्मणैवेति । हिशब्दस्वितं ज्ञानयोगाधिकारं दर्शयित राज्ञथयो झानिनामग्रेसरा इति । राजानो हि विस्तीर्णागाधमनसः ; ततापि ऋषित्वादती-

एवं प्रथमं प्रमुक्षीर्ज्ञानयोगानईतया कर्मयोगाधिकारिणः कर्मयोग एव कार्य इत्यक्त्वा ज्ञानयोगाधिकारिणोर्जप ज्ञानयोगात कर्मयोग एव श्रेयानिति सहेतकप्रक्रम । इदानी जिल-तया व्यवदेश्यस्य सर्वथा कर्मयोग एव कार्य इत्यच्यते-

<sup>1</sup>छोकसंग्रहमेवापि संपद्यन कर्तमईसि॥

२०

यद्यदाचरति श्रेष्टस्तचदेवेतरो जनः । स यत्यमाणं कहते स्रोकस्तदनवर्तते ॥

ę, लोकसंग्रहं पश्यन्नपि कर्मैव कर्तमहीस । श्रेष्ठः क्रत्स्वशास्त्रज्ञतयाऽनुष्ठातृतया च प्रधितो यद्यदाचरित, तत्तदेवाकृतस्त्रविञ्जनोऽप्याचरित ; अनुष्ठीयमानमपि कर्म श्रेष्ठो यस्प्रमाणं यदक्क न्द्रियार्थद्रष्टारः, तत्राप्यात्मविदः, त्रतापि निसर्गनिगृहीतेन्द्रियत्वात् प्रकृष्टोत्पत्तिकसत्त्वादिना च तेषामग्रगण्या इत्यर्थः । कर्मणैवेत्येवकारो ज्ञानयोगशक्तस्यापि कर्मयोगानुपरतिपरः । संसिद्धिशब्दस्य परमामोतीत्यक्तनि(१)दरीनपरत्वात् आरमानं प्राप्तवन्त इत्यक्तम् । एवं च सति कर्मणैवेति पूर्वप्रसक्तज्ञान-योगनैरपेक्ष्यपरमवधारणमप्यपपन्नं भवति ॥

उत्तरसङ्गत्रर्थम् उक्तं संप्रहेणोदगुह्नाति एविभिति । इदानीमित्यनेन लोकसंप्रहमित्यादिकं विद्वान् युक्तस्समाचरनं (२६) इत्यन्तमवच्छित्रम् । सर्वथेति । <sup>1</sup>ठोकरक्षार्थम् , लोकोपष्ठवजनितस्वपापेन ज्ञानयोगादिष पच्यावकेनोभयभ्रष्टस्वपरिहारार्थे चेत्यर्थः । **लोकपंग्रहपपी**त्यन्वये लोकसंग्रहस्यापधानता पतीयेत. **परयन्नपी**ख़क्ते त्र कर्मकर्तःयतायां पूर्वोक्तहेतुभ्यो हो≉संग्रहस्याधिवयं चोत्येतेत्वयमन्वय उक्तः । एवकारो ज्ञानयोगव्यवच्छेदाय कर्तुमेवाईसीत्यन्वेतव्य इत्यभिषायेणोक्तम् कर्मेव कर्त्मईसीति। यद्वा लोकसंग्रहमेवेवकारो लोकसंग्रहस्य नैरपेक्यपरः, कर्मेवेति तु प्रकरणापन्नमुक्तम् । अर्हसीत्यनेन कर्मथोगैकानुष्ठानकारणमर्जुनस्य वैशिष्ट्यं द्योत्यते श्रेष्ठ इति । 'प्रशस्य श्रः' (अष्टा ५. ३. ६०) इत्यन्ज्ञासनात् प्रज्ञस्यतम इत्यर्थः । तचास्य प्रज्ञस्यतमत्वमनुष्ठातृगामनुविधेयानुष्ठानत्वोपयोगीति मत्वा, 'तानकृत्स्वविदो मन्दान् कृत्स्ववित्र विचाळयेत्' (२९) इति बक्ष्यमाणं चानुसन्धाय कृत्स्वास्त्रज्ञतया अतुष्ठाततया च प्रथित इत्युक्तम् । अक्टरस्रविदोऽनुष्ठातुः, क्ररस्रवित्तवेऽप्यनन्छातुः, उभयाकार्वन्तवेऽपि अप्रसिद्धस्यानविधेयानुष्ठानता नास्तीति तद्यवच्छेदाय पदत्तयम् । 'स यत्प्रमाणं करुते' इत्यत्, "स यच्छास्रं प्रमाणीकरोति तदनुवर्तते छोकः" इत्यस्मिन्नेथे तदनुवर्तनस्य तदर्थानुष्ठान्रह्मपत्वादर्थतः पुन-रुक्तिस्त्यात : करत इति च एतत् बुध्यत इत्येतसिन्नर्थे नेतन्यम् । लोकसंग्रहमेवापि संपद्यन् कर्तमहंसीति प्वेवावये च कर्तुमहंसीत्येतावन्मात्रमुक्तम् ; अतिस्पृत्यादिकमपि प्रमाणीकर्तुमहंसीत्यनुपन्यस्तम् ; येन तद्रथिमिद्मुच्येत । **यद्यदाचरती**त्यक्रिन्यनुष्टेयखरूपे निर्दिष्टे तत्प्रकारे त्वपेक्षिते बुसुत्सा जायते : अतस्त-दभिधानमेवोचितमित्यभिपायेण यत्त्रमाणं यदक्कयक्तमित्यक्तम् । प्रमाणशब्दोऽलाविधपरः ; अनुष्ठेयकर्मस्वरूपस्य चावधिरङ्गान्येव ; अत एव हि विध्यन्तशब्देनेतिकर्तव्यतासुपचरन्ति । "यस्प्रमाणं यथामृत''मिति यादवप्रकाश्रभाष्यमध्येतत्वरमेव । अस्मित्रर्थे क्रहते इति शब्दस्वारस्यप्रदर्शनाय

<sup>1 .</sup> छोकसंग्रहो नाम छोकस्य-जनस्य सञ्चमार्थं कर्ते शक्यात् कर्मणोऽप्रच्यावनम् ।

## युक्तमनुतिष्ठति तदङ्गयुक्तमेवाकृत्स्विविह्नोकोऽप्यनुतिष्ठति ।

अतो लोकरक्षार्थं शिष्टतया प्रथितेन श्रेष्ठेन स्ववर्णाश्रमोचितं कर्म सकलं सर्वदा अनुष्ठेयम् ; अन्यथा लोकनाशजनितं पापं ज्ञानयोगाद्य्येनं प्रच्यावयेत् ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्य बिष्ठ लोकेषु किंचन। नानवासमवासम्य वर्त पव च कर्मणि ॥ २२ न मे सर्वेश्वरसाऽऽप्त(सावाससमस्त)कामस्य सर्वेश्वस्य सत्यसङ्करपस्य तिषु लोकेषु देवमनुष्यादिरूपेण स्वच्छन्दती वर्तमानस्य किंचिद्पि कर्तव्यमस्ति, यतोऽनवासं कर्मणाऽवासव्यं न किंचिद्प्यस्ति । अथापि लोकरक्षाये कर्मण्येव वर्ते ॥ २२ ॥

अविष्ठतीस्वक्तम् । अन्यथाऽर्थान्तरे लक्षणा स्यादिति भावः । यरप्रमाणमिति निर्दिष्टविशिष्टसिद्धवर्धे तच्छव्दार्थमाह तदङ्गयुक्तमिति । नतु यच्छव्देनाङ्गे निर्दिष्टे कथं तच्छव्देनाङ्गविशिष्टपरामर्शः ? इत्थम् , यदङ्गयुक्तमिति । नतु यच्छव्देनाङ्गे निर्दिष्टे कथं तच्छव्देनाङ्गविशिष्टपरामर्शः ? इत्थम् , यदङ्गयुक्तमनुतिष्ठति तदाचरतीत्युक्ते, तदङ्गमाचरतीत्येव शब्दयुत्तिः । अङ्गस्य चाङ्गिप्रथमावा-योगादर्थतस्यदङ्गविशिष्टमिति सिद्धम् । आभिप्रायिकौ करणाकरणयोरर्थानर्थौ प्रकाशयित अत इति । लेकानुविभेयानुष्ठानत्वादित्यर्थः । सर्वद्ति । यावदात्मप्राप्तीत्यर्थः । नतु स्वयं यदि ज्ञानयोगेन प्रक्तो(युक्तोः) भवति, किमस्य लोकेन संगृहीतेनासंगृहीतेन वेत्यसाह अन्ययेति । ज्ञानयोगाधिकारी अहमिति कृत्वा कर्मयोगपरित्यागे सतीत्यर्थः । ज्ञानयोगादिकारीयाद्यीत्यपिशव्दः उभयश्रष्टतां योतयिति ॥२१॥

मयाऽपि हि निरपेश्वेणैव, लोकक्षोमे निष्प्रत्यवायेनापि परमकारुणिकतया लोकरक्षार्थं कर्मेंच क्रियते ; त्वया तु सापेश्वेण समत्यवायेन क्रियुनरिखुच्यते, न मे पार्थेत्यादि-श्लोकलयेण । मे इति पदेन कर्मवर्यचेतना-तर्ज्यावृत्तो यथावस्थितो हीश्वरः पराष्ट्रस्य हत्यिभगायेण विलक्षणनित्यसिद्धविम्तिगुणपौष्करुयस व्यक्षनानि सर्वेश्वरस्येत्वाविवरोषणानि उक्तानि । सर्वेश्वरस्येति । श्रुतिस्मृती हि ममेवाज्ञा । सा चान्येरनुर्वतिया । न हि मे नियन्त्वन्तरमस्ति, यद्यीन-प्रत्यवायभयात् कुर्यामिति भावः । आप्तकामस्येति । न च मे सङ्कल्पमालादसाध्यमितःपूर्वमिनलाषदशा-मालापक्षे प्रयोजनमस्ति, यदुपायतया कर्म कर्तव्यमिति भावः । सर्वञ्चस्य सत्यसङ्कर्यस्येति । नापि मे कर्मवर्यानां देवमनुष्यतिरश्चां सज्ञातीयतयाऽवतिर्णस्यापि तेषामित्व ज्ञानसङ्कोच इच्छापतिघातो वाऽस्ति, यत्त्रिवृत्वस्यां कर्म कार्यमित्याशयः । त्रिषु लोकेप्तित्यत्यक्षिसिद्धं विशेषणमध्याहत्याऽऽह देव-मनुष्येति । उक्तं च मगवता पराग्ररेण, "समस्त्रशक्तिस्त्यत्विधिसद्धं विशेषणमध्याहत्याऽऽह देव-मनुष्येति । उक्तं च मगवता पराग्ररेण, "समस्त्रशक्तिस्त्यत्विधिसद्धं विशेषणमध्याहत्याह्याह्याह्याह्याह्याहति । उक्तं च भगवता पराग्ररेण, "त्वाचानिक्रणणि तत् करोति जनेश्वर । देवतिर्यङ्गनु-प्याख्याह्याति । उक्तं च भगवता पराग्ररेण, "त्वाचानम्त्राव्यम् इत्येतत् कर्तव्यामावे अपेक्षित-ययाह्यातिम्वणणा । (वि. ६. ७१. ७२. ७२) इति । नानवाप्तमवाप्तव्यम् इत्येतत् कर्तव्यामावे अपेक्षित-ययाह्यातिम्वणाते च्याह्याति यत् इति । उत्तरक्षोक्तपर्याचे चति स्वावद्यात् कर्नणो वित्यत्य इति । कर्मणि वर्ते एते इति । यद्वा, पकरणोचित्यात् एवकारोऽत्र भित्रकमः ॥२ ।। २। ॥

षित हाई न बतेंथं जातु कर्मण्यतिहृतः । मम वर्गाजुवतैनते मनुष्याः पार्थं सर्वशः॥ २३ वस्तीरेयुरिमे छोका न कुर्यो कर्म चेदहम् । संकरस्य च कर्ता स्यामुपदृष्यामिमाः प्रजाः॥२४ अहं सर्वेश्वरः सत्यसङ्करपः स्वसङ्करपकृतजगदुदयिषमञ्जयलीलः छन्दतो जगदुपकृति मत्यों जातोऽपि मनुष्येषु शिष्टजनाग्रेसरवसुदेवगृहैऽवतीर्णस्तरकुलीचिते कर्मण्यतिन्द्रतस्तवैदा यदि न वर्तेय, मम शिष्टजनाग्रेसरवसुदेवस्तोवर्म अकृत्सविदः शिष्टाः सर्वेश्रकारेणायमेव धर्म हत्यनुवर्तन्ते । ते च सकर्तव्याननुष्ठानेन अकरणे प्रत्यवायेन च आत्मानमल्यान निर्यगामिनो मवेग्रः। । अहं कुलोचितं कर्म न चेत् कुर्याम् , एवमेव सर्वे शिष्टलोका मदाचारायत्तधर्मनिश्वयाः

कर्तव्यप्रयोजनयोरभावे किमर्थं तर्हि कर्म कियत इति शङ्कायामुच्यते यदि ह्यहमिति। पूर्वस्थोकः तिष छोकेष्विति निर्देशात् सर्वावतारपरः : अयं तु मन्ष्या इति दर्शनात् कृष्णावतारासाधारणः । तसादहमिति निर्देशस्येश्वरस्यभावसम्चित्ऋणावतारासाधारणाकारविषयतामाह सर्वेश्वर इत्यादिभिः । सर्वेश्वरस्तरयसङ्करप इति पूर्ववत् । आप्तकामत्वाविरोधायोच्यते स्वसङ्करपक्रतेति । स्वसङ्करपमालेण . सर्वे नियन्तुं शक्तोऽपि । ज्ञानप्रदानादिद्वारा प्रवर्तनार्थे जगदपकृतिमत्यो जातोऽपीत्युक्तम् । अन्यथा भूतावेशन्यायेन प्रवर्तितानां शास्त्रवस्यताभावात तत्तदन्धानाधीन फरूं न स्यात : "छन्दतस्संप्रवर्तते" (वि. ७. २२. १८) इत्याद्यनुसारेणाह **छन्दत** इति । न तु कर्मणेत्यर्थः । कर्मफलमोक्तत्वं न्युदस्यता जगद्वकृतिमर्स्ये इत्यनेन "जगद्वपक्कृतिमर्त्ये को विजेतं समर्थः" (वि. ५. ३०. ८०) इति पुराणोक्तिः सारिता । अपिशब्देनाकर्मवश्यावतारोऽपीत्यभिष्रेतम् । 'अजायमानो बहुघा विजायते'. 'नाकारणात् कारणाद्वा' (वि. ५. १. ५१) 'इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः' (वि. ६. ५. ८४) इत्यादि-अनुविधेयानुष्टानत्वसिद्ध्यर्थे हिशब्दचोतितप्रसिद्धिप्रकार्विवरणार्थे चोक्तम मनुष्येष्वित्यादि । नन्वयभीश्वरः कस्मिन् कर्मणि वर्ततः । न ह्यस्य परमार्थतो वर्णाश्रमाः सामान्यधर्मथोग्य मनुष्यत्वादिकं वाऽस्ति, येनाकर्मवश्य इच्छया कर्म कुर्वाणोऽपि तत्तद्वितं कर्मोपाददीत इति शङ्कायां 'कुलोचितमिति क्षालं धर्मे स्वं बहुमन्यते' (रा.. अ. १. १६) इत्यायनुसारेणाह तरकुलोचित इति । अयं भावः — सत्यमस्य परमार्थतो वर्णाश्रम।दिकं नास्ति : तथाऽपि तत्तदन्तिकर्मकरणायापाकृतमेव विग्रहं तचजातीयसन्तिवेशं परिणमयति : तत तचजातीयत्वबुद्धचा पुरुषाणामन्विधेयान्ष्ठानत्वं(न:) स्यात् इति । अतन्द्रतः अनुदासीनः । सर्वदेति जातुशब्दार्थः : जात्वशीति हि तद्भिपायः । अनुविधेय-त्वोपयुक्तप्रकारविवक्षां ममेत्यतापि दर्शयति मम अष्टिति । सर्वश्च इति प्रमाणपौष्करुयपरम् , सेति-कर्तव्यताकत्वपरं वेत्यभिमायेणाह सर्वप्रकारेणेति । अनुवर्तन्ते <sup>1</sup>अनुवर्तेरिक्तत्यर्थः ; प्रसङ्गरूपस्यापि सिद्धवत्काराभिपायेण वर्तमानस्यपदेशः । वश्यमाणप्रसङ्घार्थं मनुष्याणां पूर्वसिद्धस्वानुवृत्तिमालाभिषायेण वा अनिष्टप्रसङ्गपरत्वायाह ते चेति । शास्त्रमेवानुसूत्य तवाकरणं नाद्वियेरत्रित्यलाह उन्सीदेयुरिति । कोकशब्दस्याऽऽचारपरजनविषयतामौचित्यसिद्धामभिष्रत्योक्तम् शिष्टसोका इति । इमे इतीदंशब्दबहुवच-

मिन्यादिकमुत्तरार्धे पूर्व योजयित्वा पूर्वार्धमुत्तरहलोकेनाम्बोयते चेत् , अनुवर्तेरिवित न स्वास्थ्यम् । तथा भाष्ये योजनाऽकरणात् मनुवर्तेरिवित्यर्थः ।

अकरणादेवोत्सीदेशः नष्टा भवेयुः । श्वासीयाचाराननुपालनात् सर्वेषां शिष्टकुलानां संकरस्य च कर्ता स्याम् । अत एवेमाः प्रजाः उपहन्याम् । एवमेव त्वमि शिष्टजनाग्रेसरपाण्डतनयो युधिष्ठिरानुजोऽर्जुनस्सन् यदि ज्ञाननिष्ठायामधिकरोषि ; ततस्त्वदाचारानुवर्तिनोऽकृत्स्नविदः शिष्टा ग्रम्थवः स्वाधिकारमजानन्तः कर्मनिष्ठायां मनाधिकुर्वन्तो विनश्येयुः । अतो व्यपदे-क्येन विदुषा कर्मेव कर्तव्यम् ॥ २३. २४ ॥

श्वकताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसकश्चिकीपुंळांकसंग्रहम् ॥ न बुक्तिमेद जनयेदबानां कर्मसङ्गितम् । जोययेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरम् ॥२३ अविद्वांसः आत्मन्यकुरस्तविद्ः, कर्मणि सक्ताः कर्मण्यवर्जनीयसंबन्धाः आत्मन्यकुरस्वि

नयोस्सामर्थ्यात् सर्वे इत्युक्तम् । सर्वेषां शास्त्राश्चानां सर्वेनिश्चेतुमशक्यवात् शिष्टाचारदत्तदृष्टीनामुक्ताया अनुष्टतेः प्रकारमालोच्योक्तम् मदाचारेत्यादि । विशरणाद्यर्थासम्वात् पुरुषार्थद्वानापुरुषार्थपाधिरूपो नाश इहोत्साद इत्याह नष्टा भवेषुरिति । 'असलेव' (आ. ६) इत्यादिवदेतत् । 'अरुरणस्योत्साद-हेतुत्वेऽवान्तर्व्यपारः सङ्करः ; स च ब्राह्मणाद्विधभैत्य युद्धनिष्ट्रस्यादेः क्षतिवादिभिरनुष्टानम् । उपहृतिः पश्चादिषि कर्मानर्हता । स्वात्मिति दृष्टानस्य तर्वाशितकेऽ[व्य]भिष्रेतं व्यञ्जयति एवभेव स्विति । 'न मे पार्थ' (२१) इति पार्थश्वत्वद्वयभिष्ठेतम् अनुविधेयत्वोपयोग्याकारत्वयमाह शिष्टेति । युधिष्ठिर-शब्दोपादानं युद्धपोत्साहनाय रणयज्ञाख्यक्षत्वधमीनष्ठताधोतनार्थम् । कि तव पिलादिशितसंबन्ध्यन्तरेण, स्वयमेव हि शिष्टजनाधेस्तरत्या उर्वशिविराटतन्यादिवृत्तान्तैः प्रसिद्धस्वमित्यभिष्रायेणाह अर्जुनस्सिकति । धर्मो हि शिष्टनानुष्ठेयः । ज्ञानयोगश्च परमधर्मः । ततश्च तदनुवर्धनं लोकस्य मोक्षायेव स्वादिति सर्वेकोक्तस्वैव भवेदिति शङ्कायामुक्तम् स्वाधिकारमज्ञानन्त इति । तदनिधकारिणां तत्नानुप्रवेशेनोभयश्रष्टता स्वादिति भावः । स्रोक्तसंबद्विति सर्वेकोक्तस्विव

होकस्य कर्मयोगज्ञानयोगयोरिषकारानिषकारप्रकारः, विदुषस्त साधिकारितरस्कारेण विद्विक् कारानुरूपाचरणं होकसङ्ग्रहमकारश्चीच्यते सक्ता इत्यादिश्चीकद्वयेन । अवेदन प्रस्तुविद्विक्याचित्र ज्ञापनायोक्तम् — आरसन्यकुरस्नविद् इति । एवस्रतस्त विद्वान् अज्ञानामिति शब्दयोरिष श्रव्याप्त । अत्यस्तानासमज्ञताव्युदासाय <sup>3</sup> अकुरस्वशब्दः । पूर्वोक्तं प्रकृतिसंबन्धेन कर्मणोऽवर्वनीयस्य सक्ताः इत्युक्यं न सांसारिककर्मवत्यपुरुषविषयम् , तथा स्ति कर्मयोगमि परित्यज्य सांसारिककर्माण्येव विद्वाप-ऽप्यनुष्ठेयानि स्युः। तस्मात् ज्ञानयोगानिषकारः कर्मयोगाथिकारश्च ताभ्यां स्ट्यत इत्यमिपायेण आरसन्य-कुरस्वित्तयेत्यादिकसुक्तम् । एवसंतरत्र अञ्चानां कर्मसङ्गिनाम् (२६) इत्यतापि माधम् । यथा

कमिनृष्ठायां नाचिकुर्वन्तः-कमयोगे अप्रवर्तमानाः। 2 सक्ता इति संगः नाऽऽस्याः किंतु अवर्जनीयः संवर्षयः। कमिण-कमयोगे। अत्र कमिण सक्ता इत्येवोक्तम्। न तु फळे सक्ता इति। असक्त इत्यस्य झानयोगाचिकारीस्यर्थः।
 अत्यस्य झानयोगाचिकारीस्यर्थः।

त्तया तद्भ्यासरूपज्ञानयोगेऽनधिकृताः कर्मयोगाधिकारियः कर्मयोगमेव यथा आत्मदर्शनाय कुर्वते, तथा आत्मिन कुरस्निवत्तया कर्मण्यसक्तः ज्ञानयोगाधिकारयोग्योऽपि व्यपदेश्यः शिष्टो लोकस्थार्थे स्वाचारेण शिष्टलोकानां धर्मःनेश्ययं चिकीर्षः कर्मयोगमेव कुर्यात् । अज्ञानाम् आत्मन्यकुत्स्निवत्या ज्ञानयोगोपादानासकानां म्रमुक्षूणां कर्मसिङ्गाम् अनादिकर्मवासनया कर्मण्येव नियतत्वेन कर्मयोगाधिकारिणां कर्मयोगादन्यदात्मावलोकनसाधनमस्तीति न युद्धिमेदं जनयेत् । किं तर्हि शातमिन कुत्स्नवित्तया ज्ञानयोगशकोऽपि पूर्वोक्तरीत्या, 'कर्मयोग एव ज्ञानयोगनितपेक्षः आत्मावलोकनसाधनम्' इति बुद्ध्या युक्तः कर्मेवाऽऽचरत् सकलकर्मस अकुत्स्नविदां प्रीति जनयेत् ॥ २५ ॥ २६ ॥

कमियोगमनुतिष्ठतो विदुषोऽविदुष्य विशेषं प्रदर्शयन् कमियोगापेक्षितमात्मनोऽकर्त-त्वानसन्यानप्रकारमुपदिशति—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्थदाः । अह**ाधवेमृदःमा कर्ताऽद्वमिति मन्यते ॥ २७** तस्यवित्तु मद्दावाद्दो गुणकर्शविष्यागोः । गुणा गुजेयु वर्तन्त इति मत्या न सज्जते ॥२८

कुर्वानंत तथा कुर्यादित्येतदिष न केवलं दृष्टान्तदार्ष्टीत्तिकविषयम्, अपि तु येन प्रकारेण खानुष्ठानं दृष्ट्वाऽन्ये कर्म कुर्युः, तेन प्रकारेण विद्वान् आचरेदित्येतदिम्प्रायम्; तथासित हि चिक्रीपुंलींकसंप्रहम् (२५) इत्यपि संगतं भवतीत्यिमप्रयन् वावयार्थमाह आत्मनीत्यादिना कुर्यादित्यन्तेन । विद्वान्, असक्तः इत्युभाभ्यां फल्तिसुक्तं ज्ञानयोगाधिकारयोग्योऽपीति । संप्रह्याव्देन लोकरज्ञनादि-प्रमच्युदासायाह कर्मनिश्चयमिति । लोकत्य संप्रहणमेकीकृत्य स्वीकरणम्; खानुष्टाने समानामिपायतया स्वयूथ्यतापादनित्यर्थः । कर्मवासना उत्तरोत्तरपुण्यपापारम्भकपूर्वपूर्वपुण्यपापायाविशेषः ; उत्तरोत्तर-शरिरमेरणसमर्थस्यतिहेतुः पूर्वपूर्वश्वरिरमेरणानुभविवशेषज्ञतितंसकारो वा, वादिल्लवादादिसंस्कारवत् । वृद्धिमेदः बुद्धेरन्यथाकरणम् ; तच प्रकृतविषयं दश्यिति कर्मयोगादन्यदित्यदिना । युक्तः इत्यनेन लोकसंप्रहार्ये कुर्वतः स्वापेक्षितियोगा(निल्यना)भावाय प्रागुक्तनिरपेक्षस्वद्वियोगो विवक्षित इति बुद्धचा युक्तः इत्यक्तम् । जोषयेत् इत्यस्यार्थः प्रतिति जनयेदिति । जुपी भीतिसेवनयोः इति हि धातुः । कर्मसिक्तनः पुरुषान् सर्वकर्मणि श्रीकष्टित्यन्वयः ॥ २५ ॥ २६ ॥

प्रकृतेः इत्यादिश्चोकचतुष्टयस्यार्थमाह कर्मयोगामिति । विदुणोऽविदुषश्चेति व्युत्कमेण स्रोक-द्वयार्थः । तृतीये त्वेतद्विशदीकरणमुखेनाविचास्टनमुक्तम् । कर्मयोगापेक्षितं—कर्मयोगेतिकर्तन्यता-मृतमित्यर्थः । प्रकृतेर्मुणैः इत्युक्ते प्रसिद्धिप्रकर्षादिसिद्धं विशेषं प्रस्तुतानुपयुक्तशब्दादिपाञ्चतगुण-

<sup>1</sup> अर्धः तात्पर्यार्थः । 2. जोत्रयदिव्यस्य सेवयेदित्यर्थेऽपि कर्मयोगस्य ज्ञानयोगवैळक्ष्यण्येन अनायासानुष्ठेयत्वात् फळसिख्या प्रीतिहेतुत्वाच प्रीतिसंबन्धः सेवनेऽस्तीति जुवीधानुप्रयोग-स्वारस्यात् आयत इति भावः । कार्यविति ज्ञांकरव्याख्या । अकृत्स्नविदो जोषयेदिति 29. इळोकभाष्येऽत्र । कर्मकारकानुक्रयोऽयो प्राद्याः ।

प्रकृतिगुँणैः सत्त्वादिभिः स्वानुरूपं कियमाणानि कर्माणि प्रति अहङ्कारिवमृहारमा, अहं कर्तेति मन्यते ; अहङ्कारेण विमृह आत्मा यस्यासावहङ्कारिवमृहात्मा ; अहङ्कारो नाम अनहमर्थे प्रकृतावहमभिमानः ; तेन अज्ञात[त्म]स्वरूपो गुणकर्मित अहं कर्तेति मन्यत हत्यथः । गुणकर्मिवमागयोः=सत्त्वादिगुणविभागे तत्तत्कभिवभागे च तत्त्ववित् गुणास्सत्त्वाद्यः गुणेषु स्वेषु कार्येषु वीन्त हति सत्या गुणकर्मस अहं कर्तेति न सञ्जते ॥ २७ ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुण अमृद्धाः लज्जन्ते गुणकर्म्यः तान् अहत्स्तविद्यो मन्यान् कृत्स्तविद्या विचाखयेत्॥ अकृत्स्नविदः स्वारमदर्शनाय प्रवृत्ताः प्रकृतिसंखद्यतया प्रकृतेर्राणैर्यथावस्थितारमनि संमुद्धाः गुणकर्मम् क्रियास्वेव सङ्घन्ते, न तद्विविक्तात्मस्वरूपे । अतस्ते ज्ञानयोगाय न व्यवच्छेदायाह सन्वादिभिरिति । वक्ष्माणसात्त्विकादिकमैविभागं सर्वज्ञाः इति प्रकारवाचिपदस्रचितमाह स्यात्रह्मप्रमिति । कर्ता इति तूजन्तयोगात् पष्टीपाप्तिः स्यादिति तत्परिहाराय, कर्मसु कर्नृत्वाहंत्वोक्ति-अमन्यदासाय च **कर्मा**रि**ण प्रती**त्युक्तम् । तृत्रान्तत्विवक्षायां त्वियं फल्तिोक्तिः । **अहङ्कारविमृदा**न स्मेति समासांश्रात्यस्य वहाँभवरस्य तात्पर्वार्थं विवक्षत् विग्रहाति अहङ्कारेणेति । नालाहंभावमात्रमुच्यते, तस्यात्मस्यभावान्तर्गतत्वातः । नापि अइङ्काराख्यमचिद्दव्यमः : तस्यापि देहात्मश्रमं द्वारीकृत्य कार्यकरत्वे सति अन्यवहितस्य तस्येव वक्तुमुचितत्वात् । नापि गर्दः, उत्क्रष्टपरिभवादिहेत्रत्वेनानिर्देशात् । अतः अहङ्कार इति देहात्मभ्रम एवाल विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह अहङ्कारी नाम अनहमर्थे प्रकृतावह-मिममान इति । एतेनाहङ्कारशब्दस्यामूततद्भावे चित्रप्रत्ययेन खुरपतिर्दश्चिता । अञ्चात[ारम]स्वरूप इति । विमृद्धः आत्मा स्वरूपं यस्य स विमृद्धातमाः "दिशो विमुद्धेयुः" इतिवत् विमृद्धशब्दोऽल मोह-विषयसमानाधिकरण इति भावः । गुणकर्भविभागयोः इत्यत उपसर्जनान्वयिषष्ठीत्वादपि विषयसप्तमी त्वमुचितमिति मत्वोक्तं सन्वादिगुणविभागे तत्तत्कर्मविभागे चेति । विभागशब्दो द्वन्द्वात्परत्वात् भरयेकमन्वितः। गुणानां साक्षाद्गुणेषु वृत्त्यभावात् परोक्तप्रिकययेन्द्रियतद्विषयादिविवक्षायां पदद्वयोपचारात् सप्तम्यन्तो गणशुन्दो गुणकार्थेप्योभचारिक इत्यभिषायेणोक्तं स्वगुणेषु स्वेषु कार्येष्विति । गुण-कार्याणि च विभक्ष्यन्ते । यहा कारणस्य प्राधान्यात् कार्यस्य च तदपेक्षया गुणत्वादेवमुक्तम् ॥२७-२८॥

प्रकृतेर्गुण इति स्रोके तावत् न निषद्वादिसको विविक्षतः, तदानीमविचाल्यत्वानुपपयेः । अतः पुरुषार्थोपायेषु केषुचित् सक्षे वक्तन्यः । पस्तुतश्च पुरुषार्थोऽलाऽऽस्मदर्शनम् । तल चाक्नस्विविद्यिकारे किस्सिश्चित् तदुपाये सक्षे विविक्षत इत्यमिप्रायेण अक्तस्स्नविद्यस्त्वास्मदर्शनाय प्रश्चना इत्यादि उक्तम् । अहङ्कारिकार्यः (२७) इति आसिविषयो हि संमोहः पक्ततः । अतो गुणैसंमूढा इत्येव समासः । उपसर्जनत्यापि च गुणशब्दस्य 'देवदत्तस्य गुरुकुरुम ' इत्यादि ज्विव प्रकृतेरित्यनेनान्वय उपपन्न इत्यमिन् प्रयोगोक्तं प्रकृतेर्गुणैर्ययावस्थितारति संमृदा इति । गुणकर्मसु इत्यस्य कर्मयोगपर्यवसानायोक्तं क्रियास्वेदि । परिसंक्यापरत्वत्यक्त्यश्मेवकारः । तत्स्चितं व्यवच्छेद्यमाह न तदिति । गुणकर्मसक्तेष्ठितमविचारुनहेदुमाह अतस्त इति । न प्रमवन्ति न समर्था इत्यर्थः । तेषां प्रतिषेष्य-

प्रभवन्तीति कर्मयोग एवं तेषामधिकारः । एवंश्वतांस्तान् मन्दान् अक्टरस्नविद्ः क्रस्स्निव् स्वयं ज्ञानयोगावस्थानेन न विचालयेत् । ते किल मन्दाः श्रेष्ठजनाचारातुवर्तिनः कर्म-योगादुत्थितमेनं दृष्ट्वा कर्मयोगात् प्रचलितमनसो भवेषुः । अतः श्रेष्ठः स्वयमि कर्मयोगे तिष्ठत् आत्मयाथाभ्यज्ञानेनाऽऽत्मनोऽकर्तृत्वमतुसन्द्धानः, कर्मयोग एवाऽऽत्मावलोकने निरपेश्वसाधनमिति द्र्शयित्वा तान् अक्टरस्नविदो जोषयेदित्यर्थः । ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि ज्ञानयोगादस्यैव ज्यायस्त्वं पूर्वमेबोक्तम् । अतो व्यपदेश्यो ग्रीकसंग्रहायतमेव कुर्यात् ॥

प्रकृतिविक्तात्मस्वभाविन्रूषणेन गुणेषु कर्तृत्वमारोष्य कर्मानुष्ठानप्रकार उक्तः है—
गुणेषु कर्तृत्वानुसन्धानं चेदभेव-आत्मनो न स्वरूपप्रयुक्तमिदंकर्तृत्वम्, अपि तु गुणसम्पर्ककृतमिति प्राप्ताप्राप्तविवेकेन गुणकृतम् इत्यनुन्धानम् — इदानीमात्मनां परमपुरुषवारीरतया
विचालनभसङ्गाय मन्दानित्युक्तमित्यमिप्रायेण विचलनभित्रयामाह ते किल मन्दा इति । स्वयं
मन्दत्वात् श्रेष्ठजनाचारानुवर्तिनः । मन्दत्वं चाल खयमाचारनिर्णयापाय्यं विवक्षितम् ; अक्तुत्सनविस्वकलितं विचालनीयत्वकारणम् अधैर्यलक्षणमस्यत्वं वा । 'मूहास्पावदुनिर्माग्या मन्दाः' इति नैचल्युकाः ।
न विचालयेत् इस्येतत् पूर्वोक्तजोषणशेषमिति दर्शयति अत इति । ज्ञानयोगाधिकारिणः कर्मयोगे
स्थितिर्निकृष्ट।धिकारपरिग्रहस्यादित्याशङ्कयाह ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपीति । स्वकार्यमालस्यमिक्षयाऽि
कर्तन्यम् , किसुत परार्थसमुचिते स्वर्थते इत्यभित्रायेणाह अत इति ।

उत्तरक्षोकमवतारियतुमु<sup>9</sup>क्तांशमुद्गृह्णति प्रकृतीति । प्र्वस्थमाणक्षोकप्रकारेण तु सर्वेश्वरे सर्व-कर्मसंन्यासः कार्यः ; मध्ये गुणेषु कर्नृत्वानुसन्धानकथनं तावताऽपि देहास्मिववेकादिकं सिध्यतीत्यभि-प्रायेणेति भावः । आरोप्य अनुसंघायेत्यर्थः । एतां दशामवरुष्ट्य पहृवग्राहिणां कापिह्णदिनां मतं समुख्यितमिति तम्मतव्यावर्तनाय, अचेतनानां गुणानां कथं ज्ञानिकिषिप्रयत्नरुष्णं कर्नृत्वमिति शक्कान्यद्वासाय चाह गुणेष्विति । अव्ययमाणम् । इदंक्तृत्वमिति पुण्यपापादिकर्नृत्वमित्यर्थः। साभाविकं हि कर्नृत्वं मुक्तावस्थायामपि नापैति, तस्य गुणसंपर्ककृतत्वाभावात् । प्राप्ताप्राप्तविकेनेति । अव्यय व्यतिरेकाभ्याम्, युक्तायुक्तनिश्चयेन वेत्यर्थः । अताकर्नृत्वोक्तरकरणशेषत्वं पूर्वापरिविरुद्धम् ; अनुसन्धान विद्योषार्थत्वं तु पूर्वापरसङ्गतमित्यभिमायेणानुसन्धानोक्तिः। एतेन 'कर्ता शास्त्राश्चवन्तान्' (व्र. २.३.३३)

<sup>1</sup> मुमुश्चः चुमुञ्जसंप्रदाय तत्कर्तव्यं सर्वे कर्म कुर्यादित्युक्तौ झोभ पव स्यात् । वेदान्तिशक्षा च व्यायं स्यात् । अतः एकलेक्ष्यकजानां मध्ये तदन्तर्गतः अष्टः तदम्यसंप्रदाय तच्छक्यमेव कुर्यां-विद्यर्थः । 2 भाष्ये उक्त इति वाक्यस्य इदानीमिति वाक्यम् संबन्धः। पूर्वाध्यायोक्ताश्चस्य निष्कृष्य वक्तराध्यायेऽनुच तदुर्गित्याच्यारम्भदर्शनात् अद्यापि 'उक्तः...इदानीमिति प्रयोगात् तम्या-येनेदं वाक्यमपि उत्तरद्शोकशेषमृतं स्यात् । पूर्वोक्तार्थनिष्कर्षकप्रस्य पूर्वव्यान्तर्भावोऽपि क्रिवित् कियते । तत् कियमाणितक्षर्यस्य वक्ष्यमाणस्य च विशेषसंबन्धाभावे । 3 उक्तांशं इक्षोकन्त्रयविवक्षितांशम् । 4 प्रथमस्य इद्म्यदस्यांथमाद वक्ष्यमाणिति । द्वितीयमिद्म्यदं कृतंत्वपदेन सुमक्तं सर्वं पुण्यवापवरमित्याद्व इक्ततंत्वपिति ।

तकियाम्यत्वस्वरूपनिरूपणेन मगवति पुरूषोत्तमे सर्वात्मभृते गुणकृतं च क**र्तृत्वमारोप्य** कर्मकर्तृत्यतोच्यते—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यत्याध्यात्मचत आ। निराशीर्निर्ममो भूःवा युध्यस्व विगतज्वरः॥३० मिय=सर्वेश्वरे सर्वभृतान्तरात्मभृते सर्वाणि कर्माण्यध्यात्मचेतसा संन्यसा, निराशी-र्निममञ्ज विश्वतुज्वरी युद्धादिकं सर्व चौदितं कर्म कुरुष्य । आत्मनि यचेतः तत् अध्यात्म-चेतः । आत्मस्वरूपविषयेण श्रुतिशतसिद्धेन ज्ञानेनेत्यर्थः । "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वातमा.....अन्तः प्रविष्टं कर्नारमेतम्'' (यज्ञ. आ. ३. ११. २१, २३) "आत्मनि तिष्टन् आत्मनोडन्तरो यमात्मा न वेद यस्याब्तमा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (वृ. ५. ७. २३) इत्येवमाद्याः श्रुतयः परमपुरुपप्रवत्यं तच्छरीर-भृतमेनमात्मानम्, परमपुरुपं च प्रवर्तयितारमाचक्षते । स्मृतयश्च "प्रशासितारं सर्वेषाम्" (मृतु. १२. १२२) इत्याद्याः । ''सर्वस चाइं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'' (१५. ५५), ''ईश्वरस्तर्वभृतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभृतानि **यन्तारुढानि** इत्यधिकरणार्थः स्चितः ; अथ तदनन्तरस्य 'परातु तच्छूतेः' (ब्र. २.३.४०) इत्यधिकरणस्यार्थे तत्परो sयमित्यभिषायेगोत्तरश्चोकमवतारयति इदानीमिति । नियाम्यतायाः स्वरूपत्वोक्तिः, खरूपनिरूप-करवात् । भगवतीत्यादिपदत्रयेण मिय इत्यभिष्रतस्योक्तिः । भगवतीति । नियन्तृत्वोपास्यस्वफळ-प्रदत्वाद्युपयुक्तकल्याणजातवति हेयपत्यनीके चेति भावः । पुरुषोत्तम इति । नियमनार्थानुप्रवेशादिनाऽ-**ट्यस्पृष्टहे**यप्रसक्ती 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (१५.१७) इति वक्ष्यमाणप्रकार्वेळक्षण्यवतीति भावः । सर्वोत्मभूते गुणकृतं चेति । त्रिगुनसाचिद्वःयस्यापि सर्वोत्मभूतः स एव हि नियन्तेति भावः। एतेन, "असक्त्या छोकरक्षाये गुणेप्वारोप्य कर्तृताम्। सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता" (सं. ७) **इ**ति तृतीयाध्यायसंप्रदृश्चोके तुरूयविकल्यो नाभिमत इत्यपि सुचितं भवति । **मयी**त्यनेनाभिषे**ते सर्वेश्वरत्वे** हेतुतया सर्वभृतान्तरारमभृतस्वोक्तिः । 'ईश्वरस्तवभृतानाम्' (१८. ६१) इत्यादि वक्ष्यमाणं चानेन रूयापितम् । सर्वाणीति सक्कतानि गुणक्कतानि चेत्यर्थः । युष्यस्व इत्येतत् शास्त्रीयोपरुक्षण-मित्यभिषायेणोक्तम् **युद्धादिक**मिति । आत्मनीति । अध्यात्म इति सप्तम्यथे समास इत्यर्थः । अत **चेत**रशब्दस्य श्रुतिशतसिद्धतत्त्वानुसन्धानरूपज्ञानगोचरतां व्यनक्ति आत्मस्यरूपेति । श्रुतिशतसिद्धं प्रकारं दर्शयति अन्तरिति । अन्तः प्रविष्टत्वशासितृत्वाभ्यां नृपादिगगनादिव्यावर्तकाभ्यां सर्वात्मत्व-सिद्धिः । **कर्ता**रमिति । जीवव्यापारेषु प्रयोजककर्तारमित्यर्थः ; यद्वा प्रेरणिकयाकर्तारमित्यर्थः । तदुच्यते प्रवर्तियतारमिति । उपात्रश्रुतीनामैदम्पर्यहढीकरणाय मन्याद्युपबृहणानुप्रहमाह समृतयश्रेति । एतिस्-त्रिपि शास्त्रेऽभ्यासिलक्काय अस्यैवार्थस्य बङ्यमाणतामाह सर्वस्य चेति । मिय सर्वाणि इत्यस्याभिषाय-व्यक्षनाय पार्थसार्थरीश्वरस्य च प्रत्यवपराङ्निर्देशयोरीश्वरैकविषयत्वं दर्शयितुं वचनद्वयोपादानम् । **पव**-मर्थस्वरूपसुपपाच तञ्जानसः कर्तृत्वसन्यासहेतुता सन्यसः, निराज्ञीः, निर्ममः इति नयाणां पदानां

भाषधाः ॥ (१८, ३१) इति वक्ष्यते । अतो मन्छरीरतया मन्ध्रवर्त्धानमस्यक्तपानमन्धानेन सर्वाणि कर्माणि मयेव क्रियमाणानीति मधि पश्मपुरुषे संन्यस, तानि च केवलं मदा-राधनानीति करवा तत्फले निस्की , तत एवं तत्र कर्मणि मनतारहितो मत्वा विगत-ज्वरो युद्धादिकं कुरुव- स्वकीयेतातम्बा कर्त्रा स्वकीदेश्रीयकुर्होः स्वाराधनैकप्रयोजनाय परमपुरुषः सर्वश्रेषी सर्वेधरः स्वयवेव स्वद्धर्माणि कारयीत्धन्तमन्धाय, कर्मस ममतारहिता. प्राचीनेनानादिकालप्रवृत्तानन्तपापसञ्चयेत कथमहं भविष्यामीत्येवंभ्रतान्तर्ववरिर्मकः, परमपुरुष एव कर्मिमराराधितो बन्धाःमोचिय्वतिति सखेन कर्मयोगमेव करुष्वेत्वर्थः । ''तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च देवतम्'' (इवे. ६. ७), ''पति विश्वस्थ (ना.), "पति पतीनाम्" (इवे. ६. ७) इत्यादिश्वतिविद्धं हि सर्वेश्वरतं सर्वशेषित्वं च । कर्तत्वत्यागफळत्यागखकीयतासङ्गत्यागविषयतासुत्तरोत्तरस्य च पूर्वपूर्वहेतुकतां पाठकमसूचितां प्रकाश-यति अत इति । अस्यार्थस्य श्रतिसमृत्यन्तरादिसिद्धत्यादित्यर्थः । सयैव कियमाणानीति । मृत्यपर्वतेकेन राजेव सद्धारकमद्धारकं चेति भावः । ऋत्विज इव परस्य कर्तृत्वेऽपि खस्य फलाभिसन्धिस्यादिति तिनरासाय निराशीरित्यक्तमित्यभिषायेणाह तार्क चेति । तत एवेति फलदारा हि कर्मणि ममता : <sup>4</sup>मद<u>िम्लपितसाध्</u>नत्वान्मदर्थिमदं कर्म' इति कर्मण्यैक्षर्यवोधो ह्यधिकार इति भावः । नन् यदि ईश्वरे कर्तृत्वं संन्यसाम् , कथं तर्हि युष्यस्वेति जीवः कर्ततया निर्दिश्यते ? यदि चासौ निराशीः, कथं परमपुरुषाराधनरूपेऽपि कर्मणि प्रवर्तेत ? यदि च निर्ममः. स कथं 'ममेदं कर्म' इति बुध्यमानः कर्म कुर्यात् ? यदि च खञ्यापारं नानुसन्धते, तदा त्यागरूपव्यापारमपि न मन्येत : ततश्च विगतज्वर इत्यप्यनुपपन्नमित्याशङ्कचाह स्वकीचेनात्मना कर्नेति । स्वरोषम्तेन जीवेन प्रयोज्य-कर्तेत्वर्थः। स्वकीयेश्चोपकरणैरिति । यथाऽसौ जीवः परशेषस्तः, तथा तस्य खशेषतया प्रागमिमतं हवि-रादिकमपि परशेषभूतमिति केसुतिकन्यायसिद्धमिति भावः। स्वःसध्यनैकप्रयोजनायेति । शेषस्य शेष्यति-श्याधानमेव प्रयोजनमिति भाव: । आह च वेदार्थसंग्रहे. "परगतातिशयाधानेच्छयोपादेयत्वमेव यस

खरूपं स रोषः, परः रोषी'' इति । स्वकीयेनेत्यादौ भमाणसूचनाय सर्वरोषीत्यादि उक्तम् । स्वय मेवेति । आराध्यभृत एवाराधनं कारयतीति भावः । एवकारेण प्रवर्तकान्दरं च व्यवस्तम् । कार-

यतीति । सर्वेश्वरस्मन् स्वेष्टं सर्वे स्वयमेव कर्तुं शक्तोऽपि स्वरोषम्तर्जीवानां शास्त्रवस्यस्वतरफरमोक्तृत्वादि-सिद्धवर्थे तान् कर्तृन् कारयतीति भावः । प्राकरणिकं प्रतिषेध्यज्वरिश्चिपसङ्गं दर्शयति प्राचीने-स्वादिना । अस्तु श्रुतिसिद्धमीश्वरस्वम् , कारयितृत्वस्य किमायातमित्यत्नाह ईश्वरस्यं नियन्तृत्वमिति । श्रेषित्वं पतिस्वमिति चेतनगतं शेषित्वं पतिस्वमेवेति भावः । यहा, श्रुतिमाय्यपठितयोः शेषित्वेश्वर-

कर्मजन्यफळे खानुसाव्यक्तेनानिष्ठेऽपि स्वक्रीयितः स्वाभिमतपुरुवानुसाव्यकछहेतुत्वा विनिशेकुं शक्यिति केवित् तावसमाया मन्येरन् । तद्यि न युक्तिप्ति, महिषये ईश्वरमीति-हेतुंनात् भदोषामित न शुक्तिति च समतात्यात्रीकियावः ।

ईश्वरत्वस् नियन्तृत्वम् , शेषित्वं पतित्वम् ॥ ३० ॥ अयमेव साक्षादपनिषत्तारभतोऽर्थं इत्याह—

ये मे मतिमदं नित्यमनुतिष्ठिति मानवाः। श्रद्धावन्तोऽनस्यन्तो मुन्यन्ते तेऽपि कर्मिमः॥ ३१ ये मानवाः शास्त्राधिकारिणः अयमेव आस्त्राधि इति एतत् मे मतं निश्चित्य तथाऽनुतिष्ठ-ित, ये चाननुतिष्ठन्तोऽप्यिस्मन् शास्त्राधे श्रद्धाना भवन्ति, ये चाश्रद्धाना अपि एवं शास्त्राधों न संभवतीति नाभ्यस्यिन्त-अस्मिन् महागुणे शास्त्राधे दोषमनाविष्कुर्वन्तो भवन्तीत्वर्धः— ते सवें वन्धहेनुभिरनादिकालारव्येस्तवैंः कर्मभिर्मुव्यन्ते ; तेऽपि [कर्मिमः] इत्यिकाब्दादेषां पृथकरणम् । इदानीमननुतिष्ठन्तोऽप्यस्मिन् शास्त्राधे श्रद्धाना अनभ्यस्यवश्च श्रद्धणा चानस्यया च श्रीणपापाः अचिरेणेममेव शास्त्राध्मिनुष्ठाय ष्ठव्यन्त स्त्यर्थः ॥ ३१ ॥

ये मे मतम् इति क्षोके मे मतमित्यौपनिषद्पुरुषस्य सिद्धान्ताभिमानप्रदर्शनात् मोक्षसाधनत्वौ-पदेशमात्रस्य कृतकर्रवाच तत्प्राशस्त्यपरोऽयं श्लोक इत्यमिपायेणाह अयमेव साक्षादिति । ज्ञानयोग-निरपेक्ष इत्यर्थः । सारभूतः प्रधानभूतः । "सारो वले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीवं वरे तिषु" (नाम. ३. ना. ३२६) इति नैवण्डुकाः । प्राधान्यं चाल मोक्षसाधने ज्यायस्त्वम् । **मानव**राब्दस्यालानिधकृत-रुद्धादिसंप्राहकत्वाद्धिकृतदेवादिप्रतिश्लेपकत्वाच तदुभयपरिहाराय य इति प्रमाणसिद्धानुवादेनाधि-कारिमालोपलक्षकोऽयं शब्द इत्यभिषायेणोक्तम् ये मानवाः श्रास्त्राधिकारिण इति । नित्यमनु-तिष्ठन्तीरयुक्तं नित्यमनुष्ठानं निर्णयपूर्वकमेव ; प्रामाणिकत्वनिश्चयसून्यस्यानुष्ठानं कदाचिद्भज्येतापीत्यभि-प्रायेणोक्तम्-अयमेव ग्रास्तार्थ इत्यादि । एतत्-अयमेवेत्युक्तम् ; यद्वा, एतन्मे मतं शास्त्रार्थं इति निश्चित्येत्यन्वयः ; शासितुर्मतमेव हि शास्त्रार्थ इति भावः । श्रद्धावन्त इति पदमनुष्ठानात्पूर्वावस्था-परिमत्याह-ये चाननुतिष्ठन्तोऽपीति । ततोऽप्यर्वाचीनावस्थाऽनस्येत्याह-ये चाश्रद्धाना इति । "गुणेषु दोषाविष्करणमस्या'' इत्यस्यालक्षणाभिपायेणाह **अस्मिनि**ति । अ**पिशन्दो वर्गत**(द्व)यसमु**चयपर** इति ते सर्व इत्युक्तम् । ननु 'संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेप्यते' । श्रद्धावन्त इत्यादौ च भवन्तीत्यध्या हारख्यानुचितः । **य**च्छब्दस्य **चैकत्र** प्रतुक्तस्य ऽऽहरिरनु रस्टेन्यव त**-नेऽपी**ति ,**ए**पामिति-अधिकःरिणाम् ; बुद्धिस्थानां वावयानां वा । अयमभिप्राय:-नालैकवाक्यत्वं संभवति, अपिशब्दानन्वयात् । अपिशब्दो **ब**लानुष्ठातृभिस्सहाधिकार्यन्तरसमुचयपरो वा, अनुष्ठातृणामपक्षपरो वा स्यात् । तल ज्ञानयोगिनां समुच्चय संभवल्यव्यलानपेक्षितः ; कर्मयोगप्रशंसाप्रकरणानुचितश्च । ज्ञानयोगिभ्यः कर्मयोगिनामपकर्ष-सूचनं त्वलात्यन्तविरुद्धम् ; नित्यमनुष्ठातृणां श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः इति विशेषणाभिधानं च निरर्थकम् , न हि नित्यमनुतिष्ठन्तोऽश्रद्धाना असूयन्तश्च भवेयुः। अवस्थालयविषयत्वे तु सनुत्रयपरतया वा अर्वाचीनावस्थापकर्षपरतया वा शक्यमिषशब्दो नेतुमिति। अनुष्ठातॄणां श्रद्धानसूयामातवतां च तुरुय-फल्रत्वेऽनुष्ठानविभायकशास्त्रवैयर्थ्यं स्वादित्याशङ्कगह-इदानीमिति । श्रद्धानस्ययोः पापनिर्हरणहेतुःलं च, भगवदिभिमतभौपिनिषद्भर्थमननुतिष्ठतामश्रद्धानानामस्यस्यतां च दोषमाह—
ये त्वेतदस्यस्यन्तो नानुतिष्ठिन्ति मे मतम्। सर्वेद्यानिषमृद्धांस्तान् विद्धि नष्टान् अवेतसः॥३२
ये त्वेतत् सर्वमात्मवस्तु मञ्छरीरतया मदाधारं मञ्छेषभूतं मदेकप्रवर्त्यमिति मे मतं
नानुतिष्ठन्ति नैवमनुसन्धाय सर्वाणि कर्नाणि कुर्वते, ये च न श्रद्धाते, ये चास्यस्यन्तो
वर्वन्ते—तान् सर्वेषु ज्ञानेषु विशेषेण मृदान् तत एव नष्टान्, अचेतसो विद्धिः चेतःकार्षे
हि वस्तुयाथात्स्यनिश्चयः ; तदमावादचेतसः ; विषरीतज्ञानाः सर्वत्र विमृदाश्च ॥ ३२ ॥

एवं प्रकृतिसंसर्गिणस्तद्गुणोद्रेककृतं कर्तृत्वम् , तच परमपुरुवायक्तमित्यनुसन्धाय कर्म-योगयोग्येन ज्ञानयोगयोग्येन च कर्मयोगस्य सुश्चकत्वादप्रमादत्वादन्तर्गतात्मज्ञानतया निरपेक्षत्वात् , इतरस्य दुश्चकत्वात् सप्रमादत्वात् अरीरधारणाद्यर्थतया कर्मपेक्षत्वात् कर्मयोग एव कर्तव्यः ; व्ययदेश्यस्य तु विशेषतः स एव कर्तव्यः इति चोक्तम् । अतः परम् अभ्यायश्चेषेण ज्ञानयोगस्य दुश्चकतया सप्रमादतोच्यते——

सडकं चेष्टते स्वस्थाः प्रकृतेवर्गायसमि । प्रकृति यान्ति भृतानि निग्रदः किं करिष्यति ॥ ३३ प्रकृतिविविक्तमीदश्वमात्मस्यरूपम् , तदेव सर्वदाऽनुसन्धेयमिति च शास्त्राणि प्रतिपाद-

"धर्मञ्जूतो वा दृष्टो वा स्पृतो वा कथितोऽपि वा। अनुमोदितो वाराजेन्द्र पुनाति पुरुषं सदा" (भा. आश्व. ९४. २९) इत्यादिसिद्धम् ॥ ३१॥

व्यतिरेक्तिन्दयाऽप्युक्तार्थमाशस्यातिरेक उच्यत इत्यिमपायेणाह भगविदिति । पूर्वोक्तव्यतिरेक्तरूपत्वात् अभ्यस्योक्तिरश्रद्धोपल्रथणत्येत्यभिमायेण अश्रद्दधानान।मित्युक्तम् । आधेयं शेषम्तं
विधेयमि हि शरीरिमित्यभिमायेण मदाधारिमित्यादि पदलयम् ; लरूपस्थितिमृश्विताद्धीन्यपर्धः ।
परबुद्धिष्ट्रितिवशेषरूपं मतं कथमनुष्टेयमननुष्टेयं वा, सिद्धवन्दुनि च कथमनुष्ठानिमत्यलाभिमेताध्याहारेणाह्
नैवमनुसन्धायेति । सर्वेषु ज्ञानेषु विशेषण मृदानिति । यथावस्थितात्मल्ररूपानभिज्ञतया अहं
ममेन्यादिषु सर्वेषु ज्ञानेषु ज्ञातव्यवन्तुनां यथावस्थितल्ररूपप्रकारानभिज्ञानित्यर्थः । नष्टानिति पुरुषार्थन्योग्यानित्यर्थः । कि तत्त्वज्ञानरहितस्यान्तःकरणमि नास्तीत्यल्राह चेतःकार्यमिति । कार्योदर्शनात्
कारणं नास्तीत्युष्वर्यत इति भावः । फलितमाह विपरीत्वानास्सर्वेत विमृदाश्रेति ॥ ३२ ॥

उत्तरमघट्टकसंगत्यर्थे प्रतिपत्तिसौकर्यार्थे च पूर्वोक्तं सङ्कळस्य दर्शयति एवमिति । मुक्तानं कर्नृत्वस्य गुणाधीनत्वाभावात् प्रकृतिसंसिगिण इत्युक्तम् । ज्ञानयोगानादरहेतुभृतदुश्ककत्वादिसमर्थन-परमनन्तरमकरणिनत्वाभाययेणाह् अतः पर्मिति । नानुतिष्ठन्तीत्यस्य हेतुरिष सहज्ञानित्यादिना अमिष्रतः। ज्ञानवानपीत्यत् न तात्रत् ठौकिकज्ञानमात्रमुच्यते, तस्य प्रकृत्यनुक् व्यवहितरोधित्वाभावेन आर्दे श्रव्यानव्यात् । नाप्यात्मसाक्षात्कारपर्यन्तं ज्ञानम् ; तस्यामवस्थायां प्रकृत्यनुवितित्वप्रसङ्गामावात् । अतो ये द्वाराक्ष्यः ज्ञानयोगे प्रवर्तितुमुत्सहते, तज्ज्ञानमिह विवक्षितम् ; तस्य शास्रज्ञन्यं यथावस्थितात्य-तन्त्वज्ञानमितः प्रकृतिविविक्तमिति । इहम्मिति यथावस्थितपरशेषत्वादिविशिष्टसरूपिन

यन्तीति ज्ञानवानिष स्वस्थाः प्रकृतेः प्राचीनवासनायास्तदःशं प्राकृतिवययेष्वेव चेष्टते ; कुतः ? प्रकृति यान्ति भृतानि —अचित्संसृष्टा जन्तवोऽनादिकालप्रश्चचवासनामेवानुयान्ति ; तानि वासनानुयायीनि भृतानि [प्रति] शास्त्रकृतो निग्रहः कि करिष्यति ॥ ३३ ॥

प्रकृत्यनुयायित्वप्रकारमाइ---

इन्टियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ । तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४ श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियसार्थे शब्दादौ वागादिकमेंन्द्रियस्य चार्थे वचनादौ प्राचीनवासना-जनित्तदत्त्वभूषारूपो यो रागोऽवर्जनीयो व्यवस्थितः : तदनभवे प्रतिहते चावर्जनीयो यो द्वेषी व्यवस्थितः, तावेबं ज्ञानयोगाय यतमानं नियमितसर्वेन्द्रियं स्ववशे कत्वा प्रसद्य स्वकार्येषु संयोजयतः । ततश्रायमात्मस्वरूपानुभवविद्यस्वो विनष्टो मवति । ज्ञानयोगारम्मेण इत्यर्थ: । चेतनभृतिरूपचेष्टाया असाधारणकारणं हि रागद्वेषी. ौ चानन्तरस्रोकेऽभिधीयेते । तन्मुल्ख प्राचीनवासनैव । अतोऽत्र प्रकृतिशब्देन स्वभावस्थपदेशाहीनाहिवासनैव विवक्षितेत्यभिपायेणोक्तं प्राचीनवासनाया इति । सद्द्रशमित्यनेनाभिषेतमानुरूप्यमाह प्राक्रतविषयेष्विति । शब्दादिविषय-वासनया पुनरपि तते व प्रवर्तत इत्यर्थः । कृतः इति । ज्ञानवांश्चेत् , ज्ञानानुरूपं चेष्टताम् ; कृतः प्रकृत्यनु-रूपं चेष्टत इत्पर्थः । अत्रोत्तरं प्रकृति यान्ति भतानि इति । पुनरुक्तिशङ्कां परिहरन् उत्तरत्वं विशुणोति अचिदिति । अचिरसंसृष्टा जन्तव इति भृतशब्दार्थः । अनादिकालप्रवृत्ताचिरसंसर्गकृतापरोक्षामङ्ग्रर-देहात्मजनितामत्यन्तप्रचितां वासनामद्यतनपरोक्षशास्त्रजन्यज्ञानं न सहसैव निरोद्धं क्षमित्यिभित्रायः । तदेव विवृणोति तानीति । निग्रह इति नियमनिमत्यर्थः । अतः "मम वाऽन्यस्य वा" इति निग्रह-कर्त्रध्याहारो न युक्तः ; अनिच्छन्नपि (३६) इत्यादिशाकरणिकार्थानुसारेण शास्त्रकृतत्वमेवोचितम । कि करिष्यतीति । न किश्चिदपि निरोद्धं शक्यमित्वर्थः ॥ ३३ ॥

वासनायाः खानुरूपचेष्टाहेतुत्वेऽवान्तरव्यापारोऽनन्तरमुच्यत इत्यमिपायेणाह प्रकृत्यनुयाियत्वेति । इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सा सर्वेन्द्रियसंग्रहार्थेत्यमिप्रायेण ज्ञानेन्द्रियसमेन्द्रियापादानम् ।
अर्थशब्दोऽल विषयपरः । साध्यस्य च व्यापारिविषयत्वात् वचनादेरप्यतः अर्थशब्दार्थेता दर्शिता
स्यवस्थितावित्यत्वोपसगीर्थविवरणम् अवर्जनीय इति । वासनाया इच्छाद्वारेणैव मष्टतिहेतुत्ववचनात्
ज्ञानवासनैव कर्महेतुत्ववेषेण कर्मवासनेत्युच्यते ; न तु वासनान्तरमस्तीत्यपि सूचितं भवति । 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्योर्थे रागद्वेषो व्यवस्थितौ' इत्युक्ते शब्दादिविषयेषु रागवत् द्वेषोऽपि कि स्वरसवाद्वीति शक्का
स्यात् , तद्वयुद्धासायाह तदनुभव इति । ततःकिमिति शक्कायां 'सद्दशं चेष्टते' इत्यनेनैकिकृत्यानुसन्द्रधानस्तात्पर्थार्थमाह तावेवमिति । एवम् उक्तवासनानुयायित्वपकारेणेत्यथः । नियमितसर्वेन्द्रियमित्यनेन बहात् क्षणमालनिमीलनादिनियमनमुच्यते । स्वकार्येष्वित विषयानुमवेषु वचनादानादिषु
कर्मसु चेत्यर्थः । 'सक्कात्संजायते' इत्यारभ्य 'बुद्धिनाशात्प्रणश्चति'इत्यन्तं पूर्वप्रपश्चितमवसरे स्मारयिततत-

रागद्देववश्वमागम्य न विनक्ष्येत् । तो हि रागद्वेषी अस्य दुर्जयी शत् — ज्ञानाम्यासं वारयतः ॥ श्रेयान् स्वधमी विगुणः परधर्मात् स्वतुष्टितात् । १ स्वधमे निचनं श्रेयः परधर्मो स्यावदः ३५.(१८-४७) अतः सशक्तया स्वर्धनेतृतः कर्मयोगो विगुणोऽप्यत्रमादगर्भः प्रकृतिसंसप्टस्य दरशक

श्रायमिति । तयोर्न वश्चमागच्छेदित्येतत् न तावत् रागद्वेषनिषेषमालम्, तदा बौचित्यात् ज्ञानयोगाङ्गविषानं स्यात् । तच्च ज्ञानयोगानादरणीयतापकरणासङ्गतम् । अतोऽल यया वचनव्यकत्या ज्ञानयोगानादरणीयतापकरणासङ्गतम् । अतोऽल यया वचनव्यकत्या ज्ञानयोगानादरणीयता उच्येत, सैव प्राक्षेत्यमायोणाह ज्ञानयोगेति । कर्मयोगारम्मे तु चिराभ्यस्तस्त्रातीयविषयेषु पृत्रुतेनै रागद्वेषयोस्त्वलात्कार इति भावः । आगम्य न विनदयेदिति विनाशहेतुभूतं तद्वश्चामनं परिहरेदित्यर्थः । तद्वश्चामनं कथं विनाश इति शङ्कायां चतुर्थपादमवतारयति तो होति । 'काम एष क्रोध एषः' इत्यादिमिः क्षोकेदेश्यमाणमाकारमिमेत्य दुर्जयौ शृत्रु इत्युक्तम् । परिपन्थिरवं पृक्षतविषयं योजयति ज्ञानाभ्यासं वारयत इति । सुक्तिवण्यापये लुण्टाकवदवस्थितावित्यर्थः ॥ ३४ ॥

श्रेपानिति । अत क्षोके स्वधर्मपरधर्मशब्दौ न तावत वर्णाश्रमाद्यपेक्षया प्रयुज्येते. परवर्णाश्रमादि-धर्मानुष्ठानस्य दूरतो निरस्त(स्य)त्वेन तन्निषेघायोगात् । अल च तत्पसङ्गाभावात् ; परधर्मात् खनुष्ठितात् स्व-धर्मो विगुणरश्रेयानिति चोक्ते श्रेयरशब्दस्य पशस्यतरवाचित्वात् स्वनुष्ठितपरधर्मस्य पशस्यत्वमात्रं प्रसच्येतः न च तद्भपद्यते : खनुष्ठितस्य दुरुनुष्ठितस्य वा परधर्मस्थाधर्मत्वेन गर्हणीयत्वात् । अथ क्षत्रधर्मभूतयुद्धपरित्याः गाभिलाषिणोऽर्जुनस्य स्वर्धममृत्युद्धपशंसा ब्राह्मणादिधर्ममृततत्परित्यागनिन्दा च क्रियत इति चेत् — अस्त्वेतावताऽपि निषेध्यस्य प्रसङ्गः. तस्य प्रशस्यत्वमात्रप्रसङ्गचोद्यं त न परिहृतम् । न चात्र स्वयमे परित्यज्य परघर्भे क्र्योमित्यज्ञनस्याभिसन्धिः : अत्रैव हास्येदानीं स्वधमत्वबद्धिः ॥ स्वधमतया आग्यतः परधर्मत्वमल ज्ञाप्यत इति चेत् —तन्न, स्वनृष्टितात्परधर्मादित्यनुवादरूपत्वानुवपते: ; परधर्भतया संप्रति-पंत्रत्वे ह्येवं व्यपदेश उपपद्यते ; तल च परधर्मत्वज्ञापनं निष्पयोजनम् , अधर्मत्वमालस्यैव ज्ञाप्यत्वात् । अतोऽल स्वधर्मपरधर्मशब्दौ प्रशस्यतयाऽनादरणीयतया च प्रकृतकर्मयोगज्ञानयोगविषयौ । एवं च सति ज्ञानयोगस्य प्रशस्यत्वमात्रप्रसङ्गोऽपि न दूषणम् ; पूर्वश्लोकद्वयप्रकृतवासनानुर्तित्वेन सङ्गतिश्च स्थात : अथ केनेत्यत्तरस्रोकस्थपश्चोऽप्येवमेवीपपद्यते । अत्र हि अनिच्छतोऽपि पापाचरणहेतुः क इति प्रश्नः : स च ज्ञानयोगद्रष्करत्वकथनेनैव संगच्छेत ॥ अनिच्छतोऽपि मे क्षत्रधर्मत्यागः केनेति प्रश्नार्थ इति चेत्— न, अस्यानिच्छत्त्वाभावात् ; 'काम एष कोघ एषः' (३०) इत्याद्यतरानुपपतेश्च : न हि कामकोधाभ्यामर्जुनो युद्धं परित्यजित, किंतु कारुण्यादिनेत्युपक्रमेऽप्युक्तम् । अतः स्वधर्मपरधर्मशब्दौ स्वशक्यपरशक्यधर्मविषयौ । तदेतद्खिलमभिष्रेत्याह अतस्सुशकत्येति । अतः श्लोकद्वयोक्तवासनातु-वर्तित्ववशादित्यर्थः । विगुणोऽपि अङ्गवैकल्ययुक्तोऽपीत्यर्थः । विगुणस्य कथं श्रेयस्त्वमित्यत्रोक्तम् अप्रसादगर्भ इति । वैगुण्यमात्रं स्वरूपविच्छेदाद्वरमिति मावः । स्वनुष्टितादित्यस्य वैगुण्यप्रतियोग्या-

मन्तु झानयोगे इते मत्तेव जन्मिन फलं भनेत्। मध्ये विच्छेशान्न भवतीति चेत्— कमयोगे सविच्छिन्नेऽपि अपूर्णे इतं व्यर्थमित्यत्राह स्वचर्म इति। स्वचर्मः इत्यस्य बहिर्मुख प्रवृत्तिच्याक्कुळेपुद्दव मार्यमित्यर्थः। परचर्मः—ताहशवैषाकुळीरहित पुरुषकार्यम्।

तया परधर्मभूतात् ज्ञानयोगात् सगुणादिष किञ्चित्कालमनुष्ठितात् सप्रमादाच्छ्रेयात् ; स्वेनेवोषा-दातुं योग्यतया <sup>1</sup>लधर्मभृते कमयोगे वर्तमानस्येकस्मिन् जन्मन्यप्राप्तफलतया निभनमिष श्रेयः, अनन्तरायद्वततयाऽनन्तरजन्मन्यप्यच्याकुलक्सियोगारम्भसभवात् । प्रकृतिसंसृष्टस्य स्वेनेवोषादातुमश्रक्यतया परधर्मभूतो ज्ञानयोगः प्रमादगभतया भयावहः ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पृरुषः । अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ अथायं ज्ञानयोगाय प्रवृत्तः पुरुषः स्वयं विषयान् अनुभवितुमनिच्छन्नपि केन प्रयुक्ती

कारपरतया सञ्ज्दः सादुगुण्यपर इत्याह सगणादपीति । अनुष्टितशब्दस्य भूतार्थप्रत्ययान्तत्वात मृतत्वस्य चातिकान्ततारूपत्वात् प्रागनुष्ठानं पश्चाद्विच्छेदश्च सूचित इत्यभिष्ठायेणोक्तं कंचित्कारूमनृष्टितात सप्रमादादिति । एवं विच्छेदाविबक्षायां स्वतृष्टितात् ज्ञानयोगात् विगणः कर्मयोगः श्रेयानित्येतदसङ्गतं स्यात . सगणस्याविच्छिन्नस्य फ्लाविनाभावादिति भावः । सञ्चत्रवेद्यक्तहेत्विवरणमुखेन खर्यमञ्जदार्थे च विद्युष्यत् विगणस्य कर्मणः फलाविना भाषात् श्रेयस्त्वमिति शङ्कापरिहारपरतया तृतीयं पादं व्याख्याति स्त्रे ने वेति । स्वे ने व । प्रकृतिसंस्पृष्टतया व्यापियमाणेन्द्रियेणैवेत्यर्थः । यदा स्वेच्छ्यैवेति भावः । एकसिन् जन्मन्यप्राप्तफलत्येति । अयमभिषायः — यद्यव्यात्मसाक्षात्कारादिफलार्थतया विहितत्वात् कर्मयोगः काम्यकर्मेवः तथाऽप्यस्य काम्यकर्मणोऽयं विद्योगः, यत विगुणानुष्ठितमपि जन्मान्तरेऽपि सगणानुष्ठानद्वारा फलं साधयतीति । वैगुण्यं त्वस्य फलविलम्बमालप्रयोजकम् , काम्यकर्मान्तर्वत् न फलाभावप्रयोजकमिति । एकस्मिन् जन्मनीत्यभिषेतं विवृण्वन् जन्मान्तरेऽपि विग्णस्य कथं फलसाध-नत्वमित्यत्वाह अनन्तरायहतत्येति । इन्द्रियाणामनुभूतसजातीयविषयसमर्पणेन कर्मयोगखरूपस्यात्यन्तः विच्छेदाभावादित्यर्थः । अञ्याकुलस्वमलाविकलत्वम् । एतच सर्वै 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' (२.४०) इति पूर्वं सङ्गहेणोक्तम् ; 'पार्थं नैवेह नामुत' (६. ४०) इत्यादिना प्रवश्चियप्यते च । अव्यवहिता-नन्तरजन्मनि पोष्कच्यनिर्णयामानेन संभवादित्यक्तम् । अनन्तरे ततोऽनन्तरे वा फलं तावत् सिद्धमिति भाव: । यदि विगुणस्य कर्मयोगस्य जन्मान्तरस्यं फलमभिष्नेत्य श्रेयस्त्वमुच्यते, तर्हि ज्ञानयोगस्यापि तथा कि न स्मादित्यत्र चतुर्थं पादं व्याख्याति प्रकृतीति । जन्मान्तरेऽपि फलं न संभवतीत्यिभिप्रायेण भयावह इत्युच्यते । खरूपेण विच्छिन्नस्य कथं जन्मान्तरेऽपि फलम् ? अविच्छिन्नस्य विगणस्य फलं विलम्बितमिति भावः ॥ ३५ ॥

ननु 'सहशं चेष्टते' इत्यादिना वःसनानुवितित्वमुक्तम् ; वासना च चेतनस्येच्छाद्वारेण प्रविति का । एवं च सित ज्ञानयोगिमच्छतस्तद्विरोधितया विषयानुभवमिनच्छतोऽपि कथं वासना विषयानुभव पृत्तिहेतुरिति पृच्छिति अथ केनेति । अत्र, 'अनिच्छमानोऽपि वहादाताङ्येव नियोजितः' इति यादवप्रकाशपाठोऽपपाठः । अथशब्दोऽल प्रक्षार्थकः, कास्त्र्यपरो वा । ज्ञानवानपीति ज्ञानवत्त्वेन निर्दिष्टपरामर्शकः अयंशब्द इत्यभिषायेणोक्तम् अयं ज्ञानयोगाय प्रवृत्त इति । न ह्ययं वासनयाऽ-

<sup>2</sup> योग्यतयेति । इदं योग्यत्वमेव स्वधर्मत्वम् । अशक्यत्वं परधर्मत्वम् ।

विषयानुभवरूपं पापं बलाश्चियोजित इव चरति ॥ ३६ ॥

श्रं/भगवानुबाच--

काम एष कोच एष रजोगुणसमुद्भवः । महाद्यानो महायाप्मा विद्यवेनमिह वैरिणम् ॥ ३७ अस्योद्भवाभिभवरूपेण वर्तमानगुणमयप्रकृतिसंसृष्ट्स्य ज्ञानायाऽऽरब्धस्य रजोगुणसमुद्भवः प्राचीनवासनाजनितः शब्दादिविषयः कामो महाशनः श्रृतुः विषयेष्वेनमाकर्षति । एष एव प्यनिच्छापूर्वे प्रवर्तते चेतनत्वादिति पुरुषशब्दस्य भावः । अनिच्छन्तोऽपि वायूदकादिपेरिताः प्रवर्तन्ते ; तद्भदलापि केनचित् पेरकेण बरुवता भवितन्यमिति मत्योक्तं बरुादित्यादि । बस्रादिव नियोज्ञितः हत्यस्य केनेत्यादिपश्चविरुद्धावगतार्थतां परिहर्तु हिममेदेनान्वय उक्तः । वायूदकादिवरुद्धावन्तार्थतां परिहर्तु हिमसोदेनान्वय उक्तः । वायूदकादिवरुद्धावन्ति स्वाजितो यथाऽनिच्छिन्नप्याचरित, तथाऽयमण्याचरित ; तस्र केने प्रयुक्त इति प्रकार्थः ॥ ३६ ॥

अथ इन्डियस्येत्यादिना संग्रहेणोक्तमेवार्थं प्रश्नस्योत्तरतया प्रपञ्चयन् भगवानुवाच काम एप इति । विषयानुभववासनाबीजानां कामकोधाग्रङ्करोत्पादने रजोगुणः सरिरुसेकः ; कामादिधिसन्मते ज्ञानिक्रोषरूप आत्मधर्मः ; रजस्तु प्रकृतिगुणः ; अन्यधर्मस्य कथमन्यत्र कार्यकर्त्वमित्यत्रोक्तम् गुण-**प्रयमकतिसंसष्टर**येति । औष्ण्याश्रयदहनसंयोगात् यथा करतलादौ स्फोटादिः, तथा गुणाश्रयपकृति-संसर्गादात्मनि कामादिरिति भावः । तर्हि गुणलयमयप्रकृतिसंसर्गात् सत्त्वादिकार्यज्ञानादिरिप युगपदेव किं न स्यादित्यलोक्तम् उद्भवाभिभवरूपेण वर्तमानेति । पूर्वश्लोकोक्तायंशब्दस्यालापेक्षया अस्वेति विपरिणत्याऽनुषङ्गः । रजोगुणपचरस्यास्य कथं ज्ञानयोगप्रारम्भमात्मपीति चोद्यमुद्धवाभिभवक्रमेण मात्रया मध्ये कदाचित्तस्वोन्मेषसंभावनया निरत्तमित्यभिष्रत्य ज्ञानायारव्यस्येत्युक्तम् । आरव्य इति 'सुक्ता ब्राह्मणाः' इतिवत् कर्तरि क्तः । एष इति पदेन पापाचरणे प्रयोजकः प्रश्नविषयः परामृश्यते । तेनैव 'सहशं चेष्टते' (३३), 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे' (३४) इति श्लोकद्वयोक्तार्थोऽप्यत्न स्मारित इत्यभिष्रेत्य— प्राचीनेत्यादिविशेषणद्वयमुक्तम् । पूर्वोक्तरागद्वेषौ अवस्थान्तरापन्नावत्न कामकोधशब्देन व्यपदिश्येते इति भावः । महाजनत्वविवरणं विषयेष्वेनमाक्षेतीति । महदशनं भीग्यं यस्य स महाजनः । एष इति निर्देशस्याऽऽवृत्त्या वानयमेदः । अत च वानयद्वयस्थैकमेव मुखमेदेन प्रतिपाद्यम् । अन्यथा कः पापाचरणे प्रयोजक इति प्रश्ने 'काम एष कोधश्च' इत्यादिप्रकारेण निर्देष्टन्यम् । अनन्तरं च. 'विद्धधे-ताबिह बैरिणौ' इति वक्तव्यम् । उत्तरत्न च षट्खपि स्ठोकेषु तेन, एतेन, कामरूपेण, अस्य, एषः, एनं, याः सः, कामरूपम् इति सर्वत्नैकवचननिर्देशः काममात्रनिर्देशश्च क्रियतेः न तु कामात् क्रीधस्य प्रथक्तेना-

<sup>।</sup> ज्ञानायारब्धस्येत्यत्र पारब्धज्ञानयोगस्येति पाठान्तरम्।

<sup>2</sup> परिहर्तुमिति । केनप्रयुक्तश्चरतीति अनवगतार्थप्रशः, वलादिव नियोक्ति इति पश्चाः व-गतार्थव्यक्तीकरणम् इति मिति परिहर्तुमित्यथः। क्रमभेदेन—चरतीत्यस्य पश्चात् योजनेन । मनिच्छिन्निति । झानयोगेप्यनुसस्याग्येच्छाविरद्वात् बल्लानियोजितश्चरतीति वक्तस्यम् । वायूदकादि-प्रेरिततुल्यक्चेत्, तदाचरणं कथं पापम् । याञ्चकौ रागद्वेषौ तौ मन्दाग्नितुभुक्षावत् अकार्यकरौ । तीनौ तु निरोधात् वार्यते । अतोऽयमनिच्छन्निति मादा। । केनेदम् । नुनं केन्द्रश्चरे स्थादिति च ।

प्रतिहतगतिः प्रतिहतिहेतुभृतचेतनान् प्रति क्रोधरूपेण परिणतो महापाप्मा पर्गहिसादिषु प्रवर्तेपति । एनं रजोगुणसमुद्भवं सहजं ज्ञानयोगविशेधिनं वैरिणं विद्धि ॥ ३७ ॥

धूमेनाऽऽवियते बह्विर्धथाऽऽदशों मलेन च। यथोख्येनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेद्र मावृतम् ॥३८ यथा धूमेन बह्विरावियते, यथा आदशों मलेन, यथा च उल्वेनाऽऽवृतो गर्भः, तथा तेन कामेन इदं जन्तुजातमावृतम् ॥ ३८ ॥

आवरणप्रकारमाह--

आधुनं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामक्रवेण कौत्तेय दुष्पूरेणानस्नेन च ॥

٠.

भिषानम् । ततश्च काम एवावस्थाभेदेन कोधतयाऽत्व विविव्वतः ; तदवस्याद्वयविषयतया च वावयभेद उचितः । महाग्रानो महापारमेति पदद्वयमिप <sup>8</sup>बाहुल्यानुसारेणौचित्यात् क्रमेण तदुभयविषयभित्येतद्विक्यमिभेषेत्याह एप एवेति । प्रतिहृतम्तिरिति क्रोधास्ये परिणामे हेतुरुक्तः । एक्स्यैव शब्दादिविषयकामावस्थातः क्रोधावस्थाया विषयतो भेदपदर्शनार्थमितिपसङ्गपरिहारार्थं चोक्तन् प्रतिहृतीस्थादि । महापारमतां विश्णोति परिहृंसादिषु प्रवर्तयतीति । महान् पारमा कार्यतया यस्यास्तीति स महापारमता (कृद्धो हृन्यात् गुरूनपि' (रा. स. ५५, ५) इति हि प्रसिद्धम् । एतच्छ्ळोकोक्तं रजोगुणास्यं पूर्वोक्तं प्रकृतिशब्दः यपदेशाहं वासनास्यं कारणं चोपस्थाप्य तदुभयकार्यताविशिष्टम् एनभित्यन्वादेशः परामृश्वतीत्यिभियायेण स्जोगुणसमुद्धत्वं सहजमिति पदद्वयमुक्तम् । इह वैरिणमित्यत्व
हृश्वदः प्रमादवत्या बुमुत्सितज्ञानयोगविषय इत्यभिद्यायेणोक्तम् ज्ञानयोगविरोधिनमिति ॥ ३० ॥

वैरित्वपकार उच्यते धृमेनेति । तल यथेत्यस्तमेकं वाक्यम् ; "आदशों मलेन चेत्यत्र चकारात् यथाशव्दोऽनुवक्त इति व्यक्षनाय यथा धृमेनेत्युक्तम् । पृवैसिन् छोके कोधस्यापि कामावस्यान्तरत्वव्यपदेशादुक्तर्त्व च कामरूपेण, कामरूप्यम् इति तस्येवानुक्तेः अलापि तच्छव्देन काम एव परामुक्ष्यत इति व्यक्षनाय तेन कामेनेत्युक्तम् । इद्मिति सामान्यनिर्देशेऽप्यचिद्गृहणासंभवात् प्रकरण्वशात् सर्वक्षेत्रज्ञसंग्रहणोचित्यात् इदंशव्दस्य वश्यमाणपरस्वादपि छोकपतीतपरस्वलारस्याच "यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्ता वेष्टिता" (वि. ६. ७. ६२) इत्यादिवत् क्षेत्रज्ञानामावारणमिहोच्यत इत्यमिपाये-णोक्तम् इदं जन्तुजातमिति । जन्तुशव्देन शरीरित्वस्य विवक्षितत्वादावरणाईस्य दिशतम् । नपुंसक-निर्देशस्य सामान्यविषयस्वप्रदर्शनाय ज्ञातशब्दः। (¹)अनादिवासनानुविध्यतेन सहज्ञत्वम्, (थ)निवृत्तस्यापि पुनःपुनरुपाधिवशादागमनम् , (४)स्वेच्छ्या निवर्तियनुमशक्यत्वं च दशिवितु ¹इष्टान्तवयोपादानम् ॥ ३८

आवृत ज्ञानम् इत्यादेः पौनरुक्त्यः युदासायाह आवरणप्रकारमाहेति । अत तेनेदमाश्त-मित्युक्ते, कि तदावृतमित्याकाङ्क्षाया अपि कथताकाङ्क्षा युक्तेति भावः । अत ज्ञानिशन्दो न तावत्

इद्सिति वरमात्भान्तः वरण जोयरूपवश्तुत्वयं माध्वमदम् ।

<sup>2</sup> सुरायानादी क्रोधितरदेश कामस्य पाष्मकरवेऽपि प्राप्तविषये कामस्य न पाष्मकरत्वम्। महाशनत्व परम् । क्रोधः सर्वत्र महापाष्मा । अतो विभागः ।

अस जन्तोः ज्ञानिनः ज्ञानस्वभावस्याऽऽत्मविषयं ज्ञानम् एतेन — कामाकारेण विषयच्याः मोहजननेन नित्यवैरिणा आवृत्रम् ; दुष्प्रेण — प्रश्त्यनईविषयेण, अनलेन च—

कैरुपकरणैरयं काम आत्मानमधिष्ठतीत्यताह-

रिन्द्रपाण मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते । पतैर्विमोहयस्येष बानमावृत्य देहिनस् ॥ ७० अधितिष्ठस्येभिरयं काम आत्मानमितीन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानम् ; एतैरिन्द्रिय-मनोबुद्धिभिः कामोऽ(मा)धिष्ठानभृतैर्विपयप्रवणेदेहिनं प्रकृतिसंसृष्टं ज्ञानमावृत्य विमोहयति—विविधं मोहयति, आत्मज्ञानविद्युतं विषयानुभवपरं करोतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

ित्पनज्ञानिषयः, तद्यश्चस्य तस्य कामान्नत्ञानस्वामावात् । तत्रधानिप्पत्रज्ञानसर्वश्चेत्रज्ञपरस्वमेवोवितिमित्यमिपायेण अस्य जन्तोज्ञिनिन इत्युक्तम् । ज्ञानिन इत्यल मतुष्पत्ययस्य श्रुतिसिद्धलामाविकसंवन्धपरत्यपदर्शनाय आवरणस्योपाधिकस्योतनाय च ज्ञानस्वमावस्येत्युक्तम् । श्रेत्वज्ञस्यापि कर्मफठभोकुः शब्दादिविषयज्ञानावरणामावात् अःसमित्रपर्य ज्ञानमित्युक्तम् । कामरूपशब्दस्य स्वेच्छागृहीतरूपत्वे प्रसिद्धेः तद्भमव्युदासायोक्तम् कामाकारेणेति । कामस्वमावादर्थोदाक्षितमात्मविषयज्ञानावरणप्रकारं व्यञ्जयिति विषयव्यामोहजननेनेति । नित्यवैरिणा आत्मसाक्षात्कारोत्तरावधिनाऽनादिवैरिणेत्यर्थः । नित्यसंसारिसद्भावपञ्च चास्य केषुचिदात्मस्य नित्यवैरित्यं सिद्धम् । योग्येर्श्वव्येरस्यंभावराहित्यम् अनलशब्दार्थः । "तृष्णास्विरिगाधेयं दुष्पूरा केन पूर्वते । या महद्विरिष् विते पृरणेरेव
स्वन्यते" इत्युक्तमकारेणायोग्येषु दुर्वभेषु प्रवृत्तिहेत्वं दुष्पूर्राव्दविवक्षितिमत्यिपायोणोक्तम् दृष्पूरेण
प्राप्तयनद्विषयेण, अनस्यते च विद्यास्यात्र , तद्वदिति भावः ॥ ३९ ॥

प्वमावरणप्रकार उक्तः; अथाऽऽवरणोपकरणानि अनन्तरं नियन्तव्यत्वोपदेशायोच्यन्त इत्यभिप्रायेणाह केरिति। आरमानमधितिष्ठति स्वतन्त्वमात्मानमाकम्य परतन्तं करोतीत्यथः। इन्द्रियशब्दोऽत्र गोवली-वर्दन्यायात् बाह्येन्द्रियपरः। चुद्धिरतापुरुषार्थेषु पुरुषार्थरवाध्यवसायः। प्रकृतानुपयुक्ताधिकरणादिधी-व्युदासाय करणव्युत्पति दर्शयति अधितिष्ठत्येभिरिति। एतैर्विमोहयतीति द्युच्यत इति भावः। अधिष्ठानिक्रयाकरणभूतानामिन्द्रियादीनामवान्तरच्यापारपदर्शनाय विषयप्रवणैरित्युक्तम्। प्रकृति-संसृष्टिमिति। देदिशब्देनेन्द्रियादेरवर्जनीयस्व गुणवश्यत्वं च सुच्यत इति भावः। विश्ववदः "अनात्म-व्यात्मबुद्धिर्या वास्त्रे स्वमिति या मतिः" (वि. ६. ७. ११) इत्याद्युक्तभान्तिवैविध्यपर इत्यभिन्यायाद्विविधं मोह्यतीति। आन्तिवैविध्यं मोग्ये स्वात्मनि अभोग्यताभ्रमेण, अभोग्येषु च विषयेषु भोग्यताभ्रमेण विश्ववन् प्रकृतोपयोगित्वं [च] दर्शयति आरमञ्चानेति॥ ४०॥

<sup>1</sup> अरु-भूषणपर्याप्ति शक्तिवारणेष्विति धातोः पवाद्यच् । अरुः पर्याप्त इति यादवास्युद्य-इयाक्यायाम् (१६-११)। गौणपक्षे त्वनलोऽग्निः। दृष्पूरेणेतिः இருவாய்மொழி 5. 8. 6,

तसात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतपैम । पाप्मानं १वजिहेह्ननं झानविद्यानमारागम् ॥ ४१ यसात् सर्वेन्द्रियन्यापारोपरतिरूपे झानयोगे प्रवृत्तसायं कामरूपः सृतुः विषयाभिसृत्यकरणेन आत्मिन वैसुरूपं करोति, तसात् प्रकृतिपंसृटतवेन्द्रियन्यापारप्रवणस्त्वम्
आदौ-मोक्षोपायारम्भसमय एव, इन्द्रियन्यापार[ानु]रूपे कर्मयोगे इन्द्रियाणि नियम्य, एने
ज्ञानविज्ञाननाञ्चन् — आत्मत्वरूपविषयस्य ज्ञानस्य तिहेवेकविषयस्य च नाञ्चनं पाप्मानं कामरूपं
वैरिणं प्रजिह — नाञ्चय ॥ ४१ ॥

ज्ञानविरोधिषु प्रधानमाह---

इन्द्रियाणि एराज्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धियों बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२

अथ कामस्यात्माधिष्ठानोपकरणेविन्द्रियमनोयुद्धिषु प्रथमिन्द्रियाणां नियमनं कामविजयोपायत्योपिद्द्यते तसादिति क्षोकेन । तसादित्येतत् प्रकृतस्य ज्ञानयोगस्योक्तप्रकारदृष्करस्वपरामशित्याह् समादित्यादिना । स्विमिति निर्देशोऽर्जुनस्य तदानीन्तनावस्थापर इत्यिभप्रायेणोक्तं प्रकृतिसंसृष्टतया इन्द्रियच्यापारप्रवणस्वयमस्विति । आद्वावित्यनेनाभियेतमाह मोश्रेति । नान्नेन्द्रियनियमनमत्यन्तव्यापारेपरमः, आदौ तस्याश्वयस्वात् ; प्रपिद्धितं च तत् प्रागेव । कर्मयोगार्थे चेन्द्रियनियमन प्रागिप 'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा' (७) इत्यादावृक्तम् । अतोऽल्लापि तथेव वर्णनीयमित्यभिप्रायेणोक्तम् इन्द्रिय-च्यापारासुरूप इत्यादि । ज्ञानविज्ञानयोः द्वयोरप्यात्मविषयत्व प्रकरणात् सिद्धम् । तल च, ''बाञ्चणेषु च विद्वासो विद्वत्य इत्यवद्धयः'' (मनु. १-९७) (भार. उयोग. ७. २) इतिवत् स्वस्वपतिद्ववेक्तविषयन्वाद्योनत्वस्यमित्यभ्यायेणोक्तम् आनम्बस्यस्यादि । विज्ञानं विविच्य ज्ञानम् , व्यावृत्ततया ज्ञानमत्वर्थः । प्रत्यक्तानानन्दत्वादिविशिष्टमात्मनः स्वस्यम् । अणुत्यनित्यस्वज्ञातुत्वभोनत्वकृत्वादिर्भेदक्को धर्मवर्गोऽल विवेकः। यद्वा देहातिरिक्तः किष्यदासाऽस्तिर्वेतावत् स्वस्पम् विवेकः। विवेककरणं शास्तम् ; ततः प्रमेयं प्रमाणं चोक्तं भवति। एनं पाप्मानमित्यन्वादेशात् प्रस्तुतकामविषयः पाप्मशब्दः ; तस्य पाप्मशब्दनेना-भिषानं निष्यविष्यत्या, ज्ञानविरोधित्वेनानिष्टफरुत्वाच्चेत्रस्य कामरूत्वं वैरिणमित्यक्तम् ॥ ११ ॥

एवं विरोधिमालाणामिन्द्रियाणां नियन्तव्यत्वमुक्तम् । अथ मनोबुद्धिकामानां नियन्तव्य[त्विवक्षया त एव तलः]तरतमत्वादिसिद्धवर्थमुतरोत्तरं विरोधितमत्वेन निर्दिश्यन्त इत्यभिषायेणाह **द्वानियगेधि**वित । पश्चन्दस्याल कारणत्वादिपरत्वायोगात् पाधान्यमेव विवक्षितम् । तच्च प्रकरणवशात् ज्ञानविरोधापेक्षये-

<sup>1</sup> यद्यपि द्विशन्दस्य व्यर्थस्यात् प्रजाहेति इति ओहाक् त्याग इति घातोस्त्रीणमध्यमपुरुष इति युक्तम् । शांकरेपि ऐकपद्यसंभवात् । अथापि तक्ष्ममूर्ततया त्याज्यस्वाभावात् नाद्यस्यात् उत्तरस्रोक्ष्वत् प्रजाहि इति इत्यातुर्शकारस्थिनद्वकायामपि (४१)। अन्यथा सर्वत्र प्रजाहिद्दीति शोधनीयस्, पू्क हित्तव्दव्यास्थानाभावात् ।

<sup>2</sup> घर्मवर्गकिव्यक्तस्य झानस्येति पूर्वमर्थः। अथवे तिपक्षे विवेकत्य-शास्त्रस्य यो विषयः तस्येत्यर्थः।

ह्यानिविरोधे प्रधानानीन्द्रियाण्याहुः, यत इन्द्रियेषु विषयक्यापृतेषु आत्मिन झानं न प्रवर्तते । इन्द्रियेण्यः परं मनः—इन्द्रियेषु उपरतेष्विप मनसि विषयप्रविषे आत्मज्ञानं न संभवति । मनसस्तु परा बुद्धिः—मनसि वृत्त्यव्यविद्युष्टेऽपि विपरीताष्यवसायप्रवृत्तौ सत्यां झानं न प्रवर्तते । सर्वेषु बुद्धिपर्यन्तेषु उपरतेष्वपीन्छापर्यायः कामो रज्ञस्तसुद्भवो वर्तते चेत्, स एवैतानीन्द्रियादीन्यपि स्वविषये वर्तयित्वा आत्मज्ञानं निरुणद्धि । तदिद्रसुच्यते, यो बद्धेः परतस्त सः इति । वदेरपि यः परस्त काम इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

त्यभित्रायेणोक्तं ज्ञानिविरोधे प्रधानानीति । प्राधान्यं चेन्द्रियाणां देशकालादिरूपमामान्यविरोध्यन्तरा-पेक्षया, शरीरापेक्षया वा सूक्ष्मत्वदुर्घहत्वादिभिः । इन्द्रियाणां प्राधान्यहेतुं विरोधित्वप्रकारमाह **यत** इति । इन्द्रियेभ्यो मनसः परत्वे हेतुमाह इन्द्रियेष्विति । पूर्ववावयात् यतः इत्यनुषञ्जनीयम् । एवमुत्तरत्नापि हेतुवाक्ये भाव्यम् । विषयासन्निधानहठात्करणादिना बाह्येन्द्रियेषु विषयेभ्य उपरतेष्विप मनसा तत्त-द्विषयेषु चिन्त्यमानेष्वात्मज्ञानं न स्यातः ततो बाह्येन्द्रियोपरतिवेलायामपि विरोधित्वादस्य तेभ्यः परत्वम् । मनसो बुद्धेः परत्वे हेतुमाह शन्त्रीस वृत्त्यन्तरेति । ननु मनसो विषयान्तरवृत्तिवैमुख्ये कथं तद्भोचराध्यवसायप्रवृत्तिः : मनसा कञ्चिद्रिषयमालम्बय तत्नैव हि. क्रयीम् . न क्रयीमित्यादि अध्यवसीयते ॥ उच्यते । नाल मनसो निरशेषव्यापारनिवृत्तिः वृत्त्यन्तरवैमुरूयं विवक्षितमः किंत् बळा**दप्यश्वयनिरो**घस्वारसिकविषयान्तरप्रावण्यनित्रतिः। सचितं चैतत पूर्ववाक्ये **मनस्रि विषयप्रवर्णे इ**ति । अतो यहच्छ्या निद्रारूस्यादिभिः मनसः स्वरसतो विषयैकशरणस्वाभावेऽपि दराग्रहादिमालेण विपरीता-ध्यवसायपत्रतौ मनसस्तथाविधमपि प्रावण्यं स्यादेव । एवं च सनसहित्वति तशब्दः शङ्कानिरासार्थः : एवंविधवैरुक्षण्यार्थो वा । अध्यवसायादपि कामस्य प्रत्वे हेतमाह सर्वेष्वित । वासनाकार्यस्वस्य खानु-रूपाध्यवसायहेतुत्वस्य च बोतनाय इच्छापर्याय इत्युक्तम् । इन्द्रियमनोबुद्धचपरतिवेखायां कथं काम-स्योत्पत्तिरित्यत्रोक्तं रजस्समञ्जद इति । पाचीनकर्मोन्मिषितरजोद्रषितमनोमानसंभव इत्यर्थः । नन्विन्द्र-यादीनां विषयान्तररवैमुख्ये सिद्धे विषयेच्छायास्मद्भावेऽपि को विरोधः? आत्मानुभवेच्छया तत्नैवाध्यवसाय-मनः प्रावण्ययोरुपपत्तेरित्यत्नोक्तं स एवेत्यादि । सत्यम् आत्मेच्छाऽप्यस्तयेव । सा हि कादाचित्कारूपसत्त्व-मुला । विषयेच्छा तु प्रचितप्राचीनकर्मोद्धावितनिरन्तरानुवृत्तरजोमूला ; तस्मादात्मेच्छा यावत् आत्मदर्शना-ध्यवसायादिकं करोति, तावत् विषयेच्छा प्रवला विषयानभवाध्यवसायादिकमेव कुर्यादिति भावः। कामस्य पूर्वेषां प्रवर्तकत्ववचनं बुद्धिमनसोरपि पूर्वपूर्वप्रवर्तकत्वस्योपळक्षणं मन्तव्यम् । रजरसम्बद्धाः, वर्तयित्वेति पदाभ्यां कामस्याध्यवसायादिनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वतदपकरणत्वरुक्षणं वैषम्यं तुशब्दचोतितं विद्यतम् । अर्थान्तरपरत्वमनन्वयभ्रमं च निरस्यन् उक्तार्थपरतया चतुर्थं पाद्मुपादते तदिद्धुच्यत इति । परत इति शब्दस्य पर्ववाक्यलयस्यपरशब्दत्तस्यार्थरवात् सार्वविभक्तिकप्रत्ययेन प्रथमिष्ठतं स इत्यस्य प्रकरणसिद्धं विशेष्यं च व्यञ्जयति वुद्धरणीति । अहङ्कारस्य भोकृत्वाद्धिष्ठानत्वा<del>च</del> बुद्धेः परत्विमिति केषाश्चिद्धारूयानं प्रकृतासङ्गत्यादिभिरनादरणीयम् ।

## पर्व बुद्धः परं बुद्धवा संस्तभ्यात्मानमात्मना । जिह शहुं महाबाह्ये कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥ इति श्रीभगवद्गीतास्पनिषत्व कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

एवं बुद्धेरि परं कामं ज्ञानयोगविरोधिनं वैश्णि बुद्धा आत्मानं -- मनः आत्मना ---

नत. ''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् पर: । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष: पर: । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्टा सा परा गति:" (कठ. ३. १०, ११) इति हि कठवळ्यां नियन्तव्यवर्गः श्रयते । स्वष्टं चेदम् , "आनुमानिकमप्येकेषाम्" (ब्र. १. ४. १) इत्यधिकरणे व्याख्यातम् । अस्सिन्नपि स्ठोके तत् प्रत्यभिज्ञायते । न चेन्द्रिय-मनसोर्मध्येऽर्थानामदर्शनात् 'महतः परमञ्यक्तमन्यकात् पुरुषः परः' इत्यनयोरनुपादानाच भिन्नार्थत्वमिति वाच्यम् ; संमहविस्तररूपेण कतिपथाभिधानसकलाभिधानयोरुपपत्तेः ; सृष्टिपकरणादिषु कतिपथसमस्त-स्रज्यतत्त्वादिनिर्देशवत् । आहुरिति वचनात् कचिदन्यलास्यार्थस्यामिधानमवश्याभ्युपगन्तन्यम् ; ततश्च 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इत्यस्य 'बुद्धेरात्मा महान् परः' इत्यनेन तुरुवार्थत्वादात्मविषयत्वमेव उचितम् ; एवं च सति 'एवं बुद्धेः परं बुद्धा' इत्यादौ उत्तरश्लोकेऽपि द्वितीयान्तात्मशब्दश्चेतनविषयतयोपपन्नतरस्स्यात् ; अतः कथं सः काम इति व्याख्यायते ॥ उच्यते-यद्यपीन्द्रियादिल्यं तदेवाल प्रत्यभिज्ञातम् ; तथाऽपि स एव कमोऽल कात्रन्थेन न विवक्षित: : पूर्वल 'इन्द्रियाणि मनो वृद्धिः' (४०) इति स्रोके निर्दिष्टाना-मिन्द्रियादिकामपर्यन्तानां चतुर्णा विरोधिनामेवात तारतन्यनिर्देशोपपत्तेः । इन्द्रियमनोबुद्धीनां च कमस्यात न कश्चिद्भक्तः । कठवल्लचर्थवरत्वे तु अर्थानामलानिर्देशात् मालया कमभक्तः स्यात् । विरोधित्वे जेतव्यत्वे च प्रधानतया पूर्वत्रोत्तरत्न च काम एव व्यपिद्रस्यते । अतः स एवाल सर्वप्रधा-नतया 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इति निर्देशमहीत । अन्यथा स इति शब्दस्य विशेष्यमौपनिषदं दूरस्थं स्थात् । यदि त्वातमाऽप्यतः नियन्तन्यतयाऽभिमतः, तदा 'इन्द्रियाणि मनो वुद्धिः' इत्यत्नात्माऽप्यधिष्ठान-तया व्यविद्येत ; न चैतत् तथा कृतम् । आत्मा हि तल चतुर्भिर्मोहनीयतया व्यविष्टः । अतश्चतुर्णा नियमनमेवानेन कार्थम् ; तथा सित उत्तरस्रोकस्थात्मशब्दोऽप्येतदनुरोधेन वर्णनीय:। एतस्येवानुवादो हि 'एवं बुद्धेः परम्' इति व्यक्तः । पाटद्वयस्थितस्य 'बुद्धा' इत्यादिकियाद्वयस्य कर्मद्वयं च भिन्नमेव खरस-प्रतीतम् । अतस्तत्र द्वितीयान्तात्मशब्दो नियन्तव्यतया निर्दिष्टमनोविषयः । तृतीयान्तस्तु मनोनियमन-करणभृताध्यवसायविषयः । आद्वरिति निर्देशस्तु नावस्यमुपनिषदभिष्रायेण ; "इन्द्रियाणां हि चरतां यदेकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्य क्षरित प्रज्ञा हते: पादादिवोदकम्" (मनु. २. ९९) इत्याद्यनुसारेण मन्वादय आहुरित्यिप विवक्षीपपत्ते: । तस्मात् यो बुद्धेः परतस्तु सः इति काम एव निर्दिश्यते । तदेतदखिलमभिषेत्योक्तं तदिद्धच्यत इत्यारभ्य स काम इत्यर्थ इत्यन्तम् ॥ ४२ ॥

'सदृशं चेष्टते' इत्यायुपकान्तज्ञानयोगसत्रमादृतोपसंहारद्वारा मनसः कर्मयोगेऽवस्थापनमभिधाय, अध्यायार्थोऽप्युपसंहियते एवमिति स्टोकेन। कामविजयात्पूर्वं मनसस्तंस्तम्भनं नाम कर्मयोगे स्थापनमेव; न पुनरत्यन्तवशिक्वतत्वम्। सति हि कामे मनसोऽपि क्षोभः स्यादिति पूर्वमेयोक्तमित्यभिषायेण कर्म- बुद्धवा कर्मयोगेऽवस्थाप्य एनं कामरूपं दुरासदं शत्रुं बहि—नाशयेति ॥ ४३ ॥ ॥ इति श्रीभगवद्रामानुबिद्दिते श्रीमद्गीताभाष्ये तृतीयोऽष्यायः ॥ ३ ॥ अथ चतर्थोऽष्यायः ॥ ४ ॥

तृतीयेऽध्याये — प्रकृतियंसृष्ट्स प्रुप्तक्षीः सहस्रा ज्ञानयोगेऽनिधिकाशत् कर्मयोग एव कार्यः, ज्ञानयोगाधिकारिणोऽध्यकर्तृन्दानुसन्धानपूर्वककर्मयोग एव श्रेयानिति — सहेतुकप्रक्तम् ; श्रिष्टतया न्ययदेश्यस्य तु विशेषतः कर्मयोग एव कार्य हित चोक्तम् । चतुर्थेनेदानीम् — अस्यैव कर्मयोगस्य निखिलजगदुद्धरणाय मन्वन्तरादावेवोपदिष्टतया कर्तव्यतां
द्रद्धियत्वा अन्तर्भतज्ञानतयाऽस्यैव ज्ञानयोगाकारतां अदृश्ये, कर्मयोगस्वरूपम् , तद्भेदाः,
कर्मयोगे ज्ञानांशस्यैव प्राधान्यं चोन्यते । असङ्गाच अगवद्वतारयाथारम्यप्रुच्यते ।
श्रीक्षणवाचवाच—

योगेऽत्रस्थाप्येत्युक्तम् । दुरासद्म् अननुष्ठितकर्मयोगैरनिरस्तपापैरगुर्हातसुदृढसस्वकवचेद्रीपद्रश्चेन-ऽप्यपाकर्तु<sup>1</sup>मशक्यमित्यर्थः । अचेतनस्य काग्नस्य श्रुतुत्वारोपेण हिंसनीप्रत्योक्तिफरितं तु नाशनमेवेत्यभि-प्रायेण प्रजिति, जिति इत्यनयोन्नीत्वयेति व्याख्या ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहीतामाष्यरीकायां ताल्पर्यचिद्धकायां तृतीयोऽध्यायः॥

अथ चतुर्थसंगित ववतुं तृतीयाध्यायार्थं संप्रहेणोद्गुहाति तृतीयेऽध्याय इति । सहेतुक्किमिति। ज्ञानयोगकर्मयोगयोः सप्रमादत्वनिष्प्रमादत्वादिहेतुर्ध्किमित्यर्थः। एतेन ''असक्त्या छोकरक्षाये गुणेध्वारोध्य कर्तृताम् । संवेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकायता'' (७) इति संग्रह्रछोकोऽपि व्याख्यातः । अशक्तस्य, शक्तत्वेऽप्यप्रसिद्धस्य च सार्थिनिपुणस्य कर्मयोग एव कार्थः ; प्रसिद्धस्य त्वशक्तस्य, शक्तस्य वा सार्थे छोकरक्षार्थं च स एव कार्य इति तृतीयःध्यायेनाधिकारिचित्तनम् , कर्मयोगस्य ज्ञानयोगाहेष्वय्यचित्रनं च कृतमिति भावः । अथाधिकर्रक्ष्यत्येक्तस्य कर्मयोगस्य प्रामाणिकरत्वं ज्ञानिम्त्रत्वं स्वरूपं तहेविध्यं ज्ञानांश्वापाधान्यं प्रासिक्षको भगवद्वतार इति षड्या इहोच्यन्त इत्याह चतुर्थनेति । ननु 'भिस्त्रात् स्वस्मावोक्तिः कर्मणोऽकर्मताऽस्य व । भेदाः ज्ञानस्य माहात्स्यं चतुर्थनेति । ननु 'भिस्त्रात् स्वस्मावोक्तिः कर्मणोऽकर्मताऽस्य । भेदाः ज्ञानस्य माहात्स्यं चतुर्थनेति। तत्वत्वप्रस्य प्रमाणिकरवप्रसङ्गः, 'अस्य च भेदाः' इत्यत्व स्वरूपमन्तरेण तद्भेदस्य दुर्ज्ञानत्वात् स्वरूपमिति विवक्षितम् ; चक्तरेण वा तत्तसमुच्य इति संग्रहेऽपि षड्यां एव विवक्षिताः । स्वस्वभावोक्तिः-व्यस्य अकर्मन्वश्यावतारत्वादिस्यावोक्तिः । कर्मणोऽकर्मता कर्मयोगस्यान्तरित्ज्ञानतया ज्ञानयामार्थात्वात्त्वात्त्वात्त्रात्त्रात्त्रानांशस्य प्राधात्यम् ; एवं चतुर्येनेत्यादिमाप्यणायमिति स्रोको व्याख्यादः। कर्वत्र्याति हृतियाध्याये प्रोक्ता ; अतत्तद्दार्ध्वमात्वमत्व प्राष्ट्रात्त्रस्य प्रावाद प्रवृत्त्यस्य भावः। स्वस्तिति । इप्रमिति

दुरासदिमिति । पद्छ विशरण इति विशरण(वसादनार्थको घातः । प्राप्त्यर्थः शांकरोकः ।

इमं विवस्वते थोगं प्रोक्तवानहमन्ययम् । विवक्षान् मनवे प्राह मनुरिक्तवाकवेऽव्रवीत् ॥ १ एवं परम्पराप्राहि दे राजवैयोऽविद्धः । स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तपः ॥ २ स प्रवायं मया तेऽच योगः प्रोकः पुरातवः। भक्तोऽक्ति में सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ योऽयं तवोदितो योगः स केवलं युद्धप्रोत्साहनायेदानीष्ट्रदित इति न मन्तव्यम् । मन्वन्तरादावेव निख्लजगदुद्धरणाय परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया इदं योममहमेव विवस्वते प्रोक्तवान् , विवस्तां स मनवे, मनुरिक्ष्वाक्रवे । इत्येवं संप्रदायपरन्पर्या प्राप्ताममं योगं पूर्वे राजविद्धाः। स महता कालेन तत्त्व्लोतुद्धमान्यात् विनष्टप्रायोऽभृत् । स एवायमस्त

निर्देशपूर्वकमुपदेशपरम्पराकथनस्य तात्पर्यमाह योऽयमित्यादिना न मन्तव्यमित्यन्तेन । योगोऽल कर्मयोगः । अल ज्ञानयोगपरत्वेन परव्याख्यानं प्रकृतासंगतं (४-१५) क्रकः कर्मेत्यादिवक्ष्यमाणविरुद्धं चेति भावः । मनोरपि जनियत्रे तदुपदेष्टे च निवस्त्रते प्रोक्तत्वादुर्जुनेन च आदावित्यनुबद्धियमाण-त्वात् फिलिसुक्तं मन्वन्तरःदात्रिति । निःखिलजगद्वरणायेति । न केवलं युद्धपोत्साहनार्थमर्जुन मालार्थे वा. किंत्र समस्ताधिकारियर्गायर्थायानायेत्वर्थः । नन्यन्तरादाद्वरदेशात् तस्य निस्तिलजगत्सा-धारण्यं सचितम् । नित्यसर्वेज्ञे भगवति स्थितत्वाद्वस्ययत्वम् । अथना अन्ययत्वमिह् फलद्वारा । इम-मिति निर्देशश्च पूर्वोक्तमोक्षसाधनत्वमप्यभिष्ठेतीति ज्ञापनाय परमेत्यायुक्तन् । प्रागपि न फलान्तर्राथ मक्तमिति भावः । अहं प्रोक्तवानित्यनेन मन्वन्तरादौ, महाकल्पारम्भे, भारतसमरारम्भे वा मद्ग्यः कश्चिदस्य यथावत ज्ञाता वक्ता च दर्रुभ इत्यभिवेतम् । प्रसङ्गादवश्यं ज्ञातव्यं स्नावतारयाथारम्यं वक्तुं म्बस्य मन्वादिकारुविरोधरूपशङ्कीत्थापनं च क्रुतमिति व्यञ्जनाय अहमेवेत्युक्तम् । विवस्तते प्रोक्तवा-निति । न खयमसुरादिभ्यो मयोपदिष्टो बुद्धाद्यागमार्थः, किंतु सर्ववेदा(देवा)त्मने विवस्तत इति भावः । जियस्वांश्च सन्तवे, सन्तिः स्वाक्तव इति "यहै किंच मनुरवदत् तद्वेषजम् " (यजु. २. २. १०, ५४) इति स्कळजगद्भेषजम्तवचनत्वा प्रसिद्धमर्यादापक्तैनविज्ञदाधिकृतकोटिनिविष्टपितादि-क्रमेण छपदेशपरंपरा पाप्ता, न तु संभवद्विषठम्भकुहकपाषण्ड्यादिसंसर्गपञ्चतेति भावः। एतत् सर्वम् — एवं संप्रदायप्रंपरयेत्यनेन व्यक्तन् । प्रं ्रहावदेनेक्ष्वाकोरवीचीनानामपि प्रहणात् कृतादियुगे संबदायाविच्छेदो विवक्षित इति चामिशायः । इदानी नाशस्यामिधानात् अत प्रेवे गजर्षय इत्यक्तम । राजर्योऽविदः । राजानो हि विस्तीर्णागाधमनसः, तलापि ऋषित्वादतीन्द्रियार्थदर्शनक्षमाः ; ते च बहुब: ; ते चाश्वपत्जिनकाम्बरीषप्रभृतय: सर्वेऽप्यविगानेनेमं कर्मथोगमनुष्टितवन्त इति भाव: । कारू-दैर्धस्य विच्छेदहेत्स्यपकार्भिष्ठशब्दस्यचितमाह तत्तच्छोत्युद्धिमानद्यादिति । इह विचिताधिकारि-पूर्णे जगति कृतलेतादिषु युगेषु कालकमेण बुद्धिशक्यनुष्ठानादयोऽपचीयमाना दृष्टाः, श्रुताश्चेति भावः । नष्ट इत्यत्नात्यन्तविच्छेदो नाभिमतः, व्यासभीप्माकृरादेरिदानीमपि विद्यमानत्वादित्यभिषायेणोक्तं — विनष्टप्रायोऽभृदिति । स एवायमिति सप्रत्यभिज्ञसावघारणनिर्देशफलितमुक्तम् । अस्तिस्ति लितस्बरूपः पुरातनो योगः सस्येनातिमात्रभक्तया च मामेव प्रपन्नाय ते मया प्रोक्तः— सपश्किरस्सविस्तरमुक्त इत्यर्थः । सदःयेन केनापि ज्ञातुं वक्तुं चाशक्यम्, यत इदं वेदान्तोदितमुक्तमं रहस्यं ज्ञानम् ॥ १ ॥ २ ॥ २ ॥

अस्मिन् प्रसङ्गे भगवद्वतारयाथात्म्यं यथावत् ज्ञातुमर्जुन उवाच---

अवरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्ततः । कथनेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ कालसङ्ख्या अवरम् असाजन्मसम्कालं हि भवतो जन्म । विवस्तवश्र जन्म काल-सङ्ख्यया परम्-अष्टाविश्वतिचतुर्धुगसङ्ख्यासङ्ख्यातम् । त्वमेवादौ प्रोक्तवानिति कथमेतदसंमाव-स्बरूप इति । पुरातनः, अद्येति निर्देशाभ्यां कालभेदमालेणापि न खरूपे वा प्रकारे वा भेद इति सुवि-तम् । भक्तोऽसीति वर्तमाननिर्देशाद्निष्टता भक्तिस्सूचिता । अरुपीयसी तु भक्तिः कदाचित्रिवर्तेतापीत्यभि-प्रायेणोक्तम् अतिमात्नेति । भक्तोऽसि । शःख्रदृष्टमहत्त्वानुसंघानेन शीतिमानसीत्यर्थः : सखा चासि---अवतारदृष्टसौरूभ्यविशेषेण प्रणयविस्नम्भवानसीत्यर्थः । ते. संगेति शब्दाविप 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (२. ७) इति पागुक्तपपतुपपत्तव्ययोः भत्यभिज्ञापकाविति अयमपि पवचनहेतुरिति ज्ञापायोक्तं मामेव प्रवन्नाय ते मया प्रोक्त इति । शोक्त इत्यत्न सोपर्स्गधात्वर्थं विद्युणोति सपरिकरस्सविस्तरमिति । परिकरोऽङ्गम ; शन्दस्य पपञ्चो विस्तरः ; अङ्गोक्तिरप्यत्र सिक्तरेति भावः । 'अहं प्रोक्तवान्', 'मया-डद्य शोक्तः' इत्याभ्यां सूचितमाह **मदन्येने**ति । प्ररूथेन वा, युगादिस्वभावेन वा संप्रदायविच्छेदे सति पुनरहमेव संप्रदायप्रवर्तकस्त्याम् : करणायत्तज्ञानेन मदन्येन हिरण्यगर्भादिनाऽपि मदपदेशमन्तरेण ज्ञातं वक्तं चाशक्यमित्यर्थः । सरूय-भक्ति-पपत्यादिगुणपौष्करुययुक्तायोपदेश्यरवे भगवद्यतिरिक्तेन ज्ञातं ववतं चाशवयत्वे हेतुपरं रहस्यमित्यादीति दर्शयति यत् इति । हिशव्दोऽत हेतुपरः : रहस्यत्वात योग्यायोपदेश्यम् : उत्तमरहस्यत्वात् मदन्येन ज्ञातं वनतं चाशवयमिति विभागः। उत्तमरहस्यत्वे हेतु:-वेदान्तोदितमिति । नपुंसकनिर्देशयोग्यं निशेप्यमुक्तं ज्ञानमिति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

"प्रसङ्गात् सस्त्रभावोक्तिः" (८) इति संग्रह्मश्चेकानुसारेणाह् असिन् प्रसङ्ग इति । कर्तव्यताहडीकरणार्थकथामसङ्ग इत्यर्थः । भगवद्वतास्याधारम्यम् अकर्मवद्यस्वादिरूपम् । यथाविदिति ।
मातिमासिकत्वादिप्रतिक्षेपकप्रमाणोपपितपूर्वकिमित्यर्थः । परावरशब्दाभ्यां न दैवमानुषत्वस्ररूपजातिवैवम्यमुच्यते, तस्योपदेशिकरोधित्वाभावात् ; देवानामिष देवत्वेन च क्रप्णस्य विदित्त्वात् ; जन्मशब्दस्य च जननवाचितया साक्षाज्ञातिवाचकत्वाभावात् ; आदादिति कालविरोधस्य च व्यक्तमुक्तत्वात् ; 'बहूनि
मे व्यतीतानि' (५) 'यदा यदा हि' (७) 'युगेयुगे' (८) इत्येवमादिरूपस्योत्तरस्य च कालविशेषपरिहाररूपत्वात् । अतः परावरशब्दौ कालसङ्ख्योत्कर्षायिकविवयावित्यमिमायेणोक्तम् कालसङ्ख्ययेति । अवरत्वहेतुत्या विवसितं कालाविधं दशेयति अस्मिदिति । समकालमिति अदूरविमकृष्टमित्यर्थः ।
स्वज्ञब्दः इदानीन्तनत्वाभिमायतया विरोधपर इति बोतनाय त्वसेवेत्युक्तम् । कथमेतदित्याक्षेप-

नीयं यथार्थं जानीयाम् ? ननु जन्मान्तरेणापि वक्तुं शक्यम् , जन्मान्तरकृतस्य महतां स्मृतिश्र युज्यत इति नात कश्चिद्विरोधः। न चानी वक्तारमेन वसुदेवतनयं सर्वेश्वरं न जानाति, च यत एवं वक्ष्यति, ''परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं बाश्वतं दिव्यमादि-देवमजं विश्वम् ॥ आहुस्स्वामुवयस्सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा । अत्तेतो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीपि मे<sup>??</sup> (१०-१२,१३) इति । युधिष्टिग्सज्ञसुपादिषु भीष्मादिभ्यश्रासः कुच्छ्तम्, ''कुष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिगि चाप्ययः। कृष्णस्य हि कृते भृतमिदं विश्वं सुचितमुक्तम् असंभावनीयमिति । विजानीयामित्यत्रोपसर्गविवक्षितमाह यथार्थमिति । जन्मान्तरस्यैवा-भावाद्वा, जन्मान्तरानुभृतस्य स्मृत्ययोगाद्वा, वक्तुर्जन्मान्तरस्मृतिमत्तया श्रोनुरविदितस्याद्वा सल्वेतज्जन्मा-वरुम्बनेन विरोधचोद्यम् ; न चैतदखिरुमल संभवतीति प्रश्नमाक्षिपति नन्विति । जनमान्तरेणापि वक्तं शक्यमिति । न हि तदानीम्तनेन जन्मना तदानीम्तनायोपदेशो विरुद्ध इत्यर्थः । **महत्**रामिति । न केवरुमीश्वरस्य ऋष्णस्य, अन्येवामपि महतामिति भावः । श्रूयन्ते हि जातिस्सर्[ण]बृत्तान्ताः । 'जाति सरित पौर्विकीम्" इति च मनुः (४. १४८)। ग्रुज्यत इति । अनुभन्नेन संस्कारे प्रागेव निष्पन्ने तस्य च अदृष्टविशोषादिवशादुद्धोधे जन्मान्तरानुभृतस्मृतौ न काचिद्रयुक्तिः ; यथा प्रथमस्तन्यपाने स्तन्यस्य पिपासाशान्तिहेतुत्वस्मृताविति भावः । महतामन्येषां स्मृतिः ; ईश्वरस्य तु प्राचीनवृत्तान्तगो-चरः साक्षात्कारः स्पृतिरित्यपचर्वते । कश्चिदिति कालवित्रकर्षकृषो वा कारणामावादिरूपो वेत्यर्थः । असाविति । दृद्धोपसेवादिभिः श्रुतादिवहुलोऽर्जुनः । वक्तारमिति । 'विवस्तते प्रोक्तवानहम् ' इति स्वस्मै वक्तारमः यद्वा विवस्तते वक्तारमित्वर्थः । एतं वस्रदेवतनयनिति । मानुषव्यापारजन्मभ्यां तिरोहितेश्वरभावमपीत्यभिषायः । सर्वेश्वरमिति । विवस्तदादीनामपीश्वरमिति भावः । यद्वा गोवर्ध-नोद्धरणाद्यतिमानुषवृत्तान्तैरवतारदशायामेव चतुर्भुजत्वादिना च व्यक्तितेश्वरत्विमिति भावः । उक्तज्ञान-सद्भावं कार्येण व्यवहारेण, कारणेनोषदेशेन च स्थापयति यत एवमिति । एवम अनेकाप्ततमोषदे-शादिमिरीश्वरत्वनिष्कषेपूर्वकमित्यर्थः । अर्जुनस्य स्वशक्येन स्वोक्तमहर्षिगणोपदेशेन च ज्ञानानमा-नमुक्तम् ; भारतकथावगतेन बन्धूपदेशेन च ज्ञानवतामाह युधिर्धिरेति । बहुप्विप वृत्तान्तेप्वाप्ततमेभ्यो बहुभ्यो बहुधा श्रतमित्यर्थः । कृष्ण एवेति । स्थितिहेतुत्वेन प्रसिद्धः स एवोत्पत्त्यादेरपि हेतः. न त ब्रह्मरुद्रादिः प्रधानादिवी । यद्वा लौकिकैः पुरुषैः बसुदेवतनयतया प्रतीयमानः कृष्ण एवेत्पर्थः । **हिश**ब्द:, 'एको ह वै नारायण आसीत्' (महो. १.१) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धि दर्शयति । **लोकाना**-मिति । 'होकस्तु सुबने जने' (नाम. ३. ना. १५७) । तत्नान्यतर्विवसायामितरदार्थम् : उत्परयप्य-शब्दावत्रोत्पादकनाशकपरौ । चकारः प्रसिद्धिपकर्षादन्कं स्थितिहेत्रत्वादिकं समुचिनोति । एवं 'यतो वा इमानि भूतानि' (भृ. १) इत्यादिना ब्रह्मलक्षणतयोक्तं सर्वकारणत्वमुक्तम् । अत एव हि 'परं ब्रह्म' (10-12) इत्यर्जुनोक्तिः । कृष्णस्य हीत्यत्र हिशब्देन 'पत्ति विश्वस्य' (ना. १०. १), 'करणाध-पाधिपः' (क्षे. ६. ९) इत्यादिप्रसिद्धिः सूच्यते । कृते इत्यत्य अनेकार्थसाधारणत्वात् तादर्थ्यपरत्वत्यक्ष- चराचरम्'' (मा. स. २८. २६) इत्येवमादिषु । इष्णस्य हि इते इति, इष्णस्य श्लेभृत मिदं इत्त्रनं जगदित्यथाः ॥ अत्रोच्यने जानात्येत्रायं भगवन्तं वसुदेवयनुं पार्थाः । जानतोऽ-प्यजानतः इव पृच्छतोऽयमाश्चयाः - विखिल्हत्यप्रत्यनीककत्यार्णकतानस्य सर्वेश्वरस्य सर्वञ्जस्य सत्यसङ्करपस्थावासनमस्तकामस्य कर्मगरवश्वदेवपनुष्यादिसजातीयं जन्म किमिन्द्र-

नायाह कृष्णस्य श्रेषभृतमिति। अत्र चित्रश्ययाभावात् स्वाभाविकत्वं सूचितम् : "दासमूतास्त्वतस्सर्वे" (ई-सं-मन्तराजपदस्तोते) इत्यादिवत् । कृष्णस्य कृते भत्निति । कृष्णार्थमत्पन्नं सत्तायोगि चेत्यर्थः । 'जन्माचस्य यत:,' (त्र. १. १. २) 'इमानि भृतानि' (मृ. १) इत्यादिवदत्नापि **इ**दंशब्दस्ततस्त्रमाणसिद्ध-विचित्रचेतनाचेतनसमुदायपर: : पूर्वाघों कसुज्यत्वसंह धेरवादिष मारानुवादपरो वा । तेन तदधी-नोत्पत्त्यादिमत्त्वात् तादर्थ्ये हेतुरुक्तो भवति ; 'कस्थोदरे' (स्तो.र.१४) इत्यादिवत् । अथ चोद्यवादिनोक्तः मभ्यपमेन प्रतिवक्ति जानारधेवेति। अवधारणेन, नास्मित्रंशे विवाद इति सचितम्। अयमिति निर्देशः पूर्ववत् श्रुतार्थत्वं सुचयति । वसुदेवस् नं सगवानिति जानातीत्यर्थः । नामपरो गणपरो बाइत्र भगव च्छव्दः । वसदेवसन्यार्थशब्दाभ्यां मात्रलस्तरवरैतृप्वसेयरवसूचनेन इतरप्रवयत् ईश्वररवादितिरोधायकः प्राकृतसंबन्धे सत्यपि सुकृतवशाद्धपदेशवशाच जानातीत्यप्रियेतपः । तर्हि प्रश्नो निरवकाश इत्यवाह जानतोऽपीति । नात्यन्ताज्ञातमनेन प्रच्छ्यते ; ज्ञातमेव विशेषान्तरिजज्ञासया परिपृष्टमिति भावः । अजानत इवेत्यनेन विनयगर्भेपरिपश्चपकारश्च सूचित: । अज्ञातांशवुसुत्सां जन्मादेर्मिथ्यात्वादिशङ्कां च जनयन्तो भगवति ज्ञातांशिक्षेषा उपादीयन्ते निस्तिलेस्यादिषष्ट्यन्तपदैः । निस्तिलहेयप्रत्यनी-केति । यः परगतनिष जन्मजरादिहेथं निवर्तयति, स कथं खत्रं तदेशोपाददीतेति भावः । कल्यांगै-कतानस्येति । खरूपानन्दत्रप्तस्य किं जन्मनेति भावः । सर्वेश्वरस्येति । यदि कश्चित् खच्छन्दोऽस्य नियन्ता स्यात् , तदा जन्मादि घटेत ; न च सोऽस्तीत्याशयः । सर्वज्ञस्येति । यद्यशौ स्वस्य हितमहितं च न जानाति, तदा हि स्वेच्छेपैव वालाबीनामस्यादिस्पर्शवत जन्मादिपरिस्रहः स्यादित्यभिषायः। सत्यमङ्करपस्येति । हिताहितज्ञाने सत्यपि कश्चित् गुप्के पतिप्यामीति कर्दमे पति : न चासौ तथेति हृदयम् । यद्वा छोकरक्षणाद्यथेमेवावतार इति हि परमोत्तरं स्यात् : तद्य्ययुक्तम् ; सङ्कल्पमातेण रक्ष-णाद्मुपपतेरिति भावः । अवास्तसमस्तकामस्येति । यदि साध्यं किंचित् प्रयोजनं स्यात् , तदा तद्यै जन्मादि परिगृह्येत ; न च तदप्यस्तीति भाव: । एवं च सति ईश्वरो न वस्तुतो जन्मादिमान् , अकर्म-वश्यत्वात् मुक्तात्मवत् इत्यन्वयेन, यो जन्मादिमान् . स कर्मभश्यः, पया संसारी इति व्यतिरेकेण चैकमनुमानम् । तत्त्रेव पक्षसाध्यादौ जन्मकारणभृतेश्वरादिनियोगाविषयत्वादिति द्वितीयम् । द्वयोरप्यनु-मानयोः, यो यत्कारणरहितः, न स तत्कायवान् , यथा संप्रतिपन्न इति सामान्यतो वा व्याप्तिः । सर्वेश्वरत्वादित्युक्ते तु न दृष्टान्तः । केवरुव्यतिरेकिविवक्षा तु देहपरिग्रहरहितघटादिसपक्षसद्भावात् केवरु-व्यतिरेकिपामाण्यस्य च सामान्यतो <sup>1</sup>याम्रनाचार्यादिभिर्निरस्तत्वादयुक्ता । एवं देहपरिग्रहाधभावे

विश्वपिरशुद्धौ चर्च विस्तरेष द्रष्टव्यम् । अस्तिवीयवैशेषिकरसायनेऽिष् ।

जालादिवन्मिथ्या, उत सत्यम् ! सत्यत्वे च कथं जन्मप्रकारः ! किमात्मकोऽयं देहः ! कश्च जन्महेतुः ! कदा च जन्म ! किमर्थं च जन्मेति । परिहारप्रकारेण ! प्रश्नार्थो विज्ञायते ॥४॥ श्रीभगवानुवाच—

बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव वार्जुन । तान्यद्वं वेद् सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५

संकुचितज्ञानस्रान्यत्वात् , प्रतिहतसङ्करपरहितत्वात् , अपूर्णकामत्वरहितत्वात् , साध्यप्रयोजनस्हित-त्वादिति मुक्तात्मधयादिदृष्टान्तेन हेतवः । यद्वा परमसाम्यापन्नान् मुक्तानेव दृष्टान्तीकृत्य सर्वज्ञत्वात सत्यसंकरुपत्वाद्वाप्तसमस्तकामत्वादित्येव हेतवः । एवं यदि जन्नादयः स्यः. तदा कर्मवश्यत्वमनीश्वर-त्वनमुर्वज्ञत्वममृत्यमंकरुपत्वनपूर्णकामन्दं च क्षेत्रज्ञवत् स्यादिति प्रसङ्गाध्य विवक्षिताः । निरिचलद्रेये-त्याचक्तीभयलिङ्गत्वे च हेतवः सर्वेश्वरत्वादयः । पूर्वीकाकारविरोधितया मिथ्यात्वशङ्काहेतुः सामान्यतो विदितो जन्ममकार उच्यते कर्मपश्वकदेवमनुष्यादिसजातीयनिति । कर्मप्रवक्षा देवमनुष्यादयः । तेषां **सजातीयं** तज्जन्मसमानतया प्रतीयमानमित्यर्थः । यहा जन्मशहरोऽत्र जायमानविग्रहपरः । ईश्वरेण परिगृह्यमाणत्वात् इन्द्रजालादिवदित्युक्तम् । स्वेच्छ्या परेषां विचित्रभ्रमजननं हीन्द्रजालम् : तेनात तत्प्रतिभातरुक्षणा । आदिश्वरदेन शैल्डम्मिकापरिमहादि गृह्यते । मिथ्यात्वपक्षे न तल कश्चित् शकारो निरूपणीय इति कृत्वा सत्यत्वपक्षे शङ्कते मत्यत्व इति । कथमिति । कि पारमेश्वरस्वभाव-परित्यागेन, अन्यथा वेत्यर्थः । किमारमक इति । कि विगुणात्मकः, उतापाकृत इत्यर्थः । अयभिति । भूतसङ्घर्मस्थानवस्पतीयमान इति भावः । देह इति । उपचयरूपतया धपरुभ्यत इति भावः । कश्च जन्महेतरिति । किं सङ्कल्पमालम् . उतेश्वरस्यापि स्वेच्छापरिगृहीते पुण्यपापे इत्यर्थः । कदा चेनि । कि पुण्यपापविपाककाले. उत धर्मग्लान्यादिकाल इत्यर्थः । कि.मर्थे चेति । कि सुखदःखोपमोगार्थम् . उत साधुपरित्राणाद्यर्थमित्यर्थः । इत्ययमाञ्चय इत्यन्वयः । ननु अवरमिति स्टोके व्याघातमात्रमेव चोद्यते : तल बहुषु प्रश्नेष्वाशय इति कुतोऽवगतिमत्यताह परिहारेति । अयमभिप्राय:-न ह्यन्यस्य प्रश्ने तदन्यविषयतया प्रतिवचननुपपद्यते : तथा सति प्रतिवक्तरनभिप्रायज्ञतादिपसङ्गात । अतो याव-द्विषयं प्रतिवचनम् , ताबद्विषय एवायं प्रश्न इत्यभ्युषगन्तव्यम् । अत्र च प्रतिवचने चतुर्भिः स्रोकैः जन्मसत्यत्वं, जन्मप्रकारः, देह्याथात्म्यं, जन्मनो हेतुकालप्रयोजनानि च क्रमात् प्रतिपाद्यानि प्रती-यन्ते : अतस्तान्येव प्रष्टव्यतयाऽभिष्रेतानीति ॥ ४ ॥

एषुत्रं कमाद्भगवानुवाच बहूनीत्यादिभिः । न हि पूर्वजन्मनामेकत्वबहुत्वे पृष्टे, न च तज्जा-

इदं श्ठोकस्पेणैवं संग्राह्यम्—भवपायनीको महानाद्यतो निरीशोऽस्थित्रकः सुसंकरपविष्यः । क्यं कृष्ण जन्मान्यतादेशि लोके खयं दन्त गृह्यस्यहं तद्वुसुरसे ॥ सत्यं किमैश्यरगुणं किममौतिकं कि हेतुर्जनो क १६ कालंकले च के ते । इत्यर्जनः खलु बुभुत्सुरगृङ्खदेतं जन्मानतरस्मरणशक्तिविद्यसम्बयः ॥

अनेन जन्मनस्सत्यत्वप्रुक्तम् , बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानीति वचनात् , तव चेति दृष्टान्ततयोपादानाच ॥ ५ ॥ अवतारप्रकारम् , देहयाथारम्यम् , जन्महेतुं चाह— भक्षोऽपि सन् अव्ययातमा भवानामीश्यरोऽपि सन् ।

प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवास्यात्म्रमायया॥

**\$** 

अजत्वाच्ययस्वसंबेधरस्वादि सर्वं पारमेश्वरं प्रकारमजहदेव स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय आस्मनाज्ञाने इति शङ्कायामाह अनेनेति । कथं जन्मनः सत्यत्वमुक्तमः ; बहुत्वातीतस्वत्वज्ञानादिहि वाचिनकतया प्रतीयत इत्यताह बहुनीति । अथमभिप्राय:-इदानीन्तनस्व तदानीन्तनाय कथमुक्तवानिति प्रश्ने,
जन्मान्तरेणाहमुक्तवान् , तबेदानीमनुसन्धाय वदामीति साक्षादुचरमुच्येत । तस्य च प्रशस्यान्यपरत्वस्य
पूर्वं सहेतुकमुक्तत्वान् , अवस्य प्रष्टव्येप्यथेषु यस्परत्वमत व्याकर्तुं शक्यम् , तस्पराण्येव बहुनीत्यादिविशेषणानि<sup>2</sup> ; सत्यत्वे हि बहुत्वातीतत्वादीनि स्वरसानि । जन्मानीति चोक्तमः ; न जन्मपतिभासा
इति । तब चेत्यपृष्टस्यार्थस्य उपादानमिष्, एतत्सत्यत्वदृष्टान्ताभिप्रायमन्तरेण न घटते । न चार्जुनस्य जन्म
मिथ्या. तस्य वा तथात्वप्रतिभासः । तस्तमेवे वा कृष्णजन्मनि क्रतोऽस्य संश्चय इति ॥ ५ ॥

अवतारेति । अज्ञान्ययशब्दाभ्यां प्रकृति-पुरुषयोगि सक्ति । अज्ञान्ययशब्दाभ्यां प्रकृति-पुरुषयोगि सक्ति । अज्ञान्ययशब्दा कर्मकृतजनममरणिनृतिषरी वा ; तेन हैयपत्यनीकृत्वसुक्तं भवति । भृतानामीश्वरोऽपीति करुयाणगुणाकरत्वाप्रच्युतिरमञ्ज्ञ्वस्य । यहा अज्ञान्यदेन स्वरूपतः शरीरद्वारा च जन्मयुक्ताचित्रक्षेत्रज्ञाभ्यां व्यावर्तनम् । अव्ययास्मेत्यात्मशब्दस्य स्वमावपरतया नजोऽत्यन्तामावपरतया च, कहाचिज्ज्ञानसङ्कोचः दिमतो सुक्तात् व्यावृत्तिः । ईश्वरशब्देन नित्यासङ्कृचितज्ञानभ्यो नित्येभ्यो व्यवच्छेदः । अव्ययास्मेत्यतापि पूर्वोत्तरवत् अपि सन्नित्यनुष्यन्ति नित्यासङ्कृचितज्ञानभ्यो नित्यभ्यो व्यवच्छेदः । अव्ययास्मेत्यतापि पूर्वोत्तरवत् अपि सन्नित्यनुष्यन्ति नित्यासङ्कृचितज्ञानभ्यो नित्येभ्यो व्यवच्छेदः । अव्ययास्मेत्यतापि पूर्वोत्तरवत् अपि सन्नित्यनुष्यन्ति नित्यासङ्कृचितज्ञानभ्यो नित्येभयो व्यवच्छेदः । अव्ययास्मेत्यतापि पूर्वोत्तरवत् अपि सन्नित्यनुष्यन्ति नित्यासक्त्यन्ति नित्यासक्ति नित्यासक्ति नित्यासक्ति नित्यासक्ति नित्यासक्ति नित्यासक्ति नित्यासक्ति नित्यासक्ति । स्विमिति । च कस्त्यचिद्वि स्वभाव लेशस्य हानिरिति भावः । परमेश्वरस्यनिय पारमेश्वरत्यमयुक्तिनित्यश्च । अपि सन्नित्यस्य वर्तमाननिर्वेशस्य तात्पर्यमाह अज्ञद्देवित । एतेन तत्तवतारेषु तास्रतासवस्यास्र च पारमेश्वरस्यमावस्य सत्त एव स्वच्छ्या तिरोधानमान्नसिति सूचितम् । तथा चाहुः, "गुणैज्वर्हमः" इत्युपक्रम्य, "भवान् सर्वत्ते व्यापितमहामक्रलगुणः" (व. स्त. १६) इति । अवतारेषु हि परमेश्वरस्य व्यपदिस्यते । "ईशलिप महायोगी" (मा. स. ६०. १४), "क्रष्णण एव हि छोकानाम्" (मा. स. ६८. २३) "व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा" (रा. य. ११८. १४) इत्यादिभिः । नात्र प्रकृतिव्वदेन "प्रकृति स्वामम्यस्य तिस्वामि" (रा. ९०. ८) इत्यादिण्विव विस्पुणा प्रकृतिरुच्वते, अवतारे(व्व)िप तिद्वमहस्य

य अत्रैवं समाधिक्षोकः—अनुःझन्स्यमाचो अवेत् शुद्धसम्बाहतिः सस्य इञ्छानुइपोऽवतारः। सदा धर्यहानौ सतां बाणदेतोः इदंगुप्तवित् स्थात् पुनर्जन्मद्दीनः इति।

<sup>2</sup> भाष्यकारोन्नीतमर्जुनाभिषायम् उत्तरइलोकस्थपदगम्यतया दर्शितं विशदयति ।

मायया संभवामि । प्रकृतिः --- स्वभावः स्वभेव स्वभावमधिष्ठाय स्वेनैव रूपेण स्वेन्छया संभवामी-त्यर्थः । खलरूपं हि, 'आदित्यवर्णे तमसः परत्तात्' (पु.), 'श्वयन्तमस रज्ञसः पराके' (सा. त. १७. २. ४. २), 'य एवो ज्नतरादित्ये हिरण्मयः पुरुवः' (छा. १. ६.६), 'तसिन्नयं पुरुवो तिगुणोपादानकत्वाभावात् । तथा चोक्तम् , "न मृतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" (भा.), "न तस्य शक्कता मूर्तिर्मासमेदोऽस्थितंभवा" (वा. पु. ३४. ४०; वरा. १४. ४१) इति । अतोऽस्नाव-तारोपयुक्ता अन्या प्रकृतिरुच्यत इत्यभिषायेणाह प्रकृतिः रूभाव इति। "प्रकृतिः पश्चभूतेषु स्वभावे मूरु कारणे" इति नैघण्टुकाः। विमहस्यापि, "नित्यालिङ्गा(ङ्ग्या) समावसंसिद्धिः" (र. ब्रा) इत्**येकायन्**श्रृत्यनु-सारेण निरुपाधिकस्वासाधारणविशोषणस्वात् , स्वभावशन्देनोपादानम् । गोवलीवर्दन्यायाचात्र विमहा-स्यखमानविशोषपरता । स्वभावपर्यायप्रक्रितः शब्देन। एथविसस्य (द्वि) लामेऽपि स्वामिति निर्देशो जीव-साधारणित्रगणभक्कतित्यवच्छेदार्थः इत्यभित्रायेणोक्तम् स्वमेवेति । अन्तरादित्याधिकरणमाप्येऽप्ये-तत् व्याख्यातम् , "समेव स्नमावमास्थाय, न संसारिणां स्वभावमित्वर्थः" (१. १. २१) इति। प्रकृति-शब्दस्याल विग्रहपरताम् , अधिष्ठायेत्यनेन सुनितं स्वातन्त्र्यं च दर्शयति स्वेतन् रूपेणेति । यद्वा. स्वमेव स्वभाविमत्याचेकवावयं सङ्गल्लितार्थपरम् । तत् अधिष्ठायेत्येतदःतं पूर्वार्थस्यार्थः ; स्वेनैव रूपेणेति तु तृतीयपादस्य ; स्वेच्छक्षेति चतुर्थपादस्य ; अस्यां वोजनायां प्रकृतिशब्दोऽवतारोपादान<sup>1</sup>मृत-दिव्यविग्रहमेवाह । अवतारिवग्रहोपादानमूलप्रकृतेर्वहृश्रुतिसिद्धतानाह स्वस्वरूपमिति । ''खरूपं ब्रह्मणो-परम्'' (वि. १. २२. ६१) इति प्रयोगात् स्वरूपशब्दोऽत्र विम्रहपरः। ''आदित्यवर्णे तमसः परस्तात्" (पु.) इत्यनेनापाकृतत्वम् , स्वासाधारणनिरतिशयदीप्तियुक्तत्वं च सिद्धम् । तत्प्रकरणे च देशविशेषवर्तित्वनित्यसुरिसेव्यत्वलक्ष्मीपितत्वादिकमपि भाव्यम् । श्वयन्तमित्यल रजश्शब्दोऽपि मूलप्रकृतिविषयः ; न तु लोकविषयः 'तमसः परस्तात्' इत्यनेन तुरुपार्थस्वात् । रजीगुणकत्वाच रज-इरावदेनोपादानम् । व्यासस्य देशविशेषे श्वयन्तिमिति निशासवचनात् विम्रहवन्त्वं सिद्धम् । एवं परम-पदिनल्यिनिस्यविम्रहसद्भावः श्रतिद्वयेन दिशेतः । तस्यैव विम्रहस्यावतारदशां दशयिति य एप इति । आदित्यवर्णे हिरण्मयः इति च एक एव वर्णेः श्वियोगिभेदाधीनप्राविकृल्यानुकृल्याभ्यां मुखभेदेन निर्दिश्यते । यथाऽऽहुर्द्रमिडाचार्याः, "हिरण्य इति रूपसामान्यात् चन्द्रमुखनत्" (१. १. २१. सारे) इति<sup>2</sup> । यद्वा, हिरण्यिकारत्वन्यवच्छेदार्थं द्रशमङभाष्यम् । तत्र (अत्र) "मयूरकण्ठच्छविशुद्धहेम" इति शिरुपशास्त्रानुसारात स्थामत्वसिद्धिः । अथवा स्वेच्छ्या सत्ततत्त रूपभेदेऽपि न दोषः ; यगादि-

<sup>1</sup> पूर्वयोजनायां प्रकृतिशब्दस्य स्वभावार्थमुखेन वित्रदृष्टरत्वम् । अस्यां योजनायाम् उपादानरूपार्थमुखेन तत्परत्वम् ।

मनोमयः ; अमृतो हिरण्मयः' (जीक्षाः ६.१), 'सर्वे निमेषा निहारे विद्युतः पुरुषादिषि' (ना. ६.१.८), 'मारूपस्सरयसङ्करण आकाञ्चारमा सर्वकर्मा सर्वकामस्सवैगन्यस्सर्वस्सः' (छा. ३.१४-२), 'मारूपस्सर्व नासः' (इ.४.३.६) इत्यादिश्वतिसिद्धम् । आत्ममायया-आत्मीयया मायया । ''याया चयुनं ज्ञानमृ" इति ज्ञानपर्यायोऽत्र मायाग्रब्दः । तथाचापिः युक्तप्रयोगः, ''मायया सततं वेश्ते प्राणिनां च शुभाशुभम्'' इति । आत्मीयेन ज्ञानेन आत्मसङ्कर्वेनत्यर्थः । अतोऽपहतपाप्मत्वादिसमस्तकस्याणगुणात्मकःवं सर्वमेशं स्वभावमज्ञहत् स्वमेव रूपं देवमनस्यादिसजातीयसंस्थानं क्रवेन आत्मसङ्कर्वेन देवादिरूपः संभवाम।

भेदे पर्यायतः सितरक्तादिविकन्पितवासुदेवादिव्यूहरूपभेदवत् । तस्यैव हृदयान्तर्विर्तत्वे श्रुतिसुदाहरति तिसिन्निति । मनोमय इति । विशुद्धेन मनसा प्रचुरः, श्राह्य इत्यर्थः । आभ्यां श्रुतिभ्यामुपासनस्थानः विशेषस्थितिर्दिर्शिता । कारणवावयेऽपि तस्य सद्धावं दर्शयति सर्वं इति । विद्यतः इति पदं विद्यद्वर्णा-दिति अन्यत व्याख्यातम् । "शान्त उपासीत" (छा. ३. १४. १) इति पूर्वोक्तमुपासनम् , "स कतं कवींत'' इत्यन्त्र्य तच्छेषतया विधीयमानेषु पारमार्थिकेषु गुणेषु विम्रहस्य सहपाठं दर्शयति **भारूप** इति । भाखररूप इत्यर्थः । "माहारजनं<sup>2</sup> वासः" (वृ. ४. ३. ६) इत्येषा श्रुतिः शारीरके व्याख्याता "तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासः" (३. २. २०) इत्यादिनाऽऽकारविशेषं चाभिधाय," इति । सर्वासु चासु श्रुतिषु विरुक्षणस्थानविशिष्टत्ववर्णविशेषपुरुषशब्दादिभिः पूर्वोपात-पुरुषसुक्तवाक्येकार्थत्वं सिद्धम् । पृष्ठीसमासे स्वस्वामित्वलक्षणः संबन्धोऽत् विवक्षित इत्याह आरमीयग्रेति। "माया वयुनं ज्ञानम्" इति निघण्ट्रपादानम् । स्वेच्छायतरणप्रकरणे स एवार्थ उचित इति भावः । निचण्डसिद्धमर्थे तन्मूळम्ताभियुक्तपयोगेण द्रढयति तथाचेति । 'मायया वेति' इति निर्देशादियं माया निघण्द्रसिद्धं ज्ञानमेव ; परप्रसिद्धमायायास्तत्त्वार्धप्रकाशकत्वाभावादिति भावः । एतेन प्रकृति-शब्दस्यात तिगुणात्मकप्रकृतिविषयत्वं मृथाशब्दस्य निध्यार्थपरत्वं च शृङ्करोक्तं प्रत्युक्तम् । आत्म-भाषया इत्यस्य, "न परमार्थतो स्रोकवत्" इति व्यवच्छेदश्चायक्तः : अन्येषामपि जन्मनस्तमते मिथ्यात्वाद्यविशेषात् । फल्तिः वक्तमाहः आत्मीयेन ज्ञानेनेति । ज्ञानमात्रस्य कथमवतारहेतुत्वम् ! तथा सति सर्वदाऽवतारमसङ्गादित्यताह आत्मसंकरपेनेत्यर्थ इति रे स्रोकस्य पिण्डितार्थं विशवयति अत इति । **अपहतपाष्मत्वा**ीत्यनेन दहरविद्यासुबालोपनिषर्भृतिषु निर्दोषर्वमङ्गलसुणाकरत्वप्रति-पादकानां वाक्यानां सारणम् । समस्तकस्याणगुणात्मकत्वमित्यादिना "समस्तकस्याणगुात्मकोऽसौ खशक्तिलेशाद्ध(इ)तमृतस्(व)र्गः । इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताद्दोषजगद्धितोऽसौ (यः)" (वि. ६. ५. ८४) इत्यादि सारितम् । ईश्वरस्वभावः सर्वोऽप्युभयिकङ्गत्वेन संगृहीत इत्यभित्रायेणोक्तम् सर्वमैशं स्वभाविमिति । स्वमेव रूपमित्यादिना, ''समस्तशक्तिरूपाणि तत् करोति जनेश्वर । देवतिर्यव्यक्त

<sup>2</sup> माहारजनं-कुसुम्भरागरिक्षतमः

तदिदमाइ, ''अजायमानो बहुषा विजायते'' (उ. ना.) इति श्रुतिः। इतरपुरुवसाधारणं जनम अकुर्वन् देवादिरूपेण स्वसङ्करपेनोक्तप्रक्रियया जायत इत्यर्थः। 'बहूनि मे ब्यतीतानि जनमानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि', 'तदाऽऽत्मानं सुजाम्यहम्' 'जनम कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेचि तत्वतः' इति पूर्वायराविरोधाच ॥ ६ ॥ जनमकालमाइ—

यदायदा हि धर्मस्य ग्रह्मानिर्भविति सारत । अभ्युत्धानसवर्भस्य तदाऽऽत्मानं स्वजात्यद्वस् ॥ ७ न कालिनयमोऽस्मत्संभवस्य । यदा यदा हि धर्मस्य वेदोदितस्य चातुर्वण्येचातुराश्रम्यव्यवस्यपाऽवस्थितस्य कर्तन्यस्य ग्रह्मानिर्भविति, यदा यदा च ताद्वपर्धयस्थाधर्भस्यास्युत्थानम् तदाऽद्दमेव व्यास्या(दि)चेष्टावित्त स्वलीलया ॥'' (वि. ६. ७. ७१) इत्यादि भगवत्यश्रास्यचनं स्मारितम् । अजत्वश्रुत्या स्मृतिरियं वाध्येतेत्यलाह तदिद्माहेति । अजायमानत्वज्ञायमानत्वोक्त्या व्याहतत्वादन्य-परेयं श्रुतिरित्यलाह इतरेति । अजायमानः इति सामान्यनिषेषो "बहुधा विजायते" (पु.) इति विद्योषविधिसित्त्रधानात् सङ्कुचितविषयः । अतो विरोधे शान्ते तात्पर्यान्तरं न करुप्यम् । न चेदं 'बहु स्वाम्' (छा. ६. २. ३ ; आ. ६. २) इतिवत् जगदूपेण वहुभवनम्, "तस्य धीराः परिजानित् योनिन्" (पु.) इत्यनन्तरवावधेर्मुस्कृणामत्यन्तोपकारकावतारहत्त्यज्ञानस्य वक्तुमुचितत्वात् , अस्य च तदैकार्थ्यादिति भावः । सत्यमिथ्यात्वाभ्यां विरोधपरिहारशङ्कां प्रतिक्षेष्वम्, 'प्रद्वति सामधिष्ठाय' इत्यस्य विम्रहपर्त्वे, मायाश्चव्यस्य ज्ञानपरत्वे च हेत्वन्तरमाह बहुनीति । वेद, सृज्ञामि, दिष्यम् इति शब्दिजन्मनो बुद्धिपृथ्वेत्रच्छामालकृतत्विद्यस्वादिनि प्रतीयन्ते । मायादिशब्दस्याविद्यादित्यम् सर्ववेदित्वम् ; नापि मिथ्यामृते स्वर्धव्यदः ; न च त्रिगुणपस्तस्य विद्यस्वमिति भावः ॥ ६ ॥

खसङ्करपेनोक्तप्रकारेणाऽऽत्मानं सजामि ॥ ७ ॥ जन्मनः प्रयोजनमाह—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे ॥ ८ साधवः उक्तलक्षणधर्मश्रीलाः वैष्णवाग्रेसरा मत्समाश्रयणे(ण)प्रवृत्ता मनामागुणकर्म स्वरूपाणां वाब्यनसागीचरतया महर्शनेन विना स्वात्मधारणपोषणादिकमळभमानाः श्रणमातकालं करपसदसं मन्वानाः प्रशिथिलसर्वगाता भवेपूरिति मत्स्वरूपचेष्टिताबलोकः नालापादिदानेन तेषां परिलाणाय तद्विपरीतानां विनाशाय च श्वीणस्य वैदिकस्य धर्मस्य

तस्य नित्यत्वात् ; आत्माश्रयादिपसङ्गाच । नापि जीवविषयम् ; तस्य प्रकरणासङ्गतत्वात् ; नाप्याद्य-विमहविशिष्टस्वात्मविषयम् ; तस्यापि रूपस्य नित्यत्वात् ; अतोऽवतार्विमहविशिष्टस्वात्माऽत् आस्मान-मिति निर्दिश्यत इत्यभिप्रायेणोक्तम् उक्तप्रकारेणेति ॥ ७ ॥

किमर्थिमिति प्रश्नस्योत्तरमुच्यत इत्याह जन्मन इति । साधुशब्दोऽत नासमर्थादिविषयः, दुष्कु-च्छन्द्रपतिथोगिरूपरवात् । अतः सुक्रुतिविषयोऽयमित्यभिष्रायेणोक्तम् **उक्तस्थणधर्मशीसा** इति । उक्तरुक्षणशब्देन वेदोदितस्य इत्यादि परामृश्यते । ये पुनरुक्तरुक्षणधर्मेण देवतान्तराण्येव उपासते ; ये च वैष्णवाः प्र**तर्दनविद्या**[दि]न्यायेन तत्तद्देवताविशिष्टवेषेणैव भगवन्तस्पासते : न तेषामवतार प्रदर्शनेऽत्यन्तिनिबन्धः ; तत्तद्देवताकङ्च्रिकतवेषेणैव तद्पेक्षितसकरुप्रदानीपपत्तेरित्यभिष्रायेणोक्तम् वैष्ण-वाग्रेसरा इति । भगवद्भक्तवर्या इत्यर्थः । उक्तलक्षणधर्मश्रीला इति, वैष्णवाग्रेसरा इति पदाभ्यां "न चलति निजवर्णधर्मतो यः" (वि. ३. ७. २०), "वर्णाश्रमाचारवता" (वि. ३. ८. ९) इत्यादि स्चितम् । यथावस्थितमुपायं पाप्यं चावलम्बमाना इति च फलितम् । त्राणं हि नाम अत अनिष्ट-निवर्तनपूर्वेकेष्टपापणम् । एवंविधवैष्णवाम्रेसराणाम् अनिष्टश्च भगवद्कामः : तत्समाश्रयणपूर्वकतल्लाभेनैव च तस्यानिष्टस्य निवर्तनिमत्यभिषेत्योच्यते मन्समाश्रयणे(इ)त्यारभ्य, आस्रापादिदानेनेत्यन्तम् । न हि अमीषामन्नपानताम्बूलादि धारणपोषणादिकम् , किंत्वहं क्रूष्ण <sup>1</sup>एव सर्वमित्यभिषायेणोच्यते **महर्शनेन** विना स्वात्मधारणपोषणादिकमुक्तभमाना इति । अद्रशनं चानिष्पन्नयोगावस्थत्वात् । यद्यभी मत्साक्षात्कारात्पूर्वमल्पं काछं छोचने मीलियत्वा सहेरन् , तदा अहमिप तादृशी तेषामवस्थां सहेयापि, न त्वेते तथेत्यभिपायेणोक्तं **भ्रणे**त्यादि । "त्तुटि युगायते त्वामपश्यताम्" (भाग. १०. ३१. १५) इत्यादिकमिह भाव्यम् । अदर्शनदः, खस्य च चरमावस्थोच्यते प्रश्निश्चिस्तर्मवंगाला भवेपुरिति । स्रविस्टेष-परिक्रिप्रानामुज्जीवनाय प्रवृत्तस्य कमात् भक्तानुभाव्याकारा उच्यन्ते मरस्वरूपचेष्टितावस्रोकनाः लापादिदानेनेति । न बपर्वापुखादिवत् अवतारमन्तरेण स्वसंकल्पमालेणै[व]तद्दातुं शक्यमिति भावः। द्वाणाय इत्यत्नोपसर्गेण विविधानिष्टनिवृत्तिपूर्वकविविधेष्टपाप्तिः स्वितेत्यभिषायेण स्वास[गुण]-

विकं **धारणेत्या**दिकं स्वरूपचेष्टितेत्यादिकं चोक्तम् । स्वरूपमत विग्रहः । एवं साधूना-भयात्परित्राणमुक्तम् ; अथ तेषामेव बाह्यभयात्परित्राणमुच्यत इत्यभित्रायेणाह तद्विपरीतानां

च्यां शोरु परहु नीर् तिथु वेटिछैयुमैछां कण्मन्" (तिइ. 6. 7. 1.)

मद्राराधनरूपस्याऽराष्यस्वरूपप्रदर्शनेन् स्थापनाय च देवमतुष्यादिरूपेण युगेयुगे संभवामि । कृतत्रेतादियुगविशेषनियमोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

जन्म कमें च में दिश्यमेवं यो वेक्ति तरवतः । त्यक्त्या देई पुनर्जन्म नैति मामेति कोऽर्जुन ॥
एवं कर्ममृलहेयत्रिगुणप्रकृतिसंसर्गरूपजन्मरहितस्य सर्वेश्वरत्वसार्वेश्यसत्यसङ्करणस्वादिसमस्रकरयाणगुणोपेतस्य साधुपरिज्ञाणमत्समाश्रयणैकत्रयोजनं दिश्यम् अप्राकृतं मद्साधारणं मम जन्म चेष्टितं च तत्त्वतो यो वेक्ति, स वर्तमानं(न) देहं परित्यज्य पुनर्जन्म
नैति, मामेव प्रामोति ।

विनाञ्चाय चेति । चकारोऽन्वाचवार्थः । इदमध्युक्तमन्तरादित्याधिकरणभाष्ये, "साधवो बपासकाः, तत्परिताणमेवोद्देश्यम् : आनुषङ्गिकस्तु दुष्कृतां विनाशः : संकल्पमात्रेणापि तद्वपतः (१. १. २ १) इति । भागवतापराघो हि दण्कृत्यकाष्ठेत्यभिषायेण तृहिष्यशिक्षान्।भित्यक्तम् । "रिपणामपि वत्सळः" (रा. यु. ५०, ५३), "मच्छौस्तं रणे ज्ञान्तस्ततः पूतो भविष्यसि" (रा. यु. ४१. ६८) इतिवत् दण्क्रतामि विनाशो नात्यन्तविनाशः ्रीतु वैपरीत्यहेतुमृतराक्षस्यभृतिशरीर्त्रमध्यादि[वि]निवर्तनम् ; तनिवृत्तौ च तेषामपि धार्मिक सोऽपि **धर्मसंस्थापन**पर्यवसितः । मच्छेषभृतमाराधनं मयैव हि स्थापनीयमित्यभित्रायेण मद येत्युक्तम् ॥ अनुष्टानमुखेनोषदेशमुखेन च धर्मप्रवर्तनं व्यासा-ाक्त्युत्पादनमवतारासाधारणप्रयोजनम् । पर**३शतपरुषवादी**-दिद्वाराऽपि शक्यम् ; आराध्य ा जन्मत्रयश्रतः शिक्ष्णकोडपि हि कृष्णद्दीनेन शीतिमान् मृत्वा मुक्ति गत इत्यभिष्रायेण आराष्य-स्वरूपप्रदर्भनेनेत्युक्तम् । ''रूपौदार्थगुणैः पुंसां दृष्टिचिचावहारिणम् '' (रा. अ. ३. २९) इत्यादि च भाव्यम् । एतेन धर्मस्य सम्यवस्थापनं हि स्वपर्यन्ततया स्थापनिषद्यक्तं भवति । युगेयुग इति वीप्सा-तारप्रे व्यनक्ति कृतभेतुःदीति । न तु प्रतियुगमनव्यं संभवामि, नापि युगविशोषनिर्वन्य इति भावः ॥८ ्र <u>प्राप्त</u>ित्याथात्म्यकथनस्य परमप्रकृतमोक्षोपयोगित्वमुच्यते **जन्म कर्मे**ति श्लोकेन । ोत्यादिनोक्तप्रकारेणेत्यर्थः । दिस्यमित्यस्यैवार्थः अप्राकृतमिति । मदसाधारण-ाजायेय' (आ. ६) इत्यक्तजनमञ्यवच्छेद: । वह्नचौष्ण्यादिवतः धर्मिमाहकप्रमाण-ाध्य प्रकारों न तर्कवाध्य इति च भाव: । "जन्म कर्म च में दिव्यम " इत्यक्ते क्यादेतुम्तं) पुण्यमपि किमस्तीति शङ्काव्युदासाय चेष्टितमिति व्याख्यातम् । यरहितमित्यर्थः । देहं परित्यज्येत्यक्ते शारव्यकर्मपर्यवसानदेहं परित्यज्येति व्यवच्छेदाय वर्तमान(नं)देहं परित्यज्येत्युक्तम्। एतच यो वेति स . वावस्थापेक्षया पुनर्जन्मप्रतिषेघात् फल्तिम् । पुनर्जन्म नैति इत्यनेन नीतीष्ट्रवासिः । न केवलं विरोधिनिवृत्तिमातेण स्वात्मानन्दानुभवमात्रम् . व प्राप्नोतीत्यवधारणार्थः । ननु वर्तमानदेहं परित्यज्येत्यादि अयुक्तम् , 

मदीयदिन्यजनमचेष्टितयाथात्म्यविज्ञानेन विश्वस्तसमस्त्रमरसमाश्रयणविशेधिपावः असिक्षेत्र जन्मति यथोदितप्रकारेण मामाश्रित्य मदेकप्रियो मदेकिचतो मामेव प्रामोति ॥ ९

तदाह---

बीतरागमयक्रीया मन्मया मामुपाश्रिताः । बहुवी ज्ञानतपसा पूता मङ्गावमागताः ॥ 10 मदीयजनमकर्मतस्वज्ञानारूयेन तपसा पूता बहव एवं संवृत्ताः ।

न नियम: : व्यासादिष्वनियमदर्शनात । न च जन्मकर्मज्ञानमातान्मोक्षः, दीर्घकाळनेरन्तर्यादरसेव-नीयदण्करधर्मज्ञानान्गृहीतोपासनशास्त्राधिनैर्थवयपसङ्गादित्यताह मदीयेति । दिव्यजन्मचेष्टितज्ञानेन जवासनविरोधिनां समस्तानां पावानां निष्ठतत्व।दस्सिन्नेव जन्मनि जन्मान्तरारम्भकपापांशप्रशमनसमर्थ-पण्कलोपासननिष्पत्तेने जन्मान्तरपरिग्रहः । सर्गन्त च 1'विनिष्पन्नसमाथिस्तु सक्तिं तत्तेव जन्मनि' (वि. ह ं ७, ३५) इति । एवंचोपासनपौष्करुयहेतुत्वयाऽस्याभिधानात् परम्परया मोक्षसाधनत्विमिति नोपा-सन्जास्त्रवैयर्थ्यमिति भावः । यथोदितप्रकारेण मामाश्रित्येति पुष्कलध्यानावस्थोच्यते । मदेकप्रिय इति तु भक्तिरूपापन्नतोक्तिः। अहमेक एव क्षित्र क्षेत्रके प्रयस्यस्य स्रोदेकप्रियः ; 'प्रियो हि ज्ञानि नोडत्वर्थमहम् ' (७. १७) इति वस्यते । एन्।सम्बद्धाः ्दः । **मदेकचित्त** इति समा-ध्यवस्था । मय्येकस्मिन्नेव चित्तं यस्य स **मदेश**िण्यकीनेन उपासनवैयर्थ्य[मित्य]ादिशङ्कोत्तरत्वेन योऽत्रमय रे.स., अयन्**य वीतराग** इति स्रोकेनोच्यत

इत्याह तदाहेति । तदेव पूर्वअस्तुतं ज्ञानिमह ज्ञानतपसेत्युच्यते : मन्मयंश्वे पाश्रिता इति त परम्परया तत्साध्यज्ञानमित्यभिषायेणाह मदीयेति ।

> ग्रभी ıq.

> > 4),,

**કેવ-** (()

₹₹-,,

light !

अस्य श्लोकस्य पूर्वश्लोके व्याख्यातपायत्वात् एवं संवृत्ता इति संप्रहेणे किम् । तथाहि-ज्ञान-तपसा पता इत्यस्यार्थो मदीयेत्यारभ्य पाप इत्यन्तेन प्रपश्चितः । मामाश्चितः इत्यनेन मासपात्रिताः इत्यत्यार्थ उक्तः । मदेकप्रियः इत्यनेन चीत्रशामयकोधाः इत्यत्यार्थोऽभिष्रे प्रीतिहिं रागः : तद्विरोधिष निरसनेच्छा क्रोधः : आगामीष्टविरोध्यनिष्टागमोत्प्रे खिळमपि न वासुदेवभक्तानामस्ति, तदेकप्रियत्वेन विषयान्तरे रागाभावात : त भावात : तल्लामाळाभव्यतिरिक्तेष्टानिष्टामावेन भयाभाव च । इदं च. " न के (वि. स.) इत्यादिषु प्रसिद्धम् । मदेकचित्तः इति मन्मयाः इत्यस्यार्थः। मन्मयाः तादात्म्यविकारार्थयोरत्नानुपपन्नत्वातः अन्तर्यामित्वविवक्षायां **मन्मया इत्यल, 'ईश्वरामेददर्शिन:' इति शङ्करो**क्तं शास्त्रोपक्रमादिविरोघात इ

तिष्पन्नसमाध्यः दर्शनसमादाकारज्ञातवन्तः। तैषां जन्मान्तरम ताररहरू चिन्तनं जन्मान्तरनिरोधीति संकल्पसर्योदये परुषं प्रति संकर हपासने प्रारब्धनिवर्तनसामध्योधानद्वारेशि अहोक्तम । एवस्भृतोप रिति । तदधेमैच विराष्ट्र : न त अन्तिमप्रत्ययादिविवक्षया । मवकः

तथा च श्रुतिः, ''तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्'' (उ. ना) इति । धीराः—धीमता-मग्रेसरा एवं (एव) तस्य जन्मप्रकारं जानन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

1ये यथा मां प्रपण्यते तांस्तथेव भजास्यहम्। मम वत्मांत्रवर्तन्ते मतुष्याः पार्थ सर्वशः ११ न केवलं देवमतुष्यादिरूपेणावतीर्य मत्समाश्रयणापेश्वाणां परिवाणं करोमि, अपि तु ये मत्समाश्रयणापेश्वाणां परिवाणं करोमि, अपि तु ये मत्समाश्रयणापेश्वा थथा—येन प्रकारेण खापेश्वानुरूपं मां संकरप्य प्रपण्यते—समाश्रयन्ते; तान् प्रति तथेव तन्मनीपितप्रकारेण भजामि—मां द्श्यामि । किमत्र बहुना, सर्वे मनुष्याः खन् । मामेव प्रामोतीत्यनेन मद्भावमागताः इत्यस्यार्थो द्शितः । मुक्त्यवस्थायामपि तादात्म्यस्य श्रुतिस्पृतितदर्थोपत्तिस्त्वादिविरुद्धत्वात् , अवापि 'मामेति सोऽर्जुन' इति कर्मकर्तृत्यपदेशात् , 'मम साधर्म्यमागताः' (१७. २) इति परसाद्धस्यमाणत्वाच मद्भावमागताः इत्यस्य मत्स्वभावमपहतपाप्मत्वादिकं प्राप्ता इत्यर्थः । यद्वा 'ब्रह्मैव भवति' (मृ. ३. २. ९) इत्यादाविवात्यन्तसाम्यात् तद्यपदेशः । अवताररहस्यस्य च ज्ञातव्यत्वे श्रुतिरप्यस्तीत्याह तथा चेति । उक्तार्थसंवादित्वं विवृणोति—धीमतामग्रेसरा इत्यादिना ।

एवं धीरशब्दिनिवेचनेन प्रागुक्तमगबस्याप्तिपर्यन्ताभङ्गुरज्ञानवत्त्वमुक्तं भवति । परिज्ञानन्ती-त्यत्रोपसर्गेण पूर्वोक्तयथावस्थितप्रकारोऽभिषेत इति ज्ञापनाय एवं तस्य जन्मप्रकारं जानन्तीस्युक्तम् । धीमतामग्रेसरा एवेति पाठे तु विशेषविधेः शेषनिषेधः फलित इति भावः ॥ १० ॥

एवं साधुपरित्राणावर्धदेवमनुष्यादिसजातीयस्वेच्छावतारवर्णनमुख्तेनोपासनोपयुक्तं स्वस्य सौळभ्यमुक्तम् । अथ तस्यैव काष्ठापासां दशां दशयित ये यथेति क्षोकेन । अत्र कृष्णानतारवृतान्तेन सह
अर्चावतारवृत्तान्तोऽपि संगृहीतः । ये यथा, तांस्तथैवेति शृव्दाः पूर्वोक्ताधिकारितदनुष्ठानप्रकारादिनियमनिवृत्तिपरा इत्यमिप्रायेणाह न केवल्रमिति । स्वापेक्षानुस्त्रप्रमिति पतित्वपुत्रत्वसार्थित्ववाराहनारसिंहादिप्रक्रिययेथ्यर्थः । सङ्कर्ण्य मनोरथिवषयं कृत्वेत्यर्थः । एतदेवाल प्रपदनमित्याह समाश्रयन्त
हति । 'तांत्रथैल- सजान्यस्यः' स्टल्य तद्भजनप्रकर्णाहमपि तान् भजामीत्येत्वसङ्गतमिति शङ्कानिरासाय
तथैवेत्यस्यार्थमाह तन्मनीपितप्रकारेणिति । न तु सक्तियपर्रवानुरूपप्रकारणिति स्पावः । अत्र
यथामिल्यपितफलप्रदानेन पक्षपातपरिहारार्थस्यं परोक्तं पूर्वोत्तराभ्यां नात्यन्तसङ्गतम् , 'वातुर्वर्ण्यम्' (१३)
इत्यादिना अर्थतः पुनरुक्तिश्च स्वात् । सेवकान् प्रति सेव्यस्य मजनं नाम सुल्यस्वर्शनत्वमित्यमिप्रायेण
मां दर्श्वपामीत्युक्तम् । उक्तार्थस्य लोकेऽपि प्रदर्शनपरमुत्तरार्थम् । न पुनः 'यदि सहं न वर्तेयम्'
(३. २३) इत्यादाविव सस्य लोकानुविघेयानुष्ठानवत्तवरम्, तस्येहासङ्गतत्वादित्यमिप्रायेण वाक्षनसागोचरसौल्ययस्य विवृत्योति किमतः बहुनेति । मनुष्यशब्दः स्व्यादीनामपि संमाहक इत्यमि-

मद्भावप्राप्तिक्रप्रभोक्षमातं फलमिति नः ऐहिकानुभवमपि वर्धयामि । तिर्दृष्टसर्वप्रकारेण च अनुभावयो भवामीत्यर्थवर्णने अवताररहस्यचिन्तनशैषत्वं श्लोकस्य । अत्र तु प्रधानार्थसंबन्ध उक्तः ।

मद्जुवर्तनैक्स्मनोरथा मम वर्त्त — मरस्वमावं सर्वे योगिनां वाङ्मनसागोचरमपि सकीवैश्रक्षु-रादिकरणैः सर्वशः स्वापेक्षितैः सर्वश्रकारैरनुभृयातुः(१)वर्तन्ते ॥ ११ ॥

प्रायेण सर्वशब्दः । अस्त वर्सशब्दो न <sup>1</sup>साक्षात्सरणिवाचकः, असक्षतवावयार्थरवपसक्षात् । नाप्याचारपः, तत्याप्यलासक्षतत्वेनोक्तद्वणत्वात् । अत एव "एवं प्रवित्तं चक्रम्" (३. १६), "तेनैव स्थापिता ब्रह्ममर्थादा छोकभाविनी" इत्याद्युक्तशास्त्रमर्थादानुवर्तनपरत्वमपि निरस्तम् । अतोऽत्व सौक्रम्योपदेशप्रकरणे खासाधारणविश्रद चेष्टासौशीच्यादिस्वभावसमुदायपरत्वमेवोचितमित्यभिपायेणोक्तं मम वर्सम मन्द्वभावं सर्विति । सरणिवाचक्रमपि हि शब्दमुपचारात् स्वभावविषयतया प्रयुक्तते । यथा "कोऽवं पन्था यदिस विमुखो मन्दमाये मधीत्थम्" इति । मनुष्या इत्यनेन स्वितमुच्यते योगिनामिति । योगपरिगुद्धमनसां वाध्यनसारोचरमपि मांसचक्षुषो मनुष्या बास्त्रेन्दियस्यनुभवन्तीत्याहं । प्रियतमपिनुपुत्रसुद्धहृद्धानुभुत्यसारिश्वतादिक्षपणि अर्चावतारक्षपणि च सर्वशः इत्यनेन विवक्षितानीत्याहं स्वापेक्षितिति । श्वापुत्रानु(१)वर्तन्ते अनुभवन्तो वर्तन्त इत्यर्थः । अल्ब्हरणयात्रोत्सवसेवादिर्विऽन्त प्रकारः । वर्ष्यति च भगवान्, 'सुनैश्रविर्विः स्वर्यति च भगवान्, 'सुनैश्रविर्विः स्वर्यति च भगवान्, 'सुनैश्रविर्विः स्वर्यति च भगवान्, 'सुनैश्रविर्विः स्वर्यति स्वर्यति च भगवान्, 'सुनैश्रविर्विः सार्यवित्रात्रिक्तरित् । पर्यतोऽपि पाण्डवस्थो-पासिसिषापूर्वर्थे कर्ष्योवत्वाऽप्युवदिदेश ।

नन्वेतावताऽपि चोद्यानुमानतर्काणां कः परिहार उक्तो भवति ? ॥ तदुच्यते — हेयप्रत्यनीकः स्रयं ह्यं कथमुपाददीतेति चोद्यम् अवतारादेर्ह्येय्वामावादेव निरस्तम् । तदमावश्चाकर्मवश्यरवापाकृतत्वस्वेच्छा-कृतत्वादिमिः । पुण्यपापाद्यमावे नियन्त्वन्तरामावे च कथं जन्मादीत्येतदिप स्वेच्छ्या परिहृतम् । हिताहिताज्ञानाशवन्त्यादिचोद्यमकर्मवश्यरय छीळ्याऽवतरतोऽस्याहितामावात् तदज्ञानाभावाच निरस्तम् । प्रयोजनामावचोद्यं तु साधुपरिलाणादिप्रयोजनवर्णनेनापाकृतत् । यतु साधुपरिलाणादौ सङ्करपमालेणार्षि शक्ये किमवतारादिनेति, तदिप 'परिलाणाय साधूनाम्' (८) हत्यत् सन्धामेत्यारम्य खाखापादिदानेने तेषां परिजाणावेत्यन्तेन भाष्येण, 'धर्मसंस्थापनार्थाय' हत्यत्व आवाध्यस्वरूपप्रदर्शनेनेत्यनेन, ये यथा (११) हत्यत्व सर्वसाधारणवसीळभ्यातिरेकपदर्शनेन च परिहृतम् । यदुक्तम् ईश्वरो न वस्तुतो जन्मादिमान् अकर्मवश्यरवात् सुक्तात्मविति–तलेश्वरान्युपगमानभ्युपगमयोधिर्मिमाहक्वाधाश्यासिद्धौ । किंच किमत्व कर्महितुकजन्मादिरहित इति । साध्यार्थः ! उताकर्महितुकजन्मादिरहित इति ? अथवा सामान्येन जन्मादिमालरहित इति ? न प्रथमः, सिद्धसाधनात् । न द्वितीयः, हेतोरप्रयोजकत्वात् । न हि कर्मनिवृत्तिरुकर्महितुकं जन्मापि निवर्तयति । निषेध्यस्वरूपसर्पक्रममाणेन वाधश्च; यथाऽमेर-

मम चर्म-मत्प्रापकं भक्तिप्रपन्तिक्षयमार्गिमत्युक्तौ सर्वमनुष्यप्रदणं न स्पादिति ।

अनुवर्तन्त इत्यत्र अनु इत्यस्य अनुभूषेत्वर्थस्योक्तत्वात् पुनः अनुशन्द्रपयोगः भाष्ये दीकायाञ्च न स्थात् ।

# इदानीं प्रासिङ्गकं परिसमाप्य प्रकृतस्य कर्मयोगस्य ज्ञानाकारताप्रकारं वक्तुं तथाविध-कर्मयोगाधिकारिणो दुर्लभत्वमाइ—

काङ्क्षम्तः कर्र्रणां सिर्द्धि यजन्त इह देवताः । क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

नौष्यानुमाने । न तृतीयः ; दृष्टान्तस्य साध्यविकळस्वात् । मुक्तस्यापि हि शरीरपरिम्रहः, "जक्षत् क्रीडन् रममाणः" (छा. ८. १२. ३), "स एकघा भवति त्रिया भवति" (छा. ७. २६. २) इत्यादिश्रुतिसिद्धः ॥ तर्हि मुक्तोऽपि पक्षीक्कत इति चेत् , तदा को दृष्टान्तः १ घटादिरिति चेत्र ; तत्र शरीरपरिमहाद्यभावस्य अचेतनस्वोपाधिकत्वात् । एतेन-च्यो जन्मादिमान् स कर्मवश्य इति व्यतिरेको-ऽपि मझः ॥ यस्त्वीश्वरनियोगाविषयत्वादिति सोऽपि प्रथमेन तुरुवार्थः ; पुण्यपापनिरूपकशास्त्रस्यै-वेश्वराज्ञारूपत्वात् । यतु तत्कारणरहितत्वात् , यो यत्कारणरहितः, न स तद्वानिति—तदप्यसत् ; उपादानकारणविवक्षया प्रयोगे त्वप्राकृताकर्मनिमित्तावतारोपादाननित्यविद्रहसद्भावोपपादनात् हेत्वसिन्हेः । निमित्तविवक्षया प्रयोगे तु संकल्पादिनिमित्तोपपादनात् । सामान्यविवक्षाऽपि तत एवोक्तोत्तरा । एवं संकुचितज्ञानशूरयत्वादित्यादिष्विप धर्मित्राहकवाधादिकं भाव्यम् । साध्यप्रयोजनरहितत्वादित्यत्र हेत्यसिद्धिश्च, साधुपरित्राणकीलादिपयोजनस्योक्तत्वात् । तथाऽपीदानीतनं सुसं तदा (पाक्) नास्तीति तेनांशेनापूर्णत्वं प्रसञ्यत इति चेत् — नेदमपूर्णत्वम् ; इष्टविघाताभावात् । इच्छाकाले च तिसद्धेः । तदानीमि यदीच्छेत् , सिःयेदिति योग्यतासङ्गावात् , उत्तरकालीनस्यापि तस्य प्रागपीश्वरेण सर्वज्ञेन खसुखतयाऽनुसंधीयमानत्वात् । एवमतीतेऽपि भाव्यम् । भिन्य्यतोऽपि सुखत्वेन प्रकाशमानत्वे किमर्था तत्रेच्छेति चेत् , उत्पत्त्येथेति ब्रूम: । तया किं प्रयोजनमिति चेत्—सैव । सा तर्हि पूर्वोत्तरकाळयो-नीस्तीति तयोः कालयोरपूर्णत्विभिति चेन्न, तत्कालीनतया तयैव सर्वदा ज्ञायमानया पूर्णत्वात् । ननु कस्यचिदिष्यमाणत्वं तद्रामे दु:खादिति चेन्न, त्लाभस्य प्रयोजनत्वेनैव तद्रपपते: । अशक्तस्य हि तदिच्छतस्तदसिद्धेर्द्वः नायते ; शक्तस्य त तदिच्छैय तत्यस्तरं पूप्यतीति न संकटं किचिदिति ॥ एतेन साध्यप्रयोजनरहितत्वे हेतौ मुक्तदृष्टान्तोऽपि साधनविकलः, 'जक्षत्कीडन्' इत्यादिश्रुतेः ॥ ये तु परमसाम्यापन्नदृष्टान्तेन सर्वज्ञत्वादित्यादिहेतवः, तेप्विप साध्यविकल्पत्वादिद्रोषः समानः । प्रसङ्गाश्चानः मानवत् व्यासचाद्यभावेन द्षिता इति ।

तदेवं सिद्धं — जन्मादिकमीश्वरस्य सत्यम् , तत्प्रतिपादकं च वचः प्रमाणमिति । यतु अवतारेषु दुःखशोकभयादिकं कचिदुच्यते, तद्स्यापहतपाप्मत्वादिवलात् "तेन वश्चयते लोकान्" (भा. उ. ६७. १५) इत्यादिवचनवलाचाभिनयमात्रं मन्तव्यमिति ॥ ११ ॥

एवमध्यायार्थतयाऽभिहितेषु पर्दु प्रसङ्घकं प्रासङ्गिकं चोक्तम् ; अथ प्रकृतस्य कर्मयोगस्य ज्ञानाकारताप्रकारं वक्तुं तदुपोद्घाततया षर् छोकाः प्रवर्तन्ते । तल्लाधिकारिविषयाश्चरवारः, कर्मस्वरूप-विषयो द्वावित्यवान्तरविषयविभागः । तदिदम्भिप्रयन् प्रथमं छोकमवतारयति इदानीमिति । काञ्चन्तः

सर्व प्रवाश कर्मणां फलं विश्व ह्याणाः (कांश्वन्तः ?) इन्द्रादिदे नतामात्रं यजनते— आराधयन्ति, न तु कश्चिदनिभसंहितफलः इन्द्रादिदेवतात्मभूतं सर्वयञ्चानां मोक्तारं मां यजते । इत एतत् ? यतः श्चित्रमस्मित्रेव मानुषे लोके श्विक्ता पुत्रपश्चनाद्यादिलिद्धिर्भवति । मनुष्यलोकस्वन्दः खर्गादीनामपि प्रदर्शनार्थः । सर्व एव लौकिकाः पुरुषा अश्वीणानादि-कालप्रवृत्तानन्तपापसंचयतया अविवेक्षिनः क्षिप्रफलाकाङ्क्षिणः पुत्रपश्चनाद्यस्तार्थितया सर्वाणि कर्माणीन्द्रादिदेवताराधनमात्राणि कुवैते ; न तु कश्चित् संतारोद्विग्रहृदयो सुसृक्षुः उक्तलक्ष्यणं कर्मयोगं मदाराधनभृतमारभत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

इत्यत्र विशेषनिर्देशाभावात् **सर्व एव पुरुषा** इत्युक्तम् । ये मुमुक्षुतया संभाव्यन्ते, तेऽपि हि प्रथमं तिवर्गप्रवणा इति **एवकारा**भिप्रायः । **क्रमेणां सिद्धिम्** इत्यत कर्मस्ररूपसिद्धिराङ्काव्युदासायोक्तम् फुल्पूनिति। इहराव्दामिषेतमाह इन्द्रादिदेवतामात्रमिति। <sup>अ</sup>हह या देवतात्वेन प्रतीयन्ते, ता इत्यर्थः। 'यज देवपूजायामि'ति धात्वर्थव्यञ्जनाय **आराधयन्ती**त्युक्तम् । एतेन तत्तद्देवताराधनम्तानां दानहो-मादीनामि संग्रहः। सर्वाधि कर्माणीत्यनन्तरमेतत् व्यञ्जिययति । व्यतिरेकरूपमाभिपायिकं कर्मयोगाधि-कारिदौर्छभ्यमाह न त कश्चिदिति। सर्वयज्ञानां भोक्ताश्मित्यनेन 'अहं हि सर्वयज्ञानाम्' (९. २४). 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' (५. २९) इत्यादि वक्ष्यमाणं सूचितम् । हेतुपर**हि**शब्दार्थव्यञ्जनाय शङ्कते **इत एत**दिति । महति फले स्थिते क्षुद्रफलाकाङ्क्षा किनिबन्धनेत्यर्थः । **क्षिप्रमानुष्**शब्दाभ्यां कालतो देशतश्चासतिरुच्यते । 'वायुर्वे क्षेपिष्ठा देवता' (यजु. २. १. १) इत्यादिकं **क्षिप्र**शब्देन सारितम् । असिन्नेवेत्यनेन मानुषशब्दफल्तिदेशासतिद्योतनम् । क्षिप्रलामादसिन्नेव लोके लाभाच् क्षुद्रेष्वपि फलेषु प्रथममाकाङ्क्षा स्वादिति भावः । मानुषल्लोकौचित्येन सिद्धि विशेषयति पुत्रवश्चित्वादि । अपवर्गफल-प्रकरणफल्लिमाह **मनुष्ये**ति । अतिशयितफलसद्भावेऽपि क्षुद्रफलाकाङ्क्षायां तदनुषङ्गिदुःखसन्तानानुद्वेगे च हेतुं दर्शयन् कण्डोक्तमाभिपायिकं च सङ्करुय्य वाक्यार्थमाह सर्व एवेति । स्रोकिका इति तिर्वर्ग-प्रावण्यनिदर्शनार्थमुक्तम् । अविवेकितः । अविवेकित्वादित्यर्थः । श्विप्रफलाकाङ्कक्षिण इति क्षुद्रत्व-नश्चरत्वदःखात्रवन्धित्वादिदोषपुङ्जानादरेण 'वरमद्य काकः श्वो मयूरात्' इतिवन्मन्यमाना इति भावः। उपरुक्षणोपरुक्ष्यम्तैहिकामुध्मिकसङ्करनेनोक्तम् प्रत्रपश्चनाद्यस्वर्गादीति । एतेन 'कर्मणां सिद्धिम्' इत्यत्र सिद्धिशब्दः सामान्यविषय इति दर्शितम् । सर्वाणि कर्माणि यागदानहोमादीनि ॥ १२ ॥

अत्र "काङ्क्षम्त" इत्येव पाठः स्थात् ; उत्तरत्न सततं कीतयन्त इत्यत्नेव काङ्क्षमाणश्च-इ-समर्थनात् ।

<sup>2</sup> कर्भजेति ज्ञानजमोक्षसिद्धि व्यावृत्तिः। मोक्षसिद्धिः कर्मयोगप्रयोज्याः न साक्षात् तज्जाः।

<sup>3</sup> इह सिद्धिवित्यन्वयो नापेक्षितः, उत्तरार्धे तदुक्तः। अत इह देवताः इत्यन्वये अवधारणात् प्रकृतिमण्डलमात्रविदेवता इति सिध्यति ।

यथोक्तकमयोगारम्भविरोधिपापश्चयहेतुमाह-

र म्वातुर्वण्यं मया खृष्ट गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमिष मां विद्यवकर्तारमन्ययम्॥ १३ चातुर्वण्येष्रमुखं ब्रशादिस्तम्बपर्यन्तं कृरसं जगत् सत्त्वादिगुणविभागेन तद्तुगुणश्चमादिकर्म-विभागेन च विभक्तं मया सृष्टम् । सृष्टिग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । मयेव रह्यते, मयेव चोषसंद्वियते । तस्य—विचित्रसृष्ट्यादेः कर्तारमप्यकर्तारं मां विद्धिः॥ १३॥ कथमित्यत्राहः—

न मां कर्माण लिम्पन्ति न में कर्मफले स्पृद्धा । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिनं स बष्यते ॥ यत इमानि विचित्रसृष्ट्यादीनि कर्माणि मां न लिम्पन्ति —न मां संबग्नन्ति । न मत्प्रयुक्तानि

नन्वक्षीणानन्तपापसंचयःवं सर्वेषां समम् । ततश्चाविवेकित्वात् क्षिप्रफळकाङ्क्षित्वमिष समानम् । अतः कस्यापि ग्रुमुक्षाविरहान्मोक्षोपायशास्त्रमप्रमाणं स्वादित्याशङ्कय स्रोकद्वयेन तत्परिहारः क्रियत इत्यमिप्रायेणाह् यथोक्तित् । पूर्वस्रोक्तेष्ठ देवतान्तराधीनेषु श्रुद्रफळण्विष सर्वकृतैः सस्येव हेतुत्वं चातुर्वण्येमस्यादिना दर्शितम् । व्यष्टिमुख्यन्वरीतचातुर्वण्येक्षस्तं समस्तिव्यष्टिमुख्यम्वर्धाविमात्यादिना दर्शितम् । व्यष्टिमुख्यन्वरीतचातुर्वण्येक्षस्तं समस्तिव्यष्टिमुख्यम्वर्धाविमान्यायेण् चातुर्वण्येमसुख्यमत्यादिन । वेषस्यनेवृण्यपरिहारमत्वावाय व्यष्टिसुख्युष्ठावानम् । गुणकर्मिवमागशः इत्येतत् प्रवश्चयिव्यमाणसत्त्वादिविभागविषयमित्यमिप्रायेण सत्त्वादीत्युक्तम् । सत्त्वादिमुळ्यात् सर्वव्यापाराणां तदतुगुणेद्वक्तम् । ततः शुद्रे रजः क्षते बाक्षणे सत्त्वसुत्वमम् ' (मा. आश्च. ४०. ११) इत्यादिगुणविभागः, 'बाक्षणक्षित्वयिद्याम् ' (गी. १८. ४१) इत्यादिक्रमितिमागः । स्रमादिकर्मिति शमाचनुष्ठेयमि <sup>श्</sup>रक्कें त्रित्वेद्याचित्राम् ' (१८. ४२) इत्युक्कम्य, 'बाक्षं कर्मस्यभावजम्' इति वक्ष्यते । एवं देवतिर्थव्यनुत्वयादिज्ञातिषु वाराहपाद्येशानकस्यादिषु च पुराणादिषु प्रपश्चितस्यत्वत्र्युणोहिक्तो विषम् सर्वितत्वर्यात्यादिषु सर्व्यातिष्ठ सर्वात्वर्यस्यस्यापि स्वकर्तृकृत्ववचचनात् , "सर्वित्रं कर्तिन्वर्यामि त्वामाविश्च प्रजापते" (वि. घ. ६८. ५१) इत्यादेरर्थोऽप्युक्तो भवति । स्तृतं चतत्त्व, "स्वाम्पतिव्यामि त्वामाविश्च प्रजापते" (वि. घ. ६८. ५१) इत्यादेरर्थोऽप्युक्तो भवति । स्तृतं चतत्त्व, "स्वाम्पतिवर्यामित्वर्विससु विद्यद्वर्वत उपदेशात् " (ब. २. १. १७) इति ॥ १३ ॥

एककार्यापक्षियेकस्येय कर्तृत्वं तदमावश्चेति व्याहतिमत्यिमिश्ययेण चोदयति **कथ**मिति । कर्तृत्वं तावत् मुख्यम् ; अकर्तृत्वं तु वैषम्यप्रयोजकत्वाभावादुच्यत इति व्यक्षयति यत इति । कर्भराव्दोऽल न पुण्यपापविषयः, पृक्कतानुपयुक्तत्वात् इदानीं कर्मवस्यत्वशङ्काभावात्। शक्कितविरोधपरिहारात्मकत्वस्येव युक्तत्वात् , अन्यक्षितविधानादपेक्षितविधानमावस्याच इत्यमिशायेण इमानि विचित्रसृष्टणादीनि कर्माणीत्मक्षक्तम् । न मां लिम्पन्तीत्यत्य मुख्यासङ्गतेर्वेश्वयं तावदाह न मां असंवाहनति । कथमेताववा विरोधपरिहार इत्यत्वाह न मरप्रयुक्तानीति । वैषम्यारो विरोधहेतुत्वं निष्यत्यत इति न विरोध इति

<sup>1</sup> नतु स्वतन्त्रेण प्रजापितना, अनेन प्रसिवध्यध्विति सद्वयञ्चप्रजासृष्टिः कृता । अतः मनिर्मोक्ष प्रवेत्यत्नाद्व चातुरिति । 2 शमशस्त्रोऽनुष्टेथेन्द्रियनियमनपर इति मावः । 3 छेयस्य संबन्ध-विशेषत्यात् वन्धविशेषत्वाभावात् संक्ष्यार्थोचित्याय समित्युपसगः । विषक्षया सकर्मकत्वम् ।

तानि देवमनुष्यादिवैचित्र्याणि । सुज्यानां पुण्यवायरूपकमित्रोषप्रयुक्ताजीत्यर्थः। अतः प्राप्ता-प्र.प्तविवेकेन विचित्रसृष्ट्यादेनीहं कर्ता ; यतश्च सुष्टाः क्षेत्रज्ञाः सृष्टिल्ब्यकरणकस्त्रेवराः सृष्टि-लब्धं भोग्यजातं फलसङ्गादिहेतु[भिः]सक्तर्गानुगुणं सुज्ञते ; सृष्ट्यादि[फले]कर्मफले च वैषामेव स्पृहेति न मे स्पृद्धा । तथाऽऽह सृत्रकारः—वैषम्यनैर्पृण्ये न सापेश्वत्वात् (२. १. ३४) इति । तथा च भगवान् पराग्नरः—"निमित्तमात्रमेवा[यं]सौ सृज्यानां सर्गकर्मणि । प्रधान-कारणीभृता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥ निमित्तमात्रं सुक्तवेदं नान्यत् किःचिदपेश्वते । नीयतैः

भावः । करतर्हि विषमसृष्टेविशेषहेतुरित्यलाह तानीति । उक्तहेतुवशादकर्तृत्वव्यपदेशौचित्यं निगम-यति अत इति । प्राप्ताप्राप्तिविवेकेन पुण्यपापतारतम्यानुगुणसुखदुःस्वादिविषमसृष्टितारतम्यद्शनकृत-विशेषनिष्कर्षेणेत्यर्थ: । यथा विचित्रेव्वङ्करेषु क्षितिजलादीनि सामान्यकारणानि, वैचित्र्यं [तु] स्ववीज-वैच्छिबहेतुकम् , तह्रदिति भावः । एवं विशेषप्रयोजकत्याभावेनाकर्तृत्वमुक्तन् । अथ विशेषसृष्टिकरू निसप्रहत्वेनाकर्तृत्वमुच्यत इत्यभिषायेण न मे कर्मेत्यादिकं व्याख्याति यत्रश्चेति । खत्य स्प्रहानिषेध इतरेषां स्पृहासत्त्वाभिप्राय इति व्यञ्जनाय सृष्टा इत्यादिकमुक्तम् । सृष्टाः क्षेत्रज्ञा इति कर्मनिर्देशेन भोनत्त्वदशापन्नक्षेतज्ञसिद्धचर्था सृष्टिरित्यभिषेतम् । भोनतृत्वोपयुक्ताकार उच्यते सृष्टिलव्धकरणकले बरा इति । न हि मदीयकरणादिलामार्था सप्टिरिति भावः । फलसङ्गादिहेत्तराब्दो बहुत्रीहितत्परुषयो-रन्यतरेण स्वकर्मविशेषकः । फलसङ्कादिहेत्सिरिति वा पाठः । स्वकर्मानुगुणं, न तु तिन्नरपेक्ष-केवलमस्मङ्करुपविशेषानुगुणमिति भावः । कर्मफल इत्यलापि कर्मशब्दः प्रकृतसृष्ट्यादिकर्मविषयः : फलसमावात प्रथमापरूपं कर्म फलितमित्यभिप्रायेण सृष्ट्यादि फिले किर्मफले चेत्युक्तम् । प्रवाहा-नादिबासना[दि]मूळतत्तदिच्छानुरूपं प्रवर्तयन् तत्तदिच्छाहेतुकतत्तत्पृथ्यपापानुगुणं फरूं प्रयच्छामि : न तु स्वेच्छानुरूपं प्रयच्छामि ; नापि स्वातन्त्र्यमालेण विषमं फरूं ददामि ; न च स्वप्रयोजनार्थं परान् पीडयामीत्येतदस्विलम् व मे स्पृहेत्यन्तेनोक्तं भवति । 'अलोपनिषदं पृण्यां कृष्णद्वैपायनोऽन्नवीत् '' (मा. आ. १, २७९) इति पश्चमवेदे गीतोपनिषत्संग्रहीतुः शारीरकस्त्रेणोक्तार्थं संवादयति तथाऽऽ-द्रेति । तत्वितुर्देवतापारमार्थ्यविदो अचनं च दर्शयति तथा चेति । तत्र हि बराहपादुर्भावमभिधाय, "भराद्याश्चत्रो होकान् पूर्ववत् समकरुपयत् " (वि. १. ४. ४९) इत्यन्तेन पृथिवीसमुद्धरणभूपर्व-तादिविभागलोकविभागादिकमुक्तवा, "ब्रह्मरूपघरो देवस्ततोऽसौ रजसा वृतः। चकार सृष्टि भगवाश्चतु-वंक्रधरी हरि:" (वि. ४. ५०) इति चतुर्मुखन्नरीरस्य भगवतो विष्णोः स्वर्गीदलोकान्तर्वर्तिसृष्टिरेव प्रमक्ता । ततो 'निमित्तमालम्' (वि. १. ४. ५१, ५२) इति श्लोकद्वयमुक्तम् । अनन्तरं च "यथा ससर्ज देवोऽ[सौ]यं देवर्षिपितृदानवान् । मनुष्यतिर्थग्वशादीन् मृख्योमस्रळिकौकसः ॥" इत्यादिः । "बिस्तरात् " (वि. १. ५. १, २) इत्यन्तो भैत्रेयमप्रश्लोऽपि देवादिविषमसृष्टिविषय: । प्रतिवनता च भगवता पराशरेण, "मैत्रेय कथयाम्येप शृण्ष्व स्रसमाहित: । यथा ससर्ज देवोऽसौ देवादी-निवसान् विमु: ॥" (वि. १. ५. ३) इत्यारभ्य, "िकमन्यच्छोतुमिच्छिस" (वि. १. ५. २६) इत्य- तपतां श्रेष्ट खश्चक्त्या वस्तु वस्तुताम् ॥" (वि.पु.१.४.५१,५२) इति । सुज्यानां देवादीनां क्षेत्रज्ञानां सुधेः कारणमात्रमेवायं परमपुङ्कः ; देवादिवैधिन्त्रये तु प्रधानकारणं सुज्यभूत-क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तय एव । अतो निम्तिमात्रं सुवन्ता -सुधेः कर्तारं परमपुरुषं सुक्त्या इदं क्षेत्रज्ञवस्तु देवादिविचित्रभावे नान्यद्येक्षते ; स्वगतप्राचीनकर्मशक्त्येव हि देवादि-वस्तुभावं नीयत इस्पर्धः । भ

न्तेनाल्पविस्तरे कृते, पुनरतिविस्तरे मैतेयेण पृष्टे, ''कर्मनिर्माविताः पूर्वैः कुशलाः] कुशलेस्तु ताः । स्त्रात्वा तथाऽप्यनिर्मुक्तास्त्रहारेऽप्युपसंहताः । स्थावरान्ताः सुराचाश्च प्रजा त्रक्षंधतुर्विषाः" (वि. पु. १. ५.२८) इत्यादिना तत्तत्कर्माधीनदेवाहिविषमसृष्टिहिं प्रपञ्चयते । अतः पूर्व।परपर्यास्रोचनया सञ्य शब्देनात देवमनुष्यादयः सञ्यविशेषा निर्दिश्यन्ते ; श्रक्तिशब्देन च तत्तर्कर्मैव । वस्यिति हि कर्म-ण्यपि शक्तिशब्दम् , "अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते" (वि. पु. ६. ७. ६१) इरियादौ । निमित्तमालमिति च नोपादानत्वनिषेधः, ; श्रतिस्मृतिस्त्वपूर्वापरकोषप्रसङ्गात् । अतस्तत्तरकर्भविद्येष-प्रयुक्ततचा अकरणोदितविषमसृष्टे वैषम्यांशं प्रति पाधान्यमनेन निषिध्यते, ''मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमालं भव सन्यसाचिन् " (गी. ११. ३३) इतिवत् । "प्रधानकरणीमूता यतो वै सज्यशक्तयः" (वि. १. ४. ५१, ५२) इति ब्रह्माप्युच्यते । नन्वेवं सति अप्रधानत्वनीश्वरस्थोक्तं स्वात् । तदपि सुत्नादि-विरुद्धम् । कर्तृत्वविरुद्धं चः 'खतन्तः कर्ता' (अष्टा.१.४.५४) इति हि कारकचकं प्रति प्राधान्यं कर्तृरुक्षणं सरिति । अतोऽयं प्रधानशब्द उपादानपर इति चेत् — तन्न ; िन्निकेटव नैययुन्य निविरेधात् । उपादाने करणशब्दानौचित्याच । न चाखातत्व्यप्रसङ्गः, विशेषप्रयोजकत्य करणमृतस्यादृष्टस्यापि तत्सा-पेक्षत्वात् । अतो द्वितीयश्चोकेनापि साधारणकारणतयेश्वराकाङ्क्षणमसाधारणकारणान्तरनैरपेक्यं चोच्यते । तदेतद्खिलमभिष्रेत्य क्षोकद्वयं व्याक्याति सृज्यानामिति । सञ्यशन्दस्य प्रकरणविशेषितोऽर्थः क्षेत्र-**द्याना**मित्यनेनोक्तः । निमित्तशब्दस्याबोपादानसहपठितनिमित्तपरत्वव्यदासायाह **कारणमात्र**मिति । 'सुज्यशक्तयः' इत्यत्न समानाधिकरणसमासभ्रमन्युदासाय सुज्यभृतेत्यादि उक्तम् । प्रख्यकाले करणकले-बरादिरहितानामविभागापन्नानां कथं कर्मेति शङ्कान्युदासाय प्राचीनेत्युक्तम् । पूर्वकरुपसंभवशरीरैः कर्माणि निष्पन्नानि. "नाभक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिश्तैरिपि" (ब्र. के. प्र. २६. ७०) इति हि स्सरन्ति; न च नित्यानां क्षेत्रज्ञानां प्रलयेऽप्यत्यन्ताविभागः । सुनितं चैतत् , "न कमीविभागादिति चेन्नानादि-त्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" (ब्र. २. १. ३५) इति । वस्तुशब्दोऽत्र पकरणादिसिद्धसुज्यविशेष-विषय इत्यभिपायेण इदं क्षेत्रज्ञविस्त्वत्युक्तम् । 'खशक्त्या वस्तु वस्तुतां नीयते' इत्युक्ते अवस्थान्तरं नीयत इत्येवोक्तं भवति : प्रागसतस्मत्तावोगितविववशायां सत्कार्यवादसिद्धान्तविरोधात । 'खश्चत्या वस्तु वस्तुताम्' इत्यतः आत्मात्रयादिप्रसङ्गाच । तचावस्थान्तरमस्मिन् प्रकरणे प्रख्यदञ्चापन्नानां देवादि-मृत एवेत्यभिप्रायेण देवादिवस्तुभाविनिखक्तम् । तदेवं कर्तृत्वाकर्तृत्वयोरिवरोध उपपादितः । उक्तार्थस्य एवमुक्तेन प्रकारेण सृष्ट्यादेः कर्तारमः यक्तिरं सृष्ट्यादिकमिकलसङ्गरहितं च यो मामिनान्तिति, स कर्मयोगारम् भविरोधिभिः फलसङ्गादिहेतु मिः माचीनकर्मभिनं संवध्यते । मुच्यत इत्ययः॥ एवं ब्रात्या कृतं कर्म पूर्वरित मुच्छिभिः । कुरु कर्मेव तस्मात् त्वं पुर्वेः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ एवं मां ज्ञात्वा विम्रुक्तपापः पूर्वेरिष मुम्रुष्ठिभिः कर्तं पूर्वतरं — पुरातनं तदानीमेव मयोक्तं प्रकारमद्विषयञ्चानविध्तपापः पूर्वेर्विवस्तन्मन्यादिभिः कृतं पूर्वतरं — पुरातनं तदानीमेव मयोक्तं वस्यमाणास्तारं कर्मेव कृत्य ॥ १५ ॥ वस्यमाणास्तारं कर्मेव कृत्य ॥ १५ ॥ वस्यमाणास्तारं कर्मेव कृत्य ॥ १५ ॥

र्कि कर्म किमकमेंति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वा मोक्यसेऽशुमात्॥ सुरक्षुणाऽनुष्ठेयं कर्म किरुपम्, अकर्म च किम्। अकर्मेति कर्तुरात्मनो याथात्म्यज्ञान-

प्रकृतोपयोग उच्यते <sup>1</sup>इति मामित्यादिना । इतिशब्दः चातुर्वधिमित्यादिकं सर्वं परामुशतीत्यमिन् प्रायेणाह एविमिति । कर्मभिरिति सामान्यतो निर्देशेऽपि प्रकृतज्ञानमालात्सर्वकर्मविनाशायोगात् , 'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्मे' इत्यनन्तरवावयानुरोधाच संकोचे कार्ये, प्रकृतोपयुक्तो विशेषोऽयमेवेत्यभिप्रायेण कर्म- योगारम्भिवरोधिमिरित्यादि उक्तम् । विरोधित्वेऽवान्तरव्यापारकथनं फलसङ्गादिहेतुभिरिति । यद्वा फलसङ्गादिना कृतत्वात् फलादिद्वारा कर्मथोगारम्भिवरोधिमिरिति भावः । अल प्राचीनशब्देन, 'निष्पन्नोपासनस्य धुत्तराधार्रुवः' इत्यमिप्रेतम् । प्राचीनैः प्रागेव बद्धस्य कर्सतेरवन्ध इत्यताह सुन्यत इत्यव्यव इत्यव्यव इत्यव्यव इत्यव्यव इत्यव्यव व्यविक्रकर्मयोगारम्भिवरोधिपायक्षयहेतुरुक्तः ॥ १५ ॥

तत्पूर्वकं कर्मयोगं शिष्टानुष्ठानप्रदर्शनेन द्रहयन् अर्जुनं प्रत्यनुशास्ति एवमिति क्षोकेन । एवमिति कर्नृत्वाकर्तृत्वादिनोक्तप्रकारेणेत्यर्थः। 'श्रात्वा कृतं कर्म' इत्युक्ते ज्ञानस्य कर्मकरणहेतुत्वं स्चितम् । 'कर्मिमिने स वस्यते' इति च पूर्वमुक्तम् । अतो विरोधिपापनिवर्तनद्वारा ज्ञानस्य कर्महेतुत्वमिति व्यञ्जनाय ज्ञात्वा विश्वकपापैरित्युक्तम् । कर्मशब्दोऽञ्ज सुसुञ्जकतेःयविषयत्वात् व्यवहितमपि प्रधानप्रकृतं कर्मयोगमवरुम्वत इत्यमिप्रायेण उक्तस्वश्चामित्वक्तम् । त्वंशब्दो गृहीतत्वयाधात्म्योपदेशतां सूचयतीत्विप्रायायेण त्वप्रकृतः प्रकारमद्विपयज्ञानविभूतपाप इत्युक्तम् । इमं विवस्वते (४.१) इत्यादावुदाहृता[अ १]नुष्ठातारः पूर्वेतिरित परामुश्चन्त इत्यमिप्रायेण विवस्वनमन्वादिभितित्युक्तम् । पूर्वत्तमित्यस्य क्रियाविशेषणत्व- व्युद्धासायाह पुरातनमिति । तदिभिनेतमाह तदानीमेव मयोक्तमिति । एवं प्रवाहानादित्वमिह विवक्षितम् । कर्मयोगसरूप्तिवक्तम् ॥ १५ ॥

कि कमेंति स्टोके कमिकमेशन्याभ्यां पृथक् ज्ञातन्यश्रमः स्यादिति तद्न्युदासायाह वश्यमाणस कमेण इति । "कमेण्यकमे यः पश्येत्" (४. १८) इत्यादिना कमिकमेणोद्वेयोरप्येककमेयोगांशसं हि बश्यते ; अलापि स्टोके तत्ते कमें प्रवश्यामीति श्रुच्यत इत्यभिष्ठेत्य वश्यमाणस्य कमेण इत्युक्तम् । दुर्विज्ञानत्वज्ञापनायाह सुसुश्चुणाऽनुष्ठेयमिति । अकमेति कमीमावादिन्युदासायाह आस्मनो याथा-

माध्यगतस्य एवंशन्दस्यम्ळेख—इतिशन्दन्यास्यास्यत्ववापनाय स्वयं मूळमुद्गृर्द्शिति
 इति मामित्यादिनेति । नैतत् भाष्ये माबस्यकस् ।

सुच्यते ; अनुष्ठेयं कर्म तदन्तर्गनं ज्ञानं च किरुविमन्युभयतः कत्रवः — विद्वारं यथावत्र जानन्ति । एवमन्तर्गतज्ञानं यत् कर्म, तत् ते अवस्यामि, अञ्चनत् — नंत्रायवन्थान् मोक्ष्यसे । कर्तव्यक्रमेज्ञानं छनुष्ठानफरुम् ॥ १६

क्रतोऽस दुर्ज्ञानतेत्वताह—

कर्मणो स्विष वोद्धस्य बोद्धस्य चिक्रमेणः। अक्षयंणश्च बोद्धस्य गृहस क्रमे यस्यात् मोक्षसाधनभृते कर्मस्यक्ते बोद्धस्य मृत्तः विकर्मण च । नित्यः क्रूह्मण, तत्साधनद्रव्यार्जनाद्याकारेज च विनिधदा [या] ग्रां क्रमे विकर्म। अकर्मः बोद्धन्यसन्ति । गृहना — दुर्गिज्ञाना सुसुक्षोः कर्मणो सन्तः ॥ १७॥

रम्यज्ञानिमिति । अनुष्ठानोपयोगास्यज्ञापनाय कर्तुरिस्युक्तम् । 'क्रवयः क्रान्तद्रशिनः' हा अर्थान्तरमित्तद्रेश्वानुपयोगाच किद्वांस इत्युक्तम् । सो हिनाः इत्युक्ताज्ञाननस्यथाज्ञानं च । तदुभयसंग्रहायाद यथानम् जारनस्मीति । सो हिनाः विपक्षीर्गेश्वाक्षीरिति द्येषः । कि कमे । द्वयोः प्रकृतस्वेऽपि 'कमे प्रवश्यापि', 'कुरु क्रमेव' ३.८९, 'गहना कमेयो गतिः' ( इति पूर्वापरारामर्थेन कर्मणः प्राधान्यमक्रमणस्तिहिद्योगणस्य च विवक्षित्रमित्यमित्रायेण तच्छ वैशिष्टयं व्यनक्ति एवमन्तर्गश्चारामिति । संसाराव्यथादिष्यश्चाराविवश्चयोक्तम् ज्ञास्याम इति । एताविति निर्दिष्टे अनुष्ठायेति कृतो स्टब्सित्यस्य इति दस्तान्त्यम् क्रियानानुष्ठाने अपि गृह्यानि ; 'कुरु कर्मीव तसान्त्यम्' (४.१५) खनन्तरमेवोक्तम् ; अन्यथा कर्मानुष्ठानविधिधिनैर्द्यवः च व्यविति भावः ॥ १६॥

तत्ते कम प्रवक्ष्यामीत्युक्ते अनन्तरं कमैदोग्डेदयम्, कमिगो स्वित्यादि तु कत्यामात्र सुच्यते इत्यलाह कुतोऽस्येति । यस्मादिति ईशव्याधः । कमिणो बोद्धस्यमित्यादिरूपणः जोद्धव्याशिवशेषिनिक्षपणः जोद्धव्याशिवशेषिनिक्षपणः जोद्धव्याशिवशेषिनिक्षपणः । अत्र अवस्थामान्ये पष्टी । सहना कमिणो भरितः इत्यल सित्युक्तो बोद्धस्यपकारपर इत्यपि स्वरूपश्वामित्रायः । अत्र विक्रमेशव्देन ''पाषण्डिनो विकर्मस्थान्'' (वि. ३. १८. ९७) इत्वादाविव न विरुद्धं कर्मोच्यते, स्यालोपयोगामावात् ; अतोऽत्र दिशव्योऽत्रुष्टेयस्यपरः ; वैविध्यं च तत्र नित्यादिरूपं प्रसिद्धमिन्यमियायेणाह निरयेति । अश्विद्ववदेन रक्षणतत्वप्रयम्बद्धत्त्रप्रस्वाते गृह्यते । अत्र विकर्माक्ष्यस्य स्वरूपं प्रसिद्धमिन्यमियायेणाह निरयेति । अश्विद्ववदेन रक्षणतत्वप्रयम्बद्धत्त्रप्रस्वाते गृह्यते विकर्मान्यस्य स्वरूपं । तत्रापि विकर्मान्यस्य क्षित्रप्रस्य क्षित्रप्रस्य । स्वस्य स्वरूपं स्वरूपं स्वरूपं विकर्मान्यस्य । सुवस्तरेष्विप स्थोक्ष्यं कृष्टिम् य्यास्यानं निरस्तम् । यस्रादिति पृवस्यक्तयात् , तृत्यत्र तस्मादिति माव्यम् । सङ्कर्त्यं दुष्पवेद्यत्वम् ; तज्ञात्र ज्ञानत इत्यभिभायेण दृर्विद्यानेरक्षक्तम् ॥

<sup>&#</sup>x27; नैव कि প্রঞ্জ होरप्रिय हो डिज्ज्यकर्तारम्' इति रीप्पा कर्माभाव-हेवेबार्थः ।

ाद्धश्रं नित्यनैमित्तिककाम्यद्वेयार्जनादौ कर्मणि फलमेदकतं वैविष्यं पार-।जतयैकशास्त्रश्चन्दानु ग्रन्थनम् । ''शदेनत् व्यवसायात्तियका बुद्धिरेका'' वोक्तः मेरी नेड एपञ्चले । कर्माक्रयणोर्योद्धन्यनाह—

अ या पह ६० जि क े या। स बुद्धमन् महुष्येषु पा युक्तः वाक्षश्मेशत् एरः अन्देनात्र कर्मेवरत् प्रस्तुत्रमातमञ्जानपुष्यते । कर्मणि क्रियमाण एवातमञ्जानं कर्मणि वाड्डत्मञ्जाने वर्तमान एव या कर्म पश्चेत् । कियुक्तं भवति ? क्रियः आत्मवाधात्म्याञ्चरके नेत ज्ञाताकारं या पश्चेत् , तच ज्ञानं कर्म(कर्मण्य)योखाः— कर्माकारं या पश्चेति हुक्तं भवति । क्रियमाणि हि कर्मणि वर्तमृतातमयाधात्म्यः सति तदुत्रयं संपद्धं भवति । एवमात्मपाधात्म्यः जुन्यानगर्भं द्वर्भं या पश्चेत् । प्रवाति । एवमात्मपाधात्म्यः ज्ञानमान् वर्षक्रं या पश्चेत् । प्रवाति । एवमात्मपाधात्म्यः ज्ञानकार्म् वर्षक्रः वर्षक्रमृत्यः । स्व क्रत्यकर्मकृतः वर्षक्रः प्रवाति । क्रियमाणि वर्षक्रमृत्यः वक्तव्यं परिशेषिवित् तस्योक्तः ।

ननु सुमुक्षोः फळान्तर थेँऽि ार्मी कि बोद्धन्यमिति श्रह्मायां वक्तव्यं परिशेषितिनुं तस्योक्तिः विक्रमेष्यिति । किमल भगाजमित्यलाह तदेवहिति । नेह प्रपञ्चयते अस्माभिभेगवता वेति एवसुपोद्धातः स्थितः ; अथ प्रहृतसुपदिक्यत हत्यिष्प्रायेणाह क्रमीकभेणोरिति । क्रमेण्यकमे प्रयेदिति कर्मणि बोद्धव्यनुच्यते । अक्रमेणि च क्रमे या इति तु ज्ञाने । अक्रमेशव्यत्याल कक्रमीभावस्ततन्त्रज्ञाननिष्ठाविषयतमपास्य तद्वन्यस्यत्या आसत्त्या च सिद्धमाह अक्रमेति । (क्रमेयोगोपदेशमक्तण हत्यथः । अन्वयार्थ दश्चिति क्रमेणीति । अवयार्थ क्ष्रहित्तरोष्ट नेन ज्ञानकमेणोरनिवतस्यपरिहारार्थम् । निवदसयुक्तम्, अन्यानुद्यानिकन्यस्यस्यन्तित्याद्यात् कर्ममानि तदन्यस्य कर्तुमशक्य अस्यतर्त्तेतर्दरीने च तदन्यस्य कर्तुमशक्य स्यादित्यिभिष्यायेण चोदयति क्रम्कं भवनिति । यदेता

युगपदश्रक्षयतं चोद्वित्म्, तत् कि शासार्थत्वाकारमेदेन, अन्यथा देति विकल्पमिष्रेत्य प्रथमं दूष्यां क्रियमाण मेनेति । इत्निविशिष्टस्य कर्मणः उपायतया विहित्तत्वेन परस्परमन्तितत्वमिति न भिन्नशास्त्रास्त्राक्ष्यते । इत्निविशिष्टस्य कर्मणः उपायतया विहित्तत्वेन परस्परमन्तितत्वमिति न भिन्नशास्त्रास्त्राक्ष्यते । एतेन परस्परनिष्येशार्थद्वपरत्वा परस्परप्रतिस्त्रेवश्रक्काऽपि प्रत्युक्ता । द्वितीयेऽपि स्वस्त्रप्रमेदमालेण दुष्करत्वम्, उत् विरुद्धत्वाद् । न प्रथमः ; एकेनैव मेक्षणगमनभाषणादे पद्युष्टानात् । न द्वितीयः ; गम्तस्त्रान्थोरिव ज्ञानकर्मणोर्विरोधाभावात् । न चानुपयोगः, ध्यानिक विशिष्टविष्टिवित्तिर्दरणं भेनेष्टाज्ञपादिन्वायं दिस्पिमिशायेणाह क्षेत्रप्रमुख्ये द्विति । तद्वभ्रयम् कर्मणो ज्ञ विशिष्टत्वं ज्ञानस्य कर्मविशिष्टत्वं च । जुर्द्धमार्द्धत्यः "स्पत्तिन्द्वप्रशासासु नित्ययोगेऽिश्चायने । संप्रसिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः" (अटा.चा. ५. ९४) इति प्रत्ययवज्ञात् प्रकृष्टा बुद्धिविद्धितं क्षासार्थाक्षिति । कुरस्त्यक्षमंकु वित्यत्वेतः स्वत्वत्वते त्वत्वत्वत्वते च वृद्धिरत्वानिधेयेति च कुरस्त्यक्षमं कृदिः ज्ञानेऽगुउने च विद्यतिनक्षस्योग्यत्वमेव हि ये स्वस्त्रव्यविद्यप्रसित्यः मोक्षायाहे इत्युक्तः

## इत्स्नवास्त्रार्थकृतः । १८॥

प्रत्यक्षेण कियमाणस्य कर्मणो ज्ञाताकारता द्ववसुद्वपद्यत इत्यत्राह—

यस्य सुप्रुक्षोः सर्वे द्रव्याजेनादिलीः । भागित्र्यधकर्मणं तसद्धः ेण्डने वृधाः॥ १९ यस्य सुप्रुक्षोः सर्वे द्रव्याजेनादिलीः क्षत्रकर्मपृद्येकां नत्यनै सिन्तककाम्यस्पकमेसमागम्भाः कामवर्जिताः फळन्नक्ररहित्यः । सङ्करवर्जिताश्चः , प्रकृत्याः तद्गुणैश्वास्टऽमानमेकीकृत्यानुसन्धानं सङ्कर्यः , प्रकृतिर्वयुक्तास्मस्यरूपानुसन्धानयुक्तत्याः तद्रहिताः । तम् एवं कम् क्वर्गणं पण्डितं वावयभेदे सिद्धे कुरक्षस्त्रमेक्कादित्यति भिल्लवानयमेव भवितुमहीतः , ज्ञानफल्योः पौष्कर्यस्येवानुष्ठान-पौष्कर्यस्थापि प्रशंसाहेतुत्वे प्राधान्यादित्यभिष्ठायेण तच्छन्दानुष्कमाहः सः एव कुरस्नकर्मकृदिति ॥

प्रत्यक्षेषेति । प्रत्यक्षविरुद्धं न शास्त्रेणोपनत्त्या वा प्रतिपादियतं शत्यमिति भावः । क्रिय माणस्येति । न हि चिरवध्यस्तं स्मृतिदशापन्नं ज्ञानमात्वपरिशेषाद् ज्ञानःकारमित्युच्यते, किंतु कियमाण-मेवेदं कर्मेति थादः । यहा प्रस्यक्षेत्र, क्षिप्रशाणस्थेति पदास्यां ज्ञानविश्यस्य ज्ञानकार्यस्य च कथं ज्ञानैक्यमित्यमित्रेतस् । अञ्चलक्ष्यतः इति । नेदनुपपतिसहस् : <sup>1</sup>यदिपरं दृष्टिवियानादाविव भावः नीयम् । तदा आत्मवाथात्म्यानुसम्धानगर्भनित्यादि नोपपचत इति भावः । सर्वज्ञन्दासङ्कोचात द्रव्याजनादिसंग्रहः । कामञङ्करपवर्जिला इत्यत्न न तानत् काम एव सङ्करप इति समासः, पर्याय-त्वादिशसङ्गात् । नापि कामानां सङ्कर्य इति, उपयुक्तीभवषदार्थप्रधाने द्वन्द्वे संभवति एकपदार्थप्रधान-तस्पुरुषायोगात् । अतः कामसङ्करपाभ्यां वर्जिता इत्येवार्थ इत्यमिन्नेत्याह **कामवर्जिता** इति । **वर्जित**-शब्दस्य प्रत्येकमन्वयं दर्शयता द्वन्द्रो स्वयं समासान्तरात्पन्त इति सचितम् । कर्मप्रकरणे कामो हि फलसङ्ग इत्यभित्रायेणाह **फलसङ्ग्यंहत्** हि । सङ्गरनोऽल न कर्मानुधानसङ्गरपः, तद्भावेऽनुष्ठाना-र्योगात् । नापि फलसङ्करपः, कामराज्देन क्रुतकारवात् । अोडल प्रकृतिवियुक्तात्मोपदेशप्रकरणे तदुपयुक्तः कश्चिदर्शे दक्तव्य इत्यन्तिरायेणाह प्रञ्जन्येति । त्रिमित्येकीकारे, **करपः श्रान्तिज्ञानम्** प्रकृत्येति । देहस्वपेक परिणदयेति शेषः । तदम्परास्तन पत्रीकर्यं नाम---गुप्रहेतुके कर्मिश्रोपे खहेतु-त्वानुसन्धानम् ; शद्वा प्रश्चतिगुणम्यानां सत्त्वदक्षत्वप्रसां देवस्यपुर्व्यस्यविज्ञविवेशानां स्वीस्थकार्यः गुक्ककृष्णादीनां च स्थमारमानं प्रति गुणस्वनानुसन्धानम् । एतेन <sup>२</sup>अस्ये गृहादौ समिि बु**द्धिर**पि संगृहीता भवति । एवंविधकामसङ्करपराहित्ये अ.गेडतदान्याभितेः हेतुमार अ**क्रां**तः व**युक्त**ति । प्रो**ण्डतं** 

<sup>1</sup> यन्द्र इति । निपासका निर्मास स्थीतिको क्षाप्रेस प्राप्ता अपन्य स्थानिक स्थापित । निपासका निर्मास स्थापित । निर्मास

<sup>2</sup> सं उत्पन्नमञ्जल कामान् ६-२४ इत्यक्षोक्तनते अंग्रहोतु । उत्पन्ने विद्वद्विद्वत्साधारणम्, संकल्पवर्जनं विद्वदः।

त्यवस्या कर्मफळासङ्ग जिल्हा वहारे का कार्यका चुक्तोऽपि नैव िकिन् करोति सः॥
कर्मफळसङ्गं त्यवस्या नित्यतृष्ठः— नित्ये खारमन्येष तृष्ठाः, निराश्रयः— अख्यिरप्रकृतौ
आश्रयबुद्धिरहितो यः कर्माणि करोति, स कर्मण्यामिस्रुख्येन प्रवृतोऽपि नैव किनित् कर्म करोति—
कर्मापदेशेन ज्ञानाभ्यासमेव करोतीत्यर्थः ॥ २० ॥

पुनरि कर्मणो ज्ञानाकारतैव विशोष्यते-

निराजीर्यदिक्षित्रात्मार्यस्य विपिष्ठद्वः रागीरे क्षेत्रकं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किविवयम् ॥ - १ हेयोपादेयभूतदेहासमादिविवेकज्ञः नवन्तम् । कहापोहक्षमा हि बुद्धिः पण्डा । चरमोक्तस्यापि पण्डित-शब्दस्य तं पण्डितमित्सुहेद्दयनिवेदाः, पापनिवर्तकर्वरक्षणज्ञानशासस्यविध्यौचित्यात् । अत्रस्तुतस्यतन्त्रः ज्ञानाम्तरव्यवच्छेदायोक्तं कर्मान्दर्गतेति । न श्चत्र क्रियमागसेव कर्म ज्ञानाग्निना दश्चते, निष्फलस्य-प्रसङ्गात् । नाप्युत्तरम् ; तस्य <sup>1</sup>नियामाहास्यिनेवर्धरवाद् ; अतः प्राचीनेत्युक्तम् । तस्वज्ञा इति । प्राप्यस्य प्राप्तुध्यात्मनः प्रापकस्य च कर्मनोगस्यासिद्गस्याविपरीतस्यरुपज्ञाः सुधशब्देन विविश्वता इति मावः । शक्कोत्तरस्यं निगमथित अन्त इति ॥ १९ ।

अनन्तरस्रोकस्यार्थान्तरपरत्वपीनत्वस्यवीर्युदासायाह एतदेव विद्वणीतीति । नित्यत् इत्यस्य विस्थ तृप्त इति नार्थः, तृप्तिहेत्वनुक्तेः ; कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वेति कामवर्जितत्वविवरणेन अनित्यत्यागे अभिहित सङ्करवर्णितत्वविवरणत्या नित्यस्वीकारस्य च ववतुमुचितत्वादित्यभिष्ठेत्य निरये सात्म-स्येत्र तृप्त इत्युक्तम् । निराध्रयः इत्यत्न न तावत् आश्रयभृतदेशादिमातं निष्ध्यते, तत्परित्यागस्य अश्यवयत्यात् ; अतोऽत्र लौकिकानां य आश्रयणीयत्ववुद्धिविषयः, तत्याऽऽश्रयणीयत्ववुद्धिरेव निष्ध्यत इत्यभिष्रत्योक्तम् अभ्यत्यत्वादि । तद्युक्तस्य आश्रयणीयत्ववुद्धिविषयः, तत्याऽऽश्रयणीयत्ववुद्धिरेव निष्ध्यत इत्यभिष्रत्योक्तम् अभ्यत्यत्वादि । तद्युक्तस्य आश्रयणीयत्वत्वद्धिः आभिमुख्यं तदेकपरता । नैव किचिद्युक्ते सामान्यतो जन्मपि निष्द्धं त्यादिति तद्युद्धासायोचितं विशेष्य-माह नैव किचित्कमेति । 'कर्मण्यभिष्ववृत्तोः नि नैव विकचित्कमेति । 'कर्मण्यभिषवृत्तोः नि नैव विकचित्कमेति । विपरीतविषयसंचरणेन ज्ञानाभ्यासविरोधिनामिन्द्रियाणामनुक्कविषयसंचरणमातं हि कर्मन्योग इति भावः ॥ २०॥

यस्य (१९) इति क्षोकेन ज्ञानाकारत्वमुपपादितम् ; त्यक्त्वा (२०) इति क्षोकेन तदेव अत.परं क्षोकल्लयेण तदेव विशोध्यत इत्यपुनरुक्ततामाह पुनरपीति । उक्तार्थस्य दुर्ज्ञानत्वात् पूर्वं बहुपदेशेषु व्याकीर्णाभिहितानां संकळय्य प्रतिषच्यर्थम् , अस्यैवार्थस्याऽऽदर-चोक्त एवार्थः पुनरपि विधिच्य प्रतिपाद्यते । कर्मपौष्करुयादिविषयसर्वा-

**<sup>&#</sup>x27;त्र ज्ञानम्** र किंद्यप्रतिभटस् । विदेशं भक्तिः ।

## तात्वयँचन्द्रिकासहितं गीताभाष्यम् 4. 22.

निराशीः— निर्गतफळाभिस्तिधः वत्विचात्मा— यतिषसमनाः व्यक्तस्वेपरिमहः— आरमैकप्रयोजनतया प्रकृतिप्राकृतवस्तुति ममतारहितः, यावजीवं केवलं शारीरमेव कर्म कुर्वन् किर्वयं — संतारं नाष्वोति ज्ञाननिष्टाव्यवधानरहितकेवलकर्मयोगेनैवरुपेणात्मानं पश्यतीत्वर्यः ॥ वद्यक्षण्ठासमन्तुष्टो द्वन्द्वातोतो विमन्तरः। समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निवश्यते॥ यहन्त्वोपनत्वसीरथारणाहेतुवस्तुसन्तुष्टः, द्वन्द्वातितः— यावरसाधनसमाप्त्यवज्ञनीरः

हीर्निषेषपरत्वः युद्धासाय निगेतफला भिक्षान्य रिखुक्तम् । यतिच्चात्मेरयेतत् नियन्तः यविष्यम् । तत्र नियन्तः यतिष्ठिकः सारसिकः । आत्मशब्दस्य विचलकः पार्थयतं तु निर्धिकम् । अतो मनोविषयत् युक्ते तद्वत्यायिरोषकः सारसिकः । आत्मशब्दस्य विचलकः पार्थयतं तु निर्धिकम् । अतो मनोविषयत् युक्ते तद्वत्यायिरोषकः पस्य बुद्धग्रहः हाराख्यश्चितस्य विचलस्य वाचकोऽयं विचलस्य व्यवकोऽयं विचलस्य विचलस्य विचलस्य वाचकोऽयं विचलस्य द्वार्यापित्र विचलस्य विचलस्य व्यवक्षायामिमानविष्यताश्चिति स्वारम्पत्य वृद्धग्रहः । स्वयक्षम् । स्वय्वादिशकरणेषु तु वृद्धग्रादिशकः महदादिवाचकः । अत्र विचलस्य प्रथमिष्ठामं मनसो बुद्धग्रहः स्वयंपरिश्वरः । त्रकृतिप्राकृतेनि सर्वश्वरामिभवन्यायनोगोपकरणादिसंग्रहः । सर्वविषयः परिवहः सर्वेषपरिश्वरः । त्रकृतिप्राकृतेनि सर्वश्वराणितस्य परिवार आख्याले परि-

प्रतीस्वीकारशयथम् व्येप्वाव परिष्रहः'' इति वैजयन्ती । शारीरशव्हसामध्यीत् शरीरावधि-अद्धमिति यावजीवित्युक्तम् । शारीरं शरीरसंविधः । शरीरिणो दुस्यजमिति भावः । यद्वा गपारम्तकलसङ्गादिराहित्यात् शारीरमित्युक्तम् । अथवा शारीरमेव शरीरघारणाध्ययेमेव, न तु धर्यमिति भावः । मनोनियमनातिशयसापेक्षज्ञानयोगव्यवच्छेदाय वा शारीरशब्दः । अल पारि-सङ्गतेद्वेच्यामिसाध्यकमैव्यवच्छेदः <sup>1</sup>परोक्तो न युक्तः । किश्चिपशब्दक्रितमुक्तम् संसारमिति । ोरं केवलं कमें इत्युक्ते यज्ञादिकमणोऽपि निषेषः मतीयेतेति तद्श्युदासार्थे केवलशब्दस्यात भ्याननियेषपरत्यमः हः— झानेति ॥ २१ ॥

'शारीरं कम कुकन्' इस्तुक्ते शरीरधारणार्थद्रच्याजनादिष्यवस्य प्रवृत्तिः स्यात् ; तत्रधावजनीयाः ज्ञापातादिशीतोष्णमृदुपरुवादिस्पर्शाः ; तत्र च प्रवृत्तिष्यातिषु क्रोधः स्यात् ; विहतायां च प्रवृत्ती विषयस्यतया संतापः, लामे प्रदृषेश्च स्थातामिति कर्मयोग एवाऽऽस्मदर्शनिवरीधिसमस्त्रवैरिणामुस्थापकः प्रसच्यत इति शक्कानिरासाय दृष्टकलेष्वसङ्ग उच्यते यदच्छेति स्रोकेन । तत्र शरीरधारणाद्ययेषु साभि-स्विधात्यस्तव्यापारिनवृत्तिपरं प्रथमपादं व्याख्याति यदच्छोपमनेति । समस्तव्यापारिनवृत्ती विर्वत्यायां स्वयमुपनतानां निगरणादिव्यापारोऽपि निवृत्तः स्यात् । अतो व्याप्रयमाणस्यवामि निवृत्तिरहि विवक्षिता । एतेन यदा स्वयमेच यक्तिश्चिच्छरीरघारणवस्त्वागमः, तदा प्रथुर्यादिविशिष्टेषु न प्रवर्तितव्यमित्यप्युपदिष्टं भवति । यावदित्यादिना 'मालामुर्

<sup>&#</sup>x27;यज्ञायाचरतः कर्म' इति स वक्ष्यति।

ग्रीतोष्णादिसहः, विमत्तरः— अिष्टोपिन अत्रहेतुभृतस्तकः दिन्द्वणेन परेषु विगतमस्तरः अमस्तिद्वावसिद्धौ च — युद्धादिकरेसु जवहदिहिद्धव्यक्तिद्धौः समस्तिद्वा, कर्मेव कृत्वाऽपि— ज्ञानिष्ठां विनाऽपि न निवस्यते— व संतारं प्रतिपद्धते ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुकन्य जानायस्थितकेवसः। यज्ञायाऽऽसरतः धर्यः समयं प्रविक्षयते ॥ २३ आस्मविषयज्ञानावस्थितननस्यवेन(स्कारवेन) निर्वेशतविद्यतसङ्गस्य ततः एव निर्वेशतर-पिग्रहिविनिर्श्वकस्य उक्तलक्ष्यायज्ञादिकमीर्श्वेष्टेच वर्तवायस्य पुरूपस्य वान्यहेतुभृतं प्राचीनं कर्मसम्प्रं प्रविक्रीयते—निरुद्योव क्षीयते । २३ ॥

प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपानुसन्धानयुक्तत्था कर्मणो झानाकारत्वधुक्तः । इदानी सर्वस्य सपरिकरस्य कर्मणः परज्ञक्षभृतपश्यपुरुषात्व उत्तवानुसन्धानयुक्तत्था झानाकारत्वमुक्तः । इदानि सर्वस्य सपरिकरस्य कर्मणः परज्ञक्षभृतपश्यपुरुषात्व । यथा आत्पादिहेत्वपु तपनादिषु स्त्वमीनरूपणेन न क्रोधः, यथा छलादिनिरातपिनारणादिमालसेव किन्नते, तावदलापि कर्तव्याित भारः । युद्धादी-त्यादिना 'सुखदुःखे समे कृत्या' (२.३८) 'सिद्धचनिद्धनोस्तःो भूत्वा' (२.४८) इत्यादिकं स्मारितम् । कृरवेत्यस्य सामध्यति कर्मवेत्वस्त्रम् । व्यवद्वतास्पर्यमाह झानिनष्टां विनेति । कर्मनीगानुष्ठानपूर्वकस्वतन्त्रज्ञानयोगं दिनाऽपीत्यर्थः । न स्यत इत्यस्य कर्मणेव ज्ञाननिष्ठापञ्चसद्धौ तात्पर्थमाह न संसाधिमति ॥ २२ ॥

त्यक्तवा 'कर्मफलासक्रम्' (२०) 'त्यक्तसविपरिष्ठहः', 'बर्दाबतारमा' (२१) इत्येतैः पूर्वे वृि सक्रपरित्यागादिरुकः । इदानीं तथाविष्यान्यमक्तोऽवस्थान्तरे यज्ञाध्येद्वरः ऽत्तादिष्याप्टतस्यापि स्व एव सक्रामावादिकं वदन् अनन्तस्यापि विरोधिकर्मणः क्रमी रोगमधावः किञ्चतिमाह भानसङ्गः स्रोकेन । पूर्वेक्तिवृद्धिद्धार्थसक्त्यागादिमः आरमज्ञाने महोऽधिकत्य । अतो नेदानीं नियन्तव्य तस्य सक्षेऽपि निरित्वसमोग्यस्यसम्बोऽजुरुक्यानात् सः सर्व स्वयेमव गतः । एवं सक्षेऽपि नियुक्त स्वयं स्वैपरिष्ठहास्याच्याः ; किञ्च तरेपं वक्तः । एवं जितस्यस्त्रोठत्यः यथाव स्वारेपये निवृत्तं सर्व स्वैपरिष्ठहास्याच्याः ; किञ्च तरेपं वक्तः । एवं जितस्यस्त्रोठत्य यथाव स्वारेपये निवृत्तं सर्वभानस्य आरमस्याध्याः ; किञ्च तरेपं वृद्धिये ज्ञानस्य अपनानतः अविक्रीयते इत्यनेनान्वितः ; आस्वरंश इत्यस्य वु कर्मविषयः न्तरस्तिद्धम् ; अन्यथा समग्रं प्रविक्रीय इत्येतदि साकाङ्कं स्यादिरयेतदिभिन्नेत्य चक्कार्यं कर्मानर्वृत्तये प्रमान्यस्य सम्याद्धिस्य उपसर्गस्य चासिन्यस्य विक्रीयस्य कर्मान्यस्य सम्याद्धिस्य स्थान्यस्य प्रमान्यस्य स्वारित्यक्तम् । स्वार्थस्यनेन सक्रविव्यत्य हित्यत्वित्यस्य । स्वर्थस्य व्यवसर्थस्य चासिन्यस्यक्तम् । "सहाग्रेण फलेन वर्वतः" इति परव्याख्यानम्वसिद्धार्वस्य द्विद्धकथन

। धातोः अस्त्रेषे कारणापतौ च प्रयोगात् तृद्वगुदासाय श्वीयत् इत्युक्तम् ॥ २३ ॥
ोत् स्रोकोऽपि प्रकारमेदेन कर्मणो ज्ञानाकारत्वोपपादक इति पूर्वेण सङ्गरि

्रवसार्पणं ब्रह्म इिवेद्याक्षी ब्रह्मणा हुत्तर। ब्रह्मेव नेन गन्तन्त्रं ब्रह्मकंसनाधिना॥ २४ व्रह्माप्तिति हिनिर्विदेष्यते। अप्येतेऽारत्यणं सुगादि। तद्वमकायत्वाद्वमः। ब्रह्म यस्य हिनेषोऽपेशं तद् ब्रह्माप्तिकः व्रह्माप्तिकः व्यवस्थानिकः विद्यानिकः विद्यविद्यानिकः विद्यानिकः विद्यानिकः

पुरुषोत्तम एव मुख्यवृत्तः' इति शारीरकाशस्यारम्भे प्रपश्चितम् । अत्र च मुख्ये संभवति गौणस्वम-न्याय्यमः सर्वत्यः च परमपुरुषात्मकत्वानुसन्यानं शास्त्रसिद्धम् । स्वयं च वक्ष्यति, "मन्त्रोऽहमहमेवाज्य-महमिसरहं द्रुतम्" (९. १६) इति । इत्यभिषायेण पश्तवस्थत्वसम्प्रक्वात्सन्धानोक्तिः । अल <sup>1</sup>ब्रह्मच्यतिरिक्तार्पणहिवरादिमिथ्यात्वभावनं ब्रह्मण एव यज्ञत्वकरुपनादिकं च **परो**क्तं प्रत्यक्षादि-विरोध-प्रकृतासङ्गत्यादिभिर्निरसनीयम् । एकवावयत्वे संभवति वावयभेदायोगात् , **त्रद्मार्पण्**मित्यस्य व्यस्तपदत्वेन वाक्यभेदश्रमन्युदासायाह **ब्रह्मार्पणसिति हविर्विशेष्यत** इति । ब्रह्मणि **अर्पणं** प्रक्षेपो यस्येति समासे व्यधिकरणबहुत्रीहिः स्यात : अक्षायी हुत्मित्यनेन पौनरुक्त्यं च । अतः समानाधि-करणबहुत्रीहिरयम्; **अर्पण**शब्दश्चाल करणब्युत्पत्त्या सुगादिविषयः । अधिकरणादिव्युत्पत्तावपि पूर्वोक्त-पौनरुवत्यादिदोष इत्येतदभिन्नत्याह अर्प्यतेऽनेनेति । ब्रह्मकार्यत्यादिति हेतुः सर्वतानुपञ्चनीयः । ब्रह्मणि सगादिदृष्टिविधिअमञ्जूदासाय इषकार्यस्वादृह्म, रहुयं च ब्रह्मभतं, ब्रह्मभतेऽमावित्यादि उक्तम् । ब्रमणा हतमित्यत अर्पणहाँ वर्शमञ्चल विशेष्य निर्देशासायात करणस्य च ब्रमार्पण मित्यकत्वात पारिशेष्यात् कर्तरि तृतीयेति व्यक्षनाय ब्रह्मणा कर्त्रा हुन्तित्युक्तम् । नन्वत्न पूर्वीत्राधयोरन्ययो न हर्यते । न च पूर्वीर्धे पृथम्यानप्रस्, अपूर्णस्यात् । अत आह इहीस्यादि समधत्त इत्यन्तम् । ज्ञासारा-**कत्या इसमय**मिति । तत्कार्यत्वेन, तच्छरीरतया वा तदात्मकत्यात तदिति व्यपदेशार्हमित्यर्थः । **एतेन** ब्रह्म**र्ससमा**धिश्चरदोऽपि व्याख्यात इत्याह स इति । ब्रह्मात्मके कर्मणि सप्ताधिः अनुसन्धानं यस्य स तथोक्तः । गत्यभावादिह व्यधिकरणबहुत्रीहिः । यद्वा समाध्यत इति समाधिशव्दर्थैः ; ब्रह्मरूपं कर्म समाधते-अनुसन्धते । ब्रह्मेय तेन शन्तव्यक्षित्यतापि कर्मयोगसाक्षात्कार्यमातमखरूपमत स्रम्यविरस्रचादि-वत् ब्रह्मशब्देनोच्यत इत्याह ब्रह्मारमकत्रवेति। फल्तिं ज्ञानाकारत्वं वदन् वाक्यार्थमाह सुमुक्षणेति। **बात्मावलोक्तनसाध**नमित्यनेन ब्रह्म शन्तव्यमित्यसार्थो दर्शितः । साक्षाच्छव्देन न ज्ञाननिष्ठेत्या-दिना च एवकारार्थो विवृत्तः ॥

<sup>1</sup> कि यह कुर्वन अर्थशादी विश्वारवं भारत्येत्, उत विश्वारवभावनमकरणमेव । नादाः, कमेरवाणिकेव वेद्यानअभावत् तद्योगात् । नान्त्यः, करवा, आवरतः देविभाषादिपूर्वोत्तर-संदर्भविरोधात् ।

एवं कर्मणो ज्ञानाकारतां प्रतिपाद्य कर्मची गमेदान आह--दैववेवापरे यह योगिनः पर्यमसते । ब्रह्माद्वा च रहे यह यहेनवो उन्ह ते ॥ दैवम् देवार्चनरूपं यज्ञम् अपरे कर्मयो बिगनः पर्श्वपासते-सेत्रन्ते । तत्रेव निष्टां क्रवेन्तीः

स्वर्धः । अपरे ब्रह्माग्नी यज्ञं यज्ञेनैवीपजुद्धति : अन्त्र यज्ञशन्दी हिनस्तुगादियज्ञसाधने वर्तते : 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हिनः इति न्यायेन यागहोमयो निष्ठां ऋर्वन्ति ॥ २५ ॥

उक्तार्थसंगतिपूर्वकं दैवमेवेत्यादेः प्राणान् शाणेषु जुह्वति (१. २०) इत्यन्तस्य प्रथः कस्यार्थमाह एवं कर्मण इति । देवसंबन्धि देवम् , देवसंबन्धित्वं च तद्रभैनरूपत्वमिति देवार्चनरूपः मिरयुक्तम् । दैवमेत्रेत्यवधारणेन अयरे इत्यादिनां च विकल्पः मिद्धः । तक्ष्य देवसंबन्धमालं साधारणं नाव बाच्यम् । अतोऽर्चनशब्देन वक्ष्यमाणयागहोमा चिभ्यो त्यावृत्तिः स्विता । यागादेखे देवार्चन स्वेडपि तत्तद्देवतारूपादिसपर्यायां खर्चनशब्द: प्रसिद्ध: 1 'कमियोगेन योगिनाम्' (३.३) इत्यपक्रमवत अवापि योगिशब्दः कर्मथोगनिष्ठविषय इति ज्ञापनात्र्य कर्मयोगगन इत्यक्तम् । देवस्य यज्ञस्त्रेन इप्रित विधीयत इति अमन्युदासाय निरन्दरानुष्ठानअयुक्तचरण पर्यायेण व्यान्यानि सेवन्त इति । 'सेवा मक्ति रुपास्तिः' इति नैषण्डकाः । अत्र सेवोपासनशब्दौ सेव्यं प्रति करणवयस्यानुकृत्वृतिनैरन्वर्यप्रौ : न त ्ध्यानमात्वपरी : भक्तिशब्दस्तु ध्यानस्य प्रीतिरूपनां विक्ति । नन् मन्यादिभिः "देवनास्यर्वतं चैव समिदाधानमेव च" (मनु. २. १७६) इति निःयकमिनाया सारणात् देवनार्चनरुषो यज्ञ: सर्वेशामि कर्मयोगिनामवस्यकर्तव्यः : स कथं विकल्प्यत इत्यन्न । हः तन्नेच निष्टां कुर्वन्तीत्यर्थे इति ।

नन ब्रह्मार्पणमित्यत स्टोके कश्चित कर्मयोग निर्वे प्रशिवः : अर्पणहिपगराचाविकोपनिर्वेजेना वान्तरभेदमतीते: । तल च तेनेति,कर्नाऽपि निर्दिष्टः : नव्यित्योगिकोऽयमप्रगण्ड इति कि नाडी क्रियते ? ॥ <sup>1</sup>तदच्यते । ब्रह्मार्पणमिति स्रोको न कर्मन्यो गन्यरूपमेद्रविषयः : किंत सर्वेपानपि कर्मयोगानां ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धानारूयसाधारणगुणविषयः : तत्नैव अध्यक्तर्भसनाधिनेति सामान्येनोक्तेः । अतः अर्धण-हविरादिग्रहणं तत्तत्कर्मयोगभेदापेक्षिततत्तत्कारकविद्याची १००क्षणार्थम् । अतः एव निवृत्तिरुक्षणयज्ञप्रसङ्गत देवमेबापरे इत्यादिभिः प्रवृत्तिलक्षणयज्ञोक्तिरिति परो कं पराम्नस ।

**'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञम्' इत्यत्न यज्ञस्वरूप**स्य, परमारमा देः जी साक्षान होतत्र्यस्वहोमसाधनत्वानुपपतेर्यज्ञसाधनः रुक्षणया द्वितीयान्तयज्ञशब्दो हविर्विषय: ; तृतीयान्तम्तु स्वगादिविषय इत्याह अत्रेति । नृतु 'त्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हतम्' (२४)इति पूर्वमेवोक्तम् : अलापि 'ब्रह्माझावपरे' इत्यच्यते: अतोऽल यज्ञं यज्ञेनेत्यनयोर्ग्योऽ-न्यथा वर्णनीयः ; इतरथा पौनरुवत्थमसङ्गः ; सर्वकर्मयोगसाधारणस्यार्थस्य विद्यपतया निर्देशोऽप्यनुषपन्नः इत्यत्नाह ब्रह्मार्पणं ब्रह्महिनिरिति न्यायेनेति । अल यज्ञशब्दात् जुह्मतिशब्दाच यागहोमयोर्निष्ठाया एव विवक्षितत्वादवास्तरभेदत्वमपौनरुवत्यं चोपपञ्चमिति भावः । अलाग्नित्वेन कल्पिते ब्रह्मणि यज्ञ-शब्दनिर्दिष्टं जीवमपूर्वं वा हविष्ट्रेन परिकरूप्य प्रक्षिपन्तीत्यादिष्रस्याख्यानानि शब्दवृतिपरिक्रेशादेव निरस्तानि । कर्मभकरणाचाल सर्वल मानसयज्ञत्ववस्टिसपक्षोऽप्ययुक्तः ॥ २५ ॥

<sup>1</sup> तत्प्रद्रनोत्तरमच्यत इन्यर्थः।

श्रोजादीनीन्द्रियाण्यन्ये संवमान्निष्ठ जुहति । शब्दादीन् विवयानन्ये सन्द्रियान्निष्ठ जुहति ॥२६ अन्ये श्रोलादीनामिन्द्रियाणां स्थमने प्रयतन्ते । अन्ये योगिनः इन्द्रियाणां शब्दादि-प्रवणतानिवारणे प्रयतन्ते ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियक्रमीणि पाणकर्माणि चापरे । अध्यसंयमयोगान्नौ जुद्धति ज्ञानदीपिते ॥ २७ अन्ये ज्ञानदीपिते मनस्संयमयोगानौ सर्वाणीन्द्रियकर्मीण पाणकर्माणि च जुद्धति । मनस

श्रीलादीनीत्यत संयमस्य साक्षाद्विमत्वाभावात् श्रीतादेश्च होतव्यत्वाभावात् तात्पर्यमाह अन्य इति । संयमस्याग्नित्वं श्रीतादीनां निव्यापारत्वलक्षणसस्मसात्करणात् । निविन्द्रयनियमनमि सविकर्मयोगिसाधारणं कथमल विशिष्योच्यत इत्यतोक्तम् संयमने प्रयतन्त इति । एवष्ट्रतत्वापि प्रयतन्त इत्यनयोस्तात्ययं श्राक्षम् । तथा निष्ठाश्चलदेऽपि । अत्र प्रतीन्द्रियं संयमभेदात् संयमाग्नित्विति वहु-वचनम् । शब्दादीनित्यत्व इन्द्रियेषु शब्दादिविषयान् समर्पयन्तीति अमव्युदासायाह — इन्द्रियाणां शब्दादिविषयप्रवणतानिवारण इति । इन्द्रियाणां नियमनं हि श्रोत्रादीनीत्यादिनोक्तम् ; अत्र तु (इन्द्रियोभ्यः परा धर्षां अर्थेभ्यश्च परं मनः' (कट. १. १०) इतिवत् विषयमनसोहि नियमनं क्रमेणोच्यते । विषयस्य नियमनं नाम दूरीकरणम् ; तत्सित्विधपरिहार इति यावत् । तत्त एवेन्द्रियाणां तत्प्रवणता निवतित इति भावः । कत्तर्हीन्द्रियाग्निष्ठ शब्दादेहींमो नाम ॥ उच्यते । होमेन हिषपो विनाशः क्रियते, तद्वदत्व शब्दादेरिन्द्रियेषु विनाशो नाम तत्संवन्धविनाशो विविक्षतः-इति । ग्यहा श्रोत्वादीनीत्यत्व विषयसत्विधिपरिहारो विवक्षितः ; इह तु सित्वहितानामपि विषयाणामिकिञ्चित्करत्वापादनिमिति विमागः । विषयप्रवणतानिवारण इत्यनेनात्वन्तसमस्तिविधयनिवृत्तेर्णः धर्मीविरुद्धेविवारिश्च विवक्षिता ॥ २६ ॥

इन्द्रियार्थयोर्नियमने अमिहिते, "अर्थेभ्यश्च परं मनः" इति क्रमेण मन एव नियन्तव्यतया वक्तव्यम् ; अतोऽत्र आत्मसंयमशब्देन मनोनियमनमुच्यत इति ज्ञापयति मनस्ययमयोगाप्राविति । मनस्ययम एव योगसाधनत्वादिना योगः ; मनस्ययमस्य वा योगः प्राप्त्यादिः ; तस्य झानदीपितत्वं देहातिरिक्तशुद्धात्मस्वरूपानुसन्धानमुख्यम् । श्रोलादीनां शब्दादीनामिव चाल[पि] होतव्यतयोन्कानामिन्द्रयक्रमणां प्राणकर्मणां च नियमनमुच्यते चेत् , पौनस्वत्यादितोषः स्यादिति शङ्काव्यद्धासायाह मनस इति । इन्द्रियक्रमं दर्शनस्वर्धानादिकं वचनादानादिकं च ; प्राणक्रमं उच्छृसनिधासादिकम् । यद्वा व्याणसंवादादिसिद्धः इन्द्रियव्यापारादिहेतुः स्वभो व्यापारविशेषः । तेन वक्ष्यमाणप्राणायामात्

<sup>1</sup> रलोकहरेन इन्द्रियविषयमतसां तिथमनं क्रमेणोच्यत इत्याश्येन प्रथमयोजना, इन्द्रियेभ्यः परा इति श्रुन्यनुसारेण । द्वितीया तु वाद्यविषय-शारीरेन्द्रिय-आन्तरमानसक्रमेण नियमनाशयेन । विषयाणामिन्द्रियनु होमो नाम असमधैत्वापादनम् । अग्नौ हुतं हि नष्टमकार्थकरं अवति । शांकरे तु श्रोजीविभिर्विकद्वविषयग्रहणं होम इति योजना । 2 सुख्यप्रण इन्द्रियाणि चाह्रश्रेयसे विवदमानाः ब्रह्माणं जग्मुरित्याक्यायिका ग्राह्मा । तत्र प्राणस्येन्द्रियनेहत्वमुक्तम् ।

इन्द्रियप्राणक्रमेप्रवणतानिवारणे प्रयतन्त इत्यर्थः ॥ २७ ॥

द्रश्यका प्रतिविद्यात विश्वकाता । १८ कि स्वित् कर्मयो गाया विश्वकात । १८ कि स्वित् क्षेत्र क्षेत्र क्षेत्र होसेषु । एते सर्वे द्रव्यवकाः । के स्वित् विषेवकाः कुञ्कू स्वान्द्रायणीवसासादेषु निष्ठां कुर्वित् । योगयक्षात्राय पुण्यवीर्थपुण्यस्थानप्राप्तिषु निष्ठां कुर्वितः । १६ योगसन्य स्वान्यम्यासपराः । किस्तित् तदर्थकानाम्यासपराः । विश्वकानाम्यासपराः । वत्यः यस्त्रश्चितः, संशितवताः दृदसङ्करपाः ॥ २८ ॥

व्यवच्छेदः । अलापि प्रज्ञणासःईजज्ञः गाराज्यतास्पर्ये पूर्ववत् । श्रोत्रादीनां पूर्वश्रपदानात् कर्मेन्द्रिय-मालनियमनपरो वाऽयं श्लोकः ॥ २०॥

प्रत्येकं यञ्चशब्द्वयोगात् बहुविधकर्मशोगभेद्निष्टा उच्यन्ते । तत एव अपरशब्दोऽपि पत्येकमन्वितः । तत्व दःवैर्वजा येषां ते द्रव्यवज्ञाः । यहा द्रव्यात्मका यज्ञा येषामिति विम्रहः । द्रव्यशक्तसामर्थ्यात् तत्साध्ययज्ञविद्योषाः सर्वे संगृहीता इति देवतार्चनदान्यागहोमाः पृथगुक्ताः। अतो द्रव्ययज्ञा इत्यादि बहुवचनमपि तत्तद्रवान्तरभेदविषयमिति भावः । ननु देवतार्चनयागादेः पूर्वमेवोक्तत्वान्तिरर्थकं पुनर्वचनमिति चेन्नः द्रव्यशब्दस्य साधारणत्वेन दानस्यापि संप्रहात् , पूर्वं च तस्यानुक्तत्वेनापौनरुक्त्यान् ॥ तर्हि द्वनयज्ञा इति विशिष्य वक्तव्यम् ॥ तदपि न, अर्चनदानयागहोम-यज्ञानां चतुर्णामपि तपोयज्ञादिभ्यो व्यावृत्तावान्तरसंम्राहकसुचनार्थतया, न्यायार्जितद्रव्यसाध्यत्वज्ञापनार्थ-तया च सामान्यज्ञाब्दोपयोगात् । तदेवद्भिपेत्योक्तम् एते मूर्वे द्रव्ययज्ञा इति । यद्वा अर्चनादि-खरूपस्य यज्ञत्वं प्रायुक्तन् ; इह तु तद्वीद्व्यार्जनादेरेवेत्यभिषायेण न्यायत इत्यादि प्रयतन्ते इत्यन्तमुक्तम् । त्रपः शास्त्रीयो मोगसङ्कोचः ; तदवान्तरभेदप्रदर्शनम् कुच्छेत्यादि । योगयज्ञाः इत्यत योगः संयोगः, प्राप्तिरित्यर्थः । सा चात्र पण्यतीर्थाद्यभिगमनतित्ववासादिरूपा विवक्षितेत्यभिपायेणाह पुण्यतीर्थेति । पुण्यस्यान शब्दोऽल देवतास्थानाश्रमजनपदिवशेषादिसम्राहकः । नन्विह योगशब्दः साक्षाचोगे कर्मश्रोगमाले वा कि न वर्तत इत्यलाह इहेति । कर्मनिष्ठाप्रकरणत्वात साक्षाचोगविषयत्वं न युक्तम् ; तद्भेदपकरणत्वात् तत्सःमान्यविषयत्वं चानुचितम् ; तद्भेदेषु च पारिशेष्यात् योगशब्द-सामध्याचि तीर्थादिपातिरेव प्राह्या । सुचितं चैतत् संग्रहे पग्माचार्यैः, 'कर्मयोगस्तपस्तीर्थदानयज्ञादि-सेवनम्' (२३) इति इति भावः। खाध्यायाभ्यासतदर्थज्ञानयोः प्रथम्धर्मत्वेन प्रथम्यज्ञत्विन्वेनोनिर्देशोपपत्तेः, द्वन्द्वस्य प्राधान्याच विभव्य विर्विज्ञति के िल्खाध्यायाभ्यासपदा इति । खाध्याय [इति] सह-पाठौचित्यादात्मज्ञानस्य च सवसाधारणत्वात् अर्थज्ञानस्यानुष्ठानेऽप्युपयोगात् केचित्तदर्थज्ञानाभ्यासपरा इरयुक्तम् । प्रश्चान्दोऽत्व साधारण्यन्यच्छेदाय तन्निष्ठतामाह । यन्निशन्दस्यात आश्रमविशेषपरत्वानौचित्यात् सर्वेकमेयोगनिष्ठसाधारणविद्योषपरत्वौचित्याच प्रकृतिप्रत्ययार्धविभागेन निर्वक्ति **यतनशीला** इति । सर्वप्रयोगानुगतः सर्वकर्मयोगनिष्ठसाधारणश्च सङ्करपोऽल जनशब्दार्थ इत्यमिप्रत्य दृहसङ्करण इत्युक्तम् । संशित्तत्वमताकुण्ठत्वम् । तच दृढत्वमेव ॥ २८ ॥

े अवाने जुडलि माणं प्राणेऽवानं तथाऽवरे ! प्राणायानगडी रुद्धा प्राायामपरावणाः॥ व्र अवरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुडिटि ।

अपरे कर्मयोगिनः प्राणायामेषु निष्ठां कुर्वन्ति । ते<sup>1</sup> च त्रिविधाः प्रकरेचककुम्मक-मेदेन ; अपाने जुहति प्राणमिति प्रकः, प्राणेऽपानमिति रेचकः, प्राणापानगती रुद्धा...पाणान् प्राणेषु जुहति इति कुम्मकः । प्राणायामपरेषु (सप्राणायामेषु) त्रिक्ष्यसुष्ठस्यते नियताहारा इति ॥ श्वर्षेऽप्येते यहविदो यहस्यितकक्मवाः ॥ यहशिष्टास्त्रसुत्रो यान्ति हस्य समातनम् ।

दैव(द्रव्य)यज्ञप्रमृतिप्राणायामपर्यन्तेषु कर्मयोगमेदेषु स्वसमीहितेषु प्रवृत्ता एते सर्वे सह<sup>3</sup> यज्ञैः प्रजाः सृष्ट्या (उ. १०) इत्यभिहितमहायज्ञपूर्वक्र<sup>4</sup>नित्यनैभित्तिककर्मरूपयज्ञिदः तिम्रष्टाः तत एव क्षपितकरूमयाः यज्ञशिष्टास्तेन ज्ञरीरवारणं कुर्वन्त एव क्षमियोगे न्यापृताः

प्राणायामप्रायणाः इत्यनेन वर्गलयस्य सामान्यसंप्रहः क्रियत इति व्यञ्जनाय प्राणायामेषु निष्ठां क्र्यंन्तीति प्रथमवायं कृतस् । प्राणायामिष्ठानामवान्तरभेदज्ञापनाय पूर्केत्यादिना प्राणायामावान्तरभेदप्रदर्शनम् । तत्त्रदेवपतिपादकांशं विविनक्ति अपान इत्यादिना । कर्ष्वपृत्रतस्य प्राणत्य अधः प्रवेशनं हि पूरकः । तत्रश्च अपाने जुह्नतित्येतत् उपचारादुपप्रक्रम् । एयमधःस्थितस्य वायोरुध्विपवेततं हि रेचक इति प्राणोऽपानमित्यप्यु(ख)पचिरतम् । वायोरुध्विधोगमनिवधारणेनावस्थापनं कुम्भक इति प्राणापानगती कृत्वेत्यादेरभिप्रायः । प्राणान् पाणवृत्तिभेदानित्यक्षः । आहारनियममु इष्टाष्ट्योपकार-द्वारा सर्विप्राणायामसाधारणतया विहित इत्याह प्राणायामस्त्रभुषु ज्ञिष्वपीति ॥

किमेतेषामुचावचकर्मयोग[मेद]निष्ठानामवान्तरफळभेदोऽलि, कि प्राणायाम[वि]निष्ठानां यज्ञादिकं त्याज्यमिति शक्काद्वयं निराक्तियते सर्वेऽवीति छोकेन । उत्तस्ती हिते विवानविशिष्ट-फलत्या विकल्पे न्याज्ये तत्तरसामध्यिचनुसारिणी स्वेच्छ्ये हि विशेवनियामिकेति स्वित्त । सामान्यस्य यज्ञशब्दस्य असङ्कोच(शब्दस्य संकोच?) पद्गीनाय सह्यज्ञेरित्यादिकष्ठक्तम् । यज्ञश्चर्यस्य पद्मित्रमुजाः इत्याभ्याम् , 'यज्ञशिष्टाशिनस्यत्ते सुच्वन्ते सर्विकित्वयः' (३.१३) इत्यादि-प्रामुक्तप्रत्यिज्ञानात् तत्प्रकरणे च यज्ञशिष्टाशनस्य शरीरयात्राश्वरव्यवनात् तत्सरणायोक्तम् यज्ञशिष्टास्तेन स्वरीत्रधारणं कुर्वन्त एवेति । प्राणायामादिषु निष्ठावतम्पि नित्यत्वादिना यज्ञविक्तमवस्यक्षिति सिद्धम् । एवकारेण नैवविवश्वरीरधारणाविव्यापार आस्मावळोकनियरोधी, किंतुपवुक्त इत्यमि

<sup>1</sup> ते इति । प्राणायामा इत्ययः । 2 उकानां कवियोगानां नित्यनैिचिक वर्षामकत्वं वक्तुमरस्मः। इतोऽपि ततो मे इसिद्धिः। अत एव रावणादयःतामात्रकारवर्धारिष्ठा अध्यमित्रहोत्नाद्विधमीनृष्ठाविनः।

<sup>3</sup> सहयवेरिति निस्पेनैलिखिकविष्ठकाः, 'व प्रसिद्धवे क्रिका' इत्यस्य यो ग्रुंदे स्तेनग्व सा' इति आध्रयक्षस्य अक्रयोप्यययय्य च प्रमात् । देवास् अल्पनतिन, वातुववयतीह वः इत्यदित्वः । काम्यक्रवेककमाष्टानाधिकारस्वेगदिन तदुवयोग इति प्रक्रमुक्तरहलोके ।

<sup>4</sup> महायञ्चपूर्वकेति । महायञ्चत्रभृतिकेत्यर्थः । प्रवतुत्तरहरू केऽपि ।

#### सनातनं ब्रह्म यान्ति ॥

नायं स्रोकोऽस्त्यवस्य कुतोऽत्यः कुउरुप्रमः॥

**3**8

अयज्ञस्य महायज्ञादिपुर्वकनित्यनिभित्तिककर्मग्रीतस्य गांथ लोकः न प्राकृतलोकः, प्राकृतलोकःकसंवन्धिधर्मार्थकामारूयः पुरुषार्थो न विध्यति । कृत इतोऽो मोक्षास्यः पुरुषार्थोः १ परमपुरुषार्थतया मोक्षस्य प्रस्तुतत्वात् तिदैतरपुरुषार्थः अथ लोकः इति निर्दि-इयते । स हि प्राकृतः ॥ ३१ ॥

प्यं यहुविधा यहा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान् विद्धि तान् मर्वान् एवं हात्वा विमोध्यसे॥३२ एवं हि बहुप्रकाराः कर्मयोगाः ब्रह्मणो मुखे वितताः आत्मयाथात्म्यावाप्तिसाधनतया खिलाः; तान् उक्तलक्षणान् उक्तमेदःन् कर्मयोगान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि अहरहरनुष्ठीय-माननित्यनैमित्तिककर्मजान् विद्धिः एवं इत्तवा यथोक्तप्रकारेणानुष्ठाय मोध्यसे ॥ ३२ ॥ प्रेतम् । व्यापृता इति । अन्यथा व्यापार एवाश्वय इति भावः । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम् (२४) इति पृक्षियास्याततु स्याध्यात्वु एसंहारसं एक्तर्नां प्रमा यान्तीरवेतव् निश्वयस्यातन् ॥

कर्मयोगावान्तर, मेदिनष्टत्वाभिमानेन सामान्यवर्षम् नित्यनै गितिकादिपरित्यागिनः सकळपुरुषार्धः नईतोच्यते नायमित्यर्थेन । अयञ्चस्येति व्याख्येयं पदम् । नायं छोकः इत्यत्न अयमिति निर्देशा-भिषेतं दर्शयति न प्राकृतछोकः इति । छोकस्वरूपमालनिषेषश्रमच्युदासायाह प्राकृतछोकः संवन्धीति । अयं छोकः इति प्रत्यक्षसिद्धम् छोकपरशौचित्यात् कुनोऽन्यः इतीदं स्वर्गीदिपरं कि न स्वादित्याः शङ्कचाह प्रमुफ्तप्र्यतयेति । अयज्ञस्य मोक्षामाचे प्रतिपादिते हि तद्धी तदुपादानं स्वादिति भावः । मोक्षस्यतिरिक्तदृष्टानुश्र्यिकपुरुषार्थवर्गत्वयस्य अयं छोकः इति निर्देशहेतुभृतसाधारणोपाधि प्रस्तुतपरसपुरुषार्थविरुद्धरूप्तरस्व च च्यान्नयितुमाह स हि प्राकृत इति । प्रकृतिपरिणामिविशेषरूपत्वात् तसंसष्टश्रस्य प्राप्यस्वाच प्राकृतत्वोक्तिः ॥ ३१॥

एवं कर्मयोगावान्तरभेदान् उपिन्दिय तनद्भेदेऽिष साधारणानां 'नित्यनैिविकानामवस्यानुष्टेयलं तत्पित्यागे प्रत्यवायश्चाभिहितः ; अस्वैवार्थस्योगसेहारः कियने एवं मिति क्ष्रोकेन । बहुपकारकर्मयोगभेदोपदेशानन्तरभेव एवं बहुविधा यद्यः इति वचने प्रकृतिपयमेव भिवतुमईतीत्यिभायोणाह एवं हि बहुपकाराः कर्मयोगा इति । ब्रह्मशब्दोऽत्र यथावस्थितात्मविषयः, वेदादिपरत्ये प्रकृतीनित्याभावात् । सुस्वशब्दश्चोपायविषयः । आहुश्च नषण्डकाः, ''मुखं तु वदने मुख्ये तान्ने द्वाराण्युपाययोः' इति । आस्मनः प्राप्त्युपाये कर्मयोगे अवान्तरभेदत्वा वितता इत्यर्थः । तदाह आत्मयाधारम्येति । तानिति निर्देशः प्रस्तुतसमस्ताकारपरामर्शी, सर्वानिति च अशेषावान्तरभेदसम्ह इत्यभिप्रायेण उक्तस्यक्षणान् उक्तस्यान्यक्षाम् एवंशब्दवहुर्वश्च शब्द शेर्योक्तिवां । अन्तर्भृतज्ञानित्या ज्ञानकारवम् उक्तस्यक्षण्यम् । उक्तस्यक्षणानिति वदताऽध्यायार्थत्याऽऽरम्भनिर्विष्टेषु कर्मयोग-

<sup>1</sup> अनुष्ठेयत्वमिति । उपिद्देयेत्यनुषङ्गः । अन्यथा अभिद्विमिति परीणमनीयम् ।

अन्तर्गतज्ञानतया कर्मणो ज्ञानाकारत्वमुक्तम् ; तल्लान्तर्गतज्ञाने कर्मणि ज्ञानांश्वस्यैव प्राधानृयमाह—

श्रेयन् प्रत्यसयात् यकात् <sup>1</sup>कानयकः परत्यप । सर्वे कमिक्षेत्रं पार्थ ज्ञाने परिस्तमाप्यते ॥ ३३ स्वरूपाभिधानमपि कृतं भवतीति सूचितम् । सर्वोन्कर्मजान्त्रिद्धीति पृथ्यस्वनात् प्राणायामादीनां प्राधान्यं नित्यनैमित्तिकादीनां तदर्थस्वं चाह अहरहरिति । अनेन तस्याकरणे सर्वानहितया यावस्फलमनुष्टेयस्वं प्रतिदिवसं पापहरणेनोत्तरोत्तरसत्त्वोग्मेषहेतुःवेनात्यन्तोपयुक्तस्वं च सुचितम् ॥ ३२ ॥

श्रेयानित्यादेः आ अध्यायपरिसमासेर्ज्ञानिषयस्यैकपयङ्कस्य सङ्गतिपूर्वकमर्थमाह अन्तर्गतेति । अवान्तरभेदमतिपादनरूपावान्तरप्रकरणास्त्राचीनेन कर्मणो ज्ञानकारत्वपतिपादकपयङ्केनास्य साक्षात्सङ्गतिः।

ननु द्रश्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञरश्रेयानिति निर्दिष्टे सति आस्मसाक्षाराःतरङ्गज्ञानयोगपाधान्यं महीतुमुन्तित् । सर्वे कप्तीखिलं पार्धं ज्ञाने परिस्तमाप्यते इत्यनेन कर्षफल्स् सर्वस्य
ज्ञानेऽन्तर्भावश्य मतीयते ; 'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापक्षनाः' (३६), 'ज्ञानाग्निस्सर्वकर्माणि'
(३७), 'योगसंन्यस्तकर्माणम' (३१) इत्यादिनिदेशाध्यानन्तरसानिनः कर्मयोगिवरोधिनः । 'न हि ज्ञानेन'
(३८) इति श्लोकोऽपि कर्मयोगात् ज्ञानयोगस्य पावनत्याितरेकपर इति मतीयते ; 'ज्ञानं लब्ध्या परां
ज्ञान्तिमचिरेणाधिगच्छिति' (३९) इत्येतद्रपि ज्ञानयोगस्य नतरङ्गतया द्यीवकारित्वमितरस्य विल्लिन्तफल्रत्वं
व्यनक्ति । 'येन भृतान्यशेषेण द्रश्यस्यास्मन्यथो मियि' (३५) इति ज्ञानखल्पकथनमित ज्ञानयोगस्वं
द्रद्यति । न हि कर्मयोगान्तर्गतेन आस्मज्ञानेनैव सर्वं साक्षाक्रियते । 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाध्य' (२८)
इत्यत्व च द्रव्ययज्ञादेः प्रथवस्थेन ज्ञानयज्ञो निर्दिष्टः ; अतो ज्ञानयोगपश्यापकरणमिद्मिति ग्राह्मिति ॥

अक्षोच्यते—'श्रेयान् द्रश्यमयात् यज्ञात्' इत्यत्न तावत् ज्ञानमाश्राग्यमात्नात् न ज्ञान्योगविवक्षा वक्तुमुचिताः; 'कर्म व्यायो खर्कमणः' (३.८) इत्यादिषु सर्वत्न तद्विपरीतक्रमेपाधान्यस्यैव प्रपिवत्वत्वात् । उत्तराध्यायेऽपि 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' (५.२) इत्यादेव्दिश्यमाण्यत्वात् मध्ये तद्विरुद्धार्थप्रतिपादनायोगात् । अतोऽत्र ज्ञान्यज्ञाव्यः कर्मयोगांशविषयः । 'त्याध्यायः ज्ञानयज्ञाव्यः (४.२८) इत्यत्व तु स्वाध्यायार्थभ्यासरूपज्ञानयज्ञपरव्यक्तम् । आस्मयाथारम्यमपि स्वाध्यायार्थ इति तस्य चास्य च नातिविषकर्षः । 'तस्मादज्ञानसंस्तत्म' (४२) इत्यध्यायोपसंहारक्ष्णेके च ज्ञानासिना संश्यं छित्त्वा योगमातिष्ठोविष्ठेति युद्धोत्साहिष्यानेन कर्मयोगस्तदस्तरीतज्ञानं च व्यक्तं प्रतीयते । न हि ज्ञानयोगस्य श्रेयस्तया युद्धार्थमुत्तिष्ठेति संगच्छते । सर्वे कर्मेत्येतत्तु कर्मान्तर्गतोज्ञानांशस्य प्राधान्यहेतुमालपरमेन, 'अपि चेद्दिर'(३६), 'ज्ञानांशस्य स्वर्मणं (३७), 'नहि ज्ञानेन सहश्रम्'(३८) इत्यत्वापि कर्मणः प्रस्वसङ्गतिहत्वज्ञानाकारतापित्तमांत्रं विविक्षतम् । 'श्वानं स्वरुक्षत्व परां

<sup>1</sup> इदं ज्ञानं कर्वयोगांशभूतिमिति एतद्यायान्तिमश्लोके, ज्ञानेनाज्ञानं छित्वा योगमातिष्ठेति कर्वयोगे विनियोजनात् ज्ञायते।

उभयाकारे कर्मणि द्रन्यमयादंशात् ज्ञानमयोंशः श्रेयान्; सर्वस्य कर्मणः तिहेतस्य चाखिलस्योपादेशस्य ज्ञाने परिसमाप्तेः तदेव सर्वेस्साधनैः प्राप्यभृतं ज्ञानं कर्मान्तर्गतस्वेना-भ्यस्यते । तदेव [हि] अभ्यस्यमानं ऋमेण प्राप्यद्शां प्रतिपद्यते ॥ ३३ ॥

तद् विद्धि प्रिणिपातेन परिश्रश्च सेवया । उपदेश्वयन्ति ते आनं आनिवस्तरवर्शिनः ॥ ३४ तत् आत्मविषयं ज्ञानं 'अविवाशि तु तद्विद्धि' इत्यासम्य 'एषा तेऽभिहिता' (२.३९) इत्यन्तेन मयोपदिष्टम् , तद्युक्तकर्मणि वर्तमानस्यं विपाकानुगुणं कालेकाले प्रिणिपातपरिशान्तिम्' (३९) इति स्त्रोके [तु] कमेयोगान्तर्गतज्ञानांशस्य साक्षात्काररूपपरिपाकावस्थोच्यते ; 'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (३८), 'श्रद्धावान् लमते ज्ञानम्' (३९) इत्यनन्तरमेव परिपाकावस्थाया विश्वदीकरणात् । एतेन 'येन मृतान्यशेषेण द्रक्ष्यसि' (३५) इत्यतदिष निर्यूद्धम् । तदेतदिखलमभिन्नेत्वाह उभयाकार इति । कर्मणि कर्मयोगे इत्यर्थः । अनुष्ठेयपरो वाऽत्र कर्मशत्वदः । द्रव्यमयादंशादिति । <sup>1</sup>यज्ञशत्वदेऽल यज्ञशिवित्रय इति भावः । प्रवीखलशत्वत्यगत्व विषयमेदात् अपौनत्कत्यमाह तदितरस्येति । कर्मेतरत् किमन्यदिहोपादेयम् , कथं च कर्मणत्तस्य च ज्ञाने परिसमाप्ति-रित्यताह तदेवेति । सर्वेस्साधनैरिति [तदितरोपादेयपदर्शनम् । प्राप्यभृतमिति तत्न तत्वरिसमाप्ति-ज्ञापनम् । कर्मणत्तत्व परिसमाप्ति विद्यगोति तदेवास्यस्यमानमिति । अवधारणेन साध्यसाधनमावः अवस्थामेदमालनिवन्यन इत्यभियतम् । एतेन कर्मणः स्वान्तिगितीमृतज्ञाने परिसमाप्तिः साक्षात्कारस्वण-साध्यद्याविवक्षनेत्युकं भवति ॥ ३३ ॥

उपदिष्टमेव ज्ञानं तत्तद्विपाकदशायां प्रतिक्षणवैश्वाया पुनःपुनज्ञीनिभ्यः श्रोत्य्यमिरयुच्यते तद्वि-द्वीति श्लोकेन । तदिति परोक्षविन्निर्देशः प्रकरणमारम्भोक्तप्रकारपरामर्शीति व्यक्तनाय अविनाधीन्त्यादि मुग्नेर्भिदिष्टमित्यन्तमुक्तम् । इनः पूर्वननुपविष्टस्य ज्ञानस्य कस्यचिच्छोतस्यस्य नास्रोच्यत इति मानः प्रतियुक्तकर्मणि वत्तानस्स्वमिति वियाकहेतुः । विष्यक्तमुगुणं कास्रोकाल इति प्रशावस्यः। अर्थ्यद्वात्ता प्रणिपातादेविपाकानुगुण्यं वा विवक्षितम् । 'गुरुमेवाभिगच्छेत्' (मु. १. २. १२) इत्यादि-र्विषिपातं चैतत् । प्रणिपातादेवितरेतरयोगो वियक्षित इति व्यक्तनाय प्रणिपातपदिप्रश्रसेवादिभिः इति व्यक्तनाति वास्राणि कालिक्ष्या । 'स्वाध्यायात योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्" (वि. पु. ६. ६. २. २) इत्यानीनि शास्राणि कालिक्षाले इति वीप्तया योतितानि । विश्वदाकागिति पुनःश्रवणस्य नैष्कस्य-परिहारः । ननु किमिदानी भगवता ज्ञानमविश्वसुपविष्टम् १ किं वा वीभस्यना अवशदेन (दमेव १)ज्ञातम् , यनैतदुच्यते इत्येतदिपि विपाकानुगुणशब्देन परिहृतम् । विश्वदमेवेपिदिष्टं भगवता । अवधानादिनाध्यानुनः । तथाऽप्यनादिकर्मोपाजितेरनन्तैः पायकवादेरन्तःकरणक्रपय तत्त्वनानसरद्वारस्योपरुद्धन्य विद्वानी नातिवैश्यं जायते ; "वित्तव्यक्रसन्तनमनान्तुषि जानु नेत्रे नैव प्रभाभिरिव शक्क्षितस्ववुद्धिः"

कमयोगान्तर्गतयोः कर्माशकानांशयोग्धभयोरपि भगवस्त्रीणनस्वात् यद्यस्वम् ।

<sup>2 &</sup>quot;ये तु त्वदं ज्ञिसरसी सहभक्ति ही नास्तेषाममी भिरिष नैव यथार्थवीषाः" इति पूर्वार्धम्।

त्रश्रसेवादिभिर्विश्वदाकारं ज्ञानिस्यो विद्धि । साक्षात्क्रतात्मस्वरूपास्तु ज्ञानिनः प्रणिपाता-दिभिस्सेविताः ज्ञानबुधुत्सयः परितः एच्छास्तवाऽऽश्वयमालक्ष्य ज्ञानसुरदेक्यन्ति ॥२४॥

आत्मयाथात्म्यविषयः ज्ञातसः साक्षः हारहपरा उक्षणमाह्—

विकास्वा न पुनर्नोहने व यास्त्रिक्ष पाण्डव थे: मृतात्यरायेल द्रष्ट्यणास्मन्ययो मिनि ॥ १ तम् व इत्रानं झात्वा पुनरेव देवा (हा)घात्मात्मानरूपं तरकृत प्रमताद्यास्पदं च मोहं न यास्त्रित, थेन च देवमतुःपाद्याकारेणातुसंहितानि सर्वाणि भृतानि स्वात्मन्येव द्रस्पप्ति, यतस्त्रवान्वेपां च भृतानां प्रकृतिविष्ठकानां झानेकाकारतयः साम्यम् । प्रकृतिसंसर्गदोष- (वै.स. १६) इतिवत् । यथावस्तितकर्मयोगनिरस्तेषु पापेषु विज्ञद्वानाःश्रीयस्यात्, तदा च पूर्वोपित्रिः स्य सामान्यतो द्वातस्यार्थस्य ज्ञातांत्रस्त्रादाय अज्ञातांत्रज्ञानाम् विस्तृतकिष्वाय च पुनर्ववणं कार्यमिति । अस्त्रात्मात्मक्ष्त्रत्यास्त्रक्ष्याः सामान्यतो द्वातस्यार्थस्य ज्ञातांत्रस्त्रादाय अज्ञातांत्रज्ञानाम् विस्तृतक्षियनाय च पुनर्ववणं कार्यमिति । अवस्त्रत्यास्त्रक्ष्याः न विकास्त्रत्यास्त्रक्ष्यः । तस्त्रदर्शिनरः हित विद्योषणं नेपानन्त्रन्तोन्ते मृत्यात्, न विनयातिरहितायः च वक्तव्यम् ' इत्यादिविधिमयुक्त-विकामोतिकञ्जनीय इत्यात्यवाहि प्रणिपातादिभिरिति । 'तस्ते स विद्वान् उपसत्राय सम्यक्तै' इत्युषकम्य 'पोवाच तां तस्त्रतो ब्रह्मविधास् (य. १. २. १. २. ३) इति श्रुतेविधिमरत्ये च वाचन्तस्ते तस्त्रवर्धिन्तात् यावान्यत्येत्रस्यन्तिति भावः । प्रकृषणं नीजैः पत्नं प्रणिपातः। प्रवस्त्रम्तात्रस्य स्पानिम्वानेन तत्त्रत्विविध्यस्य स्वाद्विक्तिसः स्वुद्धिमतातिरेक्ष्यकृतेन अञानतः इत्र साक्षात्मष्टवानिष्वानिन तत्त्रत्विविध्यस्य स्वाद्विक्तियः । प्रतिवादित्व क्रवृद्धिमित्र सत्त्रत्वस्याने व कर्तव्यमिति भावः । स्वत्रत्वा स्वाद्वानिष्वाविष्यः । प्रतिवादित्वत् क्रवृद्धिमित्रस्य स्वत्रव्यस्याने च कर्तव्यमिति भावः । स्वत्रत्व त्र सक्ताः, विरानुवर्तनं व ॥

कर्मान्तर्भृतस्याऽऽरमयाथात्म्य विपाकानुगुणं कालेन वेदनीयस्य साक्षात्कारावस्यायाधिद्दं यज्जात्वेत्यनेनृ स्हेकिनोत्त्यत इत्याह झानमपाथात्म्यति । एविमत्यस्यार्थो - देवे (हे) त्यादिनोक्तः । अशेषेणेत्यस्य ताल्यवीर्धमाह देवमनुष्येत्यादि [ना?] । तेन 'विद्यािन्नियसंपत्ने'-(५.१८) इत्यादि वस्थमाणं सारितम् । भृतश्चेत्वेत्त्यस्यादि विद्याप्ति । तेन देवाद्याकारानुसन्याने हेतुईितितः । आतस्य-व्याप्ते मिष्य इति सप्तभ्योस्तामानाधिकरण्यभगश्यदासाय स्वात्मन्येवेत्यकम् । एविवयस्य प्राकरणिकस्य प्राक्षात्कारस्य स्वात्मविवयत्यात् अधो मिष्य इत्यनेन प्रथमावस्यनतात् वस्यमाणसमदित्वित्विवाककमाच व्यविवस्य प्राकर्तित्वेतिति भावः । सर्वाणि भृतानि स्वात्मिन द्रश्चित्यस्य प्राक्तिस्यायेन द्रश्चमात्रस्य प्रात्मिन प्रयात्वित्वति भावः । सर्वाणि भृतानि स्वात्मिन द्रश्चित्यस्य प्रकृतिसंत्रोणि वियमतया प्रतिपत्नानि प्रमुद्धित्या आते स्वात्मिन निद्द्यास्य प्रकृतिसंत्रम्यस्य प्रात्मिन स्वात्मिन स्वात्मिन स्वात्मिनस्य स्वात्मिन स्वात्मिनस्य स्वात्मिनस्य साम्य देवो न नरः (वि.२ १३. ९८), 'नायं देवो न मरः वा राद्यावनुतारेणाह ज्ञानैकाकारस्य वाति । साम्यी वा' इत्यावनुतारेणाह ज्ञानैकाकारस्य वित । सास्यी वा' इत्यावनुतारेणाह ज्ञानैकाकारस्य वित । सास्यी वा' इत्यावनुतारेणाह ज्ञानैकाकारस्य वित । सास्यी वा' इत्यावनुतारेणाह ज्ञानैकाकारस्य वित । सास्यीन सर्वोनुतस्यानहेतुतयोक्तं साम्य

<sup>2</sup> नतु यदान्ये स्वतास्थासाक्षाः तरिषः वातु यसं वहेयुः, तरवता मदात्मसानवैदाद्यं कथमिति शंकायां सर्वात्मसाम्यमाह । देहातिरेकतोऽपि साम्यं प्राह्मम् ।

विनिर्मुक्तमात्मखरूपं सर्वे समिति च वश्यते, "निर्दोषं हि समं ब्रक्ष तसाद्ब्रक्षणि ते स्थिताः" (५. १९) इति । अयो मिय सर्वभूतान्य नेषेग द्रश्यितः, मत्स्वरूपतान्यात् (च) परिद्युद्धस्य सर्वसाऽऽत्मवस्तुनः । "इदं ज्ञासुपाश्रित्य मम सावर्म्यमागताः" (१४.२) इति हि वश्यते । तथा, "तदा विद्वान् पुण्यपापे विध्य निरज्ञनः परमं साम्यस्रपैति" (सु. २.१.३१) इत्येवमादिषु नामरूपविनिर्मुक्तसाऽऽत्भवस्तुनः परस्वरूपताम्यभवगम्यते । अतः प्रकृति-विनिर्मुक्तं सर्वमात्मवस्तु परस्वरूप समं सर्वेथ्यरेण च समम् ॥ ३५ ॥

भवि चेदिस पायेभ्यः सर्वेभ्यः पायक्र तमः । त्यर्वे ज्ञातप्ट वेनैव वृक्तिनं संतरिष्यस्ति ॥ ३६ यद्यपि सर्वेभ्यः पायेभ्यः पायक्र तमोऽसि, सर्वे पूर्वार्जितं वृक्तिनरूपं सधुद्र गात्मविषयः ज्ञानरूपं रुवेनैव संतरिष्यत्से ॥ ३६ ॥

परेवासि सिम्बोऽग्विमंस्नलाः करतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणे मस्यसाः करते तथा ॥३७ परताद्वस्थमाणत्वाद्विद्वानुक्तमित्यभिपायेणाह प्रकृतितः सर्गेति । अथो सर्योत्यादि । मिन्नदर्शनेन स्वास्मानं परांध्य द्वस्थसीत्यर्थः । अनीधराणां कर्मवश्यानां कथमीधरिनदर्शनेनानुसम्धानित्यत्वाह—सरस्करसाम्यारपरिगृद्धस्येति । हेतुत्रयोक्तमीधरसाधम्ये(साम्य)मिष परस्ताद्वस्थत इति नेहोक्तमित्याह इदिनित । परिगुद्धात्मनः परमात्मसाम्ये श्रुतिरप्यस्तीत्याह तथेति । पुण्यपापे विधृय निरञ्जनः—पुण्यपापिवगमात् तत्कृतप्रकृतिसंस्गेतत्ययुक्तक्षेत्रादिरहितः । नामरूपविनिर्मुक्तस्येति पदेन "तथा विद्वान्नामरूपादिमुक्तः" (म. ३. २. ८) इति तत्नत्यं वाक्योन्तरमि स्वारितम् । ईश्वरसाम्यस्य कावित्तवाशक्षां निरस्य श्रुतिस्मृतिसद्धं हेतुं सङ्करस्य दर्शयति अत इति । एतेन श्रुत्यादिसिद्धमीधरसाम्यम्पि जीवानां परस्परसाम्ये हेतुरित्यप्युक्तं भविति । एतेन क्षेत्रज्ञानां परस्परम्, ईश्वरेण चैवयमिहोच्यत इति वदन्तः प्रस्पुक्ताः ॥ ननु स्वास्मिन सर्वेधरे च सर्वेपामाध्येत्रत्या दर्शनमिह विधीयतः इति प्रतीयते ॥ मैवम् ; स्वास्मनस्तर्वोधारत्वायोगात् ॥ परमात्मपर्यन्तवुद्धयोपपद्यत इति चेत् , न ; जीवसमाधः प्रकरण्णाधित्यात् । अतः स्वास्मित परेषां दर्शनं सर्वसमानाकारानुसन्धानम्॥ ३५॥।

एवं ज्ञानांशस्य प्राधान्यं निपाकानुगुणं कालेकाले वेदनीयत्वं लक्षणं चोक्तम्, अथ तस्य विरोधि निवर्तकत्वरूपं माहात्म्यमुच्यते अपिचेदिति स्लोकेन ॥ चेच्छ्व्यपर्यायो यदिः अपिश्च संहतौ(सिहितौ) यद्विषयो तद्विषयावतः अपिचेदित्येताविति व्यञ्जनाय यद्यपीत्युक्तम् । पापक्रतमशब्दनतियोगित्वातं पापेश्य इति शब्दः पापविशिष्टपुरुषविषयः । पापमाते वा । हेतौ पश्चभी । ज्ञानम्रवेन संतरिष्यसी त्यनयोस्सामध्यीत् श्रुजनरूपं समुद्रभिति रूपितम् । समुद्रस्वानुगुणं सर्वशब्दोक्तमानन्त्यमनादिकाष्ट्रपुरुतयोत्यायमिषायेणाह पूर्वार्जितमिति ॥ ३६॥

नन्नेकस्य कथमनादिकालप्रवृत्तानन्तपापनिवर्तकत्वम् ? "नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरिपर्ये (त्र. के. प्र. २ ६. ७०) इत्यादिवचनाच पापलरूपनिवर्तकत्वमनुपपन्नम् । केवलं विलम्बय(म्बाय) स्या-दित्याशङ्कयोच्यते यथैभांसीति । समुद्रसंतरणदृष्टान्तः पुनःप्रवेशाविरोधी ; काष्ट्रभससात्करणदृष्टान्तेन तु सम्यक्षप्रद्वोऽग्निरिन्धनसञ्चयमित, आत्मयाथात्म्यज्ञानरूपोऽग्निर्जीवात्मगतमनादि-कालप्रद्वत्तानन्तकर्मसञ्चयं भस्मीकरोति ॥ ३७ ॥

ान हि ज्ञानेन सहशं पवित्रमिह विद्यते । तत् खयं योगलंसिकः काळेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ यसादात्मज्ञानेन सहशं पवित्रं शुद्धिकामिह जगित वस्त्वन्तरं न विद्यते, तसादात्मज्ञानं सर्वपापं नाश्यतीत्वर्थः । तत् तथाविधं ज्ञानं यथोपदेशमहरहरनुष्ठीयमानज्ञानाकारकर्मयोगसंसिद्धः काळेन स्वात्मनि स्वयमेव स्वयने ॥ ३८ ॥ तदेव विस्पष्टमाह—
अञ्चावान् स्वयते ज्ञानं तत्यरः संयतेन्द्रियः । आतं स्वयन्त्र वरं शान्तिमिक्दिणाचिगच्छति ॥

पुनः कार्यकरत्वपसङ्गोऽपि प्रतिषिद्धः । भस्ससारकुरः — मस्मीनृतानि कुरुते, अकार्यकराणि कुरुत इत्यर्थः । सिमद्ध इत्यल सर्वेदहनयोग्यत्वायोपर्साप्यात्वर्थयोग्येखनम् सम्यकप्रद्धद्व इति । एधांसीति बहुवचनमेकस्यानेकनियर्तकत्वामिपायमिति दशैयति इन्धनसञ्चयमिति । सर्वकर्माणीति वचनात् विरोधित्वेन स्थितस्य सांसारिकपुण्यविशेषस्यापि नियर्तकत्वमवगतम् । 'नाभुक्तम्' इत्यादि त्वन्यपरम् , अन्यथा प्रायश्चित्तशास्त्राण्यपि कुप्येयुरिति भावः ॥ ३७ ॥

होत्वर्धेन । तदाह यसादिति । वैदस्यन्तरमित ज्ञानरहितकम्पुण्यस्थानादिकम्, 'क्षेत्रज्ञस्येश्वर्ज्ञानात् विद्युद्धिः' (या. स्म. २. १) इत्युक्तादीश्वरज्ञानाद्विज्ञम्पुण्यस्थानादिकम्, 'क्षेत्रज्ञस्येश्वर्ज्ञानात् विद्युद्धिः' (या. स्म. २. १) इत्युक्तादीश्वरज्ञानादर्वाचीनेषु परिग्रद्धाःसज्ञानतुर्यं पावनं नास्तीत्यर्थः । ननु इदानी तथाविषज्ञानं कुर्यामिति सामिसन्धिकस्यापि तज्ञ ज्ञायते ; अतस्तस्य पुरुष्ट्यापाराविषयर्वात् अविवेयस्विमिति शङ्का परिह्नियते तरस्वयमित्यर्थेन । तन्द्वट्वदेन विपाकावस्य परामुद्ध्यत इत्याद तथा-विषज्ञानस्य संस्कारपाचुर्योद्धिः।धिपापनिवर्तनाच स्वयमागमे हेतुः 'योगसंसिद्धः' इत्यनेनोच्यत इत्यमिन्ययेणाह्य ज्ञानास्य संस्कारपाचुर्योद्धिः।धिपापनिवर्तनाच स्वयमागमे हेतुः 'योगसंसिद्धः' इत्यनेनोच्यत इत्यमिन्प्रयेणाह्य ज्ञानाकारकर्मयोगसंसिद्धः इति । पक्कष्पायत्वर्वस्थणयोग्यतापत्त इत्यश्वः । स्वयंशव्देन तदानिमुपदेशनैरपेक्यमुच्यत इत्यमिनयोगाद्य स्वयमेविति । ज्ञानस्वरूपस्य साक्षात्वर्थयतागोचरत्वेऽपि तन्मुरुम्तोक्ताकारकर्मयोगद्वारा तस्य विधेयत्वमुपपद्यत इति भावः । अत्र आस्मनीति विषयसत्तमी । इदानी तद्वहितेऽपीत्यमिन्नायेणाधिकरणार्थस्यं वा, स्वात्मसाक्षिकमिति वा विवक्षितम् ॥ २८ ॥

पूर्वश्लोकार्धयोरनन्तरश्लोकार्थे व्युत्क्रमेण विवरणरूपे इत्यभिपायेणाह तदेव विस्वष्टमाहेति । श्रद्धावत्त्वादिकं स्वयं ज्ञानलामे हेतुः ; 'अज्ञश्चाश्रद्धानश्च' (४. ४०) इति वश्यमाणत्वादलापि ज्ञः श्रद्धवांश्चेति विवक्षितमिति ज्ञापनार्थं, तल दशामेदन्यञ्जनार्थं, श्रद्धोत्पत्तिसिद्धवर्थं चोक्तम् उपदेशात्

<sup>1</sup> पूर्वार्धं पूर्वश्लोकशेषः। पावलत्वं परिपाकानन्तरमेवेत्युत्तरार्धेनोच्यते।

<sup>2</sup> यं हि न ध्यथयस्येते—'सोऽमृतस्याय करपते' इति तितिक्षामात्रेण मोक्षे कथ्यमाने जीवात्मज्ञानेन मोक्षकथनं कुतो न युक्तम् । परम्परयैत्येच सर्वत्र विवक्षितम् । परमान्ति संपादक-क्षानसामो ज्ञानयोगं वित्तेवैत्येवात्र विवक्षितम् । न तु मक्तिय्यवच्छेदः ।

एवमुपदेशात् ज्ञातं रुब्ध्वा चोपदिष्टज्ञानयुद्धी श्रद्धावान् तत्परः तन्नैव नियतमनाः तदितरविषयात्त्वेत्रतेन्द्रियोऽचिरेण द्वाछेनोक्तरुक्षणविषाक्षद्वापश्चं ज्ञानं रुपते, तथाविधं ज्ञानं रुब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति परं निर्वाणसाप्नोति ॥ ३९ ॥

उक्त एवार्थो व्यतिरेकेण स्थाप्यते अज्ञश्चिति स्रोकेन । उण्देशसञ्च्यज्ञानगहित इति । पूर्वक्रम-निर्देशौचित्यादश्रद्धाहेत्याकाव्श्वणात्, संज्ञयदशासमिन्याहाराच अज्ञशब्दोऽल शास्त्रजन्यज्ञानिवृतिषर इति नायः । संशयस्य प्रथमिहितत्यात् अश्रद्धानः इत्येतत् न विश्वासनिवेषपरम्, किं त्वाकाव्र्थानिवेषपरम् ; प्रकृणकाव्यव्यविक्षयः विवायत्य अश्वत्यमाण इत्युक्तम् । संशयमाना इति संशय्यतेऽनेनेति संश्चयः संशयकारणम् ; संशयहेतुम्तमना इत्यर्थः । यद्वा संशये मनो यस्येति विश्वहः । नित्यस्थासनः प्रकार्षश्चर्यत्यत्वरुक्षणस्य विनाशस्य पूर्वीपरभावेन संतन्यमानस्य पाचीनस्यैवानुवृत्तिपदर्शनाय प्रकृति-प्रत्यार्थमेदविवक्षया विनाशस्य पूर्वीपरभावेन संतन्यमानस्य पाचीनस्यैवानुवृत्तिपदर्शनाय प्रकृति-प्रत्यार्थमेदविवक्षया विनाशस्य पूर्वीपरभावेन संतन्यमानस्य पाचीनस्येवानुवृत्तिपदर्शनाय प्रकृति-प्रत्यार्थमेदविवक्षया विनाशस्य प्रवीगोऽप्यक्तेन स्वितः । विनश्चरतित्यस्य विवरणमुत्तरार्थम् । अयमपीनस्यनेतायस्य विवरणमुत्तरार्थम् । पाची लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुस्तम् । ए १ १ १ १ हितवत् अलापि स्रोकशब्दः पुरुषार्थविषयः । किमुतिकन्यायप्रदर्शनार्थं च अयं स्रोकः इत्युक्तम् । मोक्ष-

<sup>1</sup> तदेव जिरुष्टमाहेत्यवतारिताबाद् अन्नानिरेणेरयुक्तया कालेनेत्येतद्वेतद्विरोधेन नेयमिति, विलम्बर्शकावरिहारः। 2 नतु उक्तलक्षणेति कथम्—उत्तरार्धे मोक्षस्य प्रवातया तदेतुद्वान-स्यापि प्राह्मत्वादित्यनाह भक्तीति। अतो जीवानुभवमात्रं द्वितीयाच्याय द्वेदेति भावः।

पुरुषार्थात्र न सिष्यन्ति, कृतो मोक्ष इत्यर्थः ; शास्त्रीयकर्म[ज ?]िविहिक्ष्यस्यात् सर्वेषां पुरुषार्थानाम् , शास्त्रीयकर्मजन्यसिद्धेश्च देहातिरिक्तात्मनिश्चयपूर्वकत्यात् । अतः सुस्रलय-भागित्वमात्मनि संग्रयात्मनो न संभवति ॥ ४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंच्छित्रसंशयस् । आस्मवन्तं न कर्माणि निवधनित धनस्त्रयः॥ ४१ यथोपदिष्टयोगेन संन्यस्तकर्माणम् ज्ञानाकारतापत्रकर्माणं यथोपदिष्टेन चात्मज्ञानेन आत्मनि संच्छित्रसंशयम् , आत्मवन्तं मनस्विनम्-उपदिष्टार्थे द्वाविश्यतमनसं बन्धहेतुभृत-प्राचीनानन्तकर्माणि न निवधन्ति ॥ ४१ ॥

तस्मादश्चानसंभूतं हत्स्थं शानासिनाऽऽत्मनः। छिन्त्रैनं संशयं योगमानिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ इति श्रीमद्भगवद्गीतास्पनिषस्य ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ १ ॥

तसादनायज्ञानसंभृतं हृत्स्यम् आत्मिवपयं संग्रयं मयोपिद्देष्टेनात्मञ्चानाित्तेना छिन्वा प्रकरणत्वाचातायंशव्दपरशव्दयोने सौमविद्यविषयत्वप्रचितित्त्विध्यायेणाह धर्मार्थितः। सोक्षोपाय-मृतार्थे संशयात्मनः कथं पुरुषार्थान्तराितिद्धित्त्रित्त्वाह श्वास्त्रीयेति । अस्तु तत्तच्छ क्षेरेव तत्तत्तिद्धिः, किमनेन मोक्षोपयुक्तेनत्यवाह श्वास्त्रीयकर्मजन्याितेद्वेद्धीति । अवस्पित्रायः — न ह्यायुर्वेदादिवत् केवळमेतदेहान्तर्भाविक्तरत्यायां कर्म तत्तच्छाश्चैः अतिपायते, येन देहाितिरिक्तात्मज्ञानितरपेश्वता स्थात् । देहान्तरभाव्येव हि यज्ञादिसाध्यं स्वर्गोदिकं फर्छ प्राचुर्वेण प्रतिपायते । अतो देहाितिरिक्तात्म-निश्चयोऽत्यन्तापेक्षितः — इति । उभयविषयुरुषार्थराहित्योपसंहारत्यं न हुन्दांमत्येतदिति व्यक्तनायाह अत हित । यहा अनन्तसुखदुःस्वभोगक्षपित्रक्षेत्रस्वात्यस्य मनत्वापहेतुत्वात् तदानीन्तनदुःस्वाभि-प्रायेण न सुस्विनित्यक्तम् । अथवा पुरुषार्थयोग्यतािभमानमूछसुस्वाभावोऽभिमेतः ४०॥

अध्यायप्रधानार्थं उपसंहियते योगसन्यस्तेति स्ठोकेन । यथोपदिष्योगेनेति । 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (१८) इत्यादिनोपदिष्टयुद्धियोगेनेत्यर्थः । एतेनास्मावकोकनस्त्रयोगध्युदासः । संन्यस्त-कर्माणिमित्यत्व कर्मस्वरूपत्याग्रमस्युदासाय इतिनाकारतापन्नक्रमोणिमित्यत्व कर्मस्वरूपत्याग्रमस्युदासाय इति कर्माणिमित्यत्व कर्मस्वरूपत्याग्रमस्यान्याकान्यत्व । सर्वत्याग्रमस्यान्याकान्यत्व । स्वरूपत्याग्रमस्यान्यत्व । स्वरूपत्याग्रमस्यान्यत्व । स्वरूपत्याग्रमस्यान्यत्व । स्वरूपत्याग्रमस्यान्यत्व । स्वरूपत्याप्यस्य । आत्मवन्तित्व स्वरूपत्यत्व । स्वरूपत्यस्यस्य प्रयोग्रमस्यान्यत्व प्रयोग्रमस्य । स्वर्पत्यस्य । स्वरूपत्यस्य । स्वर्पत्यस्य । स्वरूपत्यस्य क्षाप्यस्य । स्वरूपत्यस्य । स्वर्पत्यस्य स्वर्पत्यस्य स्वरूपत्यस्य स्वर्पत्यस्य स्वर्पत्यस्य स्वर्पत्यस्य स्वरूपत्यस्य स्वरू

एवं विस्तरेणोपपाद्योपसंहतोऽश्रोऽर्जुनं प्रति कर्तव्यतया निगम्यते तस्मादिति स्रोकेन । संशयस्य अज्ञानसंभृतत्वं विशेषाग्रहस्य संशयहेतुत्वात् । हृत्स्यं हृदि श्रव्यमिवार्षितम्, यहा हृत्स्यमिति (त्यस्य) आन्तरमिति भावः । आत्मनः इति षष्ट्या विषयविषयित्वरक्षणसंवन्यविशेषे पर्यवसानमन् मयोपदिष्टं कर्मयोगमातिष्ठः ; तदर्थमुतिष्ठ भारतेति ॥ २२ ॥ ॥ इति श्रीसगवद्गासानुजविरविते श्रीमदीतःभाष्ये चतुर्थौऽध्यायः॥ ४॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

चतुर्थेऽध्याये कर्मयोगस्य ज्ञानाकारतापूर्वकत्त्ररूपमेदो ज्ञानांशस्य च प्राधान्यश्चक्तम्; ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि कर्मयोगस्यान्तर्गतात्मज्ञानत्वात् अप्रमादत्वात् सुकरत्वात् निरपेश्व-त्वाच ज्यायस्त्वं तृतीय एवोक्तम्। इदानीं कर्मयोगस्याऽऽत्मप्राप्तिसाधनत्वे ज्ञाननिष्ठायाद्दशैष्ट्यं कर्मयोगान्तर्गताकृत्वानुसन्धानप्रकारं च प्रतिपाद्य तन्मुलं ज्ञानं च विशोष्यते ॥

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्थोगं च शंसस्ति । यच्छ्रेय पतयोरेकं तन्मे बृहि सुनिश्चितम् ॥१ कर्मणां संन्यासं ज्ञानयोगम् पुनः कर्मयोगं च शंससि । एतद्कं भवति-द्वितीयेऽध्याये

विवक्षितमिति चोतनाय आरमविषयं संशयमिरयुक्तम् । यद्वा एनं संशयमिति निर्देशादास्मविषयः सिद्धम् ; आरमनः इत्यस्य तु ज्ञानास्तिना इत्यनेनान्वयाय आरमज्ञानासिनेत्युक्तम् । काकाक्षिन्यायेन उमयस्य वाऽन्वयः । मयेत्यनेनोपदेषुः सर्वज्ञत्वकारुणिकत्वादिपौष्कत्यादाप्ततमत्वं विवक्षितम् । कर्मयोगोपदेशोपसंहारतया योगशब्दोऽस्त नेजरविषय इति ज्ञापनाय सयोपदिष्टं कर्मयोगामित्युक्तम् । मरतकुरुक्सम्तार्जुनस्य स्वर्धममूत्युद्धार्थमुत्थानमेव कर्मयोगाश्रमुत्थानमिति भारतशब्दामिशायव्यक्षनाय तद्र्थमुत्तिष्ठ मारतेत्युक्तम् । तेनैव मोक्षोपाययोग्यत्वाय योगिवंशप्रस्तत्वमप्यर्जुनस्य स्वयते ॥ ४२ ॥

#### ॥ इति श्रीमद्गीताभाष्यदीकायां तात्पर्यचिन्द्रकायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमस्यांशतस्तृतीयचतुर्थाभ्यां सङ्गतिप्रदर्शनायोक्तानुक्तांशिववेकेन पञ्चमस्यानुक्तांशे तारप्य-प्रदर्शनाय चाऽऽह चतुर्थेऽभ्याय इति । कर्मयोगस्य झानाकारतेत्यादिकं चतुर्थाध्यायप्रधानार्था-ऽयमिति द्योतनार्थम् , सङ्गतिप्रदेशपदर्शनार्थं च । तृतीय एवेति । कर्तव्यतोपदेशस्य्रक्षण एवेत्वर्थः । पञ्चमार्थमाह इदानीमिति । अत्तेवं संग्रह्स्रोकः, "कर्मयोगस्य सौकर्यं शैष्ठचं काश्चन तिद्वधाः । व्रह्मस्यान्य उच्यते" (९) इति । अत्र सौकर्यं शैष्ठचं काश्चन तिद्वधाः । व्रह्मस्यान्यवचनं सौकर्यस्य पञ्चमाध्याय उच्यते" (९) इति । अत्र सौकर्यं शैष्ठचं काश्चन तिद्वधाः । व्रह्मचमात्रवचनं सौकर्यस्य तृतीयाध्यायोक्तस्येवानुवादः पञ्चमे शेष्ठचौपयिकतया क्रियत इति ज्ञापनार्थम् । शेष्ठचं तु तत्वानुक्तत्वादत्व साक्षात्पतिपाद्यम् । काश्चन तिद्वधाः, व्रह्मज्ञानप्रकारश्च इत्युभयोव्योच्यांच्यान्त्रवेण कर्मयोगेत्यादिना तृतीयचतुर्थाभ्यामंशतस्यक्रतिरुक्ता भवति । ज्ञानिष्ठाया इति पञ्चमी । तत्र प्रकाश्चवदेन, विशोध्यत्व इति वचनाच अनुक्तांशतात्वर्येणापौनरवत्वं दर्शितम् । तन्म्सं झान्मिः विवाकदशापत्रज्ञानं विविक्षतत्व । अथ 'तिद्वद्धि प्रणिपातेन' (४. ३) इत्येतदनुसन्दधानः अनुक्तमपिक्षतममंशं सीजज्ञायुरुक्तमेवार्थं परिष्टच्छल्ञर्जुन उवाच संन्यासिनिति । संन्यासयोगशब्दावत मञ्चतवक्षयमाणसाङ्कच्ययोगिविषयतया नार्थान्तरपरावित्यनिप्रायेणाह कर्मणां संन्यासं झानयोगिनिति ।

मुम्रुक्षीः प्रथमं कर्मयोग एव कार्यः, कर्मयोगेन मृदितान्तःकरणकवायस्य झानयोगेनाऽऽत्म-दर्शनं कार्यमिति प्रतिपाद्य पुनस्तृतीयचतुर्थयोः झानयोगाधिकारद्शापनस्यापि कर्मनिष्टैव ज्यायसी, सैव झाननिष्टानिरपेक्षा आत्मप्राप्तौ साधनमिति कर्मनिष्टां प्रश्नंससि इति । तत्नैतयोर्ज्ञानयोगकर्मयोगयोरात्मप्राप्तिसाधनमावे यदेकं सौकर्याञ्छैप्रयाच श्रेयः श्रेष्टमिति स्विध्यतम्, तन्मे बृहि ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच-

संन्यासः कर्मयोगश्च निरुधेयसकरातुष्मौ । तयोस्तु कर्मसंन्यातात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ संन्यासः द्वानयोगः, कर्मयोगश्च ज्ञानयोगशक्तसाष्युमौ निरपेक्षौ निरुधेयसकरौ ।

<sup>7</sup>कर्मणामित्येतत् उभयान्वितम् । ननु कर्मयोगस्य त्याज्यत्वं कचिदपि नोक्तम् ; प्रत्युत तदेवोपादेय-तया प्रपश्चितमः न च ज्ञानयोगस्य प्रशंसा कापि कृताः येन 'संन्यासं....योगं च शंसित्ते' इत्युच्यते । उभयोः प्रशंसने कृतेऽपि विकल्प इत्येव मन्तव्यम् , न पुनरन्यतराधिवयप्रश्लावकाश इत्यलाह एन-दक्तमिति । प्रतिपाद्येत्यन्तेन संन्यासं कर्मणामित्यत्यामिपायो विद्यतः । कषायनिद्यत्यर्थः कर्मयोगः । ु तिबिद्यतौ कर्मयोगं परित्यव्य ज्ञानयोग उपादेयः ; अतो ज्ञानयोग एवात्मदर्शने साक्षात्साधनमिति द्वितीये प्रतिपादितमिति भाव:। पूर्वं संन्यस्तस्य पुनर्योगं शंससीति भ्रमन्युद।साय **शंससीत्यनेन** पुन-शब्दा-वयमाह तृतीयचतुर्थयोरिति । द्वितीय इत्येतत् तृतीयचतुर्थयोरित्येतच भाष्यकारैस्खान--सन्धानेनोक्तम् , न पुनरर्जुनवाक्यानुकारः<sup>2</sup> । अत मृदितकषायस्य कर्मयोगस्त्याज्यश्चेत् , कथमुपादेयः. ज्ञानयोगस्य दर्शनसाधनत्वे कथमव्यवयानेन तत्संभव इति भावः। 'कर्म ज्यायो श्रक्मणः' (३.८) इति ज्यायस्त्वेन [कथनात् तस्य प्र ?]शंसनमित्यभिषायेणाह् प्रशंससीति । तत्नेति द्वयोरप्यव्यवहितसाधनत्वे विवक्षिते इत्यर्थः । **एतयो**रित्यत्र निर्धारितान्यतरविषय **एक**शब्दः । तत्र सामान्याकारविवक्षया नपुंसकत्वम् , श्रेयरहाटद्विशेषणतया वा । सौकर्याच्छैप्रयाचेति फलस्यैकत्वात् तन्निवन्धनं श्रेष्ठधमिहा-युक्तमिति भावः । श्रेयस्सुनिश्चित्तमित्यन्वयः । श्रेयस्त्वेन सुनिश्चितमित्यर्थः । क्रियाविशेषणस्वं त निरर्थकमित्यभिपायेणाह श्रेष्ठमिति सुनिश्चितमिति । श्रेयरशब्दस्य फलादिप्वपि प्रयोगपाञ्चर्यात् तद्व<u>य</u>दासाय तारतम्यप्रश<u>ान्</u>गण्येन प्रकृतिप्रत्ययार्थव्यञ्जनाय **श्रेष्ठ**शब्देन व्याख्यातम् (नम् १) । अत्रै-कफलसाधनत्वाद्विकरुपे प्राप्ते सौकर्यादिगुणयोगाळेयस्वोक्तिः ॥ १ ॥

अथ सद्वारकःवाभिधानस्य अधिकारिविद्योषनियततया द्वयोरप्यव्यवहितसाधनःवमुपपादयन् तत एव मृदितकधायस्यापि सौकर्यशेष्ठयसिक्षनस्तस्यैव कर्तव्यतां च द्रदयन् भगवानुवाच संन्यास इति । ज्ञानयोगाशक्तस्य कर्मयोगसापेक्षस्वात् तच्छक्तस्यैव निरपेक्षसाधनःवोक्तिरुपक्षसमिपायेणाह **द्वानयोग-**यक्तस्यापीति । 'उमौ निदश्रेयसकरौ' इत्येतस्मामर्थ्यात् , 'एकमप्यास्थितः सम्यगुमयोर्विन्दते फळम्' (४)

बनेन कर्मयोगराःदस्य झानशोगराःद्वत् समानाधिकरणसमास इव कर्मसंन्यासराःद्वत्
 बद्रीतत्युरुषोपि झाप्यते ।
 गीतायाम् अध्यायमेदो हि व्यासकृतः, न तु हृष्णादिकृतः ।

तदोस्त कर्मसंन्यासात् ज्ञानयोगात् कर्मयोग एव विशिष्यते ६ २ ॥ इत इत्यत्राह—

हैयः स नि उसंन्यासो थो न देष्टि न काङ्कति । निर्देग्द्रो हि महावाहो सुसं बन्धाद प्रमुच्यते ॥३

यः क्रमेथोगी तदन्तर्गतात्मानुमवद्यस्त्वचित्रिक्तं किमपि न काङ्खिति, तत एव किमपि न द्रेष्टि, तत एव द्रन्द्रसहश्च ; स नित्यसंन्यःसी नित्यज्ञाननिष्ठ इति ज्ञेयः । स हि सुकाकमेथोगनिष्ठतया सुखं बन्धात् प्रश्चच्यते ॥ ३ ॥

ज्ञानयोगकर्मयोगयोशतमप्राप्तिसाधनभावेऽन्योन्यनैरपेक्ष्यमाह—

सांख्ययोगौ पृथग्वग्द्धाः प्रवद्नित न पण्डिताः। एकपप्यास्थितस्लग्यगुभयोर्विन्दसे फस्रम् ॥ ४

इति बक्ष्यनाणानुसन्धानाच निरपेक्षावित्युक्तम् । चकारेणाप्येतदेव व्यज्यते । अन्वाचयेतरेतरयोग-समाहारा हि प्रथमकलसाधनत्वप्रकरणविरुद्धाः । अतः प्रथमलःतन्त्र्यगर्भससमुचय एवाल चार्थः । तर्हि द्वावप्यनियमेन यथेच्छमुवादेयौ, कमियोगस्य तु किनर्थे प्रशंसेति शङ्काव्युदासाय तुशन्दः । तद्भिषायन्यञ्जनार्थन् एवकारः ॥ २ ॥

'द्ववीः श्रेयस्ताधनत्वाविदोपेऽपि कर्मयोग एव विशिष्यते' इति प्रतिज्ञामालस् ; तल हेत्वाकाक्षायां सौकर्यास्यं हेतुमाहेत्याह द्धन इत्यत्राहेति । क्षेयः इति क्षोकः नित्यसंन्यासी
इत्यतावता ज्ञानयोगनिष्ठविषय इति न मन्तव्यम् , कर्मयोगो विशिष्यते इति प्रतिज्ञाय ज्ञानयोगनिष्ठस्य सुस्तेन मोक्षोक्तेरसङ्गतत्वात् ; 'सन्यासस्तु महावाहो दुःस्माप्तुमयोगतः' (६) इति
वस्यमाणिविरोधाद्य । अतः कर्मयोगिनिष्ठस्यैव प्रशंसेयमित्यमिप्रायेणाह् यः कर्मयोगीति । काक्क्षाया
वाद्यमालिदरोधाद्य । अतः कर्मयोगिनिष्ठस्यैव प्रशंसेयमित्यमिप्रायेणाह् यः कर्मयोगीति । काक्क्षाया
वाद्यमालिदरियत्वयस्यार्थे तद्धेवत्वार्थे च तद्भत्रार्थेति । स्वक्तमेण व्याख्यातच् । द्वन्द्वस्वरूपनिष्ठिव्यदासाय द्वन्द्वसह्यव्यः । ततः एव द्वन्द्वस्वर्थेति । रागद्वेपचतो द्वन्द्वतिक्षा न शक्येति भावः ।
नित्यसंन्यासित्वे (ह्वन्वव्यः हेतुपर्त्वव्यक्षनाथ ए इतिनुक्तम् । सुक्तश्वव्योज्ञ्ल सौकर्षपर इत्याह
सुक्रक्मियोगिनष्टतयेति ॥ ३ ॥

'निःश्रेयसकरावुसी' (२) इत्यभिनेतं विवृणोतीत्यभिधायेणाह द्वानयोगकसैयोगयोरिति। अत सांख्ययोगाशब्दौ न कः पिछहैरण्यगभिसिद्धान्तविषयो, तयोरअस्तुतत्वात्, महाप्रकरणासङ्गतत्वात्, 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विकिष्यते' (२), 'सन्यासस्तु महावाहो दुःखमाष्तुमयोगतः' (३) इत्यादिपूर्वोत्तरिवरोधात्, द्वारीरकद्वत्रेषु च, 'रचनानुपप्तेश्च नानुमानं पृष्टतेश्च' (२, २, १), 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (२, १, ३) इत्यादिभिस्पूर्वेत्तयोरिप सिद्धान्तयोः महिष्णेवापाकरणात् ! 'बहवः पुरुषा -राजन् सांख्ययोगिवृचारिणः । नेत इच्छन्ति पुरुषभिकं कुरुकुछोह्हहं' (मा. मो. ३५१, २), 'समासेन तु तत् व्यासः पुरुषेन्धसम्यमुक्तवान्'' (मा. मो. ३५१, ७) इति मोश्चधर्मे तयोर्बिरुद्धांशवचनाच । अतः संख्यया बुद्धचाऽवधारणीयमात्मतत्त्वं सांख्यम्, तद्वधारणस्त्यं सांख्यम् ; योगश्चात्र कर्मयोग इत्य-भिषायेण ज्ञानयोगकर्मयोगेशब्दोपादानम् । पृथुग्यासाः प्रवदन्तीति न सरूपप्थवस्तं निषध्यते ; ह्यानयोगकर्मयोगों फलभेदात्प्रथम्भृतौ ये प्रवदन्ति, ते बलाः अनिष्पञ्चानाः न पण्डिताः अकुतस्नविदः । कर्मयोगो हानयोगमेव साधयति ; ह्यानयोगस्त्वेक (ग एव) आस्मावलोकनं साधयतीति तयो। फलभेदे । प्रथमस्य वदन्तो न पण्डिता इत्यर्थः । उपयोग्समावलोकनैकफलयोरेकफललेवेन एकप्रयाण्यिकसत्वेच फलं लप्नते ॥ ४ ॥

एतदेव विश्वगोति--

यत् सांस्यैः प्राप्यते स्थानं तत् वोगैरवि गम्यते। एकं सांस्थं स योगं स यः पर्यति स पद्यति॥ सांस्यैः ज्ञान(योग)निष्ठैः। यः आस्वावलोकन्हपं फलं प्राप्यते, तदेव कर्मयोग-

भिक्षफळत्वेन प्रथक्त्वाभिधायिनां निन्दा कृता ; अयैक्षफळत्वेनैक्याभिधायिनां प्रशंसनं कियत इत्यभिषायेणाह एतदेव विद्यशोतीति । सांख्येरित्यत्न सिद्धान्तविद्योपनिष्ठभ्रमत्युदासायाह ज्ञानिनिष्टै-रिति । सांख्यमात्मज्ञानशास्त्रं तद्वेदिन इह सांख्याः ; यद्वा संख्या बुद्धिः, ज्ञानयोगः ; तिविष्ठाः सांख्याः ; अथवा सांख्य आत्मा, तद्वेदिनोऽपि साङ्ख्याः । स्थानशब्दोऽत 'विन्दते फळिमि'तिवत्

<sup>1</sup> नहु भाष्यक्रद्विमः बोजनायां यच्छन्दाच्याद्वाराद्गौरविम्दि वेद्यः कः पचतीति प्रक्षे देवदनः पचतित्युभर इव बोजनगढरम् अर्थत उद्देश्यविवेयमावकरपनात् अध्याद्वाराविवक्षणात्। पवनयंत्रचे अर्थेल पद्यक्षित्र निर्दायरम् । उपरित्तं तु तद्श्यप्रशंक्षापरिमिति अपौनरक्रयम् । तिद्दम् अत्र उत्तरमावतिरिकायाञ्च व्यक्तम् ।

निष्टैरिप प्राप्यते । एवमेकफलरवेन एकं वैकल्पिकं सांख्यं योगं च या पश्यति, स पश्यति स एव पण्डित इत्यर्थः ॥ ५ ॥ इयान् विशेष इत्याह—

संन्यासस्तु महावाही दुःखनाव्तुमयोगनः। योगयुक्तो मुनिर्वद्य निचरेणाधिगच्छति॥ ६ संन्यासः ज्ञानयोगस्तु अयोगतः कर्मयोगात् ऋते प्राप्तुमशक्याः ; योगयुक्तः कर्मयोग युक्तः स्वयमेव सुनिः आत्ममननशीलः सुखेन कर्मयोगं साधियत्वा निचरेण अस्पेनैव कालेन ब्रह्माधिगच्छति आत्मानं प्रामोति । ज्ञानयोगयुक्तस्तु महता दुःखेन ज्ञानयोगं साधयति ; दुःखसाध्यत्वादातमानं चिरेण प्रामोति सिध्यति ।। ६ ॥

फळविषयः ; न तु देशिबेशेषिवषयः, ज्ञानयोगादिमालयाप्यदेशिवशेषाभावात् । तच फळ पूर्वेत्तरानुइत्तमात्मावळोकनिमत्यभियायेण यदात्मावळोकन रूपं फळिनित्युक्तम् । अत यदेव साङ्ख्याः पत्रयन्तीति यादवप्रकाशोक्तः पाठोऽप्रसिद्धत्वादनः इतः । योगैरित्येतत् ळक्षणया वा <sup>2</sup>पत्ययदिशेषाद्वा तिल्वष्ठविषयमिति व्यञ्जनाय कर्मयोगिनिष्ठैरित्युक्तम् । अत्र सांख्ययोगशस्त्रः नेतिपायपरौ, वहुवचनानी-चित्यादिति भावः । एकमित्युक्तेः ] एकशास्त्रार्थत्वादिश्रमच्युदासायाह एवमेकफळत्वेनेति । अङ्गा क्रिभावेतरेतर्योगरहितयोरुपाययोरेकफळत्वळक्षणं श्चैत्रयमनुष्ठाने विकल्पाय स्यात् । तथा च स्वस् — "विकल्पोऽविशिष्टफळत्वात्" (त्र. ३. ३. ५७) इति । तदाह वैकल्पिकमिति । स पःयतीत्येतत् न पण्डिताः (४) इत्येतत्यतिरूपमिति दश्चिति स एव पण्डितः इति ॥ ५॥

ननु 'कमेयोगो विशिष्यते' (२) इति वचनम्, अल वैकल्पिकत्वःचनं च कथमुप्पयते, अत्यन्त तुल्यत्वे हि विकल्प इति शक्कायाम्, सौकर्यश्रेष्ठ्याभ्यां वैशिष्ट्यम्, फल्स्यात्यन्ततुल्यत्या च विकल्पः ; अधिकारिमेदप्रित्यत्वाच न दुष्करिक्श्वियाभ्यां वैशिष्ट्यम्, फल्स्यात्यन्ततुल्यत्या च विकल्पः ; अधिकारिमेदप्रित्यत्वाच न दुष्करिक्श्वियाभ्यत्यः ; अयोगतः इत्यनेत कमेयोगमन्तरेण ज्ञानयोगस्त्ररूपमेव न सिध्यतीत्यभिपेतम् ; तदाह कमियोगादत इति । 'श्वयमञ्जलिमः पातुं वाताः' (रा. कि. २८. ८) इत्यादिवद् दृःस्वशन्दस्याल नपुंसकरवम् । मृनिशन्दे प्रकृतापेक्षितप्रकृतिपत्ययार्थविवरणम् मननशिल इति । तलाकर्तृत्वानुसम्यानप्रकरणवलान्यन्तरात्विषयत्योक्तिः । स्वयमेव — ज्ञानयोगमन्तरेणेत्यर्थः । 'दुःस्वपप्तुमयोगतः' इत्येतद्यतिरेकानुसन्धानात् सुखेन कमेयोगं साध्यित्वे-त्युक्तम् । न चिरेणेति ननः कियान्यये चिरेणाप्यिवगगमो न स्यादिति अमः स्यात् ; तद्वयुदासाय नचिरेणेत्यक्तम् । नैकादिवत् नचिरेणेति समस्तप्रयोगः । अक्षशन्दोऽह्न परिशुद्धारमस्वरूपरुक्षम् । नचिरेणेति ननः कियान्यये चिरेणाप्यिवगगमो न स्यादिति अमः स्यात् ; तद्वयुदासाय नचिरेणेत्यक्तम् । नैकादिवत् नचिरेणेति समस्तप्रयोगः । अक्षशन्दोऽह्न परिशुद्धारमस्वरूपरुक्षम् । तद्यति नच्यवित्तास्याप्तिसाधनत्वं वदता, प्रकृतसंसन्यासो ब्रह्मशन्यते इति श्रङ्करोक्तं पर्यक्तम् । तद्यति रेकण पूर्वोक्तं प्रयिति ज्ञानयोगपुक्त इति । दुःखसाध्यत्वात् विलम्बितपरुक्ते ज्ञानयोगः ; कमेयोगस्तु सुस्यस्यादविलम्बत्वरू इति वैषस्यमनेन स्रोक्तेनोक्तं भवति ॥ ६ ॥

<sup>1</sup> मात्रपदेन आत्मावलोकनांशस्यापि व्यवच्छेदः। 2 अर्श आधक्तन्तत्वादिकमिष्टम्।

योगयुक्तो विद्युद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वश्चित म स्थियते ॥ ७ कर्मयोगयुक्तस्तु शास्त्रीये परमपुरुषाराधनरूपे विद्युद्धे कर्मणि वर्तमानः तेन विद्युद्ध-मनाः विजितात्मा स्वाभ्यस्ते कर्मणि व्यापृतमनस्त्वेन सुखेन विजितमनाः, तत एव जितेन्द्रियः कर्तुरात्मनो याधात्म्यानुसन्धानिष्ठितया सर्वभूतात्मभूतात्मा=सर्वेषां देवादिभूतानाम् आत्मभूत आत्मा यस्थासौ सर्वभूतात्मभूतात्मा । आत्मयाधात्म्यमनुसन्द्धानस्य हि देवादीनां स्वस्य चैकाकार आत्मा ; देवादिभेदानां प्रकृतिपरिणामिक्शेषरूपत्याऽऽत्माकारत्वासंभवात् । प्रकृतिविद्युक्तः सर्वत्र देवादिदेदेदु ज्ञानैकाकारत्या समानाकार इति 'निर्दोषं हि समं प्रका' (१९) इति अनन्तरमेव वक्ष्यते । स एवंभूतः कर्म कृर्वविषि अनात्मन्यात्माभिमानेन न

कर्मयोगस्य सुखसाध्यत्वे शीव्रफलाधिगमे च हेतुरुच्यते योगयुक्तः इति श्लोकेन । पूर्वी आत्मशन्दौ मनोविषयौ, जितेन्द्रियसमभिन्याहारात् । योगयुक्तः इत्यनेनैव सिद्धो विशुद्धमनस्त्वे हेतुः शास्त्रीय इत्यादिनोच्यते । विश्वद्भित्तत्र रजस्तमोनिवृत्तिस्तन्मूळरागद्वेषादिकषायनिवृत्तिश्च । प्रावस-मर्थितं स्मारयति स्वाभ्यस्ते कर्मणीति । प्रधानस्य मनोनिग्रहस्य वक्तुमुचितत्वात् , 'विजितदेहः' इति परव्याख्यानं मन्द्रिमिति भावः । सर्वेन्द्रियक्रटस्ये मनसि जिते वाह्यानीन्द्रियान्तराणि जितानि भवन्तीत्यभिषायेण तत एवेत्युक्तम् । सर्वभूतेत्याद्युपपादनाय कर्तुरित्युक्तम् । प्रथमस्य भृतशब्दस्यात देवादिदेहमालविषयताम् . द्वितीयस्य <sup>1</sup>कियातम् ...(१)तां विग्रहं च दर्शयति **सर्वेषा**मिति । भिन्नानामैक्यं हि विरुद्धमित्यलाह आत्मयाथात्म्यमिति । अयमभित्रायः-सत्यम् , न स्वरूपैवयं विधीयते, तस्य प्रत्य-क्षानुमानागमपूर्वापरविरुद्धत्वातः ; किंत्वेकाकारत्वमः यथा, 'सर्वसिन् गृहे वर्तमानो त्रीहिरयमेव' इत्यक्ते तज्जातीयत्वमुक्तं भवति. तद्वदत्वापि सर्वस्मिन् देहे वर्तमानोऽयमेवात्मेति प्रयोगेऽपि देहान्तर-वर्तिनामस्य चाऽऽत्मनः समानत्वमुक्तं भवतीति । नन् समानत्वमपि प्रत्यक्षादिविरुद्धम् , देवतिर्थग्राह्मण-क्षत्रियब्रह्मचारिग्रहस्थपण्डितापण्डितज्ञक्ताञक्तधनिकदरिदस्थविरतरुणादिनिरवधिकवैषम्यनिर्भरत्वादारमनाम्। अन्यथा 'ब्राह्मणो यजेत' (श. ब्रा. ५. १. ५. २) इत्याचात्मपर्यन्तशास्त्रीयप्रयोगोऽपि भज्येतेत्यलाह देवादिभेदानामिति । अयं भाव:-सत्यम् , देवादिवैषम्यं प्रामाणिकमेव । तत् न खरूपप्रयुक्तम् ; तस्य कमोपाधिकप्रक्रतिपरिणामभेदनिबन्धनत्वात । श्रद्धाकारविवक्षया त समानत्विमहोच्यते इति । साम्य-स्याल विवक्षितत्वे संवादकमनन्तरमेव साम्याभिधानं दर्शयति प्रकृतिवियक्त इति । कर्वकापि न िरपते इत्यत, न तावत् निषिद्धं कुर्वन्निष न दृष्टो भवतीत्युच्यते, तथा सित बहुच्याकोपप्रसङ्गात . न च. कर्मयोगं कुर्वज्ञपि तेनैव न लिप्यत इति : तथा च सति निष्फलभयासत्वेन तस्थाननुष्ठानपसङ्गात । अतोऽत न केवरुं ज्ञानयोगनिष्ठः. अपि त कर्मयोगं कुर्वन्नप्यात्मसाक्षात्काराख्यफळविरोधिना केनचिन्न लिप्यत इत्येवार्थ इत्यमिषायेण अनारमन्यारमाभिमानेनेत्यादि उक्तम् । नैव किंचिरकरोग्नि (८) इत्यादिकं धनन्तरमुच्यत इति भावः । न लिप्यते इत्यत्र सवासनं संबन्धनिषेधो विवृक्षित इत्याह न

<sup>1</sup> किया-भवनिकया; तदाश्रयविषयकतामित्यर्थः।

लिप्यते— न संबध्यते । अतोऽचिरेणाऽऽत्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥
यतः सौकर्याच्छेन्नयास कमेयोग एव श्रेयान् , अतत्त्वदेपिश्वतं <sup>1</sup>मणु —
नैव किञ्चित करोमीि गुको मन्येत तत्त्व लेस् ।
पद्यन् श्रुण्वन् स्पृतन् जिन्नन् मञ्जन् गच्छन् स्वपन् श्र्यसन् ॥ ८
प्रक्रंपन् विस्त्रन् गुल्क् उन्मिषन् तिमियक्षि । इन्द्रियाणीन्द्रयार्थेषु वर्तन्त इति घारयन् ॥२
एवमात्मतत्त्ववित् श्रोतादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि, वागादीनि च कमेन्द्रियाणि, प्राणाश्र
स्विष्येषु वर्तन्त इति घारयन् अनुसन्द्धानः नाहं किचित्करोमीति मन्येत—ज्ञानेकस्वभावस्य

मम कर्ममुळेन्द्रियत्राणसंबन्धकृतमीदशं कर्तृत्वम् ; न स्वरूपप्रयुक्तमिति मन्येतेर्त्यर्थः ॥८॥९॥

संबंध्यत इति । प्रस्तुतार्थतया निगमयति अत इति ॥ ७ ॥

एवमर्जनस्य परिपृच्छतः साक्षात्प्रश्नस्योत्तरमुक्तम् । अथ तदाशयविदो भगवत आभिपायिकं वावयमुत्तरसङ्गत्यर्थं दशैयति यत इति । युक्तोऽत्र योगनिष्ठः ; तस्वित्त तदन्तर्गतात्मतत्त्वविज्ञानशन् ; तदाह एवमारमतत्त्वविदिति। पश्यन्, मृण्यन्, स्पृशन्, जिञ्चन्, अश्वविति चक्षुस्थोत्रत्वम्याण-जिह्वाच्यज्ञानेन्द्रियन्यापाराः । गच्छन् , प्रस्रपन् , विसृजन् , गृह्णचिति पादादिकर्मेन्द्रियन्यापाराः । तत विसजिति पायपस्यव्यापारसंग्रह: । उक्तं च, "पायपस्थे विसर्गार्थमिन्द्रिये तुल्यकर्मणी । विसर्गे च पुरीषस्य विसर्गे चाभिकामतः" (भा. मो. २७५. २१) इति । स्वपन , श्वसन , उत्मिषन , निमिषन इति [तु] प्राणव्यापाराः । स्वापस्य तमोवृत्तित्वेऽपि प्राणाधीनत्वं सिद्धम् । उन्मिषन् , निमिपन्निति तु व्यानारूवभाणव्यापारः । श्रासुन् इति तु प्राणसंज्ञकपाणविशेषव्यापारः । गृह्णन्निति पाणिव्यापार-परोऽपि अपानव्यापारत्यापि तन्त्रेग माहकः : ''तद्पानेनाजिनृक्षत् । <sup>श</sup>तद्ावयत् । स य एषोऽन्नस्य महो यद्वायः" (ऐ. १. ३. १०) इति । एवं विभागज्ञापनाय श्रोलादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि वागादीनि च कर्मेन्द्रियाणि प्राणाइचेत्यक्तम् । इन्द्रियशब्दोऽत सर्वेन्द्रियपश्रत्यादिहेतुतया शाणसंवादादिष प्रसिद्धं मुख्यपाणमजहलक्षणया रुक्षयतीति तात्पर्यम् । इनिद्रयार्थेण्वित्येतदपि तथैव रुक्षकमिति व्यञ्जनाय स्वविषयेष्वित्युक्तम् । नन्विन्द्रियपाणेष्वकर्तेषु कर्तृत्वाध्यासः खस्याकर्तृत्वबुद्धिश्च भ्रान्तिरेव स्यात् : आत्मन एव कर्तृत्वस्य "कर्ता ज्ञास्त्रार्थवत्त्वात्" (ब्र. २. ३. ३३) इत्यादिभिः स्थापितत्वादित्यत्नाह रं**ज्ञानैकसभावस्ये**ति । कर्मणां मिथ्यात्वानुसन्धानमिह परोक्तमयुक्तम् : 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' इरोत्सस्याप्यननुसन्धेयस्वपसङ्गात् । मुक्तस्य स्वेच्छागृहीतेन्द्रियादि(दे:)व्यवच्छेदाय उपाधीनामप्यौपाधिक-करवरीप्यञ्जनाय च कर्ममूलशब्द: । ईरश्चमिति पुण्यपापरूपमित्यर्थ: । अत तत्त्वविदिति निरुपाधि-खरूपपरिक्वात्, 'कार्यकारण' (गी. १३. २०) इत्यादाविव न चिद्रचिद्यापारविभागोक्तिः॥ ८॥ ९॥ नन्त्रेभ्दं फलाभिसन्विपूर्वकेऽपि कर्मणि कियमाणे, 'नैव किंचित्करोमि' इति भावनया तत्करणेऽपि न

<sup>1</sup> संप्रदेश "काञ्चन तहिचाः" इति संगृहीतमिद्म । 2 अन्नम् निश्वासवायुना प्रही-तुमैच्छत् । तत् सर्विकेत्—अशितवानित्यर्थः। अपनि जुह्नतीत्यन्नेवात अपनिशक्वार्थो प्राह्मः।

ब्रह्मण्याधाय कर्माण सङ्ग स्यक्तवा करोलि यः। लिप्यने न स पापेन पद्मपत्रित्वास्मस्ता ॥ १० व्यवज्ञित्वास्मस्ता ॥ १० व्यवज्ञित्वे । ''मम योनिर्महद्गन्नः' (१४. ३) इति हि वस्यते । इत्याणां प्रकृतिपरिणामिन्नोपरूपत्वेन इत्यिकारेणावस्थितायां प्रकृती 'पश्यम्ब्लृष्वन्' इत्याधुक्तप्रकारेण कर्माण्याधाय, फलसङ्गं त्यक्त्वा, नैव किचित्करोमीति यः कर्माणि करोति, स प्रकृतिसंसृष्टत्या वर्तमानोऽपि प्रकृत्यात्मामिमानरूपेण वन्यहेतुना पापेन न लिप्यते । प्रवापतिमानस्या—यथा पद्मम्बम्भसा संसृष्टम्पि न लिप्यते, तथा न लिप्यतं इत्यर्थः ॥ कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्दियेषि । योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्तवाऽरत्मध्यद्वये ॥

दोषः स्यात । यदि च परमार्थतः स्वस्यैव कर्तृत्वम् , किं तस्यौपाधिकत्वानुसन्धानेन प्रयोजनम् ; तथा-इनुसन्धानेऽपि प्रकृतिसंसर्ग एवेनं देहात्मभ्रमे निमज्जयेदिति शङ्का निराक्रियते **मण्णी**ति स्रोकेन । न तावदल अञ्चलकारेन जीव उच्यते. त्रत्कर्त्वित्रस्कारमकाणत्वात । नापि परं ब्रह्म, औपाधिकत्वप्रति-पादनपकरणे तदनपेक्षणात् . अनन्तरं च 'सर्वकर्माणि मनस!' (१३) इति श्लोकेन देहकर्तृत्वाभिसन्धा-नाभिधानात् । अतः पूर्वोक्तस्यार्थस्य आकाङ्क्षितफरूनिर्देशपरःवोनपतेः ब्रह्मशब्दोऽलेन्द्रियाकारपरिणत-प्रकृतिगोचर: । भवति हि प्रकृतिकार्थेऽपि ब्रह्मशब्दप्रयोग:, ''तस्मादेतद्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते'' (मु. १. १. १०) इति । तदेतदाखिरुमिभेनेत्याह ब्रह्मग्राब्देनेति । ब्रह्मग्रब्दस्य प्रकृतौ प्रयोगं भगवद्गी-तायामेबोदाहरति सम योगिनरिति । भवतु प्रकृतौ त्रक्षशच्दः ; प्रस्तुतस्य किमायातिमिति शङ्कायां पूर्व-श्चोकार्थन्यायाभ्यामुपदृहितं वाक्यार्थमाह **इन्द्रियाणा**मिति । नतु वृहत्त्वगुणात् प्रयोगकलाच मूलपक्कति-र्वसराब्देनोच्यताम् , तत्र दर्शनश्रवणादिकर्तृत्वानुसन्सानमञ्जयम् , मूरुपञ्चतिरूपे तद्वेतुत्वाभावादिति शक्कानिराकरणाय अवस्थितायामित्यन्तमुक्तम् । औपचारिकोऽपि कारणविषयः प्रयोगो द्रव्यैकयात् कार्यमि गोचरयेदिति भावः । कार्माणीति बहुबचनं पूर्वोक्तदैविध्यपरिमिति प्रदर्शनायोक्तम् परयञ्च्छ-ण्वित्याद्युक्तप्रकारेणेति । यः करोतीत्यात्मन्येव कर्तृत्वनिर्देशात् तदौपाधिकत्वसारणाय पूर्वोक्त-माक्रष्टम् नैव कि चित्करोमीति । पापशब्दोऽल देहात्मश्रमिषयः । 'योऽन्यश्रा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा' (मा. उ. ४२. ३५) इत्यादिषु च आत्मान्यथा-ज्ञानस्य पापत्वं प्रसिद्धम् 🏹 आत्मनोऽकर्तृत्वानुसन्धानप्रकरणे तिबृत्तृतिरेव वक्तुमुचितेत्यभिप्रायेण प्रकृत्वारमाभिमानरूपेणेत्युक्तम् । बन्धहेतुनेति तस्र पापळक्षणद्योतनम् । अस्रोकिकमनिष्टफस्यासा-धारणकारणं हि पायम् । प्रयुक्तश्च पायशब्दोऽनेकेत्व[च्य]थेंपु, यथा "न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्पानोऽतो निवर्तन्ते" (छा. ८. ४. १) इति । नतु पद्मपलमम्भसा संस्पृष्टं कथमल दृष्टान्त इत्यलाह **यथे**ति । न संसर्गमात्रनिषेघायात्र दृष्टान्तः ; किंतु यथा पद्मपत्रस्य जन्मस्थित्यादिकं सर्वमम्भस्येव, तथाऽपि न तत्कार्य-क्लेशादि:, तद्वत् प्रकृत्यधीनभोगस्थित्यादेरस्य तत्कार्यदेहात्मश्रमादिनै स्यादिति भावः ॥ १० ॥

एवमुक्ताबिहरीकरणाय शिष्टाचारसिद्धतोच्यते **कांग्रेने**ति स्ठोकेन । **बुद्धि**रत्न कृत्यच्यवसायः । **केवर्हे**रिति कर्तृस्वाभिमानत्यागो विवक्षितः । अथवा ममस्ववुद्धिविषयतारहितैरित्यर्थः । तदा **कांग्रेने**- कायमनोबुद्धीन्द्रियसार्थ्यं कर्म स्वर्गादिफलसङ्गं त्यक्तवा योगिन आत्मविशुद्धये कुर्वन्ति ; आत्मगतप्राचीनकर्मवन्धविनाञ्चाय कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

युक्तः कर्मफछं त्यवस्या शान्तिमाशीति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

१२

युक्तः — आरमन्यतिरिक्तफलेष्वचपकः आरमेकप्रवणः, कर्मफलं त्यवस्वा केवलमारमग्रुद्धये कर्मानुष्ठाय नैष्ठिकी शान्तिमामोति — स्थिरामारमानुभवरूपां निर्वृतिमामोति । अयुक्तः — आरम-व्यतिरिक्तफलेषु चपलः आरमावलोकनिवृत्तुत्वः कामकारेण फले सक्तः कर्माणि कुर्वन् नित्यं कर्मिर्निव्यते — नित्यसंसारी भवति । अतः फलसङ्गरिहितः इन्द्रियाकारेण परिणतायां प्रकृती कर्माणि संन्यस्य आरमने बन्धमोचनायैव कर्माणि कुर्वतित्यकं भवति ॥ १२ ॥

अथ देहाकारेण परिणतायां प्रकृतौ कर्तृत्वसंन्यास उच्यते-

खर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न हत्वस्यन् ॥१३ आत्मनः प्राचीनकर्ममृखदेहसंबन्धप्रयुक्तमिदं कर्मणां कर्तृत्वम्; न स्वरूपप्रयुक्तमिति

त्यादौ केवलेनेत्यादि परिणाम्यम् । यद्दा कायशब्देन कर्नेन्द्रियवर्गस्यापि लक्षणया संग्रहणात् केवलेरिन्द्रियेरिति ज्ञानेन्द्रियाण्युच्यन्ते ; तेषां च केवलां वचनादानादिकमरहितत्वम् । तत्रश्च "धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा" (मा. आ. ९६. ३१) इत्यादिकमपि सुचितं भवति । आत्मगुद्धेरलेव फलतया निर्देशात्, निष्फलमृष्ट्रस्ययोगाच स्वर्गादिफलसङ्गमित्युक्तम् । शुद्धिहिं केनचिद्दृषितस्यापेक्षिता ; स च दोषोऽल्ल स्वतःशुद्धस्याप्यात्मनोऽनादिकालकृतमात्मतत्त्वसाक्षात्कारिवरोधि कर्मेत्यभिमायेणाह आत्मगतेति ॥ ११

एकस्यैव कमणो बन्धहेतुस्वं मोक्षहेतुस्वं च फलसङ्ग-तदमावादिरूपसहकारिविशेषात् युज्यत इती-ममंबं विश्वदयति युक्त इति स्टोकेन । अत युक्तशन्देन समाहितचेतस्त्वपुच्यते । तचाल फलान्तर-विरक्तिपूर्वकमात्मपावण्यमेवेति न्यञ्जनाय आरमन्यतिरिक्तेत्यादि उक्तम् । कमंप्रतं स्यक्त्वेति वचनात् कमंखरूपानुष्ठानं पूर्वोक्तमिहार्थसिद्धं दिशितम् । नैगष्टभी श्वान्तिमित्यनेन साक्षान्मोक्ष्मतीतिः स्यात् , तद्व्युदासायाह स्थिरामिति । प्रकरणकन्धेऽयं विशेषः । निष्ठायां भवतीति नैष्टिकी । कामकारेणेति न स्वैरचारो विवक्षितः, तस्य दूरनिरस्तत्वात् । अतः कामकर्तृकं भेरणं कामकारः । तेन यथामिमत-फलसङ्गमात्रं विवक्षितिनित्याह कामकारेण फले सक्त इति । निवस्यत इत्यत्वोपसर्गेण नितरां बन्धो विवक्षित इति दशैयति नित्यसंसारी भवतीति । वर्तमानन्यपदेशाद्वा तथा विवक्षा । 'नैव किंचित्करोमि' (१) इत्यादेः, 'फले सक्तो निवस्यते' (१२) इत्यन्तस्य संकलितार्थग्रन्तरक्षोकसङ्गत्यर्थमाह अत इति ॥१२॥

अनन्तरस्थोकार्थमाह अथेति । शरीराश्रिते[न्वि]न्द्रियपाणेषु कर्तृत्वसंन्यासाभिधानादनन्तरं तदाश्रये शरीर एव कर्तृत्वसंन्यास उच्यत इति सङ्गतिः । शरीरे कर्तृत्वसंन्यासं प्रति कर्णतयोक्तस्य मनसः करणीभावानुगुणव्यापारं दर्शयितुम् आत्मन इत्याधुक्तम् । न हि देवादिदेहसंग्न्यमालकृतं पुण्यपाप-

<sup>1</sup> नन्वयोगिनोऽपि कायादिभिरेव कुर्वन्ति । अत्र को विशेष इति शकायां न सोशो विषेयांशनिविष्ट - ति ज्ञापनाय उद्देश्य तदन्वयः इतः । 2 पुरुषान्तरं कारयन्नित्यस्यामसकत्वात् स्वविषयमेव सर्वम् ।

विवेकिविषयेण मनसा सर्वाणि कर्माणि नवद्वारे पुरे संन्यस्य देही स्वयं वज्री देहाधिष्ठान-प्रयत्नमकुर्वन् देहं च नैव कारयन् सुखमास्ते ॥ १३ ॥

<sup>1</sup>साक्षादात्मनः स्वाभाविकं रूपमाह—

एवमौपिधिकस्य रूपस्योपिधिषु संन्यास उक्तः ; अथ खिसम्बनुसन्धेयखाभाविकरूपसुच्यत इति सङ्गत्यभिप्रायेणाह साक्षादिति । विचित्रजनिविषयेण लोकस्येत्यनेनाभिषेतसुपिधवैचित्र्यादिकं दर्शयितुम् अस्येत्यादि उक्तम् । कर्तृत्वं प्रयत्नादिरूपम् । कर्मिण शरीरेन्द्रियादिचेष्टाः । यद्यारमनां खाभाविकिमिदं कर्तृत्वादिकम् , तदा सर्वेषाभेकरूपं <sup>3</sup>तत स्यात् ; न च तथा दृश्यत इत्यभिप्रायेण देवाद्यसाधारणं कर्तृत्वमित्यादि उक्तम् । देवाद्यसाधारणं देवत्वादिज्ञातिमित्यव्वर्शायितिनिय-तिम्त्यव्वर्शः । फलसंयोगः फलस्यानुभवः । प्रकरणवशात् प्रभुशव्दोऽत्र जीवविषय इति प्रदर्शनिथम् अयं प्रभुशित्यक्तम् । जीवे प्रभुशव्दाभिष्रताह अकम्वन्ययः खाभाविकस्वरूपेणावस्थित इति । अतोऽ-त्राकृतिविषयः प्रभुशव्दः, न परविषय इति भावः । न सृजतीत्यतः 'सज विसर्गे' इति <sup>4</sup>धातोस्त्यागार्थत्वे कर्तृत्वादित्वयं स्वीकरोतिति वावयार्थः स्यादिति तद्वयुदासायाद्य नीरदाद्यतीति । कारणान्तरादर्शनात् तस्येव कर्तृत्वपित्यभिप्रायेण क्रवृत्वर्थपातस्य शङ्कामाह (क्रसर्हिति । सजतीति शेषः । स्वभावशव्दं

श्थितकर्तृत्वापलापः कथमिति शंकायामिति आदिः।

<sup>2</sup> पुरे बास्ते इति शांकरान्वयनिरासायेदम्। कियाधिकरणत्वेन - क्रियाकर्वधिकरणत्वेन।

<sup>3</sup> एकरूपम् भगवत्कैक्यैकरूपम्। अतो न नित्यमुक्तयोरिव नानास्पता स्यादिति शंक्यम्।

<sup>4</sup> अत घातोः <sup>सृ</sup>ज विसर्ग इत्युक्तत्यागार्थकत्वे इत्यन्वयः।

स्वभावः प्रकृतिवासना । अनादिकालप्रवृत्तपूर्वपूर्वकर्मजनितदेवाद्याकारप्रकृतिसंसर्गकृततत्त-दारमामिमानजनितवासनाकृतमीदश्चं कर्तृत्वादिकं सर्वेष् ; न <sup>1</sup>स्वरूपप्रयुक्तमित्वर्थः॥१४॥

ना के कथ्यित पार्य न येच सुक्रतं विसुः। श्रवानाऽऽतृतं क्वानं सेन मुखन्त जन्तवः॥१४ कस्यित् पार्य न येच सुक्रतं विसुः। श्रवानाऽऽतृतं क्वानं सेन मुखन्त जन्तवः॥१४ कस्यित् स्वसंवित्व स्वसंवित्व प्रतिकृत्वयाऽभिमतस्य पुत्रादेः पापं दुःसं नावते नापनुद्ति । कस्यित् प्रतिकृत्वयाऽभिमतस्य सुक्रतं सुसं च नावते नापनुद्ति । यतोऽयं विसुः; न काचिरकः, न देवादिदेहाद्यसाधारणदेशः, अत एव न कस्यचिरसंबन्धी, न कस्यचित् प्रतिकृत्वय । प्रकरणोपयुक्तविशेषे स्थापयितुं वाच्यं तावदाह प्रकृतीति । ननु चेतनस्थासनः कर्तृत्वादिकं नात्ति, अचेतनश्यासनु वासनावश्चेतनगुणमात्रमृतायाः कर्तृत्वादिकमिति कथिनः जाघटीति (ज्ञायते) यद्यासनः स्वतस्युद्धस न कर्तृत्वन्, तिर्वे तस्य वासनाऽपि कृतस्समागता १ यदि न कृतश्चित् , तद्य वासनेव स्थाभविकति तत्कृतकर्तृत्वादिकमिप स्थाभविकं स्थाव् । यदि कुतश्चित्तोः, तदा तस्यापि स्थाभविकत्वे पृवेदोषः; औपाधिकत्वे तु अकर्तुरात्मनस्या इत्यादिचोद्यनिरासाय तुशव्दः । तदाह अनादिकःस्यति । श्रीजाङ्गरून्यायादम्योन्याश्रयादिपरिद्यारः । वासनाहेतुवैविन्यसिद्धवर्थं देवाद्याकारेन्त्यादिकःस्यति वह्तस्य । यथा तसायःपिकृतशब्दः । वासनाहेतुवैविन्यसिद्धवर्थं देवाद्याकारेन्त्यादिकःस्यति वह्तस्य । यथा तसायःपिकृतशब्दः । वासनाहेतुवैविन्यसिद्धवर्थं संसर्गकृतशब्दः । वासनाकतं वासनास्यविशेवहेतपाधिकतिवर्थंः ॥ १४॥॥ । १४॥ ॥

आरमनोऽकर्नृत्वादिकस्य, वासनायाः कर्नृत्वादिकस्य च विवर्ण मादले इति क्षोकस्यार्षद्वयम् । परगतपापगुक्त्रक्वोरादानपसङ्गामावात् तत्प्रतिषेषोऽनुचितः ; अतस्तत्कार्यं दुःसं सुःखं च रूक्ष्यते ; तत्वापि परगतसुखदुःस्वयोः सिमन्नाकर्षणं न शक्यमः अतस्तद्वनयनमातं विविक्षतम्त्यभिपायेणाह कस्यचिदित । कस्यचिदित्यनेन सुचितमपनोदनहेनुनिशेषं वर्शयितुं स्वसंबन्धितयाऽभिमनस्येत्यादि उक्तमः। आदत्ते इत्यस्य करोत्याद्यर्थत्वानीचित्यात् <sup>8</sup>अपहरणार्थत्वे च प्रयोगादपहरणिनेषेषेनैव तुस्यतया करणिनिषेषिकदेः नापनुदत्तीति व्याख्यात्म । विश्वरिति न परिमाणविशेषाद्यभिष्यायम् ; जीवस्याणुतया श्रुत्यादिसिद्धेः । नापि प्रमुत्वपरम् , अतातुपगुक्तस्वात् । अतस्ततत्वकर्मानुकूळसमस्वदेहानुपवेशयोग्यतामातं प्रतिनियतदेशराहित्यं विवक्षितम् । अतः एय आगम्तुकेषु मिलामिलादिषु संबन्धित्यं प्रतिकृळस्यं च आगम्तुकानां तत्तदेहानामेव, <sup>8</sup>न त्यात्मन इति सिध्यति । ततः एव च अनुकूळपिलकूळपुरुषविषयदुःसान्ध्यनयनमोणाधिकमित्यायातम् । तदेवं कार्याभावौपिकहेत्वभावप्रतिपादनवरो विश्वश्चद इत्यिन

प्रभुत्वं सत्यसंकरमादिमत्त्वम् । तद्दपश्चायाभिदं सर्वे न मृजतीति अस्य औपाधिकता ।

<sup>2</sup> आधत्ते इति प्रयोगे करोतीत्वर्धः स्थात् । न त्वत्र । अतो न पूर्वस्त्रोकोक्त सृजितितुच्यता । अप्तान्त्र प्रयोगश्चा, "यथा नै द्येनो निपत्याऽऽदत्ते, प्रवस्य द्विषन्तं अःतृच्यं निपत्याऽऽदत्ते" इति द्वनपश्चित्रत मत्स्याद्यपहारकथनात् ।

<sup>3</sup> पुत्रः तुम्मृतौ दुःखसुखहरणं तत्तच्छरीरसस्य पन, न तु तत्तन्न्नीवे सर्वदा। तरिप् खकीयम्हतशरीरे सत्येव। न तु स्वसान्यदेहमासौ इति स्थलान्तरोत्पर्यहेनाचिना विभुपदेन झाप्यते। पवञ्जीपाधिकत्वं स्थापितं भवति। कस्यचिदित्यस्य सर्वदा कस्यपि जीवस्येत्यर्थः।

सर्वमिदं वासनाकृतम् । एवंस्वभावस्य कथिमयं विपरीतवासनोत्पद्यते ? अज्ञानेनावृतं ज्ञानम् ज्ञानिविशेषिना पूर्वपूर्वकर्मणा स्वफलानु प्रविगेग्यस्वायः अस्य ज्ञानम् आवृतं संकृत्वितम् । तेन ज्ञानावरणरूपेण कर्मणा देवादिदेहसंयोगस्तव इत्साधिमानरूपमोहश्य जायते । ततश्च तथा-विधारमाभिमानवासना, तदुचितकर्मवायनः च ; वासवातो विपरीतात्माभिमानः, कर्मा सम्भश्चीपपद्यते ॥ १५ ॥

'सर्वे ज्ञानष्ठवेनैव बुजिनं संतरिष्यप्ति ।' (४.३६), 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्शाणि मससा-रक्करते तथा' (४.३७) 'न हि ज्ञानेन सदशं पत्रित्रम्' (४.३८) इति पूर्वोक्तं स्वकाले संगप्तयति– ज्ञानेन तु तद्ज्ञानं वर्षा नाशित्रसाम्भनः । तेपामांत्र यद्द्यानं प्रभागमति तृत् पुरम्॥ १३

एवं वर्तप्रानेषु सर्वेष्वात्मसु येपामात्मनामुक्तलक्षणेन आत्मयायात्म्योपदेशजनितेन आत्मविषयेण अहरहरस्यासाधेयातिशयेन निग्निशयाधिकेण जानेन तत्—झानावरणमनादि-कालप्रवृत्तानन्तकमसंचयरूपमज्ञानं नाशितस्, तेषां तत् स्वामाविकं परं जानमपरिमितमसङ्ग-

प्रामेणाह यतोऽयमिति। उत्तरार्थोत्थानाय शङ्कते-एवंस्वमःवस्थेति। विष्सीतवासना-स्वनाविरुद्ध-वासनेत्यर्थः। अलोत्तरम्-अञ्चाने वाञ्चतं ज्ञानमिति। "अध्या कर्मसंज्ञाःन्या तृतीया शक्तिरिप्यते । यया क्षेत्रज्ञाक्तिस्ता वेष्टिना तृप सर्वमा।। संवारतायान् अतिर्वा कर्मसंज्ञाःन्या तृतीया शक्तिरिप्यते । यया क्षेत्रज्ञाक्तिस्ता वेष्टिना तृप सर्वमा।। संवारतायान् अतिर्वान वर्गते(रुक्यने)" (वि.६.८.६१-६३) इति भगवत्यस्यक्रस्यक्तम् अस्य-ज्ञानिविरोधिति।। अल्य स्थानस्य कर्मनाविष्यस्य स्वत्यानुम्बक्ति भावः । स्वक्रलेत्यादि-न ह्यानिविरोधिति।। अल्य स्थानस्य क्षेत्रज्ञानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्यानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्यानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्वानिविर्यानिविर्वानिविर्वानिवित्यानिविर्यानिविर्यानिविर्वानिविर्वानिविर्यानिवित्यानिवित्यानिवित्यानिवित्यानिवित्यानिवित्यानिवित्यानिवित्यानिवित्यानिवित्यानि

एवं तृतीयाध्यायोक्ताकर्तृत्वानुसन्धानस्य प्रकारिविशेषाः प्रतिपदिताः ; अथ चतुर्थाध्यायोक्तस्य ज्ञानविशेषस्य विशोधनं क्रियत इत्यमिप्रायेणाह स्विभिति । स्वक्राले । अकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारकथनादनन्तरं ज्ञानत्वरुष्यम्यानप्रकारकथनादनन्तरं ज्ञानत्वरूष्यम्यानप्रकारकथनादन्तरं ज्ञानत्वरूष्यम्यानप्रकारकथन्तरं । यद्वा 'तिद्विद्धि प्रणिपतिन' (४. २४) इत्यत्व, 'उपदेक्ष्यन्ति' इति स्वेनैव निर्दि हे विपाककाल इत्यर्थः । एवं वर्तमानेषु । मुखत्वपीत्यर्थः । यद्वा कर्मयोगनिष्ठेष्यत्यर्थः । अज्ञानि ज्ञानमान्नतं चेत्, कथं ज्ञानेन तस्य नाश इति शक्कां व्यवच्छिन्दता सुशब्देन घोतितं ज्ञानत्य विशेषं दर्शयितुम् उक्तलक्ष्यणेनेत्यादि निर्विश्चयप्यविशेषत्यन्तम्यम् । आत्मनो ज्ञानेनेत्यन्वयः । आत्म-विषयेणिति । आत्मनाः इति पष्ठगाः संवन्यतामान्यमात्वपरत्वं कर्तृविषयत्वं चात्रानुपयुक्तमिति मावः । तच्छब्दपरामुष्टप्रकारमाह ज्ञानःवरणभिति । अज्ञानत्वक्रत्यातिगहनत्वस्यन्वार्थम्, निरतिश्चयप्वित्यस्य ज्ञानभास्वते निरहोषाज्ञानितिमरकुक्षिमरित्वपदर्शनार्थं च अनादिकालेत्यादि उक्तम् । उत्रार्भगत-

## चितमादित्यवतः सर्वं यथावस्थितं प्रकाशयति ।

तेषामित विनष्टाञ्चानानां बहुत्वाभिधानादात्मस्वरूपबहुत्वप्, 'न त्वेवाहं जातु नासम्' (२.१२) इत्युपक्रमावगतमल स्पष्टतरमुक्तम् । न चेदं बहुत्वमुपाथिकतम् ; विनष्टाञ्चानानामुपाधिगन्धाभावात् । 'तेषामादित्यवज्ञ्चानम्' इति व्यतिरेकनिर्देशात् ज्ञानस्य स्वरूपातुन्विधर्मत्वमुक्तम् । आदित्यदृष्टागतेन च ज्ञातृञ्चानयोः प्रभाप्रभावतोरिवाबस्थानं च । तत् एव संसारदशायां ज्ञानस्य कर्मणा संकोचो मोश्चदशायां विकासश्चोपपनाः ॥ १६ ॥ तच्छ्वदार्थः स्वाभाविकमिति । सामानाधिकरण्यसारस्यात् परिमित ज्ञानविशेषणम् ; तदर्थमाह — अपरिमितमसंकृचितमिति । ज्ञानस्य परत्वं ज्ञानविश्वयवम् ; तत्न च हेतुः संकोचाभाव इत्यमिन्यायः । सर्वमिति प्रकाशयतेर्रथसिद्धकर्मोक्तः । अज्ञाननिष्ठतौ च ज्ञानस्य सर्वगोचरःवं श्रौतमिति भावः । आदित्यवदिति दष्टान्तसामर्थ्यसिद्धमाह् यथावस्थितमिति । एतेन परिमत्यल पदिमिति विशेष्टाच्याद्यारः. य परार्थति विवशा च परोक्ता । त्यत्वा

भेदव्यपदेशवलादद्वैतमतस्योपकमविरोधः प्रागुक्तः । मध्येऽपि स एव तात्त्विको भेदः स्पष्टमु-. पदिश्यत इति तस्य तारपर्यविषयत्वं दर्शयति तेषामिति । विनष्टाज्ञानानामिति । न हीदं बहुत्वं भ्रान्तिसिद्धमुपाधिसिद्धं वा वक्तं श्वयमिति भावः। सत्यमिथ्योपाधिकृतभेदवादिनो **भीस्करशक्टर**-योर्मतमनूख परिहरति न चेदमिति । मिथ्यामृतस्याज्ञानास्योपादानस्य विनाशे तद्वपात्तिभ्यामृतान्तः-करणाद्यपाधेरपि निवृत्तेरिति शङ्करं प्रति हैत्वर्थः । इतरं प्रति अज्ञानशब्दवाच्यस्य कर्मादेर्विनाशे तिनित्वशरीरान्तःकरणाद्यपाधिनिवृत्तेरित्यर्थः । शङ्करमतद्यणप्रसङ्गे तद्कं ज्ञानमान्नात्मवादं दृष्यितं श्रद्धदशायां ज्ञातुरवम् (अल्ल) सिद्धमिति दर्शयति तेषामिति । संबन्धविषयतया षष्टी व्यतिरेकगर्भेति **व्यतिरेकनिर्देश।**दिख्कम् ॥ विनष्टोपाधीनामात्मनां धर्मतया निर्देशात् , ज्ञानस्य खळपान्बन्धित्व-सिद्धेरागन्तकचैतन्यवादोऽपि निरस्तः । आदित्यशब्दोऽन्नाऽऽदित्यप्रभापरः. प्रभाद्वारेणैवादित्यस्य प्रकाशकरवात : धर्ममृतज्ञाने च सैव दृष्टान्तो भवितुमहीत, "यथा न क्रियते ज्योरसा मळप्रक्षालनानमणे:। दोषप्रहाणात्र ज्ञानमात्मनः कियते तथा" (वि. ध. १०४, ५५) इत्यादिसाम्याचः तदेतद्भिप्रेत्य तत्फलिनमाह <sup>2</sup>आदित्यदृष्टान्तेनेति । ततः प्रस्ततस्य किमित्यलाह तत एवेति । यथा प्रभाया भावारकसिन्धी संकोचः, तन्निवृत्तौ पुनर्विकासध्य दृश्यते, तथा ज्ञानस्यापीति भावः । यद्वा तेषामादि-त्यवदवस्थितानां प्रभात्रत्यं ज्ञानिमत्यर्थः । प्रभायाः पदीपादित्याद्यपृथविसद्धतेजोद्रव्यविशेषत्वम् , ज्ञानस्यारमधर्मरवेऽपि द्रव्यरवम् . संकोचविकासयोगि(ग्य)रवादीनि च शागीरकभाष्ये प्रपश्चितानि । एवं प्रभातस्यद्रव्यक्वोपपादनेन प्रकृतमावृत्तवादिकं युज्यत इत्याह तत एवेति ॥

<sup>1</sup> मुद्रितशांकरे अध्याहारो न हद्यत । 2 नमु तेषां ज्ञानिमत्यनन्वयात् , ज्ञानमादि-त्यवत् तेषां प्रकाशयतीत्येवान्वयात् कयं ज्ञानस्य स्वाभाविकधर्मत्वस्याः इत्यत्राह् आदित्येति । प्रमावदित्यमुक्त्वा भावित्यपदेनम्बित्त्यप्रमोक्तिः प्रभावभावतोति ज्ञानज्ञात्वोरपृथिकयद्धिसमावत्व-ज्ञापनायति भावः । आदित्यस्येदमादित्यमिति । तेषां ज्ञानमित्येवान्वयः । द्वितीयपक्षे प्रभातुस्य-मिति सर्थसिन्दुम् ।.

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तिष्ठास्तत्यययाः। गच्छन्खपुनरावृत्ति बाननिर्धृतकसम्मः॥ १७ तद्बुद्धयः तथाविधात्मद्रभ्नाध्यवसायाः, तदात्मानः तद्विषयमनसः, तिव्धाः तदस्यास-निरताः, तत्परायणाः तदेव परमप्रयोजनमिति मन्वानाः, एवमभ्यसमानेन झानेन निर्धृत-प्राचीनकस्मषाः तथाविधमात्मानमपुनरावृति गच्छन्ति । <sup>1</sup>यदवस्थादात्मनः पुनरावृत्तिने विद्यते, स आतमा अपुनरावृत्तिः । स्वेनस्रपेणावस्थितमात्मानं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि इस्तिनि । ग्रुनि चैव श्र्याके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ विद्याविनयसंपन्ने, केवलब्राङ्मणे, गोहस्तिश्रभपचादिषु अस्यन्तविषमाकारतया प्रतीयमानेषु आत्मसु पण्डिताः आत्मयाथात्म्यविद्रः, ज्ञानैकाकारतया सर्वत समदर्शिनः—विषमा-

अत्नामुनयन्त्रियोगस्य आन्ध्रयोग्धः को वर्धयि त्रवृत्वयः इति ख्रोकेन । त्रस्टव्येनाव पूर्वभस्तुतस्वाभाविकासमस्यक्षं पूर्वश्चोकोक्ततःज्ञानं वा परामृश्यत इत्यमिप्रायेण तथाविधासमदर्शना-ध्यवसाया इत्युक्तम् । तद्दारमानः इत्यनेन द्रष्टव्यवस्यवस्यायादनस्तरे दर्शनार्थयम् तद्दारमानः इत्यक्तम् । तिक्वष्टत्वं विषयान्तरवैमुख्यात् तत्परायणस्य हेतुः । अयन्श्च्योऽत्र कर्मणि ल्युङ्कः प्राप्यपरः । वावयार्थज्ञानादिमात्रव्यादृत्त्यर्थम् एवमभ्यस्यमानेनेत्युक्तम् । प्राप्तिपतिवन्यक्करुस्मपनिवृत्तिक्रियम् । अत्रार्थित्वस्यक्रस्त्रव्यस्यमानेनेत्युक्तम् । प्राप्तिपतिवन्यक्रकरुस्मपनिवृत्तिक्रवृत्ति। अत्रार्थित्वस्यक्रम् । स च यथावस्थितं आत्रवेत्यसिमायेणं तथाविधमात्मानिति । अप्रनराद्वित्रव्यस्यात्रातुद्दिद्यावभ्यन्तरपराम्मर्शा(र्श्वसा)पेश्वसमासान्तर्व्युदासेनात्मविशेषणत्वायाद्वा वयद्वस्थादिति । नन्वात्मन एव 'क्षीणे पुण्ये मत्य-क्षोक्षं विद्यान्ति' (९. २१) इति पुनराद्यतिरुव्यताद्वा स्वेन कृषेणेति । औषाधिकसमस्ताकारनिवृत्तिक्ष्णवस्था विनादाकासंभवात परमतेऽपि प्रध्यसक्ष्यद्वादिनवित्यंति भावः ॥ १७ ॥

कीहशोऽयमात्मसाक्षात्कार इत्याकाङ्कायां 'येन मूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मियं' (४. १५) इति प्रागुक्तं व्यनक्ति विद्याविनयेति क्षोकेन । 'विद्याविनयसंगत्ने त्राह्मणे' इति पदद्वयं न समानाधिकरणम्, निर्विशेषणसम्वायसहपिठतत्वात्, विद्याविनयसंगत्नविशेषणप्रतिशीषीतुक्तेश्च। गिव हस्तिनीत्याकारवेषम्यं विश्वाविनयसंगत्नविशेषणप्रतिशीषीतुक्तेश्च। गिव हस्तिनीत्याकारवेषम्यं विश्वाविकत्या अत्याप्ति हियो विषयम् । त्राह्मण्याप्ति हियो ह्याभिष्ठतम् । त्राह्मण्यापि हियो वैषम्य-मेवाभिष्ठतम् । त्राह्मण्याभिष्ठतम् । त्राह्मण्यास्य इति । सात्त्विकराजसतामसळ्पानकोदाहरणाभिष्ठतमाह अत्यन्तविषमेति । आरमस्विति । शरीराणाम्ययोन्यवैषम्यनिषेषो तुश्लक इति भावः । अत्र समद्शित्वोप्यक्तमृह्यविद्यमत्वेषम्यनिष्ये तुश्लक इति भावः । अत्र समद्शित्वोप्यक्तमृह्यविद्यमत्वेषम्यविद्यविद्यस्य स्थानस्यविद इत्युक्तम् । समं द्रष्टुं शीलं येषां ते समद्शितः । ननु अत्यक्षसिद्धं शरीरवैषम्यम् ;

<sup>1</sup> स्थलिशिपप्रातः प्रागनुकत्वात् न ततः पुनरावृत्यमावोऽत्रोच्यते । श्वानसोगमाश्रत् स्वरूपाविभावोऽपि न भवति, यस्याप्रच्युतिर्वकस्या । यत् स्वरूपमाविर्मृतञ्जत् न किरोमवेत्, तत्स्वरूपानुभवमात्रं तु भवतीति तात्पर्येणवमुक्तम् । सनिवत्यावस्थस्यद्रपमनुमकत्तिक् यात्रम् ।

कारस्तु प्रकृतेः, नात्मनः ; आत्मा तु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया सम इति पश्यन्तीत्यर्थः ॥१८ इद्वैष तैर्जितस्सर्गो येथां साम्पे स्थितं मुसः । निर्दोषं हि सम् ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

इहैव—साधनानुष्ठानद्शायामेव तैः सर्गो जितः संसारो जितः येपासुक्तरीत्या सर्वे-प्वात्मसु साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म । प्रकृतिसंसर्गदोषवियुक्ततया सममात्मवस्तु हि ब्रह्म । आत्म[बस्तु]ताम्ये स्थिताथेत् ब्रह्मणि स्थिता एव तेः ब्रम्मणि स्थितिरेव हि संसारजयः । आत्मसु ज्ञानैकाकारतया साम्यमेवानुसन्दधाना सुक्ता एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

येन प्रकारेणावस्थितस कर्मयोगिनः समदर्शनरूपो ज्ञानविपाको भवति, तं प्रकार-

म्रपदिञ्जति--

न प्रहस्येत् प्रियं प्राप्य नोहिजेत् प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमृहो ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः॥
यादशदेहस्थस्य यद्वस्थस्य प्राचीनकर्मवायनया यत् प्रियं भवति, यचाप्रियम्, तदुः

शरीरिणामिष तत्तद्विशिष्टत्वात् तत्कृतज्ञानािद्वैषम्यं च दुरपह्नमः ; अतोऽत्यन्तिविषमेषु पदार्थत्वादिवत् स्थूळं सामान्यमिकिश्चित्करिमित्यताह विषम्भाकारिस्त्वित । प्रकृतिरिति संवन्धसामान्ये षष्टी । तेन साक्षान्त्रमृकृतिगतं देवत्वादिकम् , तत्प्रयुक्तं सुलित्वादिकं च कथंचित्संवन्धमात्वात् प्रकृतेरित्युक्तम् । न शरीर्रातं वैषम्यं प्रतिषिध्यते ; किंतु तदेवाल प्रतिपायते । न च तत्तच्छरीरिविशिष्टत्वरूक्षणं तन्मूळ्जान-सङ्कोचादिळक्षणं वा वैषम्यमपङ्क्यते ; अपि तु तस्यौपाधिकत्वमुच्यते । न च शरीरादिविशिष्टत्वं विरोध्यतं विरोधिः । स्वाभाविकत्वस्त्रपत्तान्यस्य विरोधिः ; स्वाभाविकत्वस्त्रपत्तिः । न च तत्तदत्यन्तस्थूळ्म् , ग्रुद्धानामात्मनां स्वरूपभेदस्य दुर्विवेचत्वात् स्फुटविशोधकारान्दराभावादिति भावः । नतु तथाऽपि ब्राह्मणादिषु पूज्यत्वादिसाम्ययुद्धौ अभोज्यान्नत्वादिदोषः [कथं]स्मृतः ; तलाह आत्मा त्विति ॥ १८ ॥

इदानीम् (इह) समदिशितं न काळान्तरभाविफळसाधनमात्नम् , कित्विदानीमेव निश्लेयसकर्षां क्रेशनिवृत्ति दिश्तिति समदिशिनां प्रशंसा क्रियते इहैवेति श्लोकेन । साधनानुष्ठानद्शायामेवेति । इह्शब्दस्याल छोकपरत्वादिष स्वावस्थाविशोषपरत्वमेवोचितमिति भावः । संसारो जित इति । सक्त-प्रायास्त इत्यर्थः । सष्टश्यादेरलानन्वयात् सर्गशब्दः सज्यत इति व्युत्पन्याऽल संसारपरः । बाक्षण-चण्डाळादीनां स्पृश्यत्वादिसान्यप्रसङ्गब्युदासाय उक्तरीरवेत्युक्तम् । 'निरुपाधिकात्मखरूपंज्ञानेकाकारतया समम्' इति पूर्वमाच्योक्तप्रकारेणेत्यर्थः । नन्वात्मन्येव स्थितः संसारजयहेतुः, न तु तत्साम्ये ; तलाह निदीषं हि समं ब्रक्केति । ब्रक्करवेत्या विश्वयम् ; अन्यथा 'तस्साद्वज्ञणि ते स्थिताः' इत्यन्वयात् । समदिशैनो ब्रक्कणि स्थिताः, समस्य ब्रक्कत्वात् इति ब्रन्थयः स्थात् ; ततश्चोक्तचोचपरिहार इत्यमिपायेणाह आत्म-पस्तिति । ततः कि प्रकृतस्येत्यताह ब्रक्किणि स्थितिः वतः कि प्रकृतस्येत्यताह ब्रक्किणि स्थितिः । ब्रह्मशब्दिः शुद्धात्मिनि ब्रह्मसाम्यात् । अत्र फर्ळितं पिण्डितार्थमाह आत्मिस्ति ॥ १९ ॥

प्रियापिये, तद्धीनहषींद्वेगौ च देहतदवस्थाद्युपाधिमेदनिकधनाविति व्यझयितुं **यादशदेहस्य** यद्वस्यस्येत्याद्युक्तम् । यद्वस्यस्येत्येतत् देहादिक्कतज्ञानसङ्कोचाद्यवस्याविषयं वा । प्रियापिय- भयं प्राप्य इर्षोद्वेगी न कुर्यात् । कथम् ? स्थिरबुद्धि:-स्थिरे आत्मिन बुद्धियंस्य सः स्थिर-बुद्धिः, असंमृदः अस्थिरेण श्वरीरेण स्थिरमात्मानमेकीकृत्य मोद्दः संमोद्दः ; तद्रहितः । तस्य कथम् ? ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः । उपदेशेन ब्रह्मवित्सन् तस्थिन् ब्रह्मण्यभ्यासयुक्तः । एतदुक्तं भवति—तन्वविदाग्चपदेशेन आत्मयाथात्म्यविद् भृत्वा तत्वैव यतमानो देद्दात्माभिमानं परि-त्यज्य स्थिररूपात्मावलोकनिप्रयानुभवे व्यवस्थि(सि)तः अस्थिरे प्राकृते प्रियाप्रिवे प्राप्य इर्षोद्वेगी न कुर्यात् इति ॥ २०॥

वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विनद्खात्मिन यः सुख्या । स्र ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुख्यमक्ष्यमञ्जूते ॥ २१ एवसुक्तेन प्रकारेण वाह्यस्थेषु आत्मव्यतिरिक्तविषयानुभवेषु, असक्तात्मा असक्तमनाः अन्तरात्मन्येव यः सुखं विन्दति रुभते, स प्रकृत्यभ्यासं विद्वाय ब्रह्मयोगयुक्तात्मा — ब्रह्माभ्यास-युक्तमनाः ब्रह्मानुभवरूपमञ्जयं सुखं प्रामोति ॥ २१ ॥ प्राकृतस्य मोगस्य सुत्यज्ञतामाद्द — ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःख्योनय पव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुद्यः ॥ २२ विषयेन्द्रियस्पर्शजाः ये मोगाः दुःख्योनयस्ते [एव ते] — दुःखोदक्रीः । आद्यन्तवन्तः

रूपकारणागमे तत्कार्यद्दषेंद्वेगिनृष्टिर्विद्शकेत्यिभप्रायेणाह कथिमिति । तत्नोत्तरम् स्थिरचुद्धिरिति । समानाधिकरणसमासादप्युपयोगातिशयादत व्यधिकरणसमास उपपन्न इत्यभिप्रायेणाह स्थिरे आत्मनीति । असंमृदः इत्यत्न समित्युपसर्ग एकीकारपरः ; एवंविधिस्थरबुद्धित्वासंमुद्धत्वयोईत्वाकाकृद्धां दशियति तच कथिमिति । स्थिरबुद्धित्वासंमुद्धत्वे द्वे अपि सङ्करुय्य तदिति परामुश्यते । 'त्रक्षविद्धक्राणि स्थितः' इति शब्दाभ्यां सिद्धमवान्तरदशाविशेषं विश्वद्यति उपदेशेनेत्यादिना । सिश्वत्यनेनोपदेशजनितज्ञानमनुद्य विशिष्टं विज्ञानं विधीयत इति सचितम् । उक्तमेवार्थं समद्शित्वरूपज्ञानिवपाकाभि- लाषिणामव्याकुलानुष्ठानपर्वक्रममप्रदर्शनार्थं स्थेकस्थपदानां हेतुकार्थभावेन महावावयान्ययं[पदस्यं ?] दशियति एतदुक्तमिति । बाखकुदृष्टशुपदेशनिवृत्त्यर्थं तन्वविदामित्युक्तम् । भूरवेत्येतदृष्युवादत्वमुचनार्थम् ॥२०

एवं हर्षो द्वेगावकुर्वतः समद्गित्वपयुक्तं निर्तिशयसुक्तं स्वयमापततीत्युच्यते बाद्येति स्ठोकेन । सुखं विन्दति इत्यस्य सुखमश्चयमञ्जुते इत्यतो भेदपदर्शनाय स्ठमत इत्युक्तम् । अञ्चयसुक्त-प्रारम्भोऽत्रमिति भावः । प्रकृत्य≭यासं विहायेत्यश्रेकव्योक्तिः । प्रकृत्यभ्यासः पुनः पुनः प्रास्त-शब्दादिभोग्यचिन्ता । 'विन्दत्यात्मनि यस्युक्तम्' इत्युपदेशादिजन्यज्ञानम्, सुख्तकम् । सुखमश्चयमञ्जुते इति तु साक्षात्कारानन्तरभावि नित्यं सुखसुच्यत इति विशेषं दशियतुं ब्रशातुमवस्त्पित्युक्तम् ॥२१॥

अन।दिकालं वाह्यस्पर्शरिसकत्व तस्परित्यागः कथिमत्याकाङ्क्षायाम् आर्जनरक्षणादिदोषदर्शनात् तत्नोपरमः शत्रय इति ये हि इत्यादिश्चोकेनोच्यत इत्यिमप्रायेणाह प्राकृतस्येति । संस्पर्श्वजाः इत्यनेनाभिष्रेतमौपाधिकत्वं व्यक्षयति विषयेन्द्रियसंस्पर्श्वजा इति । स्पर्शोऽत्र संनन्धमात्रम् । एतेन सुस्रवस्वरूपस्य श्चद्रत्वमुक्तम् । दुःखयोनय इत्यत्न तत्पुरुषिनक्षां दर्शयितुं दुःखोदकां इत्युक्तम् । संस्पर्शज्ञत्वावाद्यारास्यायः । न स्त्यु हिरण्यमभैमोपाद्य-

अस्पकालवर्तिनो हि उपलम्यन्ते । न तेषु तद्याधारम्यवित् रमते ॥ २२ ॥

शक्नोतिहिव यः सोढुं प्राक् शरीरांधिक्षणात् । कामकोधोद्भाव वेगं स युक्तः स सुस्ती नरः॥ श्रीरिविमोश्चणात् प्राक् इहैव साधनानुष्ठानदश्चाषामेव आत्मानुमवप्रीत्या कामकोधोद्भवं वेगं सोढुं निरोद्धं यः श्रक्नोति, स युक्तः आस्मानुभवाषार्द्धः । स एव शरीरिविमोश्चोत्तरकारुष्

भ्यिकः प्राक्कतभोगोऽस्ति ; सोऽपि स्नमानेन शतसंवत्सरपरिमिततया मानुषादिसम इति दर्शियतुम् अरुपकास्त्रविन इत्युक्तम् । क्षणर्राचित्रदृदुद्वादिप्विवावान्तरस्थितिकास्वैषम्येऽप्याद्यन्तवन्तं त्विविष्ठम् मिति भावः । एवं संस्पर्श्वजा इत्यादिविशेषणत्रयेणाल्यत्वदुःसिमश्रत्वान्तवन्त्वानि दर्शितानि । प्रत्यक्षसिद्धेषु दोषेषु निपुणस्य किसुपदेवापेक्षयेति दर्शियतुम् गुप्तस्यान्तवन्त्वानि दर्शितानि । प्रत्यक्षसिद्धेषु दोषेषु निपुणस्य किसुपदेवापेक्षयेति दर्शियतुम् तद्याधारम्यविदित्युक्तम् । वृष्ठशब्दनात्व विश्वविधोपरमोपयुक्तविवेकज्ञानवन्त्वं विविद्यतिमिति दर्शियतुम् तद्याधारम्यविदित्युक्तम् । न तेषु रमते, किंतु कमादुपरमत् इति भावः । सागरतरणराजसेवादिषु शरीरविनाशपर्यन्ता आर्जनदोषाः । सहस्रमाकारपरिवृत्तगर्मगृहे निवेशितस्यापि रक्ष्यवन्तुनो राज-दहन-चोर-सृष्कादयस्त्रत्विवारणक्केशादयश्य स्थलादोषाः । "स्तर्गेऽपि पातमीतत्य क्षियणोनोस्ति निर्वृतिः" (वि. ६. ५. ५०) इत्यादयः क्षयदेषाः । "न जातु कामः कामानासुपभोगेन शान्यति । हविषा कृष्णवर्त्येव स्य प्यामिवधेते ॥" (वि. १. १०.२२), "अलामे मत्तकाशिन्या दृष्टा दिश्चकामिता" इत्यादिवदुत्तरोत्तरराग-प्रवशानिकदित्वयोग्यविषयपष्टत्त्यादयो भोगद्योषाः । सर्वस्य चास्य प्रायशः परहिसागर्मस्वात् तद्धीना ऐहिकासुम्मिकदुःस्वतंतत्वयो दिसादोषाः । पञ्चविधाक्षेते दोषाः प्रत्यक्षादिसिद्धा हति तद्धावनावता प्राव्यत्यानादिकारुशिस्त्यापि सुत्यज्ञत्वं सिद्धमिति भावः। उत्तं च तुष्टिमकरणे साङ्क्ष्येरपि, "वाह्या विषयोगरमात् <sup>व</sup>पञ्च" (सां. का. ५०) इति ॥ २२ ॥

एवं बाह्यस्थेंप्यसक्तस्याऽऽस्मित सुखं विन्दतः प्राक्नतगोगेषु दोषदिशिनः खरसवाहिनीं दशामनु-वदन् तथामृतस्याऽऽस्मसाक्षास्करे तदधीनमुखे च योग्यतामः द्याक्रीति इति । आशरिरपातात् कामकोषो दुर्जयाथित्यिमप्रायेणाह श्वरीरविमोक्षणास्त्र।(गिति । आस्मसाक्षास्त्रारशायां कामकोष्यप्रसङ्गो न विद्यत् इति तत्प्रसङ्गनिवारणदशाज्ञापनाय इहैव इत्यनेन साधनानुष्ठानदशोच्यते । 'विन्दत्यास्मिन यस्पुखम्' इति पूर्वोक्तहेतुं स्मारयित आस्मानुभवप्रीरयेति । वेगोऽस्त भनोव क्षमयानामित्स्वरिता प्रवृत्तिः । तसानु-चितविषयाभिष्यान-नीचचादु-नरपतिशुद्धान्तववेशादयः कामजा वेगाः । परिहिसाधुपायचिन्तन-परुष भाषण-प्रहारादयः कोषजा वेगाः । सोद्धामित्यस्य ितिक्षार्थत्वस्युदासायोक्तम् निरोद्धुनिति । स्रकोति । स्रकसन्तुत्सहत इत्यर्थः । युक्तशब्दोऽस्त समाधिस्त्रामपर इत्याह आस्मानुभवायाई इति ।

<sup>1</sup> स्ट्रोकस्थिद्विञ्चतात्वयभेव उपलभ्यन्त इति दक्षितस् । 2 उपरि उदाहरिष्यमाणशंख्य-कारिकाया ध्याच्याने तत्त्वकोमुदी द्रष्ट्या । उपरभ्य रेऽनिति उपरभो वैराज्यस् । द्राव्यदिविषयाणां पञ्चन्यात् तदुपरमक्ष्यं वैराज्याच्याप् पञ्च । त्रवामुत्यक्तिः पञ्चविधदोषाणाधकेकविषयेषि झानात् । ते च दोषाः आर्धनश्रम-रक्षणश्रम-श्रविष्णुन्य-भोगकाळिकदुःख—परहिसाकरत्वक्रपाः ।

<sup>3</sup> उक्तरीत्या विषयोगरमो वैराग्यम् । उपरमादिति पञ्चम्यतम् । तस्मात् उक्तपञ्चविधदोषदर्शन-जात् शब्दादिपञ्चकविष्यु नृष्टिः—असम्बुद्धिभैवति । विषयाणां पञ्चत्वात् तृष्टीनामपि पञ्चता ।

आत्मानुभवेकसुलस्संपत्स्यते ॥ २३ ॥

योऽन्तरस्तुकोऽन्तरारामस्तथाऽन्तन्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
यो बाह्मविषयानुभवं सर्वं विहाय अन्तस्तुकः आत्मानुभवेकसुकः, अन्तरारामः आत्मेकोद्यानः स्वगुणेरारमैव सुखवर्षको यस्य स तथोक्तः, तथाऽन्तन्थोतिः आत्मेकज्ञानो यो वर्तते,
स ब्रह्मभूतो योगी ब्रह्मनिर्वाणम् आत्मानुभवसुक्तं प्रामोति ॥ २४ ॥

छभन्ते ब्रह्मनिर्वाणसृत्रयः क्षीणकरपषाः । छिन्नद्वैधा यतात्मानस्वर्धभृतद्दिते रताः ॥ ४५ छिन्नद्वैषाः श्रीतोष्णादिद्वन्द्वैर्विद्वक्ताः, यतात्मानः आत्मन्येत्र नियमितमनसः, सर्वमृतद्विते-

'प्राक् सरीरिविमोक्षणात् ' इत्यस्य शरीरानन्तरमेव फलपात्तौ तात्पर्यम् ; अन्यथा तद्वचनस्य निष्परूरवे-प्रसङ्गादित्यभिप्रायेण स एव शरीरिविमोक्षोत्तरकारुमित्युक्तम् । 'सुखमक्षयमस्तुते' इत्याद्युक्तफलमूत्-भविष्यत्सुखयोगोञ्जापि स सुरवी इति व्यपदिश्यत इत्यभिपायेणाह्-आरमानुभवैकसुस्वसंपरस्यत इति॥

एवं परित्यक्तं प्राकृतमोभ्यभोगोपकरणादिकं सुर्वमात्मिन तदेकरसिकत्वाय करपयेन् , 'विन्दत्यारमिन यस्युलम् (२१) इत्युक्तस्य प्राव्यक्षात्थं प्रश्चवित योऽन्दरसुद्धः इति छोकेन । अन्तदशब्दामिपायं पूर्वोक्तं चानुसन्धायोक्तम् यो बाह्यविप्यानुभवं सर्वं विहायेति । अन्वदशब्दाऽत बाह्यव्यतिरेकात् आत्मपरः । आत्मैव आत्मन्येव वा सुखं यत्य सोऽन्तरसुद्धः । तत्व फेल्किोक्तिः आत्मानुभवेकसुद्धः इति । अवधारणत्याविशेषेण संवैत्नान्ययादेकशब्दः । अन्तरारामः श्र्यस्थाभिनेतं वक्तुं पदार्थे तावदाह आत्मैकोद्यान इति । आरामो हि मोगस्थानभृतः छायापछवपुत्पफलादिमिः स्वरुणैः सुस्ववर्धकः । तह्वव्वापि स्वरुणैः सुस्ववर्धकः । तह्वव्वापि स्वरुणैः सुस्ववर्धकः । तह्वव्वापि स्वरुणैः सुस्ववर्धकः । वह्वव्वापि स्वरुणैः सुस्ववर्धकः । वह्वव्याप्ति सुर्वितः सुस्वर्धकः । वह्वव्याप्ति सुर्वितः सुस्वर्थकः स्वर्धानायेणाह् आस्मै-वेत्यक्तम् ; अथ भोगोपकरणादिकपित् स एवेति अन्तर्व्याद्वपकरणस्य भिन्नत्वाद्वपकरणमिति हि तदर्धन्तया प्रथक् ज्ञातव्यम् ; अतस्तेषु तदेकज्ञानस्य नास्तीति भावः । यद्वा प्रकाश(क्र)ान्तरनैरपेद्यं बाह्य-पक्ताधाभावमात्वं वाऽत्व विविश्वतम् । पूर्वं शरीरात्मामिमानात् देवमनुष्याद्वभूक्तिः। अत्र निर्वाणमिति वा, अद्यापकरणानिवत्यक्तिः अत्रसुत्वस्य वाद्यप्तिक्तानादिक्त्वरूपेणावस्थित इति प्रसभ्तयुवश्वदाभिभायः । त्रह्मेव निर्वाणमिति वा, व्यवस्थितासेकृत्वत्वानानिवयानम्वयस्थितमाह आत्मानुभवसुस्विति । अत निर्वाण-शब्दस्य परोक्तशान्त्ववेत्वं सुर्वपकरणानिवित्यानम्बद्धिति । भावः ॥ २४ ॥

समदर्शित्वरूपज्ञानविषाकसिद्ध्यर्थम् अनुष्ठानप्रकारो हि न प्रहृष्येत् (२०) इत्यादिनोच्यते । तस हर्षोद्वेगनिवृत्तिः, बाह्यविषयनिस्सङ्गत्वम् , तदर्थदोषदर्शनम् , कामकोधवेगनिवारणम् , आत्मन्येव सर्वविधमोग्यताकरुपनं च कमात् श्लोकपञ्चकेनोक्तम् । अथ प्रागुक्तद्वन्द्वसहत्वादिस्मारणपृक्कं सर्वमृत्विहते रतत्वं नाम समदर्शित्वेऽत्यन्तान्तरङ्गं साधनसुपदिश्यते स्त्रमन्ते इति श्लोकेन । सिम्बद्धेयाः इत्यनेन मेदस्रस्थानियेधश्रमव्युदासायाह श्लोतोष्णादिद्वन्द्वेविद्यका इति । द्वेषशब्दस्यान संस्थाव्यक्तितं वाज्ञितन

रताः आत्मवत् सर्वेषां भृतानां हितेष्वेच निरताः, ऋषयः द्रष्टारः आत्मावलोकनपराः, य एव. म्भृतास्ते क्षीणाशेषात्मप्राप्तिविरोधिकल्मषाः त्रश्ननिर्वाणं लभन्ते ॥ २५ ॥

उक्तरक्षणानां ब्रह्म अत्यन्तसुरुममित्याह-

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यत बेतसाम् । भिन्तो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विजितातमनाम् ॥ १६ कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतनशीलानां यतचेतसां नियमितमनसां विजितासनां विजितासनां विजितासनां विजितासनां विजितासनां विजितासनां वर्तते । एवंभृतानां इस्तस्थं ब्रश्ननिर्वाणमिस्यर्थः ॥ २६ ॥ उक्तं कर्मयोगं स्वलक्ष्यभृतयोगश्चिरस्क्षप्रसंदरित—

स्पर्शान् इत्वा यहिर्बाह्यांश्चश्चश्चेवान्तरे भ्रुवोः। प्राणापानौ समौ इत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ यतेन्द्रियमनोवुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः । विगतेच्छाभयकोघो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८

मिति भावः । नियन्तव्येषु प्रधानं मन इह आत्मशब्देनोच्यते । नियमनं च तस्योचितविषयावस्था-पनित्यभिप्रायेण आत्मन्येन नियमितमनस इत्युक्तम् । "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् । आत्मनः प्रतिकृष्टानि परेषां न समाचरेत्" इति पश्चमवेदहृष्ट्रा परमर्षिणा निर्णीतोऽयमर्थ इति ज्ञापनाय आत्मवदिति इष्टान्तः, हितेष्वेवत्यवधारणं च । सर्वशब्दोऽत्र दृष्टान्तम्तं लात्मानस् , आत्मानतः च संगृह्णातिति भावः । एवमवस्थितस्य परिशुद्धान्योन्यसदशात्मखरूपसाक्षात्कारकत्वमृषिशब्देन विवक्षितमिति ज्ञापनायाह हृष्टार इति । एवविषसाक्षात्कारसिद्धौ अनिष्टनिवृत्तिरिष्टपाप्तिश्च श्वीणकरमपाः श्रक्षानिर्वाणं स्त्रभन्ते इत्युभाभ्यामुच्यत इत्याह य एवंभृता इति । 'न हि ज्ञानेन सद्दर्श पवित्रमिह विद्यते' (४. ३ ८) इति ज्ञानस्य करुमपनिवर्तकत्वं प्रागेवोक्तमिह स्वारितम् ॥ २५ ॥

एवं षड्भिः श्लोकैः समदिशित्वसाधकमनुष्ठानपकारसुपदिश्य तत्न शीव्रमञ्जितिसद्धश्चै फलसा-विल्लाम्बत्वमनन्तरसुच्यत इत्यमित्रायेणाह उक्तलक्षणानामिति । कामक्रोधविष्ठक्ततोक्तः 'शक्लोति' (२३) इति श्लोकार्थानुवादः । कोधनिष्टस्येव सर्वभृतहितेरतत्वमित्यिपि(ति) स्चितम् । यतीनामित्यत्न रुढेरयुक्तत्वात् प्रकृतिप्रत्ययार्थवैशद्याय यतनशीलानामित्युक्तम् । तेन 'न प्रहृप्येत्' (२०) इति श्लोकद्वयार्थोऽनूदितः । यतचेतसामित्येतत् आत्मन्येव सर्वाकारकरुपनानुवाद इति दर्शयितुं नियमित-मनसामिति उक्तम् । विजितात्मनामित्यनेन दोषप्रदर्शनेनान्तःकरणावर्जनपरस्य 'ये हि' (२२) इति श्लोकस्यार्थः सूचित इति प्रदर्शनाय विजितमनसामित्युक्तम् । एवं पुनरुक्तिपरिहाराज्ञानात् विदितात्मनामिति परैः पठितम् । अभितो वृतिते इत्यत्यन्तासक्तकालस्यं विवक्षितमिति दर्शयति एवं-भृतानामिति । इस्तस्थम् । न तु हस्तोद्धृतदण्डादिमाद्यक्तलाहिवत् व्यवहितलामिति भावः ॥ २६॥

"ज्ञानकर्मासिके निष्ठे योगळक्ष्ये सुसंस्कृते । आत्मानुमृतिसिद्धवर्धे पूर्वषट्केन चीदिते ॥" (सं. २) इति संग्रहमनुसंदधान उत्तरक्षोकानां सङ्गतिमाह उक्तं कर्मयोगमिति । स्पर्शशब्दसालानुः

<sup>1</sup> विदितेति शांकरपाठी नास्मद्विष्टः।

बाह्यान् विषयस्पर्शान् बहिः कृत्वा बाह्येन्द्रियन्यापारं सर्वद्वपसंहृत्य, योगयोग्यासने ऋजुकाय उपिवश्य चक्षुपी भुनोरन्तरे नासाग्रे विनयस्य नासाम्यन्तरचारिणी पाणापानी समी कृत्वा उच्छवासनि[इ]श्वासी समगती कृत्वा आत्मावलोकनादन्यत्र प्रवृत्त्यनहेन्द्रियमनोबुद्धिः, तत एव विगतेच्छाभयकोषः, मोक्षपरायणः मोश्रेकप्रयोजना, सुनिः आत्मावलोकनक्षीलः यः, सः सदा सक्त एव साध्यद्शायामिव साधनद्शायामिष मुक्त एवेत्यर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

उक्तस्य नित्यनैमित्तिककोनिकर्तव्यताकस्य कर्मयोगस्य योगशिरस्कस्य सुश्चकतामाह— भोकारं यञ्जतपन्नं सर्वछोकमहेश्वरम् । सुदृदं सर्वभूतानां 'क्षात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे <sup>श्</sup>कर्मसंन्यासयोगो नाम पश्चमोऽध्याय: ॥

मवपरस्यानुमान्यार्थज्ञापनाय विषयस्पर्धानिति उक्तम्। पिलतमाह बाह्येन्द्रियन्यापारं सर्वष्ठप्संह्रयेति । 'उपविश्याऽऽसने' (६. १२) हत्यादिवश्यमाणानुसन्धानेन योगयोग्येत्यादि उक्तम् ।
पक्षुः इत्येकवचनं करणाकारेवयादिति वर्शयितुं चक्षुपी इत्युक्तम् । 'संप्रेश्य नासिकाप्रम्' (६. १३)
इति वश्यमाणेन 'नासाप्रम्यस्तरोचनः' इत्यादिश्रकरणान्तरोकत्या च ख्रुवोरन्तरं कृत्वा इत्यत्येकार्ध्यमाह
नासाग्र इति । नासाभ्यन्तरस्त्रश्चारमावस्य स्वतःसिद्धस्य विधेयस्वायोगात् समी कृत्वा इत्यत्येदव
विधेयमिति वर्शयितुं नासाभ्यन्तरस्त्रश्चारमावस्य स्वतःसिद्धस्य विधेयस्वायोगात् समी कृत्वा इत्यत्येदव
विधेयमिति वर्शयितुं नासाभ्यन्तरस्त्रश्चारम्यस्यत्यात् प्राणापानावित्यनुवादः । अपानस्य नासाभ्यन्तरस्त्रश्चारम्यकाय उच्छवासिनि[इ]श्चासावित्युक्तम् । एक एव हि वायुर्नासापुटेन निष्कामन् प्रविशंध प्राणोऽपान्
इति चोच्यते । वृत्तिस्यानादिसाम्यायोगात् गतिसाम्योक्तिः। न दीर्धमुच्छवसन्, नापि नि[इ]श्चसिलत्यर्थः।
साक्षात्कारात्यन्ताव्यवहितपूर्वविश्वाविषयत्यात् यत्यव्यवस्य प्रवृत्तर्याते उक्तर्या श्वरत्यविश्वाविषयत्यात् यत्यव्यवस्य प्रवृत्तर्याते व तत्रक्रम् ता श्वरत्यविश्वाविश्वावाद्यस्य स्वयाविष्यत्याम् आत्मसाक्षात्कार्य्यत्यानिवरोषे तात्ययमाह
आरमावरोकनन्त्रीतः इति । अत्र वाचंयमस्वाद्य्यन्तरक्षम्तोऽत्यमर्थ इति मावः । सद्राख्याभिनेतं व्यनिक्ति सावः । सद्राख्यापामिवेति । सक्त एव । मुक्तपाय इत्यश्चः ॥ २०॥ २८ ॥

अध्यायारम्भे, ''संन्यासं कर्मणां कृष्ण'' (१) इत्यादिना वैषम्ये पृष्टे ज्ञानयोगस्य दुष्कर्तवा-दिकम्, कर्मयोगस्य सौकर्यम् शैष्ठयं चोक्तम् । ततश्च सेतिकतैच्यताकसशिरस्ककर्मयोगो विशदीकृतः । अथालोपसंहारेऽपि प्रावप्रशोत्तरतया प्रकान्तसौकर्यादिकमेथ प्रकारान्तरेण स्विरीक्रियत इत्यभिप्रायेणाह उक्तस्येति । अत्र कर्मयोगशब्देन दैवमेव (४. २४) इत्याद्युक्त्यातिस्विकप्रधानांशो गृहीतः ; नित्य-नैमित्तिककर्मेतिकतैच्यताकस्येत्यनेन सर्वकर्मयोगमेदिनष्ठानां ज्ञानयोगमक्तियोगनिष्ठानां चावर्जनीयः

<sup>1</sup> ज्ञानयोगस्य शुद्धाःमचिन्तनक्ष्यस्यात् न भगवद्विषयकःवस् । कर्मयोगस्तु प्रतियदं तत्तरकर्माराध्यतत्तर्दन्तयोदित्वभोकृत्यफ्षप्रदत्वादिना तद्विषयकः। अतोऽत सौकर्ये शैव्यञ्जिति विशेषकथनस् अश्रीभमतस् ।

<sup>2</sup> कर्मसंन्यासयोग इति । अनुष्ठेयकर्मयोगान्तर्गताकर्तृत्वानुसंघानकप संन्यास योग इत्यधः ।

यज्ञतपतां भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वभूतानां सुह्दं मां ज्ञात्वा शान्तिमुच्छति, कर्म-योगकरण एव सुलमु-छिति । सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेशां लोकेश्वराणामपीश्वरम् ; "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" (इते. ६.७) इति हि श्वयते । मां सर्वलोकमहेश्वरं सर्वसुहृदं ज्ञात्वा मदाराघ-नरूपः कर्मथोग इति हुखेन तत्र प्रवर्तत इत्यर्थः ; सुहृद् आराधनाय हि सर्वे प्रयतन्ते ॥२९

॥ इति श्रीभगवद्मानानुजविरचिते श्रीमद्गीतामाप्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुषाचश्रमश्रितः कर्मफळं कार्यं कर्व करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरश्चिनेचािकयः॥१

सक्तः कर्मयोगः सपरिकरः, इदानीं विज्ञानयोगक्रमयोगसाध्यातमावस्रोकनरूपयोगा-

साधारणांशः । सुग्रकत्वम् अिवेदेन पृष्टिविषयत्वम् । शान्तिशवद्दोऽस्र न भगवरमासिरूपमोक्षपरः ; जीवोपासनप्रकरणत्वात् । नापि कर्मयोगसाध्वक्रस्वरः, तक्षोऽप्युपयुक्तस्य प्रसिद्धिस्वारसानुरोधिनः कर्मा-क्षोपश्चारम् वक्तुमुचितत्वात् ; ज्ञात्वा इत्यतानुष्टायेत्वध्याहारसापेक्षस्वप्रसङ्गात् । अतः 'सुस्तं वन्धात्प्रमुच्यते' (५. ३) इत्यादिनोक्तं मनःक्षेत्रशान्त्यादिरूपं सुख्यस्व शान्तिश्चिदेन विविधितिमत्यमिन्त्रायेणाह् कर्मयोगकरण एव सुस्वमृच्छतीति । भगवत्समानाधिकरणतया सर्वस्रोकतिसंविध्वकतया च महेश्वरशब्दस्यात न रूडिविशेषेण प्रवृत्तित्वाह सर्वेषां स्त्रोक्षेत्रशामामपीति । सर्वेषां स्रोकानां महान्त्रमीश्चरमित्येव तु समासार्थः । तत्र प्रमाणमाह् तमीश्वराणामिति । श्रुताविष महेश्वरशब्दः सपति-संविध्वन्त्वत्वत्व त्रस्त्रविध्वर्याच्यक्त्वत्व तस्त्रविध्वरायामेव कथं सुस्त्रमित्र । क्ष्रयोग्याद्व । सर्वश्चित्रश्चयाम् स्त्रविध्वरायामेव कथं सुस्त्रमिति शङ्कां विशेषणव्ययेण व्युदस्यति मामित्यादिनः । महोदारसार्वभौम-प्रमुखस्त्रसेवायामिव कर्मयोगे सुस्त्रवुद्धः प्रवित्त इति भावः । मदाराधनरूपः कर्मयोग इत्यनेन मोक्तारं यञ्चतत्वसाम् इत्यस्यार्थे विद्वतः । यञ्चास्तर्वासि च कर्मयोगयोगिस्त्रस्त्रमाराधनहेतुः कोक्तवः । यञ्चास्तर्वासि च कर्मयोगयोगिस्त्रस्त्रमाराधनहेतुः कोक्तवः कोक्तवः स्त्रहृद्धः इति । सर्व इति । न केवकं शास्तिष्टाः, कि तु पामराः, तिथैश्चोऽपि केचित् स्वेषु सौहादेवन्तं पुरुष्विद्दाङ्गित्रस्त्रमार्वव्यक्तं नात्रमात्रेण स्त्रीतास्त्रविद्याद्वर्यनेन स्त्रवित्रसेन वास्त्रस्त्रसे स्वान्त्रमाराः, तिथैश्वोऽपि केचित् स्वेषु सौहादेवन्तं पुरुष्विद्दाङ्गित्रस्त्रसेन्त्रस्त्रमेन वास्त्रस्त्रसेन स्वर्यते॥

॥ इति श्रीमद्रीतामाष्यदीकायां तात्पर्यचिन्द्रकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठाध्यायोपकमस्य पूर्वोक्तार्थानुबाद्रक्षपतां द्रशियतुं पूर्वेणाविच्छिलानुसंघानार्थमध्यायसंगतिक्व नारपूर्वमेव च्याख्येयोपादानम् । वृत्तवर्तिष्यमाणाभिधानमुखेन संगति द्रशयति उक्त इति । कम्योग उक्तः, तरसाध्यतयोपक्षिप्तः समाधिरुक्षणो योग एवाल सानुबन्धः प्रतिपाद्यत इति संगतिः । योगा-

<sup>1</sup> ज्ञानयोगकर्मयोगसाध्येति पाटः स्थितो युक्तः । चिन्द्रकायां 'तस्साध्यतयोपश्चितः' इति कर्मयोगग्रहणात् । तस्ताध्येति भाष्ये पाठाभावात् । तद्वत् द्वितीयाध्यायोक्तज्ञानयोगस्यापि अविशेषण वक्तस्यायाः ।

स्यासिविधिक्च्यते । तत कर्मयोगस्य निर्मेश्वयोगसाधनस्य द्रदयितुं ज्ञानाकारः कर्मयोगो योगश्चिरस्कोऽन्छते । कर्मफलं स्वर्गादिकमनाश्चितः, मिक्षयं कर्मानुष्ठानमेव कार्यस्य, सर्वात्म-नाऽस्मत्सुहृद्क्भृतपरमपुरुवाराधनरूपतया कर्मेव मम प्रयोजनम्, न तत्साध्यं किचित् इति यः कर्म करोतिः स संन्यासी च ज्ञानयोगनिष्ठश्चः योगी च कर्मयोगनिष्ठश्चः आत्मावलोकनरूपयोग-साधनभृतोमयनिष्ठ इत्यर्थः । न निर्मानेवाकियः न चोदितयज्ञादिकम्बप्रवृत्तः, न च केवलः ज्ञाननिष्ठः । तस्य हि ज्ञाननिष्ठैव, कर्मयोगनिष्ठस्य तुभयमस्तीत्यमित्रायः ॥ १ ॥

भ्यामविधिरुच्यतः इति । ''योगाभ्यासविधिर्योगी चतुर्घा योगसाधनम् । योगसिद्धिः स्वयोगस्य पारम्यं षष्ठ उच्यते" (सं. १.०) इति संग्रहस्रोके प्रथमं योगाभ्यासिवधेरुपादानादन्येषां च तदर्थस्वात स एवाध्यायप्रधानार्थतया संगृहीत इति भावः । अनाश्रितः इत्यादीनां सम**प्रद्विचित्रप्यते** इत्यन्तानां नवानां स्टोकानां प्रागुक्तानधिकार्थस्वान्निष्प्रयोजनस्वमाशङ्क्याह तत्नेति । अभ्यासो हि तास्पर्यस्त्रिम् , अब्यवहितनिर्देशश्च नैरपेक्ष्यं सुचयेदिति भावः। ज्ञःनाकारो योगश्चिरस्क इति पदाभ्यां साधनस्य पागुक्त-मन्तर्गतात्मज्ञानत्वादिळक्षणं पौप्कल्यं. साध्यस्याऽऽत्मावलोकनस्याव्यवहितत्वं चाभिपेतम्। 'अनाश्रितः' इति स्रोके पूर्वीर्धेन ज्ञानाकारकर्मयोगानुवादः, उत्तरार्धेन नैरपेक्ष्यदृढीकरणम् । 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' (५. २९) इत्यन्यवहितपूर्वश्लोकालोचयया सर्वात्मनाऽसातसुहृदभृतेत्यादिकमुक्तम् । ततश्च कर्मफल-मनाश्रित इत्युक्ते निष्फलपञ्चतिस्यादिति शङ्कायां कर्मस्वरूपफलस्वस्य वक्तुमुचितत्वात् कार्यशब्दः प्रयोजनविषय इति दर्शयितुं कर्मानुष्टानमेव कार्यमिति वचनव्यक्तिर्दर्शिता । कार्यशब्दस्य चोदित-विषयरवे मन्दप्रयोजनत्वं स्यादिति भावः । ननु कर्मयोगनिष्ठमनुद्य तस्यैव ज्ञानयोगनिष्ठरवं कर्मयोग-निष्ठत्वं च विधातुमयुक्तम् ; प्रथमे विरोधात् , द्वितीये तृह्हेश्योपादेयविभागाभावपौनरुवत्यनिष्पयोजन-त्वेभ्य इति शङ्कायामाह आस्मावलोकनेति । प्रथवसाधनमृतोभयसाध्यं फलमनेन रूब्धमित्य-भयनिष्ठत्वमुपचारादुच्यते । ततश्च कर्मयोगस्य निरपेक्षसाधनत्वं विवक्षितिमिति भावः । यद्वा कर्मयोगांश-मृतज्ञानिकयाभेदेन परिहार इति भावः । अग्निशब्दस्यात्राधिसंबन्धिकर्मरुक्षकत्वव्यञ्जनाय **यज्ञादि**शब्दः । ल्क्स्यार्थानां संप्राहकं चोदितत्वम् । निराग्नः इत्यनेनैव कर्मनिवृत्तेरुक्तत्वादिश्चराब्दः क्रियानि-वृत्तिमुखेन क्रियाव्यतिरिक्तनिष्ठत्वरक्षकः; व्यतिरिक्तश्चालाऽऽसको ज्ञानयोग इति दर्शयितुं **केवरुज्ञाननिष्ठ** इति उक्तम् । यद्वा, न निरमिर्नचािकयाः इत्युभाभ्यां <sup>2</sup>श्रौतस्मार्तिकयाविशेषनिषेषकाभ्यां फलितमाह नचोदितेत्यादि। तदभिषेतमाह न केवलः(लं)ज्ञाननिष्ठ इति। 'अनिधरनिकेतस्स्यात्', 'त्यक्त्वा द्रव्याधि-साध्यानि कर्माणि' (मनु. ६. २५, ४३) इत्यादिप्रतिपादितसंन्यासाश्रमव्यवच्छेद इहासक्रत इति भावः॥१ संन्यासमन्त्र्य योगत्वे विधीयमाने ज्ञानयोगे कर्मयोगसद्भावप्रतिपादनम्रमः स्यात् । तच्च

कार्यमित्यस्य कार्यत्वेनेत्यर्थः । तद्विचरणं कर्मेत्यारभ्य किञ्चिदित्यन्तम् ।

अनिनिरिति अन्ति साध्यक्रियोक्तिः; अक्रियइत्यत्र तद्भिष्मतपोदानादेरिति शांकरे।
6.17—26

उक्तलक्षणकर्मयोगे ज्ञानमप्यस्तीत्याह --

थं संन्यास इति ब्राह्वयांगं तं विश्व पाण्डव। न द्यासंन्यस्तसङ्कर्यो योगी भवति कश्चन॥ २ यं संन्यास इति ज्ञानयोग इति, जात्मयाथात्म्यज्ञानमिति प्राहुः, तं कमयोगमेव विद्धि। तदुपपाद्यति न ब्रसंन्यस्तसंकरुपो योगी भवति कश्चनेति । आत्मयाथात्म्यातुसन्धानेन अनात्मिन प्रकृतिनी आत्मसङ्कर्यः संन्यस्तः परित्यक्तो येन स संन्यस्तसङ्कर्यः अनेवभृतः असंन्यस्तसङ्कर्यः । न ब्रुक्तेषु कर्मयोगिष्वनेवभृतः कश्चन कर्मयोगी भवति ; "यस सर्वे समारम्भाः कामसङ्करपवर्जिताः" (४.१९) इति ब्रुक्तम् ॥ २ ॥

कर्मयोग एवाप्रमादेन योगं साधयतीत्याह—

भारुहक्षोर्भुनेयोगं कर्म कारणमुख्यते । योगारुद्धः तस्यैव शमः कारणमुख्यते ॥ ३ योगम् आत्मावलोकनं प्राप्तुमिच्छोर्मुक्क्षोः कर्मयोग एव कारणमुख्यते । तस्यैव योगा-

'नश्चसंन्यस्त' इत्युपपादनिविरुद्धम्, अलानुपयुक्तं चेत्यभिमायेणाह उक्तस्रभोति । योगोद्देशेन संन्या-सत्विधिपरं <sup>1</sup>वावयमित्यर्थः । संन्यासशब्दस्याभिष्ठतं वक्तुं प्राकरणिकं वाच्यं तावदाह द्वानयोग इति । अल तदिभिन्नेतमाह आरमयाथारम्यद्वानिति । समुदायवाचकशब्दस्तदंशेऽपि प्रयुज्यत इति मावः। तं कर्मयोगमेव विद्धीति कर्मयोगान्तर्गतमेव विद्धीत्यर्थः। आरमयाथारम्येत्यादेरयमिष्ठायः—

सङ्करपशब्दो न तावदल कुर्यामिति सङ्करपिषयः, तदभावे कर्मकरणस्यैव अशवयत्वात् । नापि फलामिसन्धित्विषयः ; तथात्वेऽपि कर्मयोगे ज्ञानयोगान्तर्भावपतिज्ञाया उपपादकरवासिद्धेः । अत एव "सङ्करपन्तृलः कामो हि (वै) यज्ञाः संकरपसंभवाः" (मनु. २. ३) इत्यादिस्मृतिपिठतः कामस्य कर्मणां च हेतुस्मङ्करपोऽल न विवक्षितः । तसादेकिकृत्य करवोऽल सङ्करपः । स चाल देहात्मगोवरः । तत्परित्यागश्च तत्त्वज्ञानात् । एवंसरयेव नहीत्यादेरकोपपादकत्वमुपव्येत इति । कश्चनेति निर्देशः प्रागुक्तकर्मयोगनिष्ठवैविष्यस्वक इत्यभित्रायेण उक्तेषु कर्मयोगिष्वत्युक्तम् । सिद्धो खलोपपादको मवि ; तिसिद्धिरत्र कृत इत्याकाल्क्षःयां हिशब्दाभिष्ठतमाह यस्येति ॥ २ ॥

'आरुरक्षोर्भुनेयोंगं कर्म कारणमुच्यते' इत्यल विशेषविधिः शेषनिषेषपर इत्यिमिप्रयेणाह कर्मयोगएवेति । कर्मयोगमात्रसाध्यो हि योगो न परमात्मावळोकनिमत्यिभिप्रायेणाह आत्मावळोक-निमिति । आमोक्षात् यिकिक्षित्कर्म <sup>2</sup>कर्तन्यमित्यिभिप्रायेणाह मुम्रुक्षोरिति । आत्मावळोकनत्याल मोक्ष[त्व ?]करपनया मुमुक्षु(मोक्ष)शब्दोपचारः<sup>8</sup> । योगारुहस्येति युक्तावस्था(स्थ ?) (б. 8)विषयत्व

<sup>1</sup> योगं तं विद्यीस्यन्वयः। यिमस्यादि तिमस्यन्तं विद्ययम्। अत एव ऋोके तं योगिमित्य-प्रमुज्य योगं तिमिति प्रयोगः। भाष्ये कर्मयोगमेवेति पश्चात् वयोगात् तदनुगुणोऽप्यथैः कर्मयोगा-न्तर्गतमेवेत्येवं पश्चादुक्तः। 2 यत् किञ्चित् कर्मेति । यः कश्चन कर्मयोग इत्यर्थः।

<sup>3</sup> औपचारिकप्रयोगः, 'निष्पाद्य मुक्तिकार्य हि इतकृत्यं निवर्तते' वि. पु. 6, 7.94 इति प्रकृत तुल्यस्य मुक्तिवाक्यस्य सारणाय ।

रूढस्य प्रतिष्ठितयोगस्यैव, शमः कर्मनिवृत्तिः कारणमुच्यते । यावदारमावलोकनरूपमोञ्चा-(श्वरूपयोगाः) वाप्ति कर्म कार्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

कदा प्रतिष्ठितयोगो भवतीत्यत्राह-

यदा हि<sup>1</sup> नेन्द्रियाथेषु न कर्मस्वतुषज्ञते । सर्वसङ्करवसंन्यासी योगारुढस्तदोच्यते ॥ अ यदाऽयं योगी <sup>ह</sup>त्वा(स्ता)त्मेकानुभवस्वभावतया इन्द्रियाथेषु — आत्मध्यतिरिक्तप्राञ्चत-विषयेषु, तत्संवन्धिषु च कर्मसु नानुषज्जते न सङ्गमहीति, तदा हि सर्वसङ्करवसंन्यासी योगारूढ

भ्रमन्युदासाय प्रतिष्ठितयोगस्येत्युक्तम् । कर्म कारणिमत्युक्तकमैप्रतियोगिकश्शमः तिम्रष्ट्वितेषात्र भिवितुमर्ह्तीत्यभिप्रायेण श्रमः कर्मीनृष्ट्वितित्युक्तम् । एतेन "ग्रुनिरत्न परित्राजकः, शमश्च पारित्राज्यरूपः" इति परोक्तं निरस्तम् । ननु प्रतिष्ठितयोगस्य किं कारणिपक्षया, न श्वन्यदस्य कार्यमस्तीति शक्कायां योगारूढस्य इत्यादिना कर्मनिष्टत्तिविधानं <sup>8</sup>ततः पूर्वमनिष्टस्यभिप्रायमिति दश्चेयति यावदिति ॥ ३ ॥

संगमयित करेति । अयं योगीति । यावदात्मावलोकनं कर्मयोगे वर्तमान इति भावः । अर्थसिद्धं हेतुमाह आरमैकानुभवस्वभावतयेति । अनित्यस्वहेयस्वादिस्चनाय प्राकृतशब्दः । कर्मिस्सिद्धं हेतुमाह आरमैकानुभवस्वभावतयेति । अनित्यस्वहेयस्वादिस्चनाय प्राकृतशब्दः । कर्मिस्सितं न चोदितकर्ममालविषयम् , तस्य स्वारसिकसङ्गास्पदस्वाभावेन निषेधायोगात् । नापि परोक्त-प्रक्रिययाऽभिहोलादिनित्यनैमितिकविषयम् , वैदिकस्य तल निस्सङ्गत्वायोगात् । अतो यो हि यदिच्छित, तस्य तस्मिस्तरसाधने वा कार्यताबुद्धिरिति न्यायादिन्द्रियार्थेषु सङ्गिनां तद्वपायम्तेषु विहितेषु, निषिद्धेषु, अनुभयेषु च कर्मसु यथासंभवं सङ्गः स्थादिति तिल्येष एवोचित इत्यभिप्रायेण तस्मंचन्यिषु च कर्मस्त्रस्वस्यम् । सङ्गं त्यजति, निवर्तयतीत्यादिषु प्रयोगेषु जायमानस्य सङ्गस्य चलान्नवर्तनं प्रतीयते ; अल तु नानुषज्ञत इत्यक्तम् । सङ्गः स्ययमेव न जायत इत्यर्थः । ततः फल्तिमाह न सङ्गाईतीति । हिशब्दस्य वावयार्थान्वयौचित्यात् तदा हीरयुक्तम् । तदा ह्यसे सर्वसङ्करसंन्यासी योगारूढो भवति ;

<sup>1</sup> हिशब्द उत्तरार्धेऽन्वेति। अतः पूर्वदेलोकोकोपपाइनमत्र क्रियते इति भावः। 2 चन्द्रिकायां आत्मेति प्रतीकथारणात् स्वेतिपदं नास्तीति ज्ञायते। योगी तु—योगीभवित्रत्यर्थः।

<sup>3</sup> नतु योगारूढस्येव कर्मनिवृत्तिरूपशमो मवतीत्येतावन प्रवापेश्वतत्वात् उत्तरार्षे कारणवर्दं व्यथंम् । शांकरे योगारूढस्य शमो योगारूढस्य सामिति व्यास्या । माध्ये शमः कर्मनिवृत्तिः परमञ्जूष्य । शांकरे योगारूढस्य शमो योगारूढस्य सामिति व्यास्या । माध्ये शमः कर्मनिवृत्तिः परमञ्जूष्य राति वेत् — । शोधने सर्वप्रेऽिष व्यथंते व लेक्यत रति वेत् — न । योगारूढः आसन उपिवश्य योगो कर्तव्य तत्कालमिति यदि कर्मण्येष विनियोजयेत् , तत् कर्म आत्मावश्यकान्यायकं भवेत् — अतस्यित्वश्चित्र वांधकामाविष्यया कारणमिति कथने तात्यर्यात् । अस्य स्त्रोकस्य, आसने उपिवश्य योगानुष्ठानासमर्थस्य कर्मयोग एव कारणम् , तत्सामध्ये जात एव अथ्यपिष्ठाकारिणः शमः — कर्मसंन्यासः आनयोगः आत्मावलोकनकारणमुज्यत रत्यर्यो वर्णयितुं शक्यते । अथापि योगान्यापृतत्वद्शायां कर्मयोगान्वश्यकत्वपरतया स्यास्यानमेव पूर्वापरसंगतिति भावः। एव योगकमानुष्ठानयोरैककालिकत्वानोग एवोत्तरस्रोकनोपपायते ।

इत्युच्यते । तसादारुरुक्षोर्विषयानुभवाईतया तदननुषङ्गाभ्यासरूपः कर्मयोग एव योग-निष्पत्तिकारणम् । अतो विपयाननुपङ्गाभ्यासरूपं कर्मयोगमेवा आरुरुक्षः कुर्यात् ॥ ४ तदेवाइ-उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् । अत्मिव द्यात्मनो वन्धुरात्मेव स्प्रियानना। ५ आत्मना मनसाः विषयाननुषक्तेन [मनसा] आत्मानमुद्धरेत् । तद्विपरीतेनं मनसा आत्मानं नावसादयेत । आत्मैव मन एव द्यात्मनो वन्धः ; तदेवात्मनो रिपुः ॥ ५ ॥

बन्धुरात्माऽऽद्यमनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। मनात्मनस्तु रातुःव वर्तेताऽऽत्मेव रातुवत्॥ येन पुरुषेण स्वेनैव स्वमनो विषयेभयो जितम् , तन्मनस्तस्य बन्धुः। अनात्मनः अजित-मनसः स्वकीयमेव मनः स्वस्य शतुवत् शतुव्व वर्तेत-स्वनिदश्येषसविषरीते वर्तेतत्पर्थः। यथोक्तं भगवता पराग्नरेणापि, 'मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासङ्गि सुवस्यै निर्विषयं मनः' ॥ (वि. ६. ७. २८) इति ॥ ६ ॥

न तु सङ्गकाल इति भावः । व्याख्यातस्रोकद्वयतास्पर्यार्थमाह तस्मादिति । इष्टकारणस्वोपदेशो हि तत प्रवृत्त्वर्थ इति तास्पर्येणाह अत इति ॥ ४ ॥

क्षोकद्वयाभिषेतमर्थे विद्युणोदीत्याह तदेवाहेति । आत्मना इत्यस्य करणार्थत्वौचित्यात् मनसेत्युक्तम् । विषयान तुप्कतेन, तद्विप्रशेतोनेत्युभयं क्रियाद्वयसामध्यति पूर्वोत्तरानुसन्धानाचोक्तम् । उद्धरेत् योगारूढतापादनेन संसारसमुद्रादुत्तारयेत् ; न पुनरधो नयेदित्यर्थः । आत्मोद्धरणात्माव-साद्योद्वैयोरिष मनसो हेतुत्वं प्रषञ्चयते आत्मैवेति । अन्ये बन्धवोऽपवर्गविरोधित्वादवन्धवः । अन्ये च रिपवर्ग आत्ममत्रतिमुक्तमुता इत्यवधारणाभिष्ठायः ॥ ५ ॥

एकस्वेवेकं प्रति बन्दुस्वं रिपुत्वं च व्याहतिमिति शङ्का परिह्वयते वन्धुरारमेित स्वोकेन । स्वेनेवेति स्वासमत्त्वर्थः । मनसो विजयो नाम विषयेभ्यो व्यावर्तनिम्त्यिभिपायेणोक्तम् विषयेभ्यो जितमिति । बन्धुस्वोपपादनं हि मनसो विजयोनोक्तम् , श्रुत्वोपपादनमपि हि(तर्हिः)तदमावेनेत्यिभिपायेणोक्तम् अनारमनः अजितमनस् इति । स्वरोपम्नमेव इत्येवकारान्धितमाह स्वकीयमेव मन इति । स्वरोपम्नमेव हि विरोधि संजातमिति भावः । श्रुत्कुव्यमिद् कृत्वस्य दिविष्ठात्वर्षास्य स्वयावर्षेति । संपितपत्वो विष्ठात्वर्षास्य स्वयावर्षेति । संपितपत्वो विष्ठात्वर्षास्य स्वयावर्षेति । संपितपत्वो विष्ठात्वर्षास्य स्वयावर्षेति । संपितपत्वो विषयः स्वयावर्षेत्रस्य स्वयावर्षेति । प्रकल्पयेण सर्वेषामात्मशब्दानां स्वास्मविषयस्यं कथम् । पेकल्पयेण सर्वेषामात्मशब्दानां स्वास्मविषयस्यं कं न स्यात् । कथं च मनसो जयादिः विषयव्यावर्तेनादिरूपः इति शङ्कायां कर्मकर्त्वो (कृत्वा)दिभेदव्यपदेशौचित्यात् पूर्वोत्तरानुसम्यानाच सिद्धमेवार्थे संवादेन द्रवयति यथोक्तमिति ॥ ६ ॥

<sup>1</sup> अन्ये रिपवः सांसःरिककार्यविशोधित्वेऽपि मोक्षार्यव्यक्तर्वराधितां धन्वात् वरयुतानुकूलन्वात् अस्यित इति । आस्पव्यक्तिन्यस्य आस्मविषयक्त्रयुत्तीत्यर्थः । 2 इध्विद्यातकःवमुभयस्य**धारणम्**। बाह्यरात्रः बाह्येष्विघातकः : आन्तरस्त्वान्तरेष्ट्विघातकः इति भावः ।

<sup>3</sup> कार्यकरणेति । शरीरेन्डियेत्यर्थः ।

## योगारम्भयोग्या अवस्थोच्यते —

जितातमनः प्रशान्तस्य परमातमा समाहितः । शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानावमानयोः ॥ अ शीतोष्णसुखदुःखेषु मानावमानयोश्र जितात्मनः जितमनसः विकाररहितमनसः त्रशान्तस्य मनसि परमात्मा समाहितः सम्यगाहितः । स्वरूपेणावस्थितः प्रत्यगात्माऽत्र परमात्मेत्युच्यते ; तस्यैव प्रकृतत्वात् । तस्यापि पूर्वपूर्वावस्थापेश्वया परमात्मत्वात् । आत्मा परं समाहित इति वाऽन्वयः ॥ ७ ॥

ब्रानविज्ञानतृप्तारमा कृटस्थो विजिन्नेन्द्रियः। युक्त इन्युच्यते योगी समलोधादमकाञ्चनः॥ ८ ज्ञानविज्ञानतृप्तारमा आत्मस्रस्पविषयेण ज्ञानेन, तस्य च प्रकृतिविस्तातीयाकारविषयेण [वि]ज्ञानेन च तुप्तमनाः कुटस्यः देवाद्यवस्थास्त्रतुवर्तमानसर्वेसाधारणज्ञानेकाकारात्मनि स्थितः,

प्रतिष्ठितयोगस्य। स्या, तदारोहणोपायश्चोक्तों ; अथ(त) योगप्रिक्रयां वक्तुं तदारम्भदशा ज्ञाप्यत इत्याह योगारम्भेति । सप्तम्याः समाहितः इत्यनेन अन्वयभ्रमच्युदासायान्वयं पदार्थाश्च व्यक्तः यति शीतोष्णेति । एतेन 'मानावमानयोगसमस्य' इति परोक्ताध्याहारोऽनपेक्षित इति दर्शितम् । शितोष्णादिषु द्वन्द्वेन्वनुभ्यमानेषु कथं मनसो विजय इत्यत्नाह—विकारसहितमनमः इति । विकारश्च हर्षेद्रेकादिरूपः प्रागुक्तः । प्रशान्तस्य इत्येतत् वाखेन्द्रियन्त्र्यापारनिवृतिपरम् , मनोविकारिनृवृत्तेरुक्तः । असिबिहितफलाभिसन्ध्यादिराहित्यपरं वा । समाहितः इत्यत्याकाङ्क्षितं प्रकृतस्विनं चाधिकरण-माह मनसीति । सम्यगाहित इति । विश्वदानुसन्धानयोग्यो जात इत्यर्थः । जीवातमप्रकरणे परमात्मा कथमुच्यत इत्यत्नाह स्वरूपेणेति । अत्रेति प्रकृतेषित्यस्वनम् । तदेव दर्शयित तस्यैवेति । एवकारेण प्रासाङ्गिको हि र्यूर्व परमात्मयसङ्ग इति ज्ञापितम् । अवरस्य जीवस्य परमात्मशब्दिविवम् । परमशब्द-निवैचनं च न घटते ; परो मा असादिति हि तत् ; न च पूर्वपूर्वविश्वापेक्षया परो मा अस्यादित्यन्वयः सिध्यतीत्यरुचेरन्ययान्तरमाह श्वारमा परमिति । अल चाधिकं केवलिति वा परशब्दार्थः ॥ ७॥

इन्द्रियविजयो द्वन्द्वसहत्वं चोक्तम् ; अथ तयोर्हेतुरूच्यते **ज्ञान** इति श्रोकेन । **ज्ञानिवज्ञान** शब्दयोः पौनरुनत्वस्युदासायोपसर्गद्योतितं विषयविद्योषं व्यक्जयति आरमस्वरूपेत्यादिना । पारलोकिकसमस्तकमिपेक्षितदेह। दिव्यतिरिक्तत्ववीरिह ज्ञानम् । मोक्षाधिकारिणो विशेषतोऽपेक्षितिनित्यत्विन्रितिक्यानन्द्रत्वादिधीस्तु विज्ञानम् ; न पुनरुपासनरूपज्ञानम् ; तत्सामग्रीपरत्वाद्वानयस्येति भावः रूट्टे विष्ठतीति क्ट्रस्यः । क्रुटशब्दश्च परिगुद्धात्मन्यौपचारिकः । क्रुटस्य द्यागन्तुकविनधरायःपिण्डादिक्तिश्चेषरूपावस्थानवाहे वर्तमानेऽपि स्वस्वरूपे न श्रीश्वेष्वयादिक्रपो विकारः । तद्वद्वतापि देवादिक्रिपितंस्त्रेषविश्चेषरूपावस्थानवाहेऽपि "न जायते क्रियते" (गी. २.२०) इत्यादिनोक्तप्रकारेण निर्विकारत्वं सिद्धमिति क्रुटशब्दिनोपचारो ग्रुज्यत इत्यमित्रायेणाह देवादीति । शिवरपर्योगकूदविवक्षया वोपचारः ।

तत एव विजितेन्द्रियः, समलोष्टाश्मकाश्चनः प्रकृतिविविक्तस्वरूपनिष्ठतया प्राकृतवस्तु-विद्योषेषु भोग्यत्वाभावात् लोष्टाश्यकाश्चनेषु समप्रयोजनः यः कर्मयोगी, स्युक्त इस्युच्यते आत्मावलोकनरूपयोगा≆यासाई इत्युच्यते ॥ ८ ॥

तथाच

सुहिन्मतार्णुदासीनमध्यस्थेद्वेष्यवन्युषु । साधुष्वि च पापेषु समदुद्धिविधिष्यते ॥ वयोविशेषानङ्गीकारेण स्वहितेषिणाः सुहृदः ; सवयसो हितेषिणो मिलाणि, अरयो निमिन्ति । उत्तर्भत एवानिष्टेच्छवा ; उभयहेत्वभावात् उभयरहिता उदासीनाः ; जन्मत एवोभयरहिता मध्यस्थाः ; जन्मत एवानिष्टेच्छवो हेन्याः ; जन्मत एव हितेषिणो वन्यवः ; साधवो धर्मश्रीलाः ; पावाः कृटस्य [पुरुषः १] इव वा साधारणतयाऽनुसन्धानादसौ कृटस्य <sup>1</sup>हत्यभिषायेणाह देवाद्यवस्यास्ति । देवशच्द्रोऽत्र भावप्रधानः। अनुवर्तमानत्वात् सर्वसाधारणत्विश्वानरुव्यक्षित । यहा सर्वात्मसाधारणत्विश्वः प्रवृक्षिकोक्तिनिद्वयत्वादौ हेतुरयमुक्त इत्याह तत एवेति । सरूपकार्यकारणादिभिरत्यन्तविषमाणां लोष्टादीनां समत्वं कथमिति शङ्कानिराकरणाय प्रकृतीत्यादि समप्रयोजन इत्यन्तसुक्तम् । लोष्टासम्भेदवत् अस्मकाञ्चनादिभेदेऽपीत्यनेकहष्टान्ताभिष्रायः । अलोहेस्योपादेयांशौ विभजते य इत्यादिना । युक्तशच्य योग्यपर्यायः ; प्रकृतिप्रयययोग्ध- भेदविवक्षया योगभ्यामाई इत्यक्तम् ॥ ८ ॥

'समलोष्टाश्मकाश्चनः' इति अचेतनेषुक्त एवार्थक्षेत्रतिविषयतया प्रयश्चयत इत्यभिपायेणाह तथाचेति । यहा सुहृदादिषु समनुद्धित्वस्य दुष्करत्वात् अत्र विशिष्यते इत्युक्तेश्च समदिशित्वातिशयोऽन्न
विवक्षितः । तथाच अपिचेत्यर्थः । सुहृनिमतन्ध्युशन्दानाम् अरिद्धेष्यशन्द्वयोरुदासीनमध्यस्थशन्द्रयोश्च गौनरुक्त्यमपाकर्तुं तत्तत्यद्व्याख्या । वन्युशन्द्वतावत् पिलादिषु प्रसिद्धः ; मित्रशन्दश्च सवयस्यु । अतः पारिशेष्यात् सुहृन्छन्द्रस्तद्वभस्यितिरक्तविषय इत्यभिपायेणाह वयोविशेषानङ्गीकारेणेति ।
सवयस इत्यनेन मिलाणां क्रीडादिक्पपियेषित्वमप्यस्तीति सूचितम् । वन्धुशन्द्वासनेद्वेश्वराव्दत्तावत्
सहजशन्नविषयः पासः । ततोऽन्नापि पारिशेष्यात् अरिशन्दं क्वितमशनुविषयमाह अरयो निमित्ततोऽनयेन्छव इति । मध्यस्यशन्दोऽपि द्वेप्यनस्युशन्दासत्तेः, हेतुतो हिताहितप्रशृतिपतिसनिधक्तवेत
तरसारकत्थात् कारणागमे हिताहितप्रशृतियोग्याः तदभावमात्रेण तद्वहिता उदासीना इत्यभिप्रायेणाह
समयति । उभयं हितैषित्वमहितेषित्वं च । जन्मतस्यनिधनो बन्धव इत्येतावन्मात्रस्य द्वयोधनादिष्विनि
न्यासेः जन्मत एव हितैषित्वमहितेषित्वं च । जन्मतस्यनिधनो बन्धव इत्येतावन्मात्रस्य द्वयोधनादिष्विनि
न्यासेः जन्मत एव हितैषित्वे वस्य इति उक्तम् । एवं सप्रतिसंबन्धिनः पुरुषा उक्ताः। अथ साधारण्येन
स्वाध्यत्वनिन्यत्वादाश्रयाः पुरुषाः साध्य इति ।

<sup>1 &</sup>quot;इत्यभिप्रायणाह देवादीति" इति पथमं वा द्वितीयं वा न स्थात्।

पापशीलाः ; आत्मैकप्रयोजनतया सहन्मित्रादिभिः प्रयोजनामावात् विरोधामावाच तेषु समबुद्धियोगाभ्यासार्हत्वे विशिष्यते ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमारमानं रहिंस स्थितः। रकाकी यतिचत्तामा निरद्यीरपरिषद्धः॥ १० योगी उक्तप्रकारकर्मयोगनिष्ठः, सततम् अइरह्योगकाले आत्मानं युञ्जीत आत्मानं युक्तं कुर्वीत । स्वर्शननिष्ठं कुर्वीतं त्यर्थः ; रहिंस जनवर्जिते निहश्चे देशे स्थितः, एकाकी ततापि न सद्वितीयः, यतिचताता यतिचत्तमनस्कः, निराशीः आत्मव्यतिरिक्तं कुरस्ने वस्तुनि वाक्यार्थमाह आत्मकेति । सुहदादिभः प्रयोजनामावात् इतरैकिरोधाभावाचेत्र्यथः॥ ननु सुक्तं नाम सुहदादिष्ठः समसुद्धित्वमः ; न तु साधुषु पापेषु च थोगिनां समं प्रयोजनम् , सत्सक्ष्मादेरसत्पित्यागादेश्च ज्ञानष्टद्धिहेतुत्वनः तेषामवश्यापेक्षितस्वात् ॥ उच्यते । नेश्वनीयुजीवकद्यापको योगी निर्दिश्यते ; किंतु श्रुतसकलश्रोतव्यः कृतसकलक्ष्मेतव्यः साक्षास्कारात्यन्त्योग्यदशापकः । तथाविषस्य च तस्य साधुभिः पापेश्च प्रयोजनामावः समः ; केवलं योगोपयुक्तरहत्वस्वानादेरेवोषादेवस्वादिति भावः । योगाभ्यासार्हद्वा हि पागप्युक्ता ; इयं त्र तत्र काष्टाप्रावावस्थिति विशिष्यते इत्यस्य भावः । तदाह योगाभ्यासार्हद्वा विशिष्यते इति । अत्र विश्वच्यते इति परेः पठितात् पाठविकल्यादयमेव पाठ उचित इति भावः ॥ १॥।

अश्राध्यायप्रधानार्थमृत्योगाभ्यासिधिष्ठस्यते योगी युज्ञीत इत्यादिना। युज्ञीतेति साक्षास्भाररूपस्य योगस्य विश्वीयमःनत्यात् योगीत्यनेन कर्नयोगितिष्ठत्वानुवादः क्रियने इत्यिमप्रायेणाह उक्तप्रकारेति । सत्तम् इत्येतन्न प्रवेशालिययम् ; तथा योगयान्नेत्तिति । अत्यव्यत्वाच ।
अतः श्रतिद्वसं योगयोग्यतया विहितसन्त्वोत्तरकालसामस्त्यपरिमत्यमिष्ठायेणाह अह्मह्योगकाल इति ।
युज्ञीत इत्यल विविश्वतमर्थे वक्तुं प्रकृतिप्रत्यार्थमेदं दर्शयित युक्तं कुर्वोतेति । तत्र युज्ञ मस्मायौ (युज्ति योगे ?) इति प्रकृत्येयत्व विवश्चितं वश्चति स्वर्कातेति । आत्माप्त्र मनः, स्वात्मा वा । जनवर्जितेऽपि देशे वाह्यदेशस्यतानां शब्दस्याऽऽगमे सति मनस्त्रमाथानं न स्वादिति तित्रवृत्त्यर्थमुक्तं निश्चास्म्य
इति । सहित इति विजनदेशाभिधानेऽपि पुनः एकाको इति पदं रहस्याहीत्यासत्रशिष्यसत्रव्यन्य
सित्रिधिपित्यागार्थिमित्यपायेणाह तत्नापि न सिद्धतीय इति । यहा रहस्यव्येत्वाकोलेऽ
स्वमनेतोच्यत इत्येके । एकाकिशब्देन तु जनवर्जनमेवोच्यत इति भावः । च्युत्थानकालेऽ
स्वमनेतोच्यत इत्येके । ततोऽप्यस्यार्थस्यात्यन्तोपकारित्वादेवं योजना । एतेन सहिति सि

इति विशेषणात् संन्यासं कृत्वेत्यर्थः इति शंकरोक्तं प्रसुक्तम् । आत्मश्चरेन म
तस्येव चिन्तारूपवृत्त्यपेक्षया तिविशिष्ठापेक्षया वा चिक्तशब्द इत्यिमपायेणाह यतिन

<sup>1</sup> युजसमाधी परस्मैपदी 12 श्लोके युज्यते । अत्रात्मनेपदात्, भ भावाच युजिर योग इति पठनीयम् । यदा साक्षास्त्राररूपसमाधित्वेन रूपेणा इत्यत्र न स्यादिति भावेन तस्यागः। युक्तं कुर्वीत—इतरविषयनिर्यो

निरपेक्षः अपरिमहः तज्ञतिरिक्ते कस्मिश्चिद्पि ममतारहितः ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्तं नातिनीचं चेळाजिनकुशोत्तरम् ॥११ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत्रचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविदयाऽऽसने युक्त्यात् योगमात्मविशुद्धये॥ ३

शुनी देशे अशुनिभिः पुरुरेरनिष्षिष्ठिते अपरिगृहीते च अशुनिभिन्नस्तुभिरस्पृष्टे च पिन्नस्भृते देशे, दार्वादिनिर्मितं नात्युन्छ्यं नातिनीचं चेलाजिनक्योचरं (कुशाजिनचे-लोचरम्) आसनं प्रतिष्ठाप्य तिस्मिन् मनःप्रसादकरे सापाश्रये उपविषय योगैकाग्रं (अन्या-कुलमेकाग्रं) मनः कुत्वा यतिचितेन्द्रियिक्वयः सर्वारमनोपसंहृतचित्तेन्द्रियिक्वयः आत्मविशुद्धये वस्यनिष्वत्तये योगं सुरुत्वा यतिचितेन्द्रियिक्वयः सर्वारमनोपसंहृतचित्तेन्द्रियिक्वयः आत्मविशुद्धये वस्यनिष्वत्तये योगं सुरुत्वात् आत्मविश्वेक्वते कुर्वित ॥ ११ ॥ १२ ॥

आज्ञीश्राञ्दस्यानेकार्थरवादिह निवेध्यविशेषव्यवस्यर्थमुक्तन् निरपेक्ष इति । अपरिग्रहशब्देन बुद्धगा स्वीकारपर्यायः परिग्रहोऽत्र निषिध्यत इत्यभिन्नायेणाह ममतारहित इति ॥ १० ॥

बाह्योपकरणनियमनाह राचौ देश इत्यादिना । राचिशब्दः संकोचकाभावात संसर्गजं खाभाविकं चाश्चित्वं निवर्तयतीत्यभिष्ठायेगाह अशुचिभिरिति । अशुचयः पुरुषाः पाषण्डिपतितादयः। अनिधिष्ठिते अपिरमृहीते चेति । अधिष्ठानम् परकीयेषु निर्वाहकत्वादिरूपेण संसर्गः ; परिम्रहः स्वकीयत्वामि-मानः : तदभयवर्जिते । ग्रुचिशन्दः शास्त्रान्तरोक्तं शोधकत्वमपि लक्षयतीत्यभिपायेणोक्तम् पवित्रभृत इति । च्विपत्ययरहितप्रयोगात् स्रतस्युद्धिरुक्ताः । नात्युच्छितं नातिनीचिमत्यादि दृष्टसौकर्यार्थम् । स्थिरत्वे हेतु: दार्वादिनिर्मिततत्वन् ; तस्य कठिनत्वानमृद्रत्वार्थं चेलग् ; तलापि निस्तरङ्गत्वार्थं गुद्धवर्थं चाजिनमः सर्वस्योपरि शुद्धचर्यं सत्त्योन्मेषार्थं च कुशः । कुशाजिनचेलोत्तरमिति कश्चिद्धाष्यपाठः ; तथा सति उत्तरोत्तरमार्दवसिद्धचर्थमुक्तमिति मन्तव्यस् । ''विपरी तोऽल कमश्चेलादीनाम्'' इति च शांकरम् । केचित् अञ्यवस्थितकमरवस् चु: । प्रतिष्ठाप्य दृढं स्थापियत्वा । तलासन उपविश्येत्यन्वयन्यक्तचर्थं · तिस्मिन्नित्यादिकमुक्तम् । उक्तानां शुचिदेशादीनां दृष्टादृष्टद्वारा योगोपथोगं दर्शयितुं मनःप्रसादकर िक्तम् । **सापाश्रय उपविषये**ति । अन्यथा पाश्चात्यधारणप्रयतः समाधिविरोधी स्यादिति भावः । य: न तु तिष्ठन् शयानो वा। तथाच सुवितस्, "आसीनः संभवात्" (त्र. ४. ७) इति । चोश्च आयासनिदादिशसङ्गेन योगो न संभवेत् । तत्रैकाग्रम् इत्यन्वयश्रमव्युदासाय योगैकाग्र-निरुद्धान्यवृत्तेरेतद्वृत्तिष्रधानत्विषद् एकाग्रत्वम् । अव्याकुरुमेकाग्रमिति केषुचिद्धाव्यकोशेषु वलोकनोन्मुखं कृत्वेत्यर्थः । सार्वभौमो हि चित्तस्य वृत्तिनिरोधो योगतया योगशास्त्रेऽभि-ग सर्पारम नो पसंहतचित्तं विद्याकिय इत्युक्तम् । चित्तमिह चिन्तावृत्तिः, इन्द्रियाणि च मनः कृत्वा" इति वचनात् । बाह्यविषयेभ्य एवायमुपसंहारः, अन्यथा आत्मावलोकन-न, "मनसो निक्शोषवृत्तिविलयो योगः" इति वदन्तो निरस्ताः । शुद्धान्तः करणस्य र्द्धा एवेत्यभिषायेण बन्धनिष्यस्य इत्युक्तम् । "अगुद्धास्ते सम-

समं कायशिरोत्रीवं धारयन् अचलं स्थिरम् । संगेक्ष्य नातिकात्रं स्वं दिग्रश्चानयलोकयन् ॥ प्रशानतात्मा विगतभीः ब्रह्मचारित्रते स्थितः । मनः संयम्य मिचलो युक्त आसीत मःपरः ॥ कायशिरोत्रीवं समम् अचलं सापाश्रयतया स्थिरं धारयन् , दिश्चानवलोकयन् , सना-सिकांग्रं संप्रेक्ष्य, प्रशान्तात्मा अत्यन्तिनिर्वतमनाः, विगतमीर्व्रह्मचर्ययुक्तो मनः संयम्य मिचलो युक्तः अवहितो मत्पर आसीत मामेव चिन्तयन् आसीत ॥ १३ ॥ १४ ॥

स्तास्तु देवाद्याः कर्मबोनयः'' (वि. ६.७.७७) इति कर्मबन्धो ह्यासनामग्रुद्धिरुच्यते; योगं <sup>1</sup>युन्जीत (युन्ज्यात् १) इत्येतत् 'ओदनवाकं पचति' इतिबदित्यभिवायेण आत्मावरोकनं क्रयीदित्युक्तम् ॥

एवं शुचिदेशासनादिरूपं वाह्यं योगोपकरणं मनसश्चेकाप्रशमकमः ; अथान्तरान्तरतमयोः काय-मनसो: कमात् कर्तव्यनियमविशेषा उच्यन्ते स**मम्** इत्यादिस्रोकद्वयेन । **कायशिरोग्रीवम्** ६ति द्वन्द्वैक-बद्धावः ; तत एव नपुंसकता । अत्र **सिद्धा**परनामा शरीरस्य मध्यमप्रदेशः **काय**शब्देन विवक्षितः । **समम् ,** अचलम् , स्थिरम् इति घारणिक्रयाविशेषणानि । समिमित्यतः आर्जवं विवक्षितम् ; अचलशब्देन निष्कम्प-त्वेऽभिहितेऽपि स्थिरमित्येतत् अङ्गकम्पकरश्रमहेत् भतपश्चाद्धारणप्रयत्निवृहितहेत्वभिषायमिति दश्चीयतं सापाश्रयतया स्थिरमिलुक्तम् । अनेनाचळत्वस्य चिरानवर्तनयोग्यत्वमुक्तं भवति । वाह्यस्यो व्यावर्तनं नासिकाग्रे स्थापनं चेति कमपदर्शनाय दिशस्थानवलोकयन स्थनासिकाग्रं संप्रेक्ष्य इति व्युक्कमे-णोक्तम् । यद्वा <sup>श्र</sup>शतुरत्न हेत्वर्थत्वात् दिवछन्दोपलक्षितवाद्यसकलपदार्थावलोकननिवृत्त्यर्थे योगारम्भक्षणे स्वनासिकाम्रप्रेक्षणिमिति भावः । भोग्येतरानुपयक्तविषयनिरीक्षणमपि निवर्तनीयमित्यभिप्रायेण दिशस्त्रे-त्युक्तम् । निमीलनेनापि बाह्यानवलोकनसिद्धौ खनासिकागावेक्षणं निद्रादिनिष्ट्रचर्थम् । संग्रेष्टय नामि काग्रम् इत्येतावत्यभिहिते परनासिकाग्रपेक्षणमपि शङ्कचेतेति तद्यवच्छेदार्थमुक्तम् स्वमिति। मनत्यन्तर्भुखं नासासंप्रेक्षणस्थासंभवात . चक्षवो दृष्टिमन्निपातमान्निमह विवक्षितम् । अतः संप्रेक्ष्येत्यत् इवज्ञान्दो छप्तो द्रष्टव्य इति **ञ्चाङ्करम् ।** नायनस्य तेजसः स्वच्छन्दवृत्त्या नासात्रसन्निपातमात्रमिह विविक्षितम् । मनस्तंयम्य इति संयमस्याभिधानात् प्रशान्ताः विश्वान्ताः विश्वाने विश्वाने विश्वाने विश्वाने विश्वाने विश्वाने व अत्यन्तिनिर्देतमना इत्युक्तम् । ब्रह्मचारिबते स्थितः इत्यनेन ब्रह्मचर्याश्रमप्रतीतिः, श्रह्करोक्तप्रक्रियया वा ब्रह्मचर्यगुरुशुश्रुषाभिक्षाचर्यादिधी: स्यादिति तद्ययच्छेदायाह ब्रह्मचर्यपुक्त इति । ब्रह्मचर्ये च स्तनवित पिशितपिण्डे भोग्यताधीगर्भसरणाळोकनाळापादिरहितत्वमत विवक्षितम् । सरित च 'ब्रह्मचर्यं च थोषित्सु भोग्यताबुद्धिवर्जनम्' इत्यादि । तथा, 'सार्ण कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुब्रभाषणम् । सङ्करपोऽध्यवसायश्च कियानिईतिरेव च । एतन्मैथनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्थमेतदेवाष्ट्रक्षणम् (अ. पु. ३७२. १०; बा. स्मृ.) इति । युक्तशब्दस्य पूर्वोत्तरप्रतिपन्नारमावस्रोकनाभिधानादिष तदुपयुक्तावधानविषयत्वमत्रोचितमित्यभिषायेण अविष्ठत इत्युक्तम् । मिचक्राच्दो भगवति चित्तसानु-

भाष्ये युक्त्यादिति प्रतीकधरणात् योगं युजीतेति स्टोकपाटायोगात् समाध्यर्थस्यस्यास्य युक्तभ्यादित्येष टीकायामपि स्यात् । 2 शतु प्रत्ययस्यात्र स्वत्रणहैत्विरित्युक्तहैत्वर्यकत्वादित्ययंः ।

युक्षश्रेवं सदाऽऽरमानं योगी नियतमानसः। ज्ञान्तिं निर्वाणगरमां मस्संस्थामिधणच्छति॥१५
एवं मिय परिसान् ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे मनमञ्ज्ञमाश्रये सदा आत्मानं मनः युक्षन्
नियतमानसः मरस्पर्शपतित्रीकृतमानसतया निश्रलमानसः, मामेव चिन्तयन् मरसंस्थां निर्वाणपरमां ज्ञान्तिमधिगच्छति निर्वाणकाष्ठारूपां मरसंस्थां मिय संस्थितां ज्ञान्तिमधिगच्छति ॥१५॥

एवमात्मयोगमारममाणख मनोनैर्मन्यहेतुभृतां मनसो मगवाते शुमाश्रये स्थिति-ममिधाय अन्यदिष योगोपकरणमाह—

नात्यश्चतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्चतः। न चालेखण्नशीळस्य जात्रतो नेष चार्जुन॥ युक्ताहारविहारस्य युक्तवेयस्य कर्मसु। युक्तवयनाववोषस्य योगो भवति दुःखहा॥१७॥

अल्यशनानशने योगिवरोधिनी ; अतिविद्दाराविद्दारी च ; तथाऽतिमालस्वप्नजागर्थे ; तथा चाल्यायासानायासौ । मिताहारिवेहारस्य मितायासस्य मितल्यप्नावनेधिस्य सकळ्दुःखहा वन्धनाश्चनः योगः संपन्नो भवति ॥ १६ ॥ १७ ॥

प्रवेशपरः । **मरपर**शब्दस्तु तदेकचित्त्वपरः, तदनुरृत्तिपरो वेत्यपौनरुवत्यमाह मामेवेति । <sup>2</sup>यद्वा स्वचादौ भोग्यचिन्ता, राजादौ च महति परधीरुकि विभक्ता ; मिय तु तदुभयमित्यपुनरुक्तिः ॥ १३ ॥ १४ ॥

जीवारमयोगभकरणे <sup>1</sup>मिश्चनो ... प्रत्यसः इति परमात्मिचित्तनं किमर्थं विधीयत इत्यतोच्यते युक्षनेवम् इति । एविमत्यनुवादे मिश्चनः मत्परः इत्युक्तमच्छन्दामिप्रेतं परत्वादिकं विष्टुण्वन् आह मयीति । परिसान् व्रक्षणीत्यनेन सर्वकारणत्वेन सर्वात्मत्वादिकं विविक्षतम् । तथात्वेऽिष समस्वैक्ष्क्षण्येन तद्वतदोषासंस्पर्शो देवताविशेषनित्कर्षश्च पुःषोत्तमशच्दामिप्रेतः । उक्ताकारविशिष्टत्वाच मनसदश्चमान्त्रयत्वम् । एतेन शुभाश्रवत्वं पकरणात्वरोक्तद्विश्चमङ्गल्विश्चष्टत्वमप्यभिप्रेतम् । तत्वात्मशच्दः पक्ततानुवादपरत्वया मनोविषयः । युक्षित्वत्यस्य प्रयोजनं नियतमानसत्वम् । तच निश्चल्यमानसत्वन् । तद्वत्ति हेतोरवान्तरव्यापारः अयमित्यभिप्रयोणाह मत्स्पर्श्चेति । मत्संस्थामित्यादि परमप्रयोजनम् । निर्वाणपरमामित्यत्व निर्वाण परमा यत्वा इति समासे विशेषणव्यत्यासास्त्रास्त्यम् , निर्वाणहेतुशान्तेश्च नियतमानसः इत्यनेन सिद्धत्वात् पुनरुक्षिश्च स्यात् ; परमशच्दश्चात्वस्यः । अतो निर्वाणस्य परमानिति समासः, परमशच्दश्च परमावस्थाविषय इत्यभिपायेणाह निर्वाणकाष्टिति । परमात्मिन संस्थिता च शान्तिपरशनायादिषद्वमित्राहित्यरूपा । यद्वा मिय संस्थितां शान्तिमित्येतदेव शुभाश्रयेस्थिति-मित्यन्तेन(नेन) विद्यतम् ॥ १५ ॥

डिचतदेशम्भृति परमात्मिक्तनपर्थन्तं(न्तमिष) ह्यत्र योगोपकरणमेव । अतः अन्यद्पीरयुक्तम् । योगोपकरणं योगोपकारकम् । अत्यशनादेर्योगिवरोधित्वं नात्यश्रतः इति स्रोकस्यार्थः । मिताहारादेस्तु योगोपयुक्तत्वं युक्ताहारेति स्रोकेनोच्यत इति व्यक्तिश्रेतेत्वतेऽन्वयतश्च एक एवार्थः स्थिरीक्रियत इति विमागमिभेद्रत्याह अत्यक्षनेति । युक्ताहारेति स्रोके विहारायासयोरिप उक्तत्वात् पूर्वज्ञापि हि ताविम-

<sup>1</sup> पूर्व स्त्रोके मनस्तंयम्येत्यन्तमातमयोगदोषभूतम् । 2 शांकरोक्तमाद्रात् गृह्वाति यद्वेति ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते । निस्स्पृद्धः सर्वकामेम्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यदा प्रयोजनविषयं चित्तमात्मन्येव विनियतम्—विशेषेण नियतं निरितन्नयप्रयोजनतया तत्रैव नियतं निश्रलम्बतिष्ठते, तदा सर्वकामेम्यो निस्स्पृहस्सन्(सः!) युक्त
इस्युच्यते—योगाई इस्युच्यते ॥ १८ ॥

यथा दीयो निवातस्थो नङ्गते भोषमा स्मृता। योगिनो यतिष्वस्य युक्षतो योगमात्मनः॥१६ निवातस्थो दीयो यथा नेङ्गते न चलितः अवलस्तप्रभस्तिष्ठतिः वतिष्वस्य निवृत्तस्य स्वलेतस्य निवृत्तस्य स्वलेतस्य निवृत्तस्य स्वलेतस्य निवृत्तस्य स्वलेतस्य सोपमाः निवातस्यतया प्रेताविति दर्शियद्वस्य अतिविद्वाराविद्वारो अत्यायासानायासावित्युक्तस्य । जाप्रतः इत्यतापि अतिः वृत्वक्षनीयः। पृर्वश्लोकोक्तातिशव्दप्रतियोगिकत्वात् युक्तशव्दो मितपर इत्यमिपायेण मिताहारेत्यादिकमुक्तम्। श्रूयते हि 'यद्धचारमसंमितमन्नं तदवति तल हिनिल, तव्यक्तनीयो न तदवति' इति। सरन्ति च, "उदरस्यार्धमन्नस्य तृतीयमुदकस्य तु । वायोस्सन्नर्यार्थं तु चतुर्थमनशेषयेत्।।" इति। अतो न्यूनाधिकादिसमस्तदोषराहित्यं युक्तशव्देनाभिष्रेतम् । द्वन्द्वार्य्यवैत्वार्यः सन्द्रात्यस्य त्वीयम्वद्वस्य । विद्वारशब्दः सन्द्रात्यस्य विद्वारायसः। दुःस्वशव्दार्थाऽत्र अमहेतुरायासः। दुःस्वशव्दासङ्कोचात् योगसामर्थ्याच सक्तेति विशेषितम्। तत्किल्तिमाह वन्धनावान इति। एवंविधस्य योगो दुःसद्दा भवतीत्यन्वये योगस्य पृर्विसिद्धताश्रमः स्यात् ; तद्वगुदासाय सम्पन्नो भवतीत्यक्तम्॥ १६॥ १९॥

एवं परिकरोक्तिसमनन्तरं योगद्ञां प्रद्र्शियंतुं ततः पूर्वा प्रामुक्तैव योगयोग्यद्ञा परामुक्यते यदा विनियतम् इति स्टोकेन । आत्मन्येव इत्येवकारव्यच्छेयक्षुद्रप्रयोजनान्तरज्ञापनाय सामान्यतः प्रयोजनविषयमित्युक्तम् । प्रयोजनान्तरेषु सत्सु कचित् विशेषण नियतत्वे को हेतुरित्यलाह निरिति श्रयोति । युक्तः इत्येतावतोऽल विधेयत्वात् 'निःस्पृहः' इत्यत्याप्युदेश्यकोव्यनुपवेशाय निःस्पृहस्सन् (सं?) इति उक्तम् । सर्वकामेभ्यो निर्गता स्पृहा यस्य स तथोक्तः । सर्वकामेषु निःस्पृह इत्यर्थः ॥

अथ योगद्द्या लक्ष्यते यथेत्यादिना । दीपत्याचलत्वे हेतुर्निवातस्यत्वम् । इङ्गतेश्रेष्टार्थत्वे विवक्षिते दीपे तद्दनन्वयात् साधारण्यसिध्यर्थमाह नचलतीति । निश्चलत्वे पर्वतादिनिदर्शनसद्भावेऽपि दीपदृष्टान्तामिप्रेतमर्थे द्रीयितुमाह अचलस्प्रभातितृतीति । यतिचत्तस्य इत्यनेन चिन्तारूपवृतिनियमन्वचनमुपलक्षणित्याह निवृत्तेति । मनोमालपर्यायो वाऽल चित्तरावदः । इत्रशब्देन आस्मविषयवृत्तिर्त्तिति स्चितम् । अन्यथा युक्तते योगमित्येतत् व्याहन्येतित्यमिपायेणाह आत्मिन योगं युक्तत इति । आस्मिन विषये साक्षात्कारं कुर्वत इत्यर्थः । निङ्गते इति न शरीरस्य निष्कम्पत्वमुदाहियते, 'समं कायशिरोप्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम्' (१३) इति तस्योक्तस्वात् । ध्यानदशासाधारणत्वेन इत्याधिदशा-विशेषकरवानुपरतेश्च । नापीन्द्रियाणां निष्कम्पत्वम्, योगिनः सोपमेत्यन्वयायोगात् । नाप्यात्मस्थरस्य

चेष्टा नाम प्रयत्नाधीना क्रिया शरीरगता ; सा न दीवे।

निश्चलसप्रभदीपवत् निवृत्तसक्लेतरमनीवृत्तितया निश्चलो झानप्रभ आत्मा तिष्ठतीत्यर्थः ॥
यवोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया । यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन् आत्मान तुष्यति ॥ २०
छुत्तमात्यन्तिकं यत्तत् बुद्धिप्राद्धमतीन्द्रियम् । बैत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तस्वतः ॥ ११
वं ल्रुष्ट्यना चायरं लामं मन्यते नःचिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥
तं विचात् दुःखसंयोगतियोगं योगर्सवितम् । न निश्चयेन योकन्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥
योगसेवया हेतुना सर्वत्र निरुद्धं चित्तं यत्र योगे उपरमते अतिश्चयितस्वसिद्दमिति स्मते,

निश्चल्रत्वम् , अवस्थान्तरेऽपि तस्तिद्धेः । अतः स्वयंप्रकाशज्ञानप्रभानिरस्तसमस्वष्टस्यन्तरपरिशुद्धारम-स्वरूपयद्द्यनेवार्थोऽयं दृष्टान्त इति स्व्विद्धं योशिनः इत्युक्तेऽपि पुनरपि आरमनः इत्युक्तमित्यिमप्रायेण आरमस्वरूपयः सोपमेत्यक्तम् । योगिनः आरमनः इति व्यिकरणे पष्ट्यौ । नतु-सोपमेत्यत्र उपमाशब्द उपमितिवरो वा, दृष्टान्तवरो वा? उभयधाऽपि न संभवति, यथेति निर्दिष्टपकारपरामिशिन्वादत्त तच्छव्दस्य, उपमाशब्दस्य च तस्तमानाधिकरणस्वात् ; 'सप्रभतिष्ठती'स्येतच कथं दाष्टीन्तिके निर्वाध्यः अयोगिनामप्यासस्वरूपस्य चल्रत्वपतित्यमावात् । किमर्थं च निश्चल्रत्वोपदेश इत्यत्नाद्द निवातस्यत्येति । अयमिप्रायः —उपमेति दृष्टान्तगतं साधम्थमत्र निर्दिश्यते । तसात् यथेत्यने सोपमेत्यस्यान्वय उपपन्नः । प्रभायाश्च प्रतिधनोऽत्र ज्ञानम् । आस्मनो निश्चल्तं चाल स्वप्रभामृतज्ञानस्य विविध्यस्यरणिनृष्टतिः । सा च वाधविषयेषु मनोवृत्तेरवामावात् संसारदशायां च ज्ञानस्येन्द्रियद्वारैव प्रसरणिदिति । समाधिदशासन्दिशीमियोगिमिरिति शेषः ॥ १९॥ १९॥

पुनरिष योगदशैव आदरातिरेकाय निरितशयपुरुषार्थस्वप्रतिषादनेन प्रवश्चाते येत्रेत्वादिभिः । निरुद्धिनत्वत्व परिगृहीतस्विनिष्टस्वादिभ्रमसुद्धासाय योगसेवया हेतुना सर्वत निरुद्धिमत्युक्तम् । स्वितो निरुद्धिमत्युक्ते प्रवृत्त्यादिभिः । स्वितो निरुद्धिमत्युक्ते प्रवृत्त्यात्वे प्रतिनिर्देशः । 'योगसेवया निरुद्धं यहोपर्यते' इत्युक्ते योगस्य पृत्रगुपादानात् यच्छव्दार्थस्य योगात् व्यतिरेकः प्रतीयेतेति तद्धयुदासाय, योगसंभित्तिमिति वश्यमाणान्वयेन यत्र योग इत्युक्तम् । 'यत्र यस्मिन् काले' इति प्रोक्तमयुक्तम्, उपरितनयच्छव्दिभिन्नार्थस्वप्रसङ्खान्, प्रतिनिर्देशस्ययोगशव्दान्तस्याचेति भावः । यत्रोपरमते इत्यत्न वते विच्छवत इति प्रमापाकरणायाह अतिग्रियेति। यत्न

<sup>20—23</sup> उपरमते विश्वास्यते, रतेरजुवृत्ति छत्रते। अत्र विषद्धमिति इतर विषयितरोधः, उत्तरार्षे इतर-वैरपेश्यम्, छुलित्यादिमा स्वकःसुलानुभधः, यत्नःयादिना स्वरस्वाद्यनुभवाविच्छेरः, यतित्यादिना योगविरतावि सुधान्तरमैत्रस्पृद्धम्, यत्त्रिःयादिना विरताविष दुःखाधीनक्षो-भराहिःयञ्चोक्तानि । भाष्ये यत्त्वित्वद्विष्ठतस् । अतिविस्तविति तद्येः । अत्त यत्नेति पदं पुलान्तरानुभवतद्वयत्व-प्राक्तिः । अत्ति । तर्यः । अत्विक्तिति तदं सुलान्तरानुभवतद्वयत्व-प्राक्तिः । अतिविक्तिति तदं सुलान्तरानुभवतद्वयत्व-प्राक्तिः । प्राप्तात् दुःखात् यथा क्षोत्रो आस्ति, तया प्राप्ते भोजनादिसुखे सर्वविषे विधकत्व-द्विः । त्रिष्टान्यथः । सर्वे दोकोक्तवेष । वियोगमिति । विग्रुच्यतेऽनेनेति विग्रह एव माध्वेऽपि । त्रक्षेत्रं स्वाविष्टास्वतःस्वस्यः। सर्वे दोकोक्तवेष । वियोगमिति । विग्रुच्यतेऽनेनेति विग्रह एव माध्वेऽपि । त्रक्षेत्रं स्वाविष्टास्वाद्यस्यान्यस्य , दुःखोत्यत्विष्टारस्वाव्यत्वाद्यस्यान्यस्य स्वोगपद्मिति तत्रोक्तम् ।

यत च योगे आत्मना मनसा आत्मानं पश्यत् अन्यनिरपेश्वमात्मन्येत तुष्यति, यत्तद्तीन्द्रि-यमात्मबुद्धयेकप्राह्ममात्त्यन्तिकं सुखं यत च योगे वेति अनुभवति, यत च योगे स्थितः सुखा-तिरेकेण तत्त्वतः तद्भावात् न चलति, यं योगं रुज्यता योगाद्विरतस्तमेव काङ्क्षमाणो नापरं हाभं ततोऽधिक्तं मन्यते, यस्मिश्च योगे स्थितो विश्तोऽपि गुणवत्पुत्तवियोगादिना गुरुणाऽपि दुःखेन न विचाच्यते, तं दुःखसंयोगवियोगं दुःखसंयोगप्रत्यतीकाकारं योगशब्दाभिषेयं विद्यात्।

--सिद्धे अन्यत उपरमत इत्यध्याहारेण योजना न युक्ता; तथा सित निरुद्धमित्यनेन पुनरुक्तिश्च स्यात् । उप-सर्गाणां च नानार्थत्वादयमेवातिशयितार्थ उपपन्न:। आसक्ति(तिः)प्रतिपादनद्वारा तारवर्येण वाऽयमर्थस्स-ध्वतीति भाव: । यत चैवेत्येवकारस्य यथाकमान्वये प्रयोजनाभावात् , उचितान्वयप्रदर्शनाय आत्मन्येव तृष्यतीत्युक्तम् । अन्यनिरपेश्वमिति अवधारणतोषशब्दाभ्याम् अर्थसिद्धोक्तिः । यदा आरमानं ् पद्यंस्तब्यतीरयेतावतेव विवक्षितसिद्धौ पुनः आत्मनीति निर्देशः तदन्यव्युदासार्थ इत्यमिषायः। आत्मनि पश्मातमानमिति योजना त जीवयोगविषयत्वादिहासङ्गता। अतीन्द्रियमित्युक्तत्वात् परिशेषात्, औचित्याच **बुद्धिग्राह्म**मत्यत्र बुद्धि विशिनष्टि **आत्मबुद्धचेक्ग्राह्म**मिति । **आत्यन्तिकं** पुनर्दुःसन संभेदरहितमित्यर्थः। यदेवंवियं सुखं तत् यत्र वेत्तीत्यन्वयः। यद्वा यत्तदिति पिण्डितं प्रसिद्धचित्रवार्थम्। तदित्येवार्थः । केचितु यत्तच्छव्दान्वयप्रकारमजानन्तः **सुखमात्याँनतकं यत्रेति** पठन्ति । **वेत्ति यत्रे**ति यत्रशब्दः पूर्वोत्तरवानयसाधारणतया मध्ये प्रयुक्तः । वेत्तीत्यस्यापवर्गदशानुभाव्यसुखपतिसन्धानपरःव-ख़दासाय मो(यो)गरूपापरोक्ष्याभिप्रायेण अनुभवतीखुक्तम्। आत्मिनि तुष्यतीति पूर्वम् इतरखुखनिर-पेक्षत्वपरम् । सुरवमात्यन्तिकमित्यादिकं तु खरूपयुखानुभवपरमित्यपौनरुवत्यम् । सुरवातिरेकेणेति । उक्त एवाचळत्वहेतुरुचित इति भाव: । प्रामाणिकार्थात्र चळतीति वा, सम्यङ्ग चळतीति वा निर्वहणं मन्दम् । योगदशायां च सुखातिरेकेण स्वरसतस्तद्वस्थतयैव चिरतरावस्थानाभिधानमुचितम् अपेक्षितं चेत्यभिषायेण तत्त्वतः इत्यस्य तद्धावादिति प्रतिपद्मक्तम् । इतरविषयनिरोधनैरपेक्ष्ये यत्रेति स्रोकेनोक्ते । तत आत्मस्वरूपसुखानुभवः, तस्य स्वरसवाहितया दुर्विच्छेदत्वं च सुखमिति स्रोकेनाभिहिते । अथ यं सुब्द्वेति क्षोकेन योगविरतिकालेप्विप तस्यैवामिलाषपदत्वात वाह्यसुलामिलाषेण दःखेन चानास्कन्दनसुच्यत इति विभागज्ञापनाभिष्रायेण योगाद्भिरत इत्यादिकसुक्तम् । योगदशायां त लामान्तरप्रतिसन्धानमेव नास्तीति भावः । गृहणाऽपीत्युक्तगौरवन्यञ्जनाय गुणवरपुतिबयोगादिने-त्युक्तम् । ''पुत्रजन्मविपत्तिभ्यां न परं सुखदुःखयोः'' इति ह्याहुः । न विचारयते योगप्रतिकृत्मवसादं न गच्छतीत्वर्थः । दु:खसंयोगस्य वियोगस्तस्यासंबन्धः ; अभाव इत्यर्थः । स च भावान्तरमिति ज्ञापनायाह दुःखसंयोगप्रत्यनीकाकारमिति। दुःखसंयोगस्य वियोगो यत्नेति व्यधिकरणवहुत्रीहौ[वा?]फल्क्तोक्तिरियम्। अथवा वियोगशब्दोऽत्र वियुज्यतेऽनेनेति करणार्थवजन्तो वियोगहेतुपर इति भावः । निर्विष्णचेतसेति पदच्छेदे संसारे तापलये वेत्यध्याहारः स्यात् ; ततु सपयोजने योजनान्तरे संभवति न युक्तम् ; तस्मा-द्निर्विणाचेतसेति पदच्छेदः । निश्चयशब्दोऽपि तेनैव हेतुसमर्पणेनान्वितः ; न त योक्तम्य स एवंस्पो योग इति आरम्भरशायां निश्चयेन अनिर्विण्णवेतसा हृष्टवेतसा योगो योक्तन्यः॥ स सङ्कर्वप्रमानवान कामांस्त्रकरवा सर्वात अशेवतः। मनसैवेन्द्रियश्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४ शन्दश्चमित्रवाने वृद्धया युत्तिगृहीतया। आरमसंस्यं मनः कृत्वा न किंचिद्पि चिन्तयेत्॥२५ स्पर्श्वताः सङ्कर्वजाः वृद्धया युत्तिगृहीतया। आरमसंस्यं मनः कृत्वा न किंचिद्पि चिन्तयेत्॥२५ स्पर्श्वताः सङ्कर्वजाः वृद्धस्याः। तत्र सङ्कर्वजाः वृद्धस्याः। तत्र सङ्कर्वज्ञाः स्वरूप्वतः। स्वरूप्वतः स्वरूप्वतः। स्वरूप्वतः स्वरूप्यतः स्वरूप्वतः स्वरूप्वयः स्वरूप

यतो यतो निश्चरति मनश्च झ्रष्टमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वदा नयेत् ॥ २६ ॥ इत्यनेन, निरर्थकान्वयपसङ्गात् । अनिर्विण्णत्वहेतुश्च निश्चयः पूर्वोक्तनिरितशयपुरुषार्थत्वेनैव स्यात् ; तदेतदिख्रमभिसन्धायाह् स एवमिति। एवंस्पः निरितशयपुरुषार्थत्वपः । योक्तन्य इत्युक्तत्वात् आरम्भद्शायामित्युक्तम् । "मनसा क्षित्रयमानस्तु समाधानं च कामयेत् । अनिर्वेदं सुनिर्गच्छन् कुर्यादेवात्मनो हितम्" (मनु. ६) इति धुच्यते । अतः विरवस्यपुरुक्तनिर्वेदोऽन्यः ; अयं त्वस्यादश इति हृथ्वेतसेत्युक्तम् । योक्तन्यः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ २०—२३॥

अथ ममकारपित्यागादिकं प्राक्षिप्रकीणोंक्तमित्वानीं युख्यहणायेह सौक्यंप्रदर्शनाय च संकल्य्य योगदशापर्यन्तत्या सार्थते सङ्करपेत्यादिभिः स्थेकैः। 'सङ्करप्रभवान् सर्वान् कामांस्त्यवत्वा' इत्येतावतेव सिद्धौ पुनः अश्चेषत इति पदं निदशेषत्यागान्हीणां विषयाणां स्चकम् । न चीत्रवावये तदन्वयः, ग्रामशब्देन पर्याप्तत्वात् । अतः प्रयुक्तपद्वैयध्येपिरहाराय अश्चेषतश्च कामांस्त्यवस्वेति चकारामावेऽपि योज्यम् ; अपि च श्रेष्ठक्षप्रभवत्वेत विशेषणमेव असङ्करप्रभवकामस्युक्तमित्यिभिश्चयेण विभजते स्पर्श्वजा इति । मनसैवेति पदं मध्यस्थितत्वाद्यपेश्चितत्वाच काकाक्षिन्यायोग पूर्वोत्तरान्वितिमिति दर्शयितु तान् सर्वान् मनसैवेत्यादिकमुक्तम् । कामत्यागकरणस्य मनसोऽवानतर्व्यापारः तदनन्ययानु-सम्यानम् ; कर्मोपाधिकश्वरीरान्विता हि पुलादयः, न त्वानस्वरूपान्विता इत्यनुसन्यानेत्यर्थः । न प्रहृच्येदित्यादिभः प्रागेनोक्तं स्थारयति स्पर्शजेष्वित्यादिना । समन्ततः इत्यत्व पदच्छेदादिभमन्युत्रसायाद्य सर्वसाद्विषयादिति । प्रकान्तया अशिथिलत्वरूपाया धृतेहेतुमाह विवेकविषययेति । उपसम्य बाह्यकामश्च मानसमुद्योगं वारयित्वेत्यर्थः । उपसम्येति व्याख्यानमङ्गत्वयोतनाय । किञ्चित्यपीति आत्यवितिरक्तममुकूलप्रतिकृत्कोदासीनं सर्वमित्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥

पूर्वोक्तमेव दुर्ग्रहत्वद्योतनायावधानविधानाय च प्रपश्चयति यतो यतः इति । चश्चसम्

<sup>1</sup> न किञ्चिदिष चिन्तयेत् । आत्मानध्रवन्धिचन्तामात्रराहित्यमिति न, योगकाले इदिमद-मस्तु, इदिमदं मास्त्र्वित्येवं सदुपयोगिनया चिन्ताप्यन्यविषयकत्वादयुक्तेत्यर्थः । सर्ववृत्तिनिरोधो द्वि योगः ; तस्मादात्मानमपि न चिन्तयेदिति नार्थः । आत्मसंस्थं मनः इत्वेत्युक्तिविरोधात् ।

<sup>2</sup> मताशेषतस्त्वागवचनात् स्पर्शलेषु तथात्यागासंभवस्वनमिति भावः।

चलस्वभावतयाऽऽत्मन्यस्थिरं मनः यतीयतो विषयप्रावण्यहेतोः बहिः निश्चरति, ततस्ततो यत्नेन मनो नियम्य आत्मन्येव अतिश्चयितसुखभावनया वर्श नयेत ॥ २६ ॥

्रमशान्तमभसं हेर्न योगिनं सुखसुत्तमम् । उदैति शान्तरज्ञसं ब्रह्मभृतमक्षरमयम् ॥ २०
्रमशान्तमभसम् आत्मनि निश्रलमनसम् , आत्मन्यस्तमभसं तत एव हेर्नोर्दग्रधानेषक्ष्मपम् ,
तत एव शान्तरज्ञसं विनष्टरजोगुणम् , तत एव ब्रह्मभृतं स्वस्कर्षणाविस्थितमेनं योगिनम्
(योगिनम् आन्मन्यस्तमनसं तत एव हेर्नोर्दग्रधारोषक्ष्मपं तत एव श्रान्तरज्ञसं विनष्टरजोगुणं
तत एव श्रान्तमनसम् आत्मनि निश्चलमनसम् , तत एव ब्रह्मभृतं स्वस्कर्षणाविस्थितमेनम् १)
आत्मस्वस्यानुभवस्यपुत्तमं सुस्वसुर्येति । होति हेर्तोः उत्तमसुखस्यत्वादात्मस्वस्यस्यशं ॥
अस्थिरम् इत्यनयोः पौनस्वत्यनिरासायोक्तं चलस्यभावतयाऽऽत्मन्यस्थिरमिति । सामान्यविशेष-विषयतादपुत्तर्तिः । चञ्चलम् इति स्वभावािरिक्तहेतुनिष्टित्वप्तं वा । यतोयतो निश्चरति
येनयेनेनिद्वयद्वारेण निश्चरतित्यर्थः । यद्वा ययं विषयमिसुलीक्वरेत्वत्यर्थः । प्रयोजनतया वा हेतौ
पञ्चमी । तद्यञ्जनायाह विषयप्रविषयदेतिरिति । विषयसेवन्धार्थित्वर्थः । विषयप्रविष्यस्य हेतोरिति
वा । संभवन्ति स्वतिकितोपनताः विषयसिद्यधानतस्कितिनादयो विषयपावण्यहेतवः । सुख्यभावन्या
वशीकरणं श्रवप्तिस्वस्यये अतिशयितसस्वभावनयेति ॥ २६ ॥

आस्मवशीकरणोपायः प्रागुक्तः ; अनन्तरं च तदे<sup>2</sup>वाह प्रशान्तमनसम् इति श्लोकेन । तत्त विमकीर्णावस्थितानां पदानामन्वयक्तमर्यं च दश्यति प्रशान्तमनसमित्यादिना । योगिनम्, अकल्मपं, शान्तरज्ञसं, शान्तमनसं, ब्रह्मभूनमेनम् इति हेतुकार्यभावेनान्वयक्तमः । <sup>अ</sup>स्विषययोगस्य सकल्मयनिवर्तकरसं पद्यान्वयाश्चनादेश्चि प्रसङ्कल्पायतम् । व्रह्मभूनमिति देहासम्भ्रमादिष्रयुक्तक्केशादि-दशः क्ष्याव्ययवस्थ्येनश्चितः । अर्थाप्रव्रह्मस्वय्यवस्थ्येनश्चितः । अर्थाप्रव्रह्मस्वयः । विविक्षत कल्पते' (श्वे. ५. ९) इति अर्देशमेती इहत्त्वमस्त्येव । उत्तमशब्देन वैषयिकसुखब्यवस्थ्येन् । विविक्षत हित व्यक्षनाय स्वरूपानुभवरूपमित्युक्तम् । व्रह्मसंस्पर्यम् (२८) इति क्षान्तरसुच्यते । निरित्रायस्यात् दुःस्समेनदिवरहाद्वा उत्तमस्यम् । पूर्वश्लोकोक्तमनोवशीकरणे वा, एतच्छ्लोकोक्तस्रस्थोपामे वा हेतुपरो हिशब्द इत्याह हीति हेताविति । हेतुस्त्यं विशदयति उत्तमेति ॥ २७॥

<sup>1</sup> प्रशान्तित इल्लोके भाष्याभिमतान्त्रयक्रमस्य चन्द्रिकायां स्पष्टं दर्शितन्त्रात्, योग-करमम्बिः रज्ञद्दशान्ति-मनोनैदचल्य - ब्रह्मभावक्रमस्यैवोचितन्त्र त्, कचिन्मुद्रितकोशे आत्मस्यस्यः इति अधिकपाटदर्शनाच तस्य योगिशन्दार्थस्याच कुण्डलंदर्शितरीत्यैव भाष्यपाटः निर्मानसपदस्य द्विः प्रयोगदर्शनात् लेखकप्रमादात् प्रशान्तमनसमिति प्रथमं पठितं ।

<sup>2</sup> तदेव - वशीकरणमेव । 3 ततु परमात्मविषयको योगः कस्य तु खविषयकः ; खस्य स्वानुत्राहकत्वाद्यभावादित्यवाह स्वविषयति । युज्यते । किञ्च शास्त्रमेवाण प्रमाणात् । अनुत्राहकस्तु शासिता परमात्मेवि ः

पत्रं युक्षन् सदाऽऽत्मानं योगी विगतकस्मयः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुस्नमस्तुते॥ १८ एवम् उक्तप्रकारेणात्मानं युक्षन् तेनैव विगतप्राचीनसमस्तकस्मपो ब्रह्मसंस्पर्शे ब्रह्मानुभव-रूपं सुस्तम् अत्यन्तम् अपरिमितं सुखेन अनायासेन सदाऽत्रतुते॥ २८॥

अय योगविषाकदशा चतुष्प्रकारोच्यते —

सर्वभृतस्थमात्मानं सर्वभृतानि चात्मिनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ १९ स्वात्मनः परेषां च भृतानां प्रकृतिवियुक्त[ात्म]सरूपाणां ज्ञानैकाकारतया साम्यात् वैषम्यस्य च प्रकृतिवातत्वात् योगयुक्तात्मा प्रकृतिवियुक्तेष्वात्मसु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया समदर्शनः सर्वमृतस्य स्वात्मानं सर्वभृतानि च स्वात्मनीक्षते—सर्वभृतसमानाकारं स्वात्मानं स्वात्मनं स्वात्मनं

¹एवं योगप्रमावादाविभैवतस्युखस्यात्मानुभवरूपत्वं साक्षात्कारात्पश्चान्निरतिशयत्वमनिवर्तनीयत्व-मनायाससाध्यत्वं चोच्यते एवं गुङ्गिन्निति । एवंशव्देन योगी गुङ्गीत इत्यारभ्योक्तः प्रकारः परा-मृश्यत इत्यमिप्रायेण उक्तप्रकारेणेत्युक्तम् । संस्पर्शशव्दोऽनुभवरुक्षकः, बुद्धचा सह संवन्धपरो वेत्यमिप्रायेण वशानुभवरूपमित्युक्तम् । एवं युङ्गम् इत्यनेनैव सर्वस्योक्तत्वात् तत्न च नियतकाले सद्दाशव्दान्वयायोगात् सुखस्य चाविनाशित्ववचनत्यापेक्षितत्त्वात् सद्दाऽश्चृत इत्यन्वयः । तत्रश्चात्यन्त-शब्दोऽपि सावधिकत्वरूपान्त<sup>8</sup>(१)श्चतिद्वारा निरतिशयत्वपर इत्यमिप्रायेण अपरिमित्तमित्युक्तम् । सुखेन सुस्यमञ्जते इति सुखसाधनसुखान्तराभावात् सुस्वेनत्यनायासत्वं विवक्षितम् ॥ २८ ॥

ीर्णदेशाविस्तानां च सर्वभूतानां कथमेकदेशिस्ति स्वात्मनि स्थितिः ? अतोऽय**मात्म**शब्दः ाविषयस्त्यादितिः , तत्वाहं सर्वभृतसमानाकारिमिति । नन्वसौ स्वात्ममात्वानुसन्धानरूपे योगे

<sup>्</sup>ष पुनहक्तिः ; उत्तराघं पकैकांशस्यापि विषेयत्वादित्याशयेनाह पविभिति । सदा-रेयः । 2 सावधिकत्वकपश्चित्रशितः सुद्धितपाठान्तरम् । सावधिकत्व-ति तास्रपाठः । अत्र तास्त्रप्रश्यस्त्रिपाठे रिन इत्येतस्थाने ति इति युक्तं ः सावधिकत्वकपान्तातिवृत्तिहारेति पाठो युक्तः । अत्यन्तशब्दार्थो हीस्पर्नी 3 "योगी चत्रधा" इति संब्रहहितीयांशो निकृत्यत इति भाषः ।

समानाकाराणि च सर्वभूतानि पश्यतीत्यर्थः । एकसिन् आत्मनि दृष्टे सर्वसाऽऽत्मवस्तुनस्त-त्साम्यात् सर्वमात्मवस्तु दृष्टं भवतीत्यर्थः । सर्वत्न समदर्शनः इति वचनात् । ''योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन'' (२२) इत्यनुभाषणाच । 'निर्होपं हि समं त्रक्ष' (५. १९) इति वचनाच ॥ ययो मां पदयति सर्वत्र सर्वत्र च मस्ति पदयति । तसाई न प्रणस्यामि स च मे न प्रणस्यति॥ ३०

ततोऽपि विषाकद्शापन्नो मम साधर्म्यसुपागता, "निरज्जनः परमं साम्यसुपैति" (स. ३. १. ३) इत्युच्यमानं सर्वस्याऽऽत्यवस्तनो विधृतपुण्यपापस्य स्वरूपेणावस्थितस्य

प्रवृत्तः कथं स्वगतसाम्यत्रियोगितया स्वप्नियोगिकसाम्याश्रयतया च सन्यतिरिक्तास्मवर्गमिश्चेतेत्यताह एकसिसिति । एकजातियेषु पद्यिष्टेकेक्ट्यक्तिद्द्यीनैते स्वालीपुराकन्यायात् तज्जातियं सर्वपि तथा-स्विनानुसंहितं हि भवतिति भावः । सर्वभृतस्थानित्यादेः साम्यमेव विवक्षितमिति दर्शयिनुमेवद्भग्येकदेशं पूर्वीत्रप्रकरणग्रम्थं चोदाहरति सर्वेत्रेति । अयमभिषायः—सर्वत समदर्शनः इति सर्वेषामात्मनां परस्परसाम्यवद्शैनमुच्यते ; तदेव सर्वभृतस्थिनित पश्चयते । अत एव च बाबस्तेष्वात्मतत्त्वस्य, तस्मिश्च तेषां स्थितिदर्शनमिहःसङ्गतम् । न चेदं परमास्मयोगप्रकरणम् ; येन तथाविष्वपरमात्मानुसन्यानमुक्ति । न च जीवात्मयोगोपयुक्तं परमास्मयानित्युच्यते, समाधिदशामेदविषयत्वात् । न च जीवानां परमात्मवश्च साम्यमिहोच्यते, तस्यापि योम्पामिति विशेषित्रदेशयुक्ते(क्तः) (३०, ३१) स्थोकद्वये पतिवादिगतुमुचितत्वात् । अस्य परमास्मविषयत्वे यो माम् इति स्थोकद्वयेन मान्नया पौनरन्ययं च स्यात् । योद्रयं योगः इत्येतदनुवादे च साम्यमानस्योनेच्यते, न तु परस्यराधार्थियमावः। पागपि 'विद्याविन्य' (५. १८) इत्यादौ साम्यमानसम्बोक्तम् । अतोऽत्र जीवानां परस्यराम्यमेव विवक्षितमिति ॥ २९ ॥

प्वं देवमनुत्यादिमङ्कितिपिणामिविशेषक्रपमेदनित्सनेन ज्ञानद्रध्यतयेकरूपत्वानुसम्धानमुक्तम् । अथ तस्यैव देवादिमेदहेतुभूतपुण्यपापतार्तम्यविधृतनेन परमासना परमसाम्यानुसन्धानमुक्त्यते यो माम् इति । अस्यापि स्ठोकस्य साम्यविषयत्वे हेतुः प्रागेबोक्तः । ततोऽपि विपाकद्ञापमः प्रथमदञ्जातोऽधिकां विपाकद्ज्ञां प्राप्त इत्यर्थः । जीवात्मनां परमारमनश्च साधम्ये वक्ष्यमाणं स्मारयति मम साधम्येमिति । उपागतः वुध्या प्राप्त इत्यर्थः । न ह्याविदानीं सुक्तः । पुण्यपापित्रभूतनेन साम्यप्रतियादनाय्यः 'निरङ्गनः' इति श्रुतिस्वाना । 'तदा विद्वात पुण्यपापे विध्य निरङ्गनः परमं

<sup>1</sup> पूर्वेश्त्रोके यच्छन्ताभावात् उपरि जिन्वपि तत्सस्वात् उक्तयोगविपार्क्याः उपरीति श्वायते । अत्र तृतीयपादेन साम्यानु नेवाननि यन्बनुक्तम् । चनुर्येन तु भगव्द्गृहीततया तस्य सस्यस्व दर्शितम ।

<sup>2</sup> साम्यप्रतिपादनायेति । भक्त प्रतुष्ठा नान्तरप्राविसाम्यप्रितिपादनाय । न तु इदानीं साम्यं प्राप्त इत्यारायेन । भाविसाम्यक्षात्रभेवेदानीं खितमिति भावः । विधृतपुष्यपापम्येति भाष्यसारितांदां दर्शयति तदेति श्रुतियान्येत । साम्यश्चेदं विधृतः विष्तुतपुष्पं भोगसाम्यमिति भ्यक्तं एते । अथापि अत्र साम्यत्वेतानु संधानं नास्ति। अपहृतपाप्तवार्ष्टं नुसंधानभत्र विविध्नतम । उत्तरद्वोक्षेत्र असंकुचितक्षानस्वत् । एतहूपविशिष्टलास्यद्ववे साम्यात् परमात्मापि गृहीत

मस्ताम्यं पश्यन् यः सर्वतारमवरति मां पश्यति, सर्वमारमवस्तु च मिय पश्यति अन्योन्य-साम्यादन्यतरदर्शनेन अन्यतरद्वीदश्वामिति पश्यति, तस्य स्वारमस्वरूपं पश्यतोऽहं तस्ताम्यात्र प्रणश्यामि नादर्शनम्रुपयामि ; ममापि मां पश्यतः, मस्ताम्यात् स्वारमानं मस्तममवलोक्यन् स नादर्शन(स सदा दर्शन)मृपयाित ।। ३०॥

साम्यसुपैति (सु. ३. १. ३) इति हि सा। यो मां पश्यतीत्यनुवादः तत्सिद्धौ हि भवति ; सा कुत इति शक्कायाम् , 'साम्यं तावत् उपातश्रुत्यादिसिद्धम् ; तदनुसम्वानं च विहितम् ; तत्रश्च तदनुवादोऽप्युप्पन्नः' इति ज्ञापनाय मत्साम्यं पश्यन् यः सर्वेन्नाऽऽत्मवस्तुनि मां पश्यतीति अवान्तरवचनव्यिक्तिमेदो दिश्चतः । परमात्मनः सर्वव्यापितया सर्वेषां परमात्मनिष्ठतया च प्रतितिश्चित्र स्वरस्तो जायते ; तच्चात्त प्रकरणादिवशादनुचितम् । तत्रश्च साम्यदर्शनमेव विवक्षितिमिति वाच्यम् ; तदप्ययुक्तम् , स्वात्मानुसम्धानस्वरूपयोगविषाके परमात्मनोऽन्येषां च स्फुरणामावादिति व्यूवच्छद्धायामाह अन्योन्येति । अन्यतरदर्शनेनान्यतरद्पीति । एकव्यक्तिदर्शनेन व्यवत्यन्तरमपीत्यथः । तस्याहमित्यादौ न तावत् प्रम्थसनिषेषः क्रियते, नित्यतया बहुपमाणप्रतिपादित्तयोजीवश्वरयोगिदानीमनित्यत्वशङ्कामावात् , तस्य न प्रणश्यामीत्यादिवरस्पर्यतियोगिनिर्देशानुपश्चेश्च । न हि किश्चिद्पि वस्तु किश्चित्पति जनष्ट किश्चित्पति च नष्ट भवति । अतोऽसौ अदर्शनविषय <sup>8</sup>एवात्र नाशशब्दः । णशघातोश्च अदर्शनार्थत्वं घातुपाठपठितम् । तत्रश्च न प्रणश्यामीति कोऽर्थः : नादर्शनसुपयामीति । तदेतत् दर्शयति तस्येत्यादिना । तादशत्वा(स्वाः)-तुसम्बानस्यामावो निष्यत्व इति भावः । स च मे न प्रणश्यतित्येतत् दष्टान्वार्थं, साम्यस्य सर्वज्ञवद्भिषयत्य प्रामाणिकत्वार्थं, विद्धान्यात्व तत्रस्वप्रमायते वेत्रसिपित्रयेता हमापीति । सर्वसाक्षात्कारिणोऽदिष्ठिषया प्रामाणिकत्वार्थं, तत्स्वान्यात् तत्रस्वस्य सक्तपान्यत्वे विवक्षिति । व्यञ्चित्वत्वा स्वत्वस्य सक्तपायदं विवक्षिति विवक्षिति । व्यञ्चित्वत्वाद्धाः मत्साम्यात्स्वारमानं मत्समममस्त्रीकविति । ३० ॥

इवेति भावः । पूर्वरङोकोक्तज्ञानाकारःवैनापि परमात्मसाम्यं भवत्येच । तत्र तदनुक्तिस्तु कर्मवदयत्वरूपवैषम्ये प्रबक्ते सति तन्यादगस्य साम्यबुद्धवनावद्दत्वमित्यारायेन । योयमिति (33) इङोकभाष्यादौ तदादायापोद्दवरसाम्यं वक्ष्यते ।

<sup>1</sup> अत्र उपयातीत्यत्र उपयामीति पाठोऽग्रुद्धः । मूळे उत्तमपुरुषदर्शनादत्रापि तथा इतम्। स मे न मणद्यतीत्यस्य, मम स सदा दर्शनमुपयातीत्यर्थः । अतो भाष्ये ममापि मां पद्दश्त दृरयस्य उपयातीत्यत्रान्वयः। मत्साम्यादित्यस्य तस्य जीवात्मनो मत्समत्वादित्यंः। तस्य अवलोक्तयिक्तत्यत्रान्वयः । उपयातीत्यत्र च । मां पद्दयत इति विशेषणम्, 'भगवतः सर्वदा सर्वद्रम्टृत्वात् तत्मयुक्तः अदर्शनाभाव इद्द नोष्यते ; किं तु समभूनखदर्शनप्रक्त पव' इति वेदयितुम् ।

<sup>2</sup> पूर्वचिति । पूर्वच्छोके एकसिन्निति भाष्यावतारिकाः शिंता शंकाऽत्र प्राह्मा ।

<sup>3</sup> अद्दीनविषय-इति । अद्दयमानत्वार्थक इत्यर्थः ।

<sup>4</sup> सत्त, प्रामाणिकत्वार्थमित्यभिप्रायेण पूर्ववच्छंकापरिद्वारार्थञ्चाहेति वाक्यानुपूर्वी स्यात्।

## ततोऽपि विषाकदशामाह--

सर्वभृतस्थितं यो मां मजायेकस्यमास्थितः। सर्वथा वर्वमानोऽपि स योगी मिय वर्वते ॥ ३२ योगद्वायां सर्वभृतस्थितं मामसङ्कचितज्ञानेकाकारतया एकस्वमास्थितः प्राकृतमेदपरित्यागेन सुदृढं यो भजते, स योगी व्युत्थानकालेऽपि यथातथा वर्तमानः स्वात्मानं सर्वभृतानि च पश्यन् मिय वर्वते मामेव पश्यति । स्वात्मिन सर्वभृतेषु च सर्वदा मत्साम्यमेव पश्यतीस्थयः॥

ततोऽपि काष्टामाइ---

मात्मौपम्पेन सर्वत्र समं पर्वित योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३९ स्वात्मनश्रान्येषां चात्मनामसंकुचितज्ञानैकाकास्तयौपम्येन स्वात्मनि चान्येषु च सर्वत्र

तृतीयां विपाकदशामाहेत्याह तत् इति । अक्मवश्यत्वाकारेणेश्वरसाम्यद्शैनं पूर्वश्चेकोक्तम् , सर्वभृतस्थितमित्यनेन तु कर्नयाः विद्यादेष्टनविधुनव्याद्याद्वृत्तिनद्वाराकारनयः साम्यानुसन्धानम् , तत्संस्कारप्रभावेन व्युत्थानकालेऽि खरसतस्तथाविधानुसन्धानानुत्रतिश्चेत्येतदुच्यते । यो भजित स सर्वथा वर्तमानोऽपीत्यनेन कालमेदिसद्धः। न च समाधिदशायामेव यथातथा वर्तमानत्वसपपद्यते । सर्वभृतस्थितेन परमात्मनैकत्वानुसन्धानं नाम स्वत्यापि सर्वभृतस्थितत्वेन तदेकप्रकार्त्वानुसन्धानम् । तचाणोरात्मनः खरूपेण न संभवति । धर्मतश्च परिशुद्धात्मनो व्याप्तिः 'वाळ.शे'त्यारभ्य 'स चानन्त्याय करुपते' (थे. ५. ९) इति श्रुतिसिद्धा । सूत्रं च, "प्रदीपवदावेशस्त्रथा हि दशैयति" (४. ४. १५) इति । अतोऽलापि तथैव साम्यं विविक्षतमिति दशियितुम् असङ्कुचितज्ञानैकाकारतयैकत्वमास्थित इत्युक्तम् । प्राकृतमेदपरित्यागेनेति ; कर्मोपाधिकप्रकृतिविशेपसंसर्गकृतज्ञानतारतम्यरूपमेदपरित्यागे-नेत्यर्थः । अनेनैकत्योक्तेः स्वरूपभेदिनरासार्थरवं परिहतम् । सर्वात्मनां ब्रह्मापृथिनसद्भत्विवक्षयाऽप्ये-करवोक्तिश्च 1 घटते । आस्थितशब्दस्य तात्पर्यार्थः सदृद्धिति । ततश्च व्यत्यानकालेऽपि तथाविधानु-सन्धानप्रवाहहेतुभूतसंस्कारपावरुयं सूचितम् । मां भजति । मत्समात्मावरोकनमपि हि मद्रजनिम-त्यभित्रायः । सर्वथेत्यस्य लौकिककियान्यापृतोऽपीत्यभित्रायः । मिय वर्तते इत्यस्य परमात्मनि स्थिति-निर्धः, तस्य योग्ययोगिसाधारणत्वात् । अहो वृत्तिरतः बुद्धिवृत्तिरत्यभिषायेणाहः सामेन पदयतीति । जीवदर्शनमात्रेण कथं परमात्मदर्शनमित्यलाह स्वात्मनीति । व्यत्थानकाले स्वात्मसाक्षात्काराभावेऽपि विश्वद्वपरोक्षानुसन्धाने परेषामपि तथात्वसिद्धेः फल्तित्वोक्ति(१)रियम् ॥ ३१ ॥

प्रवल्दुः खहेरवागमेऽपि निर्विकरत्वापादिकां योगविशाककाष्ठास्तां कर्मज्ञानतारतस्यप्रयुक्तसुख-दुः खतारतस्यनिष्टस्यनुसन्धानरूपां चतुर्थी दशामाहेत्याह ततोऽपि काष्टामाहेति । आत्मीपम्येन इत्यस्य न पश्यिताऽन्वयः, समित्यनेन पौनत्वत्यप्रसङ्गत् । अतः सर्वतात्मीपम्येनेत्यन्वयः । उपमाश्चान्दस्तुत्ययच्तुः । तस्य भाव औपम्यम् । सर्वेषामात्मनां पूर्वोक्तेन देहिनिरुक्षणत्वादिसाम्येनेत्यर्थः ।

शत्र पक्षे अपृथक्तिद्धिकपैकत्वं वस्तुगत्या प्राप्तः झानैकाकारत्वकपसाम्येन अजते इत्यन्ययः। झानयोगे भगवदपृथक्तिक्ष्यननुसंघानात्; तस्य भगवत्साम्यकपत्वाभावात्रः

वर्तमानं पुत्रजन्मादिरूपं सुखं तन्मरणादिरूपं च दुःखम् असंबन्धसाम्यात् सनं यः पश्यति परपुत्रजन्ममरणादिसमं स्वपुत्रजन्ममरणादिकं यः पश्यतीत्यर्थः । स योगी परनो मतः योग-काष्टां गतो मतः ॥ ३२ ॥

**ध**र्जुन उद्याच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुस्हत । पतत्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थिति स्थिराम् ॥ चञ्चलं हि मनः हृष्ण प्रमाथि बलवत् इहम् । तत्याहं निग्रहं मन्ये व्ययोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४

योऽयं देवमनुष्पादिमेदेन जीवेश्वरमेदेन चात्यन्तिमञ्चतयैतावन्तं कालमनुभृतेषु सर्वे-प्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया परस्परसाम्येन अकर्मवश्यतया चेश्वरसाम्येन[च]सर्वत समदर्शन-

सर्वत्र इत्येतदेव काकाक्षिन्यायेन समं पश्यित इत्यताप्यन्वितम् । सर्वेषामत्यन्तविषमतया उपलभ्यमान-छुखदुःखान्वयसाभ्यश्रमच्युदासेन व्यतिरेकपुःभ्यानुसन्धानं दर्शयति असंबन्धसाभ्यादिति । परेष्व-संबन्धानुसन्धानस्य निष्ययोजनत्वादिहाभिन्नेनाह परेति । परेषुत्रजन्मादेः स्वात्मनि खपुत्रजन्मादेश्य परेषु यथा न संबन्धः, तथा [खपुत्रजन्मादेरिष १] स्वात्मन्धिनीत्युक्तं भवति । पश्मशब्दाभिनेतमाह योग-काष्टां गतो मत हति । जीवात्मधोगकाधेयम् , परमात्मधोगस्य परस्ताद्वक्ष्यमाणत्वात् ॥ एवं ज्ञानेका-कारतया निद्रोषतया विद्रावतया विद्रावतयां विद्रावत्यस्यान्यानुसन्धानिकः, तृतीयचतुर्थस्योक्तरित्येके॥३२ साम्यानुसन्धानोक्तः, तृतीयचतुर्थस्कोकाभ्यां तु हदतरहदतमसाम्यानुसन्धानफल्पर्वद्वयोक्तिरित्येके॥३२

योगाभ्यासिविधः, चतुर्धा योगी चोकः। अथ प्रागुक्तमेव योगसाधनं विशदं ज्ञातुं पुनर्त्जुन उवाच योऽयमिति। देवेत्यारभ्य अनुभूते श्वित्यन्तम् अनाष्ट्रपवितग्रह्मविद्यारभ्य अनुभूते श्वित्यन्तम् अनाष्ट्रपवितग्रह्मविद्यारभय अनुभूते श्वित्यन्तम् अनाष्ट्रपवितग्रह्मविद्यारभय सम्यानुसम्यानस्याश्वयत्वमदर्शनार्थम् । परत्यत्वेषम्य देवमनुष्यादिभेदेनेति । जीवेश्वरभेदेन कर्मवश्यत्वाकम्ववश्यत्वादिभेदेनेत्यर्थः। अत्यन्तिभक्तयेतिः न स्वतः स्वरुष्ट्रपुण्डादिवत् भेदक्षभंमालम् , कितु विरुद्धस्यायत्वमेव हि दृश्यतः इति मावः। एतः वन्तं कार्ल्यभेतिः कार्ल्याद्यात्वेष्ट्रप्तः स्वर्यतया चेश्वर्यत्याचेतिः च साम्यद्वयत्वाद्याः। कर्मवश्यत्या चेश्वर्यसम्येन चेति कश्चित् पाठः। तदा पूर्वश्वरा ईश्वरस्यम्येऽपि ज्ञानेकाकारत्वसंप्रहार्थः। द्वितीयस्तु पूर्ववत् । ज्ञानपुरुष्विवैवय्ययोः कर्मवेषम्यक्ररुर्वात् अक्रमेष्ट्रयत्यात्वेति न त्योरिवि निवृत्तिसंग्रहः फल्ति इति यत्यात्वानम् । स्वया प्रोक्तः स्वतस्विज्ञेन त्यौत क्षेत्रत्वसम्यत्तं प्रवक्तं च कार्यमिति मावः। अद्वं न पश्चामिति भावः। स्थाति स्वरानुस्वितिस्वर्थः । सञ्चस्वर्तः । रजस्वमोगयपवल्वविरोधिनिरसन्वरीतस्वस्वमेव मनोनिष्ठहोषायसुप्यदिशेति

एकत्वमाध्यित इत्यस्य ब्रह्मापृथक्तिस्त्तःवद्यवार्थाक्षेत्रायेण ब्रह्मसंबद्योक्तिः । जीव-मात्रसाम्यविवश्या चेदस्य । तद्गुणसंबद्ध्यो भाग तत्त्रमानासंक्रचितवात्कत्वम् ।

<sup>2-</sup> मनानुपादानादेव दलोकद्वयतेव साम्पानुकंचानगरम् , उपरि फल ई द्वयमिति पूर्व 2 पके उक्तवन्तः । चतुर्धा योगीति संग्रहस्वारस्यं तदा न । अञ्च तु भाष्ये चक्रारः अनुकसमुचायकतया तदुभयमाहकोऽपि स्मात् । मधमहलोकेनैव सर्वग्रहणमपि स्मात् । वैदायं तु चतुर्भिरपीति न दोषः।

रूपो योगस्त्वया श्रोकः, एतल योगस्य स्थिगं स्थिति न पश्यामि, मनसक्षत्रल्यात । तथा अनवस्ताभ्यस्तविषयेष्यः स्वत एव चञ्चलं पुरुषेणैकत्रावस्थापयितुमण्डसं मनः पुरुषं वलात् प्रमध्य दृदमन्यत्र चरति ; तस्य स्वाभ्यस्तविषयेष्यपि चञ्चलस्वभावस्य मनसस्तद्विपरीताकारान्तमिन स्थापयितुं निग्रहं प्रतिकृत्यातेर्महावातसः व्यजनादिनेव सुरुष्कम्महं मन्ये । मनोनिग्रहोन्पायो वक्तन्य इस्वभिप्रायः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच---

असंशयं महावाहो मनो दुनिंग्रहं चल्लेस् । अभ्यासेन तु कीन्तेय वैराग्येण च गृहाते ॥ ३५ असंशयं महावाहो मनो दुनिंग्रहं में तेत्रः । वश्यात्मन तु यनता शक्योऽवाण्तुमुपायतः ॥ चलल्यभावतया मनो दुनिंग्रहं में वेत्यत्व न संश्चयः ; तथाऽध्यात्मनो गुणाकत्त्वास्यास-जिनताभिष्ठ् ख्वेय आत्मन्यतिरिक्तेषु दो याकात्वजनित नेत्र् ध्योऽध्यात्मनो गुणाकत्त्वास्यास-जिनताभिष्ठ् ख्वेय व्योगो दुष्प्राप एव । उपायतस्त्र वश्यात्मना पूर्वोक्तेन मदाशायन-भावः । 'बचलं हि मनः' इत्युत्तरवाव गानुक्त्यानेन मत्म इत्यश्य हत्य । हीति । विपातस्य यादव-प्रकाशोक्ताद्विहिशेषणार्थत्यद्वि स्पुटस्वितं चाल हेत्वर्थत्वनः हत्या हीति । हेतुभूनं चचलल्वं संप्रतिवल्खले प्रदर्शनियम् । अतथल्लसावत्यमत्व चव्रत्वल्याद्विम । अतथल्यस्यात्वर्यास्य विष्ठावि । प्रमाथि प्रमथनशीलम् । प्रमथ्य । व्याकृतीकृत्रत्यर्थः । बलव्चल्वन्यः प्रमथनित्रयाविशेषणं वा, बलव्चत्वात्वमाधीति हेतुपरो वेत्यमिशायेण चलात्मप्रथेरयुक्तम् । वैषरीत्ये दार्व्यमित्याद्व हत्यर्थः । स्थाप्यत्तेति । तस्येति परामशीमिवेतमाहं स्वास्यस्तिति । तद्विपरीताकार इति । अनभ्यत्वत्वृ इत्यर्थः । स्थापयितुं स्थापनार्थम् । दार्धिनिके मनित प्रदर्शितल्य चलल्वादेः हष्टान्ते विव्यवित्त्वप्रदर्शनाय प्रतिकृत्रेल्यादिकपुक्तम् । मनोत्मिद्वोपायदुक्तिव्यज्ञापनाय वायोगिन्दैनिम्हासभावनार्ये च व्याजनादिनेवेत्यक्तम् । एवं दुष्करस्ववन्त्वनं न प्रतिक्षेष्वर्थम् , किन्तूपायपरिक्षधिमत्याद्व मन इति ॥

अथार्जुनेन कण्टोक्तमनुबदन् वुसुस्तितसुवायं स्टोक्ट्वयेनाह भगवान् । तल दुर्निग्रहं चकम् इति १६०२ कृतिकानियादे यनुव दरावारात चलस्यभाव । येति । अत्रेश्चयामस्येतत् सस्यमिनिवदर्धाक्षी-कार्यरम् । तुशक्तानियादेव विशेषं दर्शयति तथाऽपीति । अनुक्रक्तयाऽभ्यासो हि तल प्रावण्यदेतु-स्यादित्यभ्यासिवशेषं तत्फलं च व्यनक्ति आरम् इति । नित्यत्वज्ञानस्वानन्दत्वाकर्मवस्यत्वामरुस्वाद्वयेऽल गुणाः । कथि खिदित्यवधानार्थन् । एवं मनसो ग्रहणोपाय उक्तः ; तनश्च 'एतस्याहं न पश्चामि' (३३) इत्युक्तमर्थं विपयविशेषं व्यवस्थापयित असंयतेति स्टोकेन । मनोनिग्रहमकरणस्वात् असंयत-वश्चयशब्दसमिन्यवाहारसामर्थ्याचाल आरमशब्दो मनोविषयः । महावाहुसेवुद्धिस्त्विनमाह महताऽपि चस्चेनेति । 'उपायेन तु यच्छव्यं न तच्छव्यं पराक्रमैः'(... १) इति भावः । मे मितिः इत्यनेन निस्सन्देहलं विवक्षितमित्याह दुष्प्राप एवेति । उपायतस्तु वश्यास्मनेनि व्यास्थ्यान्वयप्यदर्शनम् । तव्यास्थ्यानम् पूर्वेत्यादि । उक्तस्थ्रणं कर्ममात्रं मनोनिग्रहोषायः ; अभ्यात्रवेराग्ये तु तस्येवाक्ष्त्रवोक्ते हित भावः ।

रूपेणान्तर्गतज्ञानेन कर्मणा जितभनसा यतमानेनायमेव समदर्शनरूपो योगोऽवाष्तुं शक्यः ॥ अथ 'नेहाभिक्रमनाशोऽिस्त' (२.४०) इति आदावेन श्रुतं योगमाहात्म्यं यथाव-च्छोतुमर्जनः एच्छति । अन्तर्गतात्मज्ञानतया योगशिरस्कतया च हि कर्मयोगसा माहात्म्यं तल्लोदितम् ; तच योगमाहात्म्यमेव ।

अर्जन उवाच--

अयतिःश्रद्धयोषेतो योगाम्धिक्षतमानसः । अमाप्य योगसंसिद्धि कां गति कृष्ण गच्छति ॥ ३८ कि कि कि स्वां मित्र विभूते ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ पतं मे संशयं कृष्ण च्छेतुमहेस्यशेषतः । त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेता न सुपपद्यते ॥ ३६ पतं मे संशयं कृष्ण च्छेतुमहेस्यशेषतः । त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेता न सुपपद्यते ॥ ३६ श्रद्धया योगे प्रवृत्तो दृढत्मभ्यासरूपयतन्वैकरयेन योगसंसिद्धिमपाप्य योगाचिल्ति मानसः कां गति गच्छति ! उभयविश्रष्टोऽयं छिन्नाश्रमिव किचन्न नश्यति ! यथा मेघशकलः पूर्वसाद् बृहतो मेवाच्छितः परं बृहन्तं मेवमप्राप्य मध्ये विनष्टो भवति, तथैव किचन्न नश्यति । क्ष्मभयविश्रष्टता ! अपतिष्ठः, विमुद्धो ब्रह्मणः पथीति । यथावस्थितं स्वर्गादेसाथनभूतं कर्म फलाभिसिन्धरहतस्यास्य पुरुषस्य स्वरुक्तस्याधनत्वे प्रविष्ठा न भवतीत्यपतिष्ठः । प्रकान्ते व्रक्षणः पथि यतमानेन योगमभ्यस्यतेत्यशैः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

एवं प्रागुक्तमेव योगसाधनं यथावच्छ्तम् ; अथ प्रागुक्तमेव योगमाहात्म्यं श्रोतव्यं सर्वप्रकारान्त्रितं पपञ्चेन श्रोतुं प्रच्छतीत्याह अथेति । योगमाहात्म्यशब्देन संप्रहस्रोकस्थयोगसिद्धिशब्दो व्याख्यातः । सिद्धिकारणं हि माहत्म्यम : सिद्धिश्चाल शिश्ळस्यापि योगस्य--चिरतरमनेकपुण्यलोकावाप्तिः, पुनर्योग-योग्ययोगिकुरुसंभवः, तदद्वारा पुनर्योगपौष्करूयम् , ततश्चापवर्गः-इत्येवेरूपा। एषा च सिद्धिः अनितर-साधारणेन माहात्म्येन । नेनु, 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' (२. ४०) इत्यादौ कर्मयोगस्य माहात्म्यमुक्तम् : अल तः तत्फरुमृतस्यात्मावरोकनरूपयोगस्य ; अतः कथं श्रुतमित्युक्तम् ? तलाह **अन्तर्गते**ति । ततः किमित्यलाह तचेति । योगाङ्करभृतात्मज्ञानगर्भतया पुष्कळयोगलरूपसाधनतया च हि कर्मयोगत्य माहात्म्यं तत्रोदितम्, ततश्च योगोपाधिके तदङ्गमूतकर्मयोगमाहात्म्येऽभिहिते अङ्गिभृतयोगमाहात्म्य-मेवोक्तं भवतीति भावः । अयतिरित्यादिपदानामश्रींचित्यात् क्रमभेदेनान्वयो दर्शितः । तत प्रवृत्तस्य हि ततश्चित्रतःवं वाच्यम् , न तु तत्न श्रद्धोपेतमात्रस्येति ; अतः श्रद्धया तत्कार्यरुक्षणेत्यभिषायेण **योगे प्रवृत्त** इत्यक्तम । उपेतशब्द एत वा अल श्रद्धाकृतयोगाधिगमपर इत्यभिष्रायः । योगसंसिद्धिमष्राध्य-योगसिद्धेः पूर्वमेवेत्यर्थः । योगाचित्तनानसः पुष्कलयोगं कर्तुमननुगुणचित्त इत्यर्थः । काम काम-भोगभोक्षनिरयेषु कतमामित्यर्थः । कां गति गच्छतीति सामान्यनिर्दिष्टमेव किचिदित्यादिना विवृतम् । इष्टान्तेऽप्युभयभ्रष्टस्वप्रकारं दर्शयति यथेति । उभयभ्रष्टताविवरणरूपस्वात् विमृद्धो महाणः पथीत्ये-कस्याभिघानाच पारिशेष्यात् अत्रतिष्ठपदं सांसारिकफलसाघनकर्मश्रशाभिपायमित्याह् यथावस्थितमिति । कर्मस्वरूपानुष्टानप्रयासादौ न किञ्चिन्त्यूनम् ; अभिसन्धिनैषम्यात्त निष्फरं संवृत्तमित्यभिप्रायः । विमृद्धो

विमुद्धः तसारपथः प्रच्युतः। अतः उभयविश्रष्टतया किमयं नश्यत्येव, उत न नश्यति ? तमेनं संशयमशेषतरछेत्तुमईसि । स्वतः प्रत्यक्षेण युगपत् सर्वे सदा पश्यतस्त्वचोऽन्यः संश्वयसास छेता न ह्यूपपद्यते ॥ ३७—३९ ॥

श्रीमगवानुवाच--

पार्ध नेवेड नामुत्र विनाशस्त्रस्य विश्वते। न हि करवाण हन् किश्च (हुगीते तात गच्छिति ॥४० श्रद्धया योगे प्रकान्तस्य तसात्यव्युतस्थेह चामुत्र च विनाशो न विद्यते प्राकृत-स्वर्गीदिभोगातुभवे ब्रह्मानुभवे चाभिरुपितानवाप्तिरूपः प्रत्यवायास्त्रयानिष्टावाप्तिरूपथ विनाशो न विद्यत हत्थर्थः । न हि निरतिशयकस्याणरूपयोगकृत् कश्चित् कालत्रयेऽपि दुर्गिति गच्छिति ॥ ४० ॥ कथमयं भविष्यतीत्यत्राहः—

प्राप्य पुण्यकृतां लोक न् उवित्वा शाश्वतीः समाः ।

प्रभागः पथीति ब्रह्मपथे अज्ञानं न विवक्षितम् ; ज्ञास्वोपकस्य निवृत्तं प्रति प्रच्छवमानस्वात् । अतो विमोहकार्ययोगनिवृत्तिस्त विमृहशब्देन लक्ष्यत इत्यमिप्रायेण प्रकानत इत्यादि प्रच्युत इत्यन्तमुक्तम् । अभागः पथि ब्रह्मपारस्य संशयस्यार्थसिद्धं शिरोन्तरमाह किमयं नदयस्येवेति । अद्देशि सर्वज्ञस्वकारणिकस्वित्रयस्यस्यस्य संशयस्यार्थसिद्धं शिरोन्तरमाह किमयं नदयस्येवेति । अद्देशि सर्वज्ञस्वकारणिकस्वित्रयस्यस्यस्य विद्यान्यस्य क्षायोऽसीत्यर्थः। कृष्णशब्देन स्वच्छव्देन चामित्रेतमाह स्वतः इति । करणायीनम् , अविशदानुमानादिप्रायम् , क्रमभावि, कृतिवयविषयम् , कादाचित्कमपि हि त्वदन्येषां ज्ञानिमिति सावः । एतेन, ''वो वेति युगपत् सर्वे प्रस्यक्षेण सदा स्वतः । ते प्रणस्य हिरं श्रास्तं न्यायतत्त्वं प्रचरमहेणे । इति तु भगवन्नाथस्यनिमित्राणां वचनम्यसंहितम् । न स्वपद्यतः इति युक्तिविरोयोऽभिमेनः ॥ ३०-३९ ॥

अधोभयपुरुषार्धान्वयमुखेन उभयविश्रष्टतां परिहरति पार्थेति । तस्येत्यनेन परामृष्टमाकारह्वयमाह श्रद्धचेति । इहाष्ट्रवान्ववर्थोर्भुलोकस्वर्गलोकाहिपरस्वं परिहत्यात्र विविक्षतमाह प्राकृतेति । यथा मुमुक्षोः पुण्यमपि पापकोटौ निक्षिप्यते, तथा तस्य स्वर्गादिकमपि इहशब्दिनिर्देशाहँ प्रकरणसक्तं चेति भावः । विनाश्चशब्दः 'प्रत्यवायो न विद्यते' (२. ४०) इति प्रागुक्तमप्यत् सर्वे संगृह्णातीत्याह प्रत्यवायास्येति । कत्याणशब्दस्यात्र प्रस्तुतिवशेषप्यवसानव्यञ्जनायाह निर्मतश्चयेति । गच्छतीति अनवच्छित्रवर्वतमाननिर्देशात् कालत्रयेऽपीत्युक्तम् । अनेककालोपचितानन्तपुण्यसाध्ययेन प्रागपि दुष्कृताम्भावः, इदानीं च निर्मतश्चयक्तरम्याणरूपयोगप्रवृतिः, परस्तादिप पुण्यलोकावाप्तियोगसिद्धचपर्वापस्पृतिरिति कालस्त्रयेऽपि दुर्गत्यभावः(त्यसंभवः) । दुर्गतिः निरयः, अनिष्टमातं वा । हिहेती, प्रसिद्धौ वा । न हि योगे प्रकान्तस्य कस्यचित् कसिश्चित् काले दुर्गतिप्राप्तिः कुतिश्चित् प्रमाणात् सिद्धित सावः ॥ ४० ॥

उभयश्रष्टतापरिहारायोक्तमुभयान्वयं प्रवश्चयति प्राप्येत्यादिना परां गतिमित्यन्तेन । योगश्रंश्च-हेतुम् , पुण्यक्कञ्जोकप्राप्तिकृतातिश्चितवाकृतपुरुपार्थयोगे कर्माख्यसाधनरहितत्वेऽपि योगमाहात्स्यस्यैन साधनत्वम् , भोगावसानहेतुं वैतृष्ण्यसुरुपाद्य पुनर्थोगमाहात्म्यस्यैन योगारम्भयोग्यकुळोद्भनहेतुन्तं न श्चीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायने ॥

۷,

यञातीयमोगाभिकाञ्चया योगारप्रच्युतोऽयम्, अतिषुण्यकृतां प्राप्यान् लोकान् प्राप्य तञातीयान् अतिकत्याणान् भोगःन् योगमाहारम्यादेव भुजानो यावचङ्कोगतृष्णावसानं भाभतीः समास्तत्रोपित्वा तस्मिन् भोगे वितृष्णः शुचीनां श्रीमतां योगोपक्रमयोग्यानां कुले योगोपक्रमे श्रष्टो योगमाहारम्याञायते ॥ ४१ ॥

भयवा योगितावेव कुछे भवति (मउति) चीमताम् । पति इलंभतरं लोके जन्म यदीदशम्॥ परिश्कयोगश्वलितःचेत्, योगिनां धीमतां योगं कुवेतां खयमेत्र योगोपदेश-श्वमाणां महतां कुले भवति ; तदेतदुश्वयःविधं योगधोग्यानां योगिनां च कुले जन्म लोके प्राकृतानां दुर्लभतसम् । एतत्तु योगमाहात्म्यकृतम् ॥ ४२ ॥

पद्शयित यञ्जातीयेति । सर्वेयां मालया पुण्यक्कत्त्वसद्भावेऽपि केषुचित् पुण्यक्कत्व्वद्भयोगः तेषामिति शिवतपुण्यक्कत्त्विति । तञ्जातीयत्वेऽपि ततोऽतिशयितत्वाय अति-करपाणानित्युक्तम् । दश्यते क्षेकजातीयेत्वपि क्ष्यस्मान्धादिषु भूकोकेऽपि तारतन्यम् । एवं दिव्यादिव्यभेदः । यदि पुराकृतैः पुण्येः पुण्यकोकावासिः ; पापैरिष पुराकृतैः पाणकोकप्राप्तिस्त्यादित्यलाह योगमाहात्म्यक्षयानिवर्वते । यमिर्थसंपादित्यव्यस्य भोगार्थविनियोगवदिति मात्रः । न इसौ पुण्यक्षयादिव योगमाहात्म्यक्षयानिवर्वते, तस्याक्षयत्वादिति दशियतुं यावदित्यादिकमुक्तम् । विषमिविपाकसमयकर्मम्कसत्योन्मेषकृतिविवेकोद्ययव्यात् निरन्तरभोगमकर्षादिवशास्त्र वैवृण्यसंभवः सौभरिप्रभृतिवृत्तान्तेषु माल्यः । ग्रुचित्वं श्रीमत्तं च अद्यद्वारा द्यद्वारा च योगोपकःरकःमित्याद्व योगोपकमयोग्यानानिति । योगप्रप्रस्य सान्वयात् योगोपकमानुगुणस्वसावानामित्यर्थः। अथ वा योःगनामेव कुळे इति इती-ऽप्यतिश्चित्वन्नमने वश्यमाणस्वात् ग्रुचीनःस् इत्यादिविशेषणसःमध्यांच योगोपकमे अष्ट इत्युक्तम् ॥

अथवेति व्यवस्थितविकरपार्थेष् ; अतिहानितज्ञमनिर्देशोऽतिहायितहेतुसाकाङ्क इति दर्शयितुं परिपक्रयोगश्रहितश्रविदिख्कम् । योगितां कुछे इति कस्यचित् योगिनस्सन्ताने प्रसूतिनेच्यते ; तावन्मानस्यात्यन्त्रयोगोपकारकत्वामावात् , किंतु उपदेशाहित्वाय योगिनां सतामेव पुनादित्वेन जायत इति दर्शयितुं योगं कुवैतामिति वर्तमानिर्देशः । शुचीनां श्रीमतामिति अन्यसादुपदेष्टुर्थोगाधिगमं प्रति आनुगुण्यमात्मक्तम् ; इह तु धीमतामिति वचनात् तेषामेवोपदेष्टुर्वयोग्यतोच्यत इत्याह स्वयम्मेवेति । "पशुमेनुष्यः पक्षी वा ये च वैण्णवसंश्रयाः" (शाण्डि. 1-15), "तव दास्यसुस्वैकसङ्गिनाम्" (स्तो. ५५) इत्यादिप्रतिपादितवैभवयुक्तेम्हस्त्वम् । पृवैश्लोकस्थगेहशब्दतुरुर्वार्थस्वादन्नापि कुलशब्दो गृहवाची । एतदुम्पविधमिति । साधारणस्य ईदश्चमित्यनुवादस्य उभयान्वयित्वमेव बुचितमिति भावः । प्रकृतिमाल-दिश्चनिविधमिति । साधारणस्य ईदश्चमित्यनुवादस्य उभयान्वयित्वमेव बुचितमिति भावः । प्रकृतिमाल-दिश्चनिविधमिति । साधारणस्य ईदश्चमित्वन्ववासाह प्राकृतानामिति । दुर्लभतरं कथं लभ्येतेत्यव दिश्चनविधमिते । स्वर्धनिति ॥ ४२ ॥

<sup>1</sup> विषमेति । आह चोदयनो न्यायकुत्तुमाञ्चली, "कर्मणां विषमविषाकुत्तमयतया" इति ।

तन्न तं बुद्धिसंयोगं लभते पौदंदिकम् । यतने च ततो भृषः संसिद्धी कुठनन्दन ॥ ४३ पूर्वाभ्यासेन देनैच हिषने द्वारतोऽपि सः॥

तल जन्मनि पौनेदेहिकं तमेव योगिविषयं बुद्धिसंयोगं लभते। ततः सुप्तप्रबुद्धवत् म्यः संसिद्धौ यतते— यथा नान्तरः यहतो भवति, तथा यतते। तेन पूर्वाभ्यासेन पूर्वेण योगिविषयेणाभ्यासेन सः योगभ्रष्टो झबद्योऽषि योग एव हियते। प्रसिद्धं केषत् योग-माहारम्यसित्यर्थः ॥ ४३॥

्रीजन्नासुरिप योगस्य शब्दनहातिवर्दते ॥ **४४** <sup>1</sup>अप्रवृत्तयोगो योगे जिज्ञासरीप तत्रवित्तमानसः पुनरिप तामेव जिज्ञासां प्राप्य कर्मयोगादिकं

ततः किमायातमपर्वास्य, पूर्वदेहारव्यस्य योगस्य शिथिङ्वातः; योगिकुङ्गन्ममालस्य च मोक्षहेतुत्वामायादित्यलोत्तरं तत्र तिमिति । तत्रशब्दस्य सप्तमीसाम्यात् गेहिनिषयत्वअमव्युदासाय पूर्वोक्त-वाक्यार्थेनान्वयमाह तत्र जन्मनीति । तत्रपृर्वदेहे संसारहेतुबुद्धरि सद्धावात् तद्यवच्छेदाय तिमित्यक्त-मित्याह योगविषयमिति । ततः—बुद्धिसंयोगादित्यथः । जन्मान्तरे समलसंस्कारितरोधानस्य दृश्यमानत्वात् कथमिद्युपयद्यत इति शङ्कायां पुष्पकृतं तथाविषः संस्कारश्रंशो नास्तीति पदर्शनाय सुप्तप्रबुद्धवदिति हृष्टान्त उक्तः । संसिद्धौ हृत्यवोपसर्गामिष्रेतमाह यथेति । तिनेत्यस्यार्थे योगविषयेणेति । तेनेत्य इत्यवधारणफिलतमाह योग व्यव हियत इति । दिशव्यधिमाह प्रसिद्धमिति । प्रसिद्धिश्च आदिभरतविदुरभीष्मादिश्चतान्तेषु दृष्ट्या । पार्थकुक्नन्दनशब्दाभ्यामुमय-कुळ्शुद्धचादिस्वकाभ्यामर्जुनस्यापि वैशुवीनां श्रीमताम् इत्याद्यव्ययः स्वितः ॥ १३ ॥

जिज्ञासुरित्यादि पकरणवज्ञात् वासनाया विच्छित्त्वघटकत्ववदर्शनार्थिमित्याह अप्रवृत्ति । जिज्ञासुरित् इति सन्नन्तािष्शव्दयोस्सामाध्यात् अप्रवृत्तयोगः इत्युक्तम् । यद्यपि "न लोकाव्ययनिष्ठा- सल्ध्येतृनान्" (अष्टा. २. ३. ६९) इति कर्मणि पष्ठीनिपेषः, तथाऽप्यल संवन्यसामान्यविवक्षया योगस्येति पष्टी । योगिनश्चित्तत्य योगः, प्रकान्तयोगस्य चित्रतस्य तत्पक्रमः, योगमारुरुक्षोधित्ततस्य आरुरुक्षेति तत्तद्वस्थानुरुक्षं प्रतिसमाधानमिति भावः । कर्मयोगादिकं कर्मयोगज्ञानयोगावित्यधः । यद्या, कर्मयोग उपक्रमो यस्याऽऽत्मसाक्षात्कारुक्षप्य योगस्य स तथोक्तः । व्रवश्चवद्योऽत्व न परव्रव्यविवयः, तस्यातिवर्तनीयत्वानुपपत्तेः, अन्दव्रव्य इति विद्योषणायोगाच । अत एव न जीवविषयः । नापि वेद-

<sup>1</sup> नतु जिब्वासुपदेन, आर्तो िब्रासुरिक्षत्रेव आत्मानुभवरूपमैवव्येव्हुर्गृह्यनाम् : स शब्दब्रह्य—प्रकृतिपरिणामरूपैद्वर्यानुभवमिवर्तत इत्यर्थसामअस्यादिति चेन्नः अपिशब्देन निकृष्टाधिकारिप्रस्वयतीतः । ब्राव्यातोग्नुसव्यव्यव्य ब्रातमात्रे स्वारस्याच । सतमे त्वेतदसंभवा-दन्यादशार्थोक्तः । आत्मानं प्राप्नोतीत्यनेतेव आत्मप्राप्तीव्ह्ययाः लामात् जिब्रासुशब्देनापि तत्क्यनस्यानावद्यकत्वाच्य । 2 संसिद्धावित्यस्यानुवृत्तिः शांकरेष्टा । सा च योग एक ।

<sup>3</sup> नात्रार्जनस्य योगभ्रष्टत्वादिसस्त्रे तात्पर्वम् । संभवदंशमादाय प्रशंसामात्रम् ।

योगमनुष्ठाय शब्दब्रहातिवर्नते । शब्दब्रह्म देवमनुष्यपृथिन्यन्तरिक्षस्त्रभादिशन्दाभिलापयोग्यं ब्रह्म प्रकृतिः । प्रकृतिवन्धाद्विमुक्तो देवमनुष्यादिशन्दाभिलापानहे झानानन्दैकतानमात्मानं प्राप्तोतीत्वर्थः ॥ ४४ ॥

प्रयत्नात् यतमारस्तु योगी संशुद्धकित्यः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥४५ यतः एवं योगमाहारम्यम् , ततः अनेकजन्मार्जितपुण्यसञ्जयेः संशुद्धकित्वियसंसिद्धः संजातः प्रयत्नात् यतमानस्तु योगी चलितोऽपि पुनः परां गतिं यात्येव ॥ ४५ ॥

अतिश्वयितपुरुषार्थनिष्ठतया योगिनः सर्वसादाधिकयमाह—

तपस्वभ्योऽधिको योगी तःतिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्तत् योगी भवार्जुन ॥

કદ

विषयः, तस्याप्यतिवर्तनीयस्वानित्यपात् । 1-गापि लक्षणया वेदमितपायकमीवषयः, तस्कर्णवेषयो वा, तलापि वेदे ब्रह्मश्चरद्स्य गोणः प्रयोगः, तस्य परस्ताल्लक्षणा, उपनिषदंशास्त्रकोच इति बहुदोषप्रसङ्गात् । गापि शब्दजन्यं ज्ञानमालं शब्दप्रद्र्यस्य, योगं जिज्ञासोस्तरितृ विविद्यस्य । ''साध्यायात् योगमासीत योगात् साध्यायमामनेत्'' (वि. इ. इ. २) इत्यादिप्रकोपप्रसङ्गाच ॥ योगमासरुश्वस्तु पुरुषः शब्दप्रवण्यज्ञानमालवतः पुरुषाद्यिकः, ''ब्राह्मणेषु च विद्यस्ते विद्यस्य कृतवुद्धयः। कृतवुद्धिषु कर्तारः कर्तेषु ब्रह्मवादिनः'' (मनु.१.९७) इतिवदिति चेत्—तदिष न ; अध्याहाराद्यापातात्, अपस्तुताभिधानप्रसङ्गात् , पूर्वोत्तर्यवयानवयाच । अतः प्रकृतःविष ब्रह्मश्चरित्यस्यागस्यातापि प्राचुर्यात् अतिवर्तनीयस्वौचित्याच ब्रह्मश्चरित्यावयानवयाच । अतः प्रकृतः विष ब्रह्मश्चरित्यस्यागस्यानास्यरिणामप्रदर्शनाय शब्दम्बति व्यवदेशः । ''सर्वाणि रूपाणि विद्यस्य धीरः । नामानि कृत्वा'' (पु.) इत्यादिश्चतेः विभक्तस्पा हि प्रकृतिदेवादिः शब्दाभिलप्या । तदेपद्मस्त्रप्रस्थानितः, 'पुमाच देवो न नरः' (वि. २.१३.९८) इत्यादिकं स्मारितम् ; क्षानानन्दमयस्वास्मा शोषो हि परमासनः' (पञ्च ....) इत्यादिकम् ॥ १४॥ इत्यानिकत्यः मानित्यने च 'ज्ञानानन्दमयस्वास्मा शोषो हि परमासनः' (पञ्च ....) इत्यादिकम् ॥ १४॥

तदेवं योगश्रष्टस्य पुनस्संशिद्धौ यज्ञपर्यन्तसुक्तम् । अथ तत एव तस्याऽऽत्मगाप्तिरुक्षणपरम-पुरुषार्थयोगोऽभिधीयते प्रयत्नात् इति । ततः इति पदं यथास्थानान्वये प्रयोजनामावात् प्रकृतहेतुः परमाह यत इति । अनेकजन्मसंसिद्धः अनेकैर्जन्मभिस्तस्ययोगयोग्यो जात इत्यर्थः । तत्त हेतुः संशुद्धिकित्विष्तवम् । प्रयत्नाद्यतमानस्तु इन्द्रियनियमनादिश्यक्षेन योगे यतमानः इत्यपुनरुक्तिः । अथवाऽधिकं यतमान इत्यर्थः । तुशब्दचोतितं पूर्वोक्तं व्यक्षयितुं चित्रतोऽपीत्युक्तम् । चित्रतोऽपि पुनरिति वा तत्तदशब्दव्यास्या । परां गितमिति योग एव वा तस्साध्यास्मप्राप्त्यादिर्वोच्यते ॥४५॥

्वंविषं योगस्य माहात्म्यं तपः प्रसृतिषु न कस्यचिद् प्यस्ति ; अतस्तपित्वप्रसृतिभ्यो योगी समिषक इति योगं योगिनं च प्रशंसन् जीवात्मयोगीपदेशसुपसंहरतीत्यभिप्रायेणाह अतिग्रयितेति । योगिनोऽपि

<sup>🚶</sup> माध्वशांकरार्थौं निरस्यति नापीति । शब्दार्थशोधनमात्रे भेदः; पर्यवसितार्थस्तु सर्वमतेऽप्येक एव ।

केवळत्वोभियाः पुरुषार्थः साध्यते, आत्मज्ञानव्यतिरिक्तेज्ञीश्रे याः, यश्र केवलैरश्व-मेधादिभिः कर्मभः, तेभ्यस्तवेभयोऽधिकपुरुषार्थसाधनत्वात् योगस्य, तयस्तिभयो झानिभ्यः कर्मिभ्यश्राधिको योगी । तसात् योगी भवाजुत ॥ ४६ ॥

तदेवं परिवद्याङ्गभृतं प्रजापितवाक्योदितं प्रत्यमात्मदर्शनमुक्तम् ; अथ परिवेद्यां प्रस्तौति— योगिनामपि सर्वेषां महतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजने यो मां स ये युक्ततमो मतः ॥ ४० इति श्रीमद्भगवद्गीतास्पनिषत्तु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृत्णार्श्वनसेवादे

योगाभ्यासयोगो नान षष्टोऽध्यायः ॥ ६ ॥

योगिनामिति पश्चम्यथे पष्टी । 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' (२९) इत्यादिना चतुर्विधा योगिनः प्रतिपादिताः। तेष्वनन्तर्गतत्वात् वस्यमाणस्य योगिनः न निर्धारणे पष्टी संभवति । त्रिवानकर्मणां सद्भावात् तद्यवस्क्षेदाय केवलादिशन्दः । श्रात्मज्ञानन्यतिरिक्तिं क्र्वितिति । सन्ति हि तत्तवयोगशास्त्रोक्तानि औपनिपदानि च देवतान्तर-चन्द्रस्यीदिमह-पाणेन्द्रियादिविषयाणि ज्ञानानि । तपश्चतिविषयाणि ज्ञानानि । तपश्चित्विषयाणि ज्ञानानिष्यानिष्यानम् ॥ १६ ॥

एवं सर्वसादाधिक्ये जीवात्मयोगिनः प्रतिपादिते, ततः परम(परः १)पुरुपार्थो नास्तीति श्रोता चरितार्थ-बुद्धिस्यादिति शङ्कमानो सूमविद्यायामिव स्वयमेव ततोऽप्यनिशयितपुरुषार्थसायकं तदिङ्गनं स्वविषय-मक्तिथोगं मध्यमष्ट्केन प्रतिपाद्यितुं स्वयमेव प्रस्तौतीत्याह **तदे**वमिति । उक्तैः प्रमाणतर्कैः उपपादित-प्रकारेणेत्यर्थः । सङ्गत्यर्थे प्रथमषट्कत्य मध्यमषट्कशेषत्वमाह **परिवद्याङ्गभृ**तनिति । तत्र प्रमाणद्योतनभ प्रजापतिवाक्योदितमिति। प्रागेवेदं प्रविवतम्। एतेन परिशुद्धप्रत्यगाःनदर्शनमालस्य परमयोगत्वादिकं वदन्तोऽन्तिमयुगवेदान्तिप्रभृतयो निरस्ताः । **परविद्याम्** । परां विद्यानित्यर्थः; 'अथ परा, यया तदक्षरमधि-गम्यते' (म. १. १. ५) इत्यादिवत् । यद्वा परमारमनो विद्यानित्यर्थः । प्रस्तौति शक्तावमात्नमिदम् ; भिष्रेत इति मन्वान आह **योगिना**मिति । पश्चम्यर्थे पष्टीति । संबन्धसानान्यषष्ट्याः संबन्धविरोषे विवक्षावशात् पर्यवसानमिति भावः । नन्वेवं किमर्थं परिक्रिस्यते । निर्धारणे पष्टचल संभवति । तथा हि पागुक्तेषु चतुर्षु योगेषु 'सर्वभृतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः' (३०) इति योगी कश्चिदुक्तः। अलापि श्रद्धावान् भजते यो मामिति स एव प्रत्यभिज्ञावते । अतस्तविर्धारणे(णेन) युक्ततमः इति प्रशंसाऽत कियते । युक्ततमः इत्यत्र प्रत्ययश्च निर्धारणार्थस्यमुचकः । तसालासौ पश्चम्यर्थे पष्टीति ; तल्लाह सर्वभृतस्थमिति। एतेन पूर्वस्रोके योगीत्येकवचननिर्देशेऽपि अत्र बहुवचनेनानुवादस्य विषयोऽपि दर्शितः । ततः किमित्यलाह तेष्वित । अयमभिप्रायः --परमात्मोपाभको हि योगी मध्यमध्यकेन वस्यते । तस्य च प्रस्तावोऽत्र क्रियते । न चासौ प्रागुक्तः । 'सर्वभृतस्थितं यो माम्' इत्यादेश्च साम्यानुसन्धान-विषयत्वं प्रागेव प्रतिपादितम् । ततो न तस्यात प्रत्यभिज्ञा । किंच 'आस्मोपम्येन' (३२) इति श्लोके अपि सर्वेषामिति सर्वशब्दिनिर्दिष्टास्तपस्त्रिप्मृतयः। तत्राप्युक्तेन न्यायेन पश्चम्यथों ग्रहीतन्यः। योगिभ्यः, अपि सर्वेभ्यो वश्यमाणो योगी युक्ततमः । तदपेक्षया अवस्त्वे तपस्ति-प्रमृतीनां योगिनां च न कश्चिडिशेष इत्यर्थः ; मेर्वपेक्षया सर्वपाणामिव । यद्यपि सर्वपेषु अन्योग्यन्युनाधिकभावो विद्यते-तथाऽपि मेर्वपेक्षया अवस्त्वनिर्देशः समानः। मित्प्रयत्वातिरे-

सर्वभृतिस्थाविकयोगिनोऽपि परतरो योगी प्रागुक्तः । ततश्च सर्वभृतस्थितम् इत्यादिनोक्तयोगिनोऽत्र सर्वसादाधिनयप्रतिपादने पूर्वेण विरोधः स्यात् । अतोऽत्र योगिनस्तेष्वन्यतमस्वायोगान्न निर्धारणे षष्ठीयम् । तदिद्मुक्तम् तैष्वनन्तर्गतन्वादिति । ननु पूर्वोक्तान् वक्ष्यमाणं च योगिनं सामान्येन संगृह्य तेप्वन्यतमस्य वक्ष्यमाणस्य निर्घारणं किं न स्थात् ॥ मैवम् : प्रतिपन्नेषु केषुचित प्रतिपन्न एव हि कश्चिन्निर्घार्यः, अन्यथाऽतिश्चयविधानार्थमनुवादायोगात् ; न च वश्यमाणो योगी श्रोतुरर्जुनस्य इतःप्रवै प्रतिपन्नः । इदमपि वक्ष्यमाणस्येति पदेन सूचितम् । अतः प्रागुक्तेभ्यो योगिभ्योऽधिकस्य वक्ष्यमाणस्य योगिनः प्रस्ताव एवायं भवितमहिति । ततश्च पञ्चम्यर्थन्वे विवक्षणीये न निर्धारणे षष्टी संभवतीति । योगिनामपि संवेषामिति सामानाधिकरण्येन योजनायाम् अपिशब्दस्य मन्दप्रयोजनत्वं स्यात्। योगिनां हि प्रशंसा तदा सूचिता स्थात् । सा च प्रागेव प्रतिपन्नत्वादल न सूचनमपेक्षते । समुद्रादिष विवुकोऽयमि<sup>1</sup>त्यादिव्यवहारेव्यिव विवरीतप्रतीतिश्च स्यात् । अपिशव्दस्य समुचयार्थत्वं प्रसिद्धिप्रकर्षवदः वापि संभवत अपरित्याज्यम् । योगिनामपीत्यनेनैव गतार्थत्वेन सर्वशब्दश्च नात्यन्तापेक्षितः । यदि च अपे: समुच्चयार्थत्वम् . सर्वशब्दस्य च समुचेतव्यार्थान्तरप्रत्वं संभवति, ततस्तदेवोपादातुमुचितम् । संभवन्ति चाल सर्वज्ञाङदार्थतया तपस्तिमभृतयः प्रसक्ताः । ते च न योगिज्ञाञ्देन संगृहीताः । सस्ये संभवति च तेन तल्लक्षणा न युक्ता। योगिभ्यो न्युनानामपि तेषासुपादानं दृष्टान्तार्थतयाऽत्यन्तोचितमेव। योगिनां तपस्वित्रभृतीनां च समुचयोऽवरत्वसाम्यप्रतिपादनौषयिकत्वादत्यन्तापेक्षितः । तदेतत् सर्वमिन-प्रयञ्चाह **अपि सर्वेष**।मिति । उक्तेन स्यायेनेति । प्रकरणबद्यात् तेष्यनन्तर्गतस्यादन्तर्भावयित्तमशक्य-वाचेति भावः । तपस्वयादिसंग्रहाभित्रायं वक्तं फल्तिमन्वयमाह थोगिस्य इति । युक्ततम इति । अधिक इत्यर्थः। यदा योगिनां तपिलपभृतीनां च यथास्त्रह्याययुक्तत्वात् तेभ्यस्त्वेभयोऽयमतिश्वितोपाय-यक्त इत्पर्धः । अथवा, योग्यतम इत्पर्धः । एतद विक्रमिपेत्य श्रेष्ठतम इति वक्ष्यति । योगिभ्योऽपि न्युनतमास्तपस्त्रिपसृतयः किमर्थमल संगृह्यन्त इत्यल दृष्टान्तार्थतां विशद्यति तदपेक्षयेति । लौकि-कोदाहरणेन द्रवयति मेर्वपेक्षयेति । नन्ववरत्वे न कश्चिद्विशेष इत्ययक्तम् : तथा सति तपस्वित्रभूतीनां योगिनां चात्यन्तसमस्वप्रसङ्गात् । अस्ति च विशेषो मेर्वपेक्षयाऽपि सर्वगाणां मात्रया न्य्रनाधिकभावेनावरः त्वावरतरत्वरूपः । तलाह यद्यपीति । नेदानीं मिथस्तारतम्यं निषिध्यते : किंत्र मिथस्तारतम्यवतामप्य त्यन्तातिश्रयितापेक्षया न्यूनत्वमालमविशिष्टम् ; तावतैव चावरत्वव्यवहारोऽप्यविशिष्टो जायत इति भावः । <sup>1</sup>मतिप्रयत्वातिरेकेणेति । अहं प्रियः शीतिविषयो यस्य स मत्प्रियः । तस्य भावस्तत्त्वं <sup>2</sup>भवस्य-

<sup>1</sup> तटाकादिवर्णने वा, अविपुळत्वविवक्षया वा एवं प्रयोगः। 2 महिएयकातिश्वितप्रीत्येखर्थः।

केण अनन्यधारणस्त्रभावतया मद्गतेन अन्तरात्मना मनसा, श्रद्धावान् अत्यर्धमत्प्रियरतेन ... श्वणमात्रविश्ठेपासहतया मत्त्राप्तिप्रवृत्तौ त्वसवाच् यो मां मजते-मां विचित्रानन्तमोग्य-भोक्तवर्गभोगोपकरणमोगस्थानपरिपूर्णनिखिलज्ञगदुदयविभवलयलीलम् , अस्पृष्टारोपदोषा-नवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजः।प्रमृत्यसङ्ख्येयक्त्याणगुणगणनिधिम्, स्नामिमतानु रूपैकरुपाचिनत्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरविश्वयोज्जवव्यक्षीनदर्यसीग्रन्थ्यसीक्रमार्थलावण्य-यौवनाद्यनन्तगुणनिधिदिव्यरूपम्, वाञ्चनसापरिच्छेद्यस्यस्यमावम्,अपारकाद्रण्यसौद्यीवय-बात्सरुयोदार्थमहोद्धिम् , अनालोचित्रविशेषारोषलोक्कारण्यम् , प्रणतार्तिहरम् , आश्रित-रेकेणेत्वर्थः । अनन्यधारणस्वभावतयेति । स्वाभिमतभोग्यमेव हि धारकमिति भावः । बाह्यन्द्रियशरी-राद्यपेक्षयाऽतः मनसोऽन्तरात्मशब्दवाच्यत्वम् । भक्तिकाष्टादशायां श्रद्धाशब्दस्येच्छादिमालविषयत्व-मनुचितमः अत इच्छाकार्यस्वराविषयतामः, इच्छायाश्चा स्वराहेतुं तीत्रद्यापितं दर्शयति अस्यर्थे-त्यादिना । भजनीयतया निर्दिष्टस्य श्रुनिसदृत्यादिशनैः, वङ्यमाणपट्कद्वयेन चोक्तान् उपासनीपयुक्ता-कारान् मामित्यनेन विवक्षितान् दर्शयति विचिन्नेत्यादिना आप्याययस्त्रनित्यन्तेन । ततापि बाड्यन-सापश्चिछेद्यस्य स्वभावित्यन्तानि परत्वौषयिकानि : इतः पराणि त सौलस्यौपयिकानीति विवेक: । तद्भयाभिधानं च अतिस्रहभस्य तृजादे:, अतिदर्छनस्य मेर्वादेधान्यतर्वैकर्येनान्पादेयस्यात् । कारणवावयस्थानां सद्रह्मात्मादिसामान्यशब्दानाम् अनन्यथासिद्धविशेषोषस्थापकनारायणपदार्थपर्यवसान-मभिष्रयन् . "जन्माद्यस्य यतः" (त्र. १. १. २) इति सुत्रनिरूपितार्थेन, "यतो वा इमानि" (तै. म.) इत्यादिवाक्येन प्रतिपादितं जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणो रुक्षणं दर्शयिव्यमाणजगरकारणस्वीश्वरूप्यादिवेभवे धन-झयसारथौ दर्शयति **विचित्ने**ति । कारणत्वमुखेन लीलाविभृतियोगः प्रतिपादितः : अथ कारणत्व-शक्तित्वोषवन्वगुणवैकल्यशङ्कानिवन्यर्थं शोधकवावयादिसिद्धसभयलिङ्गत्वं दर्शयति अस्प्रष्टेति । अस्प्रष्टा-शेषदोषेत्यस्य गुणविशेषणत्वे दोषसामानाधिकरण्याभावो विवक्षितः : गुणिथिशेषणत्वे दोषात्यन्ताभावः। अथ रामाश्रयापाक्रतविम्रहविशिष्टत्वपतिपादनसुरवेन दिच्याभरणायुषमहिषीपरिजनस्थानादियोगसुपरु-क्षयन नित्यविभृतियोगं सचयति स्वाभिमृतेति । एवसुभयविभृतियोगादुभयिकृत्वाच फलिते केवल-परत्वे बाड्यनसापरिच्छेद्यतया उपासनायोग्यत्वमपि सुचिवतं परत्वातिशयमाह बाड्यनसेति । स्वरूप-मीश्वरत्वादिकम् : आनन्दत्वादिकं वा । सभाव[ा]स्तु निरूपितस्वरूपविशेषकाः धर्माः । उक्तं परत्वमेव खरूपम् . वक्ष्यमाणं सौरुभ्यं तु स्वभाव इत्येके । अवतारसौरुभ्यहेतून् आह् अवारेत्यादिना । प्रत्येक-मेषां महोद्धिम् । "क्षियो वैश्यासाथा श्द्धाः" (गी. ९. ३२), "अनयं सर्वमूतेभ्यः" (रा. यू. १८. ३५), ''सर्वछोकशरण्याय'' (१७. २५), ''यदि वा रावणः खयम् '' (१८. ३६) इत्यादि-भिस्तिदं दर्शयति अनास्रोचितेति । विशेषाः जातिगुणवृत्तविशेषादिख्याः । उक्ताः कारुण्यादिगणाः एवंविधशरण्यत्वे हेतवः । **शरण्य**शब्देनाभिगमनीयत्वमुक्तम् ; तत्फलमूत्विरोधि**निरसव**शीख्तामाह प्रणतार्तिहर्गिति । सर्वसाधारणतया गुणान्तरेस्सह निर्दिष्टमपि वात्सस्यगुणं भयोऽपि विशेषसंबन्धान-

वात्सल्यैकजलियम् , अखिलमनुजनयनिषयतां गतम् , अजहत्स्वस्वभावम् , बसुदेवगृहेऽव-तीर्णम् , अनविषकातिश्चयतेजसा निखिलं जगत् भासयन्तम् , आत्मकान्त्या विश्वमाप्याय-यन्तम् , भजते सेवते , उपास्त इत्यर्थः—स मे युक्ततमो मतः—स सर्वेभ्यवश्रेष्ठतमः <sup>1</sup>इति

सम्बानाय, विशेषतोऽवतारेषु कार्यकरस्वज्ञापनाय, सापराधानामभीतये, ज्ञानादिरहितदशायामि स्वभ्नेष्य रक्षक इति प्रदर्शनाय, तस्प्रतिवन्धकभूतपरमास्मवैग्रुख्यनिष्टतये च प्रथगनुसम्बत्ते आश्रितवास्सहयेकजलिश्मिति । उक्तकारुण्यादिगुणगणफिलं पक्षतावतारस्यावतारान्तराह्नेल्क्षण्यमाह अस्तिलेति ।
"अजोऽपि सन् अव्ययास्मा" (४. ३) इत्यादिना पूर्वोक्तं सारयति अजहिति । अवतारिवशेषमाश्रितो हि मामित्याहेत्यभिप्रायेणाह बसुदेवेति । तेजःकान्तिरुपावतारिवग्रहगुणविशेषाभ्याम् अवतारदशायामेव परस्वसील्प्यव्यव्यक्षकाभ्याम् उपासकचिताकष्णमिभिषेत्याह अनविश्वकेति । अलापि भास्तरत्वं तेजः ; तत एवानिभननीयत्वमपि सिद्धम् । कान्तितस्तु रामणीयकम् , लावण्यापरपर्यायचन्द्रिकाकल्पा भमा वा । अत एव हि आप्याययन्तिमत्त्रस्त्रस्त्रम् । एतेन "विश्वमाप्याययन् कान्त्या" (सारव. सं. २. ७०) इत्यादिकं सारितम् । भजते इत्यस्य विवक्षितं व्यतुं धातुपाठपितसर्वे स्वापयति त्रपास इत्यर्थ इति । भक्तिरुपास्तिः" इति नैल्लुक्षमसिद्धिमाश्रित्य विवक्षिते श्रुतिप्रसिद्धं स्थापयति उपास इत्यर्थं इति । योगिनामिप सर्वेषामित्युक्तवर्गद्धं सङ्कल्य्य सर्वेभ्य इत्युक्तम् । मे मतः इत्यत्नासम्ल्ल्वा-

<sup>1</sup> इदमत्र बोध्यम्—यस्य शीतोष्णादितितिक्षा समदुःखसुस्रता, सोऽसृतत्वाय करणते (2-15) इति प्रथममुक्तम् । अतः कर्षवत्यमहाणपूर्वकासृतत्वरूपमहाफलोगायोगदेशो गीतया क्रियते । इयमेव समदुःखस्रमता 'पण् तेऽभिहिता सांख्ये' (2-39) इति सांख्यकपात्मोगदेशान्तत्तरं विस्तरेणोगदिष्टा । 'तुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मवन्धं प्रहास्वसि इति अस्याः बुद्धेः कर्म-संवारवन्वनिकृतव्यक्तमः।एवं बुद्ध्या युक्तो युद्धात्र युज्यस्वत्युक्तिसद्धस्य पतद्बुद्धियुक्तकर्मा-स्वार्व कर्वारव्यक्तिस्य स्वर्वस्य पतद्बुद्धियुक्तकर्मा-स्वार्व कर्वारव्यक्तिस्य स्वर्वस्य पतद्बुद्धियुक्तकर्मा-स्वार्व कर्वारव्यक्तिस्य स्वर्वस्य स्वर्यस्य स्वर्यस्यस्य स्वर्यस्य स्वर्यस्य स्वर्यस्य स्वर्यस्यस्यस्य स्वर्यस्यस्य स्

अथ तदिङ्ग किमिति विचारे, कर्व वा, आत्मज्ञानयोगो वा, अधिकारिमेदेनोभयं वा, कि वोभयिकछल्यमन्यदिति विवादस्यावसरो भवति। 'एवं बहुविधा यज्ञा वितताः ब्रह्मणो मुखे । कर्मजान् विद्धि तान् । एवं ब्रात्वा विभोक्ष्यसे' इत्युक्तवा कर्मण्यि ज्ञानांशं प्रस्तुत्य, 'सर्वं ज्ञान-एछंवेनेव वृद्धिनं संतरिष्यसि' इत्यादि(४)वदक्षि, (5) 'संन्यासः कर्मयोगश्च निद्देशसकरा-वुभी' इति प्रत्येकं द्वयोरिष निद्देशसकरावमुपक्षिपन् कर्म प्रशस्तिनत्याह । इदञ्च निद्देशयसं साक्षान्त्रोश्च एव वा, मन्यद्वा। आयो, तद्येनुत्वं ज्ञानकर्मणोः साक्षाद्वा कि वा पूर्वं समक्षय वृद्धिकशेषे अक्षिक्षस्तिनिद्देश इवावाषि सङ्के सिक्ष्परुक्तिदेश इत्येवं विचारः प्राप्नोति। तत्रेदं वक्तव्यम्—

# सर्वे सर्वदा यथावस्थितं स्वत एव साक्षात्कुर्वन् अहं मन्ये ॥ ४७ ॥ ॥ इति श्रीभगवदामानुजविरचिते श्रीमहीताभाष्ये पष्टोऽध्यायः॥ ६॥

भिषेतमाह सर्विमित्यादिना । अलापि ''यो वेति युगपत्सर्वम्'' (न्यायतस्य) इत्यादिकमनुसैहितम् ॥४०॥ ॥ इति कवितार्किकसिंहस्य ..... वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीमद्रीताभाष्यटीकायां तास्पर्यचन्द्रिकायां षष्टोऽष्यायः ॥ ६ ॥

उपनिषत्सु, 'नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' इति ज्ञानातिरिक्तोपायनिषेघात . 'अविद्यया मन्त्रं तीत्वा विद्याऽमृतमश्नुते', 'कपाये कर्मभिः पक्षे ततो झानं प्रवर्तते' इति कर्मणः झानाङ्गत्वस्यैव कथ-नात तद्विरोधेन ज्ञानकर्मणोर्द्वयोरपि प्रत्येकं साक्षान्मोक्षसाधनत्वं ज्ञानापेक्षया कर्मणो ज्यायस्त्वञ्च कथ्यमानं कथं घटताम। अतो नेदं साक्षारमोक्षविषयमिति अविरोध उपपादनीयो मवति। अविरोधोप-पादनञ्चेदम् उपनिषद्कोपासनविषयस्य अत्र योगविषयस्य च भिन्नत्व एव घटत इति औपनिषद-पुरुषभिन्नविषयकत्वस्थावद्यकत्वे सिद्धे, सिद्ध एव जीवब्रह्ममेदः। इदमेवोपपादनं सम्यगिति एत-द्योग्यपेक्षया (6) भगवद्योगिनि, 'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' (6) इति युक्ततम-खकथनात्, 'पुरुषः स परः पार्थ भक्तया लभ्यस्त्वनन्यया' इत्यादिवसनाञ्च गीताकण्ठोक्तवैव निश्चितम । एवञ्च ज्ञानकर्मफलेतया 'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय' इत्येवं मोक्षवचनं सर्वम् अङ्गे अङ्गिफलनिर्देश इति सुख एव निर्वाहः। एवमपि भाष्यकारैः यथासंभवमान्तरालिकफल-परतयैवानेकवाक्यनिर्वादः क्रियते. "गन्चछन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धृतकल्मषाः", "सुखमश्रय-मञ्जूते" इत्यादौ । अत्र ज्ञानकर्मसाक्षातु फलं जीवात्मानुभवः । स न केवलमेतच्छरीरस्थितावेवः 'सुखमक्षयमञ्जूते' (5.21), 'प्राक् शरीरविमोक्षणात्' (5.23) द्भयत शरीरमोक्षानन्तरमात्मा-नुभवो यतो भाषितः। अष्टमे च पृथक् कैवर्यं फलं स्पप्टमभाषि। पवञ्च हानेन कर्मणा वा आत्मा-नमवलोक्य, तदन्तर्वर्तिपरमात्मविषयकभक्तियोगो मोक्षाय साध्य इत्येतदर्थे गीताप्रवृत्तिः। तथाऽपि 'चतर्विधा भजन्ते माम' इति प्रसंगात फलान्तरकीर्तनवत् कैवरुयफलमण्यत्र कीर्त्यते।

तत्र कर्मानुतिष्ठतः, 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' रित खगतकर्तृत्वस्थौपिषकत्ववानं, मिय सर्वाणि कर्माणिसंत्यस्थित भगवद्धीनत्ववानञ्जान्यस्य प्रस्तिगुणा-धीनत्ववानमात्रेण जीवविषयक्योगमनुतिष्ठतः केवस्थेऽभिश्विमीवति । तिर्दे सांस्यपस्थानम् । बादावेव भगवित कर्तृत्वाचर्यणेन सर्वभनुतिष्ठतः अत्मानुभव रह जायमानोऽपि न कैवस्य प्रवर्तति, किंतु भक्तणनुनुनिष्ठतं भगविति विवेचनीयम् । इदमेव वैरुक्षण्यम्, "அற்றது பற்றேனில் உற்றது வீடுயிர், செற்றது மன்னுறில் அற்றிறை பற்றே" (திருவாய் 1. 2. 5) इत्यत्न विविश्वतम् । जीवात्मवानमात्रेण मोक्षारीभं स्वोपासनस्य पञ्चादावस्यकत्वञ्चात एव पदेपदे दर्शयत्यत्र भगवानिति सिद्धं प्रथमण्डकं न साक्षान्योशोपायपरिमत्यस्य वहना ॥

प्रथमाध्यायद्दलोकाः—47. द्वितीय—72. तृतीय—43. चतुर्थ—42. पञ्चम—29. पष्ट—47. इति श्रीमगवद्रीताप्रथमप्टकम्. 280 श्रोकाः ।

## श्रीभगवद्गीता

#### ॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

प्रथमेनाध्यायपट्केन-परमप्राप्यभृतस्य परस्य व्रक्षणो निरवदस्य निस्वित्रज्ञगरेक-कारणस्य सर्वज्ञस्य सर्वभृतस्य अत्यतङ्करयस्य महाविभृतेः श्रीमतो नारायणस्य प्राप्त्युपायभृतं तदुपासनं वक्तुं तदङ्गभृतम्-आत्मज्ञानप्रवेककर्भातुष्ठानसाध्यं प्राप्तुः प्रत्यगारमनो याथारस्य-दर्शनम्रक्तम् । इदानीं मध्यमेन पट्केन परव्रश्भृतपरमपुरुपखरूपं तदुपासनं च मक्ति-

षट्कसङ्गतिमाह प्रथमेनेति । परमेत्यादिना चतुःमित्यन्तेन द्वितीयषट्कार्थ उक्तः । ततःपरं प्रथमषट्कार्थः । प्रथमेनाध्यायषट्केनोक्तमित्यन्त्रयः । 'मामुपेत्य' (८. १६) इत्यादीनामर्थे दशियति परमग्राप्यभ्र नस्येति । तेन परिशुद्धजीवमाल्लव्यावर्तनम् । परमग्राप्यस्वे हेतः परब्रह्मस्वादिकम् । 'परं ब्रह्म परं धाम' (१०, १२) इत्यादिकं वस्यति । पुरुषोत्तमस्वप्रकरणादीनामर्थो निरवद्यस्वम् । एतेन अचिद्रता विकाराः चिद्रताः क्षेत्रादयध्य परिहृताः । 'अहं सर्वस्य प्रमवः' (१०.८) इत्यादेर्थमाह निरिवलेति । चिद्वचिद्वात्मकं सर्वे जगत् प्रति निमित्तोषाद्वानमूतस्येत्यर्थः । एवं परमप्राप्यस्येव कारण-त्वप्रतिपादनात् व्योगातीतमतं निरस्तम् । निमित्तोपादानत्वोपयुक्तं 'मत्तः परतरम् ' (७) इत्याद्यमिप्रेतं सर्वज्ञत्वादिकम्। **सर्वभृतस्य**। सर्वान्तर्यामितया सर्वशरीरकस्येत्यर्थः। 'सर्वै समाप्तोषि ततोऽसि सर्वः' (११. ४०) इति हि वक्ष्यति । 'भूमिराप:' (४) इत्यादिना विभूत्यध्यायादिना च वक्ष्यमाणं महाविभृतित्वं नारायणशब्दनिर्वजनमपि परमप्राप्यभृतसः ... महाविभृतेरित्यादिना सुचितम् । एतद्कं भवति-परस्वाभिरवद्यस्वात् पितृत्वात् हिनवेद्नात् । अन्तरात्मतया दोषप्रतिक्षेपश्चमस्वतः ॥ भोगलीलार्थनिस्सीमविभृतिद्वययोगतः। श्रीवत्वादप्युपास्त्रोऽयं प्राप्यो नारायणः परः ॥ इति । प्राप्तयपायभृतं तदुपासनमिति । परमारमोपासनमेव तस्त्रतुन्यायात् तस्प्राप्तयुपायः ; जीवज्ञानं कर्मानुष्ठानं च तन्निर्वर्तकस्वेन परम्परयोपाय इति भावः । अङ्गप्राप्तोर्वचनानन्तरम् अङ्गिप्राप्ययोः प्रति-पादनमिति सङ्गत्यभिपायेणाह इदानीमिति । पूर्वोक्तात्वरिशुद्धात्मनी व्यावृत्ति वश्यमाणवैभवसंप्रहं चाभिषे-त्याह परत्रहाभृतपरमपुरुषस्ररूपमिति । एतेन तत्त्वपरेषु सामान्यव्रह्मशब्दस्य विशेषे स्थितिर्देशिता । अथ मोक्षोपायपरेषु वेदान्तवानयेषु वेदनोपासनादिशव्दानां विशेषपर्थवसानमाह तद्पासनश्च भक्तिश्वद्वाच्यमिति । एवं वावयद्वयेन षट्कद्वयसंग्रह्रकोकावप्यर्थात् व्याख्यातौ । तथा हि— "ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगळक्ष्ये सुसंस्कृते । आत्मानुमूर्तिसद्धचर्थे पूर्वषट्केन चोदिते । मध्यमे भग-वत्तत्वयाथात्म्यावाप्तिसिद्धये । ज्ञानकर्गाभिनिवेत्यों भक्तियोगः प्रकीर्तितः" (सं २. ३) इति आत्म-जानपूर्वकेत्यनेन संसंस्कृतशब्दो व्याख्यातः । बुद्धिविशेषसंस्कृतत्वं हि प्रागेवोपपादितम् । योगलक्ष्ये **आत्मानुभृतिसिद्धचर्थे** इत्यत योगो विषयान्तरेभ्यश्चित्तवृत्तिनिरोधः : तज्जन्यसाक्षात्कारस्विहारमानुः भतिशब्दे नोच्यत इत्यभौनरुवत्यमित्यभिषायेण याथत्म्यदर्शनमित्युक्तम् । तत्त्वयाथात्म्यशब्द्विवर्णं प्रवृक्षभृतेत्यादि । तत्त्वशब्दोऽत खरूपपरः । याथारम्यं यथावस्थितः प्रकारः । भक्तेः कर्मानुष्ठान-

श्रव्दबाच्यम् चयते । <sup>1</sup>तदेतदुत्तस्त, "यतः प्रष्टृत्तिर्भृतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमस्यच्ये सिद्धिं विन्दति मानवः ॥" (१८. ४६) इत्यास्थ्य, "विमुच्य निर्ममञ्ज्ञान्तो प्रक्षभृयाय कल्पते । त्रक्षभृतः प्रसन्नात्मा न जोचित् न काङ्गति । समस्ववेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥" (५४) इति संक्षिप्य वस्यते ।

् उपासनं तु भिक्तिरूपायभिव परप्राप्तपुषायभृतिमिति वेदानताक्यसिद्धम् । "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति" (खे. ३. ८), "तमेवं विद्वानम्त इह भवित" (पु) इत्यादिना अभिहितं वेदनम्, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्याः...निदिष्याभितव्याः" (बृ. ६. ५. ६), "आत्मानमेव लोकषुपासीत" (३. ४. १५), "सत्त्वशुद्धी ध्रुवा स्मृतिः ; स्मृतिलस्मे सर्वप्रन्थिनेवां विप्रमोक्षाः" (छा. ७. २६. २), "भिद्यते हृदयप्रन्थिकिष्ट्यन्ते सर्वसंश्चाः । श्वीयन्ते चास्य कशीणि तिसन् हृष्टे परावरे" (ध्र. २. २. ८) त्यादिभिरैकाथ्यात् स्मृतिस्वन्तिक्षं दर्शनसमानाकारं घ्यानोपासत्त्वव्यवस्य मिल्यवसम्यते ।

साध्यात्मदर्शनहेतुकत्वम् अष्टादशे बक्ष्यत इत्याह तदेतिहि । नतु 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (श्वे. ३.८) इत्यादिवलात् वेदनमालेण मोक्षः प्रतीयते ; अस्तु वा 'उपाप्तीत' इति बलादुपासनरूपेण वेदनेन मोक्षः ; तथाऽपि न भक्त्या मोक्ष इति कचिद्रपि क्रुतम् । कर्मसमुच्यथ्य क्रुतिसद्धो दुस्त्यजः । परमपुरुषविषयस्यैवोपासनस्य मोक्षसाधनत्वनित्यपि दुवैचन् ; रुद्देन्द्राद्धुग्रासनस्यापि मोक्षसाधनत्वेनाथविष्ठारः प्रतदिनविद्यादिष्ठ क्रुतेरित्यादि आशक्ष्याऽऽइ उपागनं त्विचित्र । उपासनमेव, न तु ज्ञानमालमित्येका प्रतिज्ञा ; तलापि भक्तिरूप[पत्न]मेव, नोपासनमालिति द्विशीया ; एवंविष्ठमुपासनमेव, न तु कर्मसमु-चित्रमिति तृतीया ; तच्च परविषयमेवेति चर्ड्यौ । एषा तु तक्तनुत्रयायात् स्वता परप्राप्त्युपाप-भृतमिति । वेदान्तवाक्यसिद्धमिति । एतचतुष्टयमिति वेदान्तवाक्यसिद्धमिति । एतचतुष्टयमिति वेदान्तवाक्यस्य ह्रित्यन्ते । 'श्रोतत्यः सम्वय्यः (तृ. ६. ५.६) इत्येतवोम्तु रागप्राप्तप्रवणमननानुवादक्ष्यस्वात् तत्परित्यागेन 'द्रष्टव्यः निदिध्यासितस्यः' इति विध्येत्र उपातः । ध्यानोपासनद्यव्यस्यत्रेत्वर्यः पौन्तित्यानम् । 'द्रष्टव्यः निदिध्यासितस्यः' इत्यनयोभित्राधैद्वमसिद्धः, एकत्वावयस्यः पेरेन्द्रस्य पौन्तरस्यादिदोषाच दक्षने ध्यानं च प्रथवसर्वव्यस्थिने विद्वस्य त्योरित सामान्यविद्रेषक्षप्रत्येक्यमेवेति दक्षियित् स्मृतिमात्रं च प्रथवसर्वव्यस्यित्वस्य विद्वस्य विद्वस्य विद्वस्य स्वत्याद्वरेषस्वर्यः च प्रथमित्रयः च प्रथमित्रस्य विद्वस्य विद्वरेषम् विद्वरेषम् विद्वरेषम् विद्वरेषम् विद्वरेषम्ययेविद्वययोविद्ययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षययोक्षयान्यम् ।

एतदुक्तं भवति — समानशकरणपिठतिविद्योषे सामान्यशब्दानां पर्यवसानं न्यायसिद्धम् ; अतोऽत्र वेदनादिसामान्यशब्दानां ध्यानोपासनादिशब्दवाच्ये विद्योपे पर्यवसानमभ्युपेत्यम् । ध्यानं च तैरुघारावद-

<sup>1</sup> नतु उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमदृत्यसः, 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुस्तमञ्जते,' 'ततो याति परां गतिम्' इति परब्रह्मप्रितचोच्यतास् । अतः सप्तमादाचिष न तद्धिकोक्तिरि-त्याशकायाम् स्रष्टाइशाध्यायवाक्यशैळीं प्रदृश्यिष स्वोक्तार्थेकपरत्वं दर्शयित तदेतदिति ।

पुनश्च, "नायमात्मा प्रवचनेन लम्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृशुते तेन लम्यातस्येष आत्मा विवृशुने तन् श्वाम्" (क. २.२३) इति विशेषणात् परेणाऽऽत्मना वरणीयताहेतुभृतं सर्यमाण[विषयल] त्यां श्वियत्वेष स्वयमण्यत्येष प्रियक्षं (१) स्मृतिसन्तान-मेवोपासनश्चव्याच्यमिति हि (१) निश्चीयते । तदेव हि भक्तितित्युच्यते, "स्नोहपूर्वमनुष्यानं भक्तितित्यमिष्ययते" (लै. उ) हत्याविवचनात् । अतः "तमेवं विद्वानमृत इह भवति, नान्यः

विच्छित्रम्मृहिसःतिक्षिपिनि 'धुवः स्मृतिः' (छा. ७. २६. २) इत्यादिसिद्धम् । सा च धुवा स्मृतिः सर्वप्रश्चिवप्रमोक्षहेतुत्रया विहिता । दर्शनं च नद्धेतुत्तया विहितम् । न चेदसुपायद्वयम् ; गुरुरुषुतारतम्यात् फल्म्य चाविशिष्टर्त्वात् ल्रष्टो सिति नियमेन गुरोरपरिष्यहेणातुपायत्वप्रसङ्गत् । न च द्वारद्वारिमावः, एकस्मिन् वाक्ये विशिष्टैकविध्यसंभवे प्रथमिवे परिष्यहायोगात् । न च दर्शने स्मृतिशव्देनोपचारे किथ्यद् गुणः । अतो ध्रुवा स्मृतिरेव दर्शनशव्देन विशेषिता । स्मृतेश्च दर्शनरूप(समान)त्वं नाम विश्वदत्तत्तवा दर्शनसमानाकारत्वसेव । भवि च स्मृतेश्ववाप्रकर्षात् दर्शनसमानाकारत्वसेवः । मश्चि च प्रयाणिकाप्रवादिष्ठ । यथा "वृक्षेच्यत्वे च पर्यामि चीरक्कृत्याजिनाम्वरन् । गृदी धनुष रामं पाशहस्तिवान्तकम्" (रा. आ. १९. १४) इत्यादि । तथा "लीनेव प्रतिविध्वतिव" (मण्डती मा. ५) इत्यादि । एवं च स्मृतिदर्शनशव्दयीरैकार्थ्ये सिद्धे, 'द्रष्टव्यः निदिध्यासितस्यः' इत्यनवीरेकवाक्यस्थयोरिक समान्यविशेषरूपिकार्थ्ये मेवेि ।

अथ द्वितीयां प्रतिज्ञानुषा, द्वितुमाह पुनश्चेति । 'प्यतदुक्तं भवति—'नायमात्मा' इत्यादिना केवलश्रवणमनननिदिध्यासनिषेषः : अन्यन्तिषेषे त्वनेकप्रमाणविरोधात् । 'यमेवैषः' इत्यादिना[षि] वरणीयत्वहेतुभूतस्विक्तयान्वाधो गुणिद्दोषो विधीयते, ईश्वरस्वाच्छन्यमात्वाभिषाने वेषम्यनैद्ययादिदोष-प्रसङ्गात् ; शास्त्रानर्थवयाच । तथा मिद्धगुणाधियानेऽपि शास्त्रानर्थवयमेव, विधेयान्तराभावात् । स च वरणी-यताहेतुः साध्यो गुणो भक्तिरेव । प्रयत्म एव हि वरणीयो भवति । परमात्मविषयप्रीतिमानेव परमात्मवा वरणीयः, "प्रियो हि ज्ञानिनोऽन्यर्थमहं स च मम प्रियः" (१७) इति स्ववचनादिमित्तयाऽवगतेरिति ।

तस्याध्य प्रीतेः स्वयमि स्वादुतमत्वमुपायान्तरेष्वदृष्टपूर्वं दर्शयित **सर्पमाणे**त्यादिना । "या प्रीतिरिविवेकानाम्" हत्यारभ्य, "तेषु तेष्वच्युता मक्तिरच्युतास्तु सदा त्विय" (वि. पु. १.२०.१८), "क नाकप्रष्ठगमनं पुनराष्ट्रतिरुक्षणम् । क जपो वासुदेवेति मुक्तिवीजमनुक्तमम्" (वि. पु. २.६.२४) इत्यादिभिः भगवद्भक्तेः स्वादुतमत्वं सिद्धम् । स्मृतिः सन्तन्यते यक्षेति वा, स्मृतेः सन्तानो यक्षेति वा स्मृतिसन्तानशन्देन शक्ततं वेदनं विशेष्यते इति नपुंभकत्वोपपतिः । पुष्टिक्षत्वया वा पठितन्यम् । अस्त्वेवं, तथाऽपि भक्तेमीक्षोपायत्वं कथमित्यलाह तदेव हीति । महनीयविषये प्रीतिरेव हि भक्तिरिति मावः । तल प्रमाणमाह स्नोहित । महनीयविषये प्रीतिरेव हि भक्तिरिति मावः । तल प्रमाणमाह स्नोहित । महनीयविषये प्रीतिरेव हि भक्तिरिति भावः । तल प्रमाणमाह स्नोहित । महनीयविषये प्रीतिरेव हि भक्तिरिति भावः । तल् प्रमाणमानुस्यानस्यापि भक्तित्वयसङ्गात् । एवं भक्तिरुक्तयानम्युपगमे श्रुतिस्मृत्योः परस्परिविरोधः । अभ्युपगमे तदुपर्वृह्यीयत्वोपनृहृष्णस्वाभ्यां परस्परानुकूत्यमित्यमित्रायोणाह अत इति । वेदनशब्द

<sup>1</sup> अत्यर्थप्रियस्मृतिसंतानरूपमेवेति स्थितं स्थात्। 2 अत्र, प्रीतिरेव द्वीति पदं न स्थात्।

पन्था अयनाय विद्यते'' (पु), ''नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। अक्य एवंविघो द्रष्टुं दृष्टवानिस मां यथा॥ मक्त्या त्वनन्यया अक्य अहमेवंविघोऽर्जुन । झातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप'', (गी. ११. ५३, ५४) इत्यनयोरेकार्थत्वं सिद्धं मवति । ं

तत्र सप्तमे तावत् उपास्यभृतपरमपुरुष[स्वरूप]याथात्म्यं त्रकृत्या तत्तिरोधानं तिभृषुत्तये भगवत्त्रपत्तिः, उपासकृतिधामेदः, ज्ञानिनश्त्रैष्ठयं चोच्यते ॥ श्रीमगवाजुवाच—

मध्यासक्तमनाः पार्षं योगं युक्षन् मद्राक्षयः । म न्वायं समग्रं मां यथा श्रास्ति तच्लूणु ॥ १
मध्याभिष्ठाच्येन सक्तमनाः मित्रयस्वातिरेकेण मस्वक्रमोण गुणेश्वर्यं चेष्टितेन मित्रयस्वातिरेकेण मस्वक्रपोण गुणेश्वर्यं चेष्टितेन मित्रयस्वाविरेकेण मस्वक्रपोण गुणेश्वर्यं चेष्टितेन मित्रयस्वाविरेकेण मस्वक्रपो स्वायं च स्वायं च स्वायं विशीर्यमाण[स्वरूप] त्या मद्राश्रयः मदेकाधारः, मद्योगं युक्षन् निर्देष्टस्य सुक्रयुपायस्य भक्तिरूपस्वादित्वर्थः । परमगुरुपत्यतिरिक्तोणायनिषेधस्यस्वेन तज्ज्ञानव्यतिरिक्तो-पायनिषेधः श्रुतौ सिद्धः । तद्वक्तिव्यतिरिक्तोपायनिषेधः स्वतौ । तदेतन् भक्तिवेदनशब्दयोरैकार्थे हि घटते । अन्यथा तु सिथो व्याधात इति । एवं प्रतिज्ञाद्वयं कण्टोक्षस्योपपादितम् । अन्यत् प्रतिज्ञाद्वयं स्वयः स्थापितम् । तथा हि वेदनव्यतिरिक्तिनिषेधात् समुच्चयपश्चो निरस्तः । कर्मापेक्षणं स्वज्ञत्ययेति तक्तद्वावयार्थेनिरूपणेन सिद्धं भवति । वेताश्चतरपुरुपस्क्तवावययोरेकविषयत्ययोपादानात् सविशासागतपुरुपस्त्वावययोगस्व स्वर्याः स्वापितस्व स्वर्याः स्वर्या

तन्नेति । मध्यमषट्क इत्यर्थः । उपास्यभृतेत्यनेन प्रकृतसङ्गतिः सूचिता । उपास्यभूतः परमपुरुषो हि षष्ठाध्यायान्तिमस्रोके मामिति प्रसक्तः । एतेन, ''स्वयाथात्यं प्रकृत्याऽस्य तिरोधिः श्वरणागितः । भक्तमेदः प्रवृद्धस्य श्रेष्ठयं सप्तम उच्यते'' इति संग्रहस्रोकोऽपि न्यास्यातः ॥

अश्र भजनीयतया माम् इति प्रस्तुतं सात्मानं भजनिर्वृत्तये यथावस्थितमुपदिशामीति भगवानु-वाच मय्यासक्त इति । आसक्त इत्यत्नोपासनार्थमाभिमुरूवमुपसगिवविक्षतमित्याह आमिमुरूवमेति । तदेव सहेतुकं प्रश्चयति मित्रयरवेत्यादिना । अहं ग्रियः शीतिविषयो यस्य स मित्रयः; तस्य भावस्तत्त्वम् । यहा, मम शियत्वातिरेकेण मित्रयत्वातिरेकेणेत्यथः । मिह्रभृतिशब्देनात भगवद-साधारणपरिजनपरिवर्दभूषणादीनि गृह्यन्ते ; न तु विभृतिमात्रम् , कदाचिद्रपि तद्विश्वेषयोगात् । यहा, विभृतित्वेनाननुभवो विभृत्या विश्वेषः । स्वरूपादिभिरिपि हि विश्वेषो यथाभिरुपितानुभवाभाव एव । विश्वीयमाणस्वरूपतयेति । कार्याक्षमत्वव्यक्षणशैथिरुयेनत्यर्थः । तेन चाल मनो विशेष्यते । पौनस्वत्य-प्रसन्नं परिहर्त्तुं स्वयं चेत्युक्तम् ५ मदाश्रयः इत्यादाविवावधारणं विविक्षतमिति दशियति मदेकाधार इति । मदनुगवैक्षारक शहर्त्वाः । योगशब्देन योगोपकारकभजनीयतत्त्वविषयज्ञानमिहोच्यते ; न

<sup>1</sup> चकारः सत्र न स्यात् । 2 अनुभव एव घारको यस्येति बहुवीहिः मदाभय इत्यन्नेव ।

योक्तुं प्रश्चाः योगविषयभृतं मानसंश्वं निस्तंशयम्, समन्नं सक्तं यथा जास्ति येन ज्ञाने-नोक्तेन ज्ञास्त्रिति, तत् ज्ञानमवहितमनाः त्वं शृष्णु ॥ १ ॥

शानं तेऽहं सिक्कानम् इर् वस्ताम्य निकारः। यत् यास्य निक्क भूयोऽन्यत् ज्ञातःयमविशिष्यते॥ अहं ते महिष्यमिदं ज्ञानं विज्ञाने एहाश्चित्रो वस्त्यामि। विज्ञानम् विविक्ता-कार्यययं ज्ञानम् । यथाःहं मद्यिन्यकत्य प्रमत्ताःचदिच्चस्तुजातान्निस्विलहेयप्रस्यनीकतया नानाविधानवधिकातिश्चयांस्रव्येयकत्य ज्ञागणायाः नत्तमहाविभृतितया च विविक्तः, गतेन विविक्तविषयञ्चाने सह मत्त्वरूपविषयज्ञाने वस्त्यामि । कि वहुनाः यत् ज्ञानं ज्ञात्वा मिय पुनरन्यत् ज्ञातव्यं नावशिष्यते ॥ २ ॥ वस्त्यमाणस् ज्ञानस्य दृष्पापतामाह—

तु योगस्य साक्षादनुष्ठानमित्यभिमायेण युक्तन् इति श्वालभिनेतमाह योनतुं प्रवृत्त इति । प्रारच्यापरि-समाप्तरूपर्वतमाने प्रारम्भोऽत्व विविक्षित इति भावः । योगारपृविमेव तत्त्रयतो ज्ञातव्यस्वार्थम् योग-विषयभूतमित्युक्तम् । असंश्रयं त्मप्रम् इत्युभयं किथानिशेषणम् । समग्रशब्दो निस्तंशयस्वाय सर्व-प्रकारविशिष्टस्थर इति वशिश्विन् उद्यक्तप्यम् । विशेषवर्शनेन हि संशयनिष्टतिः । तष्ट्रष्ठणु इति प्रतिनिर्देशवशादुत्तरक्षोकारोचनया उक्तिश्रयत्यगेरेकविष्यस्वसिद्धेश्वात यथेतिशब्दो ज्ञानपर इत्यिम-प्रायेण येन ज्ञानेनोक्तेन ज्ञास्यानिस्यक्तम् । उक्तेन वक्ष्यमाणवावयमित्यार्थाः । श्रूयमाणविषय-स्यादृष्टवर्तवाच्छोतुरवधानकरणं प्रथमक्षोकप्रशेजनिति दशियति अवहित्मना इति ॥ १ ॥

तच्छृणु (१) इत्युक्तमर्थं पुनस्सावधानत्वातिश्वयसंपादनाय अहमि सर्वज्ञस्विशक्तिकविश्वयमीति वदन् असंग्रंथं समग्रम् इत्युक्तमर्थं किञ्चिद्विश्वयति ज्ञानं तेऽहम् इति स्टोकेन १ ज्ञानविज्ञानशब्दयोः पोनस्क्त्वच्युदासाय उपसर्गसिति । अत्र ज्ञानविज्ञानशब्दारा तज्ञनकवावयवस्था । अतिव्यत्वक्तव्यत्वः वा तज्ञनकवावयद्वारा तज्ञपन्वति । अत्र व्यत्वार्थः ज्ञानविज्ञानशब्दार्थः तज्ञपन्वति । अते श्वारः । इत्यत्वक्तव्यत्वः वा तज्ञपन्ववावयद्वारा तज्ञपन्वति । व्यत्वः । अते श्वारः । अत्र व्यत्वः । अतः स्वत्यति । व्यत्वः । अतः स्वत्यति प्रयत्वः परोक्तं प्रयक्तम् । अर्थस्थितिवरिज्ञानं स्वत् 'यञ्जान्वा' इत्यादिन।ऽपि च्यप्यति । अतः स्वत्यिनस्थननिष्यत्वः च्यय्यमणं विविक्तत्वं दर्शयति प्रयाऽहमिति । नानिधानविक्वाविश्वयासंस्वयेवकस्याणगुणगणश्च अनस्ति सह्यमाणं विविक्तत्वं दर्शयति प्रयाऽहमिति । नानिधानविक्वाविश्वयासंस्वयेवकस्याणगुणगणश्च अनस्ति महाविमृतिश्चेति प्रथन्वहुत्रीही । 'ज्ञानं तु विज्ञानगुणोप्यत्वं (गुणानुयुक्तं) कर्माग्रुमं पश्यति वर्जनीयम् " (मा. मो. १९९. १८) इत्यतापि विज्ञानशब्दनैतदे विवक्षितम् । अतिश्चितविषयज्ञानस्यान्यानादर्यः हेतुत्वात् । अश्चेपतः इत्यत्वार्थे विवरणं ज्ञानपश्चात्वः चोत्रार्थः व्यास्यार्थे मियं पुनरिति । अवश्यज्ञात्वयत्वाकारम्वानारस्यानार्यः स्वत्यार्थे मियं पुनरिति । अवश्यज्ञात्वयत्वाकारम्वानारस्यानार्वः स्वयस्यार्थे मियं पुनरिति । अवश्यज्ञात्वय्वात्वव्यस्वाकार्यात्वावः विवर्णं क्रान्यस्थाकार्यावाद्वरिष्टमिहोपदिज्ञानीरसुक्तं भवति ॥ २ ॥ पुनरपि प्रकारतरेला प्रशेसा क्रियत इत्यनियायेणाह वक्ष्यमाणस्येति । सन्वत्ययव्यदेऽञ्च

l तेनविविक्तिः ; तथा विविक्तेस्ययेः । तच्छन्यः प्रकारवाची । 2 १ई शक्यार्थामि-प्रार्थेण । न त शानपदस्य वाक्ये शानव्येऽर्थे वा स्वक्षणापक्षे । अतो यहेति स्यात् ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतित सिद्धये। यतितामिष सिद्धानां कश्चित्मां बेचि तस्वतः॥ ३ मनुष्याः श्राह्माधिकारयोग्याः । तेषां सहस्रेषु कश्चिदेव सिद्धिपर्यन्तं यतते । ¹सिद्धिपर्यन्तं ¹यतमानानां सहस्रेषु कश्चिदेव मां विदित्वा मनस्सिद्धये यतते । मद्भिदां सहस्रेषु कश्चिदेव तत्त्वतः यथावस्थितं मां वेचि । न कश्चिदित्यिभिन्नायः ; ''स महात्मा सुदुर्छभः'' (१९), ''मां तु वेद न कश्चन'' (२६) इति हि वक्ष्यते ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः सं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीय मे मिन्ना प्रकृतिरष्ट्या ॥ अ अस्य विचित्रानन्तभोग्यभोगोपकरणभोगस्थानरूपेणावस्थितस्य जगतः प्रकृतिरियं

जातिविशेषाभिप्रायः, देवादीनामप्यिषकारस्य शारीरके समिवितवात् । अतः सिद्ध्यर्थयतनयोग्यमात्राभिप्राय इति दर्शयति शास्त्राधिकारयोग्या इति । सिद्ध्यर्थयतनमात्रं प्रायेण सर्वसाधारणम् ,
अतः सिद्धये इत्यस्य कश्चिदित्युक्तविशेषान्ययाय सिद्धिपर्यन्तिमित्युक्तम् । 'मां वेषी'रयुक्तवेदनस्य तदः
धीनसिद्धिपर्यन्तयतनार्थस्य यततामिप सिद्धानामित्यनुवादेनामिन्नेतिमित्याह मां विदित्वा मचिन्सद्वये यतत इति । प्राप्यस्थैव प्रापकत्वादिकमिह तन्त्वम् । 'तत्त्वतः' इति विशिष्टं वेदनं सामान्यतोऽपि वेदनमात्रे सत्येव हि भवति ; अतो यततामिप सिद्धानां कथिनमां वेति ; मद्धिद्यु कथिन्यां तत्त्वतो वेतीति वावयद्वयं विवश्चितिस्यिमप्रायेण सिद्धिपर्यन्तं यतमानानामित्यादिवावयमेदः ।
'कश्चिन्मां वेती'त्यत्व कश्चिदेव वेति, न द्वाविति विवश्चा विवश्चमाप्याविकदर्शनावयुक्ता ; कश्चिद्वरेयवेति विवश्चा चात्र निर्थका ; दौर्ङम्यवचनिषरुद्धा च । अतोऽर्थस्यमावात वश्यमाणसंवादाच फर्टितं
दर्रकमस्वाभिष्यायं दर्शयति न कश्चिदिति ॥ ३ ॥

अथ भूमिरित्यादिना न त्वहं तेषु ते मयीत्यन्तेन स्वयाथात्यसुपदिश्यते। तत यथमं कार्यकारण-रूपाचिद्विल्यणत्वं तच्छेपित्वादिसुलेन दर्शयति। सून्यादीनां प्रकृतिकार्याणामत्र प्रकृतित्वेन उच्यमान-त्वात् व्यष्टिसुष्ट्यपेक्षया प्रकृतित्विमिह विवक्षितमित्यिमपायेणाह अस्येति। <sup>अ</sup>केचिदाषुः 'अष्टौ प्रकृतयः' (गर्भो.) इति श्रुतेरिह भूम्यादिशब्दैस्तन्मालाणि गृद्यन्ते ; मनश्शब्देन मनसः कारणभृतोऽहंकारः ; अहं-काश्शब्देन त्वहंकारवासनास्पदमध्यकं मूल्कारणिनिति। एवं समस्तपदसुक्यार्थभङ्गक्केशात् व्यष्ट्यपेक्षया

सिद्धेः पारलौकिकफलं रूपत्वे अत्रत्यतादशायां सिद्धत्वायोगात एवमर्थ उक्तः ।

<sup>2</sup> ननु सहस्रेषु कश्चिदित्युक्ती लक्ष्मेषु वहवो यतमानाः स्युरेव। किञ्च व्यासमीप्माधने-कसङ्गावे यदि, कश्चिदित्ययुक्तम्, तदा न कश्चिदित सुतरामयुक्तमिति चेत्, उच्वते। 'नक-श्चिदित्यिक्तमायः' इति भाष्यं प्रकृतस्य कश्चिदिति वाक्यस्य, 'वेदन कश्च न' इति वक्ष्यमाणवाक्ष्यस्य च समानार्थकःवद्शिं। सहस्रेषु इति वहुत्रचनेन कित सहस्राणि गृह्यन्ते, यदि यावन्ति, संभवन्ति तावन्ति, तदा तत्रैक एवेत्ययुक्तम्। अनेकसङ्गावात्। अथ प्रतिसहस्रत्रययेक इत्यर्थः नैवम्; तथा नियमे प्रमाणाभावात्। यथा एकत्र सहस्रत्ये एको लम्पते, तथा अन्यम सहस्रत्रयं एकोपि न लंभ्येतापि। तत् नकश्चनेत्युक्तम्। कचित् हिला अपि लभ्येत्न् । अतः किम् कश्चिद्गीति वौर्कभ्ये तात्पर्यमिति। 3 शांकरव्याक्यायामनिमार्ति दर्शयित केचिदिति।

गन्यादिगुणकपृथिन्यप्तेजोवः व्याकाशादिरूपेण मनः प्रमृतीन्द्रियरूपेण महदहं काररूपेण चाष्ट्या मित्रा मदीयेति विद्धि ॥ ४ ॥

अर्थयिनस्वन्यां प्रकृति विद्धि न पराम् । जोत्रभूनां महावाही ययेदं धायैते जगत्॥ ५ इयं ममापरा प्रकृतिः ; इतस्वन्याम् इतोऽचेतनायाश्चेतनभोग्यभूतायाः प्रकृतेर्जिस-जातीयाकारां जीवभूतां परां तस्याः भोक्तृत्वेन प्रधानभृतां चेतनस्वां मदीयां प्रकृति विद्धि ; ययेदम् अचेतनं कृत्सं जगत् धायेते ॥ ५ ॥

पनद्योनीनि भृतानि सर्वोणीरयुपघारय । अहं क्रास्त्रस्य जगतः प्रभवः प्रख्यस्तथा ॥ ६ एतचेतनाचेतनसमष्टिरूपमदीयप्रकृतिद्वययोनीनि त्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि उद्यावच-

प्रकृतिस्वं वर्गिति भावः । यद्वा प्रकृतिशब्देन म्लथ्कितिरेवोच्यते । द्रव्यैवयात् सैवाष्ट्वाऽवस्थितेस्युच्यते ; एषा हि पूर्वमेका पश्चादष्टथा परिणता ॥ अत स्वोपदेशप्रवृत्तस्य प्रकृतेरष्टविधस्वाद्युपदेशो न सक्तः ; न च सकीयस्वात् तस्सक्रिः. तथारवेनेतः पागनुपदिष्टखात् । अतः प्रत्यक्षादिसिद्धपृथिन्याचाकारपरिणता प्रकृतिरिहान्द्यते ; स्वस्य तिद्वलक्षणस्वतच्छेषित्वतित्रयामकस्वादिसिद्धचर्थे मे हित तस्यास्सकीयस्यं विधीयत इत्यमिष्रायेणोक्तम् मदीयेति । विद्वीति पृथिव्यादीनामितरेतरवेषम्यार्थे भोग्यत्वसिध्यर्थम् , अनुकानां तन्मात्राणां कार्यविशेषपदर्शनार्थे च मन्धादिगुणकेस्युक्तम् । एतेन मृतोक्तिस्तमात्रोपल्क्षणार्थेत्वपि दर्शितम् । तदिमप्रायेण आकाशादीत्यादिशब्दोऽपि पत्र्यते । तन्मात्राणां मृतानामप्यनतिथिपकर्षणार्थेत्वपि दर्शितम् । तदिमप्रायेण आकाशादीत्यादिशब्दोऽपि पत्र्यते । तन्मात्राणां मृतानामप्यनतिथिपकर्षणार्थेत्वपि संस्थानिवेशः । मनश्चित्वः करणभूतेन्द्रियवर्षाण्यस्यणार्थे इति दर्शियतुम् मनःप्रमृतीन्द्रियरूपेणेत्युक्तम् । बुद्धचृदंकारशब्द्योरत्व ज्ञान-गर्वाद्यर्थोन्तरश्रमब्युदासाय तत्त्विरोष्पर्वविषयस्य ज्ञापयिति महद्वह्वाररूपेणेति । एवं समिष्टव्यप्टितत्त्वमित्रव्यक्तम् [भवति] । अत्र संबन्धसामान्यविहिताऽपि पष्टी स्वसामिलक्षणसंवन्धविशेषपर्यविसता ॥ १ ॥

एवमचिद्विरुक्षणत्वं प्रतिपादितस्; अथ तथाभृताज्ञीवादिषि विरुक्षणत्वं प्रतिपाद्यते, अपरेय-मिति स्रोकेन । अपरा अनुक्कष्टा अप्रधानभृतेत्यर्थः । तुश्चव्दोऽत्यन्तवैरुक्षण्यपरः । इतः परामित्येता-वतैव स्वरूपमेदे सुवचेऽप्यन्यशक्दो वैजात्यहढीकरणार्थ इत्यमिप्रायेण अचेतनाया इत्यदिक्षुक्तम् । 'भोक्ता भोग्यम्' (क्षे. १. १२) इत्यादिश्वत्यनुसारेण भोक्तृत्वभोग्यत्वाभ्यां परत्वापरत्वे दर्शिते । इदं जगदिति प्रमाणसिद्धनिर्देशासङ्कोचात् कुन्स्निमित्युक्तम् । तल इद्मिति पराक्त्वनिर्देशेन स्वितमचेत-नत्वम् । इदं च धारणं र्यज्ञागरादिषु सङ्कष्पत इति प्रत्यक्षादिसिद्धम् ; अन्यदाऽपि सहस्ततो घारणमिति ॥

एवं समिष्टदशोक्ता ; एतद्योनीनीत्यर्धेन तु व्यष्टिरुच्यते ; अहं क्रत्स्नस्येति तु समिष्टिव्यष्ट्योः सङ्गिलतयोः कार्यस्वादिकथनम् । सर्वाणि भृतानीति चिदिनमयकार्यनिर्देशात् एतच्छब्दः प्रस्तुत-प्रकारप्रकृतिपुरुषपरामशीं ; न तु प्रकृतिमात्रपर इति दर्शयति एतचेतनेत्यादिना । एतेन सरूपतो

यथेयं प्रकृतिर्धायंत इत्यनुकृत्वा इदं जगदित्युक्तया व्यष्टिदशायामेव धार्यस्वमभिमतम् । तद्नुरुष्याद्व जागरेति ।

भावेनाविष्यतानि चिद्विन्मिश्राणि मदीयानि सर्वाणि भृतानीत्पृषधास्य । सदीयप्रकृतिद्वययोनीनि हि तानि मदीयान्येव । तथा प्रकृतिद्वययोगित्त्वेन कृत्स्नस्य जगतः, तयोद्वयोगि
मद्योनित्वेन मदीयत्वेन च, कृत्स्नस्य जगतः अद्वमेव अभवोऽद्वमेव च प्रलयोऽद्वमेव च
शेवीत्युपधास्य । श्वयोगि(१) चिद्चित्त्समिष्टिश्वयोः प्रकृतिपुरु योगि परमपुरु पयोनित्वं
श्रुतिस्मृतिसिद्धम् । "महानव्यक्ते लीयते । अभ्यक्तमञ्चरे लीयते । अञ्चरं तमसि लीयते ।
तमः परे देव एकीमवितः" (सु. २), "विष्णोस्स्वरू वात्यस्योदिते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च
विष्र" (वि. १. २. २४), "प्रकृतियां मयाऽऽक्यानः व्यक्तःव्यक्तस्वरूपिणी । पुरुषश्चाय्यभावेती लीयते परमात्मि । परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्चरः । विष्णुनामा स वेदेष

निर्विकारस्यापि चेतनस्य देवादिशरीरेन्द्रियतद्यीनज्ञानिकयानीगः विविशिष्टवेषा वेष्यया तत्पूर्वाचित्करूपा-वस्थस्य प्रकृतित्वमुपपन्नमिति सूचितम् । व्याख्येये मदीयानीत्येतत्र दृश्यने : तत् कथमत् निर्दिश्यत इत्यलाह मदीयप्रकृतिद्वययोनीनि हीति । इतिशब्दापयोगेऽपि वात्र सर्विपद्वौ. इतिशब्द: स्वकीयत्व-परामर्शार्थे इति भावः । भगवद्भिपायस्थवचनरूपत्वादल मदीयशब्दोक्तिः । तथेत्यस्य तथासतीत्पर्थः । तस्यैव विवरणम् प्रकृतिद्वयेत्यादि । पूर्वोक्तरोषित्वादिसमुचयार्थो वा तथाशब्दः । प्रमवप्रलयशब्दौ अत्रोत्पत्तिरुयस्थानपरौ । नन् 'अजामेकाम्' (श्वे. ४. ५), 'नित्यो नित्यानाम्' (क. ५. १२), 'प्रकृति परुषं चैव विद्धयनादी उभाविष' (गी १३. १९) इत्यादिपु सत्तु कार्वविषयक्टत्वशब्देन प्रकृतिद्वय-स्यापि संप्रहः कथमवगम्यत इत्यताह चिद्वचित्समष्टीति । अञ्चितपुरुषयोः परमात्मनि प्रस्यश्रुतिवस्रात् तयोक्तस्मादत्विरिप श्रतिसिद्धैव स्वादित्यभिष्ठायेणोपादत्ते महानिति । प्रकृतिपुरुपयोः परमात्मिन लयो नाम क्षीरे नीरस्येव विभागानईसंस्थेषविशेषः । तेन द्रव्यखन्षपस्य नित्यत्वात् अजामित्यादेरविरोधः । उक्तार्थे स्मृतिमुदाहरति विष्णोरिति । परतोदिते । परत उदिते इत्यर्थः । आर्थः सन्धिभेदः । यदा. स्मृतिरपीयं प्रख्यपरैव, तत्प्रकरणस्थत्वात् । दो अवखण्डने इत्यत्न दिते इति <sup>4</sup>निष्ठान्तं पदम् : पृथग्मृते इत्यर्थः । तेन प्रलयदशायामपि प्रधानपुरुषेश्वराणां मिथः खरूपभेदोऽस्तयेवेत्यक्तं भवति । अदिते इति वा पदच्छेदः । अप्रथम्ते इत्यर्थः : तेन विभाग।नर्हः संक्षेपविशेष उक्तो भवति : प्रख्यप्रकरणस्थरवात : अलापि पूर्वोत्तरोपादीयमानश्रतिस्पृतिसमानार्थत्वाभिप्रायाच । स्वाभिमतार्थे स्फुटार्थे वचनसुदाहरति प्रकृतिरिति ॥ ६ ॥

उत्तरार्धमण्युक्तवा पश्चात् सङ्देष इत्युपधारयेति घटनसंभवेऽपि वैश्वार्ये पृयगुक्तिः।
 उत्तरार्धे तद्वतरङ्क्षोक इव उपधारयेत्येतदनन्वयसंभवेऽपि पूर्वोत्तरार्थविषयेक्यात् तदुक्तिः।

<sup>2</sup> तयोरिति पदं न स्यात्, अनपेक्षितत्वात् ; चित्रकायां तद्विद्वाय प्रतीकघारणाध । तदा तयोरितीत्येव द्वि स्यात् । 3 विशिष्टवेशपेक्षया—विशिष्टस्वरूपं प्रति । 4 कक्कवत् प्रत्ययौ निष्ठेत्युच्येते ।

वेदान्तेषु च गीयते ॥" (चि. ६. ४. ३०, ३१) इत्यादिका हि श्रुतिसमृतयः ॥ ६ ॥
मक्तः परनरं नान्यत् किञ्चित्रस्ति धनञ्जय ।

यथा सर्वकारणस्मापि प्रकृतिद्वयस्य कारणत्वेन, सर्वाचेतनवस्तुशेषिणश्चेतनस्मापि श्वेषित्वेन कारणतया शेषितया चाहं परतरः—रथा झानशक्तिवलादिगुणयोगेन चाहमैव परतरः । मनोऽन्यत् मद्यतिरिक्तं झानवलादिगुणान्तस्योगि किचिदपि परतरं नास्ति ॥

मधि नवीमेर्द शोतं श्रुचे मिलगणा हव ॥ (7)

सर्विमिदं चिद्विद्दस्तुजातं कार्यावस्थं कारणवास्थं च मच्छरीरभृतं सूत्रे मणिगणवत् आतमतयाऽविद्यते मिय वोतम् आश्रितम् । 'यस्य पृथिवी श्वरीस्तृ' (वृ. ५. ७. ३), 'यस्यात्मा श्वरीरम्' (वृ. ५. ७. २२), 'एष सर्वभृतान्तरात्माऽपहतपाष्मा दिव्यो देव एको नारायणाः' (सु. ७) इति, आत्मश्रीरमावेनावस्थानं च जगद्त्रक्षणोरन्तर्यामित्राक्षणादिषु सिद्धम् ॥ ७ ॥

मत्तः परतर्रामत्यत पूर्वोक्तस्यैवार्थस्य व्यितिरेकेण दृढीकरणमात्तपरस्य मन्दपयोजनस्यम् ; अहं परतर इत्येवंरूपेण पूर्वमनुक्तंश्य तद्यतिरेकिनियंधोऽपि नातीयोचितः । अतोऽनुपिद्दष्टापूर्वार्थपरस्यमेव शब्दस्य संभवत् अपरित्याज्यमित्यभिपायेणाह् यथेति । पूर्वश्चोक्तस्यत्याशब्दोऽत्वानुपक्तः । ततश्चानन्तमहा-विमृतियोगोऽनन्तगुणयोगे दृष्टान्तित इत्यमिपायेणाह् तथा ज्ञानशक्तीति । श्वेपित्वेनेत्यन्तमर्थास्तित्रपद्यंतम् , कारणतया शेषितया चेति परतरस्वपकारकथनित्यपुनरुक्तः । नन्वहमेवेत्यवधारणम्श्वयम् , स्वसात्परतरनियंधेऽपि समनिषंधाप्रतीतीरत्यत्वाह भत्तोऽन्यत्य मद्यतिकिमिति। अयमिपायाः मत्तः इति पद्यमी न परतरमित्यनेनान्तिता। तथा सति अन्यश्चानन्वयपसङ्गात् । अतो मत्तोऽन्यत्परतरं नास्तीत्यन्वये अहमेव परतर इति फल्टितम् ; ततश्च समाभ्यधिकदरिद्वत्वसुक्तं भवति इति । ज्ञान-वलादिगुणान्तरयोगि किंचिदपीत्यनेन ब्रव्वशानादयोऽधिकारिणः परिशुद्धात्मानश्च कोडीकृताः । एवं भूमिरापः (४) इत्यादिना निरपेक्षपक्वतिपरिणामवादः, केवल्वेतनसन्निधिमात्वरिणामित्वम् , प्रकृतिपुरुषयोरिश्वरं पति अशेपत्ववादश्च निरस्तः । मत्तः परतरमित्यनेन तु तिमृत्येवय-साम्योत्तीर्णेन्वयन्त्यन्वविक्षराः पतिक्षिपाः ॥

अथ पूर्वोक्तसर्वोपादानत्वमसक्तसविकारत्वपरिहारार्थे पृथविसद्धमक्रतिपुरुषादिवादिनरासार्थे च सर्वाधारत्वमुखेन सर्ववरिरित्वमुच्यते मयीत्यर्भेन । सर्विद्वद्वित्तत्वन सर्वावस्थानम्त्विद्विद्वस्तुसम्ह इत्यमिश्रावेणोक्तं चिद्विद्वस्तुजातमित्यादि । स्वन्नमणिगणदृष्टान्तसामध्यात् , प्रोत्तमित्यनेन चानुमवेद्यान्त्रयाश्रयिभावमतीतेः शरीरलक्षणमपि स्चितमित्यिभिभायेण मच्छरीरभृतमित्यादिकमुक्तम् । एकस्यैव सर्वाधारत्वमनुष्रविष्टस्य गृहत्वमाध्यमृत्तमक्रत्याद्यधीनस्थितिविष्टस्य स्वहृष्टान्तसिद्धः । प्रोत्शब्देन स्वत्तव् वहिन्यीत्वयम्वप्रवित्वस्याद्य आश्रितमिति । अत्र स्ववाद्योपनिषद्वावयोपादानमन्तर्यामिणो नारायणस्वव्यवत्त्यर्थमन्तर्यिमिन्नाक्षणानुकतत्त्वान्तरसंमहार्थे च ॥ ७ ॥

अतः सर्वस परमपुरुषश्चितात्मभृतपरमपुरुषप्रकारन्वात् सर्वप्रकारः परमपुरुष एवावस्थित इति सर्वेदशन्दैस्तस्यैवाभिघानमिति <sup>1</sup>तत्तत् सामानाधिकरण्येनाह—

रसोऽहमन्सु कौरतेय प्रभाऽसि श्रीश्ययोः । प्रणास्त्रवेदेवेषु शर्ः से पौरुपं नृषु ॥ ८ ४ पुण्यो गन्धः पृथ्वियां च तेजस्यक्ति विभाव ते । जीवने गर्धभृतेषु तरदशस्मि त निम्बु ॥ ९ ४ वीज मां अवभूतानां विद्धि पार्व सनावतर । युविवृद्धि नामिस नेजस्वास्थिनामहस् ॥ १० विद्यं विद्यासार्वे कामराग विद्यालित । स्वर्शवास्त्रा भेषु कामोऽस्थि भारत्वेभ ॥ ११

एवं भूमिराप: (४) इत्यादिना भेदश्रुत्वर्थः उपटृतितः । भ्राय सर्वम् (०) इति तु घटकश्रूत्यर्थः । अथ तदुभयनिर्वाहिताभेदश्रुत्यर्थोऽबृष्णं क्रियत इत्यभिप्रायेणाह अत इति । केचित "मयि सर्वमिदमित्यस्य <sup>श्र</sup>रसादिधमीविशिष्टे मयि घोतम्त्विर्थः, इहिन्दणं रसोऽहमित्यादि" इति व्याचस्यः तत्वरिहारायाह सर्वस्य परमपुरुपश्ररीरत्वेन् । परोक्ते त्वाधाराधेयमाववैषरीत्यादिदोष इति भावः । प्रकारवाचिशव्दानां प्रकारिणि पर्यवसानस्याभाग्यं जातिगुणादिश्वदेष्यपि सामान्यतः सिद्धामितं दर्शयित् <sup>3</sup>प्रकारत्वोपादानम् । अभिधःनं सुरूपवृत्तदा बोधनम् । यद्यपि रसादिशब्दा लोके निष्कर्षकाः प्रयुज्यन्ते : व्यथिकरणतया चालावादिद्रव्योपादानम्--तथाऽपि रसादीनां प्रमात्मश्रीरमृनदृःयप्रकारत्वेन परमात्मनः प्रकारित्वात रसादिशब्दानां चाल तत्समानाधिकरणतया प्रयोगात् तल निष्कर्षकत्वं नास्ती-त्यभ्यपगन्तव्यम् । [अलोद्रव्योपादानं व तलतल द्रव्ये प्रधानमृत्रसगन्धादिमकारिभूनोऽहमिति ज्ञाप-नार्थम् । द्रव्यप्रकाराणां च तत्प्रकारत्वं "काटिन्यवान् यो विभर्ति" (वि. १. १४. २८) इच्यादिषु प्रयक्तमिति भावः । रसस्य प्रथिव्यां वृत्तौ सत्यामपि, अपां चपादिगण न्तरसद्धावेऽपि **गरोऽहमप्र** इति विशिष्योपादानं तेजस्तत्त्वात् अब्रुवरिकारस्य पूर्वतत्त्वानुत्वसरसम्बानस्वात् । अन्यत्र च, ''आर्त्यस्या तदा मूमिः प्रख्यत्वाय कल्पते । (वि. ६. ४, १४) इत्यादिना च प्रथिःयदीनां गन्धरसाद्यधीनत्व-मुक्तम् । एवसुत्तरत्नापि<sup>5</sup> प्राधान्यतो विद्योपनिर्देशे यथोचितं भाव्यम् । प्रभा खाश्रयातिरिक्तप्रसारि-तेजोद्रव्यविशेषः । प्रभवेव चन्द्रसूर्वी जगद्यकारहेतुम्ाविति ती तत्प्रधारी । सर्वेषां वेदानां वीज-त्वादिना तेषु प्रणवः प्रधानभूतः । पौक्षपं पुरुषस्य भावः, यतः पुरुषबुद्धिरित्येके । संतितपरम्परा-

<sup>1</sup> उक्तं धर्मिणां भगवद्धीतस्वस् । तद्दत्वर्माणामिष तद्धीतस्वं वे चैवेति द्वादशस्त्रोके वक्ष्यते । तत्र काञ्चित्रदास्त्रोके वक्ष्यते । तत्र काञ्चित्रदाहरति रस इत्यादिना । तत्र समानधिकरणिनिर्देशं निर्वहित अत इत्यादिना । इतीति । इति हैतोरित्यर्थः । तक्तिति पृथक्ष्यदम् आहेत्यस्य कर्म ।

<sup>2</sup> रसःबाद्धिमिविशिष्टे—रसादिभूने रस्पर्थः । तथैय शांकरे र्शानात् । अत्र, रस ऽह-मित्याद्धाक्यानि विहाय मित्र सर्वेदिस्टर्गेष एकमर्थेदर्शनं रसोहिमित्याद्रौ प्रशिक्षकयं प्रोतादि-पदानश्यादाराथः, सर्वेदाक्यस्त्राशिकस्वपरिहाराय स ।

<sup>3</sup> दर्शयितुमिन्युपळक्षणम्। रसादीनां गुणानां शरीर वायोगाच प्रकारेिः सामान्योक्तिः।

<sup>4</sup> साक्षात् सस्य तसदाश्रयत्वव्यावृत्तव इति भावः ।

<sup>5</sup> कार्येषु कारणगतविशेषाचिकविशेषः, सज्ञानीयेष्वेकशान्यापेक्षया विशेषश्च मह्धीन इति भावः । उन्छन्नात्रनिर्देशः विवेकिकर्तव्यतिष्ठ्यधर्मनिवारणसूचनार्यः ।

एते सर्वे विरुक्षणा भावा मत्त एवीत्पन्नाः, मञ्छेषभृताः मञ्छरीरतया मय्येवा-वस्थिताः ; अतस्तत्तत्त्रकारोऽहमेवावस्थितः ॥ ८, ९, १०, ११ ॥

ये बेब सारिवका मावा राजमास्तामसाध्य ये। मत्त पवैति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मिय।
कि विशिष्यामिधीयते ? सारिवका राजसास्तामसाध्य जगित देहत्वेनेन्द्रियत्वेन

हेतुमृतं रेत इत्यपरे । यद्वा धौरुषं सामर्थ्यं कर्तृत्वशक्तिरित्यर्थः । तयैव हि कर्तुरात्मनः कारकान्तरेभ्यः प्राधान्यम् । नषु जीवेष्वित्यर्थः । यद्वा पौरुषं पंस्त्वम् : स्त्रीनपंसकव्याष्ट्रतः सत्त्वादिखभाविकोषः । नशब्दश्च पुरुषपर्यायः । पुण्यो गन्धः तुलस्थादिगन्धः ; सुरभिगन्धमातं वा ; तद्योगेन हि पृथिवी सत्त्वोन्मेषस्य सुखस्य वा हेतुर्भवति । विभावसरत्नाभिः । तत्र च तेजः दाहकत्वशक्तिः । भत-शब्देनाल शरीरिणो गृह्यन्ते । सर्वशब्देनाल ब्रह्मशर्वादीनामपि संग्रहः । तेष जीवनं प्राणनम् , प्राण-स्थितिहेतुर्वा, येन सर्वाणि भूतानि जीवन्ति : भूतेषूपजीवनीयं वा रूपम् । सर्वभूतानां सनातनं बीजं प्रकृतितत्त्वम् । अथवा प्रधानधर्मनिर्देशप्रकरणत्वात् बीजशब्दोऽलोपादानत्वाख्यस्वभावपरः । सर्वेषां परिणामिद्रव्याणां खकार्यपरिणामसामर्थ्यमित्यर्थः । अथवा वीजं प्ररोहकारणं जङ्गमस्यावरम्तानां तत्त-दुपादानद्रव्यम्<sup>2</sup>। बुद्धिः अध्यवसायः, ज्ञानमात्रं वा **ॉ तेजस्थिनः** प्रतापशीलाः । तेषां **तेजः** अनिभमवनीयत्वम . पराभिभवसामर्थ्यं वा । तेजः अभिमान इति केचित् ; प्रागरूम्यमित्यपरे । वर्र धारणादिशक्तिः । कामरागवज्ञात् स्वकार्ये प्रवृत्तस्य बळस्य परपीडादिहेतुत्वात् धर्मोप्यंक्तशरीरादि-धारणमात्रादिविषयत्वाय कामगगविवर्जितमित्युक्तम् । कामः इच्छायाः काष्ठाप्राप्तदशा । रागः इच्छा । यद्वा कामशब्द: काम्यपर: । तद्विषयो राग: कामराग: । भृतेषु देवमनुष्यादिरूपेणा-वस्थितेषु जन्तुषु । धर्माविरुद्धः कामः सदःरशित्यादिः । अथ रसोऽहमित्यादिसामानाधिकरण्यं सहेतु-कसपपादयति एत इति । न चाथं तदचीनसामर्थ्यप्रदर्शनार्थः 'राजा राष्ट्रम् ' इत्यादिवदारोपः, मुरूय-समवे बत्यन्तरायोगादिति भावः । एत इत्यनेनेश्वरच्यतिरिक्तैरश्वयक्रियत्वमभिष्रेतम् । सर्वे इत्यनेन त्रझरुद्रादिभिरन्यैश्च कियमाणानामपि त्रझादिशरीरपरमात्माधीनसृष्टत्वम् 'अहं क्रुत्खस्य' (६) इति पूर्वोक्तं स्मारितम् । वक्ष्यमाणराजसतामसेभ्यो वैलक्षण्यार्थमुक्तम् विलक्षणा इति । "मत्त एव पृथिवधाः" (१०.५) इति च वक्ष्यते । एतेन "न विरुक्षणत्वादस्य" (ब्र. २. १.४) इत्यधिकरणार्थोऽपि स्मारित: । मच एवोरपन्ना इत्यादि तत्तद्वस्त्वनुरूपं यथासंभवं सामानाधिकरण्यहेतु: । गुणजाति-शरीरेष्वनुगतः सामानाधिकरण्यहेतुरप्रथिकसद्धिरिति <sup>अ</sup>प्रदर्शनायोक्तं **मरयेवावस्थिता इ**ति ॥ ८-९-१०॥ रसोऽइमित्यादेः पद्र्शनार्थस्वं ये चेत्यस्योपसंहारतां च द्र्शयित कि विशिष्येति । तत्तद्वेतु-

<sup>2</sup> द्रव्यमिति । द्रव्यगतकारणावस्थेत्यर्थः । पूर्वयोजनायां सामान्यमुक्तम् । अत्र विदेश उकः । 3 अयमत्र विदेश राज्यः । अत्र विदेश उकः । 3 अयमत्र विदेश राज्यः । अत्रो गवादिशस्यो यथा गोत्वविशिष्टपिण्डविशिष्टजीवविशिष्टवाचीति सर्वेयां द्रव्याणामन्तरा प्रकारतया तव भागम् , तथा न रसशन्तर्या । किंतु रसशन्तर परभ्यरासंयन्येन रसविशिष्टम्ब्रवाचीन्येवम् । एवं शरीराविश्वस्वरिष्

भोग्यत्वेन तत्त्वेतुत्वेन चावस्थिता ये भावाः, तान् सर्वान् मत्त एवोत्पन्नान् विद्धिः ते भच्छरीरतया मर्य्येवावस्थिता इति च । न त्वहं तेषु—नाहं कदाचिद्दिष तदायत्तस्थितिः ; अन्यत्रात्मायत्तस्थितिः देवे विद्यति देवे कि स्वति देवे स्वति स्वति

त्निभिर्गुणमयैभविरेभिः सर्वमिद् जगत्। सोद्दितं नाभिजान।ति मामेभ्यः परमन्ययम् ॥ १३ तदेवं चेतनाचेतनात्मकं कृत्स्नं जगत् मदीयं कालेकाले मत्त एवीत्पद्यते, मिय च प्रक्रीयते, मर्येवावस्थितम् , मच्छरीरभृतम् , मदात्मकं चेत्यहमेव कारणावस्थायां कार्याव-स्थायां च सर्वशरीरतया सर्वप्रकारोऽवस्थितः । अतः कारणत्वेन शेषित्वेन च झानाध-सङ्क्षयेयकल्याणगुणगणैश्राह्यमेव सर्वेः प्रकारैः परतरः ; मत्तोऽन्यत् केनापि कल्याणगुणगणेन

स्वेनेति समष्टिदशाया अपि संग्रहः । अयं च देहत्वादिविभागोऽनुभृयमानप्रकारानुवादियच्छ्ळ्दाभेषेतः । सात्त्विकतादिकं देहाि प्रत्येकमन्वितम् । अपि च "प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुलं संशान्तचित्तता" (भा. मो. २१९. २७) इत्यादयः सात्त्विका भावाः । "अतुष्टिः परितापश्च क्रोधो छोमः
(शोको मोहः) तथाऽक्षमा" (२८) इत्यादये राजसाः । "अविवेकत्तथा मोहः प्रमादः लमतन्द्रिता"
(२९) इत्यादयस्तामसाः । एते चान्यत्र प्रपश्चिता इहािभेषेताः । मृत्त एवेत्यथघारणेन निमित्तेपादावैवयं साित्वकत्वादिना वैचिन्यशक्तितत्ततुचितानेकिनिमत्त्वादिपतिक्षेपश्च कृतः । कारणत्वेन सह सामानाधिकरण्यनिवन्धननियमनगर्मे शरीरत्वेन तादधीन्यमिष सप्तन्य विवक्षितमित्ति दशियतुम् मच्छरीरतया मय्येवावस्तिता दश्यक्तम् । नत्वहं तेष्वित्यत्व व्यक्तिमतिहासायाह नाह्मिति ।
किमश्चिमतमप्रसक्तं प्रतिपिध्यत इत्याशक्कंयाह अन्यत्वेति । तुशब्दोऽत्व शक्कानिवृत्त्यश्चैः । सर्वोपकारनिषेचे तदुत्पादनादिवैयर्थ्यपरिहाराय तथाविध इत्युक्तम् । अभिप्रेतसुपकारान्तरमहंशब्दाभिप्तेलपरिपूर्णत्वमत्वेन दर्शयित केव्हेति ॥ १२ ॥

एवं स्वयाश्वात्यमुपदिष्टम् । अथ त्रिभिरित्यादिना प्रकृत्याऽस्य तिरोधिमुपदिश्चित । अत्र मामित्यनेन 'मृमिरापोऽनलः' (४) इत्यारभ्योक्तं यथावस्थितल्लस्यं गुणमयभावेभ्यः परत्वप्रदर्शनायान् तृतितिमित दर्शयितुमाह तदेवमिति । उत्पत्तिप्रलयवोरिवरोधं सर्वेषु करपेषु तस्यैव कारणत्वं चामिन् प्रित्योक्तम् कालेकाल इति । त्रिभिर्गुणमयेरेभिरिति पदलयेण दुःसमिश्रत्वनश्चरत्वसातिश्चयत्वादीनि विविक्षतानि । रजस्तमोमिश्रत्वाद्वुःलमिश्रत्वम् । सुलदुःसमोहात्मका हि लयो गुणाः । कार्यत्वादनित्यत्वम् इन्द्रियपरिच्छिन्नत्वात् श्चुद्रत्वमिति भावः । मामेभ्यः परमव्ययमिति तु लिभिर्निस्लब्हेयप्रत्यनीकस्वरूप-

<sup>1</sup> नत्वहं तेष्विति तुशब्द्घितिनिषेघवाक्यं तेमयीत्यंशस्य पूर्वसद्भाव पव सरसमिति विमृश्य भाष्ये उत्तरभागव्याख्यानं पूर्वे इतम् । धर्मरूपभावानां द्रव्यद्वारेव भगवित स्थितिरिश्च । तथा द्रश्यद्वारेव तेषामाधारत्वं निषित्यते । साक्षादाधारत्वमक्षस्यमानात् ।

परतरं न विद्यते । एवंभृतं मां त्रिभ्यः सान्तिकराजसतामसगुणमयेभ्यो भावेभ्यः परं मद्सा-धारणैः कश्याणगुणगणैसत्तद्भोग्यतात्रकाःश्च परम् उत्कृष्टतमस् , अन्ययं सदैकरूपमि तेरेव त्रिभिर्गुणमयैर्निद्दीनतरैः श्चणश्वंसिभिः पूर्वकर्मानुगुणदेहेन्द्रियभोग्यत्वेनावस्थितैः पदार्थै-मोहितं देवतिर्यञ्चनुष्यश्वावरात्मनाऽवस्थितं सवैमिदं जगन्नाभिजानाति ॥ १३ ॥

क्यं खत एवानवधिकातिशयानन्दे नित्ये सदैकरूपे लौकिकवस्तुभोग्यत्त्रकारैश्चो-रक्रष्टतमे त्विय <sup>1</sup>स्थितेऽप्यत्यन्तिहीनेषु गुणमयेश्वस्थितेषु भावेषु सर्वस्य मोक्तूवर्गस्य त्वनिरतिशयानन्दत्वनित्यत्वानि अभिप्रेतानीति दशयति एवंभृतमिति । कारणत्वेन पितृत्वाद्धितैषिणम् . शेषित्वेन शेषम्तानामुज्जीवनमप्यात्मलाभं मन्वानम् , सुवज्ञत्वसवैशक्तित्वादिभिरनिष्टनिवर्तनेष्टपापणयोर-न्यनिरपेक्षं चेति एवंभतशब्दाभिषायः । दुःखिमश्रत्वादिविशिष्टतया प्रस्तुता एव भावाः एभया इत्य-विधित्वेन परामुख्यन्त इति प्रदर्शनाय त्रिभ्य इत्यादिकमुक्तम् । एभ्यः परिमत्यत्न 'तमसः परस्तात' इत्यादिन्त्रिव देशादिनिवक्षाच्यदासायोत्कृष्टत्योक्तिः । तत्त्रद्धोग्यताप्रकारेश्चेति समुद्धे गोष्पदमस्ती-ितवत् । अयते हि "यचास्येहास्ति यच नास्ति सर्वे तदस्मिन् समाहितम्" (छा. ७. १. ३) इति । श्रव्दस्पर्शादिरूपेण प्राकृता भावा भोग्याः। परमात्मा त ज्ञानश्रवत्यादिगुणगणैः खरूपसमवेतैः शब्दादि-विस्तजातीयानुक्रस्यप्रकारै: अपाङ्गतैश्च शन्दादिभि: प्राङ्गतैश्च तैरेव खपर्यन्तताशोधादपाक्रतकस्यै: प्रत्येकं भोग्यतायामनविधकातिशयपरत्वविशिष्ट इति भावः । एवंनिर्दिष्टभोग्यतमस्वरूपस्याविकारित्वेन कास्ना-बच्छेदन्युदासपरोऽन्ययशन्द इत्यमित्रायेणाह सदैकरूपमिति । तैरेवेति । उक्तदोषत्रययुक्तैरेवेत्पर्थः । त्रिभिरिति । गुणाः परस्परन्यनाधिकभावेनावस्थिता अप्यविनामृताः । ततश्च गुणस्रयमयानां भावानां दःस-मिश्रत्वमवर्जनीयमिति भावः। निहीनतरैरिति । कर्मानुरूपगुणत्रथमयभोगाः तत्तत्कर्मानुरूप्यण श्रुद्ध। इति भावः । श्वणभ्वंसिभिरिति कर्मावसाने क्षणान्तरं स्थातं न प्रभवन्तीति भावः । नन् सत्त्वेन कथं मोहः ! इत्थम- यथा विषसंप्रक्तेऽप्यन्ने मधुनिषेको मन्दस्य भोजनाभिल।षमुत्पादयति, तथा तत्तत्कर्मानु-रूपानर्थपर्धवसितसुखळवहेतुःवेन युक्तं सन्वस्यैव मोहहेतुःवम् इति । सर्वशन्दोऽत्र देवजात्यनुपविष्ट-**ब्रह्मरुदादेस्संग्रहपर: । इदंश**ारोऽनुसूयमानभीवनूर्वावैचिव्याभिषाय: । **जग**च्छब्द्रश्चाचिद्वशिष्टचेतन-बाचीत्यभित्रायेण देवेत्यादिकमुक्तम् । "ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा । विष्णुमाया-महावर्तमोहान्धतमसावृताः ॥'' (वि. षु. ५. ३०, १७) इत्यादिकमत्नानुसन्धेयम् ॥ १३ ॥

उक्तावामर्थस्थितौ मोह एवायं न घटत इति शङ्कायां देवीत्यादिकमवतारयित **कथ**मिति । सर्वस्येति । सत्त्वोत्तरतया तत्त्वज्ञानप्रच्युतिरहिताया देवजातेरिति भावः । उत्कृष्टापकृष्टपन्निषावुक्कष्ट-प्रहम्पत्रीयव्या मोकन् वर्गस्येत्यनेन स्विता । हिशब्दोऽत्र दुरितकमस्वहेत्वर्थः । देवेन निर्मिता देवीति

मोहितत्वान आनातीति प्रागुरुम् ; मोह एव कथित्यत्राह दैवीति । यदा स्रष्टा मुझानु । स्वज्ञाने जातेऽपि कथं मुझान्तीत्यत्राह दैवीति । एवञ्च खितेऽपीत्यस्य स्थितःवेन ज्ञातेऽपीत्यस्य ; वस्तुख्यितमात्रस्यात्ययुक्तस्वात् ॥ मोहस्यातिकमः कृतो नेति प्रकृतप्रदनार्थः ।

# भोग्यत्वबुद्धिरुपजायत इत्यताह-

दैवी होषा गुणमयी मम माया दुरत्यवा।

ममेषा गुणमयी सस्वरजस्तमोमयी माया <sup>1</sup>यस्मात् देवी देवेन क्रीडाप्रकृतेन मयेव निर्मिता, तसात् सर्वेर्दरत्यया दुरतिकमा ।

असाः मायाग्रन्दवाच्यत्वमासुरराश्वसास्त्रादीनामिव विचित्रकार्यकरत्वेन, यथा च "ततो भगवता तस्य रक्षार्थं चक्रमुत्तमम् । आजगाम समाज्ञप्तं ज्वालामालि सुदर्शनम् । तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याग्रुगामिना । वालस्य रक्षता देहमैकैकवेन सदितम् (मेकैकंच निष्दितम्)"
(वि. पु. १.१९,२५) इत्यादौ । अतो मायाग्रन्दो न मिथ्यार्थवाची । ऐन्द्रज्ञालिकादिष्विप केनचिन्मन्त्रौदधादिना मिथ्यार्थविषयायाः पारमार्थिक्या एव बुद्धेक्त्यादकत्वेन मायावीति
दिस्तिर्थः । 'विद्यु क्रीडा....'त्यादिधातौ देवशब्दिन्पितः ; एतेन 'देवास्त्रशक्तम्' (खे. १. ३) इति श्रुतिस्चनम् । देवी, मम इति शब्दाभ्यां मायाभवतंकत्त्र देवत्य माथिनश्च कृष्णस्य मेदअमल्युदासाय मयैवेत्यक्तम् । न हि स्वच्छन्देनाधिकरयासम्थेनेश्वरेण छीलार्थं प्रवर्तिता माया अनीश्वरैः सर्वम्हैरिष छित्तुत्तं शववत इति सर्वेदितस्य भावः । अत्ययशब्दस्यात्र नाशार्थववयुदासायाह दुरतिक्रमेति । दःस्वेनातिक्रमणीया ; मगवत्यपत्तिरहित्वेज्वविद्यमश्ववेव ।

मायाशब्दस्य पराभिमतमर्थे दूषिय्यत् स्वाभिमतमर्थं तावदाह असा हति। सत्येष्वेवासुरराक्षसा-स्वादिषु मायाशब्दप्रयोगो न मिथ्यात्विनवन्थन इति भावः। यथाचेति। 'तेन मायासहस्रम्' इत्यस्य न सिथ्यार्थविषयत्वसुत्येक्षितुमिष शक्यम् , मिथ्यामृतस्य शस्त्रस्य निष्द्रतीयत्वाभावादिति भावः। आदि-शब्देन ''माया सततं वेति प्राणिनां च शुभाशुभम्'' (....), ''देवमायेव निर्मता'' (रा. बा. १. २ ६) इत्यादिप्रयोगसंग्रहः। अपिच <sup>2</sup>दण्डनीतौ सामाधुषायचतुष्टयादन्ये मायोपेक्षेन्द्रजारुरुत्याः त्रयः अपस्याः त्रयः अपस्याः त्रयः व्याया उपिद्दृष्टः; तत्र माया अन्ययाभृतस्य वस्तुनोऽन्ययाकरणशक्तिः; इन्द्रजारु तु तथापितभात्तनः शक्तिरिति विभागः। तस्मात् सत्यविषय एव मायाशव्द इत्यभिषायेगाह अतः इति। मायाशब्द-प्रयोगस्य सत्यविषयत्वादित्यर्थः। नतु मिथ्याभृतार्थप्रदर्शकेषु तत्सवन्यात् मायाविश्वदः प्रयुक्षते। अतो मायाशब्दा मिथ्यार्थेऽपि प्रयुक्त इत्यताह ऐन्द्रजास्विति। असत्यत्ववत् असत्योत्पादकत्वमिप न मायाशब्दपृत्तिनिमित्तमिति दशियितुम् पारमार्थिक्या एवेत्युक्तम्। आन्तिज्ञानमिप स्वस्पतः सत्यम्; आरोपितस्तु विषयो मिथ्यत्यन्यते। तथाऽप्यन्तते। मिथ्यार्थसंवन्यो निमित्तमित्यत्वाह तथेति।

यसमादिवास तसमादिति प्रतिसंबित्व । तत्र यसमादिति हिशस्त्रार्थहचेत् तुरत्यविति प्रतिप्रवार्थक्षेत्र व्याप्तान्तरपृथावान्यं स्थात् । अतो दैवीतिहेतुमभीविशेषणसृधितप्रदर्शनं वस्मादिति । हिश्चस्य धर्मतं हेत्त्वं तु पूर्वद्वोकान्वयि । तत् अत इत्यादिना अन्ते भाष्यते ।

<sup>2</sup> दण्डनीताचिति। अयमर्थः भाष्यं प्रथमवाचयं अस्तादीनामिवेत्यत्र निगृहः। तत्समुख्य-धिवक्षयेवं प्रथाचिति चक्रास्प्रयोगः, अत प्रवोपरि ऐन्द्रजास्त्रिकप्रस्ताव इति भाषः।

प्रयोगः । तथा मन्त्रीवधादिरेव च तल माया ; सर्वश्रयोगेष्वतुगतस्यैकस्यैव शब्दार्थस्वात् । तल मिध्यार्थेषु मायाश्रव्दप्रयोगो मायाकार्यबुद्धिविषयस्वे नौषचारिकाः, मञ्जाः क्रोशन्तीति-वत् । एषा गुणमयी पारमार्थिकी भगवन्मायैव, "मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् " (श्वे. ३. ४. १०) इत्यादिभिभधीयते ।

असाः कार्यं भगवत्स्वरूपितरोधानम् , स्वत्वरूपमोग्यत्वद्गुद्धिश्च । अतो भगवन्मायया मोहितं सर्वे जगत् भगवन्तमनवधिकातिज्ञयानन्दश्वरूपं नाभिजानाति ॥

मायाविमो चनोपायमाह--

मामेव ये प्रवद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

9

मन्तीषधादेर्मिथ्यार्थस्य च सिल्धाने कि विशेषनियामकमित्यत्नाह सर्वेति । न छेकशक्त्येव निविद्धे संभवित अनेकशिक्तरुपना युक्तेति भावः। मिथ्याभूतेप्वेवार्थेषु मायेयमिति प्रयोगो भवित, तल च विचित्रकार्यकरत्वा-भावान्मिथ्यात्वमेव निमित्तमाश्रयशीयमित्यत्नाह तृतेति । अयं भावः — यल संवन्धाद्गुणयोगाद्वा प्रयोगो दुर्निवेहः ; तल हि शक्त्यन्तर करूपनागौरवं सछम् । संभवित चाल परम्परया संवन्धः, मायाकार्यः ज्ञानिवषयत्वात् । न च मिथ्यात्वे प्रष्टृतिनिमित्तत्या स्वीकृते अल्लादिषु तत्संवन्धगन्धः । मिथ्यार्थस्य च गुणाभावादेव तद्गुणयोगो दूर्निरस्तः । अपिच मिथ्याभूतेषु शुक्तिकारज्ञतादिषु तत्सयोगाभावात् मिथ्यात्वविशेषे निष्कृप्यमाणे असादुक्त एव विशेषेऽन्तर्भवतीति । "सं हि स्रोकगतिर्देव न त्वां केचित् प्रजानते । ऋते मायां विशास्त्रक्षीं तव पूर्वपरिप्रहाम्॥" (रा. उ. ११०. १०), "योगनिद्दा महामाया" (वि पु. ५. १. ७१) इत्यादिष्विप भगवतो विचित्रकार्यविशेषोपयेगितया वा प्रकृतितत्त्वामिमानिदेवतात्वादिस्रपेण वा मायेत्युक्तम् । अतो शुक्तं विचित्रकार्यकर्यमेव मायाशब्दप्रशृतिनिमित्ति।

श्रुताविप विचित्रसम्बुपादाने प्रकृतौ सत्यायामेव मायाशन्दः प्रयुक्त इत्याह एषेति । महेश्वर-शन्दस्यात स्द्रविषयत्वश्रमत्युदासाय भगवन्छन्दः । श्वेताश्वतरोपनिषदिप पुरुषसूक्तप्रत्यभिज्ञान-महा-पुरुषशन्द-मन्त्वत्रकत्वादिभिभैगवद्विषयत्येव मतीयते । महेश्वरशिवादिशन्दास्तु तस्मिन् अवयवशक्त्या गुणयोगेन वा प्रवृत्ताः, रुद्रस्यान्यत्व कार्यत्वकर्मवश्यत्वसंप्रतिपचेरिति भावः । 'मायां तु प्रकृति विद्यात्' इति न तत्र प्रकृत्यनुवादेन मायात्वं विधीयते ; किंतु मायाशन्दार्थानुवादेन प्रकृतित्वमिति वावय-स्वारस्यावगतम् ; पूर्वल ''अस्मान्मायी सजते विश्वमेतत् तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः'' (श्वे. ४. ९) इत्यमिहिते केथं मायेत्याकाङक्षायां प्रवृत्तत्वादिति भावः ।

असिन् प्रकरणे मायाशब्दप्रयोगनिदानमत्रोपयुक्तं विचित्रकार्यं दर्शयति अस्या इति । तदेत-दिख्यमभिषेत्य भगवद्याद्यनप्रिनिमिरुक्तम् , "स्वयाथात्म्यं प्रकृत्याऽस्य तिरोधिः शरणागितः" (गी. सं. १११) इति निवादपरिहारतां दर्शयन् उपसंहरति अत इति ॥ १३ ॥

"पञ्चत्याऽस्य तिरोधिदशरणागतिः" (११) इति संग्रहरूोके तन्निष्टसर्थभित्यध्याहर्तन्यमिति दर्शयन् अनन्तरप्रन्थमवतारयति सायाविमोचनेति । यच्छास्नादछङ्गनीयं निगळनस्, तन्निष्टतिरिप

मामेव सत्यसङ्करपं परमकारुणिकमनालोचितविशेषाशेषलोकश्चरण्यं ये श्वरणं प्रपद्यन्ते. ते एतां मदीयां गुणमयीं मायां तरन्ति मायाग्रत्सुज्य मामेबीपासत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ किमिति भगव(भव ?)द्रपासनापादिनीं भगव(भव ?)त्प्रपत्ति सर्वे न कुर्वत इत्यत्राह--न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः । माथयाऽग्रहतज्ञाना आसुरं भावमाधिताः ॥ १५ दण्कृतिनः पापकर्माणः मां न प्रपद्यन्ते । दुब्कृततारतम्येन ते चतुर्विधा भवन्ति मृहाः, नराधमाः, माययाऽपहृतज्ञानाः, आसुरं भावमाश्रिताः इति । मृहाः विपरीतज्ञानाः : पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छेपतैकरसमात्मानं भोग्यजातं च खशेपत्या मन्यमानाः । नराधमाः सामान्येन जातेऽपि मत्खरूपे मदीन्म् ख्यानहीः । मायवाऽपहतज्ञानाः मदिषयं मदैर्भायविषयं च ज्ञानं येशां तदसंभावनापादिनीभिः कुटयुक्तिभिरपहृतम् , ते तथोक्ताः । आसरं भावमा-श्रिताः मद्भिषयं मदैश्वर्यविषयं च ज्ञानं सहहस्रपण्यं येषां द्वैषायैव मवति: ते आसरं तेनैव कार्या, न त्वन्येनेति मामेवेत्यवधारणाभिपायं व्यक्तयति सत्यसङ्करपमिति । न हि बन्धविषय एव सङ्करपः सत्यः : अपि तु मोक्षविषयोऽपीति स एव प्रपदनीय इति भावः । शक्तस्यापि निर्वणस्य प्रपत्त्या न किञ्चित प्रयोजनिमत्यत उक्तं **परमदारुणिक**मिति । परमकारुणिकत्यापि लोकवत परिग्राह्या-परिमाह्यविभागे किमस्यासह्यापराधशालिनो जनस्य तत्प्रपत्त्येत्यतोक्तम् अनालोचितेत्यादि । वायस-कारवासग-विभीषण-द्रौपदीपभृतिषु चैतत स्पष्टम् । "यदि वा रावणः स्वयम् " (रा. यु. १८.३५) इतिः च तद्किः । एतामित्यस्याभिषेतमाह भदीयां गुणभयीमिति । अपीति शेषः । उपासनप्रकरणत्वात

वक्ष्यमाणार्तादिचत्रष्ट्रयसाधारणत्वाचीपासनाङ्गभूता प्रपत्तिरत्नोच्यत इत्यभिपायेणाह मायाप्रतसद्येति ॥

<sup>1</sup> अत श्रीमद्रदस्यत्रयसारदर्शितं श्रीषादिद्वसाम्बुबाहसुम्याहतमनुसंघेयम्।

माबमाश्रिताः । उत्तरीत्तराः वापिष्ठतमाः ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः घुक्रतिनोऽकुंब । आतों जिल्लासुरर्थार्था ग्रह्मानी च भरतर्थभ ॥ १६ सुकृतिनः पुण्यकर्माणो मां श्रश्णप्रपगम्य मामेत्र भजन्ते । ते च सुकृततारतम्येन चतुर्विधाः, सुकृतगरीयस्त्वेन प्रतिपत्तिवैशेष्यादुत्तरोत्तरा अधिकतमा भवन्ति । आतेः प्रतिष्ठाहीनः अष्टेश्वर्यः पुनस्तत्प्राप्तिकामः । अर्थार्था अप्राप्तिश्वर्यत्वामः । व्याधिकारः । जिज्ञासः प्रकृतिविश्वकारमस्वर्षा स्वाम्तत्वस्त्रम् । ऐश्वर्यविषयतयैक्यादेक एवाधिकारः । जिज्ञासः प्रकृतिविश्वकारमस्वर्षा एवासुत्तरेषां ज्ञानाशिकायादुक्वष्टतमत्वअमस्वादिति तिलरासायाह उत्तरीत्तरा इति । "विदुषोऽिकक्रमे दण्डम्यस्वम्" (गौ. ध. सू. २. १२. ६) इति न्यायेन ज्ञानप्रकर्ष एवाल पाषिष्ठतमत्त्वे हेतुः ; ज्ञानातिशयेऽपि वैसस्यं च प्राचीनवापातिशयादेवेति मावः ॥ १५ ॥

चतर्विधा भजन्ते इत्यत्न भजनपर्यवसिता प्रपत्तिर्विधित्सिता: प्रविश्लोके तन्निषेधादल तद्विधान स्यैवोचितत्वादित्यभिप्रायेण शरणम्पग्रम्येत्युक्तमः । सङ्गतित्वाविशेषे कथमधिकारिभेद इत्यतोक्तं सकततारतम्येनेति । तारतम्यं विवृणोति सकतगरीयस्त्वेनेति । विश्वासादेस्साधारणत्वेऽपि मप्ते(मतिपत्ते ?)वैंसिष्टचं फलेच्छामेदात् । आर्त्तशन्दोऽत आर्तिमूळपूर्वस्थितिशैथिल्यपर इत्यभिमायेणाह व्यतिब्राहीनइति । आर्तस्य हि परमञ्जनगार्तिनिवृत्त्यर्थमेवेत्यमित्रायेणाह अष्टेश्वर्यः प्रनस्तत्त्राप्तिकाम द्रति । <sup>1</sup>पाठकमादप्यश्वेकमस्य प्रबल्दवात जिज्ञासोः प्रागेवार्थार्थिन उपादानम् । आर्तात तस्य विशेषं दर्शयति अधाप्रति । अर्धाभव्दोऽतार्थनीयभोगविशेषपरः । फलद्वारा इधिकारिभेदोऽभिधीयते : फलञ्च आर्त स्यार्थार्थिनश्चैश्वर्यमेकमेव । यदा पुनस्तद्वान्तरभेदेन भेदनलक्षिः ; तदा भेदान्तरमपि वनतं शवय-मित्यबाह तयोपिति । प्रसिद्धेनावान्तरभेदेन विशेषन्यपदेशमात्रमिति भाव:। अजिज्ञासशन्देन ज्ञानार्थि मालं कि न गृह्यते, भगवन्तमेव वा बिजासः, भक्तिश्रद्धारहितः कुतुहरूमातेण भगवन्तं जिज्ञासमानी वा. वयथा एकतद्वितादयः, "यूथं जिज्ञासवी मक्ताः" (मा. मी. ३४४.३१) इति । "आरोग्यं भास्करा-**ढिच्छेत** श्रियमिच्छेद्धताशनात् । ईश्वरात् ज्ञानमन्विच्छेत् मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् ।" (ब्र. प्.) इत्युक्ताधिकारिचतुष्टये चाल पत्यभिज्ञायमाने जिज्ञासुर्पि स एव भवितुमहीते—तलाह प्रकृतीित । भगवन्तं जिज्ञासीरन्ततो भगवानेव प्राप्यतयाऽभिमत इति न पुरुषार्थभेदः ; तद्भेदाचालीधिकारिभेदः प्रतिपाद्यते । आर्तः, अर्थार्थीति बाह्यपुरुषार्थाभिकाषिणो निर्दिष्टाः, भगवदर्थी च ज्ञानीति । जीवाहमस्त्ररूपं चाधकानन्दरसञ्जं प्राप्यं चान्यत असिद्धम् । अतापि परस्ताद्धिकारिभेदः समर्थयिष्यते । अतः परि-क्रेपादास्मार्श्विविषयोऽयं जिक्कास्रशब्द इति भावः । ज्ञानार्थिवाचके जिज्ञास्रशब्दे कथमात्मार्थित्वं ब्यान

ग्रीतायां जिल्लासोः परवात् अर्थार्थिशन्दप्रयोगात् केवस्यभागिए कश्चित् भक्तपतुष्ठा-तौपविकार्यार्थी मन्त्रीति गम्बते । 2 तयोरिति । एक प्वाधिकार इति मण्डमाप्यायगी-तय्कऽपि झावते । 3 जिल्लासुप्दस्यास्यास्य भाष्यमवतारयति जिल्लासुरान्देनेस्यादिना । 4 भगवन्त्रान हामेऽपि जिल्लासुपदम्योगं दर्शयति यथेति ।

## वास्पर्य विद्वकासहित गीतामाध्यम् 7, 17,

वाप्तीच्छुः । ज्ञानमेवास्य स्वरूपमिति जिज्ञासुरित्युक्तम् । ज्ञानी च, "इतस्त्वन्यां प्रकृति विदि मे पराम्" (५) इत्यादिनाऽभिद्दितभगवच्छेषतैकस्सात्मस्वरूपवित् ; प्रकृतिवियुक्तकेवला त्मनि अपर्यवस्थन् भगवन्तं प्रेप्सुः भगवन्तमेव परमप्राप्यं मन्वानः ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ तेषां ज्ञानी विशिष्यते। कृतः ? नित्ययुक्त एकभक्तिरिति च । ज्ञानिनो हि प्राप्यस्य मया योगो नित्यः - इतस्योदन सानस्याधिकप्रित्यापि समा सोसः। वर्षा

मदेकप्राप्यस मया योगो नित्यः ; इतस्योस्तु यावत्स्वाभिरूषितप्राप्ति मया योगः । तथा ज्ञानिनो मय्येकस्मिन्नेव भक्तिः ; इतस्योस्तु स्वाभिरूषिते तत्साधनत्वेन मयि च । अतः

कियत इत्यताह ज्ञानमेवेति । ज्ञानिमिह शुद्धात्मानुभवरूपं<sup>2</sup> विविक्षतमिति भावः श्री ज्ञानिनोऽधिव न्तरत्वानुगुणान् वक्ष्यमाणान् विद्योषान् अनुसन्धाय विशिष्टज्ञानत्वं द्रशैयति इतस्त्वन्यामित्यादिक् केवलात्मन्यपर्यवस्थानिति नगरं प्रविविक्षोरध्यगत्य छायातरुम्, छसापवन् आत्मानुभवविलम्ब इति भावः अत जिज्ञासीवैक्तव्यं सर्वमष्टमे प्रपञ्चयिष्यामः । विशिष्टज्ञानफलम्तं पुरुषार्थान्तरपरिम्रहमाह मगवन्तं प्रेरसुरिति । तल हेतुमाह भगवनन्तमिति । भगवनन्तमेवेत्यात्मानुभवविलम्बाक्षमत्वमभिष्रेतम् ॥ १६ ॥

एवं भक्तमेद उक्तः ; तल प्रतिबुद्धस्य श्रेष्ठचं दर्शयित तेषामिति। इममेवार्थं परस्तादिष वश्यित ''चतुर्विचा मम जना भक्ता एव हि ते श्रुताः । तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते चैवानन्यदेवताः । अहमेश् गितस्तेषां निराशीःकर्मकारिणाम् । ये तु शिष्टाखयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः । सर्वे च्यव धर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षमाक् ॥'' (भा. मो. ३५०. ३३–३५) इति । तेषामिति निर्धारणे पष्ठी । विशिष्यते श्रेष्ठतम इत्यर्थः । कि प्रशंसा[माला]र्थमिदमिति शक्कते कृत इति । वैशिष्ट्यहेतुपरं विशेषणद्वयमित्याह नित्ययुक्तः एकमितिरिति चेति । ज्ञानिनो हीत्यादि । प्रापकत्य तस्यैव प्राप्यत्वात फलदशायामपि योगोऽनुवृत्त इत्यर्थः । आर्तस्यार्थार्थिनश्रेकाभिकारित्वनिर्णयादितस्योरिति द्विवचनम् ।

<sup>2</sup> ननु बाधातोः सन्प्रकृतेः खरूपभृतवानाधेकत्वाभावात् क्रियारूपश्चानाधेकत्वस्य श्रीभाष्यै प्रपञ्चनात् कथं खरूपभिति भाष्यमित्यत्राह्य अनुभवरूपमिति । अवाप्तीति पदमयोगात् बाधात्वर्थः कैवस्यक्यानुभवः । तदा मोक्षादाविब बानातिरिक्तकियाविरहात् बानावधारणाय जिल्लास्त्रिरत्यक्रमिति भावः ।

ात विशिष्यते। किञ्च, प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्। अर्थशब्दोऽभिषेयवचनः ; ज्ञानिनो-हं यथा प्रियः, तथा मया सर्वज्ञेन सर्वशक्तिनाऽत्यभिधातुं न श्वन्यत इत्यर्थः ; प्रियत्वस्थेयत्तारहितत्वात् । यथा ज्ञानिनामग्रेसस्य प्रहादस, ''स त्वासक्तमतिः कृष्णे दृश्यमानो महोरगैः। न विवेदाऽऽत्मनो गात्रं तत्स्मृत्याहादसंस्थितः" (वि. १.१७.३९) इति । तथैव सोऽपि मम प्रियः ॥ १७ ॥

्तेन, आत्मार्थिन: फल्डदशायां परमात्मभोग्यता 1नुतन्यानं नास्तीति सिद्धम् । एकस्मिन् भक्तिर्थस्य गण्डमिकिरिति व्यधिकरणबहुत्रीहिः । एकशव्दाभिनेतमुपास्यफलयोरभेदं दर्शयितुम् एकिमिलेवे-.यवधारणम् । प्रियो हि इत्यादिना हेत्वन्तरमुच्यत इत्यभिपायेणाह किंचेति । अतिशयितकाष्ठां शनुमाह अर्थक्रन्दोऽभिधेयवचन इति । अत्यर्थम् — अत्यभिधेयम् ; अभिधेयातिक्रमणं चालामि-वेयान्तराहैन्स्रथ्यम् । <sup>2</sup>तचाभिषात्मश्रक्यतेत्यभिषायेणाह् **ज्ञानिनोऽह**मिति । अभिषातुमश्रक्यमि-त्यस्येश्वरवचनत्वात् तेनाप्यशक्यमिति फलितमित्यभिप्रायेणोक्तम् मयेत्यादि । नन् सर्वज्ञेन यदज्ञातं तदसदेव स्यात् ; यत चासावशक्तः, तत चास्यानीश्वरत्वं स्यादित्यत्नाह प्रियत्वस्येति । गगन-क्रसमादिवदसत्त्वनिवन्धनमज्ञानं न दोषाय: अन्यथा आन्तत्वप्रसङ्गात् । इयत्ताया अभावादेव तदाचकःशब्दोऽपि नास्तीति तदपयोगोऽपि नाशक्तिहेत्ररिति भावः । हिशब्दघोतितां प्रसिद्धिप्रदाहरित यश्चेति ! वानिनामग्रेसरस्येत्वनेन जन्मसिद्धनिरतिशयज्ञानवत्त्वं वाधकवचनादिभिविंभीषिकासहस्रैधा-क्विम्पतत्वं विवक्षितम् । "क्रिपिमृवाचकदशब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः" (भा. उ. ६९. ५) इति क्रुण्ण-शब्देनात्र निर्वतिहेत्रत्वादिकं विवक्षितम् । प्रवाहानादिकृष्णावतारकृतकालियमर्दनसूचनं वा । भक्तदुः-सानां कर्षणाद्वा कृष्णः । तीत्र स्वहेत् सद्भावेऽपि दः खानुभवाभावो निरितशयपीत्यन्तरमत्ततयेति भावः । आत्मज्ञानमपि तदानीं मृत्रम् , किंपुनर्गृहादिकलपश्रीरज्ञानमित्यात्मनो गालमित्यस्य भावः । स च सम प्रिय इत्यतापि अत्यर्थशब्दः समुचयसामध्यदिर्थस्वभावाचानुषक्तः इत्यभिप्रायेणाह तथैवेति । <sup>8</sup>यथाऽहं व्रिविधपरिच्छेदरहितनिरतिशयानन्दस्वरूपोऽनन्तगुणविभूतिर्ज्ञानिनः प्रियः, तथाऽयमेक एव ज्ञानी मम निरतिशयपीतिविषय इत्यक्तं भवति । स च मम प्रिय इत्यत्न निरतिशयपीति कुर्वतोऽपि महोद्रारस्येश्वरस्यापि तत्वीत्यपाधिकवीतिकरणादन्तिस्स्रचितेति केचि<sup>4</sup>दाचार्याः । १७ ॥

<sup>1</sup> मधुविद्यादिनिष्ठस्थावान्तरफळात्रुभवकाळेऽपि परमात्मित भोग्यत्वातुःसंघानमस्ति, वैषयिकातुभवस्याविविद्यन्नत्वात्मावात्। अतस्तस्यापि न नित्ययुक्तत्वेकभक्तित्वक्षतिः। कैवन्यातुभव-द्यायां तु न परमात्मभोग्यतानुसंघानमिति भावः। एवमत्र भोग्यतापद्ववोगात् केवन्येऽप्या-पातपरमात्मज्ञानमस्तीति ज्ञापितम्। पञ्चान्निविद्यानिष्ठस्य तदाऽपि परमात्मविवयकं सामान्य-ज्ञानमस्तीति। 2 अर्थो वस्तु। हेयविषये ब्रह्मविष्यकर्मातितुन्यमीतिसस्वे तस्या अत्यर्थत्वं युक्तम्। ब्रह्मणो निरितिश्यानन्दत्वात् तत्र प्रतिरत्यर्थत्वायोगात् अभिधातुमशक्यत्वरूपायोक्तिः।

<sup>3</sup> तथैवेति एवकारदर्शितं शंकापरिहारोभयमाह यथाद्वमिति।

<sup>4</sup> सङ्जसौहार्द्-जायमानकटाक्षादिसङ्गाचात् नातीवात्र पर्के आस्था।

उदाराः सर्व प्रवेते क्षानी स्वात्मैव मे मतम । आस्थितस्स हि युकात्मा मामेवाउत्तमां गितम् ॥
सर्व एवेते मामेवीपासत इति उदाराः वदान्याः । ये मत्तो यत्किचिदिप गृह्णन्ति,
ते हि मम सर्वस्वदायिनः । ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्-तदायत्त्वधारणोऽइमिति मन्ये । कसादेवम् १ यसादयं मया विनाऽऽत्मधारणासंमावनया मामेवात्तत्तमं प्राप्यमास्थितः, अतस्तेन
विना ममार्यात्मधारणं न संभवति । ततो ममात्मा हि सः ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां 1प्रपद्यते । वासुदेवस्सर्वमिति स महात्मा सुदुर्छमः॥ १९

तेषामिति श्लोकस्यार्थ एव उदारा इत्यनेनापि हदीकियते । ज्ञानिनोऽत्यर्थिक्यस्ववचनादन्येषा-मपि किश्चित्रियत्वं फल्तिम् ; तदेव उदारास्तर्वे इति पादेन विश्वदिकृतम् । तदेकोषायत्वस्य साधारण्यं मामेवीपासत इत्यनेन दर्शितम् । उदारशब्दस्यात मन्दमयोजनोत्कर्षमातपरत्वव्युदासाय प्रसिद्धचनुरोधेनाह वदान्या इति । अर्थित्वेनावस्थितानां कथं वदान्यत्विमत्यत्नाह ये मन इति । सकरुफरुपद्रवरुक्णं परमौदार्यमेव हि मम सर्वसम् : तच प्रतिमहीतृसापेक्षं तद्भावे कथं स्यादित्युक्तं भवति । **मत**भिति नपुंसकत्वान्न ज्ञानीत्यनेनान्वयः : मत इति <sup>2</sup>परोक्तपाठस्त्वप्रसिद्धः : तसात इतिज्ञ-ब्दोऽध्याहृतः । अयमर्थक्षय्यन्तसिद्धान्तो भवतु वा मा वाः ऋष्णसिद्धान्तस्वयमिति भावः । आत्मशन्दस्यास्य बहुप्रमाणविरुद्धत्वान्न तादात्म्यादिविषयत्वम् : तथा सति न्यतिरेकनिर्देशवाधश्च रे अतस्तदभिषेतमाह तदायत्तेति । शरीरं प्रति घारको ह्यात्मा । प्रियत्वातिशयप्रतिपादनाय सावधारणो-Sयमात्मत्वारोपः 1 अस्मिन् अभिमानमात्रसारे भवत्सिद्धान्ते किं प्रमाणमभिमतमित्याकाङ्क्षायाम् आस्थित इत्यादिकमुच्यत इत्याह कसादेविमिति । हिहेंतौ । युक्तारमेत्याशसायां कः ; परमात्मयो-गाशंसाविशिष्ट एव आत्मा यस्य सोऽत युक्तात्मा : तदेतद्रभिषेत्योक्तं मया विनाऽऽत्मधारणा-संभावनयेति । मदनसन्धानाभावे सति अर्थान्तरानसन्धानप्रवृत्तेरसमर्थस्वभावतयेत्वर्थः । सामेवेति अयुक्तदशायामसत्त्वमेव हि स्यादिति भावः । मामेव । उपायभतमेव, न त फलान्तररूप(छव)मित्यर्थः । प्राप्यमिति । गतिशब्दोऽत गन्तः यपरः । अस्त्वेवं तदायत्तधारणी यथाप्रमाणं ज्ञानी, ततः किमायातं भगवतस्तदायतघारणस्वस्येत्यत्राह अतस्तेन विनेति । सहृदयानां भद्भिप्रायविदां चैतत् व्यक्तमित्यभि-प्रायः । तथा हि (मा. मो. ३५३. ६५) "न तस्यान्यः प्रियतरः प्रतिवृद्धैर्महात्मभिः । विद्यते लिख होकेष ततोऽस्म्येकान्तितां गतः । नारदैतद्धि ते सत्यं वचनं समुदाहृतम् । नास्य भक्तेः प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते ॥" इति । ततो ममारमा हि स इति । आधारत्वादिविशेषो ह्यात्मलक्षण-मिति भाव: । ऐश्वर्यादिकामाः सर्व एव मत्खरूपस्यातिश्चयहेतव: ; ज्ञानी तु मम खरूपसताहेतुरिति स्वभक्तस्त्रतिपरः इलोकः ॥ १८ ॥

<sup>1</sup> पूर्व झानीरयुक्तः अत्र झानवानित्युक्तद्यैक एव । अतिशायने मतुष् । तत्र भक्तत्र इत्येवक्तुव्यार्थकमत्र प्रपद्यत इति । तस्यात्र बासुदेवः सर्वमिति विचरणम् । झानिमाक्रासुरोध्यत् नास्य महाभूतान्यदङ्कार इत्यादि विचिन्नतार्थविष्यक्तता । सीशः सर्वेशकसाधारणः ।

<sup>2</sup> मत इति न शांकरपाटः। अभ्यत्र स्थात्।

नात्वसंख्यासङ्ख्यातानां पुण्यजन्मनां फलामदस्, यत् मच्छेपतैकस्तात्मयायात्स्य-झानपूर्वकं मस्प्रपदनस्; अपि तु बहुनां जन्मनां पुण्यजन्मनास् अन्ते अवसाने, वासुदेवशेषतैकः स्तोऽहं तदायत्तस्यरूपियतिप्रदृत्तिश्च; स चासङ्खयेयैः कल्याणगुणगणैः परतरः इति झान-वानभूत्वा, वासुदेव एव मम परमप्राप्यं प्रापकं च, अन्यदिप यन्मनोस्थवितं स एव मम तत् सर्वमिति मां प्रवद्यते मास्रुपास्ते ; स महात्मा महामनाः सुदुर्हमः दुर्लम् अरो लोके ।

वासुदेवस्तर्वमित्यसायमेवार्थः, "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्", "आस्थितस्त हि युक्तात्मा मामेवानुक्तमां गतिम्" इति प्रक्रमात् । ज्ञानवांश्वाययुक्तलक्षण एव, अस्यैव पूर्वोक्तज्ञानित्वात्, भूमेंगपः इत्यरभ्य, 'अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्ट्या । अपरेयमित-स्त्वन्यां प्रकृति विद्वि मे पराम् । जीवभूताम् (५) इति हि चेतनाचेतनप्रकृतिद्वयस्य परम-पुरुषश्चेषतेकस्ततोक्ताः, 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रक्रयस्त्या। मक्तः परतरं नान्यत्किश्चिदस्ति धनक्षयः (७) इत्यारभ्य, 'ये चैव सात्त्विका मावा राजसास्तामताश्च ये। मक्त एवेति तान्

पुनरप्यक्तज्ञानवत्त्वस्यानेकजन्मसःध्यपुण्यफलस्वेन दुर्लभतरतया ज्ञानिनः श्रेष्ठचं दर्शयति **वहना**-निति श्लोकेन । ''ये जन्मकोटिनिसिस्द्वास्तेषामन्तेऽत्र संस्थितिः'' (पौ. सं ३८ ३०५) इति **मग**-वच्छास्त्रं 'जन्मान्तरसहस्रेष् ' (इ. स. १७) इत्यादिकां स्मृतिं चानुसन्द्धान आह नारपेति । वहनां ं जन्मनामित्यत न तावत् बहुजन्मसद्भावमात्रं विवक्षितम् , तस्यात्रानुपयुक्तत्वात् । न च बहुजन्ममातस्य ज्ञानहेत्रत्वमुच्यते : सर्वेषामयत्रतो ज्ञानित्यपसङ्गात् । अतः प्रण्यजन्मनाम् इति विशेषितम् । ईदश-ज्ञानवत्त्वमेवंमतविशिष्टप्रपत्तौ हेत्ररिति द्शियितं, ज्ञानवतोऽनेकजन्मश्रमव्युदासाय च ज्ञानवान भरवे-त्यक्तम् । वासदेवस्सर्वमिति सामानाधिकरण्यस्य वाधाध्यासतादात्म्यादिविषयत्वायोगाच्छरीरशरीरि-भावादिनिर्वाहादपि <sup>1</sup>प्रकरणविशेषसिद्धस्यार्थस्य माह्यतरत्वात् प्रश्नप्राध्यमित्यादिकमुक्तम् । लौकिकं धारकादिकमभिषेत्याह अन्यद्वपीत्यादि । ''त्वमेव माता च पिता त्वसेव''. ''माता पिता आता निवासः शरणं सहद्रतिनीरायणः" (स. ६) इत्यादिकमधीहाभिष्रेतम् । प्रपत्तेरत्नोपासनाङ्गत्वादाहः माम्रपासन इति । ज्ञानिनोऽपि खरूपमहत्त्वं प्रमाणविरुद्धम् : पङ्क्तिपावनत्वादिमाहात्न्यं सदपि प्रकृतेऽनपेक्षितम् : तसात् ज्ञानविशेषाधीनमाहात्म्यमिह विवक्षितमित्याह भहामना इति । फलान्तरपरस्यापि भगवद्यासकस्य दुर्रुभत्वात् तद्यवच्छेदाय सुशब्द इति दर्शयितुं दुर्रुभतर इत्युक्तम् । वासुदेवस्सर्वमिति सामानाधि-करण्यस्य पराभिमतमर्थं प्रतिक्षिपन् स्वोक्तं द्रढयति वासुदेव इति । अत्र ह्यपक्रमः प्राप्यभेदनिबन्ध-नाधिकारिभेदपरः । प्रकरणविरुद्धः. श्रकरणानुपयक्तो वाऽर्थः प्रकरणविशेषसिद्धोपयक्ततमार्थे जागरूके अनादरणीय इति भावः । ज्ञानवानित्यलापि निर्विदोषादिज्ञान-जीवमालज्ञानादिव्युदासायाह ज्ञानवान श्रायमिति । उक्तलक्षणः वास्रदेवशेषतैकरसत्वात्मवेदीत्यर्थः । उक्तलक्षणत्वे हेतुमाह अस्येव पूर्वोक्त-ज्ञानित्वादिति। 'ज्ञानी च भरतर्षभ' (१६) इति पूर्वोक्ते ज्ञानिनि कथमुक्तळक्षणत्वमित्यत्नाह भभिराप इत्यारम्येति । यद्वा पूर्वोक्तज्ञानित्वादित्येकभक्तित्वादिकं विवक्षितम् : भूमिराप् इत्यादिना हेत्व-

प्रकरणविशेषेति । श्वानिप्रकरणे सर्वभक्तसाधारणाकारस्यावक्तव्यत्वादिति भावः ।

विद्धि न त्वहं तेषु ते सीय ॥'(१२) इति प्रकृतिद्वयस कार्यकारणोभयावस्यस परमपुरुषायच-स्वरूपिस्तिप्रश्वत्तित्वं परमपुरुषस च सर्वेः प्रकारेः सर्वस्मात्परतरत्वमुक्तम् ; अतः स एवात्र ज्ञानीत्पुच्यते ॥ १९ ॥ तस्य ज्ञानिनो दुर्लभत्वमेवोपपादयत्ति—

कामेस्तेस्तेह्वेह्वां प्रवस्ते इन्यदेवताः । तंतं नियममस्याय प्रकृत्या नियताः स्वयाः ॥२० सर्व एव हि लोकिकाः पुरुषाः स्वया प्रकृत्या पापवासनया गुणमयभावविषयया नियताः नित्यान्विताः तेतेः स्ववासनातुह्वपेषुणमयेषेत्र कामैः इच्छाविषयभृतेः हृतमस्वह्याविषयज्ञानाः तत्तरकामसिद्धवर्धमन्यदेवताः मुद्यातिरिक्ताः केवलेन्द्रादिदेवताः तंतं नियमस्याय विष्वानाः तत्तदेवताविशेषमावप्रीणनासाधारणं नियममस्याय प्रपचनते ता एवाश्रित्याचयन्ते ॥ २०॥ न्तरोक्तिः । कार्यकारणोभयावस्यस्येति कार्यत्वकारणत्वस्योभयावस्याविशिष्टस्येत्यर्थः । स्तस्यस्ति स्वादिताद्धीन्यं माये सर्वे (७), रसोऽहिनत्यादितु व्यक्तम् । उक्तलक्षणत्वं निगमयति अत इति । एवित वासुदेवशेषदेकस्तोऽहिमत्यादिनोक्तलक्षण एवेत्वर्थः । उक्तलक्षण एव ज्ञानवानित्यभिधीयत इति दशिवितुं ज्ञानीस्युच्यत इत्युगसंहतम् ॥ १९ ॥

कामेरतेरतेरित्यादेः सर्गे यान्ति परन्तपेत्यन्तस्य प्रकृतसङ्गतिमाह तस्येति । देवतान्तर-फलान्तरसङ्गादिकं प्रतिबन्धकनिति भावः । हृतज्ञाना इत्यत बहुदचनासङ्कोचं सर्वभ्रतानि संमोह-मिति वक्ष्यमाणं चानुसन्धायोक्तं सुर्व एव हीति । स्वयेति । पाचीनस्वकीयानुभवजनितया प्रत्यात्म-नियतया तदेकनिष्ठफलप्रसाधिकयेत्यर्थः । वासनाया नियतिवयनेच्छाजनकत्वायोक्तं गुणमयभावविषय-क्रेति । एतेन स्नभावपर्यायः प्रकृतिशन्दोऽत कामेस्तैस्तैरित्यादिसमभिन्याहारात् तत्तदिच्छाहेतुभूत-सहजवासन।विषय इत्यपि निर्व्यंडस् । नियत्तंवं नाम अदृष्टस्यभिचारासंबन्ध इत्यमिपायेणोक्तं नित्या-न्विता इति । बीप्साभिषेतमाहं स्ववासनानुरूपैरिति । 'रूभते च ततः कामान् ' (२२) इत्यनन्त-राभिधीयमानैकः थ्यात् कामशब्दोऽल कर्मणि व्यत्पन्नः । हत्ज्ञाना इत्यत्न ज्ञानशब्देन पूर्वपसक्तमेव ज्ञानं विवक्षितमिति प्रदर्शिवतुं हृतमस्यस्पिक्षयज्ञाना इत्युक्तम् । तदेव चान्यदेवतामजनकारणम् । फरू-कारणयोः सम्बपेण निर्दिष्टयोर्गि साध्यसाधनभावोऽर्थसिद्ध इति दर्शयितुं तत्तरकामसिद्धवर्थमित्यक्तम् । त्रेस्ते: । तत्तद्देवताभिर्दातुं शक्यैरित्यर्थः । इन्द्रादिदेवतानामपि भगवत्पर्यन्तानुसन्धाने तत्तिद्विशेषणविशिष्टस्य भगवत एव तत्त्वेवतात्वादन्यदेवतात्वं तथाविधानुसन्धानराहित्यनिबन्धनमिति ज्ञापनायोक्तं मझिति-रिक्ताः केवछेन्द्रादिदेवता इति । एतेन "कामैस्तैस्तैरित्यादिकमितरभक्तवयविषयम् " इति परोक्तं निरस्तम् । तत्तकामार्थमपि निपुणेर्भगवानेव प्रपदनीयः ; अत एव हि संगृहीतम् , " ऐकान्त्यं भगवत्येषां समानमधिकारिणाम् " (गी. सं. २८) इति । अन्यथा 'तृषितो जाह्ववीतीरे कृपं खनति दमैतिः. इति भावः । ततं नियमिनिति नियमोऽत सङ्कल्पविशेषादिः । अद्भयाऽर्चितमिन्छतीति वक्ष्यमाणवसाद-त्रापि प्रपत्तेरचनाङ्गर्य दर्शयति ता एवाश्रित्याचयन्त इति । विश्वासगर्भफलपदत्ववरणपूर्वकं तत्त-रकमिनः श्रीणन्तीत्यर्थः । प्रपत्तिस्वरूपसामर्थ्यादवधारणसिद्धिः । "तदेकोपायतायाच्या" (वि. सं) इति हि तल्लक्षणम् ॥ २० ॥

<sup>1</sup> देवतान्तरप्रस्ताव एव 4-12, 9-25. स्थलंद्रयेऽपि द्रष्टन्यः।

योयो यायां ततुं भक्तः श्रद्धयाऽर्वितुक्षिच्छति । तद्यतत्थायद्यं श्रद्धां तावेव विद्धाम्यदस्॥११ ता अपि देवता मदीयाःस्तनवा, ''य अःदिस्ये तिष्ठन्...यमादित्यो न वेद यसादि-त्यकारीरम्'' (बृ.५.९) इत्यादिश्वां अर्थतपादिताः । मदीयाःसनव इत्यजानमि योयो यांयां मदीयास् आदित्या(इन्ट्रः)दिकां ततुं भक्तः श्रद्धयाऽर्वितुमिच्छति ; तस्यतसाजानतोऽपि मत्तत्विवयेषा श्रद्धेत्यतसम्भाय तामेनाचलां निर्विद्यां विद्धाम्यदस् ॥ २१ ॥

स तया अद्भया युक्तस्वाराध्यमीहते । स्रमते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ स तया निर्विष्ठया श्रद्धया युक्तरतस्य इन्द्रादेशशधनं प्रतीहते । ततः मचनुभृतेन्द्रादि-

एवं देवतान्तरफळान्तरसक्ता अपि तचदाराधनतरफळयोः शैथिलये सति "अलामे मचकाशिन्या दृष्टा तिर्येक्ष कामिता" (......) इति न्यायेन अन्धेहेतुषु निषद्धेषुपायेषु निमज्जेतुरिति भयात् परमकाशिकोऽहमेव तचदाराधनहेतुश्रद्धाविष्ठशाहित तरफळं च प्रचच्छामीति श्लोकद्वयेनाह योयः इति । एक एवेधरो रानक्षणाद्यवतारवत् आदित्यादितिग्रह्भाक्ष्, न तु चेवनान्तरमस्ती(मि)ति कुष्टष्टिमतिरासायाह ता अपिति । अयमित्यायः-पूर्वकोके 'प्रपचन्तेऽन्यदेश्वताः' (२०) इति निर्देशः न तावत् ईश्वरासाधारणविग्रहिवशेषविषयः, तद्विशिष्टश्वरविषयो वा भवितुमहित, तलान्यदेवतात्वव्यपदेशायोगात्, रामकृण्णादिवशेष । ततश्च चेतनान्तरिवष्यस्वमवश्याभयुगमनीयम् । "देवान् देवयको यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामिपे" (२३) इति च पृथक् वश्यते । अतोऽल तनुशव्दः पूर्वोकरपरामश्वशात् चेतनिवशेषविषयः इति । सर्वासां चेतनिवशेषकपदेवतानामीश्वरशरीरत्वप्रदर्शनार्थं श्रुतिग्रदाहरति य आदित्य इति । नात तनुत्रवेन भजनं विवश्रितम्, तथा सति प्रतर्दनिवधादिष्यि परमास्तोपासनत्वश्रसङ्गात्, "न तु मामिनजानन्ति तत्त्वेन" (९. २४) इति वश्यमाणत्वाचेत्यभिमायेणाह प्रदीयास्त्रवव इत्यानस्रपीति । तर्वि तनुत्रवेनाल निर्देशोऽनुपक्तो विर्थकश्च, यांयां देवतानित्येव हि वक्तव्यत्रित्वाहत्वत्यत्वान्ति । 'यथा नरपतेरात्मत्वरूपनानितान्ति तत्त्वेन' । वातायाः श्रद्धाया अचलत्वे प्रतिवन्ति । स्वर्यन्वनित्वस्यमानत्विप्रवानित्येव ति मात्रः। जातायाः श्रद्धाया अचलत्वे प्रतिवन्धकराहित्येन आफळलामे निरन्तरसंतन्यमानत्वमित्यभिपायेणोक्तम् । वातायाः श्रद्धाया अचलत्वे प्रतिवन्धकराहित्येन आफळलामे निरन्तरसंतन्यमानत्वमित्यभिपायेणोक्तम् । वातायाः श्रद्धाया अचलत्वे प्रतिवन्धकराहित्येन आफळलामे निरन्तरसंतन्यमानत्वमित्यभिपायेणोक्तम् । विविद्यापिति ॥ २१ ॥

स तयेति क्षोकेऽपि पूर्ववत् वीष्सा भाव्या । स्र्येत्यस्य प्रस्तुतोपयुक्ताकारपरामशिंतवज्ञापनाय निर्विष्ठायेत्युक्तम्। स्रीलिकेन देवताश्वदेन तसुश्वदेन च पूर्वविदेशेऽपि तस्येति पुंलिकेन मतिनिर्देशो दुद्धि-स्थततद्देवपरः । देवान् देवयजो यान्तीत स्थनतरसुच्यते इत्यभिभायेण तस्येन्द्रादेशित्युक्तम् । यद्यपि तस्या इति पदच्छेदः शवयः, तथाऽपि राधनमित्यस्योपसर्गरहितत्य आराधने प्रसिद्ध्यभावात् तदनादरः । श्र्यद्वा फिल्तोक्तिरियम् ; राधनमित्यये पदच्छेदः । तत इति व्याक्त्येयनिर्देशः । तद्याक्त्यानम् मत्तनुभूतेन्द्रादिदेवताराधनादिति । अयमभिपायः-ततः इति पदस्येन्द्रादिपरत्वं मन्दम्, मयैव विहितानिति स्वस्येव फल्दानृत्ववचनात् । ततस्तिविमित्तमेवालापेक्षितम् । अतः तस्याराधनमीहते

<sup>2</sup> शांकरमनुसरति यद्वेति।

देवताराधनात् तानेव हि स्वाभिळिषितात् कामान् मपैव विहितान् स्रभते । यद्यत्याराधन-काले, 'आराध्येन्द्रादयो मदीयात्त्तनवाः, तत एव तद्वीनं च मदाराधनम्' इति न जानाति—तथाऽपि तस्य वस्तुतो मदाराधन्तात्ताराधकाभिक्षत्तम् विद्धामि ॥२२ स्थनत्वच कळं तेषां तद्ववस्वत्यत्ति स्वान्त स्वाद्याधकाभिक्षत्ति महत्ति महत्ता यान्ति मानि ॥ तेषामरुपमेषसाम् अस्पबुद्धीनामिन्द्राद्धिमात्रयार्गजनां तद्वाराधनस्क्रमरुवस् अन्तवच भवति । कृतः १ देवान् देवयजो यान्ति —यत इन्द्रादीन् देवान् तद्याजिनो यान्ति । इन्द्रा-दयोऽपि हि परिच्छिन्नभोगाः परिमित्रकाल्वतिनश्च । तस्त्रत्वायुज्यं प्राप्ताः तैस्सद प्रच्य-वन्ते । मद्रका अपि तेषामेव कर्मणां सद्वराधनस्वर्णां क्षात्रः। परिच्छिन्नसक्तसक्तं स्वर्वन्ते । मद्रका अपि तेषामेव कर्मणां सद्वराधनस्वर्णां क्षात्रः। परिच्छिन्नसक्तसक्तं स्वर्वन्ति । स्वत्रावस्यावित्यापि तानिति विशेषणमुन्तिम् । इत्यान्यस्वर्वनित्यस्य स्वर्वन्ति च । इत्यान्यस्य च प्रकरणविरुद्धम् । 'अन्तवन्तु कलं तेषां तद्वस्यस्वर्यमेषसान्' (६. २३) इति तक्षित्यान्वस्ववादित्यभिग्रायेणोक्तम् तानेव हि स्वर्धार्थस्यनिति । स्वद्वियस्यभिग्रायेणोक्तम् तानेव हि स्वर्धार्थस्यनिति । स्वद्वियस्यभिग्रायेणोक्तम् तानेव हि स्वर्धार्थस्यक्तिति । स्वद्वियस्यस्वनिति । स्वद्वियस्यस्वनित्यस्य स्वया फल्याने

कथमित्यत मथैवत्यवधारणाभिष्रेतमाह यद्यपीति ॥ २२ ॥

यदि भवस्प्रसादात् तेषामिष फळसिद्धः, तर्हि तल को विदोषो भवदुपासकेभ्य इत्यत्वोत्तरम् अन्तवनु इत्यादि । पूर्वाचे संभवस्येकवावयत्वे वावयभेदश्रमिनरासाय तेषामन्पमेधसामिति सामानाधिकरुण्यं दर्शितम् । तेषामिति फळाव्यत्वहेतुपरामश्च इत्याह इन्द्राःदमालयाः जनामिति । तल हेतुरुण्य- बुद्धित्वम् । अवपेष्विन्द्रादिषु तदधीनफळेषु च मेथा वृद्धितेषां ते अवधेभेधसाः ; <sup>8</sup>अवपगोचरत्वाद्यपामेषा येषामिति वा । अव्यमेधस्त्वादेव तत्फळस्वाय्वरुपतं सिद्धिमित हत्वा अवप्रमन्तवच भवतीन्तुक्तम् । देवान् देवयज इत्यत्व देवश्वः गोवळीवर्षत्यायात् सृच्छन्दोक्तमगबद्यतिरक्तदेवपरः, अथवा मनुष्यादिसहपितकर्मवद्यदेवज्ञातिविद्येषपर इत्यभिष्यायेण इन्द्रादीन् देवांस्तवाजिन इत्युक्तम् । कथमिनद्वादिपाप्तिः फळस्यात्वासिश्यरत्वहेतुरिरयत्वाह इन्द्राद्योऽपि हीति । अस्तु तेषामरुपभोगत्व-मिस्यरत्वं च ; ततः किं तदुपासकस्य भवत्यसादाधीनफळलाभस्यत्यताह तन इति । केवळेनद्वादियाजिनां तत्तद्विमळिषितं तत्सायुज्यादिकमेव हि भगवान् प्रयच्छति ; सायुज्यं च समानभोगत्वमेव ; तत इन्द्रादिभोगस्य परिमितस्वरूपत्वात् परिमितकाळवर्तिः वाच तत्समानस्ततुपासकभोगोऽपि तथाविष एव भवेदिति

<sup>1</sup> ततुशःदेन देवतात्तरशरीरत्रहणं वा तद्ग्तरस्थवेतनत्रहणं वा नादः आराधकानां देदारमवादित्वामावेन देदमावेऽव्यात्वायोगात्। अन्त्ये, अन्यदेवता १त्युक्त्या चतनेक्यं न भवति । प्रत्युत ततुश्वद्वलात् शरीरात्ममाव एव । अन्यत् ततुत्वञ्च प्रमाणिसद्धम् । एकं झातम्, अन्यत् अञ्चातिमिति विदेश्यः। यद्यपीति शन्यात् जानतोषि समुख्यविद्श्या उभयमि ज्ञातं भवेत् केश्चित्।

<sup>2</sup> शांकरेपि हिशब्दः पृथमेव । योग इत्यादिइलोकद्वयार्थस्य प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता इत्यक् हेतुत्वमस्मदिष्टम् । तत्र शांकरं न स्वरसम् ।

<sup>3</sup> तदिति पदेन कामैस्तैस्तैरित्युक्तपरामश्रीयि तद्दल्वं सिद्धमित्याशयः।

मत्त्रीणनैकप्रयोजनाः सां प्राप्तुवन्ति ; न च पुनर्निवर्तन्ते । "माम्रुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" (८. १६) इति हि वश्यते ॥ २३ ॥

मावः । मामिति निर्दिष्टगयव स्वरूपस्य निरित्शयानन्दमयस्वाद् तस्याध्यमगातस्यापि निरित्शयमोगात्वं सिद्धम् । स्यं च "भोगमावसाम्यिछिङ्गाच्य" (४. ४. २९) इति । तिल्लस्यस्वाच्य तदुपासकभोगस्यापि निरत्यदं वच्च व "भोगमावसाम्यिछङ्गाच्य" (४. ४. २९) इति । तिल्लस्यस्वाच्य तदुपासकभोगस्यापि निरत्यदं दर्शयति सच्च पुनिन्देवेन्त इति । अलाभिषेतं वश्यमाणवचनेन विश्वद्यति मामुपेरयेति । अलापि स्वयम्, "अनाष्ट्रविश्वदं नाष्ट्रविश्वदं त्याद्याय्यस्य । १४. ४. २२) इति । मद्भक्ता यानित्य मामपीत्यल भगवति फळान्तरार्थिन मणि मोक्षे विश्वयो त्यार्थ्यमार्थेरुक्तः, "तथा देवतान्तरभक्तानामपेक्षित्वादिष्य भगवति फळान्तरार्थिन मणि मोक्षेत्र विश्वयो त्यापश्च मामित्यत्व भगवद्यासिक्ष विश्वयो स्वयापश्च स्वयापश्च

1 नन्वस्थित प्रदेश लाग मान स्थित किमिति भाष्य मामपीति खरलान्वयत्यागेन मद्भक्ता अपीति योजना कुरेशि चेत-उच्यते। यहकाअपीशि साध्यावय एव तारायणार्वेष्ट्रोऽपि। तथापि गीतायां मञ्जूका अपि यान्ति मानिति यहोता चना क्यो गार्कीत्याहोच्य प्रकृतपाठ-. इयंग्यांकाः वश्चिदकः । तस्मादेव कोऽर्थश्चन्द्रिकःयाप्रपि वर्शितः । भाष्यतात्पर्ये त्वेवम्-यद्यपि अनुर्विधा भजन्ते मान्तिर पुष्कानत १३ 'महार्गः हां हृद्ववहाः' इत्यपसंद्विष्ठे अपरि-अधाप्यत मद्भक्ता रति एदं 'यान्ति अव जिनोऽि मास्' इत्ये- सुद्यार्थकत्नाय नवाजिपरम । देवयज इति पूर्वीकेश्च । पागस्थापि भक्ति १ वं भवं भोजे थे नं सां/ एक १डि बापितसेव । एउश्च पैर्यासेटेवान बाराधयन्ति, तैरेवाहमण्याराध्यो भवामि । परंशु सब पाळतारतस्यनिति अज्ञोड्यते । कास्य-यागानां फलोपेक्षिकार्यत्वे तत्त्वहै उद्योदेशाऽदर्जनीयः । पालंदिक्षायामेव तद्वर्जनेन क्ष्मवत आराध्य-त्वस । तथाराघने भगवत्तः फळान्हरप्रक्षकिर्माङ्गीति मामधीत्यन्त्रयो वक्तं व शक्यते । चतुर्विधमक-संस्थातस्यापि तुर्यपादेऽत्र विवक्षा चेत्, अन्तवस् फलंतेपामिति देततान्तराचीनफलमात्र स्यान्तवस्यं दुर्ववस् । अत पक्षमेव अन्तवस्फलकमन्तर्फलः श्रेति प्रमयस्थात्र विवक्षितस्यात् न मामपीति योजना । किञ्च तथा योजनायां देवालि देवयजो यान्तीति तजाप्यपिशव्दः स्थात्, भगवता खसायुज्य-तदर्वाचीनद्विविधफलप्रदानवत् देवैरपि खप्राविक्रवस्वलायुज्य-तदर्वाची-नैहिकानेकक्षद्रोमयविधफलप्रदानस्य क्रियमाणत्वात् । अपिच परम्परया मोक्षान्तविश्रमः देवतान्तराराघनेऽप्यस्ति । "खुर्यस्वैव तु यो भक्तः सप्तजन्मान्तरं नरः" इत्यादिवचनात् । अतो देवयजो मामपि यान्तीन्यपि सुवर्च स्थात् । तस्मादन्तवरः पूर्वाधौकमुपपाद्यितं प्रवृत्तमुक्तरार्ध-मेकविधकर्मण्येव देवतान्तरस्य भगवतश्चाराधनकपरवं बुभुश्चमुभुभोदेन दर्शयतीति नात्र भगवत्तो संभ्यस्य कसंग्तरस्य कथनप्रसक्तिरिति । कसंधिकरण श्रीभाष्य स्वकिरप्यवानसंघैया । यवश्च अकृत्वासिनेषेऽपि फळान्तरप्राय**ात् अकान्तराणामिव वैदिकैकविधकमंक**र्तृत्वाविशेषेपि फलान्तरप्राचण्यादेवान्येषां कर्भिणामनुत्कर्ष इत्यक्तं अवतीह ।

इतरे तु सर्वसमाश्रयणीयस्वाय मम मनुष्यादिष्ववतारम्प्यिकिश्चित्करं कुर्वन्तीत्याह— अव्यक्तं व्यक्तिमापनं मन्यन्ते मामनुष्यः । परं भावमजानको ममान्ययमनुष्ठमम् ॥ २४ सर्वैः कमिभिराराष्योऽहं सर्वेश्वरो वाद्यानसापरिच्छेद्यस्वस्पस्वभावः परमकारुण्यात् आश्रितवात्सल्याच सर्वममाश्रयणीयस्वायाजहत्स्वभाव एव वसुदेवस्वसुरवतीण इति ममेवं परं भावमध्ययमनुष्तममजानन्तः प्राकृतराजस्नुसमानस् इतः पूर्वमनभिव्यक्तिदानीं कर्मवज्ञाजनम्-विशेषं प्राप्य व्यक्तिम् आपत्रम् प्राप्तं मामनुद्धयो मन्यन्ते । अतो मां नाश्रयन्ते ; न कर्मभिरा-राध्यन्ति च ॥ २४ ॥ कृत एवं न प्रकाश्यत्रै हत्यताह—

नाढं प्रकाशः सर्वस्य योगभायासमावृत्तः। मृढाऽयं नाभिजानानि लोको मामजपद्ययम् ॥२५

ननु फळान्तरदेवतान्तरवासनया हि त्विह्वयज्ञानप्रतिबन्य उक्तः ; त्वरसाक्षात्काराभावे हि तद्वपितः ; त्वियं कारुण्योदिगुणप्रेरिते सर्वसमाश्रयणीयस्वायावतारवज्ञादरोषजननयनगोचरे कथं त्वरपित्या इत्यत्नोत्तरम् अन्यक्तं न्यिक्तमापन्नानित्यादीत्यिभिप्रायेणाह इतरे त्वित । इतरे चतु-विश्वयुक्तिभ्योऽन्ये । परं भावित्यनेनाभिषेतं निरितश्ययर्ग्वसौद्धभ्यस्य स्वावं दर्शयति सर्वैः कर्म-भिरित्यादिना अवतीणं इत्यन्तेन । अजहरस्वभाव इति अध्ययश्वव्याभिष्रतेतिकः । अस्मादुत्तमं नास्ती-त्यनुत्तमम् । अनविकातिशयित्यर्थः । अत अव्यक्तं न्यक्तिमापन्नित्येतत्सामध्यीद्वतार्विषयत्वम् त्वापि मामित्यस्थीवित्याद्वतारिवर्धः । अत अव्यक्तं न्यक्तिमापन्नित्येतत्सामध्यीद्वतारिवध्यत्वम् त्वापि मामित्यस्थीवित्याद्वतारिवर्धः । अत्रवत्यक्तं च सिद्धिनित्यभिषेत्योक्तं वसुदेवसुत्यत्वतीणं इति, प्राकृतः राजस्रतुत्वसानितिते च । इदं सर्वावतारोप्रव्यक्षणतया विशेषोदाहरणमालं वा । अव्यक्तम्, न्यिक्तमाप्यमित्यत्यर्थान्तरअमस्यदासायाह प्राकृतेत्यादि । मन्दमित्वोध्यत्या नित्वमानोऽर्थोऽज्ञायमेव मिति वर्मित्याके कर्मवशाक्रन्यनिवानीनवताराद्वयक्तस्वमित्य प्रमाणसिद्धम् ; तत् कथमत्व-प्रविक्षयत्य इत्यत्नोक्तं कर्मवशाक्रम्वत्वतारिति भावः । इतः पूर्वननिध्यक्तत्वित्वयं प्राच्यति । उत्सर्गापवादादित्यात् सङ्कोच इति भावः । अवुद्धय इत्यत्नोक्तं कर्मवशाक्रमित्रवित्यादि । व्यव्ययस्य व्यवित्यति सङ्कोच इति भावः । अवुद्धय इत्यत्नोक्तं परमात्मतद्वतारादिविषयश्रवणमननादिराहित्यं वैरुक्षण्यज्ञापकर्णिति पृवेकभजनम् । तद्यभावाच तद्कत्ययं च विवक्षतम् । एत्यनामित्र अत्यत्वाद्वत्यात् । कर्यत्वाच वर्षक्रमान्तम् । तद्यभावाच तदक्रतया वर्णश्रमादिवर्मान् , स्तुतिनमस्कारादिध्यं न क्रवेत इत्याद्व न कर्मिमिरिति ॥ २४ ॥

श्रदि त्वमप्रतिहतसङ्करपः सामिसंधिकं स्वैसमाश्रवणीयत्वायावतीर्णः, तर्हि कथं तत्क्रत्वासिद्धि-रित्यभिप्रायेण शङ्कते **इत** इति । माध्याशब्दस्तावत् विचित्रसृष्टिकरार्थवाचितया प्रागेव प्रपश्चितः । त्रिगुणात्मिकया मायया समावृतत्वं तु परावस्थावतारावस्थ्योस्साधारणम् । असाधारणाऽऽवरणहेतुरत्र संभवे वनतुमुचितः । सङ्कर्पादिश्च साधारणः । योगशब्दोऽपि संबन्धे प्रचुरप्रयोगत्वात् तदर्थः प्रातः ; तस्सवन्धी चार्थसिद्धः ; स चात्रौचित्यात् अदेशान्तरेषु प्रसिद्ध(दर्शित)त्वाच मनुष्यादिसंस्थानवेष-

प्रकाइयसे इति पाठामावे परमाव इति कर्तेति ध्येयम् । तत्सत्वे एवं—परमावेन त्वं न प्रकाइयसे कुत इत्यर्थः ।

क्षेत्रज्ञासाधारणमनुष्यत्वादिसंस्थान<sup>1</sup>योगारूयमायया समावृतोऽहं न सर्वस्य प्रकाशः । मिय मनुष्यत्वादिसंस्थानद्श्रीनमात्तेण मृदोऽयं छोको माम् <sup>8</sup>अतिवास्विन्द्रकर्माणमति-द्यायितेनसमुपलम्यमानमपि अजनव्यवं निस्तिलज्ञमदेककारणं सर्वेश्वरं <sup>8</sup>मां (१) सर्वसमा-अयणीयत्वाय मनुष्यत्वयंस्थानमास्थितं नाभिजानाति ॥ २५ ॥

वैदा**हं** समतीतानि वर्षमानानि चःजन । भविष्याणि<sup>4</sup> च भूतानि मां तु वेद् न <sup>5</sup>कश्चन ॥ ४६ अतीतानि वर्तमानानि अनागतानि च सर्वाणि भृतान्यहं वेद जानामि । मां तु वेद न कथन मपाऽनुसंधीयमानेषु कालत्व यवर्तिषु भूतेषु मामेवंविधं बास्टदेवं सर्वसमाश्रयणीय-भाषादिरेव ; तेनैवेन्द्रजालमायाव्यवच्छेड्रीऽपि सिद्धः इत्यभिषायेणाह मन्द्रपत्वादीति । प्रकाशः परस्वमानेनेति शेषः । तर्हि तवैवायं दोष इत्यत्नोत्तरं **महोऽय**मित्यादि । अधिगम्यत्वायाऽऽपादितं मनुष्यत्वादिकं दुर्मतीनां परित्यागहेतुरमृतः न च पारमेश्वरस्वभावो मया सर्वस्तिरोहितः : लोकोत्तर-कमतेज:प्रभृतीनां प्रकाशनात् । किंत्यं मन्दो होको चित्कश्चित्साधम्यात घनावृते मयुखमाहिनि खद्योतभावमवगच्छतीत्यभिष्रायेणाहः छश्रीतः। **मृह**ः मयि मनुष्यत्वादिश्रमिविशिष्टः इत्यर्थः । **मा**मिति तदानीन्तनोपळभ्यमानाकारनिर्देशसामध्यात् प्रदेशान्तरोक्तत्वाच अतिवारिवन्द्रसभीण्मित्यादि उक्तम् । परावस्थस्याज्ञानं सर्वेषां पासमेव हि । इह त 'परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुजमम्' (२४) इति मनुष्यत्वे परत्वसाज्ञानमुच्यते । तत्र प्रतिषेध्यस्य ज्ञानस्य प्रसङ्गार्थे छिङ्गोक्तिरियम् । निर्तिशयदीप्ति-युक्तस्वमपि जगस्कारणपरमपुरुषानः धारणधर्मतया वेदान्तेषु निर्णीतम् । अतिवारियनदृक्रमेत्वं च सर्व-नियन्तृत्विङ्कम् । **मामजमि**त्यनेन फव्तिनाह **ैन खिलजगदेककारण**मिति । **अव्यय**मित्यनेन स्व्यमाह सर्वेश्वरमिति । स्वस्ताते धर्मतश्च निर्विकारत्वे हि तस्याव्ययत्वम् । एतेन 'अजोऽपि सञ्चल्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' (४.६) इति आगुक्तत्त्रुचनं वा । अजग्रद्ययं नामिजानाति ; किंतु पुरुषान्तर-वत कर्माधीनजन्मानं ज्ञानसङ्कोचादिमन्तं जानातीति शेषः ॥ २५ ॥

अयं ठोको नामिजानातीरयेत्। वर्तमानमालपरस्यं नाशक्कनीयम् ; किं तु त्रैकाल्यवर्तीन्यिष मृतानि न जानन्तीत्युच्यते वेदाहमिन्यादिना । अत अतीतानीति पृथक्निर्दिष्टत्वात् भृतानि इत्येतत् क्षेत्रज्ञपरम् । स्तस्य सर्वज्ञस्यम् <sup>6</sup>किमर्थमुच्यत इत्यताह मृष्टेति । तद्देवनफ्छं हि तदेकसमा-

गुणयोग एव मायेति शांकरे । योग.—सामध्यमिति माध्ये ।

<sup>2</sup> अतिबाध्वनद्वति इस्रोको भःरते (शां, 46, 33.)।

<sup>3</sup> अध्याक्यानात्र द्विः प्रयोगः इति ज्ञायते । 4 भविष्यच्छन्द्वत् भविष्यशन्दोऽपि प्रतिद्धः यथा भविष्यपुराणेति । पूर्वस्लोके सर्वस्येति कालत्रयचितिपरिमिति भावः ।

<sup>5</sup> भूतराव्दानुरोधात् किञ्चनेति प्रयोकन्ये पुर्तिगप्रयोगः अतिसमर्थोपीति ज्ञापनाय ।

<sup>6</sup> मदीयमाथात्वात् न ने मोहः। न हि माया मायाविनो मोहसाधनमिति ज्ञापनार्थमिति ग्रांकरम्। हैवप्रत्यनीके मोहशंकाया एव नावसरः।

त्वायावतीर्णे विदित्वा मामेव समाश्रयन् न कश्चिदुपरुम्थत इत्यर्थः। अतो ज्ञानी सुदुर्रुभ एव ॥ २६ ॥ तथा हि—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोद्देन भारत । सर्वभूतानि अमोद्वं सर्वे यातित परन्तप ॥ २०॥

इच्छाद्देषाभ्यां सम्रत्थितेन श्रीतिष्णादिद्रन्द्राख्येन मोहेन सर्वभूतानि सर्गे जन्मकाल एव समीहं यान्ति । एतदुक्तं भवति—गुणभयेषु सुखदुःखादिद्रन्द्रेषु पूर्वपूर्वजन्मिन यद्विषयी इच्छाद्वेषी अभ्यस्ती, तद्वासनया पुनर्शय जन्मकाल एव तदेव द्रन्द्वाख्यभिच्छाद्वेषविषयस्वेन सम्रत्थितं भृतानां मोहनं भवति ; तैन मोहेन सर्वभूतानि संमोहं यान्ति ; तद्विषयेच्छाद्वेष-स्वभावानि भवन्ति, न मत्संश्लेषवियोगसुखदुःखस्वभावानि ; ज्ञानी तु मत्संश्लेषवियोगसुखदुःखस्वभावानि ; ज्ञानी तु मत्संश्लेषवियोगस्व सुखदुःखस्वभावानि । २०॥

्रियेषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्षणास् । ते द्वन्द्रमोहनिर्मुक्ताः भ अन्ते मां दृदवताः ॥ २८ अयणमिति दशिवितं सामेव समाश्रयंत्रित्यक्तमः । परमगञ्जतेन सङ्गमयति अतः इति ॥ २६ ॥

एवं ज्ञानिनो दौर्छभ्याय काळ्ळ्यविर्तिस्वय्-साधारणं भगवद्ञानकारणम् इच्छेति स्टोकेनोच्यत इत्यमिपायेणाह तथा हीति । पदार्थमन्ययार्थं च दर्शयित इच्छाद्वेपाभ्यां सस्तिष्ठतिति इच्छाद्वेपसमुत्यः । ननु जन्मकाळ एवेच्छाद्वेपौ कारणाभावाळ संभवतः ; संभवन्तौ वा श्रीमावद्विषयौ किं न स्थाताम् १ न चेच्छाद्वेपमालेण श्रीतोप्णादेरत्यानम् , तस्य च(१) हेमन्तधर्मादिस्वकारण्यिनत्वात् । द्वन्द्वस्य च कथं मोहशब्दार्थता १ मोहेन मोहं यान्तीत्यास्माश्रयादिपसङ्गः । 'इच्छाद्वेषावेव द्वन्द्वशब्देन गृक्षेते"; अतो द्वन्द्विनिन्तो मोहो द्वन्द्वमोहः श्रिताद परच्याच्यानं च पुनरक्त्यादिद्वस्थम् । एतेन 'कुलं मे स्थात्', "द्वःसं मा सृत् ' इत्यभिनिवेशो द्वन्द्वमोह स्त्यपि मन्दिमत्यादिकमाशङ्कयाह एतद्वक्तं भवतिति । जन्मान्तरवासनाच्यं कारणमितः ; वासनायात्र सकारणस्वभावविषयस्वादिच्छा-द्वेपयोने भगवत्सेक्षेपविद्यत्वेषविषयस्वपस्त्यात् । उत्थानं च इच्छाद्वेपिषयत्वा स्फुरणमेव । मोहशब्दस्य करणे व्युत्यस्या द्वन्द्वे प्रयोगः । मोहकारणस्य मोहजनने च नात्माश्रयादितित भावः । अभोग्ये भोग्यता-द्विद्धः अद्वेत्ये च द्वेप्यतावुद्धिरिहं संमोह इत्यमिपायेणाह तिद्विषयेति । एवविषयंत्रोहवशादिच्छाद्वेषयोः साक्षात्राप्तविषयपरित्यागं दर्शयित न मत्संस्रवेषिति । उचितविषयेच्छाद्वेपशान्तिन सुदुर्छमं ज्ञानिकस्रकाशनाय दर्शयित ज्ञानी त्विति । "ज्ञानी तु परनैकान्ती तदायतास्मजीवनः । तत्संस्थेपविवागेकस्रवद्वःस्वत्वेत्वः स्वतदेकधीः" (२९) इति संग्रद्वः। तद्वितिकमेव मृतानां जन्मसिद्धं दर्शयिति न तदिति ॥

<sup>1</sup> नतु येशमिति इलोको झानिमात्रपरोऽन्तु, उपि अन्याधिकारिमात्रकथनादिति चेन्न-पूर्वइलोकस्य भगवदमकाशहेतुतया प्रसक्तत्यात् झन्झमोहनिर्मुक्तपदं भगवत्मकाशवत्स्ववंपुरुषपरं युक्तम् । अजन्ते मामिति च चतुर्विधा भजन्त इति प्रत्यिभिङ्गेति ।

<sup>2</sup> भगवद्विषयौ—क्रमात् भगावत्सं रलेषवि श्लेषविषयौ ।

<sup>3</sup> इदं शांकरम्। 4 इदं माध्यम्। दुःखस्य द्वेष्यत्वे को भोद्व इति।

येषां त्वनेकजन्मार्जितेनोत्कृष्टपुण्यसंचयेन गुणमयद्भन्द्वेच्छाद्वेषहेतुभूतं मदौन्धुरूय-विशेषि च अनादिकाकप्रवृत्तं पापम् अन्तगतन् श्लीणम् ; ते पूर्वोक्तेन सुकृततारतम्येन मां शरणमनुप्रपद्य गुणमयात् मोहात् विनिर्धकाः जशामरणमोश्वाय, महते चैश्वर्याय, मत्प्राप्तये च दृद्वताः दृदसङ्करुषाः मामेव भजन्ते ॥ २८॥

अत्र [तेषां] त्रयाणां भगवन्तं भजमानानां ज्ञातन्यविशेषान् <sup>1</sup>उपादेयांश्च प्रस्तौति— जरामरणमोक्षाय मामाश्चित्व यतन्ति ये। ते ब्रह्म तत् विद्यः <sup>2</sup>क्टस्तमध्यात्मं कर्म चाचित्रस् ॥ जरामरणमोक्षाय प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपदर्शनाय मामाश्चित्य ये यतन्ते, ते तद्वश्न

यधेवं सर्वभृतानि संमोहं यान्ति: भगवद्पासनं कदाचिदपि कस्यचिदपि न स्यात्। अतः 'चतुर्विधा भजन्ते माम् ' इत्यादिनोक्तं चानुपपत्तं स्यादित्यतोत्तरं येषां त्वित्यादि । पुण्यकर्मणाम् इत्येतत् पापनिवृत्तिहेतुपरम् । तथा च श्रतिः, "धर्मेण पापमपनुदति" (तै. ना. ५०) इति । जनशब्दश्च जननवति वर्तमानत्वात् पुण्यप्रचयहेतुम्तानेकजन्मसूचनपर् इत्यिभिपायेणोक्तम् अनेकजन्मार्जितेनो-रक्कष्टपण्यसञ्जयनेति । भगवज्जाननतिवन्यकपापनिवर्तकत्वाचोत्कृष्टत्वं फलितम् । गणमयश्रद्धेन सुखदः सुरूपभगवत्तं छेषवि छेषा रूयद्वन्द्वव्यवच्छेदः । द्वन्द्वमोहविनिर्मकाः, मां भजन्ते इति फल्रद्वय-दर्शनात् तत्प्रतिबन्धकेऽपि पापे द्वन्द्वेच्छाद्वेषहेत् भतं मदौन्यस्थिविरोधि चेति भेदो दर्शितः । अनेक-जन्मार्जितोत्कृष्टपुण्यनाश्यत्वायोक्तम् अनादिकालप्रवृत्तिमिति । उपासनारम्भे पापस्य द्वन्द्वमोहस्य च निक्रोपविनष्टत्वाभावात् अन्तगत्शब्देनाल्पावशिष्टत्वं विवक्षितमित्यभिषायेणोक्तं श्लीणिमिति । 'मामेव ये प्रवचन्ते' (१४), 'चतुर्विघा भजन्ते माम्' (१६) इत्यादिकं च प्रागुक्तम् , अनन्तराभिधीयमानं च 'जरामरणमोक्षाय' इत्यादिकमनुसन्द्यान आह पूर्वोक्तनेति । न चाल द्वन्द्वमोहविनिर्मुक्तस्ववचना-दैश्वर्यार्थिनां प्रसङ्गान्पपत्तिः. तेषामपि क्षद्रतरद्वन्द्वनिरोधस्यावश्यापेक्षितत्वात् । व्रतशब्दः सङ्कल्प-विशेषे[ष] मुख्य: : तत्संबन्धादेव कियाविशेषे[ष] तत्त्रवीग इत्यमिष्रायेण **रहसङ्ख्या** इत्युक्तम् । **दृढव्रतशब्देन देवतान्तरपरित्यागादिनियमोऽपि यथाप्रमाणं सूचित इत्यभिष्रायेण** मामेव मजन्त इत्यक्तम् । मां भजनते इत्यनेनिएवी भजनाङ्गतादेरिप सिद्धत्वात् मःप्राप्तये चेत्यन्तेन दृढसङ्करपत्वं स्वाभिमतफरुविषयतया व्याख्यातम् ॥ २८॥

अथाष्टमाध्याये प्रपञ्चयिष्यमाणस्यार्थस्य प्रस्तावः स्ठोकद्वयेन क्रियतः इत्याहः अत्रेति । जरामरण-मोक्षायेत्येतावतो निर्देशात् प्रकृतिवियुक्तात्मस्यरूपदर्शन।येत्युक्तम् । यतनमलाऽऽराधनरूपं

<sup>1</sup> उपादेयशब्दः मीमांसकरीत्या अनुष्ठेये प्रसिद्धः। 2 मामाश्रित्य कैवस्यपराणां क्रत्सन-ब्रह्मविज्ञानम् । ज्ञानयोगेन कैवस्यपराणां क्रन्स्नान्तर्गतं भगवस्क्रेयत्वं नोपास्यम् ॥

<sup>3</sup> जरामरणेति प्रयोगात् अपहतपाष्माचिजरोतिसृत्युस्तियाद्यकात्मधर्मेषु पाष्ममोक्ष द्दानीं नेति ज्ञापितम् । प्रकृतौलयक्षपक्लेस्य वृत्तये आत्मस्वरूपर्शनायेति व्याक्यातम् । नाल्लात्मस्वरूपा-विभीवः किंतु दर्शनमात्मम् । पेश्वर्थकल्लेकाले जरादिमोक्षोऽपि न । मुख्यमोक्षे सपाष्मत्वमोक्षोपि ।

## विदुः, अध्यात्मं च क्रत्स्नं विदुः, कर्म चाखिलं विदुः ॥ २९ ॥

अत य इति पुनर्निदेशात् पूर्वनिर्दिष्टेभ्योऽन्ये अधिकारिणो ज्ञायन्ते; साधिमूतं साधिदैवं मामैश्वर्यार्थिनो ये विदुः इत्येतत् अनुवादसरूपमःयप्रःप्तार्थत्वात् विधायकमेव; तथा साधियज्ञमित्यपि त्रयाणामधिकारिणामविशेषेण विधीयते; अर्थस्वामान्यात् । त्रयाणां हि नित्यनैमित्तिकरूषमहायज्ञाधनुष्टानमवर्जनीयम् । ते च प्रयाणकालेऽपि स्वप्राप्यानुगुणं मां विदुः। ते चेति चकारात् पूर्वे जरामरणमोक्षाय यतमानाश्च प्रयाणकालेऽपि स्वप्राप्यानुगुणं मां अनेन ज्ञानिनोऽप्यर्थस्वाभान्यात् साधियज्ञं मां विदुः, प्रयाणकालेऽपि स्वप्राप्यानुगुणं मां विदुरिस्युक्तं भवति ॥ ३०॥

॥ इति श्रीभगवदामानुजविर्चिते श्रीमद्गीताभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

विवक्षितम् । एषां ब्रह्माध्यारमकर्माद्दीनां सप्तानां प्रश्नपूर्वकं प्रपद्दो मविष्यति । अ**त्र विदुः** इति सिद्धविविदेशो वर्तमानापदेशोऽपि विध्यर्थः ॥ २९ ॥

साधिभृतेति स्रोक्स्येश्वर्यार्थिविवयःत वन्तुमधिकारिणो] मेदमालज्ञापकं तावत् दर्शयति अतेति । पूर्वीधिकारिविषयःते, साधियज्ञं च ते विदुरिति हि वक्तव्यम् ; न चैव शिष्टाः पठितः ; न चाल वच्छव्दाऽऽवृत्तेः प्रयोजनमस्तीति भावः । प्रशोत्तरवशाचाधिकारिभेदः सेरस्यति । एवं सामान्येन ज्ञातमधिकारिभेदमधिभृतादिनानर्यान् विश्वराष्टि ऐश्वर्यार्थिन इति । जरामरणमोश्वायेत्यादाविव अलापि यच्छव्दवशादनुवादत्वं प्रतीतमिति तत् प्रतिक्षिपति इस्येतदित्यादिना । "यदामयोऽष्टाकपालः" (ज्ञत. २. ५. १. ११) इत्यादिवदिति भावः । अस्य विधित्वं प्रशादिवशाच फिल्यति । न ह्यत्यते प्रशादवशाचः । साधियज्ञम् इत्यर्थेकसिन्नधिकारिणि निर्दिष्टस्याप्यश्रेलामान्यात् विष्वयन्वयं दर्शयति वश्चेति । अर्थसाभाव्यादिति । सर्वाधिकारिसाधारणत्या प्रमाणसिद्धर्यज्ञास्वयदार्थलामान्यादित्यश्च । एतदेव दर्शयति त्रयाणां होति । अन्यया "सन्ध्याहीनोऽञ्जिनित्यमन्दिसर्वकर्मसु" (द. स्प्ट) इत्यादिक्रमेण अकर्मण्य (कर्मान्दे)त्वादिप्रमुङ्ग इत्यिभागयेणाह् अवजनीयमिति । अपिचेत्येकाव्ययार्थल्य प्रयोजनाभावात् प्रयक्ते सम्योजनतया अन्ययसेभवाच विभव्यति ते चेति । अन्तिमपत्ययस्य कर्मिते । चकारस्य प्रथानवयेन लव्यमार्थे सम्योजनतया अत्यविश्वर्ये सम्योजनस्य स्वाप्यानुगुणाकारस्य प्रक्ति त्रयद्वति त्रयाणां हिति यद्वत्वप्रति यद्वत्वति। वकारस्य प्रथानवयेन लव्यमाह तेचेति । चकारसदिति यद्वत्वप्रति विश्वरेषे वश्यति हित भावः । तयाणा-मित्यादिकमयुक्तम्, ज्ञानिनामल प्रसङ्गाभावादित्यलाह अनेनेति ।

<sup>1</sup> क्वानं तेऽदं सविज्ञानिमत्युपक्रमात् क्वानस्य प्रागेव स्थितत्वात् सप्तमस्य विक्वानेशस्पर्यात् विक्वानयोग इत्युक्तम् ।

#### अथ अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

सप्तमे-परस्य ब्रक्षणो वासुदेवस्योगास्यत्वम् (स्वस्य) निस्विकचेतनाचेतनवस्तुशेषित्वम्, कारणत्वम्, आधारत्वम्, सर्वेशशीन्तया सर्वेशकारत्वेन सर्वशन्दवाच्यत्वम्, सर्वेनियन्तृत्वम्, सर्वेश्च क्रव्याणगुणगणेत्त्तस्येव परतरत्वस्, गत्त्वरजन्त्रमोमयेदेहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन चावस्थिते-भीवेरनादिकारुप्रचुतदुष्कृतप्रवाहहेतुकैत्तस्य विशेषानम्, अत्युत्कृष्टसुकुतदेतुकभगवत्प्रपत्या सुकृततारतम्येन च प्रतिपत्तिवैशेष्यात् ऐश्वर्याक्षस्याथात्म्यभगवत्प्रास्यपेश्वयोगासकमेदम्,

<sup>2</sup>अधियज्ञान्तिमपत्ययमात्वयोरधिकारित्तयसाधारण्यसिद्धेरिति भावः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्गीताभाष्यदोकायां तात्वर्यचिन्द्रकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

सङ्गतिपदर्शनायाह सप्तम इति । परस्य ब्रह्मणो वासदेवस्योपास्यन्वमिति 'मय्यासक्तमनाः' (१) इत्यादेर्श्यः । तत्नेव द्वापासनं प्रस्तुतम् । तच्छेषतया चान्यत् सर्वमिहोच्यते । तस्यैव प्रपञ्चनम् 'अहं सर्वस्य (कृत्खस्य ?) .... प्रभवः' (७. ६), 'वासुदेवस्पर्वै' (१९), 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (१६) इत्यादिभिः परस्तात क्रियत इति भावः । प्रक्रश्चेत्यादिभिरुपहितत्रझ-व्योमातीतादिपक्षप्रतिक्षेपः । ब्रह्मश्चट्रस्य विशेषशब्दसम्मिन्याहारात् देवतान्तरन्याष्ट्रतिः । बास्रदेवशब्देनात्नावतार्गवशेषो वा विवक्षितः । निस्बिक्टेत्यादिभिरुपास्यत्वपरत्रक्षस्वोपयुक्ताकारकथनम् । निखिक्रचेतनाचेतनवस्त्रश्चेषितविमिति 'मुमिरापः' (४) इत्यादेः श्लोकद्रयत्यार्थः । निश्चिल्यान्देन कार्यकारणादिरूपावस्थासंग्रहात कार्य-भूतब्रह्मरुट्यदेरपि कोडीकारः । कारणत्वम् 'एतद्योनीनि' (६) इति रुख्ठोकस्यार्थः । 'मतः परतरं नान्यत्' (७) इत्युक्तस्य परत्वस्य 'मामेभ्यः परम्' (१३) इत्यतोपयुक्ततया तत्वैवोदाहर्तुमन्न तद्ति-क्रमेण 'मिय सर्वम्' (७) इत्याद्यक्ताधारत्वोपादानम् । 'रसोऽहम्' (८) इत्यादिसामानाधिकरण्य-फिल्तं सर्वशब्दवाच्यत्वम् । तल हेतुराधारत्वादिविशेषसिद्धं सर्वशरीरकत्वम् । एवं शेषित्वाद्यनुवादेन वक्ष्यनागतत्तद्धिकारिपाप्यवस्त्वविशेषसामानाधिकरण्यस्यापि शरीरात्मभावहेतुकत्वं दर्शितम् । 'मत्त एवेति तान् विद्धि' (१२) इत्यादिषु पृत्रतितादधीन्यस्यापि विवक्षितत्वात् सिद्धं सूर्वनियन्तृत्वम् । सर्वेश्चेत्यनेन अनिर्दिष्टानाम अन्येषां च आभिपायिकाणां संग्रहः । तस्यैवेत्यवधारणेन 'नान्यत् किञ्चिद्स्ति' (७) इत्यस्यार्थ उक्तः। 'तिसिर्गुणमयैः' (१३) इति इलोकस्य सार्धस्यार्थः सन्वेत्यादिनोक्तः । 'मामेव' (१४) इत्याचुक्तपपतेः सुकृतिविशेषहेतुकत्वं 'जनास्युकृतिनः' (१६) इत्यनेन दर्शितमाह अस्युत्कृष्टसुकृतेति । 'न मां दुष्कृतिनः' (१५) इत्यादेः पूर्वोक्ततिरोधानप्रकार्विशेषकथन-रूपस्वात् सुकृतिप्रशंसाशेषस्वाच तदर्थोऽत प्रथङ्गोपातः । 'चतुविधाः' (१६) इत्यादिकं सुकृत-तारतम्येनेत्यादिनाऽनुसंहितम् । उपासक्यभेदं चेत्यन्वयः । 'तेषां ज्ञानी' (१७) इत्यादेःस्रोक-

<sup>1</sup> उपाध्यत्वमित्यः उपाध्यस्येति तास्रपादः।

<sup>2</sup> तथा चार्य इलोकार्थ.—सर्वाधिकारिसाधारणाधियञ्चसाहित्येन समाप्याधिभृताधिदै-वाकारविशिष्टतया वे मां विदुः, ते, तदितरे च प्रयाणकालेऽपि मां विदुरिति ।

मगवन्तं प्रेप्तोर्नित्ययुक्ततयैकभक्तितया चात्यर्थन्यमपुरुषि्रयस्वेन च श्रेष्ठ्यम् दुर्लभस्वं च प्रतिपाद्य एषां लयाणां ज्ञातन्योपादेयगेदांश्च प्रास्तौषीत् । इदानीषष्टमे प्रस्तुतान् ज्ञात-व्योपादेयमेदान् विविनक्ति ॥ वर्जन व्याच—

कि तद् बह्य किमध्यात्मं कि की पुष्योक्षमः। अविभूतं च कि बोकस् अधिदेवं कि कुच्यते ॥१ अधियक्षः कथं कोऽल देहेऽस्मिन् मधुल्यतः। य्याणकालं च निश्चं क्षेत्रोऽस्मि विः तात्मिसिः॥ जरामरगमोक्षाय भगवन्तमाश्रित्य यतमानाभां ज्ञातन्यतथोक्तं तत् बह्य अध्यात्मं च किमिति वक्तन्यम्। ऐश्चर्यार्थिनां ज्ञातन्यश्चिभृतम् विदेवं च किम् १ त्रयाणां ज्ञातन्योऽ-धियज्ञसन्दितिदृष्ट्य कः १ तस्य चावियज्ञभावः कथम् १ प्रयाणकाले च एविसिमिनियन्तातमभिः कथं ज्ञेयोऽसि १ ॥ १, २ ॥

द्वयस्यार्थो भगवन्तमिल्यादिनोक्तः। 'बहूनां जन्मनाम्' (१९) हत्यादिना 'सर्गे वास्ति परन्तप' (२७) हत्यन्तेन सिद्धमाह दुर्छभस्विनिति । 'येषां तु' (२८) हत्यादेरध्यायदोषस्य अर्थमाह एषां त्वयाणा-मिति । ज्ञातस्यिमिह सिद्धरूपं विविक्षतम् । उपादेयम् अनुष्ठेयम् । एतेन स्वयाथात्म्यम् (११) हत्यादिसंग्रह्रस्थोकस्यार्थोऽपि प्रपिश्वतः । अयं त्वष्टमस्य संग्रहः, " ऐश्वयीक्षर्यायात्म्यमगवचरणार्थिनाम् । वेद्योपादेयभावानामष्टमे भेद उच्यते ॥'' (१२) इति । अतः भेदोक्तरथ्यायार्थस्यात् स्वरूपप्रस्तावः प्रागेव कृत इति दर्शितम् । प्रस्तुत्वपश्चनिमिति सङ्गतिमाह हदानीमिति ॥

जीवस्वरुपदिज्ञात्य्यस्योपासनायनुष्ठेयस्य च भेदिजिज्ञासयाऽर्जुन च्याच कि तिदित । 'आर्ती जिज्ञासुः' (७. १६) इत्यादिना प्रागेधाधिकारित्वयस्योक्तत्वात् 'जरामरणमोक्षाय' (२९) इत्यादिषु यच्छव्दाष्ट्रतिसामध्याद्येक्तायाच्याधिकारित्वयस्योक्तत्वात् 'जरामरणमोक्षाय' (२९) इत्यादिषु यच्छव्दाष्ट्रतिसामध्याद्येक्तायाच्याधिकारित्वर्यस्योक्तात्वयाद्येयस्त्रायाद्याधिक्वयम् , अधिमृतं चेत्वधिमेक्षयाधिक्वयम् ; अधिमृतं चेत्वधिमेक्षयाधिक्विययम् ; अधिमृतं चेत्वधिमेक्षयाधिक्वयम् ; अधिमृतं चेत्वधिमेक्षयाधिक्वयम् ; अधिमृतं चेत्वधिक्वयम् । अश्रियज्ञभाव इत्यर्थरुव्यम्प । अश्रेत्येतच्छव्दः शास्त्रसित्वस्युपाधिकः ; तच्चोत्तरमस्ये व्याख्यास्यति, 'अत्र इन्द्रादौ नम देहमृते' इति । अस्मित्विती-दंशव्यस्तु स्वप्रत्यक्षसित्वस्युपाधिकः ; प्रत्यक्षा हीन्द्रादयोऽपि मृष्टुर्जुनस्य । एत्चछ्वदेदंशव्यपेश्वेकस्मित् वावये सामानाधिकरण्येन प्रयोगो दृश्यते, "स एष द्वाभ्यां दर्शनीभ्यां विराङ्भ्यामनयोद्वीविश्योद्विन्यद्वयायेश्वेतम्यं पुरुषः प्रतिष्ठितः" इत्यादौ । यद्वा रिश्वतेत यज्ञवल्वपपरागर्शः । नियतास्मत्वं व्याणामपेक्षितम् ; अत्र बहुवचनमधिकारित्वयपरमित्यसिवायेणोक्तम् एभिन्दिमिरिति ॥ १, २ ॥

<sup>1</sup> कथिमञ्जल द्वितीयस्य क्रिमर्थिनित केनोपायेनेति चार्थद्वयम् । आद्यस्योत्तरम् अन्त काळेचेति । द्वितीयस्योत्तरं तस्मात् सर्वेष्वित ।

<sup>2</sup> अनेति वक्ष्यमाणपदैकार्थ्यं माभूदिति मत्वाऽर्थान्तरमाह बह्नेति । इद्मुपखंक्षणम्-कि

श्रीभगवानुवःच—
कक्षरं त्रह्म परमं स्वभावोऽष्यातममुच्यते । भृतभावोङ्गवकरो विश्वर्गः कमंसंबितः ॥ ३
तद्ब्बेति निर्दिष्टं परममक्षरं न श्वरतीत्यक्षरम्, श्वेत्रज्ञसमष्टिरूपम् । तथा च श्रुतिः,
"अन्यक्तमश्चरं छीयते अश्वरं तम्मि छीयते" [सु. २] इत्यादिका । परममक्षरं प्रकृतिनिनिर्म्वकमात्मस्वरूपम् । स्वभावोऽष्यात्ममुच्यते । स्वभावः प्रकृतिः । अनात्मभृतम् , आत्मनि
संवष्यमानं भृतसृक्ष्मतृद्वात्मादिकं पञ्चात्रिविद्यायां ज्ञात्वश्वत्योदितम् । तद्भयं प्राप्यत्या

अक्षरं त्रम परमित्यल उद्देश्येपादेवान्त्रथामावनिरासायाह तद्त्रमेति निर्दिष्टमिति । व्रझ्श्वाह्य त्रमाहमसाधम्थाँदुपचारद्वर्येति भावः । श्रञ्जाश्वाह्यस्य निवेचनं प्रतिपाद्यं च दर्शयित त स्वरतीत्यादिना । क्षेत्रज्ञसमध्ये श्रोतं प्रशेयति तथा चेति । रुयोऽत्व संस्तेष्ठयिक्षितः । अथवा स्वतावक्षरश्वत्देन उन्ममचेतनांशः प्रकृत्वव्यक्षाविशेष एव अधियत इति साक्षारम्रस्यश्विदेषि । विरोधः । तथाऽपि शन्दपष्टिद्वर्यत्वव्यक्षाविशेष एव अधियत इति साक्षारम्रस्यविद्वर्या प्रतिष्यः । तथाऽपि शन्दपष्टिद्वर्यत्वव्यक्षाविशेष एव अधियत इति साक्षारमस्यविद्वर्या प्रतिष्यः । तथाऽपि शन्दपष्टिद्वर्यत्वव्यक्षाविशेष एव अधियत इति । नियतसंवद्वप्रिति । नियतसंवद्वप्रति । नियतसंवद्वप्रति । नियतसंवद्वप्रति । नियतसंवद्वप्रति । विद्यतसंवद्वपिति यावत् । किं तदित्याकाङ्क्षायाम् अध्यात्मशन्दान्तरात्वर्यः स्वात्मादिकं तत्संसर्गोपधिकाज्ञानकर्मवान्तनात्वर्यः । तत्व एव तिद्वर्यास्यत्वर्यः तद्वासादिकं तत्संसर्गोपधिकाज्ञानकर्मवान्तनात्वर्यः । मृतस्वर्यादेज्ञतिव्यत्वे श्रुति दर्शयित पश्चाप्तिति । पश्चिष्ययामानित्वापः पुरुववचसो भवन्तिः (छा. ५. १. १) इत्युवक्रम्य, ''इति तु पञ्चम्यामान्तुतावापः पुरुववचसो भवन्तिः (छा. ५. ९. १) इत्युवक्रयं (तव इत्यं विदुः' इत्यप्छन्दोपस्वितपञ्चमृतस्वस्ववेवत्वं श्रुक्तम् १ मृतस्क्षादिक्वर्यन्वितिनीन्तनारमस्वरूपविति । यथाक्षनमन्वयः । अत्र पञ्चमान्नुतेविविश्वतत्वात् योनिजस्त-

तद्मश्चेति तच्छन्दः पूर्वे त्यदुक्तिविषय इत्यर्थकः । त.च सः व्यान्यः । अधियद्यावस्य पुंक्षित्तवात् तद्दम्यायोगात् अवेति प्रयुक्तस्य त्यद्वक्तयाव्य प्रयुक्तस्य विभावत्य प्रयुक्तस्य विभावत्य प्रयुक्तस्य । स्यय्व प्रयुक्तस्य प्रयुक्तस्य प्रयुक्तस्य । स्यय्व प्रयुक्तस्य प्रयुक्तस्य विभावत्य प्रयुक्तस्य प्रविक्तस्य । स्यविक्तस्य प्रविक्तस्य प्रविक्तस्य प्रविक्तस्य प्रविक्तस्य । स्यविक्तस्य प्रविक्तस्य प्रविक्तस्य प्रविक्तस्य ।

1 अक्षरशब्द्य जीवार्थकत्वे तत्य तमस इव नित्यत्वात् कथं लेयः इत्यत्नाह संदल्जेषिति । पूर्वमुत्तरत्र च लयार्थकत्वात् अतिशैव्यक्षंगायात्यथा व्याच्छे अथविति । प्रवृत्तिद्वारेति । तमःकार्यस्य तस्य क्षरत्वात् अक्षरपदं जीवद्वारेव तलौपचारिकविति भावः ।

2 अधिवसन्यदिति । आत्मनीति अधिकरणविभक्तयर्थे अनद्दवेत्यव्ययीभावसमासे अध्यातमिति साधु । छेक्षणयः तु संवच्यमानपरम् । आत्मसंबन्धि चानात्मेति भावः । त्याज्यतया च मुमुक्षुभिज्ञीतन्यम् । भृतभावोद्धवकरो विसर्गः कर्मसेजितः । भृतभावः मनुष्यादि-भावः ; तदुद्भवकरो यो विसर्गः, 'पश्चम्यामाद्भुतावाषः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा. ५. ९. १) इति श्रुतिसिद्धो योषित्संयन्धवः, स कर्मसंज्ञितः । तचास्त्रिकः वस्यम् उद्वेजनीयतया, परिहरणीयतया च मुमुक्षुभिज्ञीतन्यम् । परिहरणीयता चानन्तरमेव बक्ष्यते, ''यदिन्छन्तो वक्षचर्यं चरन्ति' (१९) इति ॥ ३ ॥

अधिभृतं सरो आवः पुरुषश्चािविद्यां अविध्यक्षोऽहमेवात्र देहे देहमृतां वर ॥ ४ एश्वर्यार्थिनां ज्ञातन्यतया निर्दिष्टमां अभृतं करो भावः वियदािदभृतेषु वर्तमानः तस्परिणामविशेषः अरणस्वमावो विरुश्चणः शन्दस्यक्षीःदेस्ताश्चयः । विरुश्चणाः साश्चयादशन्दर्यक्षरस्यसम्भयाः ऐत्वयोिर्धिः प्राप्यास्तरनुष्यत्ये याः । पुरुपश्चािषदैवतम् अधिदैवतश्वद्यन्तिर्दिष्टः पुरुषः। अधिदैवतश्वदे देवतोपिरि वर्तशात्राः, इन्द्रभज्ञापितप्रमृतिश्वरत्यदेवतोपिरि वर्तशातः, विषयोऽयं मृतशन्द इति । मनुष्यत्वादिविशिष्टशरीरयोग इत्यर्थः । विशिष्टस विसर्गस्य ज्ञातम्यत्वे तस्य मनुष्यादिभावहेतुत्वे च श्रुति दश्चयित पश्चम्यामिति । अतः भूतमरुमस्यविद्यस्यान्यविद्यस्य चित्रमेत्रम् भूतभावोद्भवक्षः इति । तदेव दश्चयित पश्चम्यामिति । अतः भूतमरुमस्यविद्यसिर्माम्यविद्यत् सिद्धम् । एवं कर्मसिज्ञतरेतोविसर्मज्ञानस्य समयोजनतामाह त्वचाित्रस्यविद्याः । अस्त्रस्य मनुष्यत्यस्यम्यादिज्ञातिभेदहेतुतयाऽनेकप्रकारम् । सानुवन्धं हेतुन्दैः कर्ममिः फरुप्तेश्च गर्भवासािदिनिस्पर्शः। पश्चामितिद्यायामचितस्पर्वावस्यानुत्यायिरवदुत्यज्ञत्वगर्भजनमादिदुःसक्षरत्वादेः फरिकतत्वात् जुगुष्यनीयतारूपा भयावहत्वरूपा चोद्वेजतीन्ता स्वः । परिहरणीयता कृतः सिध्येदित्यत्राद्य परिहरणीयता चेति ॥ ३ ॥

ऐश्वर्यार्थिनां ज्ञातन्यत्या निर्दिष्ट मिरयेतत् <sup>2</sup>अधिदैवतेऽप्यनुषञ्जनीयम् । अधिमृतक्षरशन्दिनिवनानुरोधेन व्याख्याति वियदादीति । भृतशन्दस्यात जन्तुनिषयस्यन्यवच्छेदाय वियदादिशन्दः । शन्दायवस्थातद्वतोभींग्ययोद्वेदोरिष श्वरशन्देन संग्रहणाय श्वरणस्वभान इति निवेचनम् ।
नश्वर इत्यर्थः । विलश्चण इति इन्द्रप्रजापित्रमृतीनां भीग्यजातादिति वश्यमाणमलापि द्रष्टव्यम् ।
एवंविधं च वैल्क्षण्यं खासाधारणभक्तियोगप्रसन्त्वपरमात्मसङ्कल्पविशेषप्रसृतभोगरूपत्वात् । अस्य ज्ञातन्यताहेतुं दर्शयति विलश्चणा इति । 'क्षरो भावः' इत्येकवचनं जात्यभिषायमिति मावः । प्राप्याः
प्राप्यस्वादित्यर्थः । अधिदैवतशन्दे रूदिअमल्युदासायाह अधिदैवतशन्दरिष्ट इति । तिकरिक्तः
देवतोपरिवर्त्तमान इति । देवतोपरीति संवन्यसामान्यपष्ट्या समासः । दैवतशन्दस्यात सर्वेश्वरात्

<sup>1</sup> विसर्गण्दलारस्यादेवमर्थवर्णनेऽपि श्रन्तां जुल्लित सोमो राजा भवतीत्युक्तं देवशरीर-रूपमृतकावोद्भवकरं होमादि सर्वे प्राह्मित्याश्येन आंखळं सानुवन्धमित्युक्तम् ।

<sup>2</sup> अधियज्ञराव्यवत् अधिभृतादिशब्दोऽपि नाब्ययम्।

इन्द्रप्रजापतित्रमृतीनां योग्यजाताः द्वेलक्षणशब्दादेशोंका पुरुषः । सा च मोक्तृस्वावस्था एक्षयिभिः प्राप्यतयाऽजुसन्धेया। अधियज्ञोऽहमेन [अधियज्ञशब्दनिर्दिष्टोऽहमेन]। अधियज्ञः यज्ञैराराध्यतया वर्तमानः । अत इन्द्रारी सम देहभृते आत्मतयाऽविश्यतोऽहमेन यज्ञैराराध्य इति महायज्ञादिनित्यनैः मेक्तिकानुष्ठः नवेलायां त्रयाणामधिकारिणामनुसन्धेयमेतत् ॥ ४ ॥ अन्तकाले च नामेच छारन् सुक्षः कलेवाम् । यः वयति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ इद्मिष त्रयाणां साधारणम् । अन्तकाले च मामेन स्वरन् कलेवरं त्यवस्ता यः प्रयाति, स मद्भावं याति मम् यो मानः स्वभावः तं याति ; तदानीं यथा मामनुसन्धत्ते, तथाविभाकारो सङ्कोचं देवतास्तरेष्वभिव्याति चाह इन्द्रीत । उपि वर्तमानत्वमिह न केवलं देशावपेक्षया; किंतु भोगप्रकर्षाद्वीत्यभिव्यायेणित्याह(णाह ?) इन्द्रोत्यादि पुरुष इत्यन्तम् । ननु पुरुषान्तरमिहाविविक्षतम् ; स्वात्मस्वरूपपुरुषानुसन्धानमधिकार्यन्तरस्य।पि समानम् ; ततोऽत्र को विशेष इत्यन्नाह सा चैति। न परिगुद्ध-स्वल्पनिहानुसन्ध्यमः , न चाग्रद्धेऽि हेयत्वमिह भाव्यमः : परुष्वश्वन्वनिर्देशश्चान भावप्रधान वित

भोगप्रकर्षादपीत्यभिप्रायेणेत्याह(णाह १) इन्द्रेत्यादि पुरुष इत्यन्तम् । ननु पुरुषान्तरमिहाविवक्षितम् ; खात्मखरूपपुरुषानुसन्धानमधिकार्यन्तरस्य।पि समानम् ; ततोऽत्र को विशेष इत्यताह सा चेति। न परिशुद्ध-स्रक्षपिनहानुसन्धेयम् : न चागुद्धेऽवि हेयत्विमह भाव्यम् ; पुरुषग्रन्दिनिर्देशश्चात्र भावप्रधान इति भावः । अहमेवेति क इति प्रश्नस्थीचरम् । कथमिति प्रश्नस्थीचरस्वं तद्मिपेतं विद्युणीति अधियन इति । यज्ञे संबध्यमानोऽधियज्ञः । तल्ल च सर्वेश्वरस्वाऽऽराध्यतया संबन्ध इत्याह **यज्ञेरागुष्यतया** . वर्तमान इति । इन्द्रादयो हि तल आराध्याः श्रताः ; तत् कथमहमेवेत्युच्यत इत्यत्नोत्तरम् अत देहे इत्यनेन विवक्षितमिति दशैयति ःक्षेत्रदादाः(वति । 'अधियज्ञोऽहमेवात्न देहे' इतीश्वरेणाभिषीयमा-नत्वात् तद्देहविषयत्वं प्रतीतम् ; स चेश्वरदेहः यज देवपूजायामिति याज्यदेवतापेक्षयज्ञपसङ्गादिन्दादिरे-वेत्यभितायेगोक्तम् इन्द्रादात्रिति । 'वां वां तनुम्' (७. २१) इति प्रागुक्तं सारयति मा देहसूत इति । कर्मणा ह्यचिद्रव्यं कस्यचिद्देही नविः ; न तथाऽल देहत्वं कादाचित्कमिति ज्ञापनाय देहभूत इति प्रयोगः । देहभूतकेवलेन्द्रादिन्यवच्छेदार्थम् अ**हमेवे**त्यवधारणम् । पूर्वनिर्दिष्टज्ञह्याध्यात्मकर्माधि-मृताधिवैववस्र तत्त्वान्तरमिति ज्ञापनार्थं वा । 'विष्णुस्सर्वा देवता:' (ऐ. ब्रा.) इति च श्रुतिः । एतेन **कथ**मिति प्रश्नस्याप्युत्तरं दत्तम् । तत्तद्विशिष्टस्याराध्यत्वात् । **देहमृतां वरे**त्यनेनाध्यासम्बिन्तानुगुणसत्त्वोत्तर्-देहेन्द्रियादिमत्त्वम् , स्वस्यालौकिकेन्द्रादिदेहवत्त्वे निद्रीनं चाभिप्रेतम् । एवविषाधियज्ञविज्ञानमनुष्ठानानु-पविष्टम : न त तद्वकारकमालम् , न चैश्वर्यार्थिमालविषयमिति दशीयति **इति महायज्ञे**ति । अकरण-निम्तिनार्वहतादिवरिहाराय त्रयाणामवश्यकर्तव्यताद्योतनाय नित्यनेमित्तिकोक्तिः ॥ ८ ॥

प्रयाणकाले इत्यस्य प्रश्नस्य तंत्रहेणोतरम् अन्तकाले इति क्षोकः । अतो न ज्ञानिमालविषय इत्यमिपायेणाह इद्मपीति । अधियज्ञपदार्थ[वत् अर्थ ?]लामाव्यात् बक्ष्यमाणप्रकाराचेति भावः । अन्ययं दर्शयति अन्तकाले चेति । मङ्गायं यातीत्यल श्रुत्यादिविरुद्धतादात्म्यावासिश्रमस्युदासायाह मम यो भाव इति । नन्वीश्वरत्तभावपायाव[स्या]पि क्रशोदरीनीडनिहितकीटस्य तज्ञातीयत्ववत् ईश्वर्गन्तरत्व-प्रसक्तः, ल्याणामधिकारिणां गुणाष्टकरूपेश्वरत्तभावपास्यविद्योषे अधिकारिमेदश्च न स्यान्नित्यत आह तदानीमिति । तत्वदनुसन्धेयाकारिविद्योषसम्यपासिविविक्षता । साम्यं च ल्रक्षपमेदक्रि(क)वैषम्ये

भवतीत्यर्थः ; यथा आदिभरतादयस्तदानीं सर्वमाणमृगसजातीयाकाराःसंभृताः ॥ ५ ॥ सर्तुस्यविषयसजातीयाकारतावःदनमन्त्य विस्ययस्य स्वभाव इति सुरुष्टमाह — वयं वाऽवि सरम् भावे स्वजन्यन्ते कलेत्रस्य । ततमैवैति कौन्तय सदा तकावमानितः॥ ६

अन्ते अन्तकाले येथं वापि भावं सान् इलेवरं त्यजित, तंत भावमेव मरणानन्तरमेति । अन्तिमान्तराले येथं वापि भावं सान् इलेवरं त्यजित, तंत भावमेव मरणानन्तरमेति । अन्तिमानत्यपथ पूर्वभावितविषय एव जायते ॥ ६ ॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्तर युश्य च । मय्यवितमनोबुद्धिः मामेवैध्यस्यलंशयः ॥ ७ यसात् पूर्वकालाभ्यस्तिवयय एवान्त्यप्रस्ययो जायते, तसात् सर्वेषु कालेश्वाप्रयाणादहरहर्मामनुस्तर । अहरहरनुस्मृतिकरं युद्धादिकं वर्णाश्रमानुबन्धि श्रुतिस्मृतिचोदितं
स्थिते सत्येवेति न कश्चिहोष इति भावः । एवं त्रक्षाः प्रस्तुक्ताः ; नास्त्यत्न संश्रयः
इत्यनेन अभिप्रेतां प्रयोजकप्रसिद्धि दर्शयति यथाऽऽदिभरताद्य इति । एतेनोदाहरणेनापि तादात्म्यअमो निरस्तः ; न ह्यादिस्रतत्य सर्वमाणसृगेण तादात्म्यम् ; अपि तु तत्समानाकारसृगशरीरपरिमह
एवेति तत्नैव प्रसिद्धम् । तदानीं देहवियोगकाल इत्यर्थः ॥ ५ ॥

न केवलमीश्वर्यविषयान्तिमम्लयस्थाने। उपिति मन्तन्यम्, किंतु सर्वसाधारणिमदमलाप्युक्त-मिति प्रयोजकाकारो यंयमिति इलोकेनोच्यत इत्याह सार्तुशिति। अन्तशब्दोऽल पूर्वश्लोकामि-हितान्तकालपरः। तस्य चान्तिमम्लयध्यभावज्ञापनाय सारन् इत्यनेनान्वय इति दश्चिति अन्ते अन्त-काले इति । वीप्सया, वाऽपीत्यनेन च सार्तःश्विषयनियमो नीचोचमविषयवैषम्यामावश्च दर्शितः। चंतिमिति वीप्सया त्वसङ्कार्णत्वत्यासिः। अवधारणेन प्रवलपुण्यान्तरेणापि तस्या दुर्वारस्यं च विवक्षितम्। भावशब्दोऽल्ल सभावपरः। धर्मिश्रत्ययस्तु नान्तरीयकः। भावशब्दस्याल पदार्थपरत्वे प्रस्तुतमान-शब्दवैरूप्यम्, तंतमेतीति साजात्यलक्षणा च। तंतमेवैदीत्यल यल कचन जन्मिन सर्वसाधारण-तज्जातियोगमालःयुदासायोक्तम् मरणानन्तरभिति। न बादिभरतमृगत्वे जन्मान्तरस्यवधानम्। 'सदा तद्भावभावितः' इत्यनेनित्तमस्मृतिहेतुर्विवक्षित इत्याह अन्तिमस्रत्ययश्चेति। तद्भावभावितः तद्भावनायासित इत्यर्थः। तस्मिन् भावो भावितो येनेति वा तद्भावभावितः॥ ६॥

एवमित्तमप्रत्यवाधीने फले, अन्तिमप्रत्यये चानवरतमावनाधीने, मवताऽपि तथाविधमावना तदनुश्राहकं कर्म च क्रतिव्यमित्युच्यते तस्मादिति क्षीकेन । सर्वेषु कालेप्वित्यनेन, 'स खर्रवेवं वर्तवन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमानसंपद्यते' (छा. ८. १५. १), "प्रायणान्तमोङ्कारमिष्ध्यायीत" (प्र. ५. १) एत् विश्वरिक्षः नुम्पूर्वेलः पायेत आप्रयाणादित्युक्तम् । स्वत्रं च "आप्रयाणात् तलापि हि दृष्टम्" (४. २. १२) इति । वर्ति, मतिपक्षमनुस्तरणेऽपि आप्रयाणादिति वक्तं शक्यमिति तद्वयुदासामिप्रायेण बहुवचनित्याह अद्दरहरिति । "तं पूर्वापररालेषु युद्धानः" ( ) इत्यादिविहितेकाप्रवानुष्टम् सात्त्विककालेप्वित्युक्तं भवति । तथा च स्वत्रम्, "यत्त्रकाप्रता तलाविशेषात्" (४. १. ११) हति ।

l **अ**न्त्येत्यत्र सर्वत्र अन्तिमेति पाठान्तरम्।

नित्यंनैमित्तिकं च कम इरु । एवसुपायेन मय्यर्पितमनोबुद्धिः अन्तकाले च मामेव स्मरन् यथाभिलपितप्रकारं मां प्राप्सिसिः नाल संघयः ॥ ७ ॥

एवं सामान्येन स्वत्राप्यावात्तिरन्त्यत्रस्वयाधीनेत्युक्त्वा तदर्थे त्रयाणासुपासनप्रकारमेदं वक्तसूपक्रमते : तत्रैधर्यार्थिनासुपासनप्रकारं यथोपासनमन्त्यत्रस्वयप्रकारं चाऽऽह---

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यःशीमेना । ९रमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थातुचिन्तयन्॥ ८ अहरहरस्यासयोगाभ्यां युक्ततया नान्यगामिना चेतसा अन्तकाले परमं पुरुषं दिव्यं मां वक्ष्य-

युष्य च इति विहितस्य युद्धस्य अत्र 'फळवत्सित्रिधावक्रळं तदक्षम् ' इत्यादिन्यायादनुस्मृत्यक्षत्वं सिद्धम् । तच युद्धमत्व प्रस्तुतत्वादुपरुक्षणतयोक्तम् ; ततश्च प्रमाणसिद्धं यथास्वं(लः १)वणिश्रम(मं १) कर्मावश्यं कर्तत्व्यमित्युकं सवतीत्यभिनायेणाह अहरहग्तुस्मृतिकरं युद्धादिकमिति । वर्णाश्रमानुवन्धीत्युपरुक्ष्य-संग्राहकाकारः । चोदित्मित्यनेन शर्माद्दिधिश्चोदितव्यतिरिक्तविषयत्वं स्वितम् । नित्यनेमित्तिकः शब्देन फळाभिसन्विपूर्वकर्मत्युद्धासः । मृष्यपितमनोश्चिद्धिरित्यस्य उक्ताथानुवादरूपत्वं दर्शयति एव-मिति । उपायेन । कर्मोदिक्षपेणेत्वर्थः । अनुस्मरणमेवात मन्त्रोऽपंणम् ; युद्धेर्पणं तु फळपदत्वाध्यव-सायः । प्रकरणसिद्धावात्तरव्यापारकथनम् अन्तकाळे च मामेव सार्शवित । यद्धा, अत उपायेनेति कर्मानुगृहीतानुस्मृतिदेवोच्यते । तत्कळं मृष्यपितमनोश्चिद्धिति । तत्यवार्थः अन्तकाळे च मामेव सार्शविति । पूर्वोत्तरानुक्तिशिकारित्यसाधारण्यायाह यथाभिरुपितप्रकारं मामिति । "निस्तंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसिति वै हरिः । ससंशयान् हेतुत्रकान् नाध्यावसित माधवः" (मा. मो. ३५९. ७१) इत्यादिवत् असंशय इत्यस्याजुनिवशेषणत्वेऽपि फळितमाह नात्र संशय इति । "अन्तानोनाः प्रतिषेधे" (काव्यानु) इति वचनादकारो वाऽत्र पृथगनुसन्धेयः । 'एतिमतः भेत्याभिसंभवितास्मीति यस स्यादद्धा न विचिकिरसाऽस्ति' (छा ३.१४. १) इत्यादिकमत्रानुसन्थेयम् ॥ ७॥

अन्तमशत्ययमसङ्गात् तद्धेतुत्तया अनुसारेत्युप्तसनं प्रस्तुत्तम् , तत्प्रकारभेदोऽनन्तरमयहकार्थे इत्यमिष्रादेणाह एविमिति । गतिमेदोऽपि वश्यमाणोऽनेनोयलक्षणीयः । अभ्यासेत्यादिक्षोकत्वयार्थमाह तन्नेति । योगशब्दस्य संवन्यमावपरत्वे नैर्थवयाद्व ध्वानपरत्वं वक्तुं युक्तम्, तत्पुरुषाच इन्द्रस्योभय-पदार्थयमानत्वात् परिमाद्धत्वमस्ति इति तदाह अभ्यास्योगानस्यामिति । आन्यगामिनेत्येतत् नैकादिशब्दवत् । अनन्यगामिनेत्यर्थः । अन्यत्व विषयान्तरे गन्तुं शीलं नास्येति नान्यगामि । अभ्यास्योगान्शब्देन प्राचीनविन्तनस्योक्तत्वात् , अनुस्तित्वात्येतत् अन्तिमस्वित्पर्तिति पदर्शनाय अन्तकाल इत्युक्तम् । चिन्तनस्य ध्यानस्य च पुरुष एवाल कर्मः स च पश्मशब्देन विशेषितत्वादीश्वर एवेत्यिम्पायेण सामिति पदद्वयम् । दिव्यमित्यस्य स्वश्मण्डले स्थितमिति शङ्करोक्तं निर्मूलम्, आदित्यवर्णं तससः परस्तादिति । अनन्तरस्थोकद्वयेनेति शेषः ।

<sup>1</sup> ननु तत् पदमपाइतिविश्वद्वपरमेव व्याख्याख्यः ; त तु परमपद्ख्यपरिमिति । पंश्ववंधिंना परमपद्क्ष्यस्य ध्वेयता च न खरसा। अतः ध्वंमण्डलख्यामिन्युको को दोष इति चेत्—त ; विधिष्य सूर्यमण्डलख्यामिन्युको को दोष इति चेत्—त ; विधिष्य सूर्यमण्डलख्याह्मि ममाणाभावात् । तद्वदेवालाप्यप्राकृतपरस्वीचित्यात् । तत्वापि विव्यपद्कस्वात्

9

माणप्रकारं चिन्तयन् मामेव याति—आदिभरतमृगस्वप्राप्तिवदैश्वर्यविशिष्टतया मस्समा-नाकारो मवति । अभ्यासः नित्यनैमित्तिकाविरुद्धेषु सर्वेषु कालेषु मनसोपास्यसंश्रीलनम् । योगस्तु अहरहयोगकालेऽनुष्टीयमानं यथोक्तलक्षणमुपासनम् ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशालितारम् अणोरणीयांसमनुस्मरेत् यः। सर्वेस्य घातारमचिन्नदकास् आदित्यवर्णे तमसः परस्तात्॥ प्रयाणकाळे मनसाऽचळेन भक्त्या युक्तो योगवळेन चैव। भुवोमेध्ये प्राणमात्रेस्य सम्यक् उत्तं परं पुरुपमुपैति दिव्यम्॥

कवि सर्वज्ञम् पुराणम् पुरातनम् अनुशासितारम् विश्वस्य प्रशासितारम् अणोरणीयांसम् जीवादिप सक्ष्मतरम्, सर्वस्य धातारम् सर्वस्य स्रष्टारम्, अचिन्त्यरूपम् सक्ष्ठेतरविसजातीयस्य-कथमैश्वयीर्थिनोऽनपेक्षितपरमपुरुषप्राप्तिः फलतयोच्यत इत्यलाह् आदिभरतेति । अन्तकाले सर्यमाण-भोगप्रदानोपयुक्ताकारविशिष्टपरमपुरुषसमानैश्ववीप्राप्तिरिह् परमपुरुषप्राप्तिः । तत्साम्यापितरेव हि तत्प्राप्तिः तया यंयापिति इलोकेनोदाहृते त भावः । "आरम्भ म्व)णसंशीलनं पुनःपुनरभ्यासः" इति वाक्यकार-वचनानुरोधेनाभ्यास्यशन्दार्थनाह अभ्यास् इति । पुनः पुनिरित वचनानम्ब्येऽवश्यम्मविभिः केश्वित् व्यवधानं स्चितिस्यभित्रायेणोक्तम् नित्यनिपित्तिकाविकद्वेष्टिति । सर्वेषु कालेष्विति । केवलं योगकाले. तदातनस्य शीलनस्य योगकालदेनोपात्तवादिति भावः । आरम्भ(म्व)णम् आलम्बनमः ;

तचालोपास्यशब्देन व्याख्यातम् । योगशब्देनालाङ्गिस्रक्षपसुच्यत इत्यभिष्रायेणाह योगस्तिवति ।

यशोक्तेति । अत्यर्थप्रियविद्यादतमप्रत्यक्षतापन्नेत्यर्थः ॥ ८ ॥

क्रान्तदर्शी हि कि विरित्युच्यते ; अत्र तु कि विश्वन्दः ईश्वरिवयत्थात् सर्वदर्शित्वपर इत्यिम्प्रायेणाह् सर्वे मिति । प्रशाणशन्देनानादित्वं विश्वक्षितिमत्यिमप्रायेणोक्तं प्रशतनिमिति । अतुपूर्वः शासि-विविच्य ज्ञापनार्थं इत्येतावन्मात्वपरत्वन्युदासाय विश्वस्य प्रशासितारिमत्युक्तम् । ईश्वरस्य सतोऽनुशा-सनमाज्ञपत्मेवेति भावः । अनुशासन[स्य]कर्माकाङ्क्षायां(सनं कत्येत्याकाङ्क्षायां) सवस्य धातार-मित्यत्व(तः ?) सर्वश्येति पदमाकर्षणीयम् ; विशेषनिर्देशामावाद्वा सर्वविषयत्वमित्यमिप्रायेण विश्वस्येत्युक्तम् । ''एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गागि बावाष्ट्रिथन्यौ विश्वते तिष्ठतः'' (वृ. ५. ८. ९) इत्यादिक्रमत्व भाव्यम् । ''अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम्'' (य. आ. ३. ३) इत्यादिषु पशासन-सहपठितान्तः प्रवेशौपयिकस्यक्षमतरत्वमत्व अणोरणीयांसमित्युच्यत इत्यमिप्रायेणोक्तं स्वस्मतरिति । 'धाता पुरस्तात् यसुदाजहार' (पु.), 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकत्वयत्' (ना.) इत्यादिषु धात्र शब्दस्य स्वष्टरि प्रयोगात् धातृनां चानेकार्थगर्भस्वात् सर्वस्य स्वष्टापित्युक्तम् । 'विष्णुना विश्वते मृती' (यजु. आ. १. २०), 'सर्वाधारं धाम विष्णुसंज्ञम्' (मे. उ.) इत्युक्तं सर्वाधारत्वं सर्वशृष्टरेवित फलितोक्तिवी ।

तस्य द्योतमानार्थकरवोक्तया तथैवात्रापि सुवचत्वःच । पेश्वर्यार्थिनः परमपदस्थरूपप्राप्ययोगेऽपि कविरवादिवत् तस्य ध्येयत्वे दोषाभावाच ।

ह्रद्यु , आदित्यवर्णे तमसः परस्तात् अत्राकृतस्यःसाधारणदिव्यह्रदयः , तमेत्रंभ्रतमहरहरभ्यस्यमान-भक्तियुक्तयोगवलेन आरूढसंस्टान्ट्या अवलेन मनला प्रयाणकाले अवीर्मध्ये प्राणमावेश्य संस्थाप्य तत्र भूमध्ये दिन्य पुरुष् शोऽनुसारेत ; स तमेबोपैति-तद्भावं याति, तत्समानैक्वयों उक्तप्रकारस्येश्वरखरूपस्य सामान्यतो दृष्टेस्तुकैरसंभावनीयतां केचिद्रभिमन्येरन्निति तन्निरासपरम् **अचिनस्य**-रूपमिति पद्मित्यभिष्रायेणाह सक्छेतरविसजातीय स्टरूपमिति । वर्णयोगस्य खरूपेणाघटनात् प्रमाणसिद्धविरुक्षणवित्रहद्वारा तद्योगमाह **अप्राकृते**ति । "येन सूर्यस्तपति तेजसे**द्धः" (काठके.** ३. ९. ७), 'बस्वाऽऽदित्यो मासुप्युज्य भाति', (...), 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (सु. २. २. ११) 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (तृ. ६. ४. १६) इत्यादिषु निरितशयदीप्तियोगः सिद्धः । 'आदित्यवर्णै तमसः परस्तातः (ना) इति श्रदिखण्डस्यात निवन्धः, 'तम आसीत् तमसा गृहमग्रे प्रकेतम्' (ऋ. ७. ৩. १०. ११. ৩; अष्ट. २. ७. ९), 'तमसत्तन्मिइनाजायतैकम्' (अष्ट. २. ४ ९), 'यदा तमः' (के. ४. १८) इत्यादिश्रुत्यन्तरोपळक्षणार्थः । तेन समक्षः इति सर्वकारणमृततमोद्रव्यविवक्षाः। तमसः परस्तादित्यनेन फल्तिमशक्कतत्वम् : तत एव चाकमीधीनत्वं नित्यत्वं निरवद्यत्विनत्यादि सचितम् । एतच्छलोकच्छायश्च मानवः स्रोकः, "प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम् । रुवमाभं स्वप्नधीगम्यं विद्यातु पुरुषं परम् " (मनु. १२. १२२) इति । अनुकूळानां हितरमणीयत्वाद्याकारेण हिरण्यवर्ण-त्वरुवमाभत्वादिव्यपदेशः । शतिकरुद्धेश्वरवपकाञ्चातिरेकादिविवक्षया आदित्यवर्णत्वाद्यक्तिः । 'दिवि मर्थसहस्रस्य' (११. १२) इत्यादि च वश्यति । एतेन आदित्यशब्दस्य नित्यचैतन्यप्रकाशपरत्वं. तम-इशन्दस्य चाज्ञानविषयस्य परोक्तं निरस्तर् । श्लोकद्वयस्यान्वयं दर्शयति तमेवंभत्तित्यादिना । **भक्त्या** यक्तो योगवलेनेति पृथङ्गिर्देशाय परोक्तमाण<sup>1</sup>(१) जयबलाहिपृथगर्थताप्रतीतिः स्यादिति तदपाकरणाय िश्चिकार्थतां दर्शयितुं **म्हांकपुक्त**पोस्**य छेने**त्युक्तम् । मनसोऽचलक्वे हेतुरिद्म् ; तस्य चावान्तर-व्यापारः योग्यपर्वा उपक्तशब्देन विवक्षित इत्याह आरूढ्संस्कावत्वचेति । आवेष्येत्यनेन योगप्रकरणेषुक्तं निश्चलावस्थापनं विवक्षितिमत्याह संस्वारदंति । अल पुरुषध्यानस्यापि भूमध्यमेव देशः, देशान्तरानिभ-घानात् योगप्रकरणान्तरेषुपदेशाच तत्तिसद्धेरिति विभाव्योक्तं तत् भू**मध्य इ**ति । तमेवंमृतं दिव्यं पुरुषम् इत्यन्वय. । तं तमेबैति (६) इत्यवधारणदर्शनात् स तं परं पुरुषिमत्यत्नापि तमितीतरच्यवच्छेदपर-

<sup>1</sup> प्राणजयबळेल्यन राठो लिनिस्य । शांकरे भक्तमा योगयळन च युक्त इति हि स्यास्यानम्। तेन हृदयपुण्डरीके चिस्तस्याण्ने समाधिजसंदरतराधीने विवस्तितम् । प्राणमावेदवैत्यादिकं प्रमान्तरत पत्र सिद्धम् । अस्यस्यज्ञानित्यस्य योगाँदिरीयणस्यात् अक्तियुक्तस्यपि तिद्धिरे-वणस्य चक्तस्यम् । अस्य गातास्यच्याओं न भवनि, कि तु तारवर्षायः। योगवळीयुक्त्तीशस्य विवरणमेव आक्रद्धसंदकारणयेत्युक्त अवेत् । योगवळ्याद्यसंदित युक्तस्य योगीत्यर्थों निति बाप-नाय योग्यार्थकत्ववर्णसमिय। अत रह भाष्यचन्द्रिकरोः याठो विस्तृत्यः। अत्र एकस्यक्तकह्यस्यै-क्रवाक्यस्यावित्यात्, स हति पदात् पूर्वभागस्य यच्छन्द्रचितवाक्यान्वयौचित्यास्य तथा व्यास्था-नमकृत्वा कविभिति स्टोकं पृथक्कस्य तत्युवस्त्रोकेन तद्ववयवर्णने शांकरमञ्चरप्रमिति वक्तस्यम्

## भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥ अथ कैवल्यार्थिनां स्मरणप्रकारमाह-

यद्श्वरं वेदविदो वदन्ति विद्यन्ति यत् यतयो वीतगानाः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पद् ंप्रहेण प्रदक्ष्ये ॥

११

्रम्त् अक्षरम् अस्यूलस्वादिगुणकं वेदांबदेः वदन्ति, वीतशगाध यहची यदश्वरं विश्वनित, यत् अक्षरं प्राप्तुमिन्छन्तो ब्रह्मचर्यं चर्रान्त, तत् ्रः संप्रदेश ते प्रवक्ष्ये । दल्लने गम्यते चेतसेति पदम् ; तत् निस्तिलवेदान्तवेद्यं मस्त्रस्थाध्यशं यथा उपास्यम् , तथा संक्षेपेण प्रवक्ष्यामीत्वर्यः मिल्लकंद्रान्तवेद्यं मस्त्रस्थाध्याः अभिनः प्राप्ति व्याप्ति वोगधारणाम् ॥ अमिन्यं काश्चरं ब्रह्म व्यादश्य वामगुलर्य । या प्रयासि दण्लन् चं ल वाशि एरमां गतिम् ॥ स्वर्वाणि श्रोबादीनीन्द्रियादिः ज्ञानद्वारभृतानि संवन्य स्वव्यापारंक्ष्यो विनिवर्यः इदय

मित्यभित्रायेणाह **स तमेनोपे**तीति । 'यः भयाति स मद्रावं याति' (५) इति प्रकान्तप्रकार एवात्र विवक्षित इति दर्शयति तद्भावं यातीति । सावप्रधानोऽल निर्देश इति भावः । टल ठादात्स्यादिअमं **ट्युदस्यति तुरसमानैदनको अवसीत्वर्थ** इति । परमसाम्यापतिक्यवच्छेदाय समानैधर्य इत्यक्तम् । एतेन कविमित्यादिभिः सर्वज्ञत्वादयो गुणाः ऐश्वर्यप्रदरवार्थभनुसन्धेयतयोक्ताः, न त प्राप्यस्वार्थमिति फल्तिस् । एवमन्तिमकारुसर्तेत्यतया निर्दिष्ट एवाऽऽकारः प्रागिष ध्येयतयोक्त इति मन्तव्यम् । एवम्रत्तरत्नापि॥ ९॥ —अथ मन्द्रपयोजनोत्तर्(क्त)प्रव्याख्याप्रतिक्षेषाय यदश्चर्शमत्यादिश्लोकत्रवस्यार्थमाह अथेति । समरण-शब्दोऽत्रोपासनस्यान्तिमप्रत्ययस्य च संप्राहकः. उमयोरपि स्पृतिविशोपत्यात् । "नावेदविनमन्ते तं बृहन्तम्'' (काठ. ३. ९. ७.) इत्युक्तप्रनाणान्तरागोचरत्वपरेण वेदिधिहो वदन्ति इत्यनेन स्चितवेदोक्तप्रकारकथनम् अस्थलस्वादिगुगक्किति । "अस्यूलपनण्यहस्वम्" व. ५. ८.७) इत्याविश्रुतिरह विवक्षिता। ब्रह्मचर्येङ् ऊर्ध्वरेतस्वादिकस् । यहा "अथ यत् यज्ञ इत्याचक्षते, ब्रह्मचर्थमेव तत्....अथ यन्मौन्मित्याचक्षते....अथ यदरण्यायनिमत्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तत् (छा. ८. ५. १) इति श्रतेः ब्रह्मपाप्त्यर्था या काचिद्धि चर्या ब्रह्मचर्यम् । वीतरागा यतय एव यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्ये चरन्तीत्यलापि कर्तारः । एतेन फलोपाययोः प्रदर्शनम् । पदशब्दस्याल रूढार्थानुपपत्तेरुपपत्रं योगमाह पद्यत इति । अत पदशब्देन ज्ञानविषयत्वमुखेन उपाखत्वादिकमभिषेतिमत्याह ग्रम्यते चेतसेति । यत्तच्छन्द्राभिषेतां परिद्धिमाह निस्तिसेति । अक्षरशन्द्रस्यात विकारादिदोषरहितपरमात्मविषयत्वात मरस्यरूपमित्युक्तम् । स्वासाधारणं रूपमित्यर्थः । अक्षररूपपरमास्नोपासनमत्वाक्षरस्वरूपजीवात्मशाप्त्यर्थम् ॥

सर्वद्वाराणि संयम्भेत्यतः नवद्वारमतीतिनिरासाय प्रत्याहारविषयताद्योतनाय चाऽऽह सर्वाणि श्रोत्रादीनीति । हारानुवायरिक्तर्यनादीन्द्रियाणां कथं द्वारशब्दार्थतेत्यतोक्तं ज्ञानद्वारभूतानीति । संयमनमत्र राज्या विश्वेतः कर्वः विश्वेतः कर्वः द्वारशब्दार्थते विनिवत्यंति । संयमनमत्र राज्या विश्वेतः हन्मात्रस्य ध्येयता अनुपपन्नेत्यतोक्तं हृद्यक्रमलिनिष्टे मध्यक्षर हित । हृच्छब्दोऽत्र तत्रत्यपुरषव्क्षकः ; अन्यथा 'मामनुसरन्' इत्यनन्तरोक्ति षटेतेति भावः ।

कपळिनिविष्टे मय्यक्षरे मनो निरुष्य, योगारूयां घारणामास्थितः मय्येव निश्चलां स्थिति-मास्थितः, ओमित्येकाक्षरं त्रक्ष मद्वाचकं च्याहरन्, वाच्यं मामनुस्मरन्, आत्मनः प्राणं मृष्ट्योघाय देहं त्यजन् यः प्रयाति—स याति परमां गिर्त प्रकृतिविद्युक्तं मत्समानाकारमपुन राष्ट्रितमात्मानं प्राप्तोतीत्यर्थः। 'यःस सर्वेषु भृतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ अन्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गितम् '॥ (२०, २१) इत्यनन्तरमेव वक्ष्यते धः १२॥ १३॥

अर्थक्रमेण बलवता दर्बलस्य पाठकमस्य वाधमस्त्रित्य मनो हृदि निरुध्येत्यस्यानन्तरम् आस्थितो योगधारण।सित्यादिकं व्याख्यातम् । प्रत्याहारानन्तरपठितधारणाच्यवच्छेदायाहः योगाख्यां धारणा-मिति । षष्टीसमासात समानाधिकरणसमासस्य श्राह्यत्वं निषादस्थपतिन्यायसिद्धम् । धारणाशब्दाभि-प्रतमाह **मरग्रेव निश्चलां स्थिति। शि**णवस्य ब्रह्मप्रतिपादकत्वात ब्रह्मिति व्यपदेश इत्यभिपायेण मदाचकमित्यक्तम् । मन्त्रस्थार्थविशेषप्रकाशनमुखेनीयकारकत्वमप्यत् द्रह्मशब्देन प्रतिपादनात् विवक्षित-मित्यभिप्रायेण बा्च्यं मामनुस्मरिन्युक्तम् प्रणवस्य भगवद्वाचकत्वं योगाङ्गत्वादिकं च श्रतिस्मृ-त्यादिसिद्धम् । यथा कठवल्ल्याम् , "सी वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यहदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति ब्रत् ते पदं संब्रहेण ब्रशीम्योमित्येतत् ॥'' (२.१५.) इति । अत्र नाम्ना नामिनो निर्देश: । तथा. प्राप्ता धनुः शरो ह्यास्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमतेन वेद्धव्यं शरवत् तमयो भवेत् ॥" (मु. २.४.) इति । तथा "आत्मानभर्गि क्रत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम । ध्याननिर्मथनाभ्यासात् पश्येत् ब्रह्मामिगूढवत्" (ध्यानो) इति । तथा "ओमित्येवं ध्यायथाऽऽत्मानम्" (म. २. २. ६) इति तथा "यः पुनरेतं त्रिमालेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत. स तेजिस सूर्ये संपन्न: यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्भुक्त एवं ह वै स पाप्पना विनिर्भुक्तस्स सामिनरुन्नीयते ब्रह्मकोकम् , स एतसाज्जीवधनात्वरात्वरं पुरिशयं पुरुषनीक्षते" (म. ५. ५) इति । तथा 'बहेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः । स मृय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥'. स्वदेहमर्गण कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येन्त्रिगृहवत्" (श्वे १.१३.१४) इति । अत्रेव क्लोके, "विष्णुं पश्येद्धदि स्थितम्" इति योगयाज्ञवरुक्यपाठः । तथा, "कांस्यक्ण्या-निनादस्त यथा छीयति शान्तये । ओङ्कारस्तु तथा योज्यः शान्तये शान्तिमिच्छता । यस्मिन् स हीयते ज्ञब्दस्तर्परं ब्रह्म गीयते" इति । तथा <sup>('</sup>ओं खं ब्रह्म ओं खं पुराणम्'' (ब्र. ७. १. २) इति । "ओमित्येतदक्षरं ब्रह्म । अस्य पादाश्चत्वारो वेदाः । चतुष्पादिदमक्षरं परं ब्रह्म । पूर्वाऽस्य मात्रा प्रथिवयकारः" इत्यारभ्य "प्रथमा रक्तपीता महद्भसदेवत्या ; द्वितीया विद्यमती कृष्णा विष्णुदेवत्या : तृतीया ग्रुभागुमा शुक्का रुद्रदेवत्या ; याऽवसानेऽस्य चतुर्ध्यधमात्रा सा विद्यमती सर्ववर्णा पुरुषदेवत्या" (अथर्व) इति च । अत्र अवभाताधिदैवतभूतः पुरुष एथावतीर्णावस्थो द्वितीयमालादैवतत्वेन विष्ण्रसित

चोक्त: । तथा "ओमिति ब्रह्म; ओमितीदं सर्वम्" (शी. ८. १) इति, "ओङ्कार एवेदं सर्वम्" (छा. २. २३. २) इति । तथा "हृदिस्था देवतास्सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः । हृदि स्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः परस्त सः । तस्योत्तरतिकारो दक्षिणतः पादो य उत्तरतस्य ओङ्कारो य ओङ्कारस्स प्रणवो यः प्रणवस्स सर्वे व्यापी यस्सर्वे व्यापी सो डनन्तो यो डनन्तस्तत्तारं यतारं तत्सक्ष्मं यत्मुक्षं तन्छुक्कं यन्छुक्कं तद्वैद्यतं तत्परं ब्रह्मः (अथ. शि. २) इति । अत प्रकरणादिवशात् प्रतर्दन-विद्यावदन्तरित् गासनमनुसन्धेयन् । मुमुक्षोरुत्क्रमणप्रकरणे च प्रणवः श्रयते, "अथ यतैतदस्माच्छरीरा-दरकामत्येथेतेरेव रहिमभिक्षर्धनाकमते। स ओमिति वाऽऽ<sup>2</sup>होद्वा मीयते स यावत क्षिण्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्भे खळ लोकद्वारं विद्यां प्रयदनं निरोघोऽविद्याम् । तदेष स्लोकः — शतं चैका च हृदयस्य नाडचातासां मूर्धानमभिनिस्स्तैका । तयोर्ध्वमायन् अमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" (छा. ८. ६ ६) इति । अहामारते च महेश्वरवचनम्, "ओमित्येव सदा विपाः पठःव ध्यात केशवम्" (ह. वि. १३३:१०) इति । आह च भगवान् **यः ज्ञवल्कयः,** "देवतायाः परायाश्च **धा**लम्बः प्रणवस्समृतः । कश्चिदाराधनाकामो विष्णोर्भकत्या करोति वै । तदाराधनसान्निध्ये प्रतिमां व्यक्षिकां यथा । धातुद्रस्यादिपाषाणै: कृत्वा भावं निवेशयेत् । श्रद्धाभनत्यादरावैश्च तस्य देवः त्रसीदित । ओङ्कारेण तथा चाऽऽत्मा ह्यपास्ते स प्रसीदति । सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च । मूध्न्यी-धायात्मनः पाणमास्थितो योगधारणाम् । ओमित्येकाक्षरं त्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गितम । य एतं प्रणवेनाद्यमक्षरं प्रतिपद्यते । ततोऽक्षरेण वेदेन वेदं ब्रक्षाधि-गच्छति । एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्ममुयाय करुपते । अदृष्टविग्रहो देवो भावप्राद्यो निरामयः । तस्योङ्कारः स्मृतं नाम तेनाऽऽहृतः प्रसीदति । तस्मादोमिति पूर्वं तु कृत्वा युद्धीत तत्परः । ब्रह्मोद्धारिवधानेन तत्त्वेन प्रतिपद्यते ।)" इति । <sup>3</sup>अत्र सर्वद्वाराणि इत्यादिश्छोकयोर्भ गवहानयतया प्रसिद्धयोरुदाहरणात् मामिति निर्देशस्तिद्विषयः। प्रनश्चात हैरण्यगर्भादिसिद्धान्तेषु प्रणवार्थे प्रपञ्च्यान्तेऽप्याह, ''तिरात्मा तिस्वभावश्च तथा तित्यृह एव च । पश्चराते तथा होष भगवद्वाचकः स्मृत: । बलं वीर्यं तथा तेजिल्लरात्मेति च संज्ञितः । ज्ञानैश्वर्ये तथा शक्तिस्विस्वमाव इति स्मृतः । सङ्कर्षणोऽथ प्रयुक्तो ह्यनिरुद्धस्तथैव च । विन्यृह इति निर्दिष्ट ओङ्कारो विष्णुरव्ययः । सगव-द्वाचकः प्रोक्तः प्रकृतेर्वाचकस्तवा । व्यक्ताव्यक्तो वासुदेवः प्रभवः प्ररुयस्तथा" इति । यचात्र हैरण्यगर्भ-कापिछापान्तरतपरसनरकुमारत्रक्षिष्ठपाग्रुपतारूयेषु सिद्धान्तेप्वर्थभेदवर्णनम् , तदपि तत्तदर्थविद्रोषान्तरित-वरमपुरुषपर्यवसानमभिषेरयेति मन्तव्यम् । अतं एव हि विष्णुपतिपादकतयाऽन्तकाले सर्तवरवेनोप-

भग्तरितं व्यवद्वितम् । रुद्रशरीरकपरमात्मविषयकमित्यर्थः ।

<sup>2</sup> अन्तकाले वागिन्द्रियशक्तिरस्ति चेत् ओधित्याह । न चेत् , मनसा गृह्यत इ चर्थः ।

<sup>3</sup> ननु गीतायां स्थितं मामित्येतत् याञ्चवल्क्यवचनेऽपि पत्तितिमव । तदनुसारेदित्येष स्थादित्यबाह अनेति ।

# एवमैश्वर्यार्थिनः कैवल्यार्थिनश्च स्वप्नाप्यानुगुणं भगवदुपासनप्रकार उक्तः ;

संहियते, ''ओङ्कारं विपुरुमचिन्त्यमश्मेषं सुक्ष्मारूषं ध्रुवमचरं च यत् पुराणम् । तद्विष्णो: पदमपि पद्मजः प्रसूतं देहान्ते मम मनसि स्थितं करोतु'' इति । प्रणवेनैवाल भगवद्वनमुच्यते, "तिहिन्नेर्ययेनमन्त्रै: सर्वान् देवान् समाहितः । नमस्कारेण पुष्पाणि विन्यसे (स्येश)त् यथाक्रमम् । आवाहनादिकं कर्म यन्न सूक्तं मया त्विह । तत् सर्वे प्रणवेनैव कर्तव्यं चक्रपाणये । दद्यात् पुरुषस्केन यः पुष्पाण्यप एव वा । अर्चितं स्थाज्जगदिदं तेन सर्वं चराचरम् । विष्णुत्रीक्षा च रुद्रश्च विष्णुरेव दिवाकरः । तसात् पूज्यतमं नान्यमहं मन्ये जनार्दनात्" (भा. स) इति । तथा परमपुरुषसाक्षात्कारकारणतया चात्र प्रणवीपासन-प्रकार उच्यते, ''ओं मूर्भुवरसुवर्महर्जनस्तपरसत्यमिति वैदिकम् । एतदुचार्य वै ब्रह्म परे ब्योक्ति नियोजयेत् । हृद्येऽभिश्च वायुश्च जीवो यस्समुद्राहृतः । ओङ्कारपद्मनाले तु उद्धृत्योपरि योजयेत् । अपाणाच्छृन्य-भूतात् चेनोक्कं जीवसंज्ञितम् । जायने तु यतस्तस्मात्युनस्तल निवेशयेत् । वण्टाशब्दवदोङ्कारमुपासीत सगाहितः । पुरुषं निर्मेठं शुक्रं पश्येद्धै नाल संशयः" इति । योगानुकासनसूतं च, "क्केशकर्मविपाका-शंथैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः, तय वाचकः प्रणवः'' (१.२४,२५) इति । अतः प्रणवस्य भगवद्वाचकत्वं समाध्युत्कमणाद्यवस्थायु तेनैः भगवद्तुसारणं च सिद्धम् । "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सतैका । तत्रोध्वमायन् अमृतस्वमेति विष्वङ्ङन्या उरक्रमणे भवन्ति'' (छा. ८. ६. ६), "द्रार्थमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिकस्य तेन याति परां गतिम्" (या. स्पृ. ३. १६७) इत्यादिश्रु<sup>१</sup>,स्पृत्यनुसारान्मुमुक्षोरुत्कमणौपयिकमिदं म्हिन प्राणाधानम् । त्यजन यः प्रयातीति। त्यवत्या यः प्रयातीत्वर्थः । आत्मार्थिनो ह्यात्मा गन्तव्यः ; तत्नापुनराष्ट्रितित्वमात्नात् परमगनित्वोक्तिरित्यभिषायेणाह प्रक्वर्जाति । ईदृशस्थात्मनः परमगतिशब्देन व्यपदेशो न केवलं प्रकरणवशातः : किंत्वसिक्षेवाध्याये तद्वित्रय एवायं प्रयोगोऽप्यस्तीत्याह यस्य सर्वेष्विति॥१२॥१३॥ सङ्गत्पर्थमनुबद्ति एवमिति । अध्यायारम्भगतप्रश्लोत्तरयोस्तरप्रसञ्जके पूर्वाध्यायान्ते चायं क्रमो

सङ्गत्ययनतुषदात एवासात । अध्यावारम्मगत्यश्चात्तर्यास्तरमञ्जक पूर्वाध्यायान्त चाय क्रमा न विवक्षितः, अधियज्ञान्तिमप्रत्यययोस्ताधारण्येन प्रतिपादने तात्पर्यात् । इह तु प्रतिनियतार्थोपदेश-रूपरवादुत्तरोत्तरसुरकुष्टताप्रदर्शनार्येश्वयांश्वरयाधारम्यभगवचरणार्थिनः क्रमेणोक्ता इति भावः । अस च एवमिति निर्देशात् स्वप्राप्यानुगुणमिति निर्देशाच प्रकरणस्याधिकारित्तयविषयरवध्यवस्थापकहेतवः प्रविश्वताः । तथाहि— (प्रकरणस्याधिकारित्वयपरविचारः)

एवमल कैश्विच्छक्कयेत — तन्वल, ते झझ तिह्न (७. २९) किं तहुझ (८. १) अक्षरं म्रस परमम् (३) इति ज्ञक्कशब्दस्य साक्षाद्ज्ञक्षविषयस्व को बाधः ? तस्यैव च सर्वात्मरवादध्यात्मशब्देनापि तद्वतं सर्वे महीतुम्रचितम् ; 'भृतभावोद्धवकरो विसर्गः' (८. ३) इत्यपि जगत्स्रष्टिप्रहणं युक्तम् ; देवतोदेशेन द्रव्यत्यागो वा । स चाल निष्टतिरूक्षणो यज्ञः । 'अधिमृतं क्षरो मावः' (४) इति च अधिमविति त्युत्पत्तः प्राणिजातम् । पुरुषश्चाधिदैवतिर्मित पर्व्रक्षावस्थाविशेषः, समष्टिपुरुषादिवो । अधियज्ञः सर्वज्ञामिमानिनी विष्ण्वाख्या देवता, 'यज्ञो वै विष्णुः' (यज्ञ. १. ४. ४) इति श्रुतेः । 'अन्तकाले

च' (५) इत्यादिश्लोकत्रयमि मुमुक्षोरेवान्तिमयत्ययमिषक्रत्योक्तम्; प्रश्नप्रतिवचनश्लोकानां पूर्वाध्याये प्रस्तुताधिकारित्तयज्ञात्वयोपादेयपरत्वेऽप्युपरितनाः श्लोकाः प्रधानतया सुदुर्ङभत्वेन निर्दिष्टज्ञानिपरा युक्ताः; अन्यथा भामेव स्मरन् (५) मामेविष्यास् (७) इत्यादेव्यधित् । अत एव, 'प्रयाणकाले च कथम' (२), 'अन्तकाले च माम' (५) इति श्लोकवोरधिकारित्वयपरत्वेऽि तिद्वयपोऽत्व तदैकार्थ्यं प्राधिमत्यि निरस्तम् । तत्वापि चाधिकारित्वयपरत्वं न प्रतीयते । न चैश्वयोधिनः परमपुरुषविषयान्तिम-प्रत्ययसापेक्षतायां प्रमाणं पर्यामः । एवमुक्तरेव्यि श्लोकेष्वेक एवाधिकारी, तद्वेर्धं चैकमेव पुनः—पुनरन्द्य विशेषते विश्वदीक्रियते । न च पुनरुक्तिदोषः, अभ्यासस्य ज्ञानिप्रधान्यिष्टक्रस्तात्; 'संसिद्धं परमां गताः' (१५), 'स याति परमां गतिम्' (१३), 'तमाहुः परमां गतिम्' (२१) इत्यमीषा-मेकार्थ्यं च प्रतीतमपरित्याज्यम् । न च परमगन्तव्यातिरिक्ता परमसंसिद्धिः । 'तमाहुः परमां गतिम्' इति परोक्षनिर्देश्य, 'पुरुषस्त परः पार्थ' (२२) इत्विन स्यात् । 'परमं पुरुषं दिव्यम् ' (८), 'स तं परं पुरुषप्रिति दिव्यम् (१०), 'पुरुषस्त परः पार्थं भवत्या लभ्यस्वनन्त्रया' (२२) इत्यमीषां भिन्नार्थत्व-करपनं चायुक्तमः; परेरिष च सर्वैः पायश एवमैकक्रक्ष्यने व्याख्यातनः इति—

अलैं विश्वारकमः - अधियज्ञो इसेंद (४) इतिवत् अहमेव ब्रेग्नेत्यनुक्तेः अध्यातमादिवदत्त ब्रह्मशब्दार्थस्याप्यर्थान्तरत्वं तावत् पतीतस् । न च ब्रह्मशब्दाद्ध्यरशब्दस्य परमात्मनि रूढ्यतिशयः. येन ततस्तद्याच्यानं स्थात् । 'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यक्षरमञ्यक्तम्' (१२. १) इत्यादिषु च परमात्मनोऽन्यदेवोपास्यमक्षरशब्देन प्रतीयते । '' द्वे रूपे ब्रह्मणसस्य मूर्ते चामूर्तमेव च । क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वमतेष च स्थिते । अक्षरं तत्परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत " (वि. १, २२, ५५, ५६) इत्यादिषु च अक्षरपरत्रज्ञराट्दौ परिशुद्धात्मविषयौ शारीरकभाष्ये समर्थितौ । अतोऽत 'कि तदञ्जल<sup>१</sup> इत्युक्ते अहमेव ब्रह्मेत्यव्याख्यानात् स्वेतर्विषयब्रह्मशब्दः परमशब्दविशेषिता**क्षरशब्दानुग्ण्याच** प्रकृतेरीश्वराचान्यसान् परिश्रद्धात्मन्यपचाराद्वर्तते । पश्चाचायमेव 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' (२१) इति वक्ष्यते । न चासौ इलोकः प्रमात्मप्र इति शङ्करीयम् . 'ये चाप्यक्षरमध्यक्तम्', 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्' (१२, ३), 'क्षरश्चाक्षर एव च' (१५, १६) इत्यादि प्विवालापि अक्षरशब्दस्य भगवद्यतिरिक्तविषयत्व-प्रतीते: । संसिद्धिशब्दश्च प्रमगतिशब्दनिर्दिष्टपाप्यविरुक्षणां समीचीनां सिद्धि खरसत उपसर्गशकत्या व्यनक्ति । अत एव स्वभावादिशब्दा अधिकारित्रयज्ञातव्योपादेयवस्तुविशोपपरा उक्ताः । एव खवावयपर्याहोचनया पूर्वाध्यायप्रकृतपरामर्शेन च प्रश्नप्रतिवचनवावयानामधिकारित्रयविषयत्वे सिद्धे तद्नन्तराणामपि अन्थानो यथासंभवं सर्वविषयत्वं युक्तम् । प्रकान्ते चाधिकारित्रये यद्वयत्वयेणानुद्यमाने कैवल्यभगवत्याप्तिकामयोरनन्तरं स्पष्टमभिघानात् अभ्यास् (८) इत्यादिकं परिशेषादैश्वयीर्थिविषयम् । यचैश्वर्यार्थिनां परमप्रविषयान्तिमप्रत्ययसापेक्षतायां प्रमाणं नास्तीति-तदपि न, श्रीमद्भागवते पुराणे भुवचरिते तदृदृष्टे:, "भक्ति हरी भगवति पवहन्" (४ ९. ११) इत्यादिना । अतो यथोक्त एवार्थः । यद्यपि ब्रह्म-पुरुष-परगत्यादिशन्दैरिह सर्वत्र परमात्मभजनतत्पातचादिरेव प्रतीयते : अथ ज्ञानिनो भगवद्गासनप्रकारं प्राप्तिप्रकारं चाह-

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्थाहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४ नित्यशः माम् (मां नित्यशः ?) उद्योगप्रभृति सततं सर्वकालम् अनन्यचेता यः सारति अत्यर्थम्हित्रयत्वेन मत्समृत्या विना आत्मधारणमूळम्मानो निरतिश्चयप्रियां स्मृति यः इरोति: तस्य नित्ययक्तस्य नित्ययोगं काङ्क्षमाणस्य योगिनः अहं स्रुटभः अहमेव प्राप्यः : न मद्भाव ऐश्वर्यादिकः : सुप्रापश्च । तद्वियोगमसहमानोऽहमेव तं वृणे । '<sup>2</sup>यमेवैष वृण्ते तेन तथाऽपि[तावता] एकाधिकारिविषयत्वं वक्तं न युज्यते, पूर्वत प्रयाणकाले अमध्ये प्राणावेशस्य तत्वैव परमात्मध्यानस्य च विहितत्वातः अनन्तरं च हृदि ध्यानस्य मुर्झि याणावेशस्य च तत्कारु एव विधानात । तदिदं द्वयं परस्परिकदं किं कालमेदात् व्यवस्थाप्येत, अधिकारिभेदाद्वा ? तत्र न तावत कालभेदः श्रुतः ; प्रत्युत कालैनयमेव श्रुयते । अतः परिशेषात् सिद्धोऽधिकारिभेदः । किंच 'शतं चैका च' (छा ८. ६. ६) इत्यादिभिर्मूर्धन्यनाङ्या निष्क्रमणं मोक्षहेतः. अन्याभिर्निष्क्रमणं फलान्तरहेत्रित्यवगते. पयाणकाले भूमध्ये मूर्मि च प्राणाचेशस्योरक्रमणशेषतया तत्तदेशगतनाड्योरक्रमणे प्रतीते सिध्येद्धि-कारिभेदः । पूर्वत चाध्याये, 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (७. १६) इत्यादावयमधिकारिभेदः प्रस्ततः : तदन्ते च 'जरामरणमोक्षाय' (७. २९), 'साधिमुताधिदैवं माम्' (७. ३०) इति क्लोकयोर्यच्छट्दा-वृत्त्य।ऽधिकारिभेदफ्तीतिर्भाष्ये प्रतिपादिता ; सा चालापि स्फटा ; 'अणोरणीयांसमनुसारेत् यः' (९) 'यः प्रयाति त्यजन् देहं' (१३). 'यो मां सारति नित्यशः' (१४) इति । एतदखिरुमिभेष्रत्योक्तम एवमैश्वर्यार्थिन इत्यादि ।

उक्तश्चाधिकारी अनन्यचेताः इलुच्यत इति परोक्तं निराकुर्वन् अनन्यचेताः इति स्रोक्तसार्थमाह अयेति। नित्यक्तः इत्यनेनात्मानुभवादिकस्नार्यन्यवधाननेरपेक्ष्यं विवक्षितमित्याह उद्योगप्रमृति।
अन्यया सतत्मित्यनेन पुनरुक्तिः संकोचक्केशो वा त्यादित्यभिप्रायेणाह सन्ततं सर्वकास्यमिति।
अनन्यचेतद्दश्चदेनाभिषतं स्मृतेभिक्तिस्वाद्वस्वयादेव स्मरणस्याच्छिद्दश्वम् । उत्कण्डनेऽपि च सारितः प्रयुज्यते-'अतिरी सरतां वीरी'' (रा. अ. १. ३) इत्यादिषु ।
नित्ययुक्तस्य योगिनः इत्युक्तानुवादः फरुत्याव्यवहित्दस्योतनाय । अत्र अद्देशब्देनेश्वरत्य प्रत्यार्थोऽभिषेतः । तेन तद्विशेषणम्ताक्षरादिकस्याप्तिव्यवच्छेतो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह अहमेवेति । तदेव
विवृणोति न मद्भाव इति । मगवत्पाप्तेः फरुगन्तरेभ्योऽतिश्वान्तिः सरस्यार्थे । 'ईषद्दुस्पुषु
इच्छाक्रच्छ्रयेषु खर्ष्ट्' (अष्टा. ३. ३. १२ ६) इत्यनुशिप्यते । आश्रितवत्सरुस्यस्यस्य सौरुम्यं
रागप्राप्तमित्याह तद्वियोगमिति । उक्तस्यातिवादमात्यस्याकारेण स्वीकारः ; तस्य नित्यसिद्धस्वात् ।
अत वरणशब्देन किमुच्यते ? न तावत् शेषत्यशरीरत्याकारेण स्वीकारः ; तस्य नित्यसिद्धस्वात् ।
न च तद्विपरीतः ; विरुद्धरवदेव । न च प्राप्तिवदानम् ; तेन स्वभ्य इत्यनेन पौनरुवत्यसंगात् । न

प्रमेवेति वाक्यानस्तरमेव भन्त्राप्तीति वाक्यं पाळ्यम्। ज्याख्यानुरोधात् । श्रीवित्याच ।

कम्यः' (क. २, २३; म्र. ३. २, ३) इति हि श्रूयते । मत्त्राप्तयनुपूर्णापासनिवपाकं तिहरोधिनिस्सनमत्वर्धमित्रयत्वादिकं चाहमेव ददामीत्वर्धः । वस्यते च ''तेषां सततयुक्तानां मजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन माम्रुपायान्ति ते ।। तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानंज तमः । नाग्नयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भावता ॥'' (१०. १०, १९) इति ॥
अतः परमध्यायशेषेण ज्ञानिनः कैवल्यार्थिनश्चापुनः वृत्तिम् ऐश्चर्यार्थिनः पुनराष्ट्रित्ति चाह—
माम्रुपत्य पुनर्जन्म बुःवाल्यमशाश्वतम् । नाग्नवन्ति । नश्चर्यमा प्राप्तवन्ति । यत एते
महात्मानः महामनसः, यथावस्थितमत्त्वक्ष्यज्ञाना अत्यर्थमित्रियत्वेन मया विना आत्मधारणमलभमाना मय्यासक्तमनसो मदाश्रया माम्रुपास्व परमसंशैक्षिद्धरूपं मां प्राप्ताः ॥ १५ ॥
ऐश्वर्यगति प्राप्तानां मगवन्तं प्राप्तानां च प्रनारवर्षो अपुनरावर्षो च वेतमनन्तरमाह—

चान्योऽस्त्र प्रकारः ; असंभवादित्यत्नाह मरप्राप्तचतुरुगेपति । <sup>1</sup>विक्षकोऽत्र ध्रुवातुस्पृतिरूपत्वदर्श-नसमानाकारत्वादिरूपः । तद्विरोधिनो दुष्ट्वतरक्तकोरागद्वेषमोहादयः । अत्यर्थभारत्रयन्दं निरक्षिय-मक्तित्वम् । आदिश्चित्वेन, परमपदपविक्षासितपथेन्तं यन्मध्येऽपितित्न, तत् सर्वे विविद्यतन् । अहमेवेति । परमकारुणिकस्य मभैवायं भर इत्यन्तिमायः । 'क्त्यादं सुल्भः' इत्यादेरक्तार्थपरत्वस्तिरी-करणायास्यैवार्थस्य वक्ष्यमाणं विस्तरसुदाहत्श्रुल्युपष्टरणरूपं दर्शयति वक्ष्यते चेति ॥ १४ ॥

इतः पूर्वं लयाणामधिकारिणां केचन वेचोषादेयभेदाः प्रतिपादिताः; अतः परमधिकारौपिय-कतयाऽवदयवेद्यस्य फलस्य स्थिरास्थिरत्वलक्षणिक्षरेषं दर्शयतीत्याद्य अद्यः परितित । अल ज्ञानिनत्तावत् अपुनराद्यत्तिरुच्यते मासुपेरचेति रुलोकेन । दुःलानन्त्यस्य सर्वभमाणतिद्धत्वादृदुःखशन्दस्य निर्विशेषणस्य सङ्कोचायोगात् निर्मेखलेखक्तम् । जन्मनश्चाद्याश्चात्रश्चरव्दनिर्देष्टमस्थिरत्वं जन्माविनाभृतदेहमोगाद्यस्यिरत्व-रूपितः विवक्षितम् । जन्मशन्ददे वाऽल जनिमच्छरीरपरः । महात्वानः इति स्तुतिमालादिप माहात्त्य-स्थालं संसिद्धिहेतुत्वमुचितमित्यभित्रायेणाहं यतः इति । महामनस्यं ज्ञानिनां प्रावश्यवितिमहानृदितं दर्शयति यथावश्चितेत्यादिना । अभिल्यतित्यं फलस्य सिद्धिन्यपदेशौचित्यात् परमशन्द्यसारस्याच परम-संसिद्धिरूपं मामिस्यकस्य । परमसंसिद्धिरूपं परमगुरम्पवित्येशः । सर्वोचित्यस्तिद्धिः संसिद्धिः ॥१५

अप्रसक्तस्य प्रतिषेषायोगात् प्रतिषेष्यस्य प्रसिद्धनश्च आसलप्रतिन उपादातुमुचितत्वात् नश्चर-फरुम्हेश्वर्यार्थिनां जन्ममालं तिलिषेधमुखेन सूचितम् ; अतलालापि हेतुरेन केवलं नकत्य इत्यमि-प्रायेणाह ऐश्वर्यगतिमिति । माग्रुपेस्य तु इति भगवतः प्रतियोगीकरणात् आङोऽलामिविधिपरत्वामि-

<sup>1</sup> वरण दिवरणमंत्रिय आर्थ स्पष्टम् । श्रीभाष्ये द्रश्मि बुद्धियोगिमित्येतःमात्रित्दैशः उपलक्ष्मणम् । टीकरतत्वटीकयोरतेव तात्वर्यम् । नमेचयिते ध्यानस्य जातस्याप्यकार्यकरत्ववचनात् स्वानविषाक्षमपृति—पर्यक्षारोहणपर्यन्तान्तरालिकानुग्रहः सर्वे।ऽपि वरणमेव । "प्रष प्रव लाषु कर्म कारयति तं यभेभ्यो लोकेभ्य उन्निभीषति" इति वाक्यमेनद्वरणमपि क्रोडोकरोति । अत्र चिन्द्रकायां द्वेषमोद्दाद्य इत्युक्तं 10, 11. श्लोके विषयवावण्यमिति भाष्यपदेन संगुद्दीतम् ।

आ ब्रह्मभुवनाञ्चोकाः <sup>1</sup>युनरावनिनेऽऽर्जुत । <sup>2</sup>मानुषेऽ त कौन्तेय युनर्जन्म न विद्यते ॥ १६॥ ब्रह्मतोक्ष्यपे ताः ब्रह्माण्डोद्ध्वर्तितस्यवे लोका भोगैद्धर्याख्याः युनरावर्तिनः विना-श्चितः । अत ऐश्वर्यमति प्राप्तालां प्रत्यस्थानिकाभाद्विनाश्चित्वसवर्जनीयम् । मां सर्वेञ्चं सत्यसङ्कर्यं निस्तिलजगदुत्यान्तस्थःतस्यलीलं परमकाश्चिकं सदैकरूपं प्राप्तानां विनाध-प्रसङ्काभावात् तेषां युनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

त्रश्रहोकपर्यन्तानां लोकायां तदन्तर्वर्तिनां च परमपुरुवसङ्करपकृताद्वत्पत्तिविनाज्ञ-कालव्यवस्थामाह----

सहस्रपुगर्यन्तसर्होद् ब्रह्मणो चिद्धः । राजि युगश्रहस्रान्तां तेटहोरावविदो सनाः ॥ १७ ॥ अध्यकात् । यक्तयः सर्वोः प्रभवन्त्यहराजये । राज्यागने गळीवन्ते तत्रैवाव्यकसंबक्षे ॥ १८ ॥ भूः ब्रामः स एवार्ः भूम्बाभूतः प्रकीवते । राज्यागनेऽवदाः राधि प्रमदत्यहरागमे ॥ १८ ॥

प्राचेगाह श्रवस्त्रोकिति । प्रकृत्यास्वभगवनमायामहोदयो त्रबाण्डरिप यदा बुद्बुदायितम् , तदा कैव द्या दर्स्वितिना कोकानाम्त्रविप्राचेग श्रदाण्डरिप्राचिस इस्तुक्तम् । तेन परमाकाश्चयवच्छेद-सिद्धिय । ऐश्वर्यानित्यताप्रसिपादनपरस्वायोक्तम् भोनैद्ध्य क्रिया इति । भुवनशब्दसमिन्याहृतस्य स्रोक्कशब्दस्य जनविषयस्वायोगात् कोकस्य गननामावेन पुनरावृत्तेरप्यभावात् पुनरावर्त्ति (इति)शब्दते प्रवाहते विनाशमातं कश्यत इत्याह ध्वनाश्चिम इति । पुनरावर्ति (इति)शब्दस्याजहृक्ष्यणावृत्ते सक्ष्यते व्याद्धार्थित वा द्वारम् । फिल्निमाह अत इति । मामित्यत्र तुशब्दने चोदितान् अपुनरावृत्तिद्वेत्विशोषान् द्यीयि मां सर्वज्ञमित्यादिना । अत्यवैशमस्यसङ्कर्षं कार्यकोटिघटितं निवृणं रजस्मोम्क्ररागद्वेषादिनानाविकारशाण्टिनं कश्चन क्षुत्रदेवतं प्राप्तानां हि तद्दन्येन तेनैव वा पुनरावृत्तिः स्यादिति विशेषणानां तारपर्यम् ॥ १६ ॥

सहस्रोत्यादिश्लोकत्वयस्य पिण्डितार्थमाह व्रवस्तोकप्रयन्तानामिति । हिरण्यगर्मादिस्वातन्त्र्य-सिद्धमत्यञ्जोकादिस्थैर्थशङ्काव्युवासायाह पत्रसपुरुषसङ्कर्भकृतामिति । ईश्वरस्वातन्त्र्यमेव स्वन्यूनानित-रिक्तदिनरात्र्यादि विचत्रव्यवस्थायां कारणम् । तथा चोच्यते, ''कारुस्य हि च (च हि) मृत्योश्च" (भा. उ. ६७. १३), ''कारुचकं जगचकम्'' (भा. उ. ६७. १२) इत्यादिभिः । एवमेवोक्तमन्यत्न, ''ततो युगसहस्रान्ते संहरिप्ये जगत् पुनः । इत्या मत्स्थानि मृतानि चराणि स्थावराणि च॥''

<sup>1</sup> नतु भुक्तशब्दलस्वेऽिष छो. एदं जनपरमेवास्तु । एवञ्च पुनरावित्ये बर्थक्केबो नास्ति । पुनरावित्यं पुनर्जनम्बरक्षेत्रं, उत्तरार्वाद्यस्य वेत् — अवतारिकायामस्मिन्नयेऽिष पुनरावित्यस्य भाष्ये प्रपुक्ततात् नायमस्मिन्नयेऽिष पुनरावित्तात्रस्य भाष्ये प्रपुक्ततात् नायमस्मिन्नयेऽिष पुनरावित्तात्रस्य भाष्ये प्रपुक्ततात् नायमस्मिन्नयेऽिष पुनरावित्यस्य भाष्ये प्रपुक्तताम् वात्यस्य प्रप्तावित्यस्य प्रपत्तिव्यस्य प्रपत्तिवित्यस्य प्रपत्तित्यस्य प्रपत्तिवित्यस्य प्रपत्तिवित्यस्य प्रपत्तिवित्यस्य प्रपत्तिवित्यस्य प्रपत्तिवित्यस्य प्रपत्तिवित्यस्य प्रपत्तिवित्यस्य प्रपतिवित्यस्य प्रपत्तिवित्यस्य प्रपतिवित्यस्य प्रपतिवित्यस्य

<sup>2</sup> मामित्युक्तार्वाप मञ्जोकिनिति निविश्वतमेव । 'योगी परं स्थानमुपैति चाऽऽचास' इति पतद्धा्यान्तिमहरोकः । गीतान्ते च 'स्थानं प्रास्थित राध्यतम' इति वश्यमाणत्वात् । उत्तरार्धय तात्पर्योधे एव भाष्ये उक्तः । वाज्यार्धेस्तु पुरुषेण माह्यदेत्व पुनर्जनम् । विचाते—न स्टेभ्यत इति । विदिसीं । अतो व्यवुक्तसमानकर्तृकत्वोपपत्तिः । अन्यथा उपत्येतद्दनन्तरं स्थितस्थेति शेषः ।

ये मनुष्यादिचतुर्भुखान्तानां मत्सङ्करपञ्चताहोराब्रव्यवस्थाविदो जनाः, ते ब्रह्मण्-अत्रष्टुंखस्य यदहः तत् चतुर्युगसहस्रावसानं विदुः ; शति च तथारूपाम् । तत्र ब्रम्नणोऽहरागम-समये त्रेलोक्यान्तर्विर्तन्यो देहेन्द्रियमोग्यतोगस्थानस्था व्यक्तमध्यतप्रस्तदेशवस्थार्यद्वयक्तात् (भा. मो. २४) इत्यादि । यत्त भानचे, "तथे दुरसहस्रे तु बाझं पुण्यपद्वितः । सर्वि च तावतीमेव तेऽहोरालविदो जनाः ॥" (मनु. १. ७३) इति, तल य इत्येव पाठात् पश्चाक्रममन्वयः । <sup>2</sup>इह तु सहस्रोति श्लोके यत इत्यत्याहरशब्देनैव बानववी घटते । ततश्च ते इत्यत्य ये इति पदमपेक्षितम् : तलापि ये विद्रस्तेऽहोरालविदो जनाः' इत्यन्वये असङ्गरहिताहोरालवेदित्यस्पदनुरूपं स्तुतिपरं वाक्यं प्रस्तुतासङ्गतं स्यात् । ततश्च बेऽहोरःत्रविही जनाः, त एवं विद्रित्यन्वयः एवं कालस्यवस्थायां प्रामाणिकत्वप्रतिपादनपरोऽत स्वीकार्य इत्यसिप्रायेणाह ये मन्यादीति । अनुद्यमानमहोरात्रवेदित्वं यथाप्रसिद्धि सर्वविषयमेव भवितुमहीति ; तेन चतुर्मुखस्त्रापि नतुर्वादितुष्यता बोरिता स्यादित्यभिपायेण मनः यादीत्यादिकमुक्तम् । त्रक्षशब्दस्यातः परमात्मविषयत्यभ्रमस्युदासाय चतुर्भस्वशब्दः । तस्यैव हि सहस्रयगप्रतिनियताहोरजनीविभागः प्रसिद्धः इति भावः । ''सविशेषणौ विधिनिषेषौ विशेषणमुपसं-कामतः'' इति न्यायात् , 'येऽहोरालविदो जनाः' इत्यहोरालवेदितांशस्यानूदितत्वाच सहस्रयुगार्थन्त-तावेदनमेवाल विधेयमित्यभिपायेण तत् चतुर्युगसहस्रावसान विदुरित्युक्तम् । सहस्रयुगानि पर्यन्तं यस्य तत् सहस्रप्रगप्यन्तप् । युगशन्दश्चात प्रमाणान्तरानुसाराचत्र्यगपरः ॥ अस्तवेवं चतर्मखस्याहोरालव्यवस्था : ततः कि पस्ततस्येत्यत्रोत्तरम् अव्यक्तादिति क्लोकः । तत्याश्रमाह तन्नेति ।

<sup>1</sup> भाष्ये चतुर्भुववेदावस्याद्यसादित्यस्य चतुर्भुकितयाम्यः प्रश्नात् प्राष्ट्रतपदार्धिद्यशः। 'मध्यक्तादील भृताति' इति इलो ह व मृल्यम्भरायिवशः। अध्यक्ताद्य-प्रधानात् व्यक्तयः समित्वकाः प्रभवनतिः हे स्वरसायोऽत वक्तुं न राष्ट्रयत्ते । महस्प्रध्यनत्तरमेव महोक्रय-कालेविश्वस्यात् । अध्यक्तात् । तथा तक्षादार्धाः प्रविकालिकत्वं न भवतिः प्राक्तमसृष्ट्री तदीयाहरागमम्भक्तिकत्वयोगात् । तथा तक्षादारागि राजिकालिकत्वं न भवतिः महावलेवे भहदादिगाञ्चावसरे राजेवेधाभाषात् । व्यष्टिमञ्चलालानत्तर-भावित्रस्ये चतुर्भुक्षीयराज्ञिकालिकत्वायोगात् । तत्रोऽवान्तरसृष्टिमस्रयविषयतयेव तद्योजना । मह्यायुर्वस्यो पत्रवे स्वयुक्तस्य स्वयुक्तस

<sup>2</sup> नतु मनुस्मृताविवात्र योंस्तु । तद्ये यदित्यस्य ये इत्वर्थः परिमध्यताविति बेद्तदाऽपि महःपरिमाणवेदिनो ये, ते राजिपरिमाणवेदिनोऽपीति नार्यः । एकस्योभयलानं
कथितत्यादांकाया अव्रक्षकः । ब्रह्मदिनय्य चनुर्युगसहस्मान्तताया अव्रातत्या यच्छःश्चितिवाक्ये तद्योगश्च । अतो मनुस्मृतौ ये अहस्य राजिञ्च ब्रह्मणः यथावस्थित्रयरिमाणं विदुः,
तप्वाहोराविदः, न तुमनुष्पाहोराजमात्रविदः इत्यर्थेऽधि, इद्वेषस्यये - कैवलेमनुष्पाहोरात्रवेदनमात्रेण नाहोरावित्वस्य, किंतु सर्ववैदन एव । तवापि ब्रह्मणोऽदरिक्त राजिद्विते ज्ञानमात्रे
बालम् । किंतु ब्रह्मणोहः राज्ञिश्च युगसहस्यस्ययेति ज्ञानमपि तैषामावद्यकमिति । तत्र ये
ब्रह्माहोरात्रवरिमाणमिदं विदुः, ते ब्रह्मराविद्यादायः ।

प्रभवन्ति । तत्रैव अन्यक्तावस्याविशेषे चतुर्भुखदेहे राज्यागमसमये प्रलीयन्ते । स एवायं कर्मवद्यो भृतमामोऽइरागमे भृत्यःभृत्वा गाज्यागमे प्रलीयते । पुनर्ययहागमे प्रभवति । तथा वर्षभावाय वानक्ष्यमुगसद्धाः ने नः लोकः विकार ने नः पृष्टि श्वय्ययु प्रलीयते आपस्ते जिल्ले लीवन्ते। (श्व वा. २) इत्यादक्षमेण अन्यक्ताक्षरतमार्ययन्ते धरदेव प्रलीयन्ते । एवं मद्यतिरिक्तस्य कृत्स्वाय कालभ्यवस्य । मत्र उत्यत्तः मिय एलयाचीराचिवनाभयोगित्वमवर्जनीयमित्वेश्वयंगिति प्रभावती प्रमानां पुनर्यः विवासित्वेश्वयंगिति प्रभावती प्रमानित्व विवासित्वेश्वयंगिति प्रभावती पुनर्यः विवासित्वेश्वयंगिति प्रभावती पुनर्यः विवासित्वेश्वयंगिति प्रभावती प्रभावती प्रभावती । स्व

अयमभिष्रायः--अत ध्यंक्त्रशब्दस्तावच महदादिविषयः, चतुर्मुखात्प्रागेव तद्दरपतेः । अतश्चतुर्मुख-सञ्चमात्रविषय एयासी । व्यव्यन्त इति ६५क्क्यः । द्वापि सत्यलोकादेः प्रतिकरूपं प्रख्याभावात त्रैकोक्यास्त्रवर्तिहे हेन्द्रियादिवस्तमात्रविषयस्यमेव स्वीकार्यभ्यः तेषां चोत्पत्तिः त्रह्मशरीरादेव । ततश्चात अञ्चक्तराञ्डोऽपि न मूळाञ्चलविषयः : अपि त् तद्वपादानकत्रह्मशरीरपरः । शरीरे चाव्यक्तराठ्दप्रयोगः सुत्रेडप्यूपपादितः, ''सुक्तं तु तद्हीत्वात्'' (त्र. १. ४. २) इति । एवंविधसृष्टिप्रस्यकारणविशेषं तदन् च्छेडाच स्टिम्स्यसन्तानानुच्छेदम् अङ्गताभ्यागमङ्गतविष्ठणाञ्चनसङ्गपरिहारम् उक्तस्यार्थस्य सर्वेषपि करुपेष अभिन्याप्ति यथापूर्वकरपनं च धुत्रबन्धः इति इलोकः प्रतिपादयतीत्यभिपायेणाह स एवयमिति । भूतश्चदोऽत्राचिद्विशिष्टक्षेत्रज्ञपरः । सुज्जत्वसंहार्यस्यहेतुभूतमवशस्य कर्मनियन्थनमेव हीत्यभित्रायेण कर्मा वर्य इत्वक्तन । अहराममे इति पदं सुरुवेत्यता प्यत्विती यपित्यभित्रायेण अहराममे भृत्वेत्यन्वय उक्तः। इदं च नैमित्तिकमळन्मितिपादनं श्रुत्वादिसिद्धमाङ्कतमळस्वाप्युपळक्षणम् ; तेन सत्यलोकविनाशसिद्धिः : आह्रयभ्रवन छो ५८% (१६) इति इपकान्तनित्यन्त्रियायेणाह तथेति । यदा <sup>1</sup>शत्र थाग मशन्द एव ब्रह्मगोऽन्तिमराव्यागमस्ति शरत्या संगृह्णतीति भावः । तदेतत् सुचितम् वर्षशतावसानस्यग्रामहस्यान्त इति । तथा चान्यत्न सर्वते, "िजेन तस्य मानेन आयुर्वर्षशतं समृतम्" (वि. १. ३. ५) इति । एवमहरागुमञ्दोऽपि पथममहः सङ्गृहाति । प्रतिन्यादि-स्यानामेन विक्रये तदारच्यानां ब्रह्मकोक-**ब्रह्मरारीरब्रह्माण्डादीनां का कथेत्यमियादेग पृ**धिशीत्यादिशुहिरुदाहता । हमोबस्थाचिद्ह्**रयस्थैकीमावो** हि परिसान्नेव देवे श्रवते । अन्नापि 'अरं झरसस्य जगतः प्रस्वः प्रख्यः' (७. ६) इत्यादिकं हाच्यत इत्यभिष्ठायेण सरगेवेत्यक्तम । एवं 'यो ब्रह्माणं विद्याति पूर्वम्' (श्वे. ६. १८) 'एको ह वै नारायण आसील ब्रह्मा नेशानः' (महो. १. १) इति कमेण पुनर्वह्मादिस्रृष्टिः, पुनश्च तत्पुरुष इत्यादिकमपि भाव्यम् । ईदशस्रष्टिशलयप्रतिपादनस्य भक्कतोपयोगं दर्शयति एवमिति । सर्वेषु सृष्टिप्रलयप्रकरणेष्विदसेव तारपर्वे भाव्यम् । मद्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्येत्यनेन 'अहं कृत्स्नस्य' इति प्रामुक्तं स्मारितम् । उक्तं च मोश्रधमें ५५, 'नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् । ऋते तमेकं प्रवं वासदेवं सनातनश' (३४७, ३२) इति ॥ १७-१९ ॥

<sup>1</sup> पर्वसित राज्यागमे इत्यस्य रात्रिप्राप्तिनद्वसानोत्तरिव्यस्यः । एवमहरागमइत्यक्षापि भाग्यस् । अत्र न नैर्भेषम् । ब्रह्मणोऽग्तिनाराक्षाविः कतिएयनारा एव । तद्वसाने यदोत्तिष्ठति ब्रह्मा, भदेव तत्राण्यु एतौ नचानसानम्, अथ तह्यक-शिष्टव्यष्टिसमधीनामिति । चतुर्मुसनारा-प्रदर्शनतः इद्यन् किन्द्रितित्यारायेनैय तथेत्यादिभाष्यारम्भः ।

#### अथ कैवल्यं प्राप्तानामपि पुनरावृत्तिर्न विद्यत इत्याह—

ग्वरस्तरमानु भावोऽन्योऽन्यकोऽन्यकात् सनातनः यस्स सर्वेषु भूनेषु नदयन्यु न बिनदयि॥ अन्यकोऽक्षर इन्युक्तस्तमादुः परमां गतिस् । य प्राप्य न निवर्तन्त्रे तद्धाम परम मम ॥ २१ ॥ तसाद्व्यकात् अचेतनप्रकृति-रूपात् पुरुषःश्वतया परः उरकृष्टो भावोऽन्यः द्वानैकाकार-

परहत्यादिश्लोकद्वयसार्थमाह अथेति । अयमभिषायः — भगवन्तं प्राप्तानाम् अपुनराष्ट्रतिः प्रागेवोक्ताः ; अञ्चकारपरस्वेन निर्दृष्टोऽक्षरश्च जीव एव मिवतुमहिति, 'अपरेयमितस्वन्याम्' (७. ५) इत्यादिशत्यभिज्ञानात् । वक्तव्या च कैवल्यार्थिनामवरोहाभावादपुनराष्ट्रतिः । अत एव तरपरमेवेदं श्लोकद्वयम् इति ॥ अञ्चक्तस्यैव पृदेपकृतस्यात् , अतापि अन्यक्तादिस्येव परच्छेदः (मेदः) । तस्य चापेक्षया परशब्दान्यशब्दाभ्यामप्यन्वयः । तत्र च पौनरुवत्ययपुदासायोक्कृष्टस्वाभिषानमुखेन पुरुषार्थरुपस्वपरः परशब्दः । तत एव च स्वस्वभेदस्य सिद्धत्यात् अन्यशब्दः । कारान्यस्वपरः । स च प्रकारमेदश्चेतनस्वरूप एव प्रमाणसिद्ध इत्यभिषायेणाह तस्यादिति । भावशब्दोऽत परार्थमात्रवाची । व्यक्तः इति पदच्छेदो

 परत्तस्मास इति तुशब्दवयोगात् पृथीकेश्वविव्यक्षणं फलमत्रोच्यत इति सिद्धम् । 'पुरुषः स परः पार्थं भक्त्या संभ्यस्तु' इति तुशःस्यदितवाक्येन प्तद्विसंक्षणन्वं ध्रमवद्रूप-फलस्योच्यते । अतो मध्ये इदं कैवस्यपर्धिति सिद्धमेव ! अत्र भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यनीत्येतदपि जीवपरस्य एव खरसम् । एवपविन्द्यन्वादेव पूर्वोक्तप्रकृतिकपाव्यकापेक्षया अक्षराव्यकस्य वैलक्षण्यमेव अव्यक्तोक्षर इत्युक्त इति दर्शितम्। एवमक्षराज्यकःयवहार प्रतिद्विष्य इति द्वादश-पञ्चदशास्यायवाक्यतोऽपि निरूप्यते । भारते इत्यादिष इत्यन्य वेत्वक्षरिमित्यदिवक्ष्यमाण-वाक्ययोरादिभृतासु-मूळभृतासु शृतिष्वित्वयोः। 'तमातुः परमां गतिम्' इति तच्छन्दोक्तजीवा-मेदस्य परमगताबुक्त्या गतिशब्दः न मार्गपरः : नापि गन्तव्यदेशपरः, किन्तु आहेमन एव प्राप्यत्व-पर इति सिद्धम् । अथ य प्राप्येति अर्थमं के कैवरमानुभवस्थानपरमेव कि न स्थादिति चेत---यदि स्थानपरता, तर्हि मम धाप-मन्स्यानं क्षीवैकण्ठ एव तत्स्थानम् , तत् प्राप्य च न निवर्तन्ते इत्यर्थ वर्णनं स्यात्। कैवल्यानुभवद्द्यायां तस्य श्रीवैकुण्ठे स्थित्यभावात् अपुनरावृत्तकेवस्रजीवस्थानं मदीय-वैकुण्ठ श्रयर्थो न घटत इत्यारायेन भाष्यकारैः जीवस्यैव धामशब्दवाच्यत्वं कथञ्चिद्रवपादितम्। यमिति पुलिङ्गनिर्देशादपि पूर्व तमित्युक्त आस्मैवाऽत्र प्राह्यः। अय तस्यैकस्य बह्मिरप्राप्यत्वात निवर्तन्त इति बहुवचनं कथमिति चेत्---यमिति तत्त्यात्मविष्यया निर्वाद्यम्। परमगति— अक्षराध्यक्त-अपुनरावृत्तिक्रपशब्दवाच्यसक्षेणावस्थितमात्मस्वरूपं यथावदनुभ्यते कैवर्षे । तावता तस्य पुनरावृत्तिनैति कथमिति चेत —एवं कैवल्यं प्राप्तः ततः परं नावरैत-पर्वचदैश्वर्य-फलकामनया किमपि न कुर्यात् । केवल्योपरतौ भगवत्प्राप्तौ त्यरेतेति भावः। न हि तदर्थे कार्यस्य पुनरावृत्तिराव्दव्यवहार्यः वमुचितस् । मुकस्यापि पुनरावृत्तिरस्ति अवतारादिति रांकायां हि पन र्दुःस्त्रानुभवाभावादेवापुनरावृत्तिर्वकःया । तथा कैवस्य प्रातस्यैश्वर्यानुव्भूषाम्युक्तजनमाभावात् अपुनरावृत्तिरेव। एवञ्च प्रयत्नाद्यतमानस्तु—ततो याति परां गतिमिति ज्ञानयोगिन उक्ता परागतिः अञोक्ता परमा गतिरुचेकैवास्त् । एश्वर्यातुसवरासिक्यदैतुकर्मप्रहाणमपि जीवात्मक्कानबसादिस्त । ब्रह्मप्राप्तस्यापुनरावृत्तिः कर्भकृतरारीराभावरूपा इतोऽतिरायिता। पञ्चाग्निषयानिष्ठस्य तु सापि पुनरुपायानुष्टानं विनैव भवतीति तस्वम् । शिष्टमुपरि ।

तया तसादिसजातीयाः, अध्यक्तः केनचित्रमाणेन न व्यज्यत इत्यव्यक्तः, खसंवेद्यखा-साधारणाकार इत्यर्थः ; सनातनः उत्पत्तिवनाञ्चानईतया नित्यः यः सर्वेषु वियदादिमतेष यकारणेषु सकार्येषु विनइयन्स तत्ततत्त स्थितोऽपि न विनइयति : सः अव्यक्तोऽक्षर इत्यक्तः. ''ग्रे त्वक्षरमनिर्देश्यमुख्यक्तं पर्यपासते'' (१२.३) ''क्रटस्योऽक्षर उच्यते'' (१५. १६) इत्यादिषु -- तं वेदविदः परशं गतिमाहः । अयमेव, 'यः प्रयाति त्यजन देहं स याति परमां गृतिम्" (८.१३) इत्यत्र परमगतिश्चद्विदिष्टोऽश्वरः प्रकृतिसंसर्गवियुक्तस्वस्वरूपेणा-वस्थित आत्मेत्यर्थः । यमेवंश्रतं श्रक्ष्णावस्थितं प्राप्य न निवर्तन्ते : तन्मम परमं धाम परं न यक्तः : अव्यक्तोऽक्षरः इति अलैवाभिधानात् : दुर्बहे च जीवे व्यक्तशब्दप्रयोगानुपपतेरित्यभि पायेणाह केनिचिदिति । ननु जीवस्यात्यक्तस्वमयुक्तम् ; प्रत्यक्षानुमानागमैर्थथासंभवं तद्वयक्तेः. अन्यथा रक्षुष्पत्वपसङ्गादित्यताह स्वसंवेद्येति । प्रमाणान्तराणि हि साधारण्येन तत्प्रतिपादकानीति भावः । नित्यंत्वे द्वितीयाध्यायोक्तहेत्सारणम् उत्पत्तिविनाञ्चानईतयेति । भृतशब्दोऽत महाभूतपरः, तद्भिनाशें ऽप्यात्मस्थितिवचनेन नित्यत्वस्यानायासङामात् । तत्न सर्वशब्दाभिष्रायवशादेव सकारणत्वं सकार्यत्वं च सिद्धमित्यभिपायेणाह वियदादीति । प्रसक्तो हि नाशो जीवे निषेध्यः : प्रसङ्ख्यात नश्यत्पदार्थानुभवेशवशातः यथा िलेख दद्यमानेषु तदनुष्रविष्टं तैलमपि दह्यते । ततश्च सर्वेषु भतेषु नइयस्त्रियस्यैव सामर्थ्यस्वयम्कं तत्त तत्र स्थितोऽपीति । यस्स सर्वेष्वित्यत स इत्यस्य प्रयोजन-मान्चादत्तरतापेक्षितत्वाच सोऽव्यक्तोऽक्षर इत्यन्वय उक्तः : यद्वाऽयमध्याहारः । उक्त इत्यस्य कुलेत्याकाङक्षायामाह से तिवति । अन्योः प्रकरणयोरक्षरशब्दस्य जीवविषयत्वं तुलैव व्यक्तम् 'उत्तमः पुरुपस्त्वन्यः' (१५, १७) इत्यादि मेदव्यपदे ज्ञात । अतोऽत्राप्यध्याये 'अक्षरं ब्रह्म प्रमम्' (३) 'अञ्यक्तोऽक्षरः'्डत्यक्षरशन्दाभ्यां परिशुद्धजीव एव न्यपदिश्यते । **ये त्वित्यताक्षरा**न्यक्तशन्दयोर्द्धयोरपि 'अन्यक्तोऽक्षर्∕इत्युक्तः' इति तदभयनिर्देशाच तत्प्रत्यभिज्ञासिद्धेरिति भाव: । ननु कथं वक्ष्यमाणप्रकरण-स्थमल उक्तः इत्यनेनान्विततयोगदीयते ? इत्थम् । तत्तत्प्रकरणोपवृहणीयश्रुत्यभिप्रायेण तदुपादानात् 'निहताः पूर्वमेव' (गी. ११. ३३) इतिवत् खसङ्करपारोहाद्वेति । आहरित्यत्र कर्त्नपेक्षायां 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' (११) इति प्रसक्तमुचितं च कर्तृविशोषमाकृष्याह तं वेदविद इति । 'स याति परमां गतिम' (१३) इति सामान्यनिर्देश एतेन विशेषित इति द्शीयति अयमेव या प्रयातीत्या-दिना । यद्वा अल 'तमाह: परमां गतिम्' इति निर्देश: 'स याति परमां गतिम्' (१३) इति पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञापनार्थ इति भावः । तत् आक्षरपरमगतिशब्दयोः प्रयोगयोग्यतां दर्शयति प्रकतीति । अनिवृत्तिहेतुत्वेनायमर्थ उक्त इत्यभिषायेण एवंभृतं स्वरूपेणावस्थितमित्युक्तम् । तद्वाम परमं मम इति, संबन्धमात्रविधानस्य प्रागेव सिद्धेः स्थानस्य च स्थानिसापेक्षरवनियमात 'य आत्मनि तिष्ठन' (शत. माध्य. १४ ६. ५. ३०) इत्याचुक्तमिष्ठियं शानपर्यायं(यं १)**धाम**शब्देन विवक्षितमित्याह

अधिष्ठेयस्यैव आत्मनीति स्थानतया कथनवद्वापि नियमनविषयत्वविवश्चया धामशुःदः ।

नियमनस्थानम् । अचेतनप्रकृतिरेकं नियमनस्थानम् ; तत्संसृष्टरूपा जीवप्रकृतिर्द्वितीयं निय-मनस्थानम् । अचित्संसर्गाविष्ठुकं स्वरूपेणावस्थितं ग्रुक्तसरूपं परमं नियमनस्थानमित्यर्थाः । तचापुनराष्ट्रिक्तपम् । ¹अथवा प्रकाशवाची धामग्रव्दः ; प्रकाशश्रेह ज्ञानमभिष्रतम् ; प्रकृति-संसृष्टात् परिच्छिन्नज्ञानरूपादात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानरूपतया ग्रुक्तस्वरूपं परं धाम ॥२०॥२१

ज्ञानिनः प्राप्यं तु तसादत्यन्तविभक्तमित्याह—

पुरुषस्य परः पार्थ भक्तया लभ्यस्वनन्यया। यस्यान्तरस्थानि भृतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ 'मनः परतरं नान्यत्विश्विद्वित्ति धनंजय । मिय सर्वमिदं प्रोतं स्रवे मणिगणा इत् ॥' (७.७), 'मामेभ्यः परमन्ययम्' (७.१३) इत्यादिना निर्दृष्टस्य यस अन्तरस्यानि सर्वाणि भृतानि, येन च परेण पुरुषेण सर्वमिदं ततम्, स परः पुरुषः 'अनन्यचेतास्सततम्' (८.१४) नियमनस्थानिति । अत किमपरं नियमनस्थानम्, यद्यवच्छेदाय परमशन्दः इत्यताह्—अचेतनेति । अत परमधान्दवन्ययदेशात् परिद्युद्धात्मविषयत्वं सिद्धम् । तत्व्याद्युद्धो जीवोऽप्यपर एव विविक्षत इत्याह—तसंसृष्टेति । यदि सक्तेऽपि परमात्परतन्तः, तिर्दि स्वतन्त्रण परमात्मना पुनरिप संसारगते प्रविव्येतस्यताह तच्चित । अयं भावः—अविद्यादि संसारकारणम्, न तु पारवन्त्रयम् अविद्यादेश्व प्रक्षयात् ईश्वरकारण्यातिनां च लाभाविकत्वात्त सक्तस्यात्मात्वात् तथेति भावः । नियमनस्थानित्याश्चित्(स्थुत्वः)विदेषणोपादाना[नुपपन्त्य]स्त्रतेति । अस्तु धामशन्दत्तेजःपर्यायः प्रकाशवानी, तस्य कथमत्नान्वय इत्यताह प्रकाशक्षेति । विद्येषणपन्तिति । प्रकाशपक्षे तत् परमं धाम मम मच्छेषम्तमिति वाक्यार्थः । यद्यपि अपरेयम् (७.५) इत्यादिना प्रागेव स्वरोपत्वसुक्तम्, तथाऽपि समिष्टिचेतनमात्विषयत्वं तत्व प्रतीयते ; इह तु सक्तस्यापि स्वरोपत्वस्यस्यत इत्यतिन्तस्यम् ॥ २०॥ । २१॥

पुरुषस्य इति क्षोके तुश्चव्देनार्थान्तरद्योतनात् , अनन्यया भक्त्येत्यस्य सामर्थ्यात् , पुरुषशब्दस्य परमात्मिन पुरिशयत्व-पूर्णत्व-पूर्वसद्भाव-पुरुदानादिभिनिमिनैः, 'सहस्रशीर्था पुरुषः' (पु.)
इत्यादिप्रयोगाशाचुर्यात् प्रशब्देन विशेषणाच पूर्वोक्तात्फलाद्धिकफलोपदेशार्थोऽयं क्षोक इत्यमिप्रायेणाह ज्ञानिन इति । विभक्तम् । विवेचकौरिति शेषः । विलक्षणमिति वाऽर्थः । गगनाद्यन्तस्थितावपि गगनादेः प्रत्वाभावात् तत्सिद्धर्यार्थं यस्येत्यादिप्रसिद्धविन्देशोऽत्व पूर्वोक्तप्रत्थपर इति
दर्शयति मन इति । अनुवादपुरोवादयो रैकार्थ्यमिति भावः । 'यसात्परं नापरम्' (क्षे. २-९)
इत्यारभ्य 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इति श्रुतिस्मारणाय येन च परेण पुरुषेणेत्युक्तम् । भक्तरनन्यत्वं
कीद्यामित्यलाह अनन्यचेता इति ॥ २२ ॥

<sup>1</sup> नियमनस्थानपारम्यं नियमनपारम्यात् । नियमनपारम्यञ्चापुनरात्रृत्तिविषयकत्वात् ।

<sup>2</sup> शुद्धसद्वयसापि मच्छेषत्वम्—शेषतेकरतित्वमिति शेषत्वसामानन्तरमेवापुनरा-वृत्तिरिति क्षापनार्थमेव सुतीयचतुर्थपादप्रवृत्त्या कैवस्थानित्यत्वमेव स्थापितम् ।

इत्यनन्यया भक्त्या सम्यः ॥ २२ ॥

अथारमयाथारम्यविदः परमपुरुविनष्टस्य च साधारणीमिक्तिदिकां गितमाह—द्वयोरप्यक्तिगिद्कां गितमाह—द्वयोरप्यक्तिगिद्कां गितमाह—द्वयोरप्यक्तिगिद्कां गितमाह अतौ श्रुता। सा चापुनगञ्जिलक्षणा। यथा पञ्चाविविद्यायाम्, ''तव इस्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युवानने, तेऽर्चिवन्नोमसंभनन्त्यर्चिवोऽहः'' (छा.५.१०.१) इत्यादी। अर्चिगादिकया गतस्य परञ्जनप्राप्तिरपुनराञ्चलिक्षाञ्चाता, 'स एनान् ब्रज्ञ गमयित एतेन प्रतिवद्यमाना इसं मानवमावर्ते नावर्तन्ते'' (छा.४.१५.६) इति । न च प्रजापतिवाक्यादौ श्रुत्तपरिवद्याङ्गभृतात्मप्राप्तिविवयेयम्, 'तद्य इस्थं विदुः'' इति गतिश्रुतिः, 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युवासते' इति परविद्यायाः पृथक्षुतिवैयर्थ्यात् । पञ्चाविवद्यायां च, ''इति तु पञ्चम्यामाहुतावायः पृरुववचयो भवन्तिः' (छा.५.९.१) इति, ''रमणीयचरणाः क्ष्य्यचरणाः' (छा.५.१०.९) इति, 'परमणीयचरणाः क्ष्य्यचरणाः' (छा.५.१०.९) इति, 'परमणीयचरणाः क्ष्य्यचरणाः' (छा.५.१०.९) इति, 'परमणीयचरणाः क्ष्य्यचरणाः' (छा.५.१०.९) इति पृष्ठपवचयो मत्रविन्ते।' इति विद्वचित्रो भिद्वचित्रविन्ते । स्वद्यविद्वाः तेऽर्चियमसंभवन्ति ...इसं मानवमावर्वे नावर्तन्ते' इति विद्वचित्रविक्ति विद्वचित्रविक्ति । सम्यते। आत्मयत्या च य इत्थं विदुः तेऽर्चिरादिना गच्छन्ति, न च पुनरावर्तन्त इत्युक्तिमिति गम्यते। आत्मयाथात्म्यविद्यापरमपुरुविनष्टस्य च 'स एनान् ब्रज्ञ गमयति'ति ब्रब्जावित्रवचात् अचिद्वयुक्तमात्मवस्तु ब्रबात्म-परमुरुविनष्टस्य च 'स एनान् व्रज्ञ गमयति'ति व्यव्यविव्यत्वता अचिद्वयुक्तमात्मवस्तु ब्रबात्म-

यत काले त्वित्यादेः योगयुक्ती भवार्जुनेत्यन्तस्य तात्पर्वमाह अथेति । अत धूमादि-मार्गकथनं हेयरवार्थम् ; अचिरादिमार्गोपदेशस्त् तद्गुलन्यानार्थ एवेति तत्नैव तारपर्यमिति भावः । नन परमपुरुषार्थनिष्ठस्त्रैव अर्चिरादिगति , तत् कथमत साधारण्यमुच्यत इत्यताह द्वयोरपीति । आसनिष्ठस्याप्यपुनरावृत्तेः(प्यनावृत्तेः) पूर्वोक्तत्वात् तस्यःप्यचिरःदिकेव गतिरिति दर्शयितुमाह सा चेति । साधारण्यापुनरावृत्त्योः श्रुतिमेव दर्शयति यथेति । अङ्गिफलमेवाङ्गेऽपि वयपदिश्यत इत्याशङ्कय परिहरति नचेति । हेतुमाह येचेति । यद्यप्यक्षिण्रहसेवाङ्गेऽपि निर्नेष्टुं युक्तन् , तथाऽप्यक्षिना सहाङ्गस्य तुरुयत्वेन (तुरुयनत् ) पृथङ्निर्दिष्टस्य तत्फलनिर्देशी न युक्त इति भावः । एतेन प्रथमपट्कोदितप्रत्यगातम-वेदनादत्रत्याक्षरयात्रात्म्यानुसन्धानस्य मेदोऽपि दर्शितः । 'त्व इत्थं विदुः' इत्यस्य प्रत्येगात्मनिष्ठविषयत्वं कथमित्यताह पञ्चाभिवद्यायां चेति । 'आपः पुरुषवचसो भवन्ति' इति तिष्टत्कृतानामिभधीयमा-नत्वाद्मृतान्तरसंसर्गीसद्धिः । अपामेनेत्यात्मस्वरूपपरिणामच्युदासायोक्तम् । एवंविधश्ररीरसंबन्ध मालस्याप्यौपाधिकत्वभदर्शनायाह पुण्यपः पहेतुक इति । 'रमणीयचरणा रमणीयां योनि ... कपूयचरणाः कपूयां योनिम्' इत्यादिवचनात्रं केवलाचिद्विषयमिदं प्रकरणम् । 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' इत्युक्तयदृवृत्तद्वयस्य तेऽिचैषिमत्येकेन तदृवृत्तेन प्रतिनिर्देशादुमयोगीतर-विशिष्टेति ज्ञापनाथ, 'तद्य इत्थं विदुः', 'तेऽर्चिषम्' इति व्यवहितमुपात्तम् । इत्थंशव्दानूदितं पस्तुता-कारिविशेषं दर्शयति विविक्ते इति । नतु 'तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति' इत्यर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते ; तत् कथं केवरु।स्मोपासकस्य ब्रह्मपापकार्चिरादिपाप्तिरित्यलाह आरम्

# कतया ब्रह्मश्चेषतैकरसमित्यतुसन्धेयम् ; तस्कतुन्यायाच । परशेषतैकरसस्वं च ''य आत्मनि तिष्ठन्....यस्यातमा श्ररीरम्'' (शत. माध्य. १४. ६. ५. ३०) इत्यादिश्रुवितिद्वम् ।

याधारम्येति । अयं पद्यामिविद्यानिष्ठो न केवलारमोदासकः ; अपितु ब्रह्मात्मकखारमानुसम्यायीति भावः । अन्यथा तत्कृतुन्यायविरोध इत्यमिषायेणाह त्रस्कृतुन्यायाचेति । च्कार <sup>1</sup>इतरेतरयोगे । यथावस्थितारमानुसम्यानस्य परहोषतैकरसत्वानुसम्यानस्त्रपत्वे प्रमाणनाह य आत्मनीति । आदिशब्देन 'पति विश्वस्य' (ना. ६. ११. ३), 'करणाधिपाधिपः' (श्वे. ५. ९) इत्यादिवावयशतं गृक्षते ।

#### (पञ्चात्रिविदि कैवस्यमुख्यमोक्षोधयस्थापनम्)

अल शारीरकभाष्यादिविरोधो मन्दैराशाङ्कितः । इह तावत् श्रतिमूलभाष्यादिष्वन्यत्र च परमात्मात्मकस्वात्मानुसन्धातृत्वमर्चिरादिगतिश्चाविशेषेणोच्यते । तस्याश्च त्रक्षगमयितृत्वस्य श्रत्यादिषु इह च 'तल प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविद्रो जनाः' इति सिद्धत्वात् पञ्चामिविद्रोऽपि परमात्मपाप्तिरस्येवेति स्थीकर्तव्यम् । तत्र प्राप्तौ ज्ञानिनां परमास्या स्वविद्यिष्टो सोग्यः । अञ्चरवाय स्वयिद्यानां तु स्वस्वस्यमेव पूर्वं भोग्यम् : बस्तादिपद्माप्तिपूर्वकत्रह्मपाप्तिसाधनमञ्जूषिद्यादिन्त्रायादन्ततो बह्मपाप्तिः ईट्यपर्वकम-प्रतिनियमध्य प्राचीनापेक्षाभेदात्, स च प्राचीनकप्रविशेषादिति 'चतुर्विधा मजन्ते मान्' (७.१६) इति प्रागेव दर्शितः । न चात्र जिज्ञासोरन्य एवात्मयाथात्म्यविदिति भाष्यते, जिज्ञासवेद्यतयोक्त-खभावविसर्गयोः अतः च पञ्चानिविद्योदाहरणात् । मध्ये च कैवल्यार्थिन एव मूर्धन्यनाड्या निष्क्रमणम् : अनावृत्तिश्चोक्ता । आत्मयाथात्म्याक्षरयाथात्म्यशब्दयोधात न भिन्नार्थत्वम् ; तस्योपासने किञ्चिदस्ति विद्योष:—(अञ्चरयाथातम्यविद: परमात्मशरीरमृतस्यात्मोपासका:) ज्ञानिनस्तु स्वात्मशरीरकपरमात्मोपासका इति । अयमेव विरोपः, 'तत् य इस्य दितुर्व चेमें उरुषे ्छा. ५ १०.१) इति विभागनिर्देशामिषेत इति भाष्यादिषुक्तः । सारे तु, "उमयेऽपि हि परिपूर्णं त्रक्षोपासते सुखमेदेन ; स्वात्मशरीरकं त्रक्ष केचन, ब्रह्मास्मकत्वात्मानमितरे'' (४.३.१४) इति । अत एव, 'सप्तमे प्रकान्तो निज्ञासः परमात्म-प्राप्तिकामज्ञानिव्यतिरिक्तत्वाद्वव्यात्मकस्वात्मानुसन्धायी' इति न अमितव्यम् । तस्य चोदारकोटिमाले निवेशः खारमानुभवविस्मविमुखज्ञानिव्यतिरेकात् । अर्चिरादिगतिनिषेषस्तु ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धानरहि-तस्वारमोपासनविषयः । इदमपि भाष्यादिषु व्यक्तमेवोक्तम्, "तसादचिन्मिश्रं केवरं वा चिद्रस्त ब्रह्मदृष्ट्या तद्वियोगेन च य उपासते, न तान्नयति ; अपि तु परं ब्रह्मोपासीनान् , आत्मानं च प्रकृति-वियक्तं ब्रह्मात्मकसुपासीनान् आतिवाहिको गणो नयति" (ब्र. ४. ३. १५) इत्यादिभिः । यत्पनरुच्यते. "ये तु शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः । सर्वे च्यवनधर्माणः" (भा. मो. ३५०) इति : तत्वापि आत्ममातानुभवपुरवस्य अस्थिरत्वादेव च्यवनधर्मत्वमुच्यते । <sup>2</sup>न तावता पुनस्संसारप्रसङ्घः.

<sup>1</sup> ब्रह्मप्राप्तिवचनं तत्कतुन्यायद्य मिलित्वा देतुरित्यर्थः।

<sup>2</sup> नतु ततद्वयवनं नाम तत्वदामात्रे सति तन्त्यूनमोगवस्वम्। अतः कैवस्याभाववत् संसारोऽपि स्यादित्यक्षाह नतावतिति। न्यूनमोगामावेऽपि व्यवनवद्मयोगोऽस्तीति भाषः।

'इन्द्रलोकात्परिश्रष्टो मम गेय (लोक)परायण:। प्रमुक्तस्तर्वसंसारेमम लोकं च गच्छति' (व. प.१३९.९८) 'प्रचयतो वा एषोऽस्माल्लोकादगतो देवलोकम्' (यजु. ६. १. १, ५) इत्यादिन्विवोत्तरोत्तरातिशयितपद-प्राप्ताविप पूर्वेपद्श्रंशमालात् च्यवनधर्मत्ववाचोयुक्तेरविरोधात् । <sup>1</sup>परिमितसुखानुभवविरुम्बेन तदानी निरतिज्ञयक्ष्यानुभवाद्धष्टत्वेनापि निन्दोपपत्तेश्च । उपासनद्शानुभृते परमात्मनि फळद्शायां किश्चि-त्काळमनुभवविच्छेदाद्वा पात्रत्रंशलक्षणं च्यनवभर्मत्वम् । 'प्रतिबुद्धस्त मोक्षमाक्र' (भा. मो. ३५०) इति चान्यवहित<sup>2</sup>मोक्षभावत्वं प्रतिबुद्धस्योच्यते ; न तावताऽन्यस्य मोक्षाभावः ; 'भुक्त्वा च भोगान् विपुळांस्त्वमन्ते मत्प्रसादतः । ममानुसारणं प्राप्य मम लोकमवाप्स्यसि ॥' (वि. ५. १९. १६) <sup>3</sup>इतिवत अविरोधात । यथा च मुमुक्षोरेव कस्यचिन्मध्ये ब्रह्मकायनिषेवणसुखमुच्यते, तथाऽत्नापि स्थानविरोषे स्वात्मानुभवविलम्बः । यथा च, "अथवा नेच्छते तत् ब्रह्मकायनिषेवणम् । उत्कामति च मार्गस्यः शान्ती(रशीतीभूतो) निरामयः (नैव कचन जायते)'' इत्यादिना ब्रह्मकायनिषेवणसङ्गान्यक्तस्य देव-यानेन मार्गेण परमाकाञ्चगमनमुच्यते — तद्वदिहापि खात्मानुभवस्थानात्प्रच्यतस्य परमञ्योमाधिरोहः स्यात । अचिरादिगतिश्चास्यावान्तरफलानुमवात् पश्चाद्वा, गतिमध्ये वा, दक्षिणायनमृतस्य चन्द्रमसत्सायुज्यवत विश्रममात्ररूपोऽयमवान्तरफलानुभव इत्यभयथाऽपि न विरोधः । एतेन पश्चादेवास्याप्रतीकालम्बनत्वमित्यपि निरस्तम : मधुविद्यावदेव प्रथममपि <sup>4</sup>तद्पपत्तेः । स्तरन्ति च खारमानुभवस्थानं मुक्तिस्थानादवीचीनम् "बोगिनाममृतं स्थानं स्वास्मसन्तोषकारिणाम्"। एकान्तिनस्तदा ब्रह्मध्यायिनो बोगिनो हि ये । तेषां तत परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥'' (वि. १. ६. ३८) इति । अमृतस्थानवर्तिनां च मुक्तस्वव्य-पदेशो जरामरणादिविरहात पुनर्जन्महेत्रभूतपुण्यपापविगमाच ।

— अस्त च परित्यक्तस्थूळदेहानामपि तत्तदुपासनविद्योषाधीनमप्यगाँदर्वाचीनं फळम् । तच प्रकृतिळयादिशब्देन साङ्ख्याः पटन्ति, "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमध्स्ताद्भवत्यधर्मेण । ज्ञानेन चापवर्गो विपर्वयादिश्यते बन्यः ॥ वराग्यात् प्रकृतिळयः संसारो भवति राजसाद्रागात् । ऐश्वर्योदविघातो विपर्वयात् तद्विपर्यासः" (सां. का. ४४, ४५) इति । 'विपर्वयादिष्यते वन्यः' इत्यत्न च वाच्स्पतिना व्याख्यातम् , "विपर्वयात् अतत्त्वज्ञानात् इत्यते बन्यः ; स च विविधः प्राकृतिको वैकृतिको

<sup>1</sup> कैवरवस्थास्थिरवादेव च्यवनधर्मत्वमिति स्वयक्ष उक्तः। ये तु कैवर्ध निस्यमिति स्वत्वा च्यवनधर्मत्वम् अभाविभगवदनुभवत्वं भूतभगवदनुभविन्तर्वि स्वत्वाचिक्रस्य विस्ति त्रान् प्रति तमेवार्धे किञ्चिद्रस्यथापरिष्कृत्य कैवर्धानित्यत्वपञ्चेणाद परिभितेति । तदानीमिति किञ्चित्कास्य-मिति व पद्योनैभर्यम्। पञ्चामिविद्यानिष्ठे केवस्यावसाने योगिनाममृतं स्थानम् दृत्युक्तस्थानश्चरारिति व पद्योनैभर्यम्। पञ्चामिविद्यानिष्ठे केवस्यावसाने योगिनाममृतं स्थानम् दृत्युक्तस्थानश्चरारिति व पद्योनिम्मत्वे स्थानम् दृत्युक्तस्थानश्चराति व प्रत्योवस्थानस्य योगिनः समाधिनिरपक्षः सक्ष्यप्रकृतिक्ष्य आत्मानुभवो नास्तिति तक्षिच्छेदोऽपि सुवचः।

<sup>2</sup> इतराधिकारित्रयदत् दीर्घकास्रविस्रमं विना। 3 योगञ्चरववदिति मान्यम्।

<sup>4</sup> तद्य इत्यं विदुरिति चाक्येन कैवल्यपूर्वभाज्युपासनस्यैव मोक्षष्टेतुस्वावसायात् । अत प्य ब्रह्मविशेषणक्जीवविशेष्यकोपासनरूपतायाः भाष्यकृदिष्टत्वाच प्रथममेवेति भाषः ।

<sup>5</sup> प्रथमार्धमेव केवल्यस्थान विषयम्। तस्य वैकुण्डिमिन्नत्वक्षायनायोपिर्तनवाक्यमृद्दणम्।

दाक्षिणिकश्चेति । तल प्रकृताबात्मज्ञानात् ये प्रकृतिसुपासते ; तेषां प्राकृतिको बन्यः । यः पुराणे प्रकृतिलयान् प्रकृत्योच्यते, "पूर्णे शतसहस्रं तु तिष्ठन्यःयक्तचिन्तकाः" इति । वैकारिको बन्धः तेषाम् ; ये विकारानेव मृतेन्द्रियाहङ्कारवृद्धीन्द्रासते पुरुषयुद्धया ; तान् प्रनीदमुच्यते ; यशा "दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु शतं पूर्णे सहस्रं त्यामिमानिकाः । बौद्धा दशसहल्लाणि तिष्ठन्ति विगतज्यराः" । ते खरुवनी विदेहा येषां 'वैकृतिको बन्धः" इति । प्रवम्यवक्तादितत्त्वचिन्तकानामिव प्रथमात्मतक्त्वचिन्तकानामिव ततुचितदेशकारं तकोऽतिशयितं फरुमुपयते । श्वस एव भूमविद्यायां प्रत्यमात्मतक्त्वानामिव ततुचितदेशकारं तकोऽतिशयितं फरुमुपयते । श्वस्तानो तु ब्रह्मपात्मते तत्व विदेशः । अत प्रवाक्षरानुभवस्यान्तवन्त्वे तद्र्यिनः क्रमेश्वर्यार्थितं त्रविद्यार्थे प्रत्यार्थे ति विशेषः । अत प्रवाक्षरानुभवस्यान्तवन्त्वे तद्र्यिनः क्रमेश्वर्यार्थेवत् अपवर्णाधिकार्यन्तरस्विनत्यिपि निरस्तम् , वाद्यान्तरस्योक्तयविभागात् आवृत्त्यनावृत्तियोग्य-क्ताभवाचित्रत्यार्थे । विलम्बास्यानाविद्यार्थे तिष्ठाः । विलम्बास्यानाविद्यार्थे तिष्ठाः भगवन्त्र च मन्त्रोऽयं साधियत्यति (इ. हा. २. ४०) इत्यादिष्विपि कैवल्यशन्यते आत्मातानुमवद्यंत तदपेक्षिभिः प्राप्यमुच्यते । एतचान्तरायकोदिनिविष्टत्वादादितः सावधाना<sup>5</sup> ज्ञानिनः परिहर्गति ।

के चित्रु ब्रह्मानुभवनेमुख्येन नित्यमात्मानुभवमुख्यिमच्छितिः; न तत्र भाष्यकारादिसंपदायं प्रमाणं युक्तिं वा पश्यामः । निद्द्योपकर्मक्षये स्वामाविकरूपाविभविन ब्रह्मानुभवावश्यम्भावात्, कर्मशोषयोगे तु संसारप्रसङ्गाच । <sup>6</sup>जरामरणादिहेतुम्तसर्वकर्मिवनाशादसंसारः, तावन्मात्रेण च मुक्तस्वय्यदेशः । ब्रह्मानुभवप्रतिबन्धकर्कणस्त्विनाशात् तदनुभवाभाव इति चेत्— अस्त्वेवम्<sup>9</sup> ; एतस्कर्म परस्तादपि न नङ्क्षयतीत्यत्र न नियामकमस्ति इत्येषा दिक् ।

वैकृतिको बन्ध इति । एतदुपरि चोक्तं तत्र, ''इष्टापूर्वेन दाक्षिणिकः। पुरुषतस्थानिश्वो हि इप्टापूर्वकारी कामोपहतमना वध्यते" इति ।

<sup>2</sup> अत एवेति । अतिशयितफल्टावादैवेत्यर्थः । अस्य आत्मक्रप प्राणोपासकस्यार्विराहिगत्य-भावः श्रीभाष्ये "विशेषश्च दर्शयति" इति सुत्रे उक्तः ।

<sup>3</sup> ऐश्वर्यार्थिवदिति । ऐश्वर्यार्थितुत्व्यस्यैत्यर्थः । कथितत्वत्र नेति वा पाठः । स्यतिरेक-इष्टान्तः । अपवर्गाधिकार्यन्तरत्वम्—झानिवत् अपवर्गाधिकारित्वमित्यर्थः ।

<sup>4</sup> अनावृत्तीति। वस्वादिपदानुभव आन्तरालिकः मोक्षे क्षीयते । कैवल्यदशास्थित आत्मा-नुभवो मुख्यमोक्षे न क्षीयत श्र्यविनाशित्वरूपानावृत्तिः ।

<sup>5</sup> भगवदर्पणबुद्धवा कर्मयोगाद्यनुष्ठानेन।

<sup>6 &#</sup>x27;थं संस्था चापरं साभाग्यते नाधिकं ततः' इतीहशाधिकारिणः पश्ययार्थानुष्ठानस्य पश्चाद्मसक्त्या तद्वेतुकर्मबन्धरहित एव केवसः। मुक्तिसाधक सत्कर्भमात्रावशेषः।

<sup>7</sup> अस्त्वेविमित्यर्धांगीकारे। न हि प्रतिवन्योद्देशनानेन किञ्चित् कर्म स्तम्। पेश्वर्यार्थकर्मे तु नास्ति। न च श्विपाम्यजसमितिवत् अत्र विपरीतसंकद्दे मानम्। उत्कृष्टे योगभ्रष्टवत् पुनर्मोक्ष एव युक्तः।

यत्र काळ त्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं काळं वक्ष्यामि भरत्वेभ॥२३ भन्निवर्णोतिरदृश्युद्धः पण्मासा उत्तरायणः। तत्र श्याता गच्छन्ति बह्य ब्रह्मविदो जनाः॥ अत्र काल्युव्हो सार्मकार्यः शृत्तिसंवरत्यकालानिमानिदेवताभूयस्तया मार्गोपलक्ष-ः । यस्मिन् मार्गे प्रयाता योगिनोऽनावृत्ति पुण्यक्षयोगश्चाऽऽवृत्ति यान्ति तं मार्गे

णार्थः । यस्मिन् मार्गे प्रयातः योगिनोऽनावृत्ति पुण्यक्ष्यागश्चाऽऽवृत्ति यान्ति तं मार्गे वक्ष्यामीत्वर्थः । 'जाराज्योत्विग्दश्चक्कः रण्यारा उत्तरापणस्' इति संवत्सरादीनां प्रदर्शनम् ॥

परपान्त्यादिरहितन्त्विकैव्स्वकृत्यनः । <sup>1</sup>म्त्साप्यश्रुतिस्मृत्याद्यवाद्यन न सिध्यति ॥ अतोऽधिकारिभेदेन श्रवस्थाभेदमाश्रिताः । अन्यामपि गति प्राश्चः पतीचीं प्रत्यपादयन् । <sup>2</sup>तत्नावृत्तिपरपासितैकृष्यादेरुगोगतः । अस्मदुक्तं श्रुतिस्मृतगेरनपायं रसायनम् ॥

अचिंगिरिस्पित्रसाहेति कथसुच्यते ? यत्र कारु हित काळ्विद्दोषे ह्युपकस्यत इत्यताह अत्र काळ्याव्द इति । द्यारीरके दक्षिणायनातिस्तत्यापि मोक्ष उक्तः, "अत्यायनेऽपि दक्षिणे" (त्र. ४. २. १९) इति । अत्र च, "गुक्कळ्णे गती हेते" (२६) इति अनत्यरमेनोच्यते ; अन्यथा अधि- उपोतिरित्यादिना च विरुध्येत । 'नैते सती पार्थ जानन्' (२७) इति च मागेवाचिना शब्देनोपसंहियत इति भावः । यत्र काले प्रयाता इति व्यवहितेन संबन्धं दर्शयन्, योगिनामान्नृतिः कथिमित च शक्कां परिहरन्, यत्र काले प्रयाता इति व्यवहितेन संबन्धं दर्शयन्, योगिनामान्नृतिः कथिमितः शक्कां परिहरन्, यत्र काले इति क्षीकस्य वाक्यार्थमाह असिक्षित । अत्र योगिनाः ज्ञानिनः, पृण्यकर्मसंविध्यत्य । "सरूपाणांमेकशेष एकविभक्तो" (अष्टा. १. २. ६४) वृद्ध्यतुश्चासनात् । यद्धा पृण्यकर्माण इत्यव्याद्वान् । 'तेऽर्चिवनिभसंनवन्त्यर्विषोऽहरह् आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षात् वान् षद्धद्वक्वते मासांस्तान्, मासेश्वस्तवरसस् ' (छा. ५. १०. १) इत्यादिश्वत्यनुत्यारेणोक्तं संवत्ससद्दीनां प्रदर्शनिमिते । एतद्वैशवमित्रस्वित्यदे । तत्वैव (तदेव ?) संगृहीतं वरदगुरुमिः, "अचिरहस्तित्यक्षान् उदगयनाव्यमरदर्भेन्दून् । अपि वद्यत्वक्लोन्द्रप्रज्ञापतीन् आतिवाहिकान् आहुः॥" (तत्त्व) इति । अप्रिज्ययीतिरित्यर्थः । तेन देवयानप्रथमपर्वस्थाचिर्वववा ।

<sup>1</sup> स्त्रस्य धुतोवित्तवस्य गर्यक्षिधानाः स्विशेषञ्च द्रश्यति, संवशाविर्भावः स्वेतग्रदात्, इत्यादेः, भाष्यधः तस्व्याभ्यास्वयम्, धुतः भूमविद्यायां तरित्रोक्षमात्मविदिति वरमात्मवानाः भावे मुख्यभोज्ञामार्यान्यन् शोकद्वित्त्याः तक्षेत्र प्राणस्वजीवोषास्तरस्यापि सम्यप्रस्रस्रोधिन्याः, स्मृतः सर्वेच्यवनधर्माण इत्यादेश्च वाधः स्थात्। आदिना युक्तिपरिष्रदः। कैवव्ये सक्याविर्भावात्त्वस्रमवे वा, अनाविर्भृतस्य वानवोधकास्य इवानुभवा वा। आधं न युक्तम् वर्ष्यातिरुप्तस्य संवित्तं विना सक्याविर्भावात् विरञ्जनस्याम्यात् । अन्त्ये तस्यास्राभाविकत्वादिनत्यत्य-भविति। एवमन्यान्यपि सुवादीनि प्राह्माणि।

<sup>2</sup> आवृत्तीति । केवलकैवल्याधिनि पुरुषे शाश्वतत्तया आवृत्तिभगवत्प्राप्युभयवैलक्षण्यस्य भयोगादित्यर्थः ।

<sup>3</sup> पुष्यकर्मण्यपि, योगी प्राप्य निवर्दत इति योगिशस्त्रप्रयोगादिति मावः। अर्थमेदेपि शस्त्रमाद्यस्यादेकशेषः।

धूमो राजिस्तथा कृष्णः पण्मासा दक्षिणायनस् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतियोगी प्राप्य निवर्तते ॥

एतच धूमादिमागस्यिषित्रहोकादेः प्रदर्शनम् । अत्र योगिश्चन्दः <sup>1</sup>पुण्यकर्मसंबनिधनिषयः ॥ २५ ॥

शुक्त करणे गती होते जगतः शाश्यतं मते । एकश यास्यतावृत्तिमस्ययाऽऽवतंत पुनः॥ ६॥ शुक्ता गतिः अर्चिसदिका, कृष्णा च धृशदिका । शुक्तयाऽनावृत्ति याति ; कृष्णया तु पुनरावर्तते । एते शुक्तकृष्णे गती ज्ञासिनां विविधानां पुण्यकर्मणां च श्रुतौ शाश्यते मते । ''तद्य इत्थं विदुर्थे चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽचिपमिसंसभवन्ति", "अथ य इमे ग्राम इष्टापुर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममिसंसमयन्ति" (छा. ५.१०.१-३) इति । २६॥

नेते सुरी पार्थ जानन् योगी बुद्धाति कश्चन । तस्मात् सर्वेषु काळेव योगयुक्ती भवार्जुन ॥ ७ अत एवामिज्योतिपोर्भिन्नदेवतार्व काळाभिमात्मिक्षोपस्य देवतास्य च वदस्तः १ श्वरयुक्ताः ॥ २ ३ – २४ ॥

पितृलोकादेरिति आदिशन्देन आकाशचन्द्रमहणम् । योगिनो धूमादिमार्गः पुनरावृत्तिश्च कथमुच्यत इत्यताह अत्र योगशब्द इति । अत्र योगिशन्द उपायमात्रवाची ; यद्वा संवन्धमात्रवाची ; धूमादिसामध्यातु पुण्यकर्मस्वरूपसेवन्धिविशोषसिद्धिरिति भावः । "अथ य इमे मामे इष्टापूर्ते उत्तिग्तिसु-पासते ते धूममिसंसमवन्ति" (छा. ५. १०. ३) इत्यादिका श्चितिरत्नोपवृहिता ॥ २५ ॥

्डक्तमार्गद्वये श्रुतिमसिद्धिः प्रदर्श्वते श्रुद्धकृष्णो इति श्रोकेन । अत् शुक्कपश्चरूणपक्षान्वयाद्वा, श्रुद्धचशुद्धिविवक्षया वा, अभिगन्तृत्वरूपसाभिगन्तव्ये आरोपादेवी, गत्योः शुद्धकृष्ण्यन्वयाद्वा, श्रुद्धचशुद्धिविवक्षया वा, अभिगन्तृत्वरूपसाभिगन्तव्ये आरोपादेवी, गत्योः शुद्धकृष्ण्यन्वविचारः 
अताथिकृत्वर्गद्वयविषयज्ञग्वर्गान्येवत्यः । द्वायत्वर्गतं द्वागिनां विविधानां पुण्यकर्मणां चेति । "इष्टापृते दत्तमित्युपासते" (छा. ५. १०ः) इत्युक्ततत्त्वक्षमित्रायेण विविधानां पुण्यकर्मणां चेति । "इष्टापृते दत्तमित्युपासते" (छा. ५. १०ः) इत्युक्ततत्त्वक्षमित्रायेणमार्थिनत्वन्यः । द्विश्ववद्यम् । श्रित्वे सृति श्रोकेन । यथि मार्गचिन्तवनम्युपासनवत् प्रमपुरुषपास्य(पीत्य)र्थमेव; तथाऽपि मार्गज्ञानं हि अभिगन्तुरव्याद्धरुगमनार्थिनित बोके सिद्धम् । अतापि तथोपकारः संभवन्न परित्याज्यः ;

मनु योगिशन्दः आर्तार्थार्धिरूपशक्तविष्योऽस्तु । तत्र योगत्वस्थितेरिति चेन्न-पुरुप-श्चाचिदैवतिमिति दैवतोपरितनकलद्वेतुशक्तियोगं प्रति, यथा पशुर्यं स देवानामिति देवपशुभावा-पादकलोकप्रापकभूमादिमार्गोक्तययोगात् । अग्रदोर्गत्योः प्रायिकत्वेऽपि अन्यानेकमार्गसङ्कावाद्य ॥

<sup>2</sup> शांकरे अग्निभिन्नतया ज्योतिप्रहेणम्, साध्ये 'अग्नि माध्य ततश्चाचिस्ततश्चाप्यहरादिकम्' इति नारदीयोपन्यसनञ्च श्वत्यादिविरुद्धस्। सृबञ्च अर्चिशदिनेति। तैनाग्यविषोरैक्यमवगम्यते। अग्निहोते च अग्निज्योतिरिहोरिति विर्णयविशेषणभावः प्रसिद्धः। उत्तरशोके रात्नेद्वितीयन्त्वाच अत्राह्मो द्वितीयत्वं युक्तम्।

<sup>3</sup> तत्त्वुपायानुष्टायिनां सस एव मार्ग इति व्यवस्था। व्यवस्थितत्वमिति पदम् उपिर इस्रोकेनेत्यत्रात्वेति । न तु पूर्वम् । पूर्वदक्षोकावतारिकातः प्रदर्थत इति पदानुपङ्गः। तत्पदश्चेशो घा। अन्यथा इस्रोकेनेति ततीयान्तमपि नान्वेति ।

एती मार्गी जानन् योगी प्रयाणकाले कश्चन न मुद्धति ; अपि तु स्वेनैव देवयानेन पथा याति । तसादहरहरर्चिंशदिगतिचिन्तनारूययोगयुक्तो भव ॥ २७ ॥

अथाध्यायद्वयोदितशास्त्रार्थवेदनफलमाइ—

वेदेषु यञ्जेषु तपस्सु चैव दान च यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अस्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

२८

इति श्रीमद्भगवद्गीतास्पनिषस्य ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीऋष्णार्जुनसंवादे <sup>1</sup> अक्षरपत्रब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ऋग्यज्ञस्सामाथर्वरूपवेदाभ्यास-यज्ञ-तयो-दानप्रमृतिषु सर्वेषु पुण्येषु यत् फलं निर्दिष्टम्, इदम् अध्यायद्वयोदितं भगवन्माहारमयं विदित्वा तत् सर्वमस्येति एतद्वेदनसुस्ताति-रेकेण तत् सर्वे तृणवन्मन्यते । योगी ज्ञानी च भूत्वा ज्ञानिनः प्राप्यं परम् आद्यं स्थानसुपैति ॥ ॥ इति ओमगवदामानज्ञविर्वाले ओम्होतासास्ये सम्बोर्णस्यायः॥ ८॥

तस्मतादादेव हि तसिद्धिरपीत्यिभिप्रायेणाह एताविति । कश्चनेति । कश्चिदपीत्यर्थः । न मुद्धिति— 'तत्मकाशितद्वारः' (त्र. ४. २. १३) इत्यादिभकारेण स्पष्टमार्गो भवतीत्वर्थः । मार्गद्वयज्ञानं हेयमार्ग-प्रहाणार्थमित्यभिप्रायेणाह अपि रिवति । गतिज्ञानस्य फल्सप्पिद्दिय तस्मादिति हेतुतया परामृश्य साक्षाद्योगविधानस्यासङ्गतस्वात् योगशब्दोऽत ध्यानमात्वविषयः ; तच ध्यानं प्रस्तुतगतिचिन्तनरूपमेव भविद्यमहैतीत्यभिप्रायेणाह तस्मादिति ॥ २०॥

इदं विदित्वेति सामान्यतो निर्देशादिवशेषाचैकप्रकरणम्ताध्यायद्वयार्थो गृद्धत इत्यमिप्रायेणाह अश्रेति । वेदेष्वियापि यज्ञादिवत् फलकारणतयोपादानन् ; न त प्रतिपादकतया ; तदा यज्ञादि-फल्ट्यितिरक्तिविषयतया सङ्कोचनीयद्वापातात् । वेदाभ्यासस्य च दुरितक्षयादिफल्ट्रवतं श्रुत्यादिफिद्धम् । यज्ञादिफल्टानां प्रतिपादकतयोपादाने च प्रस्तुताध्यायद्वयार्थस्यापि वेदार्थस्वात् ततोऽपि सङ्कोचः स्थात् । तदेतत्सर्वनिभिष्नेत्य वेदाभ्यासेत्युक्तम् । दाने चेति चकारस्यानुक्तसमुच्चायकत्वप्रदर्शनाय प्रभृतिशब्दः । पुण्यफलित्यत्व पुण्यशब्देन फलविशेषणतया यज्ञादीनामेव सामान्यतो निर्देशः फल्ट्य श्रुष्यताप्रदर्शनार्थ इत्यभिपायेण यज्ञादिविशेष्यतया पुण्येष्वत्युक्तम् । अध्यायद्वयोदितं सगवन्माहास्ययमिति । सप्तमारम्भे हि भगवन्माहास्ययं प्रकान्तम् ; तदनुवन्धादन्यत्वस्यस्य साक्षारकरस्य प्रथमुच्यमानत्वात् तद्विषयत्वे पौनस्वत्यात् , अधिकपुण्य-फल्पासिविवक्षायां लक्षितल्क्षणापातात् , संसारनिष्टितिमालपरत्वेऽपि पुण्यफल्यावेत पापफलस्यापि लक्ष्यितन्यत्वात् तत्सर्वभत्येतीत्येतत् तद्विवकम्लवित्यत्यम् । अतिशयितफल्यवेदनं हि "मनः-प्रीतिरनायासात्" इत्यादिन्यायेन फलान्तरवैत्रण्यवेद्विरत्यमिपायेणाह एतद्वेदनेति । भगवन्माहास्य-

श्रिक्तरपरब्रह्मत्यनेन अक्षरं ब्रह्मपरमांमेत्येतत् प्रत्यभिज्ञाच्यते । केवित्रश्ययंस्य देयत्वात् ज्ञान्युपाल-नस्योपरिविक्तरात् पतद्व्यायः परिशेषात् मुक्तिपर्यवसायि-अक्षरध्यानप्रधानो भवतीति भावः ।

## अथ नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

उपासक्रमेदनिवन्धना विशेषाः प्रतिपादिताः। इदानीम्रुपाखस्य परमपुरुषस्य माहात्म्यम् , ज्ञानिनां विशेषं च विशोष्य भक्तिरूपस्योपासनस्य स्वरूपमुज्यते ।

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुद्धतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं यत् ज्ञात्वा मोक्यसेऽग्रुभात् ॥ १ इदं तु गुद्धतमं भक्तिरूपप्रवासनारूयं ज्ञानं विज्ञानसहितम् उपासनगतविशेषज्ञान-

ज्ञानस्य परस्थानपाप्तिहेतुस्वे प्रागुक्तज्ञानिकोषरूपद्वारप्यवर्धनं योगी इस्यनेन क्रियत इस्यभिपायेण **ज्ञानी** च भूत्वेत्युक्तम् । परस्यं देशकारूयोगादिभिः, 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (खे. ३. ८), 'तदक्षरे परमे व्योमन्' (ना.), 'दिव्यं स्थानमजरं चाप्रमेयम्' (मा. मौ. ५. ३२), 'एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमास्मनः' (भा. मौ. १९८. ६) इत्यादेः । आद्यम् अनादिमित्यर्थः । "आदौ भवं कारणं ब्रह्म ' इति परोक्तं तु स्थानदाब्दवैषट्यादयुक्तम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमहीताभाष्यटीकायां तात्वर्यचन्द्रिकायाम् अष्टमोऽध्यायः॥ ॥ अथ नवमः

"समाहारस्यं मनुष्यत्वे परत्वं च महारमनाम् । विशेषो नवमे थोगो भक्तिरूपः प्रकीर्तितः ॥"
(१३) इति संग्रह्रकोकमपि व्याकुर्वन् तदनुसारेणाष्टमनवमयोस्सङ्गति च वर्शयति उपासकेत्यादिना ।
विशेषाः ज्ञातन्योपादेयभेदाः । परमपुरुषमाहारम्यस्य ज्ञानिनां विशेषस्य च प्रागेव प्रकृतत्वात् तत्प्रमावविशोषनमात्रमत्वोपासनतत्कळानुपविष्ठतया क्रियते ; अध्यायप्रधानार्थस्तूपासनस्रूपिन्क्ष्म इत्यमिप्रायेण विशोष्येति विच्छिय भक्तिरूपस्येत्यादि पृथगुक्तम् । भजनोपासनशब्दयोरस्मिन्नेवाध्याये
प्रकरणान्तरेषु च समानविषयत्येव प्रयोगवशात् श्रतिसिद्धोपासनस्यैवात्न भक्तिश्वरूपने विशेषणं कृतमित्यभिषायेण भक्तिरूपस्योपासनस्येत्यक्तम् ।

अल इदं तु ते गुद्धतमिति ज्ञानस्योपकान्तरवात् , मनमा भवेति चोपसंहियमाणस्वात् , मध्ये च बहुशो भजनस्येवाभ्यस्यमानस्वात् , प्रत्यक्षरूपत्वनिरित्ययपियस्वकीर्तनयज्ञननमस्काररूपरवान्दीनां चापूर्वाणां भक्तिस्वरूपानुवविश्वां प्रकाराणां प्रतिपाद्यमानस्वात् , स्रूप्यतस्याप्त्रस्वर्याः निरित्ययम्परूप्तानात् , राजविद्यस्यादिना प्रश्नेतास्त्रप्रयेवाददर्शनाच्यात्रोपक्षमोपसंहारादितारपर्यिङ्कैः भक्तिस्वरूपिवन्त्रवेऽध्यायस्य तारपर्यम् ; तदन्त्रितत्याऽन्यदृश्लोच्यत इत्यमिषायः । इदं तु ते इति । अत्र वस्यमाणमेव बुद्धिस्यत्या इद्मिति निर्दिष्टम् । "एष तु वा अतिवदित्य" (छा. ८. १६, १) इति प्राण्वविद्यस्या सत्यविद्रोऽधिकत्ववत् , तुश्चदेत्तं कभयोगज्ञानयोगाभ्यामप्यस्याधिकयं विवक्षितम् । तयोहिं गुद्धस्य गुद्धतरस्य चः इदं तु गुद्धतमम् । इदं च गुप्रूषातिश्चरोरखापार्थं गोपनाधिक्यशिक्षणार्थं चोक्तम् । उपवृह्णीयवेदान्तवावयेपिवयातापि ज्ञानशन्दस्य वस्यमाणविश्चेवसानप्रदर्शनाय मक्तिस्पश्चपासनास्वयमित्यक्तम् । उपासनगतिवश्चेवद्यानसहितमिति 

गूर्वोक्तविज्ञानाद्वस्यविद्यानस्य भेदः ; तदि

<sup>1</sup> पूर्वेति । सप्तमद्वितीयश्लोकेत्यर्थः ।

सहितम्, अनस्यवे ते प्रवक्ष्यामि—मद्विषयं सक्केतरविसजातीयमपरिमितप्रकारं माहारम्यं श्रुत्वा, एवमेव संभवतीति मन्वानाय ते प्रवक्ष्यामीत्वर्थः । यत् ज्ञानमनुष्ठानपर्यन्तं श्वात्वा मत्प्राप्तिविरोधिनः सर्वसाद्युभान्मोक्ष्यसे ॥ १ ॥

राजिविद्या राजगुद्धं पवित्रमिद्युत्तमम् । त्रश्वक्षावगमं घर्म्यं खुद्धुकं कर्तुपव्ययम् ॥ राजिविद्या विद्यानां राजा, राजगुद्धं गुद्धानां राजा । <sup>1</sup>राज्ञां विद्यति वा राजिव्या । राजाने हि विस्तीर्णागाधमनसः । महामनसामियं विद्येत्वर्थः । महामनस एव हि गोपज्यास्मादिविशेषज्ञानम् । उपासनगतांवेशेषः उपासनप्रकारः । प्रस्तुतौपयिकमनस्युद्धप्रकारं दश्यिति
मद्विष्यमिति । गुणेषु दोषाविष्करणवित्रवृत्तिविशेषो सस्या ; तद्विष्ययश्व गुणेषु गुणाध्यविसाय एव हीति भावः । एतेनोपदेशयोग्यायोग्यविभागेन शिष्यशिक्षणं कृतम् । सरन्ति च विद्याया वचनम् , "अस्यकाय मां मा दाः" (भा. मो. २२८. ४९) इति । प्रत्रक्ष्यामि । कृत्वं ते नातपस्काय' हत्यारम्य, 'न च मां योऽभ्यस्यति' (१८. ६७) इति । प्रत्रक्ष्यामि । कृत्वं ते नातपस्काय' हत्यारम्य, 'न च मां योऽभ्यस्यति' (१८. ६७) इति । प्रत्रक्ष्यामि । कृत्वं ते नातपस्काय' हत्यारम्य, 'न च मां योऽभ्यस्यति' (१८. ६७) इति । प्रत्रक्ष्यामि । कृत्वं ते नातपस्कायः हत्यारम्य, 'न च मां योऽभ्यस्यति । १८ । कर्मोदिभिहिं भक्त्युत्पत्त्यादिविशेषिपापितरः सनम् ; भवत्या तु मगवत्याप्तिविरोधिसमस्तपापितरसं हि प्रमाणसिद्धमित्यभिशयेण मरप्राप्तिविरोधिनः सर्वसाद्युत्यत्यात्र । अश्चमशब्दस्यात्र स्वापंतर्ययाय्वययामोहनितरयहेतुभृत्युव्यशब्दाभिरुप्यन्वपापविषयत्वमि सर्वस्मादित्यनेन विवक्षितम् ॥ १ ॥

उपायान्तरेभ्योऽस्योपायस्यातिशयं दर्शयति राजिवद्येति । राजशब्दस्यात क्षतियविषयत्वे 'विशेषविधः शेषनिषेधं गमयति' इति न्यायात् ब्राह्मणादेरनिधकारमसङ्गात् राजां विद्येति विष्रहमनाष्टत्याह विद्यानां राजा...गुद्धानां राजित । समानाधिकरणसमासफलमनुरुध्येदमुक्तम् ; शब्दार्थस्तु राजम्ता विद्येति । राजदन्तादिषु वा पाठो द्रष्टव्यः । पवित्रमिद्गुक्तमित्युक्तमशब्दसमानन्यायतया राजशब्दोऽल श्रेष्ठवाची । एवमप्रसिद्धार्थक्केशनसहमान आह राज्ञां विद्येति । ब्राह्मणादेरिधकारनिषय-परत्वशङ्कापरिहारायोपचारनिमित्तं गुणं दर्शयति राजानो हीति । फल्तिमाह महामनसामिति । अजहलक्षणा वा गौणी वा वृत्तिरिह विवक्षिता । अन्यैर्जातुमशवयत्वादिति भावः । राजगुद्धानित्यस्यापि सप्रयोजनत्वायौपचारिकार्थत्वं दर्शयतिमहामनस एव हीति। उपायविरोधिनिवर्तकव्यत्वतिकत्ववन्दछे-

शिक्षितिहैतोविष्णोः सानुपविष्णु स्थितिहेतुषु राजसाइरः। उमयो राजवंदयत्वात् सकुलं-गौरवादिषि । भक्ता राजवंदयत्वात् सकुलं-गौरवादिषे । भक्ता राजवंदयत्वाया इति च वक्ष्यति । इति विवक्षतियोगमित्वादि च राजविषयं प्राक् । उपनिषत्सु च राजानो विपादातिव्यानिष्ठाः केक्स्यादयः प्रसिद्धाः । अतो राज्ञां विद्येति असूषां विना सह्दयतया व्याख्यातम् । अन्योगलक्ष्मणत्वं त्विष्टम ।

<sup>2</sup> उपायविरोधिनिवर्तकव्यवच्छेदेन प्राप्तिविरोधिनिवर्तकर्व प्राप्तिविरोधिषु कतिपयानि-वर्तकरवन्यकच्छेदक्षोत्तमपदसद्वितपवित्रपदिवस्निवस् ।

नीयगोपनकुश्वला इति तेषामेव गुह्यम् । इद्युष्टमं पवितं मत्प्राप्तिविरोध्यञ्चेषकरमपापहम् । प्रत्यक्षावगमम् । अवगम्यत इत्यवगमा-विषयः ; प्रत्यक्षभृतोऽवगमः विषयो यस्य ज्ञानस्य तत् प्रत्यक्षावगमम् । भक्तिरूपेणोपासनेनोपास्यमानोऽहं तदानीमेवोपासितुः प्रत्यक्षताम्रुपयतो भवामीत्यर्थः । अथापि वन्यं धर्मादनपेतम् । धर्मत्वं हि निःश्रेयसस्पाधनत्वम् । स्वरूपेणेवात्यर्थप्रियत्वेन तदानीमेव मद्द्येनापादनतया च स्वयं निःश्रेयसरूपापि निरित्वयप्तिकश्चर्यस्वपात्यन्तिकमत्प्राप्तिसाधनमित्यर्थः । अत एव स्वयं कर्त्वं सुसुत्वोपादानम् । अत्यर्थप्रियत्वेनोपादेयम् । अव्ययम् अक्षयम् ; मत्प्राप्ति साधित्वाऽपि स्वयं न श्वीयते । एवंरूपमुपासनं कुवैतो मत्प्रदाने कृतेऽपि न किंचित् कृतं मयाऽस्येति मे प्रतिभातीत्यर्थः ॥ अध्यद्यानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तपः । अप्राप्य मां निवर्तन्ते सृत्युसंस्यरदास्य प्रमस्य विरात्वयप्रयप्तद्वप्यतया स्वयं निरित्वयप्रयस्वस्य

दार्थम् सम्बद्धविशेषितप्वित्रशब्द्विविश्वतमाह् मन्त्रामीति । प्रत्यक्षावगमिनत्यत्र पत्यक्षरूपज्ञान-परत्वे नपुंसकत्वायोगात् , ज्ञानस्यैव विशेष्यस्य ज्ञानमेव विशेषणीकृत्य बहुनीह्ययोगाच कर्मणि व्युत्पत्त्या बहुबीहित्वं घटयति अवगम्यत् इत्यादिना । निनदमयुक्तम् , उपासनस्य स्मृतिसन्ततिरूपत्वात् , उपास्यस्य चाप्रत्यक्षत्वश्रतेः, प्रत्यक्षस्य तु विषयान्तरस्य भक्तावनन्वयादित्यताह भक्तिरूपेणेति । 'भक्त्या त्वनन्यया श्वयः' (गी. ११. ५४) इत्यादिकमिह भाव्यम् । तदानीमेवेत्यासत्तिवशादक्तम् । स्वयं फलमृतानां हि फलान्तरसाधनत्वरूपं धर्मत्वं दुर्लभिमत्यभिपायेणाह अथापि धर्म्यमिति । ''धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते'' (अष्टा. ४. ४. ९२) इति सत्तानुसारेण धर्म्यशब्दं निवैक्ति धर्मादिति । अभिप्रेतं विवर्णोति धर्मत्वं हीत्यादिना । प्रीतिपर्यायधृतिवाचके धातौ करणविवक्षया व्युत्पन्नो स्रयं धर्मशब्द इति भावः । उक्तं चाभियक्तैः, ''धर्म इत्युपसंहार्थे यच्छेयस्करभाषणम् । तत् धर्मपदवाच्यार्थ-निरूपणविवक्षया'' इत्यादि । श्रेयसोऽत्रावच्छेदकाभावात ''मुक्तिः कैवरुयनिर्वाणश्रेयोनिरश्रेयसामृतम्'' (नाम. १. घी. ४६) इति नैघण्डकपाठाच निर्तिश्चयेत्यादिकमुक्तम् । अत एवेति । खरूपतस्साध्यतश्च पुरुषार्थरूपत्वादित्यर्थः । कर्ते सुसुखं करणे सुसुस्रमित्वर्थः । सुसुस्रमित्यस्य तुसुनन्तिक्रयाकर्मीभाव-भ्रमन्युदासायाह सुसुखोपादानमिति । उपसर्गसुखग्रन्दयोरलाभिष्रेतमाह अल्पर्थेति । खरूपतो विषय-तश्चात्यर्थानुकूळखात् सुखेनानुष्टेयमित्यर्थः । फळविनाश्यं हि सबैमन्यत्कर्म ; इदं तु सुकरमपि फलेनापि न क्षीयते : अपर्वगरूपं फलमप्येतस्य नालमित्यतिशयपरोऽव्ययशब्द इत्यभिष्ठायेणाह अक्षयमिति । तद् विवृणोति मृत्प्राप्तिमिति। तर्हि किमन्यद्धिकं साध्यमिति शङ्कायामभिषेतमाह एवंरूप्मिति॥ २॥

उक्तप्रकाराश्रद्धेयज्ञानानुष्ठानामावे मोक्षो न सिध्यतीति दर्शयन्, स्वरूपतः फळ्तश्च निस्ति-शयमुखरूपस्य सर्वेरनुष्ठानामावे हेतुं च वदन्, 'नान्यः पन्या अयनाय' (पु.) इत्यादिकमुण्डेहयति अश्वद्धाना इति स्टोकेन । अस्येति पूर्वोक्तसर्वाकारपरामर्श इत्याह निस्तिश्वश्रेद्धादिनाः। ध्योक्सेति परमिनश्रियसरूपमत्त्राप्तिसाधनसाव्ययस्योपादानयोग्यदश्चां प्राप्य अश्रह्भानाः विश्वास-पूर्वकत्वरारहिताः पुरुषाः मामप्राप्य मृत्युरूपे संसाध्वर्तमिन नितरां वर्तन्ते । अहो महिद्द-माश्चर्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

शृणु तावत् प्राप्यभृतस्य ममाचिन्त्यमहिमानम् —

मया ततिमिदं सर्व जगद्दयक्तमृतिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ न च मत्स्थानि भूतानि पदय मे योगवैश्वरस् । भूतभूत्र च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ इदं चेतनाचेतनात्मकं कृत्स्रं जगत् अव्यक्तमृतिना अप्रकाशितस्वरूपेण मया अन्तर्यानिमणा, ततम् अस्य जगतो धारणार्थे नियमनार्थं च शेषित्वेन व्याप्तमित्सर्थः । यथाऽन्तर्यानिम्नाभणे, 'यः पृथिव्यां तिष्ठम्....यं पृथिवी न वेद' (वृ.५.७.३), 'य आत्मिन तिष्ठम्.... यमात्मा न वेद (वृ. मा.५.७.२२) इति चेतनाचेतनवस्तुजातैरदृष्टेनान्तर्यामिणा तत्रतत्र

संबन्धसामान्यविषयायाः षष्ठ्याः फिल्तान्वयपदर्शनायाह उपादानयोग्यद्शां प्राप्येति । यद्वा श्रद्धानिषेषत्तरप्रसङ्गे सति हीत्यभिप्रायः । कारणिनृष्ठतेः कार्योनुष्ठाननिष्ठतिपर्यन्तत्वपदर्शनायोक्तं विश्वासपूर्वकरवसारिता इति । मृत्युरूप इति वाधकरवरूप इत्यर्थः । अथवा मरणगभैत्वादेव मृत्युरूपता । निवर्तन्ते इत्यत्व प्रतिनिष्ठतिविश्वसायामविष्याकाङ्क्षस्वात् अत्र च तन्निर्देशामावात् , मामप्राप्येति पृथङ्गिर्विष्टत्वेन परमपुरुषस्याप्यविषत्वकरुपनायोगात् , संसारवर्त्तनिति ससम्याः स्वरस्त आधियसाकङ्क्षस्वात् , उपसर्गणां चानेकार्थस्वात् नित्रां वर्तन्त इत्युक्तम् । स्वरूपतः फल्तश्च निरिहायपुरुषार्ये सुकरं चोपासनं ज्ञात्वाऽपि परित्यज्य पुरुषाः पुरुषार्थतारतम्यविदोऽपि निरितिशयापुरुषार्थये संसारमादरेण सेवन्त इति विस्तयाधिद्धस्येश्वरस्य इदं वचनमित्यभिपायेणाह अहो इति । आध्यर्थतमो दुष्कर्मप्रभाव इत्यभिपायेणाह महिद्दद्वाश्चर्यमिति । अश्रद्धाहेतव आन्तरशत्ववोऽपि त्वया निराकार्या इति परन्तपेति संबद्धेमितः ॥ ३ ॥

एवमध्यायप्रधानार्थस्य प्रापकस्य माहात्स्यमुक्तम् ; अथ प्राप्यमाहात्म्यद्वाराऽपि तदेव स्थिरिकियत इत्यमिप्रायेणाह भृणु ताविदिति । इदं सर्विमिति निर्देशः प्रमाणसिद्धसमस्तवस्तुपर इत्यमिप्रायेण इदं स्विमिति निर्देशः प्रमाणसिद्धसमस्तवस्तुपर इत्यमिप्रायेण इदं स्विमित्रायेतन्त्रस्य निप्रहिवप्यत्वेऽव्यानुपयोगात् स्वरूपविषयोऽयमौप-चारिकः प्रयोग इति दर्शयितुम् अप्रकाशितस्वरूपेणस्यक्तम् । आकाशिदिवित् सिव्धिमात्रस्य-व्यासिन्युदासाय बहुप्रमाणसिद्धो व्यासिप्रकारो मयेत्यनेनामिप्रेत इत्याह अन्तर्याभिषोति । उक्तप्रकाराया व्यासेः प्रयोजनं तिव्वदानं च दर्शयित अस्येति । अत्य धारणमनन्तरसम्थसिद्धम् । अत एव नियम्यमप्यश्रीसिद्धम् । धारणं हि प्रशासनाधीनं श्रूयते । शेषित्वं तु प्रागुक्तम् , श्रूरीरित्वेनाथिसिद्धं च । अप्रकाशितस्वरूप्तेवन्ते नियासकत्वेन च सर्वव्यासि श्रुतौ दर्शयित यथेति । प्रथित्स्रद्वाहर्णं तत्यकर्णोक्तसर्वाचेतनोपरुक्षणार्थम् । उक्तप्रकारव्यापकरववशात् मस्यानीत्यनेन जगतः प्रथवित्रद्वतः निरस्यत इत्यमि

व्याप्तिरुक्ता । ततो मत्स्थानि सर्वमुतानि सर्वाणि भृतानि मय्यन्तर्यामिणि स्थितानि । तत्रैव ब्राहणे, 'यस पृथिवी श्ररीरं....यः पृथिवीमन्तरो यमयति, यसात्मा श्ररीरं....य आत्मानम-न्तरो यमयती/ति श्ररीतत्वेन नियाम्यत्वप्र.तिपादनात् तदायत्ते स्थितिनियमने प्रतिपादिते; श्चेपित्वं च । न चाहं तेष्ववस्थितः — अहं तु न तदायत्तस्थितिः ; मित्स्थितौ तैर्न कश्चिदुपकार इत्यर्थः । न च मत्स्थानि मृतानि-न घटादीनां जलादेखिन सम घारकत्वम् । कथम् १ मत्सङ्करुपेन । पस्य ममैक्षरं योगम् अन्यत्र कुलचिदसंभावनीयं मदसाधारणमाश्चर्ये योगं पत्रय । कोऽसी योगः १ मृतमृत्र च मृतस्थो ममात्मा मृतभावनः । सर्वेषां भृतानां भर्ताऽहम् ; न च तैः कश्चिदपि ममोपकारः । ममात्मैव भूतभावनः मम मनोमयस्तङ्कदय एव भूतानां भावियता धार-प्रायेणाह तत इति । श्रीविश्वरूपादिषु विमहाश्रितत्वमपि सर्वस्योच्यते ; अत तु सरूपनिष्ठतेत्यपौन-रुक्त्याय मृटयन्त्रयामिणीरयुक्तम् । अनयोर्घारणनियमनयोरिष व्याप्त्या सहाधीततामाह (ततां दर्शयितु-माह) तत्रैवेति । स्थितिनियमने स्थितिपृष्ट्वी इत्यर्थः । शरीरशरीरित्ववचनात् धृतिः शेषित्वं च ततार्थसिद्धे इत्यमित्रायेणाह शेषित्वं चेति। 'मया ततिमदं सर्वम्' इत्यमिषायैन, 'न चाहं तेप्ववस्थितः' इति वचनं व्याहतम् , 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतिविरुद्धं चेत्यताह अहं त्विति । मत्स्यानि सर्व-भूतानीति प्रस्तुतप्रकारा स्थितिरत निषिध्यते । 'स सगवः कस्सिन् प्रतिष्ठितः' इत्यत्न, 'स्वे महिन्नि' . (छा. ७. २४. १) इति हि श्रूयत इति भावः । उक्तं विदृणोति मित्थिताविति । न कश्चिदिति— खरूपतः सङ्कल्यादृष्टादिना वेति भावः । **मत्स्थानिः, न च मत्स्थानी**त्येतत् व्याहतमित्यकाह न घटादीनामिति । मुर्ते हि मूर्तान्तरं पतनप्रतिघातिना संयोगेन घारयति ; न तथाऽत्नेति भाव: । स्रोक-दृष्टविपरीतं न संभवतीत्यभित्रायेण शङ्कते कथमिति । शरीरशरीरिणोरिव संभवभभिषेत्याह मरसङ्करपेने-ति । स्वेच्छाधीनधारकत्वं हि विहितम् ; अस्ततन्त्रतया घारकत्वं तु निषिध्यत इत्यविरोध इति मावः । ऐश्वरमित्यनेनानन्यसाधारणत्वं फलितम् , पत्रयेत्यनेन च आध्ययता द्योतितेत्यमिपायेणाह् अन्यवेति । ''योग: सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु'' (नाम. ३. ना. १०९) इति पाठात् सङ्करूपरूपं ध्यानमिह योगः, युज्यमानस्त्रभावादिर्वा । **पदय मे योग**मित्युक्ते योगस्त्ररूपमेवानन्तरं वक्तन्यमिति तद।काङ्क्षां दर्शयति कोऽसाविति । भृतमृत्र च भृतस्यः इत्यत्नार्थीचित्यादहमित्येव विशेष्यम् । अथवा भृतमावनः इतिवत् ममात्मेति निर्दिष्टसङ्करपविशेषणस्वेऽपि फल्टितकथने सर्वेषां भृतानां भर्ताऽह-मित्यादि । आत्मेति विशेषनिर्देशः, परिसङ्ख्यानयात् तदतिरिक्तसहकारिव्यवच्छेदार्थे इत्यमिपायेणाह ममात्मेवेति । ममात्मेति व्यधिकन्नणन्दिशस्यारस्यसिद्धमात्मशन्दार्थमाह मम मनोमयस्सङ्कस्य इति । एतेन देहादिसङ्घातेऽहङ्कारमध्यौरोप्य छोकबुद्धचनुसारेण ममात्मेति व्यपदेश इति **शङ्करोक्तं** परयुक्तम् । सङ्करप एव मनःक्रुश्तियाऽन्यत्र प्रसिद्धो मनःप्रतिपादकेन आत्मशब्देनात व्यपदिष्टः । यद्धा आत्मशन्दोऽत्र सङ्करपरुपम् एव, 'मनसैव जगत्सृष्टिस्' (वि. ५. २२. १५), 'मनोऽकुरुत स्थामिति' (इ. १. २. १) इत्यादे: । तदर्श[ता?]ज्ञापनाय तु मनोमयश्रवः । सरणनियनक्योरेव

यिता नियन्ता च ॥ ४ ॥ ५ ॥

सर्वसास स्वसङ्करवायत्तस्थितिप्रवृत्तित्वे निद्र्शनमाह-

ग्यथाऽऽक्षाशस्थितो निस्यं वायुःसर्वक्षतो महान्। तथा सर्वाणि भृतानि मस्थानोस्युषधारय ॥
यथा आकाशे अनालम्बने महान् वायुः स्थितः सर्वत्र गच्छति ; स तु वायुर्निरालम्ब नो
मदायत्तस्थितिरित्यवश्याम्युपगमनीयः (मयेव छत इति विद्यायते)—एवमेव सर्वाणि
भृतानि तैरहष्टे मिय स्थितानि मयेव छतानीत्युपधारय । यथाऽऽहुर्वेदविदः, "मेघोदयः
सागरसित्रवृत्तिरिन्दीर्विभागः स्फुरितानि हायोः । विद्युद्विभङ्गो गतिरुणपश्यमेविष्णोविचित्ताः
पक्कतत्वात् , अनन्तरहलोके च निर्दिश्यमानत्वात् , स्पृष्टेश्च ततोऽप्यनन्तरं वश्यमाणत्वादत्त
भृतभावनः इत्येतत् सत्तातादधीन्यनियमनाञ्चालस्थानियभिगयेणाह धारियता नियन्ता चेति ।
अथवा भृतमृत्र च भृतस्य इत्यत्यैवायमर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

यथाऽऽकारास्थित इति इलोके स्वस्मिन् सर्वमृतस्थितेः आकाशे वायुस्थितिर्देष्टान्त इति केचिदाहुः ; तद्युक्तम् ; आकाशस्य वाय्वपेक्षया नियमनघारणयोरभावात् , तथाविधस्थितेरिह प्रकृतत्वेन तिनदर्शनार्थत्वस्यैवौचित्याचेत्यभिनायेणाह् सर्वस्येति । आकाशस्यतः सर्वतग इत्याभ्यामीधरैकघार्यत्वं तदेकप्रेयेत्वं च विवक्षितमित्यभिपायेगाह यहाऽऽकाशेऽनालम्बन इति । महत्त्वं चान्याशक्यत्वा-योक्तम् । अभिप्रेतं निदर्शनप्रकारं विशद्यति सन्विति । यथा निरालम्बने विहायसि विहक्तमः शरीरादेश्चेतनविशेषाधिष्ठेयस्यम् ; एवमेव वाय्वादेरपीति मावः । तैरदृष्ट् इत्यनेन अनुपरुम्भवाध-निरासाय पूर्वोक्तश्रत्यादिसिद्धायोग्यत्वप्रदर्शनम् । ईश्वरानुमानननम्युपगच्छतां कथमिदं निदर्शन-मित्यबाह यथाऽऽहुर्वेद्विद इति । आगमम् छसंमावनातर्कपरमिति भावः । वेदविद इत्यने नाधीय-अस्मदाद्यगोचरोपादानोपकरणसंप्रदानादिकानां मानवे दोपबंहणरूपता द्योतिता । सकळभुवनाप्ळावनळम्पटस्यैव जळनिघेरम्बराळम्बिनां सक्छदि ङमुख्टयापिनां घाराघराणामुत्पत्तिः, तरङ्गाणां वेळातले निवृत्तिः, प्रतिनियतकळावृद्धिक्ष यश्वङ्गोन्नमनादिरूपश्चन्द्रमसो विभागः, अज्ञाङ्कताग-मानामनियतदिग्विशेषाणां तृणगिरितरुषण्डळुण्टाकानां ्रच्णडमारुतादीनां विष्यूतीयः, प्रशान्तदहन-मिहिरहिमकरादिमहसि प्रावृषि निशीथेऽप्यविदितपूर्वीतरक्षणेश्नां क्षणरुचीनां विभन्नः, निरालम्बने मिहिरमण्डलस्य प्रतिनियतदिनरजनिमासायनसंवत्सरादिदेशिकः विहायसि महीयसो

<sup>1 &#</sup>x27;तसिक्षयो मातरिश्वा द्याति' इति श्रुत्या वाशेबंडुप्रमुक्तत्वमुच्यते। ताहरावायुघारकत्वं परमातम् एव नाकारास्यति च तत्रैव तस्मिन्नित पदेन मातिब्ह्वेति पदसद्वित झाप्यते। अत आकारास्य घारकत्वम संभवि । ताहराश्रुतिमादायात्रोपपादते चैक्वेविषयेऽपि श्रुतेरेष संभवात् यथेतिनिर्देशायोगात् युक्यैव वायोरीदवरघार्यत्वमत्र विवक्षितम् । तत्राकारास्थित इति पदं सुम्यादास्थम्बन्तरिक्ष्यातम् । अवेतनत्वावास्य न घारकनिरपेक्ष्वमिति युक्तिरयं सर्वाधार-व्यक्षत्वमिति युक्तिरयं सर्वाधार-व्यक्षत्वमिति युक्तिरयं सर्वाधार-व्यक्षत्वम्यत्वम्यस्य ।

प्रभवन्ति मायाः" इति विष्णोरनन्यसाधारणानि महाश्रयीणीत्सर्थः। श्रुतिरिष, 'एतस्व वा अश्वरस्य प्रश्नासने गार्गि स्वर्याचन्द्रमसी विष्टती तिष्ठतः" (ब. ५८९) "भीषासाद्वातः पवते, भीषोदेति स्थः, भीषासादिश्रश्चेन्द्रश्च" (आ. ८) इत्यादिका ॥ ६ ॥

सकलेतरिनस्पेश्वस्य भगवतस्सङ्करपारसर्वेषां स्थितिः <sup>1</sup>प्रवृत्तिश्चोक्ता तथा तत्सङ्करपादेव सर्वेषाप्तरपत्तिप्रलयावपीत्याह—

सर्वभृतानि कीन्तेय प्रकृति यान्ति मामिकाम् । कल्यक्षये पुनस्तानि कल्यादौ विस्वाम्यद्यम् ॥ स्थावरजङ्गमारमकानि सर्वाणि भृतानि, मामिकाम् मन्छरीरभृताम्, पृकृति तमद्द्रवृद्ध्य वान्यां नामरूपविभागानद्दांम्, कल्यक्षये चतुर्भुसावसानसमये मरसङ्कल्यात् यान्ति; तान्येव भृतानि कल्यादौ पुनर्विस्वाम्यहम् ; यथाऽऽह मनुः "आसीदिदं तमीभृतं....सोऽभिष्याय एवंविधानि, अन्ये च पिनेपोर्ट्यास्यहम् एवंविधानि, अन्ये च पिनेपोर्ट्यास्यहम् एवंविधानि, अन्ये च पिनेपोर्ट्यास्यहम् प्रवाहिन सर्वेशकार्यः सर्वे सर्वव्यापिनः सर्वशक्तिर्विणोरेव विचित्र[स्रष्टि]शक्तिम्हा भवितुमर्हन्तिति स्रोकार्यः । मायाशव्दस्य मिथ्यार्थस्वनिरसनायाह विष्णोरिति । संबन्धसामान्यस्य नियान्यस्यार्थस्वविदित्रोपपर्यवसानाय यथाऽऽहुर्वेद्विदः इत्यनेनाभिष्ठेतं विवृणोति श्रुतिरपीति । प्रश्वासनमत्र सङ्कल्पविरोषः । भीषेति मयादित्यर्थः ॥ ६ ॥

अप्रस्तुतसृष्टिप्रस्याभिधानस्य सङ्गतिमाह सफलेति । प्रश्निश्चेत्वयसिद्धोक्तिः । मामिकामित्यनेन शेषत्वं सिद्धम् ; तच शरीरतथेत्यवगतम् , 'यस्य तमश्शरीरम्' (वृ. ५ ७. १३) इति ; अतो मच्छरीरभृताभित्यनम् । सर्वभृतशब्देन समस्तकार्यावस्थासंग्रहात् तमश्कव्दवाच्यामित्यक्तम् । 'तम....एकीभवित' (शुचा २.) इत्युक्तमदर्शनं नामस्यिकामानद्दिमिति । सर्वभृतशब्दात् , प्रकृतिं यान्तीति वचनाच पाकृतपस्य प्रवात विवक्षित इत्याह चतुर्धुस्वावसानसमय इति । कस्पक्षये अन्तिमत्रक्षदिवसाथसान इत्यर्थः । कस्पक्षये अन्तिमत्रक्षदिवसाथसान इत्यर्थः । कस्पानं क्षय इति वा विवक्षितम् । त्रक्षायुःपरो वाऽल कस्पशब्दः । 'संहर्ता च त्रयं प्रयुः' (वि. १. २. ६७), 'मनसेव जगत्सिष्टि संहारं च करोति यः' (वि. ५. २. २. १५) इत्याचुक्तः, अत्रेव पुनस्तानि विमुजामीति वचनाच मदीयां प्रकृति यापयामीत्यभिषायः । तदाह मत्सङ्कल्पात् यान्तीति । तानि । तत्सजातीयानीत्यर्थः । तद्भिपायेण तान्येवेत्युक्तम् , ''यथर्जुज्वु लिक्कानि नानारुपाणि पर्यये । हस्यन्ते तानि विनयवाभे (वि. १. ६. ६५) इतिवत् । यथा कुन्तीशरीरात् तवोस्तितस्ययाऽनुपरस्याप्तवावयात् व्हपतिपत्रा, तथा मच्छरीरात् प्रवद्याद्वस्याद्वस्त्र मावः । मच्छरीरम्तां ....तमश्चव्दवाच्यामिति स्वोक्तमर्थं मेषजायमानयत्किञ्चनोर्कर्मनोर्थचनेन संवादयित यथाऽऽहेति । आसीदिदम् (मनु. १. ८) इत्यादिकायां सप्तरक्षीवयां नारायणस्येव परमकारणत्वं ज्ञक्षादेरशेषस्य तत्वस्यस्यः च सुव्यक्रमुक्तमनुः

<sup>1</sup> स्थितेर्वर्तमानत्वात् विष्णोः स्थितिहेतुत्वस्य प्रसिद्धत्वाञ्च सा पूर्वमुक्ता । पश्चादुत्पस्यादि ।

<sup>2</sup> भाष्ये तान्येवेतिपदं तत्पद्घदितप्रमाणवाक्यस्मारकमिति भावः।

श्वरीगत्स्वात् '' (१.५) इति । श्रुतिरिप ''यसाव्यक्तं श्वरीरम् '' (सु. ७) ''अव्यक्तमश्चरे स्रीयते, अश्वरं तमित स्रीयते'' इत्यादिका, (सु. २) ''तम आसीत् तमसा गृहमग्रे प्रकेतम्'' (अष्ट. २८.९) इति च ॥ ७ ॥

मक्कित स्वाधवयस्य विख्जामि पुनःपुतः । भृष्ठज्ञामिभिनं करस्वमवशं मक्टतैर्वकात् ॥ ८ स्वकीयां विचित्रपरिणार्गमनीं प्रकृतिमवयस्य अष्टथा परिणमय्य इमं चतुर्विधं देवतिर्य-बातुष्यस्थावरात्मकं भृतग्रामं मदीयःया मोहिन्या गुणमय्याः प्रकृतेर्वज्ञादवर्गं पुनःपुनः काले-काले विस्तुजामि ॥ ८ ॥

एवं तर्हि विषमसुष्टचाी्चि कक्षीण नैष्ठिण्याद्यापादनेन म[ग] वन्तं वश्चन्तीत्यत्राह न च मां तानि कर्माणे विषश्चीत घाडाका उदाजीयवशासीत्रमसक्तं नेषु कर्मस्र ॥ ९

सन्धेयम् । कारणावश्वत्याप्यचिद्वृश्यत्य परनात्मशरीरतयाऽत्यन्तभिन्नत्वे तमदशब्दवाच्यत्वादौ च मनोरुप-वृहणीयां श्रुतिं दर्शयति श्रुतिश्रपीति ॥ ७ ॥

विस्जामीरयुक्तायाः समिष्टःबिष्टरूपायाः सृष्टेः प्रकारः प्रदर्थते प्रकृति द्वामिति छोकेन । "विकारजननीमज्ञागप्रकर्तामाजां भ्रुवान्" । ध्वायतेऽध्वासिता तेन तन्वते प्रेयते पुनः । स्यते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठितं जगत् । गौरनावन्दव्यस्य कर्ताऽवयस्य कर्ताऽवयस्य । इत्यादिश्रुत्यनुसारेणास्य स्थोकस्याधेमाह स्वकीय।मिति । उपादानद्रव्यस्य कर्ताऽवयस्यो इधिष्ठानम् ; तन्नाभिमतकाविवशेषानु गुणमध्यमावस्थापाणमेवेत्यभिपायेगोक्तम् अप्या परिणमय्येति । भूग्मरापः (७. ४) इत्यादिना प्रागुक्तमप्रकित्यस्य । एवमर्थितद्यः समिष्टिप्तप्रकार एकः ; भूतग्रामयव्योऽत्र देवतिवात्यविच्छित्वन्वविधित्यम् । एवमर्थितद्यः समिष्टिप्तप्रकार एकः ; भूतग्रामयव्योऽत्र देवतिवात्यविच्छित्वन्वविधित्यस्य । एवतिविध्यात्यविच्छित्वन्वविधित्यस्य सावान्तरमेदस्य संग्रहार्थः कुरस्नशब्दः । एवधिषकार्थःव प्रकृतेविद्यात्वव्यत्यस्य चतुर्विध्यस्य सावान्तरमेदस्य संग्रहार्थः कुरस्नशब्दः । एवधिषकार्थःव प्रकृतिविद्यात्वानि । चतुर्विध्यमेव विद्योगिति देवति । प्रकृतिवश्यदित्यनेनामिन्वतः 'प्रकृति मोहिनी श्रिताः' (१२) इत्यत्व च कष्टोक्तोऽवश्यत्यदेवः मोहिन्या इत्युक्तः । तत्यापि हेतुर्गुणमयत्यं 'तिभिर्गुणमयः' (७. १३) इत्यादिनोक्तम् । प्रनःपुनरित्यनेन तदुरपत्तिप्रक्योचि तिद्यतानादिवितिवयतानावयनन्तप्रवाहकाळावच्छेद्विशेषो विवक्षित इत्यमिप्रायेणाह काळेकाळ हित । विस्नुनामि विदिधं स्वाित, विचलनामस्यदेशकाळमोगादियुक्तं करोमीत्यर्थः ॥ ८ ॥

'न च मां तानि कर्माणि' इत्येतन्न पुण्यपायरूपकमिविषयम्, तस्त्रायस्तुतत्वेन तानीति परामर्शा-योगात् ; सृष्टिसंहारादेश्च प्रसक्तत्वात् तत्परामर्श्च एवोचितः ; तस्य दोषरूपत्वमपि सञ्यदेवादि-वैषम्यादिना बोतितमिति तन्निरासार्थोऽयं क्षोक इत्यमियायेणाह एवं तर्हीति । सृष्ट्यादीनीति आदि-शन्देन स्थितिसंहारनियहानुमहादिसंग्रहः । नैष्टुण्यादीत्यादिशन्देन पक्षपातित्वान्यवस्थितत्वादि संगृह्यते । निवष्नन्तीति न संसाररूपो वन्य उच्यते ; जगत्सृष्ट्यादेः ससारहेतुत्वाश्रवणात् । परोक्तधर्मार्थने-

<sup>1</sup> द्वितीयान्तस्य पिवन्ययेनाधित्युपरितनवाक्येऽन्वयः । उपरि तेन परमात्मना अध्याखिता भाकान्ता ध्यायते विन्त्यते इत्यर्थः !

न च तानि विषमसुख्यादीनि कमिणे मां निवश्नित सिप नैर्घृण्यादिकं नापादयन्ति, यतः क्षेतज्ञानां पूर्वञ्चतान्येव कमिणि देवादिविषममावहेतवः; अहं तु तत वैपम्ये असक्तः तत्रोदासीनवदासीनः; यथाऽऽह सूलकारः "वैतम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षस्वात्" (२ १. ३४), न कमिविभागादिति चेकानादिस्वात्" ३५) इति ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षण प्रकृतिः स्ययेतं सच्याचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धि परिवर्तते ॥ ।० तसात् क्षेत्रज्ञकर्मातुगुणं मदीया प्रकृतिः सत्ययद्भरूरोन मयाऽध्यक्षेणेश्विता सचराचरं जगत् स्यते । अनेन क्षेत्रज्ञकर्मातुगुणमयीक्षणेन हेतुना जगत् परिवर्तत इति मरस्वाम्यं

संबन्धश्रक्षाप्रसक्षामावात् । दौजन्ये सत्यपीश्वरस्य नियामकामावात् । अतो नैवृंण्यादिरूपदोषानुबन्ध एवात शक्कितः प्रतिषिध्यत इत्याह मयीति । चः श्रक्कानिवृत्त्यर्थः । सृष्टिवैषम्य प्रयोजकमिभिनेतमाह यत इति । 'सश्वत्या वस्तु वस्तुताम्' (वि. १. ४. ५२) 'कमिमिमीविताः पूर्वैः' (वि. १. ५. ५८) 'आन्नक्कसत्यव्यर्थन्ता जगदन्तव्यविष्यताः । प्राणिनः कमैजनितसंवास्वश्वनिनः' (वि. १. ५. ९० १. २३) 'वाचिक्कैः पश्चिम्ताम्' (मनु. १२. ९), 'अविधाकमेसंझाइनः । तृतीया शक्तिरिप्यते । यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्या वेष्टिता तृप सर्वमा । संसारतायान् अखिलान् अवामोत्वित्तमन्तान् । तया तिरोहितस्याच शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता । सर्वभृतेषु भूषाळ तारतम्येन वर्तते ॥' (वि ६. ७. ६१, ६३) इत्यादिशिः सिद्धोऽप्रमर्थः । तेषु कमैस्वसक्तिम् ॥ इत्युक्ते सति अकर्तृत्वादिश्रनः स्यादिति तिकरासायोक्तं तत्र वैषम्य इति । असक्तः प्रयोजकत्वरूपसंवन्धरहितः इत्यर्थः । असक्तः व्यान्वत्तानि इति । असक्तः प्रयोजकत्वरूपसंवन्धरहितः इत्यर्थः । असक्तः व्यान्वत्तानि इति । विषमस्यः कमिनवदासीन इति । विषमस्यः कमिनवदासीन इत्यर्थः । तेन कर्मानुष्टानद्वायामीश्वरस्य । वैषम्यानुद्वासीनस्वमेशोच्यते । विषमस्यष्टः कमैसापे-क्षत्ये, जीवानां तत्कमैपवाहाणां च अनादितया प्रक्रयकाळेऽपि तसद्वादे पृत्वद्वयं दर्शयति यथाऽऽहेति ॥

यदि कर्मानुगुणा विषमसृष्टिः, तर्हि प्रकृतिरेव परिणानशीला तदनुगुणं परिणमताम्, किं स्वयेत्यक्षोच्यत स्याऽस्यक्षेणेति । सर्वभृतानीस्युकःन्तस्यसङ्कर्पाधीतसृष्टिमलयोपसंदारताचोतनायाह तस्मादिति । स्याऽस्यक्षेणेति पद्वव्यानियेतं श्रोतमधमाह सत्यपङ्कर्पेन...ईश्विता इति । क्ष्माध्यक्षस्पर्वमृताधिवासः' (क्षे. ६. ११), 'यो अस्याध्यक्षः (क्ष. ७. ७. १ ०. १ १७), 'ध्यायतेऽध्यासिता तेन' (मं. उ) इत्यादिकमल भाव्यम् । अधिकमश्नुत इति अध्यक्ष इति केचित् । जमच्छव्यस्त्वाध्यव्यत्यः, पूर्विधगतम्चगाच्यश्चर उत्तरत्वाधीत्यमित्रायेण सच्याचरं जगदित्यक्तम् । स्याते इत्यते 'स्यते पुरुषार्थं च' (मं. उ.) इत्यादिश्वितः सारिता । पूर्वार्थं सृष्टि हेतुतयोक्तमेवोत्तर-लापि संहारहेतुतया अनेन हेतुनेति परामज्ञीहेम् ; न पुनः प्रधानतयोपस्यापिताऽपि सृष्टिः, तथ्याः प्रलयादिकं प्रति अहेतुत्वादित्यमित्रायेणाह अनेनेति । तेनाष्यक्षशब्दस्याल अविक्रयद्शिमात्र-प्रतां वदन्तः प्रस्युक्ताः । कर्मवशाज्ञीवशेषसृतं प्रष्यं प्रति कथं तव खास्यम्, कथं च कारणिकस्यापि कर्मपरत्वत्वत्य दुःखमुरपादिश्वस्तत्यसंकरपत्रत्वत्यता ह मस्याभ्यमिति । 'पश्य मे योगम्' (५)

वैषम्यादुशसीनत्वं ताम वैषम्यांशान्निवृत्तत्वम् । वैषम्याश्वदुशसीनत्विमिति पाठो वा ।

सत्यसङ्करपत्वं नैर्ष्ट्रिण्यादिदोषरहितत्विमत्येवमादिकं मम वसुदेवसूनोरैश्वरं योगं पश्य । <sup>1</sup>यथाऽऽह श्रुतिः, ''अस्मान्मायी सुजते विश्वमेतत् तस्मिश्वान्यो मायया सिन्नरुद्धः । मायां तु प्रकृति विद्यानमायिनं तु महेश्वरम् ॥'' (श्वे. ४. ९) इति ॥ १० ॥

2श्वजानन्ति मां मूढा माजुर्धी तजुमाश्चितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११ एवं मां भूतमहेश्वरं सर्वज्ञं सत्यसङ्कर्ष निख्छजगदेककारणं परमकारुणिकत्तया सर्व-समाश्रयणीयत्वाय माजुर्धी तजुमाश्चितं स्वकृतैः पापकमिर्मिद्धा अवजानन्ति प्राकृतमजुष्यसमं मन्यन्ते । भूतमहेश्वरस्य ममापारकारुण्यौदार्थसौद्यीशित्यवात्सस्यनिवन्धनं मजुष्यत्वसमा-श्रयणस्व श्वणास्य परं भावमज्ञानन्तो मजुष्यत्वसमाश्चयणस्व भामितरसजातीयं मत्वा तिरस्क्रवन्तीत्थर्थः॥ ११॥

मोषाशो मोषकर्माणो मोषष्ठान विचेतसः। राक्षसीमासुरी चैव प्रकृति मोहिनी श्रिताः॥ र इरसुपकान्तनिर्वहणरूपताप्रदर्शनाय ममेत्यादिकम् । अवजानित मामित्यनन्तरक्षोकस्थासम्छञ्दानु-सन्धानवशात् मे इरयेतिवरितशयसौल्ध्यसंछादितेश्वरमानमवतारनिर्मितीति वसुदेवस्नोरिरसुक्तम् । एतेन 'मनुष्यत्वे परत्वं च' (१३) इति संग्रहक्षोकांशोऽन्दुसंहितः। युज्यत इति च्युत्पत्त्या साम्यादेरत्व येगशब्दार्थतोक्ताः। प्रकृतिश्वराधीनपरिणामत्वे जीवानां कर्मानुगुणप्रकृतिवशत्वे च श्रुतिसुदाहरति यथाऽऽहेति॥ १०॥

महासमां विशेषं वक्तुं मृहानां सभाव उच्यते अवज्ञानन्तीति स्रोकह्रयेन । प्रकृतसङ्कस्यर्थमेवंशब्दः । भृतमहेश्वरमित्यस्य भावविशेषणस्वायोगात् व्यवहितेनापि माम् इस्यनेनान्वयः ।
मृतमहेश्वरादिशब्देनाभिवेतप्रदर्शनम् सर्वज्ञमित्यादि । मानुषीं मनुष्यसंविधनीम् ; मनुष्यजातीयसिव्ववेशवितीमित्यर्थः । यथा हिरण्ययमृन्ययप्टअद्विन्यवैज्ञारयेऽपि संस्थानसाय्यम्, तद्वद्वलापि । इदं च
मत्स्यादितन्वाश्रयणस्याप्युपलक्षणम् । मौक्रस्यापीश्वराधीनस्वेन तहोषःग्रुदासाय स्वकृतैः पापकर्मभिरिः
स्युक्तम् । अवश्वाकारणं दर्शयिति प्राकृतेति । यरं भावभज्ञानन्त इत्यनेन श्रमहेतोभेदाग्रहस्य कथनम् ;
मानुषीं तनुमाश्रितमिति तु साहश्यस्य । ताभ्यां प्राकृतमनुष्यसज्ञातीयताश्रमः । ततश्य यथाकथित्रस्यायमानोत्कर्षापह्वनेन निकर्षापादनस्यावज्ञा । तदेतदिललं विश्वद्यति भृतमहेश्वरस्येति ।
मनुष्यस्वसमाश्रयणलक्ष्यणमिति अजहरस्वभावस्य अनितरसाधारणमेवेविधमनुष्यस्वाश्रयणमपि वस्तुतः
परस्वानुषविष्टमिति भावः ॥ ११ ॥

<sup>1</sup> इस्रोके द्विशः इद्योतितां प्रसिद्धि द्शीयतुं शुःगुराहरणम् । त्यते परिवर्तत इत्युभयत्र द्वीत्यस्यान्वयः । त्यत इति कर्तरि योगः । उत्यादवनीत्वर्थः ।

<sup>2</sup> अवजानन्तीत्यादि स्होकद्वयं मृदस्यभावपदर्शनःयाजेन मनुष्यःवे परत्वपतिपादकम् ।

<sup>3</sup> मनुष्यत्वसमाश्रयणदेतुभृतकार्रण्यौदार्योदिकमत्र विवक्षितं स्यात् । उत्तरश्लोक-भाष्यारम्मे तथादर्शनात् । यहा परं भावम्—श्रेष्ठमाविभाविमत्यर्थः ।

मम मनुष्यत्वे प्रमकारुण्यादिप्रस्वितिरोधानकरीं राश्वसीमासुरीं च मोहिनीं प्रकृति-माश्रिताः, मोषाज्ञाः मोघवाञ्छिताः निष्फलवाञ्छिताः, मोषकर्गाणः मोघारम्भाः, मोषज्ञानाः सर्वेषु मदीयेषु चराचरेष्वयेषु [मिय च] विपरीतज्ञानतया निष्फलज्ञानाः, विचेतसः तथा सर्वेत विगतयाथारम्यज्ञानाः मां सर्वेश्वरमित्रसमं मत्वा मिय च यत् कर्तुमि च्छन्ति, यदुद्दिश्यारम्भान् कुवेते, तत् सर्वे मोधं भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ देवीं प्रकृतिमाधिताः । भजन्यन्त्यमनस्तो श्वत्वा भूनादिमन्ययम् ॥१३ ये तु खक्कतैः पुण्यसश्चयैः मां श्ररणमुष्यमय विध्वत्ततमस्त्रापवन्धा देवीं प्रकृति-

मोषाश्चा इति इलोकेन प्रस्तुतस्य हेतुफले प्रतिपाधेते । मोहनप्रकृत्याश्रयणं हि मोघाश्वादा हेतुरिति पूर्वेम्रतरार्थन्यास्या । राक्षमीं रक्षरसंविन्वनीं तामसीम् ; आसुरीम् असुरसंविन्वनीं राजसीम् ; क्रोधलोमादिमयीमित्यर्थः । प्रकृति स्वभाविन्दर्थः । "यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः । म्तान् प्रेतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥" (गी. १७. १), "मन्ये त्वां राक्षसं कृरमथवा तामसात्मकम् । यसात् क्षिपसि गोविन्दं पाण्डवं च वनज्ञयम्" (मा. भी. ६६. ११) इत्यादिविवेति द्रष्टव्यम् । मोहिनीमित्यनेन मगवत्यरत्वतिरोधानादिकमित्यनेत्वस्य । मोघाशाः इति समासांश्वत्यार्थकथनम् मोघवािन्छता निष्फलवािन्छता हति । फलपर्यन्तकमित्यस्यासिद्धधिमप्रायेण मोघासम्मा इत्युक्तम् । उपक्रमप्रभृति निष्फलवािन्छता हति । कलपर्यन्तकमित्यस्य गोष्यतं स्विविपयत्वमुचितिस्त्यम् । तस्य चात्र विषयविदेशेषनिर्देशाभावात् यथासंभवं सर्वविषयत्वमुचितिस्त्यमित्यायेणाह सर्वेदित । वेपरीत्यं च अस्ततन्त्र स्तन्तत्वम् , अन्यदीये स्वकीयत्वम् , अजङो नित्ये जङ्गत्वानित्यत्वादिकम् , अस्यरे स्थिरत्वमित्यादिकं द्रष्टव्यम् । 'मोघज्ञानाः' इति ज्ञानविद्येषस्य विहितत्वात् तत एव तत्कारणस्य च निषेद्धमश्चयत्वात् 'विवेतसः' इति निषयस्तदितिरक्तज्ञानपर इत्यमित्रयोणाह सर्वत्र विभातत्वाराद्यारम्यञ्चाना इति । ननु मोघाशत्वादिकमसिद्धम् , स्वर्गपश्चायामित्विन्यस्त्वम्, तत्व त्वापायात्म्यञ्चानाः इति । ननु मोघाशत्वादिकमसिद्धम् , स्वर्गपश्चामानात्वम् स्विन्तन्तम्, तत्व त्व मोघाशत्वागादिषु यथार्थज्ञानाक्रत्वाह मामिति । अत्रत्व यथार्थज्ञानाभावात् मोघज्ञानत्वम्, तत त्व प्य मोघाशत्वमोघारम्भवे इति कमः ॥ १२ ॥

एवमवज्ञापवृत्तमृत्यस्यिष्ठे कोके निष्फलस्तवाबतार इति शङ्कायामबतारसाफल्यकारिणां महारमना वृत्तकथनःयाजेन भक्ति असञ्जयति महारमानिस्स्विति । महारमशब्देन, तुशब्देन चं सिद्धं भजनौपियकमतिशयं दशैयन् उद्देश्योपादेयांशं च विभजते ये त्विति । 'जनास्युक्वतिनः' (७. १६) ''मामेव ये अपद्यन्ते'' इत्यादि प्रागुक्तं अतिसंधापयित स्वकृतैः पुण्यसंचयेमाँ श्रगासुपगम्येति । देवीं

<sup>1</sup> यत् कर्तम्-अवजानन्तीत्युक्तावज्ञापूर्वकं मद्वाधनादिकं यत् कर्तुम् ।

<sup>2</sup> अंशद्धयेति । व्युक्तमेण व्याख्यानम् । आशापदं व्याख्याय मोघपदमपि व्याख्यातीति भावः।

<sup>3</sup> मामित्यादि भाष्यं रहोके पदानामन्वयक्रमदर्शकमिति भावः । श्रिताः विचेतसः मोघक्षानाः मोध्याद्याः मोधकर्माण इत्यन्वयः ।

माश्रिटा महात्मानः, ते, भ्तादिमञ्चयम् वाङ्यत्तसागोचरनामकर्मश्रहणं परमकारुणिकतया साधुपित्राणाय अनुत्यत्वेजावदीर्णं भां झत्त्व.ऽनन्यमनसो मां भजन्ते (न्ति १) ; मत्त्रियत्वातिरे-केण मद्भजनेन विना मनसञ्चाऽऽत्सनश्च वाह्यकरणानां च थारणमरूभमाना मद्भजनैक-प्रयोजना भजन्ते ॥ १३॥

स्ततं किर्नयस्तो मां यतन्त्रश्च दृढतताः । नमस्यत्वश्च मां अवस्या नित्ययुक्ता उपास्तते ॥ १४ अत्यर्थमितियदनेन मस्कीतेनयतननमस्कारैर्विना क्षणाणुमातेऽप्यारमधारणमस्क्रममानाः, मद्गुणिविश्चेपवाचीनि मन्नामानि स्मृत्वा पुरुकाश्चितसर्वाङ्गाः, हर्षगद्भकण्डाः, नारायण-कृष्णवासुदेवेरयेवमादीनि सततं कीर्तयन्तः, तथैव यतन्तः मस्कर्मस्वचनादिकेषु, तदुपकारकेषु सास्विकीम् । भृतादिनित्यनेनाशवयोपासनं परत्वं विवक्षितमित्याह वाङ्मानसेति । मामित्यनेनावतारपर्यविति सीरूपयं सहेतुकमाह परस्कारकाण्यात् विवक्षतिमत्याः वाद्मानस्व सहेतुकमाह परस्कारकाण्यात् स्वात्यस्य द्यादिम्लकत्वेन कर्ममूलकत्वामावात् स्वात्यस्य स्वावेषकार्यन्तरस्यवच्छेदार्थस्य त्यादिम्यन्तर्यस्य सहेतुक विवन्नोति मतिप्रयस्वेति । आर्वाधिकार्यन्तरस्यवच्छेदार्थस्यादनस्यन्यनेकात्तर्वविवद्याङ्गोचित्रा । मन्त्रियस्वेति । पार्थश्चरदेनेन्द्रस्तुनस्वमपि देवपक्षतिरिति स्वितम् ॥ १३ ॥

भजन्तीत्यपासनं पसक्तमः अथ तदेत्र कीर्तनयतननमस्कारेष प्रेरयन्त्याऽत्यर्थप्रियस्वलक्षणा-वस्थया विशेष्यते सततमिति। कीर्तनादीनां लयाणां वाब्यनःकायकर्मरूपतां तेषामेव प्रकरणा-न्तरेषु सिद्धं प्रकारम् , स्वतंमित्यस्य च कीर्तन-यतन-नमस्कार-नित्ययुक्तत्वोपासनेष्वविद्येषेणान्वयमाह अत्यर्थेति ; अत्यर्थमस्पिवत्वं भक्तयेत्यस्यार्थः । क्षणे महाप्रथिव्यादिवत्किष्पिते तस्य चरमावयवतया किष्यतोऽशः **श्वणाणुमात्रेऽपी**त्युक्तः । नालां खादुत्वातिशयसिद्ध्यर्थम् मद्गणविशेषवाचीनीत्युक्तम् । नामकीर्तनं चेष्टित।दिकीर्तनस्त्रोपळक्षणम् । गुणानुसन्धानःसावेऽपि खरूपतः प्रीतिजननाय पुनः मन्नामानीति व्यवदेशः । पुरुकाश्चितनर्वाङ्गा इत्यादिकं तत्तत्वदेशोक्तशब्दोपादानम् ; यथा ''तन्नामसरणोद्मृत्पुलकश्चेदिपुङ्गयः'' (वि. घ. ७४. ४८) इति । **हर्पगद्भदकण्ठा** इत्यनेन 'सर-नेताङ्गविकिया' (मा आश्व. ११५) इत्यादिमक्तिरुक्षणग्रन्थस्मारणम् । 'क्वविभूवाचकदशस्दो णश्च निष्टितिवाचकः' (भा. उ. ६९. ५) इति कृष्णशब्दोऽपि पुरुषार्थहेतुस्वपतिपादनमुखेन परध्युहादि-समस्तावस्थासाधारण इति ज्ञापनाय व्यापकथोर्भध्ये पठितः । अवतारान्तरेप्यपि ऋष्णज्ञान्दः प्रयुज्यते 'उदध्ताऽसि वराहेण क्रुग्णेन शतबाहुना' (नः) इति । यद्वा नारायणेति प्रत्वानुसन्धानम् , कृष्ण-वासुदेवेति तु अवतारिवशेषपरतया सीलम्बानुसन्धानम् ; "यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव । क्रप्ण विष्णो ह्रवीकेश वासुदेव नमोऽस्तु ते । इति राजाऽह भरतो हरेर्नामानि केवलम् ॥" (वि. २. १३.९), "नाझोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः", "कमल्लनयन वासुदेव विष्णो धरणिधरा च्यत शङ्कचक्रपाणे'' (वि. ३. ७. ३३) "एतावताऽल्रमघनिर्हरणाय पुंसां" (भाग. ६. ३. २४), ''सङ्कीत्ये नारायणशब्दमालम् '' इत्यादिषु सर्वत सङ्कीर्तनप्रभावः प्रसिद्धः । रहसि जनसिन्नधौ च

मवननन्दनवनकरणार्दिकेषु च दृदसङ्कल्पा यतमानाः, भक्तिभागवनसितमनोबुद्धचिमान पद्दयकरद्वयग्निरोमिन्द्राङ्गैशीचन्तितवांसुक्दीवार्क्षशादिके घरातले दृण्डवस्त्रणिपतन्ताः, सततं मां नित्ययुक्ताः नित्ययोगं काङ्क्षमाणा आस्त्रान्ते मदाङ्क्यवनायिनः उपासने ৮/१८॥ ज्ञानयकेन चाण्यस्य यजस्तो बासुपासते । विकासिन पुण्यस्य व्यक्षमारिज्यको साम्

अन्येऽपि महारमानः पूर्वोक्तैः कीतैना/देभिः झारास्येग यहोत च यजन्तो मञ्च-पासते । कथम् १ वहुषा प्रथमतेन जगदाकारेण, विश्वोमुक्तन् विश्वप्रकारम्वस्थितं मामेकत्वेनोपासते । एतदुक्तं भवति — भगवान् वासुदेव एव नामक्ष्यायेः । मनक्ष्मेस्वत्यादिकं मिक्तिवोषासते । एतदुक्तं भवति — भगवान् वासुदेव एव नामक्ष्यायेः । मनक्ष्मेस्वत्यादिकं मिक्तियोगासाधारणयतनविषयभदर्शनम् । तक्षमेश्वते इत्यसङ्घरवं महत्यामापदि संवदि चान्याश्रयणपरिहारार्थम् । भक्तिभारेत्यादिकं प्रणामस्य रागपासत्यकथनम् । "मनोबुद्धचिनमानेन सह न्यस्य धरात्वले । क्ष्मेवचतुरः पादाव्यक्ष्यत्वेव पञ्चमम् ॥" (सा. सं. ६. १८७) इत्युक्तोऽप्राप्तनामः । नित्यपुक्ताः इति आद्यायां का इत्याद वित्ययोगां भाकाङ्श्यमाणाः इति । काङ्क्षमाणशव्यः चानव्यवान्तः, "ताच्छीत्यवयोवचनशक्तिषु चानव्यः" (अष्टा ३. २. १२९) इत्यनुशासनात् । "दासम्ताः" (पञ्च) इत्याद्यक्तक्षवानुक्रपेण....(१) नित्ययोगं विज्ञनिष्ट आरमान्तं महास्यव्यवानित् इति ॥ १४ ॥

सजन्त्यनन्यमनसः इत्यनन्यमनस्त्वेन प्रथमपुरासनं विद्योपितम् ; ततश्च कीर्तनादिभिरन्तरङ्गेः। अथ वेद्याकार्विशेषपदर्शनेनापि तदेव दिशेष्यते झानयञ्जेनेत्यादिना सद्वासाहमर्जुनेत्यन्तेन । चकारः पूर्वोक्तर्शतिनादिसमुख्यार्थः । अपिरत् अन्य इत्यनेन्विकः, अन्यथा नैर्यवयादित्यभिन्यायेणाइ अन्येऽपीति । अन्यशन्दोऽल <sup>2</sup>पूर्णोगसकपरः । यञ्जे च यजन्तः यज्ञेन प्रीणयन्त इत्यशः । बहुषा पृथक्त्वेन इत्यनेन समष्टिव्यष्टित्दवान्तर्रकासमलसंग्रह इत्याह जगदाकारेणिति । विश्वतो- सुस्वशन्दस्थात समिनव्याहारानुगुणं विवक्षितमाइ विद्यप्रकारमिति । वनु एकत्वेन पृथक्तवेन चोपास्त इत्यन्त्यः कि नोच्यते १ कथं चेकस्येव सत्रो बहुत्वेनावस्थानम् १ तथा च सविकारत्वसंसारित्वादिन्दोषाश्च स्युः ; बहुषाऽत्रस्थितः वैकस्येव सत्रो बहुत्वेनावस्थानम् १ तथा च सविकारत्वसंसारित्वादिन्दोषाश्च स्युः ; बहुषाऽत्रस्थितस्यैकत्वेनोपासितुर्दृष्टिविधिवत् आन्तिश्च स्यादित्यत्राह एतद्कमिति । एतेन परोक्तप्रक्रिययोपासन्विधालयपरत्वं मेदाभेदादिवर्णनं च प्रत्युक्तम् । मगवानित्यनेन सष्टश्चाद्यौन्परक्रगुणपप्चपदर्शनम् । वासुरेव्यव्यवे प्रमारोन सर्वसामानाधिकरण्यव्यपदेशनिदानतर्वशरीरकत्वययैवसित्वः हित्रीयारोन सर्वियानेन स्रविद्यान्तेत्र । द्वाभ्याम् अनन्योपास-

<sup>1</sup> एकत्वेन--विशिष्टैकत्वेन । न तु अविभक्तलाम्रुवत्वेन यथेः। तिद्दं 19 क्रोके द्रष्टःयत ।

<sup>2</sup> पूर्णेलि । अवताराच्याञ्चतमुर्गुरासनं प्रःचािमिः कियमाणं पागुक्तम् । अत्र तु चिद्-चिद्रस्तर्यामितया परमात्मखरूपचापं प्रहणात् सर्वे पूर्णमिक्तगोगाः औरतिषदाः उक्ता इति भावः । पक्रमेव परं प्रदेशि केचित् ; केचिच आदित्यचन्द्रादिमेदेन भिन्न इति ; केचिच बहुचा विश्वरुपेण स्थित इति शांकरे ।

श्वरीरस्त्रन् सत्यसङ्करयो विविधविभक्तन।मरूपस्थूलचिद्चिद्वस्तुश्वरीरःस्यामितिसंकरस्य स एक एव देवितर्यञ्जनुष्यस्थावराख्यविचित्तज्ञगच्छरीरोऽवितष्ठत इत्यनुनंदधानाश्च मास्रुपासते इति ॥

तथा हि विश्वश्वरीरोऽहमेत्राविश्वत इत्याह—

अहं कतुरहे यज्ञः स्वधाऽह्न हमीयघम् । मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहम्ब्रिरहं हुतम् ॥ १६ अहं कतुः अहं ज्योतिष्टोमादिकः कतुः । अहमेव महायज्ञः । अहमेव पितृगणपुष्टिदा स्वधा । औष्धं हित्रिश्वाहमेव । अहमेव च मन्त्रः । अहमेव च आज्यम् । प्रदर्शनार्थमिद्म् अहमेव च हित्रस्वे । १६ ॥

पिताऽहमस्य जगतो मःता घाता पितामहः। देशं पवित्रमोहार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ अस स्थावंग्जङ्गमात्मकस्य जगतः, तत्रतत्र पितृत्वेन, मातृत्वेन, घातृत्वेन, पिता-

कैकान्तिजनशीलितमन्त्रविशेषोऽ<sup>1</sup>पि सारितः । प्रथिव्यादिबहुत्वनात्नस्य पत्यक्षादिसिद्धस्वादेकस्यैव सतो बहुत्वं हि शास्त्रवेयम् ; ततश्च तथाम्त्तैकत्व एवात वाक्यतारपर्यम् ; तज्जैकस्य सर्वेशरीरत्वेन निर्व्युद्धिति न कश्चिहोषः ॥ १५ ॥

यद्यपि प्रस्यहादिरूपेणैकत्वपृथक्ते वक्तं शक्ये, तथाऽपि अनन्तरप्रन्थानुसारादुक्त एवार्थ इत्यमिशायेण श्रेकं ऋतुरित्यादिस्रोकचतुष्टयस्य प्रकृतसङ्गतिमर्थं चाह तथाईति । ज्योतिष्टोमादिकः
इत्यनेन महायज्ञ इत्यनेन च विषयविशेषदर्शनात् ऋतुयज्ञशब्दयोः पौनरुक्त्यपरिहारः । शारीरमानसः
श्रोतस्मातीदिविभागस्तु न प्रसिद्धयनुसारीति भावः । महायज्ञः ब्रह्मयज्ञादिः पञ्चविषः। अविशेषात् एवकारस्सवैतान्वेतव्यः । कतुतद्वयथादिप्रसङ्गात् स्वधाशब्दसहशाठादात्र्यस्य च पृथगुक्तत्वात्ओषिविकारहविविशेषविषयोऽयभौषधशब्द इत्याह औषधं हविश्वाहमेवेति । एतेन स्वधीषधशब्दभीरलभेषजादिपरत्वव्यास्या प्रस्तुक्ता । 'विशेषविधिः शेषनिधार्थः' इति शङ्कां परिहरति प्रदर्शनार्थमिति । एवमुक्तरेप्विपितामहादिक्थनं प्रस्तिगमहादिपदर्शनार्थं आह्मम् । अत्राग्निशवद्यः प्रकरणविशेषाङ्कतनृतीयादिमातविषयत्वं न युज्यत इत्यसिमायेणाह अहमाहवनीयादिकोऽग्निरिति । हविषां पृथगुक्तस्वादल हुतशब्दो भावार्थं इत्याह होमश्रेति ॥ १६॥

पिताऽहमस्येत्यादौ न स्वस्वरूपेण पितृत्वादिकमिहोच्यते; अपि तु पितृत्वादिरूपेण प्रतिपन्नानां स्वान्तर्यामिकत्वम ; तथा सति हि पक्रतसङ्गतिरित्यभिपायेणाह अस्येति । स्थावरेष्विप तानितानि कारणानीश्वरद्यरीराणीति तलापि तस्य पितृत्वाद्विव्यवहारः । एकस्यैव सर्वपितृत्वाद्यभावात् प्रतिनियत-पद्यशाय तलतन्नेत्युक्तम् । धातृद्यव्दो हि स्वष्टृचेतनिविशेषपरतया प्रसिद्धः । [तल चतुर्भुत्वपर्वेत् पितामहपदमपि तथा रसादीति पौनरुचयम् ; यदि पितृपरः (१)] ततस्याल पौनरुक्त्यमित्याद्यञ्चयह

<sup>1</sup> द्वादशाक्षरी। 2 अइमिन्यादिना अर्जुनेत्यन्तेन पताबदाकाराजुक्वधानरूपो विस् भणो भक्तियोगोऽपूव उच्यते इति न मन्तव्यम्। किन्तु बहुन्धविशदीकरणमात्रम्।

<sup>3</sup> ओषध्यः फलवाक्तान्ताः बीह्याद्यः। अतः सोमलतारसस्य नौषधत्वम्।

महत्वेन च वर्तमानोऽहमेव। अत्र धात्याब्दो मातापित्व्यतिरिक्ते उत्पत्तित्रयोजके चेतनिविशेषे वर्तते । यत्किश्चित् वेदवेथं पविलम् पावनम् , तदहमेव । वेदकश्च वेदवीजमृतः प्रणवोऽहमेव । ऋक्सामयजुरात्मको वेदश्चाहमेव ॥ १७ ॥

्मार्कभेर्ता प्रभुस्साक्षी निवासदशरणं सुहृत् । प्रभवप्रस्वयानं निवातं वीजनव्ययम् ॥ १८ प्रभित्तं प्रभुत्तं इति गतिः ; तत्तततः प्राप्यस्थानमित्यर्थः ; भर्ता धारियता, प्रभुः ग्रासिता, साक्षी साक्षादृष्टा, निवासः वासस्थानं वेदमादि । शरणम् । इष्टस्य प्रापकतयाऽनिष्टस्य निवारण-अन्नेति । पिता समिनव्याहृतस्वादिस्वर्थः । स्द्रैः द्वादिसहृपाठे हि चतुर्भुत्वपरतेति भावः । [ब्यतिरिक्ते हिति ?] गोवळीवर्दन्यायादिति भावः । वास्वर्थम्तयारणादिद्वारोत्पत्तिप्रयोज कत्त्वम् । वेद्यस्वमात्तस्य सर्वसाधारण्यात् वेद्यपित्रत्रशब्दयोविद्योषणविद्योष्ट्यमावेनान्वयः संभवन् प्रतीयमानो वाधकाभावान्न त्याज्य हत्यमित्रायेणाह् यत्किञ्चिदिति । वेदनत्यानन्तरमिधीयमानस्वात् पवित्रत्वसामर्थाच वेदवेद्यमित्युक्तम् । न्युसकनिर्देशाद्विदेशकाभावाच अनुक्तसमस्तवेदवेद्यसम्बविषयोऽविमिति ज्ञापनाय यत्किञ्चच्छदः । सङ्गोचकसंज्ञापरत्वव्युदासाय विवानमित्युक्तम् । स्पितसंवित्यिनिर्देशमध्यपातात् वेद्यप्रतिसंविन्यनिर्देश स्वपत्वसंविन्यनिर्देश स्वपत्वसंविन्यनिर्देश स्वपत्वसंविन्यनिर्देश स्वपत्वसंविन्यनिर्देश स्वपत्वसंविन्यनिर्देश स्वपत्वसंविन्यनिर्देश स्वपत्वसंविन्य । स्वपतिसंवन्यनिर्देश प्रयुत्तिः किमिमिन्यनिर्देश द्विन्यनिष्ठम् । स्वत्रसामयज्ञुषां प्रथमिधानेऽपि तदनुप्रविष्टस्य प्रथमुक्तिः किमिमिन्यनिर्वत्वाद वेदवीनसभत्त इति ॥ १० ॥

गतिशब्दस्याप्रविधायन्यायेन<sup>6</sup> द्रव्यपरस्वोचित्यात् नात्त भावार्थपरस्विभित्यायेण स्थानपरस्व-माह गम्यत इतीति । सर्वजनसाधारणेषु अर्थेषु निर्दिश्यमानेषु तन्मन्ये स्वीविशेषमात्तप्रतिसंवन्धि-पदार्थो न वनतुमुन्तितः ; धारणार्थस्वं च विभित्तिवातोः प्रसिद्धमित्यमिषायेणाह भर्ता धारियतेति । प्रभुशब्दस्यात्र प्रमृततामात्वपरस्वे जगतः इत्यनेनान्वयो न स्यादित्यमिषायेणाह शासितेति । साक्षाद्द् ष्टेति । 'साक्षाद्द्षरि संज्ञायाम् ' (अष्टा. ५. २. ९१) इति हि साक्षिशब्दोऽनुशिन्यते । वासस्यान-मिति । अत्र भावादिपरस्वान्यैनित्यादिषकरणार्थोऽयं घिति भावः । गतिशब्देन पौनस्वत्यनिरा-सायोक्तं वेदमादीति । मितिशब्दस्य सर्गपृथिव्यादिगन्तव्यदेशपर उक्तः, तत्तदेशानुभाव्य-भोग्यपरो वा श्वरणशब्दस्यात्र निवासशब्दिनिर्देष्टगृहाद्यचेतनपरस्वस्युद्धसायाद्य इष्टस्येति । इष्ट-प्राप्त्यनिष्टनिवारणयोविशेच्छं प्रत्येकसमुद्धायाभ्यामन्वयः । 'शर्णं गृहरक्षितोः' (नाम. ६. ना. २०९)

<sup>1</sup> अत्र सुबाळोपनिषदि (६) पष्टखण्डे मातापितेति वाक्स्य परिष्कारो द्रष्टब्यः ।

<sup>2</sup> इत्यर्थ इति । तक्षेतिपदस्य पित्रासमिभिन्याहृतत्वादित्यर्थ इति न्यास्था । सन्न घट्टे तत्रतत्र किञ्चिद्धंद्याः पद्य्यत्यासम्च कोशेषु । 3 एवञ्च पितामहपदमित तत्तत्वत्रितिनयतिन्तागृहपुरमिति भाषः । 4 स च मन्त्रपद-चरुपद-चरुपद-चरुपद-चरितत्सकादिः ।

<sup>5</sup> जगत इति पदस्य पित्रज्ञितात्यत्राप्यश्वयः सप्रतिसंविश्वकथनप्रकरणात्। तत्र जगत्य्वितं द्विविधं वेदं वेदकञ्च। वेद्यमुकृत्वा वेदकमाह ओंकार इत्यादिनत्यभिमतं स्थात्। अत्र स्टोकेपुरुवस्योत्पादकप्रभृति अपेक्षितं सर्वे कमेणोच्यते।

<sup>6</sup> साहचर्य सहपाठ एवाप्रय प्रायम्यायः ।

तया च समाश्रयणीयश्रेतनः स्वरणम् । स चाहमेवः सहत् हितेषी, प्रभवपरुवस्थानम् यस्य कस्यचित् यत्रकुतचिदुत्पचित्ररुवयोर्यत् स्थानम् , तदहमेव । निधानं निधीयतः इति निधानम् , उत्पाद्यसुपसंहायं चाहमेवेस्यर्थः ; अन्ययं बीजम् तत्वतत्र न्ययरहितं यत्कारणम् , तदहमेव ॥ तपास्यहमदं वर्षे निग्रह्मस्यत्स्वजामि च । असतं चैव सन्यश्च सदसचाहमज्ञन ॥

अग्न्यादित्यादिरूपेणाहमेव तपामि; ग्रीष्मादाबहमेव वर्षे निगृह्यामि । तथा वर्षाषु चाहमेवोत्सृजामि । अग्रतं वैव गृरयुश्च । येन जीवित लोको येन च प्रियते, तदुभयमहमेव । किसन्न बहुनोक्तेन; <sup>1</sup>सदसचाहमेव । सत् यद्वतेते, असन् यत् अतीतमनागतं च सर्वावस्थावस्थित-इति पाठादल <sup>8</sup>रक्षितृपरः शरणशञ्दः । हितेषीति शोभनहृदययुक्तो हि सुहृत्; शोभनत्वं च हृदयस्थ हितगोचरत्वमिति भावः । यस्यकस्थाचिदिति । न केवलं ब्रह्मादेरव्यक्तोदेवी यदुत्पतिम्रक्यस्थानमित्यभि-

हितगोचरत्वमिति भावः । यसकस्यिचिदिति । न केवरुं ब्रह्मादेरव्यक्तादेवी यदुत्पतिप्ररूयस्थानमित्यभि-प्रायः । प्रभवः [प्ररूपः ?] इति व्यस्तं परोक्तं पाठान्तरमप्रसिद्धेरनाजवाचानाहतम् । प्रभवप्ररूप-स्थानमिति प्रसक्तत्वात् तत्त् यत्प्रभवति, यच प्रष्ठीयते, तदत्त <sup>8</sup>निधानशन्देन विविध्वतमित्यभि-प्रायेणाह निधीयते इति निधानमिति । कर्मार्थोऽयं स्युट्पत्ययः। एतेन निधानशन्दस्य प्ररूपक्षान-विदेशेषणत्वेन अन्याक्ततपरत्वयोजना निरस्ता । प्रभवप्ररूपस्थानमित्यस्योपादान[परस्व ?]विवक्षायां वीजशन्दः कारणमात्वपरः ; तस्योपादानपरस्वविवक्षायां वीजाधारक्षित्यादिदेशपरः पूर्व इत्यभिपायेणाह तत्ततत्रेति ॥

एवं प्राधान्यतः (१० १९) इति वक्ष्यमाणप्रकारेण छोके तत्तच्छ्छ्दवाच्यतया प्रसिद्धानां प्रकृष्टपदार्थानां सत्तायाः साधीनस्वयदर्शनम् ; अथ प्रवृत्तितादधीन्यमनेनोच्यते त्रामीति । स्वरूपतस्ताप-हेतुस्वाभावाद्विशिष्टे तत् दर्शयति अप्रयादिस्यादीति । आदिशच्देन अप्रयादितसद्वन्यविवक्षा । एक-कर्तृकवोविरुद्धयोः कालादिभेदेन व्यवस्थल्यभिप्रायेणाह ग्रीष्मादाविति, वर्षास्तिति च । अत्र पर्जन्यादिरूपेणेति भाव्यम् । एवं रिक्सिवेशेषोऽपि ग्राह्मः ।

अहं ऋतुः (१६) इत्युपकम्य एतावताऽिषयज्ञाधिमजाधिवेदाध्यासाधिदैवतिवविद्यति केचित् । अथ साधकनाधकरूपेण संगृह्योच्यते अमृतं चैव मृत्युश्चेति । मृतिकारणाभिधायिमृत्यु-शब्दसहमयोगात् मृतिपतिवन्धकमात्रविषयोऽयममृत्रशब्दः । सुधापरत्वे तु विषेण सह पठितन्यप् । अमृतसहपायाच मृत्युशब्दस्य वैवस्तादिपरत्वमयुक्तमित्यभिमायेणाह येनेति । त्रैकाल्यवर्तिसर्वसंप्रहेण उपसंहारपरतां दर्शयिति किमन्नेति । अत्र सुच्छब्दवत् असुच्छब्दोऽपि भावान्तराभाववादात् वस्तुविदोषपरः, अन्यथा अहमिति सामानाधिकरण्यायोगादित्यभिमायेणाह यद्वतेते यदतीतमनागतं

<sup>1</sup> सदसदितीदं परं जगत इति प्रतिसंविन्धिनिरपेक्षम । सर्वप्रहणस्य कार्यत्वाच ।

<sup>2</sup> रक्षितःवमुषायान्तरस्थानापत्या वाऽन्थथा वेत्यन्यदेतत् ।

<sup>3</sup> जगदन्तर्गततत्त्रह्रस्तुनः प्रभवप्रत्यस्थानं प्रथमपदार्थः। तत्त्रह्रस्तु यथ्य प्रभवप्रध्यस्थानं तत् निवानपदार्थः। 4 भावान्तराभाववादादिति। शराशृंगरूपनुच्छात्मकाभावानंगीकारादित्यथः। अतः अतीतादिवस्तुनः कथमभावत्थशंकेति न मन्तव्यम्।

चिद्चिद्वस्तुश्चरीरतया तत्तरप्रकारोऽहमेवावस्थित इत्यर्थः । एवं वहुधा पृथवत्वेन विभक्त-नामरूपावस्थितकुरस्वजगच्छरीरतया तत्प्रकारोऽहमेवावस्थित इत्येकत्वझानेनानुसंद्धानाश्च माम्रुपासते ॥ १९ ॥

एवं महात्मनां ज्ञानिनां भगवदनुभवैकभोगानां वृत्तग्रुवस्वा तेवामेव विशेषं दर्शयितु-मञ्जानां कामकामानां वृत्तमाह---

है विद्या मां सोमपाः पूतापाः यहैरिष्टा संगति प्रार्थयन्ते । ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमञ्जन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ ते तं भुक्त्या सर्गलोकं विशालं स्रीणे पुण्ये मध्येलोकं विशन्ति । पदं अयोधममनुप्रपक्षाः निर्मालं कामकामा स्थान्ते ॥

----

80

ऋग्यजुस्सामरूपासिस्रो विद्याः तिविद्यम् ; केवलं त्रिविद्यनिष्ठात्त्रैविद्याः, न तु त्रय्यन्त-

चेति । अस्च्छन्दोऽल् वर्तमानान्यविषयः । नतु प्रकरणान्तरेज्वि चेतनाचेतनादिविषयत्वमनयोः कि नोच्यत इत्यलाह स्वांबर्धेति । सर्वत्य भगवदात्मकःतं हि प्रकृतमः ; लेकािकक्तममत्ततंमहौचित्याय वर्तमानत्वादिविवक्षायामपि चिद्रचितोर्न त्यागः ; तयोरेव तत्तद्वस्थाविद्रोषविशिष्टलरूपविषयत्वात् । अथवा सर्वेत्यादिकम् , अहं कृतुरित्यायुक्तकृत्सवाचयार्थकथनमनुसंघेयम् । सर्वताद्धीन्यवचनं प्रकृतेनोपासनेन संगमयति एवं बहुधेत्यादिना । विशिष्टकत्विषदि विवक्षितम् ; न पुनः प्रकृयदञ्चापक्ममविभक्तत्वव्रक्षणम् । प्रसुतज्ञानयज्ञत्वस्थारणाय ज्ञानेनानुसन्द्धाना इत्युक्तम् ॥ १९ ॥

सदसचाहमजुनेत्यस्वानन्तरं त्रैविद्याः इत्यादिकमसङ्गतिनित शङ्कायां पूर्वोत्तरानुवृत्तपघट्टकार्थं प्रदर्शयन् संगतिमाह एवं महारमनामिति । महारमनां ज्ञानिनां मगवदनुभवेकभोगानामिति विभिः 'महारमानस्तु', 'ज्ञात्वा' 'अनन्यमनसः' (१३) इति प्रागुक्तसारणम् । 'अवजानितः' (११) इत्याद्यपेक्षया 'महारमानस्तु' इत्यादेः विशेषकथनत्यत्वेऽिष भजनकितादेभैक्तस्वरूपिनस्वपकतया चृत्तमुक्तस्वेद्वकृत्तम् । एवं निरूपितस्वरूपणां तेषां निरितशय्करूरकौकर्यादिकमिमधास्वमानं विशेषो भवितुमहैतीति तेषामेव विशेषविद्यक्तम् । अञ्चानामित्यनेन 'परं भावमजानन्तः' (११) इति प्रागुक्ता एवाल फल्गुफळवादिभिः प्रपञ्चयन्त इति स्वितम् । 'लेविद्या' इत्यल सङ्ख्याविशेष-प्रसिद्धचा लथीधमीमिति वश्यमाणानुसन्धानाच विद्यां विशिषम् समासार्थं चाह ऋग्यजुरिति । तिस्रो विद्यास्माहताः इति द्रष्टव्यम् । द्विगुस्तमास्त्वात् विविद्यमित्येकवद्भावनपुंसकत्वे । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः क्षियां भाष्यते' (अष्टा. वा. २. १. १७) इत्यस्य 'पालादिभ्यः प्रतिषेषो वक्तव्यः' इत्यपवादः । 'तद्धीते तद्वेदः' (अष्टा. ४. २. ५९) इत्यण्यत्यविवक्षयाऽऽह विविद्यनिष्ठा इति । सर्ववेदविषयत्वे विरोधात् कर्ममालविषयत्वज्ञापनाय केवळशब्दः । तदेव विश्वद्यति न तृ तय्यन्तिष्ठा इति । विषयस्यवस्थापनाय पूर्वोक्तानां महास्मनामि वेदैकदेशम्तोपनिषत्वष्ठत्वं सर्वस्यापि वेदस्य तत्तदद्वारा भगवत्परत्वस्वकारां च वदन्, यथावस्थितज्ञानाधीनपुरुषार्थविशेषाभिकाषतदुपायनिष्ठतामालेण विशेषात

निष्ठाः । त्रय्यन्तिष्ठाः हि महात्मानः पूर्वोक्तप्रकारेण निस्तिलवेदवेद्यं मामेव ज्ञात्वाऽति-मात्रमद्भक्तिकारितकीर्तनादिभिर्ज्ञानयज्ञेन च मदेकप्राप्या मामेवोपासते । त्रैविद्यास्तु वेद-प्रतिपाद्यकेवलेन्द्रादियागिकाष्टसोमान् पिवन्तः, पूत्रपाषः स्वर्गादिप्राप्तिविरोधिपापात्पूताः, तैः केवलेन्द्रादिदेवत्यतयाऽनुसंहितैर्ववैर्वस्तुतस्तहूषं मामिष्टाः, तथावस्थितं मामजानन्तः स्वर्गगिति प्रार्थयन्ते । ते पुण्यम् दुःसासंभिन्नं सुरेन्द्रलोकं प्राप्य तत्रतत्र दिन्यान् देवभोगान् अश्चन्ति । ते तं विद्यालं स्वर्गलोकं सुक्ता तदनुभवहेतुभूते पुण्ये क्षीणे पुनरिष मर्त्यलोकं विद्यन्ति ।

सिद्धान्तान्तरनिष्ठत्वभ्रमं च व्यवस्थन . केवळव्यीनिष्ठवृत्तव्याख्यानावसरे तद्यवच्छेद्यमखिळं दर्शयति **लय्यन्तिष्ठा ही**ति । एतेन प्रकरणान्तरेषु चतुर्थी विद्या इति मोक्षसाधनमूता लय्यन्तिवद्यैवोच्यते इति दर्शितम् । यथाऽऽह जनकाय याज्ञवल्बय:. 'एषा ते न्वी(त्वान्वी ?)क्षिकी विद्या चतुर्थी सांपरायिकी' (भा. मो. ३२३. ४७) इति, 'चतुर्थी राजशार्द्रल विधेषा सांपरायिकी' (३५) इति च । वेदप्रतिपाद्येति । कर्मभागमात्रप्रतिपाद्येत्यर्थः । महात्मनामपि विद्याङ्गकर्मगतसोमपानसद्धावात तद्ध-वच्छेदायोक्तं केवलेन्द्रादियागिकाष्टेति । अयज्ञशिष्टसोमपानस्याधर्मत्वात यागिकाष्टत्वोक्तिः । स्वर्गति प्रार्थयन्ते इत्यनन्तरमिषानात् तत्प्रतिबन्धकपापनिरासकत्वमात्नमेवात् सोमपानस्येत्यभिष्रायेण स्वर्गादि-प्राप्तिविरोधिपापात पूता इत्युक्तम् । त्वर्गशब्दोगळक्षणार्थत्वज्ञापनाय आदिशब्दः। पापस्य पूतत्वं नाम निरस्तरवम् : तदेव हि पुरुषस्य पुतत्वमित्यभिशायेण पापात्पुता इति निर्देशः । पापान्मुक्ता इत्यर्थः । खर्गाद्यर्थिनां तत्त्वतो भगवज्ज्ञानाभावस्य, साक्षाद्भगवद्याजिनां भगवत्प्राप्ते:, केवलेन्द्रादियागानामपि वस्तुतः परमपुरुषाराधनरूपत्वस्य, तज्ज्ञानाभावाच तेषां वैकल्यस्य, 'ये त्वन्यदेवताभक्ताः' (९. २६) इत्यादिश्लोकत्रयेण वक्ष्यमाणस्वात् यज्ञैर्मामिष्टेरयेतत् परमप्रवस्य स्वान्सन्धानमात्रमूलं वचः ; न पनः यजमानानसम्धानमूळमिति ज्ञापनायोक्तं **ते**रित्यादि **अजानन्त** इत्यन्तम् । अनुष्ठानस्य फळकामना-पूर्वकत्वेऽपि यज्ञानन्तरमेव हि 'फलं देहि' इति देवतां प्रति प्रार्थनम् : अतः इष्टा प्रार्थयन्ते इति क्रमोपपत्तिः। पण्यक्रियातज्जन्यादृष्ट्योर्लोकसामानाधिकरण्यायोगात् सरेन्द्रलोकस्य फलमालुरूपस्य पावनस्वेना-श्रुतत्वात् प्रभूतदुः,खासंभिन्नत्वस्य च श्रुतत्वात् पुण्यप्रतिक्षेप्यपापकार्यदुः,खनिवृत्तिपरोऽयं पुण्यशब्द इत्यभि-प्रायेणोक्तं दःस्वासभिन्नमिति । पुण्यसाध्यप्तसमयत्वरुक्षणायां वा दुःस्वनिवृत्तिरर्थसिद्धा । पुण्यसाध्यत्व-रुक्षणायां त्वर्थतः पुनरुक्तिस्त्यात् । सुरेन्द्ररोकं प्राप्येत्युक्तेऽपि पुनः दिवीति निर्देशो विचित्रभोगा-श्रयतत्तद्वान्तरप्रदेशविशेषविषयो भवितुमहितीति तत्रतन्नेत्यक्तम् । दिच्यानिति मोहनत्वाय भौमभोग-वैरुक्षण्यकथनम् । दिव्यान् दिवि भवान् ; देवभोगान् देवानां भोग्यानित्यर्थः । देवभोग्यपशुपुरोडा-शादिभौमञ्यवच्छेदार्थं च दिञ्यशब्द: । देवा हि स्ररूपत: कारुतश्च परिमितान् स्वभोगान् स्वयाजि-भ्यस्संविभजन्ते । अश्नन्ति भुक्षते, अनुभवन्तीत्यर्थः । भुक्तवेति छन्छते । विशास्त्रमित्यनेन भौसभोगा-पेक्षया प्रशुरवसूचनम् । स्वर्गलोकं सुबरवेति स्वंगलोकसमवान् भोगान् अनुसूचेत्वर्थः। न हि स्वर्गानुस-बात् बन्यकपुण्यान्तरक्षयः ; कर्मशेषेण[हि ?] विशिष्टजात्यादिपाप्तिः श्रूयत इत्यभिपायेणोक्तं तदन्त्र मवहेत्-भृतेति । एतेन 'स्वर्गेऽपि पातभीतस्य' (वि. ६. ५०) इत्यादि दर्शितम् । मर्त्यशब्देन मुलोकेऽप्यस्थिरत्वं एवं त्रय्यन्तिसद्धज्ञानविधुराः काम्यखर्गादिकामाः केवलं त्रयीवर्ममनुप्रपन्नाः गतागतं लभन्ते अरुपास्थिरखर्गादीन् अनुभूय पुनःपुनन्तिवर्तन्त इत्यर्थः॥ २०—२१॥

महात्मानस्तु निरतिशयप्रिय(?)रूपमिचन्तनं कृत्वा मामनवधिकातिश्चयानन्दं प्राप्य न पुनरावर्तन्त इति तेषां विशेषं दर्शयति—

ाश्रनस्यक्षित्वयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षमं वहाम्यहम्॥ १२ अनन्याः अनन्यप्रयोजनाः, मिचन्तनेन विनाऽऽत्मधारणाळाभात् मिचन्तनेक-प्रयोजनाः मां चिन्तयन्तो वे महात्मानो जनाः पर्युपासते सर्वकरयाणगुणान्तितं सर्वविभृतियुक्तं मां परित उपासते, अन्युनमुपासते, तेषां नित्याभियुक्तानाम् मिय नित्याभियोगं काङ्क्षवोतितम् । एवंशव्दाभिषेतेन प्रकारेण त्रयीशव्दस्य तत्न सङ्कोषं, कामकामत्वे हेतुं च दर्शयित एवं त्रय्यन्तसिद्धज्ञानविधुरा इति । अनुवादोऽयं सक्त्यतो मोक्षानुगुणस्यापि वर्मस्य प्रकारविद्रोशात् पुनरावृतिहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थः । पृर्वः कामशव्दः कर्मणि व्युत्यत्न इत्याह काम्यस्वर्गादिक्तामा इति । मोक्षस्वापि फलतया काम्यमानस्वात् वतोऽत्न सङ्कोचाय स्वर्गादिशव्दः । केवलशव्देन लय्यन्तसिद्धसािक भृतपरमधर्मराहित्योक्तिः । गतं च आगतं च गतागतम् ; तदेव कमन्ते । न हि गमनागमनमालं दोष इत्यत्नाह अन्येति । अनुभवदशायामप्यरुपत्वात् , ''यथा पशुरेषं स देवानाम्'' (वृ. ३. ४ १ ०) इति प्रक्रिययाऽतिशयितव्रह्मादिख्वानुसन्धानेन दुःखत्यम् ; तस्य चारिथरत्वानुसन्धानात् दुःखतरत्वम् ; तस्यव्यादिवायाऽतिशयितव्रह्मादिख्वानुसन्धानेन दुःखत्यम् पुनरावृत्त्यधीनगर्भवास्व्याधिनिरयादिसंभवं तु दःखं वक्तमपि दस्सहम् ; तत्वासंख्यातप्रवाहिमिति भावः ॥ २० – २१॥

उपायस्यापि सुखरूपतया फलस्य च नित्यनिर्दोषनिरित्ययानन्दत्वया महारमानं विशेषोऽभि धीयत इत्याह महारमानिस्त्वति । अनन्यत्विविशेषणयशािचन्तिनस्य निरित्ययसुख् (१) रूपत्वसिद्धिः । मािमत्यादिना योगश्लेमशञ्चविविश्वसित्तमुक्तम् । यद्यपि 'ये त्वन्यदेवता' (२३) इति यक्ष्यमाणावेश्वणे अनन्ययदेवताप्रती तः, तथाऽपि प्रकृतकान्यव्यवच्छेदार्थत्वादुपायसहचरं ततोऽन्यत् फलं व्यवच्छेतुम् अनन्यशब्दः । अत एवैकत्वानुसन्धानपरत्वं चायुक्तमिति दर्शयति अनन्यप्रयोजना इति । तत्न हेतु-माह मिचन्तनेन विनेति । अनन्याश्चिन्त्वपन्त इति समिन्याहारसामध्यिचिन्तनादन्यस्य निषेष-सिद्धिः । निर्विशेषणस्य जनशब्दस्याङ्गितिगण्यतुष्टये जने प्रयोगात् तद्यवच्छेदाय प्रकरणसिद्धमुक्तं ये महारमानो जना इति । तेषामेव हि जननसाफ्त्यमिति भावः । पर्युपासते इत्यत्व प्रयुक्तस्य परीत्यस्योपस्यिःस नैर्श्वययायोगात् तद्वे पित्त इति विविश्वते तस्यैव प्रमाणान्तरसिद्धविशेषं दर्शयिति सर्व-कर्याणेति । प्रतीकोपासनव्यवच्छेदार्थमिदमुक्तमित्यभिप्र।येणाह अन्युनमिति । अत्विष्टितगुणविमूति-

<sup>1</sup> स्वर्गादिफलकांक्षणायोगेषि देहयाताचे हिकापेक्षात्यागः कथमित्यताह अनन्येति ।

<sup>2</sup> माध्ये प्रियेति, टीकायां मुखेति च राब्दमेदः। 3 आकृतिगणतुःये इति । मनिर्दिष्टा-नाम्रणि यत्र प्रष्टुणामिष्टं स माकृतिगणी व्याकरणज्ञास्त्रे । अध्यपदेदये इति यावत् ।

माणानाम्, अहम् मत्त्राप्तिलक्षणं योगम्, अपुनरावृत्तिरूपं क्षेमं च वहामि ॥ २२ ॥

ये त्वन्यदेवतामका यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्यविधिपूर्वकम्॥२३ ये त्विन्द्रादिदेवतामकाः केवलत्रयीनिष्ठाः श्रद्धयाऽन्विताः इन्द्रादीन् यजन्ते, तेऽपि प्वींकेन न्यायेन सर्वस्य मच्छरीरतया मदात्मकत्वेन, इन्द्रादिश्वद्धानां च मद्वाचित्वात् वस्तुतो मामेव यजन्ते ; अपित्वविधिपूर्वकं यजन्ते । इन्द्रादीनां देवतानां कर्मस्वाराप्यतया अन्वयं यथा वेदान्तवाक्यानि, "चतुर्होतारो यत्र संपदं गच्छन्ति देवै।" (य.आ.३.१९.१२) इत्यादीनि विद्यति, न तत्पूर्वकं यजन्ते । वेदान्तवाक्यजातं हि परमपुरुवप्रतिरत्याऽवस्थितानामिन्द्रादीनामाराप्यत्वं विद्यत् आत्मभूतस्य परमपुरुवप्रस्येव साक्षादाराष्यत्वं विद्याति । चतुर्होतारः अप्रिहोत्रदर्श्वपृणेमासादीनि कर्माणा, यत्र परमात्मन्यात्मत्याऽवस्थितं सत्येव वच्छरीरभृतेन्द्रा(तैरिन्द्रा)दिदेवैः, संपदं गच्छन्ति इन्द्रादिदेवा(वता)नामाराधनान्येतानि कमित्यर्थः । अल अहमित्यनेन परमोदारत्वसौदील्यादिगुणविवक्षा । न हि मोक्षकाङ्क्षिणामानुषक्षिकभोगदानेऽपि भोगमदानेऽपि भीसानुप्युक्तशरीरयालादिरूवौ योगक्षेमौ दात्व्यावित्यभित्रायेणाह सद्मासीति । अल्लाव्यामो योगाः ; ल्लावर्षाणं क्षेमा । समाहारार्थस्यादेकवद्धानः । वहामि ददामीत्यर्थः ॥ २२ ॥

सर्वासामपि देवतानां भगवच्छरीरत्वात 'त्रेविद्या माम्' (२०) इत्युक्तप्रकारेण वस्तुतस्ख-समाराधनमिति जानन् भवान् किं न केवलकर्मिणामिष मोक्षरूपयोगक्षेमं प्रयच्छतीत्यत्रोत्तरसुच्यते ये रिवर्त्यादिश्लोकद्वयेन । तुशन्दः शङ्कानिष्टस्त्रर्थः । 'अन्यदेवताभक्ताः' इत्येतत्समभिन्याहारफल्तिम् इन्द्रादीनिति । पूर्वोक्तेन न्यायेनेति । 'मिय सर्वम् ' (७. ७) इत्यादौ, असिन्नप्यध्याये 'मया ततिमिदं सर्वम् ' (४) इत्यादौ चेति भाव: । मामेव यजन्तीत्यन्तं शङ्कितानुवादरूपम् ; शेषं तु विधेय-रूपित्यभिषायेणाह अपि तिश्ति । विधिः सज्ञानद्वारा यस्य पूर्वम्-कारणं, तत् विधिपूर्वकम् ; तदन्यत् अविधिपूर्वकम् ; कथमविधिपूर्वकरवं विहितानामित्यलाह इन्द्रादीनामिति । तन्पूर्वकमिति तथाविध-विध्यनुसन्धानपूर्वकिमित्यर्थः । यथा विद्धतीरयुक्तं विष्टुणोति वेदान्तेति । इन्द्रादीनामाराध्यस्वमालं कर्मभागे प्रतिपादितम् ; तेषामेव यथावस्थितं स्वरूपं वेदान्तेप्विति न विरोधः। साक्षादिति । निरुपाधिक-मित्यर्थः, प्रधानतयेति वा । हिनरुद्देश्यवरमपुरुषिक्षेत्राषणतयेन्द्रादीनामुद्देश्यानुप्रवेशः, यथा प्रतर्दन-विद्यादिषुपास्यानुप्रवेश इति भावः । चतुर्होतारः इत्युपात्तवाक्यस्य कथं प्रस्तुतार्थता ? तलाह चत-होतार इति । उपलक्षणतामभिषेत्योक्तम् अग्निहोत्तदर्शपूर्णमासादीनीति । "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा" ''(य. आ. ३. १० .२) इत्यादिमसिद्धः यत्नशब्दार्थ उच्यते **परमात्मनी**त्यादिना । "यस्यादित्यक्शरीरम् " (वृ. ७. ७. ९) इत्यादिवाक्यानुसन्नानेन तच्छरीरभूतेत्यादिकमुक्तम् । कर्मणां देवैस्साध्या संपत् तदाराधनत्वरूपोऽतिशय एव । स चान्ततः फलसाधनत्वप्रकारे पर्यवसित इत्यभिषायेणाह इन्द्रादिदेवतानामित्यादि ॥ २३ ॥

<sup>2</sup> भाष्योक्तौ योगक्षेमौ प्रति यावद्पेक्षितं देहयात्रदि तावद्प्यर्धादुक्तमेव भवति। तदनु-पयुक्तयोगक्षेमयहनमत्र न प्राह्मिति भावः।

## कर्माणीतीमां संपदं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

अतस्त्रेविद्या इन्द्रादिशरीरस्य परमपुरुषस्याराधनाःग्रेतानि कर्माणि; आराष्यश्च स एवेति न जानन्ति, ते च परिमितफलमागिनश्च्यवनस्वभावाश्च मवन्ति: तदाइ—

रअहं हि सर्वयक्षानां भोक्ता च प्रशुरेव च । न तु मामिमजानि । तस्त्रे शतहच्यवन्ति ते ॥२४ । प्रशुरेव च—तत्रतत्र फलप्रदाता चाहमेबेत्यर्थः ॥ २२ ॥

अहो महदिदं वैचित्र्यम्, यदेकस्मिन्नेय कर्मणि वर्तमानाः सङ्करपमात्रमेदेन केचिदस्यरपफलभागिनश्च्यवनस्वभावाश्च भवन्ति ; केचन अनवधिकातिश्चयानन्द्परमपुरुव-प्राप्तिरूपफलभागिनोऽपुनरावर्तिनश्च भवन्तीत्याह—

> <sup>2</sup>यान्ति देवत्रता देवान् पितृन् शन्ति पितृत्रताः । भूतानि यान्ति भृतेज्याः थान्ति मद्याजिनोऽपि <sup>3</sup>माम् ॥

₹.

त्रतशन्दः सङ्करपवाची ; देवत्रताः दर्शपूर्णमासादिभिः कर्मभिः इन्द्रादीन् यजामहे इति इन्द्रादियजनसङ्करणा ये, ते इन्द्रादीन् देवान् यान्ति । ये च पितृयज्ञादिभिः पितृन् यजामहे इति पितृयजनसङ्करणाः, ते पितृन् यान्ति । ये च 'यक्षस्क्षःपिशाचादीनि भृतानि

अविधिपूर्वकत्वविवरणरूपतां तथाविधसात्यन्तेण्फलयशङ्कापरिहाररूपतां च अहं हीति स्रोकस्य दशेयति अत इति । सर्वशब्देनेन्द्राख्यदेशेन कियमाणानामित्यभिषेतम् । आराष्यश्चेति भोवत्-शब्दाभिषेतोक्तिः । च्यवन्तीत्यनेन कुतिश्चिदिति सिद्धम् । तच तत्तर्कमसाध्यमस्यिरं फलमेवेति यान्तीत्यन्तरस्थोकवशात् वावयान्तराच लव्यम् , तदाह परिमित्तेयादिना । फलस्य परिमित्तं देशतः कालतः स्वरूपतश्च । अतसाद्धागिनां च्यवनस्यभावता । प्रश्चशब्दस्याल 'गिर्दिमर्ता प्रभुः' (१८) इत्यादिष्विय शास्तृत्वादिविवशान्युदासाय योग्यमधेमाह तत्रतन्त्रिति । स्वतं च, "फलमत उपपत्तः" (३. २. ३७.) इति । यथेन्द्राचाराधनत्या प्रयोगेऽपि तलतत्व फलपदोऽहम् , न तथा मदाराधनत्वे स्वत्यः फलमद इरयेवकाराधैः ॥ २४ ॥

एकस्यैव कर्मणः कथं भोगमोक्षविरुद्धफलसाधनत्विमत्यत्न सङ्करपाष्ट्यसहकारिवैचित्र्यात् तदुप-पतिरिति प्राप्यवैषम्यं यान्तीति क्ष्टोकेन प्रदर्शत इत्यभिष्रायेणाह अहो महिदिति । संकल्पभेदात् विचित्तफलसाधनत्वं ज्योतिष्टोमादिप्विप सिद्धम् । वत्रशब्दः संकल्पवाचीति । अत्र संकल्पविशेषाद्धि फलभेद इति भावः । देववताः इत्यादौ यजनं भृतेज्याः इत्यत्न व्रतं चापेक्षया मेल्तिम् । भृत-शब्दस्यात्न प्राणमात्नादिवरत्वव्युदासेन राजसतामसयाष्ट्यवर्गप्रदर्शनाय यक्षेत्यादिकम् । न देवयजन-

मामेषेत्यस्य विवरणं पूर्वाद्यंस् । अविधिपूर्वकत्वविषरणं सतीयपादः । अवतारिका-पृष्टस्योत्तरं चतुर्थपादः ।

<sup>2</sup> अविधिपूर्वकमनुतिष्ठतां च्यवनमुक्तम्। परमात्मशरीरत्वं बुद्धवा विधिपूर्वकमिन्द्रादि-कमुद्दिस्य पूर्णश्चद्रफल्लभाजामपि च्यवनदेव। अच्यवनं त्वनमिस्तंदितफल्लामित्याद यान्तीति।

<sup>3</sup> अपिशन्दात् देववतादीनामिवैषामिष खळिवशेषप्राप्त्याद्यर्थकामः । तत्र नित्यत्वा-नित्यस्यादिवेषम्यं मामित्यादिकस्यम् ।

यजामहे' इति भृतयजनसङ्करपाः, ते भृतानि यान्ति । ये तु तैरेव यज्ञैः 'देविषतृभृतश्रीरकं परमात्मानं भगवन्तं वासुदेवं यजामहे' इति मां यजन्ते, ते मद्याजिनो मामेव यान्ति । देवादित्रताः देवादीत् प्राप्य तैरसह परिमितं भोगं भ्रुक्त्वा तेषां विनाशकास्रे तैरसह विनष्टा भवन्ति । मद्याजिनस्तु मामनादिनिधनं सर्वज्ञं सत्यसङ्कर्यमनविधकातिश्चयासंख्येय-कर्याणगुणगणमहोद्धिमनविधकातिश्चयानन्दं प्राप्य न पुनर्निवर्तन्त इत्यर्थः ।। २५ ॥

मद्याजिनामयमपि विशेषोऽस्तीत्याह--

ग्वतं पुणं फत्रं तोयं यो मे भक्ता भयच्छति । तद्दं भक्ग्युग्द्वतमक्षामि प्रयनातमनः ॥ २६ सर्वसुरुभं पत्रं वा पुणं वा फलं वा तोयं वा यो भक्त्या मे प्रयच्छिति — अत्यर्थमित्रियरवेन तत्प्रदानेन विनाऽऽत्मधारणम्रुभमानत्या तदेकप्रयोजनो यो मे प्रवादिकं द्दाति ; पितृयजनादिवत् क्रियास्वरूपमेदोऽत्नेति ज्ञापनाय तरेवेत्युक्तम् । वावयान्तर्विहितदेवयजनाद्यनुवादेन फल्ठिदोषोऽल प्रदर्थते, न तु ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्फलार्थोपायविवानं क्रियत इति ज्ञापनाय यक्त च्छ्यदिवन्यासेन व्यास्यास्वरूपमेदावन्त्रं । देवेषु त्रतं येषां ते देवत्रताः ; म्नान् विद्याति देवादिव्रता इति । ज्ञापनाय प्रवादिविच्यासेन व्यास्यास्यभेदवचनं तत्तत्समानदेशकालसमानमोगत्वाधीमिति दर्शयति देवादिव्रता इति । ज्ञापनाया पुनराष्ट्रते प्रतिक्षेपः ; सर्वज्ञानित्यनेन विरोध्यज्ञानित्वायाः ; सत्यसङ्करूपित्यनेन त्राप्यानित्यत्वनिवन्यत्वायाः । मक्ताचाविवेय-मित्यितं सङ्करपोऽस्य सत्य एवेति भावः । स्वरूपति पितित्वप्रक्षमोगास्यत्वस्य । पत्नाचिके त्यादिविधेवणद्वयम् । एतेनान्यवैवण्यदेत्तया स्वेच्छोपाधिकपुनराष्ट्रचिटयदासः ॥ २५ ॥

समानेऽप्यायासे पाप्यवैषम्यमुक्तम् ; अश्रोपायवैषम्यमुक्तय इत्याह मद्याजिनामिति । मद्य-जनशीलानामित्यर्थः । अयमपीति । उपास्यसीलम्यातिशयमपुक्तोपायसौक्रयेरूप इत्यर्थः । पत्नपुष्प-फलानां प्राथशो हेतुकार्यभावात् क्रमविन्यासः । तस्य(त्त्तः ?) तत्त्कालानुरूषं यथासंभवं किमपि रूभ्यमिति भावः । पत्नादीनां समासाकरणादसमुच्याच्च परस्परनैरपेक्ष्यं त्यूवितम् ; तद्योतनाय पत्रं वेत्यादि-विकल्पकरणम् । एकेकेन तुष्यित भगवानिति ह्युच्यते, "अन्यत् पूर्णादपं कुम्भादन्यत् पादावनेजनात् । अन्यत् कुशरूकंपश्चाच्च चेच्छति जनार्दनः ॥" (भा. उ. ८७. १३) इति । सर्वाभावेऽपि तोयं रूभ्य-मित्यभिपायेण तस्य पश्चादुक्तः । न क्षेतत् वितःययादिसाध्यतया दरिद्वादीनां दुर्क्यमित्यभिपायेण सर्वसुक्रमित्यभित्रायेण तस्य पश्चादुक्तः । अन्यत् नाहुः "पत्नेषु पुष्पेषु फलेषु तोयेष्यक्रतित्रस्येषु सदैव सत्सु । भक्त्येक्ररूपे पुराणे मुक्त्ये किमय्यं कियते न यत्नः ॥" (गा. प्. २१९. ३४; न. पु) इति । य इति सामान्यनिर्देशेन सापराधनिरपराधजडाजडादिविभागमि न पश्यामीत्यभिषेतम् । वक्ष्यति हि, 'येऽपि स्युः पापयोनयः क्षियो वैदयाः' (३२) इत्यादि । भक्त्येत्वनेन दृष्टाद्वप्रत्यवायपरिहारफलान्यर-

<sup>1</sup> देवाधर्थयागादीनां श्रमसाध्यानामपि भगवदाराधनत्वमुक्तम्, अव्यक्षार्चनादेरपि फुळाधिक्यमादः। 2 भूतानिति । भूतान् प्रेतगणांश्चेति पुंखिङ्गमयोगोऽपि ।

तस्य भयतात्मनः तत्प्रदानैकप्रयोजनत्वरूपशुद्धियुक्तमनसः, तत् तथाविधमक्त्युपहृतम्, अहम् सर्वेश्वरो निखिलजगदुदयविमवलयलीलाऽवाप्तसमस्तकामः सत्यसङ्करपोऽनवधिकातिश्वया-संख्येयकल्याणगुणगणः स्वामाविकानवधिकातिश्ययानन्दस्वानुमवे वर्तमानोऽपि, मनोरथ-पथद्रवर्ति प्रियं प्राप्येवाश्वामि । यथोक्तं मोक्षवमें, ''याः कियाः संप्रयुक्तास्स्पुरेकान्तगत-वृद्धिभिः । ताः सर्वाः श्विरसा देवः प्रतिगृक्षाति वे स्वयम्'' (२५३. ६४.) इति ॥ २६ ॥

यसात् ज्ञानिनां महात्मनां वाङ्मनसागोचरोऽयं विशेषः, तसात् त्वं च ज्ञानी भृत्वा उक्तस्थणमक्तिभारावनमितात्मात्भीयः कीर्वनयतनाचनप्रणामादिकं सततं क्रवीणो स्टौकिकं

हेतुत्वःयवच्छेदः ; तत् व्यञ्जयति अस्यर्थेति । प्रयतात्मशब्दं व्याख्याति तत्प्रदानेति । "तस्य ताम्रतस्यै तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ । सुजातसृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिरसङ्गी । प्रयतेन मया मूर्झा गृहीत्वा ह्यमिवन्दितौ ॥" (मा. व. १९१, १३३) इत्यादिन्त्रिव प्रयोजनान्तररागरूपागृद्धिविरहः प्रयतस्व-मित्यर्थः । पुण्येप्विप फलाभिसन्धिरेव हि मनसोऽञ्जद्धिः । तद्याहः, "तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः खाभाविको वेदविधिन करकः । प्रसद्य विजाहरणं न करकत्वान्येव भावोपहतानि करकः । पा. सा. १. ३०१) इति । भक्तप्रपहत्तिनित पुनः कीर्तनं भगवदादरणीयत्वे हेतुरयमेवेति ज्ञापनार्थम् । तथा च खयमेवाह, "अव्वय्युवहृतं भक्तैः प्रेम्णा मूर्येव मे भवेत (मम भोगाय जायते) । मूर्यप्यभक्तो-पहतं न मे तोषाय (भोगाय) जायते ॥" (भाग. १०. ८१. २) इति । फलामिलाषिणामपि काचित् भक्तिरस्तीति तद्व<u>च</u>दासाय **त**च्छव्द इत्यभिषायेण **तथाविधभवत्यपहत**मित्युक्तम् । पतादि<u>शुद्</u>र-द्रव्यपरिम्रहपरिपन्थिनः प्रकारा अ**हं**शव्देन विवक्षिता इति द्शीयितुं **सर्वेश्वर** इत्यादिकम् । अपिशव्दः प्रत्येकमन्वेतच्यः । सर्वेश्वर इति । यथेन्द्रःदयः सञ्चक्तिवृद्धये हविरादिकं गृह्वन्ति, न हि तथाऽहम् , सर्वगोचरसदातननियमनशक्तिशालित्वादिति भावः । निख्तिलज्यदयविभवलयलील इति । न हि मछीलोपकरणात् बहिर्मृतं पत्नादिकं मह्यं दीयत इति भावः । अवाससमस्तकाम इति । न हि मे अनवासमवासन्यमस्तीत्यभिप्रायः । सत्यसङ्करप इति । न हि ममाशक्यं किश्विदन्येनोपहृतं स्वीकियत इति भावः । अनवधिकेत्यादि । गुणतः स्वरूपतश्च निरितशयानन्दत्रप्रस्य मे कियदिदं पलादिक-मिति ताल्पर्यम् । स्वाभाविकशन्देन हेत्तैरपेक्ष्यम् . वर्तमानशन्देन चानिवर्त्यर्वं विवक्षितम् । ''परिपूर्णोऽपि भगवान् भक्तैर्यिकिञ्चिदीरितम् । सापेक्षवत् तदादत्ते तेन पीतो ददात्यलम् ॥'' (भा. मो. ३५३. ६४) इत्यस्यार्थमभिपयन् आह **मनोरथे**ति । **अशामी**त्यपमोगमातळक्षणा । तेन निवेद्याभावे पत्नादिकमपि निवेधं स्वादिति व्यज्यते । फलान्तरार्थिजनसमर्पितानां "तत्सर्वे देव(कृत्सनं तु तस्य)देवस्य चरणावुपतिष्ठते'' (भा. मो. ३५३. ६३) इति भगवत्पादोपसर्पणसुवत्वा परमैकान्तिजनदत्तानां भग-वताऽत्यादरेण शिरसा प्रतिमहो मोक्षधर्मेऽभिहित इत्याह यथोक्तमिति ॥ २६ ॥

उक्तार्थफिलिवरतया उत्तरश्लोकस्य संगतिमाह यसादिति । महात्मनां विशेष उक्तः ; अभ

## वैदिकं च नित्यनैमित्तिकं कर्म चेत्थं कुर्वित्याह—

यत करोबि यदशासि यञ्जहोति ददाधि यत । यत तपस्यसि कौन्तेय तत कुरुष्व मदर्पणम् ॥ यत देहयाताशोषभतं लीकिकं कर्ष करोपि, यच देहधारणायाश्वासि, यच वैदिकं होमदानतपाप्रमुति नित्यनैधित्तिकं कर्म करोषि, तत् सर्वे मदर्पणं करूव । अर्थत इत्यर्पणम सर्वस लौकिकस वैदिकस च ६ मेणा कर्तृत्वं भोक्तत्वम् आराष्यत्वं च यथा मयि समर्पितं भवति तथा कुरु । एतदुक्तं अवति - यागदानादिषु आराध्यतया प्रतीयमानानां देवादीनां कर्मकर्तभोक्तः तव च महीयत्या मत्सङ्कर्यायत्तखरूपस्थितिप्रवृत्तितया च मध्येव परम-श्रीपिणि परमक्तीर त्वां च कर्शर भोत्कारशस्त्रकम , आसध्यं च देवताजातम , आसधनं च कियाजातं सर्वे समर्पयः तय महित्याम्यतःपूर्वक्रमच्छेपतेकस्मताम् वशास्यादेश्चेततस्य-तत्परिगृहीतं भक्तियोगं दक्तं तदलभूतं बुद्धिविशेषमनुशास्तीत्यिमशायेण इत्थं कवित्यक्तम् । यःकरोधीति श्रोकेन <sup>श्र</sup>त्वभाव-अर्थ-जास्त्रप्राप्तसर्वकर्मरादर्पजनिषयमन्त्रविशेषोऽपि सारितः। इममेव च स्रोकं 'बस्करो-मी'स्यपकस्य भगविति संबुद्धरा त्वदर्प धिनकातं अन्त्रमेव केचिदनुसंद्धते । तत्र यरक्ररोषीस्येतत् नोवसी-वर्दन्यायात् सङ्गचितं स्वभावपाप्तविषयनित्याह् यत् देहेति । अश्वासीत्येतत् अर्थपाप्तवर्गोपलक्षणमित्यमि-प्रायेणाह यच देहपारणायासायीति। यज्जहोपीत्यादेः शास्त्रप्राप्तसमस्तोपलक्षणत्वमुपलक्षणीयसंग्राह-काकारं च दरीयति यच बैंदिकमिति । अत यच्छव्दाः सर्वे करोषीत्यादिकियाविशेषानुदादकाः ॥ अर्पण शब्दस्य भाववाचित्वे व्यधिकरणबहुबी हिक्केसात् तत्पुरुषत्वौपयिककर्मपत्ययान्ततां व्यत्पाद्यति अर्थत इत्यर्गमिति । ''क्रत्यरुपुरो बहुलस्'' (अष्टा. ६. ३. ११३) इति कर्मणि रुपुट् । मर्थ्यर्पितं कुरुवेति शब्दार्थः । अन्यत्र स्थित्य स्थायिनः ततोऽन्यस्मिन् निवेशनं हि समर्पणम् ; तचात्र क्षणिके कर्मणि कथमित्यस्राह सर्वस्थेति । नतु जीवस्यैव कर्तृत्वं भोकृत्वं च, ''कर्ता शास्त्रार्थवस्वात्'' (त्र. २. ३. ३३) इत्यधिकरणे स्थापितम् ; इन्द्रादीनाञ्च आराध्यत्वे श्रुतम् ; तथाच देवतामेदो मीमांसितः ; अतिन्नष्टस्य तिन्नश्रत्वानुसन्धाने आन्तिरेव स्यात् ; तत् कथमीश्वरे तत् समर्पणमित्यताह एतदक्तिमिति । परमक्रतेरीति "परातु तच्छ्तेः" । (ब्र. २. ३. ४०) इत्यधिकरणार्थः सारितः । कर्तारं मोक्तार-माराधकमिति । कियायाः, तत्फळस्य, तत्प्रदातृणां चेति शेषः । परमकर्तृत्वात् कर्तृत्वसमर्पणम् ; परम-कोवित्वादाराध्यत्वादिसमर्पणम् । कर्तत्वादौ त्विय समर्पिते साक्षात्कर्रीर, आराध्यविशेषणमृतेन्द्रादौ च किमनसम्बेयमिति शङ्कायां समर्पः शिक्षयति स्रवेति । भक्तिपकरणात् प्रीतियुक्तत्वोक्तिः ॥ २० ॥

<sup>1</sup> कर्तृत्वं स्वगतं तद्भीनिमित्तं मन्तस्यम् । काम्यानुष्ठानं देवेष्वाराध्यत्वं तद्भीनिमित्यनु-संघानेपि, फलाभिसंधिरहितानुष्ठानं देवतान्तराणामनुसंघियत्वेऽपि परमात्मन्येवाराध्यत्वमनु-संघेयम् । काम्यानुष्ठानमि कुवैत्तः नित्यनिमित्रिकेषु तद्विशेषणतया देवतान्तरे ष्वाराध्यत्वं भावयेयुः । महापरवैक न्तिनस्तु नित्यादौ भगवन्मात्रे आराध्यत्विति विवेकः ।

स्वतावमातं निविषतादिः, अर्थमातं भोजनादिः, शास्त्रनातं विद्वितकमं ।

<sup>3</sup> यत् अशनं यच होमादीत्येवमर्थः।

मानगर्भतामस्यर्थप्रीतियुक्तोऽनुसंघत्स्व — इति ॥ २७ ॥

श्चभागुभफलेरेवं मोक्ष्यसं कमंबन्धनैः । संन्यास्त्रवोगगुक्तामा विजुक्तो मामुवैष्यस्ति ॥ २८ एवं संन्यासारूययोगगुक्तमनाः आत्यानं मच्छेषतामस्त्रियाम्पतैकासं कर्म च सर्वे मदाराधनमतुसंद्धानो लौकिकं वैदिकं च कर्म कुर्वन् शुभागुभफलेरनन्तैः प्राचीन-कर्माष्ट्यैर्वन्थनैर्मन्याप्तिविरोधिमिस्तर्वेर्मोक्ष्यसे : तैर्विज्को भामेशेपैष्यसि ॥ २८ ॥

ममेमं परममतिहोकं खभावं श्र्य-

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे हेर्रोऽस्ति न त्रियः।ये अज्ञान्ति तु मां भक्षा मधि त तेषु चाष्यहम्॥ देवतिर्यञ्जानुष्यस्यावरात्मताऽवस्थितेषु जातितश्राऽः कारता स्वभावतो ज्ञानतश्रात्यन्तो-

संन्यासयोगयुक्तारमेव्यं फळविशानार्थः पूर्वश्चोकार्धानुवादः ; न तु जानकमियोगादिवर इत्यमि-शायेणान्वयमाह एवं संन्यासारुवेति । योगशब्दोऽकानुसंशानवरः । तदेव प्रकृतसमर्पणानुवादिना संन्यासश्वदेन विशेष्यते । आरमानमित्यादि तद्विवरण्य । सौर्यक्रमित्यादि समाय-अर्थमासयोग्धमान्यस्थम् । शु शाशुभपत्तैः अनुकृळपित्व्र्वरण्येदित्यः । अत्यन्तिदिति वहुत्रचनान्धियत्वकथनम् । समर्पणत्रुध्या कियमागस्य वन्धकरवामावात् तद्यवन्द्येदाय प्राचीनद्यवन्द्येद्य । एतेनैव शुभफळ-स्थापि कर्मणोऽतिश्चावितफळपितवन्धकरवात् हेयस्यं निर्कृत्य । मासूर्पेष्यदिर्वरतसान्ध्यति सर्वेदिश्वरक्तम् । मोश्यसे इत्यक्त एवार्थः विश्वकाः इत्यन्यत इत्यपोनरुवत्यः सिमाचेणाह विश्वकत् इति । अत विश्वक्तः शब्दस्य जीवन्यक्तियस्यं वदनतस्वदसंभवादेव निरसनीयाः । कर्तृत्वकळपदत्वादिवत् फळस्वमि सस्य-वत्यमित्रायेण मामेवोपेष्यसीत्यक्तम् । यहा क्रमेण शाष्या दिरुश्वस्यवन्द्येद्यं एवकारः । मामे-वैश्विति (३४) इति च वश्यते ॥ २८ ॥

दुर्लभक्षलभोत्कृष्टापकृष्टादिदृश्यतारतस्यादश्चेन स्वीकारः पश्चिति रक्षीका मोक्तः । तेन सौ-लभ्यमुक्तं भवति । यदश्चोपीत्यादिना कियमाणस्य सर्वतः वृद्धिविशेषमालेण तदाराधनत्वसंपस्या तदेव दृद्धिकृतम् । अथ भक्तियोगाधिकारियशंसनपरे सन्तिऽङ्गिति रहोके तु जात्याकारादितारतस्यानादरेण भक्तेस्तर्येकरस्यमुच्यते । तेन सौशीव्यमुक्तं भवति । कंसादिनियशान , अकृत्यचनुष्रहात् , तरकुरुष्य मद्र्पणम् , मामुपेस्यसीत्याचुक्तंश्च जाता रागद्वेषदङ्गः प्रिलेचस्विभायेणाह् ममेति । अद्दंशव्दो-ऽत्र स्वेतरव्यवच्छेदपर इत्यभिप्रायेण अदिलोक्ष्मित्यक्तम् । ममो इहमित्यस्य मिहाशिरोगः वेषस्य सर्वश्चरदेन विवक्षितमित्यमित्रायेणाह् देवेति । जातितः देवस्वमनुष्यस्यक्र ग्रास्वक्षित्रदस्यते । अद्वयति । अदिलेक्षित्रस्यस्य प्रतिक्षित्रस्यते । अद्वयति । अदिलेक्षित्रस्यस्य विवक्षित्रस्यते विवक्षित्रस्यते । अद्वयति हि, 'येऽपि स्युः पाप्योनयः क्षियो वेश्यःत्रस्य शृद्धाः' (३२) इति । स्वभावतः इत्यनेन सात्त्वकराजसस्यादिकं विवक्षितम् । देवादीनां भगवस्यमाश्चर्यणं 'तदुपर्यपि वादस्यणस्सभवात् ' (त्र. १. ३. २. ५) इत्यधिकरणे समर्थितम् ; तिरक्षामपि गजेन्द्रवानरे-

<sup>1</sup> अवश्यितिष्यस्यकं विशेषणम्। जातित इत्यादभ्य द्वितीय विशेषणम्। द्वितीयविशेषणं यक्रमे प्रयुक्तोऽयं चक्रारः वर्तमानेष्विति द्वितीयविशेषणे योज्यः। अवस्थिनेषु वर्तमानेषु च सर्वेषु भृतेष्विति । अतो न चक्रारायोगः।

त्कृष्टापकृष्टरूपेण वर्तमानेषु संबैंषु भृतेषु समाश्रयणीयत्वे समोऽहम् ; अयं जात्याकारस्वभावज्ञानिदिमिनिकृष्ट इति समाश्रयणे न मे द्वेष्योऽस्ति-उद्वेजनीयतया न त्याज्योऽस्ति । तथा समाश्रितत्वातिरेकेण जात्यादिभिरत्यन्तोत्कृष्टोऽयिमिति तधुक्ततया समाश्रयणे न कश्चित् प्रियोऽस्ति न संबाह्योऽस्ति । अपि तु अत्यर्थमात्त्रय<sup>1</sup>त्वेन मद्भजनेन विनाऽऽत्मधारणालान्भात् मद्भजनैकप्रयोजना ये मां मजन्ते, ते जात्यादिभिरुत्कृष्टा अपकृष्टा वा मत्समानश्चगुणवत् यथासुत्वं मय्बेव वर्तन्ते । अहमपि तेषु मदुत्कृष्टेष्विव वर्ते ॥ २९ ॥

तवापि---

ैअपि चेत् सुदुराचारो भजते शामनन्यमाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

न्द्रादिषु पुण्याधिक्यनिबन्धनज्ञान विशेषकत्य प्रथितम् । तत्मा तिर्यगिधिकरणाविरोधः । स्थावरेष्विप्रधापादिज्ञातेषु क्रिच्छज्ञानं महर्षयः कथयन्ति । तत्थ्य मनोवृत्तिक्यं समाश्रयणं ततापि संभवेदेव । 'न मे द्वेन्योऽस्ति न प्रियः' इत्यस्य प्रतिषेषस्य प्रसङ्गसाकाङ्कत्वात् जात्यादिभिनिकर्षोत्कर्षौ प्रतिषेष्य-प्रसङ्गकतयोक्तावित्याङ् अर्थमिति । तद्द्वेष्यत्वप्रियत्वे हि त्याज्यत्वसंष्राद्यत्वाधि इति तन्निषेधात् तन्निष्यः फळत इत्यनिप्रायेणोक्तम् उद्वेजनीयतया न त्याज्योऽस्तीति, न संप्राद्योऽस्तीति च । समा-श्रयणाधीनप्रियत्वप्रतिष्यभयात् समाश्रयत्वाति रेकेणेत्यक्तम् । यदि, न प्रियत्वहेतुतया प्रसिद्धाज्ञात्यादिभिरत्वकर्षात् प्रयत्वम्, कृतस्तर्हि । यदि न कृतश्चित्, 'स च मम प्रियः' इत्यादिविरोध इति शक्कानिराकरणार्थस्तुश्चद इत्यभिप्रायेणाह अर्थे त्वित । भक्त्या, भजन्ति इत्यन्योः पौनस्वत्यपिर्हारायान्वयमाह अत्यर्थेति । ये इत्यतिदुत्कर्षापकर्षानियनामिप्रायमित्याह ते जात्यादिभिरिति । छल्यानामिवान्योन्यमैकरस्यमिह भयौत्यादिना विवश्चितमित्यनिप्रायेणोक्तम् मत्समानगुणवत् यथासुत्व-मित्यनेनोच्यत इत्यमिप्रायेणाह अद्दमपीित । सौधील्यातिरेकतो मत्तेऽप्युत्कष्टानिवाहं, 'शिरसा देवः प्रित्यत्विति (भा. मो ३५३. ६४) इत्युक्तप्रक्रिया संभावयामि ; ततश्च ते मत्यरमेश्वरत्वाधनुतंषाननिवन्यनस्तिविद्यत्व ने सत्त्वमित्वविद्यत्व इत्यस्तिति । सौधील्यादिरेकते मत्ते विद्यते ते सत्यरमेश्वरत्वाधनुतंषाननिवन्यनसाध्यसिविद्यतः सुतं मां सेवन्त इति भावः । अर्ह च ते चान्योन्यं पित्वादिष्विव न्यस्तमरा इति पिष्टितार्थः । स्वातिपतिनियत्वर्यर्भिक्नानात्त्वप्रक्रवितिरेश्वरिरोधः ॥ २९ ॥

प्वं समाश्रयणस्वीकारे जात्याखपकर्षोऽिकिक्षित्कर इत्युक्तम् । ततश्चोपिर वृत्तापकर्षोऽप्य-किश्चित्कर इत्युच्यते अपि चेदिति श्लोकेनेत्यिभनायेणाह ततापीति । ब्राह्मणाद्याचारः शूद्रादेरधर्मः ; शूद्राद्याचारश्च ब्राह्मणादेः; एवं ब्राह्मणस्य निषिद्धं मधुमांसादिकं शूद्रस्य न निषिध्यते ; शूद्रस्य निषिद्धं कपि-

I भक्तयेत्यस्य अत्यर्थमितिभयःवेनेत्यर्थः। 2 मत्समात्रशुक्तिः नित्यानां मुक्तानाञ्च प्रहणम्। करुपनया वा तथोक्तिः। 3 मामनत्यभाकः भजते चेत्, दुराचारोपि साधुरेषः। स मन्तन्य शयन्वयो नेष्टः। चेदित्यस्य मध्ये निविष्टत्यात्।

वत्रतत्र जातिविशेषे जातानां यः समाचार उपादेयः परिहरणीयश्च, तसादितक्कोऽ-प्युक्तप्रकारेण मामनन्यमाकु भजनैकप्रयोजनो भजते चेतु , साधुरेव सः वैष्णवाग्रेसर एव सः। मन्तव्यः वहमन्तव्यः पूर्वोक्तेस्सम इत्यर्थः । कृत एततः ? सम्यव्यवसितो हि सः — यतोऽस्य व्यवसायः सुसमीचीनः - मगवान् निख्लजगदेककारणभृतः परं ब्रह्म नारायणश्रराचरपति-रसातस्वामी मम गुरुर्मम सुहृत् मम परमं भोग्यमिति सर्वेदंष्प्रापोऽयं व्यवसायस्तेन कतः ; लाक्षीरादिकं ब्राह्मणस्य प्रशस्तम् ; अतः स्वजातिनियमाद्यपेक्षया दुराचारत्वं दोष इत्यभिष्रायेणाह **तत्रतत्वे**ति। विहिताकरणं निषिद्धकरणं चेत्युभयमपि दुराचार इति ज्ञापनाय उपादेयः परिहरणीयश्चेत्युक्तम् । अत चे-दित्यस्य नैरर्थनयादिपरिहाराय दुराचारोऽपि भजते चेदित्यन्वयः पद्भितः । उक्तप्रकारेणेति । सततकिति-नादिनेत्यर्थः । प्रकरणविशेषितोऽनन्यभागित्यस्यार्थो भजनैकप्रयोजन इति । तेनैव देवतान्तरभजनप्रसङ्गो दरिनरस्तः । यथोच्यते. "ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः । प्रतिवृद्धा न सेवन्ते यस्मात् परिमितं फलम् ।" (भा. मो. ३५०, ३६) इति । नन् "आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः" (वि. स.), ''आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'' (शासिष्ठ, ६, ३), ''सन्ध्याहीनोऽग्रचिनित्यमनहिस्सर्व-कर्मसु'' (दक्ष. २ २२) इत्यादिषु सत्सु दुराचारस्य केनाऽऽकारेण साधुत्वमित्यत्नाह वैष्णवाग्रेसर इति। अनुस्यमजनं वैष्णवाग्रेसरत्वे प्रयोजकम् । नन "साधनः क्षीणदोषास्यः" (वि. ३ ११. ३) इति भगवत्पराञ्चरवचनात् क्षीणपापानां च ऋष्णभक्तिस्मरणात् साधुज्ञञ्दोऽत कथं वैष्णवामेसरपर उक्तः : आचारशस्यस्य शिष्टापरिमहादसाधुत्वमेवेत्यत्रोत्तरं मन्तव्यः इत्यच्यत इति दशयति बहमन्तव्य इति । अर्थसिद्धवोद्धव्यतामात्रकथनं निरर्थकम् : संपूर्वत्य मनिधातीश्च वहमतिरर्थः : उपसर्गार्थोश्च धातु लीना इति भाव: । अपरिग्रहे सति खल्वसाधुरवाशङ्का ; न तु सोऽस्तीत्याह पूर्वोक्तेस्सम इति । "विष्णुरेव सूरवा" (यजु. २. १. ३. १६) इत्यादौ साम्येडप्येवकारः प्रयुज्यत इति भावः । पूर्वी-क्तैर्महात्मभिरित्यर्थः । नतु साचारदराचारयोः पृष्कळिवकळोषाययोने तावत् उपायतस्साम्यम् ; तत एव न फलतोडपीति शङ्कायां सम्यगित्यादिकमवतारयति कृत एतदिति । यत इति । हिर्हेताविति भावः । व्यवसायस्य समीचीनतां प्राधान्यतो व्यवसेयविषयविशेषेण विशद्यति भगवानिति । भगवान उमयलिङ्गकः । निरिवलजगदेककारणभूत इत्यनेन ब्रह्मसमाधकं श्रीतं लक्षणमुक्तम् । तेन 'ज्ञारवो भूतादिमञ्ययम्' (१३) इति पूर्वोक्तं च स्मारितम् । सामान्यशन्दस्य विशेषे पर्यवसानं 'नारायण परं ब्रह्म' (ना) इत्यादितत्त्वनिर्णायकवाक्यं चाभिषेत्य पर ब्रह्म नारायण इत्युक्तम् । चराचरपतिः । 'पति विश्वस्थात्मेश्वरम्' (ना), 'पति पतीनाम्' (श्वे. ६. ७.) इत्यादि द्रष्टत्यम् । एवं परत्व-व्यवसायः । अथ सौलभ्याध्यवसायः असातस्वामीति । न बहं तद्विभृतेर्वहिभृतः ; खरोषभृतं मामसौ स्रयमेव स्टब्रुसुपकान्त इति भावः । एवं पदद्वयेन सांसिद्धिकः संबन्धो दर्शितः. अत्यन्तमुर्खस्य मम सम्याज्ञानपदायी महोपकारकोऽयमित्यभिप्रायेण सम गुरुरित्युक्तम् । अनन्तमहापराधज्ञालिनि मय्यपि शोभनहृदयोऽयमित्यभिष्रायेण मम सहृदित्युक्तम् । अतिश्चद्रदुःखमिश्रनश्चरस्रखकणसङ्गिनो मे निरतिशय-निर्दोषनित्यसुखसागरं खात्मानं प्रकाशितवानित्यभिपायेण सम परं भोग्यमित्युक्तम् । गुरुत्वसुहृत्वे तत्कार्यं चानन्यप्रयोजनं निकत्रं धजनं त्यास्ति— अतः साधुरेव ; बहुमन्तव्यश्च । असिन् व्यवनाये, तत्कार्ये चीक्तप्रकारभजने संज्ञे अति तस्याऽऽधारम्यतिक्रमाः स्वरुपवैक्रस्यमिति न तावताऽनादरणीया, अपि त वहुमन्यव्य एवेल्ययाः ॥ ३० ॥

नतु ''नाविस्तो दुर्श्वरिताचः प्रान्तो नासमाहितः । नामान्तसानसो वाऽपि प्रज्ञानेनै-नमान्तुयात् ।'' (क. २. २४) इञान्ध्रितेः आचारव्यतिकम उत्तरोत्तरभजनोत्पत्तिप्रवाहं निकणद्वीत्यत्राह—

क्षिप्रं भवति वर्धान्मा शम्बन्छन्तिः नियन्छति । जीत्तेय प्रतिज्ञानीदि न मे भक्तः प्रणस्यति ॥ मृत्प्रियत्वकारितानन्यप्रगोजनसङ्कजनेन विधृत्रपापदयैव समूलोनमृत्धितरजस्तमोगुणः

प्रापकरवार्षे ; भोग्यसं तु प्राप्यत्वार्थत् ! स्वैद्वेष्णः पे इति आचारवहुळेष्वि ताहशो व्यवसायो न हश्यते । आकरेऽपि शिळाञ्चकळमनुपादेयम् , अवकरेऽपि रत्नमादरणीयमिति सावः। "वहूनां जन्मनामन्ते" (ती.० १९) इति क्षेत्रेष्ठि व्यवसायो चर्चाः। स्वाप्ति स्वारः " "अनेकजन्मसंतरि प्राप्ति च (....१) प्रीमेरिक्ते च रे(२८.२०५) "ये जन्मको.टेनिः सिद्धाः", "अनेकजन्मसंतरिकते प्राप्तकुष्यये । वाक्षणि जायते पुंसां गोविन्दामिस्रासी स्थितः" (....) इति । श्रीकुकं प्रति जनक्षाद्य, "ज्ञानं च व्यवसायश्य ह्रौ परशितपादकौ । व्यवसायात् कते ब्रज्ञ [न् ] नासादाप्रित तत् परम् ॥" (सा. तो. २२४.४७) इति । व्यवसायमात्रेण कथं भजमानिः समानस्वमित्यताह परकार्यं चेति । अञ्जते मानित्यत्व व्यवसायोऽन्तर्गतः, व्यवस्थित इत्यवसायशित् भजनम् । अनन्यभजनमूळ्यहुमन्तव्यस्वहेतुतया हि व्यवसायोऽन्तर्गतः, व्यवस्थित स्थायात् विकळानुष्ठायिवत् विकळानुष्ठाये कथं वहुमन्तव्य इत्यवह अस्थिति । ताहशे पुरुषे स्वव्यक्षकर्यनिमित्तोऽनादर् एव महापराधः स्वादिति मावः । "स्वःः संभाषिते वाऽपि पूजितो वा हिजोत्तम" (इ. स. २२), "स च पूज्यो यथा ब्रह्म्" (गा. पू. २१९) इत्यादिप्रमालसूचनाभिषायेण निगमयति अपि त वहुमन्तव्य एवेति ॥ २०॥

अस्त्वन्येषां बहुमरुव्यः, खख तु कार्योतिद्विरिति शङ्कापूर्वकमनन्तरस्थीकमवतारयित मृतु नाविश्त इति । न केवलं प्राप्तिमालिन्षेवः श्रुौ, अपि तु प्रज्ञानस्यापि निषेभोऽभिष्ठेत इत्यभिषायेयोक्तम् उत्तरोत्तरसजनोत्पत्तिप्रवाहं दिश्याद्वीति । तथाचीच्यते, "पापं प्रज्ञां नाश्यति क्रियमाणं
पुनः पुनः । नष्टपज्ञः पायमेव पुनगरमते द्विजः" (मा. उ. ३ ५. ७५) इति । प्रत्विक्यकरजन्तमोमूल्रम्तवपापनिरासाय द्याचारः ; तस्मिश्च पापं मङ्कनेन विनिद्दते सित नोपासनप्रतिवश्य इत्यभिष्ठायेणाह
मन्त्रियस्वेति । विकलस्य विलन्धसङ्कादिक्षेपः श्रिष्ठाश्वदः । धर्मश्वव्योऽत्व प्रकरणादनन्यमञ्जनपरः ।
आस्मशब्दश्च तत्करणमृतमनोविषयः । 'अनन्यमनसः', 'मन्मना मव' इति हि पूर्वापरम् । मजनमेव

<sup>ी</sup> अर्थ न्ह्रोकः तन्त्रपरिञ्चान्तज्ञकार्यहर्जकः। अतः सिद्धानां अन्तः संस्थितिरित्यर्थे तेषा-भन्तोऽत्र संस्थितिरिति वाडः स्वात् (श्रीपाञ्चनस्थाः १. १८५ पुटेः)। सिद्धान्तवान्ये अन्त इत्यस्य संस्थितिरित्थर्थो न्यायद्शेन । श्रीपीष्करपाठस्तु संत्रति, "तेषाभन्तोऽत्र जन्मनः" इति !

सिंभ धर्मात्मा भवति शिव्रमेव विशेषिरहितसपरिकरमञ्जलनैकमना भवति । एवंस्पभजनमेव हि 'धर्मसास्य परस्तप' (३) इति उत्तक्षये धर्मग्रन्दोतितम् । शश्चन्द्राति निगन्द्रति ग्राश्चती-मपुनसवित्तीं मत्त्राप्तिविशेषमानार्गविद्यति ग्रन्छिति , की तेय स्वयेद्यांसान्नर्थे पृतिज्ञां कुरु-मञ्जकात्रपक्तान्तो विशेष्याचार्थमश्चेत्रपि स नद्यति । एपि हु स्त्रात्तिमहासम्बन्धन सर्वे विशेषिजाते नाग्रयित्वा ग्राश्चर्ती विशेष्टि विश्वतिस्योगस्य श्विष्ठं प्रविद्याप्तिमन्द्रति ॥ ३१

कथं भजनोत्पत्तिपतिबन्धकनिवर्तकरिति चेत्, उल, परिष्टिः जपस्य साध्यत्वात्, भक्तसुपक्रमस्य च हेतुत्वात् : तदेतदाह क्षिपमेनेत्यादिया । नन्यत धर्मश्रद्धो वर्णश्रमधर्मनाहपरः कि न स्वादिखन्नाह एवं रूपेति । सामान्यशब्दस्य शाकरणिकविदो विषयत्वमेत न्यावशम् : प्रयक्तश्चायमेत शब्दः प्रक्रमे भजनस्वपिरोषविषयतयेति भावः । अस्त अजन्यभाषात् पावनिष्टतिः ; वशाऽपि परिनापरहित-बुद्धि-पर्वातवत-दराचारसन्तानः कथं न प्रतिवन्धक इत्यत्वोत्तरं क्षाधारणः अतं विद्यानळ शीति । सन्प्राप्तिनिशे-भ्याचारनिवृत्तिमिति प्रकरणविद्रोपतः सुर्विन्धुरावदार्थः । वितिहानीहि हत्सव ज्ञानमालविधावपसर्गस्य नैरर्थनयात् , ''वास्तोप्पते परिजानीग्रसान् '' (यजु. ३.४.१०.३६) इत्यादिप्वगत्या नैरर्थक्य-स्वीकाराद्वतं च ज्ञानविधेः प्रयोजनाभावात् , प्रतीयमान्यिः ज्ञार्थस्यात्यन्तनिर्गीतत्वस्थापकतयाऽपेक्षित-त्वाचाह कीन्तेय त्वमेवासिकार्थे प्रतिज्ञां कविति । प्रतिज्ञानामीति स्वप्रतिज्ञानादपि प्रतिज्ञानी-हीति श्रोतुरेव प्रतिज्ञाविधानवत्यन्तस्यैयीभिष्ठायिति, <sup>2</sup>व्यञ्जनायोक्तं स्वमेदेति । न मे भक्तः प्रण-**डयती**त्ययं प्रतिज्ञानिषय इति ज्ञापनान प्रश्मिसक्षेत्रं इत्युक्तन् । परिपृत्तीपासकस्य नाशपसङ्गाभावात् 'अपि चेत् सुदुराचारः' इत्युक्तविषवत्याचाय यञ्जसान्तु रक्तस्तो िरोधयात्रार्थमधोऽपीति । उपकारतः मक्तिरपि हि भक्त इत्यच्यते । मकस्य नाशनिषेषः श्रधतितायुक्ततन्यतिश्रष्ठनाशसुरवेन परिपूर्तिपर्य-वसित इत्यमिष्रायेणाह अपि (त्वति । अत्रो शरेचराविष्ट्वान्तो शावः। यथोपरिचरो भगवद्धर्मगास्वितः कदा-चिद्वेवानामृषीणां विवादे <sup>8</sup>षष्टमधादि (ग्रुवादि ?) महर्षि दिरुद्धनन्तमित्रधाय निषतितः क्षित्रं भगवतोदस्तः: यथा च 'उपमानमञ्जेषाणां साधुनां यस्तदाऽभवत् ' (वि. १. १५. १५६) इति प्रसिद्धः प्रह्लादः कदा-चिद्भगवन्तं प्रतियोद्धुं पद्रतस्त्रीत्रं प्रत्यवुध्यत (वान. पु. ७. ८) ; स्था च पापिष्ठः क्षत्रवन्धुर्भगवन्नाम-प्रभावादनन्तरजन्मनि जाति सारन् तीत्रनिर्वेदो भगवन्तं शरणम्पगम्य ह्यम्(व्यम् १)च्यत् (वि. ध. ९७)। <sup>4</sup>डतिशब्दस्य असिन्नेथे इत्यनेनान्वयः॥ ३१ ॥

<sup>1</sup> परपस्मैदिखेऽवि सारणार्थकत्वाभावः रा.कि.४.१. श्रोक इव । अर्थपुष्टिदृष्ट्या च ।

मां हि पार्थ व्यवाश्वित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैद्यास्त्रथा श्रृद्धास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२
कि पुनर्द्राक्षणाः पुण्या भक्ता राजर्पयस्तथा। अनित्यमसुस्तं हो क्रीमधं भाष्य भज्ञ व माम् ॥३३
स्त्रियो वैदयाः श्रृद्राश्च पापयोनयोऽपि मां व्यपाश्रित्य परां गति यान्ति ; कि पुनः
पुण्ययोनयो ब्राक्षणा राजर्पयश्च मद्भक्तिमास्थिताः । अतस्त्वं राजपिरस्थिरं तापत्रयाभिद्दततया
असर्वं चेमं होकं प्राप्य वर्तमानो मां भजस्य ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ भक्तिस्वरूपमाह—

मन्मना भव मङ्गक्को मद्याजी मां नवस्कुरु । माभेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥॥ इति श्रीमङ्गवद्गीतासूपनिषत्यु.....राजविद्याराजगुद्धयोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मन्मना भव मिय सर्वेश्वरेश्वरे निस्तिलहेयशस्यनीककस्याणैकताने, सर्वेजे, सस्यसङ्कर्षे

श्रिविरसुद्दुराचारः इत्यागन्तुक्रवापिकः; अथ जन्मत एव पापिष्ठाना जात्यायपक्षेंऽपि स्वसमाश्रयणमान्नेण फलिसिंद्ध प्रावमस्तुतां प्रवश्चय तत एव जात्याद्युक्षेषं भक्तिपौक्तरुये च कैम्रुतिकन्यायमुक्त्वा
जात्यादिभिरुत्कृष्टस्तं फले निस्सन्देह उपायमारिष्ठेरयुच्यते मां हीत्यादिश्लोकह्येन । स्वीवैद्यस्त्रहाणां
परगतिविरोधितया शक्किताकारानुवादःर्थः पाययोनिश्चन्दः । तत्र ये पाययोनियोऽपि स्युरित्यन्वयः ।
त्रैवर्णिकस्य विद्यादिमतोऽपि वैदयस्य शृद्धादिभिरसह पाययोनिश्चेन परिगणनं सत्नानिधिकारित्वात् ।
ऋत्विज एव हि सर्वे सत्तेषु यजमानाः । आर्त्विजयं च ब्राह्मणस्य । स च सत्नाधिकारित्वात् ।
ऋत्विज एव हि सर्वे सत्तेषु यजमानाः । आर्त्विजयं च ब्राह्मणस्य । स च सत्नाधिकाररूपः उत्कर्षः,
"तस्माद्वाजपेययाज्यात्विजीनः" (यज्ञु १. ३. २. १४) इति क्षित्वयस्यापि श्रुतः । पाययोनिशव्दपतिश्चरस्त्वात् पुश्यशव्दोऽत्व पुण्यशोनियरः प्रदर्शितः । किंदुनिरत्यादि कैम्रुतिकन्ययायादनायासस्यवचनम् । राजर्षिपदर्शनमज्जेनस्य फलसिद्धिप्रतिपादनाश्चीमत्यभिपायेणाह अतस्त्वमितः । राजर्षिशव्देन
सामध्ये व्यक्तितम् ; अस्यिरमित्यादिना त्विधित्वम् । अनित्यशव्दस्य "सततविकिया" (परमसंहिता २.
१८) इत्युक्तप्रकारेण क्षरणस्त्रभावविषयत्वज्ञावनायास्यिरस्यावदः । अमुख्यव्यव्यस्यात पर्युदासदृत्या दुःस्वपरतां सांसारिकमुखस्यापि दुःसकोटिनिवेशात् धुस्तरहित्यपरत्वं चाभिपत्याह तापत्रयेति । इमिनत्यनेन
अतिसुद्धत्वं निर्दिष्टम् । प्रान्येतस्यानुवादरूपताज्ञापनाय प्राप्य वर्तमान इत्युक्तम् । एवमित्यत्वा
युस्तरबुद्धत्वानुदर्शनात् भजनवैमुस्यनिवृतिवर्भिवतीत्यभिष्रायः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

भजस्वेत्युक्तभक्तिस्वरूपिनकर्षोऽनन्तरं कियत इति संगति दर्शयित भक्तिस्वरूपम।हैति । सामान्येन सर्वाष्ठ परिवचास्पास्यतया तदुपयुक्ततया च भमाणशतैः भितपादिताः स्वरूपरूप्पादयोऽत्र अस्वच्छव्देन विवक्षिता इत्यभिपायेणाह मयीति । 'तमीक्षराणां परमं महेश्वरम्' (श्वे. ६. ७), 'न तत्येशे कश्चन' (ना) इत्यादेरश्रमाह सर्वेश्वरेश्वर इति । न झसमर्थसेवया किंचिल्लभ्यते ; न च ब्रक्षाण्डान्तरा-देरनीश्वरा ब्रक्षेशानादयोऽपि मोक्षदानशक्ता इति भावः । ''श्वेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानात् विशुद्धिः परमा मता'' (या. स्य. ३. ३४) इति झुच्यते । हेयास्पदस्य गुणरहितस्य च भजनीयस्वाभावादितर्व्याष्ट्रस्यै तगुणनिर्गुणक्रुगीनां विषयवग्वस्ययोभयित्ज्ञस्वमाह निस्तिस्रेति । समस्तानिष्टनिवर्तकस्वादनन्तनोगय-

निखिलजगदेककारणे, परस्मिन ब्रह्मणि, पुरुषोत्तमे, पुण्डरीकदलामलायताक्षे, खच्छनील-जीमतसङ्खारो, युगपद्दितदिनकरसहस्रवद्यातेजसि, लावण्यामृतमहोदधी, उदारपीवर चतुर्वाही, अत्युज्ज्वलपीताम्बरे, अमल्किगीटमकरकुण्डलहारकेयुग्कटकभृषिते, मयत्वाचायमेत्रोपास्य इति भावः । अनन्तमङ्गलगुणोपलक्षकतया ध्येयलक्षणजगत्कारणस्वनोक्षपदस्वौषयिकं गुणद्वयं **सर्वज्ञे सत्यसङ्ख्य** इत्यक्तम् । ''यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मात् एतत् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" (मु. १. १. ९) इति. 'सत्यकामः सत्यसङ्कलः' (छा. ८. ७. १) इति च । अनिष्टनिवृत्त्यादौ चात्याज्ञातं सहकारिसापेक्षतं च नास्तीति भावः । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्युपक्रम्य, 'तत्विजिज्ञासस्व' (मृ), 'कारणं तु ध्येयः' (अथवी) इत्याद्यमिषायेण निरिवलजग-देककारण <sup>1</sup>इत्युक्तम् । निख्लिञ्जूब्देनाव्यक्तादेत्रीद्यस्य देश्य संग्रहः। व्योमातीत-निर्गुणवादादिनिराकरणं सामान्यविशेषशब्दयोरकैरस्यं चाभिषेत्य परिसन् ब्रक्षणि पुरूपोत्तमः इत्युक्तम् । अनेन सर्वात्मकत्यं सर्विविरुक्षणस्यं चाविरुद्धमुपद्र्शितं भवति । नारायणानुवाकपुरुषम्कादिकं च सारितम् । एतावता विशिष्टं खरूपमुक्तम् ; अथ सर्वशासादिपठितपुरुषसूक्तादिसिद्धं शुभाश्रयप्रकरणपपश्चितं च विम्रह-तद्गुणादिकमुच्यते । "तस्य यथा कृत्यासं पुण्डरीक्रमेशमक्षिणी" छा. १. ६. ७) इत्याचंक्तपरत्व-चिह्नमाह पुण्डरीकदलामलायताक्ष इति । स्वच्छेत्यादिना, 'नीलतीयदमध्यस्था' (ना) इत्यादिकमन्-संहितम् । स्वच्छत्वं मणिमुकुरसिळिकाचादिवत् व्यवहितप्रकाशयतिविम्यादियोग्यः प्रसादिवशेषः । 'दिवि सूर्यसहस्रस्य' (गी. ११. १२) इत्यादि वश्यमाणम् , 'तमेव भान्तम्' (मु. २. २. त्य०) इत्यादिश्रुति चामित्रेत्योक्तं यगपदित्यादि । यद्वा, तेजःपाद्यर्थं प्रतिकृत्रेर्द्धप्रेक्षत्वं चामिप्रत्य यगपदि-त्यादिकमुक्तम् । लावण्येत्यादिना तु तस्यैवानुकुरुभोग्यत्वाकपंकत्वादिकमभिषेतम् । चक्षरादन्दजन-कस्तेजोविशोषो हि लावण्यसः तत इदमुच्यते. ''लोचनैरन्जम्मस्ते तमादृष्टिपथात् पुनः (तदा)। मनोभिरनु-जम्मुश्च कृष्णं प्रीतिसमन्दिताः ॥ अनुसमनसःमेवं तेषां केशवदर्शने । क्षिपमन्तर्देधे शौरिश्वक्षयां प्रियदरीनः" (भा. स. २. २९-३०), "अमृतस्येव नातृष्यन् प्रेक्षमाणा जनाईनम्" (...) "न हि तस्मान्मनः कश्चिचञ्चवी वा नरोत्तमात्। नरः शक्तोत्यपाकषुमतिकान्तेऽपि राघवे॥" (रा. अ.१७ १५) इति । श्रुत्यादिपसिद्धं बाह्नसम्धदारत्वम् और्जित्यमभिमतफलपदत्वं च । यत्र रूपान्तरं न विशिष्टम्, तत्र वर्क्केवेषुदेवनन्दनस्य रूपं विवक्षितम् ; तच सर्वावतारोपरुक्षणम् । चतुर्भुजत्वं भगवतः ऋष्णस्य पररूपस्य सांसिद्धिकम् ; द्विभुजत्वं सहस्रभुजत्वादिकं चाऽऽहार्थमित्याशयेनोक्तं चतुर्वाहाविति । "अथवाऽ-पि चतुर्भुजम्''(....)" भुजैश्रतुर्भिससमुपेतमेतद्र्यं विशिष्टं दिवि संस्थितं च । भूमौ गतं पूजयताप्रमेयं सदा हि तस्मिन्निवसामि देवा: ॥" (भा. मौ. ५. ३४) इत्यादिकमिह भाव्यम् । श्रुत्यादिपसिद्धं दिव्याम्बर-योगमाह अन्युज्जवलेति । मूर्घादिपादान्तदिज्यावयवगतसमन्ताभरणवर्गोपलक्षणतया किरीटाद्यक्तिः ।

मयोश्यरेश्वरे इत्यारभ्य पञ्च विरेषणानि, पश्य मे योगमैश्वरम् , न च मां तानि कर्माणि मयाऽथ्यक्षेण प्रकृतिः, 'बोघाशा मोघकर्माणः', 'बात्वा भूतादिमध्ययम् इत्युक्तवाक्यस्मारकाणि।

कारुण्यसीजीस्य मीन्दर्थमाधर्थगाम् भीयाँदः र्यवात्मस्यज्ञस्योः अनास्त्रीचितविशेषाशेषस्त्रीकः शरण्ये सर्वस्वामिनि तैस्रधाशवद्विच्छेदेन निविष्टमना भव । तदेव विश्वनष्टि--मद्भक्तः अत्यर्थमत्त्रियत्वेन यक्तो मन्मना भवेत्यर्थः । पुनरपि विश्विनष्टि---मद्याजी अनवधिकातिश्वय-प्रियमदनुभवकारितमदाजनवरी भव । यजनं नाम परिप्रणेशेषविः । औपचारिकमा-स्पर्शिकास्यवहारिकादिसक्लभोगप्रदानरूपो हि यागः । यथा मदनुभवजनितनिस्वधिका-तिभयप्रीतिकारितमञ्जनपरो भवसि, तथा मन्मना भवेत्यक्तं भवति । पुनरपि तदेव विभि-नष्टि--मां नमस्करः। अनवधिकातिकायित्रयमिदन्भवकारिनात्यर्थप्रियाशेषश्चेषवन् अपर्यवस्यन ''ध्येयस्सदा'' इत्युपक्रस्य ''केय्रवान् मकरकुण्डळवान् किरीटी'' (नार.६२.१७. शंखस्म्) इत्यादिकमिह द्रष्टन्यम् । **मकरश**न्द्रो मकराकारकण्डलपरः । अपारेत्यादिना सौलभ्योपयोगिनोऽभिताः सन्दर-त्वादिमिश्राः समाश्रयणीयत्वेऽत्यन्तापेक्षिताः स्वरूपरूपयोर्गणा उक्ताः। 'सर्वलोकशरण्याय' (रा. य. १७), 'सुदुष्टो बाऽप्यदुष्टो वा' (रा. यु. १८), 'विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावण: स्वयम' (रा. य. १८ ३७) इत्यादिकमनुसन्धाय कारूण्यादिफलितमाह **अनालोचिते**ति । आश्रितसंरक्षणे खळामं मत्वा अवर्तत इत्यमिशायेगोक्तं सर्वस्यामिनीति । "कृष्णस्य हि कृते मृतमिदं विश्वं चराचरम्" (भा. सभा ४२. २३) इत्यक्तप् । 'निविध्यासितन्यः' (ब्र. ६. ५. ६), 'ध्यायीत' (स्. २. २. ६) 'ध्रुवा स्मृतिः' (छा. ७. २६. २), 'आवृत्तिरसक्कद्ववदेशात् (ब्र. ४. १. १) इत्याद्यनुसन्धानेन मनस्शब्दस्याल ध्यानारूयमनोवृत्तिविशेषविषयतामाह तैलक्षारेति । 'मध्येव मन आधरस्व' (१२.८) इति वस्यते । अतः मामेबेष्यसीति साध्यगतावधारणात् साधनेऽप्यवधारणं विवक्षितमिति गम्यते । तेन चानन्यमनस्त्वादिकं सिद्धम् । तुत्रश्च तैल्ह्यारादिवद्विच्छेदोऽपि फल्ति इति भावः ।

'यमेवैष इणुते तेन रूप्यः'' (क. २. २३) इति श्रुत्युपबृहणतामभिप्रेत्याह तदेवेति । भक्तरिष ज्ञानिक्शेषरूपत्वात् विशेषकत्वसुप्पचत इत्यभिभायेणाह अत्यर्थेति । स्वतन्तार्थान्तरिवधानशङ्कानिरासायाह पुनर्पति । भिक्तर्ष्य क्ष्यम् । क्ष्यं च पत्तं पुष्पम्' (२६) इत्यादिना प्रदर्शितःस भगवच्छास्वपिक्षतस्य संग्रहशासनम् । अतोऽत्र यजिर्दश्येष्णमासादिविषय इति <sup>1</sup>न श्रमित्वयम् । 'यज देवपूजायाम्' इत्येव च पद्यते । 'देवनामुद्दिश्य द्रव्यत्यागो यागः' इति चाहु । अग्रिहोलावित्यतिरिक्तेष्विप पश्चमहायज्ञादिषु यजिर्निरुद्धः । अन्यत्यागो यागः' इति चाहु । अग्रिहोलावित्यतिरिक्तेष्विप पश्चमहायज्ञादिषु यजिर्निरुद्धः । अन्यत्यागो यागः' इति चाहु । अग्रिहोलावित्यतिरिक्तेष्विप पश्चमहायज्ञादिषु यजिर्निरुद्धः । अन्यत्यागो सागः' इति चाहु । अग्रिहोलावित्यतिरिक्तेष्यि पश्चमहायज्ञादिषु यजिर्निरुद्धः । अन्यत्यागो सागः' अतोऽत्र भगवच्छास्तादिः परिक्रतिविषयोऽयं यजिरित्यभिमायेणाह औपचारिकेति । औपचारिकाः नीराजनादयः ; सांस्पर्शिकाः स्वचन्दनादयः ; आदिशव्येन साहिष्ठकरीपादिम्रहणम् । मद्याजीत्यनेन वास्रक्रियारोण्यसम्मनस्यं कथं विशेष्यत इत्यत्याह यथेति । पुनर्पात्याद्यपि पूर्ववन् । पूर्वोक्तादिकस्वप्तं दर्शयितुम्

<sup>2</sup> ६३(वृर्णमासाइयः, विविद्यिन्त यञ्चनत्यादिना भजनाङ्गतया विनियुक्ताः। अर्वनादिकं तु भक्तिपरीवाहत्वाद् अजनान्तर्गतम् अङ्गिकोटिप्रविष्टमिति भावः। वेदा. सं. ता. दीपिका द्रष्टस्या ।

मय्यन्तरात्मित अतिमात्नप्रह्वीभावन्यवसायं कुरु । मर्वरायणः- अहमेत परमयः। यसामौ मर्वरायणःः भया विनाऽऽत्मधारणासंभावनया मदाश्रय इत्यर्थः । एवभारमाने युक्तवा मत्वरायणस्त्रमेतम् अनवधिकातिश्वयत्रीत्या मदनुभवसमर्थं मनः प्राप्य मामैवैष्यां आत्मशब्दो छत्र मनो-विषयः । एवंरूपेण मनसा मां ध्यात्वा मामनुभृय मामिष्टा मां नमस्कृत्य मत्परायणो मामेव प्राप्यसीत्यर्थः । तदेवं लौकिकानि शरीरधारणार्थाने, वैदिकानि च नित्यनैमित्तिकानि कर्माण मत्प्रीतये मच्छेष्वैकरसो मयेव कारित इति कुवैन् सततं मत्कीर्तनयतन-नमस्कारादिकान् प्रीत्या कुर्वाणो मित्रयाम्यं निर्विलजगत् मच्छेष्वैकरसोमित चानुसन्द्यानाः अत्यर्थप्रियमद्गुणगणं चानुसन्धायाहरहरुकत्तलक्षणमिदस्वासनस्वाराददानो मामेव प्राप्यसि ॥ ॥ शतं श्रीभगवद्यसानुजन्नेरायने श्रीमद्री एभाष्ये नव्योऽध्यावः ॥ ९॥

अपर्यवस्यन्नित्यन्तमुक्तम् । अत्यर्थशन्देन दास्यस्य स्वरूपपाप्तता विवक्षिता । अतिमात्रशन्देन तस्य निरतिज्ञायभोगरूपत्वं सूचितम् । त्रिविधपणितिसंग्रहाय णमुधातुस्तरूपनिरूपणेन प्रह्वीमानसञ्दः । "प्रेक्षावत: प्रवृतिर्या प्रह्वीभावात्मिका खत: । उत्कृष्टं परमुद्दिश्य तन्ननः परिगीयते ॥" (अहि. ५२. १०) इति हि नम्इशन्दो विवृतः । ज्ञानविशेषकत्वन्यक्तयर्थं न्यवसायशन्दः । परायणः इत्यतः परशब्द्विशेषणसामध्याद्वधारणं विवक्षितमित्यसिमायेण अहमेवेत्वक्तम् । फल्जिमाह मया विनेति । एवैव भक्तेः परमा काष्टा प्राप्तेरव्यवहितपूर्वभाविनीति फलामिलावज्ञापनार्थो मरप्यापणशब्द इत्यमिपायः। एवंशब्दान् दितमाकारमाह अनवधिकेत्यादिना । आत्मानं युक्तवा इति पदयोरलोचितार्थपदर्शनं मनः प्राप्येति । युजिरत योगार्थः, समाध्यर्थो वा । मन्मना भव इत्युक्तार्थपरत्वम् एवमान्मानमित्यनु-वादेन प्रतीयत इत्यभिप्रायेणाह आस्मग्नव्दो हीति । मनसोऽत्र निर्देशो ध्यानादिकरणत्वेनेति प्रदर्शयन् श्लोकस्य पिण्डितार्थमाह एवं रूपेणेति । निर**ि**शयपी निमतेत्यर्थः । ध्यानादिकं मद्भक्त इति विशेषणात् भोगरूपमित्यनिमायेण मामनुभयेत्युक्तम् । अथ सुखब्रहणायाध्यायमधानार्थमृतसाङ्गो-पाङ्गफळशिरस्कभक्तिस्वरूपं संक्षेपेण निष्कृष्य बदन् उपसंहरति तदेविभिति । तत् तस्मादित्यर्थः ; तव दुःखबहुळसंसारसागरपतितत्वात् , मम च परत्वसौळम्यादियुक्तस्य समलदुःखसागरोतरणसायात्रि-कत्वात् , उपायस्य चात्यन्तसुकरत्वादिगुणयुक्तत्वादित्वर्थः । एवमिनि पूर्वभन्नैरुक्तनकारेणेत्वर्थः । स्त्रीकि-कानीत्यादि कुर्वत्रित्यन्तं यत्करोषि इत्यादेर्यः ; मित्रयाम्यमित्यादिकं मया तत्मित्यादेरमित्रेत-कथनम् ; अत्यर्थाप्रयमद्गुणगणिति समोऽहम् , पत्नं पुष्वम् इत्यादेर्थः । गुणानुसन्धानाद्वक्तेः पुरुषसाध्यत्वं युज्यत इत्यमित्रायेणाह मद्गुणगणं चानुमन्धायाहरहरू उक्षणमिद्धुपासनसुपाद-दान इति । इति मन्वा भजन्ते मामित्यादिकमत्तानुसहितम् । अहरहिन्यादिकं मन्मनाः इत्यादे-विविक्षितम् । आप्रयाणस्वितिद्धचर्थम् अहग्हरित्यादि उक्तम् । उक्तस्रश्चणमिति । अनन्यप्रयोजननमस्कारा-दिप्रेरकमदेकधारकत्वदशापर्यन्तिन्रितशयप्रीतिरूपमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्रीतामाध्यदीकायां तार्वचन्द्रिकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९॥

## अथ दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

भक्तियोगः सपरिकर उक्तः । इदानीं भक्त्युत्पचये तदिवृद्धये च भगवतो निरङ्क्करी-श्वर्यादिकस्याणगुणगणानन्त्यम् , कृत्स्रस्य जगतस्त्रच्छरीरतया तदात्मकत्वेन तत्प्रवर्त्यत्वं च प्रपञ्चयते—

भीभगवानुवाच-

भूय पत्र महाबाह्ये श्रृष्णु मे परमं वचः । यत् तेऽदं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ मम माहात्म्यं श्रुत्वा प्रीयमाणाय ते मद्भवत्युत्पत्तिविदृद्धिरूपहितकामनया भूयो मन्माहात्म्यप्रपञ्चविषयमेव परमं वचो यत् वक्ष्यामि ; तत् अवहितमनादृश्णु ॥ १ ॥

न में बिदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिहिं देवानां महर्षाणां च सर्वशः॥ १ सुरगणा महर्षयश्रातीन्द्रियार्थद्शिनोऽधिकतरज्ञाना अपि मे प्रभवं प्रभावं न विदुः

दशमसङ्गति वक्तं नवमार्थे सप्तमप्रभृत्यध्यायस्यार्थे वा संगृह्याह भक्तियोग इति । "खकल्याण-गुणानन्त्य-कृत्स्नत्वाधीनतामतिः । भक्तयत्पतिविवृद्धचर्था विरुगिणी दशमोदिता'' (१४) इति संग्रहस्रोकं व्याकुर्वन् सङ्गतिमाह इदानीमिति । पूर्वत्र सपरिकरभक्तिशोगल्यूकपप्रपश्चनपरत्या स्वक्रस्याणगुणादेः संप्रहेण कथनम् . इह त तत्वपश्चनमित्यवसरपासिरपौनरुवत्यं च विस्तीर्भेत्यनेन विवक्षितमिति दर्शियतुम् इदानीं प्रपञ्चयत् इति पदद्वयम् । अर्जुनस्य वक्ष्यमाणार्थश्रवणयोग्यत्वं तस्यार्थस्य च (१) परमहितसाध-नत्वादिकं च वदन् सोपच्छन्दनं सावधानयति भूय एवेति श्लोकेन । प्रश्नमन्तरेणापि स्वयमेव प्रतिपादने हेत: प्रीयमाणाग्रेत्यनेनोच्यत इत्यभिप्रयन तादशप्रीतेर्विषयं दर्शयति सम माहात्म्यं **अरवे**ति । बाहुशाल्निां हि परोत्कर्षकथनमस्यावहम् ; भवतस्तु शिशुपालादिन्याकुले जगति भाग्यव-शादीहरी प्रीति: सञ्जातेति महाबाहो, प्रीयमाणाय इत्यनयोर्भाव:। यद्वा बाहुबळात् यथा ते बाह्यशतुविजयः, तथा मद्विषयपीतिबलादान्तरशत्ववोऽपि त्वया जिता इति भावः । प्रकरणादर्थस्वभावाच हितं विशिनष्टि मद्भवत्युन्पतिविवृद्धिरूपेति । "सर्वपापै: प्रमुच्यते" (३) "सोऽविकम्प्येन योगेन युज्यते" (७) इति हि वक्ष्यत इति भावः । उक्तमात्रस्य पुनरभिघाने प्रयोजनाभावात् भूय एवेत्यनेन प्रकान्तगुद्धतमानुबन्ध्यर्थप्रपञ्चनरूपत्वं विवक्षितमित्यमिप्रायेण भयो मन्माहात्म्यः प्रपश्चविषयमेवेत्युक्तम् । एतेनैव वचसः परमत्वे हेतुरिप दर्शितः । शृण्वत एवार्जुनस्य पुनः शृण्विति विधानं विशिष्टश्रवणार्थमित्यभिषायेणाह् तदवहितमना इति । पूर्वमनसूयवे दोषनिवृत्त्या गहनमात-मुक्तमः ; इदानीमुच्यमाने प्रीयभाणाय गुणसंपत्त्याऽतिगहनमुच्यते : अतस्त्वयाऽत्यन्तावहितेन भवितव्यमिति भावः ॥ १ ॥

वश्यमाणस्य ज्ञानत्यातिदुर्रुभरतमादरणीयतरत्वायोच्यते न मे विदुरिति स्रोकेन । सुग्गणाः महर्षयः इत्याभ्यां प्रतिषेधौपयिकप्रतिषेध्यसंभावनास्त्रस्यर्ध्यर्शनिमत्यभिप्रायेणोक्तम् अतीन्द्रियार्थद्शिनोः ऽधिकतरज्ञाना अपीति । प्रभवगोचरवेदनमत्र निषिध्यते ; न तु प्रभवः, विशिष्टनिषेधे गौरवात् , कर्मधीनोत्पत्रेरभावादेव तद्वेदनस्य निषेद्धुमयुक्तत्वात् । अनन्तरं च यो माष्ट्र (३) इति प्रभावज्ञान

मम नामकर्मस्वरूपस्वभावादिकं न जानन्तिः यतस्तेषां देवानां महर्षीणां च सर्वकोऽहमादिः तेषां स्वरूपस्य ज्ञानशक्त्यादेश्याहमादिःः, तेषां देवत्वमहर्षित्वादिहेतुभृतपुण्यानुगुणं मया दत्तं ज्ञानं परिमितम् ः अतस्ते परिमितज्ञाना मत्स्वरूपादिकं यथावन्न जानन्ति ॥ २ ॥

ष आने पारामवर्भ ; अवस्त पारामवज्ञाना मत्स्वरूपादक यथावन्न जानान्त ॥ २ ॥ - वदेवत् देवाद्यचिन्त्यस्वयाथात्म्यविषयज्ञानं मक्त्यृत्पत्तिविरोधिषापविमोचनोपायमाहः—

नमेवोच्यते, न तु जन्मज्ञानम्, अजिमित्येव वचनात् । अत एवावताररहस्यविषयत्वमि न।क्वान्वितम् । प्रपिश्चितं च तत्प्रागेव ; इह त्वन्यत् प्रपश्चयते ; तत्रश्चात्त देविष्मिरप्यवेद्यः ईश्वरे विद्यमानश्च प्रमवः प्रकर्षेण सत्ता—प्रभाव एव भवितुमहितीत्यिभिपायेण प्रभाविमत्युक्तम् । प्रभावं विविच्याह सम नामेति । जन्मविषयत्वे हेतुरनन्वित इत्यभिप्रायेण (१) वित्यतेन हिश्वत्यस्य हेतुपरता दर्शिता । सर्वेद्यः इति न देवादीनां कात्स्न्यमात्रं विविक्षतम्, तस्य बहुवचनासङ्कोचादिप सिद्धेः ; अतस्तदिभिपेतं व्यक्तयति तेषां स्वरूपस्येत्यादिना । कथमसौ प्रभावापित्ज्ञानहेतुरिति शङ्कायामिभिपेतं हेतुत्वप्रकारं विशवयति तेषां देवस्वेति । वैषस्यनैर्पृथ्यपरिहाराथ परिमितत्वसिद्धये च पुण्यानुगुणत्वकथनम् । "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् । कृत आजाता कृत इयं विस्पृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय । अथा को वेद यत आवभूत् । इयं विस्पृष्टिर्थत आवभूत्व । यदि वा दिधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । सो अङ्ग वेद यदि वा न वेदः" (अष्ट २. ८. ९. ७६) इत्यादिश्रुत्यभिप्रायेणाह अत इति । 'यन्न देवा न मुनयो न चाहं न च शङ्करः । जानन्ति परमेशस्य तिद्वण्योः परमं पदम् " (वि. १. ९. ५.५) इत्यादिश्चतिश्च द्वष्ट्या ॥ २ ॥

देवादिभिरप्यवेदनीयत्वकथनत्य वश्यमाणोपयोगं व्यङ्गयन् योमामिति स्रोकाभिषेतमाह तदे-तदिति । यो वेतीत्यनुवादरूपत्वपतीतावप्यर्थतः फलानुवादेनोपायविधाने तात्पर्यमित्यभिपायेण उपाय-

<sup>1 &</sup>quot;यतइति । अनेन" इस्यविलिख्य तथा असंमुद्रय यत इत्यनेनेत्त संस्प्रिष्टमुद्रणादिकमण्युप-पन्नम् । अयमर्थ.—यतइत्यनेन हिराब्द्रस्य हेतुपरत्वं टर्शितम् । तत्वद्शन्य उत्पत्तिपरत्वे हेतुपरिवत इत्यमिपायेणिति । यद्वा अभिपायेणित्यत्र वाक्यसमाप्तिः । पृथेमन्ययसंभवात् । ममनामेत्यादिना प्रभाव य विविच्य कथने प्रभावपरत्वे हेतुप्तिवतः, उत्पत्तिप्रत्वे त्वनिव्त इत्यभिपायेणित्युक्तं भवति । नसु भगवतो देवादिकं प्रति कारणत्वात् ते पतदीयं न जानन्ति स्व्याप्तिपायेणित्युक्तं भवति । नसु भगवतो देवादिकं प्रति कारणत्वात् ते पतदीयं न जानन्ति स्व्याप्तिपत्ति प्रभावं व न जानन्ति स्वाप्तिपत्ति प्रभावं प्रभावं । न ह्यस्त तस्योत्पत्तिः । अथोत्पत्तिपत्तवतारः, सोस्यवेति चेत्—तिर्दे स्वयावोऽस्त्रीते स्यात् । न ह्यस्त तस्योत्पत्तिः । अथोत्पत्तिपत्तवतारः, सोस्यवेति चेत्—तिर्दे स प्रभावेऽन्तर्भून एव । प्रभवशब्दस्य प्रभावार्थक्तं सर्वमतेष्यम् । अलं तत् । किञ्च अस्य इलोकस्यवं प्रजृत्तिः—अदं वक्ष्यामिति किमर्थम्, अन्यसाद्रपद्वं आस्याति न मन्तव्यम्, अन्यस्यवित्युक्तं प्रभाववित्य त्रयाच् वक्ष्यति त्रयाच यतस्ते न विदुः अतोद्वं वक्ष्यामि मत्यमवित्युक्तं प्रभाववित्य कायनः अध्यनं हिशब्दार्थान्वयाभित्रायेण । उत्यत्तेप्रभावादेव ते न विदुरित्युक्तौ प्रभावेऽस्तीत्येव आयते । उत्यत्त्यर्थान्वयाभित्रायेण । उत्यत्तेप्रभावादेव ते न विदुरित्युक्तौ पूर्वेणोत्तरेण चास्य न संगतिरिति ।

यो मामजमनादि च वेत्ति छोकप्रहेश्वरम् । असंमुदस्स मर्हेषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३ न जायत इत्यजः : अनेन विकारिद्रव्यादचेतनात तत्संस्रष्टात संसारिचेतनाच विस-जातीयत्वमक्तम् । संसारिचेतनस्य हि कर्मकृताचित्संसर्गो जन्म । अनादिशमत्यनेन पदेन आदि-मतोऽजान्यकातमनो विसजातीयत्वधुक्तम् । युक्तात्मनो ह्यजत्वमादिमतः तस्य हेयसंबन्धस्य पूर्ववचत्वात तदर्हताऽस्ति । अतोऽनादिमित्यनेन तदन्रहेतया तत्प्रत्यनीकतोच्यते : 'निरवद्यम्' (श्वे. ६. १९) इत्यादिश्रत्या च । एवं हेयसंबन्धप्रत्यनीक खरूपतया तदनहैं मां लोकमहेधरम् लोकेश्वराणामपीश्वरं मत्यें वसंमुद्धो यो वेति : इत्रस्त जातीयत्यैकी इत्य मोहः संमोहः, तद्र-हितोऽसंमृदः स मुद्धकत्युत्पांचिवरोधिभिस्तेवैः पापैः प्रमुच्यते । एतदक्तं भवति - लोके माहेत्युक्तम् । अज्ञञ्चब्दस्य व्यवच्छेद्यपद्रशनाय व्यत्पति तावदाह् न जायतः इत्यज्ञ इति । विशेषण-सामर्थ्यफिलितात् तद्चितात् व्यवच्छेचात् व्यावृतिमाह अनेनेति । विकारिद्रव्यात् तत्संसृष्टादित्युभाभ्यां व्यवच्छेदयोग्यत्वं दर्शितम् । 'अजो नित्यश्शाश्वतः' (श्वे. ६. १९) इत्यादिभिर्नित्यस्य जीवस्य कथ-मचित्संसर्गमात्रेणाजशब्दव्यवच्छेदाविमत्यत्राहः संसारिचेतनस्येति । ईश्वरस्यापि सर्वशरीरतया तत्त-दिनत्संसर्गस्य विद्यमानत्वात् तद्वयुरासाय कर्मञ्जतेत्युक्तम् । मुक्तस्यापि स्वरूपानादित्वमितः ; ततः ह्यजन्त्रमादिमदिति । अजत्ववेषेणानादित्विमह स्यवच्छेद्यस्व[मत्यत्नाह **स**क्तात्मनो विवक्षितम् । खरूपानादित्विवक्षायां तु पौनश्वत्यमिति भावः । मुक्तद्शायामचित्संसर्गो नास्ति, प्राचीनसंसर्गविवक्षायां बद्धादेव्यवच्छेदः स्यात् : अतस्तदानीतनस्वरूपात् व्यावृत्तिः कथमुक्ता स्यादित्य-लाह तस्येति । <sup>1</sup>सहकारिसन्निघौ कुर्वत्स्वभावत्वं, सहकार्यभावप्यक्तकार्याभाववत्त्वमपि हि योग्यते-त्यभिप्रायः । कारुविद्योषावच्छेदरहितनिरवद्यत्वविधायकश्रत्यः च अयमर्थिसिद्धः इत्याहः निरवद्यमिति । अन्वयार्थमाह एवमिति । देवैर्महर्षिभिश्च दुर्लमं ज्ञानं मन्द्रश्चेषु मर्त्येषु भाग्यवशात करणविज्ञायत इति निर्धारणार्थत्वमुचितम् । उत्तरार्थे च फलनिर्देशेनासंमुद्धनत्यशाद्धयोः समुचितान्वयो नास्ति : ''यो मामेवम-संमृहो जानाति पुरुषोत्तमम्" (१५. १९) इति च वश्यमःणच्छायाऽत युक्तेत्यभिप्रायेण मःयेष्वसंमृहो यो वेत्तीत्युक्तम् । असंमृदशब्दार्थं वश्तुसुपसर्गाभिष्रेतमर्थं व्यक्तयति इतरेति । "एतां विमूर्ति योगं च मम यो वेति तत्त्वतः । सोऽविकम्प्येन योगेन युज्यते नात्न संशयः" (७) इत्यनन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वात् अत्नापि तद्वपयक्तपापविमोक्ष एवाभिवेत इत्यभिषायेण मद्भवस्यस्पत्तिविरोधिमिरि-त्यक्तम् । छोकमहेश्वरे परिसान् प्रतिपन्ने च अप्रतिपन्ने च न संमोहपसङ्गः : येन तन्निषेधस्यात् । कथं च ब्रह्मरुद्रसनकादिषु जीवरसु परमपुरुषस्यैव लोकमहेश्वरत्वम् : कथं वा बद्धमुक्तविलक्षणत्वेऽपि नित्यस्रिवर्गात् व्यवच्छेद इत्यादिशङ्कायां संमोहोदयतदभाषप्रकारौ विष्टुणोति एतदक्तांमति । तत्तद्धि-पतीनामपि छोके तत्तत्सजातिदर्शनादलापि सामान्यतोऽवगते शङ्कावकाशः । मनुष्यदेवाधिपतिप्रभृतिवत् अण्डाधिपतिप्रभृतेरपि कर्मविशेषम्, रूपरिमितदेशका रुविषयभगवत्सं करुपाधी नैश्वर्ययोगितया भगवत एव

<sup>1</sup> प्वमेब न्यायकुसुमाञ्जलाबुदयनावार्थः।

मनुष्याणां राजा इतरमनुष्यसजातीयः केनचित् कर्मगा तदाधिवत्यं प्राप्तः ; तथा देवानामधिवतिरिषः ; तथाऽण्डाधिवितिरपीतरपेनारिप्तजातीयः ; तसाषि मावनाहयान्तर्गतन्वात् ।
थि व्रक्षाणं विदधातिः (खे. ६, ८) इति क्षुतेश्च । तथाऽन्येऽपि ये केचनाणिमाद्येश्वर्षे प्राप्ताः ।
अयं तु लोकमहेश्वरः कार्यकारणावस्थादचेननाद्वज्ञःन्द्रकःच चेतनात् ईश्चितन्यात् सर्व
सानिश्चिलहेयप्रत्यनीकानविधकातिश्चयात् स्वियक्षः । गुणैकतानत्या नियमनैकस्यावत्याः
च विसजातीय इतीतरसजातीयतामोहरिहेनो यो मां वे.च, स सर्वैः पाषैः प्रश्चन्यने इति ॥ २

एवं स्वस्वभावानुबन्धानेन भक्त्युत्पत्तिविशेषियापनिरसनम्, विरोधिनिरसना देवार्थतो भक्त्युत्पत्ति च प्रशिपाद्य स्वैश्वर्यस्वक्रत्याणगुणगणप्रपश्चानुसन्धानेन मक्तिः विद्वद्विप्रकारमाह—

े बुद्धिशीनमसंभोदः शया सत्य यमः रामः। सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ अद्दिमा समता तृष्ट्रिस्तयो दानं यशोऽयदाः। भवत्ति भावः भृतानां मस एव पृथीववाः। ५

उत्तराविधरहितमैश्चर्यम् । लोकमहेश्वरशान्देन सर्वगोचौरश्चर्यः विवक्षितत्वादेव नित्यानामपि व्यवच्छेद-सिद्धिरिति भावः । सजाठीयस्य कथमधिकत्वसिद्धिरित्यत्रोक्तं केन्निकर्मणेति । कथमण्डाधिवतेः तद्धीनस्वरूपस्थितिषवृत्तिभिरितरसंसारिभिस्साजात्यमित्यलाह तस्यापीति । कर्मभावना, ब्रह्मभावना, उभय-भावनेति भावनात्रयम् । तेषामपि भावनात्रययोगादिकं भगवन्यराज्ञरज्ञौनकादिभिः प्रपश्चितम् । यथा हिरण्यगर्भादीनुष्कस्य, "अग्रद्धास्ते समस्तास्तु देवाद्याः कर्मग्रोनयः" (वि. ६, ७, ७७) इति. "आब्रह्मस्तम्बर्पयन्ता जगदन्तःर्यवस्थिताः । प्राणिनः कर्मजनितसंसारवज्ञायर्तिनः । यतस्ततो न ते घ्याने ध्यानिनासुपकारकाः" (वि. ध. १०४. २२) इति । प्रत्विद्धैरनुपारक्वं भगवदधीनत्वं च पञ्चम एव वेदे सुव्यक्तम् , ''ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याध्यान्या देवताः समृताः । प्रिवृद्धा न सेवन्ते यस्मारपरिमितं फलम्", "एतौ हो थिव्धश्रेष्ठौ प्रसादकोधजौ स्मृतौ । तदादिशितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥" (भा. मो ३५०१९) इत्यादिभिः । भावनात्रयान्वयेन सह हिरण्यगर्भस्य कार्यत्वादिसमञ्जयार्थः चशब्दः । सनकसनत्कमाररुद्रादिबह्यकुमारुदर्गमभिषेत्याह तथाऽन्येऽपीति । अणिमादीति । "अणिमा महिमा च तथा रुघिमा गरिमा वशित्वमैश्वर्यम् । प्राप्तिः प्राकाम्यं चेत्यष्टैश्वर्याणि[योग]युक्तस्य ॥ तानि च कर्माधीनभगवरसङ्करुपाधीनान्येव । रौद्रस्याणिमांचैश्वर्यस्य कचिदकुत्तिमत्वोक्तिरपि जन्मप्रभृति-सिद्धतामाह । अन्यथा, "महादेव: सर्वमेधे महात्मा हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो वस्त्व'' (भा रा. २० १२) इत्यादिभिर्विरोघात । लोकशब्दी लोवयत इति व्यत्पत्त्या सर्वसंप्राहक इत्यभिप्रायेणाह कार्येति । निस्ति छेत्यादिकं महत्त्छञ्दस्याभिषेतविवरणम् : नियमनैकस्वभावतयेति ईश्वरशब्दस्य ॥ ३ ॥

भक्तपुरविचिवृद्धचर्या इत्यत्न विविक्षितं विवृण्वन्तुक्तेन तत्फल्तिने च वश्यमाणप्रकरणस्य च सङ्गतिमाह एवमिति । बुद्धिज्ञानशब्दयोः पौनस्वत्यपरिहाराय बुद्धिमत्त्वाञ्जानातीति प्रयोगानुसारेण

बुद्धिः मनसो निरूपणसामर्थ्यम् , ज्ञानम् चिद्चिद्धस्तुविशेषविवयो निश्चयः, असंमोहः पूर्वगृहीतात् रजतादेर्वियजातीये सुक्तिकादिवन्तुनि सजातीयतावृद्धिनिवृत्तिः; अमा मनी-विकारहेती सत्यप्य विकतमनस्त्वमः सत्यम् यथादृष्टविषयं भूतद्वितरूपं वचनम् । तदनुगुणा मनीवृत्तिहि।भित्रेता, मनीवृत्तिप्रकरणात् । दमः बाह्यकरणानामनर्थःवेषयेभ्यो नियमनम् : शमः अन्तःकरणस्य तथा नियमनम् ; सुखम् आत्मानुकूलानुभवः ; दुःखम् प्रतिकृतः।नुभवः : भवः भवनम् ; अनुकूलानुभवहेतुकं मनसो भवनम् ; अभावः प्रतिकूलानुभवहेतको मनसो-शक्तिरुक्षणया, बुध्यतेऽनयेति ब्युरपत्या वा हेतुकार्यपरतया व्याख्याति बुद्धिर्मनसो निरूपणसा मर्थ्यमिति । असंमोहासत्त्या तद्धेतुम्तं ज्ञानमिह विवक्षितमित्यभिपायेणाह ज्ञानं चिदचिद्धस्त-विशेषविषयो निश्चय इति । बुद्धिज्ञानशब्दयोरध्यवसायमोक्षधीविषयत्वेन व्याख्यानं शब्दद्वय-सङ्कोचादिनसङ्गादनाहतम् । विजातीये सजातीयताबुद्धिः संमोहः ; तद्दाहर्गते पूर्वेति । पूर्वगृहीतात-आपणादिनिष्ठतयाऽनुभूतादित्यर्थः । इदं च सर्यमाणाध्यासोदाहरणम् । न कोपारुयविकाराभावमात्रेण सुष्प्यादिषु श्वमाशब्द:, अपित कोपहेतुषु सत्स तद्मावे तत्प्रयोग इत्यमिषायेणाह मनोविकारेति । क्रोधहेताबाक्रोशताङनादौ सत्यपीत्यर्थः । नन् कथं हेती सति तत्कार्यनिवृत्तिः : तथात्वे तस्य हेत्रत्व-मेव हीयेत ॥ उच्यते । न ह्यवश्यं हेती सति कार्थेण भवितःयमिति नियमः ; अपितु प्रतिबन्धकरहि-तायां सामग्रचां सत्याम : अन्यथा प्रत्येकं हेत्नां. प्रतिबद्धानां च तत्तत्कार्यजनकरवे कार्यस्य सदा-तनत्वसावित्रिकत्वप्रसङ्गातः ; नित्यविभोध्य कारणस्य सद्भावातः तर्हि कः क्षमाया विस्मय(१) इति चेतः , यथा मणिमन्त्रादिभिः स्कोटसामग्री स्तभ्यते, तथा प्रबल्धिकेकारूयप्रतिबन्धकेन कोपसामग्रजा दर्नि-वारायाः स्तम्भनादिति भावः ४ वस्त्रसत्यत्वस्य यथार्थ (सत्यत्वस्य वस्तुयथार्थः ?) द्रशनमप्यपेक्षितम् , तथाऽपि यथादृष्टवचनमाले वनतुनीपराधः, अमस्य दैवागतत्वादित्यभिष्रायेण यथादृष्ट्विषयमित्येताव-दक्तम् । परानर्थहेतोः "सत्यं भूतहितं श्रोक्तम् " (च्या. स्म) इत्यादिभिः सत्यत्वप्रतिक्षेपात भतहित-रूपमिति विशेषितम् । भावशब्दस्य मनोवृत्तौ असिद्धिप्रकर्षवलम् अग्रयपायनयं चाभिषेत्य सत्यशब्दस्यात लाक्षणिकत्वमाह तदनगणेति । श्रमदमशब्दयोरेकैकस्योभयनियमनाभिधान<sup>1</sup>सामर्थ्येऽपि गौनस्वत्यपरि-हाराय विषयभेदे वक्तव्ये नियमनक्रमेण दमशमयोबीह्यान्तरकरणविषयत्वोक्तिः । ज्ञास्त्रीयेभ्यो नियमनस्य निषद्धत्वात् अन्धिविषयेभ्य इत्युक्तम् । तथेति । अन्धिविषयेभ्य एव । अनुकुळत्व-मातं प्रतिकृत्रत्वमालमेव च स्रखदः खयोर्ठक्षणम् ; तथाऽपि मनोवृत्तिरूपत्वसिद्ध्वर्थमनुभवशब्दः । सुखुद:खमयाभयमध्यपठितत्वात् भवोऽभावः इत्यतापि परस्परविरुद्धार्थविषयत्वं संभवत् अपरित्याज्यमः ततश्च भवभावराब्दयोः प्रत्ययभेदमालमेव, न त्वर्थभेदः। तल चामाव इत्येव पदच्छेदः। तयोरपि मनोवृत्तिस्वरवं वक्तव्यम् । पस्तुतयोरेव च सुखदु:खयोस्तद्धेतुःवमुचितम् : अत एव मानोऽभिषायः 🕹 इत्यादि परव्याख्यानं मन्दम् । तदेतदिललमिभेत्याह अनुकुलेति । भवनिमिति उद्धर्षोऽल विवक्षितः.

<sup>1</sup> जमयसामर्थंऽसङ्गावः भाष्य (16. 2, 18, 42) एव शायते। तते शिष्टं द्रष्टःयम्।

वसादः; भथम् आगामिनो दुःखस्य हेतुदर्शनजं दुःखस्; तिश्वशृत्तः अभयम्; अहिंसा परदुःखाहेतुत्वम्; समता आत्मिनि सुहृत्तु विपक्षेषु चार्थानर्थयोस्सममितित्वम्; दुष्टिः सर्वेष्वात्मसु दृष्टेषु तोपस्वभावत्वम्; तपः श्वास्त्रीयो भोगसङ्कोचरूपः कायक्केशः; दानम् स्वकीयभोग्यानां परस्मै प्रतिपादनम्; यशः गुणवत्ताप्रथा; अयशः नैर्गुण्यप्रथा । एतचोभयं तद्तुगुणमनोवृत्तिद्वयं मन्तव्यम्, तत्वप्रकाणात् । तपोदाने च तथा । एवमाद्याः सर्वेषां भृतानां भावाः प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतवो मनोवृत्तयो मत एव मत्मङ्कर्णयत्ता मवन्ति । ४-५॥

अवसाद्यतियोगिरवात् । अनवसादानुद्धर्षे हि सहोक्तौ <sup>1</sup>वाक्यकारेण, "तह्नव्धिर्विवेकविमोकाभ्यास-क्रियाकस्याणानवसादानुद्धेषेभ्यः'' (छा च्या.) इति । सुखुद् खशब्दाभ्यां पौनरुक्त्यःयुदासाय **मयाभय**् शब्दयोस्तद्विशेषविषयतां दर्शयति आगामिन इति । आगामिपत्यवायोत्प्रेक्षा प्रकारिक लक्षणेऽपि हस्यैव ज्ञानिविशेषस्य प्रिकृत्वहृष्यस्वादृद्ःसरवम् । न ह्यन्यो जन्नास्या गुर्गोऽसाद्दीने । पगद्ः-खाहेतुस्वमित्यल दुःखशब्देनाहितं निवश्चित्रः, ।चौकत्सादौ हितरूपदुःखकरणस्य हिंसात्वामावात्। प्रविश्वतं चैतत् प्रागेव (१. १८.) । अभयःहिंतयोरभावरूपयोरिष भावान्तरत्ववेषेण मनोवृत्तिरूपत्व भाव्यम् । समस्वप्रकारेषु बहुरु सस्विपि, हिंसान्षिधासङ्गात् हिंसाविषयम् तशत्नुस्मृतिजाताः; ततश्च द्वेषाद्यमावेन शल्मिला दसाम्य प्रदेशान्तरप्रवितिमह विविक्षितिमत्यिभप्रायेणाह आत्मनीति । 'सममितरात्म-प्रहृद्विवक्षपक्षे' (হি. ২. ৩. २०) इति भगवत्पराग्नस्वचनमिह तत्तत्पर्दे: स्मारितम् । अर्थानर्थयोरिति । आरमार्थवरार्थवोरात्रानर्थवरानर्थवोश्चेत्यादि भःच्यम्। तुष्टेस्समतासहपाठात शृत्यां समृद्धिमतामपि संमहाय सर्वशब्द: । सर्वत्न सन्तोष एव इ. तमनः स्वार्तिकः प्राप्तः, प्रातिकूरुयमावनाष्ठ्रगध्यधीनं हि वैरादिक मत्यभि-प्रायेण तोपस्यभ बन्विनिस्युक्तम् इदं च मैञ्यादिषु <sup>2</sup>चतुर्षु मुद्रित रूथचितपरिकर्म । बाह्यागमादिम्*रू*क्केशस्य त्रपस्त्वत्यवच्छेदार्यंक्तं भास्त्रीप इति । शास्त्रीयस्येत्र भोगसङ्कोचस्य व्याध्यादिवशात् अक्केशात्मकत्वे तपस्त्वं नास्तीति व्यञ्जनाय कायक्केश्च इत्युक्तम् । दाने परकीयानाम् , खकीयानामि हेयमूनानां व्यवच्छेदाय स्वकीयभोग्यानामित्युक्तम् । पग्रमे प्र<sup>तिपादनं पग्रस्</sup>तवापादनमित्यर्थः । अयग्रहशब्दे नञो विरोधिवरत्नं प्रयोगप्रकर्षसिद्धमाह नैर्गुण्यप्रयेति । सदोषत्वप्रयेत्यर्थः । प्रथात्वमात्रसुभयसाधारणम् ; अतो गुणवन्त्र<sup>के</sup>र्गुश्याभ्यां विशेषणम् । **एनचे**त्यःदिकं पूर्ववत् । सिंहावलोकितकेनाह **तपोदाने च** तथेति । मनोर्श्वातिभिशोषावित्यर्थः । उक्तमालव्यदासायोगरुक्षणतामभिषेत्याह एवमाद्या इति । अभि प्रायेऽपि भावशब्दश्योगादल **भाव**शब्दस्य मनोवृत्तिविषयता । सर्वेषां कर्तृकरणादीनां प्रवृत्ते: स्वाधीनत्वे-ऽपि मनोग्रन्त्युदाहरणं पाकरणिकभक्तिरूपमनोगृत्तेरपि खसङ्कल्पमूळत्वज्ञापनार्थम् । प्रशृतिनिग्रन्त्योरस्राधीनत्वे कैमुत्यार्थमाह प्रवृत्तिनिवृत्तिहेनव इति । मत्त एवेत्यत परोक्तसन्निधिमालादिन्युदासाय पश्चम्यवगतं हेत्रत्वं न्यापारमुखेनेत्याह **मत्सङ्करपे**ति । पृथयिषधानां परस्परविरुद्ध नामप्यहमेको हेतुरिति **एव**काराभिपायः ॥

<sup>।</sup> ब्रह्मन-रक्ततम्य छा दोश्यव्यास्य नास्यामित नाम। वोघायनस्तु सूत्रव्यास्यास्त्यवृत्तिकारः। 2 मैकी करुणा मुदिता उपेक्षा इति चत्वारि विज्ञपरिकर्माणि योग

सृष्टिस्थितिहेतुतया प्रांसद्धेषु महत्स्विप हेतुभृतेषु स्वतन्त्रत्वशङ्का न कार्या, अन्यसङ्करप-प्रसूतज्जिः क्रिक्टलम् छत्वमनुसन्धेयमित्यस्योदाहरणतयाः **मदर्ष्**ष्ट्रः इत्युच्यत इत्यमिषायेणाह सर्वस्येति । येषां लोक इमाः प्रजाः इत्के क्षिप्रेतकथनं सर्वस्य भूतर्जातस्येत्यादि । सृष्टिः स्थरयोरिति महर्षिषु मनुषु च कमादन्वेतव्यम् । सप्तर्षीणां पूर्वत्वावद्दे जन्निविश्वतमः ह अतीतमन्बन्तर इति । सम्बादय इति 'महर्षीणां भृगुरहम् ' (२ ५) इति तत्प्रधानत्वं हि वक्ष्यते । 'सित बक्क्न हत्येते पूराणे निश्चयं गताः' (वि. १. ७. ६) इत्यादिसारणाय **सप्त**शब्दः । अधियनरणे वरणीयानां गोलाणां प्रवर्तीयतार इत्यभिपायेणाह नित्यस्प्टिप्रवर्तनायेति । नैमितिकसृष्ट्यादिव्यवच्छेदाय नित्वशब्दः । ब्रश्नणो मनस्यंभवा इति । सौबाले(1.) 'स मानसान् सप्त पुत्नानस्रजत्' इत्यादि । ननु ब्रह्मदिवसे चतुर्दश मनवः कमादधिक्वीति. एकस्मिन् मन्वन्तरे एक एव ; तत् कथं चत्वार् इति । अलार्ह् ये च सावर्णिका नामेति । ब्रह्मसावर्णो रुद्रसावर्णो धर्मसावर्णो दक्षसावर्णः इति दक्षस्य दुष्टितरि तैश्चत्रिर्मानसा जनिताः । मद्भावाः इत्येतावदत्र विधेयम् ; अन्यत् सर्वे पुराणादि[प] सद्भमनूद्यते इति ज्ञापनाय यच्छव्दः । मन्तानमय इति । 'जनो लोकः शोक्तः' इति पाठालोकोऽत्र सन्तानः । येषां लोके जाताः यत्पुत्रपौतादिभ्यो जाता इत्यर्थः । इमाः इति निर्देशः कालान्तर्विनित्यंस्रष्टेरपि संप्राहकः: न त व्यवःसकः, ईश्वरस्य तलाप्यापरोक्ष्यः दित्यभिषायेणाह प्रितिक्षणमाप्रलयार्थितः उत्पादकाः पालकाश्चीत महर्षीणां मनूनां च यथाकमं निर्देश: । उत्पादकाः इत्यादिस्नीलिङ्गपोद्धे तु तत्तत्वजाः भिविधासंभवमन्वयः । मम यो भावस्य एव येषां भाव इति । भावसामानाधिकरण्यक्रीळिजीक्तिरियम् । मध्यमपदलोपी वा समासः । राज्ञो भाव एव किङ्करस्य भाव इतिवत् अभिप्रायसान्यापेक्षेत्र ऽयं व्यपदेश

<sup>1</sup> ननु मल गते न कथम , अन्ये गमुग्यस्यादिमगोज । व प्रान्तव्याद्वाचार महावैय इति । 2 सावर्णिका इति । 'स मनुनां समाहारो ब्रह्मश्चादमेदिनाइ' (अ. वु सं ०, १) दिति पाञ्चगानादौ विभादिवर्णचनुष्यदैनवह्वस्वारो पनव मवर्णोकास्त्राः प्रतिद्धाः इति ते वां प्रक्रणे प्रवामिष दश्चदृद्धन् ग्रह्मश्चरूपविद्येषम् स्वार्णिकस्यं तथोपयः चत वैति विसुद्यम् । पर्वाञ्च सनु- स्विष् पूर्वत्यान्ययेऽपि न श्चित । पूर्वे भगवदधोनाइचेत , उत्तरे किमुन । 3 स्ब्रीक्षिगपाठे येष्मापिति यच्छद्दश्चित्रवाद्यं अन्योग्यन्यवाद्यं भन्ति।तं स्वव्यः । पुर्विभावते तु विग्रिस्त्रादि प्रजाहित्यः प्रतिस्वारम्य सन्वद्यदेख्यनं आनंते चा तच्छद्दश्च दत्वावस्य है

पतां विभूति योगं च मन यो बेचि तस्वतः। लोऽविकम्पे[म्प्ये]न योगेन युज्यते नात्र संज्ञायः॥ विमृतिः ऐश्वर्यम्। एतां सर्वस्य मदायत्तोत्पत्तिस्थितिप्रवृत्तिनारूषां विभूतिम्, मम हेयप्रत्यनीककच्याणगुणगणरूपं योगं च यस्तस्वतो वेत्ति, सोऽविकम्पे(म्प्ये)न अप्रकम्प्येन मक्तियोगेन युज्यते। नात संशयः। मद्विभृतिविषयं कल्याणगुणविषयं च ज्ञानं भक्तियोगः वर्षनिति स्वयमेव द्रक्ष्यसीत्यभिष्रायः॥ ७॥

विभृतिज्ञानविवाकरूपां भक्तिवृद्धिं दर्शयति-

अहं सर्वत्य प्रमयो मक्तः सर्वे प्रवर्तते । इति मत्या अज्ञते मां बुधा भावत्यमन्विताः॥ ८ अहं, सर्वत्य विचित्रचिद्रप्रपञ्चस्य प्रभवः उत्पत्तिकारणम् , सर्वे मक्त एव प्रवर्तते इतीदं मम स्वाभाविकं निरंकुग्नैस्वर्य, सौज्ञील्यमीन्द्रथेवात्मल्यादिकल्याणगुणगणयोगं च इति दर्शवित मन्मते स्थिता इति । स्वाच्छन्यादिभगयसाम्यं मृत्यादिवद्बुद्धिपूर्वानुवर्तनमात्रं च ल्युदस्यति मत्मक्कल्यानुवर्तिन इति ॥ ६ ॥

उक्तार्थस्यानन्तरमुद्देश्हरणपदर्शनमुखेन प्रयञ्चनं क्रियत इत्यमिपायेणाह विभूतिज्ञानेति । तदेव हि ज्ञानं भक्तिरूपेण परिणभेत् इत्यमिपायेण विभूतिज्ञानायपाकरूपत्योक्तिः । असन्नेचात् कार्य-स्त्वन्नादिसमस्तगोचरः सर्वशब्दः इत्यमिपायेण विचित्रत्यादिकमुक्तम् । प्रभवशब्दत्यालोःपतिक्रियादिनम्तव्यस्त्रस्त्रस्य स्त्रम्याययः सर्वशब्दत्यात्रस्य स्त्रम्याययः उत्पत्तिकारणमिति । अत्र वश्यमाणपकारेण सृष्ट्युयस्त्रकरूपाण्यगयोगोऽपि गर्मितः । ब्रह्मादेरिप स्वश्रृतिसाम् प्य मदधीनमिति मत्तर्रस्यविम्त्यनेत विविद्यतिमत्यभिपायेणाह सर्वे मत्त्रप्ति । पूर्वोक्तिमृत्याद्यनुवाहरूष्ट्यते दश्चिति इत्तरम्वादिना । स्वामाविकनिगङ्कप्रशब्दा-

<sup>।</sup> महष्य इति विभूतिहिकपणम् । ततः प्राक् कःयाणगुणानामिति भावः।

मत्वा बुधाः ज्ञानिनः भावसमन्विताः मां सर्वकल्याणगुणान्वितं मजन्ते । भावः मनो-वृत्तिविशेषः । मिथ स्पृह्यास्त्रवो मां भजन्त इत्यर्थः ॥ ८ ॥ कथम् १

मिल्ला मद्भव गणा बोधयन्तः परस्वरम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च गम न्त च ॥ ९ मिल्लाः मिष्य निविष्टमनसः, मद्भवशणाः मद्भवजीविताः, मया विनाऽऽत्मधारण-मु मु मेस्ता इत्यर्थः ; स्वैःस्वैग्नुभृतान् महीयान् गुणान् परस्परं बोधयन्तः, मदीयानि दिन्यानि समणीयानि कर्माणि च कथयन्तः तुष्यन्ति च समित्व च-वक्तारस्तद्वचनेनानन्य-प्रयोजनेन तुष्यन्ति ; श्रोताग्ञ्च तच्छ्वणेनानविधकातिशयप्रियेण समन्ते ॥ ९ ॥

तेवां सत्तत्रयक्तानां भजतां प्रोतियुर्वकमः । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० भ्याम् अर्वाचीनेश्वरव्यवच्छेदाय श्रुतिसिद्धाहेनुसाध्यरवानविधिकस्वोक्तिः । वनतृरूपावतारसौद्धभ्यपरास्मच्छव्दाभिषेतं मां भजनते इत्युच्यमानभजनस्यात्यन्तोपयुक्तं योगशब्दार्थमाह सोज्ञीवयेत्यादिना । सौशीवयवात्सच्येति दिव्यात्मगुणवर्गस्य । वृधशब्देनाश्च मृह्यतज्ञानिवशेषवन्तः प्रागुक्ता महात्मानो विविश्वता इत्यमिप्रायेण ज्ञानिन इत्युक्तम् । मत्वा भावसमन्विता इत्यन्ययः ; एवंविधज्ञानस्य भक्तिसाधनत्वे तात्पर्यात् मामित्यनेनाल भजनदञ्जानुसन्ययगुणगणविशिष्टस्त्रस्यं विविश्वतित्यमिप्रायेणोक्तं सर्वक्तस्याणगुणान्विति । अने कार्थस्य भावशब्दस्य प्रकृतानुगुणमर्थमाह भावो मनोवृत्तिविशेष इति । तमेव विशेषं विशदयित मिष्य स्वद्यारूव इति ॥ ८ ॥

मावसमन्वित्तवप्रविज्ञनमेवानन्तरं क्रियत इत्यिभिप्रायेण तदाकाङ्क्षां दर्शयित कथिमिति । मिक्क परिपाकक्रमिविशेषिद्धाकारप्रदर्शनं मिचित्ताः इत्यादिभिश्चतुर्निवेशेषोः क्रियत इत्यिभिप्रायेण मिय निविष्टमनस इत्यादिकमुक्तम् । मद्भनप्राणाः इत्यस्य तात्प्र्यप्रवर्शनाय पर्यायं तावदाह मद्भनजीविता इति । भक्तगतस्य जीवितस्य कथं तद्भत्ववित्रत्यक्ष स्था विमेति । वोधनकथन्यव्यद्योर्देकविषयत्वे पौनक्षत्यात् विषयमेदो वाच्यः ; तत च बोधयन्तः इत्यनेन अज्ञातार्थज्ञापनं कश्चयन्तः इत्यनेन च इतिष्टत्वर्णनं च(?) स्वरसतः प्रतीयत इत्यमिप्रायेण स्वैःस्वैरित्यादिकमुक्तम् । द्वष्यभ्नीति अतिमानुष्यव प्रयक्ताः सुस्रतःवं विवक्षितम् । तस्यव भोग्यत्य समगीयानीत्यनेनोक्तम् । दुष्यन्ति च सर्णन्त च स्वयायोजनान्तरसाधक्रतरप्रतियाः हि स्रोके कथापयोगो दृष्टः, तोषशब्दश्चाधिकस्पृहानिष्टस्यर्थः, ततोऽत्व तुष्यन्तीत्यनन्यप्रयोजनकथकविषयस्य ; पारिशेष्यात् समन्ती त्यस्य श्रवणमुलस्यं ल्वष्यन्त । तुष्यन्ति च समन्ति चेत्यत्वयोः मिचिताः इत्याद्विककर्तृकर्वः कथनश्रवण्यगेरक्तिसन्ते कर्षमन्ते परित्याज्यम् । तदेतद्विल्यमिनेत्याह वक्तार इत्यादि समन्त इत्यन्तम्॥ भगयद्गुणविभृतिज्ञानस्य भक्तयस्विविवदिद्विवदिद्ववत्यक्तमः त्याप्तिविवदिवदिवदिवदिवदिवदिवदिवद्वत्यक्तमः त्यापिवविवद्वद्वत्वन्तिवन्तिविवदिवदिवदिवदिवदिवदिवदिवद्वत्वन्तः । तथापिवविवद्वद्वसक्तिम् नक्षित्विविवदिवदिवदिवदिवदिवदिवदिवद्वसक्तमः तथापिवविवद्वदिवदिवद्वसक्तमः ।

कालमदनेत । बकार एवं श्रोतारइव भाषा रमना इत्यर्थः ।

तेषां सततयुक्तानाम् मिय सततयोगमाञ्चममानानां मां भजमानानामहं तमेव बुद्धियोगं विषाकद्यापन्तं प्रीतिपूर्वकं ददामः येन ते मामुषयान्ति ॥ १० ॥ किश्च,

तेषामेवानुप्रदार्थमहण्डाः जं तयः । तः यास्मायस्य ज्ञानदीयेन भावता ॥ ११ तेषामेवानुप्रदार्थमहण्डाः , आत्मभावस्थः तेषां मानुन्ती विषयतयाऽवस्थितः मदीयःन् करुपाणगुणगणांश्वाऽिविरक्कः न् माह्यपञ्चानारुयेन भावता दीपेन ज्ञानिवेशे धिप्राचीन-भाविविश्यद्वतमं साक्षात्कारुव्यावार्यस्थानारुव्यावार्यस्थानारुव्यावार्यस्थानारुव्यावार्यस्थानार्यस्थानानाः । मायस्यततयोगमःश्रं प्रमानानाः । मिति । न हि सततं समाधानरूपो योगः शक्यः ; सतत्वश्वदेन प्रतिदिवस्यविव्याच न स्थारसिकी ; न च प्राप्तिकृपस्यत्वयोग इदानी हृदः ; अत आश्रंसार्थस्वमेव युक्तमिति भावः । तमेवेति । आश्रंसाविषयान्त्रीतमेवत्यर्थः । सत्वत्योगश्रंसयेव भजने प्रीतिरूपस्यस्य फल्लित्वाव्यप्ति । स्थारसिकी स्थाराव्ययः प्रजनाव्यये प्रधेजनं मन्दम् ; ददामीत्यनेनान्यये तु भजनावान्तर्व्यापार्यस्थनेन श्वरमोदारस्यादिसगवद्गुणगणप्रकाशनेन च महत् प्रयोजनमित्यभिष्रायेण प्रीतिपूर्वकं ददामीत्यन्वय उक्तः । मासुप्रयान्तीत्यवारमण्डपद्वद्विर्वहेते स्वयापित्वर्वास्यातः ॥ १०॥

l बुद्धियोगदान्दी देशीनसमावाकारभ्यानपरः । न तु परक्षानगरः । तत्य भ्यानीयावस्था-विशेषकपत्वाभावात् । येन् मानुग्यान्तीित् बुद्धयोगस्योपायत्वोक्तेरच । अनन्तरइस्रोकोक्तं विषयप्रावण्यानवारकत्वमतत्पृष्ट्यित विश्वतमभजनस्यापि । 2 नतु कामिनास्मृतिसंततिरव स्वतप्य साक्षात्कारावस्थः संभवात् कि विष्यात्र भगवत्प्रसादापेक्षयेत्यादाकायामन्यदाह परमेति । वस्तुः प्रसादोऽपि इष्टवशात् स्थतस्यं नचन् न हेतुस्य जहाति ।

<sup>3</sup> अनुप्रहार्थ-तद्धिगंमाधिकरणोक्तानिष्टनिवृत्तिसमर्थनुद्धियागोत्पादनार्थम् ।

कर्मरूपाञ्चानजं मद्यतिरिक्तपूर्वाभ्यस्तविषयप्रावण्यरूपं तमो नाश्चयामि ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच—

एवं सक्छेतरविसजातीयं मगवदसाधारणं शृज्वतां निरतिशयानन्दजनकं कल्याण-गुणगणयोगं तदैश्वर्यवितिर्ते च श्रुत्वा तद्विस्तारं श्रोतुकामोऽर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परम भवान्।

परं ब्रश्न परं घाम परमं पवित्रमिति यं श्रुतयो बदन्ति, स हि भवान् । [परं ब्रक्ष ?] ''यतो वा इमानि भृतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्त्रयन्त्यिभसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्य तद्वज्ञेति'' (मृ), ''ब्रह्म वेदामोनि परम्'' (आ), ''स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मेंत्र मवति''

िषयप्रावण्यनिष्टतिपूर्वकं भजनम्, तथाऽपि संस्कारशेषादनुष्टतं सूक्ष्मं प्रावण्यमिह भजनविनाश्यतयोक्त-मिति नान्योन्याश्रयः ॥ ११ ॥

परं ब्रह्मेत्यादेः अमृतमित्यन्तत्यार्जुनवावयस्य पूर्वेतिरसंगतिं दर्शयति एवमिति । यो मामजम (३) इत्याचनुसन्यानेनोक्तं सकलेतरेत्यादि । 'तुष्यन्ति च समन्ति च' (९) इत्यनेनोक्तमाह श्रण्वतां निन्तिश्चयानन्दजनकांमा। 'विस्तरेणात्मनो योगं' (१८) 'विस्तरस्य मे' (१९), इति प्रष्टुपति-वनतुभ्यां विस्तरशब्दपयोगेऽपि वक्ष्यमाणस्यार्थप्रपश्चरूपत्वात् शब्दपपञ्चोपस्रक्षितार्थपपञ्चे अन्नत्यावस्तर-शब्दस्य तात्पर्वनिति दशेनितुं अ**ंद्रस्तारं श्रोतुकःम इ**त्युक्तम् । विस्तरं श्रोतुकामश्चार्जुन, संमहोक्तस्यार्थस्यः प्रतिपन्नतां तस्य सत्यत्वाध्यवसायेनानस्युतां च दशेशति **परंत्र**क्षेत्य।दिभिः । अत्र तावत् भवानिति प्रथमान्तत्वात् आहुः न्द्युत्तरतः न संबन्धः, परं ब्रह्मेत्यादीनां प्राथम्यादिनोहेदयत्वं भवाद्रिर्त्यस्य च विधेयतं प्रतीतम् ; उद्देश्यस्य च पूर्वमेव मिद्धिरपेक्षिता ; तदाह यं अतयो बदन्ति, म हि अवानिति । तिष्विप कमाच्छूतीरदाहरति । तत्र 'याो वा' इत्युपास्यब्रह्मरुक्षणवावयम् ; तत्युरोवादे नीपास्यं ब्रह्मीव प्राप्यमिति पदर्शनाय प्रशब्द्विरोषणसिद्धये च ब्रश्नविदिति वाक्यस्पात्तम् । उभ्गंत्रातिस्फ्टं वाक्यं स यो हेनि। ब्रह्मेत्र भवतीत्येतत् ज्ञारीरकभाष्ये (१. १. ४) व्याख्यातम्, "प्रकारैक्ये च तत्त्वव्य-वहारी मुख्य एव, यथा सेथं गौः'' इति । ब्रह्मात्यन्तसाम्यात् ब्रह्मव्यपदेशोः /मुख्यपाय इत्यर्थः । सेयं गौरिति दृष्टान्तोऽपि, साधम्बेमूळव्यपदेशविषयः । यद्वा ब्रक्केव भवतीत्यताप्रयेवकार इवशब्दार्थोऽपि स्यादिति केचित् ; 'इववद्वैवमेव' इति निषण्डसद्भावात् ; ''वैष्णवं वामन,नारुमेत स्पर्धमानो विष्णुरेव मुत्वेमान् छोकानभिजयति" (यजु. २. ३ १६) इत्यादिषयोगसद्भावःच । न ह्यत पशुयागमात्रेण विष्णुरेवासौ जात: ; नापि स्पर्धमानस्य मोक्षाधिकार: ; न च विष्णुरेव भवतीति तावदेव फलं निर्दिष्टम् : किंतु ''इमान् छोकानभिजयति'' इति सांसारिकफल्मुक्त्रम् । अतः पराक्रमादिगुणयोगेन विष्णुरिव भूत्वेमान् छोकानभिजयतीति वाक्यार्थ इति । अतः, व्रह्मैव भवति इति साधर्यहेतुकं सामानाधिकरुण्यम् । "परमं साम्यसुपैति" (सु. ३, १, ३) , इति हि श्रुतिः । वक्ष्यति च, "मम (मु. २, २, ९) इति । तथा परं घाम ; घामशब्दो ज्योतिर्वचन ; वरं ज्योतिः ''अध्य यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीं प्यते'' (छा. २, १२ ७), परं ज्योतिरुवसंग्रह स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'' (छा. ८, १२, १, 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (६, ४, १६) इति : तथा च परमं पिवलम् परमं पावनम् ; सर्तुःशेषकत्मपास्त्रेषकरम् , विनाशकरं च । 'पया पृष्कः पत्सा आपो न स्थिष्यते' (छा. ४, १४, ६), 'तद्यथेषीकात् लमग्री प्रोतं प्रद्येतेवं हास्य सर्वे पापमानः प्रद्यन्ते' (छा. ५, २४, ३) 'नारायण पर बन्न तत्त्वं नारायणः परः । नारायण परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः" (ना) इति हि श्रुतयो वदन्ति ॥ पुरुषं शास्त्रतं विद्यमादिष्टेचमजं विभ्रम्॥ १०

बाहुस्वामृषयः सर्वे देवविनारदस्तथा । बस्तितो देवला व्यासः व्ययं चैत्र बन्नीपि मे ॥ 2३ ऋष्यश्च सर्वे परावस्तन्वयाश्चारम्यविदस्वामेव शाश्चतं दिव्यं पुरुषमादिदेवमुजं त्रिश्च-

साधर्म्यमागताः" (१४.२) इति । श्रुतिनद्र्शनार्थे विषयमुपादाय शोधयति तथेत्यादिना । सामानाधिकरण्यप्रयोगात् वस्त्वन्तरसामानाधिकरण्यसह्वाठाभावात् भगवतस्तत्तच्छ्तिप्रतिपादितपरत्वप्रकार-व्यञ्जने तात्वर्याच अत धामशब्दस्य स्थानादिपरत्वमयुक्तमित्यभिप्रायेणाह धामशब्दो ज्योतिर्वचन इति । ''विष्णुसंज्ञं सर्वाघारं घाम'' (मलाय) इत्यादि[पु?] घामशब्दप्रयोगेऽपि परं घामेति विशेषणा-दर्शनात् पर्यायान्वयसुखेन तत् प्रदर्शयति परज्योतिहिति । "अथ यदतः" इत्यादिवाक्येनापाकृत-लोकादिविशिष्टरवम्, "पादोऽस्य सर्वा मृतानि" (ला. ३. १२. ६) इत्यादिन्यपदेशसिद्धपुरुषसूक्त-प्रकरणैकार्थ्याच समीहितमलिलं सिद्धम् ; 'प्रंज्योतिरुपसंपद्य' इति वावयेन मुक्तपाप्यत्वादिकम् , परंज्योरिति विशिष्टप्रयोगश्च सिद्धः । 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इत्यादिना देदोपास्यत्वसुखेन ज्योतिषां ज्योतिष्टां न परत्वमर्थलञ्घम् । भगवदसाधारणं परमशन्दविशेषितं पावनत्वं दर्शयितुं पवित्र-शब्दस्यात संज्ञात्ववयुदासायाह परमं पावनिनिति । विनाशकरिनत्यत करमपशब्दो बुद्धचा निष्कृष्यानुसन्धेयः । प्रदयन्ते नश्यन्तीत्यर्थः । सूत्रं च, "तद्धिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्चेषविनाशौ तद्य-पदेश तु'' (ब्र. ४. १. १३) इति । तत्त्वनिर्णयैकः।त्परनारायणानुवाकः शक्येनापि परब्रह्मत्वादिकं भवानिति निर्दिष्टदेवता विशेषस्येव संवादयति नारायणेति । अनयोविवययोः प्रथमौ नारायणशब्दौ द्धप्तविभक्तिकौ : 'तत्त्वं नारायणः परः' इत्यादिसहपाठवशात् व्यस्तत्वं प्रथमान्तत्वं च प्राप्तम् । तथैव सविभक्तितया श्रत्यन्तरेऽधीयते, "नारायणः परं ब्रह्म" (महो) इत्यादि । एतेन पञ्चमीसमासतां वदन् भगवदद्वेषी प्रत्युक्तः, सर्वश्रुिस्टिल्लन्यार्यावरोधाच । इति । ह श्रुतयो वदन्दीत्यत, "यतो वा इमानि" (मृ. १) इत्यादिकमित्विलमन्वेतन्यम् : मध्ये तत्तदर्थवेशद्यायावान्तरवाक्यम् ।

एवं श्रुितिसद्धोऽर्थः स्मृतीतिह।सपुराणाथमानमहिष्वचनात् श्रुतिवदन्यानपेशसर्वज्ञवचनाच सिद्धः इत्याह पुरुपिमित सार्थेन। सर्वशब्देनाविगीतत्वं विवक्षित्म । पगव तत्त्व याथारमपविद इति ऋषि-शब्दाभिमतोक्तिः। तेन आसतमरन्द्रक्तं भवि । स्वागिरयेतत् ब्रह्मसद्धादिविशेषान्तरन्युदासार्थमित्यमिमायेण

माहः : तथैव देवर्षिन्धिदः असितः देवलः व्यापश्चाः ''ये च वेदविदी विशा ये चाध्यातम्बिदी जनाः । ते वदन्ति महात्मानं कृष्ण धर्मे सनातनम् ॥ पश्चित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते । पुण्यानामपि पुण्योऽसी मङ्गलानां च मङ्गलम् । त्रैलोक्य पुण्डगिकाक्षी देवदेवः स्वामेबेत्युक्तम् : यहा अवतीर्णं त्वामेबेत्यर्थ । शाश्वतं नित्यम् , दिव्यं परमञ्चीननिरुयम् , पुरुषं 'परात्परं परिश्यं परुषमीक्षते' (प. ५ ५) इत्यादिप्रिवादितम् । शाश्वतं दिध्यं पुरुषमिति व्युत्कः मोपादानं दिवि वर्तमानस्य पुरुषस्य पुरुषपुक्तोदितामृतः लिपाद्विभृिविशिष्टवेषेण शाश्वतत्विमहः विवक्षित-मिति चयञ्जनार्थम् । आदिधासौ देवश्चेति आदिदेव:-जगत्कारणमूतः क्रीडारूपजगद्यापारश्चेत्यर्थः । स्मरन्ति च, 'क्रीडतो बालकस्येव' (वि. १. २. १८), 'क्रीडा हरेरिदं सर्वन् ' (भा. मो. २०६-५८). 'बाल: क्रीडनकैरिव' (मा. स. ६१. ३१) इति । सूर्वतं च, 'लोकवत् लीला कैवल्यम्' (ब. २. १. ३३) इति । एतेन ब्रह्मादीनामिष देवजात्यनुप्रविष्टानां परमपुरुषलीलोपकरणत्वं क र्यत्वं चोक्तं भवति । 'भारायणाद्वज्ञा जायते नारायणात् रुद्रो जायते' (ना. उ.), 'एको ह वै नारायण असील **ब्रह्मा नेशानः'** (महो, १, १), 'तस्माच देवा बहुधा संप्रमुताः साध्या मनुष्याः पश्ची वयांसि' (मु. २. १. ७), ''ए ौ द्वौ िन्बध्रेष्ठशै प्रसादकोधजौ समुती' (सा. शा. मा ३५०-१९), 'आवां तेवाक्ने संमूी (भा. मो. ३५०, १९, १३१-४८) इत्यादेः कारणवात्रयस्य र्थ उक्तः : शोधकवावयार्थः मुपळक्षयति अज्ञानिति । कर्मकृतजन्मादिरहितनित्दर्थः । खरूपापेक्षया वा िर्विकारत्वमुच्यते । विभ्रम् "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" (ह. वि. १३२. ४८) इति प्रक्ति ग्या व्याप्तम् : नियन्तारमिति वा : **एतेन कारण**त्वाद्यनुगुणव्यातिनियमनादिकमनार्यानिज्ञाह्यणादिसिद्धं सारितम् । एते पदैः, ''एष सर्व-भूतान्तरात्माऽपहत्पाप्ना दिव्यो देव एको नारायणः" (स. ७) इति श्रुतिः सूचिता । सर्व इति सामान्यतस्संब्रहेऽप्याप्ततमस्विववक्षया नारदादेः पृथगभिधानम् । देविशिवव्देन जात्याऽपि सहर्गे-त्तरत्वं प्रकाश्यते । तलाप्यसौ, "देवर्षीणां च नारदः" (गी. १०. २३) इति प्रकृष्टः । असिनः । देवस्थ्य तस्य पिता । व्यास्थाल भगवान् पाराज्ञीः । "आहस्त्व मृषयस्त्रीं " इत्यादिकं संवादयति शेचेति । देदविदः कर्मभागवेदिनः, अध्यातमविदः वेदान्तार्थवेदिनः कृष्णं महात्मानं सनातनं धर्म वदः ीत्यन्वयः । महानमञ्जदेन सर्वािशायियरमैश्वर्यादिकं विवक्षितम् : महान् आत्मेति परमात्मत्वं वा। 'स वा एष महानज आरमा' (बृ. ६, ४, २२) इत्यादे: ; यागदानाद्यो हि देशकालः दिपरि-मितफ्रह्मायिनः, ख्वयं चानित्याः : अयं त नित्यनिर्विशयफ्रह्मायी, नित्यश्चेति मनाननशब्देन धर्मस्य विशेषणम् । पवित्रशब्दोऽत्र पापनिवर्हणपरः । पुण्यशब्दोऽभिमतफलविशेषसाधनपरः । मङ्गल-शब्दश्च समित्रिधिमात्रेणातिसमृद्धिहेतुभूतकस्याणवस्तुपरः । त्रेलोक्यं पुण्डरीकाक्ष (भा.व. ८६. २८) इति कार्यकारणभावेन शरीरात्मभावेन वा सामानाधिकरण्यम् । तुर्यो लोकास्त्रेलोकयम् : बद्ध-मुक्तनित्या इत्यर्थः । यद्वा उपलक्षणतया भूम्यन्तिरक्षादिकमुच्यते । पुण्डगैकाक्षशब्देन अन्तरादित्य-विद्यापतिपादितविरुक्षणविम्रहत्वं दर्शितम् । ''तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी'' (छा. १.

सनातनः। आस्ते हरिरचिन्त्यातमा तत्रैव मधुस्दनः॥" (भा. व. ६६), "एष नारायणः श्रीमान् श्रीराणैवनिकेतनः। नारापर्यङ्कष्ठस्तुच्य ह्यागतो मधुगं पुरीम्॥" (<sup>1</sup>भा. व. ८६. २४) "पुण्या द्वाग्वनी तत्र यत्राऽऽस्ते मधुस्दनः। साक्षादेवः पुराणोऽनौ स हि धर्मस्मातानः।" २८)। तथा, "व्यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः। तत्र कुन्सनं जगत् पार्थ(सर्व)तीर्थान्यायतनानि च॥ तत् पुण्यं तत् परं ब्रह्म तत् तीर्थं तत् तपोवनम् । तत्र देवपैयस्सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः॥ आदिदेवो महायोगी यलाऽऽस्ते मधुस्दनः। पुण्यानामित तत् पुण्यं मा भृत् ते संत्रयोऽत्र वै ॥" (भा. व. ८८), "कृष्ण एव हि लोकानामुत्यतिरिप चाष्ययः। कृष्णस्य हि कृते भृतिमदं विश्वं चगचरम्॥" (भा. स. ४. २३) इति । तथा स्थयमेव व्यविष् च, "भृमिरापोऽनलो वायुः स्वं मनो बुद्धितेव च। अहकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥" (७. ४) इत्यादिना, "अहं सर्वस्य प्रमवो मत्तस्ववै प्रवतंते" (१०-८) इत्यन्तेन ॥ १२ ॥ १३ ॥

अर्वमैतहत सन्धे यनमां बद्दि केशव। 4त हि ते भगवन् व्यक्ति बिदुर्देश न दानवाः॥ १४

६. ७) इत्यस्य च वावयस्य द्रभिडभाष्योदितेषु षट्सवर्थेषु सिद्धान्तत्वेन भाष्यकारपरिगृहीताः लयोऽऽर्थाः । <sup>ठ</sup>तथा हि वेदार्थसंग्रहे दर्शितम्, "गम्भीराम्भस्समुद्गृत-मुमुष्टनाळ-रिवकरिवकिसितपुण्डरीक-दळामळायतेक्षणः" इति । इदं च वरदगुरुभिस्तत्त्वसारे (इळो. १९-२६) प्रपश्चित्रम् । नारायणशब्देन परतत्त्विनिधेकैकपरनारायणानुवाकस्चनम् । श्रीमान् श्लीरार्णविनिकेतनः इत्याभ्याम्, "हीश्च ते ळक्षिश्च पत्यौ" (ना), "अम्भस्यपारे" (ना), "अम्भस्यपारे" (ना), "अम्भस्यपारे" (ना), "अम्भस्यपारे" (ना), "अम्भस्यपारे हत्यामात्रकं सारितम् । उत्सुज्यामतः इत्यवतारमात्रकं विवक्षितम् ; कृष्णावतारद्यायामपि क्षीरार्णवगतनागपर्थक्कशायिविम्रहस्य तत्रेव स्थितत्वात् । साक्षादिति । न त्यौपचारिकः, आत्मान्तरच्यवहितो वेत्यर्थः । तथेति <sup>ठ</sup>नकरणान्तरस्वय्वस्यर्थम् । 'देवर्षिनीरदस्तथा' इति व्याख्येयविमागावगमात् उक्तवाक्योपदानमपि तथाविमागेन कुमेह इति च दर्शितम् । तत्र कुरस्वमित्यादि नारायणस्येव सर्वाश्ययत्वात् , सर्वप्रकारातिशययोगित्वाद्वा । तत्रपुण्य-मित्यादिकं त्रक्षश्चरति । स्वर्भवेति । स्वर्मवेति । स्वर

<sup>1</sup> भारते पव नारयंणः, पुण्या द्वाश्वती, ये च वद्विदः हितकाः। तेनैव कमेण कविश्हिति भुद्रणस्। परन्तु चन्द्रिकानुमारिकोशानुसारेणाच मुद्रणं कतम्। रहोकोकार्धकमेण विवरणिवहः। तव मधमोक्तपविवन्नविद्दर्शकं प्रथममुद्राहतस्, पश्चादुक्तादिदेवत्वादिवायकं पश्चादुशहतमिति हात्। 2 तव उक्तपने शिक्तरिण। 3 वत-च्दरिकाश्रमे। 4 न मे विदुःसुरगणा इति भवदुक्तमिति तथ्यमिति माधः। वानवप्रवणं हृष्टान्तार्थम्। 5 असंमतत्वा द्विश्वाचार्यदर्शित-मध्वयम्, भानुविग्वं भ्यावस्थानम्, किष्तवास्यः भगवद्क्षि, दरविकमितिवित्तं च धुनप्र-(1-1-7) अन्तरिवकरणः। 6 पूर्वं 86 अभ्याये स्वः ४ अभ्याये ।

अतः सर्वमेतत् यथावस्थितवस्तुकथनं मन्ये, न प्रश्नंसाद्यभिप्रायम् ; यन्मां प्रति अनन्यसाधारणमनविधकातिशयं स्वाभाविकं तवैश्वर्यं कल्याणगुणानन्त्यं च वद्सि । अतो भगवन् निरतिशयज्ञानशक्तिवलैश्वर्यवीर्यतेजसां निधे, ते व्यक्तिं व्यज्ञनप्रकारं न हि परिमिन्तज्ञाना देवा दानवाश्च विद्रः ॥ १४ ॥

स्वयमेवारमनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम । भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्वते ॥ १० हे पुरुषोत्तम, आत्मना, आत्मानम् त्वां खयमेव स्वेन ज्ञानेनेव वेत्थ । मृतभावन ; सर्वेषां भृतानामुत्पाद्यितः, मृतेश सर्वेषां नियन्तः, देवदेव देवतानामपि परमदैवत,

सङ्गत्यथेमाह अत इति । आसतमेराझायेमंहिषिभिः भवताऽपि चोक्तत्वादिति भावः । ऋतं मन्ये इत्यस्याभिमेतमाह न प्रशंसाद्यभिप्रायमिति । अन्येषु हि तद्गुणारोपणेन प्रशंसत्यभिप्रायः । मामित्यनेन 'शिष्यस्तेऽइं शाधि मां त्वां प्रयस्त् (गी २ ७) इत्यादिकमभिषेतम् । विदित्हं शिष्ट-मनुवदन् शास्यये वर्तमानो द्विक्रमेकः । एवं शिष्टस्यानुमाषणं शासनविशेषपार्थनार्थम् । अनन्य-साधारणमनविश्वकातिश्चयमिति विशेषणाभ्यां समाधिकराहित्यम् , खाभाविक्रमिति अनन्याधीनत्वं विविक्षतम् । अतो न विदुरित्यन्वयः । 'शानशिक्तवेश्वयीर्थतेजांस्यशेषतः । भगवच्छव्दवाच्यानि विना हेर्येगुणादिभिः ॥'' (वि. ६. ५ ७९) इति भगवत्यराश्चरवनानुसारेण देवादिभिरवेद्यत्वाय भगवच्छव्दार्थं दर्शयिति निरितशयद्वानेत्यादिना । व्यक्तिशव्दान्यः "किमात्मिकैवैषा भगवतो व्यक्तिः" (र.जा.) इत्यादिष्यव न विग्रहादिपरः, अपसक्तत्वात्, अनन्तरं च अपृच्छवमानत्वात्; अतः, 'वक्तुमर्हस्य-शेषण' इत्यन्तरं विवक्षाः, 'अन्ये त्वत्यतिपादनपकारमिति न जानन्ति, किं पुनः प्रत्यक्षादिवत् प्रकाशनित्ययमर्थोऽपेक्षितत्वात् स्वीकर्थः" इत्यभिपायेणाह व्यक्षनप्रकारमिति। 'अक्षरक्षर्योव्धंक्तिम् इ(प्रच्छाम्यरिनवृद्दन । उपख्वपुष्यं (मो. ध. ३०८.२) इतिवत् । परिमितञ्चाना इति हिश्वव्दतात्वर्योक्तिः ॥१४

देवादीनां भगवद्भैभवे वकुत्वयोग्यता प्रतिक्षिता ; अथ भगवत एव स्वैभववचनयोग्यतामाह स्वयमेवेति स्ठोकेन । अस्न पुरुषोन्तमेति संज्ञा ; शेषं तु तत्संज्ञान्वयौपियकगुणपर्मिति विभजनाय पूर्वभव हे पुरुषोत्तमेरसुक्तम् । अस्न 'त्वभेव त्वां वेत्थ थोऽसि 'सोऽसि' (काठ. १. ३. १) इति क्रुतिसरणा- स्विभायेण अन्तानामित्यस्य न्वानिति प्रतिपदम् । <sup>1</sup>स्वयमेवेत्यनेन फल्टितोक्तः स्वेनैव झानेनेति । आत्मना अन्यैरननुगृहीत इत्यर्थः । यथाऽन्येषां, 'मत्तसम् ज्ञांनम्' (गी. १५. १५) इति, न तथाऽस्येति भावः । यद्वा आत्मनेत्यस्य व्याक्त्या झानेनेति ; "आत्मा जीवे" इत्यार्भ्य 'यक्तेऽकेंऽग्री मतौ वायौ' इति पाठात् । मावनशब्दस्य विन्तार्थयपरत्वच्युदासायाह- उत्पाद्ियतिति । भृतेश- जगत्वतिश्वत्योः पौनरुगत्यशङ्कात्यदासाय नियन्तृत्वसामित्वकथनम् । रक्षणे व्युत्पन्नस्यापि पति- शब्दस्य शेषित्वे रूदिः । "स कारणं करणाधिपाधिपः" (थे, ६, ८), "तमीधराणां परमं महेश्वरं

आतमना स्वयामन्युभयं कुन इति विसुद्दग, स्वयं, स्वेन-स्वकायेनेत्यर्थो भाषितः ।
 स्वस्पकाशासम्बर्भातिरिक्षभंवत्तया स्वयहणं धर्मभत्वानेनेव ।

यथा मनुष्यमृगपश्चिम्रिसिस्पादीन् सौन्दर्यसौजीस्यादिकस्याणगुणगणैदैंवतानि अतीत्य वर्तन्ते, तथा तानि सर्वाणि दैवतान्यपि तैस्तैर्गुणैरतीत्य वर्तमान, जगत्वते जगत्स्वामिन् ॥ १५ ॥

वकुमईस्यशेषेण दिव्या द्यात्मविभृतयः । याभिर्विभृति भिर्छोकान इमांस्थ्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ दिव्याः त्वदसाधारण्यो विभृतयो याः, तास्त्वमेवाशेषेण ववतुमईसि । त्वमेव व्याक्रयेन्त्यर्थः । याभिरनन्ताभिर्विमृतिभिः—यैर्नियमनविशेषेर्युक्तः इमान् लोकान् त्वं नियन्तृत्वेन व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगी त्वां सदा परिचिन्तयन् । केषुकेषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥

तं दैवतानां परमं च दैवतम्। पर्ति पतीनां परमं परस्तात् विदाम देवं सुवनेशमीड्यम्॥" (श्वे. ६. ७) इति श्वितिसद्धाश्चस्वारोऽर्थाः भृतभावनेत्यादिभिश्चतुर्भिः प्रतिपाद्यस्त इति ज्ञापनाय दैवतानामिष् परमदेवतेति श्रुतिसद्धाश्चस्वारोः पदैव्याल्यातम्। देवशव्यस्य जातिविद्शेषवाचकरवेन प्रतिसंविधशब्दस्वामावात् द्वितीयो देवशव्य उत्कर्षविद्शेषविषयतया औपचारिक इति सुख्यगौणानुगतसुपचारिनिर्मतं दर्शयति यथेति । अन्योन्यवैठक्षण्यसार्किचत्करस्वाय, अत्यन्तवैठक्षण्यज्ञापनाय च सृगपश्चिसरीसृपप्रहणम् । यथा देवादीनां कीटः, तथा परमारमनो देवा अपि। "कीटाः समस्ताः सुरा दृष्टे यत्र..." (सुकुन्दमाला) इति ह्याहः । सीन्दर्यसौशीरयेति विमहगुणानामात्मगुणानां चोपठक्षणम् ॥ १५॥

आत्मशन्दोऽन्यविम्तित्वन्युदासार्थ इत्याह त्वदसाधारण्य इति । विभृतयः इति प्रथमान्तत्वेन वकुमहँसीत्यनेन अन्वयायोगात् विभृतयो या इति यच्छन्दाध्याहारः । यहा दिन्या हि, अतोऽवश्यवक्तव्याः; अतः ताः (त्वं) वकुमहँसीति वावयाष्ट्रतिज्ञापनार्थः। अहंसीति योग्यत्वनिर्देशेन तदप्रार्थंतं विवक्षितम् । ईश्वरेणाप्यशेषेण वकुम्, अर्जुनेन च श्रोतुम् अश्वयत्यात् वचनतः प्रसादतश्च प्रकाशनमात्रनिष्ठ प्रार्थते ; 'न हि ते भगवन् व्यक्तिम् (१९४) इति हि पूर्वमुक्तमित्यभिपायेणाह त्वमेव व्यक्तय्यर्थ इति । वहुवचनासक्कोचात् अश्वेषेणिति निर्देशाच आनन्त्यमिह विवक्षितम् , 'नास्त्यन्तो विस्तर्स्य' (१९) इत्याद्युत्तरत्रश्चःचेत्यभिपायेण अनन्ताभिरित्युक्तम् । विपूर्वो भवतिः भावपत्ययान्तो नियमनवाचीत्युक्तम् । न चालार्थान्तरं घटते, नियन्तव्यसामानाधिकरण्याद्यमावादित्यमिपायेण यैर्नियमनिवशेषेरित्युक्तम् । प्रमृतनियमनिवश्ये कौतुकात्तरेकद्योतनाय विश्लेपकृतः । तृतीयाया इह कर्रणाद्यश्ववायोगात् इत्यम्मतळक्षणार्थत्व विवक्षितमित्यमिपायेण युक्त इत्युक्तम् । अत्र विभृतिशव्यस्य नियन्तव्यपरत्वे अश्वत्याद्योगाने लेकव्यातिकारणत्वम् ; न च तिहिश्वष्टस्य, तैस्सह वा तिद्वतर्य्याप्तिः ; न च व्याप्ती नियन्तव्यानामित्यभृतळक्षणत्वम् , नैर्यक्त्यात् ; नियमनिवशेषाणां तु श्रुत्यनुसारात् आका-शादिव्याक्तियव्यव्यक्ते त्वव्यति त्याप्य नारायणः स्थितः" (ता) इति श्रुतिः स्यारिता । १६ ॥

अहं योगी—भक्तियोगिनिष्ठस्तन् भक्त्या स्वां सदा परिचिन्तयम् चिन्तियितुं प्रश्चतः चिन्तनीयं स्वां परिपूर्णैश्वर्यादिकस्याणगुणगणं कथं विद्याम् १ पूर्वोक्तवृद्धिज्ञानादिभाव-स्यतिरिक्तेषु केषुकेषु च भावेषु मया नियन्तृत्वेन चिन्तयोऽसि १॥१७॥

बिस्तरेणाऽऽरमिनो योग बिभूति च जनावन । भूथः कथय द्विहिं श्रण्यनो नास्ति मेऽस्तम्॥
'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तस्तर्वे अवर्तते' (१२.८) इति संक्षेपेणोक्तं तव स्रष्टृत्वादियोगं
विभृति नियमनं च भूयो विस्तरेण कथय । त्वयोच्यमानं त्वन्माहात्म्यास्तं श्रण्वतो मे
तृश्मिनीस्ति ; हिन्ममानृप्तिस्त्वयैव विदितेत्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच--

हस्त ने कथविष्यावि विभूनीसात्मनद्युभाः । प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यस्तो विस्तरस्य मे ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! मदीयाः कल्याणीर्विभूनीः प्राधान्यतस्ते कथविष्यामि । प्राधान्यज्ञब्दैन-उत्कर्षो विवक्षितः ; 'पुरोधसां च सुरुषं मास्' (२४) इति हि वक्ष्यते । जगत्युत्कृष्टाः

योगिशन्दः प्रकरणिवशेषात् त्वां पदा परिश्चिन्तयिक्तत्यादेस्तामध्यीच योगिविशेषविषय इत्याद सिक्तपोगिनिष्ठस्त्राचित । सिक्तत्यनेन निष्पन्नयोगिपरस्वमि न्यावर्तिनम् । अत्र योगिनिति परेषां पाठोऽनार्षः । सदेति विशेषणसामध्यीत् भक्तयेति सिद्धम् । वेदनात्पूर्वं चिन्तनाशक्तेः, कथं विद्यामित्यस्य चिन्तनहेतुत्वात्, "लक्षणहेत्योः क्रियायाः" (अष्टा. ३. २. १२६) इति शतुरनुशा सनाच चिन्तियतुं भृष्टत इत्युक्तम् । स्वामिति धर्मिविशेषस्य प्रतिपन्नत्यात् प्रकारविशेषेषु बुसुत्तेति ज्ञापनायोक्तम् परिपूर्णेत्यादि । प्रश्नो बज्ञातविशेषज्ञापनार्थे इत्यमिसन्धायोक्तं पूर्वोक्तत्यादि । भावे-विति ससम्यमिनेतोक्तिः प्रकृतांनक्षेणं वा नियन्तरःवेनेति ॥ १७ ॥

प्रतिकृत्कजनानां नरकादिगमयितृस्वात् अनुकुळजेनैः स्वामिळवितं याच्यमानस्वाद्वा जनार्दनः । विस्तरबुभुत्साहेतुज्ञापनार्थे योगशब्दविवक्षितःत्र्यक्तवर्थं च भूयश्शब्दकळितमाह अहं सर्वस्येति । अमृतशब्दोऽत्वातृत्तिसमभिव्याहारात् माहारम्ये भोग्यत्वपरः । भोग्यतमस्वायोक्तं स्वयोच्यमानमिति । स्वन्मुखचन्द्रनिस्सतमिति भावः । हिशब्दामियेतं विद्युणोति ममेति ॥ १८ ॥

एवमतृष्त्या पृच्छन्तर्मजुन प्रति अतिशसन्नो भगवांस्तस्याभिजनाद्विवर्णनमुखेन योग्यतां दर्शयन् विमृतेविस्तरेण प्रत्येकं वक्तुं श्रोतुं च अज्ञवयत्वात् केनचिदुपाधि विज्ञेषण संगृहीता विमृतिविस्त्यामीत्याह हन्तेति । ते अनस्युत्वपी प्रमाणत्वातृप्तत्वादिगुणगूर्णायेति भावः । गुणत्वादि-प्रतियोगिकज्ञेषित्वादिपाधान्यविवक्षायां वश्यमाणसमस्तोदाहरणच्याप्त्यभावात् गुणानां च प्राधान्येन व्यपदेक्ष्यमाणत्वात् संग्राहकमर्थविज्ञोषमाह प्राधान्यज्ञव्देनित । तस्यैव विवक्षितत्वं वश्यमाणेन संवाद्यति प्राधान्यतः स्वयापित । पिण्डतार्थमाह ज्ञामनीति । विस्तरेण कथ्येति पृच्छन्तं प्रति प्रधान्यतः कथ्यविष्यामीति कथमुच्यत इति शङ्कायां नास्त्यन्तो विस्तरेण कथ्येति पृच्छन्तं । विमृतीनामिति शेषः । 'विमृतेविस्तरेग स्वय' (४०) इति हि वक्ष्यते । नास्त्रिश्वस्वाभिष्रेतमज्ञव्यत्वं दर्शयति

काथन विभुतिर्दश्यामि, विस्तरेण वक्तुं श्रोतुं च न शक्यते, तासामानन्त्यात् । विभृतित्वं नाम नियाम्यत्वम् ; सर्वेषां भृतानां बुद्धचादयः पृथिन्धा भावा मत्त एव मवन्तीत्युक्त्वा, 'एतां विभृति योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः' (७) इति प्रतिपादनात् । तथा तत्र योग-शब्दिनिर्दिष्टं स्वष्टत्वादिकं विभृतिश्चव्दनिर्दिष्टं तत्प्रवत्यत्विमिति ह्युक्तं पुनथ, ''अहं सर्वस्थ प्रभवो मत्तरसर्वं प्रवर्तते । इति ॥ १९ ॥

तत्र सर्वभृतानां प्रवर्तनरूपं नियमनमात्मतयाऽवस्यायेतीममर्थम्, योगम्रब्द्निर्दिष्टं सर्वस्य स्रष्टृत्वं पालयित्तवं संहर्तृत्वं चेति चि? सस्पष्टमाह—

बह्मारमा ¹गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । अहमादिश्च मध्यं च भूताशमन्त एव च ॥ २० विस्तरेण वश्तुमिति । नेदं वक्तृश्रोलोरसामध्यीनवन्यनिमत्याह तासामानन्त्यादिति । तदेतदुक्तं नास्त्यन्त हित । वश्यमाणेषु पदार्थेषु विभृतिशब्दमयोगनिमित्तमाह विभृतिरवं नामेति । नियन्तव्यवस्त्यन्तरिवययो विभृतिशब्दो विभवनकर्मपरः । अन्यत्न च 'ब्रह्मा दक्षाद्यः काळः' (वि. १. २. ३१), 'विष्णु²र्मन्वादयः काळः' (३२), 'रुद्रः काळान्तकाद्याध्य' (३३) इत्यादिषु 'जनार्दनिवभृतयः' इति नियन्तव्येषु विभृतिशब्दो हष्ट इति भावः । कुत इत्यत्नाह सर्वेषामिति । पर्तुतं ताद्यीन्यं खेतच्छव्देन परामृश्यत इति भावः । समनन्तरक्षोकेनापि तस्य क्षोकस्य त्याख्याने पूर्वं, (१) 'सौशील्यवास्तर्यसौन्दर्यादिकर्याणगुण-गणयोगम् इत्युक्तम् ह ह योगशब्दिनिर्दिष्टं स्तृत्वादिकमुच्यते ; तत् कथं घटते ॥ इत्यम् । उभयवोभयमपि आदिशब्देन संगृहीतमित्येकार्थस्वात्य । अत एव हि 'एतां विभृतिं योगं च' (७) इत्यत्र 'हेयपत्यनीककरुयाणगुणगणक्तं योगं चेति' प्रयोजकेन संगृहीतम् । एतां विभृति मित्यादेः पूर्वं नियमनपरत्वेन व्याख्यानेऽपि अत्र तद्यादानं समृद्धाद्यश्चात्यश्चरित्तरस्य स्वास्त्रयक्षात्रयमनार्थतीकाः । अतः प्रशीतरपरयोरीषद्गैरूप्यं सखम् ॥ १९ ॥

'विस्तरेणात्मनो योगं विम्तिं च' इति पृष्टमथेद्वयं विस्तरेण वक्तुं तस्योत्तरद्वयम् अ**हमात्मे**ति श्लोकेन संगृद्धोच्यत इत्यमिनायेणाह तन्नेति । एतेन प्रागुक्तेषु वश्यमाणेषु च सामानाधिकरण्य-निर्देशेषु यथासमयं निमित्तद्वयमुक्तं भवति । आत्मतयाऽचस्थित इति फल्लितान्वयपदर्शनम् । अनेकार्थोऽप्यात्मशब्दः शरीरमितसवन्धिन प्रसिद्धिभाचुर्यात् प्रतिसवन्धिरूपं शरीरमपेक्षते ; तत्रश्च

<sup>1</sup> अत शांकरे, "गुडाका-निद्राः तस्या ईशः जितनिद्रः इत्यर्थः । धनकेश इति वा" इति न्यास्थातम् । 2 अत दिन्यमगळविष्रद्वविशेषक्रपविष्णुमूर्तिमात्रे विभृतिस्यम् । तदारमनः परमान्मैक्यस्त् तदनियन्तन्यस्यात् ।

<sup>3</sup> पूर्वमप्रमन्त्रोके आध्ये सौशीहण्यात्सस्यसौन्दर्ये तिपाडो ब्राह्मः, तत्राध्यवाष्ट्रसम्यनु-सारात् एत रहासाराच । आत्मगुणद्रथमध्ये विष्रहगुणनिवेशनस्यानुवित्तत्वाच ।

सर्वेषां भतानां मम श्रीरभृतानाम् आशये हृद्ये अहमात्मतयाऽवस्थितः । आत्मा हि नाम शरीरस्य सर्वोत्मना आधारः, नियन्ता, शेषी च । तथा वक्ष्यते, 'सर्वस्य चाहं हृदि सिन्निविष्टो मत्तरस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (१५.१५), 'ईश्वरस्प्तर्वभृतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभृतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १ (१८. ६१) इति । श्रयते च, "यः सर्वेषु भृतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भृतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भृतानि न विदुर्, यस सर्वाण वृत्त्य-तर्गतोऽपि भृतशब्दो बुद्धया निष्कृष्यान्वेतव्य इत्यमिशायेण सर्वेषां भृतानां मम श्रीरभू-तानामित्यक्तम् । ईश्वरस्य जीवशरीराणि भूतानि जीवांश्च प्रति कथमात्मत्वमित्यत्नात्मरुक्षणं दर्शयति आत्मा हीति । लयमप्येकं रुक्षणमित्येके । तल श्रत्याचनुसारेण जन्मादिलयस्य ब्रह्मरुक्षणत्व इव शिक्कतमात्रव्यवच्छेदार्थतया त्रयाणां साफल्यं भाव्यम् । रुक्षणत्रयमिति चान्ये । तत्र त्वेवं विवेकः 1 (१).... "यत्य चेतनस्य यत् द्रव्यं सर्वात्मना खार्थे नियन्तुं धार्यातुं च शक्यम् " (श्रीमाष्ये. २. १. ९) इत्यादि शरीरलक्षणवावयमपि भाव्यम् । शरीरलक्षणान्तराणि च तत्नतत्न विस्तरेण प्रतिक्षिप्तानि । चैत-न्यविशिष्टं प्रति अपृथिनसद्धविशेषणभूतद्रव्यं शरीरमिति भाष्याभिष्रेतोऽसाकं <sup>श</sup>निष्कर्षः । अत सर्वभत-शब्देन<sup>8</sup> शरीरमालनिर्देशशङ्काव्यदासाय **आग्नयश**ब्दस्य च हृदयविषयत्वन्यञ्जनाय आधारत्वनियन्तत्वादे-रात्मरुक्षणत्वसिद्धचर्थं च आह तथेति । 'सर्वस्य चाहम् ' (गी. १५. १५) इत्यस्यानन्तरं 'द्वाविमौ पुरुषौ' (१६) इत्युपकम्य, 'क्षरसवर्गाण म्तानि' इति वचनात् सर्वभृतशब्दोऽचिद्विशिष्टक्षेत्रज्ञपर इति निश्चीयते ; तद्भदतापि । तथाऽस्मिन्नेव प्रकरणे, 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' इत्युत्त वा 'यो छोकल्लयमा-विदय विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥'' (१७) इत्युक्तम् । अत विभर्तीश्वर इत्याभ्याम् आधारत्वनियन्तत्वे स्पष्टे : **ईश्वर**शब्दरूढचा च खामित्वसिद्धिः ; न खळु गरुडादिषु भुजङ्गादीन्नियच्छत्तु तदीश्वरशब्दः । **ईश्वर**-शब्दस्याद्वंशव्दस्य चालैकविषयत्वं श्लोकद्वयोपादानेन दर्शितम् । अल हि सर्वभृतशब्दो जीवपर एव ; 'यन्त्रारूढानि मायया' (गी. १८. ६१) इत्यभिधानात् । भ्रामयन्नित्यनेन नियन्त्रत्वादिसिद्धिः । हृदेशिखत्या च 'मिय सर्विमिदं प्रोतम् ' (७. ७) इत्याद्यक्तधारकत्वादि सृचितम् । एवं चिदचिदात्मक समस्तवस्तुशरीरत्वं सर्वमृतशब्दान्वयेनैव वदन्तीं श्रति दशयति यस्मवेषु भूतेष्वित । चिदंशं प्रति शरी...

<sup>1</sup> विवेक इत्येतदनन्तरं विवेकपकारनिक्रपकश्चयज्ञातं भ्रष्टिमितं चिन्यते ; अन्यथा-ऽनन्वयात् । तच्चवाक्यजातं श्रीमद्रहस्यत्रयसारै प्रचानप्रतितन्त्राचिकारे घारकन्वनियन्तृत्वशेषि-त्वोपपादकवाक्यजाततृत्यं भवितुमदेति । 2 न्यायसिद्धःञ्जनेऽपीतमुक्तम् ।

<sup>3</sup> बेदानां सामवेदः, इंन्द्रयाणां मनः इत्याचनुसारेण सर्वाचितननियमनछापि व कव्यत्वेऽि अब भूतित प्राणिमात्रकथनं जीवरहितेष्वचेतनेषु परमात्मसद्भावेऽिष जीवशरीरेषु जीवालीरका-त्मसद्भावो न वक्तव्य इति मितिनिरासाय। न हि भूतानां प्राणिनां तत्तच्छरीरभेदैन भिन्नानां सर्वाशयस्थितस्य परमात्मनद्येकं घटत इति वोषयितुं भूतानामिति वहुःवम, आशयस्थितः इत्येकत्वञ्च। तथाचाचेतनान्तिस्यतेहपरुक्षणिदम्। एतन्यूवींनरार्धाभ्यां क्रचिन्निर्धारणपष्टी क्रविज्ञन्यथाऽपीति विधामेदी बाण्यते।

भृतानि शरीरं यस्तर्वाणि भृतान्यन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (वृ.५.७.१५) इति, "य आत्मिनि तिष्टन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्तात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (श्वत. १४. ५. ३०) इति च । एवं सर्वभृतानामात्मतयाऽवस्थितोऽहं तेषामादिर्मदयं चान्तश्च – तेषाग्रुत्पत्तिस्थितिप्रस्रयहेतुरित्यर्थः ।। २०॥

एवं भगवतः स्विभृतिभृतेषु सर्वेष्वात्मतयाऽवस्थानं तत्तच्छन्दसामानाधिकरण्यनिदे-शहेतुं प्रतिपाद्य विभृतिविशेषान् सामानाधिकरण्येन व्यपदिशति । भगवत्यात्मतयाऽवस्थिते हि सर्वे शव्दास्तसिन्नेत्र पर्यवस्यन्ति ; यथा देवो मतुष्यः पक्षी वृक्षः इत्यादयः शब्दाः शरीराणि प्रतिपादयन्तस्तत्तदात्मिन पर्यवस्यन्ति । भगवतस्तत्तदात्मतयाऽवस्थानमेव तत्त च्छन्दसामानाधिकरण्यानवन्धनमिति विभृत्युपसंद्वारे वक्ष्यति ; "न तदस्ति विना यत् सा नमया भृतं चराचरम्" (३९) इति सर्वेषां स्वेनाविनामावयचनात् । अविनामावश्र

रिस्वं प्रषञ्चयत् वाक्यमुणदत्ते **य आरमनी**ति । आस्मदेवनावस्थानस्थोपादानस्वनिमित्तस्योपयोगात् पूर्वीर्षेन संगमयन् उत्तरार्थं व्यास्याति **एवमि**ति । **एवमात्मतयाऽवस्थितोऽह**मित्यनेन निर्विकारस्य सस्यैवोपादा-नत्वस्थापनम् । देशतः काळतो वा आदिमध्यान्तस्वमात्रमनुचितमिति तदुपचरितमाह ते**पामृत्**यनीति ॥

आदित्यानामहं विष्णुरित्युपक्रम्य 'यचापि सर्वमृतानां बीजं तदहमर्जुन' (३९) इत्यन्तं सा-मानाधिकरण्यभघद्दकम् अहमारमा (२०) इति श्लोकेन सङ्गमयन्नवतारयति एवं भगवत इति। एतेन अहमारमेत्य।दिकाः समस्ताश्चतस्रो विमृतयः इति मतान्तरं निरस्तम् । विभृतिविशेषानिति । प्राधा-न्यत इति ह्यपकान्तम् । ननु शरीरवाचिनः शरीरादिशब्दा नात्मनि पर्यवस्यन्ति ; तद्वदल्लापि इति रुक्षणा-स्वीकार एव न्याच्यः, न शक्तिकरूपना, लाघवाचेत्यताह भगवतीति । हिशव्हो हेत्वर्थः । अप्रथ-क्सिद्धविशोषणवाचिनः शन्दास्तत्तदद्वारा धर्मिण्यपि मुख्यवृत्ता इति प्रयोजकरूपेण गुणादिप्वपि सिद्ध-त्वान्न शक्तिकल्पनागौरविमिति भावः । तदेतदुक्तं पर्यवस्यन्तीति । शरीरवाचिशव्दानां स्वरस्तस्त-तदात्मनि पर्यवसानमप्टथिनसङ्ग्राधिकं द्रीयति यथेति । शरीरादिशब्दास्तु गुण इत्यादिशब्दवत् निष्कर्षकशब्दत्वाल धर्मिणि पर्ववस्थन्ति । एतद्भिप्रायेणोक्तं देवो मनुष्यः पक्षी वृक्ष इत्यादयः श्चटा इति । अव्यासादिहेतुकसामानाधिकरण्यशङ्कामपनयति भगवतस्तत्तदात्मतयेति । न धपक-मोपसंहारविरुद्धोऽर्थो मध्ये स्वीकार्यः : न च ब्रह्मणः सर्वहेयमयस्व अमाद्वा तत्त्वतो वाडक्रीकर्ते यक्त-मिति भाव: । अविनाभाववचनादिति । आत्मना विना हि शरीरमृतं न भवतीति भाव: । अग्निना विना घूमो नास्ति, गुणिना विना गुणो नास्ति इत्युक्ते अन्यादिरेव परमार्थः, धूमादिस्तु मिथ्या-भूत इति वा. अम्न्याचात्मक इति वा प्रत्ययो हि न भवति ; तद्वदत्तापीति । ननु 'यज्ञदत्तं विनाडन्ये गृहे न सन्ति', 'रञ्जुं विना सर्वीदिकं नास्ति'इत्युक्ते यथैकस्यैव सत्त्वं तद्तिरिक्तानां चासत्त्वं प्रतीयते, तद्वद्वापि किं न स्वादित्यत्नाह **अविनाभावश्चे**ति । असेजातविरोधि काल समुदितोष्क्रमविरुद्धतया उपसंहारस्य

नियाम्यतयेति, 'मत्तसर्वं प्रवर्तते' (८) इत्यु कमोदितम् ।

¹शाहित्यानामहं विष्णुज्यंतियां रविरंजुमान् । मरीविभेश्वतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २० द्वादशसंख्यासंख्यातानामादित्यानां द्वादशो य उत्कृष्टो विष्णुनीमादित्याः, सोऽहम् । ज्योतिषां जगित प्रकाशकानां यः अंशुमान् रिवः आदित्यगणः, सोऽहम् । मरुताप्रुत्कृष्टो नोदय इत्युष्कमाधिकरण (प्. मी.३.३.1.) सिद्धमिति भावः। नियाम्यतयेत्यनेन धूमाधिव्यासिवैषम्यमि दिशितम् । एवमेतावता अन्थेन, 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वमृताशयस्थितः' (२०) इति सवेशरीरवर्तिनां जीवानां मक्षस्ख्येवयसुच्यत इति क्षदृष्टिमस्तुल्यम्

आदित्यानाम् अदित्यपत्यानाम् । "अज्ञघन्यो जघन्यजः" (....) इत्यादिवचनानुसारेण द्वाद्यो य उरकृष्ट इत्युक्तम् । अत च उत्तरेषु च निर्धारणार्थविदोषमदर्शनार्थं उरकृष्टशब्दः । स च 'पुरोषसां च मुख्यम्' (२४) इति वश्यमाणमुख्यपर्यायतया अपेक्षितपदेशे सवैत निहितः । अत्र चोद्भियमाणानां पदार्थानां केषांचिदप्राधान्यं प्रत्यक्षम् ; केषांचिद्यामिकम् । कचिद्व्यवहितं कचि-ज्ञीवव्यवहितं च सामानाधिकरण्यम् । ज्योतिश्चवदेन तारकामालमहणे ततो बर्हिमृतस्य तत्संवन्यर-हितस्य च रवेनिर्धारणाद्ययोगात् प्रकाशकानामिति सामान्येनोक्तम् । जगस्कारणमूतपरज्योतिरपेक्षया रवेः खद्योतकरूपरवात् तद्वयवच्छेदाय जगतीति विदोषितम् । अंशुमानिति निर्धारणोपयिकातिशयि-

1 कश्यपात् अदित्यां जाताः भग्रेमाश्यो द्वादशः (वि. पु. 1. 15. 132) तेषु इन्द्रो विष्णुश्चान्तर्गतौ । अगवदं शत्वात् विष्णुः पूर्वमुकः । अदितिषुत्रान्तरं दितिषुत्राः, ज्बोतिषु रवेरनन्तरत्वात् चन्द्र उक्तः । नतु विभृतित्वं नाम तन्कार्थत्वे स्ति तद्भिन्नत्वम् न तु निया-म्यत्वम् । विशेषण कार्यकरेण भवनं विभवनिर्मित शब्दार्थस्य घटते । एवञ्च विष्णुरित्यत्व, रामः शस्त्रभृतां वृष्णीनां वासुदेव इत्यादौ च नार्थक्षेष्ठाः । रामादैः कार्यत्वस्यामेदस्य चाक्षतत्वातः। अन्यत्र प्रकर्षवद्धामेदस्य चाक्षतत्वातः। अन्यत्र प्रकर्षवद्धामेतिदेशे वा प्रकर्षप्रयोजकष्रमेनिदेशे वा तत्र सर्वत्नान्तविष्पर्यत्वविष्या स्थितमेव विशेषणे विभृतित्वामिति चेत्—प्रवप्रयि विभृतिप्रतिरेद्वर्यभिति कोशानुस्तरेष्ठ परवर्षम् प्रविष्याम् विष्यास्यत्वमपि विषय्यते । तच नियाम्यत्वं व्यर्भिणि धर्मीतमात्रे वा प्रथायधमिति । न कुत्रापि शान्धान्यावमपि विषय्यते । तच नियाम्यत्वं व्यर्भिणि धर्मीतमात्रे वा प्रथायधमिति । न कुत्रापि शान्धान्यास्याकः णिनित रामस्थले वक्ष्यते ।

अत्र निर्देशनां विभूतीनायेवनिर्देशकमिनयामकं तदा तदा वुद्धिस्थत्वमेव। पूर्वस्य समानतराधोपस्थापकत्वं यितः ज्ञित्संबन्धवशादेव। स्व संबन्धः विमर्शकवुद्धिभेदेन भिद्येत। अतः स कवित्
प्रदर्शते ; क्रविदुपैस्यते । यथायथं स्वयं विमृद्दयः। रिवश्वर्दस्य मण्डलेमाबपरत्वे अंगुमत्वं
स्वास्त् । मण्डलेदुष्ठवपरत्वे तत् भण्डलेद्वारा । पुरुषाणामिषि विभूतित्ववयापनाय आदित्यगण
दृत्युक्तम् । नतु गणशब्दस्य गणमात्रपरत्वे तदभेदः अद्दम्ये दुर्वचः । गणान्तर्यामीत्यर्थो न मवित ;
तदन्तर्गतस्य विष्णोरन्तर्थाग्यभावादिति चेत्—पूर्वमेव विष्णुना सद्दाभेदस्योकत्वात् अत्र तद्दिरिक्तादित्यगण प्वाद्वातविभूतित्ववापनाय विविधात इति न संकटं किञ्चित् । अदितिषुवाः
पूर्वार्घोक्ताः ; अय दितिषुवाः मस्तः। अंगुशब्दवत् मरीचिशब्दस्थापि किरणक्रवार्थसङ्गावात्
तद्द्वारा तत्यद्वेपस्थितो तद्द्वारा मरीचिश्वर्वापिक्षितः । पुनर्खोतिर्ग्रद्वणं नक्षत्राणामिति ।
कक्षत्राणामिति राक्षिप्रकाशमानभ्रमण्डयोतिः।परत्वे निर्धारण्यष्ठी स्यात् । परंतु स्वभूणा।

मरीचिर्यः, सोऽहमस्सि ! नक्षताणामहं शशी। नेयं निर्धारणे षष्टी, 'भृतानामस्सि चेतना' (२२) इतिवत् । नक्षताणां पतिर्थश्चन्द्रः, सोऽहमस्सि ॥ २१ ॥

वैशानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः। हन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतातामस्मि चेतना॥२२ वेदानाम् ऋग्यञ्जस्सामाथर्वणां य उत्कृष्टः सामवेदः, सोऽहम् । देवानामिन्द्रोऽहमस्सि ।

तप्रकाशयोगो मतुपा विविक्षतः, अन्यथा पौनस्वत्यात् । स्विशव्दस्य द्वादशादित्यसाधारणस्वादेकवचनं समुदायाभिप्रायमिति प्रदर्शनायोक्तम् <sup>1</sup> आदित्यगण इति । मस्तो वायवः एकोनपञ्चाशत् दितिपुताः, येषां ससकाः सस गणा भवन्ति । शश्चनोऽपि यदि नक्षत्रस्वं स्यात्, तदा हि तस्मात् वर्गात् तस्य निर्धारण-मित्यभिप्रायेणाह् नेयमिति । कस्तर्धवार्थं इत्यक्षाह् नश्चताणां <sup>2</sup>पतिसित । 'प्राधान्यतः' इति धुपकान्तिमिति भावः । ननु पूर्वापरेषु सर्वेषु निर्धारणार्थेषु मध्ये कस्यचित् संवन्धमात्रपर्यसम्यक्तम् ; नक्षत्रश्चदेन निश्चि प्रकाशमात्रं <sup>8</sup>छतिन्यायाद्प्राध्यम् ; 'श्चकृतां वा एतानि ज्योतीषि यत्रक्षताणि' (यजु. ५. १. १. १) इति श्रुतेः। च न्द्रमण्डळस्यापि वा स्वर्गिणां भोगस्थानस्वात्रक्षत्वस्य, 'यो वा इह यजते असुं स लोकं न क्षते । तन्नक्षताणां नक्षत्रत्वम् । देवगृहा वै नक्षताणि' (अष्ट. १. ५. २. १०) इति—तत्नाह भृतानामिस्य चेतनित्वदिति । सुख्ये संभवित ळक्षणा न न्याय्या । न चाल सर्वन्न निर्धारणार्थताः 'भृतानामिस्य चेतनारं (२२), 'सर्गाणामादिसन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन' (२२), 'वादः प्रवदतामहम् ' (३३), 'अहमेवाक्षयः कालः' (३३), 'उद्भवश्च भविष्यताम्' (३४), 'युतं छळ्यतामिस्य तेजस्तेजिस्वनामहम् । जयोऽस्ति व्यवसायोऽस्ति' (३६) इत्यादिषु निर्धारणाभावात् । अतोऽत्र चन्द्रस्य नक्षत्रजातीयस्वामावात् पष्टयभिन्दितस्य संवन्धसानान्यस्य प्रमाणसिद्धविशेषे पर्यवसानिति भावः ॥ २१ ॥

गीतिर्हि सामशब्दार्थः; तस्य वेदेषु निर्धारणं कथिनित शङ्काब्युदासाय सामनेदोऽस्मीति निर्देश हित प्रदर्शयित ऋग्यजुनिति । सामवेदस्योत्कर्षो गीतिप्रधानत्वसहस्रशास्त्वादिभिः; अन्येषां तु तदमायात् तावन्मात्रेणापकर्षः; न तु प्रामाण्यतारतन्यात् । "ऋक् वा इदमग्रे साम चास्ताम् । सैव नाम ऋगासीत् अमो नाम साम । सा वा ऋक्सामोपावदिन्धुनं संभवाव प्रजात्या इति । नेत्यत्रवीत् साम ज्यायान्वा अतो मम महिमा" (ऐ-ब्रा) इति गीतिरूपस्य साम्नः प्राधान्यात् गीत्यात्मकस्य सामवेदस्य प्राधान्यम् ; "ऋग्न्यो जातं वैदयं वर्णमाहुः यजुर्वेदं क्षत्रियसाऽऽहुर्योनिम् । सामवेदो

<sup>1</sup> निर्वायस्यापेक्षयोत्मर्कः दिःयविभूतित्वप्रयोजकः । विष्णुःय तरिकानामादित्यानां तद्येक्षया निक्षयि उयोतिरन्तरापेक्षयोत्मर्कात् (दृःयविभृतित्विभिति अत्र ह पत्तत् सर्वेतेव स्वनि- कृष्णपेक्षया स्वस्मिन् तद्यवनीति सिद्धम् 2 नाविक्षक्षित्वपत्तित्वमुत्कर्षः । सर्वत्र ह्युन्मर्षस्य भगवरचीतत्वं विवक्षितम् । 3 छित्रणोयान्तीत्यत्र एकसार्थवाहित्वक्षपेण छत्रवष्ठअवपुमय- प्रदृणवत् नक्षत्रानक्षत्रोभयग्रद्वणं निर्दायकारुक्षेणेत्यर्थः ।

<sup>22</sup> ज्योतिषामिव वेदानामध्यर्थप्रकाशकत्वात् तदुपस्थितिः। वेदशब्दविषर्यासाद् देवानाम् । देवशब्द उपनिषदि सर्वेत्नेन्द्रियपरोऽपि प्रसिद्ध इति इन्द्रियाणाम् । अथ तत्कार्यत्वात् ज्ञानस्य ।

एकादग्रानामिन्द्रियाणां यत् उत्कृष्टं मनइन्द्रियम् , तदहमस्मि । [भ्तानामस्मि चेतना ?] इयमपि न निर्धारणे । भूतानां चेतनावतां या चेतना, सोऽहमस्मि ॥ २२ ॥

रुद्राणां राङ्करश्चास्मि वित्तेशो थक्षरक्षसाम् । वसूनां पावः श्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३ रुद्राणामेकादशानां शङ्करोऽहमस्मि । यक्षरक्षमां वेश्रवणोऽहम् । वसूनामष्टानां

ब्राह्मणानां प्रसूतिः" (काठ. ३. ९. ५९) इति च । देवा इति खर्गवासिनो विवक्षिताः : ब्रह्मादि-संग्रहायोगात् । वामवशब्दस्येन्द्रशब्देन व्याख्यानमतिश्चयद्योतनार्थम् : "इदि परमैश्चर्ये" इति । ''इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः'' (क. ३. १०), ''एतसाज्जायते प्राणो मनस्त्रेवेन्द्रियाणि च'' (मु. २. १. ३) इत्यादिषु मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगिभधानात् कथम् 'इन्द्रियाणां मनश्चारिम' इति निर्धारणमित्यताह एकादशानामिन्द्रियाणां यदन्कृष्टं मन इन्द्रियमिति । अयमभिषाय:-"इन्द्रियाणि दशैकं च'' (गी १३. ५), "एकादशं मनश्चाल" (वि. १. २. ४७) इत्यादिषु मनसोऽपीन्द्रियत्वेन व्यवदेशात काचित्कः प्रथम्यवदेशो गोबलीवर्नयादिति निर्घारणोपपतिरिति । न हि मूनेषु चेतना-संज्ञकं किञ्चदुम्तमस्तीत्यसिषायेणाह इयमपीति । षष्ठीति शेषः । 'तेजस्तेजस्वनाम् ....सत्त्वं सत्त्ववताम्' (३६) इत्यादिवत् िशिष्टे सारम्तविशेषणांशो विवक्षित इत्यभिषायेग चेननावता[मत्युक्तम् । नन भूतानां षष्ठरवेन चे नासंज्ञं किमप्यन्यत्रोच्यते : यथा 'महाभूतानि खं वायुरग्रिरापस्तथा मही । षष्ठस्त चेतनाघातुरात्मा सप्तम उच्यते । अष्टमं तु मनो ज्ञेयम्' (मो घ. ३३७-४६) इति : तथा 'षष्ठस्त चेतनाधातुर्मन इत्युपदिश्यते' (भा आ. २१४. १९) इति च । <sup>1</sup>अत मनसोऽधिष्ठानतया चेतनायास्तदपृथग्वचनमित्यारियोः । अतो 'मूतानाम'सा चेतना' इति निर्धारणार्थत्वं युज्यत इति ॥ मैवम्। न हि भूतषष्ठनिर्देशमालान्महाभूतत्वम् : अन्यथाऽपि संख्यानिवेशसंभवात् । अल च सप्तमतया अष्टमतया च िर्दिष्ट गेर्महाभूतत्वःनभ्युपगम.त्, चेतनाशन्दस्य च अप्रतिद्धार्थरवात् प्रसिद्धःर्थस्वी कारस्तीचितस्वात् । अतः संबन्धमात्वविवक्षयैव अतः षष्ठी यक्तेति ॥ २२ ॥

रुद्राणामिति रदैप्वेकत्य श्रङ्कःसंर्ययेशेत्कष्योतनः । यक्षराक्षसजारशेरावद्र्र<sup>2</sup>विप्रकर्णत् **यक्ष**-र**श्च**नामित्युक्तम् ; न तु नितेशस्य राक्षसस्यगन्यः । यद्वा 'नश्चलाणामह शसी' इतिवत् जातिद्वयपतिस्व-मालमिह न्यिक्षित्म । ।वत्तेशसंज्ञया च धनदस्यासाधारगैश्च निकर्वोननम् । 'स्थावगणां हिमालयः'' इति परितमालाणां परस्ताद्वश्चमाणस्वात् मे ५ इ.स्व.रण.मित्यल शिखारशब्देन परितयिशोगो विव

<sup>1</sup> नतु म इचेत योरब इस्रोके पृथक्कथर्न सम्यक्ः उदाहतइस्रोके खेतनाधातुर्धन इति इथनपृथ्यवचनिम्त्यवाह अनेति । 2 अदुरेति । तथा च यक्षरक्षः पद्मुभय ाधारणधर्मी-विच्छन्नपग्म । तस्य धर्मस्य विसेरोऽपि सस्यान्निर्धारणोपपत्तिरिति मावः ।

<sup>23</sup> ज्ञानपदत्वात रुद्रग्रहणम् । कुबैरस्डयम्बकसस्य इति तस्य । तद्वत् तत्ससस्य कोघरूपेण तद्रनस्य तन्निटिस्नेनेत्रनिवासिनश्च पावकस्य ; तस्य हिरण्यरेतस्त्वात् हिरण्यरूपस्य मेरोः । भोगिना-मुक्ती भोगस्थानोपस्थित्या च मेरुक्तिः ।

पानकोऽहम् । शिखरिणां शिखरश्चोभिनां पर्वतानां मध्ये मेरुग्हम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुर्च्य मां बिद्धि पार्थ वृडस्वितम् । सेनानीनामहं स्कन्दः सरसाम सागरः ॥
पुरोधसाम्रुतकृष्टो चृहस्पितियः, सोऽहमिसि । सेनानीनां सेनापतीनां स्कन्दोऽहमिम ।
सरसां सागरोऽहमिम । २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं निरामस्म्वेकमक्षरम् । यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां दिमास्रयः॥ ५५ महर्षीणां मरीच्यादीनां भृगुग्दम् । अर्थाभिधायिनः ज्ञादा गिरः ; तासामेकमक्षरं

क्षितः ; शक्तश्चायं शब्दो विशेषं दर्शयितुमित्यभिषायेगोक्तं श्चाखरशोभिनां पर्वतानामिति । प्रशंसा-परः प्रत्यय इति भावः । प्रशस्त्रकाञ्चनादिमयशिखरविशेषयोगान्मेरोरतिशयः ॥ २३ ॥

**बृह्स्पित्**संज्ञ्या बृहतां पितिरित्यितिशयसिद्धिः ; गिरां पिर्धिसौ । सेनानीशन्देनात्न कर्मवश्य-सेनापितसंप्रहः । स्कन्दस्य देवसेनानीत्वरुक्षणोऽतिशयः । स्वरशन्देन प्रवाहरूपितिस्तरुपास्तुसिर्ल्छा-शयमात्नस्य विवक्षितस्वात् सागरसंप्रहः ; स्रोतसां प्रथमबक्ष्यमाणस्वात् ॥ २४ ॥

देवर्षीगां (२६), मुनीनाम् (३७) इत्यादेर्वस्यमाणस्वात् अत्र मह्च्छन्देन विशेषणाच महर्षीणामिति ऋषिगणविशेषो विवक्षित इत्यमित्रायेण मरीन्यादीनामित्युक्तम् । गिरामिति न शन्दमातं विविक्षितम् ; समुद्रयोषादिषु तत्ययोगाभावात् । अत एव नाक्षरमात्रम् , 'अक्षराणामकारोऽसिं' इति पृथयवस्यमाणस्वाच । तत एव एकमक्षरमित्यप्यकारव्यितरिक्तविषयम् । 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मः' (गी. ८. १३) इत्यादिषु पणवेऽप्येकशन्दविशेषितोऽक्षरशन्दः प्रयुक्तः-इत्यमिपायेणाह अर्थामिन्धायिषु प्रणवेऽप्येकशन्दविशेषितोऽक्षरशन्दः प्रयुक्तः-इत्यमिपायेणाह अर्थामिन्धायिषु प्रणवेद्योत्कर्षः सवीत्कृष्टार्थामिषायित्वादिना । शङ्कुना पणीनामिव सर्वासा वाचां प्रणवेन संतृण्णत्वश्चतेश्च । पञ्चेषु जपयञ्चस्य प्राशस्त्यमन्यत्व सिद्धम् 'विधियज्ञाज्ञपयज्ञो विशिष्टो दशमिगुणैः'' (मनु. २.८५) इति । किंच "कुर्योत् वृतपद्यं संस्ये[सक्ने] (१) कुर्योत्पष्टपद्यं तथा । न त्वेव तु द्वथा इन्तुं पशुमिन्छेत् कथंचन ॥" (मनु. ५.३७) इति, "पशुपज्ञैः कथं हिंसैः माहशो यष्टुमहिति" (भा. मो. १७५. ३४), "हिंसास्पकेस्तु कि तस्य यज्ञैः कार्ये महात्मनः । प्रलापे च प्रवोधे च पूजितो येन केशवः है ॥" इत्यादिवचनवलादिहासस्वयज्ञान्हांणां हिंसास्मक्यज्ञानुज्ञानम् । तत्नािष विधितः प्रवृतेः अपकारानमित्यानात् उपकारश्चतेदेवताप्रीणनस्वाच न प्रत्यवायः । फङार्थिनां तु तत्करु

<sup>2</sup> अनेन पक्तान्तनः अधिसात्पक्रयञ्चाचिकारिणः, दवनान्तराराधकारसु उपारचर्धस्-पाश्यानरीत्या तदेवताभिद्यापपूरणाय द्विसात्मकमाचरन्तातिज्ञायते । सर्वेषामपि मैद्रमहाजनाना-मद्विसात्मक यव यागः ।

<sup>24</sup> तत्र देविहतोपदेष्ट्रतथा बृहस्पतेः। तह्यत् तिह्यतकर्तृतथा सेनापनेदचोपिष्ट्यितः। सञ्चानि-सैन्यसागरमूळा स्थास्तुजळसुष्ट्यसागरोपिष्ट्यितः। 25 सागरवत् ळक्ष्मीजनकत्वाद् सृगोः। तस्य प्रणवार्थिविष्णुप्रपणत्वातिदायात् एकमक्षरं स्मृतम्। तहत् जय्यत्वान्मन्त्राणां सर्वमन्त्रजपस्य। जपतप-स्स्थानत्थात् हिमवतः (रामा. 4. 11. 12. "शैळराजो महारण्ये तपस्स्विदारणं परम्" इति।

प्रणवोऽहमस्मि । यञ्जानामुत्कृष्टो जपयज्ञोऽस्मि । पर्वतमालाणां हिमवान् अहम् ॥ २५ ॥

अश्वत्थस्सवृद्धाणां देवर्षाणां च नारदः। गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिछो मुनिः ॥२६ उच्चैदश्रवस्तवश्वानां विद्धि मामसृतोद्भवम् । ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराचिषम् ॥ ५७ आयुष्पानामदं वस्त्रं धेनृनामस्मि कामधुक् । प्रजनश्चास्मि कन्द्रपः सर्पाणामस्मि वन्सुिकः॥ अनन्तश्चास्मि नागानां वहणो यादनामद्वम् । पितृणामर्थमा चास्मि यमः संयत्नामदम् ॥२९ वृक्षाणां पृद्योऽश्वत्थोऽहम् । देवर्षाणां नारदोऽहम् । कामधुक् दिष्टपा सुरिभः।

मरुपनिस्यस् , दुःखिमश्रं च । अहिंसात्मकास्तु यज्ञाः विज्ञिष्टाधिकारिसापेक्षा भगवतोऽतिप्रीणनस्वाद-पवर्गपत्यासत्राः । अत एव ध्रुपरिचरादयः पिष्टपशुभिरिष्टवन्तः । एविनितरेषु यज्ञेषु हिंसादिमसङ्गोऽधि-कारिविशेषादिना विषयन्यवस्थापनित्यादिर्महान् क्रेशः ; जपयज्ञे तु तस्म्रिज्ञाभावात् अञ्याक्षेपेणार्थ-प्रतीत्या सवीजयोगद्वारा सहसा समाधौ निवेशनाच यज्ञान्तरेभ्यो जपयज्ञः प्रशस्ततमः सर्वाश्रमसाधारण्यात्, "जन्येनापि तु संसिध्येत् ब्राह्मणो नात्र संशयः । क्रुयोदन्यत्र वा क्रुयोन्मैतो ब्राह्मण उच्यते" (मनु. २. ८७) इति । विषुरादेरिप सिद्धिहेतुत्वाच । पर्वतिविशेषाणां पूर्वश्चक्तत्वात् इक्षाणां वक्ष्यमाणस्वाच तदुभयव्यवच्छेदार्थम् , हिमवतश्रीकराजत्वपसिद्धचनुरोधार्थं चोक्तं पर्वतमात्राणामिति ॥ २५ ॥

ननु सर्ववृक्षाण।सित्येतदनुपपत्रम् , पारिजाताद्यपेक्षया अश्वत्थस्य निकृष्टस्वादित्यत्रोक्तं पूज्य इति । पारिजातादीनामप्यश्वस्यत् पूज्यतं नास्तीति मावः । देवा मन्त्वदर्शिनो देवर्षयः, देवर्षिषु नारदस्य बहुप्रकारोऽतिशयो बहुषु प्रदेशेषु महाभारत एव प्रपश्चितः । चित्ररथः गन्धवेराजः । सिद्धानामित्यादि । पूर्वसंचितसुकृतविशेषवशात् जनमप्रभृतिसिद्धाणिमाद्यश्वर्याः सिद्धाः । 'आदि-विद्वान् सिद्धः' इति कपिळमाहुः । ''ऋषि प्रसूतं कपिळं' (श्वे. ५. २ ) इति च श्रूतिः । ''दहशुः कपिछं तत्र वासुदेवं सनातनम्'' (रा. बा. ४०. २४) इति चाहुः । अयमपि परशुरामादिवत् ॥ अमृतोद्भविति जन्मतः प्रकर्षस्चनम् । अमृतमल जलम् , मध्यमानावस्था सुधैव वा। गजेन्द्रशब्देन दिम्गजा विवक्षिताः । तेषु प्रधानतया दिवपालेश्वरस्य श्वीपतेरौपवाश्चः ऐरावतः । अमृतोद्भवते प्रवतेऽप्यन्वेतव्यम् । रथन्तरसामोद्भवदं वा द्रष्टव्यम् । नराधिपश्चदेवैव निवहिकृत्वस्थणोऽतिशयः सिद्धः । आयुधानामित्यर्वाचीनायुधपरम् । सुदर्शनाद्यपेक्षया दिवीचेरस्थसंमवस्य वज्रस्यापि निकृष्टरवात् । धेम्नां दोग्शीणाम् । दिव्या सुर्धारिति । यौगिकः

<sup>26</sup> हिमाचळवत् स्थावरत्वात् अक्वत्थस्य । स्थावरत्वप्रत्यनीकतया सदा त्रैळोक्यसञ्चारिणो नारदस्य । तद्वत् गानप्रावीण्यात् गन्धर्वीणाम् । सिद्धगन्धर्वेति उपस्थित्वतिक्षयात् सिद्धानाम् । सिद्धत्य-मणिमाद्यैश्वर्यम् । तदतिक्षयः कपिले । मननात्—अनुमानत एव सर्वतस्वसाधनात् तस्य मुनित्वम् ॥

<sup>27</sup> कपिले अभ्वयाहित्वारोपेण सगरपुत्रमस्माभावात् अभ्वोपिस्थतौ उच्चैदश्चयसः। अम्ब्रतोद्भवत्वप्राणित्वादिस्थास्यात् परावतस्य। गजानां रक्षणातिदायात् नराविपस्य।

जननहेतुः कन्दर्पश्चाहमस्मि । सर्पाः एकजिरसः ; नागाः बहुजिरसः । यादांसि जलवासिनः, तेषां वरुणोऽहम् । दण्डयतां वैवस्वतोऽहम् ॥ २६ — २९ ॥

प्रह्लादश्चा सम दैत्यानां कालेः कलयतामहम् । सृगाणां च सृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३० अनुर्धिकालावच्छेद १ विष्सत्या 1 गुण्यतां मध्ये कालः मृत्यूरहम् ॥ ३० ॥

पवनः पटनामस्मि रामः शस्त्रभ्रानदमः इत्ररःणां मकरश्चास्मि स्रोतमामस्मि जाहवी॥ ३१

कामभुक्रशब्दोऽत्र व्यक्तिविशेषनिष्ठ इति भाव: । प्रजनशब्देन जननहेतुस्व कन्दर्पस्यासाधारणोऽतिशय उक्तः । स मदायत्त इत्यर्थः । अप्रजार्थकन्दर्पन्यवच्छेदार्थो वा प्रजनशब्दः । पर्याययोस्सर्पनाग-शब्दयोः कथं प्रथम्यपदेश इत्यलाह सर्पा एकशिरसः नागा बहुशिरस इति । यादश्शब्देन वरुणस्यापि संप्रहार्थमाह यादांसि जरुवासिन इति । यद्वा जरुजन्तुमात्रं विवक्षितम् ; तेषां पितत्वेन संबन्धो वरुणस्य तत्साजात्यामावाद्राह्यः । अर्थमा पितृराजः । संयमतां <sup>८</sup>संयच्छतामित्यर्थः ; तदाह दण्डयतामिति ॥ २६ ॥ २९ ॥

''उपमानमशेषाणां साघूनां यःसदाऽभवत्'' (वि. १. १५. १५६) इत्यादिना प्रह्लादोस्कर्षः । 'अहमेवाक्षय: कारुः' (३३) इति नित्यस्य कारुतत्त्वस्य परस्ताद्वश्यमाणस्वात् , यमस्य च पूर्वमुक्तस्वात् तद्यतिरिक्तः पुरुषविशेष इह कालशन्देन विवक्षितः ; अचेतनस्य च कालस्य गणयितृत्वं न युज्यते ; कलयतामित्यस्य विज्ञातुमात्रपरस्वे तेषु कालस्य निर्धारणमयुक्तम् ; अतस्तदुचितमधीविद्रोषं दर्शयति अनर्थेति । न हि मरणातिरिक्तोऽनर्थ इति भावः ! मृगेन्द्र शब्देनैव सिंहस्यातिशयस्सिद्धः । पक्षिषु वैनतेयस्य वेगातिशयात् वेदमयत्वादिना चोत्कर्षः ॥ ॥ ३० ॥

पवतामित्यनेन पवनासाधारणिकया विविक्षता चेत् , निर्धारणं नोपपद्येतेति तदुपपत्तये

<sup>।</sup> प्रेप्सुपदं न खरसम् । गणयन्तो नानर्थे खर्च प्राप्तुभिच्छन्ति। गण्यमानानामपि तत्रेच्छा न-भवति । सुमूर्षशन्द इव सन्प्रत्ययस्थेच्छार्थेकत्वत्यागेषि अन्वयो दुर्घट एव। णिजर्थमादाय अनर्थ-प्रापणे चहुत होते स्थात्। यद्वा 34 क्षोकचिन्द्रकायामिव कालावच्छेदपदे भध्ये स्थात्।

<sup>2</sup> संयाति धात्रस्याभावादक्षेशायाह संयच्छतामिति।

<sup>28</sup> राज्ञामायुधमेवालंकार इति आयुधोपस्थितिः । विश्वामित्रायुधेरज्ञय्याऽऽसीदिति कामधेतुः वसिष्टस्योपस्थिता। वज्रवत् इन्द्रस्ववाद्वा दिव्यसुरभेः। तद्द्वारा दिलीपादेः संतान-लामात् धेनूनां सवत्सत्वाच प्रजनोपस्थितिः । कामात्कोध इति कोधोपस्थितौ तद्भृथिष्टसपेश्रष्टस्य कामधेन्वाविभीवाय सागरमन्थभृतस्य च वासुकेः।

<sup>29</sup> जात्यैक्यात् नागानाम , तद्वत् जन्नवासित्वात् अस्त्रेजन्त्नाम । वरुणस्रोकसंनि सर्यात् पित्रहोकस्थानानाम् । तत्र प्रधानस्य यमस्य ।

<sup>30</sup> यमपरिहरणीयतया 'परिहर मधुसुदनपपन्नान्' इति तद्क्तेषु मुख्यस्य प्रह्लादस्य, यमनि-याम्यस्य कालस्य, तद्वत् मरणहेतोम्गेनद्रस्य, सृगवत् पक्षिणां निर्यक्तवात् तद्राजस्य ।

<sup>31</sup> वैनतेयवत् वेगसंवद्मश्च वायोः। अतिवेगेन शरग्रहणसंघानमोचनादिमहितस्य श्रीरामस्य रामस्य शत्रक्षेन्य इव नवस्रोनोभिमुस्त्री वृत्तिमेकरस्येति तदुक्तिः। मकरसञ्चारस्थान स्रोत इति तस्य।

पवताम् गमनस्त्रभावानां पवनोऽहम् । शस्त्रमृतां रामोऽहम् । शस्त्रमृत्तवपत्र विभृतिः, अर्थान्तराभावात् । आदित्यादयश्च क्षेत्रज्ञा आत्मत्वेनावस्थितस्य भगवतः शरीरतया धर्मभृता इति शस्त्रभृत्वस्थानीयाः ॥ ३१ ॥

श्वार्गणातिहरन्तश्च मध्यं चैवादम्जून । अध्यात्मविद्या विद्यानं वादः प्रवत्तमद्यस् ॥ ३ र समन् स्वभावानामित्युक्तम् । अजस्रममनशीलानामित्युक्षः । प्रवन्नेपिता एव हि तारकादयोऽप्यजस्रं परिअमितः । सोमपवनादिप्यवातः (१) श्रीधनान्यियमनित्विविद्यतम् अमोधशस्त्रव्यक्षम् नामह्मिति । पर्यस्थान्त्रस्य रामो विविद्यतः हि तदुन्तितम् अमोधशस्त्रव्यक्षणमितशयमाह अस्यम्वन्त्वत्र विस्ति । पूर्वेतिरेप्विव राम एव विमृतिः कि न स्यादित्यत्वाह अर्थान्तरामावादिति । अर्थान्तराणां मध्ये स्वासाधारणधमिवशेषनिर्देशे रीतिभक्तः स्यादित्यत्वाह आदित्यःद्यश्चिति । शस्त्रमृत्वस्यान्येषां च सम्यवन्तं धर्मिणं प्रति धर्मत्वमविशिष्टमित्येकैव रीतिः ; निर्धारणानिर्धारणभेदवत् सुस्मेदमातं न दोष इति मावः । तत्र 'आदित्यशब्देन' उयोतिषां रिवरंशुमान् (२१) इत्युक्तरे रिविविविद्याः । 'आदित्यानामहं विष्णुः इत्युक्तस्त्वादित्यो रामतुल्यः । मकरो मत्स्यराजः । स्रोतस्य जाह्व्याः विष्णुपदोद्भवत्वसर्वज्ञन्तिर्यो रामतुल्यः । ॥ २१ ॥

प्रशासामी जीव एव । आवेशावनारत्वाइवतारेषु गणना । रामपदेन तदग्रहणे धर्मवेव गृह्यत-परंतु अर्जनस्य मानभंगः स्थात् । प्रकृष्टरामग्रःणञ्च संभवत् नोवेक्ष्यम् । तत्र स्वस्य स्व-विभिन्नत्वायोगात् धर्भपरत्वमः सर्वगतशस्त्रभ्रत्वानां मध्ये रामगतशस्त्रभ्रत्वं महिभतिरिति भाषः। आहित्यानामहं विष्णुरित्यज्ञापि अदिरवृत्यज्ञात्व माणां भध्ये विष्णुगततस्य तथात्वम । अदित्य-राज्य शरीराणां मध्ये विष्णु रूपदिन्य विश्वहो महिभतिरिति वा । तहावापि स्वभस्वविज्ञिष्ट-हियहबहुणम् । प्रमुपरि वासदेव इत्युत्रापि । बाच्यार्थस्त विष्णः रामः वासदेव इति प्रदानां यः प्रसिद्धः स एव. न धर्मादिकम् । अत एव अदमित्यनेन सामानाधिकरण्यम् । न हि विभक्षिज्ञान्द्रमामानाधिकरण्यमत्र दश्यते । शंकरादिपदानामद्वेशन्द्रसामानाधिकरण्याय अपर्यव-मानवस्या तदिशिएकपार्थविवक्षा । अत्र विष्णवादिपदे प्रतीतार्थमात्रमः अधिकस्य उर्वचत्वात अनपेक्ष्यत्वाच तत्र शंकरादिरूपप्रसिद्धार्थेषु नियाम्यतया विभू तित्ववत् अत्र विष्णवादौ तदयोगात त्रिकेषणे धर्मे विग्रहे वा विभिन्तिविवस्था ग्राह्मेन्येतावदेवालोच्यन । न त शहरार्थान्यशाहरणं किञ्चित्रि । शस्त्रभूनामिति प्रयोगात् वृष्णीनामितिवत् वंशपुरुषानिदेशात् राम इत्यत्न, "अद्य रामस्य रामस्यमः " इति प्रसिद्धमतिरायिनशस्त्रभूरवमेव विभातः। 'वृष्णीनां वासदेवोऽस्मि' इत्यत्न वसदेवादरपन्तिर्विभृतिः। वसुदेवोऽस्मीति सन्त्वे वसुदेवस्य विभृतित्वं स्यात् । वष्णोनां कृष्ण प्योऽहामिति सर्वे कृष्णदिव्यविम्रहस्तथा स्यात् । आदित्यानामहं विष्णुरित्यह विष्णुत्वे विम्रह एव । "विष्णुत्वमुपजिम्बान्" इति यथा । देवत्वमनुष्यत्वादयो हि शब्दाः तत्त्विग्रहवस्वपराः।

<sup>2</sup> तत्त्वत्सृष्टिस्थितिसंहत्यसमर्थापक्षया समर्थेषु विभृतित्वातिशयः। 3 पवतां पाविय-तृणाधिति शांकरार्थं निषेष्ठति पदनेति। अत्र पाडो द्रष्टन्थः। अत्र हहेति पदहये एकं न स्थात्।

<sup>े 32</sup> लोकत्रयस्यापिन्या गङ्गया कालक्ष्येऽपि लोकपायनहेतुना उत्पन्यादिदशावयवत्सर्गो-प्रांस्थितिः। सर्गकलं सर्गान्तदेतुश्च वेशान्तविद्यालामः, सा च वारलभ्येति तत्ततुपास्य तः।

सुज्यन्त इति सर्गाः, तेषाम् आदिः कारणम् ; सर्वदा सुज्यमानानां सर्वेषां प्राणिनां तत्रतत्र सृष्टागेऽहमेवेत्यर्थः । तथा अन्तः सर्वदा संहियमाणानां तत्रतत्र संहर्तागेऽप्यहमेव । तथा च मध्यं पालनम् ; सर्वदा पालयमानानां पालयिताःश्चादमेवेत्यर्थः । जलपवितण्डादि कुर्वतां तत्त्वनिर्णयाय प्रवृत्तो वादो यः, सोऽहम् ॥ ३२ ॥

अक्षराण मकारोऽस्मि इन्हरूनामासिकस्य चे। अहरेव क्षणः कार्टः घाताऽहं विश्वतोमुखः॥ अक्षराणां मध्ये 'अकारो वै सर्वा वाक्' इति श्रुतिसिद्ध सर्ववर्णानां प्रकृतिरकारो-ऽहम् सामासिकः सवाससमृहः ; तस्य मध्ये द्वन्द्वयमासोऽहम् । स सुभयपदार्थप्रधान-

बहुबुचोपनिषदि (एतरे. २.३.४) श्रुयते, अ इति ब्रब्नेति । तथा 'अकारो वै सर्वा वाक् ; सैषा स्वर्जोप्मभि-र्यज्ञयमाना बह्वी नानारूपा भवति' इति श्रुत्येव प्रविश्वतं प्रकृतित्वमाह सर्ववणीनां प्रकृति-रिति । निर्धारकी विक्वहुत्वसिद्धवर्षे प्रत्ययाथे दर्शवित सामासिकस्समासमपृद्द इति । <sup>1</sup>पूर्वेत्रसा-न्यपदार्थिप्रधाने-योऽन्ययीमावतपुरुषबहुत्रीहिभ्यो द्वन्द्वस्योत्कर्षमाह स् द्वामयेति । अक्षपशन्देन 'कला

<sup>1</sup> पूर्वपदार्थप्रधानः निर्माक्षकामित्यादिरस्थयोभावः ; उत्तरपदार्थप्रधानो राजपुरुष इत्यादिः तत्पुरुषः , अन्यपदार्थप्रधानः पीताम्बर इत्यादिर्बद्धमीहिः ।

<sup>3)</sup> वादे उपयोगात् अक्षराणाम , अनेकपदघाटतम्बात् समासस्य, समासस्यानित्यस्थोक्तौ नित्यस्य काळस्योपस्थितिः । ततो नित्यतुस्यस्य सुदीर्घस्थितेः घातुः ।

रवेनोत्कृष्टः । कळाषुह्र्नाद्विमयोऽक्षयः कालोऽहमेव । सर्वस्य स्रष्टा हिरण्यगर्भश्वतुर्भुखोऽहम् ॥
मृथ्यस्यवंहरश्चाहम् उद्भवस्य भ नेष्यताम् । कीर्तिहश्चीर्वाक् च नारीणां रस्तिमेद्या घृतिः क्षमा ॥
सर्वप्राणहरो मृत्युश्चाहम् । उत्परस्यमानानायुद्भवास्यं कर्म चाहम् । [नारीणां] श्रीरहम्;
कीर्तिश्चाहम् ; वाक्चाहम् ; स्मृतिश्चाहम् ; मेधा चाहम् ; धृतिश्चाहम् ; क्षमा चाहम् ॥ २४ ॥
वहस्याम तथा साम्नां गायात्री छन्दस्यम् महम् । मास्यानां मार्गशोर्योऽहस्य गं कुलसाकरः॥

मुह्नतीः काष्ठाश्च' (ना), 'कलामुह्नतीदिमयश्च कालः' (वि. ४. १. ८४) इति श्रुतिस्मृत्यादिसिद्धबहु-विधविकाररूपलोकक्षयहेतुम्तानन्तावच्छेदे सत्यि खरूपतोऽनाचन्तत्वं विविक्षतिमत्यभिपायेणाह कलेति। 'अनादिभीगवान कालो नान्तोऽत्य द्विज विद्यते' (वि. १. २. २६), 'कलोऽसि लोकक्षयकृत प्रवृत्तो नान्तो न चादिनं च मेऽस्ति मध्यम् '....इत्यादिभिरिदं कालाधिष्ठातृत्वं व्यक्तम् । धातृशब्दरूख्या विश्वतोष्ठस्वन्यविशेषणेन च हिरण्यगर्भ एवालोच्यत इत्यभिपायेणाह सर्वस्येति । धातृशब्देनैवाण्डान्त-वैर्तिसमस्तविधातृत्वलक्षण उत्कर्षः सिद्ध इति प्रदर्शनाय सर्वस्य स्रष्टेत्युक्तम् । एतेन कर्मफलविधातृ त्वेन व्याख्यान्तरं निरस्तम् । विश्वतः इति दिक्चतुष्टयमात्रमिह विवक्षितमिति ज्ञापनायोक्तं चतुर्प्रस्व इति । वेदचतुष्टयप्रवर्तनादिकं चानेन स्चितम् ॥ ३३ ॥

कर्मानुरूपदण्डन—कालावच्छेदाधिकृतयोधेमकालाल्ययुरुषयोहरुत्तत्वात् यमादेशकारिपाणाधिकृतपुरुषविशेष इह मृन्युरुपर्वहरः इन्युच्यत इति ज्ञापनाय सर्वप्राणहर इन्युक्तम् । प्रलये सर्वसंहर्तेश्वर इह मृन्युरुपति कैश्चिदुक्तं मन्दम्, 'मृतानामन्त एव च' इन्युक्तरवात् । उद्भवसहपाठादत्व मृन्युशब्दो मरणपर इति केचित् । उद्भवशब्दः स्वरसत उत्पत्तिक्रयापरः ; उद्भवस्थानादिकं चाल पृथगेव निर्दिष्ट-मिति क्रियापरत्वमेवोचितमित्यमिप्रायेण उद्भवाष्ट्यं कर्मेत्युक्तम् । कीत्योदयो नेह गुणविशेषा विव-श्विताः ; तेषां पुरुषेप्यपि च उद्भूतत्वेन नारीणामिति विशेष[ण]।योगात् । न च नागीशब्दोऽत्व श्वीलिक्षयदार्थमालपरः, गुरुयवाधाभावात् । अतो नारीविशेषनिर्वारणमेव क्रियते । तत्र च श्रिय एव सर्वनारीभ्योऽतिश्वितत्वात् सेत्र प्रथमं वक्तव्या ; कीर्तिश्वीरिति [तु] पाठकमोऽर्थकमेण बाध्यत इत्यमिप्रायेण श्रीरहं कीर्तिश्वाहमित्युक्तम् । एताश्र भगवदसाधारणञ्चक्तयः । अन्यत्न तु तत्त्वभिमानविशेषात् तत्तच्छव्दः ॥ ३४ ॥

सामसु बृहत्साम्न उरक्वष्टतं श्रुत्यैवं सिद्धम् , 'बृहच वा इदमग्रे रथन्तरं च आसां वावच वै तन्मनश्चास्तां वाग्वै रथन्तरं मनो बृहत् । तद्बृहत्पूर्वं ससुजानं रथन्तरमत्यमन्यत तद्रथन्तरं गर्भमधत' (ऐ. ब्रा. ४. १९. ६) इति । गायन्यादछन्दसां मातृत्वेनोत्कर्षः श्रुतिषु छन्दोविचित्यां च प्रपश्चितः।

<sup>।</sup> मयडल स्वरूपे, न तु विकारे, इति नयद्युमणिः (पु. 178)।

<sup>34</sup> तनो नाशस्य, तत उत्पत्तेः, स्थितिकालसंपाद्यकीत्यदिश्चोपस्थितः।

<sup>35</sup> क्षार्व्यादिहेतोः साम्न , तदाधाः संबन्धिनरछन्दस्तः, छन्दोध्ययनार्थदक्षिणायनान्त्यस्य मार्गदीर्थस्य, प्रकारान्तरेण मान्यन्य चसन्तमःसस्य ।

साम्रां बहत् साम अहम् । छन्दसां गायन्यहम् । छनुमाकरः वसन्तः ॥ ३५ ॥ धृतं छस्रयतामस्मि तेजस्त्रेजस्विनामहम् । जयोऽस्मि ब्ध्वसायोऽस्मि ब्यवं सस्ववतामहम् ॥ छस्रं कुर्वतां छस्रास्यदेष्वश्चादिसञ्चलं द्युतमहम् । जेतृणां जयोऽस्मि । व्यवसायिनां व्यवसायोऽस्मि । सस्ववतां सस्वमहम् । सस्वम् महामनस्त्वम् ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनक्षयः । सुनीनामप्यदे स्यासः कवीनामुशना कविः॥ वसुदेवसुन्वमत्र विभृतिः, अर्थान्तराभावादेव । पाण्डवानां धनंजयोऽर्जुोऽहम् ।

यथा बहुक्चोपनिषदि, ''अयं वै छन्दसां गायती'' इति । मासेषु मार्गशीर्षस्यातिशयः वर्षगर्भाधान-काल्रत्वात् मासाधिदेवेषु केशवादिषु प्रथमस्य केशवस्य मासत्वात् व्रत(ऋतु)वर्गारम्भकाल्रत्वाच । कुसुमाक्रशाब्देनैव वसन्तस्य प्रत्यक्षसिद्धः सर्वपाणिसुलहेतुरतिशयो द्योतितः । ''वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत'' (आ. श्रौ.), ''वसन्ते दीक्षयेत् विधं प्रीप्मे राजन्यमेव च'' (....) इत्यादिमिश्च ॥ २५ ॥

छल्यतामित्यल 'तत् करोति' (अष्टा. वा. ३. १. २५) इति णिजित्यभिषायेण छलं इवैतामिरयुक्तम् । अक्षसंचारादिमालेण जयपराजयारोपादिह च्छल्रत्ववाचोयुक्तिरित्यभियायेण अक्षादिल्खणमिरयुक्तम्। 'तेजस्तेजस्विनाम्' इत्यादिवत् 'दीव्यतां यूतमहम्' इत्यानिभानात छळ्यतामिति छळ्करणमात्वचचनाच छळ्स्थानान्तरेभ्यः क्रयविकयऋणदायसंविरसंगरादिभ्यो यूतस्यातिशयितस्यं विवक्षित्यमित्यायेण
छलास्पदेष्विरयुक्तम् । वश्चनास्पदेष्वित्यर्थः । अक्षादि इत्यादिशव्येत्वस्तावानिर्जीवसमस्ययूतवर्गसम्बद्धः ।
यद्वा निर्जीवमालमहणाय अक्षादिळ्छणमिरयुक्तम् । तस्य चातिशयितत्वमनायासेन धर्माविरोधेन, अभ्युपगमादेव समस्तधनहरणादेश्यययवात् । तेजस्विसत्त्ववच्छ्वयः पूर्वोत्तरयोत्तेजस्तत्ववाभ्यामवरुद्धवात्
तत्र जयव्यवसाय[शब्द]योरन्वयानीचित्यात् तदुचितौ जेतृत्यवसायिशव्दौ पूर्वापरच्छाययाऽर्थाक्षिप्तावित्यभिष्यायेण जेतृणां व्यवसायिनामिति चोक्तम् । 'द्रव्याद्यव्यवसायिश्व सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' (नाम. ३.
ना) इत्यादिमिः सत्त्वशब्दस्यानेकाथिसिद्धेः व्यवसायस्य चोक्तत्वात् सत्त्ववच्छ्वद्वप्रसिद्धयनुरोधेनाथिदशेषं
दर्शयति सत्त्वं महामनस्त्वमिति । एतेन पराभिभवसामध्येळक्षणात् तेजकोऽपि सत्त्वस्यात् मेद उक्तः ॥

ष्टणीनां वासुदेवोऽस्मीत्यत्नापि रामवत् साक्षास्त्वावतारःवादाह् वसुदेवस्तुरःबमत्र विभृति-रिति । अर्थान्तराभावादेवेरयेवकारेण रामपसङ्गे हेतोः प्रागेवोक्तस्य स्वितम् । नतु वसुदेवस्तुरव-मिति केथं विमृतिः । न हि स्नुरवमालेणातिशयः, अतिपसङ्गात् । न च वसुदेवारुयपितृविशेषसनु-रवेन; तस्याप्यनेकसाधारणत्वेन निर्धारणायोगात् । न च वासुदेवशब्दपसिद्धिमालेण, तावन्मालस्य अतिशयं प्रत्यप्रयोजकस्वात्; न चेह वसुदेवस्तुर्यसुपदेश्यम्, अर्जुनस्य समितिपन्नरवादेव । अतस्या-क्षादवतारस्य नोचितम् । अत एव वृष्णीनामहमस्मीति नोक्तमिति ॥ अत्रोच्यते । वासुदेवशब्दोऽल

<sup>36</sup> धनार्जनकालेखात् धसन्तस्य तदार्जनोपायस्य छलस्य, तद्वत् तदुवायस्य तन्मूलेकतया अर्जुनादी प्रसक्तस्य च युद्धस्योपधीरानस्तेजसः, तत्कलंस्य च जयप्रभृतेकपिस्थितः।

<sup>37</sup> संप्रति ब्यवसाय हेतुककर्मयोगसाध्यसस्यद्वेतोः स्वस्य वासुदैवस्य, ताइश जयाद्या-क्रा-45

मुनयः मननेनाऽऽस्म (नार्थ)याथास्म्यदर्श्विनः ; तेषां व्यापोऽहम् । कवयः विपश्चितः ॥ ३७ ॥ द०डो दमयतामस्मि ः तिरस्मि किपीयतः । । । । । । । । । । । विजयातिक्रमणे दण्डं कुर्वतां दण्डोऽहम् । विजिगीषृणां जयोपायभूना नीतिरस्मि ।

लक्षणया वसदेवगृहे चतुर्भजतयाऽवतार्प्रभृति अतिमानुष्गुणविम्रहपराक्रमादिरूप<sup>1</sup>मागोपालं असिद्धमित-श्यं रुक्षयति।तस्य चार्जुनं प्रत्यभिधानं दृष्टान्तार्थम्। सर्वनाम्नः असम्च्छन्दादपि साक्षान्नाम्नोऽत्यन्तासन्नत्वा-दिभिर्तिश्योऽत्र विवक्षितः॥ धर्मे युधिष्ठरस्य सर्वतिशायित्वात् , बले च भीमसेनस्य, आभिरूप्यादिष च माद्रीसतयो: (१) श्रेअर्जन इति प्रसिद्धनामधेयेन विश्वदीकरणम् । तेन स्वाभिमुखमर्जुनं पति त्विमिति निर्देशामावात् कि धनंजयास्त्रोऽन्य इति शङ्कान्यदासः । न बात पारोक्ष्यप्रसङ्गः. अपरोक्षस्यैव सर्वन्यात सर्वदर्शिना वचनादिति । ऋषित्वं ब्रहष्टविशेषाद्ीन्द्रियार्थदर्शित्वम् : तच प्रायशः प्रागेशोक्तम । अतो मनीनामित्यनेन तदितिरक्तः [अर्थः १] निर्वचनबळात् 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' (बृ. ६. ४. २ २) इति श्रत्यनुसाराच विवक्षित इत्यभिपायेणाह मनयो मननेनात्मयाथात्म्यदर्शिन इति । तथाविषश्च भगवती व्यासस्यातिशयः तद्वावनेरेव सिद्धः, "अ.लोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पन.पनः । इदमेकं सनिष्पन्नं ध्येयो नारायणस्तरा ॥'' (गा. प्.२२२.१: भा. अनु. १०६) इत्यादिभिः: "तपोविशिष्टादपि वै विश्वष्टान्मुनिसत्तमात् । मन्ये श्रेष्ठतमं त्वाऽद्य रहस्यज्ञानवेदनात् ॥" (भा. आ. १. ९६) इति च । अयमपि कश्चित् विभवावतारो गण्यते, "वेदिष्द्भगवान् कल्की पातालशयनः प्रभुः" (अहि. ५, ५६) इति । कवीनामिति न निबन्धृत्वं विवक्षितम् : तथा सति वाल्मीकियभृतेसर्वािशायित्वात् । अतः कान्तदर्शी कविरिति विवक्षित इत्यभिषायेणाह कवयो विपश्चित इति । उशनसो विपश्चितस वैलक्षण्यं नीतिनपणस्वादिभिः । प्रसिद्धं हेतत् . "न कश्चित्रोपनयने <sup>अ</sup>पमान् अन्यत् भागेवात् । शेषसंवतिपत्तिस्त बद्धिमत्स्वविष्ठते ॥'' (भा. आ.) इत्यादिषु ॥ ३७ ॥

नियमाः तकमण इति दण्डारे पत्वकथनम् ; अदण्ड्याविषयदण्डस्यादिशयेन नरकहेतुस्वात् । नीदिरस्मि नीतिमतामिति वक्तःयम् , जिगीषतामित्यनेत तु कीद्दशोऽन्त्रय इत्यत्नाह विजिगीषृणां जयोपायभूता नी तरिति । बुद्धित्यापारविशेषो विवक्षितः । टोकविदितस्य वाङ्नियमनरूपस्य मौनस्य <sup>4</sup>गुद्धत्वाभावान्न िर्धारणमुचितम् ; मौनश्चरस्थासविद्यादिविषयस्वे तु प्रसिद्धित्यागः स्यात् ;

ब्रयस्य चनक्षयस्य, चनक्षयार्थोपाद स्थायसः पश्चातः काञद्देनोः सिस्यः वेटायम नसमर्थोक्तो, स्थनाबुद्धयि कान्त ग्रहणसमर्थस्य भार्गवस्योगस्यितः।

<sup>1</sup> स्तुन्वं पुत्रः वं नत्तपःर्रात्रः निवादः स्वं निवादः प्रवेति विलक्षणविद्यद्वनः हतकार्याधाति-द्याग्रदः । 2 अत्र 'युचिष्ठिरादिष्यव कुनगनविशेषदर्शिकारूपयणः अंश इव । 3 स्तरागृहीता-पूर्वाच्य्रद्वण प्रात्ने पार्वेषे । 4 गोष्यं हि गुह्यम । न हि मौने गोष्यत्वमस्तीति ।

<sup>38</sup> भागंत्रीपदिष्टासम्मावर्णे दण्डनं जयोगायश्च। गोष्यार्थगोवनश्चेवम् , सर्वमिदमैहिक-श्रेयसे । यतम् सर्वे वस्तुतौ यदर्थम् , तत् परमफलार्थसंपादां ज्ञानमन्ते विशिष्योच्यते ॥

गुह्यानां संबन्धिषु मौनमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानं चाहम् ॥ ३८ ॥

यद्यापि सवस्तानां वोजं तदहन्तुंत। न तदस्ति विना यत् स्यान्यया स्त वरावरम् ॥ ३६ सर्वभृतानां सर्वावस्यावस्ति । तत्त्वस्यावीजभृतं प्रतीयमानमप्रतीयमानं च यत् , तत् अहमेव । भृतजातं मया आत्मतयाऽवस्थितेन विना यत् स्यात्, न तदस्ति । 'अहमात्मा गुडाकेश मर्वभृताशयस्थिताः' (२) इति प्रकमात्, 'न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भृतं चरावरम्' इत्यत्रात्यान्मतयाऽवस्यानमेव विवक्षितम् । सर्वं वस्तुजातं सर्वावस्यं मया आत्मभृतेन युक्तं प्रसादि(युक्तंम रित्यर्थः । अनेन सर्वस्यास्य सामानाधिकरण्यनिर्देशसाऽऽत्मतयाऽवस्थितिरेव हेतुरिति प्रकटितम् (प्रकटयति) ।। ३९ ।।

न च गुह्यधर्मत्वं मौनस्य, येन 'सत्त्वं सत्त्ववताम्' इतिवत् स्यादित्यताह गुह्यानां संविन्धषु गोपनेषु गोपनेषु गोपनेषु गोपनेषु गोपनेष्यत्वं संप्रतिन्वम् । ततश्चात्र संवन्धमाते पक्षी गोपनोपायत्वं संप्रतिन्वम् । ततश्चात्र संवन्धमाते पक्षी गोपनोपायकमावरूपविदेशेषे विश्वान्ता । 'मृतानामस्मि चेतना' इति (२२) चैतन्यमात्रस्य पूर्वमुक्तस्वात्, अत्र ज्ञानं ज्ञानवतामिति पुरुषार्थीपयिकातिद्यायितज्ञानिविद्योषोऽभिमतः, "तत् ज्ञानम्, अज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्" (वि. ६. ५. ८७) इतिवत् ॥ ३८ ॥

सर्वभृतानां वीजमिति न प्रधानमालयुच्यते ; तस्य साक्षास्यर्वमूत्वीजस्वाभावात् । नापि वीक्षादिरुक्षणं वीजम् ; तस्य सर्वभृतशब्दसंगृहीतेषु जङ्गमेण्वनन्वयात् । तत्थाविदेषेण तत्तरकार्यावस्थन्द्रव्यापेक्षया तत्तरकारणावस्थोपादानद्रव्यमालिम् विवक्षितिमत्यिभगयेणाह सर्वावस्थेति । एतेन प्राकृततैमितिकसृष्टधादेः 'अहमादिश्च' (२०) इत्यादिनोक्तस्वात् इह नित्यसृष्टिहेतुमृततत्तर्द्रव्यशरीरकत्वेन तद्वेतुक्ष्वमिष प्रदर्शितम् । यद्यापीत्यनेनाभिवेतमाह प्रतीयमानमप्रतीयमानं चेति । अप्रतीयमानम् अनुमानादिवेद्यमित्यर्थः । न तदस्तीत्यादौ श्वस्थितिरक्तास्त्रवादिविधिपरत्वश्रमञ्चदासायाविनाभावार्यत्तिकः । उपक्रमविरोच्युपतेहारो नोदेतुमलमित्यभिवायेणाह भूनजन्ति । आत्मतयाऽवस्थितेन अविनाभावमुपत्यद्विति अद्वस्ति स्वर्थः । व्यक्तरे त्रोक्तिकिः । व्यक्तरे त्रोक्तिकिः स्वर्थः विद्यापावनाभावार्यस्थिते अविनाभावसुपत्यद्विति अद्वस्ति स्वर्थः । व्यक्तरे त्रोक्तिकिल्लाम् अपनित् । उपक्रमोप सहार्योरिवनाभावकथनस्य भगवद्भिषेः प्रशेजनन्तः अपनेति । कवित्किचिद् द्रश्वर्य रिक्तेस्सामानाधि करण्यमिति तदाश्चयद्वस्य भगवद्भिते । दिन्ति प्रापेव (७. ८.) प्रविन्तमसाभिः ॥ ३९ ॥

<sup>1</sup> युक्तं स्यादित्यत्व स्यादिति न स्यात् । 2 स्थव्यति रिक्तं न आदित्यात्ययदं विष्णु रह तदकन-रणध्दे, टोक्यगतसञ्चानुषयम् । अकरणस्य व्यतिरिक्तामेश्यास्य गतिपाद व्यस्त्वे कातप्येषु निर्धा-रणेन किसिदं दिव्यावसृतित्वमुच्यनः !

<sup>3)</sup> भृतसाधनीयस्य लोकस्यवद्वारयथार्थद्वानादैः सास्यतम्बुनावेक्षितस्योज्यनःतरे भृतानि । अति वीजमृतस्याप्युक्तिरिति । आदित्यानामित्यारभ्योकषु उत्तरोत्तरोपिस्थितिरीति वे दिङ्मालेण द्विता । अधिकावकारी द्वरूपरतया विस्ताता पुनः बहुविषः संवन्धो सुद्धिगोसरो भवेत् ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तष। एव तृहेशतः प्रोक्तो विभृतेर्विस्तरो मया ॥४० मम दिव्यानां कल्याणीनां विभृतीनामन्तो नास्ति ; एव तु विभृतेर्विस्तरो मया केंश्रियदाधिमिः संक्षेपतः प्रोक्तः ॥ ४० ॥

यंद्यत् विभृतिमत् सत्त्वं श्रीमत् ऊर्जितमेष वा। तत्त्वदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥ ४१ यद्यत् विभृतिमत् ईश्चितव्यसंपन्नं [सत्त्वं ?] भृतजातं श्रीमत् कान्तिमत् , घनधान्यसमृद्धं वा, ऊर्जितं कल्याणारममेषुद्युक्तम् ; तत् मम तेजोंशसंभवमित्यवगच्छ । तेजः परामिभवन-सामर्थयम् , ममाचिन्त्यशक्तेनियमनशक्त्येकदेशसंभवमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन कि झानेन तवार्जुन । विष्टभ्याहमिदं छत्स्त्रमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२ इति श्रीमद्भगवद्गीतास्पनिषत्सु......विभृतिविस्तरयोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥ बहुना एतेन उच्यमानेन झानेन कि प्रयोजनम् । इदं चिद्चिद्गत्मकं कृत्स्रं जगत् कार्यावस्यं

निस्शोषवचनाशवयतां प्रागुक्तामेव सारयति नान्तोऽस्तीति । दिव्यशब्देन देशविशेषवर्ति-रवादिविवक्षायां पूर्वमनियतदेशवर्तिनाम् अदिव्यानां प्रपञ्चनं विरुध्येतेत्यत उक्तं कर्याणीनामिति । 'विभृतीरात्मनस्शुभाः' (१९) इति बुपकान्तम् । <sup>8</sup>उद्देशतः एकदेशतः ; प्रयोजकाकारैः विभृत्युद्धा-रेणेत्यर्थः । तदभिपायेणाह कैश्विदपाधिमिस्पंक्षेपत इति ॥ ४० ॥

ृ प्राधान्यतः (१९) इत्युपक्रस्य प्रपश्चितमर्थमनुक्तानामवश्यवक्तस्यप्रधानविम्तृतिनां संग्रहाभिप्रायेणोपसंहरति यद्यदिति स्ठोकेन । विभृतिशब्दस्य प्राकरणिकमर्थमनुसंघायोक्तम् ईश्वतःयसंपद्मिति।
सक्त्वशब्दोऽत्र जन्तुपरः। वीष्सामिपायव्यक्षनाय जातशब्दः। विभृतिमच्छीमच्छब्दयोः पौनरुक्तः परिहरित
कान्तिमदिति । नियन्तव्यविशेषविवक्षया वा गोवछीवर्दन्यायात् पुनरुक्तिपरिहार इत्यभिपायेणाह
धनधान्यसमृद्धं वेति । ऊर्जितमित्युत्कृष्टत्वादिसामान्यविवक्षायामितरपाठवैवर्थ्यात् विशिष्टमर्थमाह
कस्याणेति । उर्जाशब्दो धदीनत्वेन सन्नाहशीस्त्वपरः । विभृतिमदित्यादि वस्रादिमतां प्रदर्शनम् ।

मम तेजोंश्वसंभविमत्युक्तं विमहगततेजोद्वत्येकदेशोपादानस्यं प्रतियेतित तिव्ररासाय प्रकृतीपिकं
तेजशब्दार्थमाह तेजः पराभिभवनसामर्थ्यमिति । कोऽयमलाभिमशे नाम १ तत्न च कथमंशसद्भावः इत्यताह समेति । अचिन्त्यशक्तिरित्यनेन चिन्तायोग्याशनिष्कर्षाय ममेत्यस्याभिप्रायो
विष्टतः । तेन सर्वागोचरत्वामङ्गुरत्वाघटितघटनत्वादिसिद्धः । यथा शैलान्दोळनदोहिलन्धण्डमास्तस्य
गुणपेरणादिकं वेगलेशनात्नमवम् , तद्वदिहेति भावः । तेजसोऽशः संभवे। यस्य, तत् तेजोंशसंभवम् ॥

एवं 'प्राधान्यतः' (१९) इत्युवकान्तमुपसंहृतम् ; अथ संक्षेपेण प्रधानाप्रधानसमस्तविमृति-संग्रहमाह अथवेति स्ठोकेन । उच्यमानेनेति । एतच्छब्द उवत्यवसानराहित्यपर इति भावः । विभृतिपर्यवसानज्ञानरूपं प्रयोजनं न सिध्येदित्यभिप्रायेणाह कि प्रयोजनमिति । इदमित्यनेन तत्तत्प्रमाणप्रतिपन्नवैचित्र्यं स्चितमित्यभिप्रायेण चिद्वचिदारमक्रमित्युक्तम् । कार्येत्यादिना कृत्स्व-

<sup>1</sup> कस्यचिवंशस्य उद्युत्योपदेशो निर्देशो वा उद्देशः।

कारणावस्थं स्थूलं सङ्मं च खरूपसद्भावे, स्थिती, प्रश्वत्तिभेदे च यथा मत्सङ्कल्पं नातिवर्तेत, तथा मम महिक्कोऽपुतायुतांशेन विष्टम्याहमवस्थितः। यथोक्तं मगवता पराश्वरेण, ''यस्रायु-तायुनांशांशे विश्वश्वक्तिरियं स्थिता'' (वि. १. ९. ५३) इति ॥ ४२ ॥

॥ इति श्रीभगक्दामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये दशमोऽध्यायः (विभ्त्यध्यायः) ॥ १० ॥

श्रीः

अथ एकादशोऽध्यायः (विश्वरूपाध्यायः) ॥ ११ ॥

एवं भक्तियोगनिष्पत्तये तिष्टवृद्धये च सक्छेतरविरुक्षणेन स्वाभाविकेन मगवदसाधारणेन करयाणगुणगणेन सह भगवतः सर्वात्मत्वं तत एव तद्व्यतिरिक्तस्य कुरस्नस्य
चिद्चिदारमकस्य वस्तुजातस्य तच्छरीरतया तदायत्तस्वरूपिस्यतिप्रवृत्तिरवं चोक्तम् । तमेतं
मगवदसाधारणं स्वभावं कुरस्नस्य तदायत्तस्वरूपिस्यतिप्रवृत्तिरवं चोक्तम् । तमेतं
मगवदसाधारणं स्वभावं कुरस्नस्य तदायत्तस्वरूपिस्यतिप्रवृत्तितां च भगवत्मकाछादृपश्रुस्य
शब्दाभिवेतविवरणम् । स्यून्तं सुक्षमं चेति कार्थकारणावस्ययोधयाक्षममन्वयः । स्वरूपेत्यादिना
विष्टम्भनपयोजनकथनम् । अतिरवेषु स्वरूपसद्भावः उत्पत्तिः ; नित्येषु त्वसद्यतिरेकः । नित्यानां
स्वरूपपि हि भगवतो नित्येच्छासिद्धम् । इदं च प्रागेव पपश्चितम् । अत्र स्वरूपैकदेशावतरादिरूप्यायस्युद्धासाय, नियमनप्रकरणवस्याच मम महिम्न इर्युक्तम् । अत्र मिश्चरवदेन प्रकृतं नियमनसामर्थ्यमेव
विविश्वतम् । अत एव तेजोंशसंभविमत्यनेनैकार्थ्यम् । एकशव्दोऽलािस्युद्धत्वपर इत्यभिप्रयोगोक्तम्
अयुतायुत्राशेनेति । स्वरम्ममत्व स्वरीतिवारणम् ; स्ववशीकरणस्वपिष्ठानं वा । एकशिनेत्यत्व
स्वोक्तमर्थं संवादयित यथोक्तमिति । विश्वश्वक्तिः विश्वमेव श्वकः तत्वत्वर्थयेष्यक्विशेषणमृतं
विश्वमित्यर्थः । तेजोंशसंभविमत्यनन्तरमभिधानात् एकशिनेत्यस्वर्थाप्यश्वरव्यस्य तद्विययत्वमेव
स्वाय्वरिति भावः ॥ ४२ ॥

## इति...श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचिन्द्रकायां दशमोऽध्यायः॥

विश्वरूपाध्यायमवतारियतुं विमृत्यध्यायार्थे संगृद्धाह एविमिति । मिक्तयोगिनिष्पत्तये तिद्विः वृद्धये चेति प्रयोजनकथनेन अनन्तरमर्जुनत्य दिद्दक्षा मक्तिविष्टद्धयधीनेति सूचितम् । सक्छेतरिवरु- श्वर्णेनेति । सक्छेतरिवरु- श्वर्णेनेति । सक्छेतरिवरु- श्वर्णेनेति । सक्छेतरिवरु- स्वसुक्तं भवित ; ''अनन्यसाधारणं खामाविकमनविक्तितिरायम् '' (१०. १४. मा) इति पूर्वोक्तस्याल प्रातिछोम्येन प्रत्यभिज्ञानात् । सक्छेतरिवरुश्चणेन मगवद्पाधारणेनेत्यनयोथिथेष्ट हेतुसाध्यभावेन अन्वयात् समाधिकराहित्यतात्यिच्च नानर्थवयम् । श्रुतार्थनिश्चयाधीनभक्तिविद्यद्धिरुरुम्तदिद्दक्षामुरु मुत्तराथायोपोद्धातरूपमुजनवावयमवतारयित तमेतिमित । तं सर्वितिशायिनम् , एतम् उक्तप्रकारम् । भगवत्सकाशादित्यनेन निश्चयहेतुभूतमासत्वं सूचितम् । न ह्याचार्यान्तरसकाशादित्यनेन निश्चयहेतुभूतमासत्वं सूचितम् । न ह्याचार्यान्तरसकाशादित्यनेन दिद्दक्षायां सत्यामिप दर्शनपार्थनं घटत इति च भावः । एवमेतत् (३) इत्यादिरुशेनाथानिप्योगाह एवमेवेति

एवमेवेति निश्चित्य तथाभृतं मगवन्तं साक्षात्कर्त्वकामोऽर्जुन उवाच । तथैव मगवत्प्रसादा-दनन्तरं द्रक्ष्यरित । 'सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोद्धत्वम् ...तत्रैकस्यं जगत् कुरस्नं प्रविभक्त-मनेकथा' (११.१३) अति हि वक्ष्यते ।

अर्जुन उव(च—

मद्रुप्रद्वाय पर ने गुद्धामध्यात्मनिव्वतम् । यत् त्वयोक्तः वचस्तेन मोहाऽयं विगतो मम ॥ १ देहात्माभिमानरूपमोहेन मोहितस्य ममानुप्रहेकप्रयोजनाय परमं गुब्धम् परमं रहस्सम् अध्यासमसंज्ञितम् आत्मनि वक्तव्यं वचाः, 'न त्वेवाहं जातु नासम्' (२. १२) इत्यादि, 'तस्ताद्योगी भवार्जुन' (६. ४६) इत्येतदन्तं यत् त्वयोक्तम् , तेनायं ममात्मावपयो मोहा सर्वो विगतः दृश्तो निरस्ता ॥ १ ॥

भवाष्ययो हि भृतानां धुनौ विस्तरको मया म्वस्त कमलवकाक्ष माहारम्यमि वास्ययम् ॥ २ निश्चिरवेति । नतु, 'एवमेतत् यथास्य' इति पूर्वोक्तमभ्युपगम्य 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमेश्वर'म्' इत्यर्थान्तरस्य रूपिवरोषस्य दिद्दक्षावचनमिव माति ; ततश्च कथं 'तथाभूतं मगवन्तं साक्षास्कर्तुकामः' इत्युच्यते ; तत्नाह तथैवेति । श्रुतप्रकारेणेत्यथः । तद्विष्टणोति सर्वाश्चर्यति । 'अहं सर्वस्य प्रमवः' (१०.८) इत्यादिना 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्तमेकारोन स्थितो जगत्' (४२) इत्यन्तेन प्रतिपादितो ह्यर्थोऽस्न विम्रहविशेषानुवन्थेन प्रत्यक्षं प्रत्यमिज्ञायत इति भावः ।

पेथ्वरपदम् ईश्वरपद्म्य रुख्या रुद्रार्थंकत्वात् तत्लंबन्धिरूपवरं स्यादिःत प्रदूराशयः।

<sup>2</sup> आदिपदेन एतदुनरक्ष्णेकादिरूपस्याज्यकुनवाक्यस्य ब्रहणस । प्रकृतदेशिवनि—पूर्व-इलोकार्थ प्रति हेरियस्यथः।

सप्तमत्रमृति दशमपर्यन्ते त्वज्ञतिरिक्तानां सर्वेषां भूतानां त्वेतः परमातमनो भवाष्ययौ उत्पत्तित्रलयौ विस्तरशो मया श्रुतौ हि । कमलपत्नाक्ष, तव अध्ययं नित्यं सर्वचेतन।चेतन-वस्तुशेषित्वं ज्ञानवलादिकल्याणगुणगणैस्तवैव परतरत्वं सर्वाचारत्वं चिन्तितनिमिषितादि-सर्वत्रवृत्तिषु तवैव प्रवर्तयत्वस्तिस्त्वादि अपरिमितं माहात्म्यं च श्रुतम् । हिश्रब्दो वक्ष्य-माणदिदक्षाद्योतनार्थः ॥ २ ॥

वबसेन्त चथाऽऽस्थ स्वमास्मानं परमेश्वर । द्रष्टुमिच्छामि ते क्रपंश्वरं पुरुवोत्तमः ॥ हे परमेश्वरं, एवमेतदित्यवधृतम्, यथाऽऽस्थ स्वम् आस्मानं न्रवीषि । पुरुवोत्तम आश्चितवास्मरयज्ञल्ये तवैश्वरं स्वद्भाषारणं सर्वस्य प्रशासितृत्वे, पालयितृत्वे, स्वृत्वे, प्रमुति द्वमप्यंन्त इति । भाव्यकारः स्वानुसंहिताध्यायोवस्या तल्लस्ववननुष्वस्थवित । बहुवचना-सङ्कोचस्चितम् अहं कृत्स्वस्य (७. ६) इत्यादिनोक्तमाह स्वद्यतिरिक्तानामिति । निष्टुचमानुषस्व-अमस्याजुनस्य वचनत्वात् स्वच्यनन्वयात् भवाष्ययशव्देन संसारमोश्चादिमतीतः स्यादित तद्वश्चरासायोक्तम् उत्पत्तिप्रलयोवित । निमित्तोषादानसाधारणहेतुमाले प्रभाति अप्ययान्वयः । स्वन्तः श्वती इत्यावत्यम् प्रमद्यश्च मन्दप्रयोजन इति भावः। विस्तर्धः विस्तरेणत्यश्चः। कमलप्रसाक्षेत्रयोन्त अन्तरादित्यविद्यादिन्यत्वादितपुण्डरीकाक्षस्यविद्याद्याकृतविद्यव्यवस्य माहास्य तल श्वतारेऽपि स्पष्टमुप्रच्यत इति स्वित्तम् । पुण्डरीकाक्षस्यविद्यावादिकप्रवित्य सहास्य तल श्वतारेऽपि स्परमुप्रच्यत इति स्वित्तम् । पुण्डरीकाक्षस्यविद्याककामेशस्यादिकमव्ययं माहास्य तल श्वतारेऽपि स्परमुप्रच्यत इति स्वित्तम् । विषयतः सङ्ख्यातः प्रकर्षतश्चानविधकस्य पाविसद्धमिहाभिन्यतिम्यभित्रायेगोक्तं नित्यमित्यादि अपरिमितमित्यन्तम् । 'मृमिरापः' (७.४), 'मतः परतरं नान्यत् (७), 'मिय सर्वै', 'बुद्धिज्ञानम् ' (१०.४) इत्यादिभिरिदं रोपित्वाद्विकं पाक्तपवित्तम् । हिक्नब्दो वक्षयमाणदिदक्षःयोतनार्थे इति । हेतुस्वपसिद्धयाद्यानुगुण्यामावात् प्रकृतानुगुणोऽवस्य इति मावः॥ र

परमेश्वरेत्यनेन वाववार्शविश्वासहेतुभूतं परमासत्वादिकं विवक्षितमित्यभिषायेणाह है परमेश्वरेति । तद्यञ्जनाय स्वसंवादमालार्थत्वस्युदासेन श्रुवति । तद्यञ्जनाय स्वसंवादमालार्थत्वस्युदासेन श्रुवति । आश्रितजने दोषदर्शिनः कापुरुषा हति बाहुः । अतोऽत्र दिद्यभाणे स्वस्मिन् दोषानादररूपनिरति- शयपौरुष पुरुषोत्तमस्यज्ञरूप इत्यक्तम् । पुरु सनोतीति वा व्युत्पत्तिरहाभिषेता । 'आविश्य विभक्ति' (१५. १७) इति वश्यमाणे वा ज्ञापितम् । एवं परः त्वसौरुभ्ये समास्याभ्यामुक्ते । ते इति निर्देशे सत्यपि, ऐश्वरनित वचनमीश्वरत्वसमावाभिष्यञ्चनक्तवप्रमित्यभिष्रायेण स्वद्माधारणांमृत्युक्तम् । तत्वैव प्रावनपश्चितप्रक्रियया विवरणं सर्वभयोत्यदि । एवंस्वभावविद्योशेष्ट हिश्वाश्वरद्यश्च हित भावः । प्रशासितृत्वादौ क्रयस्यवस्यानं नाम तत्वदनुत्वपैगुणसत्त हनचिष्टितैस्तवदिभव्यञ्चक्रत्वम् । यद्वा प्रशासितृत्वेऽत्रस्थानं "यथाई केशवे हित्ववाः प्रतिपेदिरे (भा. स. ३९. ३८) इति न्यायेन स्वदर्शनमात्रेण विवरितास्यवसायं विनिवर्य सम्यक्पवृतिहेतु-

संहर्तृन्वे भर्तृत्वे, कल्याणगुणाकःत्वे, परतरत्वे, सक्छेतरविसजातीयन्वेऽवस्थितं रूपं द्रष्टुं साक्षात्कर्तुमिच्छामि ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुभिति प्रभो। ग्योगेश्वर तनो मे स्वं दर्शयात्मानमञ्ययम् ॥ ४ तत् सर्वस्य स्रष्टु, सर्वस्य प्रशासित्, सर्वस्याधारभृतं स्वद्वृपं मया द्रुष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे, ततो योगेश्वर—योगो ज्ञानादिकल्याणगुणयोगः ; 'पत्र्य मे योगमैश्वरम्' (८) इति इ वश्यते-स्वद्यतिरक्तस्य कस्याप्यसंभावितानां ज्ञानवर्छेश्वर्यवीर्यशःक्ततेज्ञसां निषे ! आत्मानं स्वामन्ययं मे दर्शय । अञ्यमिति क्रियाविशेषणम् । त्वां सक्तं मे दर्शयेव्यर्थः ॥ ४ त्वाच्यं मे दर्शय । अञ्यमिति क्रियाविशेषणम् । त्वां सक्तं मे दर्शयेव्यर्थः ॥ ४ त्वाच्यं मे दर्शयः । अञ्चर्यमिति क्रियाविशेषणम् । त्वां सक्तं मे दर्शयेव्यर्थः ॥ ४ त्वाच्यं मे दर्शयः । अञ्चर्याविश्वर्वः । स्वृत्वेऽवस्थानं च मस्तेः । संदर्शत्वेऽवस्थानं च वस्यमाणभित्रम् । पर्वतेव स्वर्धः । क्रव्याणगुणाकरत्वेऽवस्थानं नाम अवतारविश्वद्वत् अज्ञत्वाद्यमिन्यानिह्त्वम् । परत्वेव राज्ञिः स्कुरोभित्वन्यानिह्त्वम् । परत्वेव राज्ञिः स्वर्धः अज्ञत्वाद्यमिन्यानिह्त्वम् । परत्वत्वेव राज्ञिः स्वर्धः । सक्ति त्व उक्तस्यमलिनगम्यम् ; तत्किल्तं वा ; परमेश्वरपुरुवोक्तमसं चुद्धः मिन्रेतकथनं वा । 'पत्रय मे योगमैश्वरम् ' (९. ५) इति गुद्धतमारम् स्वयमुक्तस्य अवावावप्रतिर्वेद्यः दर्शनप्रार्थनानुसारेण रूपमेश्वरमिति सक्त्वपरत्वया योजनायाम् ऐश्वरमित्येकमौपचारिकम् ; इतरत् सर्व मुख्यम् । सक्त्यानुवन्येन तु विग्रहदिद्दक्षा गर्मिता । स्वर्यश्वर्वः सर्वत्यस्यत्वासामानाकारे-ऽपि ज्ञाने दर्शनसन्यत्वासाधारणाकारपरो वा । स्वरं प्रकारमित्यर्थः । द्रष्टुमित्युक्तं दर्शनसमानाकारे-ऽपि ज्ञाने दर्शनस्वर्वेद स्वरंपत्वर्वः व्यवच्छेत्।

सर्वस सृष्टित्यादिना तच्छव्दपरामृष्टश्रुताकारोक्तिः। अलापि लक्षपपरत्वे मुख्यता ; रूपपरत्वे, प्रकारमालपरत्वे च प्राग्वदनुसन्धेयम् । योगो ज्ञानादिकन्याणगुणयोग इति । अल अणिमाधैधर्य- शक्तिरमालपरत्वे च प्राग्वदनुसन्धेयम् । योगो ज्ञानादिकन्याणगुणयोग इति । अल अणिमाधैधर्य- शक्तिरिष गुणानुप्रविष्टा ; योगिनवीहकरवादिमाल तु दिष्टक्षताकारान्वरङ्गत्वामावादल न विवक्षितिमिति मावः । दर्शियव्यमाणो खाकारोऽल दिहिक्तिः । न चार्जुनायाष्टाङ्गयोगादि अर्थान्तरं प्रदर्शते । योगश्चव्यश्च प्रत्यभिज्ञायत इत्यभिप्रायेणाह पद्दश्चेति । प्रश्चशब्देन, 'यदि त्वं मन्यसे, तदा न किञ्चित् ते दुष्करम् इति अभिषेतं (तदिभिषेत) गुणविशेषवन्तं दर्शयित स्वद्धातिष्टक्तम्येत्यादिना । अथवा योगिश्वरशब्दाभिषेतोक्तिरियम् । अश्वपतिः घनपतिरित्यादिनत् गुणम्यस्त्वापेक्षया गुणानामपि नियमनेन वा योगेश्वरशब्द इति भावः । त्वामिति । आन्मशब्दस्यार्थान्तरं त्वयुक्तम् ; माम् (८) इति च वक्ष्यत इति भावः । अव्ययशब्दस्याल निष्पयोजनत्वशङ्काःयुदासाय, क्षरप्रविश्वास्यद्वपदर्शनिवरोधपरिहाराय, विशेषतो दिदक्षोरपेक्षितार्थपरत्वं दर्शयति अश्वयमिति क्रियाविशेषणमिति । ततः किमित्यत्राह स्वां सक्कर्णनित । समस्तगुणविस्तिविश्वहादिविशिष्टरूपमित्यर्थः ॥ १ ॥

फ्यं परं वर्शितमात्मयोगादिति योगशब्दः प्रयोक्यति । 2 उक्तस्येति पद्मयोगात् 'पद्य मे' इति नवमाध्यायवाक्यं प्राह्मम् ।

श्रीभगवानुवाच--

एवं कौतृहलान्वितेन हर्षगद्भदकण्ठेन पार्थेन प्रार्थितो भगवानुवाच-

पश्य मे पार्थ रूपाण 'शतशोऽध सहस्रशः। नानाविधानि दिःयानि नानावर्णाक्रनीनि च ॥५ पश्य मे सर्वाश्रयाणि रूपाणि; अथ शतशः सहस्रश्रथ नानाविधानि नानाप्रकाराणि, दिव्यानि अप्राकृतानि, नानावर्णाकृतीनि शुक्क कृष्णादिनानावर्णानि, नानाकाराणि च पश्य ॥ पश्यादित्यान स्सून रुद्राच अश्विनौ मस्तस्तथा। बहुत्यस्थपुर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत ॥ ६ ममैकस्मिन् रूपे पश्य आदित्यान् द्वाद्श, वस्न् अष्टी, रुद्रान् एकाद्श, अश्विनौ द्वी, मस्तश्चेकोनपञ्चाश्वतम् ॥ प्रदर्शनार्थमिदम्, इह जगित प्रत्यक्षदृष्टानि शास्त्रदृष्टानि च

अर्जुनस्य भगवत आस्मप्रदर्शने हेतुं प्रशादिमकार्त्माठतमवस्थाविद्येषं दर्शयन् प्रयेत्यादिमगवद्रावयस्य संगतिमाह एविमित । वक्ष्यमाणप्रकारमनुसन्यायाह सर्वाश्रयाणीति । वहुवीहित्वालपुंसक-त्वम् । आदित्यमण्डलादीनि अनन्तानि अधिकरणानि । यद्वा, आश्रयशब्द उपचारात् विवक्षाभेदेन वा आश्रितपरः । श्रतग्रस्सहस्रश्चेत्यत्वेन परच्यृहविभवायवन्छेदकोडिक्तानन्तापाकृतविग्रहवन्तं दर्शितम् । यदेकादित्यमण्डलविग्रहवन्तं रूपम् , तस्ममानमन्त्रन्नक्षाण्डेच्यादित्यमण्डलवर्ष्यसंस्थातं रूपम् । एवं श्रीविश्वरूपादिस्वाग्तरेप्वपि । "रूपस्य प्रतिरूपः" (क. ५. ९) इत्यादिश्रुत्याऽयमप्यर्थो विवक्षित इति केचित् । यथा द्रश्यित, तथा करिष्यामीत्यभिप्रायेण पश्चेत्युक्तिः । नानाविधानीत्यनेन परयेकं भूषणायुधलाञ्चनमुजसंस्व्यादिश्कारिवशेषानन्त्यमत्न विवक्षितमत्याह नानाप्रकाराणीति । अत्राकृतानीति । अत्र दिश्वरावद्येवस्यासेरपि वक्ष्यमाणस्वात् ; द्रव्यवैरुक्षण्यं चावश्यवक्तव्यमित्यभिप्रायः । वास्रुदेवादिषु चतुर्षु युगभेदेन सितरक्तृपीतकृत्णस्वपरिकृतेः, अवतारान्तरेषु च तत्तरक्रलाधिध्यानानुगुण्याच नानावर्णत्वम् । आकृति-श्वदेन सुरत्ररिविगादिव्यस्यमानसंस्थानविशेषो विवक्षित इत्यमापयेणाह नानाकाराणीति ॥ ५ ॥

'श्रशोऽध सहस्रशः' इति स्वान्ताधारणानस्तरूपसङ्गेऽपि प्रकृतोपयोगाय **इहेकस्य**मित्येकस्यैव रूपस्य विशेषतः प्रदर्शिय्यमाणत्वमनुसम्बायाह ममेकिस्मिकिति । प्रश्यादिस्यानित्यादिना प्रधान-देवाः स्वयिक्षंशत् प्रथमं निर्दिश्यन्त इत्यिम्पायेण द्वादशेत्यादिसङ्ख्याविशेषपदर्शनम् । वक्ष्यमाणानु-सारेण दृष्टमालाश्रयत्वच्युदासायाह <sup>3</sup>प्रदर्शनार्थिमिति । अर्जुनेन अन्यैश्चापति(श्च प्रति १)पन्नाना <sup>4</sup>मिति शेषः । अदृष्टपूर्वाणीत्येतदश्रुतपूर्वाणामप्युपब्रक्षणम् , अनवगतत्वमात्रेण वा सामान्यतस्संग्रह इत्यमि-

<sup>4</sup> प्रतिपन्नानामिति । अदृष्टपूर्वपदेन अप्रतिपन्नानों कण्डोक्तत्वादिति भाषः । कार--46

यानि वस्त्िन, तानि सर्वाणि, अन्यान्यिप सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु च शास्त्रेष्वदृष्टपूर्वाणि बहन्याश्चर्याण पश्च ॥ ६॥

इहैकस्यं जगत् क्रास्न पश्याद्य सचराचरम । मन देहे गुडाकेश यचान्यद् द्रष्टुिष्टि ।। ७ इह ममैकस्मिन् देहे, तन्नापि एकस्थम् एकदेशस्यं सचराचरं कृत्स्तं जगत् पश्यः यचान्यत द्रष्टमिन्छसि, तदप्येकदेहैकदेश एव पश्य ।। ७ ।।

न तु माँ शक्ष्यसे द्रष्टुमनेनैय स्वस्थ्रुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पद्य मे शोगमैश्वरस् ॥ ८ अहं मम देहैकदेशे सर्वे जगत् दर्शयिष्यामि ; त्वं त्वनेन नियतपरिमितवस्तुग्राहिणा प्राकृतेन स्वचक्षुषा, मां तथाभूतं सकलेतरविसजातीयमपरिमेषं द्रष्टुं न श्रन्थसे (सि?)। तव दिव्यम् अप्राकृतं मद्दर्शनसाधनं चक्षुर्ददामि । पश्य मे योगमैक्षरम् — मदसाधारणं योगं पद्य ; ममानन्तज्ञानादियोगमनन्तविभृतियोगं च पद्मेल्यर्थः ॥ ८ ॥

प्यमुक्तः तनो राजन् महायोगेभ्यरो हरिः। दर्शयामास प्रवाधंय परम रूपमेश्यरम् ॥ ९ एवमुक्त्वा सारध्येऽवस्थितः पार्थमातुलजो महायोगेश्वरो हरिः महाश्रयंयोगानामीश्वरः पर-प्रायणाह मर्वेषु च शास्त्रेष्वरष्टपूर्वाणीति। एतेन अतीन्द्रिये वस्तुनि सामान्यतः शास्त्रावगतेऽपि साक्षाकारैकसमधिगम्या बहवो दिशेषाः सन्तीति सचितम् ॥ ६ ॥

इह देहे इत्येकवचनान्तनिर्देशेनैव यदर्शियण्यमाणः एको देहो विविक्षित इत्यमिप्रायेणाह इह ममैक सन् देह इति । एकवचनेन यदर्शियण्यमाणिधिशेष निर्देशेन च देहैकत्वस्यामिहितत्वात् एकस्य पदेन तदेकदेशे स्थिति विविक्षता । एकस्यावयविनोऽत्रयवस्तिति कैश्चिदुक्तं तु [जगतः प्राक्तत्वात् ?] मगर्व द्व्रमहस्य अवःकृतत्वसमर्थनाच निरस्तिनित्यमिष्रायेणोक्तं तलः प्येकस्यमेकदेशस्यमिति । यहां कृत्सनस्य एकस्थत्ववचनात तदेकदेशस्थितिः फिलता । यचान्यत् द्रष्टुमच्छतित्यनेन पाण्डव- घार्तिगृह्यपीदिकमि गर्मितम् है। तलापि समुच्चयसामर्थ्यात् देहैकदेशाश्चितत्वमाह तदपीति ॥ ७ ॥

'न तु मां शक्यसे' इत्यन्न तुशब्दबोतितमशक्तिहेतुं पूर्वश्चोकोक्तमाकृष्य दर्शयित अहमिति । अनेनेनेत्यस्य विवक्षितमाह ियनित । दिन्यप्रित्पक्षस्यात् प्रःक्रिनेनेत्युक्तम् । तथाभूनिमत्यादि । मामित्यनेनान्न प्रिष्ठाः विवक्षितमिति भावः । अन्न टन्यशब्दिविक्षितमाह प्रप्राकृत'मिति । मह्र्यनमाधनमित्यपाकृतत्वफिल्प्तिः । ऐश्वरद्यासिवेतमाह मदमाधाग्णमिति । प्रकरणादिकिल्प्तिः मेश्वरव्यानुगृहीतं च योगशब्दाधीमाह अनन्नेति । नियमनशक्तिमीश्वरुवम् ; तदनुबन्धी च योगस्त दुचि गुण्यस्त्रिति । अनन्नीर्वस्वादिनिश्चर्यविशेषण पर्यामीति वक्ष्यीति भावः ॥ ८ ॥

महायोगेश्वगे हगिरत्यनयोस्तिरस्कारकं पूर्वप्रतिपन्नं रूपमाह सारथ्येऽवः स्वतः

<sup>ी</sup> दशयामासे ल । प न्हरीनीपायकं दियं चक्षुग्रधांदायधः। 2 गर्धितांवति । न तद्धेमैव यण्णा-म्यदिन्युक्तमः द्वारुभिच्छसीति प्रयोगात् । तद्धि द्वष्टः यमिनि अर्जुनेनानुक्तवात् । उपरि अर्जुवेतयैव तदुक्षुक्तात् । अन्यदिति ऋष्टुन्वसंद्वसंत्वरूप दिव्याक्रयादि सामन्य विवक्षणान् तद्ध्यत्व गर्भितमिति ।

ब्रह्मभूतो नारायणः परमनैश्वरं स्वासाधारणं रूपं पार्थाव वितृष्वसु पृथायाः पुत्राय दर्शयामास । तत् विविधविचित्रनिस्विरुजगदाश्चयं विश्वस्थ प्रशासित् च रूपम् ; तचेदशम् —

अने त्वक्तन यत्रापार राज्याचार प्रवाद प्रशासिष्ठ परिष्णु अने त्वक्त नयत्र में स्वाद प्रशासिष्ठ परिष्णु अने त्वक्त नयत्र में स्वाद स

श्विवस्ताभरणायुपेष्वनेकस्यं जातिवैचित्र्यादिष द्रष्टव्यम् । नानाजातीयबहुवक्त्रयोगो हि श्रीविश्वरूपध्याने भगवन्छाह्रेषु पठ्यते । अन्यथाऽनेकनयनस्वनिर्देशो निर्श्वकस्स्यात् ; वक्तानेकस्वेनैव तिस्रद्धेः । अनेकमन्भुतं दर्शनं यस्य तदनेकाद्भृतद्भान् अनविधिकातिशयाश्चरितया दृश्यमानिम्त्यर्थः । दिट्यस्वमपाकृतस्वम् । सर्वाश्चर्यम्यम्-आश्चर्यभूत्तम्वतत्त्वाश्चयम् निम्त्यर्थः । अन एव अनेकाद्भृत दर्शनिम्त्यनेनापुनरुक्तिः । "जगदेनन्मदृश्चर्यं स्थं यस्य महास्मनः" वि. ५. १९. ७ इत्यादि भास्यम् । देवशब्दस्यावानुययुक्तजातिविशेषादिमावनिष्ठतान्यदासार्थं विम्रद्धिशिष्टाः पश्चयपद्भानीयं च द्योतमानिस्युक्तम् । आननस्यपकारं तद्वेतुं वाह निर्मद्वस्यादिना । कृत्वज्ञगदाश्चयस्य कण्ठोक्तस्वात् प्रतिमानिस्यक्तम् । आननस्यपकारं तद्वेतुं वाह निर्मद्वस्यादिना । कृत्वज्ञगदाश्चयस्य कण्ठोक्तस्वात् प्रतिमानिस्यक्तिस्य विश्वद्धारम्हार्यः च । [बस्तुपरिच्छेदर।हित्यस्वम् १] आननस्य तु स्वस्पतम् । विम्रद्विशेषणवर्गनध्यवर्तिस्वाद्वन् रन्तराब्दोऽपि

<sup>1</sup> परममेश्वरसित्यनेन लब्बांगं दशयाते आलब्बांशकयनाथमुगरदलोके इति व पणितु-मिनि भावः। 2 श्लोकोक्तकमात् वक्ष्यामरणेति गाठ पव मुक्तः। न त वस्त्र भरणेति। नाना-जातीयेति अनेकवक्ष्यक यहुनेल्लवकादिजातीत्यथः। 3 लेब्रहे शिराकण्ठवस्यकाथपाणिपादादि-विभागार्थं मध्येमध्ये विष्रदासंबन्धस्यावद्यकत्वात् विष्रहे देशपरिच्छेदोऽपीयदस्तोति भावः।

विश्वतोमुखम् विश्वदिग्वर्तिष्ठुखम् , स्त्रोचितिद्व्याम्बरगन्धमाल्याभरणायुधान्वितम् ॥१०११ तामेव देवश्वव्दिनिर्देशं द्योतमानतां विश्विनष्टि—

दिवि सर्थसहस्रस्य भवेत् युगवदुत्थिता । यदि भाः, सहशी सा स्थात् भासस्तस्य महात्मनः॥ तेजसोऽपरिमितत्वदर्शनार्थमिदम् ; अक्षयतेजस्स्वरूपमित्यर्थः ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकथा । अगस्यत् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तत्र अनन्तायामिवस्तारे, अनन्तवाहृद्यवक्तनेत्रे, अवरिमिततेजस्के, अवरिमितदि-व्यायुश्रोपेते, स्रोचितापरिमितदिव्यभृषणे, दिव्यमाच्याम्बरधरे, दिव्यगन्धानुस्त्रेपने, अन-न्ताश्चर्यमये, देवदेवस्य दिव्ये ऋरीरे अनेक्या प्रविभक्तं ब्रक्कादिविविधविचित्रदेवतिर्यञ्चनुष्य-स्यावरादिमोवत्वर्गपृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गेषातास्नातस्वितस्रसुतस्वादिमोगस्यानमोग्यमोगोप -

दिवीत्यादिस्ठोकस्य सङ्गतिमाह तामेवेति । निर्दिष्टस्य मास्तरत्वस्य निरतिशयस्यस्यणो विशेष उच्यत इत्यर्थः । सङ्ख्याविशेषेण परिच्छिन्नत्वशङ्कान्युदासायाह तेजस इति ॥ १२ ॥

मृतीनां समानदेशताबिरोधात् कथं जगत्थके विश्वह इत्यत्राह विद्वेति ।

<sup>2</sup> अयटितघटशासिकः न मिथोविरुद्धभावाभावघटनशकिः किंतु अस्पत्वानेकानाधार-व्योश्रीकटएर्व्याप्तमञ्जनम् । सुक्षमुक्तपं सर्वस्य, वृक्षमुक्तवीजवत् ।

करण मेद्मिसं प्रकृतिपुरुवात्मसं कृत्सनं जगत्, 'अहं सर्वस्य प्रभवे मत्तसर्वे प्रवर्तते' (१०.८), ''इन्त ते कथयिष्यामि विभूतीरात्मनदशुभाः'' (१९), ''अहमात्मा गुडाकेश सर्वभृताशय–स्थितः'' (२०), आदित्यानामहं विष्णुः'' (२१) इत्यादिना, ''न तदस्ति विना यत् सा–म्या भृतं चराचरम्'' (३९), ''विष्टश्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'' (४२) इत्यन्ते-नोदितम्, एकस्थम् एकदेशस्यम् ; पाण्डवो भगवत्यसादलब्धतदर्शनानुगुणदिश्यचक्षरपःयत् ॥ ततस्स विस्मयाविष्ठो हृष्टरोका चन्त्रसः । प्रणम्य विषसा देवं कृताक्षत्रिस्मायत्॥ ए४॥

ततो भनक्षयो महाश्चर्यस्य कृत्स्यस्य जगतः स्वदेदैकदेशेनाश्रयभृतं कृत्स्नस्य प्रवर्तिय-तारं च आश्चर्यतमानन्तज्ञानादिकल्याणगुणगणं देवं दृष्टा विस्पयाविष्टो हृष्टरोमा शिरसा दण्डवत्प्रणम्य कृताक्षिरिसायतः ॥ १४ ॥

अर्जन उवाच--

पर्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वोस्तथा भूतविरोषसङ्गान् । ब्रह्माणमीरां कमळासनस्थमवींश्च सर्वान् उरगांश्च दीतान् ॥ १५ ॥

देव ; तब देहे सर्वान् देवान् पश्यामि ; तथा सर्वान् प्राणि विशेषाणां संवान् , तथा ब्रह्माणं चतुर्मुस्तमण्डाधिपतिम्, तथेशं कमलासनस्थं-कमलासने ब्रह्मणि स्थितमीशं तन्मतेऽवस्थितं तथा देविषित्रमुखान् सर्वान् ऋषीन् , उत्गांश्च वासुकितक्षकादीन् दीप्तान् ॥ १५ ॥

अनेकबाहू स्रवक्त्रनेत्नं पद्यामि त्वां सर्वेतोऽनन्तरूपम् । नान्तं न मध्यं न पुत्रस्तवादिं पद्यामि विश्वेद्वर विद्वरूप ॥ स्र ॥

अनेकबाहृदरवक्त्रनेत्रम् अनन्तरूपं <sup>1</sup>त्वां सर्वतः पश्यामि ; विश्वेश्वर-विश्वस्य नियन्तः, विश्वेश्वर-विश्वस्य नियन्तः, विश्वेश्वर-विश्वश्यस्य नियन्तः, विश्वेश्वर-विश्वश्यस्य । पत्रस्वमनन्तः (न्तरूपः ?), अतस्तव नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादि च पश्यामि ॥ १६ ॥

. <sup>2</sup>..., • • • ....

सर्वतोऽनन्तरूपिमत्यन्वये सर्वतः इति शब्दस्य वैयथ्यं स्थात् ; सर्वतः पश्यामीत्यन्वयस्तु दिव्यचक्कुर्लामानुगुणस्वात् युक्तः । विश्वरूपस्ये हेतुपरो विश्वनेश्वरञ्जव्य इत्यमिमायेणाह विश्वस्य नियन्तरिति । व्याप्य नियन्ता हि शरीरी । नान्तं न मध्यमित्यादौ विद्यमानत्यादशेनं न विवक्षितम् ; अर्जुनस्य दिव्यचक्कुर्लामेन तदयोगात् । अतोऽत्र अनन्तरूपिति हेतुगर्भविशेषणात् विषयाभावादेव शश्यश्चादेरिवादशैनमुक्तमित्यभिभायेणाह यतः इति । इदं च विश्वरूपेत्यनेनापि विवक्षितम् । अत्र देशतः काळतब्यादिमध्यान्तनिषेषो भाव्यः । आवान्तरूपावच्छेदाभावात् तदुभयनिरूपणीयमध्याभावोऽपि सिद्धः ॥ १६ ॥

<sup>1</sup> अन-तक्त्यस्वमसंख्यदारीरस्वं विद्यक्ष्यस्वादिति वांकरम् । 2 द्वादशहरोक्षप्रभृति वोड-शहरो क्यागवर्यस्तः तास्वर्यचिद्धकाभागो नष्ट इति भाष्यम् । तावद्व्यास्थानसंभवात् ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशि सर्वतो दीप्तिमन्तम् । पश्यामि त्वा (त्वां) दुर्निरीक्षं समन्तात् दीप्तानस्राक्षेत्रतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

तेजोराशि सर्वतो दीप्तिमन्तं समन्तादुर्निरीक्षं दीप्तानलाईग्रुतिमप्रमेयं त्वां किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च पश्यामि ॥ १७ ॥

त्वनक्षरं परमं वेदितःयं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । त्वमञ्चयः शाहवतधर्मगोता सनातनस्त्वं पृष्ठवो मतो मे ॥ १८ ॥

उपनिषरसु, ''द्वे विद्ये वेदितच्ये'' (सु. १. १. ४) इत्यादिषु वेदितच्यतया निर्दिष्टं परममक्षरं स्वमेव ; अस्य विश्वस्य परं निधानम् विश्वस्थास्य परमाधारभृतस्त्वमेव ; स्वमच्ययः च्ययरहितः ; यरस्वरूपो यहुणो यद्विभवश्वस्वम् , तेनैव रूपेण सर्वदाऽविष्ठसे । शाश्वत्वर्धगोप्ता

किरिटिनिमत्यादेः पाठकममनादृत्य उपलम्भार्थकमानुरोधेनान्वयमाह तेजोराज्ञिमित्यादिना । तेजोराज्ञिम् इति धर्मित्वरूपनिर्देशः । सर्वतो दीप्तिमन्तं— 'तस्य भासा सर्विमिदं विभाति' (क. ५.१५) इत्यादिवत सर्वत्यापिश्रभायोगिनम् । समन्तादिति कृत्सविश्वरहपदेशिववस्याऽभिद्दितम् । दीप्तानलार्कद्यक्तिमित दुर्निरीक्षत्वे हेतुः । अत द्यादिवत कृत्सविश्वरहपदेशिववस्याऽभिद्दितम् । व्यव्यमित्यनेनापौन स्वत्यम् । यद्वा पूर्वत सर्वव्यापित्वे तात्पर्यम् ; इह तु दुप्पेक्षत्वहेतुम्तितीव्यते । अत्रमेयम् ईदृक्त्वे यत्ताभ्यां परिच्छेतुमश्वयम् । एतावता सामान्योपलम्भकथनित्यभिमायेण अत्रमेयं त्वामित्यविच्छि होत्तम् । अदृष्टपूर्विरूपदर्शनेऽपि त्वदसाधारणिष्वहैः त्वां प्रत्यमिजानामीत्यभिपायेणाह किरीटिनं पदिनं चित्रणं च पद्यामीति । किरीटिनमिति भूषणवर्गीपलक्षणम् । तत्वापि किरीट तर्वद्वसाथाः । सर्वेश्वरत्वव्यक्षकरवात् । किरीटकरिव्यक्तिमेदेन द्विधा हि मकुटजातिः ; तत्व किरीट उत्कृष्टधर्याः । गदिनं चित्रणमिति आयुधवर्गीपलक्षणम् । तत्वापि चकादेव्येपदेशो भगवदसाधारणत्वेन प्रसिद्धत्वात् ॥

त्वमश्चरमित्यादिना भगवरमभावदर्शनात् एवमश्चरवेदित्व्याव्ययसनातनपुरुवादिशव्हेर्णुण्ड-कोपनिवदादिस्मारणमित्यभिनायेणाह उपनिविद्दस्वति । निर्दिष्टमिति "अथ परा यया तदक्षरमधिना-म्यते" (स. १. १. ५) हत्यादिनेति शेषः । "विष्णुमंत्रं सर्वाधारं धाम" (मे. उ) इत्याद्यनुसन्धानेनाह विश्वस्थास्य परमाधारभृत इति । निधीयतेऽस्मिन्निति निधानम् ; निधानानामिषि निधानत्वात् परं निधानम् । 'आधारभृतं विश्वस्य' इत्याद्युक्तजीवस्यवच्छेदार्थः परशब्दः । ''मृतमाताः प्रज्ञामाता स्वर्षिताः, प्रज्ञामात्वाः पाणेऽपिताः" (की. ३. ९) इति हि श्रुथते । अनन्याधारत्वाय परमञ्चदेन व्याक्तिया । अष्ययशब्देन 'तदस्ययम्' (स. १ १. ६), 'अनन्तमन्ययं कविम्' (ना) इत्यादिकं स्मारितम् । स्वरूपस्य गुणस्य विभवस्य वा यदाकदाचित्पच्युतिहिं व्ययः ; स सर्वोऽप्यस्य नास्तीत्य-विशेषिताच्ययशब्देनोच्यते ; स्वयमानाकारानुवादित्यंशब्दनिर्दिष्टविशेषकस्वादव्ययशब्दस्य जीवादि-साधारणस्वरूपमात्वनित्यतोक्तावितयाभावान इत्यमित्रायेणाह यस्टबस्पो यद्गुणो यद्विमवश्चति । अत शाश्वतस्य नित्यस्य वैदिकस्य धर्मस्य एवमादिभिश्वतारैस्त्वमेव गोप्ता । स्नातनस्त्वं पुरुषो मतो मे-'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं' (पु), 'परात्परं पुरुषम्' (मु. ३. २. ८) इत्यादिपृदितः सनातनपुरुष-स्त्वमेवेति मे मतः ज्ञातः । यदुकुलतिलकस्त्वमेवंभृत इदानीं साक्षात्कृतो मयेत्यर्थः ॥ १८ ॥

अन।दिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तवाहुं शश्चासूर्यनेत्रम् । पद्यमि त्वा दीप्तहुताशववत्रं खतेऊसा कदवामदं तपन्तम् ॥१२ ॥

अनादिमध्यान्तम् आदिमध्यान्तरहितस् । अनन्तवीर्यम् अनवधिकातिशयवीर्यम् ; वीर्यशब्दः प्रदर्शनार्थः ; अनवधिकातिश्यज्ञानवर्लेश्वयीर्यशक्तितेजसां निधिमित्यर्थः । अनन्तन्
बाहुम् असंख्येयबाहुम् । सोऽपि प्रदर्शनार्थः ; अनन्तवाहुदगपादवक्तादिकम् । शशिपूर्वनेत्रम्
विभवशब्देन नित्यविमुित्विविक्षता ; विमुतियुगलविवक्षायां तु द्रव्यस्वरूपस्यान्यूनाः कित्कित्स्वमालिति
विवक्षितिनिति भाव्यम् । शश्चद्भवः शाश्चतः ; शाश्चतःवे हेतुः नित्यागममृल्यिनित्यभिपायेण वैदिकस्येरयुक्तम् । "नारायणश्शाश्च(स्सात्त्व)त्वर्धमगोसा" (मा मो. ३३६ ५) इत्यादिव्विप वैदिक एव
विशेषवर्ष उच्यत इत्यभिपायः । प्रत्यक्षशास्त्रम्यमवगतोऽयमर्थ उच्यत् इत्यभिपायेण एवमादिभिरवतावित्युक्तम् । पुरुषविषयेण श्रुतिद्वयेनोपास्यत्वप्राप्यस्वप्रदर्शनम् । आदिशब्देन 'येनाक्षरं पुरुषं वेद
सत्यम्' (सु. १. २. १३) इत्यादिकं कोडीकृतम् । सनातनशब्देन सत्यशब्दशिष्टणम् । मतः इति
साभिमानमालप्रतितिन्युदासायाह द्वात इति । अत्य स्थोके त्वमिति पाचीनमासचक्कःपित्यक्तारातुवादः ; शेषेण तु दिव्यचक्कुर्लभसाक्षात्कृताकारकथनम् ; प्रभावमात्वज्ञानस्य प्रागेव सिद्धत्वादित्यभिप्रायेणाह यदुक्केति । मत्रशब्दोऽत्र सामान्यरूपः(परः) पश्यामीत्युक्तसाक्षात्कारास्वविद्यिम्
इत्यभिप्रायेण इदानीं साक्षत्कत इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तिमित नन्नस्तदन्यपरस्वे, "सुर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहम्जुन" (१०.३२), "अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च" (१०. २०) इत्यादिमिर्विरुध्येत ; अतो निषेषपरतामाह आदिमध्यान्तरिहतमिति । नान्तं न मध्यमित्यादिकं स्वरूपविषयम्, इदं तु विम्रह्विषयमित्यपौन्तस्वयम् । यद्वा उत्पत्तिस्थितिनाश्कपविकागिनपेषः कवित्, अन्यत्व तत्तद्धेतुनिषेष इत्यादिक्षपेण विभजनीयम् । अथवाऽत्व कालामिमानिक्षपदर्शनात् "अनादिभैगवान् कालः" (वि. १ २. २६) इत्यादिवत् कालाख्यविभृतिनत्यत्वविवश्चा । वीर्यस्थानन्त्यं नाम तारतम्यपयुक्तावच्छेद्रनिष्ट्विरित्यमिन्रायेणाह अनवधिकानित्यर्यविवश्च । निर्देष्टमःत्वपरत्वय्युदासाय सन्नियोगशिष्टानामन्यवरोक्तावित्यदिष् विचयतीत्यभिप्रायेणाह अनवधिकानित्यर्यर्थिनित । निर्देष्टमःत्वपरत्वय्युदासाय सन्नियोगशिष्टानामन्यवरोक्तावित्यदिष् विचयतीत्यभिप्रायेणाह वीर्यश्चरद्धः प्रदर्शनार्थं इति । अनेकवाहुं (१५) इति बाहुनानात्वमातं पूर्वमुक्तम् ; अनन्तवाहुमिति तु संख्यानिष्टिष्टसमुदाये कस्यचिदसंख्येयस्वविधानमितरेषां सर्वेषामिप पर्दश्नार्थमित्यभिप्रायेणाह सोऽपीति । श्वशिक्षपेतन्तमत्यत्व चन्द्रस्थेयरेव न नेत्रत्वस्वपणम् ,

श्वशिवत् स्वयंवच प्रसादप्रतापयुक्तसर्वनेत्रम् । देवादीन् अनुक्क्लान् नमस्कागदि क्वर्वणान् प्रति प्रसादः, तद्विपरीतान् असुरराक्षसादीन् प्रति प्रतापः ; ''रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः'' (३६) इति हि वक्ष्यते । दीषहुताश्वव्वतम् प्रदीप्तकःलान्छवत् संहारानुगुणवक्षतम् । स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् । तेजः परामिभवनसामर्थ्यम् ; स्वकीयेन तेजसा विश्वमिदं तपन्त त्वां पश्यामि— एवम्भृतं सर्वस्य स्रष्टारं सर्वस्याधारभृतं सर्वस्य प्रशासितारं सर्वस्य संहतीरं ज्ञानश्चपरिमितगुणसागरम् आदिमध्यान्तरिहनमेवंभृतदिव्यदेहं त्वां यथीपदेशं साक्षारकरोमीत्यर्थः ।

एकस्मिन् दिव्यदेहे अनेकोदगदिकं कथम् ?। इत्यम्पपद्यते। एकस्मात् कटिप्रदेशात्

रूपणप्रकरणाद्यभावात् ; अस्य च <sup>1</sup>रूपस्यानम्तनयनविशिष्टस्वात् । अतः साधम्यैमेव विविक्षितम् । तलापि केषांचिच्छितितुल्यस्वं केषांचित्स्यृश्वेतुल्यस्वमिति विभाजकाभावात् सर्वेषामुभयतुल्यस्वं विविक्षितमित्याह श्राध्यविति । स्रुगणस्मसादप्रतापवेविक्द्रस्वोविषयं व्यवस्थापयिति देवादीनिति । तदेव वक्ष्यमाणेन स्थापयिति रक्षांमीति । दीप्तानलाकंद्युतिम् (१७) इति प्रागमिधानेऽपि पुनः दीप्तकालावक्ष्यमिति विशेषतोऽभिधानं वक्तसाध्यजगद्गसनाल्यविशेषतास्वयेणेत्यभिप्रायेणाह प्रदीप्तकालानलविति । संहागतुगुणेति साधम्येकथनम् । अत्र हुताश एव वक्तमिति परोक्तिरसनाय कालानलविति । संहागतुगुणेति साधम्येकथनम् । अत्र हुताश एव वक्तमिति परोक्तिरसनाय कालानलविति । निक्षितम् निति वक्ष्यमाणानुसन्धानेन कालानलवित्रस्यम् । पावकथ्य वसुगणेऽन्तर्भृतः <sup>2</sup>पृथगुक्तः । विश्वमिदं तपन्तमिति वचनादल तेजश्चव्देन अन्यानपेक्षस्वं न विविक्षितम् , प्रकृतानुपयोगात् ; अतस्तदुचितमर्थ-माह तेज इति । 'कालः पचिति स्तानि' (भा. मो. २३९. २५) इत्यादेः इदं निदानस्चनित्यभिन्ययेणाह स्वकीयेनेति । पूर्वं श्रुतमनन्तरं दिव्यचक्षुषा साक्षात्कृतं सर्वमाकारं संकलव्दयह एवमिति ।

एकस्य देहस्य अनेकबाहुमुखादियोगः श्रुतपूर्वो दृष्टपूर्वश्च ; उदरादेरनेकस्य तु कथमिति चोदयति एकस्मिक्ति । परिहरति इत्थमिति । श्रुतानुरूपं सर्वमुपपादनीयमिति भावः । एकस्मिदित्यादि । अयमभित्रायः-'अनेकबाहुद्दरवन्त्वनेत्वम्' (१६) इत्यवयवानेकस्वमात्ववनात् रूपमेकमिति गम्यते; एक-विम्नहृविषयपूर्वापरपरामशिच । न च 'पश्य मे पार्थ रूपाणि' (५) इत्युपकमादिहाप्यनेकविषयमनेकोदर स्वादिकमिति वाच्यम् ; तथा सति अनेकविग्रहमित्येतावतो वक्तव्यत्वात् । न ब्रनेकेषु शरीरेप्वनेक बःहूद्दर्वादिकं विशेषतो वक्तव्यम् । न च भगवच्छाक्षे अनेकोदरादिमद्भृपं न दृष्टमिति वाच्यम् ; तस्य ह्याक्सस्येदानीं निद्देशिषप्रकृत्यभावात् । नारदादिहृष्टरूपाण्यपि <sup>अ</sup>त्वेदानीं न पश्यामः । <sup>4</sup>इतोऽन्यथाऽपि (हि) श्रीविश्वरूपं नारदेन दृष्टम् ; ततोऽन्यदेव धृतराष्ट्रण दृष्टम् । अतो यथा सहितामेदेन वाराहनार-सिह्।देरन्यथाऽन्यथा सिव्ववेशवर्णभुजादिवैच्वयम् , नद्वत् श्रीविश्वरूपविग्रहेऽपि वचनवछादेव तथातथा

і अत्रानिकःशशिस्योमावादित्यर्थः। 2 पृथगिनि । अतोऽत्रानस्रसाद्दश्य-मवामिमतिमिति । 3 भगवच्छास्त्रे उपस्थमाने । 4 इतः—सत्र गीतायामुकात् ।

अनन्तपरिमाणाद्ध्वमुद्गताः यथोदिनोदगदयः, अधश्च यथोदितदिव्यपादाः ; तत्रैकस्मिन् ' मुखे नेत्रद्वयमिति च न गिरोधः ॥ १९ ॥

एवंभूतं त्वां दृष्टा देवादयोऽहं च प्रव्यथिता भवाम इत्याह— द्यावापृथिक्योरिदमन्तरं हि व्यातं स्वयैकेन दिशश्च सर्वाः । इप्टूरद्युतं क्रपसुत्रं नवेदं लोकत्यं प्रव्यथितं महास्मन् ॥ २० ॥

चुत्रव्दः पृथिवीक्षव्दश्चोमी उपरितनानामधस्तनानां च लोकानां प्रदर्भनःथां । द्यावापृथिव्योः अन्तरम् अवकाजः । यस्मिश्चकारो सर्वे लोकास्तिष्टन्ति, सर्वोऽयमकाकारो दिश्चश्च सर्वास्त्वयोकेन व्याप्ताः । दृष्टाऽत्भुतं रूपमुत्रं तवेदम् अनन्तायामविस्तारमत्यद्भुत मत्युग्नं च रूपं दृष्टाः लोकत्वयं प्रव्यथितम् युद्धदिद्दश्चया आगतेषु त्रश्चादिदेवासुर्पपतृगण-सिद्धगन्धवयश्चभक्षसेषु प्रतिकृत्नाकुल्मण्यस्यस्य लोकत्रयं सर्वं प्रव्यथितम् अत्यन्तभीतम् । वैविव्यमङ्गीकुर्मः । अतः शासाम्लनानारवेऽपि काण्डैवयात् वृक्षैवयवत् बाह्नद्रशदिमेदेऽपि मेदोक्तिरहित-कटिप्रदेशैक्यादिह रूपैक्यम् इति । एतच सर्वं यथोदितशव्देन स्वितम् । एकसिन् मुखे नेत्रद्वय-मिति । पैएकैकसिन्नित्यः

एवंभृतिमित अरुग्ररूपितत्यर्थः । प्रव्यधितविशेषणानुसारेण होकश्चवेऽह्न जनविषय इत्याह देवादय इति । "इष्ट्रः। छोकाः प्रव्यधितास्त्याऽहम्" (२३) इति वश्यमाणावेक्षणेन अर्ह चेरुक्तम् । अनन्तरवस्य बहुशोऽभिहितःवादविच्छन्नहोकद्वयव्याप्तिवचनं तदुप्रक्षित्वछोकवर्गद्वयपदर्शनार्थिमत्यमित्रायेणाह द्युग्नव्द इति । "अन्तरमवकाशाविष्यिश्वानान्तिर्धमेदताद्र्य्वे" (नाम. ३. ना. ३४७) इत्यनेकार्थ-अन्तरशब्दत्य प्रस्तुतानुगुणमर्थमाह अवकाश्च इति । शक्तिविशेषादिवशात् सप्रित्वरविशेषाद्यमावाभिप्रायेणावकाशं विद्यवन् पिण्डतार्थमाह यसिष्यिति । अनन्तायाम-विस्तार्थमिति पृवोक्तस्यानुकर्षणम् । अयमभित्रायः— पृवीपरवावययोर्विग्रहेकविषयतया, मध्ये खरूप-व्याप्तिकथनप्रयोजनाभावात् विग्रहस्य चातिमहत्त्वेन कष्ठोक्तत्वात् तद्विषयोऽयं व्याप्तिव्यवदेश इति । नाल लोकत्रयशवदेन पृथिव्यादिकं विविश्वतम् , तल्न प्रव्यवित्ववचनायोगात् । अतः 'मश्चाः कोशन्ति' इतिवत्त तद्वर्तिनः प्राणिनो वक्तव्याः । तत्वश्च लक्षणा । अतेऽपि लोकशव्यस्य चस्त्रवन जनविषयत्वं वस्म् । जनस्य लित्वं च शृत्वमित्रोदासीनरूपेण सुप्रसिद्धम् । तस्य च सर्वस्य जनस्यात्र समवायो युद्धदिदक्षया सिद्धः । अत एव लोकत्रयव्यवित्वयपुरुष्वययादर्शनेन लोकत्यविर्वेश इति । अत्र देवासुरादि-प्रहणं । गानुषव्यवच्छेदार्थम् ; युद्धायाऽऽगतानां सर्वेषां भगवद्विग्रहाद्दन्तात् । सोपर्वरत्य थातिरिवंक्षतमाह अत्यन्त्रविति । महात्मशब्दस्य गम्भीरबुद्धिविशेषवस्य प्रसिद्धत्वत् त्ति , अन्तरवाद्व आश्चायारिः अत्यन्तमीतिति । महात्मशब्दस्य गम्भीरबुद्धिविशेषवस्य प्रसिद्धत्वत् त्त्वत्वत् , अन्नहस्योग्रत्ववत् आश्चायारिः

<sup>ं</sup> पक्तांसाक्षेत्र मुखे नेत्रद्वयम , अन्यषु मुखेषु नेत्रमंत्र न, आघकं बात प्रतीतिब्युदासा-याद पकेकस्मिनित।

महात्मन् अपरिच्छेद्यमनोञ्चने । एतेवामप्यर्जनस्थेव विश्वाश्रय स्वत्साक्षात्कारसाधनं दिन्धं चक्कुर्मगवता दत्तम् । किमर्थमिति चेत्, अर्जुनाय स्वैश्वर्ये सर्वे प्रदर्शयतुम् । अत इद्-म्रुच्यते, 'दृष्टाऽद्भुतं रूपप्रुत्रं तवेदं लोकत्वयं प्रव्यथितं महात्मन्' इति ॥ २० ॥

थमी हि त्वा सुरसङ्घा विशन्ति कैचिङ्कीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति । खस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिमाः पृष्कर्राभाः॥ २१ ॥

अमी सुरमंघाः उत्कृष्टास्त्वां विश्वाश्रयमवलोक्य हृष्टमन् सः त्वत्समीपं विश्वन्ति । तेष्वेव केचिदत्युग्रमत्यद्शुतं च तवाऽऽकारमालोक्य भीताः प्राञ्जलयः स्वज्ञानानुगुणं स्तुतिरूपाणि वाक्यानि गृणित उच्चारयन्ति । अपरे महर्षिसंघाः सिद्धसंघाश्य पगवरत्त्व-च्छेदस्थापि भयहेतुत्यात् अल्लायमेवाथे उचित हत्यमिपायेणाह अपरिच्छेद्येति । ननु "दर्शयामास पार्थाय" (९) इति ध्रुपकान्तम् ; तत् कथं देवासुरादीनामपि मानुषवत् मांसचञ्जषां भगविद्वयह्ससाक्षात्रार उच्यत हत्यलाह एतेषामपीति । अर्जुनस्य शिष्यमृतस्यात्यन्तोपसत्तस्य निरितशयभक्तेः स्वविग्रहमकाशनं प्राप्तम् ; तद्यं च तस्यैव दिव्यचञ्चद्वत्तम् ; वश्यति च, "देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः" (५२) इति; अतः सामान्येन सर्वस्य जनस्य दिव्यचञ्चः प्रदाने कारणं न पश्याम हत्यमिपायेण शक्कते किमर्थमिति । परिहरति अर्जुनायेति । देवादीनामिप दिद्धासंभवात् सर्वेषामवतारसाक्षात्कारवत् सुद्धतिवाक्षस्त्रिपातात् सुद्धाणामिव महतामिप भयावहत्वादिना निरङ्क्षरेध्येपकाशनेन प्रकृतोपयोगाच दिव्यचञ्चर्द्वानिमिति भावः । तदेवार्जुनवाक्येन संवादयित अत इदिमिति ॥ २०॥

अमी हि त्वा सुरसंघा विद्यन्तीत्वल न संहारादिकं विविक्षितम् ; स्तुत्यादिभिः सहपाठात् धार्त-राष्ट्रादिवत् आसन्नोपसंहाराभावात् ; परोक्तस्यावतीर्णसुरसङ्घविषयत्वस्य वीक्षन्ते इत्यादिभिर्विरोधाच ; अतोऽत्र समीपगमनरूपसेवापकारोऽभिषीयत इत्यभिप्रायेणाह अमी सुरसङ्घा इत्यादिना । केचिद्गीता इत्यनेन धाष्ट्रचेरिहतानां प्रथमिधानात् अनेन वाक्येन अक्षोभ्याशया हर्षवन्तो विविक्षता इति व्यञ्जनाय ब्रह्मादीनां सर्वेषां देवानां सेवार्थागमनं प्रथमसुच्यते । उत्कृष्टा इति तु सुरशब्द-व्यञ्जितोक्तिः । विनाशार्थपवेशव्यवच्छेदाय हृष्टमनस इत्युक्तम् । वस्यमाणवक्षत्वभवेशव्यवच्छेदायाऽऽह त्वत्समोपिति । केचिदिति प्रथकरणस्य समुदायविशेषसाकाङ्क्षत्वात् , सुरसङ्घा इति च प्रसक्तत्वात् , जात्यन्तरा निवुधाच तेष्वेवत्यक्तम् । अत्युग्रमत्यद्भुतं चेति भीत्यादिहेतुमृतमक्कताकारकथनम् । पुष्कजामिरिति वश्यमाणत्वादिह तदभावो विवक्षित इत्यभिपायेण स्वज्ञानानुगुणिनत्यक्तम् । सुरक्षजामिरिति वश्यमाणत्वादिह तदभावो विवक्षित इत्यभिपायेण स्वज्ञानानुगुणिनत्यक्तम् । स्तुतिरूपाणीत्यादिना गुणिनत इत्यस्यापेक्षतकर्माध्याहारः । श्रुत्यादिसिद्धस्तुतिपाठमात्वपरवायात्रस्य वश्यमाणत्वात् । पतेनापि केचिदित्यस्य देवविशेषवादिक्तस्य सिद्धम् ; अन्येषां तु मृतानां प्रधायत्तस्य वश्यमाणत्वात् । महर्षितङ्काः

भनेन विश्वकृषेत्यस्य विश्वाश्ययकृषेत्यर्थ उक्तो भवति ।

याथात्म्यविदः स्वस्तीत्युक्त्वा पुष्कलाभिर्भ[ग]वदनुरूपाभिः स्तुतिभिः स्तुवन्ति ॥ २१ ॥ स्त्रादित्या वसवो व च साध्या विद्वेऽद्विनौ मस्तवश्चोष्मपाश्च । गण्यर्थयक्षासुरसिद्धसङ्का वीक्षन्ते त्वां विस्तिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

अन्मयाः पितरः, ''ऊष्मभागा हि पितरः'' (अष्ट. १. ३. १०. ६१) इति श्रुतेः । एते सर्वे विस्मयमापन्नास्त्वां वीक्षन्ते ॥ २२ ॥

रूपं महत् ते बहुवक्जनेत्रं महाबाहो बहुवाहूरुपादम् । बहुद्रं बहुद्षु-त्रालं दृष्ट्रा लोकाः प्रध्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥

बह्वीभिर्देष्ट्राभिरतिभीवणाकारं लोकाः पूर्वोक्ताः प्रतिक्लानुक्लमध्यस्थास्त्रिविधाः सर्व एव अहं च तबेदमीदशं रूपं दृष्टा अतीव व्यथिता भवामः ॥ २३ ॥

न अस्स्पूरो दीप्त नेकवर्षे व्यासानने दीप्तविशास्त्रेतस् । दृष्टुा हि त्वा प्रव्यथिनान्तरात्मा भूति न विस्कृति शर्म च विष्णो ॥ ५४ ॥

नभइशब्दः 'तदक्षरे पश्मे व्योमन्' (ना), 'आदित्यवर्णे तमसः परस्तान्' (ना),

भृग्वादिगणाः ; सिद्धसंघाः सनकमुख्याः ; महर्षिःवादिस्चितं पुण्कलस्तुतिहेतुमाह परावरतस्व-याथान्म्यिवद् इति ।......(१) ''जितं ते'' इत्यादिवत् भक्तिपरवज्ञानां मङ्गलाञ्चासनं वा । सेव्यसं-दर्शनमान्ने सेवकस्य वक्तव्यः स्वस्तिशब्दः ; स्त्रुतिस्तु तदनन्तरं गुणप्रकर्षेक्तिः । अत एव, ''गोब्राह्मणेभ्यो जगतो वा स्वस्ति'' इति परोक्तं प्रकृतासङ्गतम् । अन्न स्तुतेः पौष्कस्यं प्रामाणिकसर्वेश्वरत्वादि-कथनमित्यभिषायेणाह् म[ग]वद्तुरूपाभिरिति ॥ २१॥

देवजातिमेदसमभिव्याहारानुगुणमृष्मपशब्दार्थमाह पितर इति ॥ २२ ॥

रुद्रादित्या इत्यादिना विस्मय उक्तः; रूपं महत्ते इति मीतिरुच्यते । पूर्वेक्लोकत्य-शब्दस्यालत्यलोकशब्दस्य च मत्यिभिज्ञमैकविषयस्यं दश्यति लोकाः पूर्वोक्ता इति । इदमीदशमिति प्रकारिणः प्रकाराणां च निर्देशः । प्रस्थानप्रसरणादिषु प्रशब्दस्य निषेधपरत्वदर्शनात् प्रव्यथिताः इत्यत्न तद्वग्रदासायाह् अतीवेति । व्यथिताः चलिताः ; मीता वा ॥ २३ ॥

आकाशपर्यायाणामनेकेषां परस्मिन् पदे भयोगमिभेषेत्याह नभइशब्द इति । त्रिगुणेति विशे-

<sup>(</sup>१1) उपरि वाकारसम्वात् अत्र, "स्वस्तांत्युक्त्वेति स्वस्य ग्रुप्तपर्थता" इत्येवंहपं वाक्यं ख्यितभ्रप्रिति चिन्त्यते । प्रतीकधारणञ्चाऽऽवद्यकमः । प्रमौकान्तिनां स्वार्थप्रार्थनाथाः प्रसक्तयमावात् पक्षान्तरमाह जितं ते इति । भक्तिपरवद्याताभिति । दिव्यप्रवन्धेऽपि श्रीमहनाथ-सृत्तित्ताः 'पह्णाण्ड पह्णाण्ड' इत्यादिश्वेकपैव हि । कथं निक्रप्रेन जीवेनोत्कृष्ट भगवन्तं प्रति आशासनं क्रियते स्त्यावक्षात्रामनाय भक्तिपारवद्योक्तिः । विभवादि विलेक्षणे विश्वक्षेप्रति-परस्वद्द्योक्तेऽपि इदं संभाव्यते, प्रीत्यतिद्यापदिति भावः । वस्तुतो विवेके सन्येय स्वस्युक्तिर्धरते सेवक्वविति वाह सेव्येति । तद्यि प्रीतिक्यमक्तिपारवस्यादेव ।

'क्षयन्तमस्य रज्ञतः पराके' (यज्ञ. २. २. १२. ६८), 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' (अष्ट. २. ८. ९. ६) हत्यादिश्चनिसद्धित्रगुणप्रकृत्यतीतपरमव्योमवाची; सविकारस्य प्रकृति-तत्त्वस्य, पृश्वस्य च सर्वोवस्यस्य, कृत्स्त्रस्याश्रयतया नभस्स्पृश्चमिति वचनात्; 'द्यावापृष्टिव्योग्दिमन्तरं हि व्याप्तम्' इति पूर्वोक्तरवाच । दीप्तम् श्रनेकवर्णे व्याचाननं दीप्तविज्ञालनेत्रं त्वां दृष्ट्षः प्रवार्या अत्यन्तभीतमनाः धृतिं च विन्दामि देहस्य धारणं न लभे; मनसन्नेन्द्रियाणां च शमं न लभे । विष्णो व्याप्तन् ! । सर्वव्यापिनमतिमालमस्यव्युत्रनमतिघोरं च त्वां दृष्टा प्रशिथिलपर्वावयवो व्याक्रलेन्द्रियश्च भवामीत्यर्थः ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकराळानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव काळावळसं न्नामि । दिशों न जाने न छमे च शर्म प्रसीद देवेश जग न्नवास ॥ २५ ॥

युगान्तकालानलवत् सर्वसंहारे प्रवृत्तानि अतिघोगणि तव प्रखानि दृष्टा दिशो न

षणात् परमञ्योज्ञः शुद्धसत्त्वमयस्वसूचनम् । अत प्रसिद्धपाक्रताकाशपरस्वे, गार्गिविद्योक्ताकाशशब्दवत् मूळप्रकृतिविषयस्वे वा को दोष इत्यताह सिवकारस्येति। "इहैकस्थं जगत् कृत्सं.. यच्चान्यत् द्रष्टुमिच्छिति" (७) "बहून्यदृष्टपूर्वणि पश्य" (६) इत्यादिकं कुक्तमिति भावः । हेत्वन्तरमाह द्यावाप्र्यिष्ट्योरिति । प्रसिद्धसुप्रथिव्यादिसर्वछोक्त्वयापक्रस्वं हि तलोक्तम् ; अन्यथा पुनरुक्तिः स्यात् । अतः प्रकृतिपुरुषादि सर्वाथयविषयापित्रकृति । अतः प्रकृतिपुरुषादि सर्वाथयविषयाप्रभिवश्चे । अतः अत्रतिपुरुषादि सर्वाथयविषया मनोमयस्यान्तरस्वात् , चेतनस्वरूतिविषयस्य प्रविविधरूपविष्ठस्यानेकवर्णत्यमुक्तम्। अत्रमयाद्यपेक्षया मनोमयस्यान्तरस्वात् , चेतनस्वरूतिविधर्यस्य प्रविविधरूपविष्ठस्यानेकवर्णत्यमुक्तम्। अत्रमन्याद्यपेक्षया मनोमयस्यान्तरस्वात् , चेतनस्वरूतिविधर्यस्य प्रविविधरूपविष्वर्यस्य वश्च्यमाणस्वात् अत्रयन्तरम्याद्यपेक्षया मनोमयस्यान्तरस्वात् । "न रूभे च श्रमि" (२५) इति सुस्वस्य वश्च्यमाणस्वात् भृतिश्वर्यदेश्येश्वनत्वारोपेण भीत्यतिश्चयद्योत्वनार्थः। धारणे च श्रसिद्धोऽयम् । अतो धार्यानिर्देशेऽपि प्रकर्णाद्यस्यावाच्च देहविषयमिदं धारणमित्यभिपायेण देहस्य धारणमित्यक्तम् । मनसर्थिन्द्रपाणां चेत्यपि, सामर्थ्यात् श्चमशब्द्यपिद्धः च रुश्यात्वित्ते स्थात्वत्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यस्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वरम्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वरम्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वरम्यस्यात्वरस्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यस्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्वर्यात्

अवयवान्तरेभ्यो मुखानामितभीषणत्वन्यञ्जनाय दंष्ट्रेति स्ठोकः ; खस्यातिभीतत्वप्रदर्शनेन प्रसा-दनार्थं च । सर्वसंहारे प्रवृत्तानीति कालानलसाधम्योक्तिः ; कालाभिमानिरूपतया तद्वधापारानुबन्ध-स्वनं च । अतिघोगणीति दंष्ट्राकरास्त्रानीत्यस्यार्थः । करास्त्रशब्दो दन्तुरस्वं विक्कृतस्वं भीषणस्वं बाऽऽह । जगिक्रवासशब्दे बहुबीहिवियक्षायाम् इहैकस्थमित्यादिपक्कृतसर्वाधारस्वानुवादो न स्यात् ;

<sup>1</sup> स्पर्शीति । तत्रैकस्थं जगिदित श्लोके ब्रह्मादीस्थादभ्य प्रकृतिपुरुवात्मकं क्रस्तं जगिदिस्थेव भाषणात्, ब्रह्माणमीशिमित्यारभ्य गीतायां भाष्यादी च प्राकृतमात्रव्यञ्जनाच न नित्यविभृतिरर्जुनाय प्रदर्शिता । अतः स्पृशिमित्येवोक्तम्, न तु न भोव्यापिनमिति ।

जाने ; सुखं च न लमे । जगतां निवास देवेश ब्रह्मादीनामीश्वराणामिष परममहेश्वर ! मां प्रति प्रसन्नो भव । यथाऽहं प्रकृति गतो भवामि, तथा कृतिंत्यर्थः ॥ २५ ॥

एवं सर्वस्य जगतः स्वायत्त स्थितिप्रवृत्तित्वं दर्शयन् पार्थसारथी राजवेषच्छवनाऽ-व स्थितानां धार्तभाष्ट्राणां यौधि छरेष्वनुप्रविष्टानां च असुगंशानां संहारेण भूभारावतरणं स्वमनीषितं स्वेनैव करिष्यमाणं पार्थाय दर्शयामास । स च पार्थी भगवतः स्रृष्टृत्वादिकं सर्वेश्वयं साक्षात्कृत्य तस्मिक्षेव भगवति सर्वोत्मनि धार्तराष्ट्रादीनाम्रुपसंहारमनागतमिप तत्त्रसादलुट्येन दिण्येन चक्षुषा पश्यित्वदं चोवाच—

अमी च त्वा (सर्वे) घृतराष्ट्रय्य पुष्पः सर्वेः सहैवावनिपालमङ्कैः । भोष्मो द्वाणः सूनपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योचमुक्यैः॥ २६॥ वक्त्राणि ने त्वरमाणा विशन्ति देष्ट्राकरालानि भयानकानि । केविन् विल्लसः दशनान्तरेषु संदृद्यन्ते सूर्णिनैरुनमाङ्कैः॥ ७॥

अमी धृतराष्ट्रस्य पुताः दुर्योधनाद्यस्सवें भीष्मो द्रोण स्तपुतः कर्णश्च तत्पक्षीयैरविन-तत्पुरुषविवक्षायां तु प्रकृतैकार्ध्वीमत्यभिन्नायेणाह जगतां निवासेति । देवेशशब्देन, 'तमीश्वराणा परमं महेश्वरम्' (श्वे. ६. ७) इति श्रुतिनसिद्धस्वेंश्वरेश्वरत्वं यथोपदेशं साक्षात्कृतमिति स्चितमित्यभिन्नायेणाह न्नमादीनामित्यादि । अनेन न्नझाद्योऽपि त्वां वीक्षितुं न शक्तुवन्ति, किमुताहं क्षुद्रजन्तुरित्यभिन्नतिमित व्यक्षयति मां प्रतीति । किमर्जुने भगवतः क्रोधः, येन प्रसादः प्रार्थ्वत इत्यन्न प्रसादक्रमाह यथाऽहमिति ॥ २५ ॥

अमी इत्यादिस्ठोकपश्चकार्थोत्थानहेतुं तस्य पूर्वेण संगति चाह एविमित । अवश्यन्मावितया स्वमनीिषत्तिमत्युक्तम् । स्वमनीिषतभारावतरणज्ञापनाय भीषणरूपाविष्कारः; तेन च युद्धपोत्साहनं सिध्येदिति भावः । वश्यमाणमर्जुनादेरुपकरणमाल्नत्वं तद्वयापाराभावेऽपि शक्यत्वं चामिपेत्य स्वेनैव किष्यमाणमित्युक्तम् । तदानीं युद्धभूमौ स्थितानां वश्यमाणमगवद्वस्त्वव्रवेशस्याघितत्वया इन्द्रजालादिशक्षां परिहरति स च पार्थ इति । भगवतः सर्वगोचरल्लष्टुस्वादिसाक्षात्कारे धार्तराष्ट्रादिकतिपयजन्तु-संहारो नात्यद्भुत इत्यमिप्रायेणाह तिसम्बेवित । "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" (४०) इति वश्यमाणप्रकारेण सर्वश्यरीरत्वया सर्वभूतस्त्यसङ्कर्यो भगवानेच धार्तराष्ट्रादिविल्येऽपि सर्वविषं कारणम् ; लौकिका[नाम]तीन्द्रियेण रूपेण असन् भगवानेच प्रधानतमो हेतुः, दृष्टास्त्वर्जुनशरादयः काकतालीय-विल्यास्तिमति भावः । अनागतमपीत्यादि । लौकिकं हि पत्यक्षं वर्तमाननिवत्यिति भावः । इद्मिति । धार्तराष्ट्रादिविशेषविषयमित्यश्चः। यद्वा वर्तिष्यमाणमि साक्षात्कारात् वर्तमानवत् व्यपदिशतिति भावः । अस्यदीयैरिति प्रथमिष्ठानादविन्यालसित् स्वर्थस्याणामिष् साक्षात्कारात् वर्तमानवत् व्यपदिशतिति स्वर्थः। यद्वा वर्तिष्यमाणमिष साक्षात्कारात् वर्तमानवत् व्यपदिशतिति स्वर्थः। स्वर्थायाणामिष सर्वेषां वषस्य युद्धे करिष्यमाणस्यात् सर्वेष्टिरस्यक्तम् । द्रयोधनादीनां सर्वेषामिव तत्यक्षीयाणामिष वधः स्वेषां चावस्यानं विवक्षितम् । परेषु रिरस्यक्तम् । अस्यदीयैरिति वचनात् स्वरक्षस्यानामिष वधः स्वेषां चावस्यानं विवक्षितम् । परेषु

पालसमृहैः सर्वैः, असदियिगिप कैश्चित् योधसुरुयैस्सह त्वरमाणा दंष्ट्राकरालानि भयानकानि तव वक्त्राणि विनाशाय विश्वःतः तत्र केचित् चूर्णितैरुत्तमाङ्गिर्दशानान्तरेषु विलग्ना-स्संदरयन्ते ॥ २६ ॥ २७ ॥

सर्वेरिति विदोषणात सकीयेषु योधगुरुवैरित्युपादानाच पाण्डवपक्षीयाणां युद्धे निश्शेषवधामावः कैश्विदित्युक्तः । शीधं संहरणस्य तत्तदपराधन्वराम् छत्वं त्वरमाणपदेन विविक्षितम् । यद्वा समरसंरम्भादिः सवीऽिष व्यापारस्तेषां स्वधार्थं इति भावः । भयानकानीति पृथगुक्तत्वात् करास्त्रशब्दोऽस्न सान्तरास्त्रत्वां कृतत्वयत् कियानिर्देशाभावेऽिष "मा मिवन्तमनस्यः पवनो वा" (...) इत्यादिष्विवाध्याहारेणैव कियान्वयो गुण एव । यद्वा विद्यान्तिति वस्यमाणपदमलापि पठितव्यम् । अथवा, 'दृष्ट्वा प्रव्यवितान्तरात्मानो धृति न विन्दन्ति' इति विपरिण तानुषक्षण वावयसमाप्तिः ; न पुनः श्लोकद्वयमप्येकवावयतया विविक्षतम् ; पूर्वश्लोके स्वेति कर्मत्वा निर्देशात् परस्न वक्ताणि त इत्युक्तेः । अभी सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्राः इति वा भाष्याभिषेतः पाठः, 'दुर्वोधनादयस्सर्वे' इत्युक्तेः । अत एव हि विद्यान्तीत्यनेकवावयतया व्यास्यातम् । रक्षणार्थं भगवति प्रवेशव्यवस्य वक्ष्यमाणपरामर्शात् विनाशायेत्यक्तम् । तत्र धार्तराष्ट्रस्य वस्यमाणपरामर्थात् विनाशायेत्यक्तम् । तत्र धार्तराष्ट्रस्य स्वः । यद्वा तेषु वक्षेत्रस्यक्षः । केचित् विनाशाय विश्वति ; केचित् विनाशासंहदस्यन्ते इत्युक्तं भवति ॥

"विद्धचेनिमह वैरिणम्" (३.३७) इत्यस्यानन्तरं **यादवप्रकाशीयैः,** "इह केचित् पश्च श्लोकान् पढन्ति' इति विछिल्य व्यास्त्यातम्—

"अर्जुन उवाच-भवत्येष कथे छ्रुष्ण कथं चैष विवर्धने।
किमात्मकः किमाचारस्तन्मपाऽऽचक्ष्व एच्छतः॥१॥
श्रीभगवानुवाच-एष सुक्ष्मः परइश्नृदेद्दिनामिन्द्रियेस्सह ।
सुस्रं तत्र इवासीनो मोद्दयन् पार्थ तिष्ठति॥२॥
कामकोधमयो घोरः स्तम्भद्वपस्तुनुद्धः। अदङ्कारोऽभिमानात्मा दुस्तरः पापकर्मभाः॥३॥
दर्षमस्य निवर्थेष शोकमस्य दशति च।भगं सास्य करोत्येष मोद्दयेश्च मुद्दुर्मुद्धः॥४॥
स एप कलुपः श्रुद्दिखद्वायेक्षी(छिद्दयेक्षी) धनल्लय ।
रजःप्रवर्तिनो मोद्दात् (प्रवृत्तो मोद्दात्मा)मानुषाणा पुषद्ववः॥॥॥

इति । अत्र च---

"तानक्षेः पुरुषेवध्यमाना दिशन्त ते वक्त्रमिवन्यकास । यौचिष्टिरा चार्तराष्ट्रस्त्र योधाः शक्तः कृता विविधैः सर्व एव ॥ ६॥ दिव्यानि कर्माणि तत्राद्भुतानि पूर्वोणि पूर्वेऽप्यृषयः स्तुवन्ति । नान्योऽस्ति कर्ता जगतस्वमेको चाता विचाता च विभुभैवस्त्र ॥ ७॥ तवाद्भुनं किंतु भवेदसद्यं किंवा शक्यं परतः कीर्तयिष्यं । कर्ताऽसि छोकस्य यतः स्वयं विभो त्वत्तः सर्वे त्विये सर्वे त्वमेव ॥ ॥ अन्यद्भुनं कर्म न दुष्करं ते कर्मोत्मानं न च विद्यते ते ।

<sup>1</sup> मेहत । दहतु पातयतु ।ति यथाई पृथावा, बाधवामिति सामान्यतो वा क्रियाच्याहारः।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुबेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति । तथा लवामी नरहोकवीरा विशन्ति वक्ताण्यभितिञ्चहन्ति ॥ .८./ यथा प्रदीतञ्चहनं पःक्षा विशन्ति नाशाय समुद्रवेगाः । तथैव नाशाय विशन्ति होकास्तवापि वक्ताणि समुद्रवेगाः ॥ २०॥

न ते गुणानां परिमाणमस्ति न तेजसो नापि बळस्य नर्देः ॥ १ ॥" इति । अत दिव्यानीत्यादयः श्लोका नारायणार्येशि लिखिताः । 'प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च' (३९) इत्यस्यानन्तरमन्यश्च श्लोकः—

"अनादिमान् अप्रतिमप्रभावः सर्वेश्वरः सर्वमहाविभृतिः।

न हि त्यदन्यः कश्चिदस्तीह देव छोकवये दृश्यतेऽजित्त्यकर्मा ॥ २०॥" इति । एते छोकाः सन्ति न वेति देवो जानाति । पूर्वश्याख्यातृभिरनुदाहृतत्यात् अध्ययनप्रसिद्धय-भावाच माध्यकारैरनाहृताः । न  $^1$ च गीताशास्त्रस्य छोकसङ्ख्या व्यासादिभिरुक्ता । अर्वाचीना-स्त्विश्वस्तीया इति ॥ २६ ॥ २७ ॥

स्वरमाणाः इत्युक्तखञ्चापारमृळविनाशत्वे, सर्वेषां चैकस्मिन्नवेषिसहारे तस्य चैकस्य सर्वसंहा-रानुगुणसामान्याकारेणावस्थानमात्ने च दृष्टान्तहृयं श्लोकहृयेनोचयते यथेति। पण्डवादीनां सर्वेषामिष

 तचेति । एवं मृक्तकण्ठमाचार्येष्ठकत्वात् संख्याकथनमर्वाचीनम् । यस्तु भीवमपर्वणि गीतापर्वसनाप्त्यनन्तरं भीषावधपर्वारम्मे गीताको हसंस्यानिर्देशोऽस्ति, यथां—''गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः इतस्त्रसञ्जयैः । या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्मात् विनिस्सुना ॥ सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः। सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः । गीता गङ्गा च गायती गोविन्देति हृदि स्थिते। चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते॥ व्हरातानि सर्विशानि श्लोकानां प्राह केशवः । अर्जनः सप्तवश्चाशत् सप्तपष्टित् सञ्जयः । घुनराष्टः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते।" इति। अत्र हि 620. 57, 67. 1. इति संख्यालमुचये 745 पञ्चचत्वारिश-दुत्तरसप्तरातीति संख्या लभ्यते इति—सोऽयं पदचारकृतः प्रक्षेप पदैति ध्येयम । प्राचीननानास्त्रिपमृद्धितकोशेषु, तासकोशेषु चैतदनुपसम्भाद्गि प्रक्षेप इति सिद्धम । अत कृष्णार्जनसञ्जयञ्चतराष्ट्राणामेव इलोक इतृत्वोक्तिरिय न घटते । एवं हि महाभारते सर्वे वक्तार पव इलोकव्याहारिण इति व्यासस्य महिमा साधु संपादितः स्थात् । शांकरेऽपि, "भगवता तथोपदिष्टं भगवान् वेदस्यासः सर्वन्नो गीताख्यैः सप्तभिः इलोक्शतैरुपनिवयन्थं इति व्यासस्यैव इलोककतृत्वं स्पर्धुपृम् । नतु इलोकेयत्ताऽपि अत बायत इति चेत्— तद्वव्याख्यातरीत्याऽपि इलोकानां सप्तशस्यधिकत्वात् अष्टमशतकाभावमात्रे सप्तशस्यन्युनन्वे च तात्पर्वम् । त तु सर्वगीनाइलोकेयत्तावधारणै । कृष्णोपदिष्टमात्रविषये इलोकाश्च न तावत्सेस्याका संक्ष्यन्ते । अतः पद्यानात्मकथाक्यैः तत्तदुकार्थं वेषये श्लोका व्यासकृता इत्येव वर्णनीयम् । कथञ्च गीतापर्वातिरिक्तपर्वेविषये एवं गणना न व्यासिविदिता । देशभेदेन गीतापाठमेदात क्रोकाधिक्यञ्च भूमिकायां द्रष्टक्यम् । अपिकैतेषां गीतान्तिमाध्याय एव स्थितिर्युक्ताः न भीष्म-वधारुयपर्वारम्भे । नुनं कैरपि प्राच्यैरव्यारुयातत्वात् गीतापर्वणि प्रश्लेषे प्रक्षिप्तता सुखमवगम्यतेति भिया उत्तरपर्वारम्भे प्रक्षेपको योजयामासैति च ध्येपम । । मनः-गायतीमन्तः ।

पते गाजलोकाः, बहवो नदीनामम्बुप्रवाहाः समुद्रमिन, प्रदीप्तज्वलनमिन च शलभाः, तव वक्ताण्यमिविज्वलन्ति स्वयमेव त्वरमाणा आत्मनाशाय विशन्ति ॥ २८ ॥ २९ ॥ लेलिकसे प्रसमानः समन्तालो शव समग्रान वद<sup>के</sup>ष्वंलक्तिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

राजलोकान् समग्रन् ज्वलद्भिर्वदनैर्प्रसमानः कोपवेगेन तद्वधिरावसिक्तमोष्ठपुटादिकं लेलिबसे पुनःपुनर्लेहनं करोषि । तवातिषोरा मासः रञ्मयः तेजोभि स्वकीयैः प्रकाशैः जगत समग्रमापूर्य प्रतपन्ति ॥ ३०॥

विनाशानिमधानात् जगत् प्रतपन्तीत्येतावन्मात्तस्य चानन्तरमुक्तेः नरहोक्कवीरा इत्युक्त एवार्थो लोका इत्युक्त इत्यमिशायेण एते राजलोका इति सङ्कल्य्य कथितम् । अम्बुवेगा इत्युक्त वेगशब्दस्थात्त वेगविद्विषयत्वव्यव्यवित्ताय शलमा इत्युक्त प्रवाहशब्दः । पत्कुशब्दस्थानेकार्थस्यात्त शकुन्तादिविषयत्वव्यावर्तनाय शलमा इत्युक्तम् । अभिविज्वलन्ति पदं पूर्वश्लोकस्थमिप समनन्तरश्लोकगतज्वलन्दद्यान्तौपिकमिति व्यक्तनाय ज्वलनद्यान्तादनन्तरं पिठतम् । समृद्धवेगा इत्येतत् शागुक्तत्वरमाणपदसमानार्थमित्यभित्रेत्य स्वयमेव त्वरमाणा इत्युक्तम् । पत्कनानं प्रदीपादिषु पक्षवेगादिभिन्नशिकत्वस्थापि संभवात् तद्व्यवच्छेदः प्रदीप्त-ज्वलनमिति वचनेन विवक्षित इति व्यक्तनाय आत्मनाशायेत्युक्तम् । नदीभवाहस्य नाशो नाम प्रथममृतप्रवाद्याकारत्यागः, येन नदीभवाहव्यपदेशस्तिस्यिवे द्वच्ये निवर्तते ; पतक्नानां तु द्वयान्तर्व्य-पदेशसीम्यभस्मताद्यापितिति प्रकारमेदपदर्शनाय द्यान्तद्यामिधानम् । (१) यद्या स्वेच्छया निवर्तितुमश्च-वयमित्येवमिमपायः प्रवाहद्यान्तः ; तथाविधस्य विनाशस्य स्वेच्छामुल्व्यापारहेतुकत्वव्यक्षनाय पतक्र-द्यान्तः । (१) ईश्वरस्यापि च सर्वभवेशेऽप्यपित्पूर्णस्विववक्षया समुद्रनिदर्शनम् , सहसा विध्वसनाय तु ज्वलनोदाहरूणम् ॥ २८ ॥ २८ ॥

ईश्वरः कि संहरणेऽत्यन्तिन्वर्षपारः, येन स्वयमेव त्वरमाणाः इत्युच्यत इत्यस्योत्तरं स्रेलिखासे इति श्लोकेनोच्यते । संहरणादेर्निदानं तत्तक्वेतनानां व्यापारिक्शेषः ; तत्ततुपिधककोपादिविशिष्टस्तु भगवान् संहत्यादिकं करोतीति भावः । गजलोकानिति पूर्ववत् भाव्यम् । <sup>1</sup>समग्रान् । युद्धाय समवेतानित्यर्थः । स्रेलिखासे इत्यस्य सिज्ञहीषीनुभावत्वव्यञ्जनाय कोपवेगेनेत्युक्तम् । तद्गुधिरेत्यादिना प्रसनलेव्हनाभ्याम् अर्थसिद्धमुच्यते । कियासमिनिहारे हि यङो विधानम् ; "पौनःपुन्यं भृशार्थो वा कियासमिनिहारः" इत्यमिपायेणाह पुनःपुनर्लेहनमिति । भास्तेजश्वव्ययेः पौनरुवत्यशङ्काःयुदासाय रुम्पय इति, स्वकीयैः प्रकाशैरिति चोक्तम् । समग्रं-सर्वमित्यर्थः । प्रतपन्ति संतापयन्ति । असनार्थे पचन्तीति भावः । यद्वा ब्रह्मादीनामपि पश्यतां दुस्सहत्वमान्ने तात्पर्यम् ॥ ३०॥

एवमत्यन्तघोराकारदर्शनं सोढुमशक्तो धनञ्जयः स्वस्वैश्वर्थपकाशनपवृत्तस्य तादृशघोरुरूपाविष्कारे

<sup>1</sup> समग्रान्—संगतं सेनामुखं हैस्त न्। न हि सर्वेग्रसनिम्हा

आच्याहि में को भवान् उन्नरूपो नमोऽस्तु ने देववर प्रसीद्। विज्ञातुिच्छामि भवन्तमार्थ न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम ॥ ११॥

"दर्शयाऽऽत्मानमन्ययम्" (४) इति ववैश्वर्यं निरङ्कुशं साश्चात्कर्ते प्रार्थितेन मवता निग्ङ्कुशमैश्वर्यं द्शयता अतिशोगरूपमिद्माविष्कृतम् । अतिशोगरूपः को भवान् , कि कर्ते प्रष्ट्वच इति मवन्तं ज्ञातुमिन्छामि । तवामिन्नेतां प्रष्ट्वचित्तं न ज्ञानामि । एतदाख्याहि मे । नमोऽस्तु ते देववर ! प्रसीद — नमस्तेऽस्तु सर्वेश्वर ; एवं कर्तुम् , अनेनाभिप्रायेणेदं संहर्तृ-रूपमाविष्कृतमित्यवस्ता प्रसन्नरूप्य मन ॥ ३१ ॥

आश्रितवात्सस्यातिरेकेण विश्वैश्वर्य दर्शयतो भवतो घोररूपाविष्कारे कोऽभिष्राय इति पृष्टो भगवान् पार्थसारथिः स्वाभिष्रायमाह, <sup>1</sup>पार्थोद्योगेन विनाऽपि घार्तराष्ट्रप्रमुखमश्चेषं राजलोकं निहन्तुमहमेव प्रवृत्त इति ज्ञापनाय मम घोररूपाविष्कारः, तन्ज्ञापनं च पार्थ-मुद्योजयितुमिति ।

श्रीभगवानुवाच--

्कालोऽस्मि लोकक्षयङ्गत् प्रवृद्धो लोकान् समाद्यतीमद प्रवृत्तः 🍑 ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनोकेषु योघाः ॥

32

तात्वर्यकथनं पुनः प्रसन्नरूपपिग्रहार्थे प्रसादं चापेक्षते आरूपाद्दीति स्रोकेन । भक्तस्य मे भयानकरूपप्रदर्शने कोऽभिप्राय इत्यज्ञानात् प्रश्न इत्याह द्रश्चेयेत्यादिना । उपदेशसाक्षात्काराभ्यां भगवतः
प्रतिपन्नत्वात् को भवानिति प्रश्नो न सरूपसंज्ञादिविषयः, 'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिष् ' इति
प्रवृत्तिश्वाभिप्रायेणाञ्चातांशश्चातेव निर्दिश्यत इति तद्विषयिज्ञास्येवां प्रश्नो युक्त इत्यमिष्रायेण
कि कर्तं प्रवृत्त इत्युक्तम् । "कृष्णरूपप्रच्छन्नागतदैत्याभिक्यक्त[तदात्वामिग्रह्म] सरूपान्तरादिशक्क्याऽयः
प्रशः" इति कैश्चितुक्तमेतेन निरस्तम् । तदानीं परिदृश्यमानित्रवृद्धिम्मृत्वस्वास्य अभिप्रेतामित्युक्तम् । देववश्यव्येन निरस्तम् । तदानीं परिदृश्यमानित्रवृद्धिमालत्युद्धासाय अभिप्रेतामित्युक्तम् । देववश्यव्येन नव्यमिप्रायेण सर्वेश्वश्यव्यः । यथोक्तमहिवुक्येन, "नन्त्रव्यः परमश्योषी शेषा

नन्तार ईरिताः । नन्तृनन्तव्यमावोऽयं न प्रयोजनपूर्वकः ॥" (५२.७) इति । स्रोक्स्य पिण्डिताई
माह एवं कर्तुमिति । प्रमीदेत्यनेन फलितमुच्यते प्रसन्नरूपश्चिति । एतदेव हि पश्चात् , "तदेव मे
दर्शय रूपम्" (४५) इत्यादौ प्रध्विष्यविष्यते ॥ ३१ ॥

कालोऽस्मीत्यादिश्लोकत्वयस्यार्थं संकल्प्याऽऽदौ संगमयति आश्वितत्यादिना । आश्वित-वात्सस्यातिरेकेषोत्यनेन घोररूपाविष्कारानौचित्यं चोत्यते। एवं कर्तुम् , अनेनाभिप्रायेण(३९) <sup>2</sup>इति निर्दिष्ट्योर्निरुश्लेणकाक्रमेणोत्तरं ददाति पार्थोद्योगेनेत्यादिना । **काल**शब्दस्यात कलासुद्वर्तादिमयकाल-

<sup>1</sup> पार्थेति । नेदं साक्षादजुनं श्रांत वाक्यम त्वदुद्योगेनत्यप्रयोगात् ; नापि भाष्यकर्तस्ववाक्यम अद्वितिनिर्देशायोगात् । किंतु कृष्णेन स्वमनसि भावनम् । 2 अत्र पार्थेत्यादि एवं कर्तुमित्ये-तद्विवरणम् ; तज्बापनञ्चेति अनेनाभिप्रायेणेत्यस्य ।

कल्यति गणयतीति कालः ; सर्वेषां धार्तराष्ट्रप्रस्वानां राजलोकानामायुरवसानं गणयन्त्रहं तत्क्षयकृत् घोररूपेण प्रवृद्धो राजलोकान् समाहर्तुम् आभिम्रुरूयेन संहर्तुमिह प्रवृत्तो-ऽस्मि । अतो मत्संकल्पादेव त्वामृतेऽपि—त्वदुद्योगात् ऋतेऽपि एते धार्तराष्ट्रप्रमुखास्तव प्रत्य-नीकेषु येऽवस्थिता योधाः, ते सर्वे न भविष्यन्ति—विनङ्क्षयन्ति ॥ ३२ ॥

-तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो छंभख जित्वा शतून् भुङ्क्य राज्यं समृद्धम् । मधैवैते निहताः पूर्वभेव निभित्तमात्नं भव सञ्यसाचिन् ॥

33

तस्मात् त्वं तान् प्रति युद्धायोत्तिष्ठ । तान् शृत्न् जित्वा यशो लभख ; धम्यं राज्यं च समृद्धं ग्रुङ्क्ष्त । मधैवैते कृतापराधाः पूर्वमेव निहताः हनने विनियुक्ताः । त्वं तु तेषां द्रव्यमालपरत्वे भगवता सामानाधिकरण्यायोगादिन्द्रधाणाधिकरणन्यायेन तदन्तर्यामिविषयत्वं आकाशपाणाधिकरणन्यायेन औगिकार्थत्वं वा. सृष्टिस्थितिकाळ्यावृत्त् सर्वे।संहर्तकाळाभिमानित्वविशिष्ट-भगवत्त्वरूपानुसंघानासाघारणं (१) ध्येयविमहविशेषविशिष्ट(निष्ठ)तापरत्वं वा स्वीकार्यस् । तल्ल लिष्वपि कालशब्दस्य यौगिकोऽर्थः प्रतीयमानः प्रकृतापेक्षितत्वादपरित्याज्य इत्यभिप्रायेणाह कलयतीत । संबन्धाद्यर्थादपि गणनस्याल संहरणानुगुणस्वात् गणयतीत्युक्तम् ५ प्रकृतविशेषपरतया योजयति सर्वेषा-मिति । लोकशन्दस्य राजलोकशन्देन न्याख्यानं पूर्ववत् । प्रवृद्धः इति रूपमहत्त्रं विवक्षितमित्याह घोररूपेण प्रश्नद्ध इति । यद्वा यसनोन्मुखावस्य इति भावः । समाहर्तुमिति पदेन समुदायकरणादिकं न विवक्षितम् : प्रस्तुतासंगतत्वात् । नापि संहरणमात्रम् : लोकक्षयकृदित्यनेन पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । अतः संहरणमेव मध्यनिविष्टेनाप्युपसर्गान्तरेण विशेष्यत इत्याह आभिमुख्येनेति । अपरोक्षत इत्यर्थः । भृत्यैरशत्निरसनवन्न परोक्षः संहारोऽयमिति भावः । आभिमुख्यमात्रमेव वा संहारहेतुरिति भावः । "मनसैव जगत्स्रष्टि संहारं च करोति य: । तस्यारिपक्षक्षपणे कियान् उद्यमविस्तरः" (वि. ५. २२. १५) इत्याद्यनुसारेणाह अतो मत्संकरपादेवेति । निमित्तमूतव्याप्रियमाणाकारः त्वामिति विवक्षित इत्यभि-पायेण त्वद्**द्योगमृतेऽपी**त्युक्तम् । न भविष्यन्तीत्युक्ते नोत्पत्त्यन्त इति प्रतीतिः त्यादिति तद्यवच्छे-दायोत्तरकालसत्तानिषेधपरतामाह विनङ्क्षयन्तीति ॥ ३२ ॥

यदि मदुयोगम् ऋतेऽपि धार्तराष्ट्रादयो न भिवन्यन्ति ; तर्हि किमयँ मामुयोजयसीत्यत्नोत्तरं तस्मान्यमिति क्षोकः । मद्रक्तस्य ते जययशोराज्यादिलामायँ स्वदुयोजनिमिति परिहाराश्चयः । जिस्ता श्रव्यानिति यशोराज्ययोस्साधारणहेतुः । वैषम्यनैष्टृण्यपरिहारेण जिघांसाहेतुपदर्शनायँ कृतापराधा इत्युक्तम् । नतु पूर्वमेव निहता इति प्रत्यक्षविरुद्धम् ; तथा सति तद्धननार्थं निमित्तमात्रं भवेत्युयोजनं च व्यर्थमित्यत्नाह हनने विनियुक्ता इति । हनने विनियोग्सत्दर्थसंकरुपः ; हन्तव्यत्वेन संकर्षिपता इत्यर्थः । स्क्रष्टपस्मामोधारवात् फलसिद्धयविनाभावेन निहतत्वोक्तिः । एवमपि निष्ठार्थो घटते ; ईश्वरसंकरूपप्रति फलपर्यन्ते क्रियासमुदाये संकर्पाशस्य निष्पन्नत्वात् । एकदेशे च समुदायशब्दप्रयोगोपपतेः ; स्थाली

हनने निमित्तमातं भव । मया हन्यमानानां श्रह्मादिस्थानीयो भव । सन्यसाचित् । पच समवाये ; सन्येन श्ररसचनशीलः सन्यसाची ; सन्येनापि करेण श्ररसमवायकरः ; करद्वयेन योद्धं समर्थं इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णे तथाऽन्यानिव योधमुख्यान् । भया द्वतांस्त्वे जिद्व मा ज्यथिष्ठाः युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

33

द्रोणभीष्मकर्णादीन् कृतापराधतया मयैव हनने विनियुक्तान् त्वं बहि त्वं हन्याः । एतान् गुरून् वन्धृश्च अन्यानिष भोगसक्तान् कथं हनिष्यामीति मा व्यथिष्ठाः— तानुहिश्य धर्मावर्मभयेन वन्धुस्त्रहेन कारुण्येन च मा व्यथा कथाः । यतस्ते कृतापराधा मयैव हनने विनियुक्ताः, अतो निर्विशङ्को युष्यस्त । रणे सपत्नान् <sup>1</sup>जेतासि जेष्यसि । नैतेषां वधे नृशंस-तागन्यः ; अपित जय एव लभ्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

काष्ठादिच्यापारेषु प्रत्येकं पचितित्रयोगवत्। अलाऽऽशंसायामादिकर्माण[वाः]क्त इत्येके। निमित्तमात्रमिस्यु-पादानत्वनिषेषः प्रतीयते, तल च प्रसङ्काभावात् प्रतिषेषोऽपि नोपप्यत इत्यलाह मया इन्यमानानामिति । मयैवोपकरणीकृतेन तत्प्रतिपत्तिमता भवता पापैनेष्ट्रैण्यपराजयादिशङ्का न कार्येति भावः । मालशब्दः प्राधान्यच्यवच्छेदार्थं इत्यमिपायेणाह ऋसादिस्यानीय हित । सन्यसाचिपदेन संवोधन युद्धौपिका-साधारणातिशयद्योतनार्थमित्यमिपायेण व्युत्पादयति पच समवाये इत्यादिना । सन्यशब्द्र्य करणार्थतां धातोः प्रकृतीचितं कमीविशेषम् , ताच्छीत्यार्थातं च प्रत्यस्य दर्शयति सन्यमेति । समवायोऽत्र शरसधा-नम् । परिसंख्यान्यायात् दक्षिणेन शरसमवायं कद्धमशक्त हति शङ्कामपनयन् , सन्यशब्दस्य पादादि-साधारणस्य प्रस्तुतौपिवकं विशेष्यपत्याह सन्योनापि करेणेति । अयोगव्यवच्छेदार्थं सन्योपादानम् , न स्वन्ययोगव्यवच्छेदार्थमिति भावः । फिल्तमाह करद्वयेनेति । भूगार्निर्हरणार्थं तवेद्दशं सामर्थं मया संकृत्यितिति समर्थशब्दाभिपायः ।। ३ ३ ॥

अर्जुनस्यास्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मभयम् 'कं भीष्मम्' (२. ४) इत्यादिकं साक्षात्धातिवक्ति होणं चेति । मा व्यथिष्ठाः इत्यल पूजाबहान् मन्यान इति वावयशेषामिष्रायेणाह गुरूनित । गुरून् वन्धृन् भोगसक्तानित पदैर्धमीधर्मभयवन्युरनेहकारुण्यानां हेतुपदर्शनम् । अल च धर्माधर्मभयादिव्धंथाहेतुरित्याह तानुहिद्दयेति । 'धर्मोधर्मभयादिकं तु पृष्ठतः करोमि ; द्रोणादयो हि तैसेहिंतु-भिर्दुर्जयाः शलवः ; युद्धसिद्धश्च चञ्चलेति [भयाभावेऽपि गुरुवन्यु-भोगसक्तहननात् नरकादि स्यादिति ?] भीरुरसिं इति यदि व्रवीषि, तर्हि मा भैषीरित्यभिषायेण मा व्यथिष्ठाः युष्यस्वेत्यादिकश्चल्यत इत्याह यतस्त इति । जेतासीत्यल द्वितीयया तृज्वान्ता]योगात् तृनश्च भविष्यदर्धत्वासिद्धेर्लुङन्तरवैकपधम् ; तलानद्यतनविवक्षाऽपि नास्तीत्यभिष्ठायेणाइ जेष्यसीति । शक्कितान्यविवक्षाऽपि नास्तीत्यभिष्ठायेणाइ जेष्यपतीति । शक्कितान्यनिवक्षाः इत्यादिकमारम्भोक्तनृशंसत्वशङ्कापरिहा-

स्पत्नानेव जेष्यसि; न तु स्नेहकारुण्यपात्रीकर्तव्यान् । अतो न नृशंसता ।

सङ्जय उवाच--

एतच्छ्रत्वा वचनं केशवस्य इताञ्जलिवेंपमानः किरीटी !

नमस्कृत्वा भूय पवाह कृष्णं सगद्भं भीतभीतः प्रणम्य॥

34

एतत् आश्रितवात्सस्यज्ञरुधेः केशवस्य वचनं श्रुत्वा अर्जुनस्तरमे नमस्कृत्य मीतमीतो स्यस्तं प्रणम्य कृताङ्गरिवेषमानः किरीटी सगृद्धमाह ॥ ३५ ॥

स्थाने हृषीकेश तब <sup>1</sup>प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरंज्यते च।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥

₹6

स्थाने युक्तम् । यदेतत् युद्धदिदश्चयाऽऽगतमशेषदेवगन्धर्वमिद्धयक्षविद्याधरिकन्नरिक-पुरुषादिकं जगत् , त्वरप्रसादात् त्वां सर्वेश्वरमवस्रोक्य तव प्रकीर्त्या सर्वे प्रहृष्यति, अनु-रूपये च, यच त्वामवस्रोक्य रक्षांसि मोतानि सर्वा दिश्चः प्रह्नवन्ति, सर्वे सिद्धसंथाः सिद्धायनुकूस्तर्सयाः नमस्यन्ति च — तदेतत् सर्वे युक्तमिति पूर्वेण संबन्धः ॥ ३६ ॥

युक्ततामेवोपपादयति —

कस्माच हते न नमेरन् महत्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

रार्थिमिति भावः । अनुकूलेषु बानृशंस्यं शस्यत इत्यिभिपायेण सपत्नशब्द इति चामिप्रेतम् ॥ ३४ ॥

एतच्छूस्वेति क्षोके नमस्कारद्वयहेतुं पदानामुचितान्वयमकारं च दर्शयति एतदाश्रितेति ।

वचनश्रवणमातादवशस्य भथमो नमस्कारः ; भीतभीतस्य वश्यमाणवावयपारम्भार्थौ पुनःप्रणामाञ्जले ।

अपेक्षामात्रेण स्विग्रहादिमकाशनवत् स्वामिपायस्याऽऽविष्कारमपि वास्सल्येनैव क्र-वानित्यिभिप्रायेणाह्

आश्रितवात्सवयज्ञक्येिरिति । ब्रह्मेशरस्कत्वादिभिः केश्चरः ; आश्रितसंसारकपेणादिभिः कृष्णः ।

भगवचरणारविन्दवन्दनेन किरीटजुष्टं शिरः क्रतार्थतां गतमित्यभिपायेणात्न किमीर्टिपदपयोगः । "भारः

परं पद्टिकरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्" (भागः २. ३. २१) इति हि महर्षिणोक्तम् ॥ ३५ ॥

स्थाने ह्पीकेशेति श्लोकः श्रीविष्णुपञ्चराविषु विनियुक्तो मन्तः प्रसिद्धः । स्थाने ह्रत्यस्य अधि करणार्थताप्रतीतित्युदासायाद युक्तमिति । अत्र जगच्छव्दविवक्षितार्थं तस्य प्रकीर्तिम्हणहर्षनिदानं च व्यनक्ति यदेतदिति । प्रहृष्यतीत्यनेन प्रिवातिथिलामादाविव अक्षिमनः प्रीतिर्विवक्षिता ; अनुरज्यते इति तु पिताविषु पुत्रादेरिव लेहः इत्यपुनरुक्तिः । स्वामवलोक्येत्यनेन रक्षसां भीतिहेतुपदर्शनम् । प्रकीर्त्येत्यस्यानुषत्रस्तु विरुद्धत्वादयुक्तः । अन्यकर्तृकप्रकीर्त्येति तु करूपनागौरवम् । अवलोकनं तु, 'वीक्षन्ते त्वाम्' (२२) इति देवापुरादीनां सर्वेषामुक्तमिति मावः । सिद्धशब्दोऽत्वानुक्र्वर्गप्रदर्शनार्थ इत्यमिपायेण सिद्धाद्यनुकृत्वसंघा इत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

कसादित्यादिकं पूर्वेण संगमयति युक्ततामिति । ते इत्यस्य प्रथमाबहुवचनत्वश्रमव्युदासाय . तुम्यमित्युक्तिः । प्रणतिकर्तारस्तु अर्थसिद्धा अनुषक्ता एवेति भावः । ब्रह्मशब्दस्यानेकार्थेषु प्रयोगात् इह

प्रकीर्खा—प्रकर्षण कीर्तनेन ।
 अन्येपायनन्तः प्रत्वे हेतुरस्तीति मावः ।

महात्मन् , ते तुभ्यं गरीयसे ब्रह्मणः हिरण्यगर्भस्यापि आदिभृताय कर्ते हिरण्यगर्मा-दयः कस्माद्धेतोर्न नमस्कुर्यः ॥ ३६ ॥

अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत् तत्यरं यत्॥

3

अनन्त देवेश जगिवास स्वमेवाक्षरम् । न क्षरतीत्यक्षरं जीवास्मतत्त्वम् । "न जायते प्रियते वा विपश्चित् " (क. २. १८) इत्यादिश्च तिसद्धो जीवास्मा हि न क्षरति । सदसव स्वमेव सदसच्छन्दिनिर्दिष्टं कार्यकारणभावेनावस्थितं प्रकृतितत्त्वम् , नामरूपविभागवत्त्तया कार्यावस्थं सच्छन्दिनिर्दिष्टं तदनहृतया कारणावस्थमसच्छन्दिनिर्दिष्टं च स्वमेव । तस्परं यत् तस्मात् प्रकृतेः प्रकृतिसंबन्धिनश्च जीवास्मनः परम् अन्यत् सुकारमन्त्रवं यत् , तदिष स्वमेव ॥ ३७. स्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमन्त्र विश्वत्य परं निधानम् ।

अतस्त्वमादिदेवः, पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । निधीयते त्विय विश्व-मिति त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ; विश्वस्य श्ररीरभृतस्यात्मतया परमाधारभृतस्त्वमेवेत्यर्थः ॥

स्वैपणन्तव्यस्वोपयोगाय **हिरण्यगर्भ**पदेन व्याख्या । आदिक्तें इति सविशेषणिनिर्देशेन व्यवच्छेद्यम्त-नृतनिहिरण्यगर्भकर्तृसंभावनाश्रमन्युदासाय आदिभृतायेति व्यस्योक्तम् । कर्तृशब्देन निमित्तत्व-स्योक्तस्वात् आदिशब्द उपादानत्वपरः ; स्वस्य कारणान्तरिनिषेषार्थो वा । नमङ्गशब्दयोगवत् नमनमाञ्च-योगेऽपि चतुर्थी विद्यत इति ज्ञापनाय नमस्कुर्युरित्युक्तम् । "पश्चशिखाय तथेश्वरङ्गण्यायेते<sup>2</sup>नमस्यामः" (सां. कौ) इत्यादिवत् ॥ ३६ ॥

त्वमश्चामित (१८) प्रागण्युक्तस्वाद्वत स्वमश्चामित तदितिकार्थयस्वयुवितम् ; तस्यामित्यस्य सामध्यिवात अश्वस्यद्वस्च्छव्दानामवरतत्त्वविषयत्वं न्याय्यम् ; तत् च भावाभावशब्दाभिळप्यविकारयोगितया सदसच्छव्दयोरिचत्यरत्वं निर्विकारत्या अक्षरशब्दस्य जीवासिविषयत्वं चोवितिमित्यभिप्रायेणाह न श्वरतीति । जीवक्षरस्य निर्विकारत्ये श्रुति दर्शयति न जायत इति । कार्यकारण्योससदसच्छव्देन व्यवदेशः, "असद्वा इदमप्र आसीत् , ततो वे सदजायतः" (आ. ७) इत्यादिश्रुतिसिद्ध इत्यभिपायेण कार्यकारण्यात्वस्य । एकस्मित्रेव द्वय्ये सदसच्छव्दययोगित्वानमाह नामरूपेति । अश्वरं सदसच्यत्वस्य परत्यं च सुक्तात्मतत्वस्यादिश्वर्यः । दिशेषकामावात् तिळतेळ्वास्वक्षत्याधकमित्याह अत्व इति । सर्वतत्त्वसम्बर्यादिख्यश्चरं । जगिन्नवासशव्देन (शव्दरे) जगत् निवासो यस्येति विम्रद्दाः । अतो निधानशव्देनात आधारत्वमेवानुक्तं विविक्षतमिति प्रदर्शनायाधिकरणव्युत्पितं दर्शयति निधीयते स्वयीति । तेन स्वमक्षरमित्यादिसामानाधिकरण्यकारणं विश्वश्वरिरित्वं विवक्षितमित्याह विश्वस्य अरीर-

अत्र प्तानत्यद्युद्धः पाठः । "कपिछा । महामुन्ये मुनये शिष्याय तथ्य चाऽऽसुरये
 पञ्चशिक्षाय तथैश्वरङ्ख्यायैते नमस्यामः" इति इलोकः ।

<sup>1</sup>वैत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

36

जगित सर्वो बेदिता वैद्यं च सर्वे स्वमेव । एवं सर्वात्मतयाऽवस्थितस्त्वमेव परं च धाम स्थानम् ; प्राप्यस्थानमित्यर्थः । त्वया ततं विश्वमनन्तरूप । त्वयाऽऽत्मत्वेन विश्वं चिद्चि-निमंत्र जगत ततं ब्याप्तम् ॥ ३८ ॥

अतस्त्वमेव वाय्वादिश्चन्दवाच्य श्रस्याह—

बायुर्वमोऽग्निर्वरुणदशशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं (पितामहस्त्वं) <sup>2</sup>प्रपितामहस्र ।

सर्वेषां प्रिषतामहस्त्वमेवः पितामहादयश्च । सर्वोतां प्रजानां पितरः प्रजापतयः, प्रजापतीनां पिता हिरण्यगर्भः प्रजानां पितामहः, हिरण्यगर्भस्यापि पिता त्वं प्रजानां प्रिपता

भृतस्येति । एतेन निधानशब्दस्यात्राव्यक्तपरत्वं कैश्चिदुक्तं निरस्तम् ॥

वेत्तासीत्यादौ परमात्मनो वेदितृत्वादिमात्तविधानेऽतिशयामावात् कारणावस्थद्रव्यान्तर्थामितवस्य चोक्तत्वात्, कार्यावस्थज्ञातृज्ञेयान्तर्थामित्वमेवात्त विवक्षितमित्यमित्रायेणाह जगति सर्वो
वेदिता वेदं चेति । धामशब्दस्यानेकार्थस्यापि स्थाने प्रसिद्धिपकर्षात् स एवार्थ उचितः । स्थानं
च प्राप्यमिति प्रसिद्धम् । अतः परत्वेन विशेषितपाप्यत्वमेवात्त विवक्षितमित्यमिप्रायेणाह प्राप्यस्थानमिति । यद्वा परमप्राप्यं भगवद्धाधारणं स्थानं विवक्षितं स्थात् ; तेनापि पूर्ववत् सामानाधिकरण्यव्यपदेशः । आमनन्ति च तदपाकृतं स्थानम्, "अरक्ष ह वै व्यध्याणवौ न्रव्वलोकं तृतीयस्थामितो दिवि ।
तदैरंगदीयं सरः तदस्थत्थस्तोमसवनस्तदपराजिता पूर्ववणः प्रसुविमितम्" (छा. ८.५. ३) इति,
तथा, "सहस्रस्यूणे विमिते हढ उप्रे यत्न देवानामिषदेव आस्ते" (तस्रत्र) (जैमि न्ना 4. 844)
इति । सामान्यतो विशेषतध्य प्रवृत्तयोः पूर्वोत्तरसामानाधिकरण्ययोर्भध्यस्थेन स्वया तत्तित्यादिन।
शरीरात्मभावं एव निवन्धनिति स्म्हमच्यत इत्यमिपायेणाह स्वयाऽऽत्सन्वेतेति ॥ ३८ ॥

"इन्द्रं मिलं वरुणमिमाहुरथो दिव्यस्युपणों गरुरमान्, एकं सत् विशा बहुषा वदःत्यिमं यमं मातिरिधानमाहुः" (ऋ. २. ३. २२. ४६), "तदेवािमलद्वायुस्तस्त्र्येस्तदु चन्द्रमाः, तदेव ग्रुकममृतं तद्वन्न तदायः स अजापतिः" (ना) इत्यादिश्वस्तुपंत्रहृणािमशायेण 'त्वया ततं विश्वम् ' इति निर्दिष्टं शरीरात्ममावं वायुपंमोऽिष्रः इत्यादिसामानािषकरुण्यहेतुत्वेनाह अतस्त्वमेवेति । संबन्धिविशेषा-नुपादानात् प्रितामहस्त्वमेवेति । स्वशब्दः पितामहादिससुच्यार्थेक इत्यभिपयन् आह पितामहादिससुच्यार्थेक इत्यभिपयन् आह पितामहादससुच्यार्थेक इत्यभिपयन् आह पितामहादयश्चित । सर्वपितामहस्त्व कर्यादिसा। प्रजापतयः

<sup>1</sup> छच्चा इत्यर्थ एव वेसेति प्रयोगीचित्यात् अत शतित्यर्थछ।भाय वेदितेति भाष्ये प्रयोगः।

<sup>2</sup> अत्र मध्ये त्वमिति निर्देशात् वाय्वादिसामानाधिकरण्यं व्यवधानेन, प्रितामहसामाना-धिकरण्यं साझादिति विभन्यते। भाष्ये पितामहादीति शब्दमयोगात् टीकातश्च प्रजापतिशब्दस्थाने पितामह रति आन्ध्राखिपपाटः भाष्यादिसंमत इव । अन्यथा अर्थकथनमिति थ्येयम् ।

महः । पितामहादीनामात्मतया तत्तच्छब्दवाच्यस्त्वमेवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अत्यव्भ्रताकारं भगवन्तं दृष्ट्। हर्षोत्फुल्लनयनोऽत्यन्तसाध्वसावनतः सर्वतो नमस्करोति ॥ नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूगोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९

नमः पुरस्ताद्य पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

<sup>1</sup>अतन्त्रवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्तोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०

[अनन्तवीर्थ] अ[पिर]मितवीर्थ, अपरिमितपशक्रमस्त्वं सर्वमात्मत्या समाप्नोपि : ततः सर्वोऽसि । यतस्त्वं सर्वे चिद्रचिद्वस्तुजातमात्मतया समाप्नोपि, अतः सर्वस्य चिद्रचिद्वस्तुजातमात्मतया समाप्नोपि, अतः सर्वस्य चिद्रचिद्वस्तु-जातस्य त्वच्छरीरतया त्वत्प्रकारत्वात् सर्वप्रकारस्त्वमेव सर्वश्चन्दवाच्योऽत्रीत्यर्थः । 'त्वमक्षरं सद्मत् ' (३७), 'वायुर्यमोऽग्निः' (३९) इत्याद्सर्वसामानाधिकाण्यनिर्देशसाऽऽत्मतया व्याग्निरेव हेतुरिति सुम्यक्षम् , ''त्वया ततं विश्वमनन्तरूप' (३८), ''सर्वे समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः'' इति च ॥ ४०॥

सखेति मत्वा प्रसमं यहुक्तं हे छुक्ण हे याद्व हे श्रेसखेति । अजानता महिमानं तवैमं मग्ग प्रमादात् प्रणखेन वाऽपि ॥ यद्यापहासार्थमसन्छतोऽति विद्यारगय्यासनमोजनेषु । एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये स्वामहमयमेयस् ॥

85

सुवानन्तवीर्यत्वामितविक्रमत्वसर्वान्तरात्मत्वस्रष्टृत्वादिको यो महिमा, तमिममजा-

दक्षादयः । चशन्दसमुचितिपतामहत्वं तु तच्छरीरकतयेत्याह पितामहादीनामारमतयेति ॥ ३८ ॥

नमो नमस्तेऽस्तु इत्यादिनोक्तनमने विश्वरूपपदर्शनप्रकटितपरत्वसौरूभ्यानुभवजनितभयहष्विव हेतुरित्यभिपायेणाह अत्यद्शुताकारमिति ॥ ३९ ॥

अनन्तस्य वीर्यमिव वीर्य यस्येत्यस्यधाप्तिपतिवारणायाह अ[पिर]मितवीर्येति । अमित-शब्दस्याप्रमितपरत्वे शास्त्रादिसिद्धिविरोधात् अपिरिमतपराक्रमेन्युक्तम् । सर्वे समामोपीत्यत्र आकाशादिवत् व्याप्तित्युद्धासाय, 'अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वोत्सा' (य. आ. ३. ११. २१) इत्यादिश्चुर्युक्तात्मत्वपर्यवसित्तिवमनार्थव्याप्तिविवक्षितेत्यमिप्रयन् भाह सर्वमात्मतयेति । 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (पु), 'आत्मैवेदं सर्वै' (छा. ७. २५. २), 'नारायण एवेदं सर्वम्' (ना. उ.) इत्यादिश्चुत्तिस्थर्सवेशब्दसामानाधिकरण्ये न बाधाद्यर्थम् , अपितु शरीरात्मभावनिवन्धनिविश्चवैयपरिमत्युक्तमित्यभित्रायेणाह यतस्वमित्यादि । सक्छवेदवेदान्ततदुपबृहणेषु भगवद्वाचिशब्दानां सर्विचिद्विद्धतुवाचिसामान्यविशेषसकळशब्दसामानाधिकरण्यस्यापि शरीरात्मभाव एव निवन्धनमिति एतत्प्रषष्टकस्थितिस्यमित्रायेणाह स्वमश्चरं मदसदित्यादि ।

इदं शब्दविशेषितमहिमशब्दः प्रकृतमहिमानुवादीत्यभिषयन् आह अनन्तवीर्यत्वामितविकमत्वे

l अनन्तवीर्यामितविकम इत्येकं परं शांकरे। 2 हे सखे इति संबुद्धित्वादार्यः स्टाके संघिः।

नतः मया भमादात् मोहत्त्, भणयेन चिश्पिक्चयेः वा सलेति मम वयस्यः इति मत्वा, हे कृष्ण, हे यादव, हे सस्वे इति त्विय भस्म विनयापेतं यदुक्तम्, यच परिहासार्थे सर्वेदैव सत्काराईस्त्वमक्षत्कृतोऽस्स, विहासक्ष्यासनभोजनेषु च सहकृतेषु एकान्ते वः समश्च वा यत् असत्कृतोऽसि ; तत् सर्वे त्वामक्षेयमहं श्वामये ॥ ४१ ॥ ४२

विताऽलि हेलोकमा बराबरमा त्वमस्य पुष्यक्ष गुरुगरीयान्। 🛩 न त्वत्समोऽस्यभ्यविकः करोऽत्यो लोकन्येऽष्य ग्रिमयभाव॥

83

अप्रतिमप्रभाव ! स्वमस्य सर्वस्य चराचरस्य लोकस्य पिताऽसि । अस्य लोकस्य गुरुश्वासि ; अतरस्वमस्य चराचरस्य लोकस्य गरीयान् [पूज्य: ?] पूज्यनमः । न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः

त्यादि । प्रमाद्शव्दस्याज्ञानपरत्वे अजानतेत्यनेन गैनरुवत्यात् सजातीयत्वभ्रमपरत्वमिभेत्य प्रमादानमोहादिखुक्तम् । संवेति बुद्धिहेतुत्वस्वारत्यात् ग्रीतिवाचिनाऽपि प्रणयशब्देन तदौपियकचिरपिचयोपचारो युक्त इत्याशयेनाह प्रणयेन चिरपिचयोनित । 'सयुजा सखाया' (मृ. २. २. १) इति
श्रुतिपतिपन्नसिक्तवबुद्धेमोहादिजन्यत्वासंभवेन सखेति मन्देत्येतत् छौकिकवयस्यत्वबुद्धिपरिमत्याशयेनाह
मम वयस इति मन्देति । हे कृष्णेत्यादिकं भ्रसभोक्त्याकारसमपकिमित्याशयेनान्वयं दर्शयन् पृक्कतोचितविनयामावपरत्वमाह हे कृष्णेत्यादि(दिना?)। यच्चत्यत्व चशब्दामिभेतासत्कारवहुत्वसिद्ध्यर्थं यदसन्कृतो
ऽसीत्यस्याऽऽवृत्त्या वावयमेदमङ्गीकृत्य अर्थमाह यच परिहासार्थमित्यादिना । तत एव तत्मर्वम्
इति तत्य बहुत्वमुच्यते । परिहासार्थमप्यसत्कारो महद्विषयेऽपराध एवेत्यभिमायेण मध्यमपुरुवाक्षिमार्थमाह सर्वदेव सन्काराईस्त्वमिति । एकशब्दफित्योक्तिः एकान्त इति ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

त्वया क्षामणे कृतेऽपि, क्षमेऽङ्मिति केन निश्चितम्, मदन्यः कश्चिदाश्रीयता-मिति भगवद्मिप्रायमुत्तीय तदुत्तरत्वेन हेतुफलमावेन प्रवृते श्लोकद्वये प्रथमश्लोकस्विशेष-णानि अप्रतिमप्रभावस्वोपपादकानीत्यभिषायेण अप्रतिमप्रभावेति प्रथममुक्तम् । पितृगुरुपुज्यशब्दानां संवन्धिसापेक्षत्वेन **लोक**शब्दस्य सर्वत्नान्वयमाह अस्य लोकस्य पिताऽसीन्यादिना । निरुपाधिक-पितृत्वगुरुत्वे पृज्यतमत्वहेतुरित्यभिषायेणाह् अत् इति । पृज्यत्वे ग्रीयस्त्वमनवच्छिन्न[त्व ?]मिति

<sup>1</sup> भाष्यं यच्छव्दत्वयसद्भावेऽपि यससम्प्रसिति न पाठसेप्रधायः। अतः व चिन्द्रकायां यच्छव्दन्न स्थाप्याचृंत्तरेवोक्ता। शांकरे तम्समक्षणित्येव पठित्वा तदिःन क्रियाविशेषणामम्युक्तमः। असिक्तभा-विशेषणतया नदसन्कारविषयीक्व भेऽसीत्येवमर्थाभिमा व्येव उत्तरार्थे भाष्ये वाक्यमेदाश्चयणित्व । असत्कारस्य पुतः कथन एव तच्छव्दव्यारस्यात् । यच्छव्दद्वयमस्वेऽपि नच्छव्द द्वयं नावश्यवम् । तिर्विदं यच्छव्दव्यायदेनेव माध्ये ज्ञातिमेव । भाष्ये द्वीकाः व त्व तच्छव्दव्यास्य न उत्तः। तत्— तस्यादित्ययर्थेऽपि नार्थेक्षितः । यचार्ष्वासार्थेभिनि वाक्यं विद्वारादि हालान्यक्छविषयमः। तद्युक्ती न्यूनता च स्यादिति पृथ्ववावयकरणमः। 2 अप्रमेयेति श्रुक्तम्। तास्योऽदं कथं वश्चीकार्यः। क्षयमद्वे से स्थाद्वे सिक्तम् । स्थाविकार्यः। क्षयमद्वे से स्थाविकार्यः। क्षयमद्वे से स्थाविकार्यः। क्षयमद्वे से स्थाविकार्यः। क्षयमद्वे से स्थाविकार्यः। स्थाविकार्यः। क्षयमद्वे से स्थाविकार्यः। स्थाविकार्यः। स्थाविकार्यः। क्षयमद्वे से स्थाविकार्यः। स्याविकार्यः। स्थाविकार्यः। स्याविकार्यः। स्थाविकार्यः। स्थाविकार्यः। स्थाविकार्यः। स्थाविकार्य

क्रुतोऽन्यः लोकत्रयेऽपि त्वदन्यः कारूण्यादिना केनापि गुणेन न त्वत्ममोऽस्ति । क्रुतोऽभ्यधिक १ ॥ ४३ ॥

तसात् प्रणम्य <sup>1</sup>प्रणिधःय कायं प्रसादये त्वामहत्तीशमीडण्स् । पितेव पुत्रस्य संखेव संस्थाः प्रियः प्रियायार्द्वस्ति देव सोद्धम् ॥

22

यसात् त्वं सर्वस्य पिता पूज्यतमो गुरुश्च कारुण्यादिगुणैश्च सर्वाधिकोऽसि, तसात् त्वामीशमीड्यं प्रणम्य प्रणिधाय च कायं, प्रसादये ; यथा कृतापराधस्थापि पुतस्य, यथा च सरुपः, प्रणामपूर्वं प्रार्थितः पिता वा सखा वा प्रसीदतिः तथा त्वं पश्मकारुणिकः जापनाय प्रवृत्तं न रवत्समोऽस्तीति वावयं व्याख्यास्यन् प्रयोजनातिशयसत्त्वात् लोकन्नयः शन्दस्यातान्वयमाह लोकत्रयेऽपि न्वदन्य इति । अत लोकत्रयशन्देन कृतकाकृतकमित्यक्तलोकत्वयं वा, लोक्यतेऽनेन प्रमाणान्तराप्राप्तार्थ इति व्यःपत्या वेदलयं वा विवक्षितम् । सान्यस्य भेदघटितत्वात् न त्वत्समोऽस्तीत्यनेनैव अन्यस्मिन् भगवत्सान्यनिषेध-लाभात् अन्यपदानर्थवयमित्याशङ्कापरिहाराय, 'अन्यस्त्वत्समो नास्ति, त्वमेव तव समः' इत्यर्थलामार्थ त्वदन्यः इत्युद्देश्यसमर्पकत्वेनान्यशब्दस्यान्वय उक्तः । तेन कार्यत्वकर्मवश्यत्वादिना समवदन्यत्वेन प्रसिद्धानां विधिशिवादीनाम् , "हिरण्यगर्भरसमवर्तताप्रे" (यजु. ४. १. ८. ३१), "अजस्य नामावध्येक-मर्पितम् '' (यजु. ४. ६. २. ८), "यदा तमस्तन्न दिवा न रात्निर्न सन्न चासत् शिव एव केवरु:" (श्वे. ४. १८) इत्यादिषु तत्तद्वाचिशव्दश्रवणेन कारणत्वादिना भगवत्साम्यापातप्रतीताविष, "आकाश स्तिष्ठिङ्गात् " (ब. १.१.२३), "शाणस्तथाऽनुगमात्" (२९), "शास्त्रदृष्ट्या तुपदेशो वामदेववत्" (३१), "साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः" (१. २. २९) इत्यादिन्यायानुरोधेन, "एष सर्वभृतान्तरास्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" (स. ७). "एको ह वै नारायण आसीत्र ब्रह्मा नेशानः" (महो. १. १) इत्यादिश्रुतिसिद्धसर्वोन्तरात्मत्वापहतपाप्मत्वादिविशिष्टमगवदसाधारणधर्मप्रतिपादक वावयस्यहिरण्यगर्भाजशिवादिशब्दानां भगवत्परतया न तेषां भगवत्सान्यगन्धोऽपीति लभ्यते । केनापि गणेनेति । किमुत सक्छक्रव्याणगणे:, जगरकारणस्वमोक्षप्रदस्वादिना चेति भाव: । अनेन साम्येवयोतीर्ण-व्यवत्यन्तरत्वपक्षा निरस्ता वेदित्वयाः ॥ ४३ ॥

प्रणिधाय—प्रकर्षण भूमी निधाय।

<sup>1</sup>त्रियाय में सर्वे सोद्धमईसि ॥ ४४ ॥

अदृष्युर्वे ह्यातोऽस्मि दृष्ट्या भगेत च प्रव्यथितं मनो मे ।

तदेव में दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

કલ

अदृष्टपूर्वम्-अत्यदृश्चतमत्युग्रं च तव रूपं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि प्रीतोऽस्म । भयेन प्रव्य-थितं च मे मनः । अतस्तदेव तव सुप्रमुकं रूपं मे दर्शय । प्रसीद देवेश जगन्निवास — मिष प्रसादं कुरु, देवानां त्रमादीनामपीश, निस्विरूजगदाश्रयभृत ॥ ४५ ॥

किरोटिनं वैगदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैश।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रवाहो भव विश्वसूर्ते ॥

૪.

तथैव=पूर्ववत् , किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं त्वां द्रष्टुमिन्छामि । अतस्तेनैव पूर्वसिद्धेन चतुर्श्वजेन रूपेण युक्तो भव । सहस्रवाहो विश्वमूर्ते इदानीं सहस्रवाहुत्वेन विश्वश्रगीक्त्वेन दश्य-

विचित्रसापि <sup>3</sup>[अ] हष्टपूर्वस्येवाध्यर्यविषयत्वदर्शनात् अदृष्टपूर्वमित्यनेन फिलनगह अत्यद्भुतिमित। 'भयेन च प्रव्यथितं मनो मे' इत्यनेनाक्षिसम् 'आख्याहि मे को भयानुग्ररूपः' इत्यतोक्तं विशेषणमाह अत्युग्नं चेति । भयेन चेत्यत्र च्याव्यस्य निष्प्रयोजनत्वादुक्तव्यथाहेत्वन्तरसमुच्यार्थत्वमगुक्तमिति उक्तभीतिसमुच्यार्थत्वमभित्रेत्य व्यवहितान्वयमाह प्रश्यितं च मे मन इति । पूर्वार्थोक्तस्य व्यथासहित-प्रीतिजनकत्वस्योत्तरार्धार्थहेतुत्वमभिष्रेत्याह अत इति । तच्छब्दस्य पूर्वप्रसिद्धाकारपराम्शित्वेन तदिम-प्रतमाकारमाह सुप्रसन्नमिति । अनेन केवल्यीतिहेतुत्वं सूचितम् । प्रपत्नस्य रक्षणमवस्यं कार्यमित्यमिन्प्रायेण मे दर्शयेत्युक्तम् । देव देवेशेति संबोधनद्वयेन 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम्' (श्व. ६. ७) इति श्रुत्यर्थोऽभिषेत इत्याद्ययेन देवानां म्रक्षादीनामपीशेत्युक्तम् । दश्यमान-रूपस्य 'तत्वैकस्यं जगत् कृत्सं प्रविभक्तमनेकधा' (१३) इति जगदाश्रयत्वेन दृश्यमानत्वात् जगिन्नवासे-त्यनेन तदुच्यत इत्यमित्रयन् आह जगदाश्रयभृतेति ॥ ४५ ॥

तथैवेत्यस्य, पूर्वे जगदाश्रयमत्यद्भुतं रूपं द्रष्टुवैच्छम् , तथैव पूर्वरूपं द्रष्टुविच्छामीत्यर्थश्रमं च्युदस्यन् अतीतावस्थाविशिष्टस्य कथं प्रदर्शनमित शङ्कां च अर्थात् परिहरन् अन्वयभेदेन तत् व्याचष्टे तथैव पूर्वविकिशीटिनमिति। पूर्ववृष्टसजातीयमेव द्रष्टुमिच्छामीत्यर्थः। रूपेपोत्यत्र तृतीयायाः करणार्थत्वासंभवात् रूपेण युक्तो भवेत्युक्तम्। सहस्रवाहूदरिवश्वम् तिविशिष्टस्य चतुर्भुजरूपयुक्तत्वासंभवं कालमेदेन परिहरित इदानीमिति ॥ ४६ ॥

<sup>1</sup> यथा व। िय । प्रयायाः अपराधं क्षमते, तथा सोहुमिति शांकरम् ६वशवनात्रगः धाहारदोषात् प्रियाया इति पदच्छेदे प्रियायाईसीति संध्ययोगाच क्षिष्टम् । प्रियाय मे इति । प्रियम् गय
महामिति वा. मत्रेष्टसिद्धये इति वाऽर्थः । 2 अनेत सार्थ्यदशायामित शंकवत् गशाचकादैर्राप
धारणं ज्ञायते । 3 अदृष्टपूर्वस्यैवेति शहान्तरम् । दृष्टेतिपाठे दृष्टपूर्वे यत् विचित्रम् नताप्याद्वर्यस्वमस्तीति अदृष्टपूर्वस्यम् सुनन्वे अतिशयापादकम् । अतः अत्यद्भुतमित्युक्तमित्यर्थः । अत्र
विचित्रस्य दृष्ट्य्वर्यम् पाठी पाठो युक्तः । दृष्ट्यस्य विचित्रस्यात्यदृष्ट्य्वर्यवेति पाठः स्थितः स्थात् ।
अदृष्टपूर्वप्यादेव दृष्वदेश्वात्रमम् सुनत्वस्य विचित्रस्यात्यदृष्टपूर्वर्यवेति पाठः स्थितः स्थात् ।

# मानरूपस्तवं तेनैव रूपेण युक्तो भवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच— मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् । तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्त्रे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥

20

यन्मे तेजोमयं तेजसां राशिः, विश्वं विश्वात्मभूतम्, अनन्तम् अन्तरहितम् ; प्रदर्श-नार्थमिदम् ; आदिमध्यान्तरहितम् ; आदम् मझितिरिक्तस्य कृत्स्नस्यादिभृतम् , त्वदन्येन केनापि न दृष्टपूर्वं [परं ?] रूपम् — तदिदं प्रसन्नेन मया मझकाय ते द्शितम् ; आत्मयोगात् आत्मनस्तस्यक्षंकरपत्वयोगात् ॥ ४७ ॥

## अनन्यभक्तिव्यतिरिक्तैः सर्वेरिप्युरायैर्यथावदवस्थितोऽहं द्रव्हं न शक्य इत्याह—

तेजोमयमित्यत मयटः शाचुर्यार्थःत्वसभिन्नेत्वाह तेजसां राज्ञिरित । विश्वात्मभृतमित । विश्वात्मभृतमित । विश्वात्मभृतमित । विश्वात्मभृतमित । विश्वात्मभृतमित । विश्वात्मभृतमित । अनन्तिमस्यान्तम् (१९) इति पूर्वमुक्तत्वात् अनन्तमित्येतिहतरोगलस्याह प्रदर्शनार्थामदमित । आद्यमित्यत्व प्रतिसंवन्धिविद्यामित्याह प्रदर्शनार्थामदमित । आद्यमित्यत्व प्रतिसंवन्धिविद्यामित्याह प्रदर्शनार्थमिदमाह केनापीति । प्रसादस्य निर्हेतुकत्वे वैषम्य-वैद्ययमक्षात् तव(ते) इत्यनेनाभिन्नेत प्रसादहेतुमाह मद्भक्ताय त इति । योगशब्दस्य ध्यानपरत्व-व्युदासाय व्याचष्टे आत्मनसस्त्यसङ्करूपत्वयोगादिति ॥ १७ ॥

कथमेतदूपस्य मदन्येन केनाप्यदृष्ट्य्वेत्वम् ? येनकेनचिदुपायेनान्येर्षि दर्शनसंभवादित्यल एतदुपपादकरवेनोत्तररहोकनवतारयति अनन्यमिक्तन्यतिरिक्तेरित्यादिना । एवंह्रपः इत्यस्यापाकृत-रूपविशिष्ट्यरत्वे <sup>1</sup>कृष्णावताररूपस्य सर्वेद्दर्यमानत्वानुपपत्या मनुष्यादिविसज्ञातीयत्वापाकृतत्वादि-रूपपरत्वमिभेत्रयाह यथावदवस्थितोऽहमिति । एकान्तमिक्तरहितानामवताररूपदर्शनं तु मनुष्यादि सज्ञातीयत्वपाकृतत्वादिरूपपायथावस्थितदर्शनमेवेति भावः । स्वदित्येतत् पृथक्पदं मक्तिमत्यरं वेत्यमि प्रयम् आह मिय मिक्तमतस्त्वचोऽन्येनेति । अल्लान्यपदेन अर्जुनान्यत्वविवक्षायां 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवेविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्वर्ष्टुं च तत्त्वेन' (५४) इत्युक्तस्त्रविद्याप्तर्या मिक्तमदन्यत्वमालं विवक्षितित्याह एकान्तमिक्तर्रहितोन केनापीति । वेद्रशब्दोऽर्थवत्त्या अत्वदेदपरः । तेन 'श्रोतद्यः' (इ. ४. ४. स) इत्युक्तश्रवणं उपयत इत्यध्ययनस्य पृथगुक्तत्वात् क्रियाशब्देन गोवस्रविद्यन्तयात् यज्ञदानाध्ययनादिव्यतिरिक्तहोमादिक्रया उच्यन्त इत्यभिनेत्य वेद्यज्ञादिभित्रियुक्तम् । 'तमेतं वेद्यनुवचनेन ब्राक्षणा विविदिषन्त यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (इ. ६. ४. २२) इति श्रुत्या वेदयज्ञादीनां मिक्तिहारा दर्शनसाधन्त्वपतिते: कथमयं निषेष इति श्रक्कावरणाय केवस्वेरित्युक्तम् ॥ ४

<sup>1</sup> अत्राञ्चतं रूपिमदं द्रष्टुमशक्यमित्युक्तौ कृष्णरूपस्यापि दृश्यमानत्वमनुपपन्नं स्वादिति भावः।

न वेदयहाध्ययनैर्न टानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुगैः। एवंरूएदशक्य<sup>8</sup> अर्ढ नुलोके द्रष्टं त्वदन्येन कुरुप्रदीर॥

\*6

एवंरुपो यथावदवस्थितोऽह मिय भक्तिमतस्त्वत्तोऽन्येन एकान्त [ऐकान्तिकात्य-न्तिक]भक्तिरहितेन केनापि पुरुषेण वेदयज्ञादिभिः केवलैर्द्रेष्ट्रं न शक्यः ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च चिमूढमावो दृष्ट्वा रूवं घोरमीदृष्ट्ममेदम् । व्यपेतमीः त्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपिन्दं प्रपश्य ॥४२॥

ईहज्ञाचोररूपदर्शनेन ते या व्यथा, यथ विमृदमानो नर्तते, तदुभयं मा भृतः त्वया अभ्यस्तपूर्वभेव सौम्यं रूपं दर्शयामि, तदेवेदं सम रूपं प्रपत्न्य ॥ ४९ ॥

सञ्जय उवाच— इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथो <sup>1</sup>कृत्या <mark>सकं रूपं दर्शयामास भूयः ।</mark> आध्यासयामास च भीतभेनं भूत्या पुनस्लौम्यवपुर्वेद्वातमा ॥ ५० ॥

एवं पाण्डुतनयं भगवान् वसुदेवस्तुरुक्तता भृयः स्वकीयमेव चतुर्श्वेजं रूपं दर्शया-मासः ; अपिन्चित[स्व]रूपदर्शनेन मीतमेनं पुनरिष परिचितसीम्यवपुर्भृत्वा आश्वासयामास च, महात्मा सत्यसंकल्पः । अस्य सर्वेश्वरस्य परमपुरुषस्य परस्य ब्रह्मणो जगदुपकृतिमत्येस्य वसुदेवस्त्रीश्वतुर्श्वजमेव स्वकीयं रूपम् ; कंसात् भीतवसुदेवप्रार्थनेन आकंपवधात् श्वजद्वयमुपः संहृतं पश्चादाविष्कृतं च । 'जातीऽसि देव देवेश शङ्खचक्रगदाधर । दिन्यं रूपमिदं देव

'हृष्टा रूपं, 'मा ते व्यथा मा च विम्द्रभावः' इत्यत्न क्रियापदिवरोषाश्रवणादेतद्भूपदर्शनेन² व्यथा ते न, न च विम्द्रभाव इति प्रतीतिस्त्यात् ; भृदित्यध्याहारेऽपि एतद्भूपदर्शनस्य व्यथाद्यभावहेदुत्व-प्रतीतिस्त्यात् ; तद्वारणाय व्याच्छे ईदश्चोररूपदर्शनेनेत्यादिना । तदेवेदं मे रूप पुनः परयेत्युक्तया भीत्यादिहेतुभूतमेवेदं पुनः परयेत्यर्थभमस्त्यात् । अतस्तच्छव्दमन्यथा व्याच्छे अस्यस्तपूर्वमेव सीम्यं रूप्। मिति । वर्तमानार्थकेदंशव्देन रूपद्वयस्थैककाछीनत्वश्रमच्युदासाय वर्तमानसामीप्यपरं तदित्यमिषायेण दश्यामीत्यध्याहृतम् । तथा च इदंशव्दः पदर्शयिव्यमाण(पद्वर्यमान)पर इति भावः ॥ ४९ ॥

सहजपीतिचोतनायाह एवं पाण्डुतनयं वसुदेवस्तुरिति । स्वकमित्यत्न स्वपदं कृष्णावतारपर-मित्यभिषेत्य स्वकीयमेव चतुर्भुजं रूपिम्युक्तम् । भीतमेनमित्यत्न इदानीं प्रदर्शितचतुर्भुजरूपदर्शनेन भीतत्वश्रमच्युदासायाह अवांरचित[स्व]रूपदर्शनेनेति । कथमस्य इच्छामात्रेण नानारूपपरिप्रहादिक-मित्यतस्तदुपपादकरवेनोक्तं महात्मेरयेतत् प्रकृतोपयोगितया च्याचष्टे सत्यसंकरण् इति । अपतिहत-संकंश्यत्वात् सर्वसुपपन्नमिति भावः । कृष्णस्य द्विभुजतया नन्दव्रजे अवस्थानाचतुर्भुजं रूपं कथमेतस्य

<sup>1</sup> हान श्रम्भ स्ट्रावात् तथेतिपदं चार्थे । श्रोभगवानुवाचेति वचनिक्रयाक्रपवाक्यार्थेन र्शयमासेत्येतद्वाक्यार्थेलमुचय इत्युक्तं भवति । 2 भूदिति क्रियापदस्था<sup>त्</sup>।भावात् मा ६ उस्य नेत्यर्थस्वीकारे, न ते व्यथा नापि विमृद्धभाव इत्यर्थः सादिति भावः । 3 अयथासंचिराषः ।

प्रसादेनोपसंहर ।...उपसंहर विश्वात्मन् रूपमेतचतुर्भुजम् ' (वि. ५. ३. १३) इति हि प्रार्थितम् । शिशुपालस्थापि द्विपतोऽनवस्तमावनाविषयश्चतुर्भुजमेव वसुदेवसनो रूपम्, ''उदाःपीवस्चतुर्वाहुं अङ्कचक्रगदाधरम् '' (वि. ४. १५. १३) इति । अतः पार्थेनात तेनैव रूपेण चतुर्भुजनेत्युच्यते ॥ ५० ॥ अर्जन डवाच—

डण्ड्वेदं मानुषं रूपं तब सौर्य जनार्दन । इदानीमस्मि मंदृत्तः सचेताः प्रकृति गतः ॥ ११ ॥ अनवधिकातिशयसौन्दर्यमौकुमार्यलावण्यादियुक्तं तवैवानाधार्णं मनुष्यत्वसंस्थान-संस्थितमतिसौर्यमिदं तब रूपं दृष्ट्वा इदानीं सचेतास्तवृत्तोस्मि; प्रकृति गतश्च ॥ ५१ ॥ श्रीभगवानवाच—

सुदुर्देशीमदं रूपं दृश्वानिस यन्त्रमः देश अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ १२॥ मम इदं सर्वस प्रशासनेऽवस्थितं सर्वाश्रयं सर्वकारणभृतं रूपं यत् दृश्वानिस, तत् सुदुर्देशं न केनापि द्रष्टुं शक्यम् । अस्य रूपस्य देवा अपि नित्यं दर्शनकाङ्किणः, न तु दृश्वन्तः ॥ कृत इत्यत्राह—

नाहं बेदैन तपसा न दानेन न सेवरया । शक्य पर्व विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ १२ ॥ भक्त्या ग्वनत्यया शक्य अहत्वं विधोऽर्जुन । बातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तर ॥ ५३ ॥ वेदेरध्यापनप्रवचनाध्ययनश्रवणजपिवपेः, इश्वादानहोमतपोभिश्च सद्धक्तिविरहितैः केवरुः यथावदवस्थिनोऽहं द्रग्टुमशक्यः । अनन्यया तु भक्त्या तत्त्वतरशास्त्रिज्ञातं तत्त्वतः स्वकीयमित्यतः सवमाणं तदुपपादयि अस्य सर्वेश्वरस्येत्यादिना । समाश्रयणीयतौपयिकपरत्वसीरूभ्य-व्यञ्जनाय अस्य सर्वेश्वरस्येत्यादिन । समाश्रयणीयतौपयिकपरत्वसीरूभ्य-व्यञ्जनाय अस्य सर्वेश्वरस्येत्यादिवशेषणानि । स्वकीयं स्प्यमिति क्रण्णावतास्य सहजं रूपमित्यर्थः॥५०॥

मानुषं रूपिन्यस्य कर्मजन्यपाक्तत्रूपपरत्वश्रमच्युदासांषेदंशब्दाभिषतं वदन् तत् व्याचष्टे अन-विश्वकातिक्रयसीन्दर्येत्यादिना ॥ ५१ ॥

यच्छब्दस्य प्रसिद्धपरामिशित्वेन प्रसिद्धाकारान् आह सर्वस्य प्रश्नासनेऽवस्थितमित्यादिना । नित्यमित्यस्य पदार्थेकदेशदर्शनान्वयस्यागतिकस्य आश्रयणमनुचितमिति [कांश्विण इत्यतान्वयम् ?]अभि-प्रेत्य आकाङक्षाया नित्यत्वं दर्शनाभावमवगमयतीत्याशयेनाह न तु दृष्टवन्त इति ॥ ५२ ॥

उत्तरस्रोकस्येतदुपपादकतया न पौनस्वत्यमित्याशयेन तमवतारयित **कृत रत्यत्राहे**ति । वेदानां स्वरूपेण साधनत्वाप्रसक्त्या तिविषेषोऽनुपपत्र इत्यतस्तद्गिम्प्रतमाह वेदेरण्यापनप्रवचनेति । दानेज्या-कथनं होमत्याप्युपछक्षणित्यमित्रयन् आह यागदानहोमतपोभित्रचेति । भक्तिद्वारा साधनत्वत्य, 'तमेतं वेदानुवचनेन' (दृ. ६. ४ २२) इत्यादिश्रुत्यवगतत्वात् मद्भक्तिविश्वितेरित्युक्तम् । एवं-विधशन्दो मानुषत्वादिश्रमानहैत्वापाङ्कतत्वादिषर इत्याह यथावदविश्वतोऽहमिति । न केवछं

भाष्ये तच्छल्द प्रयोगः स्पष्टताये । मुळे अन्ययस्तु यत् मम रूपं दृष्टवानस्ति, इदं सुदुर्दशमिति ।

स्साक्षात्कर्ते, गतन्त्रतः प्रवेष्टुं च शक्यः । तथा च श्रुतिः, "नायमात्मा प्रवचनेन लम्यो न मेवया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष दृणुते तेन लम्यस्तस्यैष आत्मा विद्रुणुते तन् स्वाम्" (क. २. २३) इति ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

साक्षात्कारमात्रे साधनत्वेन भक्तिरपेक्षिता; किंतु, 'शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद्वेषि जनार्दनम्' (भा. उ. ६८ ५) इत्यादिवत् शास्त्रतोऽर्थीनिर्णये, साक्षात्कारानन्तरभाविन्यां प्राप्तावपीत्यमिप्रायेण ह्वातुं प्रवेष्टुम् इत्युभयं पूर्वश्लोकाप्रसक्तमिह प्रसक्षितन् । तन्त्वतः इत्येकत् त्रिष्वप्यविशेषादपेक्षितन्त्वाचान्वितम् । तन्त्वतः प्रवेशः परिपूर्णप्राप्तिः, यथावस्थितसर्वाकारेणानुभव इत्यर्थः । तेन व्यूह्विम-वादिमात्विप्राप्तिव्यवन्छेदः। सर्यन्ते च साक्षान्युक्तेरविद्यः प्राप्तिपविभेदाः, ''लोकेषु विष्णोनिवसन्ति केचित् समीमपृच्छिन्ति च केचिदन्ये । अन्ये तु रूपं सदशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः'' इति । ''एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीष्टशम्''(गी. ६.४ २) इत्यस्य व्याख्याने यादवप्रकाशैश्चोक्तम् , ''इदमल्पीयसीं योगसिद्धिं गतस्य मृतस्य फलम् । यदि प्रथमां योगसिद्धिं गतो ब्रियते, त्यजित वा योगम् , श्वेतद्विपे

पूर्वक्रोंके वेटाहिभिद्रेष्टं न शक्य इत्यकत्वा भक्तयेति इस्रोकारम्भात भक्तया द्रष्टे शक्य इत्यत्नेच नैर्भर्यात भक्तेर्दर्शनसाधनत्वमेव, दर्शनमेव त प्रवेशोपायः इति न मन्तव्यम : अविधेय-ज्ञानस्य मोक्षहेतःवेऽपिसद्धान्तात् । तस्य दर्शनस्य विधयन्वस्वीकारे 'द्रपृत्यो निदिध्यासितन्यः' इत्यभयोरेकीकरणेन दर्शनसमानाकारध्यानेत्यर्थवर्णनस्यान्नितन्वारंतः । उपासीतः स्मृतिस्रमे सर्वेग्रन्थीनां विप्रमोक्षः, श्रीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे इति सर्ववाक्यसामरस्येन दर्शन-समानाकारध्यानं विधेयमेव मोक्षोपायः। अस्य ज्ञातमिन्यक्तशास्त्रजन्यज्ञानात प्रश्नमशोगात भक्तयेति पदं ज्ञात्वेत्यशान्वये प्रोतिविशोषमात्रपरमः। दृष्टीमत्यत्रान्वयं परभक्तिपरमः, प्रवेष्ट-मित्यबाग्वये परममक्तिपरमः मक्तिशब्दः 'स्नेहपूर्वमन्ध्यानं मक्तिरित्यभिधीयने' हित परिमाषणात परभक्तिवाचक एवः अन्यत्र गौणः प्रयोगः प्राित विशेषत्वाभिनिवेशहेतन्वरूपसामान्यधर्ममादाय. बह्मशब्दविदति कश्चित् पक्षः। महनीयविषये प्रोति भीकिरित्यनुगतार्थसं भवे संकोचायोगातु सर्वापि मख्या मक्तिः। मक्तियोगस्त परमक्तिः, ततोऽत्युत्कर्षात् परमभक्तिरिति पक्षान्तरम् । द्वितीयपक्षातु-कुलम् अत्र भक्तयेति पदम् , जितयान्वयात् । तत्र केवलप्रीत्याऽशेष्ठहणाभिनिवेशे शास्त्राहेदनम् । ततः कर्मयोगादि परम्परया मक्तियोगो बिहितो किष्पाद्यते । ततस्तीव दिक्का । ततः प्रसन्नग्रगवत्का-रितः परिपूर्णस्य परिपूर्णकरुपस्य वा नस्य साक्षात्कारः। तत् परज्ञानमः। तज्जः प्रीत्यतिशयः परम-भिक्तः । ततः शपथपूर्वकनिर्वन्धनपर्यन्तः प्राप्यभिनित्रेशः । ततो भगवन्यसादः । ततो मोक्षः । अत्रैतदन्द्रेया त परभक्तिरेवेति सैवोपायतया बिहिता : अन्यानि सर्वाण कळवर्वाण । तत्र पर्वपर्व-स्योत्तरोपायत्वमस्येव। यदि परमो धर्मः परममक्तिः, अतिशयितैव परमक्तिः अन्तिमप्रत्ययद्भपा 'यत्नेन चित्ते विनिवेशयन्ति' इति विद्वित्वेत्युच्यते, तदाऽपि अविद्विता प्रीतिः फलेमेव। प्रीत्यित-शयाभिनिवेशातिशयगर्भा सैव परमभक्तिः। क्विच्तु विशेषणमात्र प्रयोगः। परभक्तेर्दर्शनसाधन-त्वमपि न साक्षात् , किंतु दिद्दक्षाद्वारैव । प्वमेक साध्यत्वात् दर्शनप्रवेशयोरुभयत्र चकारः । श्वातु-मित्यत्र चकाराभावः तद्वतुमकेर्विलक्षणत्वादिति । शिष्टमष्टादशे, 'भक्तवा मामभिजानाति' इत्यत्र द्रष्टव्यम् । २ श्रीपाञ्चराते उपासनविशेषात् विभवमात्रस्य पश्चाद् व्यवस्य च प्रातिरप्युकाऽस्ति।

मत्कर्मकृत्मत्परमो मङ्गक्तस्तङ्गर्वार्जतः । निर्वेरस्तर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ इति श्रीमङ्गवङ्गीतासुपनिषस्य....विश्वरूपमंदर्जनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

वेदाध्ययनादीनि सर्वाणि कर्माणि मदागधनरूपाणीति यः करोति, स मस्कर्मकृत् । मस्परमः-सर्वेषामारस्थाणामहमेव परमोद्दयो यस्य, स मस्परमः । मद्धकः-अत्यर्थमस्त्रियस्वेन मस्कितिनस्तुतिध्यानाधनप्रणामादिभिर्विना आस्मधारणमरूभमानो मदेकप्रयोजनत्या यः सततं तानि करोति, स मद्भक्तः । सङ्गर्भाजितः मदेकप्रियस्वेनेतरसङ्गमसहमानः। निर्वेरस्सर्वमृतेषु-

जायते ; भगवत्सालोक्यं वा याति ; यदि ततोऽप्यिकां योगातिद्धिं गतो व्रियते, विष्णुपार्षदो भवति ; यदि ततोऽप्यिकाम् , पार्षदेश्वरो भवति ; यदि ततोऽप्यिकाम् , द्वारपालो भवति ; यदि ततोऽप्यिकाम् , मगवतोऽक्रसंवाहको भवति ; यदि ततोऽप्यिकाम् , मन्तिस्थानीयः पृथ्गैश्वर्ययुक्तो भवति ; यदि ततोऽप्यिकाम् , मगवतोऽक्रसंवाहको भवति ; यदि ततोऽप्यिकाम् , मग्तिस्थानीयः पृथ्गैश्वर्ययुक्तो भवति ; यदि पूर्ण योगातिद्धिं गतो व्रियते, भगवत्तायुक्यं गतो क्षुकः परमेश्वर्ययुक्तो भवति इति वैष्णवेषु योगात्तालेषु मर्यादा । तदेतत् सर्वमिष्ट स्वितं भगवता, 'अथवा योगिनाम्' (गी. ६. ४२) इत्यादिना'' इति । ज्ञानदर्शनपातिहेतुत्वे भक्तेः पर्वमेदान्त्रान्यान्याश्वरणादिदोषः । पूर्वजन्मसुक्तस्यस्यात्त्वकजनसंवादादिजनितं यथावच्छ्वणानुगुणं किश्चदानुक्रस्यस्यं भक्तिमात्रं शास्त्रजन्यज्ञानोत्पतौ सहकारि भवति । उत्कटदिदृक्षागर्भा तु परमक्तिः साक्षात्कारहेतुः ; साक्षात्कृते तु परिपूर्णानुभवाभिनिवेश्वरक्षणा परमभक्तिः प्रवेशहेतुरिति । श्रत्त अनन्ययेति पदं पागुक्तप्रक्रयया अनन्यययोजनयेति माव्यम् । अनन्यदेवताकयेरयेके । ऐवयानुसन्यानिवक्षा तु प्रागेव दूषिता ; प्रत्यक्षादिविरुद्धा च । तदेतद्विरुक्षमिभेत्य संगृहीतम् , "एकादशे स्वयायात्म्यसक्षात्कारावलोकनम् । दत्तमुक्तं विदिव्याप्रस्योभवत्येकोपायता तथा ॥" (गी. सं १५) इति । मक्तिप्रशंसापरत्वशङ्कामपाकरोति तथा चित । नायमातमा इत्यादौ, "न पृथित्यां नान्तरिक्षे न दिव्यप्रिश्चतेक्यः" (यजु. ५. २. ७. ३५) इत्यादाविव केवलानां निषेषः। यन्छव्दानूदितो वर्णायतोहेतुगुणविवेषे मिक्तिदेति अर्थसमावादुपवृह्ण- वर्लाच सिद्धम् । अत्र तनुशब्दस्य विप्रह्वपत्वे वर्षादिकं तत्परत्वे च विमहादिकमर्थळव्यम् ॥५३॥५३।।५३।।५३।

नाहं वेदैरित्यादेः, वेदानुवचनेन (इ. ६. ४. २२) इत्यादिश्रुतिविरोधपरिहाराय भक्त्यक्र-मावेन वेदानुवचनादीनामुपयोगं वदन् प्रवेष्टुमित्युक्तं प्राप्तिहेतुं भक्त्यवस्थाविशेषं विविनक्ति मरकर्म-कृदिति । नाहं वेदैरित्यादिनोक्तान्येव कर्माण भगवित समर्पणात् मरकर्मशञ्चदेनोच्यन्ते, कीतेनादीनि तु प्रामुक्तानि भक्त्यन्तर्गतत्वात् मद्भक्तशब्देऽजुभवेशमर्हन्तीत्यभिष्रायेणाह वेदाष्ययनेति । कर्मभ्रक्तात् तत्साध्यतया बुद्धिस्थं फल्टमिह मत्त्रस्थव्यदेनोच्यत इत्याह सर्वेषामिति । लेक्तिकानामन्नयानादि-स्थानेऽस्य कीतेनादिकमित्यभिष्रायेणाह आस्मधारणमलभमान इति । भक्तेः काष्टाप्राप्ति(स.दशायां यादशी निस्सक्ता, तां सहेतुकां दर्शयित मदेकप्रियरवेनेति । तृषितस्यास्त्यधारायां तृणादिनिरोध-वन्मन्यमानं सक्नमेवैनं यथा स्वयं विरक्तो वर्जयति ; तथा स्वयं सक्ने जातोह्रेग इत्यमिप्रायेण इतस्सक्नम- मत्संब्लेण्डियोगैकसुखदुःखस्यभावत्वात् स्वदुःखस्य स्वापराधनिमित्तत्वानुसंघानाच मर्व-भृतानां परमपुरुवपरतन्वत्वानुनधानःच मर्वभृतेषु वैदनिमित्ताभावाः नेषु निर्वेतः। य एवंभृतः, स मामेति मां यथावदव्स्थितं प्राप्तो तः निरस्तावद्याद्यशेषदोषगन्धो मदेकानुभवो भवतीत्वर्थः॥ ॥ इति श्रीभगवद्यामान्जविद्यन्ति श्रीमदीताभाष्ये एकादशोऽध्यायः॥ ११ ॥

#### श्रीः।

### ॥ अथ द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

भक्तियोगिनिष्ठानां प्राप्यभृतस्य प्रस्य ब्रक्षणो भगवतो नारायणस्य निग्ङ्कु कैववयं साक्षात्व तुकाम।यार्जुनाय अनवधिकातिश्चयकारुण्यौदार्यभौजीन्यादिगुण नागरेण सत्य- संकल्पेन भगवता स्वैश्वयं यथावदवंस्थतं दर्शितम् ; उक्त च तत्त्वतो भगवज्ञ नदर्शन- प्राप्तानामकान्तिकस्यावद्भक्त्रस्यत्वस्यत्वम् । अनन्तरमात्मप्राप्ति पाधनभृतः व आग्मो सहमान इत्युक्तम् । ताहदयां भक्तिकाष्ठायां न केवलं वास्त्रस्यत्वेन न्विरता; अपितु कारणामावात् कार्योभाव इत्याह मत्संदरुष्ठेषेति । परमात्मिन रक्तत्या तदितरिवरक्तस्य सांसारिकश्चद्रपुखदुःखयोरपेष्क- कत्वात् तत्विवर्तवेकषु तत्पवर्तकेषु च नास्य वैरसंभवः । न च स्वायराधं जानतः परो द्वेषविषयः । न च कशादिवरवरतः वन्याऽवगताय कश्चिदनुत्मतः कुण्येत् । आत्मन इव परेषामि विश्वस्त्रपमावद्भवत्वानुस्याने कथ वैरावकाश इति भावः । एवंभूतः एवंविषः । प्रवेष्टुनिति पागुक्तानुसन्यानेनाह मां यथावद्भविष्यति । प्रवेशमाप्त्यादिशब्दानामन्यार्थतां कुष्टष्टभमितां निराकतुं प्रमनिश्चेयस्य स्वायाः पात्रस्वरूप्तमिति । प्रवेशमाप्त्यादिशब्दानामन्यार्थतां कुष्टष्टभमितां निराकतुं परमनिश्चेयस्य स्वायाः पात्रस्वरूप्तमिति । प्रवेशमाप्त्यादिशब्दानामन्यार्थतां कुष्टष्टभमितां निराकतुं परमनिश्चेयस्य स्वायान्तः पात्रस्वरूप्तमिति । प्रवेशमाप्तमानि कत्तिययाविष्यः दिनिष्टितरस्तिति त्यावच्छेदायाश्चिपदम् । स्वासन्तिरस्योतनाय गन्धश्चवद्यः । मदेक्षानुभव इति । ''सर्वं ह पश्यः पश्यति' (छा. ७ २ ६. २) इत्युक्तं स्वैति सर्वशरीरोऽहमेव ; तथा च श्रुत्यन्तरम् , ''ते सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तःसानः सर्वमेवाविश्वितः' (छ. ३. २. ५) इति— इति भावः ॥ ५५ ॥

## इति ...श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायाम् एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

प्रसक्ताया भक्तेः श्रेष्ठयादिकमुच्यत इति द्वादशाध्यायार्थसङ्गति वक्तुं पूर्वोक्तमनुवदन् भक्तियोगप्रकरणे वैश्वरूप्यपदर्शनसङ्गतिमप्यथोत् विविनक्ति मिक्तयोगिनिष्ठाना मिति । साक्षात्कृते हि पूर्णोपासनं शक्यम् , उपास्यत्वफल्रत्वोपयुक्ताकारेण तत्पकाशनं च युक्तमिति भावः । प्रस्तुत-साक्षात्कारादिकारणप्रयानसङ्गिन् स्लमाह उक्त चेति । स्वप्नकाशनहेतुः कारूण्यादिकम् । तदैव कार्यसिद्धचर्यं सत्यसङ्करूपत्वोक्तिः । उपायफल्यनिर्वेशानन्तरं फल्यादिकम्बाद्यक्तिरित मङ्गतिमाह अननन्तरमिति । एतेन, "भक्तेः श्रेष्ठच्युपायोक्तिरशक्तस्यात्मनिष्ठतः । तत्प्रकारास्त्वितशिकीके द्वादश

पासनात् भक्तिरूपस्य भगवदुपासनस्य स्वसाध्यनिष्पादने ग्रैष्ठचात् सुसुस्रोपादानत्वास्य श्रैष्ठचम् भगवदुपासनोपायश्च, तदशक्तस्याश्चरनिष्ठता, तदपेश्चिताश्चीच्यन्ते । मगवदुपासनस्य प्राप्यभृतोपास्यश्रेष्ठचात् श्रेष्ठचं तु. "योगिनामपि सर्वेषां मद्भतेनान्तगत्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥" (६. ४७) इत्यतोक्तम् ।

ाव्यं सनतयुक्ता य भक्तास्त्वां वर्युवासने । ये चाव्यक्षरमञ्चकं नेवां के शेतविनमाः ॥ १॥ एवम्-''मत्कर्मकृत् '' (११. ५५) इत्यादिनोक्तेन प्रकारेण, सततयुक्ताः भगवन्तं त्वाः मेव परं प्राप्यं मन्यानाः ये भक्ताः, त्वाम् सकलविभृतियुक्तमनविधकातिश्चयत्तिः देपतीशील्य-सार्वस्यस्यसंकल्यत्वाद्यनन्तगुणसागरं परिपूर्णध्रुपासते, ये चाव्यक्षरं प्रत्यगात्म बरूपम् तदेव च अव्यक्तं चक्षुगदिकग्णानभिव्यक्तस्वरूपसृपासते ; तेषाष्ट्रभयेषां के योगवित्तमाः—के उच्यते" (१६) इति संग्रहक्षोकोऽपि व्याख्यातः । अतिप्रीतिरित्यादिना संग्रहीतस्य द्वादशाध्यायात्मक्षोकार्थस्य माप्ये चकारेण संग्रहः। उपकान्तोषसंहारमालक्ष्यत्वात् तस्य प्रथानुक्तिः। अत्मनन्नथ्याये योगवित्तमगुक्ततमादिशब्दैः प्रशोत्तरगतैलारतम्यमालमुच्यते ; तचोपास्पप्रकर्वहेतुकफळतारतम्यनिवन्धनं कि न स्यादित्यलाह भगवद्यासनस्येति । संग्रतिपत्नाशं पुनः प्रशो न युक्त इति मावः ।

अध्यवहितवावयसङ्गतियद्यक्षनार्थम् आसत्तिवद्याद्यौतित्याच एवंशवद्यात् दितमाह सरकर्मकृदित्यादिनोक्तेन प्रकारेणेति । सत्तत्युक्तशब्दोऽत्र सत्तत्योगाशंसापर हत्यभिषायेणाह भगवन्तं त्वामेव परं प्राप्यं मन्वाना इति । सत्त्रयुक्तशब्दोऽत्र सत्तत्योगाशंसापर हत्यभिषायेणाह भगवन्तं त्वामेव परं प्राप्यं मन्वाना इति । सत्यस्य इति हि पूर्वक्षोकोक्तम् । सुप्रहृत्वानुगुणाकारस्यनार्थं सकस्तेत्यादिना त्वामिति निर्देशस्य प्राक् उपदेशदिव्यच्छभ्यौ प्रतिपत्वविभृत्यादिवैशिष्ट्यप्रत्यं दर्शितम् । यहा पर्यप्रासते हत्यत्वोपसर्गाभिवेतोक्तिरियम् । तदाह परिपूर्णमिति । अध्यस्वव्यस्य प्रकृताविधरे च प्रयोगातिह तद्याद्यस्यभाह पत्यमास्य सर्क्तपतित । अव्यक्तशब्दस्यक्षरशब्दसम्भव्याहृत[स्यः]।चित्रिशेषपरत्यस्युदासायाह तदेव चाव्यक्तमिति । यच्छव्यक्तयाभावादुत्तरे च विशेषणविशेष्यव्यक्तेः अस्रोपास्यस्यपरत्वमनुचितमिति भावः । "पश्चित्रशक्तमव्यक्तं षर्विश्चः पुरुषोत्तमः । एतञ्जात्वा विमुच्यन्ते यतयः शान्तवुद्धयः" इति यमस्मृतियचनेऽपि पुरुषोत्तमादर्श्वचीन एवाव्यक्तशब्दः । अस योगविक्तम-

<sup>ी</sup> पूर्वपट्के जीवात्मरूक्षास्त्रारमाज्यथो ज्ञानयाग उपदिष्टः । मध्यमयट्के पतावत् स्वविषयो भाक्तयोगः स्वयाज्यथाः प्रविद्धतः । अस्मद्रिभिष्नेतसुमयोरङ्गाङ्गिमावं यथावनः वगनवान् किमजुन इति विवार्य औष्ट्रण्यः उत्थयवंक्रममनुकारंग सह यथावद्रवोपदेश्यति । एवं नदुगदेश-प्रविक्तस्त्रत्रश्चः प्रधममुपिष्ट्रप्यते एवमिति । सुनुश्चणा कर्मयोगो भक्तियोगश्चानुष्ट्रेयौ । तथा तस्य पृथक्ष्मस्रमिति च सिद्धम । तत्र प्रथमोगथसाध्य प्रथमं कलं प्राप्तुं यथा विलम्बः तथा । द्वतियेऽपीति भयमपोहितुमैवं प्रश्लोच्यरे ऐथ्वर्य पत्रं कर्मसाध्यमसिप्तिविष्यं श्रीष्ट्रमेव दृष्टम् , उपायस्य सौ-कर्यात् । भक्तिष्यत्तिस्तु बहुनां जन्मनामन्ते । मध्यस्यं तु आत्मद्रश्चेनं तावद्विस्त्रस्यं विना स्यादिति चार्जुनाभित्रिष्ठाः । अचित्तः सुद्धमं चित्वक्षम् । सुनुक्षमं तु परमात्म खक्षपम् । अतः शैद्ययमात्म-दृशैनं स्यादिति च । योगवित्तमा इति । शीव्रनिष्यक्षणेगो विस्म्यसंक्रयोगात् पुरुषात् वरीयान्।

स्वसाध्यं प्रति ज्ञीत्रगामिन इत्यर्थः ।, ''भवामि नचिरात् पार्थ'' (७) इति उत्तरत्र योग-वित्तमत्वं ज्ञीत्रयविषयमिति हि व्यक्षयिष्यते ॥ १ ॥ श्रीभगवाज्ञवाच—

भव्यावश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासने । श्रद्धया परयोपेतास्त्रे से युक्ततमा मताः ॥ २ ॥ अत्यर्थमन्त्रियरवेन मनो मय्यावेश्य श्रद्धया परयोपेताः नित्ययुक्ताः नित्ययोगं काङ्क्ष-माणाः ये मासुपासते-प्राप्यविषयं मनो मय्यावेश्य ये मामुपासत इत्यर्थः — ते युक्ततमाः — मां सुखेनाचिशत् <sup>1</sup>प्राप्तुवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमिनिर्देश्यमय्यक्तं पर्युपासते । सर्वज्ञगमिनित्यं च क्रूटस्थमचळं धृवम् ॥ ३ सिव्यग्येन्द्रियमामं सर्वेत श्वमवुद्धयः । ते प्राप्तुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ क्रियाग्येन्द्रियमामं सर्वेत श्वमवुद्धयः । ते प्राप्तुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ क्रियाग्येन्द्रियम् मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ५ ये तु अक्षरम् प्रत्यगात्मस्वरूपम् , अनिर्देश्यम् देहादन्यतया देवादिक्रन्दानिर्देश्यम् [अन्यक्तम् ?] त(अ)त एव चक्षुरादिकरणानिमन्यक्तम् , सर्वत्यगमिन्त्यं च-सर्वत्र देवादिदेश्य वर्तमानमिन्यं तहित्रज्ञातीयतया तेनतेन रूपेण चिन्तियतुमनईम् , तत एव क्रूटस्थम् सर्वराब्दाभिषेतमाधिवयं दर्शयित के स्वसाध्यमिति । प्रश्नस्योपास्याधिवयादिपरत्वं मा भूत् ; उक्तार्थपरत्वे कि प्रमाणमित्यताह भवामीति । प्रश्नान्यथानुपपत्येव पारिशेष्यादयमर्थः सिद्धः, उत्तरवावये तु स्पष्टः । 'क्रेशोऽधिकतरस्तेषाम्' (५) इति च अक्षरनिष्ठात् प्रकर्ष उच्यत इति भावः ॥ १ ॥

मय्यावेद्रयेत्यत्रोपासनान्यथानुपपतिल्लभ्यविषयीकरणमालपरत्वे निष्प्रयोजनत्वात् अक्षर-निष्ठस्याप्युपायतया भगवति चित्तावेशसाम्यात् तद्यवच्छेदार्थमाह प्राप्यविषयमिति ॥ २ ॥

अक्षरनिष्ठस्यापकर्षमाह ये रबश्चरमित्यादिश्लोकलयेण । सर्वप्रकारनिर्देशनिषेषस्य स्ववचनविरोधादिदुष्टस्वात् यथावस्थितस्वरूपे निषेध्यतया विविक्षितं निर्देशविद्देशे सहेतुकमाह देहाद्न्यतपेति ।
यद्यिप देहाद्वयसिस्त्रिष्टि देहिहारा देवादिश्वन्दाः प्रवर्तन्ते, तथाऽपि विविच्य निर्देश्वन्य प्रकृतिसंवन्धरिहते च अपश्कात्मस्वरूपे तावत् तादृशश्चितरिष न संभवतीत्यमिष्रायः । तत (अत) एव-देहादव्यत्वादेवेत्यर्थः । अत्यन्तानिभन्यक्तरविववक्षायाम् उपासत् इति स्वयावयेनापि विरोध इत्यमिष्रायोणाह्
चक्कुरादिकरणानिभन्यक्तमिति । प्रस्वत्वमित्यताणुत्वश्चितिशोधपरिहारायाह देवादिदेहेष्विति ।
यद्वा निषेध्यस्य चिन्त्यत्वस्य प्रसङ्गार्थे सर्वत्वगमित्युक्तमित्याह देवादिदेहेषु वर्तमानमपीति । तेनतेन
हपेषेति आत्मचिन्ताविधिविरोधात् चिन्त्यत्वमात्वनिषेषो न शवयत् इति भावः । तत एव क्रूटस्थमिति । तत्तिहरुक्क्षणत्वादित्यर्थः । अनेकेषां संतन्यमानानां पुरुषाणां साधारणो हि पूर्वः पुरुषः क्रूटस्थः;

<sup>1</sup> प्रारच्यावसाने हि फलंम् । कथमचिरादित्युच्यत इति चेन्न , उपायनिष्वस्यविल्यं तातवर्धात् । 2 षष्ठाच्यायोक्तः सर्वातम्यवर्षेक्षमः सर्व इहाभिसंहितः । 3 फलंबिल्रम्बः उपायनिष्पत्ति-विल्यम्बर्धे इति स्पष्टमाह अन्यका होति । अनेन जीवात्मदर्शनापेक्षया परमात्ममजनसुसं शीवलभ्यिति इपितम् ।

साधारणम् - तत्त्रदेवाद्यसाधारणाकारासंबद्धमित्यर्थः अपिरणामित्वेन स्वासाधारणाकारास्र चळित न च्यवत इत्यचलम् तत एव ध्रुवम् , नित्यम् । सित्रयग्वेन्द्रियमामम् चक्षुरादिक-मिन्द्रियम् सर्वे स्वव्यापारेम्यस्सम्यक्नियम्य , सर्वेत्व समयुद्धयः सर्वेत्व देवादिविवमाकारेषु देहेष्ववस्थितेष्वारमसु झानेकाकारतया समयुद्धयः, तत एव सर्वमृतहिते रताः सर्वभृताहित-रित्वामिक्षचाः । सर्वभृताहितरित्वं झारमनो देवादिविवमाकारियमानिर्मित्तम् । य एवमश्चरस्रपासने, तेऽपि मां प्राप्तवन्त्येव-मरसमानाकारमस्यारिणमारमानं प्राप्तवन्त्येवत्यर्थः ।

अल तु साधारण्यमालं रूक्यत इत्याह-सर्वसाधारणमिति । एतेन कूटशब्दिनिर्देष्टमायाध्यक्षत्वं वा राशिविस्थित्तरं वा वदन्तः शिसद्धार्थपरित्यागादिभिनिरस्ताः । अतः कृट इव निश्चरं-वृद्धिक्षयादि-रिहितिन्यप्यत्न मन्दम । र्निन्वेकदा सवैसाधारणत्वमसिद्धम् ; काल्रमेदेन सर्वजातीयवारीरपरिग्रहेऽपि सर्वव्यक्तिपरिग्रहो नास्ति ; अतः कथं सर्वसाधारणत्वमसिद्धम् ; काल्रमेदेन सर्वजातीयवारीरपरिग्रहेऽपि सर्वव्यक्तिपरिग्रहो नास्ति ; अतः कथं सर्वसाधारणत्वमसिद्धम् ; काल्रमेदेन । न स्वसाधारणाः देव-त्वादय आत्मनि अव्यथानेन संवय्यत् इति भावः । उत्कान्त्यादिमतो जीवस्य स्पन्दनिषेषादेरनुपपत्य-त्वाद्वाच्छश्चरविविक्षित्त्नाह अपरिणामिरवेनेति । अनित्यत्वं हि परिणामेन व्याप्तम् ; तत्वध्यव्यापक्ताभावात् व्याप्याभावो विवक्षित इत्यपुनरुक्तिरित्याह तत एव ध्रुवमिति । उपासत इत्यन्तेनेव मनोनियमनस्य सिद्धत्वात् तत्वपुषुक्तवाह्येन्द्रियध्यापारिवयमनपरतया व्याचष्टे चक्कुगदिक्षमिति । सम्यङ्-तियम्मेति, "अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहः" (वि. ध. १०१. ३) इत्यादिकमिभिषेत्योक्तम् । "शुनि वैव ध्वाके च पण्डितास्समद्वित्तः" (गी. ५. १८) इत्यादिकमिभिष्ट आरम् क्वानेका-कारतया समयुद्धय इत्युक्तम् । तत एव समयुद्धित्वादेव । य एवमश्वप्रसुपासते-अक्षरशब्दवाच्यं परसारमानं प्राप्यत्वा निश्चयवन्तोऽपीरवर्थः। मां प्राप्नवन्त्येव ....वेत्यर्थं इति । "विण्यत्रक्तिः एरा प्रोक्ता" (वि. ६. ७. ६१)

<sup>!</sup> परमारमानं तत्प्रापकतयेति । नतु किमर्थभेवमुदश्सरं व्याख्यातम्, अश्सरं प्रयमातमानमुपासत इत्येव सृङ्करसाधांवादिशि चेत्—द्वितीयक्लोकचिद्वकायाम्, "अश्वरितृष्याच्युपायतया भगवति चित्तविश्वसाधात्" इत्युक्तमेवात्रानुसंघाण्यते । अयं भावः--यो द्यक्षरोपासने
प्रवृत्तो निरीश्वरवादियत् भगवन्तं प्रस्तरति, तस्य, "कमेन्द्रियाणि संयभ्य य आस्त मनसा स्नर्द्व इन्द्रियार्थान्" इत्युक्तं मिथ्याचारत्वमिति युक्तम्, यस्तु तत्र प्रवृत्तोऽपि, "मनस्संयभ्य मिश्चस्यो युक्त आसीत मत्यरः" इति रीत्या आस्मयोगधेषतया भगवद्ध्याननिरतः, तत्य भक्तियोगनिष्ठस्येव फळवैद्यययेत् युक्तमिति अर्जुनाशयः । भगवद्दाश्यस्तु—प्रत्यगात्मानं प्रत्यु ययपि मामप्युपासते तत्युपायत्या, अथापि देद्यानभ्रमवासनानैरन्तर्यात् अनादिकाळप्रवृत्तात् देद्यविश्वकाणे विद्यस्यः । स द्येव जीवैद्यरेक्यवासना वरीवर्ति । अतस्तव्न श्रेष्ठयमिति । सर्वमिदं येचापीते मूळे चापिशब्द् द्यापितमिति व्यंक्तिवस्त्रास्त्रसम्यस्यसम्पाति अपिशब्दः निक्रप्रोपासनम्युक्तिरोधदर्शकः । येचेति चकारः परमात्मोपस्यतसमुद्यायकः । अश्वरमिति चोपासत इत्येवास्वयः । अश्वरं जीवं पर-सात्मातञ्ज प्राप्यतया प्रापक्तया चोपासत इति विवक्षितोऽर्थः । नाव पञ्चाविष्वधाविवश्चा । पृर्व-पट्वित्वकानयोगविषयतायाः प्रारोवोक्तस्वात् । बश्यते चैकादशेऽपि इलोके ॥

''मम साधम्यंमागताः'' (१४.२) इति हि वक्ष्यते । श्रूपते च, ''निरक्षतः परमं साम्यध्रुपैति'' (ध्रु. २.१.३) इति । तथा अक्षरज्ञन्दिनिर्देशत् क्रुटस्थादन्यस्वं परस्य त्रक्षणो
वक्ष्यते, ''क्रुटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'' (१५.१६) इति । ''अथ परा
यया तदक्षरमधिगम्यते'' (ध्रु.१.५) इत्यक्षरिवद्यायां तु अक्षरज्ञन्दिनिर्दिष्टं परमेव त्रक्ष,
भूतयोनित्वादेः । तेषामन्यक्तासक्तचेतसां क्रेजस्त्वधिकतरः । अन्यक्ता हि गतिः अन्यक्तविषया मनोद्वित्तः देहबद्धिः देहात्माभिमानयुक्तैः दुःखेनावाष्यते । देहवन्तो हि देहमेव
आत्मानं मन्यन्ते (मन्वते) ॥ ३-५ ॥

भगवन्तम्पासीनानां युक्ततमत्वं सुव्यक्तमाह-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मिय संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ तेषामहं समुद्धती मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७ ये तु लीकिकानि देहयात्राशेषभृतानि, देहधारणार्थानि च अग्रनादीनि कर्माणि, वैदिकानि च यागदानहोमतपः प्रमुतीनि सर्वाणि सकारणानि सोहेश्यानि अध्यात्मचेमसा मिय संस्थस्य, मत्यराः मदेकप्राप्याः, अनन्येनैव योगेन अनन्यप्रयोजनेन योगेन मां ध्यायन्त उपासते

इरबुक्तमकारेण, "अविभागेन दृष्टस्वात् " (त्रां ४. ४. ४) इरवपृथ्यवसद्धिविशेषणभूतं मुक्तस्वरूपं मसमानाकारं प्राप्तुवन्तीस्वर्थं इत्यर्थः । <sup>1</sup>प्रमेयशरीरं साधीयः, यदि प्रमाणमुष्ठभामह इरवाशङ्कय सोष्ट्रहणश्रुति मुदाहरति परमं साम्यमुपैतीति । नतु "अथ परा, यया, तदक्षरमधिगम्यते" (मृ. १. १. ५), "अक्षरमम्बरान्तधृतेः" (त्र. १. ३. ९) इत्यदिषु परत्रक्षासाधारणतया प्रयुज्यमानमक्षरपदं कथं जीवास्मवाचकम् ? उच्यते ; "अमृताक्षरं हरः" (श्वे १. ९), "कृटस्थोऽक्षर उच्यते" (गी. १५. १६) इत्यादिषुक्तस्वादित्याह तथाऽश्वरम्बद्धिः स्वर्थादेना । [अन्यक्तासक्त चेतसाम् १-] "पश्चिशक्तम्यकं पित्वस्ति पित्वस्ति । एत्रज्ञात्वा विमुच्यन्ते यत्यश्चान्तवुद्धयः॥" (य. स्मृ) इत्युक्तप्रकारेणान्यक्तजीवात्मासक्तचेतसं क्षेत्रक्रमः । एत्रज्ञात्वा विमुच्यन्ते यत्यश्चान्तवुद्धयः॥" (य. स्मृ) इत्युक्तप्रकारेणान्यक्तजीवात्मासक्तचेतसं क्षेत्रक्रस्य । नतु देहवन्त्वं सनकादीनामिष संमवतीत्याशङ्कय देहारमाभिमानयुक्तै-रित्युक्तम् ॥ २-५ ॥

ये तु सर्वाणीति । देहयात्राशेषभूनानि कृष्यादीनि । सकारणानि संध्यावन्दनसहितानि । सोदेश्यानि सर्गोद्धदेशेन चोदितानि । अध्यारमचेतसा-आत्मनि परमात्मनि यंचतः, तत् अध्यारम चेतः; तेन चेतसा । मत्पराः:-अहं परः परमप्राप्यं येषां ते मत्परा इति हृदि निधाय मदेकप्राप्या इत्युक्तम् । अनन्यप्रयोजनेनेति उश्कक्षणं भगवद्ध्यानं 'सत्तं कीर्तयन्तः' (९. १४) इत्याद्यका-

श्रीवस्य तत्समानाकारत्वे प्रामाणिके स्ति हि मामित्यस्य तथाऽर्थवर्णने स्यादिति अवसारिकार्थः। मो प्रान्तवस्यवेति , मन्पान्तमुक्तसदशाकारमाज इत्यर्थः , पवरारदर्शितं सा-दश्यं जीवात्मानुभववरमात्।येत्यर्थवर्णने मामित्यस्य यथाधून प्रवार्थः।

ध्यानार्चनप्रणामस्तुतिकीर्तनादीनि स्वयमेवःत्यर्थप्रियाणि प्राप्यसमानि कुर्वन्तो माम्रुपासत इत्यर्थः । तेषा मन्त्राप्तिःचगेधितया मृत्युभृतात् संसागस्यात् सागगदद्वमचिरेणेव कालेन सम्रुद्धती मवामि ॥ ६ ॥ ७ ॥

मय्येव¹मन आधत्स्व मिय वृद्धिं निवेशय । निवसित्यसि मय्येव अत ऊर्ध्यं न संशयः ॥ ८ अतोऽतिशायतपुरुषार्थन्वात् सुरुभस्वाद्विस्रुभ्यस्वाद्ध मय्येव मन आधस्त्व मिय मन्स्समाधानं कुरु । भव उद्ध्यं भय्येव निवस्यसाधानं कुरु । भव उद्ध्यं भय्येव निवस्यसाधानं कुरु । भव उद्ध्यं भय्येव निवस्यसास्यर्थः । अथ्येव चित्रं समाधातं न शक्तोषि मिय स्थिरम् । अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तं धनक्षयः ॥ ९ नाम् । भगवस्थाप्यये प्रयोजनस्वधीभगवि तद्वृद्धेद्वीद्धि(विधि)रिति भावः । स्थयमेवेति । न तु फला पेक्षयेस्यर्थः । मृत्युभृत त् संसारःस्यादिति निषादस्थपतिन्यायात् समानाधिकरणसमास उचितः ; हेयस्वार्थं च विशेषणमत्रोपद्धक्तिनिति भावः । मत्यासिविगेधितयेति मृत्युस्वोपचारनिमित्तम् । सस्यां हि भगवस्यातौ अमृतस्वम् ॥ नेत्यस्य व्यस्ततया क्रियान्वयभ्रमस्यदासाय अचित्रेवे कालेन

सम्बद्धतेत्यन्वय उक्तः ॥ ६ ॥ ७ ॥

सामान्येनोक्तं कर्वव्यम्थं मय्येवत्यादिना श्रोतर्यर्जुने निवेशयतीति सङ्गतिषदर्शनायाह अत् हति । आगुक्तमवर्यं च समुचित्य हेतुत्रयमुक्तम् अतिश्वायितपुरुषार्थस्यादिना । समाध्युपक्रम् परत्यव्यवस्यथं मिय मनस्माधानं कुर्वित्युक्तम् । उपायभूतमनस्समाधानेन पुनरुक्तिपरिहाराय बुद्धिशब्दार्थम् , पाप्यभूतं तृष्टिप्यविद्येषं चाह अहमेवेति । अत उप्पंधिस्पप्यदेशकाळानन्वयपरत्वव्युदासायाह अध्यवसायपूर्वकम्नोनिवेशनानन्तरमिति । अव्यवधानविषयेण अत उप्धिसित्यनेन अवधारणं फिल्तिमिति वा, तत्र एवकारस्यान्वयमभिषेत्य वा अनन्तरमेवेतुक्तम् । मिय निवसित्यसि । श्रीविद्यस्यसीति यावत् । अलाधारत्यमालं सवेदाऽस्ति, तद्बुद्धिश्च श्रवणत एव जातेति न तत्परत्यमत्रोचितम् ; अतो मनोनिवेशनानन्तरमेव मुक्तवद्धिति वितम् । यद्वा दृष्टादृष्टसवैपकाररक्षके मिय, आचार्ये शिष्यवत् , पितरि पुत्रवत् अवस्थत इति निर्भयो मवेत्यभिप्रायः॥ ८॥

भगवदुपासनस्य स्वसाध्यनिष्पादने रेष्ट्रियात् सुयुक्तोपादानस्याच श्रेष्ठयमुक्तम् । तस्मिन् मध्यध्य-सायं कुरुष्वेति चार्जुने प्रत्यनुशिष्टम् । अथ शब्दादिविषयवासनाकृष्टचेतसोऽत्यन्तादृष्टपूर्वे स्वयि कथं स्थिरं चित्तसमाधानं शक्यमित्यर्जुनाशयमुत्रीय तदुपायमुपदिशति अथ चित्तमिति । कदाचिदप्यशक्यस्वे अनुपदे-

मक्तयङ्गाभूतेऽयक्षरयोगे फळविळम्बात् कैवल्यार्थाक्षरोपासने विळम्बस्य कैमुतिक-त्वात् तत्फळं मोहिश, मत्याष्ट्यर्थमञ्चरोपासनपूर्वकमडुपासनमेत्र कुर्वित्यर्थः । अर्थात् पञ्चाग्निविद्या-मुष्टानमपि मा कुर्वित्यय्युक्तं भवति । 2 मय्येव मन आधत्स्वेति श्वत्वा सहसैव भक्तियोगे अन्तत-कर्मयोगादिरेवायं मा प्रवर्तिष्ट, मा वा राकिष्टति अधस्तनपर्वाणि वक्तुमारभते अथेत्यादिना ।

<sup>3</sup> राव्यसाधुत्वाय निवत्स्यसीत्युक्तम् । पवकारेण, अक्षरोपासकः तत्फले कैवस्य पव न निवत्स्यति, तस्यानित्यत्वात् । मदुपासकस्तु मस्येव निवत्स्यति नित्यमित्यपि ज्ञाप्यते ।

अथ सहसैव मि स्थिरं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि, ततोऽभ्यासयोगेन मामाप्तुमिच्छ स्वामाविकानविकातिश्चयसीन्दर्यसीशीस्यसीहार्दवात्सस्यकारुण्यमाशुर्यगाम्भीर्थोद् । येश्वीयं - वीर्यपराक्रमसार्वद्रयसत्यकारुत्वसत्यकारुत्वसत्यसंकर्परवस्यकेष्यरत्वसक्छकारणत्वाद्यसंख्येयगुणसागरे नि-स्वित्वस्यस्यम्यस्यभ्यासयोगेन स्थिरं चित्तसमाधानं छन्धा मां प्राप्तमिच्छ ॥ ९ ॥

अन्यासेऽप्यसमर्थोऽसि <sup>1</sup>मत्कर्मपरमो भव । मदर्थमिष कर्माणि कुवैन सिद्धिमवास्यसि ॥ १० अर्थवेविधस्मत्यस्यासेऽप्यमुमर्थोऽमि । मत्कर्मपरमो भव । मदीयानि कर्माण्यारुय-

इयत्वमेव, तदुपायोपदेशश्च व्यर्थस्यादित्यलाह सहसैवेति । स्थिरिाति कियाविशेषणम् । मनसश्चरुसमावत्वान्न तद्विशेषणस्वमुचितम् । अयेति प्रक्षार्थः; यद्यर्थविश्रान्तो वा । तत इति । साक्षाचित्तसमाधानाशक्तत्वादित्यर्थः । एवमुत्तरत्वापि अयत्तदश्चव्यरेशो आहः । किविषयोऽभ्यासः, कथं च तस्यापि शक्यत्वम्, कथं वा तेन त्वत्यापिरित्यताह स्वाभाविकेति । इतरपरिहारहेतुमृतगुणवित तु ,विशेषण सज्जन्त इत्यभिशायेण श्रुणगणगहणम् । अयमेवाभिशायः मद्गुणानुसन्धानकृतेत्यत्व (१२.भा) व्यक्तो भविष्यति । तत्तद्गुणानां प्रत्येकं चित्ताकष्कत्वप्रकारो यथासंभवमनुसन्ध्यः । सकल्कारणत्ववचनं पितृत्वेन श्रीत्यर्थमाश्चर्यत्वार्थं च । गुणवत्यपि यिक्तिचहोषदर्शनेऽपि मात्रया विरज्येरिति तत्पिरहाराय निस्त्वत्वयप्रस्यनीकत्वोक्तः । हिरण्यादिवत् विपरीताभ्यासपिरहाराय निस्तिचयप्रस्यमभिन्नम्यासः ; स एव योगः । अभ्यासवैराग्याभ्यां चित्तिरोषश्च योगानुभासने, अस्तिविप शास्त्रे पृत्रपुत्तस्यापनमभ्यासः ; स एव योगः । अभ्यासवैराग्याभ्यां चित्तिरोषश्च योगानुभासने, अस्तिविप शास्त्रे पृत्रीवोक्तः । अभ्यासमात्तस्याव्यवधानेन प्राप्तिहेतुत्वन्युदासाय स्थिरं चित्त-समाधानं क्रष्टवेरयक्तम् ।। ९ ॥

चिराभ्यस्तेषु प्रत्यक्षेषु शीव्रकभ्येषु मोग्येषु प्रसक्तस्य मनसो दुर्निग्रहस्वात् गुणवित विद्युद्धेऽपि स्वय्यभ्यासो न शक्यः; कर्मस्वेव हि तेषुतेषु वासना; ततः कर्मस्वेन मनः प्रवेतेतेत्यर्जुनाभिप्रायमुत्रीय शीिलतस्रजातीयमभ्यासोपायमुत्रदिशति अभ्यासेऽपीति । अथशब्दः (९) अलानुषक्तः । एवंविष्यस्य निरतिशयभेमगर्भस्वम् । सर्वकमं(११/ति परस्तात् यज्ञादिकमणां पर्वान्तरस्त्वेन वस्त्रमाणस्वात् , अल च मरक्समंति विशेषतो निर्देशाच भगवदसाधारणं भक्त्यन्तरक्तं सततं कीर्तयन्तो मामित्यादिभिः (९. १४) प्राक्षपश्चितमितहास् ⁴पुराणभगवच्छास्त्रादिपसिद्धं कर्मात्र विवक्षितमित्यभिप्रायेण आलयनिर्माणेत्यादिक-

मधाजी मां नमस्कुर इत्यत्र प्रधानभूतभक्तयन्तर्गतं भगन्वपूजनादिक्षपभजनं कथितम् ।
 भव तद्यायकोटिगतं कमे कथ्यते ।

<sup>2</sup> चळखभावत्वान्मन एकत्र न तिष्ठेदिति चत्, मा भृत्। अनन्तेषु गुणेषु परिश्रमतु । न तत्त्वभावमंगः, नापि नः कापि हानिरिति नानागुणनिर्देशः ।

<sup>· 3</sup> उपरि मद्योगमाश्रित इति प्रयोगः तावत्पर्यन्तोकस्य भक्तियोगं प्रति द्वारत्वं दर्शयति ।

<sup>4</sup> श्रीमागवते श्रीकृष्णेन उद्धवं प्रति (11.21) प्रतिमश्चाराधनं प्रपश्चितम् ।

निर्माणोद्यानकरण-प्रदीपारोपण-मार्जनाभ्युक्षणोपल्ठेपन-पुष्पाहरण-पूजाप्रवर्तन-नामसंकीर्तन-प्रदक्षिण-स्तृति-नमस्कारादीग्ने ; तानि अत्यर्थप्रियत्वेन।ऽऽवर । अत्यर्थप्रियत्वेन मदर्थं कर्माणि कुर्वन्निप अचिरादभ्यासयोगपूर्विकां मयि स्थिशं चित्तस्थिति लब्ध्वा मत्प्राप्तिरूपां सिद्धिमवाष्स्यसि ॥ १० ॥

अथैतद्य्यराकोऽसि कर्तुं मधोगमाश्रितः । ग्सर्वकर्मफळत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ अथ मधोगमाश्रित्वेत्विष कर्तुं न शकोषि — मद्गुणानुसन्धानकृतमदेकप्रियरवाकारं मिक्तयोगमाश्रित्व भक्ति(भद्)योगाङ्करस्पमेतत् मत्कर्भापि कर्तुं न शकोषि, ततोऽश्वरयोगमात्मस्व भावानुसन्धानरूपं परभक्तिजननं पूर्वपट्की दितमाश्रित्य तदृपायत्या सर्वकर्भफळत्थांग कुरु । मन्त्रियरवेन मदेश्वप्राप्यताबुद्धिः प्रश्लोणाश्चेष्ठापत्या सर्ववकर्मफळत्थांग कुरु । मन्त्रियरवेन मदेश्वप्राप्यताबुद्धिः प्रश्लोणाश्चित्वेन कर्मणा स्वत्वम्य यतमनस्कः । ततोऽनिभसंहितफळेन मदागधनस्पेणानुष्ठितेन कर्मणा सक्तम् । परमशब्दामिनेतमाह वान्यत्यर्थिप्रयत्वेनाचरेति । मामिच्छाप्तृमिति पूर्वश्लोकोक्ता प्राप्तित्वात्विषि मिद्धिश्चित्वेन विवक्षितेति तत्स्थानप्राप्ता प्रतीयते । तत्त पूर्वपत्रिया परम्परयेवास्यापि कर्मणः साधकत्वमिति अपिशवदेन चोत्यत इति ज्ञापनायाह अभ्यासयोगपूर्विकामित । तत्तरकर्मणामतिपविवत्तत्वात प्रतिकर्म तश्चिन्तवाच तस्मृत्यस्यासोऽचिरात् सिध्यतीत्वर्थिसद्वमित्यभिद्यायेण अभिगादित्यक्तमः॥

खार्थेव्वेव कर्मस्य निवद्धचित्तस्य कथं त्वदर्थेषु कर्मस्यत्यर्थिपयन्ते प्रवृत्तिः संभवेदित्यत्व तदुषाय-परम्पराकाष्ठाम्तं कर्मयोगं प्रत्यमिज्ञापयति अधितदिति । मद्योगमाश्रितः इत्यस्याक्षरयोगविषयेणोत्तर्थेन अन्वयन्युदासाय प्रविधान्वयमाह अथ मद्योगमिति । तस्याज्ञवयन्वज्ञापनायाह मद्गुणेति । भक्तियोगा-वस्याविद्येषेषु अतःप्रवी अवस्या नास्तीति व्यञ्जनाय मिक्तियोगाः कुरस्य मिरसुक्तस् । मद्योगमाश्रित्य तदङ्कुरे कर्म-योगे प्रवर्तत्वि वाक्याथः। तदेतद्विभेष्नत्याह ततोऽक्षरेति । अक्षरयोगस्याप्यन्यवधानेन मोक्षोपायत्वन्युदास्य परभक्तिजनम् । सप्रकाराक्षरयोगस्य अव्यवचानेन मिक्तयोगजनकत्वन्युदास्य परभक्तिजनम् । सर्वकर्मफलस्यागस्य अव्यवचानेन मिक्तयोगजनकत्वन्युदासाय तद्वप्यत्वचेदार्थे च पृदेष्ठकादित्तिस्योगपृवेकात्मसाक्षात्कारस्य भक्त्युत्वस्योगित्वप्रकारं प्रकरणान्वरोक्तं दर्शयति मित्यक्तम् । सर्वकर्मफलस्य भक्त्युत्वस्योगित्वप्रकारं प्रकरणान्वरोक्तं दर्शयति मित्यक्ति पृवेष्यस्य स्वय्वयानित्वप्रकारं प्रकरणान्वरोक्तं प्रदशक्तं प्रत्यक्ति । मरयेव मन आधरस्वेति पृवेष्यस्य स्वयःस्विति । मरयेव मन आधरस्वेति पृवेष्यस्य स्वयःस्वरिद्यमानाक्षर्योगाङ्करस्य कर्मणि प्रवृत्तस्य तु पृवेष्यकप्रवित्तेहित्तिः मनोनित्यमनस्ववस्य प्रतानम्यानित्यस्यभायोग

म एतद्व्यक्तिः इसीति वदता तद्व्यबहितमेवाधस्तनं पर्व वक्तव्यतः । एवमप्यनैकपर्वसङ्काः-वाद्यविस्तरायान्तिमं पर्वेव निर्दिशति सर्वेति । आन्तराष्ठिकानि पर्वाण्यन्यानि भग्यन्तरेणानन्तर-इस्ठोकैनापि झाप्यन्त इति ततोऽप्यस्थान्तिमन्त्वं सुग्रद्वम् । 2 यतात्मवान् -आत्मनि निवस्य-नहकः । मधोगमिति प्रागुक्तप्रत्यनीकतया । अनेन आत्मयोगरूपक्षानयोगमाभित्येत्वर्थस्थाम स्वप्यसिमतन् ।

सिद्धे नाऽऽत्मध्याने न निवत्ताविद्यादिसर्वतिरोधाने मच्छेपतैकस्वरूपे प्रत्यगातमनि साक्षान्कते स्ति मांच परा भक्ति स्वयमेवोत्यद्यते। तथा च वक्ष्यते, ''स्वक्रमणा तम्भयच्यं सिद्धि विन्दति मानवः (१८. ४६) इत्यारभ्य, "विम्रुच्य निर्ममञ्ज्ञान्ती ब्रह्मभयाय ब स्पते । ब्रह्मभतः प्रमन्नातमा न शोचित न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भृतेषु मद्भक्ति रूपते परामु" (५४) हति ॥ भक्तियोगजनकत्वप्रकारमाह ततोऽनिमसंहितेति । फलत्यांगं कुर्विति साध्यांशत्यागवचनेन तत्प्रवैक-साधनान्छ।नं विवक्षितमिति ज्ञापनाय अनिभसं हतफलेनेत्यादिकमुक्तम् । अनन्तराभिधास्यमानमन इशान्तिद्वारा आत्मध्यानसिद्धिः । अविद्या संसारकारणं कर्म : 'अविद्या कर्मसंज्ञा' इत्यपक्रम्य, 'यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्सा वेष्टिता' (वि. ६. ७. ६१) इति वचनात् । आदिशब्देन 'अनात्मन्यात्मवृद्धिर्या' (वि. ६. ७. ११) इत्याद्यक्तसंग्रहः । यद्वाऽत अविद्या देहारमञ्जमादिः : आदिशब्देन कर्मवास-नादिसंग्रहः । परभक्तिजनकत्वसिद्धचर्थमक्तं मच्छे रनैकस्वरूप इति । यथा बाल्ये बालकी बाप्रसङ्कत नरेन्द्रभवनान्तिकान्तस्य मार्गोद्धष्टस्य व्याधगृहीतस्य १कणे वर्तमानस्य राजकुमारस्य, आप्तोपदेशात् स्नात्मन स्तथात्वं मत्वा विमुशतः, खात्मनि राजसाम्यमङ्गभत्यङ्गादिषु पश्यतः तस्मिन् पितृत्वप्रीतिर्निरतिशया जायते : एवमस्यापि यथोप्देशं भगवच्छेषमृते स्वात्मनि तत्साम्याकारेण साक्षात्कृते भक्तिसिद्धग्रर्थं न किञ्चित कर्तन्यमस्तीत्यभित्रायेण माय परा माक्त स्वयमेत्रोत्पद्यत इत्युक्तम् । एतेनाध्यायारम्मे, 'ये चाप्यक्षरमञ्यक्तम् ' (१) इत्युक्ताक्षरयोगोऽप्यक्षरसाक्षःत्कारद्वारा परभक्तिमुत्पाद्य परमात्मपासौ विश्राम्य तीति सिद्धम् । स एव ब्रुतापि प्रथमष्ट्रकोक्तोऽक्षरयोगः प्रस्पष्टमुच्यते । 1नन् यदशकं प्रति यदप पदिश्यते, तत् तत्त्वफरमञ्जाधिकारं दृष्टम् ; यथा अवगाहनाञ्चसय स्नानान्तराणि । उच्यते चान्यत कियायोगस्य साक्षान्मोक्षसाघनत्वम् , "मोक्षकारणमध्यक्तमचिन्त्यमपरिग्रहम् । तमाराध्य जगन्नाथं कियागोगेन मुच्यते " (वि घ. , ५४) इति । तथाऽत्रापि कि न स्यादिति श्रष्टायां कर्मयोगस्य भक्ति गिसाधनत्वम् अष्टादशाध्याये वक्ष्यमाणं दर्शयति तथा चेति । <sup>2</sup>अन्यत् चाप्ययं क्रमः स्फुटः, ''तल चितं समावेष्टं न शक्नोति भवान् यदि । तद्भ्यासपरस्तस्मिन् कुरु योगं दिवानिशम् । तलाप्य-सामध्येवतः क्रियायोगो महारमनः । ब्रह्मणा यः समारूयातः तत्परस्सततं भव । करोषि यानि कर्माण देवदेवे जगत्पती । समर्पयस्य भद्रं ते ततः कर्म प्रहास्यसि । प्रधानं कारणं योगो विमुक्तेर्दितिजेश्वर । कियायोगश्च योगस्य परमं तस्य साधनम् ॥" (वि. घ. ८१ २९) इति । "मद्धक्ति रूभते पराम्" (१८. ५४) इति वक्ष्यमाणफलस्य कर्मयोगहेतुकत्वं प्रकरणसिद्धमिति ज्ञापनाय स्वकर्मणा तमभ्यवर्य सिद्धि विन्दित मानवः इत्यारम्ये सक्तम् ॥ ११ ॥

मद्योगमाश्चित्य मन्द्रमें कुर्वित्युक्त्वः तत्रशक्तं अति नतरावपवननात् भाक्तयोगिन पेशं मोक्षताश्चनत्वमेवाभिमतमस्त्वित शंकते निवातः।

<sup>2</sup> अन्यत्न—तत्रैव विष्णुघ<sup>र्</sup> प्रदेशान्तरे । मपन्नकर्तृकः क्रियाशोगः कळभृत. । अप्रपन्नकर्तृ-कक्रिवाशोगस्तु वावजीवं कृतो जन्मान्तरे भक्तिशोगं साघयिष्यतीति भावः ।

श्चेयो हि श्चानमभ्यासात् ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यने । ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

92

अत्यर्थप्रीतिविरहितात् कर्कग्ररूपात् समृत्यस्यातात् अक्षरयाथातस्यानुसन्धानप्वैकं तदा-परोक्षयज्ञानमेव आत्महितन्वे विशिष्यते । आत्मापरोक्ष्यज्ञानाद्ष्यनिष्पन्नरूपात् तदुपायभूता-तम्ध्यानमेवाऽऽत्महितन्वे विशिष्यते । तद्ध्यानाद्ष्यनिष्पन्नरूपात् तदुपायभृतं फलत्यागेना-नुष्टितं कर्मेव विशिष्यते । अनिमतंहितफलादनुष्टितात् कर्मणोऽनन्तत्मेव निम्त्तपापत्या मनसङ्गान्तिभविष्यति ; ज्ञान्ते मनसि आत्मध्यानं संपत्स्यते ; [आत्म] ध्यानाच तद्वपरोक्ष्यम् ; तदापरोक्ष्यात् परा भक्तिः-इति भक्तियोगाम्यामाञ्चरुष्याऽत्मनिष्टैव श्रेयमी। आत्मनिष्टस्यापि अज्ञान्तमन्त्रो निष्टापासये अन्तर्मतात्मज्ञानानिभवंहितफलकर्मनिष्टैव श्रेयमीत्यर्थः ॥ १२ ॥

अथाव्यवहितोपायानिधकारिनिमित्तरवेदनिवृत्त्यर्थं रजनीकरिवम्बिळप्सोदस्तहस्त-स्तनन्धयवत् अशक्ये प्रवृतिपरिहारार्थं च व्यवहितानेवोपायान् यथाधिकारं सौकर्यातिश्येन प्रशंसन् उक्तमुपपादयति श्रेयो हीति । यथावस्थितवेषेणाभ्यासात् तद्दशयस्य श्रेयस्त्रं वक्तमयक्तमः वैपरीत्यात् । अतोऽनधिकारिणा क्रियमाणी भगवद्भ्यासः परिपन्त्रफलरसलोल्लपवटुकरमृदितशलाटुवत विरस एव स्यादिति तदपेक्षया यथावस्थितसरसाभ्यासहेतोः श्रेयस्त्वस्वितमेव भवेदित्यमिशायेण अत्यर्थश्रीतिविरहितादित्यक्तम् । तत एव च वित्तोवहतवयःपानवत् अक्षीणपापस्य दुष्करतामाह कर्कश्चरूपादिति । अत्र परमारमाभ्या-सोपायत्वेन विहितं ज्ञानं जीवारमविषयमेव युक्तम् : तच ध्यानसाध्यत्वेन विवक्षितत्वादपरोक्षाकार-मित्यभिपायेण **अक्षरयाथात्म्यानुसन्धानपूर्वकं तदापरोक्ष्यज्ञा**नमित्युक्तम् । श्रेयः इत्यस्य विजिज्यत इत्यस्य च समानार्थत्वज्ञापनाय हितत्वे विजिज्यत इत्यक्तम् । व्यवहितोपायस्यापि सौकर्यातिशयलक्षणमत्र हितरवम् : न त सुरूयरवादिरूपम् । अनिष्पन्नरूपादिरयस्यापि पूर्ववद्भिप्रायः। कर्मणो रजस्तमोम्रळरागद्वेषादिनिवृत्तिरूपशास्तिजनकत्वेऽवान्तरव्यापारमाह निरस्तपापत्येति । नन् त्यागाच्छान्तिरित्यतापि पूर्ववत् श्रेयस्त्वविधानमेवोचितम्, अन्यथा रीतिभङ्गप्रसङ्गात् । ध्यानस्य कर्मसाध्यतया विवक्षितत्वेन ततोऽन्यस्य कर्मसाध्यत्वनिर्देशायोगात् । शान्तिव्यवहितस्य च कथं वैशिष्ट्यम् ? इत्यताह शान्ते मनसीति । अयमभिषायः-अनन्त्रभिति निर्देशेनैव रीतिस्यक्तेति प्रतीयते ; ततश्च यदनन्तरं यद दृश्यते, तस्य तत्कार्यत्वमेव व्यक्तम् । ध्यानं प्रति शान्ते हेंतुतया ध्यानस्य कर्मसाध्यत्वात् तद्वैशिष्ट्याभिपायानुरूपमेव चेदम् इति । अत्र 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' इति हेतुकार्यभावनिर्देशः उपलक्षणतया ध्यानादिष्वप्यभिमत इति ज्ञापनाय ध्यानाञ्चस्यादिकपूक्तम् । ननु 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्या-सात्' इत्यतः स्वारस्येन अभ्यासप्रभृत्युतरोत्तरमन्तरक्षत्वाकारेण प्रकृष्ट ज्ञानादिकमिति कि नाक्रीक्रियत इत्यत्र पिण्डितार्थं वदन व्यवहितनिष्ठाश्रेष्ठचं निगमयति इति भक्तियोगाभ्यासाञ्चकस्येति । अयमभिनाय:--'अथ चित्तं समाधातुं न शकोषि' (९) इति खुपकान्तम् ; 'अथैतद्दयशक्तोऽसिं' (११) इत्यनेन च भक्तियोगाङ्करेऽप्यशक्तस्य कर्मफलत्यागो विहितः ; स चात ध्यानात्कमेफलत्यागः अनिभसंहितफलकर्मनिष्ठस्योपादेयान् गुणान् आह-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरदङ्कारः समग्रुःखसुखः क्षमी ॥१३॥ सन्तुष्टस्ततं योगी यतात्मा दढिनिश्चयः। मध्यर्षितमनोचुद्धियों मद्भक्तः स भे प्रियः॥१४॥ अद्वेष्टा सर्वमृतानाम्--विद्विषतामपक्कवेतामपि सर्वेषां भृतानामद्वेष्टा--मदपराधानुगुण मीश्वरप्रेरितान्येतानि भृतानि द्विषन्त्यपक्कवेन्ति चेत्यनुसन्दधानः, तेषु द्विषत्सु अपक्कवेन्सु च सर्वभृतेषु मैत्रीं मर्ति कुर्वन् मैतः, तेष्वेच दुःस्तितेषु करुणां कुर्वन् करुणः, निर्मनः देहेन्द्रियेषु

इति प्रत्यभिज्ञायते ; ततश्चाभ्यासापेक्षया तस्याशक्तविषयत्वे सिद्धे तदुभयमध्यगतयोरिप ज्ञानध्यानयोरभ्या-सारपूर्वभावित्वेन कर्मणः परत्वेन च प्रतीयमानयोस्तत्तदशकाधिकारिविशेषविषयत्वं सिद्धम् इति ॥ १२ ॥

एवं " भक्तेरश्रीह्मचमुपायोक्तिरशक्तस्यात्मनिष्ठता" (गी. सं. १६) इत्येतावदुक्तम् ; "तत्पका-रास्त्वतिपीतिर्भक्ते द्वादश उच्यते" इत्युक्तमुभयमवशिष्टम् : तलापि 'ये तु धम्यीमृतम् ' इत्यध्याया-न्तिमश्लोकेनातिप्रीतिरुच्यतेः ततः पूर्वैः अद्वेष्टेत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैरात्मनिष्ठाप्रकारा उच्यन्त इत्याह अनिमसंहितेति । तत्प्रकाराः इत्यनेन इतिकर्तव्यताविशेषरूपाः प्रकारा विवक्षिता इति ज्ञापनायोक्तम उपादेयान गुणानाहेति । ननु कर्मनिष्ठस्योपादेयान् गुणानाहेति कथं संगच्छते ? एषु हि श्लोकेषु 'मय्यर्षितमनोबुद्धियों मद्भक्तस्स मे प्रियः' (१४), 'सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तस्स मे प्रियः' (१६), 'श्रमाश्रभपरित्यागी मक्तिमान यस्स मे प्रियः' (१७), 'अनिकेतः स्थरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः' (१९) इति मक्तिनिष्ठ एव प्रियत्वेन पुनःपुनरुच्यते । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम वियः' (७, १७) इति सप्तमोक्त एव ज्ञानी प्रियशब्देन प्रत्यभिज्ञायते : तत्समानाधिकरणानां च अद्वेष्टेत्यादीनां तद्पायभक्त्यक्रपरत्वं युक्तमिति ॥ अत्रोच्यते । 'ध्यानात् कर्मफळत्यागः' (१२) इति कर्मशसङ्गानन्तरमेव पठितानां तदङ्गत्वं प्रतीयते । अङ्गभुतानां चैषामपकारः त्यागाच्छ।न्तिरनन्तर-मित्यक्तः । प्रागिप कर्मयोगाङ्गतया चैते प्रतिपादिताः । या तु खवावये मद्भक्त इत्यादिभिः प्रतीता मक्तिः, सा कर्मयोगान्तर्भृतमक्तिरेवेति तत्नतत्र श्लोके व्याख्यास्यति । न हि मक्तिगन्धरहितौ कर्म-ज्ञानयोगौ : यथोक्तम . "त्रयाणामि योगानां त्रिभिरन्योन्यसंगमः" (गी. सं. २४) इति । साक्षा-द्धक्तिनिष्ठास्त, येत (२०) इति श्लोकेन वक्ष्यन्ते । तत्न हि तशब्देन, 'मस्परमा भक्ताः' इति मस्परम शब्द्विशेषणेन, 'अतीव मे प्रियाः' इति प्रियत्वातिशयवर्णनेन च भक्तान्तरप्रतिर्पात्तर्देवतरा जायते । ततश्च तत्पूर्वं प्रियत्वमात्रेण निर्दिष्टासुवर्वाचीना एव भक्ता इति संग्रहविस्तरकृतोराशयः ॥ प्रसक्तपित-षेघाय सर्वभूतानामिति सविशेषणनिर्देशाभिषेतमाह विद्विषतामप् अर्वतामपीति । विशेषणे तात्पर्य-मिति ज्ञापनाय सर्वेषामिति व्यासः । विद्विषतामिति मानसः. अपक्रर्वतामिति वाचिकः कायिकश्च व्यापारः। न केवलं तेष्वद्वेषमात्रम् , अपितु मैली चेत्याह मैल इति । मैलीहेतं दर्शयति मदपराघेति। अयमेवाद्वेषस्यापि हेतः। मैतीं मति कर्वत्रिति सामान्यविषये तद्धिताभिन्नेतिविशेषोक्तिः। मैतीं हितै-षिणीमित्यर्थः । करुणाया निरुपाधिकत्वायाह तेष्वेच दःखितेष्वित । करुणां कर्वित्रिति करुणशब्दिनिर्ध- तरसंबन्धिषु च निर्ममा, निरहक्कारः देहात्माभिमान्यहितः. तत एव समदःखस्यः सुखदः-खागमयोः साङ्काल्पकयोः हर्षोद्वेग्रहितः, क्षमी स्वर्श्वप्रभवयोखर्जनीययोशिप तयोर्विकार-रहितः, संतुष्टः यदच्छोपनतेन येनकेनापि देहधारणद्रव्येण संतुष्टः, सततं योगी सततं प्रकृतिवियुक्तारमानुप्रन्धानपरः, यतारमा नियमित्मनोवृत्तिः, ददनिश्चयः अध्यारमञास्त्रोदि-तेष्वर्थेषु रहनिश्चयः, मय्यर्षितमनोबुद्धिः भगवान् वासदेव एवानिभसंहित्फलेनान् हितेन कर्मणा आराष्यते, आराधितश्च मस आत्मापरोक्ष्यं साधियव्यतीति मय्यर्पितमनोबुद्धिः, य एवंभूतो चनम् । नामधातोः क्रिवन्तात् (णिजन्तात् ) पचादित्वाद्चपत्ययः, अर्शआदित्वाद्वा मरवर्थीयः । एवं मैलशब्दे । द्विषरलप्कुर्वरस्वेवेति च **एव**काराभिषायः । **निरहङ्कार**त्वं निर्ममत्वे हेतुः । ममकारपसङ्ग-स्थले हि निर्ममत्वं विधेयमित्यभिषायेणाह देहेन्द्रियेषु तत्संबन्धिषु चेति । अनात्मनि आत्मबुद्धिर्धेत निषेध्योऽहंकार इत्यभित्रायेणाह देहात्माभिमानरहित इति । एतेन "निर्गताहंत्रत्ययः" इति पर-व्याख्या द्षिता. अहमर्थस्यैवात्मत्वसमर्थनात । तत एवेति । निर्ममत्विनरहंकारत्वाभ्यामित्यर्थः । **श्वमी**ति नापकर्तृषु क्षमा विवक्षिता, अद्वेष्टेत्यादिना गतार्थत्वात् । ततश्च 'तांस्तितिक्षस्व' (२. १४) इति पागु-क्तावर्जनीयसांस्पर्शिकद्वन्द्वतितिक्षा सार्थते । तत्पौनस्वत्यपरिहाराय समदःस्वस्यः इत्येतत् आभिमानिक-विषयम् । तथा सति निर्ममत्वनिरहंकारत्वानन्तरोक्तिश्च संगच्छत इत्यभित्रायेण सांकल्पिकयोरित्यक्तम् । अहङ्कारममकार्प्रयुक्तयोरित्यर्थः । 'संतुष्टो येनकेनचित् ' (१९) इति वक्ष्यमाणत्वात् , 'यहच्छालाभ-संतुष्टः' (४. १२) इति प्रामुक्तत्वाच स एव संतोकोऽल्लाप्यादरार्थं संप्रहेणोक्त इत्यमिपायेणाह यद्दच्छोपनतेन येनकेनापीति । अन्यतापि ध्रुच्यते, "येनकेनचिदाच्छलो येनकेनचिदा-शित: । यत्नववचनशायी स्यात् (च) तं देवा ब्राह्मणं विदः ॥" (भा. मो. २५१. १२) इति । शास्त्रीयेव्वयत्रोपनतेषु प्रमृतार्प-सरसविरसादिवैषम्यं नानुसन्धेयमिति भावः । यथोक्तमजगरेण, "न सन्तिपतितं धर्म्यमुपभोगं यहच्छया । प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुन्धे सुदर्रुभम् ॥" (भा मो १७९. २४) इति । सत्त्रमिति योगकालोपकारकवासनास्थैर्याधम् । योगशब्दश्चाल योगदर्शनानुमाहक-प्राचीनानुसन्धानपरः, साक्षाद्योगस्य सर्वदा कर्तुमशक्यत्वादित्यभिषायेणाह सततं प्रकृतिवियक्तेति । सततमारमचिन्तनवत् अनारमचिन्तननिवृत्तिरपि योगान्तरङ्गमिति यतारमशब्देनोच्यत इत्याह निय-मितमनोवृत्तिरिति । अन्येषां यत संदेहपसङ्गः, तत्र द्यस्य निश्चयो वाच्यः ; स चात्रानुष्ठानोप-कारक एव श्राह्यः ; तदाह अध्यात्मग्रास्त्रेति । मयीत्यनेन, ''अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'' (९. २४) इत्युक्तमाराध्यत्वं फळप्रदत्वं चात्र कर्मयोगनिष्ठस्य स्नोवद्यद्यर्थशार्थभपेकितनिर्मतिनिरस्यनिः प्रायेणाह भगवानिति । भगवच्छव्देन सकलफलपदस्वीपियकोभयलिङस्वोक्तिः । वासदेवशब्देन सर्वकर्माराध्यत्वोपयिकसर्वदेवतान्तर्यामित्वोक्तिः । वक्तरूपविवक्षा वा । आराध्यत्वेन चिन्तनमत्र मन-सोऽर्पणम् । फलपद्रवाध्यवसायो बुद्धवर्षणम् । यद्वा द्वयोरपि चिन्ताध्यवसायौ भाव्यौ । मनसाऽ-ध्यवसायो वा मनोबुद्धिः । उद्देश्यांशं निष्कर्षयति य एवंभृतो मद्भक्त इति । अशक्तस्य शक्य- मद्भक्तः-एवं 1कर्मयोगेन मां भजमानो यः, स मे प्रियः ॥ १३ ॥ १४ ॥

यसान्नोहिजते लोको लोकालोहिजते च यः। हर्षामर्थभयोहिजीं यः स च मे प्रियः॥ ५ यसान् कर्मनिष्ठात् पुरुषान्निंमत्तभूतात् लोको नोहिजते-यो लोकोहेगकरं कर्म (कश्चि-दिप न करोतीत्यर्थः। लोकाच निमित्तभृतात् यो नोहिजते-यष्ठुद्दिश्य सर्वलोको नोहेगकरं कर्म करोति ; सर्वाविगोधिरवन्श्रियातः। अत एव कश्चन प्रति हर्षेण, कश्चन प्रति अमेषण, कश्चन प्रति अहेपेन प्रकः ; एवंभृतो यः, सोऽपि मम प्रियः॥ १५॥ अनपेक्षः श्रुचिदंश उन्तिनो गतन्ययः। सर्वारम्भवरित्यागी यो मङ्गक्तः स मे प्रियः॥ १६ अनपेक्षः श्रुचिदंश जनपेक्षः आत्मव्यतिनिक्ते कृत्सने वस्तुन्यनपेक्षः, श्रुचिः श्रास्त्रविहितद्रव्यवर्धितकायः,

निष्ठायितपादनप्रकरणस्वात् साक्षाद्धक्तियोगनिष्ठात् व्यवच्छिन्दत् स्थाकद्वयस्य पिण्डितार्थमाह एवं कर्म योगेनेति । उद्देश्यविशेषणेष्वपि तारपर्यं मीमांसकैरेवाङ्गीकृतम् , <sup>1</sup>यत्न धर्मिविशेषणप्रयोगस्य गत्यन्तरं नोपल्ड्यमि[ती १]ति भाषः । प्रियः प्रीतिविश्यः, प्रीतोऽङ् तदम् चिषतं ददामीति भावः ॥१२॥१॥॥

अथ निर्ममत्वादिफलमूतं लोकोद्वेगकरकर्मत्वाग्रह्मं गुणं विद्यव तत्फलयोगं च द्रशयित यसा दिति स्रोकेन । यच्छव्दाष्ट्रतिमालेणाधिकार्यन्तरत्वश्वद्वान्दिस्यभ्यं यस्मास्कर्मनिष्ट्रतिविधयत्वेन विविधि क्षेकेन । यच्छव्दाष्ट्रतिमालेणाधिकार्यन्तरत्वश्वद्वान्दिस्यभ्यं यस्मास्कर्मनिष्ट्रतिविधयत्वेन विविधि तिति दर्शयिति यो लोकोद्वेगकरमिति । अपकारस्वरवामालेऽप्यश्लीलमावणादिमालेणापि दि लोकोद्वेगो जायत इत्यमिप्रायेण किश्वद्यीत्युक्तम् । एतेन अद्वेष्टित्यादिना पूर्वोक्तात् , समद्वन्नत्री च (१८) इत्यादिना वश्यमाणाच वैषम्यं सिद्धम् । लोकाकोद्विजते च यः इत्यतापि हेत्वभावे तात्वयम् ; अन्यथा पूर्वोक्तपौनरुकत्यप्रसङ्गत्व ; असित्रपि स्रोके, 'दर्षामर्वभयोद्वेगर्मुक्तः' इत्युद्वेगामावस्य विदित्वत्वात् , ृ्यसालोद्विजते' इत्यनेन मिलरीतित्वप्रसङ्गाचेत्यमिप्रायेणाह यमुद्दिक्येति । लोकगतोद्वेग-करकर्मनिष्ट्रतिरिप नास्य विधेयेति विधेयं दर्शियतुं लोकस्य तथाविधकर्माकरणे हेतुमाह सर्वेति । यथा सर्वाविरोधित्वेन कर्मनिष्ठं लोको निश्चिनुयात् , तथाऽसौ कर्मनिष्ठो वेतित्युक्तं भवति । 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि' (१७) इति वश्यमाणादल हृष्यदिवयमेदेन निवर्तकभदेन च वैवम्यज्ञापनायाह अत एव कंचन प्रतिति । अत एवेति उपकारापकारादिहेतुमेदामावादित्यर्थः । कंचन प्रत्युद्वेगनेति भयादेः प्रथमुकत्वत्व मयकार्यभूतं कर्म वा जुगुप्सा वाऽत्रोद्वेगः । यसाकोद्विजते हत्यादिवावयत्यया र्थसङ्कलनेनाह य एवंभूत इति । पृवेश्लोकोक्तकर्मितत्वकरुणत्वादिगुणगणामावेऽपि लोकोद्वेगकरकर्मनिवृत्तिमालेणापि पीतो भवामीति सर्वेत्यादिनोच्यत इत्याह सोऽपीति ॥ १५ ॥

आत्ममात्रापेक्षत्वेन शास्त्रीयमालजागरूकत्वं तद्यतिरिक्तेष्वत्यन्तिनिरीहत्वं चाह अन्पेक्ष इति

 <sup>&</sup>quot;यस्योभयं इविरानिं माच्छेत् एन्द्रं पश्चरारावमोदनं निवैषेत्" इत्यत्रोभयन्यं विवक्षितमः (पू. मी.) अद्वेष्ट्रादिक्रपस्सन् यो मङ्गल इति अद्वेषादिविद्याष्ट्रपक्तत्वं प्रियत्वप्रयोजकम् । प्वमुसरवापि।

दक्षः-श्रास्त्रीयिकयोपादानसमर्थः, अन्यत्रोदासीनः, गतन्यथः श्रास्त्रीयिकयानिर्वृत्तौ अवर्जनीय-श्रीतोष्णपरुषस्पर्शादिदुःस्तेषु व्यथारितः, सर्वारम्भपरित्यागी श्रास्त्रीयव्यतिस्कित्वर्वकर्मारम्भपरित्यागी, य एवंभूनो मद्भक्तः, स मे प्रियः ॥ १६ ॥

यो न हृष्यांत न हेर्ष्ट न शोचित न काङ्क्स ते। ग्रुभाग्रुभपित्यागी भक्तिमान् यः स से प्रियः॥
यो न हृष्यात-यत् मनुष्याणां हृषेनिमित्तं प्रियजातम्, तत् प्राप्य यः कर्मयोगी न
हृष्यातः ; यचाप्रियम्, तत् प्राप्य न ह्रेष्टि ; यच मनुष्याणां शोकिनिमित्तं भार्यापुत्र विचल्छ्यादिकम्, तत् प्राप्य न शोचितः ; तथाविधमप्राप्तं च न क ह्वितः ; ग्रुभाग्रुभपित्यागी
पापवत् पृण्यस्यापि वन्धहेतुत्वाविशेषादुभयपित्यागी। य एवंभृतो भक्तिमान्, स मे प्रियः॥
क्षोकेन । प्रस्तुताधिकारविशेषव्युद्धासाय सामान्यं विशेषे नियमयित आत्मव्यिति। स्त्रियः॥
क्षोकेन । प्रस्तुताधिकारविशेषव्युद्धासाय सामान्यं विशेषे नियमयित आत्मव्यिति। क्षात्मव्यवात् तद्धेनौ तात्पर्थमित्याह शास्त्रविहितेति । अन्यविषयसामर्थ्यस्यानुपयुक्तत्वात् तदुपयुक्तानुष्ठानसामर्थं दक्षशब्देनाभिधीयत इत्याह शास्त्रविहितेति । कर्यविषयसामर्थ्यस्यानुपयुक्तत्वात् तदुपयुक्तानुष्ठानसामर्थं दक्षशब्देनाभिधीयत इत्याह शास्त्रविहितेति । विशेषपरिहाराय औदासीन्यं विहत्तव्यतिरिक्तविषयमित्याह अन्यत्रोदासीन इति । अविहिताप्रतिषिद्धेष्टित्यर्थः । अपक्षपातित्विमहौत्वासीन्यं वदन्तः समद्रशत्री चित्वादिवश्यमाणपौनस्त्रस्यात्रिरस्तः । निष्यमानव्यथाप्रसङ्गं दर्शयित शास्त्रीयिक्तयानिवृत्ताचिति । विशिष्यमानव्यथाप्रसङ्गं दर्शयित शास्त्रीयिक्तयानिवृत्ताचिति । विशिष्रवयानार्थाद्यास्य स्वत्यक्तिरस्याः । क्रमीत्व वाक्षयव्यापारः । स प्रवारम्यमाणत्वाद्वाद्यस्याः । तस्योपादानं वा । एतदिखळमपि मङ्गक्तिविशिष्टत्येव प्रविव्यानारः । स प्रव्यत्यार्थाः । व्यत्तिविहाष्टन्तयेव प्रविव्यतारारः । स प्रवारम्यमाणत्वादारम्यः । तस्योपादानं वा । एतदिखळमपि मङ्गक्तिविशिष्टन्तयेव प्रविव्यत्वार्याः एवंभतो मङ्गक्त इति ॥ १६ ॥

अथ दैवादागतेष्वि पियापियेषु शोकहर्षाद्यभावः अनागतेषु निषद्धव्यतिरिक्तंत्वि वाञ्छा-रहितत्वं तत्कारणत्यागश्चीच्यते यो न हृष्यतीति श्लोकेन । हृषामप्ति पूर्वं पुरुषविशेषनिमित्तं हृषादिकं निषद्धम् ; इह त्वर्थलाभादिनिमित्तमिति विशेष इत्यभिपायेण यनमुख्याणामिति । यच्छव्दव्याख्यान-रूपेण कर्मयोगीत्यनेन हृषाभावहेतुः स्वितः । आत्मव्यतिरिक्तनिस्पृहो श्चयमिति भावः । अद्वेष्टा स्विभृतानामित्युक्ताद्विशेषज्ञापनायाह यचाप्रियं तत्प्राप्येति । हेत्वनागमने हृषद्वेषशोकादेरभावस्य सर्वजनसाधारणत्वात् विकारहेतौ सति निर्विकारत्वं श्वस्य विधेयो विशेष इति ज्ञापनाय तत्विभित्तकथनम् । "मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दश्चते" (भा. रा. १७. १९) इतिवत् । प्राप्ते काङ्कणीयत्वा-भावात् अप्राप्तमित्यक्तम् । तथाविष्ठम्—यद्विनाशे शोकः स्यात् , तथाभृतमित्यश्चः । एतेन शोकादिनिष्ठतौ हेतुः स्वितः । यथोक्तं भगवता पराशरेण, "यावतः क्रुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् । तावन्तोऽस्य निस्वन्यते हृदये शोकशङ्कवः" (वि. १. १७. ६६) इति । श्चभाशुभशव्यव्योमिङ्गलतित्रमाल-विषयतया प्रयोगेऽपि मङ्गलत्वाकारताऽपि पुण्याद्याकारस्वत्वेवेति तिव्ववेषे तात्पर्यम् । तत्व पापस्य दूर्निरस्तत्वात् हृद्दान्तार्थे तदुपादानमित्यभिपायेणाह पापवत्युप्रस्वावीति । स्वगीदिहेतोः पुण्यस्व

स्मद्द्यात्री चि ित्रे च तथः मानावमानयोः । शीनोष्णस्रसद्वःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ तुस्वित्रिः स्वर्ते नित्रे स्वर्ते नित्रे स्वर्ते नित्रे स्वर्ते नित्रे स्वर्ते नित्रे स्वर्ते नित्रे नित्रे नित्रे नित्रे स्वर्ते नित्रे नित्ये नित्रे नित्रे नित्रे नित्ये नित्ये नित्रे नित्ये नित्ये नित्ये नित्ये न

विधिविषयस्यपि तस्साधनस्ववेषेण त्याज्यस्वे हेतुमाह बन्धहेतुस्वाविशेषादि । एतेन स्वर्गादिहेतोः पुण्यस्यपि मुमुक्ष्वपेक्षया पापस्वमेवेति सूचितम् । शास्त्रवेद्यमनिष्टसाधनं हि पापम् । श्रुतिश्च 'न सुकृतं न दुञ्कृतम् इस्युक्त्वा, 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' (छा. ८.१) इति निगमनेन सुकृतस्यापि पाप्मतामाह ॥

समङ्ग्रत्री चेत्यादिना रहोकद्वयेन बहुविधं सहेतुकं साम्यमुच्यते : तत्र पुनरुक्तिमाशङ्क्य परि-हरति अद्रेष्ट्रेति । सन्निहितखरूपमानावमानादिद्वन्द्वान्तरसहपाठवशादल शलमिलयोरपि सन्निहितयोर्विवक्षा । सन्निधिहिं विकारमतिश्चयेन जनयति । ततोऽप्यतिरिक्त इति । दूरस्थासन्नसाधारणात् अद्वेषमाता-दितिरिक्त इत्यर्थ: । कचिदिप सङ्गविजितत्वात् शीतोष्णादिषु समत्वम् । निन्दास्तुत्योः फलभूतामर्षानु-रागादिरहितत्वाविष्फळत्ववेषेण तुल्यत्वम् । मौनीति नात्र मननं विवक्षितम् . स्थिरमतिरित्यनेनैव सिद्धत्वात । मुनिर्मननशीलः. तस्य भावो मौनिमित्यप्रसिद्धार्थता च स्यात् । नापि समस्तशब्दानुचारणम् ; तस्यात्यन्तापेक्षाऽभावातः सङ्कीर्तनादिविधेश्च । न च कारुविशेषादिनियतमौनवतमः तस्योपयक्तत्वेऽपिपर्वोन त्रसंगत्यभावात् । निन्दन्तं हि निन्दन्ति छौिककाः, स्तुवन्तं च स्तुवन्ति : ततः प्रशक्तनिन्दास्तोत्रप्रतिक्षेपपर-त्वमेवोचितम्। संतृष्टो येनकेनचिदिति मौनित्वे हेत्वन्तरपरम् : अन्यथा, 'संतृष्टम्सतंत योगी' इति पूर्वोक्त-त्वेन पुनरुक्तिप्रसङ्गात्। यहच्छयाऽऽगतैर्यत्किश्चिदुद्वयैरसंतुष्टो हि सापेक्षतया स्तृतिपूर्वे कश्चन याचते, अदा-तारं च द्विष्यात् यद्वा (द्वेषाद्वा ?) अन्यस्तुतितात्पर्येण वा निन्दन्ति (ति ?) ॥ स्थरमितत्वस्य प्रकरणविशेषितं विषयं दर्शयन् सर्वस्योपरि निर्दिष्टस्य तस्य साक्षात्परंपरया वा पूर्वोक्तसमस्तहेतुत्वं च द्रशयति आत्मनीति। निकेतनिषेधस्य क्षेत्रादिनिषेघोपलक्षणतया आदिशब्दः। अत सम <sup>1</sup>इति द्वौ परित्राङ्गिषयाविति यादव प्रकाशोक्तस्य न हिन्नं परयामः । शलमिलसाम्यादिगणानां सुसक्षौ गृहस्थेऽप्यवश्यम्भावात । अनि-केतत्वस्य च. "नचापि रम्यावसथियस्य" (आप. स्म. १०. ६. भा.) इत्यादिन्यायेन निस्सङ्गतयाऽपि निर्वाहात , गृहस्थादिषु निकेतसद्भावनिषेधस्यानुपकारकत्वात , तत्सद्भावस्य कचित् योगाद्यपकारकः त्वसंभावनया च तत्सङ्गमात्रमेव निषेध्यतया विवक्षितमिति दशियतुम् असक्त इत्युक्तम् । अत एव अद्वेष्ट-त्यादीनां सेंवेषामप्यक्षरोपासकसंन्यासिविषयत्वं शंकरोक्तं निरस्तम् । कचित्सक्तस्य हि स्वरूपतस्युखत्वरहि-तैर्मानादिभिः शीत्यादिकम् ; अतः कचिदिष सङ्गाभावान्मानादिषु समत्वमित्याह् **तत् एवे**ति । पूर्वश्लोकेष्वि-वालापि यत्तच्छब्दाध्याहारेणोद्देश्यविधेयांशविमागं दर्शयति य एवंभृतो भक्तिमान स मे प्रिय इति ॥

<sup>1</sup> द्वौ-सम इति पूर्वाधे उत्तरार्धे चोकौ।

असादात्मनिष्ठात् भक्तियोगिनिष्ठस्य श्रेष्ठ्यं प्रतिपादयन् यथोपक्रमग्रुपसंहरति— ये तु धर्म्यामृतिमदं यथोक्तं पर्युपासते । श्रद्द्याना मत्त्रपमा भक्तास्तेऽतीव मे वियाः ॥ २० ॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषस्यु.... 1मक्ति[पर्वश]योगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

धर्म्यं चामृतं चेति धर्म्यामृतम् , ये तु प्राप्यसमं प्रापकं मक्तियोगम् , यथोक्तस्-'मृथ्या-वेश्य मनो ये माम्' (२) इत्यादिनोक्तेन प्रकारेण उपासते ; ते मक्ताः अतित्रां मम प्रियाः ॥

॥ इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्रीताभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अध्यायोपक्रमे अक्षपूर्वकं भिनतयोगनिष्ठस्य अक्षरनिष्ठाच्छेष्ठचं बनतम् : भक्तियोगाञ्चक्तिप्रसङ्गेन अक्षरयोगस्य परम्परया भक्तियोगसाघनत्वं तदपेक्षितगुणाश्चोक्ताः : अथाध्यायारम्भगतप्रश्नस्योत्तरं प्रपश्चितं निगमयतीत्याह असादिति । 'मय्यावेश्य मनो ये माम् ' इति श्लोक: अयं चैकार्थ एव धप्रुभयत इत्यभिप्रायेण **यथोपऋम**मित्युक्तम् । त**त्र नित्ययुक्ताः इ**त्युक्त एवार्थोऽत्र **मत्परमाः** इत्युच्यते । तल अहुया प्रयोपेताः इत्युक्तम् ; अल तु अहुधानाः इति । तल ते मे यक्ततमा मताः इत्य-क्तमः अत्र त तत्फल्खिन **भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः इत्यु**च्यते । अतः स एवार्थोऽत्रोपसंह्रियते । अस्य चाधिकार्यन्तरपरत्वे तुशब्द्विशेषणाद्यो हेतवः पूर्वमेवोक्ताः । अनेतेव च श्लोकेन मध्यमषटक-प्रधानार्थभक्तियोगोपसंहारश्च कृतो भवति । **धम्योमृत्**मित्यनेन विवक्षितमाकारद्वयं वक्तं तद्ययुक्तं कर्मधारयत्वं दर्शयति धम्यं चामृतं चेति । धर्मादनपेतं धम्यंम् । अतोऽत्र धर्म्यशब्देन साधनत्व-वचनाद्रम् नशब्देनामृतसाधनत्वस्याविवक्षितत्वात् फलवदेव भोग्यत्वं विवक्षितमित्याह ये त प्राप्यसम-भिति । यशोक्तमिति व्याख्येयपदोपादानम् । प्रसङ्गागतकर्मयोगोक्तेर्व्युदासाय मृथ्यावेद्देखादिक-मक्तम् । पूर्वोक्तानामन्येषामपि भक्तत्वमस्तीति तद्भ्यवच्छेदाय ते भक्ता इति विशेष्यते । पूर्वेषु प्रिय-त्वमुदारत्वप्रयुक्तम् : असिम्तु स्वाभिमतान्तरात्मत्वप्रयुक्तम् । अतौ ह्यतीव प्रीयत्विमहोक्तम् । उक्तं च प्रागेव. 'उदारासर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ' (७. १८) इत्याद्युवक्रम्य, 'स महारमा सुदु-र्छमः' (७. १९) इति । एतेन अद्वेष्टेत्यादिना प्रकान्तं धर्मजातं ये तु धम्यां मृत्रिनि स्टोकेनोप-संह्रियत इति परोक्तं निरस्तम् , भिन्नाधिकारविषयत्वस्य व्यक्तितत्वात् ॥ २० ॥

इति श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

- 0 --- 0 ---

<sup>]</sup> नवमाध्यायस्य राजविद्याराजगुद्धयोग इति नाम, अक्तियोगपरस्वात् । अन्न त् अक्तः शैन्नयं भक्तः पूर्वभावी पर्वक्रमध्य कथ्यते । तन्नात्यन्ताद्यातपर्वक्रमञ्चापनतात्त्पर्यात् भक्तिपर्वयोग रति नाम स्यात् । भक्तयुपसंदारस्याद्वा भक्तियोग इति नाम ।

## श्रीः।

## ॥ अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

पूर्वसिन् पट्के परमप्राप्यस्य परस्य ब्रक्षणो मगवतो वासुदेवस्य प्राप्त्युपायभूतमिकरूपभगवदुवासनाङ्गभृतं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनं ज्ञानयोगकर्मयोगळक्षणिनष्ठाद्वयसाध्यम्रक्तम् । मध्यमे च परमप्राप्यभृतभगवत्तत्त्वयाथात्म्यतःमाहात्म्यज्ञानपूर्वकैकान्तिकात्त्वन्तिकभित्तयोगनिष्ठा प्रतिपादिता । अतिशियतैश्वयापेक्षाणामात्मकैवस्य मात्रापेक्षाणां
च भक्तियोगस्तत्तदपेक्षितसाधनामिति चोक्तम् । इदानीमुपिरतने षट्के प्रकृतिपुरुपतत्संसर्गरूपप्रपञ्चेश्वर तदाथात्म्य-कर्मज्ञानभक्तिस्वरूप-तदुपादानप्रकाराश्वपट्कद्वयोदिता विशोध्यन्ते :

अथ तृतीयषट्कसंगति वनतुं प्रथमद्वितीयषट्कार्थं संग्रहेणाह पूर्वस्मिक्विति । अत्र पदानां भावः पाकनप्राचतः । "ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगळक्ष्ये सुसंस्कृते । आत्मानुभूतिसिद्धचेथे पूर्वषट्केन चोदिते ॥" (गी सं. २) इति अथमषट्कार्थसंग्रहः । सिषाधियषितपर्यन्ताविच्छिन्नसाधनानुष्ठानिमह निष्ठा । "मध्यमे भगवत्तत्त्वयाथातम्यावाप्तिसिद्धये । ज्ञानकर्माभिनिर्वत्यो भक्तियोगः प्रकीर्तितः ॥" (६) इति संग्रहानुसारेण मध्यमषट्कप्रधानार्थमुक्त्वा प्रसङ्गोक्तं चाह अनिश्विपतेति । इत्त चेति चकारोऽन्याचयार्थः । इदं चान्ते संगृहीनं "मक्तियोगस्तदर्थी <sup>2</sup>चेत समग्रैश्वर्यसाघरम् । आत्मार्थी चेत् त्रयोऽप्येते तत्कैवल्यस्य साधकाः ॥" (२७) इति । "प्रधानपुरुषःयक्तसर्वेश्वरिववेचनम् । कर्म घीर्मिक्तिरित्यादिः <sup>3</sup>पूर्वशेषोऽन्तिमोदितः ॥" (४) इति संग्रहरूठोकव्यास्यानामिप्रायेण तृतीयषट्कं पूर्वोक्तषट्कद्वयेन संगमयति इदानीः मिति । इदानीं सामान्यतः प्रतिपत्त्या बुसुत्सोदयेन विशोधनावसरे प्राप्त इत्यर्थः । तत्संसर्गरूपप्रपञ्चेति व्यक्तशब्दार्थविवरणम् । संमर्गोऽत समुदायः ; यद्वा, 'तिस्मन् गर्मे दधाम्यहम् । संभवस्सर्वभृतानां ततो भवति' (गी. १४. ३) इति संसर्गविशेषम् रुत्वात् संसर्गस्वपतोक्तिः । याथातम्यराञ्देन विवेचनराञ्दाभिष्रेतकथनम् । विविच्यतेऽनेनेति व्यावर्तकः धर्मोऽल विवेचनम् । तद्पादानप्रकारा इति आदिशब्दसंगृहीतोक्तिः । पर्कद्वोदिता विशोध्यन्त' इत्यनेन 'पूर्वशेषोऽन्तिमोदितः' (गी. सं. ४) इत्येतद्भिषेतसंगतिविशेषविवरणम् । विशो-ध्यन्त इति वचनं वक्ष्यमाणस्य सर्वस्य सामान्यतः पुनरुक्तिपरिहारार्थम् । आभिप्रायिकानुक्तापेक्षितां-श्रप्रतिपादनेन प्रागुक्तानां सर्वप्रकारेण निस्संश्रुयीकरणं विशोधनम् ॥

अथ ''देहस्वरूपमात्माप्तिहेतुरात्मविशोधनम् । वन्धहेतुर्विवेकश्च त्रयोदश उदीर्थते ॥'' (१७)

मात्रपदेन ऐश्वर्य-भगवरनुभवस्यवच्छेदः। पञ्चान्निष्यः संस्तृते आत्मानुभवः तदुभय-सहितः, मुक्तौ च भगवरनुभवसहितः। तद्रहित केवलात्मानुभवं कञ्चित्कालमपेक्षमाणानामित्यर्थः।

<sup>2</sup> भक्तियोगः पुष्कळेश्वर्यसाधनमपि भवति, तद्यौ भवति चेदित्यन्वयार्थः।

<sup>3</sup> पूर्वशेषः षट्कद्वयरूप द्वादशाध्यायोक्तार्थानुयन्धी अन्तिमषट्केनोक्त इत्यर्थः।

तत्र तावत् त्रयोदशे देहात्मनोः स्वरूपम् , देहयाथाम्यजोधनम् , देहवियुक्तात्मप्राप्त्युपायः, विविक्तात्मस्वरूपसंशोधनम् , तथाविधस्याऽऽत्मनश्चाचित्सवन्यहेतुः, ततो विवेकानुसन्यान-प्रकारश्चोच्यते ।

√श्रीमगवानुवाच—

ह्वं दारीरं कौन्त्रय क्षेत्रसित्यभिष्ठीयते । एतत् यो विक्ति त्राष्ट्रः क्षेत्रव हित तिह्नदः॥ १ हित संग्रहरूक्षेकमपि व्याकृर्वन् त्रयोदशमवतास्यति तत्र तावदिति । तत्र तृतीयपर्के ; वक्तःये [वा ?] । तावतु प्रथनमित्यर्थः। तेनाध्यायास्तरेभयो वक्ष्यमाणेभ्यः पश्चभ्योऽस्य पूर्वत्यं संगतिविशेषसिद्धमित्यभिषेतम् ।

तथाहि-—प्रथमपट्कं हि ज्ञास्त्रोपोदुघातद्यास्त्रा वतरणहेतु गृतद्योकनिवर्तकात्मद्दीनपरद्विकेन आत्म-दर्शनस्यैय साधनप्रवश्चनपरचतुष्केण च भिन्नम् । द्वितीयं च षटकं साधगाधिकारिफलादिमेदपरिकरितमितन योगस्बरूपरोण तदुत्पत्तिविष्टुद्ध्यर्थ[ार्थ]परेण च लिकमेदेन भिन्नम् । तथा तृतीयं च पट्कं लिकह्रयात्मकम् ; तत्र प्रथमतिक प्रथानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वररूपतत्त्वविवेचनपरम् । तत्र प्रसङ्गेन तः मालया कर्तव्यानप्रवेशः। पोडः शादितिकं कर्तव्यादिविवेचनपरम् । तत्रापि तत्तरमसङ्गानमात्रया तत्त्वानुप्रवेशः। शास्त्रवस्यत्यादिविवेकोऽपि हि कर्तव्यसिद्धधर्यमेव । एवं विकमेदो विवक्षित इति षोडशारम्भे दर्शयिष्यति अतीतेनाध्याय-त्नयेणेत्यादिना । अत्र 'प्रधानपुरुषच्यवतसर्वेश्वरविवेचनस् ' (गी. सं. ४) इति समासप्देन प्रथमितः कार्थः संगृहीतः । 'कर्म घीर्मक्तिरित्यादिः' इति त कर्तव्यरूपद्वितीयत्रिकार्थः संगृहीत इति भाष्यकाराभि-प्राय: । एतेन ''समाप्तं च पञ्चदरोऽध्याये शास्त्रम् ; उत्तरैक्षिभिः खिलाध्यायैः परिशिष्टा नानाधर्मा निरूपिता:" इति यादवप्रकाञ्चकल्पनाऽपि निरस्ता । अत च तिके तयोदशचतुर्दशाभ्यां 'गतासन् अगतासुंश्च' (२.११) इत्यादिना क्रमेण देहात्मविवेकादिमुखेन पत्रतप्रथमषट्कार्थरोषमृतदेहात्म-याथात्म्यसंसारतिलद्वतितित्रवर्तकादि परिशोध्यते ; वश्चदशेन तु मध्यमपट्कप्रतिपादितद्विविषप्रकृति शेषिभृतचतुर्विधाधिकारिभजनीयपरमपुरुषपरिशोधनं क्रियते । इमं च मेदं पञ्चदशारम्भे सूचियप्यति क्षेत्राध्याय इत्यादिना । क्षेताध्यायपसक्तवन्धहेतुगुणसङ्गस्य वन्धहेतुताप्रकारतिनन्नद्रयादिपरतया ''परं भूयः'' इत्यादेः (१४) अध्यायस्य पश्चाद्वाविस्वं सिद्धम् । ततः क्षेत्राध्यायस्य तृतीयषट्कादिःवं युक्तमिति । तदेतद्खिलमभिषेत्य तत्न तावत त्रयोदश इत्युक्तम् ।

देहारमनोस्खरूपं देहयाथारम्यशोधनमिति अध्यायशरीरपर्याहोचनेन, संग्रहरुहोकेऽनुक्तस्यापि चकारसमुचितस्योक्तिः । देहस्वरूपमिति तत्यतिसंबन्ध्यारमस्करूपस्याप्युप्टक्षण[ार्थ]म् । आत्मविशोधमिति संग्रहथ्य देहयाथारम्यशोधनस्याप्युप्टक्षणम् । देहारमनोस्खरूपमिति धर्मनिर्देशो विविक्तः । विवेकशब्देन च न विविच्य प्रतिपादनमात्रं भेदमात्रं वा विविक्षतम्, आत्मविशोधनमित्यनेनैव गतार्थन्त्वात् । ध्यानेनारमित पश्यन्ति (२४) इत्यादिना द्रष्टव्यत्वेन निर्दिष्टस्यारमनः 'समं सर्वेषु' (२७) इत्यादिना स्वयं विविच्यानुसंघानप्रकारश्वेति ।

्रद्रं शरीरम् दैवोऽद्रम् , मतुष्योऽद्रम् , स्यूलोऽद्दम् , क्रग्रोऽद्दमिति आत्मना भोक्ता सद्द सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानं मोक्तुरात्मनोऽर्थान्तरभृ[तं] तस्य भोगक्षेत्रमातं श्रारयाथा-त्म्यविद्धिरमिधीयते । एतत् अवयवशः संघातरूपेण च, इदमहं वेद्यीति यो वेत्ति, तं वेद्यभृता-दस्माद्वेदितृरवेनार्थान्तरभृतम् , क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः आत्मयाथात्म्यविदः प्राद्वः। यद्यपि देह्रव्यति-

अथ 'गतासूनगतासूंध' (२.११) इति प्राक स्वेनैवोपक्षिप्तक्रमेण सप्तमारम्भप्रकृतिद्वय-निर्देशक्रमेण च अपृष्टोऽप्यवसरे पाप्ते खयमेव परिशोधियतं भगवानुवाच इदं श्रारीयिति । आन्तिरूप-लोकोपलम्ममकारनिर्देशपर इदंशब्द इत्यभिषायेण देवोऽहमित्याच्किः। देवोऽहम मनुष्योऽह-मित्यनम्तजातिमेद्रोपळक्षणम् ; स्थूलोऽहम्, क्रञोऽह्मित्यनन्तगुणभेदोपळक्षणम् । एवं जातिगुणो-दाहरणं गच्छामीत्यादिकियाविशेषोपळक्षणार्थम् । संसारिणां मोक्तत्वं हि प्रायशो देहात्मश्रममूळ-मित्यभित्रायेण **आत्मना भोक्त्रे**त्युक्तम् । पक्षेत्रमित्यभिधीयते इत्यनेनैव भोग्यत्वं प्रतीतम् । ततश्च केदारात् देवदत्त इव प्रतिसंबन्धित्वेनार्थाक्षितो मोक्ता मोक्त्वाकारेणार्थान्तरभूतिसिद्ध इत्याह भोवतुरात्मनोऽर्थान्तरभृतस्येति । भोगस्योत्पत्तिस्थानतया क्षेत्रत्ववाचोयुक्तिरित्याह भोगक्षेत्रमिति । क्षतत्राण-क्षय-क्षरणाद्यपसिद्धक्रिष्टार्थग्रहणात् क्षेत्रवत् कर्मबीजफलोत्पतिस्थानत्वग्रहणमेवोचिर्तामति भावः 🏏 अभिधीयत इत्यनेनाकाङ्क्षितोचितकर्तिध्याहारः श्वरीरयाधातम्यविद्धिरिति । यहा तद्विदः इति पदमलापि विपरिणामेन प्रकृतविषयतया तद्विद्धिरिति भाव्यम् । विपरिणते च तस्मिन् तुच्छव्दः पक्रतक्षेत्रपर इत्यमिपायः । एतद्यो वेत्तीत्यनेनैव देहाद्यतिरेकः एफ्रटीकियत इत्याह एतदवयवश्व-स्सङ्घातरूपेण चेदमहं वेद्यीति । अयमभिनायः — इदमहमिति प्रत्यवस्वपरावस्वाभ्यामेव तावत् मेदः प्रतीयते, गृहादिवदेव । न च--देवोऽहम्, मनुष्योऽहमिति सामानाधिकरण्यव्यपदेशहेतुसूत-देहात्मबुद्धचा सा पतीतिः भ्रान्तिरिति युक्तम, तयैव देहात्मबुद्धेर्वाघात्। बलवता हि दुर्बलं बाध्येत । उपपत्तिशास्त्रे च पाक्पपिश्चिते बलं व्यतिरेकबुद्धेः ; देहात्मबुद्धेस्तूभयमपि प्रतिकूलमिति । प्रागुक्तां प्रत्येकसमुदायादिविकरुपानुपपत्तिमभिषेत्य अवयवशः सङ्घातरूपेण चेत्युक्तम् । अवयवश इति । 'मम मूर्घा, मम हस्तः' इत्यादिरूपेणावयवेभ्योऽहमर्थः स्फूटं भिन्नतया प्रतीयते ; न तु अहं मुर्घेत्यादिरूपेणेति भावः । सङ्घातरूपेण चेति । मम शरीरिमत्येव हि सङ्घातेऽपि भेदधीरिति भावः । एतद्यो वेत्तीत्यनेनाभिष्रेतमुपरुम्भसिद्धं मेदं दर्शयति वेद्यभृतादिति । तद्विदः इत्यत्न सामान्य-ज्ञानमात्रस्य निर्णयानुपयुक्तत्वात् **आत्मयाया्त्म्यविद** इत्युक्तम् । ननु ज्ञाता तावत् आत्मेति सिद्धम् ; स च जानामीति प्रतीतिसिद्धः ; सेव प्रतीतिज्ञीनृस्वमिव देहारमकरवमपि देवोऽहमित्यादि-रूपेण युगपद्गृह्णाति ; प्रत्यक्षसिद्धस्य तस्य युक्त्या शास्त्रेण वा देहातिरिक्तत्वसाधने धर्मिप्राहक-प्रमाणविरोध इति शङ्काभिपायेणाह यद्यपीति । यदि ज्ञातुर्देहसमानाधिकरणतयैव प्रतीतिः स्यात् , तदैवं शक्येतापि ; न च तदस्ति ; देहस्यैव प्रधानतया वेद्यत्वदशायां व्यधिकरणतयैव प्रतीतिसिद्धेः : न च धर्मिमाहकसिद्धस्सर्वोऽप्याकारो नारोपित इति नियमः । बुद्बुद-मुक्ताफळ-चवक-मुकुरादि-

रिक्तघटाद्यर्थानुसन्धानवेलायां 'देवोऽह्म्, मनुष्योऽहं घटादिकं जानामि' इति देहसामाना-धिकरण्येन ज्ञातारमान्मानमनुसन्धने, तथाऽषि देहानुभववेलायां देहमपि घटादिकमिन 'इदमहं वेकि' इति वेद्यतया वेदिताऽनुभवतीति वेदितुसस्मनो वेद्यतया असरमपि घटादिवदर्थान्तर-भृतम् । उथा घटादेखि वेद्यभृताच्छरीसादिष वेदिता क्षेत्रज्ञोऽर्थान्तःभृतः। सामानाधिकरण्येन प्रतीतिस्तु वस्तुतदश्रीरस्य गोरवादिवत् आत्मविशेषणतैकस्यभावतया तदप्रथिवसद्वेरुपपन्ना । तस्र वेदितुस्साधारणाकारस्य चक्षुसादिकरणाविषयत्वात् योगसंस्कृतमनोविषयत्वाच प्रकृति-

समानपरिमाणान्येव ग्रह-नक्षल-हिमकर-मार्तण्डमण्डलानि सर्वैरुपरुभ्यन्ते : युक्त्या शाक्षेण च अतिप्रथु-परिमाणतया स्थाप्यन्ते : तद्वद्वापीत्यभिषायेणाहः तथाऽपीति । अतो धर्मित्राहकनिरोधरहित-श्रुत्युपपत्तिसमानार्थःयतिरेकप्रत्ययसिद्धं देहात्मनोः परस्परमेदं सनिदर्शनमाह इति नेदित्तरित्यादिना । इतिहेंती । ननु यत् यतो भिद्यते, न तत् तत्समानाधिकरणतया प्रतीयते ; यथा घटेन पटः ; समानाधिकरणश्च(णतया च) मृद्घटादिवत् देहो ज्ञाला प्रतीयत इति विपरीतयुक्तिमाशङ्कचाह सामानाधिकरण्येनेति । अयमभिशायः - न तावत् सामानिधकरण्यमात्रेणाभेदः, जातिगुणादिष्यः भावात् । न च तानि न सन्तीति सौगती गति:, अवाधितत्रत्ययवछेन, दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ-महणादिभिश्च धर्भधर्मिभेदसमर्थनात् । न चाल भेदाभेदः, व्याघातादिप्रसङ्गात् । अतो यथा जातिगुणक्रियादिष्वपृथिनसद्धेरेव संबन्धविद्योषात् सामानाधिकरण्यम् , तद्वद्वापीति सर्वानुवृतं वक्तव्यमिति अन्यशैव, 1 अन्यशाऽपि वोषपन्न भेदसाधने सामानाधिकरण्यमिति। विशेषणतैकस्य भावतयेति अपृथिवसिद्धिविवरणम् (विशदीकरणम् )। नतु जातिगुणादिवदिह घर्मधर्मिमावः सामानाधिकरण्य-दशायां न प्रतीयते : यथा 'गौरराक्को गच्छति' इत्यादिषु गोत्वराक्कत्वादिविशिष्ट इति वुद्धिः, न तथाऽत धी: ; 'देवोऽहं, मनुष्योऽहम्' इत्यत्न हि देवत्वविशिष्टोऽहं, मनुष्यत्वविशिष्टोऽहमिति प्रतीतिः ; न तु देवशरीरविशिष्टोऽहम् , मनुष्यशरीरविशिष्टोऽहमिति । अतो घट इत्यल घटत्वविशिष्टपिण्डमाल-यतीतिवत् देशोऽहं, मनुष्योऽहमित्यल दयन्यादिजा-विदिश्यपिष्यनः त्रय-ति देहस्य किचित्प्रति विशेषणत्वादर्शनात् नापृथविसद्धिनिवन्धनं देहात्मसामानाधिकरण्यमित्यलाह ज्ञानस्वनित्यस्वसुक्षमस्वादिरलासाघारणाकारः । अयमभिशयः—िकं वाह्यकरणैदेहमालप्रतीतिरिह विवक्षिता, उत मनोमालेण. अथवा परिहाद्वेन मनसा १ नावः, चक्रुराधीरा नारस्यसमाधेन योग्यानुपलम्भाभावात् । न द्वितीयः, मनम् आत्मग्रहणशक्तत्वेऽपि तस्याशुद्धस्य देहन्यार्क्तकपरिमाणादि-विशिष्टत्वेन ग्रहणाञ्चक्तेः । न तृतीयः, असिद्धेः । अतिरिक्ततया ग्रहणार्थमेव हि योगोपदेशः । यथा च योगिनामुपलम्भः । अतो यथा गृह्यमाणयोरेव क्षीरनीरद्रव्ययोर्न्युनाधिकसममावेन संसर्ग-

<sup>1</sup> देवोऽहमिति सामानाधिकरण्यमपृथिक्सिडिमूलकं सामानाधिकरण्यत्वात् जात्यादिसामानाधि-करण्यवत् इत्यनुमानसंभवात् अन्यथैवेत्युक्तम् । जीवोऽहं प्राणोऽहमित्यादौ अपृथिक्सिड्ययोगात् अनुभातस्य दुष्टेवेऽभ्याहं अभ्ययाऽतिति । जात्य युदाहरणभसमगरिहाराथेमिय भवतीति भावः ।

सिन्नधानादेव मृद्धाः प्रकृत्याकारमेव वेदितारं पश्यन्ति ; तथा च वक्ष्यति, ''उत्कामन्तं स्थितं वाऽपि भुझानं वा गुणान्वितम् । विमृदा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः'' (१५.१०) इति ॥ १ ॥

्रेक्षेत्र<u>बं चाणि मां विद्धि</u> सर्वक्षेत्रेषु भारत । क्षेत्रक्षेत्रब्धयोज्ञीनं यत्तरज्ञानं मतं मम । २ देवमनुष्यादिसर्वक्षेत्रेषु वेदितृत्वाकारं क्षेत्रज्ञं च मां विद्धि मदारमकं विद्धिः; क्षेत्रज्ञं च।वीति अपिश्वव्दात् क्षेत्रम'प मां विद्धीत्युक्तमिति गम्यते । यथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञविशेषणतैकस्व-भावतया तदपृथिनिसद्धेः तन्सामानाधिकरण्येनैव निर्देश्यम् , तथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं च मद्भिशेषणतै-विशेषपु क्षीरस्त्रेन नीरस्त्रेन वोपल्लमः ; तद्भवलापि गृज्ञमाणयोरेव देहात्मनोः सिल्लिधिवशेषवशेन रजस्तमोष्ट्रद्वित्वकर्मवशेन च भेदाप्रहार्वस्थायास इति निर्णीतदोषताह्योपल्लमवशेन विशेषो न शङ्कानीयः इति । मोहहेद्वेपुत्रगुणमयप्रकृतिस्त्रियानेन मृदत्यया यथावस्थितात्मादर्शने, तस्य योगसंस्कृतमनोव्यव्ये च वश्यमाणसदाहर्राते वश्यतीति ॥ १ ॥

अश्वेवमन्योन्यव्यावर्तकाकारवत्तया निर्दिष्योः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोद्वेयोरिष परमात्मव्यावृत्तिसद्ध्यर्थमुम्यानु कृतं तच्छेषरवसुपदिद्य एवं यथावस्थितक्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानमेव मोवनिवृत्तिनिमत्तमित्वभिमायेण (मे मतमित्वभिमायेण) प्रशंसित क्षेत्रज्ञं चापीनि श्लोकेन। अरोरानिरिक्तरम् बद्धावस्थ्यात्र क्षेत्रज्ञश्चे तेवादानम्। स च स्व स्वत्रापेक्षया शरीरी मदपेक्षया शरीरमिति समानाधिकरणिनिर्देशतार्वयमित्याद्य देवमनुष्याद्यीति । क्षेत्रज्ञामित्वेक्षयच्यावे प्रश्चित्रमित्व स्व क्षेत्रज्ञेष्ठ वेदितु स्वैकाकारमित्युक्तम् । व्यक्तसमुक्तयार्थोऽपिशब्दः, अन्यथा निर्वेक्तवप्रसङ्गादित्यभिपायेणाह क्षेत्रज्ञं व्यापीत्य पिश्वद्यादेति । अनुक्तसमुक्तयार्थोऽपिशब्दः, अन्यथा निर्वेक्तवप्रसङ्गादित्यभिपायेणाह क्षेत्रज्ञं व्यापत्य पिश्वद्यादेति । कण्टोक्तं समुक्तयारातमाभिपायिकं च संकल्वयाद्य स्वामानाधिकरण्यमिति ज्ञापनायाप्यव्यक्तिस्य । चनु व्रित्वस्यः । स्वास्य तच्छरीरेण सामानाधिकरण्ये यो हेतुः, स एवालापि विद्यत इति मुख्यमेव सामानाधिकरण्यमिति ज्ञापनायाप्यव्यक्तिस्य । ननु व्रित्वस्यः । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः परमात्मानं प्रति विशेषणत्वं न प्रतीयते । प्रत्युत स्वतन्तत्यैव क्षेत्रज्ञो घटपटादयश्च प्रतीयन्ते । अति न सामानाधिकरण्य मुख्यमिति शक्कायां विशेषणत्वाम्वणमित्यभित्रविश्वविद्यान्तानां विशेषणत्वाम्वणमित्यभित्वायेणाह

<sup>1</sup> नतु भारते (शां-361-6) 'क्षेत्राणि च इतिराणि वीजञ्जापि शुभाशुभम्। तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥' इति भगवान् क्षेत्रज्ञशब्दयोगार्थ उक्तः। 'योऽस्यात्मनः कारियता तं क्षेत्रज्ञ प्रचक्षते' इति च मतुः। द्युश्वाद्यधिकरणे श्वतप्रकाशिकायां वद्य उदाहतमञानुसंधेयम्। एतञ्ज एकैकक्षेत्रे क्षेत्रज्ञो जीवः प्रागुक्तः, अहमपि सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञ इति अर्थवर्णने सुकरे किमिति जीववा-चित्वस्वीकारेणायं प्रयास इति चेत्—िक्ष्रिष्टार्थवर्णने हि प्रयास इति वक्तव्यम्। क्षेत्रञ्ज मां विद्वि इत्यत्न विवक्षणीयरीत्येव निर्वाहश्च युक्त इति ।

<sup>2</sup> क्षेत्रवं मां विद्यात्यस्य मां क्षेत्रवान्तर्यामिणं विद्याति मुख्योऽर्थः शरीरवाचकशब्दानामेव शरीरिपर्यव्यव्यस्य स्थापितवात् । यामित्यस्य मच्छरीरभूतमित्यर्थस्तु इह तात्पर्यक्यावुक्त इत्याशयेन फलितमित्युक्तम् । 3 चकारस्तु पूर्ववाक्यार्थस्यैतद्वाक्यार्थेन सह समुच्ये ।

कस्त्रभावतया मदप्रथिवितद्वेः मत्तामानाधिकरण्येनैव निर्देष्यौ 'विद्वि । पृथिव्यादिसंघातरूपस्य क्षेत्रस्थ च भगवव्छरीरतेकस्त्ररूपतया मगवदात्मकृत्वं श्रुतयो बद्दित, 'यः
पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथीवी बरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति
स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (च. ५. ७. ३) इत्यारम्य, 'य आत्मिनि तिष्ठम् आत्मतोऽन्तरो
यमातमा न वेद यस्यातमा अरीरं य आत्मानमन्तरो यमयात स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'
(च. ५. ७. २२) इत्याद्याः । इदमेवान्तर्यामितया सर्वश्रेतज्ञानामात्मत्वेनावस्थानं भगवत
तत्मामानाधिकरण्येन व्यवदेशहेतुः । 'अहमात्मा गुडाकेश्च सर्वभृताशयस्त्रितः'
(१०. २०), 'न तदस्ति विना यत् स्थानमया भृतं चराःम्म् ' (१०. ३०), 'विष्टभ्याहामदं
क्रत्स्त्रमेकाशेन स्थितो जगत् ' (१०. ४२) इति पुरस्तादुर्थाकृष्टाचामित्रया, मध्ये सामानाधिक्ररण्येन व्यवदिवति, 'आदित्यानामहं विष्णुः' (१०.२१) इत्यादिना । यदिदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञथीः
विवेक्षविषयं तथोमदात्मकत्विषयं च ज्ञानमृक्तम् , तदेवोपादेयं ज्ञानामति मम भतम् ।

प्रधिव्यादसङ्कातरूपस्येति । प्रथिव्यादेः परमात्मानं पति शरीरत्ववचनादेव तत्संघातरूपस्य देवमन् ष्यादिषिण्डस्यापि शरीरत्वमुक्तमेव : शरीरथातूनां च प्रथवनरमात्मशरीरत्वं व्यपदिश्यत इति, ततोऽपि तत्समुद्रायस्य शरीरत्वमुक्तं भवतीत्यभिषायेण पृश्चिव्यादिसङ्गातुरूपस्येत्यक्तम् । जीवं प्रति क्षेत्रस्येव नावस्थाभेदनिवन्धनमनयोर्द्ववययोः परमात्मश्चरीरत्वमिति ज्ञापनाय भगवच्छरीरतेशस्वस्वक्षयग्रेत्यक्तम् । यथा पृथिव्यादेः लोके शरीरत्वेनाप्रसिद्धस्यापि परमात्मशरीरत्वं श्रुतिवशात् स्वीकार्यम् , तथा . स्बक्षेत्रं प्रति शरीरिणोऽपि जीवस्येति भावः । एवं स्वरूपमेदेऽन्तर्यामित्वे च सिद्धं श्रतिषु सामानाधि-करण्यव्यपदेशस्त्रत्रिवन्धनः ; तद्पवृंहणे [चास्यां समृतौ समृत्यन्तरे च । असिश्च विभृत्यध्याये] चास्सिन अन्तर्यामित्वं पुरस्ताद्वपरिष्टाचाभिधाय मध्ये सामानाधिकरण्यनिर्देशात् आत्मत्वेनावस्थानमेव सामानाधि-करण्ये हेत्ररिति श्रत्यपङ्ग्रणं कृतं भवति । तत्समानतयाऽसिन्नि सामानाधिकरण्ये स एवार्थं इत्यभिप्रायेणाह—इदमेवेति । उत्तरार्धं व्याख्याति यदिद्मिति । पस्तुतविविक्ताकारविशिष्टयोरेव हि क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिह परामर्शः, तप्तायःपिण्डादिवत् अलीकाकारज्ञानस्य पश्चादिसाधारणत्वात् तस्य चाल प्रशंसानुपपत्तेरित्यभिप्रायेण विवेकविषयभित्यपादानम् । न हि ज्ञानस्य ज्ञानत्वमालं विधेयम् . पुनस्वत्यादिशसङ्गातः न चान्येषां ज्ञानानां ज्ञानत्वनिषेधे तात्वर्ये, व्याघातातः न च ज्ञानमित्यनुद्य -मतत्वमात्रमत्न विधीयते, ज्ञानशब्दादृत्तिनैरर्थनयात् ; अतोऽत्न ज्ञानस्यैव, ज्ञान्सिति विधानं परिप्राह्य-त्वार्थत्रशंसापरमित्यभिषायेणाह — तदेवोपादेयं ज्ञानिमिति । सम मतःमिति । सर्वभृतसुहृदो मम सर्वज्ञास्त्रार्थोपयोगितया सर्वहितत्वेनेदमेवोपादेयतय।ऽभिमतिमिति भावः ।

<sup>े</sup> क्षेत्रं क्षेत्रबञ्चत्येतस्थाने समस्तपद्मयोगे यथा निर्देश्याविति पुंहिगं साधु, तथा व्यस्त-प्रयोगेऽपि । एवं प्रायाःत्रयोगाः  $1 \cdot 1 \cdot 4 \cdot (196 \cdot g)$  भाष्यार्थदर्पणे उदाहताः द्रष्टव्याः ।

के चिदाहुः — 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति सामानाधिकरण्येनैकत्वमवगम्यते । ततश्रेश्वरस्यैव सतोऽज्ञानात् क्षेत्रज्ञस्विमच भवतीत्यम्युपगन्तव्यम् । तिज्ञवृत्यर्थश्रायमे-कत्वोपदेनः। अनेन च आप्ततमभगवदुपदेशेन, 'रज्जुरेषा न सर्पः' इत्याप्तोषदेशेन सर्पत्वप्रम-निवृत्तिवत् क्षेत्रज्ञस्वभ्रमो निवर्तते — इति ।

ते प्रष्टच्याः --- अयमुपदेष्टा भगवान् वासुदेवः परमेश्वरः किमात्मयाथात्म्यसाक्षान्कारेण

एवमस्य श्लोकस्य श्रुति-स्मृत्यन्तर-पूर्वापरसंगतमर्थमिभघाय कुदृष्टिदृष्टिं दूष्यितुमनुभाषते केचिदि-त्यादिना । केचिदिति निरूपकामासत्वमभिष्रेतम् । बहुवचनेन जगद्यामोहनतत्तद्गन्थकार्कमितपर म्पराद्योतनम् । सामानाधिकरण्येनैकत्वमवग्रस्यतः इति । "भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शृब्दानामेकसिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्'' इति हि तल्लक्षणमिति भावः। सर्वज्ञत्वाज्ञत्वादिविरुद्धधर्मवतोरेकत्वं कथमवगन्तं शक्यमित्यताह तत्रभेति । श्रतस्य हानायोगात् तदर्थापत्त्येत्यर्थः । एवकारेण विरोधशङ्काद्योतनम् । संसारस्यौपाधिकरवेन सर्वाभ्युपगतत्वात् स्रतः क्षेत्रज्ञत्वाभावेऽपि दोषवशात् तत्संभव इत्यभिषायेण अज्ञानादित्यक्तम् । नन् दोषवशादिष विरुद्धं न संभवति : न हि दोषेण तेजसितिमिरत्वापादनं संभवति : न च क्षितिजलादिसमवधाने शिलाशकलस्य। द्वरारम्भकत्वमित्यलाह क्षेत्रज्ञस्विमेवेति । विरुद्धाकारसद्भावो धसंभावितः : तदारोपस्त रज्जुसपीदिवद्पपन्न इति भावः । अभ्यपगन्त-(पेत)व्यमिति । गत्यन्तरादर्शनादिति भावः। यदि परमार्थतस्तंसारित्वं नास्ति : कथं संसारनिराकरणायो .पदेशादि क्रियते १ न हि परमार्थतो व्याप्यभावे तन्निरासाय चिकित्सोपपद्येतेत्यलाह **तन्निवृत्त्यर्थ** इति । क्षेतज्ञत्वभ्रमनिवृत्त्यर्थ इति यावत । न ह्ययमैवयोपदेशो दृष्टिविध्यादिन्त्रिवान्यशेषतया भाति : अपित आत्मयाथात्म्यज्ञानार्थे इति भवद्भिरप्यभ्यपेतमित्यभिप्रायेण अयभिरयक्तम् । चन्द्रभेदश्रम-निवर्तकतदैवयोपदेशवदिति भावः । अवाधितात् प्रत्यक्षतो भेदे दृढं प्रतीयमाने कथं तदुपजीवकेन संभवद्मियायान्तरेण परोक्षेणोपदेशेन बाघ इत्यलाह अनेन चेति। सामान्यवेषेणोपजीवकस्वं न बाधकत्विवरोधि : अन्यथा भेदानुमानेन ज्वालैक्यवाधायोगात् । अत एव परोक्षत्वमपि न दौर्वरूप प्रयोजकम् । निर्दोषत्वमेव हि पाबस्यनिदानम् । बाक्यस्य च दोषा वक्तुर्श्रमविष्रसम्प्रमादाशक्तय । अल च वक्तवीसदेवस्यासतमत्वेन विपरुम्भगन्धामावः : भगवत्त्वेन अमप्रमादाशकीनामसंभवः । अतस्तदपदेशेन क्षेत्रज्ञत्वअमस्य प्रत्यक्षस्यापि बाघ उपपद्यत इति मावः ।

एवमनुभाषितं दृष्यितुमुषकमते ते प्रष्टच्या इति । सर्वज्ञस्येश्वरस्यैव सतः अज्ञानात् क्षेत्रत्वभ्रमो भवित ; स एव चेश्वरः क्षेत्रज्ञायोपदिशतीति व्याकुरुभाषिणः किमिमप्रेतिमत्याश्यपरिशोधनेन दृष्णं वक्तव्यमिति भावः । अयमिति । "न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः" (२-१२) इत्युषकमे मेदेनैव स्वात्मनामुपिद्यान् , परलाच क्षराक्षरपुरुषवैद्यक्षण्यमेव स्वात्मनोऽभिधास्यन् , निष्ट्रष्टव्यवहारेषु जीवानां परागर्थमृत इति भावः। उपदेष्टेति । यद्यसावय्यज्ञः, तदाऽर्जुनवदस्यापि शिष्यत्वमेवोचितम् , न तूपदेष्ट्रविनिति भावः। मगवानिति । पराज्ञाननिष्ट्रत्यश्रेमेव स्वयमुपदिशति, स्वस्य तत्त्वज्ञस्वादित्यमिप्रायः।

निवृत्ताज्ञानः उत् नेति । निवृत्ताज्ञानश्चेत् , निर्विशेषचिन्मात्रैकस्करुपे आत्मनि अन्यतद्र्षाध्या-सासभावनया कौन्तेयादिमेददर्शनं, तान् प्रत्युपदेशादिव्यापाराश्च न समवन्ति । अथात्म-साक्षारकाराभावादनिवृत्ताञ्चानः, न तर्धञ्चन्वादेवात्मज्ञानोपदेशसंभवः; 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' (४.३४) इति द्युक्तम् । अत एवमादिवादा अनाकित-वासुदेव इत्यतान्तर्वामित्वादिशिवक्षायां "सर्वत्नासौ समस्तं च वसत्यत्र" (वि १.२-१२) इति भेद एव व्यक्त इति भावः । वसुदेवतनयत्वविवक्षायां तु स एव ह्यवतीर्णः, 'सर्वलोकमहेश्वरस्' (५ २९) 'विमर्त्यव्यय ईश्वरः' (१५. १७), 'यसात् क्षरमतीतोऽहम्' (१५. १८) इत्यादिषु स्वात्मानमीश्वरस्वेनैव मन्यमानो जीवेभ्यस्पर्वप्रकार[रं]वैरुक्षण्यमुपदिशतीत्यभिष्रायेण परमेश्वर्शन्दः । ईश्वरस्य श्रमहेतु-मृतमज्ञानं न कदाचिदप्यस्तीति तैर्वक्तुं न शक्यम्, तथासतीशितव्यप्रतिभासाभावादीश्वर्रस्वस्यै-वासिद्धिप्रसङ्गात् । अज्ञानमन्तरेण च मिथ्यामृतभेदप्रतिभासायोगात् । परबुद्धिविषयत्वोहेखरूपस्य तु मिथ्यार्थप्रतिभासस्य परसद्भावसापेक्षस्वात् । तस्य च तैरनभ्युपगमात् । अत ईश्वरस्यापि पूर्वमज्ञानमस्ति ; तच पश्चाज्ज्ञाननिवर्त्यमित्यभ्युपगन्तव्यम् । तचोपदेशदशायां भवदभिमतहेतुविशेषेण निवृत्तं न वेत्यभिष्रायेण विकल्पयति **किमि**त्यादिना । प्रथमं शिरो दूषयितुमनुबदति निद्वताज्ञान-इचेदिति । निर्विशेषेत्यादि । कारणामावात् कार्यामाव इति मावः । अभ्युपगताधिष्ठानविशेषस्वभावा-देवाध्यासी न संभवति, किं पुनर्दोषस्यापि निष्टतावित्यभिप्रायेण निर्विदेशपिचनमात्रस्वोषादानम् । तथा हि सिवरोषे वस्तुनि कस्मिश्चिदसाधारणाकारे तिरोहिते तिद्वरुद्धाकारान्तराध्यासः । ज्ञाता च कंचिद्र्थमन्यथा मन्येत ; न तु ज्ञप्तिमालम् । कीन्तेयादीत्यादिशन्देन जिघांसितधार्तराष्ट्राद्रिग्रहणम् । उपदेशादीत्यादिशब्देन सारथ्यादेरिप संग्रहः । द्वितीयं शिरोऽनुभाषते अधेति । निवर्तक-साक्षात्काररहितत्वादिति भाव: । न तहींति । न हीन्द्रियलिङ्गशब्दादिवत् अज्ञत्वेऽपि परज्ञानजनकत्वं संभवति, उपदेशवानयप्रयोगस्य ज्ञानपूर्वकत्वावश्यंभावात् अप्रमितोपदेशोऽनाप्तत्वप्रसङ्गादिति भावः । तत्त्वसाक्षात्कारवत एवाध्यात्मोपदेषृत्वे तस्यैवोक्तिं दर्शयति उपदेश्यन्तीति । एवं शङ्करपक्षोक्तं दोषं भास्करादिपक्षेऽप्यतिदिशति अत इति । शंकरमते भेदश्रुतयः सगुणश्रुतयोऽन्तर्यामिश्रुतयः प्रकृति-पुरुषनित्यत्वश्रुतयस्तथाविधाश्च समृत्यादयो विरुद्धा एव ; अभेदश्रुत्यादयश्च मुख्यार्थपरित्यागेन निर्विशेषलक्षकतया तैरैवाभ्युपगमात् मुख्यार्थप्रतिपादकाकारेण विरुद्धाः । विषयन्यवस्थादिभिर्विरोध-परिहारे संभवति बाध्यवाधकभावा[च]भ्यूषगमात् न्यायविरोधः । स्ववचनविरोधस्त, ब्रह्म निर्विशेषम् ,

एवंस्वादित्यल हेतुसाध्यधर्मान्वयावस्यंभावात् । 'अनुभूतिरवेद्या' इत्यलानुभूतिशब्दवोध्यस्वादेर्वस्याभ्युप-गन्तव्यस्वात् । एवं 'ब्रह्म न शब्दपतिपाद्यम्' इत्यादिष्विप भाव्यम् । भास्करपक्षे तु भेदगोचर-श्रुत्यादिभिस्तत्पतिपक्षमभेदसहमानैर्विरोधो वक्तव्यः । अचितोऽपि ब्रह्मसहस्यैक्याभ्युपगमात् निर्विकारस्व-प्रतिपादकैर्विरोधः । ब्रह्मण एवोपहितस्य जीवत्वालिद्दोषश्चितिवरोधः । अभेदश्रतयोऽपि प्रायशो न

## श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणन्यायस्ववाग्त्रिगेधैरज्ञानिभिर्जगन्मोहनाय प्रवर्तिता इत्यनाद्रणीयाः। ग्रुतेदं तत्त्वम्----

मुख्याः । जीवेश्वरसामानाधिकरण्ये<sup>2</sup> 'षटाकाशो महाकाशः' इतिवित्रिर्दिश्यमानवेषेणैक्यासिद्धेः । एवमेवाचिदीश्वरयोरिप न सामानाधिकरण्यस्यारम्यम् । सर्वज्ञस्वादिगुणगणविशिष्टस्य ब्रह्मणस्पर्वनादारम्ये सर्वेद्वःत्वप्रतिसन्धानप्रसङ्कासिरवधश्रुत्यादिविरोधमश्रमनामावेन न्यायविरोधः । **यादवप्रकाश**पन्ने तु स्वत एव भिन्नामित्रसर्वजीवस्वाम्युपगमोऽतिशयितः । सर्वानुवृत्तसन्मास्तस्य ब्रह्मस्वाम्युपगमात् (गमे) अदृश्य-स्वादिश्रुतिविरोधश्च । सत्वाया घटादिधभैन्वेन प्रनीयमानस्वात् ब्रह्मणो जातिरूपस्वप्रसङ्क इत्याद्यो दोषा द्रष्टव्याः । अनयोः सवचनविरोधस्तु सप्तमङ्कीवादिनामिव मेदामेदास्युपगमात् तन्मूलनिर्दोष-स्वसदोषस्वसामानाधिकरण्याच व्यक्तः । जगनमोहनाय प्रवर्तिता इति न तेषामिभप्रायेणोच्यते, अङ्गानिभिरित्युक्तस्वात् ; अपितु तेषाग्ञानां वादो देवाज्जगन्मोहनाय जात इत्युच्यते ।

ननु युप्मरपक्षेऽपि श्रुनिवरोधादिदूषणं समानम् । तथा हि -- यदि जगद्भश्रागोर यन्तमेद एवा-भ्युपगतः, तदा 'तन्नामरूपाभ्यां व्याकियत' (श्वे. ४ ९) इति कारणस्यैव ब्रह्मणः कार्यनःमख्यमाक् व-श्रुविविरोधः। एकि अज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रिज्ञाविरोधः; न हि घटज्ञानेन ततोऽत्यन्त्रिसस्य पटस्य ु ज्ञातत्वं संभवति। अत्यन्तभिन्नयोर्जगद्भक्षणोः सामानाधिकरण्यं च न संभवति। घटपटवदेव रूक्षणया निर्वाहश्चेत् , परपक्षे कः प्रद्वेषः ? ब्रह्मोपाद नत्वं च जगतो न सिध्यति, सृद्घटादियत् जगद्वह्मणोरेक-द्रव्यत्वानभ्युपगमात् ; अन्यथा सत्कार्यवाद्विरोधात् । यदि भिन्नेरेव प्रकृतिपुरुषेश्वरैर्जगदारभ्भः, ते किमेकीमृताः कार्यमारभन्ते, उत पृथगवस्थिता एव १ पूर्वत परस्परस्वभावसंकरः परपक्षवत् प्रसक्तः । उत्तरतापि कि पृथकार्यकराणि, उत न ? पृथकार्यकरत्वे सर्वस्य ब्रह्मकारणत्वमभ्यूपगतं पळायते ; एककार्यकरत्वे कार्यावस्थायां स्वभावसंकरसादवस्थः। यदि च ब्रह्म सन्हपतो निर्विकारम् , तदा तस्य कार्यात्मकत्ववादिनीभिः श्रुतिभिर्विरोधः । अथ सविकारत्वाभ्युपगमः, तदा परपक्षशसक्तनिर्विकारः श्रुतिविरोधस्तदवस्थः । यदि च सर्वदा सर्वज्ञत्वादिगुणगणविज्ञिष्टमेव ब्रह्म, तदा निर्गुणश्रुतिभिः ज्ञानमात-श्रुतिभिश्च व्याघातः । सर्वदा भेदश्च यद्यभ्युपगतः, तदा भेदनिषेधकश्रुतिविरोधः । न्यायविरोधः, विधिनिषेधयोरर्थक्षमावलब्धेन पौर्वापर्येणापच्छेदवत् बाध्यबाधकमावस्यानभ्युपगमात्। स्ववचनविरोधश्च, सर्वात्मकं ब्रह्म सर्वविरुक्षणं चेत्यभ्युपगमात् । अतो दोषसाम्ये कस्य मतं तत्त्वम्— इति चोद्यमिभप्राया निभिन्नै: परै: श्ववराहकळहत्यायेन प्रवर्तितं परिहृत्य सभीचीनशारीरकत्यायान्गृहीतसर्ववेदान्तसारार्थ-प्रतिपादनपरतामस्य शास्त्रस्य स्थापयितुमाह अत्रेदं तत्त्वमिति । अत्र — श्रुतिस्मृतीतिहासाद्यविरुद्धार्थ-गवेषणायाः मित्यर्थः ; श्रुत्यादिष्विति वा । इदं यथाप्रमाणं वक्ष्यमाणम् ; न तु शङ्कराद्यक्तमित्यर्थः । तस्य

अत्रेदं तस्विमत्यादि सर्वे श्रीभाष्यस्थमेव । तत्र तत्रेषद्भेदमौचित्यात् कृत्वाऽत तस्य निवेशः ।

<sup>2</sup> तत्वोपदेशावसरे 'रज्जुःसर्प इतिवत्' 'शुद्धब्रह्म क्षेत्रज्ञ' इति वक्तव्यम् । अत्र मामिति ईश्वरस्यैव कथनात् ईश्वरे सगुणे क्षेत्रज्ञैक्यकरानाया अनिष्टवात् ।

अचिद्रस्तुनश्चिद्रस्तुनः परस्य च ब्रश्गो भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन चेशितृत्वेन च स्वरूप-विवेकमाहुः काश्रन श्रुतयः, ''असान्मायी सुजते विश्वमेतत् तसिश्रान्यो मायया सन्तिरुद्धः'' (क्षे. ४. ९), ''मायां तु प्रकृति विद्यानमायिनं तु महेश्वरम्'' (क्षे. ४. १०), ''क्षरं प्रधानम मृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" (श्वे. १. १०) -- अमृताक्षरं हरः इति भोक्ता निर्दिश्यते : प्रधानमात्मनो भोग्यत्वेन हरतीति हर:-''स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य प्रामाणिकमित्यर्थः। शङ्कितान् दोषान् परिहरिष्यन् खपक्षं तावत् प्रमाणतः स्थापयति **अचिद्रस्तुन** इत्यादिना (420 पु) सत्यमभवित्यन्तेन । भोग्यत्वादिकं यथाक्रमम् । भोग्यत्वेन भोक्तत्वेन चेशितत्वेन चेति भेदकथर्मान्तराणामुपादास्यमान्श्रुतिसिद्धानामुष्ठस्थणम् । अनुक्तसमुचयार्थेन चकारेण वा तत्संग्रहः । स्वरूपविवेकं स्वरूपाणां भिन्नत्वमित्यर्थः । विवेकक्ववदो अमनिराकरणद्योतनार्थः । न हि भेदवादिनीनां श्रुतीनां श्रुतित्वे सर्पमृतिरित्यिभिपायेण **काश्रन श्रुतय** इत्युक्तम् । बहुवचनेन भ्यसांन्यायोऽप्यविरुद्ध इति ज्ञापितम् । भेदश्रुत्यविरोधेन सामानाधिकरण्यश्रुत्यर्थं स्थापिततुं प्रथमं भेदश्रुत्युपादानम् । असादित्यनेन साक्षाद्विकाराश्रयस्थमचिद्द्वयस्येति सिद्धम् । अन्यो मायया सिक्रह्यः इत्यनेन उपहितस्य ब्रह्मण एव जीवत्विमत्यादिप्रलापा निर्मृलिताः । न बल मायया सिन्नरोधादन्यत्वसुच्यते ; अपि तु अन्यस्यैव सतो मायया सन्निरोधः । सन्निरुद्धः स्वाभाविकसर्वज्ञस्वनिरतिशयानन्दाद्या-विभीवरहित इत्यर्थः । पराभिमतो मायाशब्दार्थः श्रुत्येव प्रतिक्षित इति दर्शयितुमाह मायां त्विति । **क्षर**मित्यादौ **हर**शब्दस्योत्तरपदान्वयेन कुदृष्टचन्नीतयोजनान्तरप्रतिक्षेपार्थमाह अमृताक्षरं हर इति भोक्ता निर्दिश्यत इति । रुद्रे रूढस्य कथं भोवतुमावसाधारण्यमित्यवाह प्रधानमिति । हरतीति हर: इरयेतावन्निर्वचनम् ; शेषमर्थसिद्धकथनम् । अयमभिशय:-यदि हरशब्दः 'देव एक' इत्यने-नान्बीयते, तदा अमृताक्षरमित्यस्य विधेयत्वं न स्यात् । अथ अमृताक्षरमित्यसमस्तं छप्तविभक्ति-कमुद्देश्योपादेयपरमुच्येत, तदा विभक्तिलोपक्केशः, ब्युक्तभेणोद्देश्योपादेयनिर्देशश्च स्यात् । न चाल 'क्षरं त्विवद्या ह्यमृतं तु विद्या' (क्षे. ५. १) इतिवत् अमृत्शब्द एवोद्देश्यपरः, क्षराक्षरशब्दयोरेव मिथःप्रति-रूपत्वात् । ऋक्षु च पादभेदेनार्थव्यवस्था<sup>2</sup> संभवन्ती न परित्याज्या । एवं 'क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं त्र विद्या विद्याविदे ईशते यस्तु सोऽन्यः' (श्वे. ५. १) इति वाक्यान्तरशैळी चानुसता स्यात् । अन्यथा व्यवहितान्वयश्च । न च 'देव एक:' इत्यत विशेषाकाङ्क्षाऽस्ति । तावता च माहात्म्यमितशयेन व्यज्यते । 'क्षरात्मानौ' (श्वे. १. १०) इति पुष्टिङ्गान्तानुबादश्च तिष्टिङ्गनिर्दिष्टविषयतायां खरसः । शब्दान्तरेणानुवादस्तु पक्षद्वयेऽपि समः । अस्मत्पक्षे तु हरशब्दस्यात्मजातिविषयत्वज्ञापनार्थेतया सपयोजनश्च<sup>3</sup> । अमृताक्षरमिति सविशेषणनिर्देशोऽपि तत्त्वभावविशेषज्ञापनेन सार्थः । एवं **हर**शब्दस्यात्र

अचेतने भोग्यत्वमात्रम्, जीवेषु भोक्तृत्वभोग्यत्वोभयमिति शापनार्थमपि चकारः।
 एवसुपर्यपि। 2 "तेषासृङ् यत्नार्थवरोन पादव्यवस्था" इति हि मीमांसासुत्रमिति भावः।
 शब्दान्तरेणानुवाद इति विशेष्यपदमनुकृष्यते।

कश्चिल्जिता न चाधिषां" (श्चे. ६. ९), "प्रधानक्षेत्रज्ञपितर्गुणेश्वः" (श्चे. ६. १३), "पृति विश्वस्थातमेश्वरं श्वाश्चतं शिवमच्युतम्" (ना), "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीश्वौ" (श्चे. १. ९), "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहुनां यो विद्धाति कामान्" (श्वे. १. ३), "मोक्ता मोग्यं प्रेरितारं च मत्वा गुष्टस्ततस्तेनामृत त्वमेति" (श्वे. १. ६), "तयोरन्यः पिष्पलं खाद्वस्यनश्चनःयो अभिचाकश्चीति" (शु ३. १. १), "अजामेकां लोहितशुक्ककृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजो श्वेको जुपमाणोऽन्त्रते जहात्येनां श्वक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वे. ४. ५. तै. ना. २२. ५), ["गौरनाधन्वतत्ती सा जिनत्री भूतमाविनी" (मं. उ.), "समाने वृक्षे पुरुषे निमयोऽनीशया शोचित श्वश्वमानः । जुष्टं यदा पत्रयत्यन्यमीशमस्य महिमानिमिति वीतश्चोकः" (श्वे.४.७)] इत्याद्याः । श्वत्रापि, "अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टथा । अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृति विद्वि मे पराम् । जीवभृतां" (गी. ७. ४), "सर्वभृतानि कौन्तेय प्रकृति यान्ति मामिकाम् । कल्पश्चये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ प्रकृति स्वामवष्टस्य विसृजामि पुनःपुनः ।

प्रधानसहपठितपुरुषतत्त्वविषयःवे अवस्यम्भाविनि छक्षणादेश्वासंभवे श्रुत्यन्तरस्वप्रकरणादिविरुद्धरूहिः परित्यागेन यौगिकार्थपरत्वमैन्द्रचादिन्यायेनाङ्गीकार्यमिति ॥ क्षेत्रज्ञेश्वरयोस्सर्वज्ञत्विक्वज्जत्विन्यन्तत्व-नियाम्यत्वरूपं मेदं द्वयोरप्यजत्वं च द्विशब्देनैव संख्यया वदन्तीं श्रुति दशयति ज्ञाज्ञावित । सुषुप्तिमरणमूच्छात्रलयेषु क्षेत्रज्ञस्यात्यन्ताज्ञत्वम् । जागरस्वप्नयोरपि ज्ञानं कतिपथविषयम् : अज्ञानं त्वनन्तगोचरम् । ईश्वराष्ट्रथम्मृतानामेव जीवानां नित्यत्वं बहुत्वं जीवेश्वरयोश्चेत्न्याश्रयत्वमीश्वरस्य चाद्वितीयत्वं सकरफरुपदत्वं च नित्यो नित्यानामिति श्रुत्या सिद्धम् । स्वशन्दादेव भेदस्य वेद्यत्व-वादिनीं भेदज्ञानपूर्वकपरमात्मशीतिविषयत्वेन मोक्षं च प्रतिपादयन्तीं श्रुतिमाह पृथगिति । जीवेश्वरयोरेकशरीरानुपविष्टयोरेव कर्मफलभोक्तत्वाभोवतृत्वरूपवैष्यर्थेपरं वावयमाह तयोरन्य इति । तयोरन्यः तयोरेक इत्यर्थः । खाद्वतीति पुण्यफलोदाहरणमुण्यस्यार्थम् । अभिचाकशीति अभितो-ऽधिकं प्रकाशते । ताद्दशजीवनियन्तृत्वरुक्षणोऽतिशय एव तदानीभिष सिध्यति : न त ज्ञानसङ्कोचादीत्यक्तं भवति । सत्त्वरज्ञत्तमोमय्याः प्रकृतेः पुरुषस्य च अजत्वम् , प्रकृतेः पुरुषकर्मानुरूपपरिणामविद्रोषभावत्वेन अध्यासप्रसङ्गराहित्यम् , बद्धमुक्तच्यवस्थाम् , मुक्तदशायामपि प्रकृतेविंश्लेषमात्रं च ज्ञापयति अज्ञा-मिति । उक्त्श्रस्यपर्वृहणायासिसेवेव<sup>3</sup> प्रतिपादितं नित्यं प्रकृतिपुरुषेधरभेदं दर्शयति अत्राप्यहङ्कार इतीति । मे प्रकृतिरिति व्यधिकरणनिर्देशात् ईश्वरात् प्रकृतिपुरुषयोर्भेदः सिद्धः । इतस्त्वन्यामित्यनेन प्रधानात् पुरुषस्य भेदः । सृष्टिपुरुययोरध्यासतिन्नवृत्तिरूपुरुवञ्यदासाय परमात्मग्ररीरभूतपृकृत्यविभाग-विभागरूपत्वमाह सर्वभृतानीति । अलापि मामिकामित्यादिभिर्भेदः स्फुटः । प्रधानपुरुषयोः चराचराद्य-

<sup>1</sup> गौरित्यादि कुण्डलितं न श्रीभाष्ये, नाप्यत व्याख्याने । 2 स्मृतावपीति श्रीभाष्यपाटः ; अत्र तदयोगात् अतापीत्युक्तम् । 3 गीताशास्त्र एवेत्यर्थः ।

भृतग्रामिमं कृत्समवर्ग प्रकृतिर्वात् ॥....म्याऽष्यक्षेण प्रकृतिरस्यते सचगचास् । हेतुनाऽनेन कीन्तेय जगिद्ध परिवर्तते ॥" (गी. ९.७,८१०), "प्रकृति पृरुषं चैव विद्धयनार्दा उमाविए" (गी. १३.१४), "मम योनिमंहद्रक्ष तिस्मिन् गर्मे दथाम्यहम् । संभवन्सर्वभृतानां ततो भवति भारत" (गी. १४.३) इति । जगवीनिभृतं महत् वस मदीयं प्रकृत्याख्यं भृतस्थममचिद्धस्त यत्, तिस्मिन् चेतनाख्यं गर्मे संयोजयामि ; ततो मत्यङ्कल्य कृतात् चिद्यत्तिस्मादिव देवादिस्यावरान्तानामचिन्मिश्राणां सर्वभृतानां संभवो भवतीत्यर्थः । [ श्रुनाविष भृतस्थमं त्रक्षेति निर्दिष्म्, "तस्मादेतद्वस्य नाम रूपमत्रं च जायते" इति । एवं भोवत् मोग्यरूपेणाविस्थितयोः सर्वावस्थावस्थितयोश्चर्त्विनोः परमणुरुपग्रगिरतया

तिश्चयाम्यरवेन तदपृथक्षिति परमपुरुषस चाऽहरमत्वमाहुः काश्चन श्रुतपः, "यः पृथिवया तिष्ठन् पृथिवया अन्तरो य पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी ज्ञरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति" (त्र. ५. ७. ३) इत्यारम्य, "य आत्मिन तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यारमा ज्ञरीरं य आत्मानन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याभ्यमृतः" (त्र. ५. ७. २ २ . मा.) इति ; तथा, "यः पृथिवीमन्तरे सश्चरन् यस्य पृथिवी ज्ञरीरं यं पृथिवी न वेद" इत्यारम्य, योऽवस्यावेः परमात्मअममृहत्ववृद्धासाय तद्धिष्टानमृहतामाह मयेति । जीवानामध्यासाधीनतिद्धित्वव्यायाय वक्षतिपुरुषयोरिवरोषेणानादित्वं दर्शयति प्रकृति पुरुषं चेति । प्रकृतेरेव साक्षापरिणामान्त्रयत्वम् , सृष्टश्चौपविकशक्वतिपुरुषसंसर्गविद्योषस्य परमात्मसङ्कल्याधीनत्वम् , तत एव जगत्सपृष्टिम् , एवंप्रकारेण लयाणामन्योन्यमेदं चोदाहरति मम योनिरिति । जगदपेश्चया योनित्वम् , जगत्सपृरुषिष्टातृत्वया संवन्धः ; तदाह जगद्योजीति । सुरुप्यत्वमणे ममेति व्यधिकरणिनिर्देशात् योनित्वसामध्यीच अञ्चरव्यवित्याह प्रकृत्यारूपमिति । चिन्मअमृतोत्पविद्वेत्वया प्रकृत्यावेयतया च सिद्धं गर्भश्चाव्यत्विमाह प्रकृत्यारूपमिति । द्यामीत्याधानं विवक्षित्याह संयोजयामीति । विद्वरार्थ्यस्याने मिवत्वति । एवं बहुषु परेरोषु प्रकृतिपुरुषजगतस्पृष्टशादिप्रतिपादनद्यायां जीवाध्यासजगन्तियाः ।

एवं चिद्रचिदीश्वराणां स्ररूपभेदः काणादमभुतिभिरम्युवगत इति ततो विद्रोषं घटकथ्रुतिसिद्धं इरिरारमभावं सामानाधिकरण्यसुरूयत्वसिद्ध्यर्थमाह एवंभिति। भीक्षित्रति। एकीमावावस्थायामपि शरीर्वं (यस्य तमदशरीरम्' (वृ. ५. ७. १३), 'यस मृरयुदशरीरम्' इत्यादिभिः सिद्धभिति ज्ञापनाय सर्वावस्थावस्थितयोरित्युक्तम् । पत्यक्षाद्यशास्य जगद्वक्षणोः शरीरात्मभावस्य तस्वोपदेशतत्परानेकथ्रुतिसिद्धत्वात्त तत्परित्यागः श्चि वियः ; तदनुगुणतया च शरीरुक्षणमनुसन्धेवभिति भावः । अन्तर्यामित्राक्षणे सर्वावस्थावस्थावस्थाक्षम् तत्विद्धत्वयोरिविद्योषेण परमात्मशरीरत्वं दश्यिति यः पृथिव्यामिति । इममेवाश्रमीपदावापोद्वापभेदेन प्रतिपादयन्त्या सुवालोपनिषदा अन्तर्यामित्राक्षणोक्तमपहत्तपाप्मत्वादिगुणयोगमद्वितीयत्वं नारायणत्वं च विशदयति यः पृथिवीमिति । अत्र मृरयुशव्दस्य स्थानप्रमाणेन

श्वरमन्तरे सश्चरन् यस्याश्वरं क्रीरं यमश्वरं न वेद'', ''यो मृत्युमन्तरे सश्चरन् यस्य मृत्युइक्षरीरं यं मृत्युनं वेद एप सर्वभृतान्तरात्माऽपहतपाष्मा दिन्यो देव एको नारायणः'' (सु. ७),-अत्र मृत्युक्षन्देन तमक्रजन्दवान्यं स्क्ष्मावस्थमचिद्धस्त्वभिधीयते, अस्यामेबोपनिषदि, ''अन्यक्तमश्वरे लीयते अश्वरं तमित लीयते'' (सु. २) इति वचनात् — ''अन्तः प्रविष्टक्षास्ता जनानां सर्वात्मा' (य. आ. ३.११.२) इति च।

एवं सर्वावस्थावस्थितचिद्विद्दस्तु शरिरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगदू पेणावस्थित इतीममर्थं झापियतुं काश्चन श्रुतयः कार्यावस्थं कारणावस्थं च जगत्
स एवेल्याहुः, ''सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'' (छा. ६.२.१), ''तदेक्षत वहु स्थां
प्रजायेयेति। तत्तेजोऽस् जतः'' (छा. ६.२.३) इत्यारम्य, ''सन्मू लास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजाससदाय
तनास्पत्प्रतिष्ठाः'' (छा. ६.८.६), ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वे तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमिष्
श्वेतकेतो'' (छा. ६.८.७) इति। तथा, ''सोऽकामयत, वहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽत्यत,
स तपस्तत्वा, इदं सर्वममुजत'' इत्यारम्य, ''सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्'' (आ.६) इति।
अन्नापि श्रुत्यन्तरसिद्धश्चिद्वितोः परमपुरुषस्य च स्वरूपविवेकः स्थारितः, ''इन्ताइमिमास्तिस्रो देवता श्रनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्चय नामरूपे व्याकरवाणि'' (छा. ६.३.२),
''तत् सृष्ट्रा, तदेवानुप्राविश्चत्, तदनुपविश्चर, सच त्यवाभवत्....विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं

अतिस्स्मदशापनम्ळपङ्गतिविषयत्वमाह अतिति । अतः अक्षरपर्यायादनन्तरे पर्याये इत्यर्थः । तेजः मितिद्वन्तित्तमोग्युदासाय स्स्मावस्थमचिद्वस्तिवस् । अस्यायेवेत्यनेन शीव्रप्रत्यभिश्चानं स्चितम् । आत्मळक्षणपूर्वकमात्मत्वं दश्यत् तैतिरीयकवानयमाह अन्त,प्रविष्ठ इति । नृपनभोज्यावर्तकाभ्यामन्तः प्रवेशिवयनगभ्यां शरीरित्वसिद्धः । उक्तभेदश्चुतिघटकश्चुत्यनुसारेण सामानाधिकरण्यश्चतीनामये सुस्यमेवाह एवं सर्वावस्थेति । अत्रोभयावस्थपरमपुरुषप्रकारद्वत्र्यवयं सामानाधिकरण्यश्चतीनां विवक्षित्र । इममर्यं श्चापयित्वमिति । न पुनः श्चर्यन्तरत्वप्रकरणस्वयचनप्रत्यक्षादिवरुद्धं शापयित्वमित्वथः । छान्श्वोग्यवदेव सामानाधिकरण्यं तस्य च चेतनांशेऽप्यनुप्रवेशपूर्वकर्वं तैतिरीयके दर्शयति तथेति । स तपोऽत्यय्य — आलोचनमकरोदित्यर्थः ; 'तनसा चीयते त्रश्चः (सु. १, ९) इति प्रकरणे 'यस्य शानमयं तपः' इति व्याख्यानत् । न केवलं प्रकरणान्तरगत्तिग्रदक्तवावयैभेदामेदश्चत्वविरोधः, अपि तु स्वप्रकरणस्थैरपीत्याह अत्रापीति । समानाधिकरणिनिर्देशको छान्दोग्यतितिरीयकप्रकरणयोरित्यर्थः । जीवेनान्यन जीवेन मयेत्यर्थः । सिहेन म्रत्या बहवो मयाऽऽत्ताः (वि. घ ९८. १७) इतिवत् । 'तिश्चो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽजुपविश्वयः इत्यचिद्वप्रवेशो व्यक्तः ; जीवे तु सामानाधिकरण्यमातम् । तत् अनुप्रवेशक्वतिरिति तैतिरीयके व्यक्तमित्यभिप्रायेणाह तस्युष्टेत । एवं जीवशरीरकप्रमातमानुत्व अनुप्रवेशक्वतिरिति तैतिरीयके व्यक्तमित्यभिप्रायेणाह तस्युष्टेत । एवं जीवशरीरकप्रमात्तमानुत्वस्य । त्रिष्टेष्टित्वस्यम्प्रायेणाह तस्युष्टेत । एवं जीवशरीरकप्रमात्मानुत्वस्य

<sup>1</sup> सिंहेनेत्यस्य सिंहदारीरकेणेत्यर्थयत् इह जीवदारीरकेणेत्यर्थ इति भावः। तृतीयातिर्भाक्तनिविहस्य एकत कर्तरिययोगात् अन्यत्र कर्मणिप्रयोगाच भिन्नरूपोऽपि स्यात् । श्रृतप्रकाशिकायामध्येयम् ।

चानृतं च सत्यमभवत् " (आ. ६) इति च । एवंभृतमेव नामरूपव्याकरणम् , "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् , तन्नामरूपाभ्यां व्याक्तियत" (बृ. ३. ४. ७) इत्यत्राप्युक्तम् ।

अतः कार्यावस्यः कारणावस्थ्य स्युलस्यक्ष्मिचिद्विद्वस्तुश्चरीरः परमपुरुष एवेति, कारणात् कार्यस्थानन्यत्वेन कारणविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञातत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च समीहितस्यपन्यत्वेन कारणविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञातत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च समीहितस्यपन्यत्वेरम् । ''हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविद्यम् नामस्पे व्याकरवाणि'' (छा. ६. ३. २) इति, 'तिस्रो देवताः' इति सर्वमचिद्वस्तु निर्दिश्य तत्व स्वात्मकजीवानुप्रवेशेन नामस्पव्याकरणवचनात् सर्वे वाचकाः श्रव्दाः अभिज्ञीवविशिष्ट-परमात्मन एव वाचका इति कारणावस्यपरमात्मवाचिना श्रव्देन कार्यवाचिनः श्रव्दस्य सामानाधिकरण्यं सुस्यवृत्तम् । अतः स्यूलस्यम्मचद्वित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति प्रवेशात नामस्पव्याकरणं नामां च परमपुरुषपर्यन्तत्वं तत एव सामानाधिकरण्यसुस्यस्य स्विश्चास्ययन्यायेन चिद्विवदनुप्रवेशोक्तिरहितप्रकरणान्तरेष्विप नामस्पव्याकरणः वचनमेवं कारप्रवेशानिप्रविश्वभागान्तरेष्विप नामस्पव्याकरणः वचनमेवं विश्वस्य स्विश्वसामिप्रायप्रवेशकमेवेत्याह एवंभ्रतमेवेति ।

इत आरभ्य प्रागुक्तवोद्यानां क्रमेण परिहारः। <sup>1</sup>तथा हि — कारणविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञातस्व नाम कार्यशब्दिहस्य द्रव्यस्य कारणविज्ञानेन <sup>2</sup>विषयीक्चतस्य । पूर्वमासीनं देवदत्तं दृष्ट्या तमेव गच्छन्तमप्यवछोवय 'असौ पूर्वमेव दृष्टः' इति हि वदति । अतः कार्यावस्थायाः पूर्वमज्ञातस्वेऽिप नास्य व्यवहारस्यामुख्यस्वमित्यमिपायेणाह अतः कार्यावस्था इति । परपक्षे स्वेतदनुपपन्नतरमिति चान्भितम् । तथा हि — एकनिर्विशेषिज्ञानेन सर्वस्य ज्ञातस्विम्त्यित्र ज्ञातस्वमित्ये ज्ञातस्वमित्येत्र व्यवहारस्यामुख्यस्विश्वाद्याविश्वादेशेष्ठा सर्वस्य ज्ञातस्वमित्येत्र व्यवहार्यस्याविश्वाद्याविश्वादेशेष्ठा सर्वस्य ज्ञातस्वमित्येत्र व्यवहार्यस्याविश्वाद्याविश्वादेशेष्ठा सर्वस्य ज्ञातस्वमित्येत्र व्यवहार्यस्य विश्वाद्यामदूर्यविश्वकीणान्सस्य एवानुपवेशः । सर्वप्रमाणसंक्षोभस्यिकः । एवमेव पक्षान्तर्योरिष सूक्ष्याचिच्छक्तिवैशिष्ट्यस्य दुष्परिहरस्यत् विश्वयेश्वति । परपक्षे सामानाधिकरण्यस्य स्वर्धाणकस्य तैरेवाभ्युपगतमिति न किचित् तस्य वक्तव्यमिति कृत्वा स्वपद्ये तन्मुख्यस्य स्वप्यत्यत्यस्य समाहारमिभेत्याद तिस्रो देवता इति सर्वमाणसंत्रोभानकर्याः । स्वर्यानानमिप्यत्यत्व समाविष्ठस्य स्वर्यानानस्य सम्यद्यस्य स्वर्याच्यानस्य स्वर्याक्ष्यानस्य स्वर्याच्यानस्य सम्यद्यस्य समाविष्ठस्य स्वर्याचानस्य स्वर्यानस्य सम्यव्यवद्यस्य स्वर्यक्षानाः स्वर्यक्षेत्राः । स्वर्यक्षानानस्य युज्यत इत्यत्व इत्यत्व स्वर्यस्य स्वर्यत्व स्वर्यस्य स्वर्यन्तस्य युज्यत इत्यत्व स्वर्यः । स्वर्यन्ता अत्रान्ति व्यव्यवद्यस्य युज्यत इत्यत्व स्वराह्यस्य सम्यव्यव्यवद्यस्य स्वर्यस्य स्वर्यस्य स्वर्यस्य स्वर्यन्त स्वर्यस्य स्वर्यन्त स्वर्यस्य स्वर्यस्यस्य स्वर्यस्य स्वर्यस्य स्वर्य

<sup>1</sup> तथाहीति। तत्तद्भाष्यवाक्यावतारण व्याख्यानाभ्यां चोद्यपरिहारपरत्वं ज्ञाप्यत इत्यर्थः।

<sup>2</sup> अनेन कारणविक्षानजन्यं कार्यविक्षानम् , तद्विपयत्विमितं अर्थव्युदासः । बाततेति भूत-कालिनेद्देशोऽवधेयः । कार्यनिष्ठं बातत्वं कारणबानाधीनम् । कारणबानस्थैव कार्यविषयकत्वात् ।

व्रक्षोपादानं जगत् । स्वक्ष्मचिरचिद्रस्तुक्षरीरं व्रक्षेत काःणमिति जगतो व्रक्षोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेऽपि चिद्रचितोर्वक्षणश्च स्वभावासङ्करोऽप्यूपपन्नतरः । यथा गुक्ककृष्णरक्त तन्तुमंघानोपादानत्वेऽपि चिद्रपटस्स तत्तत्तन्तुप्रदेश एव श्रीक्वयादिसंबन्ध इति कार्यावस्थायामपि न सर्वत्र वर्णमङ्करः—तथा चिद्रचिदीश्वरसंघानोपादानत्वेऽपि जगतः कार्यावस्थायामपि मोक्तृत्वमोग्यत्वनियन्तृत्वाद्यसङ्करः । तन्तृनां पृथिकस्थितयोग्यानामेव पुरुषेन्छया कराचित् संहतानां कारणत्वं कार्यत्वं चः इह तु चिद्रचितोस्सर्वावस्थयोः परमपुरुष्य एव कारण कार्यं चः स एव सर्वदा सुर्वेशव्यावस्थ वदार्थन्वात् तत्प्रकारः परमपुरुष्य एव कारण कार्यं चः स एव सर्वदा सुर्वेशव्यावस्थ इति विशेषः । स्वभावमेदेस्तदसङ्करश्च तत्र चात्र च तुल्यः । एवं च सर्ति परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेऽपि स्वरूपान्यधामानामावाद्यकृतत्वसुप्यस्तरस्य । स्यूलावस्थस्य नामरूपविभागविभक्तस्य चिद्रच्तुनः आत्मतयाऽवस्थानात् कार्यत्वमप्यपपन्नम् । अवस्थान्तरापित्वेव हि कार्यता ।

सत्कार्यवादाविरोधश्च सिद्ध इत्यभिपाय: । उपादानावस्थायामैक्यापत्त्या प्रसक्तं स्वभावसंकरं परिहरति **सक्ष्मे**ति । बालस्य युवस्वापत्तौ बालशरीरस्य तद्मिमानिचेतनस्य च त्रथा स्वभावसंकरो नास्ति, तद्व-दवापीत्यभिषायेण संघातस्योपादानत्वेनेत्यक्तम् । एककारणारम्भातः कार्यदशायां प्रसक्तसंकरं निर-स्यति यथा शक्कोति । ननु शक्ककृष्णरक्ततन्तुपातस्य पटस्य न केनचिच्छक्केन कृष्णेन रक्तेन वा तन्तु-विशेषेण विशेषतस्सामानाधिकरण्यं दृश्यते : 'तन्तवः पट' इति त कथंचिदच्येत : अतोऽतापि प्रकृतिपुरुषेश्वररूपसङ्घातोपात्तस्य जगत ईश्वरेण विशेषतस्मामानाधिकरण्यं न स्यादित्यत्नाह तःतना मिति । अयमभिनायः-न सर्वेपकारसाधर्म्थमभिनेत्य तन्तुपटदृष्टान्तः ; अपि तु खरूपतोऽत्यन्तभिन्नानां संभ्य कार्यदशायामपि स्वभावासंकरमात्रमभिप्रेत्य । सामानाधिकरण्यं तु यत्न शब्दानामेकविशेष्यपर्य-वसानहे अभूतपकारपकारिभावोऽस्ति, तल स्यातः नान्यलेति विशेषः॥ कस्तर्हि अविशेष इत्यलोपजीन्यांश-माह स्वभावति । उपादानत्वेन कार्यभावेऽपि निर्विकारश्रत्यविरोधमाह एवंच सकीति । एवं विशिष्ट स्योपादानत्वात् सर्वेदैवासंकीर्णसमावत्वाचेत्यर्थः । निर्विकारश्रतिस्तु स्वरूपविषया, उपादानत्वकार्य-त्वश्रितिविशिष्टविषयेति नानयोः परस्परविरोधः । स्वरूपपरिणामपक्षे त निर्विकारश्रतेने कश्चिद्विषय इति भाव: । न हि वयं सरूपैकदेशेऽपि विकारं ब्रम इत्यभिनायेण उपपञ्चतरमित्युक्तम् । अविकृतस्य कार्यत्वमकारमाह स्थलावस्यस्येति । अत्मतयाऽवस्यानादिति । तदातनतत्त्रियमनधारणावस्था-विशोष एव हि कार्यत्वम् ; कार्यशब्दोऽल नामरूपव्याकरणस्य अन्तर्यामिपर्यन्तत्वश्रतेस्तत्पर्यन्त इति तस्य मुख्यत्विमिति भावः । तथाऽपि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन विशेषणस्यैव कार्यत्विमिति चौद्यं परिहरति अवस्थेति । विशेषणानामवस्थान्तरापत्तौ तदवस्थतत्तन्त्रियमन<sup>1</sup>विशिष्टत्वस्थलावस्थान्तरापन्तिविशेष्येऽप्यस्तीति भावः ।

नियमनेति । तत्त्त्स्थूलवस्तुनि कात्स्न्येन संवन्धी नियमनाई: ईश्वरधर्मञ्चानपरिणाम-विशेष: । स एव अनुप्रविश्येत्युक्तः । तद्वस्थञ्चानविशिष्टत्वमवस्थेत्यस्यिममतम् ।

निर्गुणवादाश्र परस्य ब्रझणो हेयगुणसंबन्धाभावादुपपद्यन्ते । "अवहतपाप्मा विज्ञरो विम्रत्युर्विशोको विज्ञिवत्सोऽपिपास." (छा. ८. १. ५) इति हेयगुणान् प्रतिपिष्य, "सत्य-कामस्सत्यसङ्करपः" इति कर्याणगुणगणान् विद्यक्षतीयं श्रुतिरेव अन्यत्न सामान्येनावगतं गुणिनिषेवं हेयगुणिवपं व्यवस्थापयति । "ज्ञानस्वरूपं ब्रझ" इति वादश्र सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेन्तिस्वरुपंप्रत्यनीककरुपाणगुणाकस्य ब्रझणः स्वरूपं ज्ञानकितिरूपणीयं स्वप्रकाशत्या ज्ञानस्वरूपं चेत्यस्युपगमादुपपन्नतरः । 'यस्सर्वज्ञः सर्ववित् (सु. १. १. १०), ''पवाऽस्य शक्ति-विविधेव श्रुपते स्वाभाविक् ज्ञानवरुक्तिया च" (श्रे. ६. ८), ''विज्ञातास्मरे केन विज्ञानीयात्" (सृ ४. ४. १४) इत्यादिकाः ज्ञात्यमावेदयन्ति । ''सत्यं ज्ञानम्'' (आ. १) इत्यादिकाश्र ज्ञानकितिरूपणीयत्या स्वप्रकाशत्या च ज्ञानस्वरूपताम् ।

''सोऽकामयत बहु स्थावृ'' (आ), ''तदैक्षत बहु स्थावृ'' (छा. ६. २. ३), ''तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत'' (बृ. ३. ४. ७) इति बर्बव स्वसङ्करणात् विचित्र स्थरत्नसरूपराया नानापकारमवस्थितमिति तन्त्रस्थनीकात्रशारमकवस्तुनानारवमतत्त्व-मिति प्रतिषिध्यते, ''मुत्योः स मृत्यूम् मोति य इह नानेव पञ्यति...नेह नानास्ति किञ्चन'' (क. ४. १०), ''यत्न हि द्वैतमिव मर्वात तदितर इतरं पञ्चात । यत्र त्वस्य सर्वमार्त्मवाभृत् तन्केन क पश्येत्' (इ. ४. ४. १४) क्त्यादिना । न पुनः, ''बहु स्यां प्रजायेप'' (अ. ६; छा. २. ३) इत्यादिश्चतिसद्धं स्वसङ्कल्पकृतं त्रक्षणो नानानामरूप-भाक्तवेन नानाप्रकारत्वमपि निपिध्यते । "पत्र त्वस्य सर्वमारमैवाभृत" (इ. ६. ५. १५) इति निषेधवाक्यारमभे च तत् स्थापितम् ; 'सर्वं तं परादात् योऽन्यत्राऽऽत्मनस्यवं वेदं'' (ह. ४. उत्सर्गापवादन्यायेन सगुणश्रुत्यविरोधाय निर्गुणवादानां विषयं व्यवस्थापयति निर्गणवादा-श्चेति । एवं न्यवस्थापितं विषयभेदमेकसिस्त्रेव वाक्ये श्रुतिरेव दशयतीत्याह अपहतेति । अव-धारणेन न्यायनैरपेक्ष्यं सुचितम् । आर्थगुणनिषेधं परिहरति ज्ञानस्वरूपामिति । सर्वज्ञस्य सर्वभक्तेरिः त्यादिकं श्रुत्यन्तरसिद्धाविरोधार्थम् । ज्ञानैकिनरूपणीयमिति । खरूपनिरूपणधर्मशब्दा हि धर्ममुखेन धर्मिणमपि प्रतिपादयन्तीति भावः। स्वितं च, "तद्गुजसारत्वातु तद्यपदेशः प्राज्ञवत् ", "यावदात्म-भावित्वाच न दोषस्तद्वर्शनात् '' (ब्र. २. ३. २९, ३०) इति । अनुक्तस्युचयार्थेन सौत्रचकारेण द्योतितं बुत्त्यन्तरमभिषेत्याह स्वप्रकाञ्चतया ज्ञानस्वरूपं चेति । धर्ममृतज्ञानवत् ज्ञानशब्दपवृत्तिनि-मित्तयोगोऽप्यस्तीति भावः । निर्विशेषवादिनो ज्ञातृत्वं परित्यजन्ति : वैशेषिकादयस्त ज्ञानत्वम : उभ-येषामपि श्रतिविरोधमिभिष्य स्वपक्षे तदानुगुण्यमाह यस्वर्ज्ञ इति ।

भेदिनिषेषकवाक्यानां भेदिविषायकवाक्या-रिट्सं िष्यमाह हो ऽशस्यतेति । ब्रह्मगुणिवसृति रूपभेदस्य विहितत्वात् तिविषयो न शक्य इति भावः । पराभिगतं श्रुतिविरोधेन पतिक्षियति न पुनिरिति । 'यत्र त्वस्य' इत्यादेरब्रह्मात्मकवानास्विनिषेषे तात्पवै श्रुत्वेव द्युक्तितयाह (न्षेववाक्यासम्भ इति । अन्यशोपक्रमिविरोध इति भावः । तत् स्थापितिमिति । बहु स्थामित्यादिश्रुत्यन्तरसिद्धं वक्ष्यमाणिति-

४.६), "तस्य [इ वा] एतस्य महतो भृतस्य निश्चमितमेतत् यदृग्वेदः" (सुवा. २) इत्यादिना ।

एवं चिद्रचिद्रीश्वराणां स्वरूपमेदं स्वभावमेदं च वदन्तीनां कार्यकारणमावं कार्यकारणः
योरनन्यस्व वदन्तीनां च सर्वासां श्रुतीनामिवरोधः, चिद्रचितोः परमात्मनश्च मवद्रा श्रुरीरात्ममावं श्रुरीरभृतयोः कारणद्शायां नामरूपविभागानद्देष्ट्रस्पद्शापत्ति कार्यद्शायां च तद्रहस्यूळद्शायत्ति वदन्तीभिः श्रुतिमिरेव झायत इति ब्रह्माझानवादस्य औषाधिक-ब्रह्ममेद्वादस्य अन्यस्यापि अपन्यायमृतस्य सक्तत्रश्रुतिविरुद्धस्य न कथंचिद्रप्यवकाशो दृश्यत इत्यत्नमितिक्तरेणः

तत् क्षेत्रं यद्य यादक्च यद्धिकारि यतस्य यत्। सःच यो यत्मभावश्च तत् समासेन मे श्रणु ॥३ तत् क्षेत्रं यच — यत् द्रव्यम् , यादक् च येपामाश्रयभृतम् , यद्विकारि ये चास्य विकाराः, यतश्च — यतो हेतोरिदमुत्वनम् ; यम्मै प्रयोजनायोत्यकामस्यर्थं , यत् — यन्स्वरूपं चेदम् , सःच यः — सःच क्षेत्रज्ञो यः यत्स्वरूपः , यत्मभावश्च ये चास्य प्रभावाः , तत् सर्वम् , समासेन संक्षेपेण मत्तः श्रणु ॥ ३ ॥

षेधानःस्कन्दितत्वेनासंजात्विरोधदशायां स्थःपितमित्यर्थः ।

अथ खपक्षे सर्वप्रकाराविरोधं परपक्षेषु च सर्वप्रकारियरोधं श्रुतहानाश्रुतकरूपनादिरूपं संग्रहेण बदन् उपसंहरति एविमिति । श्रुतिमिरेवेति । न्यायेऽपि नात्यन्तापेक्षा, स्फुटतरत्वादस्यार्थस्वेति भावः । अन्यस्यापीति यादवप्रकाशनैयायिकाद्यभिमतयोजनासंग्रहः । अपन्यायमूलस्य सक्तलश्रुति-विरुद्धस्येत्युमयं ब्रह्माज्ञानवादादिषु सर्वेषु नेतन्यम् ॥ २ ॥

ष्रुण्वत एवार्जुनस्य पुनः शृष्विति अवधानार्थमुच्यते तरक्षेत्रमिति । महाभुतानि (५) इत्युक्तस्य संघातः (६) इत्यन्तवक्ष्यमाणपरामर्शात् आधन्तौ यच्छव्दौ जडद्रव्यतरसंघातविषयावित्यपुनरुक्तिरित्यभिप्तायेणाह् यत् द्रव्यमिति । वक्ष्यमाणिन्द्र्याद्याश्रयत्वानुसारेण याद्यक्छव्दार्थमाह येपामान्ध्रयभूतमिति । ये विकारा अस्य कार्यत्या सन्ति, तत् यद्विकाि ; तत्र यच्छव्दिनिर्दिष्टे तात्पर्थमिति प्रकाशनाय ये चास्य विकारा इत्युक्तम् । यतः इति नोपादानादिपरम् , प्रथमं तदुक्तिरित्यभिप्रायेणाह् यतो हेतोरिति । चेतनाष्ट्रतिः (६) इति वक्ष्यमाणं हेत्रुविशेषमाह यस्मै प्रयोजनायेति । क्षेत्रकर्त्रीश्रसस्य धीस्थतया प्रयोजनमिति हेत्रः ; प्रयुज्यते च, अध्ययनेन वसतीति । यत्सकर्त्याति संघातपरम् । सन्तिवेशविशोषो हि शरीरत्वादि ; अतः प्रथमयच्छव्दो जडाजडद्रव्यविशेषनिर्घारणार्थः ; द्वितीयस्तु जडत्विन्धये जडद्रव्येव्वनेकेष्वन्यतमात्मकत्वसंघातात्मकत्वनिश्रयार्थे इति मावः । मामिति (२) परमात्मनोऽपि प्रसङ्गात् तत्परामरीश्रमस्युदासायाह् स च क्षेत्रज्ञ इति । यः यत्प्रमादः इत्युमाभ्यां खरूपप्रकारयोनिर्देशः । प्रभावाः—आधर्यम्ताः प्रकृष्टाः स्वभावविशेषाः ॥ ३ ॥

<sup>1</sup> यश्चेत्यायुक्त सर्वयच्छव्दार्थविवरणं क्रमेण 'महाभूतानी'ति श्लोके द्रष्टव्यम् । तत्र संघात-श्लेतनाधृतिरित्यत्र चेतनाधृतिरूपस्य विशेष्णस्य विशेष्यात् पूर्वं योजना । अतः यत इत्येतद्विवरणं विशेषणपदेन ; यदित्यस्य च संघातपदेन ।

ऋषिभिर्वहुवा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् । ब्रह्मसूब्रवहैश्चेव हेतुमिह्निर्विविश्चितेः ॥ ४ ॥ तिदंदं क्षेत्रक्षेत्रत्वझारम् मृतेहृद्धाम पार्थिव । गुणप्रवाह्यतितो भृतवगोऽपि यात्ययम् ॥ कर्मवश्या गुणा होते सत्त्वाद्याः पृथिवीयते । अविद्यासश्चितं कर्म तवाद्योगेषु जन्तुषु ॥ आत्मा शुद्धोऽश्चरक्षान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः ॥" (जि. २. १३. ७१); तथा, "पिण्डः पृथक् यतः पुंषः शिरःपाण्यादिस्रक्षणः । ततोऽहमिति क्रुतेतां संज्ञां राजन् करोभ्यहम्। (वि. २. १३. ८९); तथा च, "कि न्वमेतिष्ठिरः कि तु उरस्तव तथोदरम् । किष्टु पादादिकं त्वं वै तवैतत् कि महीयते ॥ समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथक् भृय व्यवस्थितः । कोऽहमि-त्येव निषुणो भृत्वा चिन्तय पार्थिव ॥" (वि. २. १३. १०३) इति । एवं विविक्तयोद्वैयोः

स्वेनोपदिश्यमानस्यार्थस्येतिहासपुराणमीमांसानुगृहीतानेकश्रतिसद्धत्वमाह ऋषिभिरिति स्रो-केत । विद्यादीपबंहणवाक्यानसारेण अविद्यादवेदवाक्यार्थनिश्चयाय प्रथममृशिमिगीतत्वोक्तिः । राजस-तामसोपुबंहण्ड्यवच्छेदाय ऋषिशब्दोक्तान विशिनष्टि पराञ्चरादिभिरिति। बहुप्रकार्गमिति। अर्थै(र्थस्य) करवेऽपि वचनव्यक्तौ रथचक्रनाभ्या(नद्या)दिकरुपनाप्रकारभेदः । यद्वा संक्षेपविस्तरादिरूपेणेत्यर्थः । अवि-विक्तदेहात्मख्रूष्यस्य राज्ञो बाह्यबाह्कत्वोक्तिप्रतिक्षेपार्थं वाक्यम् अह त्वं चेति । अध्यात्मगन्धिवाक्य-अवणमलस्य कस्त्वमिति प्रश्नस्योत्तरं पिण्ड इति । शिरःपाण्यादिलक्षणः इत्यनेन क्रत्सैकदेशचेतन-त्विवकल्यो द्योतित: । प्रतिपादितार्थस्य श्रोतर्यपि स्वपत्ययेन दृढीकरणार्थं वाक्यं **कि त्व**मिति । एवम इदं श्रीसमिति श्लोकेनोक्तस्य संवादकमुपातम् । ननु 'द्वा सुपर्णा' (मु. ३. १. १) इति मन्त्रे, 'तयोरन्थ: पिष्पलं खाद्वति इति कर्मफलभोक्ता जीव उच्यते, 'अनक्षलन्यो अभिचाकशीति' इति परमात्मेति शारीरके, ''गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्'' (१. २ ११), ''स्थित्यदनाभ्यां च" (१, ३,६) इत्यादिष् प्रपश्चितम् । <sup>1</sup>पैङ्गिरहस्यत्राह्मणे तु. "तयोरन्यः पिप्परुं खाद्वतीति सत्त्वम्' इति जन्त्वाचिना सत्त्वशब्देन जीवमिधाय, "अनश्रक्तस्यो अभिचाकशीति अनश्रक्षस्यो अभिपद्दयतीति क्षेत्रज्ञः, द्वा(ता)वेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ । तदेतत् सत्त्वं येन खप्नं पदयति अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः" इति <sup>2</sup>क्षेत्रज्ञशब्देन परमात्मानमेवाभिषते । तावेवात क्षेत्रज्ञोपद्रष्टशब्दौ प्रत्यभि-ज्ञायेते, 'तं प्राहु: क्षेत्रज्ञः' (१३.१) इति, 'उपद्रष्टाऽनुमन्ता' (२२) इति च । **मनुश्च** भोऽस्याऽऽत्मनः कार्यित। तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति त कर्माणि स मृतासोच्यते वधैः ॥' (१२ १२) इति क्षेत्रज्ञशब्देन परमात्मानमाह । अतः कथमत क्षेत्रज्ञो जीव इत्युच्यत इति शङ्कामर्थात परिहरन . 'क्षेत्रजं चापि मां विद्धि' इत्यस्य संवादकं तस्य स्वोक्तार्थान् गुण्यं सूचयन् अवतारयति एवं विविक्तयो

<sup>।</sup> पेङ्गीत । उक्तशारीरकार्थानुरोधेनेति पदमादौ पूरणीयम् । तुशब्दः, सस्वशब्दो नुद्धि-परः, क्षेत्रज्ञशब्दो जीवपर पवेति शाकररीतिशंकाव्यानुस्पर्थः। 2. इति क्षेत्रज्ञशब्देनेत्यत्न इतीतिपदस्य इति वाक्यमित्यर्थः । तदेव अभिधत्त इत्यस्य कर्त्त ।

वासुदेवात्मकत्वं चाहुः, ''इन्द्रियाणि मनो बुद्धिस्सन्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ॥'' (वि. स) इति । छन्दोभिर्विविधैः पृथक्-पृथिग्वधैश्छन्दोभिश्च ऋग्यज्ञ-स्सामाथवीभः देहात्मनोः खरूपं पृथम्गीतम् - ''तसाद्वा एनस्मादात्मन आकाशस्संभृतः । आकाशाद्वायुः । वायोरितः । अग्नेशपः । अद्भवः पृथिवी । पृथिव्या ओपचयः । ओपधीरयोऽ नम् । अनात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्तरसमयः" (आ. १) इति शरीरस्वरूपमभिधाय तसादन्तरं प्राणमयं तस्माचान्तरं मनोमयमभिधाय, ''तसादा एतसान्मनोमयात अन्योऽ न्तर आत्मा विज्ञानमयः" इति क्षेत्रज्ञखरूपमिधायः "तसाद्वा एतसाद्विज्ञानमयात् अन्योऽ-न्तर आत्माऽऽनन्दमयः'' इति क्षेत्रज्ञस्याध्यन्तरात्मतया आनन्दमयः परमात्माऽभिहितः । एवस्क्सामाथर्वसु च तत्रतत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः पृथग्भावस्तयोर्ज्ञात्मकत्वं च सस्पष्टं गीतम । ब्रह्मसुलपदेश्चैव — ब्रह्मप्रतिपादनसूत्रारूपैः पदैः शारीरकस्त्रैः, हेतुमद्भिः हेत्रपुक्तेः, विनिश्चितैः निर्णयान्तैः ; "न वियद्श्रुतेः" (२.३.१) इत्यारभ्य क्षेत्रप्रकारनिर्णय उक्तः। "नात्मा रिति । तथा च क्षेत्रज्ञशब्दस्य जीवेऽपि प्रयोगदर्शनात् क्षेत्रज्ञो जीव इत्यपपद्यते । प्रत्येकं समुदायेन वा ममेदं शिरः, ममेमौ पाणी, ममेदं शरीरमिति क्षेत्रवेदितृत्वाज्जीवस्य क्षेत्रज्ञत्वम् ; परमात्मनस्तु, इदं शरीरमेतत्कर्मारम्भायैतत्कर्मफळमोगायेत्यादिक्षेत्रयाथात्म्यवेदितृत्वेन । एतच एत्द्वयवश्रसंघात-रूपेण च. इदमहं वेद्यीति यो वेत्तीति भाष्येण, 'थोऽस्यात्मन: कार्याता' इति मनुवचनेन च ज्ञापितम् । एवमुपद्रष्ट्रत्वमपि जीवस्य स्वशरीरमातं प्रति, परमात्मनस्तु सर्वचेतनाचेतनान् प्रतीति उभयोरप्यु-पद्रष्टत्वमविरुद्धम् । अतो न कस्यापि प्रमाणस्य विरोध इति भावः । स्वरूपवैविध्यस्य छन्दोभिरिति बहुवचनेनैव लाभाव विविधशब्द: प्रकृतप्रतिपाद्यप्रकारवैविध्यपर इत्यभिप्रायेणाह प्रथिवधैरिति । पृथग्मृताः विधाः प्रतिपाद्यप्रकारा येषामिति विग्रहः। (१) "आज्ञायरुळन्दसां दण्डः" (....) इत्यादि-प्रयोगानुसारेण **छन्द**श्रब्दो वेदपरः, न तु गायञ्यादिपर इत्यभिप्रयन् आह ऋग्यज्ञरिति । पृथक्छन्दस्य ऋषिभिरुक्तातप्रथनत्वपरत्वअभवयुद्दासायाध्याहारानुषङ्गाभ्यां योजयति देहातमनोः स्वरूपं प्रथमाति-मिति । परस्परविरुक्षणं गीतमित्वर्थः । "तत् यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता, नाभावरा अर्पिताः, एवमेवैता मृतमालाः प्रज्ञामालाखर्पिताः, प्रज्ञामालाः पाणेऽर्पिताः" (कौ. ३. ९), "एष म आत्माऽन्तर्हृदये.... एतमित: पेत्याभिसंभिवतास्मि" (छा. ३. १४. ४), "दिच्यो ह्यमूर्त: पुरुष: स बाह्याभ्यन्तरो ह्यज: । अपाणो ह्यमनाश्चाओ ह्यासरात्परतः परः" (मु. २. १. २), "स कारणं करणाधिपाधिपः" (श्वे. ६. ९), "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" (श्वे. १.९) इत्यादिकमभिष्रेत्याह एवमुक्सामाथविस्तित । ब्रह्मसुत्रेत्यत छप्तपष्टचर्थः संबन्धः प्रतिपादकत्वमित्यमिषेत्य स्रतपदंरित्यत षष्टीसमासभ्रमं वारयति ब्रम्मप्रतिपादनस्त्राख्यैः पदैरिति । फलितमाह शारीमकस्त्रीरिति । हेत्युक्तै-रिति हेत्प्रतिपादकैरित्यर्थः । कर्मणि काश्रयणे प्रयोजनामावात विशेषःो निश्चितं येषामिति मावे कं बहुत्रीहिं चामिप्रेत्याह निर्णयान्तैरिति । निर्णयफलकैरित्यर्थः । न वि**यदश्रतेरित्यारम्ये**त्यनेन

नुतेर्नित्यत्वाच ताभ्याः" (२. ३.१८) इत्यास्म्य ["ज्ञोऽत एव" (२. ३.१९) इत्यादिभिः] क्षेत्रज्ञयाथात्म्यनिर्णय उक्तः । "पराचु तच्छुतेः" (२. ३.४०) इति भगवत्प्रवत्यत्वेन भगव-दात्मकत्वम्रक्तम् । एवं बहुधा गीतं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं मया संक्षेपेण सुस्पष्टमुच्यमानं शृष्वित्यर्थः ॥ ४ ॥

√महाभृतान्यहहारो वृद्धिरव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकं च पश्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ इच्छा द्वेपः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः । एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारसदाहृतस् ॥ ६ र्महामृतान्यहंकारो बुद्धिरचयक्तमेव चेति क्षेत्रासम्भकद्भव्याणि: पृथ्विच्यमेजीवाय्वाकाश्चाः महाभुतानि, अहंकारो भुतादिः, बुद्धिः महान् , अव्यक्तं प्रकृतिः ; इन्द्रियाणि दशैकं च पश्च चेन्द्रिय-"अस्ति तु" (शा. २. ३. २) इत्यादिकं सुत्रषट्कम् , "एतेन मातिरिधा व्याख्यातः" (शा. २. ३. ८), ''तेजोऽतस्तथा ह्याह'' (१०), ''आपः'' (११), ''पृथिवी'' (१२) इति स्लचतुष्टयं च विवक्षितम् । उक्त इति । अनेनाकाञ्चादीनामुत्पत्तिकथनेन तत्संघातात्मकक्षेत्रयाथात्म्यमुक्तप्रायमिति भावः । नात्मा श्रुतेरित्यारभ्येत्यनेन, "जोऽत एव" (२. ३. १९), "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् , खात्मना चोत्तरयो:, -नाणुरतच्छ्तेरिति चेन्नेतराधिकारात् , स्वशब्दोन्मानाभ्यां च, अविरोधश्चन्दनवत् , अवस्थितिवैशेष्या-दिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि, गुणाद्वाऽऽलोकवत् , व्यतिरेको गन्धवत् तथा च दर्शयति, पृथगुपदेशात् , तद्गुणसारत्वातु तद्यपदेशः शाज्ञवत् , यावदारमभावित्वाच न दोषस्तद्दर्शनात् , पुस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिन्यक्तियोगात् , नित्योपळव्यनुपळव्यिष्रसङ्गोऽन्यतर्नियमो वाऽन्यथा. कर्ता ज्ञास्त्रार्थवत्त्वात . उपादानाद्विहारोपदेशाच, व्यपदेशाच क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः. उपलब्धिवदनियमः. ज्ञक्ति विपर्ययात्, समाध्यमावाच, यथा च तक्षोभयधा, परातु तच्छ्तेः" (४०) इत्यन्तं सूत्रजातमभिषेतम् । इत्यारभ्य जोऽत एवेत्यादिभिरिति पाठे तु आदिशब्दे नैतत् विवक्षितम् । भगवरप्रवर्श्यत्वेनेति । चेतनं प्रति नियमेन नियाम्यद्रव्यत्वस्य शरीरळक्षणत्वादिति भावः। श्रत्यादिभिः प्रतिपादि उस्यैव क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यस्य ज्ञातुं शक्यत्वात् त्वतः किमर्थं श्रोतव्यमित्याशङ्कापरिहाराय पूर्वोक्तं तत्समासेन मे भूण (३) इत्येतद्व संगमय्य तत्तात्पर्यमाह एवं वहुधा गीतिमत्यादि । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथातम्यस्य श्रत्यादिभिरतिविस्तरेण बहुचा गीतत्वात् किंचिज्ज्ञेन स्पष्टमवगन्तुमशक्यत्वात् सर्वज्ञेन मया संक्षेपेण सस्पष्टमुच्यमानं तत् श्रोतव्यमिति भावः ॥ ४ ॥

र्तित्सेत्रं यस यादक्येत्यादौ यसित प्रतिज्ञातस्य महाभृतान्यहंकारो वृद्धिस्यक्रमेव चेत्येतत् प्रतिपादकमित्यमिपायेणाह महाभृतानीत्यारभ्य इति क्षेतारम्भक्रद्रव्याणीति । भृतशब्दस्य सशरीरचेतनादाचिप प्रयोगात् तद्धमन्धुदासाय प्रकृतोपयुक्तमर्थमाह पृथिव्यप्तेज इति । अहंकारशब्दस्य लिविधाहंकार्वाचित्वेऽपि सान्तिकाहंकारस्येन्द्रियारम्भकत्वात् राजसस्योभयानुप्राहकत्वात् तामसपर-त्वमाह अहंकार इति । बुद्धिशब्दस्याध्यवसायपरत्वभ्रमन्युदासायाह बुद्धिमहानित । अध्यक्तशब्दस्य 'अव्यक्तमक्षेरं लीयते' (सु. २) इरयुक्ताब्यकपरत्वे तत्कारणगपि वक्तव्यं स्यादित्यमिपयंसत्द्व्याच्छे अव्यक्तं

गोचरा इति क्षेताश्रितानि तस्वानि; श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्न । । एकमिति मनाः ; इन्द्रियगोचराश्र पञ्च स्वयं । इच्छ। द्वेषस्यतं तानि दश्च, एकमिति मनाः ; इन्द्रियगोचराश्र पञ्च शब्दस्पर्शरू एकमिति मनाः ; इन्द्रियगोचराश्र पञ्च शब्दस्पर्शरू एकमिति स्वतं स्वयं । उच्यन्ते ; यद्यपीच्छाद्वेषसु खदुः स्वान्यारमधर्भभूतानि, तथाऽप्यारमनः क्षेत्रसंवन्धप्रयुक्तानीति क्षेत्रकायं प्रकृतिरिति । इन्द्रियाणि दश्चेकं चेत्यादिकं याद्वक्चेति शित्रज्ञातस्य प्रतिपादकमित्यभिप्रायेणाह इन्द्रियाणि दश्चेत्यारभ्य इति क्षेत्राश्चितानि तक्ष्वानीति । इन्द्रियाणामेकादशत्वव्यक्तीकरणाय, तद्गेचरा इत्युक्तपञ्चसं स्थास्पष्टीकरणाय च "त्ववचक्षुर्नासिका जिह्ना श्रोत्मत्व च पश्चमम् । शब्दादीनामवासग्रयं बुद्धियुक्तानि वै (च) द्विज्ञ । पायुपंश्यो करौ पादौ वाक् च मैत्रेय पश्चमी । विसर्गशित्यन्य गत्यक्ति कर्म तेषां च कथ्यते । एकादशं मनश्चात्र" (वि. १. २. १८, १९) इति पराशरोकत्यनुसारेण तानि इन्द्रियार्थश्च विशेषतः कथ्यति श्रोत्रत्वित्यादिना । इच्छाद्वेषस्य दुःस्वमित्येतत् यद्विकारीत्युक्तस्य प्रतिपादकमित्याश्चयेना इच्छा द्वेष इति । इच्छादीनां मृतसङ्घातरूपक्चेतपरिणामत्वामावेन कथं क्षेत्रविकारत्वम् , प्रत्युत आत्मधर्मभूतज्ञानिकारत्वमेत्व्याश्चेन शक्कते यद्यपीति । तेषां क्षेत्रविकारत्वव्यपदेश औपचारिक इत्याशयेन परिहरित तथापीति । क्षेत्रासाधारणकार्यत्वपुत्वारिनित्ति भावः ।

## (मनोबृतिषु कामादिशव्यानामौपचारिकत्वस्थापनम् )

ननु कथमिच्छादीनां धर्मभूतज्ञानविकारत्वम् , 'कामस्सङ्करपः' (इ. ३. ५ ३) इत्यादिना तेषां मनोविकारत्वश्रवणात् । 'पञ्चन्नतिनेवत् व्यपदिश्यते' (२. ४. ११) इति सूत्रभाष्ये, ''न कामादिकं मनसत्तत्त्वान्तरम्'' इति माधितत्वाचेत्यत आह तेषामिति । न चाश्रयत्व-मन्तरेण हेतुत्वमस्त्विति वाच्यम् , ''कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रक्रतिरुच्यते'' (गी १३. २०) इति पूर्ववावये क्रियाश्रयत्वरुपत्वं पति प्रकृतेराश्रयत्वेन हेतुःवोक्त्या तद्वेह्रप्त्यापत्वेः । न च अन्तःकरणावच्छिन्नचेतन्यरूपत्वे पति प्रकृतेराश्रयत्वेन हेतुःवोक्त्या तद्वेह्रप्त्यापत्वेः । न च अन्तःकरणावच्छिन्नचेतन्यरूपत्वेत्य पुरुषश्चवदेन विवक्षितत्वात् , 'कामस्संकरुपः' इत्यादिश्रत्यन् सरोण योग्यतयाऽन्तःकरणस्य तद्वाश्रयत्वपरमेव 'पुरुषस्युखदुःखानाम्' (१३. २०) इति वाक्यमिति वाच्यम् ; देहादिवत् अन्तःकरणस्यापि प्रकृतिपरिणामत्वेन कार्यकरणकर्तृत्वे, प्रखदुःखानां मोकृत्वे च हेतुः प्रकृतिरुच्यत इत्येवोवत्यापतेः ॥ चैतन्यसंवन्धपयुक्तं मोकृत्वाश्रयत्वमिति 'पुरुषस्युखदुःखानाम्' इस्युक्तिरिति वेत् , कर्नृत्वाश्रयत्वमिति तत्त्वम्धयत्वमिति तत्नापि तथोक्तिः स्थात् । न चैवं 'कामसंकरुपः' इति श्रुतेः 'पञ्चनृतिमेनोवद्यविद्वयते' (२. ४. ११) इति सृत्वमाष्यस्य च कथमुप्पत्तिति वाच्यम् , कामसंकरुपादिशब्द्वाच्यधमित्रत्वानापरिणामहेतुस्त्वनोन्नवित्तानि तत्कार्थवाचिश्रवेन तत्ति। मनस्तत्त्वान्तरत्वामावप्रतिवाच्यत्वः । ननूम्यसंप्रतिपन्नमनोवृत्तीनां तत्कार्थवाचिश्रवेन। मनसस्तत्त्वान्तरत्वमावविवन्तरत्वानावप्रतिवाचाव्यवेः । ननूमयसंप्रतिपन्नमनोवृत्तीनिरेव तत्त

<sup>1</sup> विकारपद्मयोगः यद्विकारीत्येतद्यास्यानिमक्षिति झापनाय । 2 उक्तीति समा-हारैकवङ्गावः । विसर्गः पायुपस्थयोः कार्यम् , दिल्पं करयोः, गतिः पादयोः, उक्तिवीचः ।

तया क्षेत्रविकारा उच्यन्ते । तेषां पुरुषधर्मत्वम् , 'पुरुषस्मुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते' (२०) इति वक्ष्यते ; संघातरचेतना धितः । आधितः आधारः (सुखदुःखे सुङ्गानस्य भोगाः

लामीभिः<sup>2</sup> सर्वकार्योपपत्ती कामादिशब्दवाच्यधर्मभतज्ञानपरिणामकरपने प्रमाणभावात कामादि शब्दानां मनोवृत्तिषु लाक्षणिकत्वमनु १पन्नमिति चेन्न : 'सोडकामयत' (आ. ६.) 'अथ परुषो ह वै नारायणोऽकामयत' (ना. उ.) इति स्थाने 'तदैक्षत' (धा. ६ २.३) 'स ईक्षांचके (प्र. ६.३) इत्यन्तः करणरहितजगत्कारणाश्रितज्ञानविशेषवाचीक्षतिशब्दपाठात् , 'स तपोऽतप्यत' (आ. ६) इति तत्स्थानपठिततपञ्जान्दस्य 'यस्य ज्ञानमयं तपः' (म. १. १. ९) इति ज्ञानशन्देन न्यारूयानात् , 'स यदि पित्रहोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरस्समुत्तिष्ठन्ति' (छा. ८. २. १) इति मुक्ताश्रितत्वेन कामसंकल्पयोः श्रवणातः . सुख्तवापरपर्यायानन्दत्वस्य 'रसं होवायं स्टब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (आ. ७), 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान ' (आ. ८) इत्यादिषु. 'अनुकुरुज्ञानमेव ह्यानन्दः' इति **भाष्यकृदक्तरी**त्या मुक्तज्ञक्षसंबन्धिज्ञानवृत्तित्वश्रवणात , ''निरस्तातिशयाह्वाद ध्खमावैकलक्षणा । भेषजं भगवत्पातिरेका-न्तात्यन्तिकी मता'' (वि. ५. ६. ५९) इति भगवदन्तभवरूपभगवरपाप्तेस्यखरूपत्वसम्रतेश्च काम-संकल्पसंखादीनां ज्ञानावस्थाविद्रोषस्वस्य अवस्याभ्यपगमनीयस्वातः । मनोवृत्तीनाम<sup>3</sup>ज्ञानस्वेनान्याधीन-अनस्याधीनप्रकाशस्यादिरुप्रप्रवयापकनियन्त्या व्याप्यमतार्थान्तरप्रकाशादिहेत्त्वासंभवेन ज्ञानावस्थाविज्ञेषानुङ्गीकारे विषयपकाश्चयवहारादेरनुपपत्तेः स्वपकाशज्ञानावस्थाविशेषाणामावश्यकत्वात् । अनेकशक्तिकरुपने गौरवेण कामसंकरुपादिशब्दानां दृतिषु लाक्षणिकत्वस्य <sup>4</sup>न्याय्यत्वाच । न च वृत्तीनां चैतन्यसंबन्धेन विषयप्रकाञादिसमर्थत्वमिति वाच्यम् : निर्विशेषचैतन्यस्य सर्वविषयविसुखस्य विषयभकाशाद्ययोग्यत्वेन तत्सहायस्य 'शतमप्यन्धानां न पश्यति' इति न्यायेन विषयपकाशादि-सामर्थ्यानापादकरवात् । निर्विशेषवैतन्यस्य तद्योग्यस्वे तेनैव प्रकाशाद्यपपत्तौ वृत्त्यवच्छेदकरपना निष्फला स्यात् । न च संसारदशायां संकुचितस्य तस्य विषयःयवस्थौ(स्थित्यौ)पियकतया साफल्य-मिति वाच्यमः तस्य संकोचाङ्गीकारे निर्विकारत्वादिप्रतिपादकश्रत्यादिविरोधातः । चक्षरादिवृत्तिभिरेव विषयःयवस्थोपपतेश्च । धर्ममतज्ञानस्य च विकारोऽङ्गीकृत एवेति न किंचिद्नुपपन्नमसाकमिति । एतत

चेतनाधृतिरिति पदद्वयं कृतं शाङ्करे । तदा इच्छादिचत् वृत्तिरूपत्वात् मध्ये संघातपदायोग इति संघातिवशेषणतया योजितमात्मिस्द्वौ । परंतु तत्व चेतनया ध्रियत इति चेतनाधृतिरित्युक्तम् । अत्व चेतनस्याऽऽधृतिरित्युक्तमिति ईपक्रेदः । सर्वथा यत इत्येतद्व्याख्यारूपं सत्
प्रयोजनप्रदर्शीत्युभयेष्टं भाव्यम् । समस्तपदत्वद्वाद्वयीय भाष्ये एवमुक्तिः । आधृतिरित्यत्व
आङ्कपरस्तेष्यमिद्धमप्याधारपदेन दर्शयिति । ८ संप्रतिपन्नेति । कामः संकल्पो विचिकित्सेत्यादिध्रत्या, मनोवद्व्यपदिस्यत इति स्ववर्टाञ्चेवम् । 3 अञ्चानत्वेन—ज्ञानभिन्नत्वेन ।

<sup>4</sup> अप्रत्यक्षाणां मनोव्यापाराणां वैलक्षण्यस्य कामादिकार्यमुखेनैव निरूप्यतया कामादिकप-प्रत्यक्षश्चानावस्थामुखेन तदुक्तिरिति लक्षणैवेति भावः।

पनमीं साधयतश्च चेतनस्थाधाग्तयोत्वज्ञो भृतसंघातः । प्रक्रत्यादिष्ट्रथिव्यन्तद्रव्यास्व्य-मिन्द्रियाश्रयभृतमिच्छाद्वेषश्चखदुःस्वविकारि भृतसंघातरूपं चेतनसुखदुःस्वोपभोगाधारस्व-प्रयोजनं क्षेत्रमित्युक्तं भवति पत्ति क्षेत्रं समासेन संक्षेपेण सविकारं सकार्यक्षदाहृतम् ॥५ ६

अथ क्षेत्रकार्येष्वात्मंज्ञानसाधनतयोपादेया गुणाः प्रोच्यन्ते ---

अमानित्वमद्भिन्त्वमहिसा क्षान्तिराज्ञवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।

भूक्षमानित्वम् उत्कृष्टजनेष्ववधीरणारहितत्वम् ; अदम्मित्वम् - धार्मिकत्वयशः प्रयोजनतया

धर्मानुष्ठानं दन्मः, तद्रहितत्त्रम् ; अहिसा वृद्धमनःकायः परपीड । रहिनत्वम् ; क्षानिः

परैः पीड्यमानस्थापि तान् प्रांत अविकृतचित्तत्वम् । आर्जवम् परान् प्रति वाद्धानःकाय
सर्वमिभेत्य भाषितम् तेषां पृक्षपर्धमत्वं पृष्ठपस्सुस्वदुः खानां भोक्तृत्वे हेतुकृच्यते इति वक्ष्यत इति ।

िचेतनाष्ट्रितिरत्यत्न न तावत् पदद्वयम् , चैतन्यस्य क्षेत्रानन्दर्भावात् । एकपदःवेऽपि चेतनायाः धृतिरिति न विम्रहः ; धृतिशब्दस्याधारपरत्वे शरीरस्य चैतन्याधारत्वासंभवात् । भोगस्थानपरत्वे निर्विश्वेषचैतन्यस्य भोकृत्वानभ्युपगमात् । "एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता द्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा
पुरुषः" (म. ४. ९) इति ज्ञातृत्वकर्तृत्वविशिष्टचेतनस्यैव भोकृत्वश्रवणाच । चेतनस्याऽऽधृतिरिति
विम्रहः । चेतनशब्देनात्मा निर्दिश्यते । "मृत्तैरुद्धाम" (वि. २. ३. ६९) इतिवत् आधृतिश्वाधाः
ऽपि "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" (अष्टा. ३. ३. ९) इत्याधारपर इत्याह आधृतिशाधार
इति ) अलोहिष्टार्थकमवशात् स्थुक्तमण च्याह्यातम् । आधारत्वस्यात् भोगायतगत्वस्रवस्यत्व त्याधेयत्व
स्वप्रशरीरलक्षणविरोध इत्यभिन्तयाद सुचेति । महाभृतानीत्यादेः सुम्रहत्वाय, (१) महाभृतानीत्यादेः
'तत् क्षेतं यच यादक् च' इत्यादियद्वत्यञ्चकाश्वेविषयतां दर्शयन् पिण्डिताश्रमाह प्रकृत्यादीति । सवि
कारशब्देनेच्छादीनां क्षेत्रवरिणामस्वशङ्कास्यदासायाह सकार्यभिति ॥ ५ ॥ ६ ॥

पूर्वे श्लेतज्ञादिष पश्चात् <sup>1</sup>ज्ञानोहेरोऽपि तस्साधनानामनुष्ठेवानामिन्छादिधत् श्लेतकार्यस्वात् तद-नन्तस्मिह् तदुक्तिरित्यमिशायेणाह् अथ श्लेत्रकार्येष्वित । विद्यामिजनधनादिसंपत्तिमूळः उत्कृष्टजनाय-मानहेतुर्गवीऽत्व मानः ; तद्वान् मान्ते ; तदन्योऽमानी ; तस्य भावस्तत्त्वम् ; मानित्वस्यामावो वाऽ-त्वामानित्वम् । एवमदिमस्वमि ; तदाह्-तद्वहित्तव्यमिति । 'धर्मध्वजः' (वि. ध. ८१ ३५) इति स्मृत्यनुसारेणाह् धार्मिकत्वयशाप्रयोजनतयेति । न पुनश्चोदिजकर्तव्यताबुद्धयेति भावः । अनैश्रैक फळपीडारूपो व्यापारो हिसा ; स च बाज्ञनःकायेक्विभरिप <sup>श्रे</sup>शापादिद्वारा संभवतीति संमावित-समस्तप्रकारनिषेधस्य वचनारिसद्धस्य असंकोचेन विवक्षितस्वात् वाङ्मनःकार्योरित्युक्तम् । परपिडेति प्रायिकरवामिष्रायम् , अशाक्षीयस्वपीडाया अपि हिसास्वात् । "मनस्वन्यत् वचस्यन्यत्" इत्येवेरुपं

श्रेवज्ञोदेशः प्रथमश्रोके : यत्त्व्ज्ञानिमिति ज्ञानोदेशो द्वितीयश्रोके । श्रेवज्ञानिक्षणे हि तज्ज्ञानजननमेत्र । तच्च साध्याज्ञाने असाध्यमप्रतिष्ठितञ्च स्पादित साधनानां प्रथममुक्तिरिति भावः ।
 शापातीति । शापद्रोहरोविचिकमानस्किहिसात्वम ।

प्रश्वचीनामेकरूपता ; आचार्योगसनम् आत्मज्ञानप्रदायिनि आचार्ये प्रणिपातपरिप्रश्नसेवादि-निरतत्वम् ; शौचम् आत्मज्ञानतत्साधनयोग्यता मनोवाकायगता शास्त्रसिद्धाः स्थैर्यम् अध्यात्मशास्त्रीदितेऽर्थे निश्चलत्वम् ; आत्मविनिधहः आत्मस्वरूपव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निवर्तनम् ॥ ७ ॥ ।

इन्द्रियार्थेषु वैराज्यमनहङ्कार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥ इन्द्रियार्थेषु वैराज्यम् आत्मव्यतिरिक्तेषु विषयेषु सदोषतानुसंधानेनोद्वेजनम् ; अनहंकारः अनात्मिनि देहे आत्माभिमानरहितत्वम् ; प्रदर्शनार्थमिदम् ; अनात्मीयेष्वात्मीयाभिमान-रहितत्वं च विवक्षितम् । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् सश्चरीरत्वेजन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदेखद्वितस्य दोषस्यावर्जनीयत्वानुसंधानम् ॥ ८ ॥

हि कौटिल्यम् ; तित्रष्टिरार्जविमित्यभिप्रायेणाह परान् प्रति वाङ्मनःकायप्रवृत्तीनामेकरूपतेति । उपकारवुद्ध्या आचार्योपासनस्य स्वरसवाहित्वज्ञापनायाह आरमज्ञानप्रदायिनीति । यहा आत्मज्ञानापेषित्वत्वज्ञापनाय तदुक्तिः । 'तत् विद्धि प्रणिपातेन परिपक्षेन सेवया' (४. ३४) इति प्रावपविद्यति मिहोपासनशन्देन संगृहीतमिति ज्ञापनाय प्रणिपाताद्यपादानम् । अग्रुचित्वं छुत्तरकर्भाद्ययोग्यत्व- रूपम् ; शुचित्वं च तद्योग्यत्वम् ; तच्चात्र प्रकरणविशोपतविषयमित्याह आरमज्ञानिति । रागादय अनृतादयो निषद्धभक्षणादयश्च मनोवाकायानामग्रुद्धयः । प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वपामाणिकत्वप्रतिपादनाय तत्तिहिशेषावगमाय च शास्त्रसिद्धत्युक्तम् । स्थैर्यं निश्चलत्वम् प्रकृते नियन्छित अष्यारमेति । निश्चलत्वं वाखकुद्दष्टिमरक्षोमणीयत्वम् ; निस्सदेहत्वमित्यर्थः । निष्राह्यत्वसामर्थ्यादत्त आरमशन्दो मनोविषयः । अत एव परोक्तं मिङ्गातपरत्वमयुक्तम् । स्वमावेन सर्वतः प्रवृत्तस्य निम्नद्ध्यानर्थात्रि । ७ ॥

बाह्यविषयवैराग्यं हि आत्म[न]रागिवन्यनिम्त्यभिपायेणाह आत्मन्य निश्किषु विषये िष्वति । विरागस्य भावो वैराग्यस् ; तत्प्रकारमाह सदोषतानुसंघानेनोद्वेजनमिति । दुःखसाध्यत्व-दुःखमिश्रत्वनश्चरत्वादिमिस्तेषां दोषमयत्वम् । गर्वरूपस्याहंकारस्य पूर्वं निषेषादलाहंकारश्चदेन देहात्मश्रमो निवायत इत्याह अनात्मनीति । अहंकारस्य निषेधतन्म्त्रस्य सर्वत तत्सहपठितस्य मम-कारस्यापि निषेध प्रदर्शिवतुमित्याह प्रदर्शनार्थमिति । शरीरपयुक्तजन्मादिदोषदर्शनम्, "न ह वै सद्यरिस्स सतः प्रियाप्रययोः" (छा. ८ १२.९) इत्यादिप्रकारेण शरीरस्य हेयताप्रतिपत्यर्थमित्याव्याप्रयाद्यक्रान्य । जनमनुत्युजराव्याधिमितंन्यं दुःखं जनममृत्युजराव्याधिदुःखम् , स एव दोष इति समासार्थः । जनमादय एव वा दुःखान्तास्सर्वे दुःखसायनत्वात् दुःखत्वाच्ये दोषाः । न हि तुषवण्डुळवन्

<sup>1</sup> आत्मकाच्यो देहादिसंघातपरः तस्य वितिब्रहः सन्मार्ग एव निरोध इति शांकरे । अस्मत्यक्षे आत्मकाच्यो मनःपरः । विनिब्रहपदार्थस्वविशिष्टः ।

<sup>2</sup> अत द्वितीयपक्षे भाष्ये व्याधिदुःखरूपस्येत्यत दुःखपर्यन्तानां द्वन्द्वः।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्त्वतिष्ठानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥ असक्तिः आत्मव्यतिरिक्तपरिग्रहेषु सङ्गर्गहतत्वम् ; अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु तेषु श्रास्त्रीयकर्मोपकरणत्वातिरेकेण श्लेषरहितत्वम् ; संकल्पप्रभवेष्विष्टानिष्टोपिनपातेषु हर्षोद्वेग रहितत्वम् ॥ ९ ॥

मिं चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमरितिर्जनसंसिद् ॥ १० ॥

मिं सर्वेश्वरे च ऐकान्त्ययोगेन स्थिरा भक्तिः, जनवर्जितदेशवासित्वम्, जनसंसिद्
चाप्रीतिः ॥ १० ॥

शरीरमवस्त्राच्य दोषाः परिहर्तुं शक्या इति दर्शयितु सवर्जनीयस्वोक्तिः । अनुदर्शनं भूयोभूयोदर्शन-मित्याह अनुसंधानमिति ॥ ८ ॥

पूर्वम् 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' इति सांस्पर्शिक(के) शब्दादिविषये विरक्तिरक्ता ; इदानीम् अस्किरित आमिमानिकेषु सङ्गरिहत्वमुच्यतं इति पुनरुक्ति परिहर्षुम् आसम्ब्यतिरिक्तपिग्रहेष्विरयुक्तम् । ति ग्रिहर्यस्य सुमुक्षोरामिमानिकसर्वधर्म(धर्मोपकरण ?)परित्यागेन कथमाश्रमधर्मो निर्वदेवेतित्यत्नोच्यते अनिष्वद्धः पुत्रद्वार्दिष्वति । नात्न तेष्प्युक्तानामपि स्ररूपेण त्यागो विविश्वतः ; प्रत्रिज तस्याप्यवर्जनीयेषु सङ्गमालिषेषात् , "न कुण्ड्यां नोदके सङ्गो न चेले न च विष्टरे । नागारे नाऽइसने नान्ये यस्य वै मोक्षवित् सः" इति । अतो धर्मोपयुक्तत्वमालेण [तु] परिप्रह एवेत्यिम् प्रायेणाह् आस्त्रीयेति । मिङ्गोऽभिष्वङ्गदेतुः, 'सङ्गात् संजायते कामः' (२. ६२) इत्युक्तत्वात् । अतः कार्णामावात् कार्योभाव इति भावः । अभिष्वङ्गोऽतिसक्तिः । संस्पर्शिकेष्टानिष्टयोस्समचितत्वस्याः शवयत्वादाह संकरुपप्रभवेष्विति । पुलदारादिपसङ्गात् तिद्वषयस्यं युक्तमेवेति [च] भावः ॥ ९ ॥

मयीत्यनेन अन्यभक्तुन्मूळनेनाञ्यभिचारित्वीययुक्ताकारिववक्षामाह मि सर्वेश्वर इति । अनन्ययोगेनेति देवतान्तरादिपरित्यागः संगृहीतः। <sup>8</sup>तत एव चाव्यभिचारित्वं तन्मूळं स्थैर्यम् , अन्यथा पुनरुक्तेरित्यभिमायेणाह ऐकान्त्ययोगेन स्थिरेति । 'अनन्ययोगेनापृथवसमाधिना' इति शंकरोक्तमेतेन प्रत्युक्तम् । न व्यभिचरित्वं शीळमस्या इत्यव्यभिचारिणीति । समाधिविरोधपरिहारायर्थं विविक्तेत्यादि । 'अहेरिव गणात् अभीतः' (भा. भो. २५१. ३) इत्यादिवत् । उक्तं च मोश्वधमं, नैताहशं ब्राह्मणस्यास्ति वितं यथैकता समता सत्यता च । सत्यं धृतिर्दण्डनियानमार्जवं ततस्तत्वथोनपरमः क्रियाभ्यः ॥ ' (२८३. ३८) इति । जनोऽत्र सक्त्वोत्तरेतरः ॥ १०॥

<sup>1</sup> एवं तिह् पुत्रदारगृहादिषु इत्यस्यैव असक्तिरित्यताय्यन्वयस्योक्तप्रायत्वात् असक्तिरिती-दमेव व्यर्थिमत्यताह संग इति । यहा असक्तिरित्यत्न न पुत्राचन्वयः । पूर्वेपरिगृहीतानत्यावश्यक-विषये ईषत्संगस्याय्यभावः असक्तिः । युत्रादिष्वावस्यकेषु अधिकसंगाभावः अनिभव्दः । तद्यीनासु इष्टाध्यपिक्तिषु च समिचक्तता इत्यर्थे इत्याशयः । 2 अव्यभिचारोऽप्यनन्ययोग पवेति शंकायाम-त्रार्थान्तरमाह तत इति । विस्तुस्यान्यत्न चारो व्यभिचारः । तत्न प्रकृतत्यागाभावः अव्यभिचारः स्थैर्यम् । 3 गणादिति । अत एव 'सभा भुजक्षी' इत्युच्यते ।

अध्यात्मज्ञानित्यत्वं तस्वज्ञानार्थचिन्तनम् । एतत् ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यद्तोऽत्यथा ॥ ११ आत्मिति ज्ञानम् अध्यात्मज्ञानम् तिष्ठित्वम् , त्त्वज्ञानार्थचिन्तनम् तत्त्वज्ञानप्रयोजनं यिचन्तनं तिष्ठगत्त्वमिन्यर्थः । ज्ञायतेऽनेनात्मेति ज्ञानम्, आत्मज्ञानसाधनिमित्यर्थः ; क्षेत्र-संवन्धिनः पुरुषसामानित्वादिकमुक्तं गुणवृन्दमेवाऽऽत्मज्ञानोपयोगि, एतद्यतिरिक्तं सर्वे क्षेत्रकार्यमात्मज्ञानिविरोधीति अज्ञानम् ॥ ११ ॥

अथ एतद्यो वेतीति वेदितृत्वलक्षणेनोक्तमः क्षेत्रज्ञसः स्वरूपं विशोध्यते — ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वाऽमृतमस्तुते । अनादि मत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते ॥ १२

अध्यात्मज्ञान नित्यत्विमत्यत्र नित्यशब्देनाविच्छिन्नान्त्रतिर्विवक्षितेत्याह त्रिन्नप्रस्वमिति । तस्वज्ञानार्थिचिन्तनिमिति, उक्तस्य तत्त्वज्ञानस्य अर्थचिन्तनिमत्यनुचितम् : न हि तत्त्वज्ञानस्य कोऽर्थ इति चिन्तनप्रकारः, अपितु तत्त्वं किमिति । ततस्तत्त्वचिन्तनमिति वा तत्त्वार्थचिन्तनमिति वा वक्तव्यम् ; न पनस्तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनमिति । एवं 1'तत्त्वज्ञानविषयस्य प्रयोजनस्य चा चिन्तनं तत्त्वज्ञानपुरुषार्थदुर्शनम्' इत्यादिकमपि मन्दप्रयोजनम् । दर्शनशब्दश्चालाध्येत्रमिनं पठ्यते । ततोऽस्यार्थान्तरमुचितमाह तत्त्वज्ञानप्रयोजनमिति । फल्तिस् अन्यत चिन्ताराहित्यमभिषेत्याह तिन्नस्तत्विमत्यर्थ इति । अमानित्वादीनां सर्वेषामिवशेषेण ज्ञानशन्दनिर्देशोचितं निर्वचनमाह जायतेऽनेनेति । आत्मेत्यर्थ-प्रकरण[दि]लब्धविषयविशेषाभिधानम् । करणब्युवर्ति विवृण्यन् फिलमाह आस्मजानेति । आपातप्रतीत्यादेः पूर्वसिद्धत्वाद्वरोक्षादिज्ञानमिह विवक्षितम् । एतज्ज्ञानमिति निर्दिश्य यद्तोऽन्यश्रेति सामान्येन तद्यतिरिक्तस्य सर्वस्याज्ञानतोक्तिसास्य सर्वस्य परिहरणीयस्वपरेत्यभिषायेणाह क्षेत्रसंबन्धिन इति । क्षेत्रसंबन्धोक्तिस्तद्त्यन्तिनृत्तेः ज्ञानसापेक्षत्वसूचनार्था । एतदित्यवच्छिय निर्देशेनाभिषेतं गणवन्दं मेवेत्यवधारणेन विवृतम् । न केवलं प्रकृतगुणप्रतिपक्षमृतमानित्वादिमालमित्यभिप्रायेणाह एतद्यतिरिक्तं सर्वमिति । अज्ञानमित्यल करणव्युत्पत्तिनैरपेक्ष्यात् प्रसिद्धमावन्युत्पत्यन्सारेण ज्ञानविरोधित्वमुच्यत इत्याह **क्षेत्रकार्यमात्मज्ञानविरोधीत्यज्ञान**मिति । अवैक्षप्याय करणार्थ-त्वेऽप्यसौ फलितोक्तिर्वा ॥ ११ ॥

ज्ञाता हि पूर्वमुद्दिष्टः । 'स च यो यस्यभायश्च' (३) इति स एव पुनः परामृष्टः । तत् कथं होयं यत्तरप्रवश्च्यामीरपुच्यत इत्यत्नाह अथेति । वेद्यविद्येषस्याऽऽस्मनो छक्षणतया हि वेदिनृत्वं प्रापुक्तमिति भावः । अत एव ह्रेयं यदित्यादेः परत्नक्षविष्यत्वत्रमो निरस्तः, क्षेत्नक्षेत्रज्ञयोज्ञान-मिति प्रक्रमात्, 'क्षेत्नक्षेत्रज्ञयोर्द्यमन्तरं ज्ञानचक्षुषा' (३४) इति उपसंहिष्य्यमाणस्वात् ; मध्ये च 'प्रकृति पुरुषं चैव' इति तयोरेच निर्द्यपात् , इन्द्रियाधीनभोगस्वोत्कमणगुणवस्यस्वादिवचनाच । स्वर्यस्यव्यव्यक्ते निर्द्यस्यविच्या वा नपुंसकत्वम् । स्वेतर-समस्तव्यावर्तकं हि छक्षणम् । तत्न वेदिनृत्वछक्षणेन विविक्तस्वरूपस्य किमन्यत् स्वरूपशोधनमिति चेत्—

<sup>1</sup> अयं शांकराथीनुवादः। शांकरे मूले दर्शनपद्सत्वप्रभिमतमिवेति तन्निरस्यति, 'न पटवते' इति । का--55

अमानित्वादिभिः साधनैः ज्ञेयं प्राप्यं यत् प्रत्यगातमस्त्ररूपं वत् प्रवश्यामि, यत् ज्ञात्वा जनमजरामरणादिप्राकृतवर्भरहितम् अस्तम् आत्मानं प्रामोति ; [अनादि] आदिर्यस न विद्यते, तत अनादि : अस्य हि प्रत्यगात्मन उत्पत्तिर्न विद्यते ; तत एवान्तो न विद्यते । श्रुतिश्र, 'न जावते श्रियते वा विषश्चित्' (क. २.१८) इति, मत्परम् अहं परो यस तत् मत्यरम् । 'इतस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि मे पराम् , जीवभूताम्' (७.५) इति क्षक्तम् । भगवच्छरीरतया भगवच्छेवतैकरसं ह्यात्मखरूपम् ; तथा च श्रुतिः, "य आत्मिन तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यगात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" (ब्र. ५. ७. २२. मा.) इति, तथा, ''स कारणं करणाधिवाधिवो न चास्य कश्चिलानिता न चाधिपः" (थे. ६.९), "प्रधानक्षेतज्ञपतिर्गुणेशः" (थे. ६.१६) इत्यादिका । ब्रह्म बृहत्त्वगुणयोगि, शरीरादेरथीन्तरभृतम्, स्रतः शरीरादिभिः परिच्छेदरहितं क्षेत्रज्ञतत्त्व-मित्यर्थः ; "स चानन्त्याय करपते" (इवे. ५. ९) इति हि श्रूयते ; शरीरपरिच्छिन्नत्वम् अणुत्वं चास कर्मकृतम् । कर्मवन्धानमुक्तस्यानन्त्यम् । आत्मन्यपि ब्रह्मश्रन्दः प्रयुज्यते, "स तन्त्र । रुक्षणेनान्यत्वमात्रं हि प्रतीयते ; न पुनर्भावाभावरूपाः सर्वे प्रकाराः । यथा गन्धवती पृथिवीत्यत तेनाऽऽकारेण जलादिच्यावृतिमातं सिध्यति ; न पुनः पाकजरूपादिमत्त्वादिकम् , तद्वविद्यापि ज्ञातुत्वरुथणाभिधानेऽपि तस्य ज्ञातः कार्थत्वाकार्यत्वादिविवेको न सिध्येतः अतः स वक्तव्यः । इत्यभित्रायेण ज्ञेयमित्यनेन सुचितां संगतिमाइ अमुनित्वादिभितित । प्रवक्ष्यामि । प्रकर्षेण यथावत् वक्ष्यामीत्यर्थः । अनादिमदिति पदच्छेडो न युक्तः, प्रत्ययमन्तरेणापि बहुत्रीहिवशात् तदर्थसिद्धेरित्यनिपायेणाह आदिर्यस्येति । अनादि कारणरहितमित्यर्थः । अयमर्थः 'नात्मा श्रुतेः' (त्र. २. ३. १८) इत्यधिकरणसिद्ध इत्यभिशायेणाह अस्य हीति । पूर्वोक्तामृतत्वेऽपि हेतुरयमित्य[भि-पायेण]ाह तत एवेति । उभयत प्रमाणमाह श्रतिश्चेति । अनादिमदिति पदच्छेदेऽत निर्दिश्यमानं ब्रह्म परशब्देन विशेषणीयम् ; तचापकरणत्वादस्वरसम् ; अतः प्रकरणोचितपदच्छेदार्थमाह अहं शरीरत्वे शेषत्वे च कमाच्छतिमाह तथा चेति । एतेन मत्परमिति पदच्छेदे अर्थासमवान्मतुपो बहुत्रीहिणा समानार्थत्वेऽपि प्रयोगः श्लोकपूरणार्थ इति शंकरोक्तं प्रत्युक्तम् । ननु प्रशब्देनावि-शेषितोऽपि ब्रह्मशब्दः परमात्मन्येव मुख्यः : तत् कथमस्य जीवविषयत्विमत्यलाह बृहस्तगुण-योगीति । अणुत्वेन श्रुतिसिद्धस्य संकुचितज्ञानस्य कथं बृहत्त्वमित्यलाह श्रगगदिमिरिति परिच्छेदर हितम् खतस्सर्वविषयत्वार्हस्य ज्ञानस्य संकोचरहितमित्यर्थः । खरूपाविभीवदशायां बृहत्त्वं श्रुतिसिद्धः मित्याह स चेति । अनन्तस्यमावस्य परिच्छिन्नत्वासंमवादानन्त्यमौपचारिकमित्यस्राह **ग्राशिपरिच्छिन्नत्वं** चेति । औपाधिकमवस्थामेदेनाविरुद्धं चेत्यभिषायः । औपचारिकस्यापि त्रह्मशुब्दप्रयोगस्य प्रसिद्धिमाह आत्मन्यपीति । अत एव हि परं ब्रह्मेति विशेषणस्य सार्थतेत्यभिनायः । अत्रैव शास्त्रे बहुषु गणान समतीत्यैतान ब्रह्मभयाय करपते । ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्थान्ययस्य च" (गी. १४. २६-२७), "ब्रबभृतः प्रसन्नात्मा न ग्रीचित न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भतेष मद्भक्ति लभने पराम ॥" (गी. १८. ५४) इति । न सत् तन्नासदुच्यते कार्यका-रणास्यावस्थाद्वयरहितत्वा सदसञ्छदाश्यामात्मस्यस्यं नोच्यते । कार्यावस्थायां हि देवादि-नामरूपभाक्तवेन एदित्युच्यते, तदनईतया कारणावस्थायामसदित्युच्यते । तथा च श्रुतिः, ''असदा इरमग्र आसीत । दर्जो वै सदजायत'' (आ. ७), ''तद्वेदं तहीश्याकृतमासीत तन्नाम-ह्रपाभ्यां व्याक्रियत'' (बृ. ३. ४. ७) इत्यादिका । कार्यकारणावस्याद्वयान्वयस्त्वात्मनः कर्मरूपाविद्यावेष्टनकृतः, न स्वरूपकृत इति सदसच्छब्दाभ्यामात्मस्वरूपं नोच्यते । यद्यपि 'असदा इदमग्र आसीत्' इति कारणावस्थं परं ब्रह्मोच्यते, तथाऽपि नामरूपविभागा-नईस्ट्रमचिद्विद्वस्त्यारीरं परं त्रस कारणावस्थमिति कारणावस्थायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपमि पदेशोषु प्रत्यगात्मन्येव ब्रह्मशब्द्वयोगं <sup>1</sup>दर्शयति **स गुणानि**ति । ब्रह्म**भ्याय** ब्रह्मत्वाय । न हि जीवस्य मुक्तस्यापि साक्षाद्रहात्वम् , 'मम साधर्म्थमागताः' (गी. १४. २) इत्यादिविरोधादिति भावः । 'त्रहाणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इति । अत्र अहमिति परं त्रहा निर्दिश्यते : तत्प्रतिष्ठं च त्रहा ततोऽन्यदेवेति भावः । 'ब्रह्मभूतः' इति । अत्र स्रोके परब्रह्मपातिसाधनमृतभवत्युत्पत्तेः पूर्वमेव ब्रह्ममृतत्वं च न हि परब्रह्मस्वरूपत्वमिति भावः। न सत्तन्नासदच्यते इत्यत्र न सर्वप्रकारोक्तिगोचरत्वपतिक्षेपः, स्ववचनिवरोधात् । न च सत्त्वासत्त्वनिषेधःः "परस्परिवरोधे हि न प्रकारान्तरिस्थितिः" (न्या. कु.) इति स्यायात् । नापि सदसत्संज्ञकाभ्यां वस्तभ्यां व्यावृत्तिः : तयोरसिद्धत्वात् । न च राभा-शुभादिन्यवच्छेदः : शुभरवनिषेधायोगात् । अतोऽत्र किमुच्यत इत्यताह कार्यकारणेति । (परिश्रद्धा-कारविषयमिद्रमिति ज्ञापनाय आत्मस्वरूप[मत्युक्तम्]। अवस्थाद्वये सदसच्छव्दयो: पयोगनिमित्तमाह कार्यावस्थायामिति । तल्लिबन्धनं श्रुतौ परमात्मादिविषयपयोगं दर्शयति तथाचेति । असद्रा इद-मित्यलासच्छव्दनिर्दिष्टं हि तत इति कारणतयोच्यते ; सदजायतेति कार्यं सच्छव्देन । तद्धेदमिति समानार्थश्र्यन्तरेणासदादिज्ञट्दौ क्रमाञ्चामरूपप्रहाणतद्योगनिमितौ ध्यारूयातौ । ननु 'असद्घा इदमप्र जासीत्' इत्याद्यक्तमवस्थाद्वयं जीवस्याप्यस्त्येव, अन्यथा प्रागुक्तपक्वतित्वानुपपत्तेः, ''तीयेन जीवान् व्यससर्ज मृस्याम्'' (ना) इति श्रुत्या च तिसद्धेरित्यत्नाह कार्यकारणेति । कर्मोपाधिकमेव ह्यवस्थाद्वयम्, न पुनः स्वाभाविकम् । अत्र स्वाभाविकरूपमुच्यत इत्यर्थः । नतु, "कारणत्वेन चाकाशादिषु यथान्यपदिष्टोक्तेः" (ब्र. १. १. १४) इत्यस्मिन्नधिकरणे सदसदन्याञ्चतादयसर्वे कारणवाक्यगताः शब्दाः परमात्मपरा इति निर्णीतम् , तत् कथमलासच्छब्देन जीवपसङ्ग इत्यलाह यद्यपीति । सदसच्छठदौ ह्यत परमात्मनि सद्वारकौ ; अतो द्वारभूते जीवेऽपि तद्वाच्यत्वं सिद्धमिति परिशुद्धावस्थायामपि कार्यनामरूपविभागाभावादसच्छन्दः प्राप्त इत्यत्नाह तर्हि

जीवे ब्रह्मशन्दमयोगः षष्टान्तेष्वध्यायेष्विप वहुलं द्रष्टव्यः ।

असच्छाद्यः च्यम्, क्षेत्रज्ञस्य माऽत्रत्र्या कर्मकृतिति परिग्रुद्धस्वरूपं न मदसच्छाद्दिनिद्दंश्यम् ॥१२ सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतःऽक्षिचिरोमुखम् । सर्वतःश्वतिन्छोके सर्वमायुत्य तिष्टति ॥ १३ सर्वतः पाणिपादं तत् परिग्रुद्धात्मस्वरूपं सर्वतःपाणिपादकायक्तम् , तथा सर्वते।ऽक्षिचिरोम् सर्वतः पाणिपादं तत् परिग्रुद्धात्मस्वरूपं सर्वतःपाणिपादो जननो प्रहीता पश्यत्यच्छाः स स्वांतः सर्वतः १९०) इति पश्य त्रक्षणोऽपाणिपादस्यापि सर्वतः पाणिपादादिकार्यक्रस्यं श्रूपते । प्रत्यमात्मनोऽपि परिग्रुद्धस्य तत्साम्यापस्या सर्वतः पाणिपादादिकार्यक्रस्यं श्रूपते । प्रत्यमात्मनोऽपि परिग्रुद्धस्य तत्साम्यापस्या सर्वतः पाणिपादादिकार्यक्रस्यं श्रूपते । प्रत्यमात्मनोऽपि परिग्रुद्धस्य तत्साम्यापस्या सर्वतः पाणिपादादिकार्यक्रस्यं श्रूपति । प्रत्यमात्मनोऽपि परिग्रुद्धस्य तस्माम्यापस्य सर्वतः परमं साम्यष्ठपैति'' (मृ. ३. १. ३) इति हि श्रूपते । प्रति ज्ञानस्यापित्यः मम साधम्यभागताः'' (१४.२) इति च वश्यते । लोके सर्वमाशुत्य तिष्ठति लोके यत् वस्तुजातं तत् सर्वं व्याप्य विष्ठति,

क्षेत्रज्ञम्येति । कर्मकृतावस्थाद्वयनिषेधेऽत्र तात्पर्थमिति भावः ॥ १२ ॥

परिशुद्धक्षरुपं देशादिपरिच्छेदरहिततया सर्वगतिमत्यर्थः ॥ १३ ॥

आत्मस्रक्षत्याशरीरत्वान्निर्वयवस्वानिरिन्दियत्वाच पाणिपादभसङ्ग एव नास्ति । न चेदमनेक बाहुत्वादिपागुक्तपरम् , जीवपकरणत्वस्थापनात् । अत एव जीवकर्मगृहीतैः स्वेच्छागृहीतैश्च पाण्यादि-मिर्विधात्मकस्य ब्रक्षणो योग उच्यत हत्यादिकरूपनाऽपि निरस्ता । पादादिपु पाण्याद्यभावाच सर्वत हत्यपि न घटते । तत् कथं सर्वतःपाणिवादस्वादिकमित्यलाह परिश्चद्वेति । पाण्यादिरहितस्यापि परिग्छद्धात्मनः पाण्यादिशब्दस्विवेतं शक्तियोगे श्रुति दर्शयितुं परमात्मनस्त्रहितस्यापि तच्छक्तियोगं गतावत् दर्शयितं अपाणीति । 'अपाणिपादः' (क्षे. ३. १९) इति निषेध्यस्य कर्मेन्द्रियवर्गस्योपछक्षणम् ; 'अचञ्चरकर्णः' इति ज्ञानेन्द्रियवर्गस्य [उपरुक्षणम् ] । तर्हि परमात्मासाधारणस्वभावस्यात्व अरुपशक्तौ जीवे कथं व्ययदेश इत्यताद्व प्रत्यमात्मनोऽपीति । मुक्तदशायां ब्रक्षगुणाष्टकयोगादसंकुन्तितज्ञान-शक्तेस्त्रपतितित भावः । साम्यश्चतिसंकोचामावात् विशेषकण्ठोवत्यमावेऽपि सर्वतःपाणिपादस्वादिकं सिद्धमेवेत्यमित्रायेण एवकारः । साम्यश्चितिकात्रे सर्वया साम्यं कथं श्चितिसद्धमित्यलाह तदेति । इदं ह परमसाम्यं जगद्यापारव्यतिरिक्तसर्वविषयमिति कछपादे मीमांसितिमिति भावः । स ब्रुत्यशेऽलाप्युपदेक्ष्यते, तद्विवक्षाऽत्र युक्तत्याह इदं ज्ञानमिति । तिष्ठतीत्यत्व व्यातेरप्रच्विविविद्या । कर्मविष्टत्वानस्थागोः कथं सर्वव्यापित्ववावेशस्त्राय ह द्विपरित्रत्वाह विविविद्यत्व व्यात्रिरके, "पदीपवदावेशस्त्राय हि दर्शयति" (४. १ . १ ५) इत्यादिना जीवस्वस्वप्राणुत्वेनैव रुक्षणात् । निर्विकारश्चरण च सर्कपविकारायोगात् ॥ १३ ॥

ताविदिति । प्रथमित्यर्थः । परमातमगतं शक्तियोगमेवेत्यवधारणं वा ।

<sup>2</sup> नतु सर्वेमानूत्येतीर्द् प्रागेव अक्षशब्दोक्तमिति पुनस्कता ॥ नेवम् । ब्रक्षशब्दस्य संभावित-सर्वेविधीत्क्यं तात्ववम् । धर्मभूतकावार्धावयातियात्वज्ञोक्तम् । गुणायकस्तोत्वर्पस्तत्र । प्रागेवीक-स्याऽऽनन्त्यस्य तिष्ठतीति स्थैर्यं वाऽत्र विवक्षितम् ।

सर्वेन्द्रियशुणाभास्नं सर्वेन्द्रियविवार्जितम् । असकं सर्वभृत्वेव निर्गुणं गुणभोक्त त्र ॥ १४ सर्वेन्द्रियगुणाभासम् सर्वेन्द्रियगुणोभाभासो यस्य तत् सर्वेन्द्रियगुणाभासम् । इन्द्रियगुणाभासम् । इन्द्रियगुणाभासम् । इन्द्रियगुणाभासम् । इन्द्रियगुणाभासम् । इन्द्रियगुणाभासम् । इन्द्रियगुणाभासम् । इन्द्रियगुण्याभासम् । इन्द्रियगुण्याभासम् । इन्द्रियगुण्याभासम् । इन्द्रियगुण्याभासम् । विवादिदेह-सङ्गरहितम् , सर्वभृत्वेव देवादिसर्वदेहभरणसम्य चः (स एक्ष्या भवति विद्या भवति' (छा. ७. २६. २) इत्यादिश्रुतेः । निर्गुणम् तथा स्वभावतस्सन्वादिगुणरहितम् । गुणभोवतृ च सन्वादीनां गुणानां भोगसमर्थे च ॥ १४ ॥

वहिरन्तश्च भृतानामचरं चरमेव च । स्क्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्यं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥ पृथिव्यादीनि भृतानि परित्यज्याग्नरीरो बहिर्वर्तते ; तेषामन्तश्च वर्तते, 'जक्षत्

<sup>1</sup>स्वरूपमिन्द्रियगुणैराभासत इत्यादिपरोक्तव्यदासायाह सर्वे[न्द्रयगुणैराभासो यस्येति । योग्यत्वं राद्धावस्थायामप्यस्तीति भावः । ननु इन्द्रियाण्येव करणभूतानि, न पुनरिन्द्रियगुणा इत्यत्नाह इन्द्रियगुणा इन्द्रियवृत्तय इति । खयंत्रकाशस्यात्मखरूपस्य कथमिन्द्रियवृत्तिभिराभासः १ विषयानास-विवक्षायामपि परिराद्धस्वरूपभसङ्गे कथमैन्द्रियकज्ञानोक्तिरित्यत्नाह **इन्टियवत्तिभिरपी**ति । एतेन ''सर्वेन्द्रियव्यापारै: व्यावृतमिव ज्ञेयम्'' इति शंकरस्योदमन्थकरूपना निरस्ता । कदाचिदिन्द्रियवत: कथं सर्वेन्द्रियविवर्जितत्विमत्यलाह स्वभावत इति । सर्वेन्द्रियनिषेधे तद्यीनज्ञानाभावात परोक्तं पाषाण-करुपत्वप्रसङ्गं प्रामुक्तेन परिहरति विनेवेति । मुक्तस्यापि जगदाधारत्वाभावात पर्यायेण सर्वजातीयदेह-भुत्त्वाभावाच तच्छक्तिरत्नापि विवक्षिता(!<sup>2</sup>) स्वतस्तत्मङ्गराहित्यं च असक्तमित्युच्यत इत्याह स्वभावतो देवादीति । सामर्थ्यं परिराद्धावस्थाभाविना कार्येण दर्शयति स एकघेति । आत्मस्वरूपस्य भिद्रत्वाभावातः जक्षणादिश्रतिवशाच विश्रहद्वारैव हि लियाभवनादिक[थन]मिति भाव: । एतेन 'सर्वभूनवं सर्वाध्या-साधिष्ठानत्वम् ' इति वदन् प्रत्युक्तः । निर्मुणमित्यत्न न सत्त्रादिगुणसमवायित्वं प्रतिषिध्यते, तस्या अञ्ज्ञावस्थायामपि प्रसङ्गाभावात् ; [गुणसमवायित्वस्य] गुणभोक्तं च इत्येतत्प्रतिपक्षरूपत्वाभावाच ; अतोऽत्र कर्मोपाधिकस्य प्राकृतगुणभोगस्य प्रतिक्षेपः क्रियत इति न निर्विशेषवादावकाश इत्यभिषायेणाह स्वभावतस्मन्वादिगणरहितमिति । स्वभावत इत्यनेन गुणभोवतृत्वविरोधपरिहारः । भोगसमर्थ-मित्यलापि पूर्ववद्भिषायः । औपाधिकं गुणभोक्तृत्वम् ; स्वभावतस्तद्भावः : तत्सामर्थ्यमातं त नित्यमित्यविरोधः ॥ १४ ॥

सद्यरीरत्वावस्थायां हि भूतान्दर्शितिरिति मुक्तस्याद्यरीरत्वात् तद्वहिर्शिर्युक्ताः; तदन्दर्शितस्तु कथमित्यत्नाह जक्षदिति । खच्छन्दर्शित्यु तेषामन्तश्च वर्तत इत्यन्वयः । न चैतत् कर्मकृतं सद्यरीरत्वम् ,

<sup>1</sup> घटोऽस्ति, रूपमस्ति, रसोऽस्तीत्येवं सर्वत प्रत्यक्षे सदिति भासत इत्यर्थः ।

<sup>2</sup> खभावतो देवादीति इति शतीकधरणानन्तरं देवादीति इति शतीकं घृत्वा मुक्तस्यापीत्यादि विवक्षितेत्वन्तं वाक्यं पठितुं युक्तम् ।

क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' (छा. ८. १२. ३) इत्यादिश्रुतिसिद्धस्यच्छन्दब्रिषु । अवरं वरमेव च-स्त्रभावतोऽच्यम् ; चर च देहित्वे । स्क्ष्मत्वात् तद्विज्ञेयम् एवं सर्वशक्तियुक्तं सर्वज्ञं तत् आत्मतत्त्वमस्मिन् क्षेत्रे वर्तमानमप्यतिस्क्ष्मत्वात् देहात् पृथक्त्वेन संसा-रिभिरविज्ञेयम् , द्रस्थं चान्तिके च तत् अमानित्वाद्यक्तगुणरहितानां विपरीतगुणानां पुंसां स्वदेहे वर्तमानमप्यतिद्रस्क्षम्, तथा अमानित्वादिगुणोपेतानां तदेवान्तिके वर्तते ॥ १५ ॥ अविभक्तं च भृतेषु विभक्तमिय च स्थितम् । भृतभर्तः च तत् ब्रेयं प्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६

"स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा. ८. १२. २) इत्याविर्भृतस्रह्मस्य तदुक्तेः । तस्य च विधूतपुण्य पापस्वात् । "स्रराङ्भवति" (छा. ७. २५. २) इति वचनाच । तदेतदभिन्नेत्य स्वच्छन्दवृत्तिष्वि त्युक्तम् । ''स यदि पितृछोककामो भवति'' (छा. ८ २.१), ''इमान् छोकान् कामान्नी काम-रूप्यनुसञ्चरन्'' (ते. मृ) इत्यादिकमादिशब्देन गृष्ठते । खरूपतो निर्विकारस्यात्मनस्रिधामावादिकं पितलोककामादिकं च शरीरपरिग्रहमन्तरेण नोपपद्यते ; <sup>1</sup>शरीरं चास्य पाकृतानामपाकृतानां वा भूतानां संघात एवेति भूतान्तर्विर्तित्वं सिध्यतीत्यभिष्रायः । अचरत्वचरत्वयोने <sup>श्</sup>चराचरान्तरत्वे गुद्धावस्थाया-मन्वयः : अतः बहिरन्तः इत्युक्तसशरीरत्वाशरीरत्वे तल हेतू इति दर्शयित स्वभावतोऽचरं चरं च देहिरव इति । <sup>8</sup>पादाद्यधीनसंचारतदभावाविह विवक्षितौ । योग्यानुपरुम्भवाध[क]परिहारायोच्यते सक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयमिति । अहमिति नित्यमुपरुभ्यमानस्य अविज्ञेयत्वं केनाकारेणेत्यलाह एवं सर्व-**शक्तियक्तं सर्वज्ञ**मिति । **त**च्छञ्दपरामुष्टोऽयमर्थः । योग्यत्वशङ्कासूचनाय दूरत्वाचनुपरुम्मकारणान्तराः भावोपुरुक्षणतया अस्मिन् क्षेत्रे वर्तमानमपीरयुक्तम् । पृथिन्याद्यपेक्षया सूक्ष्माणामपि वाय्वादीनां पृथगुपलम्भोऽस्तीति तद्वयुदासायोक्तम् अतिस्कृमन्वादिति । अहं जानामीत्यात्मन उपलम्भे सत्यपि विविच्य ज्ञातुमश्रवय[स्व]मित्रज्ञेय[स्व]मिति सोपसर्गनिषेधेन विवक्षितमिति दर्शियतुं देहारपृथवस्वेने त्यक्तम् । प्रथवत्वस्य सर्वदा सर्वेर्नुपरुम्भे शश्युङ्गादिवद्पामाणिकत्वमेव स्यात् , योगाभ्यासविधानस्य च निरर्थकत्वं स्यादित्यत्रोक्तं संसाविभिरिति । योगिनामपि मुक्तवदविच्छित्रविशदतमप्रत्ययाभावात संसारिभिरिति सामान्येनोक्तम् । यद्वा योगविरिहता इह संसारिशब्देन विवक्षिताः, योगिनामासन्न-मोक्षत्वेन मुक्तप्रायत्वात् । द्रस्थं चान्तिकं च तदित्यनेन न व्याप्तिर्विवक्षिता, तस्याः सर्वमाष्ट्रस विष्ठतीति प्रागेवोक्तत्वात् । अतोऽल सूक्ष्मत्वात् संसारिभिरविज्ञेयस्य कथं तैरेव विज्ञातव्यत्विधिरिति शङ्काव्यदासायाधिकारिमेदेन दुर्शहत्वसुप्रहत्वपरत्वमाह अमानित्वादीति ॥ १५ ॥

<sup>1</sup> नतु मुक्तस्य हि जक्षणादिकमुक्तम् । तत् अपाङ्गतरूपसाध्यमिति कथं भूतसंघातसंस्थान-मित्यबाह शरीरञ्जिति । मुक्तस्य आवेशावतारे प्राष्ट्रतं शरीरम्, साक्षाद्वतारे चाप्राष्ट्रतम् अप्राकृतपृथिव्यादिभृतम्यमिति भावः। 2 चराचरान्तरत्वे-जङ्गप्रस्थावरङ्ग्यजीवावान्तरभेदरूपत्वे ।

<sup>3</sup> ननु जीवस्य सुषुतौ सत्संगत्यागतिश्रवणादस्त्येव क्रिया, विरज्ञां मनसाऽस्त्येतीत्यत्न च स्वरूपमावगत्येत्यत्नाह पादेति ।

देवमनुष्यादिभृतेषु सर्वत्र स्थितमात्मवस्तु वेदितृत्वेकाकारतया अविमक्तम् । अविदुषां देवाद्याकारेण 'अयं देवो मनुष्याः' इति विभक्तमिव च स्थितम् । देवोऽह्य्, मनुष्योऽहमिति देहसामानाधिकरण्येनानुसन्धीयमानमपि वेदितृत्वेत देहार्त्यान्तरभृतं झातुं अक्यमिति आदावुक्तमेव, 'एतत् यो वेत्ति' (१) इति ; इदानीं प्रकारान्तरेश्व झातुं अक्यमित्याह मृतमित्तं वित्ते । भृतानां पृथिन्यादीनां देहरूपेण संहतानां यत् भर्तः, तत् भर्तन्योभ्यो भृतेभ्योऽर्थान्तरं ज्ञेयम् ; अर्थान्तरमिति झातुं अक्यमित्यर्थः । तथा प्रसिष्णु अन्नादीनां मौतिकानां ग्रसिष्णु, प्रसमानभ्यो भृतेभ्यो प्रसितृत्वेनार्थान्तरभृतमिति झातुं अक्यम् । प्रमित्वणु च प्रभवहेतुश्व, प्रसानामन्नादीनामाकारान्तरेण परिणतानां प्रभवहेतुः, तेभ्योऽर्थान्तरमिति झातुं अक्यमित्यर्थः ; मृतशरीरे प्रसनप्रभवादीनामदर्शनाच भृतसंघातरूपं क्षेत्रं प्रसनप्रभवभरणहेतुरिति निश्चीयते ॥ १६ ॥

्रामुक्तं साम्यमिहापि विविक्षतिमत्याह देवमनुष्यादीति । अविभक्तं सक्ष्येण देव[स्व]।दिविभागरिहतिमित्यर्थः । विभक्तमिवेति इवशब्देन आन्तोपरुम्भविषयीकारस्वनमाह अविदुषामिति । एवं
गुद्धध्वस्थोक्ता । तत भूतभित्रंत्यदिना जगद्धध्यापर्<sup>8</sup>अमस्युदासाय प्रकरणस्य भोवतृत्यतितेकपरतामेव
वदन् पूर्वोक्तपुनरुक्तं च परिहरति देवोऽहमित्यादिना अम्बद्धयेन(स्वयेण<sup>5</sup> ?) । अहंत्वानहंत्वज्ञातृत्वाज्ञान्त्वादिक्त्यो भेदः प्रामुक्तः; अस्त तु आधाराध्यमावभोवतृत्वभोग्यस्विकार्यस्वविकारहेतुत्वैर्विकः
क्रियत इत्यर्थः । अस्त जीवमर्तव्यविषयो भृतशब्दोऽचिन्मात्वपरः; तत्वापि प्रसिद्धधनुरोधेन महामृतविषयस्वेऽपि क्षेत्रमकरणात् तादशपरिणामवद्भृतविषय इत्याह भृतानामिति । ज्ञेपशब्दश्च ज्ञेपं
पत्तरवृद्धयामीत्युक्तान्तत्वेऽपि पुनरिहोच्यमानत्वात् तद्विरिक्तार्थतया व्याख्यातः । मर्तृत्वमतेव्यत्वफल्तिमाह अर्थान्तरमिति । प्रभवहेतुरिति । देहव्यितरिक्तस्वोपपादने तात्वयविद्यमेवार्थं उचित इति
भावः । प्रभवोऽत्व रेतोगर्भादिक्तपण परिणामः । आक्रागन्तरेण रसमल्धात्वादिक्तपणेत्यर्थः । ननु
शरिरेणैव प्रामादिकं क्रियमाणं इत्यते; न कार्यकरणस्वातमन्तरेण निर्वयवस्य प्रमुनादिसंभवः; तत्
कथमात्मधमेत्वेन व्यपदित्यत इति शक्कायामुक्तमर्थं व्यितरेकेण द्वयति मृतश्चिर इति । क्षेत्रं

<sup>1</sup> स्वरूपभेदवस्य अविग्रहक्षेत्रादिष्वित पदच्छेदः । विग्रहम्तं क्षेत्रं प्रागुक्तम् । अविग्रहक्षेत्रं केदारादिकम् । विग्रहम्तक्षेत्रं भेदंतात्मस्वरूपभेदात् अविभक्तत्वामावेऽपि विग्रहान्यक्षेत्रवत्स्य स्वरूपभेदेपि अविभक्तराब्द्रप्रयोगः दायविभागात् प्रागस्ति । तद्य्यावृत्तोऽर्थं उच्यत इति स्यात् । पाठो वा द्रष्ट्यः । अर्थोऽन्यो वा चिन्त्यः । 2 ग्रुहक्षीवे सामर्थ्यस्यैवात विवक्षितत्वात् जगत्स्पृष्टिस्थितसंहतिसामर्थ्यमुत्तरार्थस्यार्थोऽस्तु, पदानां तत्रैय स्वरस्तवादिति न अमितव्यम् । जगद्यापारवर्जमेवेष्टेः सामर्थ्यस्याय्यप्रमाणिकत्वादिति भाष्यकृतां भावः । अन्यथा हि तत्परतयैव त्रैयस्थातं स्यादिति भावः । 3 उत्तरार्थगतविद्रोवणत्वयस्य विवक्षितत्वात् त्रयेणेति पाष्ट्यम् ।

कल्पनादिभिर्निरस्ताः ॥ १६ ॥

ज्योतिषामिष तत् ज्योतिस्तमसः परमुच्यते । झानं झेयं झानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७ ज्योतिषाम् दीपादित्यपांणप्रमृतीनामिष तदेव ज्योतिः प्रकाशकम्, दीपादित्यादीनामप्यात्मप्रमारूपं ज्ञानमेव प्रकाशकम् । दीपादयस्तु विषयेन्द्रियसिककर्षविरोधिसंतमसिन्स्तिनामां कुर्वते । तावन्मात्रेण तेषां प्रकाशकत्वम् । तमसः परमुच्यते । तमश्चन्द्रः सुक्षमावस्य-प्रकृतिवचनः । प्रकृतेः परसुच्यतं । उत्तर्भावस्य-प्रकृतिवचनः । प्रकृतेः परसुच्यतं । उत्तर्भावस्य । अतो ज्ञानं ज्ञेयम् ज्ञानकारमिति ज्ञेयम् । शरीरत्ववेषेण प्रसन।दिकारणम् , उत भृतसंयातमात्रेण १ आद्ये शरीरत्वस्यात्मपित्योगिकत्वादात्मसापे- क्षत्यं प्रसन।दिकारणम् , उत भृतसंयातमात्रेण १ आद्ये शरीरत्वस्यात्मपित्योगिकत्वादात्मसापे- क्षत्यं प्रसन।दिकारणम् , उत भृतसंयातमात्रेणः । यद्यपि सृतकारीरेऽपि केचित् विशेषाः दृश्यन्ते, तथाऽपि जीवज्ञानपूर्वकप्रसन्भरणाद्यभावाच ते जीवापेक्षाः ; ईश्वरापेक्षा तु सार्वितिकीति न तत्र विशेष इति भावः । अत्र भरणप्रसन।दिकं रज्ज्वादिष् सर्पादेरिवेति वदन्तः श्रवहानाश्वन-

नन स्वरूपमालपकाशरूपस्य आत्मस्वरूपस्य कथं मण्यादिपकाशकत्वमित्यलाह दीपादित्या-**ढीनामपी**ति । दीपादित्यादीनां यथा विषयसंबन्धिप्रभाद्वारा प्रकाशकत्वम् , न खरूपतः, तद्वद्वापि प्रमास्थानीयेन ज्ञानारूयधर्मेण प्रकाशकत्वमिति भावः । अन्यप्रकाशकानामपीति अपिशब्दार्थः । प्रकाश्य-मृत्रघटादिवत् तत्प्रकाशक[प्रकाशकता?]ज्ञानाश्रयमृते प्रत्यगात्मनीतिभावः। विषयेन्द्रियस्यिक्ष्यशब्दे-नाल सामग्रीमध्यपति<sup>1</sup>सन्निकर्षोऽभिष्रेतः; तन्मूलपकाशो वा लक्षितः; संतमसस्य कुड्यादिवत् विषयेन्द्रिय-सन्निकषेविरोधित्वाभावात । अन्यथा संतमसवर्तिनः पुरुषस्य संतमसान्तरित<sup>2</sup>प्रकाशमध्यवर्तिनां पदार्थानां कुट्यान्तरितपदार्थवत् अपकाशपसङ्गात् । एतेन दीपादेश्वाक्षपपदार्थमात्रपतिनियतत्या ज्ञानवन्न सर्वव्यापकं प्रकाशकरविमिति [च ?] सूचितच् । तावन्मात्रेण । न तु साक्षारप्रकाशजनकरवेनापीत्यर्थः । ज्योतिस्सन्तिकर्षात् प्रसिद्धिपाचुर्याचाल तमश्शन्दस्य तिमिर्विषयत्वधीन्युदासायाह तमश्शन्द इति । ज्योतिषामपि प्रकाशकतया कैमुत्यसिद्धस्य तिमिरात्परत्वस्याभिषाने प्रयोजनामावातः प्रकृतेः परत्वस्य चावस्थवक्तव्यत्वात : तमस्शब्दस्य च. 'यस्य तमस्श्रिम्' (वृ. ५. ७. १३), 'तम आसं।त् । तमसा गृहमंत्रे प्रकेतम् ' (अष्ट २.८ ९.४), 'यदा तमस्तत्' (श्वे.४.१८), 'तम:....एकीभवति' (स. २), 'आसीदिदं तमोभूतम्' (मन्. १ ६) इत्यादिए मूलपकृतिविषयतया श्रीतसार्तपयोग-शालर्याचेति भावः । **परम** अन्यदित्यर्थः : भोक्ततया प्रधानस्तमिति वा । <sup>3</sup>शागपि हि ते [यक्रती] परावरतया विभक्ते । उच्येत इति । 'निर्गुणः प्रकृतेः परः' (वि. २. १४. २९) इत्यादि ज्विति कोष: । एतेन जडकैरुक्षण्यं विवक्षितमित्यभिषायेण।ह अत इति । पूर्ववद्वैधम्यानुसंधानशक्यतायां **ज्ञेय**-. शब्दस्य तात्पर्यमः अन्यथा पौनरुक्लादित्यभिषायेणाहः **ज्ञानैकाकारमिति ज्ञेय**मिति । **ज्ञानगम्**य-मित्यत्र सर्वसाधारणज्ञानविषयत्वमात्रामिधाने प्रयोजनामावात् ज्ञेयमित्यनेन पौनरुवत्यात् ग्रय्यशब्दस्य

<sup>1</sup> फलोपधायकसंनिकवेत्यर्थः। 2 अन्तरित

<sup>2</sup> अन्तरितेति । व्यवहितेत्यर्थः ।

<sup>3</sup> प्राक्-सप्तमाध्याये, 'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्' इति ।

तच ज्ञानगम्यम् अमानित्वादिभिज्ञानिसाशनैरुक्तैः प्राप्यमित्यर्थः । हृदि सर्वस्य विष्टितम् <sup>1</sup>सर्वस्य मनुष्यादेः हृदि विशेषेणावस्थितम्-सिन्नहितम् ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं क्षेयं चोकं समासतः। मद्रक्त पतत् विज्ञाय मद्रावायोपपच्यते॥ १८ एवं महाम्तान्यहङ्कारः (५) इत्यादिना संघातक्षेत्रनाष्ट्रितित्त्यन्तेन क्षेत्रतत्त्रं समासेनोक्तम्। अमानित्वम् (७) इत्यादिना तत्त्वज्ञानार्थीचन्त्रनिमत्यन्तेन ज्ञातच्यसारमतत्त्वस्य ज्ञानसाधनमुक्तम् । अनादि मत्परम् (१२) इत्यादिना हदि सर्वत्य विष्ठितिमत्यन्तेन ज्ञेयस्य क्षेत्रज्ञस्य याथात्म्यं च संक्षेपेणोक्तम् । मद्भक्तः एतत् क्षेत्रयाथात्म्यं, क्षेत्राद्विकात्मस्यस्प्रपारन्युपाययाथात्म्यं क्षेत्रज्ञयाथात्म्यं च विज्ञाय, मद्भावायोपपचते। मम यो भावः स्वभावः, असंसारित्वम् [तस्मै?] असंसारित्वम् प्रतस्ति

अथात्यन्तविविक्तस्वभावयोः प्रकृत्यात्मनोः संसर्गस्यानादिन्वं संसृष्टयोईयोः कार्यभेदः संस्गृहेतुश्रोच्यते —

प्रकृति पुरुषं चैव विद्ययनादी उमाविष । विकारांध्य गुणांध्येव विद्धि प्रकृतिसंभवान ॥ १९ प्रकृतिपुरुषी उभी अन्योन्यसंस्रष्टी अनादी इति विद्धि ; वन्धहेतुभूतान विकारान्

प्राप्यपर्यायस्वप्रसिद्धेश्च प्रकृतसंगतं विवक्षितमाह अमानिस्वादिमिरिति । (११) एतज्ज्ञानमितिवत् अलापि करणच्युत्पत्ति व्यनक्ति ज्ञानसाधनैककैरिति । मनुष्यादेरिति । पिण्डस्येति होषः । मोकृत्वादिरूपेणावस्थानं विशेषणावस्थानम् । यद्वा हृदि स्वरूपेणावस्थानम् ; अवयवान्तरेषु तु स्वधमंमृतज्ञानेनेति विशेषः । स्थिति (त १)शब्दस्याल मुक्त्यार्थयोगात् सित्रधिमालपरत्वमुक्तम् ; 'सर्वस्य गृहेऽप्ययमेव वीहिः' इतिवत् जात्यैकश्विवक्षया सर्वस्य हृदि स्थितिनिर्देशः ॥ १७ ॥

उपसंहरन् उक्तयाथारम्यज्ञानस्य फलं चाह इतीतिस्रोकेन । प्रकृतपरामर्शिन **एत्**च्छब्दस्य विशेषकाभावात् प्रकृतार्थत्नयविषयस्यमाह क्षेत्रयाथारम्यमित्यादिना । मद्भावायेत्यत्न साम्यश्रुत्यादि-विरुद्धतादारम्यश्रमन्युदासायाह सम यो भावः स्वभाव इति । नित्यसिद्धज्ञानत्वादिस्वभावच्यवच्छेदायाह असंसारित्वमिति । उपपदाते इत्यस्य ज्ञानजन्ययोग्यतायां तास्पर्यप्रपत्नशन्देन दर्शितम् ॥ १८ ॥

अथ वन्धहेतुरित्वनेन (गी. सं. १७) संगृहीतं प्रकृतिं पुरुषमित्यारभ्य <sup>2</sup>विवेकानुसंधानात्पूर्व-स्थार्थं विविनक्ति अथेति । संसर्गहेतुश्रेति । प्रवाहानादेस्सर्सास्य निमित्तमित्वर्थः । उभावनादी इत्यत्न प्रकृति पुरुषं चेति इतरेतरयोगपरचकारेण छव्धं विशेषं <sup>9</sup>द्दीयित प्रकृतिपुरुषावुभावन्यो-न्यसंसृष्टाविति । <sup>4</sup>तदपेक्षया द्विवनान्तपयोग उपपन्नः । प्रकृतिपुरुषावित्यत्न, "परविक्षित्नं द्वन्द्व-

सर्ववेत्रत्यनुक्त्वा सर्वस्येति वचनात् जीवनानात्वं क्षापितम् । 2 य एनं वेत्तीति (23)
 क्लोकपर्यन्तस्य । 3 तेनान्योन्यसंसर्गस्याप्यनादित्वसिद्धिपित भावः ।

<sup>4</sup> विशेषस्य मूले दिवचनेनातिदेशेऽपि तद्दित्वापेक्षया विशेषणे द्विवनप्रयोग उपपन्न इत्यर्थः । तर्हि प्रथमप्रयुक्तप्रकृतिपदानुसारेण उमे इति स्त्रीलिंगतिदेशः कृतो नेत्यत्राह प्रविल्लामिति । प्रकृति पुरुषञ्चिति प्रयोगक्रमेणैव समासस्य पुरःस्फूर्तेरिति भावः ।

इच्छाडेदादीन्, अमानित्वादिकांश्व गुणान् मोश्वहेतुभृतान् प्रकृतिसंभवान् विद्धि । पुरुषेण संस्कृष्टेयसगादिकाळप्रवृत्ता क्षेत्राकाश्यरिणना प्रकृतिः स्वावकारैभिच्छाद्वेशदिभिः पुरुषस्य बन्धहेतुर्भवति ; सैवामानित्वादिभाः स्वविकारैः पुरुषस्यापवर्गहेतुर्भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

कार्यकारणकर्तस्य हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तस्य हेतुरुच्यते ॥ ः कार्यं श्वरीरम् ; कारणानि ज्ञानकर्मारमकानि समनस्कानीन्द्रियाणि ।

तस्पुरुषयोः'' (अष्टा. २. ४. २६) इति पुल्लिङ्गत्वम् ; तद्विशेषणत्वात् उभावनादी इत्यनयोरिष् तिल्लिङ्गतेव र्य इत्यादिना (६), अमानित्वितियादिना ७) च निर्दिष्टाः यथाकमं विकारगुणशब्दाभ्यामनृत्यन्त इति वर्शयित वन्ध्यहेतु युतानिति । <sup>1</sup>तत् क्षेत्रं .... यिद्धकारि (३) इति प्रकरणोपकमे विकारशब्दत्वः क्षेत्रकार्यरत्वम् ; तत्माद्वचित्रवाचावाविष विकारशब्दत्वद्विषयः । अतः प्रकरणवळात्र महदाविदिकारपरव्यम् ; तत्माद्वचर्यच गुणाशब्दस्यापि पाकरणिकार्यविषयत्वो-चित्यात् सत्त्वादगुणिवपयत्वमयुक्तमिति भाषः । किकारश्चय गुणाश्चिति भेदोक्तितिदानज्ञापनाय वन्ध्यमिक्षहेतुत्वेन वचनम् । हेवीपादेयगुणपर्गद्वयौपदेशो हानोपादानार्थत्वयः सप्रयोजनः ; तस्य प्रकृतिसंभवत्वोपदेशस्त्रव्वच्याप्त्रम् , उच्यमानतया ज्ञातव्यार्थे विद्वः इत्यविकोकत्यमिषेतमाह पुरुषेपोति । प्रकृतिरेव आकारमेदेन हेयत्वोपादेयत्वज्ञापनार्थस्त्रसंभवत्वोपदेश इति भावः । स्विवकारे-रित्यमानित्यदीनां विकारस्वि। । श्वर्ते विद्वः स्वविकारस्व। । श्वर्ताः विकारस्व। विकारस्व।

अथान्योन्यसंस्ट्रयोः प्रकृतिपुरुषयोसंसर्गविद्योषनिवन्धतो व्यापारभेद उच्यते <sup>3</sup>कार्यकारणेति क्षोकेन । फार्य ज्ञासीरमिति । प्रकरणात्, कारणशब्दस्य समभिन्याहाराच अल कार्यशब्दो भोगायतनारूथकार्यविशेषपर इति भावः। 'इन्द्रियाणि दशैकं च' (५) इति इन्द्रियादिपकृतविषयोऽल कारणशब्द इत्याह **ज्ञानकर्मारमकानी**ति । एतेन ''कार्यं मृततन्मालक्ष्रपेण दशविधम् ; करणं बुद्धग्रहंकारक्षपेण लयोदशविधम् ; तेषां खळपोत्पत्ते प्रतिक्षणपरिणामे च हेतुम्ह्यकृतिः'' इत्यादि-

<sup>1</sup> नतु प्रकृतेः खरूपान्यथामावः ; पुरुषस्य खमावान्यथामावः; उमयमिह प्रकृत्यधीनिर्मिति विकारांश्च गुणांदचेति सामान्येन सुवचे किमित्यवं भाषणम् । गुणशब्दे। हि आत्मगुणेषु धर्मभूत- ज्ञानपरिणामेषु सर्वेत्र प्रसिद्ध (13-20) इत्यत्राह तत् क्षेत्रमिति ।

<sup>2</sup> विकारत्वाभाषणमिति पाठे आभाषणमिति उत्तरपदम् ।

<sup>3</sup> कार्यकारणकर्तृत्व इति । पुरुपः दारीरं हस्तादिना घश्मिकं कारयतीति प्रयोगे णिजन्त-धात्वयं प्रति कमेत्वात् रारीरं कार्यम् । णिजन्तार्थेश्च उत्पादनानुकूळव्यापारः । एयं णिजन्तात् करणे त्युिट कारणपदस्यात्त निर्पात्तः । तेन तादशिन्द्रयादिळामः । कतृत्व इत्यनेन तिन्नष्ठं णिज्यकृत्यर्थं-कर्तृत्वमुज्यते ; कारकसामान्यस्य स्वव्यापारं प्रति कर्तृत्वात् । तदाश्चयत्वमेव तद्वतुत्वम् उत्तरार्थ इव । इन्द्रियाणामपि तत् उपपन्नम् । रारीरेन्द्रियकृत्वे इत्यनुकृत्वा कार्यकारणेति निर्वेशः अधिष्ठातुरन्यस्य प्रयोजककर्तृत्वसृत्वसृत्वनाय । तद्भिप्रायेणोक्तं भाष्ये पृष्टपाधिष्ठतेत्वादि ।

तेषां कियाकारित्वे प्रस्ताविष्ठिता प्रकृतिरेव हेता: प्रस्ताविष्ठितक्षेत्राकारपरिणत प्रकृत्यात्रयाः मोगनाधनभूताः किया इत्यर्थः । पुरुषक्षाधिष्ठातृत्वमेव ; तद्येक्षया, 'कर्ता शास्त्रार्थवरवात्' (त्र. २. ३. ३३) इत्यादिकप्रक्तम् ; श्ररीसिष्टावश्रयत्नहेत्त्वभेव हि पुरुषस्य कर्तृत्यस् । प्रकृतिसंसृष्टः पुरुषः सुरवदुःस्वानां सोवतृत्वे हेतुः, सुरवदुःखानुभवाश्रय इत्यर्थः ॥२० व्याख्यानान्तराणि निस्तानि । 'कार्यकरणकर्तृत्वे' इति परोक्तं पाठान्तरमपसिद्धेरनादतम् । कर्त्त-शब्दोऽल न प्रयत्नाद्याश्रयत्वपरः, अचेतने तदसंभवात् ; अतो यथास्वं व्यापाराश्रयत्वं विवक्षित-मित्याह तेशां फ्रियाकारित्य इति । यद्यप्यवृद्धिपूर्वेषु केषुचिन्मनःश्रोत्रादिःयापारेषु पुरुषेच्छाधीनत्वं नास्ति ; तथाऽपि तेषां पुरुषभोगार्थस्वात् *ोस्ट्रापन्यापः । सन्*धियाः ताम**िष्ठान**स्पेदिसम् : वाहुरुयेन च श्यलाधीनत्वमस्तीत्यमित्रायेणाह पुरुवाधिष्ठितेति । विभव्य व्यापारनिर्देशात् प्रकृतिरेवे-त्यवधारणळाभः । ननु पुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिरित्ययुक्तम् , प्रख्यद्शायां करणकलेवरविधुरस्य संसारिणः स्वेच्छया शक्कत्यधिष्ठानासंभवादित्यत्नाह पुरुषाधिष्ठितक्षेत्राकाश्परिणतेति । मोगतत्साधनयोराश्रय-त्वलक्षणं हेतुत्विमह विविचयत इत्यभिषायेण प्रकृत्याश्रयत्वादिकथनम् । प्रकृतेः कर्तृत्वे, 'कर्ता शास्त्रार्थः वत्त्वात् ' (त्र. २. ३. ३३) इत्यादिमिः सुतैर्विरोधः स्यादित्यताह पुरुषसाधाष्ट्रातः वमेवेति । यदि पुरुषस्याधिष्ठातृत्वमात्रम् , तदा साक्षात्कर्तत्वं प्रकृतेरेवेति पुरुषस्य कर्तृत्वमौपचारिकं स्यादित्यताह— **श्रीराधिष्ठाने**ति । अथमभिप्रायः-न हि प्रयताधीनपरिस्पन्दाश्रयत्वरुक्षणं कर्तृत्वं पुरुषस्य सुत्र्यते : तत्र शास्त्रार्थवत्त्वादिहेतूनामन्यथासिद्धेः। न च शरीरादिमेरकत्रयत्नाश्रयत्वे कर्तृशब्दस्यौपचारिकताः; कृतिप्रयत्नयोः पर्यायत्वात् , कृत्याश्रयत्वरूपस्वाच कर्तृत्वस्य । तत्रश्चान्यत्तैव कर्तृत्वमौपचारिकमिति फल्तिम् । <sup>2</sup>यदि पुनर्थथास्त्रं च्यापाराश्रयत्वमेव सर्वेषां कर्तृत्विमत्युच्यते, तथा(दा १)ऽपि पुरुषस्य कर्तृत्वं मुरूयमेवेति । ननु 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्ता' इत्ययुक्तम् , गुद्धस्य पुरुषस्य पियापियविधुरत्वश्रतेः ; वद्यपि मोक्षे विरुक्षणं सुखमनुसूयते, तथाऽपि दु:खपसङ्गस्तु नास्त्येवेत्यलाह प्रकृतिसंसृष्ट इति । "न ह वै सज्ञरीरस्य सत: त्रियात्रिययोरपहतिरस्ति'' (छा. ८. १२. १) इत्यपि श्रयत इति भावः। विषयेन्द्रियादिरूपेण परिणतायाः प्रकृतेरिप भोक्तुत्वे हेतुत्वमितः ; तत् कथं पुरुषो विशिष्य निर्दिश्यते इत्यताह*्* सुस्रदुःस्वानुभवाश्रय इति । <sup>3</sup>तत्कारुखसमवेतसुखदुःखसाक्षात्कारो भोग इति भोगरुक्षण-मप्यनेन स्चितम् । एतेन निर्विकारपुरुषसन्निधानात् पञ्चतेरेव मोवतृत्वमिति पक्षो निरस्तः । तदा, "पुरुषोऽस्ति भोनतृमावात् ", "पुरुषस्य द्र्शनार्थं कैवल्यार्थं तथः प्रधानस्य" (सां. का. १७. २१)

<sup>1</sup> पाठद्वयमि शांकरेष्टम् । कार्य शरीरिमत्यर्थ एव प्रथमं तत्राप्युक्तः। तत्र पश्चात् बहुविधार्थ-वर्णनेपि अत्र भाष्ये देहेन्द्रियपरतया व्याख्वानं कर्तृत्वपदस्य प्रयत्नाधीनव्यापारवत्त्वरूपार्थ एव स्वारस्यात् । तस्य देहेन्द्रिययोरेथ सत्त्वात् । इदं पुरुवािबिष्ठितेत्यादिभाष्येण बाष्यते ।

<sup>2</sup> व्यापारसामान्यं कृतिरिति प्राचां पक्षे आह यदीति ।

<sup>3</sup> योगिप्रभृतिगतस्यातीतादिरूपसुखादिसाञ्चात्कारस्य भोगत्वाभावात् तत्काळखसमवेतेति ।

एवमन्योन्यसंस्रष्ट्योः प्रकृतिपुरुषयोः कार्यमेद उक्तः ; पुरुषस्य स्वतस्स्वानुभवैक-सुलसापि वैषयिकसुखदुःस्वोपभोगहेतु[स्व]माह-

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिज्ञान् गुणान् । गुणग्रब्दः स्वकार्येष्वोपचारिकः । स्वतस्स्वानुभवैकसुस्यः पुरुषः प्रकृतिस्थः प्रकृति

इत्यादिखप्रनथिवरोधश्च । अयं हि पक्षः शारीरके, "रचनानुपपतेश्च" (२. २. १) इत्यारभ्य, "विपति-षेधाचासमञ्जसम् " (९) इत्यन्तैस्सृत्नैविस्तरेण प्रतिक्षिप्तः । अत च श्लोके यदि प्रकृतेरेव भोवतृत्व मि विविक्षतं स्थात् , तदा कर्तृत्वे भोक्तृत्वे च प्रकृतिरेव हेतुरिति वक्तव्यभः न तु विवेक्तव्यमः भोक्तरबस्यापि कर्तृत्विविशेषस्वातः 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' (पू. मी. ३. ७. १८) इति न्यायाच । न च वाच्यं कर्तृत्वं प्रकृते: खतिसाद्धम् , भोवतृत्वे तु तस्ता: पुरुषो हेतुरिति प्रदर्शनाय विवेक इति : पुरुषितरपेक्षायाः केवलायाः प्रकृतेः कर्तृत्वस्याप्ययोगात् : अनभ्युपगमाच । अन्यथा विशुद्धकेवल ज्ञानोदयेऽपि. "तेन निवृत्तप्रसवामधेवज्ञात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् " (सां. का. ६५) इत्युक्तसप्तरूप-विनिवृत्तिभक्तपसङ्गात् । तथाच मुक्ताविप यथापूर्वमेव प्रकृतिप्रवृत्तिः स्यात् । ''संघातपरार्थरवात् लिगुणादि-विपर्ययाद्धिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति भोवतृभावात् कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च ॥ जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद-युगपरप्रकृतेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाचैव'' (सां. का. १७. १८) इत्यधिष्ठानायुगप-त्प्रवृत्तिभ्यां पुरुषतद्बहुत्वकल्पनं च भज्येत । अत्न, ''पुरुष: प्रकृतिस्थो हि सुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् " इत्यनन्तरोक्तिश्च च्याहन्येतेति भावः ॥ २०॥

उक्तैकदेशे शङ्कोदयार्थम् [उक्त]वश्यमाणपुनरुक्तिपरिहारार्थं चोक्तं विविच्यानुभाषते एविमिति । र्परिराद्धस्य स्नानुभवसुर्वेकतानस्य प्रत्यगात्मनो वैषयिकबाह्यसुखुः स्वोपमोगो न तात्त्विकः स्यात् ; अपि तु स्फटिकमणौ जपाकुमुमपाटिलमवत् आसितिविशोषादारोपित एव स्यादिति शङ्का पुरुष इत्यर्धेन परिह्नियत इत्याह पुरुषस्येति । सत्त्वादिगुणा न साक्षाङ्कोक्तव्याः, सुखदुःखमोहकार्योन्नेय-तयाऽतीन्द्रियत्वात् : तत्वुखदु:खानां भोकतृत्वं च प्रसक्तमुपपादनीयम् : तच हिश्बदेन द्योतितम् । अत तु प्रकृतिज्ञान गुणान भुड्क इति गुणभोक्तृत्वं कथमुच्यत इत्यताह गुणग्रब्द इति । स्वकार्ये व्वित लक्षणानिमित्तकथनम् । स्वशब्देन गुणख्रूप्रम् । यद्यपि गुणशब्दः सुखदः-खेप्विप मुख्यः, <sup>1</sup>तथाऽपि प्रकृतिगुणत्वस्य विवक्षितत्वादौपचारिक इत्युक्तम् । उत्तरत्नापि हि बहुशो गुणराब्दः सस्वादिविषय एव । यथावस्थिताकारोऽत **पुरु**षराब्देनानूदित इत्याह स्वतस्स्वाः तुभन्नेकसुख इति । प्रकृतिस्थशन्तः स्वाम्ध्यादिपरोऽपि प्रयुज्यत इति तद्वयुदासाय प्रकृतिसंसृष्ट इत्युक्तम् । प्रकृतिजानित्यनेन प्रकृत्याश्रयत्वं न विवक्षितम् , 'सुरूयहं', 'दुः रूयहम्' इति स्वाश्रिततयैव

<sup>।</sup> तथापीति । गुणरान्देन आत्मगुणन्यतिरिक्तसुधारःखमोहात्मकमोग्यविषयाणामपि ब्रहणं सत्त्व।दिगुणपरत्वे खरसमिति भावः।

संस्टः, प्रकृतिजान् गुणान् प्रकृतिसंसगींपाधिकान् सत्त्वादिगुणकार्यभृतान् सुखदुःखादीन्, सङ्के अनुभवति ॥ प्रकृतिसंसगीहेतुमाह —

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसयोनिजन्मस् ॥ 🛩

29

पूर्वपूर्वप्रकृतिपरिणामरूपदेवमनुष्यादियोनिविशेषेषु स्थितोऽयं पुरुवस्तत्त्त्वोनिवशुक्तसत्त्वादिगुणमयेषु सुस्दुः स्वादिषु सक्तः तत्साधनभूतेषु पुण्यपापक्रमेषु प्रवर्तते ; ततस्तत्पुण्यपापप्रसानुभवाय सदस्योनिषु साध्वपाषुषु योनिषु जायते ; ततस्र कर्मारभते ; ततो (ततश्र)
तदुव्रव्यमाप् , अन्तःकरणिवकाराणां सुस्नादीनां स्वातमन्यारोप इति पक्षस्य निर्दिष्टपमाणिवरुद्धत्वात् ।
अतस्तदुपिकत्वमेव विविक्षतिमिति ज्ञापनाय प्रकृतिसंसर्गोपाधिकत्वोक्तिः । आदिग्रव्देन
पूर्वसमिन्याहृतेच्छाद्वेषादिसंग्रहः । तेऽपि हि कर्मफल्यता भोक्तव्याः । आत्मनेपदान्तत्वाद्यीनन्वयाचाल पालनार्थत्वमगुक्तम् । अभ्यवहारार्थोऽप्यतानौचित्यादेव त्यक्तः । अतोऽल सुङ्क इति
प्रस्तुतानुभवमालं विविक्षतम् । स्रसमवेतवर्तमानसुख्तुःस्वसाक्षात्कारो भोग इत्यपि हि स्क्षयन्तीत्यमिप्रायेणाह अनुभवतीति ॥

स्वानुभवैकतानस्य वैषयिकसुखदु:खोपभोगे प्रकृतिसंसर्गो हेतुरुक्तः, परिशुद्धस्यात्मनः सोऽपि प्रकृतिसंसर्गः कथिमिति शङ्कामनन्तरं परिहरतीत्यभिष्रायेणाह प्रकृतिसंसर्गहेतुमाहेति । बीजाङ्करन्यायेन प्रवाहानादित्वादन्योन्याश्रयणचककादिपरिहारसिद्धौ नानवस्थादोपः ; प्रवाहेषु च पूर्व[हेतु] वैचित्रव्यः सिद्धिः । गुणसङ्गस्य विहितनिषिद्धकर्मद्वारा तत्फळानुभवार्थविचित्रजन्महेतुत्वात् शास्त्रसाफल्यम् , "कप्रयचरणा अभ्याशो ह यत् ते कपूर्यां योनिमापद्येरन् ....रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिमापद्येरन् '' (छा. ५. १०. ७) इति सदसघोनिप्राप्तेः कर्ममूळत्वश्रुत्यविरोधं चाह पूर्वपूर्वेति । सत्त्वादीनां साक्षात्सङ्गास्यद्त्वायोगाद्वापि गुणशब्दस्य पूर्ववदौपचारिकत्वाभिशायेण सत्त्वादिगुणमयेष सुखदःखादि। ब्रांखक्तम् । दुःखसङ्गो नाम दुःखे धुखश्रान्त्या सङ्गः ; दुःखहेतुषु हि सागरतरणादिषु सुखळवसङ्गात् सज्जते । "भ्रान्तिज्ञानवतां पुंसां प्रहारोऽपि सुखायते" (वि. १. १७. ६१) इति चाहु: । यो हि यदिच्छति, तस्य तस्मिन् तत्साधने वा कार्यताबोध इति स्थिते सुखस्य खरूपेण कर्तमशक्यत्वात तत्साधनेष्वेव पुरुषपष्टतिरित्यभिषायेण तत्साधनभूनेष्वित्युक्तम् । श्रूयते च, "स यथाकामो भवति तत्कतुर्भवति," (चृ. ६. ४ ५) इति । **सदस**च्छव्दयोरस्तिनास्तीत्याद्यर्थः तायामनन्वयात् . ''तत् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिमापधेरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि वा....अय य इह कपृयचरणा अभ्याशो ह यत् ते कप्यां योनिमापद्येरन् श्वयोनि वा स्करयोनि वा चण्डालयोनि वा" इत्यादिश्रस्यनुसाराच साध्वसाध्यवदः। साध्वसाधषु योनिविवति बदता ''सदसतोर्योनिषु जन्मसु'' इति परव्याख्या निरस्ता ।

<sup>1</sup> जन्मसु विषये सुखदुःखमोहरूपगुणसंगः कारणम् । अथवा संक्षारपदाध्याहरेण जन्मसु संसारस्य गुणसंगः कारणिमत्यर्थद्वयं शांकरोक्तं न दृषितम् ।

जायते; यावत् अमानित्वादिकान् आत्मप्राप्तिमाधानभूतान् गुणान् [न]सेवते, तावदेव संसर्गते । <sup>1</sup>तदिद्कतं कारणं गुणसक्षोऽस्य सदस्योनिजन्मसु इति । २१ ॥

उपह्रपाऽनुमन्ता च भर्ती भोक्ता महेश्वरः । परवातमेति चाण्युको देहेऽसिस् पुरुषः परः॥२२ अस्मिन् देहेऽवंस्थितोऽयं पुरुषो देहपवृत्त्यनुगुण । कृत्यादिरूपेण देहस्योपद्रष्टा अनुमन्ता च भवति । तथा देहस्य भर्ता च भवति । तथा देहस्य भर्ता च भवति । तथा देहस्य भर्ता च भवति । एवं देहनियमनेन, देहमरणेन, देहसेविरनेन च देहिन्द्रयमनांसि प्रति महेश्वरो भवति । तथा च वहयते, "शरीरं यदवाभोति यचाप्युत्कामतीक्षरः । गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽग्रयात् ॥" (१५.८) इति । अस्मिन् देहे देहान्द्रयमनांसि प्रति परमात्मेति वहुचननेकस्यैव पुरुषस्य प्रवाहक्षणे विचित्रानन्तस्यसद्योनिसंवन्धो विविद्यत स्थापित्रयण तत्र कर्मारमते, ततो जायत इत्यादिकमुक्तन् । एवं प्रवाहतोऽनादित्ववत् अविच्छेतात् प्रवाहानन्तत्वमि कि स्थादिति शक्कां परिहरति यावदिति । प्रकृतिसंसर्गस्य गुणसंसर्गः कारणिनत्युक्ते सति, अर्थात् 'कारणाभावे कार्यभावः' इति न्यायादमानित्वादिभिर्गुणसक्तिन्वत्या सदसद्योनिजन्मप्रवाहोऽप्युच्छिन्द्यस्य मवतित्याह गदिद्यसुक्तिति । अत्र कण्डोक्त्यभावेऽपि गुणसक्तस्य पूर्वपूर्वदेहसंबन्धप्रमुक्तत्वं कर्मद्वारा योनिशासिहेतुत्वादिकं च श्रुतिस्थल्यन्तरानुसारादिभिष्यायत उक्तमिति भावः' ॥ २१ ॥

सदसयोनिजन्मसमनःतरमाविनः पुरुषस्थावान् आह उपद्रष्टेति स्रोकेन । द्रष्टा प्रमाणादि-वरोन दश्यानां प्रदर्शकः ; उरद्रष्टा यथाप्रियं प्रवृतः ; अनुमन्ता प्रवर्तमानस्यानुसंयाता ; तत्तरसाध्यर्थात् इहोपद्रष्ट्नुमन्तृशब्दावित्याह देहप्रवृत्त्ययुगुणसंकरपादिरूपेणेति । आदिशब्देन प्रेरणं संगृहीतम् । यद्वा प्रवृत्तस्य प्रवर्तकोऽजुमन्तेति मेदमिभेन्नेस्य आदिशब्दः । उपद्रष्टृश्वानुमन्तृस्वादेः प्रितसंविध्यसापेक्षस्यादिषकरणत्या सिलहितोऽपि देहः प्रतिसंविध्याद्यप्रवृत्त्यमहैतीत्यिभिप्रायेण देहर्येन्युक्तम् । नियन्तृस्वधारकत्वशेषित्वानां शरीरपतिसंवन्ध्यात्मस्वक्षणानां विभागप्रदर्शनाय प्रवृत्तिविषयोपद्रष्टृश्वानुमन्तृत्वयोरेकवावयकरणं तथेत्यादिवावयमेदश्च<sup>2</sup> । भर्ता धारकः । उक्तहेतुकं सिलहितदेहादिविषयमेवास्य महेश्वरत्विमत्याह एविमित् । देहजन्यफलमोवनृत्वकथनेन देहस्य तद्येतया देहिनश्चोष्टितं फलितिमत्यिभिपायेणाह देहशेषित्वेन चेति । कर्माधीनजननमरणमाणिनि जीव एवेश्वराब्दस्य परिच्छिलविषयतया प्रयोगं दर्शयति तथा चेति । जीवास्मन्येव ज्ञानतो व्यास्या परमात्मशब्दययोगोवपत्यये सिलहितसंकोचकान्वयमाह अस्मिन् देह इति । साक्षात्परमात्म-विषयत्व सिति अस्मिन् देह इति । साक्षात्परमात्म-विषयत्व सिति अस्मिन् देह इत्यसक्रतमिति मावः । अल देहेन्द्रियमनांसीति मनसः प्रथगुगदान

तिद्वमुक्तिमिति । हेतुत्वकथनमुखेन गुणसंगापाये जन्मापाय इत्यथ्यभित्रतिमत्यर्थः ।

<sup>2</sup> जपद्रष्टाऽनुमन्ता चिति चकारेण उभयं मिलितं नियन्तृःवमिति झापितम् । वाक्यभेदो च्युन्पादनार्थः । वस्तुत एषां हेतुगर्भविशेषणतया महेद्द्वर इत्यादिनैकवाक्यतैवेति एवं देहेत्यादि-भाष्येण झाय्यते । उपद्रष्टःवादिमान् भहेद्वर इति परमात्मेति चोक्त इत्येक एवान्वयः ।

चाप्युक्तः । देहे मनसि च आसंशब्दोऽनन्तरमेव प्रयुज्यते, ''ध्यानेनारसिन पदयन्ति केचि-दारमानभारमना'' (२४) इति ; अपिशब्दात् महेश्वर इत्यप्युक्त इति सम्यते ; पुरुषः परः 'अनादि सन्परम्' (१२) इत्यादिनोक्तोऽपनिच्छक्तज्ञान्तर्भत्तर्य पुरुपोऽनादिप्रकृतिसंबन्ध-कृतगुणसङ्गात् एतदेहमात्रमहेश्वरो देहसालपरमात्मा च भवति ॥ २२ ॥

य पतं वेत्ति पुरुपं प्रकृति च गुणेस्सह । सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ एनम् उक्तस्त्रभावं पुरुषम्, उक्तस्त्रभावां च प्रकृति वश्यमाणस्त्रभाववृक्तैः सन्वादिशिग्रंणेः सह, यो वेति यथावत् विवेकेन जानानि, स सर्वथा देवमनुष्यादिदेहेष्वतिमात्रिक्तृष्ट । परमशब्द व्यवस्थापवात्मशब्द प्रवादि । अयं प्रयोगः प्रवन्धान्तरे प्रदेशान्तरे वा न मृग्यः ; अपित्वेतत्रकरणे स्रोकमालस्यववानेन । अतो व्यवच्छे वसित्रधानमपि त्यावच्छे दमालार्थत्वस्य व्यवस्थापकिनित्यस्य शिक्षमालस्यववानेन । अतो व्यवच्छे वसित्रधानमपि त्यावच्छेदमालार्थत्वस्य व्यवस्थापकिनित्यस्य शिक्षमालस्यववानेन । अतो व्यवच्छे वसित्रधानमपि त्यावच्छेदमालार्थत्वस्य व्यवस्थापकिनित्यस्य शिक्षमालस्यववानेन । परमारमश्वयव्य सहैश्वर्थाच्यापि सित्रहितसंकोचकाशिच्छित्रविपयत्वं परकारातिरिक्तिविषयेण अपिशव्देनापि पतीतिनित्याह अपिशवद्यादिति । उक्तः इत्यनेनापरमात्मिन अयमापेक्षिकः परमात्माशिशवद्य इति स्वित्व । पुरुषः परः इत्यव परश्वत्यः । प्रविवच्यविक्षमा विष्यत्वाद्यापि पूर्ववद्यच्छित्र विषयत्वानुमाहकं देहत्व्यपदेशस्यापिक्षकमहेश्वरत्व।दिव्यपदेशस्य च तात्पर्य, स्रोके चोहेर्व्यापदेय-विभागं, पिण्डितार्थं च दर्शयति अनादिति । अनादिमस्परिमत्यादिनोक्तः इति [अनेन] परमत्यामावोक्तिः (य उक्तः) ; अपरिच्छित्रज्ञानश्य एवेति प्रकरणस्य जीवविषयत्वं प्रदर्शितम् । देहेऽस्मिनस्यनेन परमत्वाने हेविष्विवक्षत्वत्वः स्वामित्यनेन वत्मध्यपतितः उपसृष्टिति स्वामित्यनेन वत्मध्यपतितः उपसृष्टिति स्वस्थायः प्रविविवक्षत्व स्थानित्यनेन परमञ्चन वाराको हेविर्विवक्षित इत्यमित्रायेण अनादिमक्रतिववस्यकृतगुणसङ्गादित्यक्तम् ॥ २२ ॥

अथ विवेकानुसंघान्यकारं वर्वतुं तत्वात्यादराय तत्कळं प्रथमं प्रदर्शते य एनिपिति छोकेन । अन्वादेशः प्रामुक्तविक्ताकारपरामर्शीत्याह उक्तख्मायिपिति । प्रकृतेरिप प्रागेनोक्तत्वात् एनिपिति विपरिणामः (णम्य) व्यक्तसमावामित्युक्तः (कम्) । गुणानां तु प्राक्तप्रदर्शनमात्रम् ; प्रपञ्चनं तु चतुर्दशाध्याये । इत्यिभपायेणाह वक्ष्यमाण् स्वभावयुक्तिरिति । प्रकृतिपुरुवयोरेव प्रधानत्वात् गुणानां चाप्रधानत्वात् गुणोम्प्तहेत्युक्तम् । पुरुषस्य प्रकृत्या समुच्तित्य सहिनीत्रेशेऽपि गुणशब्दोऽत्व पूर्वोत्तर्प्रपञ्चितपञ्चतिमुणमात्विषय इति ज्ञापनाय सन्वादिभितित्युक्तम् । प्रकृतितद्गुणसहितवेदनमगुद्धवेदनं स्यादिति शक्कायाम् एनं वेत्तीत्यनेनामिप्रेतमाह यथाविद्विकेन ज्ञानातीति । उच्छास्त्रपृत्वित्वशक्काः स्युदामाय प्रविवेत्यनेन नानाविषदेहसंसर्गपयुक्तो योगविरोधिविचित्रक्केशान्वयो विविक्षत इत्यमिप्रायेणाह देवमनुष्यादीति । एतदुक्तं भवति—तत्त्वविदः प्रारव्यक्रमेवशात् तदानीन्तनक्केशानुभवेऽपि नेतरपुरुष-

<sup>1</sup> चकारः महेदवरपरमात्मसमुचायकः। अपिदान्दः अतथाभृतस्यापि तथाव्यपदेश इति महेदवरदान्देऽपि विरोधदर्शकः। तुत्यत्वात्। उक्तः—आपेक्षिकतयोक्तः। 2 उक्तस्यभावामित्यनेन एनामिति विपरिणामो दृशित इत्यर्थः। विपरिणम्येत्यादि पाठे विपरिणामं मनस्ति कृत्वेत्यर्थः।

प्रकारेण चर्तमानोऽपि, न भ्योऽभिजायते न भृयः प्रकृत्या संसर्गमईति, अपरिन्छिन्नज्ञान-स्वथणमपहत्वाष्मानमास्मानं तदेहावनानममये प्रामोतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मिन पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ केचित् निष्पन्नयोगाः । आस्मिन श्रारीरेड्वस्थितमात्मानम् आत्मना मनसा ध्यानेन योगेन पश्यन्ति । अन्ये च अनिष्पन्नयोगाः, सांख्येन योगेन ज्ञानयोगेन योगयोग्यं मनः कृत्वा आत्मानं पश्यन्ति । अपरे ज्ञानयोगानधिकारिणः, तद्धिकारिणश्च सुकरोपायसक्ताः, व्यपदेश्यश्च कर्मयोगेनान्तर्गतज्ञानेन मनसो योगयोग्यतामापाद्य आत्मानं पश्यन्ति ॥ २४॥ अन्ये त्वेवमज्ञानन्तः श्रत्वा ऽन्येभ्य उपास्तते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्यं श्रुतिपरायणाः॥ २५

अन्ये तु कर्मयोगादिष्वात्मावलोकनसाधनेष्वनिधकृताः अन्येभ्यः तत्त्वद्रिभयो ज्ञानिभ्यः श्रुत्वा कर्मयोगादिभिरात्मानस्रुपासते ; तेऽप्यात्मदर्शनेन मृत्युमितवरन्ति । ये साधन्येण जन्मान्तरमनुमानुं शक्यमिति । अपिशब्दादक्किष्टष्टिष्ठिष्ठ केमुत्यं स्वितम् । 'न जायते प्रियते' (२.२०) इत्यनेनैव आत्मस्रुरुत्यः जन्माभाव उक्तः ; अतोऽत्र तत्यसङ्गाभावात् तत्र भृपश्चव्दानम्भयाच सदसद्योनिजन्मसु (२१) इति पसक्तदेहसंस्ग्रव्यणजनिरेव निषिध्यत इत्यभिप्रयोणाह न भृयः प्रकृत्या संसर्गमईतीति । प्रक्रयाद्यस्थासु विनष्टदेहस्य देहा(तद १)नन्तरमेव देहसंवन्धवक्षणजन्यभावेऽपि पुनर्देहसंवन्धयोग्यताऽस्ति, अस्य तु ज्ञानाग्निदर्यकर्मत्वात् साऽपि नास्तीत्यभियायेण अर्दतिशब्दः । अनर्दतामेव व्यव्ययन् पुनर्भवादिरुपानिष्टिनिष्टत्तेरथीदिष्प्रप्तिपर्यन्ततामाह अपरिचिक्तन्वते । अज्ञानस्य कर्मणश्च निश्शेषविनाशात् न हि देहसंवन्धयोग्यतेत्यभियायेण अर्दिचिक्तम्बानस्य स्वताप्तिपर्यन्ति विशोषणद्वयम् । भृपश्चव्यद्वाभिष्रेतमाह तदेहावनसमय इति ॥ २३ ॥

उक्तमेवार्थं क्षोकद्वयेन विदृण्यन् आत्मज्ञानस्य पर्वमेदान् आह घ्यानेनेति । अधिकरणतया कर्मतया करणतया च निर्देशात् आत्मशब्दत्वयमिह मिन्नविषयमिति तत्तदुचित[मर्थ ?]माह आत्मिन श्रारीर इत्यादिना । उत्तरोत्तराष्क्रष्टपर्वनिर्देशकमात् ध्यानशब्दोऽत्व सांख्यादप्युत्कृष्टं साक्षाद्योगास्यं पर्वामिधते । अनिष्वचयोगा इत्यादिपर्वकमपदर्शनमात्मदर्शने स्वतन्त्रोपायत्वशङ्काष्ट्यदासार्थम् । 'ज्ञान्योगेन सांख्यानाम् ' (३. ३) इति पूर्वोक्तानुसारेण सांख्यान योगोनेत्यस्यार्थमाह ज्ञानयोगोनेति । अपरे इत्यनेन प्रामुक्तकर्मयोगाधिकारिकर्यविवक्षत्यिमप्रायेणाह ज्ञानयोगानधिकारिक इत्यादिना ॥

अनिष्पन्नकर्मवोगानां मुमुश्लूणां कर्मयोगोपकमदशोच्यते अन्येदिवति । तुशब्देन, एवमजानन्तः इत्यनेन च स्विवेचनशक्त्याद्यभावात् कर्मयोगादिष्वनिधक्कतस्वं द्योतितम् । अन्येभ्यः इत्यनेन उपदेष्टृित्य]िषयेण 'उपदेस्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्ववर्दिगः' (४, ३४) इति प्रागुक्ता विवक्षिता इत्यभिष्रायेणोक्तं तत्त्वद्श्यिम्यो ज्ञार्नेनभ्य इति । तेऽपीत्यादिना कर्मयोगोपकमेऽप्यसमर्था निर्दिन

योगः आत्मावलोकनयोगः शिरोभृतः ।

श्रुतिपरायणाः श्रवणमात्रनिष्ठाः ; एते च श्रवणनिष्ठाः पृतपापाः क्रमेण कर्मयोगादिकमारस्या-तितरन्त्येव सृत्युम् । अपिश्रव्दाच पर्वभेदोऽवगस्यते ॥ २५ ॥

अथ प्रकृतिसंसृष्टस्यात्मनो विवेकानुसन्धानप्रकारं वक्तुं सर्व स्थावरं जङ्गमं च सत्त्वं चिद्रचित्संसर्गजमित्याह—

यावत् संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्पभ ॥ २६ यावत् स्थावरजङ्गमात्मना सत्त्वं जायते, तावत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरितरेतरसंयोगादेव जायते

इयन्त इत्यमिपायेणाह तेऽत्यात्मेति । यद्वा अस्य वाक्यस्य पूर्वेणान्वयः ; श्रुतिपरायणाश्चेत्यन्वयेन [चकारमारभ्यः] वाक्यान्तरम् ; तद्दर्शयित ये <sup>1</sup>श्रुतिपरायणा इति । श्रुतिः परमयनं निष्ठा येषां ते श्रुतिपरायणाः । श्रुतिपरायणश्चव्यः श्रुत्वेपासीनेभ्यो व्ववच्छेदकः ; अन्यथा श्रुत्वेरयुक्तेऽि श्रुतिपरायणश्चव्यस्य नैर्श्वेयपसङ्गादित्यभिषायेणाह श्रुवणमात्रनिष्ठाः इति । अत्र श्रवणनिष्ठायाः पावनत्वरूपं प्राशस्यं विवक्षितमित्याह— श्रवणनिष्ठाः पृतपापा इति । क्रमेणेत्यादिना कर्मयोगादि-विधिवयथ्यमसङ्गपरहारः । अत्र प्रथमुपायान्तरपर्त्वं किं न स्यादित्यत्वाह अपिशवद्यादिति । अपिशवदेनान्येषां कैष्ठत्यमेषामपकृष्टपर्वनिष्ठस्यं च सूचितमिति भावः ॥ २५॥

एवमात्मदर्शनमुक्तम्, तद्वे 'समं सर्वेषु' (२ ७) इत्यादिमिः छोकैः प्रकृतिपुरुषयोविवेकानुसंघानप्रकारो वश्यते । स चाविविक्तप्रतितौ सत्यामेवोपदेष्टव्यः ; अन्यथा निष्प्रयोजनत्यात् । सा च न
दोषमन्तरेण घटते । स च दोषोऽत्र भोकृत्वभोगायतन्तविन्विह्नः संसर्गविशेषः ; तदिदं यावत्
संजायते इति छोकेनोच्यत इति संगतिमाह अथेति । सर्वशब्देन यावच्छव्दस्यात साक्तव्यरत्वमुक्तम् । यावच्छव्दस्य यच्छव्दार्थत्वेन व्ववास्यानम्याचकत्वान्मन्दप्रयोजनत्वाचासुक्तमिति भावः ।
सन्वशब्दोऽत्र जन्तुपरः ; 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सन्वमक्षी तु जन्तुषु' (नाम. ३, ना.) इति पाठात् ।
द्रक्षगुरुमछतावीरुकृणादिषु चैतन्यविकासाभावमात्रेण जैनप्रक्रियया केवळाचेतनत्वशङ्कानिरासायात्र
स्थावरशब्दः । स्थावरजङ्गमत्वयोवित्ययौवनवार्धकादिवत् अयावच्छरीरभावित्वाभावज्ञापनाय स्थावरजङ्गमात्मनेत्युक्तम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञाभ्यां सह अन्यस्य संयोगशङ्काव्युदासायोक्तम् इत्ररेतरसंयोगादित ।

श विवरणार्थं यच्छव्यथोगः। अन्वयरतु तेऽिष पूर्वाभिक्ताः, धृतिपरायणास्य मृत्युमित-तरस्येवेति वा ते धृतिपरायणा अपि च मृत्युमिततरस्येवेति वा।ते इति ध्यानेनेत्याद्युक्त-सर्वाभिकारियाहकं वा। वाक्यान्तरपदं खण्डवाक्यपरम् ।

<sup>2</sup> ननु उत्तराधे तच्छव्श्रवणात् यदित्येवाथीं युक्तः। न च—यत् यत् इति वीप्सार्थे यावत्पद्मयोगः ; तदाऽपि तदित्येकप्रयोगसंभवादिति वाच्यम्—तद्। किञ्चित्पदानन्वयादिति चेन्न-श्रुतौ यिकञ्चिति पदं सर्वार्थपरं प्रसिद्धम् ; न तु यक्तिञ्चित्पदम् । अत्र किञ्चित्पदस्यैव सस्वात् यावत्पदं यच्छव्दार्थमात्रेऽनुपरम्य सर्वत्वचोतकमपीत्येव विवक्षितमिति।

संयुक्तमेव जायते, न त्वितरेतरवियुक्तमित्यर्थः ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्विनिश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ एवमितरेतग्युक्तेषु सर्वेषु भूतेषु देवादिविशमाकारात् वियुक्तं तत्रत्वतः ॥ तत्त्वदेहेन्द्रिय मनांशि प्रति परमेश्वरत्वेन स्थितमात्मानं ज्ञातृत्वेन समानाकारं तेषु देहादिषु विनश्यत्सु विश्वेयांशे दर्शयितुं संयोगादेवेत्युक्तम् । मातापितृसंसर्गात् पुलोत्पत्तिवत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् ततो. ऽन्यत् सत्त्वं जायेतित्यलाह संयुक्तमेवेति । पृथविसद्धशिद्धक्षेत्रज्ञसंवन्धव्यवच्छेदायाह नित्विति । तिविद्विति तच्छव्यदेन जनमनः परामर्शः ॥ २६ ॥

समत्वविषमत्वनियन्त्रत्वनियाम्यत्वनित्यत्वानित्यत्वेर्द्वयोविंवेकानुसंघानमभिघाय तत्त्वाध्यवसायरूपरवेन १रमपुरुषार्थहेतुतया प्रशंसति **सममि**ति श्लोकेन । **क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगा**दित्यत्र शंकरेणोक्तम् , 'आकाशवित्ररवयव(रंश)तया अवयवसंश्लेषचक्षणसंयोगासंभवात् . क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरितरेतरकार्य-कारणभावान+युगगमेन समवायासंभवाच विषयविषयिणोस्तयोरितरेतरधर्मास्यासळक्षणसंयोगः : तलि-वर्तनं च सम्यग्दर्शनं ममं सबें प्वित्यादिनोच्यते' इति : तदेतत् बालिशभाषितम् . निरवयवस्यापि संयोगसंभवात । ''युतसिद्धयोस्संबन्धः संयोगः'' इति हि तं रुक्षयन्ति । स च निर्वयवयोस्सावयवयोः निरवयवसावयवयोश्च संभवति । तन्मते च अध्यासानुषपत्यादयः प्रपश्चिताः । सर्वेषु भृतेप्तित देवमनुष्यादिरूपवैषम्यं विवक्षितम् । यथा मृन्मयहिरण्मयादिष्यदोपात्तस्यापि गङ्गोदकस्य तत्नतत्त्रं स्थिति-मालमेव. न पन्धेन्मयत्वादिसिद्धिः : तथाऽऽत्मनोऽपि देवमनुष्यादिदेहेषु स्थितिमालमेव : न त रुमा-प्रक्षिप्तकाष्ट्रादिस्त्रवणस्वन्यायेन स्वरूपेण देवमनुष्यस्वादियेषम्याश्रयस्विमिति तिप्रन्तमित्यस्याभिशायमाह देवादिविषमाकाराद्विवि(य)क्तमिति। यद्वा सम्मिति वचनादर्थाक्षिप्तवैषम्यनिवृत्तिकथनमिदम् : निष्ठन्त-मिति तु परतान्वेतव्यम् । अतो हि भाष्यते परमेश्वरत्वेन स्थितमिति । अनीश्वरस्यालपशक्तेः क्षेत्रज्ञस्य कथं परमेश्वरत्वमित्यत्र पूर्ववत्संकोचमाह तत्रतत्र तत्तद्दहेन्द्रियमनांसि प्रतीति । देहात्माभिमानिनो हि देहनाज्ञादारमनाज्ञं मन्यन्ते : न त्वप्रतीतस्य परमारमनो नाशम् : तस्मात् अविनश्यन्तिमिति पसक्त-विनाशप्रतिषेधार्थपदसमानाधिकरणः परमेश्वरशब्दः प्रकान्तनिषय इति भावः । समग्रवदेन न बाह्य-देवत्वादिवैषम्यनिवृत्तिमात्तं विवक्षितम् : अपितु "<sup>2</sup>गवामनेकवर्णानां क्षीरस्य त्वे(स्याप्ये)कवर्णता । क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥" (त्र. वि. उ) इति श्रुत्यनुसारेणात्मनां स्वरूपेषु मिथो वैषम्यनिवृत्तिरपि । तच साम्यं कथम्भूतमिति शङ्कायाम् 'एतद्यो वैत्ति' (१) इति प्रक्रमानुसारेणाह जातस्वेन समानाकारमिति । ज्ञानत्वादेरप्यपळक्षणमेतत् । 'येन सर्वमिदं ततम्' (१८. ४६)

जन्मन इति । संजायत इत्युक्तजन्मिविशिष्टस्येत्यर्थः । मूळानुरोधात् । यद्वा तच्छव्यस्य जायमानगतजन्मेत्यर्थः । इदानीं जायत इति नाध्याहारः ।

यवामनेकवर्णस्वेऽपि क्षीरमेकवर्ण यथा, तथाऽऽस्मानं क्षानं पश्यते । लिंगिनः—देह-विशिष्टस्य तु गवामिवानेकरूपतैवेत्यर्थः ।

विनाशानर्हस्रभावेनःविनश्यन्तं यः पश्यति, स-पश्यति स आत्मानं यथावदवस्थितं पश्यति । यस्तु देवादिविषमाकारेणात्मानमपि विषमाकारं जन्मविनाशादियुक्तं च पश्यति, स नित्यमेत्र संसरतीत्यभित्रायः ॥ २७ ॥

स्यं पद्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ सर्वत्र देवादिश्वरीरेषु तत्तच्छेषित्वेनाधारतया नियन्तृत्या च स्थितमीश्वरम् आत्मानं देवादिविषमाकारविष्ठुक्तं ज्ञानैकाकारत्या समं पत्रयन् आत्मना मनसा, स्वमात्मानं न हिनस्ति रक्षिति, संसारान्मोचयित । ततः तसात् ज्ञातृत्या सर्वत्र समानाकारदर्शनात् परां गति यातिः, गन्यतः इति गतिः ; परं गन्तस्यं यथावदवस्थितमात्मानं प्रामोति ; देवाद्याकारयुक्ततया इत्यादिना प्रपञ्चितान् अविनाशित्वहेतृन् स्मारयति विनाशानईस्वभावेनेति । यः पत्रयति, स पत्रयतित्यनगोरनितश्वतार्थतया नैर्शवनम् , उद्देश्योपादेयमङ्गश्चेत्यत्वाह स आत्मानं यथावदवस्थित-मिति । इतरे तु पीतशङ्कादिदर्शिवत् विपरीतदर्शितया पश्यन्तोऽपि न पश्यन्तीति भावः । स पश्यतीत प्रशंसाऽत्व परमपुरुषार्थव्यादिनिवन्यना । व्यतिरेकनिन्दा च फळितेत्यमिश्रायेणाह यस्तिवि ॥

उक्तमुपपादयति समं पद्मयन्निति स्रोकेन । हीति हेतौ । प्रस्तुतं समदर्शनं बल फलद्वारा स्त्यते । 'सर्वलावस्थितो देहे' (३२) इति वक्ष्यमाणावेक्षणेन सर्वलेति शब्दस्य विवक्षितमाह देवादि-भ्रशीरि बित । 'भर्ता भोक्ता महेश्वरः' (२२) इति पूर्वोक्तानुरोधेन समनस्थितमित्यलोपसर्गसामध्ये-ल्ड्बिसितिवैशेष्यं व्यनक्ति तत्त्वक्छेपित्वेनेत्यादिना । <sup>1</sup>अत एव हि स्थितमित्येतावत् विभज्य निर्दिष्टम् । ईश्वरशब्देनापि शोषत्वनियन्तृत्वे सिद्धे । अल्लापीश्वरशब्दः पूर्वीकस्यायात्वरि(येनाव)च्छिन्नविपयोऽनु-संधेय: । देहात्मासिमानप्रसक्तदेवादिवैषम्यप्रतिषेवार्थोऽल समशब्द इत्यमिप्रायेणाह देवादिविषमा-कारवियुक्तमिति । 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञंसयोगात्' (२६) 'यदा मृतपृथमभावम्' (३०) इति पूर्वोपरपरामर्शात् देहसंबन्धसिद्धवैषम्यनिवृत्तिर्विवक्षितेति भावः । तृतीयान्त आरमशब्दोऽत्र करणविभवत्यन्तत्वादौचित्याच मनोविषयः : द्वितीयान्तस्त् हिंसाकर्मत्वसामध्यति संसायीत्मविषय इति ज्ञापयति मनसा स्वमात्मान-मिति । समदर्शिनो(त्वात् ) हिंसकत्वं नास्तीत्यत्न अविहिताप्रतिषिद्ध[वर्ग]कर्नृवत् समदर्शक(न)स्या-बाधकरवमात्रमुक्तं स्यात् ; तच्चानर्थकम् । अपिच विषमदर्शिनोऽप्यात्मा नित्यत्वान्न हिंसार्हः । अतोऽत्न न हिनस्तीत्यनेन किमपि समदर्शनसाध्यं पुरुषेष्टमभिषेतमित्याह रक्षतीति । प्रकरणतो वानयशेषाच रक्षां विशिनष्टि संसारादिति । ततश्राब्दोऽत न वावयार्थादिपरामर्शी, अनिष्टनिवृत्तेरपि खयंफळंत्वेनेष्ट-प्राप्तिहेतुत्वनिर्देशानौचित्यात । अत उभयकारणं समदर्शनमेव परामुक्त्यत इत्याह तसार्दित्यादिना । परां गतिमिति प्राप्यविशेषस्य विवक्षितत्वात् भावार्थमालपरत्वे तदसिद्धेसाद् चितां त्यस्पतिमाह सम्यत इतीति । तदेव विशिनष्टि यथावदिति । प्रकरणं हीदं जीवविषयं समर्थितम् ; परगतिशब्दश्च 'अठयक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्' (गी. ८. २१) इत्यादिषु जीवेऽपि प्रयुक्तचर इति

अत एच—उपसंगयोरर्थस्य पृथगुक्तत्वादेव ।

सर्वत्र विषम(कार)मात्मानं पश्यन् आत्मानं हिनस्ति-भवज्ञरुधिमध्ये प्रक्षिपति ॥ २८ ॥
प्रकृत्येव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वद्यः । यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९
सर्वाणि कर्माणि, 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते' (२०) इति पूर्वोक्तरीत्या
प्रकृत्या क्रियमाणानीति यः पश्यति, तथा आत्मानं ज्ञानाकारं (ज्ञालाकारम् ) अकर्तारं च यः
पश्यति, तस्य प्रकृतिसंयोगस्तद्धिष्टानं तज्ञन्यसुखदुःस्तानुभवश्च कर्मरूपाज्ञानकृतानीति च
यः पश्यति, स आत्मानं यथाबद्वस्थितं पश्यति ॥ २९ ॥

यदा <sup>1</sup>स्तपृथग्भावमेकस्थमनुषद्यति । <sup>2</sup>तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० प्रकृतिपुरुषतन्बद्वयात्मेकषु देवादिषु सर्वेषु भृतेषु सत्सु तेषां देवत्वमनुष्यत्वहस्यत्व-दीर्धत्वादिपृथग्भावमेकस्थम् एकतत्त्वस्थम्—प्रकृतिस्थं यदा पद्यति, नात्मस्थम्, तत एव भावः । आत्मिनि वैषम्यदर्शी <sup>3</sup>तु स्वात्मानं हिनस्तीति, 'विशेषनिषयशोषाभ्यनुज्ञानार्थः' इति न्यायेन सिद्धमित्याह देवाद्याकारेति । नित्यस्थात्मस्वरूपस्थाच्छेद्यत्वादिस्त्रभावतया 'कं घातयति हन्ति कम्' (२. २१) इति प्रामुक्तस्य काऽसौ(सा) हिंसेत्यत्वाह भवजरुषीति । अनेनापि स्वोकेन प्रकृतिपुरुषयोः स्वाकारानुदर्शनद्वारा संसारहेतुत्वमोक्षहेतुत्वाभ्यामिष विवेक उक्तो भवतीत्यभिष्ठायः ॥ २८॥

अथ साक्षात्कियाश्रयस्वतदभावादिवैषम्येमुच्यते प्रकृत्येवेति श्लोकद्वयेन। अत कमिणि आक्वयन्तसारणादीनि । प्रकृत्या कियमाणानां कमेणां स्वरूपदर्शनमात्रं विद्वदविद्वत्साधारणम् ; विद्वषद्व प्रकृत्या कियमाणत्वदर्शनं विरोषः इत्युपादेयांशविशदीकरणाय कियमाणानीतीति इतिकरणम् । अकर्नृत्वमात्मशब्दाभिषेतेन शुद्धाकारेण स्थापयति ज्ञानाकारमिति । ज्ञानाकारमिति वा पाठः । कथं तर्हि शास्त्रवश्यत्वत्फळभोवतुत्वादिकमित्यत्वाह तस्येति । सर्वस्यास्य चक्रवत्परिवर्तमानोपाधिन्यवाहनिवन्धनत्वान्न कश्चिद्दोष इति भावः ॥ २९ ॥

अथ परिणामित्वापरिणामित्वलक्षणं वैषम्यमुच्यते यदेति स्रोकेन । [एकशब्देनान्यतरस्य निर्धारणार्थ] भृतशब्दोऽल तिल्हेलनित्मथिन्ध्रिष्टणिवित्वित्तसमुदायपर इत्यमिप्रायेणाह प्रकृतिपुरुषेति । पृथग्मावशब्दोऽल जातिरूपं गुणादिरूपं च मेदमविशेषात् संगृह्णाति ; स च सर्वोऽप्यवस्थान्तरापति- रूपत्वा निर्विकारातपुरुषा(रखरूषा)द्वदः ; तदाह देवत्वममुष्यत्वहस्वत्वदिधित्वादिपृथग्भाविति । एकशब्दोऽल पञ्चतयोरन्यतरनिर्धारणार्थं इत्याह एकतत्त्वस्थामिति । कि तदेकमित्यलाह प्रकृतिस्थामिति । वयात्मा अलेक्शब्देन विविद्यतः, तदा तस्यैव देवादिवैषम्यदर्शनमुक्तंत्रस्यात् ; तच समं पश्यन् (२८) इत्याद्युक्कमेण 'पण्डताम्समदर्शिनः' इत्यादिस्मृत्यन्तरोक्त्या च विरुष्येतस्याशेणाह नात्मस्थ-

भूतपृथग्भावं-देहगतत्वेनाऽऽत्मगतत्वेन च देहात्मञ्जमात्र्यतीयमानं देवत्वादिभेदम् ।

<sup>2</sup> तत एव—तस्मादेकस्मादेव । 3 समं पश्यन् हि न हिनस्तीति हिशब्दः विषमं पश्यन् हि न हिनस्तीति हिशब्दः विषमं पश्यन् हिनस्तीत्वर्थं स्पष्टं योधयित । अतः क्षेत्रक्षेत्रक्षस्योगादिति स्ठोकस्येवोत्तरस्रोकयोगिप विवेकपरस्ववत् वन्धहेतुपरस्वमिप युक्तमित्याशयेन भाष्येऽत्रोभयत्न व्यतिरेकांशेन निगमनमित्याशयः।

प्रफृतित एवोत्तरोत्तरपुत्रपौतादिमेदविस्तारं च यदा पश्यति, तदैव ब्रश्न संपद्यते अनविच्छकं ज्ञानैकाकाश्मात्मानं प्रामोतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

अनादित्याचिर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ अयं परमात्मा देहान्निःकृष्य सस्यभावेन निरूपितः, शरीरस्थोऽपि अनादित्वात अनायस्यत्वात् अन्वयः व्ययगहितः, निर्गुणत्वात् सत्त्वादिगुणगहितत्वात् न करोति, न लिप्यते देहस्वभावेन लिप्यते ॥ ३१ ॥

यद्यपि निर्शुणत्वात्र करोति, नित्यसंयुक्तो देहस्वभावैः कथं न लिप्यत इत्यलाह —

मिति । सन्मालस्यैकस्यैव ब्रह्मणः सकलविकत्वसकलपरिणामास्यदस्विमहोच्यत इति परेवां जल्याः प्रागेव निरस्ता इति चामियायः । "आत्मा वै पुलनामाऽसि" (मं. प्र. २. १२) इत्यादिषु योऽयमासमः पुलादिरूपः परिणामः प्रतीयते, सोऽपि, "अङ्गादङ्गास्सम्वसि ' इत्यादिकमनुसंद्यानस्य प्रकृत्येद्वर्णान् प्रकृतितर्युद्वर्णातं प्रकृतितर्युद्वर्णातं प्रकृतितर्प्य प्रथमं देवादिरूपविचित्वपरिणामे, तन्मूले च सन्तानव्यपदेशभाजि परिणामे भोवतुः पुरुषस्य भोगाधिसन्निधिमालमपेक्षितम्, न पुनर्भोगायतनादिगतविकारास्यदस्वमपीति एवकाराभिषायः । 'ब्रह्म संपद्यते' इत्यल परमारमभावस्य विरुद्धत्वात् जीवात्मभावस्य नित्यसिद्धत्वात् , 'प्रमं साम्यपुपैति' (मु. २. १. ३), 'मम साधन्यमागताः' (गी. १४. २) इत्यादिभिरैकाथ्योत् परब्रह्मसान्यापत्विविवक्षितेत्यभिपायेणाह अनविच्छक्मिति । यहा देहात्मविवेकज्ञानमात्रेण साक्षात्परमात्मप्राप्ति स्थादित्यभिप्रायः ब्रह्म संपद्यते ब्रह्म भवतीत्यर्थः । तत्र पिलतार्थकथनम् आत्मानं प्राप्नोतीति । यद्वा ब्रह्मित द्वितीयान्तम् ; संपद्यते इति संप्रामोतीत्वर्थः ॥ ३०॥

आत्मनो नित्यस्वाकतृत्वापरिणामित्वादिभिरुक्तं वैधम्य सहेतुकं स्थिरीकरोति अनादित्वादिति श्लोकन । आपेक्षिकवरमात्मस्वविषयेण अयं परमात्मेत्यनेनाभिष्ठेवनाह देहानिष्कृत्येत्यादिना । ज्ञानसङ्कोचरूपव्ययत्य देहादिष्रेरणरूपकर्तृत्वस्य च प्रत्यक्षादिसिद्धस्वात् कथमव्ययत्वादिरित्यत्वाह स्व-स्वभावेन निरूपित इति । अनादित्वादिति अव्यय[स्व ?] हेतुः(तोः) उत्पतिराहित्यं विवक्षित-मित्याह अनारम्यस्वादिति । आरम्यमाणमेव हि व्येतीति दृष्टमिति भावः । निर्गुणत्वादिति सामान्येन ज्ञानादिगुणनिषेधपरिहारायाह सत्त्वादिगुणगिहतत्वादिति । एवं हेतुद्वयशक्तत्वनुसारेण यथान्यस्य साध्यद्वयान्वयो दर्शितः । ग्लेपशङ्कापतिषेधयोस्तंमावितविषययोरेव युक्तस्वात् , "तत् सप्तथातु त्विमलं द्वियोनि चतुर्विधाहारमयं शरीरम् " इत्यामातस्य शरीरस्य पटादिषु पङ्कादेरिय संसर्गेण लेपकत्वस्यभावात् श्रीरस्योऽपीत्यनेन स्वितमाह—देहस्यभावैरिति ॥ ३१॥

न करोतीत्युक्तमकर्नृत्वं तु पूर्वेतोत्तरत च विशोधितस्वरूपम् : श्रश्गम्स्थोऽपि न लिप्यते इत्यस्मिन् साध्यांशे रुमागतकाष्टादिन्यायशङ्का अनन्तरक्षोकेन परिह्रियत इत्याद यद्यपीति । 'संसर्गजा

देहस्वभावैरित्यंशः कथं छन्ध इत्यत्र सचित इत्युपपादयति छेपेति ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्यादाकादां नोपलिप्यते । सर्वजावस्थितो देहे तथा ऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥३० यथा आकाशं सर्वगतमपि सर्वेर्वस्त्रामस्त्रंयक्तमपि सौक्ष्म्यात सर्ववस्तस्वभावेर्न लिप्यते. तथा आत्मा अतिसीक्ष्मयात सर्वत देवमन्त्रयादी देहेऽवस्थितोऽपि तत्तहेहस्वभावेन लिप्यते॥ <sup>1</sup>यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्तं लोकिममं रिवः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्तं प्रकाशयति भारत॥ ३३ यथैक आदित्यः खया प्रमया कत्स्वमिमं लोकं प्रकाशयति, तथा क्षेत्रमणि क्षेत्री. 'ममेदं क्षेत्रमीद्दशम' इति कृत्त्वम् बहिरन्तश्चापादत्तलम् स्वकीयेन ज्ञानेन प्रकाशयति । मिति भावः । ''यं प्राप्यातिपवित्राणि वस्त्राण्याभरणानि च । अग्रुचित्वं क्षणात् यान्ति किमन्यद-श्चित्ततः" इति न्यायात् देहेन क्षणमात्रयोगेऽपि वस्त्रादय उपहन्यन्ते : किपनरनादिसंयक्त इत्यीम-प्रायेणाह नित्यसंयक्त इति । संसर्गस्य संसर्गिण संसर्भ्यन्तरस्वभावापादकत्वमनियतमिति व्यभि-चारोपपादनार्थो यथा सर्वगतमित्यनुवाद इति ज्ञापनायोभयत अपिशब्दोपादानम् । सर्वगतत्वानु-वादः कारीरस्थोऽपीति शङ्कोत्थापक इति च भावः । सर्वेर्वस्तिभिस्तेयुक्तमपीति । सर्वगतशब्देन परस्परविरुद्धानन्तस्वभावलेपप्रभङ्गोऽपिवेत इति भावः । यथा आकाशो भूतान्तरेभ्यस्सूक्ष्मः, तथा आकाशादिष सुक्ष्मतरोऽयमिति ज्ञापनार्थमुक्तम् अतिसीक्ष्मपादिति । तथेत्यनेन हेतुरप्यतिदिइयत इति भावः । केचित् पदार्थाः कैश्चिरसंसर्गे तत्त्वभावलेपरहिता अपि ततोऽन्यैः कैश्चिरसंसर्गे तत्त्वभाव लेपबन्तो हरयन्ते : यथा <sup>१</sup>कार्पासादावञ्चनादिवासनयाऽपि न श्यामतादियोग:, लाक्षारसवासनया

अथाध्यायारम्भे, ''एत्हां वेति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः'' इति वेद्यत्वेदितृत्वाभ्यां प्रतिपादितं संघातात्मकत्वासंघातात्मकत्वपयुक्तनानात्वैकत्वाभ्यां सिद्धं च भेदं दृष्टान्तपूर्वं स्थिरीकरोति, यथा प्रकाश्यपतीति स्थोकेन । स्वरूपधम्भृतयोज्ञानयोरेकजातीययोरिष वैद्यम्पपद्भाग्यं प्रभोदाहरणम् । कृम्सं क्षेत्रमित्यनेन कृत्स्वश्वदेन सर्वेषां शरीराणां संग्रहः प्रतीयते । व्याचस्युध्य परे, ''रविदृष्टान्तः अत्र रविवत् सर्वक्षेत्रेव्वेक आत्मा अलेषकश्चेति ज्ञापनार्थः' इति । तच्चायुक्तं प्रतिक्षेत्रमात्मनां भिन्नत्वादेकैकस्य सर्वक्षेत्रप्रकाशनाभावात् । जातिपरत्वे तु आदित्यदृष्टान्तासङ्गतिरित्यमित्रायेणाह् विद्यन्त्यापद्तलमस्तकमिति । यहिः त्वापादिः, अन्तः मांसादिः । एकैकस्य शरीरस्य अवयवभेदः प्रयुक्तनानात्वेन आत्मव्यतिरेकप्रदर्शनार्थमवयवेषु कस्यचिद्वेदितृत्वशङ्काव्यद्वासार्थं च कृत्स्वशब्द इति

त्वरुणता दृष्टा : तथेहापि संभवतीति शङ्कान्युदासाय दृष्टान्तदाष्ट्रीन्तिकयोः सर्वशन्दः ॥ ३२ ॥

पूर्वश्छोकोक्तं सौक्ष्म्यं न लेपवारकाकारमात्रं गगन इव, किं तु अणुपरिमाणत्वमिष । अथापि पूर्णदेइल्यापित्वं गुणद्वारेत्याह् यथेति इत्यप्यवतार्यम् । प्रकाशयित-प्रकाशयुक्तं करोति । प्रकाशस्य प्रमा धर्ममृतज्ञानश्च । अतः देहान्तर्गतसर्वचस्तुदर्शनक्तप्रकाशाभाविषि न क्षतिः । धारणार्थज्ञान-प्रसरस्तु वर्तते । 2 "एतेन लाक्षारसावसेको व्याख्यात" इतिन्यायकुसुमाञ्जल्युक्तरीत्या लाक्षारसावसिक्तं कार्पास्त्रविजे तदुत्पञ्चक्षपुष्पे आरुण्यं दृष्टम् ; नैवमञ्जनरसाविक्ततद्वीजोत्यादित कार्पास्त्रपुष्पे द्यामिकेत्यर्थः ।

अतः प्रकाश्याछोकात् प्रकाशकादित्यवत् वेदितृत्वेन वेद्यभृतादसात् क्षेत्रादत्यन्तविस्रक्षणोऽ-यम्रक्तस्रक्षण आत्मेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचञ्चणा । भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३५ इति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषस्य....क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम लयोदशोऽध्याय: ॥ १३ ॥

एवम् उक्तेन प्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं विशेषं विवेक्तविषयज्ञानारूयेन चक्षुषा ये विद्रां, भ्तप्रकृतिमीक्षं च, ते परं यान्ति निर्मुक्तवन्धमात्मानं प्राप्तुवन्ति । मोक्ष्यतेऽनेनेति मोक्षः, अमान्तित्वादिकं [उक्तं] मोक्षसाधनमित्यर्थः ; क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोविवेकविषयेणोक्तेन ज्ञानेन मावः । अनेकावयवसमुदायात्मकात् शरीरात् तदिख्ळमि ज्ञातृत्वेन प्रतिसंधीयमान एक आत्मा मिन्न इत्युपळम्भवळसिद्धमित्युक्तं भवति । न प्रकाशकत्वमात्नप्रतिपादनपरोऽत्र दृष्टान्तः ; अपितु तद्धीन वैळक्षण्यपर इत्याद्द प्रकाद्ययादिति । कमिकत्वभावादिना मेदोऽत्र स्फ्रट इति भावः ॥ ३३ ॥

अथैतद्ध्यायप्रधानार्थमृतहेयोपादेयतद्पायविज्ञानस्य फलमुच्यते क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति। एवंशन्दा-न्दितमाह उक्तेन प्रकारेणेति। अज्ञत्ववेदितत्व-धार्यत्वधारकत्व-ठोषत्वञेषित्वादिप्रकारेणेत्यर्थः। "अन्तर मवकाशाविषपरिधानान्तर्धिमेदतादर्थ्यें'' (नाम ३. ना. १८७) इत्यनेकार्थस्य अन्तरज्ञव्दस्यात्र विव-क्षितमाह विशेषमिति । ज्ञानचक्षपेत्यत दिव्यज्ञानादिपसङ्गःयुदासार्थे विवेकविषयत्वोक्तिः । प्रका-न्तोपदेशलब्धज्ञानमिह विविक्षितमिति भावः । ज्ञानस्य चक्षष्ट्ररूपणमपरोक्षज्ञानान्तरहेतुत्वात् । विवि-च्यतेऽनेनेति विवेकोऽल व्यार्निकाकारः । मृतमय्याः शकृतेर्मोक्षः भृतप्रकृतिमोक्षः : मृतानां जी-वानां प्रकृतेर्मोक्ष इति वा । यतु, "भूतानां प्रकृतिरविद्यालक्षणा अध्यक्ताख्या, तस्याः प्रकृतेर्मोक्षण-मभावगमनम् '' इति शंकरेणोक्तम् , तत् "गौरनाद्यन्तवती" (मं. उ) राजाविश्वविदेशियाद्यशीर-णीयम् । जीवात्मज्ञानफरुविषयत्वात् पर्शब्दोऽल परिशुद्धजीवविषयः । तस्य च परत्वं संसारित्व-रुक्षणस्वकीयपूर्वावस्थापेक्षयेत्यभित्रायेणाह **निम्नक्तवन्ध**मिति । अध्यायारम्मे क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ पूर्वमुप-पादितौ : परम्परया परिश्रद्धात्मप्राष्ट्यपायतया अमानित्वादिगुणवर्गश्च । अतोऽल निगमनेऽपि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञाभ्यां सह समुचीयमानो भ्तप्रकृतिमोक्षः स एव गुणवर्गो भवित्रमहितीत्यभिप्रायेणाह मोध्यते-**डनेने**ति । छुप्ताभ्यासे सन्नन्ते [णिजन्ते ?] वा. मोक्षशब्दपक्तिके मोक्षयतीति णिजन्ते वा. मोक्ष मोक्षणे इति घात्व-तरे वा मोक्ष्यत इति यवश्योगः । तल चायं मोक्षशब्दः, "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् " (अष्टा. ३. ३ १९) इति करणार्थघनन्तः । उक्तेषु ज्ञातव्येषु सिद्धं ज्ञातव्यांशं विवृ ण्यन् . वावयार्थज्ञानमालस्य साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावादनुष्ठानशेषतां च ज्ञापयन् , भृतप्रकृतिमोक्ष-शब्देनानिष्टनिवृति सूचयन् , परं यान्तीत्यनेन च इष्ट्रशित्विक्षितत्वं वदीयन् , पिण्डितं महावानवार्थ-माह-अंत्रक्षेत्रज्ञयोरिति ॥ ३४ ॥

॥ इति ...श्रीमद्गीताभाष्यदीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

तयोर्विवेकं विदित्वा भृताकारपरिणतप्रकृतिमोक्षोपायममानित्वादिकं चावगम्य य आच्-रन्ति, ते निर्मुक्तवन्थाः स्वेन रूपेणावस्थितमनवच्छिन्नज्ञानस्रक्षणमात्मानं <sup>1</sup>प्राप्तुवन्तीस्त्रथैः॥

॥ इति श्रीभगवद्गामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये लयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

## ॥ अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥

त्रयोदशे प्रकृतिपुरुषयोरन्योन्यसंसृष्टयोः स्वरूपयाथात्म्यं विज्ञाय अमानित्वादिभिः भगवद्भक्त्यनुगृहीतेवैन्धानमुच्यत इत्युक्तम् । तत्र बन्धहेतुः पूर्वपूर्वसत्त्वादिगुणमय-सुत्वादिसङ्ग इति चाभिहितम्, ''कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'' (२१) इति । अथेदानीं गुणानां बन्धहेतुताप्रकारः, गुणनिवर्तनप्रकारश्चोच्यते ।

श्रीभगवानुवाच--

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् । यत् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिक्तिमितो गताः ॥ १ परम् पूर्वोक्तादन्यत् प्रकृतिपुरुषान्तर्गतमेव सत्त्वादिगुणविषयं ज्ञानं भृयः प्रवक्ष्यामि । तज्ञ ज्ञानं सर्वेषां प्रकृतिपुरुषविषयज्ञानानाम्रुत्तमम् । यत् ज्ञानं ज्ञात्वा सर्वे मृनयस्तन्मननज्ञीलाः

पूर्वाध्यायप्रकृतिविशोधनरूपतयाऽस्य तत्संगतिं प्रदर्शयन्, "गुणवन्धविधा तेषां कर्तृत्वं तिन्न वर्तनम्। गित्तव्यसमूरुतं चतुर्दश उदीर्थते" इति संग्रहरूके (१८) व्याचष्टे त्रयोद्श इति। "इदं शरीरं कौन्तेय सेलमित्यभिधीयते" इत्यारभ्य, "इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः। मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपध्यते" (१८) इत्यन्तार्थमभिषेत्य प्रकृतिपुरुषयोरित्यादि वन्धानमुच्यत इत्युक्तमित्यन्तमभिद्दितम्। गुणानां वन्धहेतुताप्रकार इत्यनेन गुणवन्धविधेत्येतत् व्याख्यातम्। गुणानवर्तनप्रकारश्चेत्यनेन तिन्नवर्तनभित्येतत् व्याख्यातम्। संग्रहोक्तगुणकर्तृत्वगतिलयसम् स्वयोभिष्येऽनुक्तः अन्यार्थान्वादत्वशासिक्षकत्वाभ्यामिति द्रष्टायम्।

परशन्दस्योत्कृष्टपरत्वे उत्तमशन्देन पौनस्वस्यं स्यादिति अन्यथा न्याच्छे पूर्वोक्तादन्यदिति । एवं सित उक्तस्यैव पुनर्वचनपरं भूषः प्रवश्यामीत्येतत् विरुध्येतेत्याशङ्कावारणाय तद्भिषेतमाह प्रकृतिपुरुषान्तर्गत्वमेवेति । संग्रहेण पूर्वाध्यायोक्तं गुणानां बन्धहेतुत्वमेव विस्तरेणाल स्यः प्रवश्यामीत्यर्थं इति न विरोध इति भावः । ज्ञानानामुक्तमं ज्ञानं भूषः प्रवश्यामीत्यन्वयः संभवेऽपि तज्ज्ञानस्यावस्यज्ञातन्यत्वसिद्धये ज्ञानानामुक्तमित्यस्य वावयमेदेन विधेयतयाऽन्वयमाह तच्च द्वानिमिति । ज्ञानानामिति सामान्यनिदेशेन सर्वज्ञानापेक्षयोत्तमस्यात् तद्यवच्छेदाय सर्वेशं प्रकृतिपुरुष्तविषयज्ञानामित्युक्तम् । एतज्ज्ञानविषयज्ञान

<sup>1</sup> एवं त्रयोदशे झानयोगछर्थं कैवल्यमुक्तम् । तदा अनवन्छिञ्जञ्जानप्रसराभावेऽपि झानस्य तथा प्रसरयोग्यताऽस्तीति साक्षात्क्रियते, अपदृतपाप्मत्वादिवत् ; न तु कस्याप्याविभीवः। परमात्मप्राप्तावेव तद्भावात् । अतः प्राप्तुवन्तीत्यस्य अनुभवन्तीत्यर्थः।

इतः संसारवन्थात् (मण्डलात्) परां सिद्धिं गताः परां पिष्ठह्वात्मस्वरूपप्राप्तिरूपां सिद्धिनवाप्ताः ॥ पुनर्गप्रि तज्ज्ञानं फलेन विभिन्नि —

इदं ज्ञानस्(म)पाश्चित्य सस साध्यस्येवागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रख्ये न व्यथन्ति च ॥ २ इदम् वस्यमाणं ज्ञान प्रवाश्चित्य मम साधन्येमागताः सरमाम्यं प्राप्ताः, सर्गेऽपि नोप जायन्ते – स्विकर्मतां भजन्ते ; प्रख्ये न व्यथन्ति च – न च संह् तिकर्मताम् [भजन्ते] ॥ २ ॥ मात्रस्य प्रसिद्धिहेतुत्वासंभवात् तद्भवासक्षपानुष्ठानालाभाच सर्वे ग्रुन्यस्तम्मननशीला इत्युक्तम् । इतः इत्यस्य प्रकृतज्ञानहेतुतापरत्वे, तद्भावेऽपि <sup>१</sup> मृतभव्यसमुचार्(रि)न्यायेन तद्भेतुतालाभात् भगवद्भ-स्यभगवद्मातिकपिद्धहेतेत्रस्ताध्यत्वासंभवेन प्रत्वप्रतिसंवन्धिवेशोषस्य अपेक्षितत्वाच तत्परत्व-माह इतस्ससारवन्धात् (मण्डलात्) प्राणिति । इयं परा सिद्धिः कीदृशीत्वतः तत्वरूपमाह प्राप्तिहरूपानिति ॥ १ ॥

अपौनस्करंयं स्चयन् उत्तरस्रोकमवतारयति **पुनशीप तज्ज्ञान**मिति । इष्टपाप्तिः पूर्व**लोक्ता,** अनिष्टनिष्टत्तिरलोच्यत इति न पौनस्क्त्यमिति भावः । इदंशब्दस्योक्तपरत्वे पक्वतासंगत्या अन्यथा व्याचष्टे <sup>8</sup>वक्ष्**यमाण**मिति । **आगत**ा इत्यत्यागमनकर्तृपरत्वे प्रकृतानन्वयात् पाष्त्यर्थत्वमाद्य प्राप्ता इति ।

पूर्विमिष्टप्राप्तिरूपेण फलेन विशेषितं पुनः फलविशेषेण विशेष्यत इत्यर्थः।

<sup>2</sup> मृतेति । हेतुत्वेन निर्देशाभावेषि द्वयोः कथने भूतं भव्यायोपिद्स्यते इति न्यायात् योग्यतया हेतुत्वलाभः । तत्परत्वय्—परत्वप्रतिसंविध्वयोधकत्वम् । संनारमण्डलादिति पाठे ऐश्वर्यानुभवादित्यर्थः । संसारवन्धादिति पाठ एव स्थितः प्रगुणः ।

<sup>3</sup> वश्यमाणिमिति । वश्यमित्युक्तं वश्यमणिमिति भावः । आगता इति आङ्ग्योगः भगवत-स्तव्यतीक्षां व्यतक्तिः 'आजगाम मुहतेन यत्र राजः सत्वक्षमणः' इति उत् । नैस्तर्गिकं साथम्यम् इति च ततो लभ्यते । रह्मादिविषयस्यस्य झानस्य परम्भरयेव मोक्षहेतुःवम् उपस्युपनगंद्योगसम्

<sup>13-2 &#</sup>x27;मम साध्यर्थमागतः:' इतीदं मुख्यमोक्ष्यरं चेतृ-पूर्व परां सिक्किसित्येतद्वि तथैव सुवचम् । (२०) 'विमुक्तोऽमृतमस्तुते' इत्येतद्वि तथा। तल सर्वेत्वासानुमवपरतया व्यास्थानात् अल साध्यर्यप्राप्तिरिव तत्समानधर्मानुभवमालम्, न तु साध्यर्यप्रिमिव इति वक्तव्यम् । कैवस्य एव पूर्णसाध्ययीविभीवो हि नैवेष्टः। अथवा आत्मानुभवः पूर्वेस्ठोकोक्तः ; अल तदनन्तरभगवदनुभवरूप-मुख्यमोक्ष एवोच्यत इति वक्तव्यम् । यदा आत्मानुभवपरत्यैव योजना, तदा सृष्टिप्रलयभाव-कथनात् तस्य नित्यत्वमुक्तं स्यादिति चेतृ-वतुमुंबदैनन्दिनस्वष्टिप्रलयेष्वि कैवस्यानुभवपर एवा-यमस्तीत्यर्थो ब्राह्मः । गर्भजन्म-मरणस्थययोरभावकथनात् स्थूलशरिरसंयोगवियोगामावसिद्धःथा सृक्षमशरिरस्थितिरेवोचीयत इति महाप्रलयपर्यन्तमेव कैवस्यानुभवानुवृत्तिः सिन्ध्यति । "मामुपेत्य तु कौन्तय पुनर्जन्म न विद्यते" इतिवत् जन्माभावमालवचने पर्याप्ते, प्रलये न व्यथान्त च इति प्रलयव्यथाविरह्वर्णभात् व्यथाकरस्विप्रलयभावलामात् मोक्षार्थभव्यशरिरष्रहणपूर्वेकभजन-परममोक्षादिसिद्धर्पि । स्थोकस्य परममोक्षयरत्वपक्षे तु अवतारक्ष्यदेहसंयोगवियोगासंभवेऽपि दुःखहेतुजनिलयाभावो होतद्र्थः, तथैतत्वक्षेऽपि । श्रीभाष्ये वहुलं मुख्यमोक्षपरत्येवैतद्वास्थप्रहणम् ।

अथ प्राकृतानां गुणानां बन्धहेतुताप्रकारं वक्तुं सर्वस्य भृतजातस्य प्रकृतिपुरुषसंसर्ग-जत्वं 'यावत्संजायते किञ्चत्' (१३.२६) हत्यनेनोक्तं भगवता स्वेनैव कृतमित्याह — सम योनिर्महद्वक्ष तस्मिन् गर्मे दधाम्यहम् । संसवस्तर्वभृतानां ततो भवति भारत॥ ३

कुरस्वस्य जगतो योनिभृतं सम महद्रश्च यत्, तिसमन् गर्भे दधाम्यहम् ; "भूमिरा-पोऽनलो वायुः सं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरप्टधा ॥ अपरेयम्" (७. ४) इति निर्दिष्टा अचेतनप्रकृतिः महरहङ्कारादिविकाराणां कारणतया <sup>1</sup>महद्रक्षेत्युच्यते । अनुताविष कचित् प्रकृतिरिष ब्रश्चेति निर्दिश्यते, "यस्प्तवैज्ञस्पर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मात् एतद्ब्रश्च नाम रूपमकं च जायते" (यु. १. १. १०) इति ; "इतस्त्वन्यां प्रकृति निर्दिष्टा, सेह

व्यथन्तीत्यस्य दुःखार्थकत्वेऽपि जनिसमभिन्याहारात् संहारस्रक्षकत्वमुचितमित्यभिषायेणाह न च संहिति कर्मतां मजन्त इति ॥ २ ॥

गुणसंबन्धहेतुतानकारतिलवर्दनवकारपतिषादकत्वाभावात् मम योनिमृहद्दृक्षेति स्रोकः प्रकृतास्मत इति शक्कापरिहाराय तच्छ्छोकमवतारयित अथ प्राकृतानामिति । वस्यमाणगुणवन्धहेतुत्वमि स्रकृतिमिति योतनाय सर्वभूतजातस्य प्रकृतिपुरुषसंसर्गजत्वं सक्कृतमिति अनेनोच्यत इति भावः । कृरस्रस्य जगतो योनिभृतमिति । मम योनिभृतमित्यन्वये, "अहं कृत्सस्य जगतः प्रभवः प्रख्यस्य । मतः परतरं नान्यत् किंचिद्दित्व धनंजय" (७. ६) इत्यादिभिविरोधः ; स्र्योनिभृते गर्भाधानाभिधानं चानुपपत्रम् ; "तासां ब्रह्म महयोनिरहं वीजप्रदः पिता " इत्युत्तरस्रोकवैरस्यश्च । अतः, तिस्मन् शर्म द्याम्यहमित्यस्याऽऽङ्गस्याच जगत्पितृत्वेनावस्यितस्य सस्य जगद्गभीधानक्षमसाक्षाह्विह्मारिद्व्यमिह् योनिश्चते विवर्धक्षतिमिति भावः । मम योनिर्रत्येतत् 'भूमिरापः' इत्यादिप्रतिपद्वार्थविषयस्य द्यानिश्चते वापार्थे तच्छ्यत्वर्यतिसंयन्धित्य प्रच्छव्यनिर्देशः । ननु जगद्योनिम्तं महद्भस्य परमात्मेव, 'वासुदेवः परा प्रकृतिः', 'यद्भृत्योनिं' (मु १.१.६), 'कर्तारमीश पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मु. ३.१.३) इत्यादिषु श्रूयते ; स कथं ममेति व्यतिरेकेण निर्देश्यते ? ब्रह्म श्रवस्य च न प्रकृतिवाचकत्वम् । महद्भक्षिति विशेषणं च तत्पित्कृत्रमेव । अतः परमात्मस्रस्त्यमेव 'ब्रह्म पुच्छं वितर्था' (आ. ५) इत्यादिष्टवालापि मेदेनोपचर्यत इति योजयम् –उत्ताह भूमिराप इति । अथममिप्रायः-प्रकृत्वयोक्तवैश्वाय विविद्या निर्देश

गहद्पेक्षया यत् ब्रह्म, तत् महद्ब्रह्मत्यर्थस्फ्र्तिरिप । वस्तुनः तासां ब्रह्म महद्योनिरित्यत्नेव महदिति पृथक्षद्मेव ।

<sup>2</sup> ननु कार्यावस्थ्यवहा तासां मूर्तीनां योनिः मूलप्रकृतिभूतं तु स्वयोनिरिति शंकायां पूर्वोक्त-मेव मुखान्तरेण पुनर्शीपयति तस्मिन्निति । अत्र "वैरस्यम् । तस्मिन् गर्म दधाम्यहमित्यसामञ्जस्यञ्च" इति पाठे अनुपपन्नमित्यन्तपूर्ववाक्येन पुनरुक्तिः स्यात् । अत्र पाठे मुखान्तरेण पञ्चम्यन्तत्वात्र दोषः।

सकलप्राणिबीजतया गर्भशन्देनोच्यते । तस्मिन् अचेतने योनिभृते महति ब्रह्मणि चेतनपुङ्गरूपं गर्मे द्धामि ; अचेतनप्रकृत्या भोगक्षेत्रभृतया भोकतृवर्गपुङ्गभृतां चेतनप्रकृति संयोजया मीत्यर्थः । ततः तस्मात् प्रकृतिद्वयसयोगात् मत्संकरपकृतात् सर्वम्तानां ब्रह्मादिस्तम्बर्यन्तानां संभवो भवति ॥ ३ ॥

पक्रतिरेवालापि, संबन्धिविभक्तिवशात पक्रतिशब्दपर्थायथोनिशब्दादिमिश्च तद्भीशब्दाभिहितचेतन-प्रकृत्याधानक्षेत्रत्वेन मोगायतनत्वप्रतीतेश्च प्रत्यभिज्ञायते । एतद्योनीनि (७. ६) इति योनिशन्दोऽपि पूर्वे तत प्रयुक्तः । तस्याध्य महतां मतानां तत्कारणस्याहंकारस्य तत्कारणस्य महत्तत्वस्य च कारणत्या . तत्तत्कार्यापेक्षया महत्त्वविद्रोषितत्रञ्चत्वमप्युवपन्नम् । ब्रह्मशब्दश्च कारणस्वबृहत्त्वादिसाददयादब्रह्मण्यपि प्रयोक्तं युज्यते । तथा च श्रौतप्रयोगोऽप्यस्ति । प्रकृतेर्जगद्योनित्ववचनं तु न परमात्मनो जगदुपादानत्व-विरुद्धमः अपि त्वनुगणमेव. प्रकृतिविशिष्टवेषेणैव निर्विकारस्य तस्य जगद्योनित्वात् । अतो हि पूर्वम् "एतद्योनीति मृतानि सर्वाणीत्युपधारय" इत्युक्त्वा तदनन्तरम् , "अहं कृत्खस्य जगतः प्रभवः प्रस्य-स्तथा" (७. ६) इत्युक्तमिति । प्रसिद्धगर्भासंभवात राभेशन्दाभिल्प्यत्वमत् जीवस्य कथमित्यताह इत स्त्वन्यामिति । मम योनिरित्यनेन प्रत्यमिज्ञापितत्वकीयप्रक्रतिद्वयविषयपाचीनवचनपरामक्चीत् अनन्तर-प्रन्थसामञ्जस्याच गर्भशब्दोऽल परप्रकृतिशब्दिविष्टिचित्समष्टिपर इति भावः। गर्भमित्येकवचनं समुदायैवयपरमिति रूयापनाय पुञ्जशब्दः। अन्वितार्थमाह तिरमिन्निति । ननु पूर्वे, 'ययेदं घार्यते जगत् ' (७. ५) इति चेतनप्रकृतेराधारस्वमचेतनस्य च धार्यस्वमक्तम् । इह त तिसमन् गर्भं दधाम्यहिमिति तिद्वपरीतमुच्यत इत्यत्नाह अचेतनेति । नाल ताद्धीन्यपर्यन्ताधाराधेयभावोऽभिमतः : अपि त तदेवेद-मित्यभेदनिर्देशमालयोग्यसंयोगः ; तथाविधसंयोगकरणस्य कर्मवस्यानां पुंसां कर्मानुरूपभोगः प्रधानं (भोगपदानं) प्रयोजनिमत्युक्तं भवति । अत्र तत इति नानन्तर्यपरः ; मन्द्रप्रयोजनत्वात् ; आनन्तर्येण हेतुभावस्य फलितत्वादपि तत्कण्डोक्तेर्युक्तत्वात् । अतः **क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगा**त् (२ ६) इति पूर्वाध्यायोक्त एव हेतुरिह सांख्यमतशङ्कानिरासाय स्वाधीनत्वेन विशेष्यत इत्यभिप्रायेणाह प्रकृतिदृयसंयोगात मतसंकरूप-कतादिति । अत एव तस्य कार्यकरत्वं चोपपन्नमिति भावः । अत सर्वभूतानामिति न महदादि-तत्त्वपरम् , मृतशब्दस्य महद।दिष्यरूढत्वात् । नापि महाभृतादिविवक्षा, क्षेत्रज्ञानां बन्धहेतप्रकार-परत्वात् । तच क्षेत्रज्ञत्वं भूतशब्दविवक्षितसुज्यत्वाविशोषात् , ''आब्रह्मत्तम्वपर्यन्ता जगदन्तव्यवस्थिताः । प्राणिनः कर्मजनितसंसारवज्ञवर्तिनः" (वि. ध. १०४. २३), "ब्रह्माद्यास्सकळा देवा मनुष्याः पञ्चक्तथा । विष्णुमायामहावर्तमोहान्घतमसावृताः" (वि. ५ ३९.१७), "हिरण्यगर्भो भगवान्" (वि. ६. ७. ५६) इत्यादिमिश्च ब्रह्मेशानादेरपि समानमित्यभिषायेण सर्वशब्द इति दर्शयितुं **ब्रमादिस्तम्बपर्यन्ताना**मित्यक्तम् । "अबुद्धिपूर्वकस्सर्गः पादुर्भृतस्त्रमोमयः" (वि. १. ५. ३) इत्यादिष चतुर्मुखसंकरुपमन्तरेणैव स्थावरादिसृष्टिवचनात् हिरण्यर्गमवत् तत्सृष्टानामपि स्तुम्बपूर्यन्तानां परमात्मसुज्यत्वं स्पष्टम् ॥ ३ ॥

कार्यावस्थोऽपि चिदचित्त्रकृतिसंसर्गो मयैव कृत इत्याह--

सर्वयोत्तिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः । तासां ब्रह्म महत् योनिग्हं वीजप्रदः पिता ॥ ४ सर्वाषु देवगन्धर्वयक्षराश्वसमनुष्यपञ्चमुगपक्षित्ररीसृपादिषु योनिषु तत्तन्मूर्तयो याः संभवन्ति जायन्ते, तासां ब्रह्म महत् योनिः कारणम् ; मया संयोजितचेतनवर्गा महदादि- विद्योपान्तावस्या प्रकृतिः कारणमित्यर्थः । अहं वीजपदः पिता-तत्रतत्त च तत्तत्कर्मानुगुण्येन चेतनवर्गस्य संयोजकश्चाहमित्यर्थः ॥ ४ ॥

एवं सर्गादौ प्राचीनकर्मवशादिष्टसंसर्गेण देवादियोनिषु जातानां पुनःपुनदेवादि-भावेन जन्महेतुमाह---

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः । निवधन्ति मह।वाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः प्रकृतेः स्वरूपानुवन्धिनः स्वभावविशेषाः [प्रकृति-

एवमनेन इलोकेन प्राकृतनैमितिकसृष्ट्योः स्वाधीनत्वमुक्तम् ; अथ नित्यसृष्टिर्षि स्वेनैव कृतेत्यु च्यते सर्वयोनित्वित क्षोकेन। इलोक्योः पुनरुक्तिपिहारमिनेत्रेत्याह कार्यावस्थोऽपीति। नित्यसर्गावित्व्यक्षोऽपीत्वर्थः । हिरण्यगमेमूलचतुर्विधसृष्टेस्समनन्तरमि आप्रलयात् क्षुद्रेच्वि जन्तुषु या संतितः, तलापि नेश्वरः स्वयमुदासीनस्सन् अन्यैः कारयतीत्यमिष्रायेण सर्वयोनिश्वद् इत्याह देवगन्धवेत्यादिना। प्रमाणसिद्धं प्रतिनियतकारणवस्तुवैज्ञात्यलक्षणं वैवित्र्यं स्प्रुः स्वय् विचित्रशक्तियोगज्ञसये 'याः' इति प्रसिद्धवित्वेदेशेनानूद्यत इत्यमिष्ययेणाह तक्तःसृत्य इति । संभवन्तीत्यस्य संमावनार्थनाव्युदासार्थमुपादानोपादेयमावज्ञापनार्थं चाह जायन्त इति । अव्यवहितोपादानत्वाद्यमायात् कारणमित्युक्तम् । चित्संपर्किवरहे सर्वेश्वराधिष्ठानिवरहे च केवलस्याचित्रमात्यस्य हेतुःवायोगमिन्वित्या स्या संयोजितचित्वनवर्गति । सर्वयोनिन्वत्यादिना निर्दिश्वयमानचरमव्यष्टिनृष्टौ बहुयोनिकतया प्रतीयमानायां च कथमेकस्या मूलप्रकृतेयोनित्विमत्यत्वाह महदादिविश्वपान्तावस्थिति । श्रियाः पञ्च मृतािन ॥ अत्र को वीजशब्दार्थः ! कि च पितृत्वव्यपदेशहेतुमृतं तत्पदान्तम् ! 'तासां ब्रह्म महद्योनित्व वीजयदः विता' इत्यनेन च सेश्वरसांस्थ्यत् प्रकृतेरेवोपादानत्वम् , ईश्वरस्य च केवलनिमित्तवं प्रतीयते । तच्च श्रुति विरुद्धम्, एकस्यामेव च योनावेकस्मिलेवाविषमे पितरि जायमानानां वैचित्र्यं किनिवन्यनित्यत्वाह तत्रतत्वि । महद्भ योनिरिति पूर्वश्वेतिविष्ते मात्रः ॥ श्रुति स्वरुवदेनोपाता । तल गर्भशब्दस्थानीयो वीजशब्दः तत्तस्वष्ट्यनुगुणचेतनवावीति भावः ॥ १ ॥

ननु नैमितिकसर्गादौ प्राचीनकर्मानुरूपप्रमुख्यसंकर्द्यकृतिचित्संसर्गाज्ञन्मोपप्यते ; प्राचीनं च कर्म तेनैव दत्तफरुम् ; तदारम्भककर्मावसाने च तच्छरीरं विनद्येत् ; स्वतधारमा विशुद्धः ; कुनः पुनरस्य नित्यसृष्टिविषयतेस्यत्र गुणवन्धमकरणमवतारयति एविमिति । एवं समष्टिव्यष्टिविषयक्षोक-द्वयोक्तप्रकारेणेत्यर्थः । स्वरूपनिरूपक्षमा हि धर्मिणं कदाचिद्षि न त्यजन्ति । अतः प्रकृतिसंभव स्विमह कार्यद्यायां विषमतयोद्भवमात्रमित्यभित्रायेणाह् अकृतेस्वरूपनुविन्यम्

संभवाः ?] प्रकाशादिकार्येकनिरूपणीयाः प्रकृत्यवस्थायामनुद्भृताः ¹तद्विकारेषु महदादिषु-उद्भृताः महदादिविशेषान्तैरारव्यदेवमनुष्पादिदेहसंबन्धिनमेनं देहिनम्, अव्ययम् स्वतो गुणसंबन्धानहँ देहे वर्तमानं निवश्न निन, देहे वर्तमानस्वोपाधिना निवध्नन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ सन्दरजन्तमनामाकारं वन्यनग्रकारं चाह—

तत सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् । स्त्रखलङ्गेन वधाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ इत्यर्थः । कार्यावस्थपकृतिगतेभ्यः शब्दादिगुणेभ्यः सरूपनिरूपकत्वनित्यानुवन्धित्वस्थपक्षणवैष्म्यपकाश-नाय इतिशब्दः । सत्त्वादीनामेव प्रकृतिद्रव्यतां वदतः सांख्यान प्रतिक्षिपति स्वभावविशेषा इति । असाधारणधर्मविशेषा इति यावत् । चेतनासाधारणत्वेऽप्यौपाधिकाः सुखदःखादयः : स्वाभाविका अपि साधारणा द्रव्यत्वादयः ; तद्भयव्यवच्छेदाय स्वरूपान्वन्धिनस्खभावविशेषा इति पदद्वयम् । एतेन, "गुणा इति पारिभाषिक: शब्द:, न रूपादिबदुद्वयाश्रिता गुणा:" इत्यादि शंकरोक्तं निर-स्तम् । गुगज्ञव्दप्रसिद्धिस्तन्मते विरुद्धेति भावः । नन् शब्दादिवन्न सत्त्वादिसंज्ञा गुणाः प्रत्यक्षेण हरयन्ते ; न च नित्यातीन्द्रियेऽनुमानं कमत इति शारीरके स्थापितम् ; न चानुपरुव्धेषु प्रकृतिगुणेषु वायसरदनवत् उपदेशस्य प्रयोजनं पर्यामः : अतो वैशेषिकादिवत् अन्यपरत्वमिह वक्तं युक्तमित्यताह प्रकाञादीति । अयमभिनायः-प्रकाञ्चप्रवृत्तिनीहरूपाणि कार्याणि तावत् प्रत्यक्षाणि । तत्कारणविशेषाश्च कार्यभूतैस्तैरेव सामान्यतोऽनुमीयन्ते, कारणविशेषमन्तरेण कत्यापि कार्यत्यानुत्पतेः । स च विशेषः सत्त्वादिरूप इत्यागमसिद्धम् । न चात्र निष्प्रयोजनता, अतीन्द्रियविषमेषजशक्तिविशेषोपदेशवत हानो-पादानपर्यवसानादिति । कार्यैकनिरूपणीयाश्चेत् प्रतिसर्भदशायां सुखदु:खादिकार्याभावात् सत्त्व।दि-गुणानामभावः प्राम्नोति ; अतः कथं खरूपानुबन्धित्वमित्यलाह प्रकृत्यवस्थायामनुद्भृता इति । कार्य-हेत्रुह्रवस्तदानीं नास्तीति भावः। तृद्धिकारेष्वित्यादि। परिणामवशात् पुष्पफ्ळादिषु गन्धायुद्भवविति भावः । प्रकृतितहिकारस्या गुणाः स्वतोऽव्ययत्वात् गुणसंबन्धानहै कथं बध्नन्तीत्यस्योत्तरं देहिश्वव्द इत्याह महदादीति । अव्ययशब्दोऽल गुणसंबन्धकृतज्ञानसंकोचरूपव्ययनिषेधपर इत्यमिपायेणाह अव्यय स्वतो गणसंबन्धानईमिति । तथाऽपि ''शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'' (१३. ३१) इत्यक्तस्य कथं वन्यास्त्र्यो लेप इत्यत आमोक्षाद्विच्छिन्नदेहसंबन्धोपाधिकत्वं देहे इत्यनेनाभिषेतिमत्याह देहे वर्तमानस्वोपाधिनेति । एतेन, "क्षेत्रज्ञं बध्नन्तीव ; तमास्पदीकृत्य आत्मानं प्रतिलभन्ते" इति शंकरद्-रुक्तिनिरस्ता। न होष गुणवन्यः प्रकोष्ठवलेन हन्तं शवयत इत्यभित्रायेण महःबाह्यव्दः । ''दीवीं बुद्धिमतो बाह्र याभ्यां हिंसति हिंसितः'' इति भावः । यथा त्वद्भजवलेन परेषां वन्धं इति वा ॥ ५ ॥ त्रवेत्यादिश्लोकत्रयस्य प्रकृतसंगतिमाह सन्वेति । आकारम् । निरूपकत्वभाविमत्यर्थः । तत्रेति

<sup>1</sup> गुणदान्द्रव्यास्यानं स्वभावविद्योगः इत्यन्तम् । तिक्रकारेषु महदादिष्द्यूनः इति प्रकृति-संभवा इत्यस्य व्यास्यानम् । निवध्नन्ति नितरां वध्नन्ति । देहसंबन्धदशायां सुखदुःखायुत्यादात् नितराम् । बन्धमातं प्रस्तये ।

तल सन्तरजस्तमस्य सन्वस्य स्वरूपमीदशम् निर्मेरुत्वार् प्रकाशकम् ; <sup>1</sup>प्रकाश-सुखाऽऽवरणस्वभावरहितता निर्मलत्वम् ; प्रकाशसुखजननैकान्तस्वभावतया प्रकाशसख-हेतुभृतमित्यर्थः । प्रकाशः वस्तुयाथात्म्यावबोधः । अनामयम् आमयारूवं कार्यं न विद्यत इत्यनामयसः अरोगताहेत्रस्त्यर्थः । एष सत्त्वारूयो गुणो देहिनमेन छलसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति पुरुषस्य सुस्वसङ्ग ज्ञानसङ्गं च जनयतीत्यर्थः । ज्ञानसुखयोस्सङ्गे हि जाते तत्साधनेषु लौकिकवैदिकेषु प्रवर्तते ; ततथ तत्फलानुभवसाधनभृतासु योनिषु जायत इति सत्त्वं सुखज्ञानः सङ्गद्वारेण पुरुषं वश्नाति । ज्ञानसुखजननं पुनरपि तयोस्यङ्गजननं च सत्त्वमित्युक्तं भवति ॥६ निर्धारणार्थ: समुदायनिर्देश इत्याह **सत्त्वरजस्तम**िस्वति । ननु निर्मेखानां स्फटिकमण्यादीनां न प्रकाशकत्वं दृश्यत इत्यताह प्रकाशेति । मलशन्दोऽल तमस्त्वभावभूतप्रकाशिवरोध्याकारपर इत्यर्थः । वश्यमाण रामशीदिह सुस्वीपादानम् । आवरणसभावरहितानामप्याकाशवायवादीनां न प्रकाशकत्व-मित्यलाह **प्रकाशसरवजननैकान्तस्यभावत्ये**ति । सत्त्वमिश्ररजस्तमसीरिप श्रान्तियुद्धिविशेषहेतुरवस्य वक्ष्यमाणत्वात् कथमिह सत्त्वस्यैव प्रकाशजनकत्विमत्यताह प्रकाशो वस्त्याथात्म्यावचोध इति । राजसतामसिषयोरप्यधिष्ठानस्ररूपप्रकाशादिकं सत्त्वस्यांश इति भावः। सत्त्वस्याऽऽमयप्रसङ्गाभावात् तित्रिषेधो न युक्त इत्यताह आमयारूपं कार्यं न विद्यत इति । अत सहपठिते गुणान्तरे कार्य-त्वेनाऽऽमयस्य संबन्धोऽस्ति, सोऽत्र प्रसक्तः प्रतिषिध्यत इति भावः। आमयारुयकार्यनिषेधोऽत्र फळतस्त-द्विपरीतकार्यान्तरविध्यसिमायेणेत्याह अ**रोगताहेतु**रिति । तिभवष्नातीत्युत्तरस्रोकयोरिवालापि खरूप निर्देशेन बन्धहेतुरवनिर्देशेन च वाक्यभेदमाह एव इति । अन्यतिसद्धस्य सुखादिसङ्गस्य विन्ध ?) करणः तामात्रं तृतीयया प्रतिपादितम् ; न च तत् युक्तम् , <sup>2</sup>हेत्वन्तरानुक्तेः ; तत्राह पुरुषस्येति । बन्धावा-न्तरव्यापारत्विमह विविक्षितिमिति भावः । बन्धो हि कर्मफलानुभवार्थदेहसंबन्धः : स च कर्ममूलः, स कथं स्रलादिसङ्गादित्यताह ज्ञानसुखयोरिति। <sup>2</sup>ननु वैदिकसाधनानुष्ठानं योनिपाप्त्यैव भवतीति युक्तम् ; लौकिकं तु साधनं दृष्टफलमालाय स्याद्वा, न वा ? न तु जन्मान्तरादिप्रसाधकम् । प्रवृतिदृष्टान्ततया-ऽपि लौकिकप्रहणं मन्द्रथयोजनम् ॥ अल ब्रमः । अल लौकिक्रशब्देन सार्वप्रहणम् ; अथवा निषिद्ध-महणम् । हिंसादेस्स्रखसाधनत्वं हि छौिककम् ; अछौिकवया तु शवत्या पापिष्ठजन्मादिप्रसाधकत्व-मिति । रजिस च वक्ष्यिति, "ताश्च [क्रियाः] पुण्यपापरूपाः" (७) इति । यदि सत्त्वमेव त्रकाशं सुखं च खयं जनयति, ततिसिद्धयोस्तयोः परृत्तिहेतुस्सङ्गो न जायेतेत्यताह ज्ञानसुखैति । बीजाङ्कर-न्यायेनोत्तरसङ्गतद्विषययो: सत्त्वं साधकमित्यर्थ:। "न काङ्क्षे विजयन् " (गी. १. ३२) इत्यादि वदतस्तव न सङ्ग इत्यभिभायेण अनघशब्दः ॥ ६ ॥

प्रकाशसुख्योरावरणेति तत्पुरुप:। लोके धृत्यन्धकारयोगे मालिन्यं भवति । तत्सादश्यात गुणयोः रजस्तमोध्यवहारः।

<sup>2</sup> हेत्वन्तरेति । संगहेतोरन्यस्येत्यर्थः । भाष्ये लौकिकपरस्यायोगं शंकते नन्विति ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तिववधाति कौन्तेय कर्मसङ्गन देहितम् ॥ ७ रजो रागात्मकम् रागहेतुभृतम् । रागः योषित्पुरुषयोरन्योन्यस्पृहा । तृष्णासङ्गसमुद्भवम् तृष्णासङ्गयोरुद्भवस्पृहा । तृष्णासङ्गसमुद्भवम् तृष्णासङ्गयोरुद्भवस्यानम्-तृष्णासङ्गहेतुभृतमित्यर्थः । तृष्णा सन्दादिमवैविषयस्पृहा ; सङः पृत-मितादिषु संबन्धिषु संश्वेषपृहा । तत् रजः देहिनं कर्मसु क्रियासु स्पृहाजननद्वारेण निवधाति । क्रियासु हि स्पृहया याः क्रिया आरभते देही, ताश्च पुण्यपापरूषा इति तत्फलानुभव साधनभृतासु योनिषु जन्महेतवो भवन्ति । अतः कर्मसङ्गहोरेण रजो देहिनं निवधाति । तदेवं रजो रागतष्णासङ्गहेतः कर्मसङ्गहेतथेत्यस्यक्तं भवति ॥ ७ ॥

तमस्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निवध्नाति भारत ॥ ८ ज्ञानादन्यदिहः अज्ञानमभिप्रेतम् । ज्ञानं वस्तुयाथारम्याववीधः ; तस्रादन्यत् तद्वि-

"रजसो लोग एव च" (१७) इति वक्ष्यते ; अतः प्रकाशकम् , मोहनमिति पूर्वोत्तरवत् **रागात्मक**मित्यत्रापि रागहेतुत्वं विवक्षितमित्याह रागहेतुभृतमिति । कारणे कार्योपचारः । रज्यते अनेनेति व्यत्पत्त्या वा रागहेतुत्वं रागशव्देन विवक्षितिमिति भावः । सहप्रयुक्तवृष्णादिशव्दपुनरुक्ति-परिहाराय रागशन्दं प्रयोगपाचर्यानसारेण विषयविशेषे नियच्छति योषित्परुषयोगन्यरप्रहेति । तृष्णासङ्गाभ्यां रजस उत्पत्तिकथनं मन्दम् ; रजोगुणात् तयोरुत्पत्यभिधानं तु बन्धाबान्तरव्यापार-स्थानिमत्यताह तज्जासङ्गहेत् भृतिमत्यर्थे इति । "क्षुत्रजोपशमम् " (वि. १. १७. ६०) इत्यादि-प्रयोगात् पिपासामालशङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह **तःणाः भवदादिसर्विवयरे**ति । सांस्पर्शिकगुणपञ्चकप्रहण-मिदम् । पुत्रसित्रादिष्वित्यानिमानिकपरम् । विषयतृष्णा विषयवैतृष्ण्यमित्यादिषयोगात तृष्णा सांस्पर्शिकसम्तिविषया ; सङ्गस्तु परिशेषात् श्रयोगानुसाराच आभिमानिकविषय इति शावः । रागादि-हेत्कस्तद्विषयोपायसङ्गोऽत्र कर्मसङ्ग इत्याह तादेति । नन् रागतृष्णासङ्गा अप्यन्यत सुखिवशेषसङ्गा एव व्याख्याताः । ज्ञानसुखयोत्सङ्गे जाते तत्साधनेषु प्रवृत्तिवचनात् सत्त्वेनापि क्रियासङ्गो जन्यते ; तत् कथं विवेकः ? इत्थप् । सत्त्वगुणः सुखं प्रधानीकृत्य तदर्थतयाऽन्यत्न सङ्गयति : ''प्रयोजनेप सज्जन्ते न विशेषेषु पण्डिताः'' इतिवत् । रजोगुणस्तु तत्तद्वस्तूनि क्रियास्वरूपं च प्रधानीकृत्य सुख मरुपं प्रमृतं वेत्यतोदासीनो भवति । राजदाराभिलाष-दृष्पतादिसंरक्षण-वृथाचेष्टादिष्वेतत् व्यक्तमिति । कर्मसङ्गस्य कथं बन्धद्वारःविमित्यलाह कियास हीति । कर्मसङ्गवत् रागादेरिप बन्धद्वारत्वज्ञापनाय पिण्डितमाह तदेविमिति । तत् रागादीनां बन्धे पर्यवसानेन साफल्यादित्यर्थः । एवम्—सत्त्व-तमोध्याद्वतस्वमावेनोक्तप्रकारेणेत्यर्थः ॥ ७॥

अत्यन्तपरिहरणीयत्वरूक्षणवैषम्यद्योतनाय तमस्त्वित तुशब्दः । अज्ञानशब्दस्य पुण्यपापरूपे कर्मणि ज्ञानाभावादिषु च प्रयोगात् इह तह्यावृत्तं मोहजनकत्वानुरूपं कारणविशेषमाह ज्ञानादन्यदिति ।

<sup>।</sup> जाया में स्थात । प्रजायेय । 'वित्तं में स्थात् । अथ कर्म कुर्विये त्युपनिषत् ।

पर्ययज्ञानम् । तमस्तु वस्तुयाथात्म्यविषरीतिविषयज्ञानजम् । मोहनं सर्वदेहिनाम् । मोहो विपर्ययज्ञानम् ; विषर्ययज्ञानहेतुरित्यर्थः । तत् तमः प्रमादालस्यनिद्राहेतुतया तद्द्वारेण देहिनं निवशाति । शमादः कर्तव्यात् कर्मणोऽन्यतः प्रश्निहेतुभृतमनत्रधानम् । आल्खम् कर्मस्वनारम्मस्वभावः ; स्तव्धतेति यावत् । पुरुषस्येन्द्रियप्रवर्तनश्रान्त्याः सर्वेन्द्रियप्रवर्तन्ते। नोषरतिर्निद्राः तत्र बःखेन्द्रियप्रवर्तनोषरमः स्वप्तः ; मनसोऽप्युषरितः छप्रतिः ॥ ८ ॥

सत्त्वादीनां बन्धद्वारभृतेषु प्रधानान्याह-

सत्त्वं सुखे सक्षयित रजः कर्मणि भारत । ज्ञानमागृत्य तु तमः प्रमादे सक्षयत्युत ॥ ९ सत्त्वं सुखशङ्गप्रधानम् ; रजः कर्मशङ्गप्रधानम् ; तमस्तु वस्तुयाथात्म्यज्ञानमागृत्य विपरीतज्ञानहेतुतया कर्तव्यथिपरीतप्रशृत्तिसङ्गप्रधानम् ॥ ९ ॥

देहाकारपरिणतायाः प्रकृतेः स्वरूपानुवन्धिनः सत्त्वादयो गुणाः ; ते च स्वरूपान नुवन्धिस्वेन सर्वेद्। सर्वे वर्तन्त इति परस्परविरुद्धं कार्यं कथं जनयन्तीत्यत्वाह —

रजस्तमश्चाभिभूय सस्वं भवति भारत । रजः सस्वं तमश्चेव तमः सस्वं रजस्तथा ॥ १० यद्यपि सस्वादयस्रयः प्रकृतिसंसृष्टात्मस्वरूपानुवन्धिनः, तथार्थप शाचीनकर्मवज्ञात्

सर्वज्ञानन्यतिरेकच्युदासायाह द्वानं वस्तुयाथात्म्यावबोध इति । विषययज्ञानस्य तयोजनकत्वं पाषाचुष्ठानादिद्वारा । तमःकार्यतया वक्ष्यमाणं धर्मवैपरीत्यज्ञानमिह मोहरान्देन विविक्षनित्याह मोहो
विषयंग्रज्ञानमिति । प्रत्ययस्यात्न हेतुमालप्रतामाह विषयंग्रज्ञानमेह मोहरान्देन विविक्षनित्याह मोहो
विषयंग्रज्ञानमिति । प्रत्ययस्यात्न हेतुमालप्रतामाह विषयंग्रज्ञानहेतुरित्यर्थ इति । अनवधानमित्येतावत् प्रमादशब्दार्थः ; कर्तव्यादित्यादिना प्रमादस्य वन्यहेतुस्वनिव्हणम् । अकर्तव्ये हि प्रश्चतिः
पाषिष्ठजन्मादिहेतुभैवति । एवं कर्तव्यादित्यादिना प्रमादस्य वन्यहेतुस्वनिव्हणम् । अकर्तव्ये हि प्रश्चतिः
व समावरन् । प्रसंख्येन्द्रयार्थेषु प्रायिक्षवीयते नरः'' (मनु. ११. ४४) इति । आरुम्यशब्दास्यात
समयोजनेऽपि विषये प्रश्चितिरोधिस्वभावपरतामाह स्तव्यतेति । सर्वदा तमसि वर्तमानेऽपि करःचिलिदा
कृत इत्यताह इन्द्रियप्रवर्तनश्चान्रयेति । समस्यानुक्तिश्चापित्वाप्तेयःव दर्शयित
तश्चेति । निद्राया वन्यकस्यं चोदितानुष्ठानयिरुद्धात् अकालकरणात् काले चाकरणात् पापिष्टस्वमद्वारा
च द्वष्टव्यम् । उक्तं च 'युक्तस्वमाववोधस्य' (६. १७) इति ॥ ८॥

सत्त्वं सुखे इति क्षीकस्य अर्थविभागेन पुनरुक्ततां परिहरति सन्दः ीनामिति । सन्दं मुख-सङ्गप्रधानमिति । ज्ञानसङ्गोऽपि सुखार्थ इति भावः । रजः क्षममङ्गप्रधानमिति । रागतृष्णादयो-ऽपि हि कर्मणि विश्राम्यन्तीति भावः । निरशेषज्ञानावरणे पृषुस्यः दिश्वपत्त्वात् प्रमादास्व्यदशाऽपि न स्यादित्यबाह वस्तुयाथारम्यज्ञानमाञ्चरदेति ॥ ९ ॥

अनन्तरंग्रन्थस्यासंगतिशङ्कां परिहरति **देहाकारे**ति । परस्परविरुद्धं यथार्थायथार्थज्ञानसुखदुःख सङ्गादिरूपमित्यर्थः । उद्भवाभिभवानियमप्रसङ्गपरिहाराय भगवदनुग्रहनिग्रहहेतूनां कर्मणां विषमविपाक समयस्वात् तदनुरूपोद्भवाभिनवप्रवाह उपपद्यत इत्याह प्राचीत क्रमवद्यादिति । यथा वातपित्तककानां देहाष्यायनभृताहाश्वैषम्याच सत्त्वाद्यः पश्स्यसमृद्धवाभिभवरूपेण वर्तन्ते । रजस्तमसी कदाचिदभिभृय सत्त्वपुद्धिकं वर्तते ; तथा तमस्तर्वे अभिभृय ग्जः कदाचित् ; कदाचिच रजस्यत्वे अभिभृय तमः ॥ १० ॥ तच् कार्योष्ठव्यवावगच्छेदित्यादः —

रुर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते । बानं यदा तदा विद्यात् विवृद्धं अस्वमित्युत ॥ ११ सर्वेषु चक्षुगदिषु ज्ञानद्वारेषु यदा वस्तुपाथात्म्यप्रकाशे ज्ञानद्वरजायते, तदा <sup>1</sup>तिस्मिन् देहे सत्त्वं प्रवृद्धमिति विद्यातु ॥ ११ ॥

लोसः प्रश्वातरारम्भः कर्मणामशामः स्पृहा । रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धं भरतप्रेम ॥ १२ लोमः स्वकीयद्रव्यसात्वागशीलता ; प्रश्वाः प्रयोजनमनुद्दिश्यापं चलनक्षभावता ; आरम्भः कर्मणाम् -फलसावनभृतानां कर्मणामारम्भः ; अशमः इन्द्रियानुपरितः ; स्पृहा — तत्तरमुत्तुर्देव्येरुपचर्य "बृद्धिसमानेस्सेवां विवरीतैर्विपयः" इत्यायुर्वेदविदो वदन्ति, तथाऽत्रापि वक्ष्य-माणसात्त्विकाद्याहारमेदावित्याह देहाप्यायनभृताहारचप्रम्याचेति । "ततो देवा अभवन् ; पराऽतुराः" (यजु. ५. २. ११) इत्यादिष्यिव भवतिरहोद्धविवय इत्याह उद्विक्तं वतेत इति । रजस्तमसोरुद्दम्तयोः परिहाराधिनयमुद्धवाभिभवोपदेशः ॥ १०॥

ते च कुतो जाते चिकित्सित्वये इत्यत सर्वद्वारेष्वियादिक्छोकत्रयमवतारयित तच्चित । नाल द्वारशक्दो नवद्वारिविषयः, नाष्येकावदोन्द्रियविषयः, तेशं सर्वेषां ज्ञानेनानन्वयात् । अवधौतन्य प्रसरहारमृतमन्व्यष्ठज्ञानेन्द्रियवर्षपर इत्याह च्छुशादिषु ज्ञानद्वारेष्ट्वति । प्रकाशशक्दोऽस्र न यथमान्तः, ज्ञानशक्देन पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । "प्रकाश इत्यस्य व्याख्यानं ज्ञानमिति" इति केश्चिदुक्तस्य क्रिष्टरवात् । ससम्यन्तत्वे तु ज्ञानफलस्तव्यवहारानुगुण्यविषयत्या वा, प्रकाश्यस्यक्रकाशे ज्ञानमिति। स्तानशक्देन मनोवृत्तिविवश्चया वा अन्वय उपयवत इत्यभिष्रायेणाह वस्तुयाधातस्यप्रकाशे ज्ञानमिति। एतेन 'प्रकाशः आलोकस्थानीयः ; ज्ञानं चक्षस्थानीयम्' इति वदन्तो निरन्ताः । एकस्यैव योगिनः सौमर्यादेश्चंगपत्परिगृहीतानेकदेहस्य देहमेदेन गुणभेदद्यद्विसंभवज्ञापनार्थं युगपस्महाष्ठयादिवत् सर्व साधारण्यपरिहारार्थं च अश्विमन् देहे इति विशेषितमित्याह नद्या तस्सिन् देहे सन्त्रं प्रयुद्धमिति ॥११

लोभः प्रवृत्तिरित्यादौ स्पृह्वाशब्दपौनरुक्त्यपरिहाराय रूदिपक्षिति लोभशब्दार्थमाह स्वक्रीय-द्रव्यसात्यागशीलतेति । आरम्भशब्दः सामिसन्धिकपृष्ट्तौ समग्रवयोगः । अत कर्मणामिति समिन-व्याहारसारस्याच तत् सिद्धम् । अतोऽत्र आरम्भशब्दौ दृष्टादृष्टरुक्तसाधनभृतकृषियज्ञादिविषयः । अत्रश्च प्रवृत्तिशब्दौऽत्र ततो व्याष्ट्रतृणच्छेदाङ्गकम्पादिवृथाचेष्टाविषयः स्त्याह श्रयोजनमनुद्दिश्यार्प चलन-स्वभावतेति । द्वास्थामपौनरुक्त्याय श्रशमोऽत्र प्रवृत्तिहेतुरिन्दियोद्विकतेत्याहः दृन्द्रियानुपरिति ।

<sup>1</sup> देहेऽस्मिन् इत्यस्य यदाशब्द्यश्तितवाक्येऽन्यये सौष्ट्यामावात् बातावच्छेद्रके देहे स्त्वमनु-मेयमित्यस्यैव वाच्यतया तदाशब्द्यश्तिवाक्ये तद्व्ययः इतः। उतेत्वनेतास्य पाक्षिकत्वमुक्तम्। पक्षान्तरे रज्ञःप्रभृतिवृद्धिः।

विषयेच्छा । एतानि रजसि प्रबुद्धे जायन्ते । यदा लोभादयो वर्तन्ते, तदा रजः प्रबुद्ध-मिति विद्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च । तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ अप्रकाशः ज्ञानानुद्यः ; अप्रवृत्तिश्च स्तव्धता ; प्रमादः अकार्यप्रवृत्तिफलमनवधानम् ; मोहः विपरीतज्ञानम् । एतानि तमसि प्रबृद्धे जायन्ते । एतैस्तमः प्रवृद्धमिति विद्यात ॥ १३ ॥ <sup>1</sup>यदा सत्त्वे प्रबृद्धे तु प्रलयं याति देहभूत् । तदोत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ यदा सन्वं प्रवृद्धं तदा, सत्त्वे पृरुद्धे (सत्त्वे पृरुद्धे-यदा सन्वं प्रवृद्धं तदा ?) देहमृत प्रख्यं **मरणं याति चेत्** , उत्तमविदाम् **उत्तमत**न्तःबेदाम् आत्मयाथात्म्यविदां लोकान् समृहान्

अमलान् मलरहितान् -अज्ञानरहितान् , प्रतिपद्यते प्राप्तोरितः सन्ते प्रदृदे तु सृतः आत्मविदां क्रुलेषु जनित्वा आत्मयाथात्म्यज्ञानसाधनेषु पुण्यकर्मस्वधिकरोतीत्युक्तं भवति ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिप जायते ।

रजिस प्रवृद्धे मरणं प्राप्य फलार्थे कर्म कुर्रशं कुलेषु जायते : वह जानेत्वा स्वर्गीदि-फलमाधनकर्प्रस्वधिकरोतीत्यर्थः ॥

तथा प्रलीनस्तमसि मुडयोनियु जायते ॥ तथा तमसि पर्रे मृतो मुढ्योनिष श्रमुकरादियोनिषु जायते। सकलप्ररुपार्था-रम्भानहीं जायत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

पूर्वश्लोकवदलापि गुणविवृद्धिलिङ्गोपदेशपरतामाह यदेति ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्चेति श्लोके प्रमादो हि समीक्षावसरे सत्यप्यसमीक्षा । अतोऽप्रकाश-प्रमादयोस्सामान्यविशेषरूपत्वात् गोबळीवर्दनयेनापुनरुक्तिरित्यभिष्ठायेणाह अप्रकाशो ज्ञानानुदय इति । प्रागुक्तनिद्रादिरूप इहायमभिषेतः । अप्रवृत्तिश्च प्रागुक्तमालस्यमित्याह स्तब्धतेति । मोह-प्रमादाविप हि <sup>2</sup>तावेवेत्याह प्रमाद इत्यादिना ॥ १३ ॥

अन्त्यकाले रजस्तमस्समुद्भवहेतूनामादावेव परिहरणार्थमन्त्यकालपगृद्धानां गुणानां पृथक्फल-मुच्यते यदा सन्वे इत्यादिना श्लोकद्वयेन । देहप्रलयविवक्षया देहस्रुदिनि विशेषणमित्यभिपायेणाह मरणं यातीति । उत्तम .... ।। १४ ॥

<sup>1</sup> स्टोके यदाशब्दः प्रत्यप्राप्तिकालपरः ; भाष्ये यदाशब्दः सत्त्रबृद्धिकालपरः। अतः सत्त्वे-प्रबद्धे इत्यस्य, यदेत्यादि तदेत्यन्तं विवरणम् । अतो व्याख्येयस्य पूर्वनिर्देशेन पाठो युक्तः । स्रोक-स्थयदाशब्दस्य भाष्ये चेदित्यनेन व्याख्यानम् । तेन मरणदशागतसन्त्रबृद्धः उत्तमविद्धलजनमादि-हेतत्वस्य स्पष्टं लाभः।

<sup>2</sup> तावेव-तमस्वज्ञानजमिति स्रोकोक्तावेव ।

कर्मणः सुरुतस्याहः स्वाध्यकं निर्मेष्ठं फलम् । रजसस्तु फलं दुःखमवानं तमसः फलम् ॥ १६ एवं सस्वप्रवृद्धौ भरणप्रयम्पाऽऽस्मिविदां कुले जा[यते ।] तेनानुष्टितस्य सुकृतस्य फलाभि-सिन्धरिहतस्य मदाश्यमरूपस्य कर्मणः फलं पुनरिष ततोऽधिकसस्वन्ननितं निर्मेलं दुःखगन्ध-रिहतं भवतीत्यःहः सस्वगुणपरिणामिवदः । अन्त्यकालप्रवृद्धस्य रजसस्तु फलं फलसाधनकर्मसिङ्गकुलजन्म-फलाभिसन्ध्यपृवेककार्मभ-तत्फलानुभव-पुनर्जन्मरजोवृद्धि-फलाभिसन्ध्यपृवेककार्मभ-पत्रस्परम्परम्पराह्यं सांसारिकदुःलप्रायमेवेल्याहुः तद्गुणयाथारम्यविदः । अज्ञानं तमसः फलम् -एवमन्त्यकालप्रवृद्धस्य तमसः फलम् नएवमन्त्यकालप्रवृद्धस्य तमसः फलम् नएवमन्त्यकालप्रवृद्धस्य तमसः फलम् ज्ञानं तमसः

तत अधिकसत्त्वादिजनितं निर्मलादिफलं किमित्यत्राह—

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च । प्रमादमोही तमसो भक्तोऽज्ञानमेव च ॥ १७ एवं प्रस्परया जाताद्धिकसत्त्वादात्मयाथात्स्यायसेक्ष्यरूपं ज्ञानं जायते । <sup>1</sup>तथा प्रष्टुढात् स्जासः स्वर्गाद्दफललोभो जायते । तथा प्रष्टुढात् स्जासः प्रमादः अनवधाननिमित्ता असत्कर्मणि प्रष्टुत्तिः ; ततश्च मोहः विष्शीतज्ञातम् ; ततश्चाधिकतरं तमः ; ततश्चाज्ञातम्-ज्ञानामानः ॥ १७ अर्ध्वं गच्छन्ति सन्त्रस्था मध्ये तिष्टन्ति राजसाः । ज्ञान्यगुणवृत्तिस्था अयो गच्छन्ति तामसाः॥१८

एत्रप्रुक्तेन प्रकारेण सन्त्रक्षा ऊर्धं गच्छन्ति-क्रमेण संसारबन्धान्मोक्षं गच्छन्ति । रजसः स्वर्गीदिफळलोमकरत्वात् राजसाः फळसाधनभृतं कर्मानुष्ठाय तत्फळननुभृय पुनरपि जनित्वा

॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥ ्रीचोच्यन्ते । देवछोकशब्दो वा परत्रक्षकोकमपि संगृह्णतीति.....॥ १८ ॥

18.1. नोच्यन्त इत्यादि। चतुर्दशस्ठोकचन्द्रिकायाम् उत्तमेति पदानन्तरस्य अप्यदश-इलोकचन्द्रिकापर्यन्तस्य ग्रन्थस्य तःल्पक्वचिपि 'अत्र ग्रन्थपातः' इत्येव निर्देशादनुपलम्म एव। तन्न 'नोच्यन्ते। देवलोकशब्दोवा' इत्यादिकस्य अप्यदशक्लोकन्यास्यावसानगततयाः मुद्रणमेव साधु। देवलोकशब्दस्यात् ग्रहे असम्झास्येऽनुपलम्मात्। शांकरे चाप्यदशस्लोक एव तत्पदस्यतात्।

अत्र कश्चित् विचारहचन्द्रिकायां इतः स्वादिति भाति । स ताबदेवम्—नतु सरबादिगुणानां वन्धनप्रकारस्यैवात्राध्याये उपपादनमिति, "निवच्नन्ति महाबाहो", सुखसंगेन वच्नाति" इत्यादौ अवगमात्, उपरि, "गुणानेतानतीत्य" इति सरवगुणातिक्रमस्यापि कथनाच मध्ये "यदा सस्त्रे" इति स्थोकेऽपि वन्धकसरब्धृत्तमेत्र वक्तन्यम्, न तु मोक्षेद्देतुसरबकार्यादिकम् । अतः अधादशे, "ऊर्ध्व

<sup>17. 1.</sup> प्रमादादौ उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वजन्यत्वमाह तथेत्यादिना । नतु पूर्वम् अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्चेति अप्रवृत्तेरेव तमःकार्यत्वमुक्तम् ; कथिमदानीं प्रवृत्तेः कार्यत्वमुच्यत इति चेत्-साक्षात्
अप्रवृत्तिहेतृत्वम् मोहानवधानादिद्वारा च प्रवृत्तिहेतृत्विमित न दोषः । अत्रेदं वोध्यम्—
सन्तं सुखे सञ्जयतीत्यादिप्रयोगस्यारस्यात् रजोवत् सन्वस्थापि सक्तिक्षरागहेतृत्वावगमात् अत्र
तमसः प्रवृत्तिहेतृत्वोक्तेत्रच गुणान्तरिनरपेक्षं सत्वमेव संगसत्ववृत्त्यादिहेतुरिप । रजस्तु काम्यप्रवृत्त्यादिहेतुरन्यथाज्ञानद्वारा ; तमश्चाज्ञानद्वारा विपरीतसंगदुष्यवृत्त्यादिहेतुरिति । शिष्टमष्टादशे ॥

तदेन कर्मानुतिष्ठन्तीति मध्ये तिष्ठन्ति । पुनगन्नीचरूपनया दुःखप्रायमेव तत् । ताम-सास्तु जवन्यगुणदृतिस्वा उत्तरीत्तरिङ्गष्टतमोगुणवृत्तिषु स्थिता अधो गन्छन्ति-अन्त्यत्वम् , तत्तिर्त्त्रयेवन्त्वस् , ततः क्रिमिकीटादिजन्म , [ननः] स्थावरन्त्वम् , ततोऽपि गुन्मलतात्वम् , नतश्च शिलाकाष्ठलोष्टतृणादिन्त्वं सञ्छन्नीत्यर्थः ॥ १८ ॥

आहारियशेषेः फलाभिमन्धिरहितस्कृतियेशेषेश्च परम्परया प्रवर्धितसस्वानां गुण्-त्ययद्वारेण कर्ष्यगमनप्रकारमाह---

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यहा द्रष्टाऽनुगस्यति । गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९

ननु ''ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'' इति यदि सत्त्वस्थापवर्गोऽभिधीयते, तर्ह्यनन्तरं गणत्रयाती-तस्यापवर्गवचनं व्याहन्येतेति शृङ्कायामनन्तरम्रन्थमवतारयति आहार्गवेद्वेष्टेरिति । आहारविद्येषादे गच्छन्ति" इति क्लोकेऽपि, "देवलोकादिपु उत्पद्यन्ते सत्त्वस्थाः" इति शांकरव्यास्यानमेव सम्यक् इत्याक्षेपः। परिहारश्च-"आहारराङ्कौ सत्त्वराद्धिः सत्त्वराङ्कौ भूवा स्मृतिः", 'आसीव ह्यात्मनो वन्धः" इत्यादितः सस्यस्य मोक्षहेतत्वं निर्विवादम् । अष्टादशास्याये च आहारादीनां सारिक्कत्वं प्रपञ्जयिप्यते । अतः(प्रध्याये ऽन्तिसस्रोके स्वस्य ऐश्वयंकैवस्यमोक्षप्रदत्वं वक्ष्यति । तद्वयोगिज्ञानादि-हेतत्वमपि सत्त्वे वर्तमानम् असंकोचेन, "सरवात् संजायते इतनम्" इत्यत्न विवक्षितं युक्तम्। यद्यपि सांख्यकारिकासु "धर्मेण गलनमूर्ध्वम्" (44), "ऊर्ध्व सत्त्वविद्यालः" (5+) इत्यादौ ब्रह्मादि-स्तम्वपर्यन्तप्राणिमध्ये सत्त्वादिग्रणकार्यसंनारस्थानभेदभाजो देवगनुष्यप्रवादिस्या एव दस्यन्ते. तथापि जातिविभागात गुणकार्यविभागः श्रेयान् । 'उत्तमिवदां छोकान' इत्यव च उत्तमशब्देन उत्हृप्रचेतनप्रहणे संभवति महदहंकाराद्यचेतनप्रहणेन तद्यासका इत्यर्थवर्णनं न युक्तम् । अतः आत्मविदामित्यथे तस्य सिद्धः तद्चितफलादिकमेवात संदर्भे वक्तव्यं भवति । लोकानित्यस्य सत्याद्यत्कप्रलोकपरत्वे, ऊर्ध्वं गच्छन्तीत्यस्यापि तद्र्थपरत्वे पुनरुक्तिश्च भवेत्। अतः अनन्तरमेव, 'कर्मसंगिपु जायते', 'मूहयोनिपु जायते' इति कथनात् तदैकरूपाय आत्म-विज्ञान मध्ये जायत इत्येव चतर्दशस्त्रोकार्थः । तत तत जनित्वा उत्थव्यफलनिर्देशः पोडश-सप्तरशहरोकयोः । तत्फलभूतमोक्षादिकञ्चाष्ट एको । स्वर्गादिकरुसाष्ट्रादशायायोक्तरीत्या काम्य-राजसकर्मसाध्यतात् तस्य राजः महत्यं मोक्षस्य राज्यकराञ्चात्र संगाद्किकं नोपेक्षम् । एउञ्च शांकरेऽपि देवलोकशब्देन ब्रह्मलोकस्यापि संब्रहस्तदिष्ट इति यक्तम् । तदीयसगुणब्रह्म-लोकस्यास्मन्मुस्यमोक्षलोकत्यात् तद्धिकमोक्षे प्रप्राण,भावात् , उभयपक्षेपि वैकुण्ठलोकस्यात्यागात् । खर्गादिलोकः स्त्यफलं रजःफलं वेति चिन्तनमेयावशिष्यते। "यजन्ते सान्यिका देवाग् यक्षरक्षांसि राजसाः । प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः" इति विहितकमीवैविध्येनापि सारिकादि-भेदः कचिदुच्यत इति न सर्वेत्रेकरूपना । अतोऽत्रासंकोचेन सर्वग्रहणं युक्तम् ।

स्त्रात् संज्ञायते ज्ञानम्, तेन ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्रस्था इत्युक्तम्।तत् ज्ञानं तत् ऊर्ध्वंगमतञ्ज विदाहयतीति, नान्यमिति स्रोकायतरणं ब्राह्मम्। न तु 'गुणानां वन्धकः:-भमेनावद्यवर्णादितम् ; अथ तिज्ञवर्तनप्रकारकथनारम्नः' इति : 'यद्त्यस्ये इति स्रोक्तप्रमुखेत्र निवर्तनप्रकारकथन-स्थारच्यत्वात्। यथा अन्त्यवःश्रे स्त्वनृद्धिः स्यान्, नत्र पूर्वमेनायधानं कःयम्, तथाकरणे उत्तरीसरसञ्जन्यास्या उत्तरुष्ठान्धाः । तत्र सत्त्वाधीने अक्रवित्यस्यक्रपविवेकात्पके ज्ञाने इदं महाक्रव्याति अन्न प्रचेदे उत्तर्भकृति । एवं सान्विकाहारसेवयः फलाभिश्वन्विद्दहितभगवदाराधनरूपकर्मानुष्टानेश्व रजस्तम्पी सर्वान्त्रार्थभ्य उत्क्रष्टस्वनिष्ठो यदाऽयं द्रष्टा गुणेभ्योऽन्यं कर्तारं नानुष्वयति — गुणा एव स्वातुगुणप्रवृत्तिषु कर्तारं इति पद्यस्ति ; गुणेभ्यश्च परं वेति कर्त्यस्यो गुणेभ्यश्च परस् अभ्यम्पस्यानस्कर्तारं वेत्ति—स मङ्गावमधिगच्छति अस्य यो भावस्तमधिगच्छति । एतदुक्तं भवति- 'आस्यानः स्वतःपरिशुद्धस्यभावस्य पूर्वपूर्वकर्ममूळगुणसङ्गिनिष्ठतं विविधकर्मेषु कर्तृत्वम् अस्मानं यदा पत्रयति, तदा सद्भाव- मधिगच्छति ॥ १९॥

सत्त्वविद्यद्भिहेतुर्वं पूर्वापरसिद्धम् । सांसारिकविगुणातिकमः, प्रदृद्धेन सत्त्वेनोर्ध्वगमनं च ससंगतिनिति भावः । "यज्ञशिष्टाशिनस्तन्तः" (३. १३), "भोक्तारं यज्ञतपसाम्" (५. २९), "रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत'' (१४. १०) इति पूर्वोक्तानुसारेण प्रकृतसंगतमर्थमाह एवं सान्विकाहारेति । सर्वातमनेति । अपुनरुद्धविनत्यर्थः । नान्यं गुणेक्यः कर्तार्गिति गुणव्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वनिषेधः । तत कर्तुरात्मनो गुणेभ्योऽन्यत्वनिषेषधीर्मा भृदित्याह गुणा एवेति । पुरुषधर्मभूतप्रयताश्रयत्वरुक्षणकर्तृत्व-व्युदासायाह स्वानुगुणप्रवृत्तिषु कर्तार इति । कचित् कर्तृत्वानुदर्शनत्यानात्मविदामपि संभवात् ततो विशोष उच्यते गुणैभ्यश्चेति । परत्वं श्रञ्जताकारापेक्षया नियन्तुमाह कर्तभ्य इति । कर्तभ्यः परमित्युक्त्या कर्तृत्वातिशयधीव्यदासः । अन्यमिति । गुणानां परस्परमिवान्यत्वेऽपि कर्तृत्वमिकद्ध-मित्यत प्रस्तुताकारविरहोऽस्यशब्दाभिषेत इत्याह अक्रतीरिमति । गुणाश्रयपृष्ट्तीनामनाश्रयमूतं स्वतश्र तम्मूळपष्टस्यनहिमित्यर्थः । स्रारूपैकचअमन्युदासायानन्तरमन्य <sup>1</sup>इत्यमिशायेण **मद्भाव**राञ्डार्थमाह **मम** यो भाव इति । गुणानां कर्तृत्वज्ञानमनुषयुक्तम् , आत्मनोऽकर्तृत्वं तु, "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् " (त्र. २. ३. ३३) इत्यादिविरुद्धन् ; तल्लाह **एतदुक्त**मिति । पुण्यपापरूपेषु लौकिकेषु च कर्मसु कर्तृत्वमस्वासाविकम् ; न पुनः प्रयत्नाश्रयत्वमित्यभिषायेणाह् आत्मनस्वतः इति । एतेन प्रशान्द-स्याल परमात्मपरत्वं न विवक्षितमित्यपि दृशितम् । विविधक्रीमस्वित सांसारिकसान्त्विकराजसतामस-कर्मस्वित्यर्थः । स्वतःस्त्वक्रतेति । गणकृतेष तेष्वेव : <sup>श</sup>अन्वया ''जक्षत कीडन्'' (छा. ८. १२. ३) इत्यादिविरोधात् ॥ १९ ॥

अल <sup>3</sup>मद्भाविमिति तादात्म्यं प्रतीतं स्यात् , तच्च, "मम साधम्येमागता:" (२) इति पागुक्त-

<sup>।</sup> स्वरूपेक्ये विवक्षिते, अवर्त्तःश्वन्नानवान् अहं अवतीत्येग त्र्यात् न तु सङ्गावस्थिगच्छतीति अधिकराव्यमिति भावः।

<sup>2</sup> गुणकृतेष्वेच खतोऽकर्तृत्वम्, न तु सामान्यतः सवैद्रेत्यनंगीकारे इति अन्यथाशन्दः थैः। खामानिकं कर्तृत्वप्रपस्तीति ज्ञापनार्थमेव गीतायां कर्तार्गिति राज्यपोगः।

<sup>3</sup> विश्वास्त्रोकावतरणभाष्यगतं स भगवद्भावः कीदशः इत्यंशं विवृण्यम् अवतरणभाष्यं प्रवर्तयति अकेदाविता । अकेदावस्य आल्बुयादितीत्येतस्थलस्य पूर्वस्थावस्थातम् सुद्रणं सर्वेत दस्यते ।

कर्त्रस्यो गुणेरयोऽन्यमकर्तारमानं पश्यन् भगवद्भावनधिगच्छतीत्युक्तम् ; स भगव-द्भावः कीदश्च इत्यत आह—

गुणान् पतान् अतीत्य तीन् देही देहसमुद्भवान् । जन्ममृत्युजरादुःक्षेविमुक्तोऽसृतमश्चने ॥२० अयं देही देहसमुद्भवान् देहाकारपरिणतत्रकृतिसमुद्भवान् एतान् सन्वादीत् त्रीन् गुणान् अतीत्य तेभ्योऽन्यं ज्ञानैकाकारमात्मानं पश्यन् जन्ममृत्युजरादुःस्वैविधुक्तः असत-मात्मानमनुभवति । एष मद्भाव इत्यर्थः ॥ २०॥

अथ गुणातीतस्य सहत्यस्चनाचारप्रकारं गुणात्ययहेतुं च प्रच्छन् अर्जुन उनाच--

अर्जन उवाच-कैर्लिङ्गेस्त्रिगुणान् एतान् अतीतो भवति प्रभो । किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ॥२३ सत्त्वादीन त्रीन् गुणान् एतान् अतीतः कैर्ङिक्षैः कैर्रुक्षणैः उपलक्षितो भवति १ किमाचारः केनाचःरेण युक्तोऽसौ ? अस्य स्वरूपावगतिलिङ्गभृताचारः कीदश इत्यर्थः। कथं चैताद -विरुद्धम् । श्रुतिश्च, "परमं साम्यमुपैति" (मु. ३. १. ३) इति । श्रुत्यन्तरं च, "यथोदके गुद्धे ग्रद्धमासिकं ताहगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥'' (क. ४. १५) इति । अत्रोदकद्वयस्य संसर्गेऽपि खरूपैक्यासंभवात् ताद्दवछन्दस्वारस्याच साम्यपरत्वं व्यक्तम् । आह च जनकाय वसिष्ठ:. "परेण परधर्मा च भवत्येष समेत्य वै । विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान् । विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य हि तदा भवेत् । वियोगधर्मिणा चैव वियोगात्मा भवत्यपि । विमोक्षिणा विमोक्षी च समेरयेह तदा भवेत् । ग्रुचिना च ग्रुचिध्वैव भवत्यमितदीप्तिमान् । विमलात्मा भवत्येष समेत्य विमलात्मना । केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै । खतन्त्रध्य स्वतन्त्रेण खतन्त्रत्वमवाप्न-यात" (मा. मो. ३१३, २६-३०) इति । तदेवमनेकश्रुतिसम्त्यादिविरुद्धं मुक्तस्य भगवन्त्वं कथमुच्यत इति शङ्कायाम् , उक्तमर्थं कर्तृभ्य इत्यादिनाऽनूच, अनन्तरश्लोकमवतारयित स भगवद्भावः कीदश इति । देहसमुद्भवानित्यत्न देहोत्पत्तिवीजमृतानिति परव्याख्यानमयुक्तम्, "गुणाः प्रकृतिसंभवाः" इतिवत् अत्रापि प्रकृतिपरिणतिरूपदेह्।श्रयत्ववचनस्य युक्तत्वादित्यिभिषायेणाह देहाकारपरिणतप्रकृति-समद्भवानिति । वक्ष्यमाणप्रकारेण गुणात्ययो बद्धदशायामेवेत्याह गुणानतीत्य तेभ्योऽन्यमित्या-दिना । जनममृत्युजरादाखैः — जन्मादिकृतैर्दुःखैरित्यर्थः ; जन्मादिभिन्तरसाध्येश्च दःखैरिति वा । मद्भावं सोऽधिगच्छति (१९) इत्युक्तमेव विमुक्तोऽमृतमञ्जूते इत्यनेन विवृतमित्याह आत्मान-मन भवतीति । एव मद्भाव इत्यर्थ इति । एव इति ; न पुनरश्रुत्यादिविरुद्ध इत्यर्थः ॥ २० ॥

अल्ल सावस्थानिरूपणाधर्थमर्जुनपश्चमवतारयित अथेति । कैर्लिङ्गैः, किमाचारः इत्यनयोरान्तर-बाह्य[रूपोप]रुक्षणपरत्वादेकराशित्वय्, कथं चेत्युपायस्य पृथवपश्चश्चेत्यभिष्नेत्याह स्वरूपस्चनाचारः प्रकारं गुणात्यपहेतुं चेति । लिङ्गशब्दस्य वेषादाविष प्रयोगात् तस्य च, 'न लिङ्गं धर्मकारणम्' (मनु. ६. ६ ६) इति गुणातीत(तोप)रुक्षणस्वायोगादान्तरशमाधसाधारणधर्मविवक्षामभिष्नेत्याह कैर्लक्षणे- केनोपायेन सत्त्वादींस्त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ? ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रश्नुत्तिं च मोहमेव च पाण्डव । न ब्रेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्श्रति ॥२२ आत्मव्यतिरिक्तेषु वस्तुष्वनिष्टेषु संप्रवृत्तानि सत्त्वरजस्तमसां कार्याणि प्रकाशप्रवृत्ति-मोहारूयानि यो न द्वेष्टि, तथा आत्मव्यतिरिक्तेष्विष्टेषु वस्तुषु तान्येव निवृत्तानि न काङ्क्षति ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैयों न विचाल्यते । गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवितिष्ठति नेङ्गते ॥ २२ उदासीनवदासीनः गुणव्यतिरिक्तारमावलोकनतृप्त्या अन्यत्रोदासीनवदासीनः, गुणैद्वेषा-काङ्श्वाद्वारेण यो न विचाल्यते-गुणाः स्वेषु कार्येषु प्रकाशादिषु वर्तन्त इत्यनुसन्धाय यस्तृष्णीम-रिति । किमाचारः इत्यस्य कोऽ<sup>2</sup>स्थाचार इति बहुवीहिमिभिनेत्याह केनाचारेण युक्तोऽसाविति । अत्याऽऽचारशब्दस्याव्यभिचारिवाङ्गलिङ्गप्रतामाह अस्य स्वस्पावगतिलिङ्गभ्तेति । यद्यपि स्वसंवेष-रान्तरैः स्वस्मिन् गुणात्ययः प्रतीयेत, तथाऽपि परेषु बाह्यराचारैस्तदनुमानमिति तद्यै पृथवपश्च इति भावः। क्षंश्चावदस्यावोषायम्तपृकारपरतायाः प्रतिवचनप्रकारेणावगतत्वात् प्रतिक्षेपप्रकारपरतामनुष्ठानवाङ्यकरु-दश्चाप्रकारपरतां च व्यदस्यति केनोषायेनेति ॥ २१ ॥

आत्मन्यतिरिक्तिविद्यादि । अयमभिपायः-आत्मन्यतिरिक्तानि वस्तूनि द्विविधानि इष्टानि अनिष्टानि च ; तल्लानिष्टतःसाधनेषु संप्रयुक्तेषु द्वेषः ; इष्टतःसाधनेषु च निष्टतेषु काङ्क्षेति लोकसिद्धम् । तल्लानिष्टेषु साध्येषु साधनत्या संप्रवृत्तानि गुणकार्याणि यो न द्वेष्टि ; इष्टेषु च साध्येषु साधनत्या स्थित्वा विनिष्टतानि गुनने काङ्क्षिति । प्रकाशस्यानिष्टसाधनत्वं मयादिद्देतुषु व्यक्तम् ; इष्टसाधनत्वमनुक्लविषयेषु ; प्रश्तेरपथ्यभेषजादिषु ; मोहस्यानुक्लेषु प्रतिकृत्वदुद्धौ, प्रतिकृत्वेषु वाऽनुकृत्वदुद्धौ इति । व्यवस्यानुकृत्वेषु प्रतिकृत्वेषु प्रतिकृत्वेषु वाऽनुकृत्वदुद्धौ इति । व्यवस्योः प्रतिवेषार्थमृत्यस्यसेसद्धर्यभैम्रष्टानिष्टोक्तिः ॥ २२ ॥

कथं तहेंते ; <sup>4</sup>कथं च सशरीर इष्टानिष्टसाधनसंपत्तौ न विक्रियेतेत्यत्नोत्तरम् उदामीनवदिति । आत्मन्यतिरिक्तौदासीन्यं तद्गुणकार्यद्वेषकाङ्धानिष्टतिहेतुः । न विचारयते बाह्यविषयेषु कार्यद्वारा न प्रवर्तत इत्यर्थः । अविचारयदविवरणाय द्वेषाकाङ्कश्वाद्वारेणेति विचलनपकारोक्तिः । 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३. २८) इरयुक्तस्य गुणा वर्तन्ते इत्यस्य चैकार्थ्यं दर्शयन् अविचारयताहेतुमाह गुणाः स्वेषु कार्येष्विति । इतिकरणमनुसंधानप्रकारपरिमत्याह अनुसंधायेति । एवकाराभिष्ठेतमाह तृष्णीमिति ।

<sup>1</sup> उपिरक्लोके यच्छन्दसत्वात् अतापि यच्छन्द्पूरणम्। प्रतिसंबन्धी तच्छन्दस्तु 25 श्लोके ।

<sup>2</sup> बहुत्रीहिविग्रहे यच्छन्द्रप्रयोगप्राचुर्येऽपि किंशन्देन सह यच्छन्द्रप्रयोगे सौष्ठवाभावात् कोऽस्याचार इति इतंशन्द्रप्रयोगः।

<sup>3</sup> द्वेषादे निषेधः प्रसक्तावेव कार्यः द्वेषप्रसक्तावनिष्टत्वं प्रयोजकम्, कांक्षाप्रसक्तिरचेष्टे ।

<sup>4</sup> एते इति । द्वेषकांक्षे कथं निवर्तते इत्यर्थः ।

वितिहते । नेक्रते न गुणकार्यानुगुणं चेष्टते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्यकाश्चतः । तुल्यविषािययो धीरस्तुल्यिनिःदात्यसंस्तृतिः ॥२४ मानावमानयोरतुल्यस्तुल्यो मिलारिवक्षयोः । सर्वारम्भवरित्यागी गुणातीतः न उच्यते ॥ २५ समदुःखसुखः सुसदुःस्वयोरसमिवतः, स्वसः स्वसिन् ।स्यतः । स्वारमैकप्रियत्वेन तद्यतिरंक्तपुत्रादिवन्यमस्णाितसुख्युःस्वयोरसमिवित्त इत्यर्थः । तत एव समलोष्टाश्मका श्वनः । तत एव तुल्यमिवापियः तुल्यप्रियाप्रियविषयः । धीरः प्रकुत्थादमिविककुञ्जलः । तत एव तुल्यमिवापियः तुल्यप्रियाप्रियविषयः । धीरः प्रकृत्थादमिविककुञ्जलः । तत एव तुल्यमिवापियः तुल्यप्रियाप्रियविषयः । धीरः प्रकृत्थादमिविककुञ्जलः । तत एव तुल्यमिवापित्यः आत्मानं स्तुष्याद्यभिमानकृतगुणागुणिविम्वस्तुतिः निन्दयोः स्वासंवन्धानुस्यस्त्राने तृल्यचिषः । तद्यप्रकृत्कमानावमानयोः तत्वस्यक्तमिलारियक्षयोर्थि स्वस्यम्यमावादेव तुल्यविष्यः । तथा देहित्वप्रयूक्तसर्वारम्भवित्यागी । य एवंभूतः, स गुणा-स्त्रामञ्जन्यदार्षे परस्मैपदिमिति, आह तृष्यीमवित्तिष्टत इति । स्वक्षित्रवृत्तिः किमेपिर्ममेति भावः । तदेवद्वित्वाक्षीन्यविवरणम् । न विचाण्यते इत्येततु नेक्षते इति विव्यतम् । उदाह न गुणकार्यानुगुणं चेष्टत इति । व द्वेषक्षसुनुगुणं प्रवर्तत इत्यविः ॥ २३ ॥

एतदेव वाह्याचारिकज्ञम् ; अस्र रेरहेवादिभिवाह्यिससम्मपरित्यागादिनिश्च गुजाती हे छद्वते ; त एव च गुजात्ययोगायाः इति पक्षत्रवे प्रस्तुक्तं भवति ॥ २४ ॥ २५ ॥

सुखदु:खयोः पृथगुक्तत्वात् प्रियाप्रियराच्दौ तद्देतुविपयपराविति भ:व: ।

तीत उच्यते ॥ २४ ॥ २५ ॥ अथैवंरूपगुणात्यये प्रधानहेतुमाह—

मां च थोऽव्यभिचारेण मक्तियोगेन सेवते । स गुणाव समतीत्यैतात ब्रह्मभूयाय करवते ॥२६ 'नान्यं गुणेम्यः कर्तारम्' (१९) इत्यादिनोक्तेन प्रकृत्यात्मिवेकानुसन्धानमात्रेण न गुणात्ययः संपत्स्यते ; तस्यानादिकालप्रवृत्तविवासनावाध्यत्वसंभवात् । माम सत्य सङ्कर्प परमकारुणिकमाश्रितवात्सरयञ्चलिष्ठम्, अन्यभिचारेण ऐकान्त्यविधिष्टेन मक्तियोगेन च यः सेवते, स एतान् सन्दादीन् गुणान् दुरत्ययान् अतीत्य ब्रह्मस्वाय ब्रह्मत्वाय करवते ; ब्रह्मभावयोग्यो भवति । यद्यावस्थितमात्मानममृतमन्ययं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

तल मां चेति श्रोकेन पृथगुपायविधिशङ्काव्यदासायाह अथेति । गुणात्ययहेतुव्वप्रधानकथना-नन्तर्मित्यर्थः । अत एव हि प्रधानहेत्रमाहेत्यक्तम् । नान्यमित्यादि । दृष्टद्वारोपकारकाणां प्रति-बन्धकम्यस्तया केथळानां न कार्यकरत्विति भावः । मामित्यनेत वासनापर्यन्तानादिप्रतिबन्धक-प्रशमनौष्यिकगुणयोगविवक्षामाह सत्यसंक्रत्पमित्यादिना । ''परामिध्यानातु तिरोहितं ततो बस्य बम्धविपर्थयौ'' (त्र ३.२ ४) इति सुलोक्तप्रकारेण वन्धसंकल्पवत् तन्निवर्तनसंकल्पोऽपि परमारमनो न प्रतिहर्न्येतेति भावः । सत्यसंकरूपस्यापि समत्वादौदासीन्यपरिहाराय परमकारुणिकस्वोक्तिः । सदोषेषु संसारिषु करुणायाः कोऽवकाश इत्यहाह आश्रितवात्सरयजलिमिनि । एवं निमहानुमह-साधारणस्य सत्यसंकर्वरवस्य अनुप्रहृषावण्यपदर्शनार्थे कारूण्यवात्सरूयसृपगुणद्वयमुक्तम् । अवपिभचारो देवतान्तरादिपरित्यागरूप इत्यभित्रायेणाह ऐक्कान्त्यविश्विष्टेनेति । भक्तियोगेन सह तदङ्गानां पूर्वोक्तानां समुचयार्थः चशब्दः । तैरपि परमास्मैव हि सेव्यते । एतानित्यनेन गुणानां बन्धकत्वं पूर्वोक्तं परामुख्यत इत्यभिप्रायेणाह दुरत्ययानिति । एतेन ''देवी होवा गुणमयी'' (७. १४) इत्यादिश्लोकोक्तमपि स्मारितम् । कस्पत इत्यनेनाभिषेतमाह ब्रह्मभावयोग्यो भवतीति । कोडसी जीवस्य ब्रह्मभावः, का च <sup>श्</sup>तबोग्यतेत्यताह यथावस्थितमिति । "त्रज्ञभूतः प्रसन्नात्मा" (१८. ५४) इत्यादिष्यिव अमृतत्वा-व्ययस्वादिभित्रह्मसाम्यमेव श्रुत्यादिसिद्धमिह त्रक्षभावः । तच त्रह्मसमं रूपं "जनममृत्युजरादुःसै-विंमुक्तोऽमृतमश्नुते" (१४. २०), "देहे देहिनमध्ययम्" (१४. ५) इत्यादिभिरिहैवोक्तम् । अनन्तरस्रोके च 'अमृतस्याव्ययस्य च' इति विशेष्यत इति भावः । साङ्गेनैकान्तिकात्यन्तिकमक्तियोगेन सेवितोऽहमेव मुमुक्षोमीक्षपद इत्युक्तं भवति ॥ २६ ॥

एवमपुवर्गप्रदानप्रसङ्गे, **ग्नारीरके** यथा "फल्रमत उपपत्तेः" (३. २. ३७) इति सामान्यतः सकलफल्रप्रदस्यं फल्रस्यानन्याधीनत्यस्यापनायोपपादितम् , तथात्नापि मध्यमपट्कपपश्चितफल्रत्नयपदानुत्यं

<sup>!</sup> माञ्चिति चकारः सेव्यसमुचायक इव प्रतीयते । तस्योपायसमुचायकत्वानुगुणतया योजना इता । 2 ब्रह्मभावः -ब्रह्मैव भवतीत्युक्तं परमसाम्यम् । तद्योग्यता जीवात्मानुभवः । ब्रह्मभूत इति श्ठोकः पतद्योग्यताविषयकः । पाद्यसंहितायां झानपादे (४) मुक्तेरवीचीना संसारिगता दशा ब्रह्मभूयम् । इयं माता न मुक्ते इत्युक्तम् ।

/ ब्रह्मणो हि <sup>1</sup>प्रतिष्टाहममृतस्याव्ययस्य च । शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च<sup>2</sup> ॥ २७ ॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्तु....**गुणतयविभागयोगो** नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

हिशन्दो हेती; यसादहमन्यभिचारिभक्तियोगेन सेवितोऽमृतस्थान्ययस च त्रशणः प्रतिष्ठा, तथा शाश्वतस्य च धर्मस्य अतिश्वयितिनत्यैश्वर्यसः; ऐकान्तिकस्य च सुरवस्य 'वासुदेवः सर्वष्' (७.१९) इत्यादिना निर्दिष्टस ज्ञानिनः प्राध्यस सुखस्येत्यर्थः।

प्रकृतहेतत्वस्थापनार्थतयाऽनन्तरश्लोकेनोच्यत इत्यभिभायेणाह हिशाब्दी हेताविति । नाल प्रकाराब्दः साक्षात्परब्रह्मविषय:, 'अहं ब्रह्मण: प्रतिष्ठा'' इति वैयधिकरण्यादिविरोधात् । न च भोवत्भोग्यनियन्तरूपेण व्यंशस्य ब्रह्मण ईश्वरांशः पृथुत्वात् पतिष्ठेति वाच्यम् , ईश्वरस्यैव ब्रह्मत्वस्थापनात् ; न च निर्विकत्पकं रूपं विकल्पितस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठेति वा, प्रत्यगातमा पर्मात्मनः प्रतिष्ठेति वा वाच्यम् : श्रत्यादिवैपरीत्यात . तन्मतिर्मूळनाच । नापि मूळपक्रत्यादिविषयः, पस्तुतहेतुत्यायोगातः अतः 'ब्रह्मस्याय कल्पते' इति जीवस्य फलदशाभावित्वेन निर्दिष्टं रूपिमह ब्रह्मशब्देनोपचर्यते : ताहशस्य रूपस्याहं प्रतिष्ठा । किमक्तं भवति ? समक्षोः परत्रवसमानपरिग्रद्धस्वरुपप्राप्तौ शास्त्रोदितेषु सिद्धेषु साध्येषु च पदार्थेषु कः प्रधान-हेत्ररिति विमर्शे अहमेव विश्रान्तिमूमिरिति । यद्वा प्रतिष्ठाशब्द आघारवाची ; तचाधारत्वम् , ''एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'' (वृ. ५ ८. २) इति श्रुत्यनुसारेण नियमनगर्भमिति, "सा च प्रशासनात्" (त्र. १. ३. १०) इति सुत्रेणोक्तम् । अतः गुद्धात्मसहस्य-स्यापि मदेकनिर्वाह्यत्वात प्रस्तुतं ब्रह्ममृयं मद्भजनैकलभ्यमित्यर्थः 🕇 शाश्वतधर्मशब्देन तत्फललक्षणामाह अतिकायितनित्येश्वर्यस्येति । इन्द्रप्रजापतिष्रभृतिभोगापेक्षया अतिशयितत्वम् । नित्यत्वं ह्यतिचिरकारु-वर्तित्वमालमापेक्षिकमिह मन्तव्यम् । वासुदेव इत्यादि । अयमभिषाय:- 3एकान्तिरुभ्यं सुखमिहैकान्ति-संबन्धादैकान्तिकमुच्यते इति । निर्दिष्टस्येति ज्ञानिविशेषणम् । एवमपवर्गेऽप्यैकान्तिकसुखवचनात वाषाणकरुवादिवक्षाः वरिक्षीणाः । न च 'इच्छा द्वेषस्युलं दुःखम्' (गी. १३. ६) इति गणनात् सुलं सर्वे क्षेत्रकार्यमिति अमितन्यम् , 'रसं ह्येवायं रुव्धवाऽऽनन्दी भवति' (आ. ७.) इत्यन्यादशसुखाभिधानात्। अत एव, "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्प्रशतः" (छा. ८. १२. १) इति श्रुतिरपि दु:खसहचारि-सुखनिषेघपरेति मन्तन्यम् । ननु **शाश्वतधर्म**शब्देनातिशयितैश्वर्यलक्षणा न युक्ता, मुरूयार्थवाधाद्यमावात् ; "नारायणः शाश्वत(सात्वत)धर्मगोप्ता" (भा मो. ३४३-५) इत्यादिष्ठ च प्रसिद्धः कार्तयुगधर्मोऽत्र शाश्वतिविशेषणेन प्रतीयते ; तस्य प्रख्यादिषु पाषण्डाद्यपृष्ठवेषु 'यदायदा' (गी. ४. ७) इति क्रमेण

<sup>1</sup> यतोऽहं त्रयस्य प्रतिष्ठा, अतो मद्भक्तौ गुणात्ययादिकं भवतीति पूर्वश्लोकेनान्वयः ।

<sup>2</sup> स्रोके चकारत्रयसस्वात् फलत्रयमुक्तमिति ज्ञायते । प्रथमचकारपर्यन्तं पूर्वप्रकरणप्रसक्तं कैवल्यमुक्तम् । अथैक्वर्यम् । मुल्यमन्ते ।

<sup>3</sup> एकान्तिशस्यः, प्राप्यं प्रापकञ्चकं योऽध्यवस्यति तत्परः । तथा प्रयत्नयारिजाते । देवतान्तरत्यापेन भगवन्मातोषायकत्वरूपमैकान्त्यं तु चतुर्विधमक्तसाधारणम् ।

यद्यपि ज्ञाश्वतधर्मश्चन्दः प्रापकवचनः, तथापि पूर्वोत्तरयोः प्राप्यरूपत्वेन तस्ताहचर्यादय-मपि प्राप्यलक्षकः । एतदुक्तं भवति-पूर्वत 'देवी होषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते' (७. १४) इत्यारभ्य गुणात्ययस्य तत्पूर्वकाक्षरैश्वर्यभगवत्त्राप्तीनां च भगवत्त्रपत्त्येकोषा यतायाः प्रतिपादितत्वात् एकान्तभगवत्त्रपत्त्येकोषायो गुणात्ययः तत्पूर्वकन्नभावश्चेति ॥२७॥

॥ इति श्रीभगवद्रामानुजविर्विते श्रीमद्गीताभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

॥ अथ पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

क्षेत्राध्याये क्षेत्रक्षेत्रज्ञभृतयोः प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं विशोध्य विशुद्धसापरिच्छिनज्ञानैकाकारस्येव पुरुषस प्राकृतगुणसङ्गप्रवाहिनिमित्तो देवाद्याकारपरिणतप्रकृतिसंबन्धोऽनादिरिस्युक्तम् । अनन्तरे चाध्याये पुरुषस कार्यकारणोभयावस्यप्रकृतिसंबन्धो गुणसङ्गम्लो
भगवतैव कृत इत्युक्त्वा गुणसङ्गप्रकारं सविस्तरं प्रतिपाद्य गुणसङ्गनिष्विकारत्याथातम्यावासिश्र भगवद्धक्तिम्लेत्युक्तम् । इदानीं भजनीयस्य भगवतः क्षराक्षरात्मकवद्धमुक्तिविभृतिमत्ताम्, विभृतिभृतात् क्षराक्षरपुरुषद्वयात् निखलहेयप्रस्यनीककर्याणेकतानत्या
अत्यन्तोत्कर्षणे विसजातीयस्य भगवतः पुरुषोत्तमत्त्वं च वक्तुमारभते ।

परिपाळानात् तदेकपितिष्ठत्वं च सर्वत्र प्रसिद्धम् ; तलाह यद्यपीति । ब्रह्मणो हीत्यस्य प्राप्यरूपत्वसुपपादितम् । सुस्यस्येकान्तिकस्थेत्यस्य तु साक्षाद्भगवदनुभवशुलपरत्वं स्पष्टम् । अरुपवादिद्ध्वितात्मानुभवैश्वर्यसुल्व्यवच्छेदाय ह्येकान्तिक्रव्यदः । तदुभयमध्यपाठादप्रचपायग्यायग्यायन् प्रामुक्तमैश्वर्यमह् विवित्तितः
मिति तत्साधनवाचिना तळक्षणा युक्ता । अत प्वानेन कार्तयुग्यभागिदि न विविश्वतः । ऐकान्तिकसुख्यसाधनत्वेन तु पृथक् सोऽनुसन्धातव्यः इति । निन्वहापस्तुतैश्वर्योदिपसङ्गः किमर्थः ? न चान्यदुपकम्यान्यन्निगमियतुं युक्तम् । कथं च तत्प्रतिष्ठारूपत्वस्य प्रकृतहेतुत्वम् ? सिद्धस्य च हेतुभावः ; क
तिसिद्धिः ? कथं च गुणात्ययमनतरेणाव्यभिचरितभगवद्धक्तियोगः ? तेनैव तदत्ययेऽन्योन्याश्रयणम्-इत्यादिशङ्कायामाह एतदुक्तं भवतीति । प्रागुक्तसविपुरुषाथस्वाधीनताप्रत्यभिज्ञापनस्य प्रस्तुत[स्य]गुणात्ययपूर्वकब्रह्मयस्याथीनतास्थापनं प्रयोजनम् । अव्यभिचरितभक्तियोगशब्दोऽत्व भङ्त्यङ्गमृतं प्रपदनं कोडीकरोतीति पूर्वोत्तरैकार्थ्वमिति भावः ॥ २०॥

इति श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचिन्द्रकायां चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

एवमध्यायद्वयेन प्रथमध्यकोदितप्रकृतिपुरुषतत्प्रकारिवशोषनं कृतम् । त्त्रेयं प्रकृतिः स्त्रगुणैर्यद्विमात्तादिः, पुरुषश्च यदपराधात् बद्धः, यत्प्रसादाच मोक्ष्यत इत्युक्तम्, स इदानीं मध्यमष्ट्कोदितः परमात्मा विशोध्यत इति सक्रितिमाह क्षेत्राध्याय इत्यादिना आरभत इत्यन्तेन । एतेन, "अचिन्मि- श्राद्विशुद्धाच चेतनात् पुरुषोत्तमः । स्यापनात् भरणात् साम्यादन्यः पश्चदशोदितः" (१९) इति संग्रह्शकोऽप्युनुसंहितः । त्योदशशोषतया चतुर्दशे वृत्ते तदन्ते मांचेत्यादिश्चोकद्वयेन अध्यमिचारि-

तत्र तावत् असङ्गरूपशस्वच्छिन्नवन्धाभ् अक्षगरूपविभृति वक्तुं छेद्यरूपवन्धाकारेण विततम् अचित्पिरणामविद्येषम् अश्वत्थवृक्षाकारं कल्पयन् [श्रीभगवानुवाच]-

शीभगवानुवान्त्र-

ऊर्ध्वमूलमध्यक्षाखत्रश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेद्वित् ॥ १ यं संसाराक्यमश्रत्थम् अर्ध्वमूलमधरशासमन्ययं प्राहुः श्रुतयः, ''अर्ध्वमूलोऽनाक्छाल

भक्त्या भजनीयः फलपदश्च परमपुरुषः प्रसक्तः; पश्चदशे तत्प्रकषेविशोषविशोधनपरतया चतुर्दशेन संगतिः मजनीयस्येत्यनेन दर्शिता । विभूतिमत्त्वप्रतिपादनमिह वैलक्षण्यप्रतिपादनार्थमित्यभिपायेण आरभत इत्युक्तम् । प्रकृताभ्यां बद्धमुक्ताभ्यां विभृतिमत्त्विमह वर्ण्यत इत्यपि प्रकृताध्यायद्वयसँगतिरिभः प्रेता । नत्न (अत्र) **ऊर्ध्वमृत्र**मित्यादेरध्यायारम्भग्रन्थस्य जरद्गवादिवावयवदनन्वितत्वम् , अन्वितत्वेऽि प्रकृताप्रकृतप्रकरिष्यमाणासंगति च परिहर्तुमाह तत्र तावित्ति । प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं श्रुत्यनुसारेणेदमश्वत्थ वृक्षाकारकरुपनम् । परतत्त्वबुभुत्साहेतुभृतवैराग्यार्थमित्येके ; 1विभृतितयः अवसितया च विभृतिमत्पर-तत्त्वप्रतिपादनार्थस्वात् तस्येति (....?) । अनन्तरम् असङ्गराख्नच्छेचस्वोक्तेः सङ्गविषयः संसार एवालाश्वस्थ रूपेण किएत इति गम्यते । तल लौकिकाश्वत्याद्वैलक्षण्यज्ञापनायोध्वेम्,लत्वाद्याश्चर्यपदर्शनमिति भावः । नतु <sup>2</sup>मुळपक्कितरेवालाश्वस्थतया कल्प्यत इति किं न गृह्यते १ गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः इत्यादीनि च तत्र सुसंगतानि ॥ मैवम् ; साक्षात्सङ्गविषयत्यामावात् ; असङ्गशस्त्रच्छेचत्वस्य च <sup>3</sup>मुख्यस्याविन।शित्वेनान-न्वयात् । तद्दिमभिषेत्योक्तम् अचित्वारेणामविशेषमिति, यं संसागरूयमिति च । अयमेवार्थः पुराणेऽपि पठ्यते, ''अव्यक्तमूळपभवस्तस्यैवानु<sup>4</sup>ग्रहोच्छ्तिः । बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः । महाभृतविशाखश्च विषयैः पत्रशाखवान् । धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः । आजीव्यः सर्वभृतानां ब्रह्मवृक्षस्सनातनः । एतद्रह्मवनं चैव ब्रह्मवृक्षस्य तस्य तत् । एतिच्छत्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना । ततश्चात्मरति प्राप्य यस्मान्नावर्तते पुनः ॥'' (भा. आश्व. ३५. २०; नार. पु. १६. ५) इत्यादि।

किचित परुषाणामेकैकसिक्छरीरे शिरस कर्ध्वत्वात पाण्यादीनां चाधोमुखत्वादूर्ध्वमूळत्वादिकरुपना-माहुः । पुनश्चान्यथाऽऽहुः, ''तदिदं व्यष्टिक्षेत्रम् । अथ समष्टिक्षेत्रमुच्यते ; कृत्स्तमिदं ब्रह्माण्डं हिरण्य-गर्भशरीरं विराजित्युच्यते; तस्य द्यौदिशरः चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्रीते मध्यमाकाशं शरीरं प्रथिवी पादौ । तस्मिन्नपि **ऊर्वमूलमधरशाखम्** इति योजयितव्यम् । प्राणिवंशो वा अश्वत्थो दृक्षः ; तस्य मूठं न्न**श** उपरिष्टात्स्थितः" इत्यादि । "अध्यो भें चेति स्रोके तु प्रकृत्यादिविशेषान्तं कृत्सं वृक्षत्वेन करूप्यते" इति।

<sup>1</sup> एक इति शांकरपक्षः । अस्य स्वपक्षेऽण्युवपत्तिमाह विभृतीति ।

<sup>2</sup> मूलप्रकृतिवत् परब्रह्मणोऽपि ब्रहणप्रयुक्तम् ; मूलस्योपि विनाश्यवृक्षान्तर्भावात् । अध्य मूळान्यनुसंततानीति वश्यमाणमूळनुत्यत्यस्यातःपि मूळे उचितत्वाच ।

उ वक्तेरिवनाशित्वेन छेद्यत्वस्य यथावत् ततानन्वयादित्यर्थः।

<sup>4</sup> अनुग्रह:—सत्वादिभूणवैष्ययेण तत्कृतपानकस्यम् ।

एपोऽश्वत्थस्त्रनातनः'' (क. ६. १) ''जर्ध्वमृत्यम्बन्छासं वृक्षं यो वेद 'संप्रति'' (यजु. आ १.११.५) इत्याद्याः। सप्तलोकोपरिनिविष्टचतुर्धस्वादित्वेन<sup>2</sup> तस्योध्वेम्हल्तम् । पृथिवीनिवासि-सकलनग्पश्रमुगकिमिकीटपतङ्गस्थावगन्ततया अधवशाखत्वम् । अपङ्गहेतुभृतात् आ सम्य-रज्ञानोदयात्<sup>8</sup> प्रवाहरूपेणाच्छेद्यत्वेनाव्ययत्वम् । प्रयस चाश्वत्यस्य छन्दांसि पर्णान्याद्यः । छन्दांसि-श्रुतया, ''वायव्यं श्रेतमालभेत भृतिकामः'' (यजु. २. १. १), ''ऐन्द्रायमेकादश कपालं निवंपेत् प्रजाकामः" (यजु. २. २. १) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितैः काम्यकर्मभिर्वर्धतेऽयं संसारवक्ष इति छन्दांस्येवास वर्णानि । पर्णेहि वृक्षो वर्धते । यस्तमेवभूतमश्रन्थ वेद, स एवं सर्वास्विप योजनासु संसारहेयताप्रतिपादने तात्पर्यं वक्तव्यम् । तहो वरं संसारस्येव साक्षात् वृक्षत्वेन करुपनम् । 'अधश्रोधर्वं च' इति स्रोके तु तस्येति परामर्शात् पूर्वकरिपतस्यैव वृक्षस्य प्रतीतेर्न वृक्षान्तरकल्पना युक्ता । 'न रूपमस्य' इत्यादौ स एवेको वृक्षः परामुख्यते । तस्मा-देकस्यैव संसारस्य वृक्षत्वकरुपना भाष्यकारैचर्याख्याता । अलानिर्दिष्टकर्तृकस्य आहुरित्यस्य वाद्यन्तर-कर्तृकत्वराङ्गान्युदासायाह **श्रुतय** इति । **ननु** ''ऊर्ध्वम्लोऽवाक्छाख एषोऽश्वत्थस्सनातनः'' (क. ६. १) इति श्रतिरिह कथं संसारविषयतयोदाहियते ? एष इति हि <sup>4</sup>प्रकृतस्य वक्ष्यमाणस्य च पुरुषस्य परामशै उचितः ॥ मैवम् ; पुरुषस्य स्वरूपेणोर्ध्वम् स्टब्वायसंभवात् । मुमुश्लूणां तस्मिन्नेव सङ्गात् असङ्गशक्षच्छे-बत्वोक्तेश्च अघटितत्वात् । उपहितवेषेण तु तथोक्तौ प्राप्ताप्राप्तविवेकेनोपाधावेव <sup>5</sup>विश्रमादिति । श्चो न स्थास्यतीत्यश्वन्थः ; छेद्यत्वाच <sup>6</sup>दृक्षः । तदेतदुपात्रश्रुतिद्वये विशेषतस्सामान्यतश्च कल्पनारुम्बनम् । ऊ इबैम्लरवमधक्कारवत्वं च व्यष्टिसृष्टिषक्रियया घटयति सप्तरोकेत्यादिना । पृथिवीत्यधस्तनलोकाना-मुपलक्षणम् । अन्ययस्यच्छेद्यस्ययमं न्याहतमित्यलाह असङ्गहेतुभृतादासम्यग्ज्ञानोदयादिति । तत्त्वज्ञानात्त्रागपि विनाशदर्शनविरोधपरिहाराय प्रवाहरूपरवोक्तिः। अक्षरसंख्यारूपच्छन्दोव्यवच्छेदायाह **छन्दांसि श्रुतय** इति । पणिवत् संसारबृक्षस्य यथावस्थिताकारं संछाच रक्षन्तीति ज्ञापनायात छन्दश्राब्दः । संसारवृक्षपर्णस्वेन रूपणात् छन्दश्राब्दोऽत्र 'वेदनादरताः' (गी. २. ४२) इत्यादि विव त्रिवर्गपरांशविषय इत्यभिपायेणाह **वायव्य**मिति । असंवन्धिनां छन्दसां कथं पर्णत्विमत्यत्राह **श्रुति**-प्रतिपादितैरिति । तथाऽपि रुक्षावयवेषु बहुषु, <sup>7</sup>पर्णत्वेन रूपणे को विशेष इत्यत्नोक्तम् वर्धत इति । तत् विदृणोति पर्णेर्हीति । तमिति सपकारपरामर्शविवक्षया आह एवंभृतमिति । ननु यः संसाराश्वत्थं

<sup>1</sup> संप्रति—आर्जवेत ; सम्यगित्यर्थः । 2 अत एव परमसंहितायां (२६. २) "संसारस्य परं मुळं त्वमेव कमलोङ्गव" इत्यारम्य ऊर्ध्वमूलिममं बुक्षमित्यादि ।

<sup>3</sup> आ इति पृथक्पर्व मयीदार्थकम् । अस्तेगहेतुमूतात् सम्यन्त्रानीदयात् प्रागिति यावत् । 4 तमेव भानतिमित प्रकृतस्य, तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मित वश्यमाणस्य चेत्यर्थः 5 अत उपाधिभाव-मेवैतदर्थ इति भावः। कथमुपर्यन्वय इति चेत्-एप संसार एवम्मूतः एतद्विलक्षणं तदेव निद्रावित्वा-दिमिद्धित वैलक्षण्यं बोध्यत इति । 6 ब्रह्म् छेदने इति धातुपाठः। 7 अवयवान्तरस्यारूपणेनेति होपः।

वेदिवत् । वेदो हि संसाग्वृक्षच्छेदोपायं वदितः छेद्यवृक्षस्वरूपज्ञानं छेदनोपायज्ञानो-पयोगीति वेदविदित्युच्यते ॥ १ ॥

🗹 अधुश्लोर्ध्वं च प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विपयप्रवालाः । 🕤

त्त्य मनुष्यादिशाखस्य बृक्षस्य तत्त्तर्कर्मकृता अपगश्च अधः शाखाः पुनरिप मनुष्य-पश्चादिरूपेण प्रसृता भवन्ति ; कर्ष्यं च गन्धर्वयक्षदेवादिरूपेण प्रसृता भवन्ति । ताश्च गुणप्रवृद्धाः गुणैः सत्त्वादिमिः प्रवृद्धाः, विषयप्रवाखाः शब्दादिविषयपञ्चवाः । ~

वेद. स वेदिविदित्यसंगतम् ; न हि संसारोऽश्वत्थो वा वेदाः, येन तद्वेदिनो वेदिवन्त्वमुच्यते । अतोऽत्न "आदं त व्यक्षरं ब्रह्म लगी यल प्रतिष्ठिता। स गुह्मोऽन्यक्षिवृद्धेदो यस्तं वेद स वेद्वित ॥" इत्यादिष्विव <sup>1</sup>प्रणवविषयत्वं कार्तयगैकवेदप्रत्वं (मनु. ११. २६५) प्रणवस्याधिमालायाः कारणपरमपुरुषदेवताकत्वश्रतेः ऊर्ध्वमूळत्वं सुसंगतम् । कार्तयुगवेदस्यापि वेदान्त-रूपत्वात सर्वमूलत्वाच तथा निर्देशो घटते । एवं छन्दः पर्णत्वादिकं चोमयोस्युगमम् । शङ्कना पर्णानामिव प्रणवेन सर्वासां वाचां संतृष्णरवश्चते:। "महतो वेदरुक्षस्य मूलमूतो महानयम्। स्कन्धमूता ऋगाद्यास्ते शास्त्रास्त्रथा परे" (ई. सं १. २४) इति धर्मविशेषप्रतिपादकभागस्य मूलत्वोक्तेश्चे अतस्तथामृतवेदिनशोषवेदिन इह वेदिवत्तवेन स्तुति: ; न त्ववेदमृतयिंकचिद्वेदिन इति ; तलाह वेदो **ही**ति । वेदशब्दोऽपवर्गार्थवेदभागपरः । ततः किमित्यलाह छेद्यवृक्षेति । अग्रमभिन्नायः---असङ्ग-शस्त्रच्छेद्यत्वानुपपतेरेव प्रणवादिपरत्वमप्ययक्तमेव। "ततः पदं तत् परिमार्गितन्यम्" इत्येतदपि तत्ना-संगतम् ॥ ''शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'' (वि. ६. ५. ६४) इतिवत् स्यादिति चेन्न ; विरुद्धत्वात ; तत हि तन्निप्णातस्य परत्रह्माधिगम उच्यते ; अत तु तच्छित्वा ततः परं परिमार्गितव्य-मिति : अतोऽस्यान्यार्थासंभवात् संसारविषयत्वे सिद्धे तद्विदो वेदवित्त्वेन स्तुति:, <sup>2</sup>तब्ज्ञानस्य वेदान्त प्रतिपाद्यार्थज्ञानोपयोगितयैवेति ॥ १ ॥

ज्ञान्य स्वित्व कि नैमितिकसृष्टिप्रिक्षययोक्तम् ; अथ नित्यसृष्टिप्रिक्षययाऽप्युच्यते अधियेति । अपरायेति पूर्वोक्तपुनरुक्तिपरिहार्रार्थम् । पुनरपीति नित्यसृष्टियोतनम् ; कर्मलोकमिष्कुत्य उन्ध्वं प्रवृत्तेविविक्षितस्यात् गन्धवीदिपरत्वम् । अत एव पूर्वोक्तेन चतुर्मुखलोकाविकाधरशाखत्वेनाविरोध इत्यभिप्रायेणाह् गन्धवेयखदेवादिरूपेणेति । प्रागुक्तप्रक्रियया गुणानामुत्तरोत्तरज्ञन्महेतुत्वेन देव-मनुष्यादिशाखानां गुणप्रवृद्धत्वम् । गुणा इह साधारणाः सल्लिक्श्यानीयाः ; प्रकाण्डस्थानीया वा । अत विषयशब्दस्य सर्वसाधारणज्ञानादिविषयपरत्वन्युदासायाह् अद्धादीति । प्रवालशब्दस्यात् विदुप्तिवेद्यस्यात् विदुप्तिवेद्यस्यात् प्रवालश्चरत्वम् । समुद्भवित्त । तद्धदेव देवादिषु शाखास्थानीयेषु भोग्यतया ग्रब्दादेरुद्धवात् प्रवृद्धानीयत्वम् ॥ —

<sup>1</sup> प्रणविषयत्विमिति । ऊर्ध्वमूल्लिनि प्रकृतश्लोकस्येति शेष: । 2 कर्ममूल्लेन अत एव भगवद्धीनत्वेन वृक्षवत् छेद्यत्वेन च यो वेद, स वेद्वित् । तथा तस्य वेद्वैकगम्यत्वादिति भावः ।

## कथमित्यताह —

अध्यः मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ बहालोकम्बरमाम् अध्या मनुष्यामम् अधी मनुष्यलोके ।।

ब्रह्मलोकमूलसास्य बृक्षस्य मनुष्याग्रस्य, अधी मनुष्यलोके म्लान्यनुसन्ततानि ; तानि च कर्मानुबन्धीनि कर्माण्येवानुबन्धीनि म्लानि अधी मनुष्यलोके च भवन्तीत्यर्थः । मनुष्यत्वा-वस्थायां कृतैर्हि कर्मभिः अधी मनुष्यपश्चादयः, जन्मै च देवादयी भवन्ति ॥ २ ॥

<sup>2</sup>न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चार्दिन च संप्रतिष्ठा।

अस्य वृक्षस्य चतुर्धुसादित्वेनोध्वमूलत्वम्, तत्सन्तानपरम्परया मनुष्पाग्रत्वेनाध-दशास्त्वम्, मनुष्यत्वे कृतेः कर्मिर्मृलभृतेः पुनरप्यध्योध्वं च प्रसृतशास्त्वमिति यथेदं रूपं निर्दिष्म्, न तथा संसारिभिरुपलभ्यते । मनुष्योऽहं देवदत्तस्य पुत्रो यज्ञदत्तस्य पिता तदनुरूपपरिग्रह्थेत्येतावनमात्रमुपलभ्यते । तथा अस्य वृक्षस्य अन्तः विनाशोऽपि गुणमय-

ननु ऊर्ध्वम्हस्याधदशास्त्रस्य म्हानुगुण्येनोपपयतां नाम ; पुनरपश्चोध्वँ च प्रसते: किं मूलमिति शक्कामिपायेणाह कथामित्यत्राहेति । अध्य मृलानीत्यवान्तरम्लोक्तः ; प्रासादशिखरपरूढपरुम्वताया स्वतायाः वितिसंसर्गजम्लप्रान्तरप्रस्तोध्वशाखन्तरविद्यमिप्रायेणाह व्रश्वस्रोकम्लर्म्यति । मनुप्यलोकम्प्रहणं तत्र कर्माधिकारस्यस्त्वज्ञापनार्थम् । समानाधिकरणसमासौवित्यात् कर्मणामेव च सर्वत्र मृल्यवोप पत्तेत्वत्वविद्यमां गुणानामन्येषां वा मृल्यविद्यानिति । अत्मानुविध्यनां कर्मणं मनुप्यलोकस्वमृल्यवोक्तः । आत्मानुविध्यनां कर्मणं मनुप्यलोकस्वमृल्यवोक्तः । कात्मानुविध्यनां कर्मणां मनुप्यलोकस्वमृल्यवोक्तः । कात्मानुव्यत्यविष्यायां कृतिरिति । यथा न्यश्रोधादेरूध्वशाखस्य शास्त्रोधे वीजरूपं जटारूपं वा मृलं जायते, तथा अधरशासस्वापि स्वादिति भावः ॥ २ ॥

ननु सर्वप्रत्यक्षसंमतेऽस्मिन् संसारे यस्तं वेदेति कस्यचित् तद्वेदनेन परंशसनमयुक्तमित्यतोच्यते न रूपमस्येति । नात्र रूपानुष्टम्भवचनस्य रूपाभावे वात्पर्यम् , निर्देष्टरूपविरोधादित्यिमप्रायेणाह अख्य वृक्षस्येति । सर्वेषां संसारोष्टम्भ सत्यिप प्रकृताकारेण नोष्टम्भ इति तथाशन्दाभिष्रेतं विष्टणोति चतुर्मुखादिस्वेनत्यादिना । संसारिपिति । अपवर्गोष्युक्तज्ञानरहितेरिति भावः । संसारिप्वेव यस्तथा वेद, स मुक्तपाय इति वा । कृटस्थिपतृयुतादिरूपेण छोकेऽपि मूळशालापळवादिकं हश्यत इत्यताह मनुष्योऽहमिति । तेषां हेयस्यापि संसारस्योपादानोषयुक्तं ज्ञानपरित ; न तु हानार्थमिति भावः । नान्तः इत्यादाविष तथाशन्दस्यानुष्टमाह तथाऽस्येति । समभिन्याहृता सङ्ग्रस्वच्छयस्यानुगुण्यमन्तशन्दर्शयाद्वावी तथाशन्दरस्यानुष्टमाह तथाऽस्येति । समभिन्याहृता सङ्ग्रस्वच्छयस्यानुगुण्यमन्तशन्दर्शयानुगुण्यमन्तशन्दर्शयाह्वा सङ्ग्रस्वच्छयः इहासङ्गिल्पादितोऽन्तशन्दर्शय

कप्रतिवन्धीनीति विशेषणोभयपदकर्मघारयः!; न तु तत्पुरुपः । मूळविशेषणम् । कर्माणि विहित्तिषिद्वादिरूपाणि । कर्मफळस्योध्वैमपि जायमानत्वेऽपि कर्माणि तद्धानि अध एव मनुष्य-ळोके । तानि शाखाग्रजातवीजशिफावत् वृक्षसमृद्धिहेतवो भवन्तीत्यनन्तरभाष्यादौ स्पष्टम् ।

<sup>2</sup> यस्तं वेद स वेदविदिति वेदैकगम्यान् आकारान् दर्शयति न रूपमिति ।

भोगेष्वसङ्गकृत इति नोपलभ्यते । तथा अस्य गुणसङ्ग एवाऽऽदिश्ति नोपलभ्यते । तस्य शतिष्ठा च अनात्मिन आत्माभिमानरूपमञ्जानमिति नोपलभ्यते ; प्रतिनिष्ठत्यस्मिन्नेवेति ह्यज्ञानमेवास्य प्रतिष्ठा ॥ २ ॥

ॅअथ्वत्थमेनं सुविरुद्धमूळमसङ्गरास्त्रेण ददेन छित्या ॥ ततः पदं तत् परिप्राणितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।

ą

एनम् उक्तप्रकारं सुविरूटम्लम् सुष्ठु विविधं रूटम्लमश्रत्थं सम्यग्ज्ञानम्लेन इटेन गुणसयभोगासंगारूयेन श्रस्तेण छित्वा, ततः विषयासंगाद्वेतोः तत् पदं<sup>1</sup> परिमार्गितव्यम् अन्वेषणीयम्, यस्मिन् गता भृयो न निवर्तन्ते ॥ ३ ॥

विवक्षितः ; तस्य च स्रुरुवतः कारणतथानुष्यस्भः ; नित्यप्रस्थमातं हि संसारिभिर्दृश्यत इत्यिम् प्रायेणाह गुणमयभोगेष्वसङ्गद्भत इति । मोगशब्दोऽत्र भोग्यपरः । प्रमाणसिद्धस्थान्तस्य आदेः प्रतिष्ठायाश्च स्रुरुविष्ठमत्युदासाय उपरुभ्यते इति पदमनुषज्ञितम् । गर्भादित्वप्स्यावान्तरादेर्व्य स्मान् प्रधानमृत आदिरिह विवक्षित इत्याह गुणमङ्ग एवेति । अत्र प्रतिष्ठाशब्देन परोक्तं परमान्माभिधानमयुक्तम् , निस्सङ्गानां सङ्गविषयस्य तस्यासङ्गश्चस्थ्रविष्ठात्विर्देशानौचित्यात् ; अत आदिमृतस्य सङ्गस्यापि निदानं क्षेत्रादिस्थानीयमञ्चानमिह अर्थीचित्यात् प्रतिष्ठोच्यत इत्याह अना-रमन्यात्माभिमानस्वपिति । एतेन 'संप्रतिष्ठा मध्यम्' इति व्याख्याऽपि निस्ता । अज्ञाने कथं प्रतिष्ठाव्यद्वविर्यत्याह प्रतिविष्ठतीति । अयं भावः—-मूलस्थितिभूमिः वृक्षस्य प्रतिष्ठा; कर्म च संसारवृक्षस्य मूल्द्वेनोक्तम् ; तच्च "अविद्यासिश्चतं कर्म" (वि. २. १३. ७०) इति वचनादज्ञाने स्थितम् , तद्विगत्त्वात् तदनुष्ठानस्य । ममकारस्थापि कर्महेतोरहङ्कार एव कन्द इति स इह संसारवृक्षप्रतिहेति ॥ २ ॥

्रिंगिति सङ्गास्पदमक्रितिवैचिन्न्यपरामर्श इत्याह उक्तप्रकारमिति । सुष्टुत्वं हडिन्रुरुवं स्टिन्रुरुवं स्विधित्व प्रायधितादिभिरेकेकस्य कर्मास्थ्यस्ट्रस्य स्टेन्टेऽप्यनादिकालं मनोवाङ्गायेष्ट्रीद्वपूर्वकं च विधिनिषेधविषयविचित्रकर्मणामनन्तप्रकारसम्त्रत्वम् अप्रकृतिद्विक् कदाचित् तादास्थिकन्याध्यादिक्केशादिष मवितः स तु न स्टः; अतः सम्यण्जानमूलेनेत्युक्तम् । विषयत्यागदशायामिव आत्मान्वेषणदशायमध्यसङ्गोऽनुवर्तनीय इति ज्ञापनाय तत्तरशब्दः । अत एव ततःपरिति परशब्दाध्याहारेण व्यास्थान्तरमयुक्तित्यिमप्रयेणाह तनो विषयामङ्गाद्वेतोरिति । "आत्मानमन्विच्छेत्' (मा. उ. ३३. ६४) इत्यादिस्युन्नायाह अन्वेषणीयमिति । छन्दोनुरोधाय छान्दसं निवर्वन्तीति परस्मैपुदमित्यमिप्रयेण खयमास्मनेषदं प्रायुङ्क ॥ ३॥

पदशब्दोत्र उत्तरस्रोकभाष्यानुसारात् जीवात्मविषयकः । पुरुषोत्तमिक्दपणात् प्रागत्र
 स्थितं सर्वे शुद्धजीवविषयकं हि युक्तम् । पष्टादिश्लोकानुसाराश्चेति ।

<sup>2</sup> संमूतत्वपदेन सुन्दुत्विविधत्वयोः रूढपदार्थगतरोहणिकयाविशेपणत्वं श्राप्यते ।

कथमनादिकालप्रवृत्तो गुणमयभोगसंगः तन्मृतं च विपरीतज्ञःनं निवर्तत इत्यत आह--तमेव चाऽऽद्यं पुरुपं प्रपदेवनः (प्रवेयतः) प्रवृत्तिः प्रस्ता पुराणी ॥ ४

अज्ञानादिनिवृत्तवे तमेव च आयम् क्रुस्सासाऽऽदिभृतम्, "मयाऽष्यक्षेण प्रकृतिः स्यते सम्यराम्दरम् " (री. ९. १०), "अहं सर्वस्य प्रभवो यत्तर्त्वं प्रवर्तते" (१०. ८), "मतः प्रश्तरं नान्यत् किश्चिद्दित्तं धनज्ञवं" (७. ८) ह्त्यादिष्टक्तम् आयं (१) पुरुषमेव सर्णं (१) प्रथ्येत् तमेव सर्णं प्रययेत । यतः यस्मात् कृत्तस्य स्पृष्टियं गुणमयभोगमङ्गवृत्तिः, पुराणी पुरातनी प्रश्वता । उक्तं हि मयैतत्त्व्वमेव, "दैवी सेषा गुणमयी सम माया दुरत्यया । सामेव ये प्रयद्यन्ते मायामेतां तर्गन्त ते" (७. १४) हित । प्रयस्त्रयः वृत्तिरिति वा पाठः ; तमेव सायं पुरुषं प्रयम् करणमुणगरम्य, इयतः अज्ञाननिवृत्त्यादेः कृत्स्यस्यैतस्य साधनसृता प्रवृत्तिः पुराणी पुरातनी प्रस्ता । पुरातनानां मुस्कृतां प्रवृत्तिः पुराणी । पुरातना हि सुसुक्षणे मामेव स्रणापुष्यग्रम्य निर्मुक्तवन्याससंज्ञाता इत्वर्थः ॥ ४ ॥

-निर्मानमोहः जितसङ्गरोषा अध्यात्मनित्या विनिदृत्तकाताः । इन्हेर्विमुक्तास्सुखदुःखसंद्वैगंच्छन्त्यमृदाः पदमय्यं तत् ॥

t

ननु दृढस्यासङ्गशस्त्रस्य लागे हि तेन च्छियेत ; तदेव तु संसारिभिर्दुर्लभतरमिति शङ्कयोत्तरप्रस्थं संगमयित कथिमिति । निर्मानमोद्दाः इत्यादिसमनन्तरमन्थानुसन्यानेनाह अज्ञानादिनिद्वत्त्रय
इति । आद्यस्य पूर्वोक्तप्रकारं तच्छिन्देन स्थाप्यत इत्याह मयेति । यदाज्ञातिल्ङ्कनात् बन्धः, स एव
हि प्रसादितो मोचक इत्यमिप्रायेगीयकारः । तत्त्वपञ्चनरूपस्य यतः प्रदृत्तिः इत्यादेमेददादिस्रृष्टिमात
परत्वस्युदासाय इममेवार्थं प्रपत्तिवाकये प्रागुक्तं सारयति उक्तं द्वीति । गितेषामेवानुकन्पार्थम् ( १००१), 'मामेकं शरणं त्रज्ञ' ( १८०६६)
११), 'मचित्तः संवदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि' ( १८०५), 'मामेकं शरणं त्रज्ञ' ( १८०६६)
इत्यादिकमपि माध्यम् । अत्र प्रसुतादिश्वदेः सत्यत्वस्येव प्रतीतेः, परेवामिन्द्रजाल्दष्टान्तः शब्दस्वारस्येन
प्रत्यक्षादिभिश्च वाधितः । छन्दोवत् ऋषीणां प्रयोगानुमतेः श्वप्यदिति परस्तैपदम् । तत्र स्वामिन्तं
पाठान्तरमर्थान्तरं चाह प्रवद्यत्यदिना । उत्तमपुरुवत्वे वावयानन्वयात् इयत् इति पदच्छेदः । एवश्च
शङ्कायाः साक्षादिदसुत्तरं स्यादिति भावः । इयच्छिदस्यात प्रकृतसाकर्वपरत्वमाह अञ्चानिनृत्तरादेः
करस्ययेति । पुरुवन्यापारिवपयस्वाय साधनस्यतेत्रकृत्कम् । पष्टचभिहितं संवन्यसामान्यमिह साध्यसाधनमावरूपविशेषे विश्वान्तमिति भावः । प्रसृता पुराणीत्यनेन शिष्टाचारपदर्शनमभिमतिमत्याह
पुरातनानाभिति । तदेव विद्योति प्रगतना हीति ॥ १ ॥

असिन्नर्थे निर्मानमोहाः इत्याद्यनन्तर्वाक्यमपि इयतः इत्युक्तस्य विवरणतया सुसङ्गतमित्यभि-

 <sup>1</sup> आप्ये मायातरणमुक्तम् । असंगहेतुःवपराण्येव वाक्यानि खयं दर्शयित तेषामिति । तत्रापि संग एव प्रकृतः, मोहितं नाभिजानातीति ।
 2 पूर्वश्योके निवर्तन्तीतिवत् ।

एवं मां श्ररणप्रुपगम्य निर्मानगोहाः निर्मातानात्मारिमानिरूपमोहाः, जिनसङ्गरोषाः जितगुणमयभोगसङ्गारुपदोपाः। अध्यात्मनित्याः आत्मनि यत् ज्ञानं तत् अध्यात्मम् ; आत्मज्ञान-निरताः । विनिष्टतकामाः विनिष्टतत्विदित्रकामाः सुखदुःखसंज्ञैद्वेश्च विश्वकाः, अम्हाः आत्माः-नात्मस्यभावज्ञाः, तद्व्ययं पदं गच्छत्व अनवच्छित्रज्ञानाकारमात्मानं यथावस्थितं प्राप्तुवन्तिः मां शरणप्रुपगतानां मत्प्रसादादेवेताः सर्वाः प्रवृत्तयः सुश्काः सिद्धिपर्यन्ता भवन्तीत्यर्थः ॥ ५ न तत् भास्यते स्वर्गे न शशाङ्को न पावकः । यद् गत्वा न निवर्वन्ते तद् धाम परमं मम ॥ ६ वत् विवर्वन्ते तद् धाम परमं मम ॥ ६ वत् वत् वामण्यते स्वर्गे भासयते. न शशाङ्कः, न पावकथ । ज्ञानमेव हि सर्वस्थ

प्रायेणाह एवमिति । अत सामर्थात सङ्गनिवृत्तेः कारणं निर्मानमोहत्वमिति तदनुरूपं व्याख्याति निर्गतानात्मात्माभिमानरूपमोहा इति । अमृदाः इति पृथगुक्तेरत् मानमोहमेलनव्याख्यानमयक्त मिति भावः । आत्मसङ्ग्वयवच्छेदाय गुणमयेति विशेषणम् । जित् गुङ्कत्वफलमध्यातम्। नत्यत्वम् : तच 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् ' (१३. ११) इति प्रागुक्तम् : तदाह् आत्मनि यज्ञानमिति । योगकाले नैरन्तर्येण, उत्थानकालेऽपि प्राचुर्येणाध्यात्मज्ञानिरतत्वम् । स्वादतमे स्वात्मज्ञाने निरतत्वात् तदितरः कामनिवृत्तिः । विनिवृत्तकामत्विमह विशेषतो निवृत्तकामत्वम् : तच विषयसन्निधावष्युपेक्षकत्वम् । सङ्गकामयोहें तुहेतुमद्भावस्य पूर्वोक्तत्वाचापनरुक्तिः । सस्बदः खसंजैः अनुकुछपिकूरुखभावैरित्यर्थः । इदं चोषायदशाविवक्षायां द्वन्द्वतितिक्षापरम् ; फलदशापरत्वे द्वःखात्यन्तिनवृत्तिपरम् । 'तिभिर्गुणमयैर्भा-वैरेभिस्सर्वमिदं जगत् । मोहितम्' (७. १३) इत्युक्तमायातरणादि**हामृ**दृत्वम् । तच देहात्मश्रमनिवृत्तेः निर्मानभोहाः इत्यनेनोक्तत्वात तद्यतिरिक्तात्सानात्मविषयसमस्तश्रमनिषेधरूपभित्यभिषायेणाह आन्मा-नारमस्य भावज्ञा इति । यद्वा मोहहेतुनिवृत्तिलक्षकोऽत्वामृदशब्दः अन्योन्यवयार्विकासाधारणधर्मप्रतीत्या ह्यात्मानात्मैक्यमोहो निवर्तनीय इति भावः । खरूपतो निर्विकारत्वादात्मनां व्ययो ज्ञानसङ्कोचविकास-रूपः ; तित्रिषेधफरितमाह अनवचिछन्नज्ञानाकार्मिति । पचत इति पदं 'प्राप्णीयस्त्रेथेवात्मा प्रक्षीणा-शेषभावनः' (वि. ६. ७. ९३) इति परिशुद्धारमनोऽपि परमारमवत प्राप्यस्वात पदस्वम् । न चाल परमात्मा पदशब्दाभिषेत: : अनन्तरस्ठोके तस्यैव तच्छब्दपरासृष्टस्य मम धामेति व्यधिकरणनिर्देशात । न च पदशन्द्धामशन्द्योरिह दिव्यस्थानविषयत्वम् ; परिमार्गितन्यमिति तस्यान्वेषणीयत्वविध्ययोगात् । तस्य हि फलतया, अस्तीति ज्ञातव्यत्वमालम् ; न त्वातमवत् सप्ताधिपर्यन्तग्रवेषणास्पद्तवम् । मम धामेति निर्दिष्टस्यैव हि संसारावस्था 'ममैवांशः' (७) इत्यादिनोच्यते । अन्यथा परस्थानप्रतिपादनानन्तरं 'ममैवांशः' इति बद्धावस्थजीवनिर्देशोऽपि नातीव सङ्गत इति भावः । उक्तश्रद्धापरिहारतया **तमेवे**त्यादेः पिण्डितं तात्पर्यार्थ(तात्पर्य)माह मां शरणमिति ॥ ५ ॥

प्रकाशकान्तरनैरपेक्ष्यद्योतनाय तच्छब्दाभिषेतमाह आत्मउयोतिरिति। अयं भाव:-तच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वसारस्यात् पदमच्ययं तदिति परिशुद्धात्मस्वरूपस्य प्रकृतत्वात् , उत्तरश्लोकेऽपि

अत्र आत्मज्योतिरिति पदेन ऋोकोऽयं जनकयाञ्चवल्यसंवादरूपवृहदारण्यक(६-३)प्रत्यभि-

प्रकाशकम् ; वाद्यानि तु ज्योतीिष विषयेन्द्रियसंबन्धविरोधितमोनिरसनद्वारेणोपकार-काणि । अस्य च प्रकाशको योगः । तद्विरोधि चानादिकम् । तिश्ववर्तनं चोक्तं भगव-त्प्रपत्तिमृरूभसङ्गादि । यहत्वा पुनर्न निवर्तन्ते, तत् परमं धाम परं ज्योतिः मम मदीयम् ; मद्विभृतिभृतः ममोश्च इत्यर्थः ।

'ममैवांशो जीवलोके जीवमृतः' इति तस्येवोक्तेः, अलापि श्रुतिसिद्धस्वयंज्योतिष्ट्रश्यक्षकथा**म्**शब्दप्रयोगात् जीवविषयोऽयं श्लोक इति । सूर्याद्यप्रकाश्यत्वं स्वभाववैषरीत्येन स्वापयति **ज्ञानमेव ही**ति । सर्वस्येति । प्रकाइयवर्गस्य. तत्प्रकाशकतयाऽभिमतसूर्यादिज्योतिषोऽपीति भावः । ज्ञानं चेत् सर्वस्य प्रकाशकम् , तर्हि बाब्रेप्विप किं सूर्याद्यपेक्षया ? कथं च तेषु प्रकाशकरवन्यवहार इत्यताह वाह्यानि न्विति । संबन्धिवरोधीति सामग्रीमध्यपातिविशिष्टसंबन्धाकारविवक्षयोक्तम् । न हि कुड्यादिवत् तमो व्यवधा-यकम् , तमोव्यवहितालोकस्थप्रहणात् ।। एवं सर्वप्रकाशकमात्मज्योतिः स्वयमेव किं न प्रकाशते. केन वाऽन्येन तत् प्रकाश्यमित्यताह अस्य चेति । चस्त्वर्थः शङ्कानिवृत्यर्थः । स्वयंप्रकाशस्यापि यथावस्थित-समस्ताकारम्रहणे संसारिणां योग एवोषाय इति भावः । प्रकाशकान्तरप्रतिक्षेपे वेद्यत्वनिषेधशङ्काऽप्यनेन परिहता । विशेषनिषेधः शेषाभ्यानुज्ञानपर इति भावः । योगोऽपि सर्वेषां किं न सिध्येत् ? तलाह तिहरोधीति । सांसारिकं कर्म योगोत्पत्तिप्रतिबन्धकमित्यर्थः । तिहं सर्वेषां न सिध्येदिति शङ्कायां प्रकृतेन परिहरति तन्निवर्तनं चेति । गत्वा पाप्येत्पर्थः । धामशब्दोऽल पाग्वल नियमनस्थानपरः : अपि तु सूर्याद्यपेक्षत्वप्रतिक्षेपात् खरूपस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेज्यौतिर्वाची । तत एव मम परं ज्योति रित्यन्वयो मन्दः। ममेति खसंबन्धविधिस्त मुक्तदशाभाविपरमसाम्यशङ्कितस्वातन्त्रयपरिहारेण सार्थे इत्यभि पायेणाह परं ज्योतिर्भम मदीयमिति ममैवांशः इति वक्ष्यमाणस्यापि निदानिमहाभिष्रेतिमिति व्यञ्जयन् षष्ट्यक्तं संबन्यसामान्यं विशेषे नियच्छति महिभृतिभृत इति । विभृतित्वं च न गृहिणो गृहादिवत् , अपि त अपृथविसद्धविशेषणांशत्वेनेत्याह **ममांश** इति । अयमभिपाय:-न तावित्रस्वयव एकस्मिन् खरूपे अंशव्यपदेशः, अंशस्यैकवस्त्वेकदेशरूपत्वेन भेदाश्रयत्वादंशांशिभावस्य । अन्यथा. एकसिन् कोंग्नः, कथांशी ? न हि स एव तत्यांश इति आन्तोऽपि ब्रयात् । न च मेदामेदसंभवः, व्याघातसर्वश्रुतिकोपादिपसङ्गात् । "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (पु), "तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्विमिदं जगत् " (श्वे ४. १०), "यथाऽम्रे: श्रुदा विष्कुलिङ्गा व्युचरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्व एवात्मानो ब्युचरन्ति ' (बृ. ४. १ २०) इत्यादिश्रतिपतीतां शस्य विशिष्टे विशेषणां शतयेति ''अंशो नानाव्यपदे-शात्" (त्र. २ ३. ४२) इत्यधिकरणे, "प्रकाशादिवतु नैवं परः" इति सूत्रे स्थापितम् । अतोऽनेकेव्वेव शापक इति सचितम । तत्न हि किंज्योतिरयं पुरुष इति जनकप्रक्ते आदित्यज्योतिः, चन्द्रज्योतिः, अग्निज्योतिरित्यादि वदन् याज्ञवल्यः आत्मज्योतिरित्यन्ते आह ।

 तमस इन्द्रियसंबन्धप्रतिचातकत्वे तमोव्यवहितवस्तुसंबन्धो न स्यात् । अतस्तमसो न घः।द्या-चारकत्वम् । अनुभवानुरोधात् तमोरहितवस्तुसंबन्धस्यो विशिष्टेन्द्रियसंबन्धः प्रत्यक्षहेतुरिति । आदित्यादीनामपि प्रकाशकत्वेन तस्य परमत्वम् । आदित्यादीनि हि ज्योतीिव न ज्ञानज्योतिवः प्रकाशकानि ; ज्ञानसेव सर्वसः प्रकाशकम् ॥ ६ ॥

ममेंबांशो जीवलोके जीवभूतः समाततः । समप्पष्टामीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्पति ॥ ७ इत्थप्रुक्तस्करूपः मनातनो ममांश एव सम् कश्चिद्रनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टितो जीव भृतो जीवलोके वर्तमानो देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामःवशेषश्चरीरस्थानि मनष्पष्टानीन्द्रियाणि कर्षति । कश्चिच पूर्वोक्तेन मार्गेणास्था अविद्यायाः मुक्तः स्वेन रूपेणोवतिष्ठते । जीवभूत-स्वतिसंकुचितज्ञानैश्चर्यः कर्मलञ्चप्रकृतिपरिणामविशेषरूपश्चरीरस्थानाभिनद्रियाणां मनष्पन्त्रानाभिन्धः तानि कर्मानुगुणमिनस्ततः कपित ॥ ७॥

शरीरं वदवामोति यचाप्युकामतीभ्याः । गृहीत्येकानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ यत् शरीरमवाप्नोति, यसाञ्छरीसदृत्कामांस, ततायमिन्द्रयाणामीश्वरः एतानि इन्द्रियाणि भृतस्क्षमैस्सद गृहीत्वा संयाति वायुर्गन्धानिवाश्वरायात् । यथा वायुः स्वरचन्दन-कस्तृरिकाधाशयात तत्स्थानात् स्क्षमावयवैस्सद्द गन्धान् गृहीत्वाश्न्यत्र संयाति, तद्वदित्यर्थः ॥८

कानि पुनस्तानीन्द्रियाणीत्यताह-

श्रोतं चक्षः स्पर्शनं च रप्तनं प्राप्तमेव च । अधिष्टाय मत्श्रायं विषयाय् उपसेवने ॥

केनिचदुपाधिना एकतयाऽभिमतेषु कश्चिलिरूप्यमाणः अंश इति व्यपिद्वश्चिते। एवमेव हि प्रशिद्द्रशास्त्रान्दिप्विष । तच विशेषणविशेष्यभावेदाधिस्वित्विष विशिष्टेषये 'विशेषणांश' इत्यादिव्यपदेशेषु तुल्यम् । तस्मादत्रात्यन्तिमत्रयोजीवपरयोधिम्हितहद्भावेन विशिष्टेषयात् विशेषणम्तो जीवो निष्कृष्य व्यपिद्दिय-मानः प्रधानापेक्षया अंश इति व्यपदिश्यत हति । अत्र निरङ्कश्चापरम्यक्षरमानव्यक्तिरक्तिविषय-धामशब्द-निर्दिष्टक्योतिर्विशेषणमृतं प्रमत्वं सिवहित्वयोतिरपेक्षयेति तत्किष्टितमाह आदित्यादीनाभपीति ॥ ६ ॥

<sup>1 &#</sup>x27;यद्गत्वा न निवर्तन्ते' इत्यनेन यथावदात्मक्क्षाने जाते तदनुच्छेद उक्तः, इदानीं तदभावहेत् पद्माल तदुङ्गवहेतुञ्च चतुर्भः स्टोकैरुङ् मभैवेति ।

एता<sup>नि</sup> मनष्षष्टनीन्द्रियाणि अधिष्ठाय स्वस्वविषय<sup>1</sup>युच्यनुगुणानि कृत्वा, तान् शब्दा-दीन् विषयान् उपसेवते <sup>2</sup>उपभुङ्कते ॥ ९ ॥

उत्कातन्तं स्थितं वाऽपि भुक्षानं वा गुणान्वितम् । विमृद्धा नानुष्ययन्ति पद्यन्ति वातवश्चापः ॥

एतं गुणान्वितं सस्वादिगुणप्रव्यप्रकृतिपरिणामांविद्येषमृतुष्यत्वादिसंस्थानपिण्डसंसृष्टम् ,

पिण्डविद्येषाहुस्कानन्तं पिण्डविद्येषेऽवस्थितं वा, गुणप्रयान् विषयान् भुक्षानं वा कदान्विद्रपि

प्रकृतिपरिणामन्ति विषयान् व्यत्वादिपिण्डाद्विरुद्धणं ज्ञानैश्चाकारं विमृद्धाः नानुष्यव्यवितः । विमृद्धाः

मनुष्यत्वादिपिण्डा[कारा]स्माभमानिनः । ज्ञानचक्षुष्यतु पिण्डात्मविद्येकविषयज्ञानवन्तः

सर्वावस्थानस्येनं विविक्ताकारमेव पश्यन्ति ॥ १० ॥

<sup>3</sup>यतन्तो योगिनश्चेनं पश्यन्त्यात्मस्यवस्थितम् । यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेततः ॥ ११ मत्वपाँतपूर्वकं कर्मयोगादिषु यतमानास्तैर्निर्मलान्ताकरणाः योगिनो योगारुयेन चक्षुवा आत्मिन श्रगीरऽवस्थितम्पि श्रीराद्विविकः स्वेन रूपेणावस्थितमेनं पश्यन्ति । यतः माना अप्यकृतात्मानः मस्प्रपत्तिविसहिणः तत एवासंस्कृतमनसः, सत एव अचेतसः आत्माव-

कमंकलापित्रालितस्य कलेवरकारागृहेऽवस्थानम् , तलोक्षमणप्रवेशादिक्वेगः, तलस्थस्य च विष-मधुकलपश्चद्रतरिषयोपलेवा चोक्तानि । अथ तदुपि तलिदानमृतमात्माण्हरणचौधमुपिक्षस्य योग्यानु-पल्ठम्भं च परिहरित उस्क्रामस्तिभिति स्टोकेन । गुणान्वितत्वमितरेषां हेतुरित्यभिषायेण पूर्वं तत्या-स्था । उत्क्रमणादिकथनं सर्वावस्थोपलक्षणमित्यभिपायेण कदाचिदपीरयुक्तम् । अहमिति नित्यमुप-लभ्यमाने सर्वेषां स्वात्मित्, भुञ्जानतादौ च स्वात्मसाक्षिके कथं केचित्रानुष्वयन्तीत्युच्यत इत्यलाह् मनुष्यस्यादि पण्डाद्धलस्थणमिति । अश्वतिपरिणामिवशेषमनुष्यत्वादिविश्वष्टिपण्डादित्यर्थः । ज्ञाने-कार्यस्यत्वोक्तिवैल्क्षण्यप्रकाराणामुण्लस्थणार्थे । विमृद्धा नानुषद्यस्विति भगवतस्मानुकोशोक्तिः । यथावस्थितात्मदर्शनमूलं थिमृदत्वं तद्विषयमेवेत्याह् मनुष्यस्वादिषिण्डातमाभिमानिन इति । नित्य-स्वप्रकाशत्वाद्यतिरेकाय विविक्ताकारत्वोक्तिः ॥ १०॥

उक्त एवार्थः सहेतुकसुपपाद्यते यतन्त इति स्रोकेन । यतन्तो योगिन इति पूर्वप्रशिवसिक्ष स्मारितिसत्याह मन्त्रपत्तिपूर्वकमिति । आरमशब्दोऽल्लार्थान्तरानन्वयात् प्रस्तुतशरीरिवषयः । तथा सित अदर्शनशङ्काहेतुस्थान्त्र्यते भवतीत्यसिपायेणाह शरीरेऽवस्थितमपीति । यतमानानां कथनकृतात्मत्व-मित्यलाह मन्त्रपत्तिविश्वस्थातम् इति । अलासंस्कृतमनस्त्वम् १ (१) शरणवरणाभावः । विद्यमानस्यापि

<sup>1</sup> वृत्तिः ज्ञानम् । 2 उपभोगः सुखदुःखातुभवो ज्ञानरूपः । तदेतुत्वं ज्ञानेन्द्रियाणामेव । क्रमेन्द्रियेः कर्मोत्पादने तद्धीनातुमवः ज्ञानेन्द्रियायत्त इत्येतावता प्राधान्यादेतन्मात्रोक्तिः । गमनं तु सर्वेपामेव । 3 ज्ञानवक्षुय इत्युक्तम् तद् ज्ञानं किरूपीमीत विशस्यति यतन्त इति ।

<sup>4</sup> प्रकृतिपरिणापस्य विशेषभूतो मनुष्यस्यादिर्यस्य पिण्डस्यति भाष्ये बहुवीहिरिति भावः।

<sup>5</sup> प्रार्थनान्वितामरत्यात्मस्यापिकविष्टस्योक्ताया यस एवेति तत्साध्यतयोक्तः वथं शरण-

लोकनसमर्थचेतोरहिताः नैनं पश्यन्ति ॥ ११ ॥

एवं रविचन्द्राधीनामिन्द्रियसिक्वर्षविरोधिसंतमसनिरसन्ध्रुखेनेन्द्रियानुप्राहकतया प्रकाशकानां ज्योतिष्मतामि प्रकाशकज्ञानज्योतिरात्मा स्रकावस्थो जीवावस्थश्च भगवद्धि-भृतिरित्युक्तम् , 'तद्धाम परमं मम', 'ममैवांशो जीवलोके जीवभृतस्त्रनातनः' इति । इदानी-मचित्परिण।मविशेषभृतमादित्यादीनां ज्योतिष्मतां ज्योतिरिप भगवद्विभृतिरित्याह—

<sup>1</sup>यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यचन्द्रमस्य यचाश्रौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ अखिलस्य जगतो भासकमेतेषामादित्यादीनां यत् तेजः, तत् मदीयं तेजः तैम्बैरा-राधितेन मया तेम्यो दत्तमिति विद्धि ॥ १२ ॥

पृथिव्याश्र भृतधारिण्या धारकत्वज्ञक्तिर्मदीयेत्याह —

श्रामाविश्य च मृतानि घारयाम्यहमोजसा ॥ पुष्णामि चौषधीः सर्वास्सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ चेतसः शक्कतोपयोगामावादसत्करुपत्वमचेत्रशब्देन विवक्षितमित्याह आत्मावलोकनसमर्थचेतो-रहिता इति ॥ ११ ॥

'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादेः पूर्वोत्तरासङ्गतिपरिहाराय युस्त्रप्रणाय चोक्तमयें निष्कृप्याह एवं रिवचन्द्राग्नीनामिति । आत्मज्योतिषो विमृतित्वोक्त्यनन्तरं तत्प्रकाशनासमर्थतया व्यवच्छेयत्वेन प्रसक्तानां प्राकृतज्योतिषामि विमृतित्वोक्तियुक्तं स्वति । अत्येषां तेजः कथमन्यस्य स्यात् ; अतोऽत्रादित्यादितादात्म्यं प्रतीयत इत्यताह तैस्तेराराधितेनेति । श्रूयते हि, "येन स्र्यस्तपित तेज सेद्धः" (काठ. ३. ९), "यस्यादित्यो मामुपयुज्य माति", "न तत्न सूर्यो माति" इत्युक्तम्य, "तस्य भासा स्रवीमदं विभाति" (यु. २. २. ११) इति । अतः सर्वं स्वत ईश्वरशेषमृतं सत् तत्तक्तर्मानु-रूपात् तस्यङ्करणात् तस्यङ्करणात् कियन्तं कालमन्येषामित् शेषत्वं भजत इति भावः । अतः तेजश्वराज्देन चैतन्य योतिर्विवक्षा जगद्भासयतेऽस्विलमित्यादिना न सङ्गच्छते । न ह्यादित्यादिगतत्वेन चैतन्यमस्माकं घटादीन् प्रकाशयति । 'सर्वेत चैतन्याविशेषेऽप्यादित्यादिषु सत्त्वाधिवयात् दर्पणादिवत् इत्यप्यसारम् , तन्मते चैतन्यस्य व्यङ्गयत्वाद्यस्मवादिति ॥ १२ ॥

ज्योतिषां प्रकाशकत्वशक्तिः स्वकीयेरयुक्तम् ; एवमन्येषामि सर्वेषां तत्तिद्वशेषकार्यजननश्चितः स्वकीयेति प्रथिवीसोमवैश्वानराणां घारणाप्यायनपचनशक्तिभिरुपळक्ष्यते ; अन्यथा स्वशक्तिमात्तकथने प्रकृतवैरूप्यादित्यभिपायेणाह पृथिन्याश्च भृतधारिण्याः धारकरवशक्तिमरीयेति । वरणाभावः भगवदवृत्तत्वम् । भगवत्कर्तृकवरणासंस्कृतत्वम् । शराणाभावः अगवदवृत्तत्वम् । भगवत्कर्तृकवरणासंस्कृतत्वम् । शराणाभावः वरणाभावः इति वा पाठः ।

- 1 इन्द्रियैर्विषयोपसेवनपरस्य जीवस्योपकारका आदित्याद्य इत्युक्तम् । तत् उपकार-कत्वमि भगवद्यीपमित्युच्यते ।
- 2 प्रकाशरूपोपकारहेतुतया प्रसक्तयोश्चन्द्रस्याग्नेश्चान्यविधोपकारहेतुत्वं वक्ष्यन्, तयोः जळतेजस्यानुसंघानात् पृथिव्युपस्थिनौ तद्वत् पृथिव्या अप्युपकारकत्माह गामिति ।

अहं पृथिवीमाविदय सर्वाणि भृतानि ओजता ममाप्रतिहतसामध्येन धारयामि । तथाऽहम् अमृतरसम्यस्तोमो भृत्वा सर्वोषधीः पुरणामि ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः प्रवास्यवं चतुर्विधम् ॥ १४ अहं वैश्वानरः जाठरानस्त्रो भूत्वा सर्वेषां प्राणिनां देहमाश्रितः तैर्भुक्तं खाद्य-च्(चो)ध्यस्रेह्यपेयात्मकं चतुर्विधमनं प्राणापानवृत्तिभेदसमायुक्तः प्रचामि ॥ १४ ॥

अत्र परमपुरुषविभृतिभृतौ सोमवैश्वानरी अहं सोमो मूरवा, वैश्वानरो मूरवा इति तत्सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टी। तयोश्व सर्वस्य भृतजातस्य च परमपुरुषसामानाधिकरण्येन सर्वस्य भृतजातस्य च परमपुरुषसामानाधिकरण्येनदें शहेतमाइ—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिज्ञीनमपोहनं च । वेदैश्च सबैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्॥

१५

तयोः सोमवैश्वानरयोः सर्वस च भृतजातस्य सकलप्रवृतिनिवृत्तिमृलज्ञानोदयदेशे

सर्वाणीति। चराणि स्वावराणि चेत्यर्थः। अन्ये हि पदार्थाः प्रतिवातिना संयोगेन घारयन्ति; अतस्तव्यवच्छे-दार्थम् ओजसा इति स्वासाधारणशक्तिनिर्देशः। तदमावे पृथिव्या धारकत्वशक्तिः प्रतिहन्येतेत्यिभिप्रायेणाह ममाप्रतिहतसामध्येनेति । श्रूयते च, 'येन चौरुमा पृथिवी च हहे' (यजु. ४ २. ८ २) 'येनेमे विधृते उमे, विष्णुना विधृते भूमी' (य. आ. १. ८. २), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' (वृ. ५ ८. ९) इति । सोमत्वाकारोऽत्व रसात्मक इति विशेष्यते । तेन पोषणद्वारविवक्षामाह अमृतरसमयम्सोमो भूरवेति । अत्व विशेषणशक्त्या रसैः पुष्णातीति गम्यते ॥१३

जाउरानलो भृत्वेति । "कोष्ठेऽप्तिर्भुक्तम्(भींकुमि)च्छिति" (मो. घ. २४५. ८) इति तेन षुक्तमिति भावः । नतु, " तेषा विहितं वा इदमन्नमशनं पानं खादः" इति वचनात् कथं चातुर्विध्यम् १ तत्नाह् खाद्यच्यलेख्यपेरामकमिति । आकारान्तरेण संग्रहादम्यले त्रोपदेश इति भावः । "अपान-प्राणयोमिध्ये प्राणापानसमाहितः । समन्वितस्समानेन सम्यक्पचित पावकः" (भा. आतु. २४६. २३) इत्यादिष्वान्तर्पवनष्ट्विसन्धुक्षितो ह्याः पचनाय प्रभवतीःयुच्यत इत्यक्षिपायेणाह् प्राणापान-पृत्तिभेदसमायुक्त इति । एक एव हि वायुः शारीरोऽनेकद्यतिरिति, "पश्चवृत्तिमेनोबद्यपदिद्यते" (त्र २.४.११) इति स्त्रमाथ्येण, 'प्राणोऽपानो च्यान उदानस्समानोऽन इत्येतत् सर्वे आण एव' (वृ. १.५.३) इति श्रुत्योपपादितम् ॥ १४॥

'सबैस्य चाहम्' इति स्ठोकस्यासाङ्गत्यशङ्कापरिहारायोक्तसामानाधिकरण्यहेतुपरत्वेन सङ्गतिमाह अत्र परमपुरुषिभृतिभृताधित्यादिना । चशब्द उक्तसमुचयार्थ इत्यमित्रेत्य उक्तार्थमाह तयोस्सोम-वैधानरयोरिति । सर्वस्येत्यस्य हृदीत्येतस्तमभिव्याहारसामध्येलव्यार्थमाह सर्वस्य च भृतजातस्येति । हृदीति निर्देशस्य प्रयोजनं स्च्यितुं तस्समावमाह सक्तस्त्रपृत्वतीति । आकाशविविविद्यवय्यवच्छेदायाह

हृदि सर्वे मत्तंकरपेन जियच्छन् जहमात्मतया सांचिष्टा । तथाहुः शुत्तया, "अन्ता प्रविष्ट-क्यास्ता जनानां पर्वासाः" (य. आ. ३. ११. २), "यः पृथिन्यां, तिष्ठन् " (ब. ५. ७. ३), "य आत्मि विष्ठन कात्मनी अत्यो .... यमयित", (वृ. ५. ७, २२. मा), "वृद्ध-कोअअर्थाकार्य हृदयं चाप्यपोक्षसम् " (ना), "अथ यदिदमस्मिन अक्षप्रहे दहां पण्डरीकं वेदम'' (छा. ८. १. १) व्याद्याः । स्मृतपथः 'शक्ता िष्ण्यश्चेपस्य जमनी यो जगः व्ययः" (चि. १. १७. २०), "प्रजाःसतारं सर्वेशमणीयां मणीयसम्मः" (मन्. १२. १२२), "वसी वैव सती नजा यस्तवैत हुदि स्थितः" (मनु. ८.९२) इत्याद्याः । अनी मन एव सर्वेषां स्मृतिजीयते । स्रुविः पूर्वातुभृतव्यिषयम्तुभवसंस्कःस्मालजं झानम् । ज्ञागम् इन्द्रिय-िक काममधीगजी वस्तुनिश्चयाः मोऽपि मनः । अपोहन च । अपोहनभ-ज्ञानिवानाः । अरोहनम् ऊहनं बाः ऊहनमूहः: 2 ऊहो नाम इदं प्रमाणमित्थं प्रवित्वित्रमहेती वि प्रमाण-प्रवत्यर्हनान्धियं सागप्रवादिनिरूपणजनां प्रमाणान्याहकं ज्ञानमः स भोहो मन एव । वेदैश्च सपैरहमेव वेद्यः । अतोऽ सम्प्रीतःप्रामिन्द्रःतीतां धदन्तर्याः मक्त्येन सदालस्कत्वात तः विषादनपरैः प राधितरेस्यमेव । याः, देवमनुष्याः भवर्षजीवासेव । वेदालकत् वेदालाम-आत्वतया स.कारेष्ट इति । आत्मत्वीपपदनायीक्तम् सर्वे मत्त्रक्ररूपेन (नयच्छांच्यति । तथाऽऽ-हुरिति । नियमनार्थनन्तः पविष्ठत्वे ात्मत्वेन चेममाहरित्दर्भः । प्रथमपादोक्तार्थो द्वितीयपादेनोच्यमानार्थे हेतुरित्याह अन् इति । सर्वेषां ...जा वत् इति च अर्थसिद्धकथनम् । श्रायुपरृंहणस्मृि भ्रभव्युदासायाह स्मृतिरिति । <sup>1</sup>बाद्यविषयानन्त्रितत्सभरः न्युदासायोक्तम् पूर्वान्भृत्वविषयमिति । प्रत्यगिज्ञानप्रत्यक्ष-व्यावृत्त्यर्थे मात्रपदम् । गोवलीवर्दन्यायमभिष्यः ज्ञानपदं व्याचष्टे हानेद्रयलिङ्गेति । 'अपोहटोल इत्यादि-प्रयोगानुसारेणापोहनशब्दस्य निवृत्तिपरत्वम् , निवृत्तेः प्रतियोगिसाकाङ्क्षत्वेन प्रकृतज्ञनप्रतियोगिकत्व चामित्रेत्याह (अ**पोहनं ज्ञ**ान निवृत्तिरिति । पूर्वम् , "अप परी वर्जने" (अष्टा. १ ४ ८८) इति अपेत्यस्य वर्जनेचोतकत्वमिष्पेत्य व्याख्यातम् ; इदानीं तदविवक्षया, 'अध्याहारस्तके ऊहः' (नाम. १. घी) इति कोशानुसारेण ज्ञानपदोक्तप्रमाणज्ञानानुष्राहकतर्कपरत्यस्वितमित्यसिषायेण च्याचष्टे अनेहन-महनं वेति । ऊहनशब्द्ध भावे ल्युङन्त इत्याशयेनाह ऊद्दनमृह<sup>2</sup> इति । इत्यं प्रवर्तितुमई त्रीति । चाक्षपपमा रूपिरूपतदेकाश्रययोग्यचक्षुर्सयन्धिषये प्रवर्तितुमहैतीत्येयमादिरूपप्रमाणप्रवृत्त्यहैताविषय-मित्यर्थः 🕽 'सर्वस्य चाहं हृढि सन्निनिष्टः' इत्युक्तसर्वान्तरात्मत्वस्य, 'वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्यः' इत्यतापि हेतुत्वमाह **अत** इति । **सर्वेवंदैश्हमेव वेद्य इ**ति । 'नारायणं गहाज्ञेयम् ' (ना) 'वचसां वाच्यमुत्तमम् ' (....) इत्युक्तप्रधानवेद्योऽहमेवेत्यर्थः। शरीरवाचिशव्दैरात्मन एव प्रधानवेद्यत्वे दृष्टान्तमाह देवसन्दर्या

<sup>1 ं</sup>स्सृतिनं बाह्यविषया, नप्टेऽप्यर्थे स्मृतिदर्शनात्' (जिज्ञा.) इति भाष्यादिकमनुसंधेयम् ।

<sup>2 (</sup>ऊह इति । स्मृतिमुक्त्वा तद्धतुमनुभवं शानपदेनोक्त्या तद्धेतुं तर्कम् अगोहनपदेनाहेति भावः । अनो न शानातिरिक्त मीप्रांसकशसिद्धोहमसिक्तरत । )

'इन्द्रं यजेन', 'वरुणं यजेत' इत्येवमादीनाम् अन्तः फलम् ; फले हि ते सवें वेदाः वर्षवस्यन्ति ; अन्तकृत फलकृत् ; वेदोदितफलस्य प्रदाता चाहमेवेत्यर्थः । तदुक्तं प्रवेमेन, 'यो यो यां यां ततुं फक्तः अद्धयाऽर्चितृमिच्छिति' (७. २१) इत्यावस्य 'लमते च ततः कःमान् मयैव विहितान् हि तान्' इति, 'अहं हि सवैयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (९. २४) इति च । वेदविदेव चाहम्-वेदविचाहमेव । एवं मदिभिधायिनं वेदमहमेव वेद ; इतोऽस्यथा यो वेदार्थं वृते न स वेदविदित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥ अतो मच एव सवैवेदानां सारभृतवर्थं शृतु—

्र द्वाविमौ पुरुषी लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरस्पर्वाणि मृतानि कृडस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ४६रश्वाक्षरश्चेति द्वाविमौ पुरुषी लोके प्रथिती । तत्र क्षरज्ञव्दनिर्दिष्टः पुरुषः जीव-

दीति। "चत्वारः पञ्चदशरात्ताः ..... देवतं गच्छित्ति" (सा.म.बा. २६ ३), "शरीरकैः कर्मदोषेयीति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पिक्षमुगतां मानसैरस्वजाितताम् " (मनु १२.९) इत्याद्यनस्यथासिद्धवैदिक् छौकिकप्रयोगात् मनुष्यादिश्वद्यानामारमपर्यन्ततं मुख्यमेवेति भावः। वेदान्तशब्दस्योपनिषरपरतं च प्रकृतासङ्गत्या अनुष्पत्या च अन्तशब्दस्य चरमवाचित्वमभिषेत्य व्याच्छे देदानामिति। इन्द्रं यजेतेति। इन्द्रं यजेति। इन्द्रं यजेति। इन्द्रं प्रवोऽमावास्यायाम् " (यजु. २. ५. १. ५. ) "ऐन्द्रं प्रयोऽमावास्यायाम् ", "तावते वारुणाश्चतुष्कपाळाचित्रवेषेत्" (यजु. २. ६. १. १) इत्यादीनामिति यावत्। अन्तशब्दस्य कथं फळप्रस्विमत्यतस्तदुष्पादयति फले हीति। "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च भभुरेव च" (गी. ९. २४) इतिवत् वेदेश्व सर्वेदहमेव वेद्याः इत्यनेन फलितसर्वकर्मममाराध्यत्वानन्तरं तत्कलप्रद्वाक्तिस्त्य यथाश्वतान्यये अयोगध्यवच्छेदार्थतं स्यान् ; तचायुक्तम् , भगवित वेदिवत्तकस्येत्यादिना। एवकारस्य यथाश्वतान्यये अयोगध्यवच्छेदार्थते स्यान् ; तचायुक्तम् , भगवित वेदिवत्तवायोगस्यायसक्तेः(।युक्तः) ; अतो विशेष्यान्यमाह वेदिवचाहमेवेति। 'ये च वेदविदो विशाः' (भा. व. ८६, २६) इति भगवदितिरक्तान्यमिष्यिति।। १५ ॥।

सर्ववेदसाररूपपुरुषोत्तमयाधारम्यपतिपादनम् उक्तेन सङ्गमयन् अवतारयति अतो मत्त एवेति । छोवयतेऽनेनेति च्युत्पत्त्या प्रमाणपरःवमिमेषेत्य प्रथितः इत्येवदनुषच्य वचनविपरिणामेन योजयति छोके प्रथिताविति । प्रमाणं च, "अजो छेको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तमोगामजोऽन्यः" (ना) इत्यादिकमिमेष्रेत्म । पुरुषशब्दिनिर्देष्टारमनः सरूपेण क्षरत्वायोगात् शरीरद्वारा तदित्यिभिमेत्य तृतीयपाइं च्याचष्टे तत्र क्षरज्ञद्वितिर्देष्ट इत्यादिना स्त्रः इत्येकत्विनिर्देशेन भृतानीति वहुत्व-

<sup>ं</sup> चत्वारः पञ्चरशराताः इति पृथम्वाक्यम् । पञ्चरशरातास्याः सत्वयागाश्चरतारो भवन्तीत्वर्थः । उपरि तद्विवरणयाक्यानि वहनि । तत्र प्रथमसत्त्रनिरूपणावसाने तद्गुष्टः।यनां फळमाह देवत्वं गच्छन्तीति । तद्गुष्टायिनां मनुष्याणां देवत्वप्राप्तिः फळमिति ।

<sup>2</sup> अहमेव वेदविदित्यस्य, अहं यथा जानामि, तथा ज्ञानवानेच वेदविदित्यर्थपर्यवसानम् । का — 62

शब्दाभिलपनीयश्रवादित्तम्बपर्यन्तश्वरणसभावाचित्तंत्तृष्ट्यविभृतानि । अल्लाचित्तंत्र्वाक्ष्ये कोपाधिना पुरुष (क्ष-१) इत्येकत्वनिर्देशः। अल्लरश्चदनिर्देशः कुटस्थः अचित्तंत्रमां विद्युक्तः स्वेन रूपेणावित्त्वते सुक्तात्तः । स त्वचित्तंत्तमां भावाद् चत्परिणामिश्रोपश्चमादिदेशःसाधारणो न भवतीति कुटस्थ इत्युच्यते । अल्लाचेकत्विनेदेशोऽचिद्वियोगरूपेकोपाधिनाऽमिद्वितः । न द्वि इतः पूर्वमनादी काले सुक्त एक एव । यथोक्तम्, 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' (४. १०), 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्ररुपे न व्यथन्ति च' (१४. २) इति ॥ १६ ॥

<sup>1</sup>उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्वयमाविक्य विभन्धव्यय ईश्वरः ॥ १७

उत्तमः पुरुवस्तु ताभ्यां श्वराक्षरशन्दिनिर्देशभ्यां वद्धमुक्तपुरुवाभ्याम् अन्यः अर्थान्तरभृतः परमात्मेत्युदाहृतः सर्वाम् अतिषु । परमात्मेति निर्देशादेव ह्युत्तमः पुरुवो वद्धमुक्तपुरुवाभ्यामर्थान्तरभृत इत्यवगभ्यते । कथम् १ यो टोकत्वयमाविदय विभिति । लोक्यत इति
निर्देशस्त्वाधिकृत इति शङ्काल्युदासायाह अलाचित्संसर्गेति । भ्वद्धात्मनां स्वकृतो भेदामावे
सर्वदःस्वसुत्वपतिसम्धानं सर्वेषां स्यादिति भावः । कृदस्यशन्दोऽनेकसन्तितम् लपुरुवे पतिद्धः । स चात न
परमपुरुवः ; 'उत्तमः पुरुवस्तवन्यः' इति तस्य पृथ्यवश्यमाणत्यात् । नापि हिरण्यगभीदिः, तस्य देहसंवन्धित्वेन श्वरशन्दिनिर्दिद्यतातः ; नापि मुक्तातमा, रुक्त्याद्यविषयत्यादित्यतस्त्व योगवृत्तिमभिषेत्य
मुक्तास्मर इत्याह अचित्संसर्गवियुक्त इति । योगवृत्तिमुवपादयति यः त्विति । वशादिदेहेति ।
ब्रह्मादिदेहस्वन्धायत्विचित्वसुखतुःस्वाधसाधारणाकारो न भवतीत्यर्थः । एतेन, 'स्वेन रूपेणाभिनिष्ययो'
(छा. ८. १२. २) इति श्वर्युक्तासङ्कुचितज्ञानैकाकारस्वलक्षणसाधारणाकारो भवतीत्युक्तं भवति ।
तथाच कृद्वविष्ठतीति कृदस्य इति त्युत्पत्तिपि सूचितो साधारणाकारत्वमेवात्र कृदसाद्दश्यतित भावः ।
अलाप्येकस्वनिर्देश एकोपाधिकोडीकारनिवन्धम एवेत्याह अलापिति । निर्देशः ... अभिदित इत्येतत् ,
पाकं पचतीतिवत द्रष्टवम् । उक्तार्थे हेत्यभिपायेण मुक्तास्मवहत्वं सत्रमाणमाह पूर्वमनादौ काल इति॥१६

अप्राप्तत्वादन्यत्वस्य विघेयत्वं वदन् तस्य प्रतियोगितापेक्षत्वात् प्रकृतक्षराक्षरपुरुषयोरेव प्रतियोगित्वापेक्षत्वात् प्रकृतक्षराक्षरपुरुषयोरेव प्रतियोगित्वापेक्षत्वात् प्रकृतक्षराक्षरपुरुषयोरेव प्रतियोगित्वापेक्षत्वात् प्रकृतक्षराक्षरपुरुषयोरेव प्रतियोगित्वास्त्र विध्यपरत्वासंभवेन अन्यत्वहेतु-परत्वनाह् सर्वाषु श्रुतिष्विति । "तस्त्वार्ष्ठितस्वयं । परमारमेति निर्देशहेतुस्वोपपादकस्वेनोत्तरार्धमवतारयित कथमिति । लोकशब्दस्य भुवनपरत्वे लोकत्वयं भूरादिलोकत्रयं लगमत्येपाताल्रलक्षणलोकत्वयं वा स्थात् । तथा च तद्यापनभरणयोः सर्वात्मत्वपर्यवित्तपरमात्मत्वोपपादकस्वेन विस्तराह्मकसर्वान्यत्वस्ताधकरत्वं न स्थात् । कृतकमकृतकं कृतकाकृतकमिति लोकत्वपरस्तेऽपि तलत्यपुरुषेषु लक्षणा स्वीकार्या; ततो वरं योगवृत्त्याश्रयणमित्यमित्रत्य व्याचष्टे लोकत्वपत इति लोक इत्यादिना । कथमचा

<sup>1</sup> अतेदं स्रोकद्वयं स्तोत्रभाष्ये (स्रो.12) व्याख्यातम्। 2 उपपादकत्वेनेत्यस्य साधकत्वेऽन्वयः।

लोकः ; तत्त्रयं लोकत्रयम् । अचैतनं तत्त्रसृष्ट्येतनो मुक्तयेति प्रमाणावनस्यमेतन्त्रयं य आत्मतया आविश्य विभित्तिं, स तसात् स्याप्याद्धर्तस्याचार्यान्तरभृतः । इतयोक्तालोकत्यदर्थान्तरभृतः ; यतः सोऽस्ययः, ईश्वर्धः ; अस्ययस्यभानो हि स्ययस्यभावादचेतनात् तत्संबन्धेन तदतुसारिणय चेतनादिक्तस्यगेग्यतया <sup>1</sup>पृत्रेश्वनिधनो हकाचार्थान्तरभृत एव । तथैतस्य लोकत्यस्थेधरः, ईश्वितस्यात तसादर्थान्तरभृतः ॥ १७ ॥

यसात् क्षरमतीतोऽहमक्षराद्यपि चोत्तमः । अतोऽसि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ -क्षुषयोर्बद्धमुक्तयोर्लोकनकर्मत्विमत्यतः आहं प्रक्षाणा**वग्र∓यमेतत्तय**मिति । य इति । 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' (य. आ. ३. ११), 'मर्ता सन् श्रियमाणी विमर्ति ' (य. आ. ३. १४) इत्यादिकमलाभिषेतम् । स इति । परभारमेति निर्दिष्ट इत्यर्थः, य इत्यस्य तत्परत्वात् प्रत्येकं विशेषणा-तदर्थस्थितिमात्रविवक्षायामत्रानपेक्षितोवत्या पदास्तरवैवध्योदित्यभि-नामन्यत्वसाघनसामर्थ्यात कर्मकर्त्तभावेन अन्यत्वोपस्थापकत्वम् . इतक्षेति । अत्र आवेशभरणेश्वरत्यानां प्रायेणाह अन्ययत्वस्य तु साक्षात्स्वाभावविरोघादित्यभिशायेणाह अञ्ययस्वभःबो हीति । एवमवान्तरवैषम्यं दुर्शियव्यति(19) अञ्ययस्यभावतया व्यापनभर्षेद्रवर्यादियोगेन चेति । तरुत्रवस्थेन तदनुशरिण इति । तद्धीनजन्मविनाशादिक्केशभाज इत्यर्थः ; तद्वत् ज्ञानसङ्कोचिवकासळक्षणविकारयोगिन इति वा । योग्यता नाम सहकारिसन्निधौ कुर्वत्स्वभावत्वं सहकार्यभावनयक्तकार्याभावकत्वं वा । सा च मुक्त स्याप्यस्तीति स्वभाविवरोधस्तताप्यविशिष्ट इत्याह अचित्संबन्धयोग्यतया पूर्वसंबन्धिन इति । <sup>2</sup>अनवच्छिन्नाव्ययस्वं मुक्तस्यापि नास्तीति भावः । ईश्वरशब्दोऽत नानुपयुक्तसंज्ञामात्ररूप इत्यभि-प्रायेणाह **तथैतस्ये**ति । अत्र आत्मरुक्षणान्तर्गतानुप्रवेशघारणनियमनानां कण्ठोक्तौ सार्थघारणादिवशादेव शेषित्वमि सिद्धचतीत्यमित्रायेण संग्रहश्लोके स्वाम्योक्तिः । तथाच तत्र नियन्तृत्वमुपळक्षणीयम् । एवम् 'अञ्ययस्वन्यापनमरणस्वास्यैः' इत्यनन्तराध्यायारम्भमाध्येऽपि द्रष्टव्यम् । यद्वा केवलनियन्तरवादिः विशिष्ठेप्वपीश्वरशब्दस्य प्रयुक्तचरत्वाभावात् स्वाम्योपश्चिष्टनियमनवेषे च निरूदप्रयोगत्वादीश्वरशब्देनैव होषित्वमप्युपस्थापितम् । अपिचात यः इति न्याप्तचाद्यनुवादे, 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्' (৩. ৩) इत्यादिपुरोवादपरामर्शात् तत्वकरणे 'मूमिरापः' (७. ४) इत्यादिनोक्तं रोषित्वमप्याक्रप्यत <sup>8</sup>इति 'पत्ति विश्वस्थारमेश्वरम् ' (ना) इति पतिशब्दस्थाने चेश्वरशब्दः प्रयक्त इति भावः ॥ १७ ॥

एवं प्रतिज्ञातमन्यस्व श्रुतिस्मृतिप्रसिद्ध धारवर्षया समाख्यया स्थापितम् । तदेव पुनस्तथामृतसमाख्या-न्तरेण उत्तमः पुरुष इत्यनुवादसमारितेन स्थिरीकियते यस्मादिति श्लोकेन । एतेन पूर्वश्लोके पराङ्ख निर्देशोऽपि स्वविषय एवेति दर्शितम् । अत्र यतोऽसाविशमान् , अत एव घूमवानित्यादिवत् साध्यमेव

<sup>1</sup> पूर्वसंविन्धनः पूर्वोक्तव्ययसंविन्धनः । 2 अनविच्छन्नतम्वयस्विमिति पाठे आत्मपदमनिवतम् । 3 आकृष्यत इत्येतदनन्तरम् इतिशच्दोऽधिकः । अन्यथा उपरि इतिचेति प्रयोक्तव्यम् । 4 धात्वर्येत्येव पाठे आत्मन्नव्यधकस्य आप्लुधातोरयों च्यातिर्या सा श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेति । अक्थम् ।

यसादेवमुक्तैः स्वभावैः क्षरं पुरुषमतीतोऽहस् , अक्षरात् मुक्ताद् पुक्तेहेंतुमिरुत्कृष्टतमः, अतोऽहं स्रोके वेदे च पुरुषोत्तम इति प्रथितोऽस्ति । वेदार्थावस्रोकनालोक इति स्मृतिरि होच्यते । अतौ स्मृतौ चेत्यर्थः । अतौ तावत् , 'परं ज्योतिरुपसंगद्य स्वेन रूपेणामिनिष्पदाते, स उत्तमः पुरुषः' (छा. ८. १२. २) इत्यादी । स्मृताविष, 'अजावतारं पुरुषोत्तमस्य द्यनादि-मध्यानतस्वस्य विष्योतः' (वि. ५. १७. ३३) इत्यादी ॥ १८ ॥

साघकं प्रति नियामकतया हेत् र्यपदिस्यते । तच साध्यं सहेतुकिमह समाख्यानिदानिनत्यिमिपायेणाह य सादि असकै स्व भावरिति । क्षरमतीत इति तत्वभावगन्धानात्रातत्वमुच्यते । अलापि क्षरशब्दः पस्त्रते कार्थ्याच प्रधानिषय इत्याह **क्षरं परुप**मिति । अक्षरशब्दस्य प्रधानेश्वरादिप्विप प्रयोगात् तद्यवच्छेदाय कूटस्थोऽक्षरः इत्युक्तैकार्थ्यमाह अक्षग-मुक्तादिति । एतेन पुरुषोत्तमशब्दनिरुक्तिरप्यत दर्शिता । उन्हें हुँ भरिति । "षष्ठी हेतुपयोगे" (अष्टा. २. ३. २६) इति नियमस्य <sup>1</sup>पयोजनरूपहेत्रविषयतयैव प्रयोगभाञ्चर्याच तृतीयानुपपत्तिः । **उत्तम**श्चदे प्रकृतिपत्ययभेदेन विवक्षितमाह **उत्कृष्टतम् इ**ति । मुक्तो हि बद्धादुत्कृष्टः : <sup>2</sup>ततोऽप्यसौ सर्वान्तरात्मत्वादिभिरुक्तैहेंतुभिरुत्कृष्टनमः । प्रथितशब्देन केवल प्रथनिवधेः प्रकृतानन्वयात् अस्विशेषणोऽसौ विशेषणोपसंकामीत्यनिप्रायेण पुरुषोत्तम इतीति इति-करणम् । नाल लोकरान्द्रो सुवनविषयो जनविषयो वा : तल प्रकृतिरुक्तिविवक्षापमाणत्वा संभवात । न च काव्यादिपयोगपरता : तलाप्यतितरां स्वारस्थाभावात् । अतो वेदसहपाठात् तदनुवर्ति-स्मृतिपरोऽयम् । तत्र च लोवयतेऽनेन वेदार्थं इति व्यस्पत्त्या इतिरित्यभिनायेणाह वेदार्थावलोक ादिति । श्रुती स्मृतौ चेत्यर्थ इति । अयमभिषायः — श्रुवतं नित्यमिति हि श्रुप्तः । अतो ववतृदोषपसङ्गामावादशिथिलसंपदायत्वाच ्द्रकं तावत् पासाणिकमेव। स्मृतिरप्यल्पश्रेतेर्द्ररवबोधसकल-शास्त्रानुगतमर्थं सङ्करव्योपबृहयन्ती प्रमासनममन्यादिवणीता प्रमाणमेवेति तया वेदार्थावलोकनं युक्तमिति ॥ ''परं ज्योतिरूपसंपद्य'' इति मुक्तोपसंपत्तव्यतया निर्दिष्टो निर्दिशयदीप्तियुक्तः पुरुष <sup>4</sup>एवात 'स उत्तमः पुरुषः' इति परामृश्य विशेष्यते ; तदुपबृहणाय हि, 'उत्तमः पुरुषस्वन्यः' इति तत्तस्यन्यस्तप्रयोगोऽयं पद्शित इत्यभिप्रयेण परं स्योतिरित्यादिवावयोदाहरणम् । अत प्रथिता पुरुपोत्तनः इत्यस्योक्तसमस्तपयोगपदर्शनार्थनया अञावतार पुरुपोत्तमस्येति समृत्युदाहानः। अत विष्णोरिति संज्ञानिर्देशेऽपि पुरुषोत्तमस्येति विशेषणैकार्थ्यन्य निवक्षितत्वात् योगरूढोऽयं शब्द इति सिद्धन् । एतेन "रूट्या त कामं पुरुषोत्तमोऽस्त्" इति प्रलपन् वेदबाद्यः <sup>ध</sup>प्रत्युक्तः ।

<sup>1</sup> प्रयोजनेति । यथा अन्नस्य हेतोर्थसर्ताति । 2 उत्कृष्टतरो नित्य इति मध्ये भाव्यम् । 3 झरा-झरातीतत्वस्य केनलप्रथासाधकत्वाभावात् अत इत्युक्तस्य साध्यत्वस्य पुरुपोत्तमत्वविशिष्टप्रथा-विशेषणे पुरुषोत्तमत्वेऽस्वय इति भावः । 4 स उत्तमः पुरुष इत्यस्य अभिनिष्पत्तिकर्तृत्या पूर्व-वाक्योक्तजीवपरत्वं न युक्तमिति भावः। 5 वेद्वाह्यः द्वावः इरद्तः ।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्यज्ञति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ य एवम् उक्तेन प्रकारेण पुरुषोत्तमं भामसंमुढो जानाति श्वराक्षरपुरुषाभ्याम् , अन्यय-

ननु कथ यौगिकार्थविवक्षायामस्य सांधुता, न तावदसौ समानाधिकरणसमासः, ''सन्महत्परमोत्तमो-त्कृष्टाः पूज्यमानैः'' (अष्टा. २. १ ६१) इति प्रथमानिर्दिष्टस्वोत्तमशब्दस्वोपसर्जनतया पूर्वनिपातापातात् । नापि व्यधिकरणसमासः, उत्तमः पुरुष इवेल्युपमितविवक्षानुपपतेः ; तदर्थतयोदाहृतायां श्रुतावपि वैयधि-करण्यादर्शनात् । न चासौ षष्टीसमासः, निर्धारणे तिचिषेषात् । न चान्यस्या पीह संभव इति — मैवम् ; षष्टीसमासस्यैयात युक्तस्वात् । न हि वयमत्र निर्धारणार्थतां त्रुमः। पुतादिवत् संवन्धिशब्दो ह्यसौ। अधमादि-सापेक्षं ब्रुत्तमत्वम् । इदं च स्चितम् उक्तेहेंतु भरुत्कृष्टतम् इति । जातिगुणादिसंवन्धिशन्देषु हि निर्धारणे षष्टी । संवन्धसामान्यविहिता च षष्टी तत्तरसंबन्धिशब्दसमभिन्याहारान्ररोधेन तत्संबन्धविशेषं प्रतिपादयति । एवमेव हि नागोत्तमादिशब्दानां साधुरवं वैयाकरणैटर्यास्यातम् । अस्र च 'उत्तमःपुरुषस्वन्यः', 'क्षरमतीतो-Sहमक्षरादिष चोत्तमः' इति च अर्थकथनमात्रम् ; न तु तत्समासांशद्वयविवक्षा। एवमेव 'स उत्तमः पुरुषः' इति श्रुत्युदाहरणमपि । केचित् पश्चमीसमासं व्याकुर्वते । न चोत्तमशब्दयोगे पश्चमी न शिष्टेति वाच्यम् : यथा 'यस्माद्धिकम् ' (अष्टा. २. ३ ९) इत्यादिसौत्रत्रयोगादिशष्टस्यापि परिमहः ; एवम् अक्षसादिष चोत्तमः इत्यादिपयोगवलादेव तत्परिप्रहोवपत्तेः । <sup>2</sup>इदमपि सूचितम् **मृक्ताद्प्यक्तैहेत्भिरुत्कृष्टतम** इति । योगविभागाच पश्चम्या उत्तमादिशव्दैस्समासोऽप्यनुशिष्ट एव । एवं सप्तमीसमासत्वेऽपि न दोषः, शौण्डादिप्यपठितत्वेऽपि तत्नापि योगविभागाभ्यनुज्ञानादेव तदुवपते: । एतत् सर्वं विज्ञानद्भिः र्महाकविभिरिप विवक्षितयोग एवायं प्रयुज्यते <sup>अ</sup>प्रतिपाद्यते च । तथाऽऽदिकान्ये, "न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः" (रा. बा. १८. २९) इति । तदेतत् सर्वमिसस्याय मगवयायनम्निमिरुक्तं स्तोत्रे. (12) "कः पण्डरीकनयनः परुषोत्तमः कः" इति ॥ १८ ॥

एवं पुरुषोत्तमशब्दिनिवनं तथाऽनुचिन्तनार्धिमिति व्यक्षयम् पुरुषोत्तमस्ववेदनं स्तौति यो मामेविमिति स्टोकेन । पुरुषोत्तमस्वेन जानातीति विवक्षायाससंमृद्धयतैर्थनयम् । अत एव पुरुषोत्तमं .... मामित्यर्थस्थिति विवक्षायाससंमृद्धयतैर्थनयम् । अत एव पुरुषोत्तमं .... मामित्यर्थस्थिति विवक्षयाससंमृद्धयतैर्थ जानातीत्यनेनोत्त्यते । तदाह य एवमुक्तेनेति । एकोकृत्य मोहरहितस्वमसंमृद्धस्वम् ; तच पूर्वोक्तस्यकारान्यस्वानुसन्धानादित्याह क्षराक्षरेति । एवमसंमृद्धाब्देन परामिमतजीवेश्वरैत्वयवेदनस्य आन्तिक्षपस्य प्रकृतिपुरुषेश्वरभेदस्य पारमार्थिकस्य च ब्यक्षितम् । स सर्वविद्यत्यत्व पुरुषोत्तमशब्दार्थवेदनेनाष्टादशिवद्यास्थानादिवेदना-सिद्धेः, अत चानपेक्षितकेशकीटादिसङ्खयावेदनेन स्तुत्यसंमवात्, तस्य मञ्जति मां सर्वभावेनेत्यत

<sup>1</sup> अन्यस्यापीति । हेतुपञ्चम्यादेरित्वर्थः । 2 पुरुषशब्दः क्षराक्षरपुरुषमात्रपर इति भावः।

<sup>3 &</sup>quot;अधिगत्य जगत्यधीश्वराद्य मुक्तिं पुरुषोत्तमात् ततः" इति नैपधीये अर्थद्वयविवक्षणात्।

<sup>4</sup> अर्थस्थितिमिति । सिद्धतया उदेङ्यविशेषणीकरणःत् पुरुषोत्तप्रवज्ञानमिदं व अग्ररूपम्, नाष्याहार्यदृष्टरूपमिति दढीभवति ।

स्वभावतया व्यापनभरणेश्वर्यादियोगेन च विस्तजानीयं लानाति, श सर्ववित् मत्प्राप्त्युपाय-तया यत् वेदितव्यं तत् सर्वे वेद ; भजति मां सर्वभावेन-ये च मत्प्राप्त्युपायतया मद्भजनप्रकाग निर्दिष्टाः तैश्व सर्वेभेजनप्रकारेमाँ भजते । सेंवेमीद्वपयेवेदनैमेन या प्रीतिः, याच मम सर्वेमीद्वपये भजनैः, उभयविधा सा प्रीतिरनेन वेदनेन मम जायते ॥ इत्येतत्पुरुपोत्तमस्ववेदनं पूजयति-

इति गुहातमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनय। एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ २० ओंतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषद्ध....पुराणपुरुपोत्तमयोगो नाम पश्चदगोऽध्यायः॥ १५॥

इत्थं मम पुरुषोत्तमस्वत्रतिपादनं सर्वेषां गुह्यानां गुह्यामिनदं श्रास्त्रम् , 'त्वमनघतया योग्यतमः' इति कृत्वा मया त्वोक्तम् ।

मन्द्रप्योजनत्वाच भजनानुष्ठानोपयोगिविषयतया नियच्छति मृत्यारस्युपायतयेति । भजनिक्रयायशीकृतः सर्वभावशब्दो भजनावान्तरभेदतथा प्राक्षपिवनक्षितंनयतनादिप्रकारपरः । 'वासुदेवस्सवेम'
(गी. ७. १९) इत्याद्यर्थविवक्षातोऽप्ययमेवार्थः स्तुत्युपयोगातिशयात् इहोपादेय इत्यमित्रायेणाह
ये चेति । भावशब्दोऽत्र कियावाची पदार्थमात्रवाची वा सन् प्रकाराच्यविद्येगे विश्वान्तः । नन्वत्र
तत्त्वहितवेदनं हितानुष्ठानं च शाख्यस्यं विवक्षितम् । तत्र न तावत् पुरुपोत्तमत्ववेदनमेव परय्यूहविभवगुणचेष्ठितादिसर्ववेदनं सर्वविधमजनकरणं च, स्वरूपान्यथात्वात् । न चारोप्य स्तुतिः,
अमूर्जितत्वात् ; निष्फलत्वाच । न चात्र हेतुफलमावविवक्षा, 'एनद्वुध्या बुद्धिमान् स्यात्' इत्यनन्तरेण
पौनरुवत्यात् । अतो निरर्थकमिद्दमित्यताह सर्वेभिद्विषयैरिति ॥ विद पुरुषोत्तमत्ववेदनमात्रेण भगवतस्तर्वविधा प्रीतिर्जायते, तर्हि मजनाद्यनुष्ठानविधिवयर्थ्यम् ; तत्नाह इत्येगदिति । सर्वासां प्रतीतीनामेतदेव हि मूलकारणम् । फलसाम्याद्वा सर्वस्य विदितत्वकृतकृत्यस्ववचनमिति भावः । इरयेतदित्यादिकमत्तरस्थोकावतारिका वा ।

रहस्यतया गोपनीयतमत्वं पारमार्थिकत्वं फलपक्षं च व्यञ्जयन् निगमयति इति गुद्धेति श्लोकेन। एतदेव गौताशास्त्रिनगमनिमिति वदतां प्रतिक्षेपायाह पुरुषोत्तमत्वप्रतिपादनिमिति । पञ्चदशोऽध्याय इत्यर्थः । अन्येति संबुद्धिरिधकारिस्चनार्थेत्याह अन्यतया योग्यतम इति कृत्वेति । एवं भारतसंबुद्धिरिष जन्मतोऽधिकारित्वस्चनार्था । इद्मिति । अस्य वक्ता श्रोता च दुर्लमः इत्यमिप्रायः । इद् शास्त्रान्तरेभ्य उत्कृष्टतमिति वा । उक्तं चाभियुक्तैः । "यसिन् प्रसादयुमुखे कवयोऽपि ते ते शास्त्राण्यशास्त्रिहित तन्महिमाश्रयाणि । कृत्णेन तेन यदिह स्वयमेव गीतं शास्त्रस्य तस्य सद्दर्शं किमिहास्ति शास्त्रम् ॥" इति । मया वक्तव्यतत्त्ववेदिना, त्वदिधकारवेदिना, तव सस्त्या चेत्यर्थः । प्रामुक्तशास्त्रानुवादताश्रमव्युदासायाह तनोक्तमिति । "सा विद्या या विमुक्तये.... विद्याऽन्या शिल्यनैपुणम्" (वि. १. १९–४१) "तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्" (वि. १. ५९. ८७)

गीतार्थसंग्रहरक्षायामेतदनुवादोऽस्ति(1)तत्र 'ये ते' इति, 'किमिवास्ति' इति च पाठः ।

एतद्बद्धा बुद्धिमांस्थात् कृतकृत्यथ-मां प्रेप्तुना उपादेया या बुद्धिः सा सर्वा उपात्ता सात् ; यच तेन कर्तव्यम् , तत् सर्वे कृतं स्थादित्यर्थः । अनेन श्लोकेन, अनन्तरोक्तं पुरुषोत्तम-विषयं झानं शास्त्रजन्यमेवैतत् सर्वे करोति, न तत्त्वाक्षात्काररूपमित्युच्यते ॥ २० ॥ इति श्रीभगवद्यामानुजविरचिते श्रीमदीतामाच्ये पञ्चदशोऽस्थायः ॥ १५ ॥

## ॥ अथ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अतीतेनाध्यायत्रयेण प्रकृतिपुरुषयोर्विविक्तयोः संसृष्ट्योश्च याधारम्यं तरसंसर्गिवियोगयोश्च गुणसङ्गतद्विपर्ययहेत् [क]त्वम् , सर्वधकारेणावस्थितयोः प्रकृतिपुरुषयोभेगव-द्विभृतित्वम् , विभृतिस्तां विभृतिभृताद्विद्वस्तुनश्चद्वस्तुनश्च बद्धम्कोभयरूपात् अव्ययस्वव्यापनभरणस्वाम्येरधान्तरत्वा पुरुषोत्तमत्वेन याधारम्यश्च वर्णितम् । अनन्तरम् , "एतज्ज्ञानिर्मति प्रोक्तमज्ञानं यवतोऽन्यथा" (गी १३.१२) इत्यादिभिरन्यासां बुद्धीनाम् अवुद्धि-प्रायतोक्तिरहं बुद्धिशव्दविविक्षतमाहं मां प्रेन्सुनोपादेचेति । कृत्यशव्दोऽप्यत्व सुमुक्ष्वपेक्षितिविषयः । तस्यैव, "तत्कर्म यत्र बन्धाय" (वि १.१९.११) इत्यादिषु प्रहणात् , अन्येषां च , भायासायापरं कर्मः इति निन्दनादित्यभित्रायेणाहं यच्च तेन कर्त्वव्यमिति । प्रस्तुतोऽर्थस्वज्ञानं वाडत्व प्रशंसनीयम् , किमत्व शास्त्रप्रमृत्यावत् प्रवृद्धेक्षेत्रप्रमृति । अत्तर्भित्तेति । अयमभिषायः— सार्थकश्चास्त्रज्ञानं श्वस्या एतद्भुद्धेत्वमृत्वते । अतोऽर्थज्ञानं एव तात्पर्यम् । तत्न शास्त्रशव्यम् सार्थकश्चास्त्रवाद्यापि ज्ञानस्य पतद्भुद्धेत्वमृत्वते । अतोऽर्थज्ञानं एव तात्पर्यम् । तत्न शास्त्रशव्यम् सार्विद्यादेश्च अर्थेवयमभितस्याय[पि] पुनरुक्तिपरिहारश्चात्र कृतः । मान्त एतद्वुद्धा स्वमिष कृतकृत्व इति च भावः ॥ २०॥

इति श्रीमद्वीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

तृतीयपर्कस्य विकमेदादिप्रकारः त्रागेवासामिः पपित्रतः । तत् विकमेदं प्रदर्शे विमिस्सङ्गतत्या वोडशमवतारियतुं तत्त्वत्वविशोधनपरस्य त्रयोदशादितिकस्यार्थं कमादनुवदित अतीते-नाध्यायत्रयेणेति । गुणसङ्गतिद्वपर्यपहेतुकत्विमित पाठः । कपत्ययपयोगामावेऽप्यत्न बहुत्रीहित्वमेवेति । इति गुक्षतमं शास्त्रमिति पृविध्यायान्ते शास्त्रमुपक्षितम् । अनधभारतशब्दाभ्यां च तदिधिकारी स्वितः । स एव हि 'मा शुवस्तपदं दैवीमिनजातोऽसि पाण्डवः (५) इति वश्यते । तत्वोक्ताशिव्यवसायस्य शास्त्राध्यावात् पुरुषस्य शास्त्रवश्यतं तावत् वक्तन्यम् । तच्च ''तस्त्राच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्योकार्यवययस्थिते । ज्ञात्वा शास्त्रविश्वाचिकारेकिक कर्म कर्तुमिहहिसि' इत्यध्यायान्ते वश्यते । तद्श्येमय च पूर्वाध्यायान्तस्विताधिकारिविहोषविवचन्याय अत्राही देवासुरविभागोक्तिः । तदिभागयेण

उक्तस्य क्रन्स्रस्थार्थस्य स्थेन्ने शास्त्रवश्यतां वक्तुं शास्त्रवश्यतद्विपरीतयोर्देवासुरसर्गयोर्विमागं [श्रीभगवानुवाच]

श्रीभगवानुवाच-

असयं सत्वसंशुद्धिज्ञानयोगव्यवस्थितिः । दानं दमश्च यज्ञश्च खाध्यायस्तप आर्जनम् ॥ १ अहिंसा सत्यम्कोधस्त्यागःशान्तिरपैग्रुनम् । द्या भृतेष्वलोकुष्वं (लुःवं) मार्वं द्वीरचापळम्॥ तेजः क्षता धृतिःशौनमदोहो नानिमानिता । भवन्ति संपदं दैवीमिमजातस्य भारत ॥ ३ इष्टानिष्टिवयोगसंयोगरूपख दुःखस्य हेतुदर्शनंज दुःखं भयम् , तिन्नृत्त्त्रसम्यम् । सत्त्वसंशुद्धिः सन्वस्यान्तःकरणस्य रजस्तमोभ्यामस्पृष्टत्वम् । ज्ञानवोगव्यवस्थितिः प्रकृतिविश्वप्रतान्त्रस्थर्षितिः प्रकृतिविश्वप्रतान्त्रस्थर्षितिः प्रकृतिविश्वप्रतान्त्रस्थर्षितिः प्रकृतिविश्वप्रतान्त्रस्थर्षितिः प्रकृतिविश्वप्रतान्त्रस्थर्षितिः प्रकृतिविश्वप्रतान्त्रस्थर्षेति विश्वपानिस्पर्शतिम्, "दैवासुरविभागोक्तिपूर्विका शास्त्रवश्चता । तत्त्वानुष्टानिवज्ञानस्थेक्षे षोडश उच्यते" (सं २०) इति । तदेतत् सर्वमभिनेत्याह अन्तर्नाति । उक्तस्य कृत्सनस्थर्षेत्रवेति वश्वमाणस्थानुष्ठानिववेकस्थाप्युपळक्षणम् । उक्तैकदेशिक्षशोधनरूपत्वाद्वा तद्विवक्षा । संग्रहस्थिकोक्तानुष्ठानमपिकृतस्यस्येति विशेषणेन अन्तर्भिवितम् । हेथोपादेयस्थमावक्ष्यनस्य हानोपादानार्थतया फिलतमाह् शास्त्रवश्यते वक्तुमिति । शास्त्रवश्यस्य हे देवासुरविभागोक्तिः कुलोपकुरुते ; तत्नाह शास्त्रवश्यम् । तदाज्ञातिकामिणोऽस्तरस्येन निगृद्धन्ते ; अतस्त्रथा नितिव्यम् । तदाज्ञातिकामिणोऽस्तरस्ते निगृद्धन्ते ; अतस्त्रथा न वर्तितव्यम्। तदाज्ञातिकामिणोऽस्तरस्येन निगृद्धन्ते ; अतस्त्रथा न वर्तितव्यम्। तदाज्ञातिकामिणोऽस्तरस्ते निगृद्धन्ते ; अतस्त्रथा न वर्तितव्यम्। तदाज्ञाति । स्वाव्यव्यव्यव्यमाणसर्गोशक्वतेपाद्वावयः ।

विभागोऽत्र गुणिकयादिभिवेद्यमाणैः । "यया खप्नं भयं शोकम्" (गी. १८. ३५) इत्यादिभित्तमश्शीलं हि भयम् ; तत् सात्त्विकत्य देवसगस्य न भवतीत्यभिप्रायेण भयनिरूपणार्थं तत्प्रतियोगलरूपं शिक्षयति इष्टानिष्टिति । वियोगसंयोगशन्दौ इष्टानिष्टाभ्यां यथाकममन्देन्नयौ । इदं च खरूपकथनम् ; न तु भयलक्षणानुपविष्टम् ; आगामितुःखहेतुद्रशंनजं दुःखिमत्येव हि तत् । सन्त्रभंशुद्धिः सत्त्वाधिष्ठानमन्तःकरणमिह सत्त्वम् ; तस्य समीची निशुद्धिः संशुद्धिः, सवैदोषनिष्टतिः । तल कन्द्रभूतरजन्तमोनिष्टत्या कामरागास्यावश्चनादिसवैदोषनिष्टतिमभित्रेत्याह् गज्ञत्तमोभयामस्पृष्टरविति । ज्ञानयोगश्चन्दोऽत्व न कर्मयोगादीनां त्यवच्छेदार्थः, तेषामिष सात्त्विकोषादेयत्वात् । अतः कर्मज्ञानभक्तीनां साधारणं शास्त्रीयं शुद्धात्मलरूपविचेचनिष्ट विवक्षितमित्याह प्रकृतिवियुक्तिते । ज्ञानमेवात्रोपायत्वात् योगः । यद्वा शास्त्रजन्त्रभानित्पादं चिन्तनं ज्ञानयोगः । न्यायार्जितेत्यादिकं दानस्य शास्त्रीयाकारप्रदर्शनम् , अनेवकरणस्य राजसतामसत्वेन वक्ष्यमाणस्वात्। वैपत्व यथाविभवमनुस्ययेयम् । दमनं दमः , तचान्तःकरणकर्भकम् अमार्गालिवर्तने प्रकरण[न्तरा]दिसिद्धमाह मनस इति ।

<sup>।</sup> वक्ष्यमाणैरिति । अष्टमश्लोकमारभ्येति आदिः । तमक्क्षीलम् , तामसीति तबोक्त्या तमसः स्वभाव इत्यर्थः । 2 एतच दानञ्ज ।

न्मुस्यिनिश्चित्तंश्रीस्यन् । यजः फलःभिसन्धिगहित अगवदाराधन स्पमदायज्ञा धनुष्टातम् । स्वाध्यायः सिवभृतेभगवतस्तदाराधन प्रकारस्य च अतिपारकः कृग्स्रो वेद इत्यनुसन्धाय वेदाबाधिन्द्रयनियमने हि शान्तिश्चित्तं वस्यति । एतेन गैकषां चित् अनयोश्शब्द्रयाच्युं सम्पाणि (वर्ः)
व्याख्यानं निरस्तम् । 'यज्ञते नामयज्ञैस्ते दग्मेनाविधिपूर्वकम्' (१७) इत्यानुरयज्ञानां वश्यमाण
त्वादत्त मोक्षपकरणेऽभिमते सान्त्वकं यज्ञविशेषमाह फलःभिसन्धिग्रहितेति । समस्तनित्यनैभिति
कोषक्षणतयाऽत्र यज्ञोपादानिमिति शादिश्चादः । अपकृष्टदेवताविषयस्य अश्यमक्तमः विधायकस्य च वेदमागस्य यावानर्थे उद्यानग्यायात् मुमुक्कुणाऽनभ्यसनीयत्वमाशङ्कय तक्षापि
त्वर्णिकवेदाभ्यासात् व्यावृत्ति प्रकरणक्ष्यमाहः सविभृतेरिति । "सर्वे वेदा यत्यदमामनन्ति"
(क. २. १५.), "सर्वे वेदा यत्वकं भवन्ति" (य. आ. ११.१) इत्यादिकमेणानुसन्धाय पठतः उपनिषदभ्यासविधिप्रयुक्तस्य सर्वे पणवाष्टाक्षरपञ्चसरद्विष्ट्कनिष्टेतुनिषदभ्यासकश्पमित्यमिमायः ।
एतेन "अग्या वाचो विमुध्य" (मृ. २. २. ५) इत्यादिकमप्यन्यतं <sup>अ</sup>निश्चन् , "ओमिरयेवारमानं ध्यायथ" इति ध्यानदशायां मणवस्येवोपादेयत्वे तारपर्याच । यद्यपि <sup>अ</sup>न्वेनाधीयत इति स्वाध्यायः—
सशाखाः तथापि "न चैकं प्रति शिष्यते" इति न्यायात सर्वशाखानुगतस्यार्थस्वातु सर्वययत्वात् ,

न जु 10.4. क्लोके दमो बाह्यकरणनियमनं, शमः अन्तः करणनियमनमिति व्याख्यातम्। 18. 42. क्योंके, अत्र चान्यथा। कथमेवमिति चेत्—तत्रत्यतात्पर्यचन्द्रिकावधाने इयं शंकैव हाक्तम् , शमदमशन्योरेकैकस्योभयनियमनाभिधानसामर्थ्यसङ्खावात नोत्तिप्रति । तव पौनरुक्तवपरिहाराय विषयभेदो वक्तव्यः । अतो बाह्यान्तरभेदेन नियमनविवक्षा । तत्र वाह्य-नियमनस्य प्राथम्यात् स प्रथमदमशव्दार्थस्तवः द्वितीयं द्वितीयशमशब्दार्थः । एवञ्च यव शमो दम इति व्यत्यस्य प्रयोगः, तत्न शमशब्दो वाह्यनियमनपरः, दमशब्दो द्वितीयपर इत्यर्थसिद्धम् । अत एव (18, 42) रहोके हामो बाह्येन्द्रियनियमनं दमोऽन्तःकरणनियमनम्" इति भाषिप्यते। एवं तहीत पोडरो तत्कामोहांघनं कथिमिति प्रकास्तरवस्थ इति चेत्-तरत समाहितम्, "प्रकरणा न्तरा दिसिद्धम्" इति, वाह्येन्द्रियेत्यादिना च । शत्रद्रमशब्दयोरर्थविशेषव्यवस्थितत्वाभावे सिद्धे प्रथमस्य प्रथमं ब्रह्णमित्युत्सर्गः, यथा शान्तोदान्त इत्यतः। प्रकरणादिरूपे अपवादे अन्यथाऽपि : उभयस्योभयार्थत्वसंभवादिति भावः। अहिंसेतिगदस्य वाह्यकियाघटितार्थगरतायाः दर्शनातः तादशार्थपरत्यागशञ्चापैश्चनशञ्चमध्यनिविष्टत्वाच शान्तिशञ्चो वाह्यनियमनखरसः । अतो दमस्त-दन्यः। दानमिच्छाविशेष इति व्युत्पत्तिवादे : यहो यागो मानसाशयविशेष इति भाट्टरहस्ये। तन्मध्ये निविधो दमोऽपि मानसपरो भवितमहीति । कश्चित पृच्छित दशमोक्तरीत्याऽत्राप्यर्थवर्णने शांकरैकरस्यमपि स्यादिति तत्नाह एतेनेति । शानदमशब्दयोर्मनस्तदितरेन्द्रियसंबन्ध्यर्थकत्वव्यवस्थायां प्रमाणे स्ति हि असाङ्गाध्यकृतामत्रत्यव्याख्यानव्युक्तमेण तदर्थवर्णनं संप्रन्तव्यं स्थातः तदेव नेति। एवमन्यद्पि भाव्यम् । अत स्थलत्रयगतचिन्द्रकाग्रन्थाक्षरावधानप्रितवन्धकाभिनिवेशश्चाभितमनसो दृषणारोपणेन धन्यसान्यस्यौद्धत्यमिकञ्चित्करम् । व्यत्क्रमेणेत्यस्य असम्द्रः।पदद्यावत्यव्यास्यान-2 निषत्-एकायनैकदेशः। 3 नियृत्तिमिति । वेदविषयकत्वादिति व्यक्तमेणेत्यर्थः । आदि:। अन्यो वा पाठ:। 4 स्वेनेति । पूर्वपुरुषरूपस्वकवंशेनेत्यर्थ:।

भ्यासिविष्ठा । तपः कुच्छचान्द्रायणद्वादश्यपवासादे भैः वत्त्रीणनव भैयोग्यतापादनस्य करणम् । आर्जियम् मनोवःक्कायवृत्तीनामेकिन्छता परेषु । अहिंसा परपीडावर्जनम् । सत्यम् यथा-दृष्टार्थगोचरभृताहतवाकयम् । अक्रोधः १२वीडाफलाचत्तविकाररहितत्वम् । त्यागः आत्म-दितप्रस्थनी इर्गारग्रहविमोचनम् । शान्तिः ःन्द्रियाणां विषयप्रावण्यनिरोधसंशीलनम् । अपैग्रुनम् पशनर्थक्षत्रवाक्यनिवेदनाकरणम् । दया मृतेषु -- सर्वभृतेषु दृःखासहिष्णुत्वम् । अलोलुप्त्वम् अलोलुप्त्वम् । अलोलुर्वामिति वा पाठः ; विषयेषु निम्स्पृहस्विमित्यर्थः । मार्द्वम् जपविधेश्च सर्वताविशोषात् वेराभ्याः निष्ठेति सामान्येनोक्तम् । शास्त्रीयो भोगसङ्कोचन्त्रप् इति स्रक्षिते तिद्विशेषान् उदाहरति कुञ्छेति। "एक्सुक्तेन नक्तेन तथैगयाचितेन च। उपवासेन दानेन न निद्वीद्शिको भवेत्" (१ अ. स्मृ. न. १२४) इत्यादिविहितद्वाद्शीसमाराधर्भौकाद्वस्यपवासोऽत द्वादरहापवास इत्युक्तः । यद्वा विधिन्नतेषु विधिद्वयत्रते च द्वादरसूपवाःनीऽप्यस्त्येव । आदिशव्देन करणत्र यनिष्पाचानां वक्ष्यमाणानां तपसां महणम् । राजसतामसमाद्यपत्र धितपोव्यवच्छेदार्थमाह भगवन्त्रीणनकर्त्र ोरकारपादनस्येति । तपसा शुद्धस्य धर्चनादिन्यथिकारः । अलान्येषामिष् करणत्रयम्य स्वस्मिन् ऐकरूप्यात् तद्यावृत्तर्थमाह परेष्ट्वति । कौटिल्यपसङ्गस्यले हि तन्निवृत्तिवेकः-व्येत्यभिषाय: । परपीडाक्जनिमिति स्वपीडोपलक्षणम् । स्वरीडाऽपि मूर्खाणां परपीडाभिषायेति वा भाव: । यथादृष्टार्थयचनेनैव सत्यवादी भवति ; तथाऽपि ''सत्यं भूतहितं शोक्तम्'' (व्या. स्पृ) इति निय-मात भनहिरोक्तिः । पःषीडाफलेति पाम्बत् भान्यम् । खनाव-अर्थः शास्त्रनातानां निद्रा-अज्ञनः महायज्ञ-इण्ड-कृण्डिकादीनां त्यागाथीगात् विशेषे नियच्छति अत्**मांहेत्प्रत्य**ीकेति । दमशब्देन मनोनियमनस्थोक्तत्वात्, "शान्तो दान्तः" (ष्ट. ६. ४.२२) इत्यादिन्त्रिय झानितरिह बाह्येन्द्रियगते त्यभिषायेणाह इन्द्रियाणामिति । अस्तोधाहिनानिष्यव प्रतियोगिलक्षणद्वारेण अपैशुनं लक्ष्यति परान केंति । दमेरयेतावना . मृतविषयत्वे सिद्धेऽपि पुनरुपादानं बहुवचनं च श्लुमिलादिस्वविषयामि प्रायेण । प्रथोक्तं गौतमेन, "....दया सर्वमृतेषु क्षान्तिरनसूत्रा शौचमनायासो मङ्गळमकार्वण्यमस्पृहेति" (गौ. घ ७. १०) इति। अन्यत्न च, "सर्वमृतदया पुष्पम्" (पाद्मपु. ७३. ५७) इत्यादि। तदाह सर्व-भृतेष्विति। "तापत्रयेणाभिहतं यदेतदस्थिठं जगत् । तदा शोच्येषु भृतेषु करुणां न (द्वेषं प्राज्ञः) करोति कः ॥'' (वि. १. १७. ७०) इति हि करुणारूथचितपरिकर्म प्रहादः पाह । दुःखामहिष्णुत्वं --तिवराकरणेच्छेत्यर्थः । छिषिधातौ यङ्छगन्ते किपि कृते छोऊिनि पकारान्तं पदम् ; अचि कृते तु छोछप इति ; तत् व्यक्षयति अस्रोह्यप्तवम् अस्रोह्यपत्विमिति । 'ख्ल् छेदने' इति घातौ स्रोह्य इति यङ्ख्यान्तम् । तल "त्वे च" (अष्टा. २ं. २. ६४) इति च्छान्दसं हलम्मिमेल्याह<sup>2</sup> अलोलुत्व-

अन्येषामिष-दैवसम्पद्गहितानामिष ।

<sup>2</sup> अलोलुत्विमिति पाठः न राष्ट्रसापुत्वाय खयमुङ्खिखितः । किंतु कचित् दप्ट इति ध्येयम् । अन्यथा अलोलत्विमत्यप्युङ्खिख्येतेति भावः । पतदाशयेन उपिर लौत्यपदम् ।

अकारिन्यम्, साधुजनसंश्लेषाईतेत्यर्थः । हीः अकार्यकरणे बीडा । अचापलम् स्पृहणीयविषय-सन्निधी अच्छलरवम् । तेजः दर्जनैरनिधमवनीयस्वम् । क्षमा पर्रातितत्तपीडानुभवेशीप परेषु तं प्रति चित्तविकाररहितता । धृतिः महत्यामप्यापदि कृत्यकर्तव्यतावधारणम् । शौचम् बाह्यान्तरकरणानां कृत्ययोग्यता शास्त्रीया । अहोहः परेष्वनुपरोधाः ; परेषु खच्छन्दपृत्ति-मिति वा पाठ इति । अयोग्यस्प्रहारूपं छौल्यमिह निषिध्यत इत्यमिमायेणाह विषये विनि। मुख्यस्य माईवस्यालानन्वयात् पूर्व(रिमतपूर्वक)भाषित्व-मुखसौन्यत्वाद्विवक्रचमौपचारिकं दर्शयितुमाह अकारिन्यमिति । कठिनं हि द्रव्यमन्येषामनुप्रवेशान्हीम् : तद्वदिह् स्तव्धप्रकृतिरिति तद्यतिरेक-विवक्षया फळतो माईवं व्यनक्ति **साधुजने**ति । अवमतत्वादीनां योगोपकारकत्वात् तन्म्*र*ा त्रीडा सत्त्वनिष्ठानामयुक्ताः अतः उपयुक्तं हीविशेषमाह अकार्यकारणे ब्रीडेति । प्रख्यातामिजनविद्याष्ट्रता हि महान्तः परेप्यप्यकार्यकारिप्यपत्रपन्ते : स्वयं तु किसुतेति भावः । <sup>1</sup>अलोलुपत्याचाप्रस्य-योरपौनहवत्यायाह स्पृहणीयविषयंस्रान्नधाविति । एतेन किडापरिहासमृगयाक्षादित्वप्रसङ्गोऽपि द्र्शितः । मृतेतर्विषयरत्रेजद्मशब्दः पराभिभवनसामर्थ्ये अन्यानपेक्षतायां वा प्रयुज्यते । अतोऽत्राभि-भावकत्वाविनासूतमनभिभवनीयत्वं विवक्षितम् । तच दुर्जनावकाशप्रदायिकार्पण्यामावद्वारेत्यभिशायेणाह दुर्जनैरिति । अक्रोधात् क्षमायाः विशेषं दर्शयति पर्शनिमत्तपीडानुभवेऽपीति । निरपराधेषु निर्विकारता बौदासीन्यमालस् ; न तु क्षमा ; पठ्यते च निरपराधेष्विप क्रोघः, "ब्राह्मणा गणिका वैद्याः सारमेयाश्च कुक्कटाः । दृष्टमात्रेण कृप्यन्ति न जाने तत्र कारणम् " इतीत्यमिशायः । परेषु तं प्रतीति । परेषां पीडालुक्वं अतीत्वर्थः । भयचापळिनिष्टतेः पृथगुक्तत्वाद्यस्थिनायामपि महत्यामापदि शास्त्रीयानुष्ठानसंकरपस्य अप्रच्युतावल्रम्बनिम्ह सान्त्रिकी धृतिरित्यभिप्रायेणाह **महत्या**मिति । <sup>2.</sup>'महत्यापदि संपाप्ते सार्तव्यो भगवान् हरिः'' (भा. स ९०. ४२) इति क्षुकरमुख्यकर्तव्या परित्यागादितरदपि कर्तेच्यं क्रतमेव हि स्यादिति भावः । वश्यति च सात्त्विकीं धृतिम् , ''धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सान्तिकी'' (१८.३३) इति । योगेनाव्यभिचारिण्या कोलन वन वन्तरावरण व दृश्यक्ष न महत्रवी प्रदेन [नित्यानुगतया १] प्रयो-जनान्तर्निरपेक्षयेत्वर्थः । शरीरवाक्ष्यनांसि चमुचिष्टुन्यम् सर्गमृचिष्ट्यमेशयोगाजित्यव्यवन्तस्यानि तेषुतेषु कर्मखयोग्यानि शास्त्रैः शिप्यन्ते ; तद्भावोऽत्र शौचिमित्याह बाह्येति । प्रत्यक्षसिद्धकरणपाटवादिरूपः क्रत्ययोग्यताच्यवच्छेदायाह **शास्त्रीये**ति । अहिंसाया उक्तत्वादद्रोहस्य ततो विशेषप्रदर्शनायाह परेष्वनुषरोध इति । प्रवलेन हि दुर्वलाः स्वको स्थापिताः स्वाच्छन्द्यान्निवार्यन्ते, सोऽयमुपरोधः; तदकरण-मत्तानुपरोघ इत्याह स्वन्छन्देति । सस्य तु योगोपकारी स्वन्छन्दवृत्तिनरोधस्तप एव ; अतः परेष्विति

<sup>।</sup> दमः मनःप्रवृत्तिनिरोधः। अलोलुयत्वं प्रवृत्तिहेतुभूतेच्छाराहित्यम् । अचापलम् इच्छोत्तम्भकविषयसन्निध्यासामध्यीपादनम् ।

<sup>2</sup> महत्या आपदः प्राप्ताचिति शुद्धपाठः स्यात् । महतीमापदं प्राप्येति पाठः स्तोत्नरनाभाष्ये ।

निरोधरहितत्विमत्वर्थः । नातिमानिता — अस्थाने गर्वोऽतिमानित्वम् ; तद्रहितता । एते गुणाः दैवीं संपदमिजातस्य भवितः । देवसंबिधनी संपत् दैवी ; देवा भगवदाज्ञानुवृत्तिशीलाः ; तेषां संपत् । सा च भगवदाज्ञानुवृत्तिरेव । तामिजातस्य तामिममुखीकृत्य जातस्य, तां निर्वर्तियतुं जातस्य भवन्तीत्वर्थः ॥ १-३ ॥

दम्मो द्र्पोऽतिमानश्च कोधः पारुष्यमेव च । अझानं चाभिजातस्य पार्थ सम्यदमासुरीम् ॥ ४ दम्भः धार्मिकत्वरूपपनाय धर्मानुष्ठानम् । दर्षः कृत्याकृत्याविवेककरो निषयानुभवनि-मिनो दर्षः । अतिमानश्च <sup>1</sup>स्वविद्याभिजनाननुगुणोऽभिमानः । कोधः परपीडाफलचित्तविकारः ।

विशेषितम् । मानो गर्व इति पर्यायः ; स तु सामान्यत इह निषेद्धमिष्टः ; तथाऽपि वंशवीर्य-श्रुत। चनुगुणं मालया भवल्रसौ सद्धेतापि : अन्यथाभवन् असुराणां धर्मतया वक्ष्यमाणोऽल न प्रसङ्गमहितीत्यभित्रायेण सोपसर्गमाननिषेष इत्याह अस्थाने गर्च इति । देवीं संपदिमत्युक्ते देवानां विभृतिः पतीयेतः सा चाल नान्वेति । अतोऽभिषेतमवतार्यितं व्युत्पति तावदाह देवसंबन्धिनीति । "सत्त्वं देवगुणं विद्यादितरावासुरौ गुणौ" (भा. मो. २१८ २२) इति विभागात् , 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' (गी. १४. १७) इति सत्त्वस्यानुष्ठानपर्यन्तज्ञानहेतुत्वाच सत्त्वोत्तरःवादेव भगवदाज्ञां नाति-वर्तन्ते : तदादावेबाह भगवदाज्ञान्यतिशीला इति । सैव च तेषां संपद्भिमता : अविवेकिनां भोग्यतत्साधनसमृद्धिवत् तेषां भगवदाज्ञानुष्टतेः शीतिविषयत्वात् . परमपुरुषार्थहेतुत्याचेत्याह सा चेति। उक्तं च, "महात्मानस्तु मां पार्थ देवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा मृतादिमव्ययम्" (९. १३) इति । अन्यत्न च, "विज्णुमिक्तिपरो दैवः" (वि. घ. १०९. ৩৪) इति । जातस्ये-त्यकर्मकस्य जायतेः पतत्यादिव्विबोपसर्गवशात्सकर्मकरवात् कर्मणि द्वितीयान्वयमाह नामिमस्वीकृत्येति। "अभिरभागे" (अष्टा. १ ४. ९१) इति कर्मप्रवचनीययोगाद्वा द्वितीया । अशिमुखी कृत्य अभिरुक्ष्य ; यथा देवी संपद्मवति, तथा कृत्वा जातस्येति यावत् । ईदृशगुणयुक्तानामेवेविधायाः संपद्रोऽवस्य-म्भावित्वमञ्ज अभिमुखीकरणं विवक्षितम् । तथाच सर्यते, ''जायमानं हि पुरुषं यं पर्यन्मधु-सूदन: । सात्त्विक: स तु विज्ञेय: स वै मोक्षार्थिचन्तक:" (भा. ३४९. ७३) इति । तिद्दमाह तां निर्वर्तियतं जातस्येति ॥ १-३ ॥)

द्रभो द्रपः इत्यादौ भवन्तीत्यनुष्ठयते । धार्मिकत्वरूपापनायेति । न तु भगवदाज्ञानु-इत्ति दुद्धयेत्यर्थः । कृत्याकृत्याविवेककर इति । शास्त्रातिरुङ्घनहेतुरिति भावः । अतिमानशब्दोक्तगर्वा-परपर्यायात् तत्कारणाभिमानात् तत्कारणस्य द्रपस्य विशेषमाह विषयानुभविनिमित्त इति । एतेन-आचार्यभगवस्तन्दर्शनादिनिमित्तहर्षेव्यवच्छेदः । अस्थान इति पूर्वोक्तमत्र स्वविद्याभिजनाननुगुण इत्यनेन विद्यतम् । विद्याभिजनमहणं वीर्योदेरप्युपल्यकणम् । "वयसः कर्मणोऽर्थस्य स्रुतस्याभिजनस्य च ।

स्वराब्दोऽयं धनवाचीति युक्तम् ।

पारुव्यम् साधुनामुद्रेगकरः स्वभावः । अज्ञानम् परावरतत्त्व-कृत्याकृत्याविवेकः । एते स्वभावाः आसुरीं संपदमभिजातस्य भवन्ति । असुराः भगवदाज्ञातिवृत्तिज्ञीलाः ॥ ४ ॥

दैवी संपत् विमोक्षाय निवन्धायाऽऽसुरी मता।

देवी मदाजानुवृत्तिरूपा संपत् विमोक्षाय बन्धान्मुक्तये भवति । ऋमेण <sup>1</sup>मत्प्राप्तये भवतीत्यर्थः । आसुरी मदाज्ञातिवृत्तिरूषा संपत् निवन्याय भवति अधोगतिप्राप्तये भवतीत्यर्थः ॥ एतन्छ्रत्वा स्वप्रकृत्यनिर्घारणादितभीतायार्जुनायैवमाह—

वषवाखृतिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह" (मनु ४.१७) इत्यस्त्रोहङ्खनिमहाभिनेतम् । बाह्यनुहृष्टिषु च वाङ्ग्या- स्त्यं वण्डवास्त्यं च नातीव दोष इत्यिभयायेणाह साधृताष्ट्रदेषकस्स्वभाव इति । अत एव साञ्जवहिष्कारात् शास्त्रविह्यादेष्ठ्यमनुत्रयुक्तविषयं चाज्ञानमाधुराणामन्येषा- मिष् तुह्यम् ; अदोषश्च । तद्यविद्धिः । प्राप्तकारुनिद्वादिरूपमनुत्रयुक्तविषयं चाज्ञानमाधुराणामन्येषा- मिष् तुह्यम् ; अदोषश्च । तद्यविद्धिः तद्यविद्धान्तार्परिग्रह्थः । पूर्वोक्तकतिषयगुणव्यितरेक्तवदर्शनिमहोपळ्याणांभ्यः । चकारेण वाऽनुक्तसमस्तस्त्रमुच्यः । आसुर्री संपदमभिव्यङ्कुमाह भगवदाज्ञातिहृश्विद्धाला इति । यान् प्रति उच्यते च, "पद्यवस्येनं जायमानं ब्रह्मा स्द्रोऽथवा पुनः । रजसा तमसा चैव(चास्य) मानसं समिष्द्रितम् " (मा. मो. ३५७. ७७) इति च । प्रजापतिवाक्ये च देहात्म।भिमानादिम्ळित्वयामालिनिद्याधिक्वत्योच्यते, "अनुराणां ह्येपोपनिषत् " (छः. ८. ८. ५) इति । अल संपच्छव्दो सगवदाज्ञातिळङ्कनरुचीनामभिन्नायेण, उपाळन्माभिन्नायेण, संप्रत हर्येताव्यवस्त्रया वा नेतव्यः ॥ १ ॥

दैवासुरसभावयोः श्रद्धोद्वेगजननाय, "'ऊर्ष्वं गच्छिति सस्वस्थाः" (१८. १८) इत्यादिना उक्तमिह संक्षिप्य सार्थिते देवी संपदित्यर्षेन । विमोक्षस्येष्टपासिप्येन्ततां वक्तुमात्यन्तिकानिष्टिनिः वृत्तिरूपं शब्दस्य सुरूपार्थमाह वन्धान्युक्तय इति । अन्यवहितहेतुत्वविवक्षायां समाधिप्येन्तशास्त्रार्थवैवर्थ्यं स्थादित्यसिपार्थणाह क्रमेणेति । <sup>1</sup>आत्मसाक्षारकारादिद्वारेति वा । निवन्धः नियतो बन्धः । तत्र अधोगस्छन्तीत्येतत् स्मार्यितं अधोगतीति ॥ ४= ॥

अस्त मा ग्रुचः इति वचनं न शास्त्रोपकमभकान्ताशोच्यविषयशोकप्रतिषेषार्थम् , तस्य बहुषा परिहृतत्वात् । संपदं देवीमभिजातोऽसीत्यनेन तत्परिहारासंभवाच । अतो निबन्धायासुरी मतेत्युक्ते शास्त्रीयमर्योदानतिस्रिह्ण्यपि खात्मिन, "स्थिरो निग्दाहङ्कारः" (दश. २.४) इति प्रकियया धीरो-दात्तनायकगुणमृतस्य निग्दसाहङ्कारत्वस्य खात्मसाक्षिकत्वात् तावन्मात्रेणापि खस्मिन् आयुरत्वमिनः शङ्कमानस्य श्रुतद्विविधसंपत्कस्य वीभत्सोः खप्रकृत्यनिर्धारणात् पुनरपारसंसारसागरनिमज्जनमीत्या शोचतो देवभक्कतित्वज्ञापनेन शोकमपनयतीत्याह एतच्छूत्वेति । अस्ताप्यस्थाने शोकं त्वमेबाहारय-

क्रमेणेति । इदं बन्धान्मुक्तये इत्यवापि विवक्षितम् । क्रमेणेत्यनेन न भक्तयाद्याचार-विवक्षा : तदावातुनुक्तिरूपत्वात् संगदः, तस्य संपत्यदोक्तःवादित्यात्रायेन व्यास्याति आत्मेति ।

मा छुवस्संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ शोकं मा कृथाः: त्वं तु देवीं संपदमभिजातोऽसि । पाण्डव । वार्मिकाग्रेसरस्य हि पाण्डोक्तनयस्वमित्यभिग्रायः ॥ ५ ॥

ही भूतसर्गी लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुर पार्थ मे श्रण्ण ॥६ अस्मिन् कर्मलोके कर्मकराणां भृतानां सर्गी द्विवधी दैवश्रासुग्थेति । सर्गः उत्पत्तिः, प्राचीनपुण्यपापरूपकर्मवञ्चात् भगवदाज्ञानुवृत्तितिद्वपरीतकरणायोत्पत्तिकाल एव विभागेन भृतानपुत्पद्यन्त इत्वर्थः । तत्र दैवःसर्गो विस्तरशः शोकः—देवः। मदाज्ञानुवृत्तिशीलानामु-त्पिचर्यदाचारकरणार्था, स आचारः कर्मयोगज्ञानयोगमक्तियोगरूपो विस्तरशः शोकः । असुराणां सर्गश्च यदाचारार्थः, तमाचारं मे श्रण् — मम सकाश्राच्छ्णु ।: ६ ॥

सीत्यभिशयेणाह शोकं मा कथा इति । न हि देवपक्कतीनां धर्मोत्तराणामासुराः पुलाः सं वन्ती-त्यभिषायेण पाण्डवशब्दसंबुद्धिरित्याह धार्मिकाग्रेसरस्येति ॥ ५ ॥

स्वरूपादिमिः समेषु सर्वेप्वारमस् देवा ब्राविमागस्य कि निदानमिति शङ्कां सविशेषानुवादेन परिहरन अत्यन्तपरिहर्तन्यस्वज्ञापनाय प्रसक्तस्यासुरवृत्तान्तस्य विवक्षितमुपक्षिपति (विस्तरमुपळक्षयति) द्वी भत-सर्गाविति श्लोकेन । अस्मिन् लोके इति न लोकान्तरव्यवच्छेदार्थम् , सर्वत देवसुरविभागसिद्धेः । न च निरर्थकाधिकरणमालनिर्देशो युक्तः । अतो लोकोपलम्भसिद्धाकारेण विहितनिषिद्धकरणमुचनमिह विवक्षित-मित्यभिषायेणाह कर्म कराणामिति । कर्मकोकविवक्षया वा असिकिति विशेषणम । "सर्गः स्वभाव-निर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु" इति बहुर्थस्याभिषेतं वक्तमिहार्थवशात् धातोः प्रयोज्यव्यापार्यस्यं ताव-दाह सर्ग उत्पत्ति। उत्पत्तिसरूपे कथं दैवत्वासुरत्वविभाग इति शङ्कायां लोकेऽसिनित्यनेन देवासुरविभागे सर्गशब्देन चाभिषेतं संकलस्याह प्राचीनेति । देवासुरसंपद्रथत्वाद्रत्पत्तौ देवासुरवोक्ति-रित्यर्थः । मर्गाशब्दस्य स्वभावपरत्वं सज्यमानपरत्वं चाप्रसिद्धत्वादनादृत्य प्रसिद्धसृष्टिपरत्वेन च्याच्यानम् (तम् )। दैवस्सगो विस्तरशः प्रोक्त इत्यक्ते देवानां सर्गादिकं वंशानुचरितकीर्तनवत् प्रतीयते : न च तथा कृतम् । यद्यपि, "प्रजहाति यदा कामान्" (२. ५५), 'दैवमेवापरे यज्ञभ्' (गी. ४-३५) "चतुर्विधा भजन्ते माम् " (७. १६), "महात्मानस्तु मां पार्थ" (९. १३) इत्यादिभिर्ज्ञानयोग-कर्मयोगभक्तियोगनिष्ठाः पुरुषा निर्दिष्टाः-तथाऽपि तत्कर्तव्यप्रपञ्चन एव तत्नापि तात्पर्यम् । अतोऽत्र दैवसर्गत्य विस्तरेणोक्तिस्तरकार्यद्वारेत्यभिपायेण यदाचारकरणार्थेत्यादिकमुक्तम् । 'अनयं सत्त्वसंग्रद्धिः' इत्यादिकं पाकु वित्तरेणोक्तस्य संग्रहणमित्यभिपायेण कर्मयोगादिग्रहणम् । आसुरं सर्गमित्यतापि वक्ष्यमाणानुसारादेवमेव विवक्षेत्याह असुराणामिति । आसुरं सर्गे मे शृष्वित्युक्ते सर्गान्वयेन कर्तरि षष्ट्रीप्रतीतिः स्यातः ततोऽपि शृज्वित्यस्यापेक्षितमाप्ततमत्वसूचनमेवोचितमित्यभिषायेणाहः सम सकाशा-दिति । अविदित्मुपादेयं यथा नोपादातं शक्यम् , तथा हेयमप्यविदितं न हातं शक्यम् ; अतोऽल सावधानो भवेत्यभिषायेण श्राण्वत्यक्तम् ॥ ६ ॥

प्रश्नुत्तं च निष्ट्यतं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापि <sup>1</sup>चाचागे न सन्यं तेषु विद्यते॥ ७ भृष्टितं च निष्टितं च अभ्युद्यसाधनं मोक्षमाधनं च वैदिकं धर्मम् आसुगा न विदुः न जानन्ति । शौचम् वैदिककर्मयोग्यस्यं शास्त्रसिद्धम् ; तत् बाह्यमन्तरं चासुरेषु न विद्यते । नापि चाचारः तत् बाह्यान्तरश्चौचं येन सन्ध्यावन्दनादिना आचारेण जायते, शोऽप्याचारस्तेषु न विद्यते । यथोक्तम्, ''संध्याहीनोऽश्चिचिन्त्यमनहस्त्रवेक्रमसुं' (द. स्मृ. २. २२) इति । तथा सस्यं <sup>1</sup>च तेषु न विद्यते यथाज्ञात-भृतहित्वव्यभाषणं तेषु न विद्यते ॥ ७ ॥ किंव—
असल्यमत्रतिष्टं ते जगदाहरनीश्चरम् । अपरस्परसंभतं किमन्यत् कामहेतकम् ॥

असत्यम् अगदेतत् सत्यशन्दिनिर्देष्टवशकार्यतया व्रशास्मक्रीमिति <sup>2</sup>नाहुः । अपितष्टम् तथा व्रशिण प्रतिष्टितमिति न वदन्ति । व्रशणाऽनन्तेन पृता हि पृथिवी सर्वान् लोकान

अत्र प्रयानाः वृत्तिश्व न लौकिकविषयो ; आसुराणामेव लौकिकेष्टानिष्टपाप्तिपिरहारार्थ मपथपवृत्तेस्तरपथिनिवृत्ते सिद्धः त्वात् । न च विहितनिषद्धमात्तविषयौ, रागप्राप्तशास्त्रप्राप्तिविषयौ वा, न ग्रीचं नापि चाचारः इत्यादेः पुनरुक्तिप्तसङ्गात् । अत्रोऽत्र मुमुश्वपेष्ठितपविक्रवर्धकिष्ठपर्यसाधनिम्त्रयोदिना । तावेतौ धर्मौ सर्ग्येते, "प्रवृत्तिलक्षणं धर्मै प्रजापति-रथाव्रवीत् । निवृत्तिलक्षणं धर्ममृषिनीरायणोऽत्रवीत्" (मा. मो. २१९. २) इति । न विदृतित्यत्र 'न सत्यं तेषु विद्यते' इतिवदसद्धावमात्रं न विविक्षतम्, अपितु श्वात्कृत्वः अतिपादितेऽपि तमः प्राचुर्यात् अपित्रज्ञानित्यिप्तायोणाह न जानन्तीति । कृत्ययोग्यतेति प्रागुक्तमत्र वैद्किकम्योग्यत्विम्त्यनेन विवृत्तम् । बाद्धशौचमशुचिसंशीलनादिभिरवस्यक्तित्याकरणाच न विद्यते ; आन्तरं त्वात्मगुणाभावात् । न ग्रीचं नापि चाचारः इति क्रमात् कार्यकारणयोनिषेष इत्यभिपायेणाह निर्तित । नतु संस्थावन्य-नादेर्थणाव्यमस्यस्य "प्राजापत्यं गृहस्थानाम् " (वि १ ६. ३७) इत्यादिभः फलान्तरं श्रूयते ; तत् कथं तत्य शौचहेतुत्वोक्तिरित्यत्वाह् यथोक्तमिम । व्यतिरक्षोकत्या हेतुहेतुमद्धावोऽत्र व्यवान्तं भाषणाभावः, हित्यकमीन्तरहानादाविष प्राह्मम् । यथाज्ञानमित्यादि । विवरुम्भरसिकत्वात् यथाज्ञानं भाषणाभावः, हित्यसभावत्वात् हितरूपभाषणाभावः ॥ ७ ॥

एवं न सत्यस्याभाषणमालम्, अपितु तद्विपरीतभाषणमस्तीत्यनन्तरमुच्यत इत्याह किचेति । असत्यशब्दोऽत्र न मिथ्यात्वपरः ; तस्य लोकोपल्जिवस्यवचनविरोधादिभिरेव प्रतिक्षिप्तत्वेन अतिस्थूल-त्वात् , परमार्थे स्थिरं चैश्वर्यमभिमत्य निरूढाभिनिवेशानामामुराणां प्रपञ्चमिथ्यात्वकूटयुक्तिमिः प्रतार्य त्वासंभवाच्च । "यथा वयमनृतप्रायाः, तथा सर्वे जगदिति प्राहुः" इति व्याख्याऽपि मन्द्रा ; जगच्छब्दस्य चेतनमालविषयस्वाभावात् , निषेधानां चाल पूर्वोक्ताकारत्यितरेकपरत्वात् , अप्रतिष्ठ-

<sup>1</sup> नापि चेतिमूलस्थश्चकारः न सत्यमिति वाक्यान्वयी।

<sup>2</sup> मूलानुरोधे ब्रह्मात्मकं न भवतीत्याडुरित्येवरीत्या वक्तव्यम् । नाडुरिति भाषणं हेतुभिर-ब्रह्मात्मकत्वस्थापनाभावेषि ब्रह्मात्मकत्वानिष्टिरिप असुरस्वभाव इति ज्ञापनाय ।

विभर्ति । यथोक्तम , ''तेनेयं नागवर्येश शिरक्षा विष्ट्रता मही । विभर्ति मालां लोकानां सदेवासरमानवाम " (वि. २.५.२७) इति । अनीश्वरम् । सत्यपंकरपेन परेण ब्रह्मणा सर्वेश्वरेण मयैतिक्रियमितमिति च न बदन्ति । "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तरसर्वे प्रवर्तते" (१०.८) इति ह्यक्तम् । वदन्ति चैवम् अवरस्परसंभृतम्: किमन्यत् । योपिन्पुरुवयोः परस्वरसंबन्धेन जातिमदं मनीश्वरम् इतिवत् शास्त्रसिद्धपतिषेघपरत्वात् , असुराणां च शास्त्रपद्वेषशीरुत्वात् । अतोऽत्र शास्त्र सिद्धस्य प्रतिषेधपरोऽयं शब्द:। तच सत्यं ब्रह्मैवेति, ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (आ) इत्यादिष् प्रसिद्धम् । छान्दोग्ये च चेतनाचेतननियन्त्रत्वेन ब्रह्मनामतयाऽसौ निरुक्तः. "तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति । तानि ह वा एतानि लीण्यक्षरणि सत् , ति, यमिति । तद्यत् सत् तदमृतम् । अथ यत ति. तम्मत्यीर्म्। अथ यत् यं तेनोभे यच्छति। यदनेनोभे यच्छति तस्मात् यम् । अहरहर्वा एवंवित् खर्गै लोकमेति'' (छा. ८.३.४,५) इति । अतोऽत्र कपिलगृरुद्धमारिलजिनसुगतचार्वाकादिमतानुवर्तिन इव अब्रह्मारमकं जगदाहरिति विवक्षामाह सत्यग्रब्देति । अप्रतिष्टशन्देनापि सर्वलोकविरोधादिभिः पत्यक्षसिद्धप्रतिष्ठ।निषेघासंभवात् शास्त्रेषु प्रतिष्ठात्वेन उपदिष्टसर्वपतिषेघविनक्षामाह तथेति । तदेवोदाहरण-विशेषेण विश्रणोति ब्रह्मणाऽनन्तेनेति । एतेन प्रतिष्ठाशब्दस्य धर्माधर्ममालपरवेन व्याख्या निरस्ता । मर्वोद्धोकान विभतीति । खरूपतः कार्यतश्चेति भावः । आदिकूर्म-होष-दिङ्नागवसृतिभिर्मही विधृतेति शास्त्रेणोक्ते हि हेतकैरेवं जरुप्यते, "धर्ता धरिव्या यदि कश्चिदन्यस्त्रापरस्तस्य परस्ततोऽन्यः । एवं हि तेषामनवस्थिति: स्यात ततो हि भल्लर्घा अव एव शक्तिः" इति । वायुवेगवशाच मूस्रमणवादं केचिदिच्छन्ति । गुरुत्वान्नित्यपतनं च जैनाः । अनीश्वरशब्दोऽप्यत्न न पतिमाराजादिलौकिकेथर-प्रतिषेषार्थः, रैस्तः प्रतिषेषाभावात् । यथाऽनुबद्गन्ति, ''छोकच्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः'' (न्या. क्र.) इति । न च ब्रह्मनिषेधमातार्थः: **अमत्यमि**त्यादिना पनरुक्ते: । अतोऽत्र व्यस्पर्यनुसारेणालौकिक नियन्त्रनिषेधे तात्पर्यमित्याह सत्यसंकरपेनेत्यादिना । अयस्कान्तादिवत् अचितस्वभावात् . ''जीवा-जीवात्मकं सर्वं जगदेतिन्निरीश्वरम्'' इति जैन्।दिदृष्ट्या धर्मादिमालवशाद्वा, ''परमेश्वरसंज्ञोऽज्ञ किमन्यो मध्यवस्थिते'' (वि. १. १७, २३) इतिवत् आभिमानिकेश्वरशासनाद्वा, देशकाला-विच्छिनेश्वरसमुद्रायप्रवाहवशाद्वा जगत्प्रवृत्तिरिति हि तत्तन्मतिमिति भावः । नियमितिमिति । ये त मद्भचितिरिक्तान् प्रजापितपरापितिपस्तीनपि परमेश्वरत्वेन कल्पयन्ति, ते आसुरा एवेति भावः । अन्येऽपि केचिदीश्वराः प्रवर्तका दृश्यन्ते ; श्रयन्ते च ; तत् कथं भगवतस्पर्वनियमनमित्यताह अहं सर्वस्यति । अन्येषामपि नियन्तुगां नियमनरूपप्रवृत्तिर्भगवद्घी नैव । तथा च सुवितम् , ''कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'' (ब्र. २. ३. ३३) इत्युपकम्य, "परातु तच्छूतेः" (४०) इति। एवं त्रिभिः जगत उत्पत्तिन्धिति-प्रवत्तीनां परत्रशाधीनस्वं नेच्छन्तीत्युक्तं भवति । तल जगद्रत्यत्तेः प्रतिज्ञातं ब्रह्मनैरपेक्ष्यमन्यतस्सिद्ध त्यैवमुपपादयन्तीत्याह वदन्ति चैबमिति । अपरस्परेत्यादिकं न पूर्वणैकवावयम् . किमन्यदित्यादेर- मनुष्यपश्चादिकप्रुपलस्यते ; अनेवंभृतं कियन्यदुपलस्यते ? किन्विद्षि नोपलस्यत इत्यर्थः । अतः सर्वमिदं जगत् कामहेतुकमिति ॥ ८ ॥

पतां दृष्टिमवष्टभ्यं नष्टात्मानोऽकावुद्धयः । प्रभवन्युप्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽशुभाः ॥ ९ एतां दृष्टिमवष्टभ्यं अवलम्बयं, नष्टात्मानः अदृष्टदेहातिरिकात्मानः, अल्ववुद्धयः घटःदि-वत् ज्ञेयभृते देहे ज्ञातृत्वेन देहन्यतिरिक्त आत्मोपलभ्यत इति विवेकाकुश्रलाः, उप्रकर्माणः सर्वेषां द्विपकाः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति ॥ ९ ॥

नन्वयात । क्रिष्टकरुपनादनुपपत्तेश्व । "एतदेवैबामासुरत्वे पर्याप्तम् ; किमन्यदृत्यतः" इति कर्ष्यना अध्याहारादिम्रस्ता । वदन्ति चैबमिति तु नाध्याहारादिविवसयोक्तम् , एतां दृष्टिमित्यनेतैव तरिसद्धः । अतः कामहेतुक्रमित्यस्थैवोपपादनाय अपग्रम्यम्पनित्यस्य ; प्रसिद्धतमाश्रेत्यस्य योषिदिति । "कियासान्तरयेन व्हितुक्रमित्यस्थैवोपपादनाय अपग्रम्यम्पनित्यस्य ; प्रसिद्धतमाश्रेत्यागतः , कामहेतुक्रमित्यन्वयाचेत्यमित्रायेणाइ अनेवंभृतं किमन्यदुष्तस्यत्व इति । यथि योषित्युरुपसंसर्यमन्वरेणैव स्वेदज्ञानां स्थावराणां चोत्पत्तिदंश्यते ; तथाऽपीश्वरमासहेतुका देवादिस्पृष्टिनोपरुप्तयते । दृश्यमानं तु अयो निजं योनिजवदेव दर्शनवर्श्वादम्भित्रस्य स्वित्यन्यव्यव्यव्यवित्रकावस्थितत्वत्सामग्रीमास्रात्त कार्यसिद्धिसंभवे किमीश्वरेण कर्ला करिपतेन, आगमिकत्या सीष्ठतेन वेशि भावः । अकिञ्चन्कामहेतुक्स् इति परोक्तन्यास्य अपसिद्धत्वादिमिरनादर्श्ववस्यः (क्रमन्यदिति पाटस्य प्रतिनिषेषपरतां व्यनक्ति किन्धित्यस्य अपसिद्धत्वादिमिरनादर्श्ववस्यः (क्रमन्यदिति पाटस्य प्रतिनिषेषपरतां व्यनक्ति किन्धित्यस्य अपसिद्धत्वादिमिरनादर्श्ववस्यः । अन्वयव्यवित्यक्रवाहत्यश्चः । कामग्रेतुक्तमिति दृष्कारणोप्तस्य । कामग्रावण्यवश्चात् तदुक्तिः । यथा पाषण्डागमा अपि तत्तत्वत्वत्वस्य । तत्वत्वानमिति दृष्ति । वया पाषण्डागमा अपि तत्तत्वनगरङ्गान्तादयः ; एवं करुपे-कर्पे प्रवृत्तीभ्वतं सिर्मित्वनित्वने अपस्यत्व । स्वावनम्यस्वत्वननगरङ्गत्वान्त्वस्यः । स्वावनगरङ्गतान्त्वसः ; एवं करुपे-कर्पे प्रवृत्तीश्वर्राहिष्ते । ज्ञावगरङ्गतान्ति संगावितमिपि तीत्रोष्यकर्व्याख्यस्य स्वत्व ।।

एतां दृष्टिमिति । विषरीतां दृष्टिमित्वर्थः । अबृष्टभ्येत्याक्रमणादिमतीतिन्युदासायाह अव-लभ्बयेति । नित्यस्थात्मनो विनाञ्चामायात् 'णञ्च अदर्शने' इति धात्वर्थोऽत्र विविक्षत इत्याह अदृष्टित । स्वयंज्योतिषः प्रत्यमात्मस्रक्षपत्य दृहाध्यासाथिष्ठानतया नित्यसुष्टम्मात् देहातिरिक्तत्वेन विशेषितम् । नष्टात्मत्वहेतुरिहान्यवृद्धित्वसुच्यत इति पुनरुक्तिपरिहाराभिषायेणाह घटादिवदिति । यद्वा पशुस्यमा-दिवत् कर्मवशात् स्वारसिको विविक्तात्मापुष्टम्मः । अत्ययुद्धयाः इति तु तत्परिहाराशक्तिरुच्यत् इति भावः । एवं परावरात्मविषयविषरीतदृष्टिरुक्ताः अथ प्रभवन्त्युप्रकर्माणः इत्यादिना तत्पहरू-सुच्यते । उप्रकर्माणः इत्यवोप्रवतादिपतीविष्युदासायाह सर्वेषां हिसका इति । अशुभाः स्वसं-सर्गिणामिषि दोषावहा इत्यर्थः । जगतः क्षयाय प्रभवन्तीति, ''अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्तिब्र

<sup>1</sup> अपरस्वरसंभूतम् अन्यान्यहेतुकः अरहितं स्वतं एवोत्पन्नमाहुः ; किमन्यदाहुः ? कामहेतुक-मितीत्वाद्यर्थवर्णने आहं क्लिप्टति । 2 "अवरस्पराः क्रियासातत्वे" इत्यनुशासनं यादवाञ्युवयव्या-ख्यायाम् 9, 105 श्लोके । न ह्यनुशासनगौरवान् प्रसिद्धत्यागोऽनन्वितस्यीकारो वेति भावः ।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः। मोहात् गृहीत्वाऽसद्श्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचित्रताः ॥१० दुष्पूरम् दुष्प्रापिवषयं काममाश्रित्य तित्ससाधियषया मोहात् अज्ञानात्, असद्शाहान् अन्यायगृहीतपरिग्रहान् गृहीत्वा, अशुचित्रताः अश्वास्त्रविहितत्रतयुक्ताः दम्भमानमदान्विताः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रळ्यान्तामुपाश्चिताः । कामोपभोगपरमा प्तावदितिनिश्चिताः॥ ११ अद्य श्वो वा सुमूर्पवः चिन्तामपरिमेयाम्—अपरिच्छेद्यां प्रळयान्तां प्राकृतप्रख्यावधि-

कामधुक्', ''परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'' (३. १०; ११) इत्यादिप्रतिपादितां भगयन्मूळां क्षोकभावनधर्ममर्यादामितिकङ्क्षयन्ति ; तदनुवर्तिनश्चान्येऽपि मन्दाः तदाचारोपदेशादिविसम्भादिकमेण सर्वस्य जगतस्त्रिवर्गोपवर्गरूपबृद्धिविरहिणः लिविधतापाभिहतिरूपाय क्षयाय भवन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

कामो हि जगद्धेतुरुक्तः ; अतः स एव हि तेषामाश्रयणीयोऽभिमतः ; तदाश्रयणेतिकर्तव्यतारूपास्तु दम्ममानादयोऽश्रुचित्रतपर्यन्ता इत्युच्यते काममिति स्ठोकेन । दुष्पापविषयत्वं दुष्पूर्त्वे हेतुः ;
यद्वा विषयपातिर्हि कामस्य पूरणम् ; अतो दुष्पापविषयत्वमेव दृष्पूर्त्वम् । आश्रित्य प्रयोजनतयाऽभिसंघायेल्यर्थः । तदभिषायेणाह तिस्ताधायिषयेति । विषरीतप्रष्टतिहेतुभूतं कृत्वाकृत्यविवेकान्यत्विम्ह मोह्शव्देन विवक्षितमित्याह अज्ञानादिति । असत् महणम् आर्जनं येषां तेऽत्र असद्ग्राहाः ।
धर्माभिसंधिमन्तो हि न्यायेनार्जयन्ति ; कामभवणास्तु चौर्यादिभिस्तदुपकरणानीत्याह अन्यायगृहीतपिग्रहानिति । पिग्रह्शव्दोऽत्व परिमाखपरः । "ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्" (९२) इति
त्वेतस्यैव विवरणम् । अत एव अश्रुमाभिनिवेशानिति व्याख्याऽप्यत्र मन्दा । गृहीत्वेति तादात्विकविनियोगपरत्वात् आत्मीयत्वाभिमानपरत्वाद्वा पुनरुक्तिपरिहारः। पाषण्डागमादिनिर्देष्टानि हि व्रतानि पुरुषस्य
दर्शनस्पर्शनाययोग्यताहेतुत्वात् स्वयमशुचीन्येवेत्यभिभायेणाह अशास्त्रविहितत्रतपुक्ता इति । धर्माभिसंधिरहितानामपि तामसानां विषहर्णपाषाणस्कोट[न]ादित्यस्तम्भनतिमाजल्यादिवश्चनोपार्येवेशीकृतानां
वेदवाखेषु व्रतेषु मालया संयोगो भवति । यद्वा शौर्याहिकारादिम्हलः शास्त्रविस्त्यः सङ्कर्पोऽल व्यत्वव्यामि
प्रेतः । शास्त्रीयेण्वि व्रतेषु भगवस्तमाराधनविवक्षामजानताम् अथथाशास्त्रकरणदशास्त्रविहितप्रयुक्तत्वम् ।
दम्भमानौ पागेव व्याख्यातौ । मद्रोऽल धनाभिजनविद्यादिमूल्लभ्यथायथविदित्ररम् समौद्धत्यम् ॥१०॥

एवं प्रवर्तकानामुपर्युपिर मनोविकारादय उच्यन्ते चिन्तामपरिमेयामित्यादिमिः । अशक्यिव-षयद्यथाप्रयासम्यङ्गनायाद अद्य श्वो वेति । अपिमेयामिति असंस्थ्येयविषयत्वेनानन्तशास्त्रः विविक्षि-तमित्याद अपिम्छेद्यामिति । <sup>1</sup>प्ररुपान्तामित्यत्न शरीरपातावधिकत्वोक्तिर्मन्दा । अनन्तकास्त्रसाध्य-मल्पकालेन सिसाधियपन्तीति[तु] व्यामोहातिशयस्थापनेन सप्योजनिमदस् ; प्ररुपशब्दश्च प्रसिद्धतम-विषय उचितः । चिन्तिथतृणां पुरुषाणामाप्रस्थस्थायित्वाभावात् चिन्तायाः स्वरूपेण प्रस्यान्तत्वं चान

<sup>1</sup> प्रख्यान्तामित्यारभ्यावतारिका । मरणान्तामिति शांकरच्याच्यायां पदस्य मन्दफळत्वात् यथा-वस्थितप्रख्यप्रहणे चिन्तायास्तावद्ऱ्यापित्वं दुवैचं भवतीति कथमर्थो वक्तव्य इत्यवतारिकावाक्यार्थः।

काल साध्यविषयाम् उपाश्चिताः, तथा कामोपमोगपरमाः कामोपमोग एव परमपुरुषार्थ इति मन्वानाः, एताविदितिनिश्चिताः इतोऽधिकः प्ररुपार्थो न विद्यत इति संजातिनश्चयाः ॥ ११॥ आशापाशशतैर्वद्धाः कामकोधपरायणाः । ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥

आशापाशशतैः आशारूयपाशशतैर्वद्धाः, कामकोधपरायणाः कामकोधैकनिष्ठाः, काम-

भोगार्थभन्यायेनार्थसंचयान प्रति ईहन्ते ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लन्धिमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् । इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ इदम् <sup>1</sup>क्षेत्रपुतादिकं सर्वे मया मत्सामध्येंनैव लन्धम् , नाद्दष्टादिना ; इमं च मनो रथमहमेव प्राप्स्ये (प्राप्सामि ?), नादृष्टादिक्षहितः । इदं धनं मत्सामध्येन छव्धं मे अस्ति, इदमपि प्रनर्मे मत्सामध्येनैव भविष्यति ॥ १३ ॥

युक्तमित्यभिषायेणाह **प्राकृतप्रलयावधिकालप्राध्यविषया**मिति । असंख्येयेषु चिन्ताविषयेप्वेकैकोऽपि दस्साध इति भाव: । प्रयोजनतयाऽभिमतेष कामोवभोग एव परमो येषां तेऽत्र कामोवभोगपरमाः : तदाह कामोपभोग एवेति । स्वर्गापवर्गप्रतिषेषार्थ एतावच्छव्द इत्याह इतोऽधिक इति । संजा-तिश्वया इति अल निश्वितशब्दे 'सुक्ता ब्रह्मणाः' <sup>2</sup>इतिवत् कर्तरि क्त इति भावः ॥ ११ ॥

चिन्ता करीव्यिवयाः आञ्चा त फलविषया : आज्ञाविषयाणामसंख्यातस्यात् तदाञ्चानामपि शतशाखरवेन तथात्वम् । कामकोधपरायणाः इत्यत कोधस्य परमपाप्यतया तद्भिमानविष्यत्वामा-वात् कामकोधयो रैकामचमात्रं विवक्षितमित्याह कामकोधैकनिष्ठा इति । अयनशब्दोऽत्र आश्रयपरः कामो हि विहन्यमानः क्रोधात्मना परिणमतीति पावप्रपश्चितस्मारणे तात्पर्यात न पुनरुक्तिः । कामभोगार्थमिति । विश्वानुभवार्थम् । परमनिङ्श्रेयससाधनमृतपरमपुरुषसमाराधनार्थे यत्कर्तृट्यं. हन्त तत् अनर्थावहातिक्षद्रक्षणिकसंखाभासार्थमासीदिति भावः । अन्यायेनेति । न हि यज्ञादिवत न्याया-र्जितैः कामोपभोगो निष्पाद्यत इति भावः । द्वितीयान्वयज्ञापनायाह प्रतीति । प्रवर्तन्ते ईहन्त इत्यभयमत्र समानविषयम् तत्र ईहया निष्पादयन्तीति विवक्षितत्वात् अर्थसञ्चयानिति द्वितीयान्वयः ॥

एवं ''सहस्रभगसंदर्शनात्मकश्च महानन्दरूक्षणो मोक्षः'' इत्यादिभिः कामोपभोगः परमप्रुषार्थ इति कृत्वा तद्र्थमर्थपुरुषार्थस्वीकार इत्युक्तम् : अथ तल प्रवृत्तस्य, व्यितरेकसंज्ञासंस्थावस्थितयोगिवत् छठ्या-छब्धकृताकृतप्रत्यवेक्षणसुच्यते **इदमद्ये**त्यादिना । एतेन पूर्वोक्तचिन्ताविषयानन्त्यमप्युदाहृतं भवति। वक्ष्य-माणघनन्यतिरिक्तविषयत्वद्योतनाय पुत्रक्षेत्रादिशब्दः । सात्त्विकानामीश्वराद्यधीनकृताकृतप्रत्यवेक्षणा-व्यवच्छेदाय अहङ्कारगर्भतयाऽपि तथाविधानुसन्धानस्य आन्तिरूपत्वं मग्रेत्यनेन सुच्यत इत्याह मन्सा-मर्थ्येनैवेति । एवकाराभिन्नेतं विवृणोति नादशादिनेति । एवमेवोत्तमपुरुषाक्र्याहंशब्द्व्याख्यानरूपे अहमेवेत्यादावप्यभिषायः । इदमस्तीदमपीति, चिन्तायां विषयम्यस्त्वज्ञापनम् ॥ १३ ॥

भाष्ये क्षेत्रपत्रित पाठो दश्यते ; टीकायां त पुतक्षेत्रेति ।

<sup>2</sup> अन्यथा, इत्यादय इतिवत इतिनिश्चिता इति बहुबीहिबूत्तं नेयम् । तहा निश्चितं निश्चयः ।

असौ मया हतः शत्रुईनिष्ये चापरानिप ।

असी मया वलवता हतः शतुः। अपरानिष शत्रून् अहं श्रो धीरश्च हिन्छ्ये। किमत मन्द्धीभिर्द्वेलैः परिकारियतेनादृष्टपरिकरेण ॥ तथा च—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं वलवान् सुखी ॥

१४

ईश्वरोऽहम् खाधीनोऽहम् ; अन्येषां चाहमेव नियन्ता । अहं भोगी स्तत एवाहं मोगीः नादशादिमिः । सिद्धोऽहम् स्वतिस्तिद्धोऽहम् ; न कस्माचिददृश्यदेः । तथा स्तत एव वस्तवान् : स्वत एव यस्ति ॥ १४ ॥

आख्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदशो मया। यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यक्षानविमोहिताः ॥-अहं स्वतश्राहयोऽस्मि ; अभिजनवानस्मि स्वत एवोत्तमकुले प्रस्तोऽस्मि; अस्मिन् लोके मया

एविमिष्टमासौ अभिवाय उक्तः ; अथानिष्टिनिष्ट्वावुच्यते असौ मयेति । अल मयेत्यादेः श्रृह्ट्ह्वनोपयुक्तगुणववाभिमानगर्भतामाह बस्त्रवतेति । सूरः च्याबादिवत् परवलं तृणीकृत्य निर्भयववेद्याः शिलः, "शूरं भीरं कवि जडम् " (मा. मो १०८. ३२) इति सूरस्य भीरुपतियोगिकत्वेन पाठात् । वीरोऽल पराकमे ग्लान्यादिविकाररहितः । पेक्षावदनन्तपुरुषपद्विविषयादृष्टानादरेण स्वसामध्येमालाव लम्बने को हेतुरित्यलाह किमन्नेति । मन्द्रधीमिरिति । अयभित्यायः — अर्थाद्विमहण्लुक्यैः निगृहा-भिमानेश्रेमेन्यैः प्रतारिता दानयज्ञादिष्ठ पद्वतासित्वमप्त्यश्च परित्यज्य कृषणा भवन्ति इति । दुर्वेरुरिति । प्रवलो हि न पतारियां स्वयत्वते, 'न भेदसाध्या बलद्रपिता जनाः' (रा. सु. ४१. ३) इति न्यायादिति भावः। परिकल्पितेनित । नतु लोकायत्वास्त्वविवक्षितपत्यक्षान्वयव्यत्विरेकरूपप्रमाणसिद्धेनेत्यर्थः॥१३=

एविमिष्टमाप्त्यनिष्टपरिहारयोस्ससामर्थ्यमाताधीनस्वश्रम उक्तः; अतः (अथ ?) स्तामर्थ्यादाविष कारणमृतादृष्टादिनैरपेक्ष्यश्रम उच्यते **ईश्वरोऽह्**भित्यादिनेत्याह तथा चेति । संवेधरवत् ईश्वराव्ययनायोऽप्यत **ईश्वरा**ग्वदेन विवक्षित हत्याह स्वाधीनोऽह्मित । स्वय्वतिरिक्तसमस्तिनयन्तृत्वाभिमानोऽप्यतामिषेत हत्याह अन्येषां चेति । "तवांसक्त्रे मृमण्डलम्, त्वं हि सर्वेषां नियन्ता" इत्युक्ते तथाविषयवाभिषा(माः)नादेव हि तथाविषानां पीत्यादिसंमव इति भावः । पूर्वापरानुगुण्यात् भोगीति भोगसामर्थ्यपरम्; <sup>1</sup>तत्वाहं चेत् न(चेतनः) धर्मस्यभावादेवेमृत इत्यर्दश्चन्दाभिषायमाह स्वत एवेति । सिद्धः ज्ञानाधतिशयसंपत्म इत्यर्थः । सिद्धसमीहित इति वा । सुर्स्वीति । पुत्रजन्माद्विष्ठस्वयोगीत्यर्थः । भोगीसुरिक्शब्दयोहेंतुफलविवस्वया वा पौनरुक्त्यपरिहारः । एवामीश्वरस्वादीनामभिजनान्तानां मुक्तशिष्ट-कर्ममूलस्व प्रागेव श्वतिस्मृतिभिरुपपादितम् ॥ १४ ॥

अस्मिल्लोके इति । लोकान्तरं तु नास्तीति हि तद्भिपायः ; यद्वा अस्तिशब्दाभिवेतसार्व काल्किसमनिषेधविवक्षया असिल्लोके इति निर्देशः । यावल्लोकमन्वेषणेऽपीति भावः । प्रकृतेरेवाकारैरे

मुखीत्यनेनापुनरुक्तये एवं व्याख्यानम् 'चेत्, न' इति अनिव्यतम् । चेतनेति स्यात् । अन्यथा वा । अहमिति हि चेतनविशेषवाची । स्वत्मकचे नगतस्वमावातिरिक्तमदृष्टादिशं नेति भावः । चेत्यदेऽप्ययमर्थं आनेयस्चेत्—अस्त ।

सद्यः कोऽन्यः स्वतामर्थ्यस्रव्यसर्वविभवो विद्यते ? अहं स्वयमेव वश्ये दास्यामि, मोदिष्ये हत्यज्ञानविमोहिताः ईश्वरानुग्रहनिरपेक्षेण स्वेनैव यागदानादिकं कर्तुं शक्यमित्यज्ञानविमोहिता मन्यन्ते ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविश्वान्ता मोहजालसमावृताः । प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ अदृष्टेश्वरादिसहकारम् ऋने स्वेनैव सर्वे कर्तु शक्यिमिति छत्वा, एवं कुर्याम्, तच कुर्याम्, अन्यच कुर्यामित्यनेकचित्तविश्वान्ताः, एवंस्रपेण मोहजालेन समावृताः, कामभोगेषु प्रकर्षेण सक्ताः, मध्ये मृताः अशुचौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तन्धाः धनमानमदान्विताः । <sup>1</sup>यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वेकम् ॥१७ आत्मनैव संभाविताः। आत्मनैवातमानं संभावयन्तीत्यर्थः । स्तन्धाः परिपूर्गं मन्यमाना न

कैकशोऽपि सहशः प्रतिषिध्यत इत्याह स्वसामध्येति । मया सहशः क इत्येतावित वक्तव्ये, अन्य-शव्दः अन्यत्वमेवासामध्ये हेतुरिति द्योतनार्थः । यद्वा, मतोऽन्यो मया सहशो नास्तः, अहमेव मया सहश इति, "रामरावणयोग्रेद्धं रामरावणयोरिव" (रा. यु. ११०. २४) इतिवत् साव्यम् । यक्ष्ये दास्थामीत्येतत् सान्त्विकविद्यन्वनमात्वविश्वान्तेन दम्मेनैव । दम्मेनाविध्यूर्वकमिति ह्यनन्तरं विशेष्यते । मोदिष्य इति न त्यादिविवक्षयाः, अपितु यजमानत्वादिनिमत्तमहच्छव्दादिस्याने । यक्ष्ये इत्यादिप्रतिपत्ताविप पाकरणिकीमहङ्कारोपहर्ति दर्शयति ईश्वरातुग्रहिनरपेश्वेणोति । इत्यज्ञानिवमोहिता इत्येव पर्यासम् ; मन्यन्त इति तु वैश्वार्थमुक्तम् ।। १५ ॥

ईश्वरे न्यस्तमरा हि प्रायशो निश्चिताः, तद्यतिरेकमाह स्वेनैव सर्वमिति । इति कृत्वा-इति मस्वेत्यश्चः । चिन्तारूपवृत्तियुक्तं मन एव चित्तम् ; ति त्वांशवृत्तिमेदादनेकस्वोक्तः ; तत दश्चिति एवं कृप्योमित्यादिना । विश्वान्ताः विश्विता इत्यश्चः । यद्वा विश्वान्तिर्विपरीतज्ञानम् ; मोहस्वज्ञानम् । अथवा "अन्यश्चा चिन्तितं कार्यं देवेन कृतमन्यथा" इति न्यायात् चिन्तानामेव श्रान्तिरूपस्वमाह एवंरूपेणेति । "न जातु कामः कामानामुक्षोगेन ज्ञान्यति । हविषा कृष्णवर्त्येव स्य एवाभिवधिते" (मन्तः २. ९४ ; वि. ४. १०. २३) इत्ययमर्थ उत्सर्गेण चोत्यत इत्याह प्रकर्षेण सक्ता इति । "इतं कृतिमदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् । एवमीहासमायुक्तं कृतान्तः कुरुते वशे" (मा. मो. १७५. २१) इत्युक्तमाह मध्ये मृता इति । अशुचौ कामभोगे प्रसक्तानां तथाविधमेव फलमित्यभिनायेण नरकस्याशुचित्वविशेषणम् । प्यरुविषरवसादिमयस्यं चाशुचित्वम् ॥ १६ ॥

आरमसंभाविताः इत्यतः परसंभावनाष्ट्रक्तरहिततया अब्भक्षः इतिवत् अवधारणगर्भतामाह आरमनैव संभाविता इति । आत्मप्रशंसादिरुवदोवन्यवत्यर्थमाह आरमनैवारमानमिति । परैस्संमाविता अपि हि सन्तो ळज्जन्ते । स्तव्धताहेतुः परिपूर्णेमन्यमाना इति । न सिन्धिरक्कवीणा इति तु

<sup>1</sup> नतु अदृष्टस्य तद्निष्णत्वे यक्ष्ये दास्यामीति यागदानादिकं कुतः कुर्वन्तीत्यत्नाह यजन्त इति । ख्यात्याद्यर्थमेय यागादि कल्पितमिति तदाशयः । 2 वैश्वेति । अतो मुलेऽध्याहारो नेष्ट इति मावः ।

किःचिन्कुर्वाणाः । कथम् १ धनमानमदान्विताः धनेन विद्याभिजनाभिमानेन च जनितमदा-न्विताः, नामयज्ञैः नामप्रयोजनैः यष्टेतिनाममात्रप्रयोजनैर्यज्ञैः यजन्ते । तदपि दम्भेन हेतुना यष्ट्रवरूयापनाय, अविधिपूर्वकम् अयथाचोदनं यजन्ते ॥ १७ ॥

## ते चेहग्भृता यजन्त इत्याह-

अहंकारं वर्ळ दर्पं कामं कोधं च संश्रिताः । मामात्मपरदेहेषु प्रद्विचन्तोऽभ्यस्यकाः ॥ १८ अनन्यापेश्वोऽहमेव सर्वं करोमीत्येवंस्त्यमहंकारमाश्रिताः, तथा सर्वस करणे मद्रस्येम पर्याप्तमिति च वस्रम्, अतो मत्सदःशो न कश्चिदस्तीति च दर्पम्, एवंभृतस्य मम काममात्रेण सर्वं संपत्स्यत इति कामम्, मम ये अनिष्टकारिणस्तान् सर्वान् इनिष्यामीति च क्रीधम्, एवमेतान् संश्रिताः, स्वदेहेषु परदेहेषु चावस्थितं सर्वस्य कारयितारं पुरुषोत्तमं मामभ्यस्यकाः शब्दार्थः । किचित् गुरुवन्दनादिकमपीत्यर्थः । धनादिदृष्टसंपितमदेन अदृष्टवैकृत्यितरःकार इति वक्तुं परस्त्रीकाशवृत्तिहेतुं शक्कते कथ्वमिति । विद्यामदो धनमदन्तृतीयोऽभिजनो मदः (भा. ३. ३४. ४६) इति सिक्षयोगशिष्टरवात् धनस्यानोक्तेश्च तत्समिनव्याहतो मदहेतुर्मानो विद्याभिजननिवन्धन इत्याह विद्याभिजनाभिमानेन चेति । नामसंविध्धने यद्या नामप्रयोजनेरिति । कीर्त्योदिव्यि नामशब्द्ययोगात् तद्भिसंपेश्च द्भमेनेत्यादिना सिद्धेः संज्ञायां प्रसिद्धिवक्षणीत् अपहासार्थस्वौत्तित्याच यष्टेतिनाममात्र प्रयोजनैरित्युक्तम् । अत एव 'यज्ञसमास्त्रामालम्, न तु वस्तुतोऽसौ यज्ञः' इति व्यास्याऽपि मन्दा प्रदर्शिता (१); अविधिपृर्वकर्त्वोक्तस्यैव तद्विसर्द्धः । दभमेन हेतुनेत्यिभसंधिविशेषस्य हेतुरवोक्तिः । यष्ट्रस्वरुपानायेति तु विषयतः प्रयोजनतश्च तद्विसरणम् । विधिरत्न विधायकं वाक्यम् । तदुक्त प्रकारित्यागोऽलाविधिवर्वकर्त्वमित्याह अयथाचोदनमिति ॥ १७ ॥

पुनरुवत्यादिपरिहारायानःतरस्रोकस्य सात्त्विकयजनेतिकर्तव्यतारूपगुणवैपरीत्यपरस्वमाह ते चेटग्भूता यजन्त इति । क्रमेण दाग्मिकयज्ञेतिकर्तव्यताक्रमं विद्यणोति अनन्यापेश्च इत्यादिभिः । भगवानेव सर्व कारयतीत्यस्य प्रतिक्षेपोऽङ्कारः, यत्परिहाराय सर्यते, ''यद्यहंकारमाश्रित्य यज्ञदान्तपःक्रियः । कुर्वेत्तरफरुमामोति पुनरावर्तनं तु तत् ॥'' (भाः मोः २१०. ७३) इति । बरुवत्त्वमात्र स्यादोषस्वेऽपि 'भगवतो वर्छनेत्यस्य विपरीतं स्ववरुपर्यात्यस्य विपरीतं कामकोधाविति । स्वित्रताः सम्यगाश्रिताः, निरपेक्षहेतुत्वेनाभिमन्यमाना इत्यर्थः । अत्र परदेहेष्विति यज्ञानुकूरुपतिकृरुक्तरुक्तरक्ररादिविवक्षया । <sup>श</sup>्वतम्या स्थितिसिद्धा । सा च पवर्तनाद्यभिति श्रुत्यादिभिः पाक्पपश्चितम् ; तस्पतिपतिविक्द्धं सारयति सर्वस्य कारियतारमिति । हितपवर्तनमेवास्याहेतुरिति भावः । पुरुषोत्तम् मिति । यद्वैरुक्वण्यविज्ञानमात्नात् कृतकृत्यो भवतीरयुक्तम् , स हि महोपकारी हेषास्यास्पदमेवामिति भावः ।

भगवतो बलेनेति बलमन्त्रोक्तस्य ।
 देहेषु स्थितमित्यर्थ इति भावः ।

शिंद्धपतः, अयुक्तिभिर्मित्स्यतौ दोषमाविष्कुर्वन्तो मामसहमानाः । <sup>1</sup>अहंकागदिकान् संश्रिता यागादिकं सर्वं क्रियाजातं कुर्वत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

तानहं द्विपतः कूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यज्ञस्मग्रुभान् आसुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ य एवं मां द्विपन्ति, तान् कूरान् नराधमान् अग्रुभान् अइमजस्नं संसारेषु जन्मजरा-मरणादिरूपेण परिवर्तमानेषु संतानेषु, तत्नाष्यासुरीष्वेव योनिषु क्षिपामि मदानुकूरुयप्रत्यनीकेष्वेव जन्मसु क्षिपामि । तत्तजनमप्राप्त्यनुगुणप्रवृत्तिहेतुभृतनुद्धिषु क्रसस्वहमेन संयोजयामीत्यर्थः ॥

सर्वप्रवर्तनादिगुणकथनं गुणेषु दोषाविष्करणरूपास्यारुक्षणव्यवस्यर्थम् । पुरुषोत्तमप्रकरणे हि स्मृत्यादिप्रवर्तनाय, ''सर्वस्य चाहं हृदि सित्रविष्टः'' (गी.१५.१५) इत्युक्तम् ; तदेवाल् मामास्मपरदेहेप्वित्यनेन
सार्यत इति च भावः । 'प्रद्विवन्ते।ऽभ्यस्यकाः' इत्यनयोः प्रातिलोन्थेन हेतुकार्यतयाऽन्वयकमं यजन्त
इत्यनुकर्षणेन वाक्यसमाप्ति चाह कुपुक्तिभिरिति । ईश्वरपरतन्त्रत्वे कथं कर्मवश्यता ; फलानां कर्ममूल्रत्वे च किमीश्वरेणत्यादयः कुयुक्तयः । अनस्यालक्षणन्याजेनास्यामिष चृहस्पतिरलक्षयत्—'न गुणान्
गुणिनो हन्ति स्नौति मन्दगुणानिष । नान्यदोषेषु रमते साऽनस्या प्रकीर्तिता ॥' (अ. स्प्ट. १. २४)
इति । असहिण्णुत्वरूपेण लक्षणेन द्वेषं विवृणोति मामसहमाना इति । असहमानत्वं च तदाज्ञाति
लङ्कनपर्यन्तमनुसंघेयम् । एतच खवंश्यानामप्यग्रुचिनरकपतने निदानम् ; यथोच्यते, ''मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीस्समाः । द्विष्यात् यो विवृष्यश्चेष्ठं देवं नारायणं हरिम् '' (भा. मो. २५६. ६)
इति । एवं ''ये द्विवन्ति महास्मानं न सरन्ति च केशवम् (जनाईनम्) । न तेषां पुण्यतीर्थेषु गतिः
संसर्गिणामिष ॥'' (भा. शां. मो २३६. ३६) इत्यादि चालानुसंधेयम् । नामयज्ञैरित्यस्योपलक्षणतामाह
पागादिकं सर्वमिति ॥ १८ ॥

एवंविधमद्वेषादिपूर्वेकयागादेरिय यथोचितमितकूळफळमदोऽहमेवेरयुच्यते तानहिमत्यादिखोकद्वयेन । वैषम्यनैर्नृण्यपिरहारार्थः तानित्यनुवाद इत्यमिपायेणाह य एवं मां द्विषम्तीति । अत चतुभिविंदोषणैः 'न मां दुष्कृतिनः' (७. १५) इत्यादिनोक्ताश्चतुर्विघा दुष्कृतिन एव विवक्षिता इति
तद्यास्यानिमदम् । तथा हि नराधमश्चव्यत्तावत् स एव । 'आसुरं भावमाश्रिताः' इत्येततु द्विषम्त
इत्येतत्समानार्थतया मागेव व्याख्यातम्। एवं क्रूगश्चमशब्दाविषे यथायोगं मृहादिशब्दसमानार्थीं
नेतन्यौ इति । अत्रात्यन्ताविभागेन योजनं चासुरराद्येवयात् । जन्मादिचकपरिष्टतिष्वविच्छिकतयैकाकारेण सरणात् संसारः संतानः । संसरित पुरुषोऽसिन्निति अधिकरणार्थघन्यन्तोऽत्र संसारशब्दः ।
तद्वहुत्वोक्तिश्वकपरिष्टत्त्यानन्त्यादित्याह जन्मजरेत्यादिना । संसारशब्दः सदस्रज्ञन्मसाधारणत्वाद्विशेष्यत इत्याह तत्रापीति । "एतद्वि दुर्छमतरं छोके जन्म यरीद्यस् (६. ४२) इयाखुक्तसान्त्विकजन्मविशेष्वयवच्छेदाय तामसत्वम् आसुरीष्वेवेश्युच्यत इत्याह सदानुकृल्यश्रत्यनोकेष्वित ।

<sup>!</sup> असहमाना इत्यन्तेन श्लोकस्थ पदानि व्याख्यातानि । अथ वाक्यार्थमाह अहमिति ।

आसुरी थोनिमापचा मृहा जन्मनिजन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो रात्त्यधमां गतिम् ॥ २० मदानुक्रस्यश्रत्यनीऋजन्मापन्नाः पुनर्शप जन्मनिजन्मनि सहाः मद्विपरीतज्ञाना मामप्राप्यैव 'अस्ति भगवान् सर्वेश्वरो वासुदेवः' इति ज्ञानमप्राप्य ततः ततो जन्मनोऽधमामेव गति यान्ति ॥ २० ॥

असामुरस्वभावस्याऽऽत्मनाश्रसं मृलहेतुमाह—

जिविधं नरकस्थैतद् द्वारं नाशनमात्मनः। कामः कोधस्तथा लोमस्तस्मादेतत्त्यं त्यजेत्॥ २१ अस्यासुरस्वभावरूपस्य नरकस्थैतत् त्रिविधं द्वारम्, <sup>1</sup>तचात्मनो नाशनम् ; कामः कोधो लोम इति त्याणां स्वरूपं पूर्वमेव व्याख्यातम् । द्वारम् मार्गः ; हेतुरित्यर्थः । तसादेतत्त्वं ईर्द्धं प्रिकृळजन्म देवादिचतुर्विध्योनिष्विप दृष्टव्यत् इति । "एव एवासाधु कर्म कारयित तं यमधो निनीपितः" (कोपी. ३. ९) इत्यादिशुत्यनुसारेण क्षिपामीस्युक्तस्य द्वारमाह तत्त्वदित । पापपष्टित हेतुभुतकरयुद्धचादिपदानमपि प्राचीनमद्वेषादिफरुम्तत्वत्वत् नेश्वरस्य वैष्ट्यादिश्वरानमपि प्राचीनमद्वेषादिफरुम्तत्वत्वत् नेश्वरस्य वैष्ट्यत्वीर्शण्यापादकम् ॥ १९ ॥

उत्तरोत्तरमवक्तप्यरम्परोच्यते आसुरोनिति स्ठोकेन । मृढशब्दतः फिलतमाह मद्विपरीतज्ञाना इति । यद्वा विवरीतज्ञानमेवाल मोहः ; स च वावयार्थानुगुण्यात् स्वविषयो विशेषितः । सत्त्वो-त्तराणामपि परत्रज्ञायात्तरनेकजन्मसंसिद्धिसाध्यतया तामसेषु तत्मसङ्गयिविषयोरनौनित्यात् प्राप्तेः प्रथम-पर्वभृतशास्त्रजन्यज्ञानप्राप्तिरिहाशास्त्रवश्येष्वासुरेषु प्रतिक्षिष्यते । तल शास्त्रजन्यज्ञानत्वव्यवत्यर्थमाह आस्ति भगवानिति । अधमत्वस्योत्तमाविधसापेक्षत्वादविधसमपेणसम्थतया सिलिहितः तत्रश्चव्दो न हेत्वपर उचित इत्यभियायेणाह ततः ततो जन्मन इति ॥ २०॥

अवस्थपरिहरणीयं संक्षिप्योच्यत इत्यमिप्रायेणानन्तर्यस्यं संगमयित अस्पेति । यथावस्थित-स्यासनोऽप्राप्तिरेव द्यात्मनाद्यः; स चाद्यस्वभाव एवेत्यिभिप्रायेणाह आसुरस्वभावस्यात्मनाद्यस्येति । मूलच्छेदात् सर्वोऽप्याद्यस्वभावस्थित एवेत्यभिप्रायेणाह मूलहेतुमिति । आसुरस्वभावस्थात्मनाद्यस्य नरकः स्पेति । एतस्पाद्यिकं किमन्यत्ररकमिति भावः । आसुरस्वभावपरिहारार्थं हि तन्मूलोऽयमुपदेश इति वा, तमोद्वारेरित्यनन्तरैकार्थ्यं वा विवक्षितम् । आत्मनो नाश्चनिति । "असन्नेव स भवति" (आ) इत्यादिकमेणेति भावः । प्रवेशहेतुर्हि द्वारम्; तेनापि प्राप्तिमालहेतुत्वमिह विवक्षितमित्यभिप्रायेणोप चारावरुम्बनकममाह मार्गो हेतुरित्यर्थ इति । द्वारं नाश्चनम् । प्रविशत्नेव<sup>3</sup> नश्यतीति भावः । त्याव्यस्य दोषोक्तिस्यागविष्युपकारिकेत्यभिप्रायेणाह तस्यादित । रौरवादिनरकः पापक्षयहेतुः;

<sup>1</sup> नरकशब्देनात्र न छोकान्तरिववक्षाः किं तु आत्मनाशस्यैवेति शापनार्थमेव नाशनमात्मन इत्युक्तमिति शापनाय भाष्ये तश्चेति प्रयोगः। तश्च नाशनिमिति। द्वारत्वं नाशनत्वमेवेत्यर्थः। नन्यस्य त्वयस्यात्मनाशद्वारत्वे द्वारिभृतं किमन्यदित्याशंकायाम्, द्वारपदस्य हेतुरित्यर्थमाह। तथाव न द्वार्य-पेक्षाः, अवान्तरच्यापाररूपद्वारत्वस्यानुकेरिति भावः।

<sup>2</sup> द्वारशब्दप्रयोगस्वारस्यं शांकरोक्तं दर्शयति प्रविशन्नेवेति ।

त्यजेत् ; स्सात् अतिघोरनरकहेतुस्वात् कामक्रोधलोभानाम्, एतत्त्तियं दृश्तः परित्यजेत् ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैक्विमिर्नरः । आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२

एतैः कामक्रोधलोभैः तमोद्वारैः मद्विपरीतज्ञानहेतुभिः विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेय
आचरति लब्धमद्विषयज्ञानो मदानुक्त्ये प्रयतते । ततो भामेव परां गर्ति याति ॥ २२ ॥

कास्त्रानादगेऽस्य नरकस्य प्रधानहेतरित्याह —

्यः द्रास्त्रविष्मुत्युज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवामोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३ वर्षास्त्रं वेदाः; विधिः अनुशासनम् । वेदारूषं मदनुशासनमुःसुज्य यः कामकारतो वर्तते स्वच्छन्दानुगुणमार्गेण वर्तते, न स सिद्धिमवामोति न कामप्यामुष्मिकी सिद्धिमवामोति ; न आक्षरस्वमावस्त्वसौ पापार्जनहेतुत्वादिति । सर्वस्यामुरस्व-

आवुरस्वमावस्त्वसौ पापाजनहेतुत्वादित्वोर इत्यमिषायेणाह अतिघोरनरकहेतुत्वादिति । सर्वस्यापुरस्व-भावस्य परित्याज्वत्वेऽपि विदोषनिषेषोऽत्यन्तपरिहरणीयस्वज्ञापनायेत्याह दृरतः परित्यजेदिति ॥२१॥

त्याज्यस्य दोषोबत्या त्यागो विहितः; त्यागस्यैवेदानीं फळववाह उच्यते एतैरिति श्लोकेन। मिद्व-परीतज्ञानहेतुभिरिति तमःफळोक्तिः; तमद्भग्रव्दो वाऽत्र तस्यवैन्तळकः; तमोद्वारिविमुक्तस्वात् तमताऽपि विमुच्यते; श्रेयश्चरणं च तत्त्वज्ञानपूर्वकमित्यभित्रायेणाह ळ्य्यमिद्विपयञ्चान इति । श्रेय आचरतीत्यनेन प्रामुक्तभगवस्पद्वेषादिनिद्वतिर्विविश्वता । श्रेयः प्रशस्तम् ; तच सम्रहात् गगवदानुक्रस्यम् ; तदनुप्रवेशात् सर्वस्य शास्त्रीयस्परिपायेणाह मदानुक्रस्य इति । ततः श्रेयश्चरणादेव हेतोरित्यर्थः । मामपाप्यैवे-त्यादिवरामश्चीदिह परगतिशब्दनिर्दिष्टः पाप्यपर्यवसानम्भिः परमपुरुष इत्याह मामेव परां गतिमिति ॥

आहुरस्तमावेषु मूळ्तया प्रधानम्तास्त्य उक्ताः ; तेभ्योऽपि प्रधानतमः पिरहार्यो हेतुर्गन्तरम् पुच्यत इत्याह श्रास्नानाद्दर इति । सर्वावस्यसमस्तपुरुषहितानुशासनात् शास्त्रश्चते वेदेव्वेव प्रथमं प्राप्तः ; तदनुबन्धादन्येष्वत्यभिपायेणाह शांस्त्रं वेदा इति । विधायकवावयस्य शास्त्रशब्देनोपात्त्वात् तद्यापारोऽत्व विधिश्वत्यविवस्ति इत्याह विधिश्तुशासनमिति । फिल्तमाह वेदारूपं मदनुशासनमिति । शास्त्रमेव विधिरिति सामानाधिकरण्यं वा विविस्तिम् मदनुशासनिमत्यनेन 'श्रुतिः-स्मृतिमैमेवाज्ञा' (वि. ध. ७६. ३१) इत्यादिस्तारणम् । एतेनान्यथा लिखायर्थं वर्णयन्तोऽपि परयुक्ताः । लिखायये वर्णयन्तोऽपि परयुक्ताः । लिखायये हि प्रशासितुरमिशायमाक्षेपादमिधानतो वा व्यक्तयस्ति । शास्त्रतिपक्षमृतः कामकारोऽत्र न शास्त्रयवैकित्वकादिविषय इत्यमिशायणाह स्वच्छन्दानुगुणमार्गेणेति । "अथ केन प्रयुक्तोऽयं" (३.३६), "काम एषःकोध एषः" (३.३७) इत्यायुक्तकामप्रयुक्ते(क इः)त्युक्तं भवति । "या वेदवासाः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वाता निक्कला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥" (मनु. १२ ९५) इत्यायनुस्तन्यानेनाह न कामप्यासुष्तिम्त्रीं सिद्धिमिति । आमुप्पिकसुखहेतुमृतामुपायसिद्धिमित्यर्थः । न सुखं-न स्वर्गादिसुखितित्यर्थः । यहा श्रासुष्तिमर्की सिद्धिमिति स्वर्गादिसुलविवययम् ; सुस्वमिति त्वैहिकपरम् । अत एव हि किश्चच्छन्दः । इहापि हि सुखं शास्त्रयानुग्रान्तित्यर्यपुरुषानुग्रहादेव । अत एव सुच्यते "अनाराधितगोविनदा ये नरा दुःसभागिनः" (वि. ध. १९.

सुखं किंचिद्वामीति । न परां गतिम् । कुतः परां गति प्रामीतीत्वर्थः ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ ओं तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतास्पनिषस्य....देवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

तसात् कार्योकार्यव्यवस्थितौ उपादेयानुपादेयव्यवस्थायां शास्त्रमेव तव प्रमाणम् । धर्मशास्त्रेतिहासपुराणाद्युपदृहिता वेदाः यदेव पुरुषोत्तमारूयं परं तत्त्वं तत्त्रीणनरूपं तत्प्राप्त्युपायभूतं च कर्माववोधयन्ति, तत् शास्त्रविधानोक्तं तत्त्वं कर्म च ज्ञात्वा यथा-वदन्युनातिरिक्तं विज्ञाय, कर्तुं स्वमर्देसि-तदेवोपादातुमर्देसि ।।

इति श्रीभगवद्गामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

१३) इति । केंमुत्यपदर्शनायात्रान्यपुखसमिन्याहार इत्याह कुतः परां गतिमिति ॥ २३ ॥

अध्यायोक्तं सर्वमेतदर्थमित्यमिषायेणान् शिष्यते तसाच्छास्रमिति । अत कार्याकार्यशब्द-योरुत्पाद्यानुत्पाद्यादिविषयत्वस्यासङ्गतिमभिष्रेत्याह उपादेयानुपादेयव्यवस्थायामिति । अनुष्ठानिविषयेयस्य तत्त्वविपर्यथस्य च आसुरस्वभावे पदर्शितत्वात् अत च तद्विपर्यथस्य विविक्षितत्वात् कार्याकार्यशब्दौ <sup>1</sup>तत्त्वातत्त्ववो: प्रदर्शनार्थावित्यभिभायेणो**पादेया**दिसाधारणशब्द: । उपादानमत्र यथाशास्त्रं मनसा स्वीकरणम् । शास्त्रमेवेत्ययुक्तम् , "श्रुतिः स्पृतिस्तदाचारः" (याज्ञ १.१.७) इत्यादिविरोधादित्यत्नाहं धर्मभास्त्रेति । आदिशब्देनाचारम्रहणम् । "यजन्त्यविधिपूर्वकम् " (९. २३), "न तु मामभिजानन्ति" (२४) इत्यादिव्यवच्छेदाय ज्ञात्वेत्यादिकमुच्यत इत्याह यदेवेति । सर्वाणि हि शास्त्राणि साक्षाद्वा परम्परया वा परमपुरुषसमाराधनतयैव सर्वाणि कर्माणि विद्धति ; तत्र तत्त्वहितयो:, ''वेदैश्च सर्वे-रहमेव वेद्यः" (१५. १५) इत्युक्तं परतत्त्वं प्रागुक्तसमारूवया सारयति पुरुषोत्तमारूयमिति । तत्प्राप्त्युपायभृतं चेति । सेवेषां हि फलसङ्गादित्यागेनानुष्टितानां परब्रह्मपाप्त्युपायत्वमेव स्वभाव इति भावः । अत अवजोधयन्तीत्यनेनाज्ञातज्ञापनरूपविधानशब्दार्थो विवृतः । अयथाशास्त्रं कर्मणां करणं च न कर्तट्यमित्यमित्रायेण कर्तमहंसीत्यक्तम् । तसाद्प्यनुष्ठानतत्त्वाध्यवसायसाधारण्यमाह उपादातमिति । अईसीत्येतदनुसारी मध्ये स्वमिति निर्देशः तस्य देवीं संपदमभिजातस्य योग्यत्वाति-श्यद्योतनाय । एतद्कं भवति–सत्त्वोत्तरेण भवता क़हकपुरुषकौश्रठातिश्यपरिमाहितमोहनशास्त्राभास-प्रक्रियानुषावनेन नित्यभगवदाज्ञारूपवेदाख्यशास्त्रसारमृतात् यथाधिकारं कर्मयोगभक्तियोगरूपभगवदन न्यमजनपरमधर्मात् न प्रच्युतेन भवितव्यम् : अपित् स एव नित्यमुपादेयः इति । **इहे**ति निर्देशः कर्माधिकारमूमिपद्रश्नार्थः : कर्मवस्थावस्थावज्ञापको वा ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचिन्द्रकायां षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

मीमांसकैः कृतिविषय पत्रोपादेयराब्युप्रयोगेऽपि कार्यराब्यस्य स्वप्रस्यास्पप्टोपादेयराब्देन व्याख्याने आश्यान्तरस्य वर्णनीयत्वात्, समन्वयाधिकरणोक्तरीत्या शास्त्रस्य कार्यप्राधान्यं परित्यज्य सिद्धप्राधान्यस्यास्माभिः स्वीकाराच्य तत्त्वमिष संग्रहीतुमाह तत्त्वेति । कर्मानुष्ठानं तत्त्वज्ञानानुगुणमेव कार्यमिति तत्र तस्याप्युपयोगः । अनन्तरवाक्ये च माप्ये तत्त्वमिति पदम् ।

## श्रीः । ॥ अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

देवासुरविभागोक्तिमुखेन प्राप्यतस्वज्ञानं तत्प्राप्त्युपायज्ञानं च वेदैकम्लमित्युक्तम् । इदानीमशास्त्रविहितस्यासुरत्वेनाफलत्वम् , शास्त्रविहितस्य च गुणतस्त्रैविष्यम् , शास्त्रसिद्धस्य लक्षणं चोष्यते । तताशास्त्रविहितस्य निष्फलत्वमज्ञानन् अशास्त्रविहिते श्रद्धासंयुक्ते यागादौ सन्वादिनिमित्तफलमेदवुभुत्सया अर्जुनः एष्छति—

उक्तरोषतया सप्तदशमवतारियतुमुक्तमुद्गृह्वाति देवासुरेति । शक्नतस्य मुखभेदेन प्रपश्चनपरतया सङ्गतिमाह इदानीमिति । हेथोपादेयन्यवस्थायाः शास्त्रेकम्, छत्वोक्तिसमनन्तरमित्यर्थः । "अशास्त्रमासरं कृत्स्नं शास्त्रीयं गुणतः पृथक्। लक्षणं शास्त्रसिद्धस्य तिथा सप्तदशोदितम्॥" (२१) इति संग्रह श्लोकं विद्युणोति अञ्चास्त्रविहित्रस्येत्यादिना । अत्र सामान्यतो विशेषतश्च शास्त्रीयार्थविभजनमध्या-यानुवृत्तार्थः । सप्तदशोदित्तिनत्येतत् संग्रहस्रोकवावयत्रयेऽपि प्रत्येकमन्वेतव्यम् । एतत् सर्वे सप्त-दशोदितमिति सर्वीपसंहारेण वाडन्वयः । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तम् (१६.२४) इत्यस्यानन्तरं ये शास्त्रविधिम्नत्सुज्येति प्रश्नः कथं संगच्छत इत्यवाह तत्नेति । अशास्त्रविद्वितस्य निष्फलत्वमजान-**िन**ति । अयमभिन्नाय:-प्रेक्षावतां स्वतः प्रयोजने तदुपाये वा बुभुत्सा । अतः सत्त्वादिनिष्ठामेदबुभुत्सा तःमूळफळविशोषपर्यन्ता । न च निष्फळत्वज्ञाने फळविशोषजिज्ञासा । ततश्च छोकसिद्धाः कृषिचिकि त्सादयोऽपि प्रेक्षावत्प्रवृत्तिविषयाः सफरु। एव दृश्यन्ते । अन्यथा शास्त्रस्यापि निर्मूछत्वप्रसङ्गात् । अलौकिकेप्वप्याचारसिद्धाः कतिकति धर्माः । न च ते यत्किञ्चत्फलमन्तरेण स्यः : प्रेक्षावतामभद्रति-प्रसङ्गात् । न च श्रद्धापूर्वकानुष्ठानेऽङ्गवैकल्यात् फलाभावः संभवति : न च प्रेक्षावद्भिरनन्तैर्जनेविह्वित्त-व्ययायासादिनाऽनुष्ठीयमानेषु दृष्टप्रयोजनरहितेषु कर्मसु अदृष्टपर्यवसानमन्तरेण गतिः । अतः शास्त्र-विहितादस्य यदि किञ्चिद्वैषम्यमुच्यते. तदा सत्त्वादिगुणभेदशयुक्तफलतारतम्यमालमेव स्यात् । अतः. 'यः शास्त्रविधिमुत्सुज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवामोति न स्रवं न परां गतिम ' (१६. २३) इति पूर्वोक्तमपि प्रायशः अङ्गष्टसुखाभावविवक्षया ; <sup>1</sup>कामकारतः इति विशेषणं वाऽश्र(चाश्र ?)द्धा-युक्तव्यवच्छेदार्थमिति <sup>2</sup>दरुपदेश-बाह्यागम-स्वोत्पेक्षा-बृद्धव्यवहारमात्रकरिपते द्यत धर्माभिसन्धि-श्रद्धादियोगान्नैष्फलयनिवृत्तिर्यक्तेत्यज्ञनस्याशयः इति । विशिष्टस्याफलत्वशङ्कास्पद्त्वाय कर्तृविशेषणं क्रियाविशेषणतया व्याचष्टे **श्रद्धासंयुक्ते यागादावि**ति । यागोऽत दानाद्यपलक्षणार्थः । देवपूजा-रवाविशेषात् तरसंग्रहो वा ।

दुरुपदेशादेरिप संग्रह्योतकं कामकारत इति पदम् । अन्यथा तत्प्रयोगवैयर्थ्यादिति भावः ।

<sup>2</sup> यो दुष्युपदेष्टव्यमिति बुद्ध्या रुत उपदेश आधुनिकः, यश्च पूर्वो बुद्धाद्योगमः, या च खरुता समक्त्वोत्प्रक्षा, यश्च सश्चद्धबुद्धच्यवहारः, तन्मूलकं सर्वे सफलम्। शास्त्रानुक्तविषयत्वेऽिप रुप्यादिवत् आसुरराक्षसधीमूलकत्वाभावादित्यर्जुनाशयः।

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्स्वज्य यजन्ते 1श्रद्धया ऽनिवताः । तेषां निष्टा तु का रूष्ण सन्वमाहो रजस्तमः॥
ग्रास्त्रविधिमुत्सुज्य श्रद्धयाऽनिवता ये यजन्ते, तेषां निष्टा का ? कि सत्त्वम् ?
आहोस्वित् रजः ? अथ तमः ? निष्टा १ स्थितिः ; स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थितिः सन्वादिरेव निष्ठेत्युज्यते । तेषां कि सन्त्वे स्थितिः ? कि वा रजसि ? कि वा तमसीत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं पृष्टो भगवान् अञ्चास्त्रविहितश्रद्धायास्तत्पूर्वकस्य च यागादेर्निष्फळत्वं हृदि निधाय श्चास्त्रीयस्यैव यागादेर्गुणतस्त्रैविष्यं प्रतिपादयितुं श्चास्त्रीयश्रद्धायाः त्रैविष्यं तावदाह—

श्रीभगवानुवाच--

बिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सारिवकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्र्णु॥ सर्वेषां देहिनां श्रद्धा त्रिविधा भवति । सा च स्वभावजा स्वभावः स्वासाधारणो

अल कुण्णशब्देन "कृषिमूँवाचकश्शब्दो णश्च निर्शृतिवाचकः" (भा. उ. ६९. ५) इति सर्वापेक्षितसिद्धचौपिकां निरुक्तिमभिषेति । तुशब्देन शाल्लीयनिष्ठातः कामकारतश्च व्याष्ट्रविर्विव-क्षिता । विपरिणतस्य किंशब्दस्य आहो इति पदस्य वा अलाऽऽञ्चित्तमभिष्ठेत्याह किं सत्त्वमिति । विनाशा-चर्थव्यवच्छेदार्थं सत्त्वादिसामानाधिकरण्याय चाधिकरणव्युत्पत्तिमवतारियतुं पर्यायेण स्वरूपं व्यनक्ति निष्ठा स्थितिरिति । तेषां निष्ठा तु केति पृष्ट एवार्थः सत्त्वमित्यादिना विशेष्यत इत्यमिप्रायेण फल्टितमाह तेषामिति ॥ १ ॥

श्रद्धा किविविधित प्रश्नामावेऽपि तदुक्तिवैष्यः (यथ्ये) श्रद्धा परिहरन् श्रद्धातैविष्यकथनस्य प्रयोजनं नाह एवं पृष्ट इत्यदिना । पूर्वोपदिष्टिवरुद्धं पृष्ट इत्यर्थः । हृदि निधायेति । कमेण साक्षादुत्तर-मवतारयिद्धिमित्यर्थः । प्रश्नस्यात्य-तानादरपर्वज्ञापनाय वा सहसा साक्षादुत्तरानुक्तिरिति मावः । गुणतस्त्रिविष्यमिति । गुणभेदनिमित्तफलभेदयोगित्वमिति भावः । अल्ल हि श्रद्धायोगात् सात्त्विकत्वं शास्त्रोविष्यमिति । गुणभेदनिमित्तफलभेदयोगित्वमिति भावः । अल्ल हि श्रद्धायोगात् सात्त्रिकत्वं शास्त्रोविष्यम् । तल्ल तावत् श्रद्धायोगात् सात्त्रिकत्वं सल्काधन-त्वायोगयुक्तम् । तत् शास्त्रीयवेवव । तल्लापि श्रद्धाया नत्वै (न स न्वै १)कान्तिकत्वमित्यभिप्रायेण शास्त्रीयश्रद्धायास्त्रीयश्चिष्यम् । एतेन श्रद्धायायस्त्रीययायस्त्रीयश्चिष्यम् । अल्ल श्रद्धायम् स्वयायस्त्रिवायस्त्रस्त्रम् । पत्रत्र श्रद्धान्तम् । अल्ल श्रद्धायस्त्रस्त्रम् । स्वत्रयायस्त्रस्त्रम् । स्वत्रयादिनिष्ठाभेदनिर्णय इत्युक्तं भवति । देहिनामित्यनेन तत्त्वेद्दानुरूपमधिकारिबैचित्र्यं विविक्षतन्त्रस्त्रमित्यभिष्रायेणाह सर्वेवामिति । अक्षादीनामपीत्यर्थः । देहिनामिति । सत्त्रादिगुणप्रसुरदेहविशेषानु-

श्रद्धयाऽचिंतुमिच्छति, यो यण्ड्रद्धः स एव स इति श्रद्धाया एव फल्रहेतुःवात् शास्त्राः विहितेऽपि विशेषाद्रप्रदर्शने कश्चिद्धिशेषो वक्तव्य इति भावः।

<sup>2</sup> निष्ठेत्यत्न स्थाधातुस्थिति दर्शयन् स्थित्याधारे गृहक्षेत्रादाविप स्थितिरान्दो लोकप्रसिद्ध इति स्थितिरान्देन व्याख्याति ।

<sup>3</sup> परिसंख्येति। शास्त्रीपश्रद्धायां फलतैविध्योक्तौ अशास्त्रीयायां तदभावोऽर्थसिद्ध इति भावः।

भावः, प्राचीनवासनानिमित्तः तत्तद्भृचिविशेषः । यत्त रुचिः तत्त श्रद्धा जायते । श्रद्धा हि स्वाभिमतं साधयत्येवदिति विश्वासपूर्विका साधने त्वग । वासना रुचिश्व श्रद्धा चात्मधर्माः गुणसंसर्गजाः ; तेषामात्मधर्माणां वासनादीनां जनकाः देहेन्द्रियान्तःकरणविषय(विशेष)-गता धर्माः कार्येकनिरूपणीयाः सत्त्वादयो गुणाः सत्त्वादिगुणयुक्तदेहाद्यनुभवजा इत्यर्थः । ततश्चेयं श्रद्धा सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा । तामिमां श्रद्धां श्रणु ; सा श्रद्धा यत्स्वभावा, तं स्वभावं शृण्वित्यर्थः ।ः र ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत । श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३

रूपिति भावः । साधारणेषु शास्त्रेषु तत्वरोचकेप्वर्थवादादिषु च, कथं पुरुषमेदनियतश्रद्धामेद इति शक्कायां सा स्वभावजेति वाक्यान्तरमित्यभिशयेणाह सा चेति। कार्यासाधारणत्वाय कारणा-साधारणस्वविवक्षामाह स्वभावः स्वासाधारणो भाव इति । कोऽसौ भावः, कश्च तस्याप्यसाधारण्य-हेतुरित्यलाह प्राचीनेति । भावशब्दोऽल धर्मविशोषपरः । नानार्थे स्वभावशब्दे कथमल रुचिविवक्षेत्य-बाह **यत्र रुचिरि**ति । रुचिश्रद्धयोः कार्यकारणभावोऽन्ययव्यतिरेकसिद्ध इत्यर्थः । रुचिव्यतिरिक्ता तत्कार्यभुता का श्रद्धेत्यलाह श्रद्धा हीति । 'श्रद्धा विश्वासकाङ्क्षयोः' इति त्वरापर्यन्तविश्वासेऽपि हि श्रद्धाशन्दं नैघण्ट्रकाः पठन्ति । ननु "कामसंकरुपो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्घीर्मी रित्येतत् सर्वे मन एव'' (वृ. ३. ५. ३) इति श्रवणात् अन्तः करणधर्मे वात्मानमिलम्बत्सु श्रद्धादिषु, 1गुण-क्रतत्वाच गुणधर्मत्वसभवेऽपि, कथमत्र स्वशब्देन देहिशब्देन च निर्दिष्टपत्यगात्भनि तदन्वयोक्तिः, त्त्वाह वासनेति । शुद्धत्वभावस्यैवात्मनः कर्ममूळगुणमयपञ्चतिसंसर्गोपाधिकधर्मभूतज्ञानपरिणतिविद्योषा इत्यर्थः । श्रद्धाभेदेषु सात्त्विकादिसंज्ञानिवेशाय, निर्गुणस्यात्मनः कथं सत्त्वादिमूळवासनादियोग इति शङ्कान्युदासाय च देहिशब्दसूचितप्रक्रियया गुणसंसर्गज्ञत्वं विदृणोति तेषामिति । यथौषघादिविशिष्ट-दहनादिसंबन्धात् पार्थिवादिषु पाकजगुणारम्मः, तथाऽत्रेति मावः । तत्तत्कार्यहेतुतया शास्त्रसिद्धानाः मनुपळव्या निराकरणमयुक्तमित्यभिषायेणाह कार्यैकनिरूपणीया इति । अतीन्द्रियाणामननुभृतानां कथं वासनाहेतुत्वमित्यत्नाह सत्त्वादिगुणयुक्तेति । मूलकारणापेक्षया श्रद्धायास्तात्त्विकत्वादिसंज्ञाभेद इत्याह ततश्चेति । सात्त्विकस्वादित्तैविध्येन श्रावितायां पुन: शृष्त्रिति किंमुच्यत इत्यत्नाह सा श्रदा यरस्वभावेति । खरूपस्य सामान्यतस्त्रेविध्यस्य च विदितत्वात् अविदितप्रकारविशेषाभिप्रायेण श्रुण्वि त्यक्तम् ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपेत्यत न सत्त्वगुण उच्यते ; सर्वस्य पुरुषस्य श्रद्धायासदर्धानत्वे राजसतामस-श्रद्धाविभागायोगात् । सहकारित्वेन सत्त्वं सर्वत्रापेक्षितमिति चेत्-न ; रजसनसोरपि तथात्वात् । त्रैमुण्यं

<sup>1</sup> श्रद्धानां मनोधर्मस्वमेव युक्तम् । कथिञ्चत् गुणधर्मस्विववक्षया सास्विकीत्यादिप्रयोगः स्यान्नाम । तथापि देहिनिष्ठस्वोक्तिः कथिमत्यर्थः । अतः अपिशब्दो युज्यते ।

सत्त्वम् अन्तःकरणम् । सर्वस्य पुरुषस्यान्तःकरणानुरूषा श्रद्धा भवति । अन्तःकरणं यादश्याणयुक्तम् , तद्विषया श्रद्धा जायत इत्यर्थः । सत्त्वश्रव्दः पूर्वोक्तानां देहेन्द्रियादीनां प्रदर्शनार्थः । श्रद्धामयोऽयं पुरुषः । श्रद्धामयः श्रद्धापरिणामः । यो यन्छ्दः यः पुरुषो यादश्या श्रद्धया युक्तः, स एव सः स तादशश्रद्धापरिणामः । पुण्यकमैविषये श्रद्धायुक्तश्रेत् , पुण्यकमैक्ठसंयुक्तो भवतीति श्रद्धाप्रधानः क्रुसंयोग स्त्युक्तं भवति ॥ ३ ॥

#### तदेव विव्रणोति--

यज्ञन्ते सास्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान् भूतगणांश्वान्ये यज्ञन्ते तामसा जनाः॥ हि परस्पराङ्गभावेन स्थित्वेव हि(१) श्वितावितकफादिवत् सर्वं कार्यमारभते । अतोऽत्र सर्वश्रद्धासाधारणकारणत्वेन निर्दिष्टं सत्त्वं गुणलयोपष्टव्यमन्तःकरणमेवेत्याह सत्त्वमन्तःकरणमिति । आनुरूप्यं विद्यणोति अन्तःकरणं यादशगुणयुक्तमिति । यद्विषयरुविजनकवासनोत्तम्भकसत्त्वादियुक्तमित्यर्थः । पूर्वं देहिनां सा स्वभावजेत्युक्तम् ; इह त्वन्तःकरणहेतुकत्वमुच्यते ; तदेतन्न वैकव्यिक्तम् ; सिद्धे तदयोगात् । नापि पुरुषमेदेन विकव्यः ; सर्वस्येत्युक्तः । नापि समुचयः ; नैरपेक्ष्यप्रतीतेरित्यलाह सत्त्वभूव्यः इति । सामग्रीमध्यपातिषु तत्रतत्वान्यतमिन्देद्यो नानुपपन्न इति भावः । श्रद्धामय इत्यत्न मयटः स्वार्थिकत्वे निष्पयोज्ञनत्वात् प्रानुर्याध्येत्वेऽपि प्रकृतानुपयोगात् श्रद्धाफलान्ययविवक्षया विकारार्थन्त्वाह श्रद्धापरिणाम इति । एवं सामान्येन श्रद्धाजन्यककसंवन्धित्वमुक्तम् ; तत्र यो यच्छ्द्ध इत्यादिना श्रद्धाविरोषवतः फळविशेष उच्यत इत्याह् यः पुरुष इति । श्रद्धान्तरवैधर्मयेद्योतनाय यत्तच्छव्ययोः यादृश्यत्यादिना प्रकारपरामर्शित्वोक्तः । 'आयुर्धतम् ' (यजु. २. ३. २. २) इत्यादिवत् कार्यकारणभावातिशयविवक्षया स एव सः इति निरुद्धोऽप्रयारोप इत्याह स तादृश्यद्धापरिणाम इति । एतेन 'स एव सः' इत्यत्न विवयस्यत्वान्व देश्चन्तिकार्याचिरत्यान्व किमपेक्ष्य श्रद्धापरिणामत्वोक्तिरित्यलाह देश्चन्त्रिद्धारा व्यवस्थितत्वात् देश्चन्तिया क्षत्र प्रश्नोद्व इति च भावः ॥ ३ ॥

प्रकान्तश्रद्धायाः सात्त्विकत्वादिविभागोऽनन्तरं सात्त्विकराजसतामसश्रद्धेयैः व प्रदर्शत इत्यभि-प्रायेणाह तदेव विद्यणोतीति । तत् फळविशेषाणां श्रद्धाविशेषनिवन्धनत्वमित्वर्थः । पुरुषस्य सत्त्वादयो

श्रं पुरुष इति भोग्यविशिष्टभोक्तृत्रहणम् । तत्र भोग्यांशे श्रद्धापरिणामत्वम् । देवाः श्रद्धां जुङ्कतीति पुरुषः श्रद्धापरिणाम उच्यते । तत्रापां श्रद्धात्वमपि एतच्छ्रद्धासंवन्धादेव । स एवेत्यत्र स इति फळप्रहणात् तद्भद्वापि औपचारिको वा पुरुषे फळाभेदः ।

<sup>2</sup> विरुद्धानामिप मिळित्वा कार्यकरत्वे दृष्टान्तमाह वातेति । तदिवमुक्तं सांख्यतत्वकौमुद्याम्, (13) प्रदीपवचार्थतोवृत्तिरित्यत्व । (12) अन्योन्याभिभवाश्रयज्ञनतिमञ्जनवृत्त्वयस्य गुणाः इत्यत्व अन्योन्याभिभावकत्वसापेक्षत्वज्ञनकत्वाविनामृतत्वानि एषामुकानि ।

<sup>3</sup> श्रद्धेयाः देवयक्षप्रेतादयः । तत्पुरस्कारेणेत्यर्थः ।

सत्त्वगुणप्रचुराः सान्विक्या श्रद्धया युक्ताः देवान् यजन्ते । दुःखासंभिन्नोत्कृष्टसुख-हेतुभृतदेवयागविषया श्रद्धा सान्विकीत्युक्तं भवति । राजसा यक्षरक्षांसि यजन्ते । अन्ये तु तामसा जनाः प्रेतान् भृतगणान् यजन्ते । दुःखसंभिन्नाल्पसुखजननी राजसी श्रद्धाः दुःखप्रायात्यल्यसुखजननी तामसीत्यर्थः ॥ ४ ॥

एवं शास्त्रीयेष्वेव यागादिषु श्रद्धायुक्तेषु गुणतः फलविश्वेवः, अशास्त्रीयेषु तपोयाग-प्रमृतिषु मदनुशासनविपरीतत्वेन न कश्चिदपि सुखलवः, अपि त्वनर्थ एवेति हृदि निहितं व्यक्षयन् आह—

अशास्त्रविहितं घोरं <sup>1</sup>तप्यन्ते ये तपो जनाः । दम्माह्ङ्गरसंयुक्ताः कामरागवलान्विताः ॥ ५ कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतप्राममन्वेतसः । मां नैवान्तरशरीरस्थं तान् विद्धवासुरिनश्चयान् ॥ ६ अशास्त्रविहितमितिघोरमपि तपो ये जनाः तप्यन्ते । प्रदश्चनार्थमिद् । अशास्त्रविहितं सह्यासं यागादिकं ये कुर्वते, दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागवलान्विताः शरीरस्थं पृथि
ह्युपवीयमानाः स्नानुरूपे विषये श्रद्धां जनयन्तीत्यिमिशायेणाह सत्त्वगुणप्रचुरा इति । सर्वेषु त्रैगुण्य संश्रितेषु केनचिहिशेषण निर्देशस्तरभाव्याचि । तत्र सान्विवया श्रद्धयेति पुरुषस सान्विकत्वकथनेन अर्थसिद्धहेतुकथनम् । श्रद्धाया एव स्वरूपण निर्देशस्त्रवात् । तां शृण्विति श्रद्धास्त्रमायो हि ज्ञापयित्वं विविक्षत इत्यमिशायेणाह दुःस्वासंभिन्नते । आराध्यसायुज्यादिहिं आराधनानां फलमित्यमिशायेण दुःस्वासंभिन्नत्थादिकथनम् । एवमुत्तरयोरि भाव्यम् । तामसानामितरेभ्योऽत्यन्तवैधर्म्यज्ञापनाय अन्य
हाव्यः । भत्तगणाः रुद्धपर्भदादयः ॥ ४ ॥

एवमर्थात् प्रश्नस्य <sup>2</sup>निषेषः कृतः; अथ कण्ठोक्रयेत्यभिपायेणाह एविमिति। "न स सिद्धिन्त" (१६, २३) इत्यादिपागुक्तसारणाय न कश्चिद्पि सुरक्षठव इत्युक्तम् । अपि स्वनर्थं एवेत्यनेन पूर्वोक्तनरकपतनसारणम् । प्रश्नवाक्यगतश्रद्धान्वितरवानुभाषणिविश्वया तरकार्योतिप्रयासज्ञापनपरो घोरः शब्द इत्यभिप्रायेणाह अतिघोरमपीति । नतु 'यजन्ते श्रद्धयाऽनिवताः' इति वागविषये पश्चे तत्यन्त हति तपतोत्तरं कथं संगच्छत इत्यकाह प्रदर्शनार्थं मिद्दिनिति । समाहकाकारं दर्शयन् पछितमाह अश्चास्विदित्तम्ति । वेदवाद्यागमोक्तं, वैदिकनप्यनिषकारिभिदेशकाछद्वयिक्रयादिनियमानादरेण अथित्वत्वाद्यास्विति । वार्गादिकमित्यनेन प्रश्नेऽपि वाग्गव्यविदित्तम् । दारुणपर्यायघोरशब्दार्भिषेतमाह बह्वायासमिति । यागादिकमित्यनेन प्रश्नेऽपि वाग्गव्यविदितस्य । दारुणपर्यायघोरशब्दार्भिषेतमाह बह्वायासमिति । यागादिकमित्यनेन प्रश्नेऽपि वाग्गवद्यं पदर्शनार्थमिति ज्ञापितम् । अत एव हि प्रशोक्तरयोरेकविषयत्वम् । याह्येरवेदिन्तानां चोदकान्तरसुच्यते दम्भाहक्कारसंयुक्ता इत्यदिना । वरुमत कामरागयुक्तत्वादसात्त्वकम् । "वरु वरुवता चार्वं कामरागयिवविद्यत्वम् (७, ११) इति हि प्रागुक्तम् । न केवरु परस्न नरकमः ;

<sup>1</sup> कर्रानाधिक्यक्षापनाय यागं विहाय तपउक्तिः । नतु पूर्वपूर्वानुष्टानमूळश्रद्धाधीनप्रवृत्तिषु कथं डम्भाहंकारकामरागा इति चेत्—यथावत्प्रतियोधने ऽपि अत्यागात् ते संन्त्येव । अत एव आसुरिनश्चयानिति पद्मयोगः । 2 तिन्नष्टायां फळप्रयोजकसारिवकादिविभागो नेत्युक्तमित्यर्थः ।

व्यादिस्तसमूहं कर्शयन्तः, मदंशभूतं जीवं चान्तरशरीरस्थं कर्शयन्तो ये तप्यन्ते, यागादिकं च कुर्वते ; तान् आसुरनिश्चयान् विद्धि । असुराणां निश्चय आसुरो निश्चयः ; असुरा हि मदाज्ञाविपरीतकारिणः ; मदाज्ञाविपरीतकारित्वात् तेषां सुखळवसंबन्धो न विद्यते ; अपि स्वनर्थन्नाते पतन्तीति पूर्वमेवोक्तम् , ''पतन्ति नरकेऽश्चचौ'' (१६.१६) इति ॥ ५ ॥ ६ ॥ अथ प्रकृतमेव शास्त्रीवेष्ट यज्ञादिष्ट गुणतो विशेषं प्रपञ्चयति । तत्राहारमुळत्वात

अपित्विहापि कायकर्शनिम्यिमिशियण अरीरस्थभ्तसमृहकर्शनोक्तिः । 'अन्तर्याम्यमृतः' (व. ५. ७. १४), 'अनक्षत्रन्योऽभिचाकर्शीति' (मृ. ३. १. १) 'न स्थानतोऽपि परस्योभयिलक्तं सर्वत्न हिं' (मृ. ३. १. १) 'न स्थानतोऽपि परस्योभयिलक्तं सर्वत्न हिं' (मृ. ३. १. १) 'न स्थानतोऽपि परस्योभयिलक्तं सर्वत्न हिं' (मृ. ३. १. १) इत्यादिमिः परमारमनः स्वरूपतो धर्मतो वा कर्शनासंभवात्, संभवे च शास्त्र-विहितोपवासादिभिरिप भस्त्रात्, शरीरिणां क्षेत्रज्ञानां ज्ञानमुखादिसङ्कोचरूपस्य कर्शनस्य श्रुतिस्मृति-लोकसिद्धत्वात्, 'अन्तरश्ररीरस्थिमित्यनेन शरीरावच्छित्रक्षेत्रज्ञत्वस्यूचनात्, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (१३. २), 'ममेवांशः' (१५. ७) इति प्रागुक्तपिक्षयया सर्वशरीरकपरमारमिवशेषणांशमृतजीवविवश्याऽत्व मामिति निर्देश हत्याह मदंशभृतं जीविषिति । मच्छरीरभृतजीविषीङनं मरपीडनतुल्यमिति दोषातिशयस्चनार्थोऽप्रमुपवारः । शास्त्रोलङ्कनेनातमपीडनरूपमि पापमेषामायातिमत्यिमिशयः। 'यज्ञस्य स्वतो याज्यमाननत्वाच्छास्त्रयिम्भारविरहेऽपि नात्यन्तिवरुत्वताः तपसस्तु स्वतस्पर्वकर्शनत्वया शास्त्रीय अकाराभावे भावनत्वं न त्यात्' इति हेतुकप्रायाणां विभागं प्रतिक्षेण्दुमाह यागादिकं चेति । आसुरोनश्र्यस्य विशेषं व्यक्तयित्रमाह श्रुस्तानिश्यर्थे विशेषत्वनिश्रयस्य विशेषं व्यक्तयित्रमाह श्रुस्तानित्वादिति । आसुरिनश्रयत्वस्थापनं प्रागुक्तानर्थपर्यवसानप्रकाश नायेत्याह मद्श्वाविपरीतकाित्वादिति । आसुरिनश्रयत्वस्थान् प्रदेयेतवता कथमयमर्थः सिध्येदित्यत्वाह पूर्वमेवेति ॥ ५ ॥ ६ ॥

एवमुत्तरे प्रतिषेषरूपेऽर्थतः कच्छोक्त्या च दते पुनराहारादित्तैविध्यक्णनमनुमुस्सितोपन्यासस्त्या-दित्यलाह अथ प्रकृतमेवेति । अयमभिप्रायः—अशास्त्रीयेषु सत्त्वादिनिष्ठामूलफलमेदे नुमुस्सिते शास्त्रीयेष्वेवायमिति प्रस्युक्तम् । त्ल श्रद्धातद्वतां श्रद्धेयानां च गुणतो विभाग उपन्यस्तः । तच्छूवणादेव तत्तुल्ययोगक्षेमेषु सर्वेषु नुमुस्सा वीभस्सोजयितेत्यत एव तद्वदेषेन्यासः इति । प्रपञ्च प्रतीत्यनेन पौनरुक्त्यशङ्कापि परिहृता । यज्ञनपः वभृतिषु शास्त्रीयेषु तिष्ठस्तु रागप्राप्तस्याऽङहारस्य प्रथमोपदेशः केनाभिष्रायेणेत्यलाह तत्रोति । "इद्धिस्त्वमानैसर्वेषां विपरीतैर्विवर्थयः" (अष्टाङ्ग) इत्यापूर्वेदोक्तन्याय

<sup>1</sup> नतु मां कर्रायन्त इत्यस्य स्वविषये मामप्रीतिमन्तं कुवैन्त इत्यथोंऽस्तु । मर्नुरासिनाकरण-मेव मत्करीनिमिति च शांकरम्-इत्यत्न तदा अन्तररारीरस्थादवैयर्थ्यामत्यायेन अन्तरिति । असुरेष्विप मम न सहजसीहार्दहानिरिति मामिति प्रयोगेण स्ट्यते । स्यातिलाभादिफलद्रीनात्र संतीएव्यम् , कर्रानमेवेदं जीवस्येत्येतद्र्थमिष जीवपरत्वमावस्यकम् ।

<sup>2</sup> असुरा इति । वौद्धादिभिर्वुद्धादेर्वेदोपदेण्डुभगवतश्चेक्याभिमतौ न वेदद्वेपो युक्तः। भेदाभिमतौ भगवति द्वेष एव सिद्ध्यतीति भावः।

सत्त्वादिवृद्धेराहारत्रैविष्यं प्रथमप्रुच्यते । "अन्नमयं हि सोम्य मनः" (छा. ६.५.४) "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" (छा. ७.२६.२) इति हि श्रयते—

आहारस्विप सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः। यत्रस्तर्यस्त्या दानं तेषां भेदिमिमं श्रणु ॥ ७ आहारोऽपि सर्वस्य प्राणिजातस्य सत्त्वादिगुणत्रयान्वयेन त्रिविधः प्रियो भवति । तथैव यज्ञोऽपि तिविधः, तथा तपः दानं च । तेषां भेदिमं श्र्णु-तेषामाहारयञ्चतपोदानानां सत्त्वादिगुण्]भेदेनेमगुच्यमानं भेदं श्रणु ॥ ७ ॥

्रिआयुर्विवर्धनस्वादय आहारगुणाः केचिदायुर्वेदादवगन्तस्याः ; केचित् शास्त्रनिर्भाः प्रत्यक्षत एव सिद्धाः । पूर्वमेव सत्त्वविद्धद्ध्या हि सान्त्विकाहाररुचिरित्यिभिपायेणाह पुनरपीति । आयुषः सर्व-पुरुषार्थनित्यादनोपयोगित्वेन प्रथमप्रहणम् । सत्त्वस्य तु विशेषतो सुमुक्षोरपेक्षितस्वात् तदनन्तरोक्तिः । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' (छा. ७. २६. २) इति अतेरुपहंहणार्थस्वात् आहारसाध्यसन्त्वविद्धिज्ञानपर्यन्तेत्यभिप्रायेण <sup>अ</sup>ज्ञाने सत्त्वशृद्धमुप्तारिवितं तत्कारणे ताबदवतारयितं सत्त्वमन्तःकरणिति । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' (नाम. ३. ना) इति ज्ञानविशेषे च सत्त्वशब्दः प्रयुक्तचर इत्यसिपायेणाह अन्तःकरणकार्यं ज्ञानिति । इह-आहारशुद्धिकृत्युपदंहण-दशायामित्यर्थः । यथा तत्तद्दव्यगतानां रसादीनां शरीरधात्वादिपोषकर्वेन शास्त्राभिहितत्तद्दव्यणा-मित् तथा व्ययदेशः ; तथेहापि सत्त्वगुणस्य ज्ञानविद्धिहेत्रत्वे तदाश्रयस्याहारद्वव्यस्यातीत्वभिप्रायेणाह

<sup>1</sup> देवतादिभेदवदिति । श्रद्धयेषु देवत्वयक्षत्वादिभेदः प्रागुक्तः । तेषु सान्त्रिकादिप्रियत्ववत् आहारेऽपीति । 2 गीतायां यज्ञादो सान्त्विकत्वादिविमागेऽपि आहारे सान्त्विकप्रियत्वादिनैव विभागः इतः । अथापि अवापि सान्त्विकादिविमाग इष्ट इत्याह सत्वमया इति । 3 अभिप्रायेणेति । न तु सत्त्ववर्धकत्वं नास्तीत्यभिप्रायेणेत्यर्थः । उत्तरन्त्रोके पृथक्र्रजोवर्धकत्वोत्त्तया इहाप्येतत्संभवात् ।

सन्तमयो ज्ञानिवृद्धिहेतुः । तथा वलाशेग्ययोरिष विवर्धनाः । सुखप्रीत्योरिष विवर्धनाः परिणामकाले खयमेव सुखस्य विवर्धनाः ; तथा प्रीतिहेतुभृतकर्मारम्भद्वारेण प्रीतिवर्धनाः । स्याः मधुरस्सोपेताः। क्ष्याः स्रेहगुक्ताः । स्थिराः स्थिरपरिणामाः । ह्याः रमणीयवे(विद्यो)षाः। एवंविधाः सन्वमया आहाराः सान्विकस्य पुरुषस्य प्रियाः ॥ ८ ॥

कद्वम्छलवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः । आहारा राजसस्येष्टा दुःस्वशोकामयप्रदाः ॥ ९ कदुरसाः, अम्लरसाः, लवणोत्कटाः, अत्युष्णाः, अतितीक्ष्णाः, रूक्षाः, विदाहिनश्चेति

सन्वात संजायते ज्ञानमिति । बलारोभ्ययोस्युखशीत्योश्च निरन्तरपाटः समुचित्य पश्चत्या परस्पराविना-भावविवक्षयेत्यभिषायेण **वसारोग्ययोः सुखप्रीत्यो**रिति द्वन्द्वविभजनम् । वस्रिमिह पाणामचोरुपचयः : आरोग्यं धात्रसाम्यादि । कर्म-दोषाग्नि-धातुवैषम्येण हि रोगाः पाद्रभैवन्ति । तस्य रस्यत्वहृद्धावाभ्यां तादात्विकसुखजनकत्वसिद्धेस्तत्पौनरुनत्यपरिहाराय सुखवर्थकत्वं परिणामकाल इति विशेषितम् । प्रीति-वर्धकत्वाद्भेदशदर्शनाय स्वयमेवेत्यद्वारकत्वोक्तिः । यथोन्मादादिहेतुम्तानि द्रव्याणि मक्षितानि स्रोको-द्वेगादिजनककर्मद्वारा पुरुषस्याधीति वर्धयन्ति ; तथा सत्त्वहेतुम्तान्यपि मङ्गलेषु लोकोपकारकेषु पर-लोकादिहितेषु च कमेसु प्रचोच तद्द्वारेण पीतिं जनयन्तीत्यभिप्रायेणाह प्रीतिहेत्भृतकर्मारम्भ-द्वारेणेति । कट्वम्लेत्यादिना रसान्तराणामसात्त्विकत्वेन वश्यमाणत्वात् तत्प्रयोगपाचुर्यानुसाराच अत रसशब्दो रसनिशेषनिषय इत्याह मधुररसोपेता इति । अनेन प्रत्ययस्यात्र संबन्धमातोपळक्षकताऽपि दर्शिता । रस्यन्त इति वा रस्याः ; तत्र मथुररसोपेता इति कारणोक्तिः । माधुर्य हि रसान्तरेभ्यः शरीरस्थितौ विशेषेण हेतुभैवति । यथोक्तं वाग्म(बाह्)टेन "रसाः साद्वम्ळलवणतिकतीक्षण(क्तोषण)कषा-यकाः । षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ॥'' (अष्टाङ्गहृदय) इति । भोजनं च स्वस्यस्य मधुररसंप्रायतया नियम्यते, "षड्सान् मधुरप्रायान् नातिद्भृतविल्यितम्" इति । रसायनाधिकारेषु च मधुर एवैको विधीयते । एवं स्नेहयुक्त आहारोऽपि रौक्ष्यविरोधी रूक्षेण वायुना शरीरस्यापि विशरा-रुतां वारयतीत्यप्यायुर्वेदावसितम् । अद्यमाने आहारे खरूपस्थैर्यत्यासमवात् गुणत्वाच शरीराख्य-र्सेषातस्थैर्यहेतुमृतरसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्जाशुक्कारुयधातुसप्तकरूपपरिणामस्य वलादेश्च खसाध्यस्य चिर-कालस्थायित्वलक्षणं स्थैर्ये विवक्षितमित्याह स्थिरपरिणामा इति । उपयोगात्वूर्वमेव जुगुप्सनीयसन्नि वेशरूपविशेषादिविरहात् संदर्शनमालेणापि पीतिजनकत्विमह हृद्यत्विमत्याह रमणीयवेषा इति । येषु घर्मशास्त्रायुर्वेदयोरुमयोर्पि सांगत्यम् , तेषां सर्वेषामिदमुपरुक्षणमित्यभिपायेणाह **एःविधा** इति । एतेन प्रामुक्त (४. १७) युक्ताहारत्वं च वित्रतम् ॥ ८ ॥

्कट्वम्खरुब्दयोः त्रिकडुक्तिन्त्रिण्यादिषु विशेषतः प्रयोगादिह तावन्मात्नविवक्षाःयुदासायाह कटुरसा अम्छरसा इति । सान्त्रिकस्यापि त्रतादिन्यतिरिक्तकालेषु रुविमात्नार्थलवणयोगानुमतेः, सरुपतो लवणसाहारत्वासंभवात् , पत्यक्षलवणस्य गोमांसतुल्यतया स्फुटनिषेधाचात्र तद्यतिरिक्तापेक्षया कट्वम्लल्वास्युरणतीक्षणरूक्षविदाहिनः । अतिश्रैत्यातितैक्षण्या<sup>1</sup>दिना दुरुपयोगास्तीक्षणाः ; श्रोप-करा रूक्षाः ; तापकरा विदाहिनः । एवंविधा आहाग राजसस्येष्टाः । ते च रजोमयत्वात् दुःखशोकामयवर्षनाः रजोवर्धनाश्च ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूर्ति पर्श्वेषितं च यत् । उच्छिप्टमिष चामेष्यं भोजनं तामसिवयम् ॥ १० यातयामम् विश्वालावस्थितम् ; गतरसम् त्यक्तसाभाविकरसम् ; पृति दुर्गन्धोपेतम् ,

लवणशब्द इत्यभिमायेणाह लवणोत्करा इति । "सिम्धिष्यणं च भोजनस् " (अष्टाङ्ग) इति कोष्णस्य भोजनस्य विहितत्वात् अत्युष्णोति विशेषितम् । 'कृट्वादीनां विदाहिनः' इति अमन्युदासायात्र समा-सोक्तिः । तीक्ष्णस्यापि मरीच्यादेस्तत्त्वदृद्वयरोचनार्थं माल्याऽनुमतेस्त्वाप्युपसर्गस्यान्वयो दर्शितः । उप्णस्य पृथगुपात्त्वादत्र तीक्ष्णशब्दो न तत्त्वर्ययः ; आशुकारिषु मरीच्यादिष्वायुर्वेदे तीक्ष्णस्व-युच्यते । अतोऽत्र अयोगक्षणप्रभृति प्रतिकृत्रतमानि द्रव्याणि तीक्ष्णानीत्यभिप्रायेणोदाहरति अति-श्रेत्येति । खेहप्रतिपक्षमृतो गुणो रौक्ष्यमनुशिष्यत इत्यभिप्रायेणाह श्रोषक्षर रूखा इति । वातकोपन्तत्वमनेन सिद्धम् । अत विदाहिशब्दे प्रकृतिभत्यययोर्विविक्षितं व्यनक्ति तापकरा इति । वित्तकोपना इत्यर्थः । एवंविधा इति पूर्ववत् । 'तृष्णासक्रसमुद्धवम् ' (१४.७) इत्यादि प्रामुक्तं सारयित रजोमयत्वादिति । कटुप्रमृतीनां दुःखादिहेतुत्वं च प्रायशोऽन्वयव्यतिरेक्योग्यमायुर्वेदविशोधितं च । दुःखादत्वं धातुवैषम्यादिद्वारा ; शोकप्रदत्वं तत्परामर्शन पश्चात्तापादिना ; आमयः कालक्रमण । न केवल्यस्त्रेत तमोवद्दुःखादिहेतुत्वम् ; अपितु परंपराय परलोके देहान्तरेऽपीत्यभिप्रायेण सत्त्ववर्थक्तास्त्रिकाहारसमानन्यायसिद्धत्वभूमाइ रजोवर्थनाश्चेति ॥ ९ ॥

सान्त्विकराजसाहारयोर्गुणकार्यकथनेऽपि तामसे गुणमालकथनमदूरविश्वकर्षेण राजससमान-कार्यस्वात् । सँवेंग्वाहारेषु यामातिकमणमालेण दोषाभावात् तेषुतेषु द्रन्येषु यावता कालेन दुष्टता, तावद्विवक्षामाह **यात्त्यामं चिरकालावस्थित**मिति । **यामाः** श्रेष्ठोंऽशः ; यथा <sup>श</sup>्वतात्परं मण्डमिवाति-स्क्ष्मम्' (क्षे. १. १६) इति **केचित्** । तेन निर्विधित्वसुक्तं भवति । तदपि चिरकालावस्थित-मित्यनेन अर्थसिद्धम् ) अम्मयेषु पृथिवीमयेषु च आहारेषु तत्तरपाकमेदेनापि कदाचिदपि सर्वरस-त्यागाभावात् तत्तद्द्रव्यस्वभावतयाऽनुशिष्टरसत्यागेन रसान्तरापितिह **गतरस**शब्देन विवक्षितेत्याह स्थक्तस्वाभाविकरसमिति । एतेन गतरसशब्देन निर्वीधिस्थोक्ततया, ''यातयामं मन्दप्ववम्'' इति व्याख्या निरस्ता । यद्यपि पृतिशब्दः असान्त्विकतया भगवच्छास्वादिसिद्धे करङादिहृत्येऽपि

श्री अतितेष्ण्येत्येव सर्वत्र पाठः, न तु अत्यौष्ण्येति । अत्युष्णेति पृथगुक्तत्वाच न तत् अपेक्षितम् । मात्रया तीष्ट्णताया इप्टत्वात् तद्वारणाय अतितेष्ट्ण्येत्युक्तम् ।

<sup>2</sup> नाल इवेताश्वतरस्य यामराध्वव्यास्याने उपयोगः। अतिसङ्क्षमिकञ्चित्संभवोदाहरणमा-त्राय तत्। एवं तिह गतरस्रशब्युनस्रक्तः स्यादिति यातयामराष्ट्रोऽधैपकपर इति शांकरम्। यामः यमन-व्यवस्थाः तद्दहितम् अतिदृश्याद्यपि स्यात्।

पर्वेषितम् कालातिपस्या रसान्तरापन्नम् ; उच्छिष्टम् गुर्वादिस्योऽन्येषां भ्रक्तिश्रष्टम् ; अमेध्यम् प्रयुज्यते, तथाऽपि अत् द्रन्यविशेषोपादानयकरणाभावात् गुणादिमुखेन सर्वाहारोपळक्षण प्रकरणाचात्त पृतिशब्देन हेयतया लोकशास्त्रप्राणाविवशामाह दुर्गन्धोपेतिमिति । कालाति पतिमात्तस्य यातयामशब्देन महणात् , रसत्यागस्य गतरसमित्युक्तस्वात् , येषु कालातिपत्तौ दोषः, क्षीरादिष्विव अतस्त्रमादिभिश्च रसान्तरापन्नति । हेयविक्रत्यन्तरादीनामुण्ळक्षणमिदम् । अत् एव पक्वानामिविक्लानामिष जलादीनां राज्यन्तरित्वादिना त्यागः । एतेन यातयामशब्द्रोऽत्र रसान्तरापितरहितकालातिकममात्रदृष्टिविषय इति दश्चितम् । उच्छिष्टिविशेषस्य शास्त्रानुमतेराचार्योच्छिष्टस्य च पापविशेषगायश्चित्तया पवित्रतेवाणि महणात् तद्भवित्तिक्तिथयोऽत्र उच्छिष्टशब्द इत्याह गुर्वादिस्योऽन्येपामिति । गुर्वादीति आदिशब्देन पिद्धः, ज्येष्टस्य शाद्धः, भार्याविषये मर्तुश्च महणम् । यत्तु, "अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो न्रज्ञीदनमपत्तत् । तत्वा उच्छेषणमददुः । तत्

न्तु, नारातः वुकाना राज्यस्य प्रमान प्राप्ता प्रमान प्राप्ता विकार विका

यतु भगवता नारदेन जातिसरेण प्राचीनद्यद्भजन्मानुष्ठानमनुस्मृत्योक्तम्, "उच्छिष्ठछेणान् अनुमोदितो द्विजैः सकृत् स्म मुझे तद्दपास्तिकिल्विषः" (भाग. १. ५. २५) इत्यादि—तद्दिष सिम्त जन्मिन नारदस्तेषां शिष्यः सूद्रश्चेति तादृशेष्वेष तत् प्रामोति ; नान्यादृशेषु । तथा सित हि वावयान्तरमि न विरुध्येत । न च वचनिवरोधे छिङ्गदर्शनमालेणानुष्ठानवर्छितः । प्रतिपेधति खाचार्यनुत्रतादेरप्युच्छिष्टम्, 'उच्छिष्ठागवर्शनमावायेवदाचार्यपुत्ते इतिः' (आप १.२ ७.३ ०) इत्यादिना । किमुतान्येषाम् १ मागवतस्य तु आचार्यभ्यतिरिक्तसमस्तोच्छिष्टमक्षणेऽपि तीत्राणि प्रायश्चित्तान्यनुशिष्यन्ते । यथा स्तनत्कुमागियसंहितायामुदाह्तमिति आगमप्रामाण्ये भगवद्यामुनाचार्येरुणानम्, "निर्मार्व्य भक्षयित्तेवमुच्छिष्टमगुरोरिपे। मासं पयोत्रतो भृत्वा जपन् अष्टाक्षरं सदा । त्रक्षकृते ततः पीरवा" इत्यादि ।

भाष्ये चाल गुरुशब्द आचार्यविषयः पितृविषयो वेत्ययुक्तम् ? (पितृविषयो वा । 'सर्वगुरु-विषयक एवेत्ययुक्तम् ?) गुरुशब्दार्थोपाध्यायाद्युच्छिष्टमहणशास्त्रामायात् । न च यर्तिकचिदुपदेशमाले-ऽप्याचार्यत्वम् , 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेदृद्धितः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते'' (मतु. २. १४९) इत्यादिभिसाङक्षणात् । अन्यत् प्रयोगस्योपचारादिष संभवात् । यद्योपनेता प्रण-

र्षारादौ आतञ्जनादिमैबरसान्तरापत्तिः। तत्त तत्स्वीकारेण कालातिकामणमात्रेण रसा-न्तरापसावेव हेवत्वमित्यर्थः।
 भन्यवेदस्थान्वादितिरान्त्रस्याऽऽकृतिविदेशयवास्त्रित्वास् एकादित्यनुष्ठितमन्याऽदितिरेव कुर्योदित्यर्थः।

यदि केश्वित् 'पठ्यते', "नारायणैकिनिष्ठस्य याया [चेष्टा] इतिस्तदर्भनम् । योयो जल्यः सस जपसाद्व्यानं यित्रीक्षणम् । तस्पदाम्व्वतुष्ठं तीर्यं तदुच्छिष्टं सुपावनम् । तदुक्तिमालं मन्साप्रधं तस्स्पृष्टमिस्त्रं सुनि ॥" (बिह. सं.) इति, इदमपि नारायणैकिनिष्ठपश्चसापरम् ; न तु स्वयं विषायकम् । अन्यतः प्राप्तेरे ब्रल्ल प्रशंसा । तल <sup>श्</sup>प्रथमस्रोकः स्वभावपाप्तम्थपातं चानुवद्ति....(१) यच शास्त्रमासम् ; न तु पुनः शास्त्रान्तरिविषद्वपरामिश्चँ । प्रमाणप्राप्तविषयत्वादेव हि अतुलं सुपावनम्प्रयम् मिस्तरम् इति विशेषणेषु संस्ममः ("आक्षणाः पादतो मेध्याः" इत्यादिमिर्विप्रयादोदकस्य सामान्यतः पावनत्वनाष्त्रो भागवतत्वावस्थायाम् , अतुलं तीर्थमिति विशेष्यते । एवमनेकान्तिनोऽप्युपनेतृवभृतेत्रस्व स्वयाद्वेत्रस्व सामान्यतः पावनत्वेन प्राप्ते तस्य नारायणैकिनिष्ठस्वद्दशायां सुपावनत्वं विधीयते । तथा महापुरुषकृतस्तुत्यादेर्मकृत्रस्तत्वत्यादेर्मकृत्रस्त सिद्धं 'तदुक्तिमात्रं मन्साप्रयम् ' इति भगवदनन्यपणीतस्य गाथागीतादेर्पि मन्साप्रयम् क्रादिहेतुत्वं प्रतिपादते । एवम्, गुद्धानां शोधकापेक्षायां निर्णेजनादिवत् महात्मनां स्थरोऽपि माहास्म्य-विशेषवशाच्छोषकतया प्राप्तः। 'तत्रपृष्टमस्तिरं गुचिन सर्वस्यापि द्वयस्य पृथवचोदितशोषकभेदस्य भागवतस्यरी एकः शोषको भवितुमहितीरगुच्यते । अन्यथा भागवतेन यद्यस्यादिरपृष्टवण्डारुस्त्रस्वणेन, अलेशकवाद्वत् , स्पृथ्यमस्थास्थर्याक्षेत्रस्यास्थर्याह्वेत्वमसंक्रः ।

एतेन परमाप्तस्य भक्ताङ्किरेणोर्भाषागाथाऽपि निर्व्यूढा । एवं हि सा संस्कृतेन विपरिणंस्यते-

तिकं गायतीवेदकत्यत्वयम्।
 य अत प्रथमश्रोक इत्यारम्भात् अतुलिमित्यादेः
 द्वितीयश्रोकविषयत्वात् मध्ये कचित्किश्चिद्ग्रन्थभ्रंश आलोच्यते ।

<sup>3</sup> अद्वेतप्रसंग इति । भक्ष्याभक्ष्याद्यद्वेतरागिणां वाद्यमतप्रवेश इति न्यायकुसुमाञ्जलिः ।

<sup>4</sup> मक्तांबिरेणु:—तोण्डरहिणोडियाहवार्। तदीयगाया च (இருமாலே \$\frac{1}{2})—வானு ளார் அறியலாகாவானவா என்பராகில், தேனுலாந்துள்ப மாலேச் சென்னியா என்பராகில், ஊனமாபின்கள் செய்யும் ஊனகாரகர்களே இறம், போனகம் செய்த சேடம் தருவரேல் புனிதமன்றே इति। परिवर्तनस्त्रोके विभवशब्दः गाथास्थवातराष्ट्रपर्यवसितार्थपरः। तुलसीकेत्यव कशब्दः शिरःपरोऽपि स्यात्। नमु इत्यव ननेति पाटोऽपि स्थितो नोपेक्ष्यः; उपरि अपवित्नं न भवतीति नञ्ज्रयनिवेशनात्। अन्ह इत्यस्य तदेत्यर्थं स्टोके तद्यं तहित्यव्ययं तहेत्यर्थकम्।

अयज्ञार्हिष्; अयज्ञशिष्टमित्यर्थः। एवंविधं तमोमयं भोजनं तामसिप्रियं भवति । भ्रुज्यत इति आहार एव भोजनम्। पुनश्च तमसो वर्धनम् ।

अतो हितैषिभिः सत्त्वविवृद्धये सात्त्विकाहार एव सेन्यः ॥ १० ॥

दिव्यैरवेद्यविभवेति यदि हुवन्ति माध्यीमनोञ्चतुरुसीक यदीति चाहुः। जनिक्रया अपि परानिष कारयन्तो भुक्ताधिकं ददति चेन्नन्(नन्) तत् पवित्रम्॥-इति । इदमपि संकीर्तनप्रशंतापरिमिति प्रकरणात् स्ववावयसारस्याच सुव्यक्तम् । भुक्तशेषशब्दश्च पाकपातस्थिपपयत्वेऽपि न विरुद्धः; यथा "अन्नशेषः किं क्रियताम्" इत्यादौ । अवशिष्ट(ए १)भुक्तशिष्टं तु पाकपातस्थमपि त्याज्यमेव । तस्परिहाराथीऽयं प्रतिप्रसवः। अन्यथाऽपि प्रमाणान्तराविरोधाय आचार्याद्युच्छिष्टिविषयमेव स्यात् । तथा हि ' किनो हीनः परिस्रस्तो नष्टः" इति विक्रक्रभागवतान् दुष्कर्मतारतम्याचतुर्धा रहस्यास्नानायविदः समामनन्ति । तत्र जनत्वाद्यवस्थायाम वाचार्योच्छिष्टस्वापवित्रत्वं प्रसक्तम् ; तत्र यद्यनन्यत्वस्यैव्यञ्जनं संकीर्तनं स्यात् , तदा तदुच्छिष्टमपथितं न भवतीति । अनन्यत्वभक्ते श्चाचार्थस्यपि सर्वथा वर्जनं तन्नेवास्त्रस्थित्वरुष्टेन

मेधाविरोधिन्ययमेश्यशन्द्रपयोगात् तस्य च दृष्टपत्यवायमात्वपर्यवसानात् ततोऽपि दोपातिशयस्चनाय मेधोऽल यज्ञः, तद्द्वै मेध्यम्, तद्विपरीतममेध्यमित्याद्व अयज्ञार्द्दमिति । ननु यज्ञार्द्दस्यापि
दृन्यस्यामक्षणीयस्यं मन्वादिमिरुच्यते, यथा, "दृथा क्रसरसंयावं पायसाप् प्रमेव च । अनुपाकृतमां सानि
देवाचानि ह्वीषि च" (मनु. ५. ७) इति ; तलाह अयज्ञीशृष्टीमत्यर्थे इति । एतेन सान्त्वतादिशास्त्रेषु, "नानिवेच हरेः किंचित् समक्षीयानु पावनम्" (शा. स्पृ. भार. सं. ८) इत्यादिकमध्यत्रानुसंहितम् । आह्रियन्त इत्याहारास्ततद्द्रन्याणि प्रतीयन्ते । न च भोजनिक्षयामात्ने यात्यामत्वाद्यक्तिरन्वेति ।
नापि मुख्ये संभवति लक्षणा न्याय्या । अतः "कृत्यन्युटो बहुलम्" (अष्टा. ३. ११३) इति
कर्मणि स्युङन्ततानाह भुज्यतः इति । पुनश्च तमसी वर्धनमिति पूर्ववत् ।

आहारत्नेविध्योक्तरभिषेतमाह अत इति । पथ्यापथ्यविभागोक्तौ पथ्यप्रहणविद्ति भावः । एवमेव यज्ञादित्नैविध्योक्तावप्यस्ततोऽभिषायो प्राद्यः ॥ १०॥

<sup>1</sup> जनो हीन इति । 'तापः पुण्डस्तथा नाम मन्तो यागश्च पञ्चमः' इति प्रसिद्धानां पञ्चानां क्रमेणान्यतमहीनाः जन हीन परित्रस्त-नष्ट दग्धराव्दव्यपदेश्या भवन्ति । यद्वा स्वकर्मणा शास्त्रस्यंगेन ईशसंगेन गुरुसंगेन सत्संगेन वा वर्जिताः क्रमेण जनादिपद्व्यपदेश्या इति द्वेधा व्या-कुर्वेन्ति श्रीमद्रहस्पत्रयसारे । अत चत्वार प्रवोक्ताः ; नथा नत्नापि मूले । श्रीमालागाध्यायामिवात्रापि जनशन्स्य अमुस्यवृत्तिपरतया व्यास्थानिमष्टं स्याद्वि । 2 अनाचार्योचिक्रप्रस्यति पाकपात्रस्थ विवक्षया । 3 अलमिति । गाथायां तृतीयपादार्थः क इति शोधनमप्रकृतत्वादुपेश्यत इति भावः । पतावतेदमुक्तं भवति-उच्छिप्पस्य मुक्तोच्छिप्रपत्य आचार्यपित्रादिकतिपयव्यतिरिक्त-मुक्तिशिष्टं ताप्रसम् । पाकपात्रस्थप्रहणे गुर्विदीनामिवानन्यत्वशालिनामन्येपामुच्छिप्रसाप्यनुमतत्वात् अनुमतव्यतिरिक्तस्येव तामसत्वमिति । अस्येव हेयत्वे मुक्तोच्छिप्रस हेयत्वे कैमुत्यसिद्धम् ।

अफलाकाङ्क्षिभियेको विधिद्दष्टो य इज्यते । यष्ट्यमेवेति मनस्समाधाय स सास्विकः ॥ ११ फलाकाङ्क्षार्राहतैः पुरुषैः विधिद्दृष्टः शास्त्रदृष्टः मन्त्रद्रव्यक्रियादिभियुक्तः, यष्ट्यमेवेति मगद्दाराधनत्वेन स्वयंप्रयोजनतया यष्ट्व्यमिति मनस्त्रमाधाय यो यज्ञ (ज्यते, स सास्विकः ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमिप चैव यः । इज्यते भरतश्रेष्ट तं यशं विद्धि राजसम् ॥ १२ फुरु।भिसन्धियुक्तैर्दम्भगभों यशाफलश्र्य यो यज्ञ इन्यते, तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ विधिहानमसृश्रन्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् । श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३

अफ़लस्य कस्यचिदाकाङ्क्षामतीतिच्युदासायाह फ्लाकाङ्क्षागिहतैरिति । परमात्मभीत्यतिरिक्ति निरपेक्षेरित्यर्थः । विधिष्दष्ट इत्युक्ते प्रजापतिना दृष्टत्यं प्रतीयेत ; स हि सर्वेषां यज्ञानां द्रष्टेत्यामनन्ति । न चाल प्रजापतिदृष्टव्योक्तराऽनुष्टाने कश्चितुक्कारः । अतो विधायकशास्त्रमेवाल विधिश्चव्देन विविक्षत-मित्याह शास्त्रदृष्ट इति । शास्त्रकप्रमाणतया प्रसिद्धे शास्त्रदृष्ट्योक्तरनपेक्षितेत्यल 'यथाशास्त्रकरणाद-वेक्त्यं तिहुवक्षितमाह मन्त्रेति । 'यज देवपूजायम् ' इति धात्वर्थानुसारेणाह मगवदाराधनत्येनेति । अवमिभायः — यद्यपि प्रयोजनमनुद्दिश्य न प्रवृत्तिः, तथाऽपि प्रागुक्तमुह्दस्य न प्रवृतिः, तथाऽपि प्रागुक्तमुह्दस्यमाराधनन्यायेन यज्ञादिप्रवृत्तेत्व प्रयोजनत्वामिसन्धः संभवतीति । मनस्समा-धायेति । प्रकारान्तराद्विनिवार्य प्रस्तुतप्रक्रियायामेकाग्रं क्रत्वेत्यर्थः। यज्ञ इज्यते । यज्ञः क्रियत इत्यर्थः ॥

दम्भहेतुकरविमह **दम्भा**र्थशब्देन विवक्षितिमत्याह **दम्भार्भ** इति । दाम्भिकरवरूयापनाभिसन्धि सहित<sup>2</sup> इत्यर्थः । केवछं दम्भार्भस्तु तामसः । अतः ऐहिकामुप्तिकफलसंमेदमालिमह राजसस्वं विवक्षितिमत्यभिषायेणाह **यशःफलश्रे**ति । दम्भानुसाराह्या हष्टेक<sup>9</sup>फलस्वोक्तिः । भरतश्रेष्ठेति । स्वं तु सास्त्रिकज्ञाना[घ]धिकारीत्यभिषायः ॥ १२ ॥

असृष्टान्नत्वमन्त्रहीनत्वाद्युक्त्येव चोदितप्रकारविहीनत्वसिद्धेरत्न विधिहीनमिति अयथाशास्त्रत्वं न विवक्षितम् ; अन्यस्य चावश्यापेक्षितस्य हानिरिह स्चित्रितुमुचितेत्यभिषायेणाह **त्राक्षणोक्तिही**नमिति ।

विण्डप्रदानकाले पित्रिः करे प्रसारितेऽपि भूमौ दत्तेन पिण्डेनेति वचनविरोधात्
भमावेव पिण्डं भीष्मो निचिक्षेपेति वदन्ति ।

<sup>12-2</sup> सहित इति पाठ्यम्, न तु रहित इति। मूले डम्मार्थमित्यस्य धार्मिकत्वस्थात्युद्देश्यकमित्यर्थः। तथा च शास्त्रचोदितफलं स्थातिश्चोद्दिस्य छतं राजसम्। स्थातिमात्रोद्देश्यकत्वे 'यजन्ते
नामयक्षेस्ते डम्मेनाविधिपूर्वकम्' इत्युक्तरीत्या तामसत्वमेव। तेषां शास्त्रधामाण्ययुद्धया कर्तृत्वमपि नास्ति। एतत् डम्मार्थमित्युक्तमिति यशःफल्रश्चेति भाष्यत एव स्पष्टम्। एवं सति
डम्भगर्भ इति पदं तदेकार्थकत्वे पुनरुकं स्थादिति छत्वा धार्मिकत्वस्थापनामिसंधिसहित
इति व्यास्थातम्। यद्वा गर्भशस्त्रस्थारस्यादेवं व्यास्था। एतत्यर्थवसितार्थ एव यशःफल इति पदेनोच्यते। तदुपरि चकारेण तु चोदितस्यगीदिफल्रकत्वसमुच्यः। न तु डम्मगर्भत्वसमुच्यः।

<sup>3</sup> नुज स्थातिलाभपूजारूपैहिकफलबये स्ति एकमात्रोक्तिः कुत इति चेत् आह दम्मेति।

विधिहीनम् ब्राक्षणोक्तिहीनम् ; सदाचारयुक्तैर्विद्वद्भित्रां वर्णेयं जस्वेत्युक्तिहीनमित्यर्थः ; असष्टावम् अचोदितद्रव्यम् , मन्वहीनमदक्षिणं श्रद्धाविरहितं च यञ्च तामसं परिचक्षते ॥१३ अथ तपसो गुणतस्नैविष्यं वक्तं तस्य शरीरवाद्यानेनिष्पाद्यतया स्वरूपमेदं विवदाह—
देवद्विज्ञगुरुप्राञ्चप्वतं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ देवद्विज्ञगुरुप्राञ्चानां पूजनम्, शौचम् तीर्थस्नानादिकम् , आर्जवम् यथामनः शारीरवृत्तम् , ब्रह्मचर्यम् योषित्यु मोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिरहितत्वम् , अर्हिसा अप्राणिपीडाः एतच्छारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं त्रियहिंतं च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाड्ययं तप उच्यते ॥ १५ परेषामनुद्वेगकरं सत्यं प्रियहितं च यत् वाक्यं स्वाध्यायाभ्यसनं चेत्येतत् वाड्ययं तप उच्यते ॥

शास्त्रोदित एवार्थः सद्भिरनुशिष्टोऽनुष्ठेथ इतीममर्थे विष्टणोति सदाचारेति । लोभातिशयात् दक्षिणाया अप्यभावे अस्रदानाभावस्य केमुत्यसिद्धत्वात् अद्धिणमित्यनेनैवान्नादानादेरुपलक्षणात् असृष्टशब्द-स्वारस्वात् दोषातिशयस्व्यापनोपयोगाचासृष्टान्नशब्देन शूद्रभतिभ्रहादिविवक्षामाह् अचोदितद्गरूचमिति । यज्ञार्थं स्प्टमिह सृष्टशब्देन विवक्षितम् । त्यायागतमित्यर्थः । तदन्यदसृष्टम्, यथा "न यज्ञार्थं धनं शूद्रात् विवो भिक्षेत धर्मवित् । यज्ञमानो हि मिक्षित्वा प्रेत्य चाण्डालतां वजेत्" (मनु. ११. २४) इति ॥३३॥

आहारादीनां सात्त्विकत्वादित्विवध्ये प्रकानते तपसः करणमेदेन त्रैविध्योक्तिः किमर्थेत्यताह् अयेति । देवद्विजगुरुपाज्ञानां सिन्नयौ तत्तदुचितः शास्त्रोदित आचार इह पूजनिम्त्युच्यते । यथा "प्रशस्त्रमङ्गस्यदेवायतनचतुष्पथादि प्रदक्षिणमावर्तेत मनसा या तत् समग्रम्" (गौ. ९. ६७) इत्यादि । तथा, "प्रदक्षिण वजेत् विप्रान् गामध्यथं हुताशनम्" (मा आश्व) इति, "आसनेम्यस्तसुत्तस्युर्मानयन्तः पुरोहितम्" (रा. अ ५. २४), "ऊच्च पाणा ह्युरुमानित यूनः स्थितः आगते(यति) । अभ्युत्थानामिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिवधते" (मनु. २. १३०) इत्यादि । तथा, "न हायनैन पिन्तिन वित्तेन च वम्युमिः । ऋष्यश्वकिरे धर्म योऽनूचानः, स नो महान्" (मनु. २. १५४) इति । शुद्धिस्त्रप्य फलभृतस्य शौचस्य तपस्त्वेन विभजनायोगात् तद्धेतुमाह तीर्थस्तानादिक्रमिति । आ<u>र्जवस्य</u> शारीर-वपस्त्वेन च्यपदेशार्थं वाज्यनःकायानामैकरूप्यं शरीरप्रधानतया व्यपदिश्वति त्यामनः शारीरवृत्तमिति । "ब्रह्मचर्यं च योपित्स्यति । सार्वेवस्य गारीरवृत्तमिति । अद्विवस्य गारीरवृत्तमिति । स्याचनुसारेणाह् योपित्स्वति । ताहशप्रक्षणादिकमिति । [हि], "स्तरणं कीर्तिनं केल्टः प्रेक्षणं गुद्धभाषणम्" (वा. स्मृ) इत्यादिना मैथुनत्वेन विभज्य सरन्तिति प्रागेव दर्शितम् । अल्वापीक्षणादित्रहितस्वमहणं ब्रह्मचर्यस्य शारीरतमस्वज्ञापनाय ॥ १४ ॥

अनुद्रेगकरिमत्यादि । पुरुषमर्मोद्घाटना-परिवादादिराहित्यादनुद्रेगकरत्वम् । भयादेरहेतुमूत-मित्यर्थः । सत्यं यथादद्यार्थविषयभूतहितवाक्यमिति प्रागेव दर्शितम् । प्रियत्वमल खागत-घर्मानुमोदनादि-रूपेण । अपाप्तविषयस्तुत्यादिरूपप्रियवचनस्य निषद्धत्वात् तत्परिहाराय हितत्ववचनम् । [सत्यपदेनैव परेषां हितमिति १] पुरुषार्थपयेवसायीत्यभिहितम् । स्वाष्यायाभ्यसनमिति जपयज्ञोक्तिः ॥ १५ ॥

<sup>1</sup> ताचिदति-आदाचित्यर्थः। 2 एवं पूरणाभावे पुरुषार्थेत्यादिकमनिन्वतम्। मूले हितपदं स्वहितपरम्।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनियहः । भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥ १६ मनःप्रसादः मनसः क्रोधादिर्राहतत्वम् , सौम्यत्वम् मनसः परेषामभ्युद्यप्रावण्यम् , मौन-मनसा वाक्प्रवृत्तिनयमनम् , आत्मविनियहः मनोवृत्तेष्येयविषयेऽवस्थापनम् , भावसंशुद्धिः आत्मव्यतिरिक्तविषयचिन्तारहितत्वम् ; एतत् मानसं तपः ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तसं तपस्तत् त्रिविधं नरे: । अफलाकाङ्गक्षिभियुक्तेः सास्विकं परिचक्षते ॥ १७ अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षारिहितेः, युक्तेः परमपृष्ठपाराधनरूपमिदमिति चिन्तायुक्तेः नरेः परया श्रद्धया यत् त्रिविधं तपः कायवाङ्मनोभिस्तप्तम्, तत् सान्विकं परिचक्षते ॥१७ सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्मेन चैव यत् । क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलप्रध्वम् ॥ १८ मनसा आदरः सत्कारः, वाचा प्रश्नेमा मानः, शारीरो नमस्कारादिः पूजा । पक्राभिमिन्धिपूर्वकं सत्काराद्यर्थं च दम्भेन हेतुना यत् तपः क्रियते, तदिह राजसं प्रोक्तम् ; स्वर्गादिफलसाधनस्वेनास्थिरत्वात् चलमञ्चवत् । चल्रवम् पातभयेन चलनहेतुःवम्, अधुवस्वम् श्विष्ण्यत्वम् ॥

मनः प्रसादसौभ्यत्वरावदाभ्यां परेष्विहितासिषायरूपकाळुव्यविद्विहिः हितासिषाययोगध्य विवक्षित इत्याह मनसः क्रोधादिरहितस्विम्त्यादिना । "वस्ति हृदि सनातने च तस्मिन् भवित पुमान् जगतोऽस्य सौभ्यरूपः" (वि. ३. ७. २४) इत्यादिनोक्तमाकारसौभ्यस्वमिष मनस्सौभ्यस्व-फळमेव । अत एव हि तेन मनसस्सौभ्यस्वमुद्वीयते । इह च मानसतपोविभजनान्मनस इति बुद्धचा निष्कृत्यानुषिक्वतम् । मौनस्यापि मानसतपस्तवस्त्वाय मनोव्यापारमाधान्यमाह मनसा वाक्प्रशृतिनिय-मनिति । आत्मविनिग्रहः इति अशासविषयविनिवारणं हि प्राप्तविषयेकाग्रचार्थमित्यभिषायेणाह ध्येयविषयेऽवस्थापनिति । भावसंश्चिद्धिरित्यस्य मनः प्रसादादिमिः पुनरुक्तिपरिहारायाह आत्म-व्यतिस्किविषयचिनतारहितस्विमिति । भावशब्दोऽलाभिपायार्थः । तस्य संशुद्धिः समस्तेतर्वर्जनम् । एतेन परदारादिषु मनसो रहस्यपि प्रवृत्तिदूर्भतो निरस्ता । अत तपसदशारीरस्वादिविभागः तत्व शरीरादिष्ठाधान्यात् ; अन्यथा "पश्चैते तस्य हेतवः" (गी. १८. १५) इत्यनेन विरोधात् ॥ १६ ॥

एवं शारीरवाचिकमानसरूपेण त्रिविधस्यापि तपसः सत्त्वादिगुणभेदेन त्रैविध्यमुच्यते **श्रद्भये**-त्यादिना । फलाकाङ्क्षानिषेधेन सह पठितो **युक्त**शब्दस्तदृपयुक्तभगवस्थीतिलक्षणफलान्तरध्यानपर इत्यभिपायेणाह **परभणुरुवाराधने**ति ॥ १७ ॥

पुनरुक्तिशङ्कापरिहाराय **सरकारमानपूजा**शब्दानां क्रमात् मनोवाक्कायनिष्पायसंभावनापरस्त्रोक्तिः। अफलाकाङ्क्षिभिरिति सात्त्विकस्य तपसो विशेषणादिह फलाकाङ्क्षा अर्थसिद्धेत्यभिषायेणाह फलािम संधिपूर्वकमिति । स्वर्गादिफलसाधनत्वेन।स्थिरत्वादिति । अस्थिरसर्गादिफलसाधनस्वादित्यर्थः ।

<sup>1</sup> सत्कारमानपूजार्थम्—स्वविषये परैः क्रियमः एं सत्कारादिकमपेक्ष्य । दम्भेन-स्वयमेव-सात्मप्रशंसया । चकारो मूले लाभसमुचायक इव चोदितफलसमुचायकोऽपि । अन्यथा स्यातिलाभपुजामात्वार्थत्वे तामस्तवापत्तिरित्याशयेन फलाभिसंधिपूर्वकमित्युक्तम् ।

मृहश्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तयः। परस्योत्सादनार्थे वा तत् तामसमुदाहतम् ॥ १९ मृहाः अविवेकिनः, मृहश्राहेण मृहैः कृतेनाभिनिवेशेन आत्मनः शक्त्यादिकमपरीक्ष्य श्वात्मपीडया यत् तपः क्रियते, परस्योत्सादनार्थं च यत् क्रियते, तत् तामसमुदाहतम् ॥१९ दातव्यमिति यत् दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रं च तत् दानं सास्विकं समृतम् ॥ फ्राभिसन्धिरहिः दातव्यमिति देशे काले चात्रकारिणे यत् दानं दीयते,

फलाभिसन्धिरहितं दातव्यमिति देशे काले पात्रे चानुपकारिणे यत् दानं दीयते, तत दानं सार्त्विकं स्मृतम् ॥ २०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुहिस्य या पुनः । दीयते च परिक्षिप्टं तत् राजसमुदाहतम् ॥ २१ खरूपतः कादाचित्करवोक्तेरनुपयोगात् फल्हाराऽत चल्रत्वमध्रुवतः च । तालाध्रुवशब्देन फलानित्यत्वोक्तेः चल्रशब्दः फल्ल्स्य विद्यानानदशामाबिदोषपरः । दिद्यते च तत्त, <sup>1</sup>चल्रयतिति व्युत्पत्त्या चल्रशब्दस्य शक्तिरित्यमिधायेणाह् पातमयेन चल्रनहेतुत्वमिति । अत्र चल्रशब्देन अनित्यफल्रत्वम् , अध्रुवशब्देन प्रतिवन्धसंभवादनैकान्तिकफल्रत्वं चोच्यत इत्युक्तम् ; अन्यतापि प्रतिवन्धसंभवसाविदोषादिति भावः ॥

अहितप्रवृतिहेतुम्तम्हर्यमहितेष्वेव हितर्यभ्रम इत्यमिप्रायेणाह अविवेकिन इति । म्हाना-मिनिवेशेनेति समासार्थः; तत्र कर्तरि पष्टीति सुन्यन्त्यर्थनाह सृदैः कृतेनाभिनिवेशेनेति । सामान्येनो-कमनुष्ठातिर विशिष्याह आरमनदश्यक्त्यादिकमारीस्येति । आदिशब्देन शाखप्युदस्तस्वम्, "अश्वयानि दुरस्तानि समन्ययफलानि च । असाध्यानि च वस्तृति नारभेत विचक्षणः" (......) इत्याद्युक्तिविषयदोपाश्च संगृहीताः। अयथावलारम्मादिरिह आस्मपीद्या, विनाल्पपीडाकरयथावल्वतादि-व्यवच्लेदः। यथोक्तं "सन्निरीक्ष्य वलावलम्" (......) इति । सरन्ति च, "देशं कालं तथाऽऽस्मानं द्वर्थं द्वश्यप्रयोजनम् । उपपतिमयस्यां च ज्ञात्वा शौनं समाचरेत् ॥" (......) इत्यादि ॥ १९ ॥

राजसे दाने फलमुह्रिश्येति विशेषणाद्वत खर्गीदिफलपङ्गिविविविधिता। अनुपकारिणे इत्येतत् दृष्टफलाभिसंधिरहिताभिपायम् । दातन्यमिरयेतत् सान्त्रिकतपः प्रभृतिष्विग्नाभिसंध्यन्तर-च्युदासार्थमित्याह फलाभिसंचिरहिताभिपायम् । दातन्यमिरयेतत् सान्त्रिकतपः प्रभृतिष्विग्नाभिसंध्यन्तर-च्युदासार्थमित्याह फलाभिसंन्धिरहित्मिति । यद्यप्यत्व<sup>3</sup> पालमेगार्थनोऽनुपकारित्वेन विशेष्यते, तथाऽपि संप्रदानत्वद्रव्यप्रतिष्ठाधिकरणत्वयोर्शिवक्षया चतुर्थीससम्योः सह प्रयोगः । पाले सिद्धे, अनुपकारिणे तस्मा इति वाऽन्वयः । पाले दीयते, तचानुपकारिणे दीयत इति वा वाक्यमेदो प्राधः । देशकालशब्दावल दानाईतया चोव्तिपुण्यदेशकालिषयौ । पालं तु "न विद्यया केवल्या जन्मना वाऽपि पालता । यस्य वृत्तमिमे चोक्ते निद्धं पालं प्रचक्षते ॥" (या. स्पृ. आ. २००) इत्यादिभिविवक्षितम् ॥ २०॥

चळिमख्य पातभीतिनिवन्धनशरीरकम्पहेतुरिखर्थः । 2 आत्मपाडा चेयं स्थात्याद्यर्था चेत्, तामसत्वं स्पष्टम् । चोदितफळोद्देश्यकत्वेऽपि शक्तिळोपः द्रपूर्त्या फळाजननःत् तामसत्वमेव।
 पात्रात्युपकारिणोपमेदे एकत चतुर्थी ।अन्यत्र सप्तमी च कर्थामल्यताह यद्यपीति । सर्हं प्रयोग इति । एकस्मिन्नेव वाक्ये उभयं पृथक्षृप्यगन्वेतीति भावः ।

प्रत्युपकारकटाक्षगर्भे फलसुद्दिश्य च, <sup>1</sup>पिरिक्षिष्टम् अकल्याणद्रव्यकं यत् दानं दीयते, तत् राजससुदाहतम् ॥ २१

अदेशकाले यत् दानगपातेभ्यश्च दीयते । असःकृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहतम् ॥ २२ अदेशकाले अपातेभ्यश्च यत् दानं दीयते, असःकृतम् पादप्रश्वालनादिगौग्वर्गहतम् , अवज्ञातं सावज्ञम् अनुपचारयुक्तं यत् दीयते, तत् तामसमुदाहतम् ॥ २२ ॥

एवं वैदिकानां यज्ञतपोदानानां सत्त्वादिगुणभेदेन भेद उक्तः; इदानीं तस्यैव वैदिकस्य यज्ञादेः प्रणवसंयोगेन तत्सच्छव्दव्यपदेश्यतया च लक्षणमुज्यते—

अों तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणिक्षिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२३ ओं तत् सत् इति त्रिविधोऽयं निर्देशः भव्दः ब्रह्मणः स्मृतः ब्रह्मणोऽन्वयी भवति ।

प्रत्युपकारकटाक्षमभीमिति प्रत्युपकाराभिषायपूर्वकमित्यर्थः । एतेन पूर्वकृतप्रत्युपकाररूपता, भाविपत्युपकारप्रयोजकता च संगृहीता । द्रव्यरागात्परिक्ठेशेन त्यजन् हि पुरुषः करुयाणमंशं स्वसै स्थापित्वा अन्यत् परस्मै समर्पयतीत्यभिप्रायेणाह अकरुयाणद्रव्यकमिति । अश्रद्धाहतत्याद्वा द्रव्यस्याकरुयाणत्वमिह परिक्रिष्ट्यावदार्थे इति भावः ॥ २१ ॥

अदेशः किलक्षकीकटादिः । अकालः राज्यादिः । अपात्राणि पङ्कित्वकरम् कितववन्दिवैतालिकादयः । <sup>अ</sup>सरकृतं सन्करणं, तद्दित्मसन्कृतम् ; तदाह पादप्रश्वालनेति । <sup>अ</sup>प्रतिमहीतृपुरुषावज्ञैव क्रियापयेन्तप्रसारात् तद्विशेषणतया व्यपदिश्यत इत्यभिप्रायेणाह सावज्ञमिति । अवज्ञाया वाचिकादिविषयत्वमाह अनुप्चारपुक्तमिति । शास्त्रमामाण्यानिश्चयेन संदिग्धप्रलोकत्वात् पाह्मस्यः स्वस्थोत्कर्णभिमानाचासन्कारावज्ञे । देशादिसंपतावष्यसन्कृतस्वादि परिहर्तव्यम् ॥ २२ ॥

उक्त हैविध्यवत् उपर्विषि हैविध्यान्तरोक्तिरिति शङ्काव्यदासाय उक्त समस्तरुक्षणपरतयोत्तरमवतारयति एविसत्यादिना । त्रक्षणः हैविध्यविधिरनपेक्षितः, रूक्ष्येषु उद्दिष्टेषु रुक्षणविधिस्त्यपेक्षित इत्यमिप्रायेण त्रक्षणाः स्मृतः इत्यन्ययो दर्शितः । वक्ष्यमाणपकारेण तिष्विषि निर्देशेषु कैक्सित्वा-न्वयायोगात् त्रक्षणोऽन्वयी भवतीति संवन्धसामान्यार्थतोक्तिः । ननु ओं तस्सदिति वैदिकस्य यज्ञादेर्छक्षणमुच्यत इत्यक्तमयुक्तम् , त्रक्षशत्वस्य तद्वाचकत्वामावात् , मुख्यार्थवाधाभावाच । त्रक्षणमुच्यत इत्यक्तमयुक्तम् , त्रक्षशत्वस्य तद्वाचकत्वामावात् , मुख्यार्थवाधाभावाच । त्रक्षाणां च साक्षात्यस्वज्ञनामत्वं श्रुतिसिद्धम् , "तते पदं संप्रहेण त्रवीम्योमित्येतत्" (क. २. त्यपः), "इति वा (तदिति वा?) एतत्य महतो भृतस्य नाम भवति । योऽस्यैतदेव नाम वेद त्रज्ञ भवति" (....) इति, "सन्मृह्णस्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्तरप्रतिष्ठाः" (छा. ६. ८. ६) इत्यादिषु । अतः

<sup>1</sup> राजसे तैविध्यमविवक्षितम् , एकैकमपि राजसम् ; मेळनेऽपि ।

<sup>2</sup> दानरूपस्य कर्मणः सन्कतत्वाभावः सर्वत्र तुल्यः ; अतोऽर्थान्तरमाह ।

<sup>3</sup> तर्हि अवज्ञातमिति कथम्, कर्मण्यनन्वयादित्यत्राह प्रतीति ।

<sup>4</sup> निर्देशस्य तिविधस्य वेदकर्मकात्वाभावादित्यर्थः।

वसः च वेदः । वेद(त्रक्ष)यन्देन वैदिकं कर्मोच्यते । विदिक्तम् यद्वादिकम् । यद्वादिकं कर्म ओं तत्सिदिति सन्दान्वितं भवति । ओमिति सन्दस्यान्वयो वैदिककर्माङ्गत्वेन प्रयोगादौ प्रयुज्यमानतयाः , तत्सिदिति सन्दयोरन्वयः पूज्यत्वाय वाचकतया । तेन त्रिविधेन सन्देना-न्विता ब्राक्षणाः वेदान्वियनस्त्रैवर्णिकाः वेदाश्र यज्ञाश्र पुरा विद्वितः पुरा मयैव निर्मिता इत्यर्थः॥

त्रयाणाम् ओं तत् सदिति शन्दानामन्वयप्रकारो वर्ण्यते ; प्रथमम् ओमिति शन्दस्या न्वयप्रकारमांह —

तस्मादोमित्युदाहत्य यबदानतपःक्रियाः । प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ तस्मातु ब्रह्मवादिनाम् वेदवादिनां त्रवेिकानां यज्ञदानतपःक्रियाः विधानोक्ताः वेद-

शास्त्रप्रधानपतिवाद्यपरत्रसनिर्देशकारोऽयमुवासकसंश्यवहारार्थमुविद्द्यत इति युक्तम् । विगुणमिवि हि कमे व्रक्षणोऽभिधानलयप्रयोगेण सगुणं सेवादिनं मवित । कमीण कर्मान्तरेण, स्नौकिकवाचा, निद्राप्तमादादिभिश्च व्यवाये सन्तस्सर्वल ओं तत् सिद्दिश्यदाहरेयुः ; अत एव च <sup>1</sup>अध्यायाद्यन्तेषु सर्वेव्ययमेव लिविधो निर्देशः पठ्यते इति श्रङ्कायां, कमीण व्रक्षशञ्चरपवत्रारियोष्ठं तस्प्रतिवादके प्रयोगस्तावत् सिद्ध इत्याभिपायेणाऽऽह व्रक्ष च वेद इति । वेदाभिधानस्य पूर्वापरवशात् तद्यवरतामिम्प्रत्याह वेदश्वन्देनेति । वेदनिरुद्धपयोगेण शब्देनेत्यर्थः । व्रक्कश्वन्देनेति केषांचित् पाठः। अयमभिन्नायः- यद्यपि ओं तत्सदिति शब्दानां साक्षात्पत्रस्नानामस्य प्रसिद्धम्, तथाऽप्यत्न तद्विवक्षा न युक्ता; अध्याये तत्पश्चाद्यमावात् , अनन्तरं च व्राक्षगास्तेनेत्यादिनाऽनन्वयपसङ्गाच । अतो वेदेनोपरुक्षणेन वैदिकस्यवायं तिष्वा निर्देशः इति । एतदेव विद्यणोति वैदिकसिति । लयाणामन्त्रयप्रकारेऽवान्तरमेदं वश्याणमुप्तिविति ओमिति । करणाद्यर्थसम्यात्र तैविष्किमिति । त्रवात्तिम्पत्रकारेऽवान्तरमेदं वश्यमाणमुपक्षिपति ओमिति । करणाद्यर्थसम्यायेणाह वेदान्वर्यात्रक्षित्रप्तिनित्वा इत्यस्य कर्त्वपेक्षायाम् , 'चात्र्वर्वर्थ मया स्प्रस्य (गी. ४. १३) इत्यादित्रपर्भर्शेनाह पुरा मयेव निर्मिता हि । वेदानां विहितः यथापूर्वं प्रवर्तित्वम् , 'यो वे वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै'' (श्वे ६ १७), ''अनादिनिधना हेवा वाग्रत्स्वर्था' (गा. मो. २३४. ९३) इत्यादिश्रितिस्मृतिमत्तित्वत्वत्वित्वित्वः।। २॥ 'भवादिनिधना हेवा वाग्रत्स्वर्था' (गा. मो. २३४. ९३) इत्यादिश्वरित्वमृतिस्तिलित्वन्वस्वितिः।। २॥ 'भवादिनिधना होवा वाग्रत्स्वर्था' (गा. मो. २३४. ९३) इत्यादिश्वरित्वम्तिनित्वत्वत्वसिद्धेः।। २॥ 'भवादिनिधना होवाद्यस्य

तसादित्यादीनां चतुर्णां स्टोकानां प्रकृतपपञ्चनरूपतामाह त्याणामिति । ब्राझ्मवेदयज्ञाना-मित्यर्थः । यज्ञराव्दोऽत्र तपोदानादींनासुपलक्षकः, यञ्चदानतपः क्रिया इत्यादि धनन्तरसुच्यते । अनुष्ठानस्वरूपानुपवेज्ञात् ततापि प्राथम्याचात्रापि प्रथममोङ्कारस्योक्तिरित्यभिपायेणाह् प्रथममिति । तसादिति सर्वत्रष्टु मया तदैव तदन्वितस्वेन विहितस्वादित्यर्थः । करणन्युस्पत्त्या विधानमिह वैदिकं विधायकवाक्यमित्याह वेदिच्धानोक्ता इति । यज्ञदानादीनामोङ्कारपूर्वकस्व स्तिष्टिधायकैः सिद्धमित्यभि-

ओतत्सदिति श्रीमगवद्गीतास्पिनपत्सु इत्येवान्ते पाठः प्राचीन इति इतो बायते।

विधानोक्ताः आदौ ओमित्युदाहुत्य सततं सर्वदा प्रवर्तन्ते । वेदाश्च <sup>2</sup>ओमित्युदाहुत्यारम्यन्ते । एवं वेदानां वैदिकानां च यज्ञादीनां कर्मणाम् ओमिति शब्दान्वयो वर्णितः। ओभितिशब्दान्वितवेद-धारणात् तदन्वितयज्ञादिकर्मकरणाच त्राक्षणशब्दनिर्दिष्टानां त्रैवर्णिकानामपि ओमिति शब्दान्वयो वर्णितः ॥ २४ ॥

अथैतेषां तदिति शब्दान्वयप्रकारमाह--

तदित्यनिभिसन्थाय फलं यञ्चतपःकियाः । दानिक्षयाश्च चिविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ फलमनिमसन्याय वेदाध्ययनयञ्चतपोदानिक्रयाः मोक्षकाङ्क्षिभिस्त्रेविणिकेषाः क्रियन्ते, ताः ब्रह्मप्राप्तिसाधन(प्युपाय)तया ब्रह्मवाचिना विदिति क्राव्देन निर्देश्याः; "स वः कः प्रायेणाह आदाविति । ओमिरयुदाहरणं चाल श्रुतवेदान्तानां सर्वान्तरपरब्रह्मानुसंधानेन तरसमाराधनबुद्धचाऽनुसंधाय । स्मरति च भगवान् श्रौनकः, "हरिमेव सरेलित्यं कर्मपूर्वापरेषु च" इति । (वि. ध ) अश्रुतवेदान्तानामिषि तह्वाचकशव्दामिधानात् मङ्गलादिलामोऽर्थिसद्धः । एवं च प्रणवस्य वैदिकसमस्तान्वयसिद्धिः । यद्यपि "वसन्तेवसन्ते ज्योतिषा यजेत" (आ श्रौ), "शरदि वाजपेयेन यजेत" (,,)
हत्यादिभिः कालविशेषनियताः क्रिया विधीयन्ते—तथाऽपि सर्वासां क्रियाणां प्रणवपूर्वकत्वे तु न कालविशेषनियम इति सत्तरशव्दतारपर्यमित्यभिष्रायेणाह सर्वदेति । स्वर्गसाधनत्वेनानुष्ठाने अपवर्गसाधनत्वेनानुष्ठाने च प्रणवान्वयः साधारण इति भावः । अल स्वर्शके वेदानामनुवादानेऽपि पूर्वस्रोके क्राक्षणास्तेन चेदाश्चर्यक्रत्वात् , "यद्वेदादौ सरः प्रोक्तः" (ना), "ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा । स्वत्यनेक्षत्वे पूर्वस् " (मनु. २. ७४) इत्यायनुसारेणाह वेदाश्चेति । विधानोक्ता इत्यनेन ब्रह्मवाचि(दि १)शव्देत् व वेदानामप्यत्र स्वेत प्रणवान्वयः स्वित हत्यभिषायेणाह एवमिति । अभिनत्ववद्वव्यवदेशेन तदन्वतव्यवद्वानाव्यः स्वति इत्यभिषायेणाह एवमिति । अभिनत्वव्यव्यवदेशेन तदन्वितववद्यस्त्वादिति ॥ २४ ॥

एवं स्वर्गापवर्गसाधनसमस्तवैदिकसाधारणं प्रणवान्ययरूपं रुक्षणमुक्तम्; अथ तस्त्रच्छन्दौ मोक्षसाधनानां त्रिवर्गसाधनानां च विद्रोषरुक्षणतयोच्येते । वक्ष्यति चैतत् अष्टादशारम्भे, "वैदिकस्य च कर्मणः सामान्यरुक्षणं प्रणवान्वयः; तत्र मोक्षाम्युद्यसाधनयोभेदः तस्तव्छन्दनिर्देश्यस्तेनः" इति । एतेषामिति त्रयाणां परामर्थः । उक्तानां यज्ञादीनामुपरुक्षणतया वेदेष्वपि तच्छन्दपृष्टतिज्ञापनाय वेदाध्ययनोपादानम् । मोक्षकाङ्क्षिभिरित्यनेन स्वितमाह ब्रह्मप्राप्तिसाधनतयेति । <sup>4</sup>तदिति

<sup>1</sup> अनुसंधायेति । क्रिया इति शेषः । 2 मूले क्रियोक्तिः वेदस्याप्युपळक्षणार्था, 'उदाहृत्य प्रवर्तन्ते' इति शब्दयोरन्वयौचित्यादिति भाष्य एव ज्ञापितम् । अधिकमि दशेयित अक्रेति । 3 तद्गिवतयञ्जादिकमंकरणादित्यस्य यज्ञादिकरणात् प्राक् ओंकारोदाहरणादित्यर्थ इति भावः । अक्रेकरस्य वेदादाद्यत्तरत्वेन, पुरुषे चाश्रयत्वेन । 4 अनभिसंधायेत्यस्य न तदिति कर्मः किंतु फळं कर्मः । तदिति क्रियन्ते इत्युपरि अन्तय इति भावः ।

कि यत् तत् ५६भनुत्तमम्'' (ति. स.) इति तच्छब्दो हि ब्रश्नवाची प्रतिद्धः । एवं वेदाध्ययन यज्ञादीनां मोक्षत्राधनभृतानां तच्छब्दानिर्देश्यतया तर्दिति शब्दान्वय उक्तः । त्रैवर्णिकानामपि तथाविधवेदाध्ययनायनुष्टानादेव तच्छब्दान्वय उथपन्नः ॥ २५ ॥

अथैषां सच्छन्दान्वयप्रकारं वक्तुं लोके सच्छन्दस्य न्युत्पत्तिप्रकारमाह— सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते । प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छन्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ सद्भावे विद्यमानतायाम् , साधुभावे कल्याणभावे च सर्ववस्तुषु सदित्येतत् पदं प्रयुज्यते लोकवेदयोः । तथा केनचित् पुरुषेणानुष्टिने लोकिके पशस्ते कल्याणे कर्मणि सत्कर्मेद्मिति सच्छन्दो युज्यते प्रयुज्यते इत्यर्थः ॥ २६ ॥

फल्लमनिस्तन्यायेत्वन्ययः । तन्त्वन्द्वाभिधेयत्रम्नप्राप्तिसाधनतया तन्त्वन्द्वाप्त्रम्निति (चार्यतया) बुद्धा फल्लम्तर्मनिस्तन्यायेत्वर्थः [इति] । <sup>1</sup>इतिकरणसामध्योत् उदाहृत्येति पदं वा पूर्वश्लोकादनुषञ्जनीय-मित्यभिम्नायेणाह तिदिति श्वन्देन निर्देश्या इति । तन्त्वन्द्वस्य त्रमनमत्वे सिद्धे हि तेन तत्वाप्तिसाध्यतयेति लक्षणा, तदेव कुत इत्यत श्वति श्वतेरुवेहणेन विश्वतिक्रत्वमिमेपेत्याह स व इति । भगवन्नामसहस्ते, "यानि नामानि गौणानि विष्यातानि महात्मनः" इति प्रक्रमात्, "नामां सहस्रम्" इति निगमनाच यत्तदादिशन्दानां सर्वनामतया न्यापिनामपि विशेषतः साक्षात्परत्रम्भनामत्वं सिद्धमिति भावः । श्लोकेऽनुक्तस्यापि वेदाध्यत्रनस्य प्रयोजकेन संगृहीत्वनमाह एविमिति । तथाऽपि त्रयाणामन्वयो न सिध्यति, त्राम्नणस्यति । 'मोभ्रकाक्ष्मिनः क्रियन्ते' इत्यनेन परम्परया तदन्वयः सचित इति भावः ॥ २५ ॥

त्रयाणां तिनिरन्यये प्रतिपिपादियिपिते, 'सद्भावे साधुमावे च' इत्ययस्तुतीपन्यासः किमर्थ इत्यत्नाह् अर्थेषामिति । यथा प्रयोगवलात् विद्यमानत्वादिषु सन्छन्दभृवत्तिरङ्गीक्रियते, एवं पस्तुतेऽपीत्यिम-प्रायेणानेकार्थोदाहरणम् । विद्यमानतायाभिति । असद्विरुक्षणत्वस्यसत्त्वविषयो वा, वर्तमानत्वविषयो वा सद्भावशब्द इति भावः । 'साधुकारी साधुभैवति' (वृ. ६. ४. ५) इत्यादिष्विवात्नापि साधु-[भाव]शब्दः <sup>3</sup>पुण्यादिरूपत्वपर इत्याह कर्याणभाव इति । तन्छन्दान्यये मोक्षकाङ्क्षिभिरिति विदेषणात् , इह तु प्रशस्ते कर्मणीति प्रशस्तवामात्रनिमित्तवन्वनात् मोक्षेतरपुरपार्थसाधनरुक्षणत्वा सन्छन्द्योऽत्र ब्युत्पावत इति भावः । अत्यन्तिवज्ञानीयेष्वप्युक्तोपाधिद्वययोगे सन्छन्द्योऽनुवृत्त इत्यिम्प्रायेणाह सर्ववस्तुष्विति । 'प्रयुक्यते' इत्यविद्योगनिर्देशात् प्रयोगन्य सार्वित्रकत्वेन दार्व्य सून्यत इत्याह स्त्रोक्षवेदयोरिति । तथेति प्रस्तुवासके स्त्रोबाहरणार्थम् , अन्यथा पुनरुक्तिपसङ्गादित्यभित्रायेणाह स्रोक्तिक इति । सायुभावे इति निर्देष्टमेव निर्मितं प्रकृतासकोदाहरणान्तरे प्रशस्त्रवन्देनावतार्थत

<sup>1</sup> स्वरसं पञ्चमाह इतिकरणेति । 2 तदिति श्वतेरिति । तदिति वा पतस्य महतो भूतस्येति प्रवीदाहृतश्चतिरत्यर्थः । 3 सङ्काशन् साधुमावोऽपि पृश्वीर्घ कर्माकर्मसाधारण्येनोक्तः ।

यक्षे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते । कमें चैय तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ अतो वैदिकानां त्रैवर्णिकानां यक्षे तपसि दाने च स्थितिः <sup>1</sup>वस्याणतया सित्त्युच्यते । कमे च तदर्थीयम् <sup>2</sup>त्रैवर्णिकार्थीयं यज्ञदानादिकं सदित्येवाभिधीयते । तसात् वेदाः वैदिकानि कर्नाणि त्राक्षण प्रवद्गिति हिस्स्वर्णिकाश्च ओं तत्सदिति कन्दान्वयरूपस्रक्षणेन अवेदेभ्यश्चावैदिकेभ्यश्च व्याष्ट्रता वेदितव्याः ॥ २७ ॥

इत्यभिषायेणाह **कल्याण** इति । धातुळीनार्थन्यञ्जनमात्रमुयसर्गेण क्रियते । अतोऽत्र स्रोके 'युज्यते' प्रयुज्यते इतिषदह्नयमेकार्थमित्याह प्रयुज्यत इत्यर्थ इति ॥ २६ ॥

ण्यं सच्छव्दस्य स्युर्धात्मकारं प्रयोगं चोदाहृत्य ततुष्जीवनेनानन्तरं लिरुक्षियिषिते ब्राह्मणादिन्तिक तत्वयोगोपपितरुपसंहियत इत्यमिपायेणाह् अतः इति । स्थितिमुखेन स्थातृणां स्थापकानां च वेदानां सच्छव्दार्था-वयोऽर्थादुच्यत इत्यमिपायेणाह् चेहिकानामिति । 'अध्यायान्तेषु ओं तत्तदिति पाठात् स्थितिशव्देन व्याद्यस्यापताः इत्यापत्रस्य प्रकृतोपपुक्तप्रसिद्धत्वपार्थे संभवति अयुक्तमिति भावः। स्थितिशवदेन वुद्धावुपस्थापिताः स्थातारस्तच्छव्देन परामृश्यन्त इत्यमिपायेणाह् त्रैवर्णिकार्थीयमिति । त्रिविधनिर्देश्यिषयतया प्रकृतिश्वरार्थीयमिति व्यास्यान्तरम् अतिश्यविद्वतपरियान्ते सर्वेशं यज्ञादीनामत-दर्श्यायत्वाच अयुक्तमिति भावः । यज्ञाद्यश्रीयसाधनसम्पादनरूपकर्मणि सच्छव्दनिर्देशवचनादिप <sup>8</sup>भकान्ते यज्ञादावेय तदुक्तिरिहोपपत्रे स्पापायेणाह् यज्ञद्वानादिक्तिति । तद्र्शीयमिति सामान्यसंग्रहावरुग्विना आदिशव्दिनाध्ययनादिग्रहणात् वेदानामपि सच्छव्दान्थ्योऽत्व पदिशित एव ।

भवरवेवं लयाणां लिभिरम्वयः, तदुक्तिरिष्ट किमर्थेत्यत छक्षणोक्तिययोजनभूतिविकानुसम्धान-प्रतिपादनमुखेन औं तरस्रिद्रत्यादिश्लोकैः फिल्तं वदन्तुपसंहरित तस्मादिति । यतु कैश्चित् ओं तस्सिदित्यमीषां वाक्यस्वकरुपनेन वाक्यार्थवर्णनं, यत् फल्लामिसम्बिर्महितं कमि, त(स)च्छोभनमिति यत् तदो तच्छोभनमिति युक्तम् ; तदों तदेवेत्यर्थः (यत् ओं-फल्लामिसंधिरहितं कमि तत् सत् शोधनमित्यर्थः!) इति-एतदेव विवक्षितमित्यत्न न कश्चिद्धेतुः; न चोपयोगः; लक्षणत्वाभिधानं त्वनुष्ठानोपयुक्तमिति भावः॥

<sup>ी</sup> आस्तिकप्रीतिहेतुः कमें प्रशस्तं कस्याणम् । अविहितं ठौकिकप्रपि प्रशस्तं प्राशुक्तम् । 2 तदर्थीयम्− नेपां त्रेवार्णकानां योऽर्थः प्रयोजनं तत्साधनमित्वर्थः । अतः सच्छन्दस्य फळसःधनपरत्वम् ।

<sup>3</sup> वचनाद्पीति-प्रवनापेक्षयेत्यथः। न च पूर्वाधोक्तस्य पुतः कथनं किमर्थमिति शक्यम् न केवलमध्यायम्कृतं यद्यादिकम्, अन्यत्पि सदेवेति सामान्यकथनार्थात्वःत्। तव तद्यीयमित्यव तत्पदं प्रकृतकर्म-तत्प्यतिपादकवेद-तत्थयोक्तपुरुपवये कर्मपरं न भवतिः कर्मणः तद्यीयपदिवशेष्य-त्वात्। वेदपरं न भवति, कर्मणो वेदार्थत्वेपि वेदार्थीयत्वामावात्। तत्पदेन ततः पुरुपप्रहणम्। तद्यीयं यद्यादिस्थत्यर्थीयमित्युक्तौ च यद्यादिप्रहणं कर्मपदात् न स्वरसम्।

्राञ्जश्चद्या हुतं दत्तं तपस्ततं कृतं च यत्। असिदित्युच्यते पार्थ न च नत् प्रत्य नो इह ॥ २८ ओतत्सिदिति श्रीभगवद्गीतासुपनिषत्सु श्रद्धातयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अश्रद्धया कृतं शास्त्रीयमिष होमादिकम् असदित्युष्यते । कृतः ? न च तत् प्रेत्य, नो इह न मोक्षाय, न सांसारिकाय च फलायेति ॥ २८ ॥

# इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्रीताभाष्ये सप्तद्शोऽष्यायः ॥ १७ ॥

शास्त्रविधिमुत्सु ज्येत्यादिना अध्यायारम्भे प्रश्लोत्तरसुखेन श्रद्धायुक्तस्याप्यशास्त्रीयस्याऽऽष्ठर् त्वेनास्त्तं वितिष्ठ वास्त्रीयस्य ततो व्यावृत्तिर्विर्शिता ; इदानीं व्यतिरेकेण, शक्कतानां सिदिति निर्देशाईत्व दृढीकरणाय शास्त्रीयस्यापि श्रद्धारहितस्यासत्त्वसुच्यते, <sup>2</sup>िशिष्टव्यितरेकस्य विशेषणामावे विशेष्यामावे च समानत्वादित्यिभायेणाह अश्रद्धया कृतं शास्त्रीयमपीति । कृतशव्दस्य हृतदत्त्योरन्वयः, तप्तमित्यन्तेन तपसः कृतद्वसिद्धः । <sup>3</sup>हृतदत्तरशव्दावत्र भावार्थो । एवं कृतशव्दस्य विशेषणत्याऽन्वयेऽपेक्षिते सामान्यविषययरोपकारादिविषयत्वक्टातिरसुक्तित च भावः। यद्यप्यशास्त्रीयवत् निरयपतनैकहेतुत्वं नास्ति, तथाऽपि तत्तद्धावयोदितकळाभावादसत्त्वसुपपयत्त इत्यभिपायेण हेत्वाकाङ्क्षां दर्शयित कृतं इति । ''येथं भेते'' (क. १.२०) इति श्रुत्यनुरोधेन प्रत्यशव्दस्य सुक्तरशाविषयत्वेपपत्तौ मोक्षकाङ्क्षिमि रित्यायुक्तफळव्यितरेकस्य न च तत्प्रत्य इत्यपदिना विवक्षितत्वमाह न मोक्षायेति । परिशेपसिद्धः महन्शव्दस्यार्थमाह न सांसारिकाय च फलायेति । श्रद्धायुक्तमप्यवैदिकम् , वैदिकमिप श्रद्धाहीनं दृष्टादृष्ट प्रयोजनिवरहादननुष्ठेयम् ; उमयशिवपयोजनयोगाद्वैदिकमेव <sup>4</sup>श्रद्धात्तमेवानुष्ठेयमित्यध्यायसार इति मावः॥

॥ इति श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां नात्पर्यचन्द्रिकायां सप्तद्शोऽध्यायः॥ १७॥

तामसे सदिति प्रयोगायोगं दर्शयित अश्रद्धयेति ।

<sup>2</sup> श्रद्धापूर्वेकशास्त्रप्रयोज्यानुष्ठानिवपयत्वं सत्त्वम् । तत्र श्रद्धाविरहे शास्त्रप्रयोज्यानुष्ठानिवरहे चासत्त्वमेव । श्रद्धाकृतं प्रशस्तं सदिति वा ।

<sup>3</sup> तर्हि 'अश्रद्धया तपस्तमं हुतं दत्तं इतञ्च (इतं दत्तं हुतञ्च)यन् इति रीत्या मृलगाठः स्यात् । स्थितपाठे इतमिति पदम् इष्टमित्यथें स्यात् । इष्टं यागः-इति चेन्—तर्हि भाष्ये इतमिति पदं एतदर्थपरं नेति चक्तव्यं भवेत् ।

<sup>4</sup> ननु परस्योत्सादनार्थे श्रद्धाकृतं वैदिकं सद्धा असद्वेति चेत् छौिकिकवधापेक्षया पाप-न्यृनतया सद्धाः, कल्याणत्वाभावाइसद्धाः। प्रशस्तत्वविशेपणादसत्वमेव युक्तम्।

#### श्रीः।

## ॥ अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अतीतेनाध्यायद्वयेन — अभ्युद्यनिङ्श्रेयससाधनभृतं वैदिक्रमेव यज्ञतपोदानादिकं कर्म, नान्यत् ; वैदिक्रस्य च कर्षणस्सामान्यलक्षणं प्रणवान्वयः ; तत मोक्षाभ्युद्यसाधन-योभेंदः तत्सच्छन्दिदंश्यत्वेन : मोक्षसाधनं च कर्म फलाभिसन्धिरहितं यज्ञादिकम् ; तदा रम्भश्र सत्त्वोद्वेक्ष्यः सत्त्ववृद्धिश्र सात्त्विकाहारसेवया इत्युक्तम् । अनन्तरं मोक्षसाधनतया निर्दिष्टयोस्त्याससंन्यासयोग्वयम्, त्यागस्य च स्वरूपम्, भगवति सर्वेश्वरे च सर्वकर्मणां कर्तृत्वातुसन्धानम्, सत्त्वरज्ञसमसां कार्यवर्णनेन सत्त्वगुणस्थावश्योपादेयत्वम्, स्ववर्णोनितानां कर्मणां परमपुरुपाराधनभृतानां परमपुरुपराप्तिनिर्वर्तनप्रकारः, कृत्सस्य गीताशास्त्रस्य सागर्थो भक्तियोग इत्येते [अर्थाः] प्रतिपाद्यन्ते । तत्र तावत् त्यागसंन्यासयोः पृथवन्त्वैकत्वनिर्णयाय स्वरूपियाय चार्जुनः पृच्छति—

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महावाहो तत्त्विमच्छामि वेदितुम्। त्यागस्य च हृषीकेश पृथकेशिनिषृद्न॥

कर्तन्यिवशोधनप्रधाने अन्तिभेऽध्यायितकेऽस्याध्यायस्य पश्चाद्वावित्वज्ञापनाय षोडशसप्तद्रशयोर्देशासुर्वभागोक्त्यादिसुस्तेन हेयोपादेयिक्षजनपरत्या प्रचट्टकैवयमिष्मेत्व्याह अतीतेनेति । वैदिकस्य कर्मणस्सामान्यरुक्षणं प्रणवान्वयः, तत्र मोक्षाभ्युद्यसाधनयोर्भेदस्तत्सच्छन्द्वनिर्देदयत्वेनेति विभन्नमानस्यायमिष्रायः— विशेषणादिसामर्थयरुक्ष्योऽयं विभागः। 'श्रमणः पारोक्ष्यात् तदिति निर्देशः । तज्ज्ञाने तु सन्मार्गत्व(सन्मात्र)विवक्षया सच्छन्दः है । क्ष्मादेते सान्त्विकराजसतामसाः' इति विभागस्तु कस्य-चिदुस्पेक्षाकृष्टितः इति ॥ एवसुक्तेत्वप्यर्थेषु मोक्षसाधनभृताशस्त्रस्वश्चाधनसुत्तराध्यायेन क्षियत इति सङ्गत्यसिम्प्रायेणाह अनन्तर्गतित । ''ईश्चरे कर्तृताबुद्धिः सत्त्वोपादेयताऽन्तिमे । स्वकर्मप्रिणामध्य शास्त्रसारार्थे उच्यते'' (२२)इति संग्रहश्चेके त्यागकंत्यासिक्ष्यतत्वरूपानुक्तिरीक्षरे कर्तृताबुद्धिस्रोपत्या तदुपन्यासादिति मन्तव्यम् । सत्त्वोपादेयत्वस्त्र तार्व्यवृद्धस्याऽभिष्वीयत इत्यभिषायेणाह सन्त्यरुक्तसम्यां कार्यवर्णनेनेति । 'स्वर्धमुन्तानेति । स्वर्भावत्यसाध्यभक्तयेकगोचरः' इति संग्रहारुक्षोक्षयानकर्तव्यपरोऽत्त श्रास्त्रसार्थाध्यानकर्तव्यपरोऽत्र श्रास्तरार्थाश्चरत्व इत्य-भिष्रायेणाह सारार्थो भक्तियोग इति । स्वर्गोदिसाधनानां यज्ञदानादीनां सक्ष्रपाविशेषेऽपि यद्यो-गान्मोक्षसाधनस्य, तिद्वरोषमिद्यानी शोधयितुमर्जुनः पृच्छतीत्यभिप्रायेण प्रकृते पश्चे सङ्गमयिति तत्र ताविदिति । सन्त्वविद्वतिद्वत्यायादिकथनं त्यागादिविशिष्टमोक्षसाधनकर्तार्थेतया । संन्यासशब्दस्यान्वस्यः। सन्त्वविद्वतिद्वरामात्वेऽपि शक्तस्य प्रवक्ष्यः। वादिविपतिवर्यादिक्षस्यः। वादिविपतिवर्यादिक्षस्यः।

<sup>1</sup> सचिरित्ररक्षायाम् अर्था इति पदमधिकं पट्यते । 2 सद्बृत्तत्वं साधुभाव इति शांकरम् ।  $\mathbf{z}_{n}$ —68

त्यागसंन्यासयोर्विशेषतस्त्वनुसुरसाहेतुमाह त्यागसंन्यागी हीति । कर्मस्वरूपे स्वर्गापवर्गादिसाधारणे त्यागादिसंज्ञकविशेषणयोगादेव द्धपर्यमाधानत्वम् । अतः प्राप्तापाप्तविवेकेन विशेषणे तस्साधानत्वम् । अतः प्राप्तापाप्तविवेकेन विशेषणे तस्साधानत्वम्यपृत्ते । संशयविपर्ययोगमर्थी विशेष इह तत्त्वशब्देन विश्वस्त हत्याह याथारम्यमिति । प्रथवस्य वेदितुमिच्छामीरयुक्ते निश्चितप्रथवस्य ततस्त्वरूपिज्ञासा प्रतीयते ; न च तत् युक्तम् ; पूर्वत प्रथवस्वनिश्चयहेत्वमावात् ; उत्तरत्व चैकत्वस्यैव वश्चमाणस्यात् । अतोऽयं प्रश्नोऽनुपपन्नः ; प्रतिवचनासङ्गतिश्चेत्यत्वाह अयमिष्रप्राय इति । 'तत्त्वं वेदितुमिच्छामीर्थयेतदेव विवक्षितम् ; प्रथवस्वनिश्चसु संशयकोठ्यन्यतरोपक्षेपमात्वपरः । <sup>उ</sup>प्रथवस्वमस्ति चेत् तद्वेदितुमिच्छामीति वा वाक्याइति रित्यमिष्रायेणाह किमिति ॥ १ ॥

1 अत्र न कर्मणेत्यादिश्रुतिग्रहणपूर्वेकशंकायचनं, 'सत्यागीत्यमिश्रीयते' इत्युत्रगग्रन्थस्वारस्यात् । 2 अत्रोपनिपदि त्यागसंन्यासशब्दौ न संन्यासाश्रुप्तविषयकौ किंतु सान्विकत्याग

विषयकाविति भाष्यस्दाशयः। एतदर्थवेशसम्यनिपद्भाष्यपरिकासस्य ।

3 पृथक्त्विमत्यादिवाक्ये त्यागान्तर्गतकैविध्यक्त्रपृथक वमिप निविष्टम् : अतो वाक्यावृत्या-दरणम् । अयमभित्राय इति भाष्यादेरयं भावः- (२) 'कर्मजं युद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा', (४) 'त्यक्वा कर्मफढासंगम', इति त्यागराज्यः, (३) 'मिय सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यातम-चेतसा । निराशीः' इति संन्यासशब्दश्च प्राक भवत्प्रयुक्तः । तत्र नातीव तयोभेदो भवदिष्ट इति मया संप्रत्याखोच्यते । परंतु मया ब्रानयोगविवक्षया संन्यासकादः प्रयुक्तः (५). 'संन्यासं कर्मणां कृण्ण पुनर्योगञ्च शंसिसं<sup>7</sup> इति । भवता च तद्श्युपगम्येव (५) संन्यासः कर्मयोगश्च', । (६) 'अनाश्रितः कर्मफळं…स संन्यासी च योगी च<sup>र</sup> इत्युत्तरितम् । (५) 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं बशी' इति. (१२) 'नवैक्सफलत्यागं ततः कुरुं, 'ध्यानात् कर्मफलत्यागः' इति च भवता त्यागसंन्यासौ अविशेषेण व्यवहृतौ । तत् कि नत्तत्यदार्थयोभेंद इष्टः, उताभेदः? तथैकार्थकत्वेऽपि त्यागविषये सर्ववादिनामेककण्टता, उनाभिष्रायभेदः नथा स्वाभिमते त्यागे किमवान्तरभेदोऽपि उतैकप्रकारतेवेति अर्जुनस्य जिज्ञासेति । छणादायस्तु-पष्टे भवत्सं-संन्यासशब्दप्रयोगेऽपि त्यागसंन्यासयोरेक्यमेवासदिष्टमः 'संत्यासयोगात्' इति श्रुत्यनुसारात्। फलत्याग-स्वरूपत्यागरूपमतभेदस्त् वर्तते । अस्मद्रभिमते त्यागे च ('त्यागो हि पुरुषव्याघ्र तिविधः' इति) त्रैविध्यमप्यास्त । तदवान्तरभेदविवक्षया कचित् तत्त्रत्रयोगोऽपीति ॥ तथाच इलोके, तयोस्तत्त्विमच्छामि, पृथक-मतभेदेन अवान्तरभेदेन सहेत्यपर्थः । संन्यासपदस्य ज्ञानयोगरूपार्थे तदिष्टमधिकृत्य वक्तव्यमपि उपि तृतीयाध्यायोकानु-

अथानयोरेकमेव स्वरूपम् , तचेदशिमिति निर्णेतुं वादि विप्रतिपत्तिं दर्शयन् श्रीमग-वातुवाच —

श्रीभगवानुवाच-

<sup>1</sup>काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विद्वः । सर्वेकर्मफळ्यागं प्राहुस्यागं विचञ्चणाः॥२ केचन विद्वांसः काम्यानां कर्मणां न्यासं खरूपत्यागं संन्यासं विद्वः । केचिच विच-

पृथवत्वैकत्वतत्त्वरूपिजज्ञासया प्रश्नश्चेत् , तत किसानंशे काम्यानामित्यादिमतभेदोपन्यासस्य सङ्गतिरित्यलाह अथेति । अयमभिपायः — न्यायतो द्यल निर्णयः प्रतिषाद्यतेः संदिग्धे च न्यायावतारः : सन्देहश्चाल वादिविधितपत्तिनवन्धन इति न्यायविषयविशोधनाय विधितपत्त्यपन्यासः इति । एतेन कथितार्थयोरपि संन्यासत्यागशन्दयोर्विप्रतिपत्तिप्रशमनाय अस्तित्रध्याये पुनः प्रश्न इत्यपि स्चितम् । एकत्वस्वीकारेण प्रतिवचनात् पृथवत्वप्रतिक्षेपोऽर्थसिद्धः इत्यभिषायेणाहः एकमेव स्वरूपमिति । स्वमतस्य 'निश्चयं शृणु' इति (४) वङ्यमाणत्वात् कवयः, विचक्षणाः इति पदद्वयं नार्थपाशस्त्यार्थ(थै) वक्त-गौरवपरमः अपि त विश्रतिपत्यपयक्तवेदनमात्रपरमित्यभित्रायेणाह केन्न विदांस इति । अनस्तर-क्षीकेन भेदस्य एके, अपरे इति व्यक्तत्वादिहापि तद्विवक्षेत्यभिषायेण केचनेत्यक्तम् । काम्यानां कर्मणां न्यासमिति विशेषणादितरेषामपरित्यागः प्रतीयते : उत्तरत् च सर्वकर्मफलत्यागमिति विशेष-णादत्र काम्यखरूपत्यागश्चेत्यभिषायेणाह स्वरूपत्यागमिति । काम्यखरूपत्यागं वदतामयमभिष्रायः---न तावत् नित्यनैमित्तिकवत् अकरणे प्रत्यवायात् कर्मान्तरानईतापत्तिभयाद्वा काम्यमनृष्टीयते । न च विवर्ग-साधनायः तस्यापवर्गप्रत्यनीकत्वात् । न च तदेव कर्म अपवर्गस्यापि स्वयं साधनम् : उपासनादिनैर्थवय शसङ्गात् । न च विनियोगपृथवत्वेन विद्याङ्गतया तत्परिमहः; यज्ञादिश्रतेर्नित्यनैमित्तिकमात्रविषयत्वेऽपि विरोधाभावात् । अत एव हि, "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्चवत् " (ब. ३.४.२६) इत्यधिकरणमाश्रम-धर्मसापेक्षतापरं भाष्यते । तसात् खर्गादिसंज्ञनरकहेतवः काम्याः क्रिया मुमुक्षभिनीन्ष्रेयाः इति । वादेन संग्रहीत्पति, 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्टितात्' इति । पूर्वाध्याये शास्त्री-यस्य कर्मण एव कर्तव्यत्वस्य, सान्विकत्यागपुरस्तरमेव कर्तव्यत्वस्य च साधितत्वात, सारिवकत्यागविषये च, 'मिथ सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' इति संन्यासराव्ययोगात् , तस्य च ईरवरे कर्तृताबुद्धिरिति संग्रहकारिकोक्तार्थकत्वात् तद्धिवेकसंपादनाय तमेव संन्यासराव्दं पुरस्कृत्य पुच्छत्पर्जुनः । अत एव ईश्वरे कर्तृतावुद्धिरेतत्प्रघट्टार्थं इत्युक्तं संग्रहे ॥

श्वणाः नित्यानां नैमित्तिकानां च काम्यानां सर्वेषां कर्मणां फरुत्याग एव मोक्षशास्त्रेषु त्याग् शब्दार्थ इति प्राहुः । तत्र शास्त्रीयत्यागः काम्यकर्म सरूपविषयः, सर्वेकभेफरुविषय इति विवादं प्रद्र्शयन् एकत्र संन्याक्षश्चद्रमितग्त त्यागशन्दं प्रयुक्तवान् । अत्रस्त्यागसंन्यासशन्द्रयोरेकार्थ त्वमङ्गीकृतमिति इत्यते । तथा 'निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भगतसत्तमः' (४) इति त्यागशन्देनैव निर्णयवचनात्, 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोषपद्यते । मोहात् तस्य परित्यागः तामसः पिकीर्तितः ॥' (७), 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फरुम् । मवत्यत्यागनां प्रत्य न तु संन्यासिनां कचित् ॥' (१२) इति पगस्परपर्यायताद्र्शनाच तयोरेकार्थत्वमङ्गीकृतमिति निश्चीयते ॥ २ ॥

सर्वर्भफलल्याम्मिति बदतां त्वयमाञ्च -फलविरोधादि काम्यानां त्यागः शङ्क्यते । अतः फलमेव त्यज्यताम् । न च निष्फलानुष्ठानप्रसङ्गः : नित्यनैमित्तिकवदेव भगवत्यीतिमालार्थतया तदनुष्ठानोपपत्तेः। न चैवं न विधि:: ''यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽिमाँहोंके जहोति यजते तपस्तप्यते बहुनि वर्षसहस्रा-ण्यन्तवदेवास्य तद्भवति" (वृ. ५ ८. ९) इत्यादिनाऽक्षरशब्दनिर्दिष्टपरमप्रुषवेदनावेदनाभ्यामेव तस्यैव कर्मणो नित्यानित्यफलसाधनत्वश्रतेः । अतो नित्यनैमित्तिकानामिव काम्यानामपि न स्वरूपत्यागः इति । विवादस्य भिन्नविषयत्वायोगाद्वत त्यागसंन्यासञ्बदयोरेकार्थत्वावस्यम्भावात् प्रथगर्थत्वशङ्कापरिहारोऽ-र्थलब्ब इत्याह तन्नेति । एतेन. संन्यासत्यागशब्दयोः प्रथमर्थत्वमङ्गीकृत्य कत्यचित काम्यस्वरूप-प्रहाणविषयतया(तां?) कस्यचित्त नित्यनैमित्तिकफळोपेक्षार्थतां च वदन्तः प्रत्यक्ताः । न झल काम्येतरकर्म-फलत्यागमित्युच्यते । ततथा संकोचकाभावात् विविधमपि कर्म संगृह्णाति सर्वकर्मेति । तदिद्मुक्तम् नित्यानां नैमित्तिकानां काम्यानां च सर्वेषां कर्मणामिति । नित्यानामपि, 'शाजापत्यं गृहस्था-नाम्' (वि. १. ६. ३७) इत्यादिना फलसंयोगोऽवगतः ॥ अत्र श्लोके त्यागसंन्यासग्रव्दयोर्ग्थभेद-व्युत्पादनपरतां निरसितुमैकार्थ्ये प्रस्पष्टं हेतुद्वयमाह तथेति । न ह्यर्थद्वयि । येऽत्र विमर्शे अन्यतरस्थैव निश्चय उपपन्न इत्यभिपायेणोक्तम् त्यागशन्देनैवित । परम्परपर्यायतादर्शनाचेति । अयमभिपायः---'नियतस्य त संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते' इति निषिद्ध एव हि संन्यासः, 'मोहात् तस्य परित्यागः' इति त्यागशब्देनानूच तामसत्वेन निन्चते ; अन्यथा जरद्भवादिवावयवत् परस्परानन्वसपसङ्गात् । एवं 'भवत्यत्यागिनां पेत्य इत्युक्त' एवार्थः 'न तु संन्यासिनां नवचित्' इति न्यतिरेकेण दृढीकियते । न च तदन्यविधिरन्याभावस्य व्यतिरेकः । अत इमौ शब्दावलाप्येकार्थाविति । अङ्कीकृत्मिति । प्रतिवक्ता भगवतेति जोवः ॥ २ ॥

काश्यानामिति श्रोकेन फलविरोधनदभावद्वारा विरोधो दर्शितः । अथ, 'त्याव्यं देषिवत' इति श्रोकेन खरूवतो दोषयोगनदभावाभ्यां प्रत्यवाय[कर ?]त्वादिमुखेन विवादः प्रदर्शते । वैष-हिंसाऽपि कापिलैर्निषिद्धत्वेन दोषतयाऽङ्गीकियते । यथोक्तमाञ्चरकुष्णान, "हष्टवदानुश्रविकः स स्वविद्युद्धिक्षयातिशययुक्तः" (सा. का. २) इति । उक्तं च पश्चशिखाचार्येः, "स्यात् खर्वसंकर त्याज्यं दोपबदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः । यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ एके मनीषिणः कापिलाः वैदिकाश्च तन्मतानुसारिणः रागादिदोषवत् बन्धकत्वात् सर्वे यज्ञादिकं कर्म सुम्रुक्षुणा त्याज्यमिति प्राहुः ; अपरे पण्डिताः यज्ञादिकं कर्म न त्याज्यमिति प्राहुः ॥ ३ ॥

निश्चयं श्रुणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम / त्यागो हि पुरुषव्यात्र त्रिविधस्संप्रकीर्तितः ॥)

तल एवं वरिविविविषये त्यागे त्यागिविषयं निश्चयं मत्तरशृणु ; त्यागः कियमाणिव्ये वैदिकेषु कर्मसु फलविषयतया, कर्मविषयतया, कर्मविवयतया, कर्मविषयतया च पूर्वमेव हि मया तिविध-संग्रकीर्तितः, "मिय सर्वाणि कर्माण संन्यस्थाध्यात्मचेतसा । निराक्षीर्निर्ममो भृत्वा युध्यस्य स्युपरिहरस्सगत्यवमधः(शैः)" महति । अतः 'वैधिहंसा पुरुषस्य दोषमावक्ष्यति, क्रतोध्योपकरिप्यति' इति तन्मतस् । अतः एके इति शब्देन सामान्यतो निर्देष्टा वादिनः दोषवदिति हेत्वन्वयादिसामध्यीत् दोषास्थयद्यान्तोक्तिकलाद्वा विशेषते व्यव्यवन्त इत्याह कापिला वैदिकाश्च तन्मतानुसारिण इति । एतेन सर्वकर्मलरूपसंन्यासवादिनां मतमि वेदबाह्यत्वेन दिश्वतम् । रागादिदोषवदिति । रागादयो दोषा वन्धका इति सर्वसैद्धान्तिकसंमतत्वात् तदुदाहरणम् ; व्यहा कर्मेव रागादिदोषवत् ; अत एव वन्धकमित्यमित्रायः । अस्यां योजनायामादिशब्दो हिसादिकमित संग्रह्मति । सर्व यज्ञादिकं कर्मेति कर्मशब्दोऽल सामान्यविषयोऽपि यज्ञदानतपःकर्म न त्याष्यमिति पक्षान्तरे विशेषणात् शास्त्रचोदित-विषयः ; तल च विशेषकामावात् कान्यविषयस्य पोनरुवत्याचि स्विवषय इति मावः । सर्वैस्त्याज्यत्वे तिद्वयाक्तस्य शास्त्रस्यामाण्यभस्तज्ञात् सुमुक्कुणेति विशेषितम् । अपरशब्दोऽल स्वमतानुसारिविषयः । यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्ये कार्यमेव तदिति हि समतं वश्चत इत्यभिप्रायेणाह पण्डिता इति । त्याज्योपादेयविमागतत्त्वविद इत्यर्थः ॥ ३ ॥

त्रवेतिश्रव्दः शृङ्कते विश्वतिपित्तविषयतानुवादमुखेन न्यायप्रश्चतिषयसंदिग्धताञ्चोतक इत्यभि-प्रायेणाह एवं वादिविप्रतिपन्न इति । में <sup>4</sup>निश्चयमित्यनेन मतान्तरोत्थानशङ्काव्युदासायाह त्याग-विषयं निश्चयं मृत्तद्रशृण्विति । मृतः अमादिदोषरहितादित्यर्थः । त्यागो हीत्यादिकं न वश्चमाण-सात्त्विकादित्यागवैविश्यविषयम् ; किं तु सात्त्विकत्यागावान्तरभेदविषयम् , संप्रकीर्तितः इत्यस्य प्रामुक्ततत्परत्वसारस्यात् , द्विशव्देन श्रोत्तसंपतिपत्त्यादिवतीतेश्चेत्यभिषायेणाह त्यागः कियमाणे-चेवेत्यादि । मिष्य सर्वाणीत्येक एव श्लोकस्त्रिविषयागपर <sup>5</sup>हति अत्र निष्कलानुष्ठानस्वरूपत्यागं,

<sup>1</sup> प्रत्यवमर्थ इति पकारान्तं तत्त्वकौमुद्यामुदाहृतम्, मृष्यते सुखहृदावगाहिता स्वस्यं दुःखिमिति तत्र । सेरश्वरमीमांसायां (पुट 61) अस्मिहृष्पणे शिष्टं द्रष्टन्यम् । 2 रागाहिदोपविद्यस्य मृतुवन्तत्वे कम्मेत्यबान्वयः । वित्रप्तयान्तत्वे वन्धकत्वादित्यक्षान्वयः । 3 पूर्वेश्ठोकाधिद्ययोप-पादकमेतच्छ्लोकाधिद्वयमिति स्वीकारो व्यर्थः अधिकार्थसंभवादिति भावः । तथा च काम्यतिदित्यस्यवैद्यागोऽपि संन्यासशब्दार्थं इत्येतन्त्रतम् ।

<sup>4</sup> पष्टक्शोकोक्तरीत्या सोऽथोंऽपि नायुक्तः। तेन पौनरुक्तयं मा भूदिति एवं योजना।

<sup>5</sup> इतीति । इति हेतोरित्यर्थः । विवनकीत्यक्षान्वयः ।

विगतज्वसः (३. ३०) इति । कर्मजन्यं स्वर्गादिकं फलं मम न स्वादिति <sup>1</sup>फलत्यागः : मदीयफलताधनतया मदीयमिदं कर्मेति कर्मणि ममतायाः परित्यागः कर्मविषयस्त्यागः : सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसंघानेनात्मनः कर्तृतात्यागः कर्तृत्वविषयस्त्यागः ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञदानतपःप्रमृति वैदिकं कर्म ग्रुप्नुक्षणा न कदाचिदपि त्याज्यम , अपि त अप्रया-णादहरहः कार्यमेव ॥ ४= ॥ कतः ?

यज्ञो दानं तपश्चेव पावनानि <sup>2</sup>मनीपिगाम् ॥

यज्ञदानतपः प्रमृतीनि वर्णाश्रमसंबन्धीनि कर्माणि मनीषिणां मननशीलानां पाव-नानि । मननप्रुपासनम् ; प्रमुक्षूणां यावजीवमुपासनं कुर्वताप्रुपासननिष्पत्तिविशोधिप्राचीन-साङ्गयमतराङ्कां च शतिश्लेष्तुम, त्रयाणां खरूपं विविनक्ति कर्मजन्यमित्यादिना । मदीयफल-साधनतयेत्यादि । <sup>1</sup> सकीयपीतिसाधनतया स्वार्थमेव भगवान् प्रवर्तयतीति हि सुमुक्षोरनुसंघानमिति भावः । स्वकर्तृत्वस्य ताद्धीन्यतद्नुमतिसापेक्षत्वादिभिस्सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसंघानम् । कर्तृत्वत्यागस्त अनेककर्तृके परप्रयुक्तस्वात्मकर्तृकत्वानुसन्धानिमत्युत्तरत्व विशोधियप्यते 🖟 ४ ॥

एवं त्रिविधत्यागानुवादस्य स्वरूपत्यागव्यवच्छेदार्थतोच्यते यञ्जदानेत्यादिना । विविदि-षाद्यत्पतेः प्राक्तवज्ञादिकमनुष्टेयम् , पश्चात् परित्याज्यमित्याख्यातीति केचित् ; तन्मतन्युदासायाह न कदाचिदवीति । 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषन्' (छा. ८. १५. १०) इति श्रत्यभिनायेणाह अपि त्वाप्रयाणादिति । तथाच सलम् 'आप्रयाणात् तलापि हि दृष्टम्' (त्र. ४. १. १२) इति । अदृरहरिति चोदितकालोपलक्षणम् । नन् विद्यानिष्ठस्य किनथै कर्म ? न तावदाराद्रपकारित्वेन : समुच्चयादिपक्षानभ्यपगमात् । नापि तत्त्वज्ञानार्थम् : सपरिकरात् प्रमाणादेव तत्तिद्धेः । न च तदनुसारण-रूपोपासनार्थम् : तस्यापि संस्कारपाटवादिसाध्यत्वात् : न चान्यत् किश्चित् कर्भसाध्यं मुमुक्ष्वपेक्षितं प्रयोजनं पद्म्यामः ; न च प्रयोजनमनुद्दिस्य मन्द्रस्यापि प्रयुत्तिरित्यभिप्रायेण कृत् इत्याकाङ्क्षाप्रदर्शनम् । चकारोऽनुक्तसमुचयार्थ इत्यभिषायेण प्रमृतिशब्दः । वर्णाश्रमभवन्धी नीति । नित्यनैमित्तिकानामपि खरूपत्याग इति य: पक्ष:, स इह प्रतिक्षिप्यत इति भाव: । यज्ञादीनां सन्तिपत्योपकारघोतनायोप-कर्तव्यज्ञानस्वरूपपरोऽत्र मनीषिश्वव्द इत्यभिशायेणाह मननशीलानामिति । मनस ईिषणो मनीपिण इति व्युत्पतौ फल्रितोक्तिरियम् । श्रवणानन्तरभावियौक्तिकमननव्यवच्छेदायाह मनन-मुपासनमिति । पावनानि मनीपिणामिति समसिव्याहारसिद्धमुपकारप्रकारं व्यनक्ति मुमुञ्जूणामि-त्यादिना । 'प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत' इति प्रकम्य 'यः पुनरेतं त्रिमालेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं

<sup>1</sup> सर्गादिफलस्य सर्वात्मना त्यागात् फलत्यागः। संभवतः श्रीत्यादेः भगवदीयत्वानुसंधानात् ममतात्यागः। एवं त्रैविध्यस्य कथितत्वात् स्वरूपत्यागपक्षः दोपवस्वपक्षश्च नेष्ट इति निश्चितं हीति भावः।

<sup>2</sup> पावनेषु दोषवत्ववुद्धिः सर्वथा न युज्यते । रागादिवत् वन्धकमित्यप्ययुक्तम् । अनुकूल-विषपरागस्यावन्धकत्वात् ।

### कर्मविनाशनानीत्यर्थः॥ ५॥

पतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्न्या फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥६ यसान्मनीषिणां यज्ञदानतपःप्रमृतीनि पावनानि, तसादुपासनवदेतान्यपि यज्ञादि-कर्माणि मदाराधनरूपाणि, सङ्गम् कर्मणि ममतां फलानि च त्यक्त्वा अहरहराप्रयाणा-दुपासननिर्वृत्तये मुम्रुशुणा कर्तव्यानीति सम निश्चित्र पुत्तमं मतम् ॥ ६ ॥

िनयतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपयते । मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ नियतस्य तित्यनेमित्तिकस्य महायज्ञादेः कर्मणः सन्यासः त्यागो नोपपयते, 'श्रीरयाला ऽपि च तेन प्रसिद्ध चेदकर्मणः' (३.८) इति श्रीरयात्राया एवासिद्धेः, श्रीरयाता हि यज्ञ शिष्टाश्चेन निर्वत्यमाना सम्यग्ज्ञानाय प्रभवति ; अन्यथा, 'ते त्वयं भ्रुज्जते पापाः' (३.१३) इत्ययज्ञशिष्टायरूपाशनाप्यायनं सनसो ईवपरीतज्ञानाय भवति । ''अन्नमयं हि सोम्य मनः'' (छा. ६. ५.४) इत्यन्तेन हि मन आप्यायते । ''आहारशुद्धौ सन्वशुद्धिस्तत्त्वशुद्धौ भ्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलग्मे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।।'' (छा. ७.२६.२) इति ब्रह्मपुरुषमिध्यायीत' (१ ५.५) इत्युवास्तं यावज्ञीवमनुष्ठेयमिति निगम्यते । अतस्तदक्रमि यावज्ञीवमनुष्ठेयम् । तच्च, 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुवस्' (छा. ८.१५.१०) इत्यादिभिर्वर्ण्यत इति भावः । उपासनयदत्तरावनिवर्वकरवाभावात् प्राचीनशब्दः ॥ ५॥

एवं पावनत्वोबत्या त्याज्यं दोषवदिति पक्षः प्रतिक्षितः । निश्चयं शृष्वित्यादिनोक्त एवार्थः एतान्यपीति क्षोकेन निर्दोषत्वाध्यवसायार्थं निगमनात्मना हदीक्रियत इत्यपुनरुक्तिः । हेतुसाध्यभावेन पूर्वोत्तरमन्त्रों संगमयित यसादिति । मनीषिशव्दस्चितोपासनसमानयोगक्षेमताद्योतनाय अपिशव्द इत्याह उपासनवदेतान्यपीति । परमात्मपीतिद्वारा कर्मणां पावनत्वादिसिद्धध्येमाह मदाशाधन-रूपाणीति । सङ्गशब्दत्य फलत्यागोकत्या पुनरुक्ति परिहरति कर्मणि ममतामिति । निश्चितमिति । नाल पुनस्त्वया संश्चितव्यमिति भावः । उत्तममिति असर्वज्ञानामप्येषामेतिद्वरुद्धं स्वरूपत्यागादिमतं सर्वमधमत्वादनादरुणीयमिति भावः ॥ ६ ॥

श्रथ नियतस्येत्यादिना मतान्तराणामधमत्वं खमतस्योत्तमत्वं च प्रषश्चति । वर्णश्रमप्रयुक्ततया दुस्त्यज्ञत्वं नियतशब्देनाभिषेतिमित्याह नित्यनैमित्तिकस्येति । तुशब्दसहितः संन्यासशब्दोऽल त्याज्यं दोषवदित्यल्(त्युक्तः) स्वरूपत्यागानुवादी ; स एव हि मोहात्तस्य परित्यागः इत्युत्तरार्धेन निन्यत इत्यभिषायेण संन्यासस्त्याग इत्युक्तः । पावनत्वेनावश्यकर्तव्यत्वे शिष्टे, पुनः त्यागो नोपपयत इति शासनं पावमपश्चितदृष्टादृष्टानुपपतिसारणपरिमत्यभिषायेणानुपपत्ति विष्टणोति श्वरीरयान्त्वाऽपीति । केवलाशनादिनाऽपि लौकिकदेहयाला सिध्येदित्यलाह अर्गरयाता होति । "पश्चन्त्यत्मकेगेगैः पश्चमृतात्मकं वपुः । आप्यायते" (वि. ६. ७. १८) इति स्मरणात् कथमाहरिण मनस आप्यायनिस्यलाह अन्नमयं होति । सान्त्विकाहंकारकार्यत्याविकारत्वासंभवादाप्यायनोक्तिः ।

साक्षात्काररूपं ज्ञानमाद्वारशुद्धचायतं श्रूयते । तसात् महायज्ञादिनित्यनैभित्तिकं कर्म त्राप्रयाणात् त्रज्ञज्ञानायैवोपादेयमिति तस्य त्यागो नोपपद्यते । एवं ज्ञानोत्पादिनः कर्मणो
वन्धकत्वमोहात् परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः । तमोमूलस्त्यागस्तामसः । तमःकार्याज्ञानमृलत्वेन त्यागस्य तमोमूलत्वम् । तमो ह्यज्ञानस्य मूलं, 'प्रमादमोही तमपो भवतोऽ
ज्ञानमेव च' (१४. १७) इत्यत्रोक्तम् । अज्ञानं तु ज्ञानिवरोधि विपरीतज्ञानम् ; तथा च
वश्यते, 'अधर्म धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽच्ता । सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ
तामसी'' (३२) इति । अतो नित्यनौभित्तिकादेः कर्मणस्त्यागो विपरीतज्ञानमूल एवेत्यर्थः॥७
दुःखमित्येव यः कर्म कायक्वेद्रशमयात् त्यजेत् । स कृत्वार राजसं त्यांग नैव त्यागफलं लमेत्॥ ८

दुःखिमत्येव यः कर्म कायक्वेदानयात् त्यजेन्। स इत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफळं छमेत्॥ ८ यद्यपि परंपरया मोक्षसाधनभृतं कर्म, तथाऽपि दुःखात्मकदृब्यार्जनसाम्यत्वात

"स्मृतिस्मि सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इत्येतत् , "भिद्यते हृद्यप्रन्थिः" (मृ. २. २. ८) इत्यादिकया समानार्थया श्रत्या दर्शनशन्देन विशेष्यत इत्यमिषायेण त्रक्षसाक्षारकाररूपमित्युक्तम् । विशदतम-त्वात् साक्षात्कारोक्तिरिह भाव्या । सङ्कदुनुष्ठितस्य विद्योपकारित्वराङ्कां परिहरन् निगमयति तस्मादिति । नोपपदाने इत्यम्य कारणामावे कथं कार्ये स्यादिति भावः । उक्तप्रकारेणापरित्याज्यत्वनियमवन्त्वं तस्येत्यनूचत इत्यभिप्रायेणाह एवं ज्ञानोत्पादिन इति । 'त्याउवं दोषवदि'त्यनूदितस्य मतस्यैतद-दुषणमित्यभित्रायेणाहः वन्ध्वकत्वमोहादिति । "तत्व भवः" (अष्टा. ४. ३. ५३) इत्यण्यत्ययेन तामस्यान्दं निर्विक्ति तमीमुरु इति । संबन्धमालेऽपि तद्धिनार्थे फलितविशेषोऽयम् । तामसबुद्धि-मूलत्वेन सद्वारकं तमोमूलत्वं विवृणोति तुमःकार्येति । नन्वत् समभिव्याहृतमोहमूलत्वेनैव तमोमूलत्वे दर्शयितच्ये तमःकार्याज्ञानम्, छत्योक्तिः किमर्थाः तद्यैयः ; न ब्रुक्तस्यैव पुनदशब्दान्तर्च्यञ्जने प्रयो-जनम् : अधिकवीधनं त यक्तमविरुद्धं चेति ॥ नन् 'प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च'' (१४, १७) इति श्लोके मोहशब्देन विपरीतज्ञानस्य प्रथमक्तत्वादज्ञानशब्देन ज्ञानामाव उच्यत इति व्याख्यातमः इह पुनः, 'अज्ञानं तु ज्ञानिवरोधि विपरीतज्ञानम्' इति कथसुच्यते १ इत्थम् । ज्ञानाभावस्यापि प्रवृत्तिहेतुत्वं विपरीतज्ञानद्वारेति पदर्शनार्थे, छोकस्थमोहश्रुव्दस्य प्रयोजनान्तरविवक्षया वा, श्लोकस्थासाज्ञानसञ्दर्य मोहविषयत्वज्ञापनार्थं वेति । तामसबुद्धेः कर्मत्यागहेत्तां वश्यमाणेन व्यनक्ति तथाचेति । तत्त्वविदो न परित्यजनीत्यभिष्रायेण तामसनिर्देशफ्रिलं। निगमयति अतः इति । नित्यनैमित्तिकादेरिति आदिशब्देन फलाभिसंधिरहितकान्यानामपि वक्ष्यमाणानां ब्रहणस्। विपरीत ज्ञानेत्यनेनायथाज्ञानमूळात् राजसत्यागात् विशेषपद्शैनम् । अयथावदिति(२९) हि राजसवुद्धिर्वक्ष्यते॥

तदेवमन्तरङ्गतया स्वरूपशब्दच्यवर्दश्यस्वरूपिक्ष्यक्षधर्मशाणगद्धमिन्वेपरीत्याभावेऽपि निरूपित-खरूपिवशेषकधर्मवैपरीत्येन राजसीं वुद्धिं वक्ष्यमाणामनुस्मरन् राजसत्यागं विद्यगीति-यद्यपीत्यादिना । दुःस्विमत्येवेत्यवधारणात् कायक्केश्रमयादिति चोक्तेरधर्मत्वमोहोऽत्र नास्तीति कछितम् । 'अर्थाना-

अवस्यकत्वे सत्येव कर्मणस्त्यागो मोहादेव । अतस्तामस इत्युक्तं भवति ।

बह्वायासरूपवया कायक्षेत्रकरस्वाच मनसोऽवसाद्करमिति तद्भीत्या योगनिष्पचये ज्ञानाभ्यास एव यतनीय इति (यतनीयमिति?) । यो महायज्ञाद्याश्रमकम परित्यजेत् , स राजसं रजोम्छं त्यागं कृत्वा तत् अयथावस्थितज्ञासार्थरूपमिति ज्ञानोस्पन्तिस्पं त्यागफलं न लभेतः "अयथावत् प्रजानाति वुद्धिस्मा पार्थं राजसी" (३१) इति हि वक्ष्यते । न हि कर्म दृष्टद्वारेण मनःप्रसादहेतुः, अपितु भगवत्यसादद्वारेण ॥ ८॥

्र कार्यमित्येव <sup>(</sup> यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन । सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव, स त्यागः सास्विको मतः॥९ नित्यनेमित्तिकमहायज्ञादिवर्णाश्रमविहितं कर्म मदाशधनरूपतया <sup>2</sup>का<u>र्थं स्वयंप्रयोजन</u>

मिति मत्वा सक्षम कर्मणि ममतां फर्ल च त्यबस्वा यत् क्रियते, स त्यागः सास्विको मतः, स सत्त्वमृतः; यथावस्थितवासार्थज्ञानमृतः इत्यर्थः। सन्त्वं हि यथावस्थितवस्तुज्ञानमुत्पादयती त्युक्तम्, "सत्त्वात् संजायते ज्ञानभू" (१४. १७) इति । वक्ष्यते च, "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। वन्धं मोक्षं च या वेत्ति वृद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी" ॥ (३०) इति ॥

न हेष्ट्रश्करालं कर्म कुराले नानुपज्ञते(ज्यते)। त्यागी सरवसमाविष्टो मेथावी च्छित्रसंशयः॥ १० मार्जने दुःखम्' (मा, व. २. ४४) इत्यायनुमःरेणाइ-दुःखात्मकेति । मनसोऽवसादकरमिति । अनवसादो हि विवेकादिसाधनसमके गणित इति भावः । अन्तरक्रविरक्षविरोधे बहिरक्षत्यागो युक्त इत्यमित्रायेणाह ज्ञानाभ्यास एवेति। "वश्रोक्तान्यि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः । आत्मज्ञाने शमे च स्थात् वेदाभ्यासे च यववान् ॥" (मनु. १२ ९२) इत्यनुवादवावयानि अस्य मुख्य । स कृत्वा राजसं त्यागमित्यनुवादिविवित्तमाह अयथावस्थितेति । वश्यमाणसात्त्विकत्यागफळमिह त्यागफळ-शब्देन विविश्वतम् , मुमुञ्जयकरणस्वात् कर्मत्यागे तत्ताध्यस्वगिदिक्रत्य प्रसङ्गाभावाचेत्यभिपायेणाह ज्ञानोत्पत्तिस्वगित्रस्य करोतीत्यर्थे । (इ. मा.) इत्याद्यक्तक्रमेण कर्मभिः प्रसादितो भगवान् मनसोऽनवसादयेव करोतीत्यर्थे ॥ (इ. मा.) इत्याद्यक्तक्रमेण कर्मभिः प्रसादितो भगवान् मनसोऽनवसादयेव करोतीत्यर्थे ॥ (इ. मा.)

अथ त्यागो हीत्यादिना सारितमेबोद्धृत्य सत्त्वकार्ययथावस्तिज्ञानम्हत्या तस्यैव शास्त्रीयदंद्वयति कार्यमित्येवेति छोकेन । 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपव्यते' (८) इति प्रक्रमादिहापि नियतशब्दः कर्मविशेषणमिति तदर्थमाह नित्येति । आहत्य कार्यत्वं हि प्रयोजनस्यैव ; तद्र्थतयेव हि साधनस्य कार्यता ; तसादफलस्य कथं कर्तव्यत्वमित्यताह मदाराधनरूपतया कार्यमिति । तद्रभिवेतमाह स्वयंप्रयोजनमिति । कर्नृत्वत्याणोऽप्यतानुसंघेयः । अत एव ह्यन्तरस्छोके त्यागीति शब्दः सञ्चप्रस्वस्वत्याणीति व्यास्यायते ॥ ९॥५

मनु यदिति कर्मविशेषणम्, एवं सित स इति कथं त्यागिवशेषणमिति चेत्—स इत्यस्य तत्कर्मसंबन्धीत्यर्थः । यदित्यस्य त्यक्त्वेति त्यागिकयाविशेषणत्वे तु न स क्वेशः : दूरान्वयः स्यात् ।
 फलसंगकर्तृत्वत्यागो हि सारिवकः, अकरणे प्रत्यवायिभया नित्यानुष्ठाने प्रत्यवायानुत्पादरूपफलो-देशात् कथं फलल्याग इत्यताह मिदित । आराधनिवियैवानुष्ठानम् ; प्रत्यवायानुत्पाद आनुपिक्षिकः ।

एवं मन्वसमानिष्टो मेथावी यथावस्थिततत्त्वज्ञानः, तत एव च्छिनसंश्रयः, कर्मणि सङ्गफलकर्तृत्वस्थानी, न द्वेष्टयकुशलं कर्मः कुशले च कर्मणि नातुवज्ञतः । अकुशलं कर्म अनिष्टफलम् , कुशलं च कर्म इष्टरूपस्वर्गपुत्रपश्चनाद्यादिफलम् । मर्वस्मित् कर्मणि ममता-रहितत्वात्, त्यक्तन्नभव्यतिरिक्तसर्वफलत्वात्, त्यक्तकर्तृत्वाच तयोः कियमाणयोः प्रीतिद्वेषौ न करोति । अनिष्टफलं पापं कर्मात्र प्रामादिकमिष्ठेषम् ; 'नाविरतो दुश्चिताञ्चाश्चान्तो

सत्त्वादिमूलशास्त्रीयत्यागयक्तस्य, 'वर्तते सात्त्विको भावः' (मो. घ. २९१. २१), ''इत्युपेक्षेत तत् तदा' (मो. घ. २९२. २९), 'उदासीनवदासीनः' (गी. १४. २३) इत्यादिप्रसिद्धं विकास-भावरूपं लक्षणमुच्यते न द्वेष्टीति छोकेन । तेनोक्तलक्षणत्यागस्य सत्त्वमूल्द्वमप्युवपादितं भवति । तत्र हेत् कार्यक्रमौचित्येन भिन्नक्रमतया व्याख्याति सन्त्रसमाविष्ट इत्यादिना । 'धीर्घारणावती मेघा' (नाम. १. घी.) इति नैवण्डका: । श्रतिश्च, 'मेघामनीपे मा विश्वतां समीची भूतस्य भव्यस्यावरुध्वे' (य आ. ५. ५२) इति । अत आचार्योपितृष्टेष्वर्येषु अथच्यतेरन्यासङ्कराच फलितमाह यथावस्थिततत्त्वज्ञान इति । अल जनग्रनवर्यवद्भागामुग्रस्थ प्रतिविध्यमानद्वेषसङ्गहेत्वनुवाद इत्यभिपायेणानिष्टफळत्वायुक्तिः । त्यागीत्युक्तस्य त्यागस्य हेतुतां विवृणोति सर्विसिक्षित्यादिना । यथाऽन्यदीयेऽन्यक्तिके कर्मणि स्वसंबन्धविरहात् वाधकाद्यमाव-निश्चयेन द्वेषाद्यमावः. तथाऽलापीत्यभिपायः । अनन्त्रधानदशायां िहि] हर्षद्वेषप्रसङ्गामावात् **क्रियमाणयो रि**त्युक्तम् । ननु **कुशले नानुपञ्जते** इत्येतत् युक्तम् ; स्वर्गादिषु निस्सङ्गनामातेण काम्यानुष्ठानेऽपि तत्फलानन्वयशास्त्रात् ; न हेप्त्र्यकुशलं कर्मेति तु विरुद्धम्; फलसङ्गामावे सत्येव निषद्धानां फलान्वयात्। अन्यथा कचिदपि प्रत्यवायाभावपसङ्गात्। न हि नरकाद्विकं कस्यचिदिष्टं स्यात् । एवं दृष्टपत्यवायहेतुप्वप्यद्वेषो न युक्त इत्यत्न प्रामादिकविषयत्वेन परिहार उक्तः । नन्वधि-कारिविशेषे बुद्धिपूर्वैरिप पापुकर्मभिरलेपः किं न स्यादिस्यलाह नाविस्त इति ।

कुरालपदस्यैव काम्यार्थकत्वखारस्यात् अकुरालं निषिद्धमित्येव सरसम् । पूर्वोक्तानुपपत्तिपरि-हारस्त्वेवम्—यो बुद्धिपूर्वकाणि सर्वाणि कर्माणि सात्त्विकत्यागपुरस्मरमञ्जतिष्ठति, सः त्यागी । अखुद्धिपूर्वकमकुरालं निषिद्धं कर्मोऽऽपतित् चेत्, किं कुर्योमिति न विभेति, न द्वेष्टि प्रामादिकानां तिद्वषये लेपकत्वाभावात् । तथा, यत्करोपीत्युक्तरीत्याः लौकिककर्मविषयेऽपि सात्विकत्यागात् तथा त्यागसंस्कृतेन गमनेन कारिते प्रामादिके पिणीलिकावधादाविष न क्रेशमनुभवतीति वाक्यार्थः।

<sup>1</sup> नतु अकुरालिमत्यस्य तिपिद्धमित्यथं तत्र द्वेप आवश्यकः, उत्तरावस्य लेपकत्वसिद्धानतात्। तिद्वपये त्यागी इत्युक्तः सात्त्विकत्यागो ऽपि न संभवतिः श्रुद्धतान्कालिककलरागेणेव निपिद्धानुष्ठानात् तत्व कलस्यागोदेरयोगात्। फलानुदेशेऽपि भगवत्पीत्यर्थतया तत्करणविश्वायकवाक्याभावात्। एवं प्रामादिकपापस्यापि अकुरालपदेन ग्रहणं न भवति ; अवुद्धिपूर्वकस्य सात्त्विकत्यागपूर्वकानु- ष्टानाप्रसक्तेः। अतः अकुरालं काम्यं कुरालं नित्यमिति शांकरयोजनेव युक्ता। काम्यस्यापि फल- त्यागेन कर्तुमईतायाः प्रागुक्तव्या तत्व फललेपभीतिप्रयुक्तो हेपो न भवतीति समस्वय इति चेन्न-

नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥' (क. २. २४) इति दुश्चरिता-विरतेर्ज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वश्रवणात् । अतः कर्मण कर्तृत्वसङ्गपळानां त्यागः शास्त्रीय-त्यागः, न कर्मस्वरूपत्यागः ॥ १०॥ तदाह—

न हि देहभुता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफळत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११ न हि देहभुता श्रियमाणञ्चरीरेण कर्माण्यशेषतस्त्यक्तुं शक्यम् ; देहधारणार्थानाम-श्रनपानादीनां तद्वुवन्धिनां च कर्मणामवर्जनीयत्वात् । तद्यं च महायञ्चायनुष्ठानमवर्जनीयम् । यस्तु तेषु महायञ्चादिकर्मसु फळत्यागी स एव, ''त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'' (ना) इत्यादिशास्त्रेषु त्यागीत्यभिधीयते । फळत्यागीति प्रदर्शनार्थः फळकर्तृत्वकर्मसङ्गानां त्यागीति; 'त्रिविधः संप्रकीर्तितः' (४) इति प्रकमात् ॥ ११ ॥

नतु कर्माण्यप्रिहोतदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादीनि, महायज्ञादीनि च स्वर्गादिफलसंबन्धितया बाह्मिविधीयन्ते; नित्यनैमित्तिकानामिष 'प्राजावत्यं गृहस्थानाम्' (चि. १. ६. ३८) इत्यादि- फलसंबन्धितयेव हि चोदना । अतः तत्तरफलसाधनस्वभावतयाऽवगतानां कर्मणामतुष्टाने, बीजावाषादीनामिव, अनभिसंहिफलस्थापि इष्टानिष्टरूपफलसंबन्धः अवर्जनीयः ।

प्रकृतहेतुतया घटयम् परमप्रकृतं निगमयति अत इति ॥ १० ॥

नियतस्यैत्यादिमतिपादितयुक्तिविवरणपूर्वेकं कल्रस्यागेनोपळक्षणेन प्रागुक्तस्विविघोऽपि सास्ति-कत्यागः नहीति श्लीकेन निगम्यत इत्याह तदाहेति । अत देहमृतेति न प्राणिमालनिर्देशः, अनुपयोगात् । अतः कर्मस्रूपत्यागाश्चयताहेतुर्वयवार्थो विवक्षित इत्यमिषायेणाह प्रियमाण-श्रीरेणेति । शवयमिति त्यजनपत्वा न्याप्तकत्वेकत्वे, सामान्यरूपविवक्षणाद्वा । देहमुत्त्वहेतु-कमशक्यत्वं विद्यणोति देहसारणार्थानामिति । तदनुवन्धिनः अर्थाजनादयः भवन्तु लौकिकानि ; किं शास्त्रीयेरित्यत्नाह तदर्थं चेति । श्रुतिस्वारस्यहेतुकां स्वरूपत्यागश्चश्च परिहर्तु यस्त्वत्यादिक-सुच्यत इत्यमिषायेणाह यस्त्वित । 'अभिधीयते' इत्यस्य कैरित्याकाङ्क्षाशमनाय 'त्यागेनैके' इत्यादिश्रुत्युपादानम् । प्रकान्तनिगमनपरत्वेन प्रदर्शनार्थतां द्रद्यति तिविध इति ॥ ११ ॥

हौिकिकपत्रसाधनकर्मप्रिक्षययेव हि वैदिकानामपि फल्रसाधनस्वय्यवस्थापनस् । हौिककानि च कर्माणि फल्रेच्छामावेऽपि स्वश्वस्यनुरूषं फल्रन्ति । एवं वैदिकेप्वपीस्यभिप्रायेण शङ्कते निव्वित । नन्विति । नन्विति । नन्विति । नन्विति । नन्विति । नन्विति । सहायज्ञादीनां च विनियोगप्रथवस्त्रेन आश्रमाङ्गस्वसर्गाद्यथैस्वाविरोधात् स्वर्गाद्यथैस्वाविरोधात् स्वर्गाद्यथैस्वाविरोधात् स्वर्गाद्यथैस्वायः निव्यत्तेमित्तिकानामपीति । वीजावापादिद्दष्टान्तेन अक्कुज्ञलमित्युक्तस्य प्रामादिकस्यापि वन्धकस्य स्वितम् । न हि मूमौ प्रमाद्यक्तितितं वीजं न फल्रति । तसात् आम्र (अमृत)रसार्थिनो विषयतस्वीजावापतुरूयोऽयं कर्मकलाप

म कमीणीति द्वितीयान्तं त्यक्तुमित्यबान्वेति । त्यक्तुं शक्यमित्यस्य त्यज्ञं शक्यमित्यर्थः । भावमात्रे तमन् । कमीणीत्यस्य प्रथमान्तत्वे त्वाहं सामान्येति । शक्यमप्विन्दुसुरिमिरितिवत् ।

अतो मोक्षविरोधिकलत्वेन मुमुञ्जूणा न कर्मानुष्टेयमित्यत उत्तरमाह—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च विविधं कर्मणः फळम्। भवत्यत्यागिनां मेत्य न तु संन्यासिनां कचित् ॥१२ अनिष्टसं मिश्रं च विविधं कर्मणः फळम्, इष्टम् स्वर्गीदि, मिश्रम् अनिष्टसंभिन्नं पुत्रपश्चवावे दि; एतत् त्रिविधं कर्मणः फळम्, अत्यागिनाम् कर्नृत्वममताफळत्यागरहितानां प्रेत्य मचित्। पेत्य कर्मातुष्ठानोत्तरकाळमित्यर्थः। न तु संन्यासिनां क्वचित्-न तु कर्नृत्वादिपरित्यागिनां क्वचिदिप मोक्षविरोधि फळं भवति। एतदुक्तं भवति-यद्यप्यग्रिहोत्रमहायज्ञादीनि तान्येव (नित्यान्येव), तथाऽपि जीवनाधिकार-कामाधिकारयोरिव मोक्षाधिकारं चित्रियोगपृथवन्त्वेन परिहियते। मोक्षविनियोगश्च, "तमेतं वेदानुवचनेन त्राक्षणां विविदियन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाश्चकेन" (बृ. ६. ४. २२) इत्यादिभिरिति। तदेवं क्रियमाणेष्वेव कर्मश्च कर्नृत्वादिपरित्यागः शास्तिद्धः संन्यासः; स एव च त्याग इत्युक्तः॥ १२।।

इत्यभिषायेण फिट्सं स्वरूपत्यागाह अत इति । अमुप्तसूणाग्दिमनिष्टत्वाद्वित्वैविध्यन् , मुमुक्वपेक्षया स्वर्गादेरप्यनिष्टत्वात् — इत्यभिष्ठायेण नरकस्वर्गादिकथनम् । कारीयोदिसाध्यवृष्टचादिफलानां जीवद्दशा-भावित्वस्थितेः प्रेरयेति पदर्शनार्थम् ; अन्यथा तिमन्निव रारीरे त्यागिनामपि तिविधस्यापि फलस्य आरम्भानुमतिष्रसङ्कात् ; न तु संन्यासिनां कविचिदिति व्यन्तिरेकोकस्या नम्यापि वाधाचेत्यमिष्रायेणाह कर्मानुष्टानोचरकालमिति । अत्राप्यनिष्टफलानन्वयः पूर्वोक्तरीत्या प्रामादिककर्मविषयो मन्तव्यः । उक्तस्य चोधस्य पतिज्ञामात्रेणोचरमिदमुच्यते ; न तु कयाचित् युवस्येत्यत्व आह एतदुक्तमिति । विनियोगपृथक्त्वेन ज्योतिष्टोमादियु पापक्षयादिनानाफलस्वं सिद्धम् । परिद्वियते । विरुद्धफलस्वचोधमिति रोषः । नतु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्याः' (यु) इति नियमनाद्वेदनमेव मोक्षताधनत्या विधीयते । कर्म तु च्यपच्छित्वते । अतः कथं मोक्षाधकारे विनियोगोक्तिः ? तत्नाह मोक्षविभियोगश्चित । असिना जिधासित, अश्चेन जिगमिष्ठतीत्यादिष्टिववार्थस्वमावादिहापीप्यमाणधात्वर्थकर्णतत्याऽन्वयः । अतो वेदनोत्पतिद्वारेण परम्परया साधनत्त्रामोक्षविनियोगः । अव्यवहितसाधनविवक्षया तु "नान्यः पन्याः" इत्यादिमिनियेष इति मावः ।

एवं परिमश्वाभिषेतमन्त्रथाऽपि प्रतिवक्तुमु प्रक्रमत <sup>श्र</sup>हत्यभिश्रयेण संगत्यर्थमुक्तमंशं निगमनच्छाय-याऽनुवदित वदेविमिति । वत् खरूपत्यागादेस्तामसत्वादित्यर्थः । एवं वर्णाश्रमादिनियतस्य दुस्त्य-जत्वभकारेणेत्यर्थः । अस्मिन्नेव स्टोके, 'भवत्यत्यागिनां पेत्य न तु संन्यासिनां कचित् ' इति त्यागाभाव-विपर्ययस्य संन्यासश्चेदेनानुकथनात् त्यागसंन्यासप्टथक्त्वशङ्का च परिहृतेत्याह स एव च त्याम इति ॥१२

श्री अनिष्टं नरकादीति, कादाचित्कवोरप्रामादिकजन्यफलमेवोच्यते । संन्यासितां — वुद्धि-पूर्वेकसत्कर्माणि सत्यागमनुतिष्ठतां प्रामादिकजन्यं नरकाद्यपि न भवति : सञ्चारकाले यदच्छ्या पाद्यातेन भवत् प्रामादिकवधादिनीनिष्ययेति । 2 उपक्रमते, निगमनच्छ्ययेति पद्वयेन तदेवमिति वाक्यस्य उत्तरभाष्यारम्भक्षपत्वं पूर्वेमाष्यनिगमनत्वञ्च युक्तमिति व्याप्यते ।

इदानीं भगवति पुरुषोत्तमे अन्तर्थामिणि कर्तृत्वानुसंधानेन आत्मिन अकर्तृत्वानुसंधान-प्रकारमाह, तत एव फलकर्मणोरिष भमतापरित्यागो भवतीति । परमपुरुषो हि स्वकीयेन जीवात्मना स्वकीयेश्व करणकलेवरप्राणैः स्वलीलाप्रयोजनाय कर्माण्यारमते । अतो जीवात्म-गतं क्षुन्तिश्चरयादिकमपि फलम्, तत्साधनभूतं च कर्म परमपुरुषस्यैव ।

<sup>1</sup>पञ्चेतानि महावाहो कारणानि निवोध में । <sup>2</sup>सांख्ये इतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

अनिष्टमिष्टमित्यादेरनन्तरं कारणपञ्चकोक्तेः का संगतिरित्यताह इदानीमिति । साक्षात्पश्चविषये बत्युक्ते सतीत्यर्थः । **भगवति, प्रकृषोत्तमे** इत्युभाभ्यां पागुक्तप्रकारेण सर्वान्तर्यामिणः तद्भतत्वतत्प्रयुक्त-दोषाभावरूयापनम् । प्रकारमाहेत्यनेन आनृतीयाध्यायादन्कान्तस्याकर्तत्वानसंघानस्यात्नेव सहेतुः कयथावस्थितस्वरूपशोधनमिति दर्शितम् । लिषु त्यागेषु प्रकारतेषु अन्यतमस्य प्रकारशोधनमिति संगतिः। लिविधेऽपि त्यागे सात्त्विकतया प्रकान्ते किमिति कर्तृत्वत्यागप्रकारमात्रोपपादनमित्यलाह तत एवेति । इति शब्दोऽल हेरवर्थः। ऋत्विगादिषु कर्तरवेऽपि यजमानादेः कर्मणि फले च ममता हरुयतेः तद्वदस्यापि किं न स्यात् ; अतः कर्तृत्वत्यागमात्नात् कथं कर्मणि फले च ममताबुद्धिनिवृत्तिरित्यत्नाह परमपुरुषो हीति । हीति प्रमाणप्रसिद्धिसूचनम् । "त्वं न्यञ्चद्धिरुदश्चद्धिः कर्मसूत्रोपपादितैः । हरे विहरसि कीडा-कन्तुकैरिव जन्तुभिः'' ॥ (शेषधर्मे), ''बालः कीडनकैरिव'' (भा. स. ६१. ३१), ''क्रंणस्य हि क्रुते मृतमिदं विश्वं चराचरम् " (भा. स. ४१. २३) इत्यादिपसिद्धमाह स्वक्रीयेनेत्यादिना । करणाधि-पायिपो हि परमपुरुषः श्रयते । अतः करणानां जीवशेषस्वदशायामपि गजतुरगाद्यरुङ्कारेषु राज्ञ इव परमपुरुषस्य शेषित्वं न निवर्तत इत्यिभिप्रायेणाह स्वकीयैथ करणकलेवरप्राणैरिति सिक्कोचकाभावाद-दृष्टादृष्ट्रफलपद्मनादिकमपि तस्य लीलेखाह स्वलीलाप्रयोजनायेति । "लोकवत लीलाकैवल्यम् " (त्र. २. १. ३३) इत्यादिभिरिदं मीमांसितिमिति भावः । **कीलादिप्रयोजनाये**ति पाठे त आदि-शब्देन कारुण्यादिमुळभक्तरक्षणादिशहणम् । नन् शास्त्रीयस्य कर्मणः परमपुरुषसमाराधनत्यैव विधानात् फलपर्यन्तस्य तस्य तदीयता युक्ताः , लौकिकं तु कर्म न तथा शिष्टमः , नापि तथाऽध्यक्षमः , क्षुन्नि-वृत्त्यादेः फलस्य जीवगामित्वेनैवोपलम्भात् । अतो लौकिकानां फलानां जीवशेषत्वे तत्साधनस्यापि कर्मणस्तद्र्थता युक्ताः तस्मात् सिद्धये सर्वकर्मणामित्यादिभिः नर्दविषयः क्राव नायः पादननशक्यविभिः तलाह अत इति । परमपुरुषस्यैवेति षष्ठी स्वस्वामिमावारुयसंबन्धविशेषविश्रान्ता । यथा <sup>3</sup>पञ्जर-शकन्तरोषणादिकं तत्सुखादिकं च सार्वभौमस्य शेषमृतम् , तथाऽलापीति भावः ॥ (१२)

र्सांच्ये क्रुतान्ते इति न सांख्यसिद्धान्तो विवक्षितः, तल्लेश्वरानभ्युपगमात् , करणातिरिक्तस्य

<sup>1</sup> नतु फल्रत्यागो युज्यते, न कर्तृत्वत्यागः; क्रियमाणे तिक्ररोधादित्यत्र तिक्रारीकारमारमते पञ्चिति । 2 सांख्य इति पद्मयोगः निरीश्वरसांख्यमसांख्यमिति ज्ञापनाय । न हि तत् पदं केवल्ररूढम् । योगार्थ-मुखेन परिभाषणीयम् । अतो यथावदनवधारणात् न तस्य वास्तवसांख्यत्वम् । 3 भाष्ये जीवात्म-गतमितिपदेन दाकुन्तसुखादिवत् फल्रस्य जीवाश्चितत्विमिष्ट्या भगवच्छेपत्वोपपादनम् ।

संख्या बुद्धिः, सांख्ये कृतान्ते यथावस्थिततत्त्वविषयया वैदिक्या बुद्ध्या अनुसंहिते निर्णये सर्वकर्मणां सिद्धये उत्पत्तये, प्रोक्तानि पञ्चेतानि कारणानि निर्मेष मे-मम सका-स्मादनुसंघत्स्य । वैदिकी हि बुद्धिः करोरेन्द्रियप्राणजीवात्मोपकरणं परमात्मानमेव कर्तार-मवधारयति, "य आत्मनि तिष्ठत् आत्मनिऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्पात्मा क्षरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याभ्यमृतः" (तु. ५. ७. २२), "अन्तःप्रविष्टः स्मास्ता जनानां सर्वात्माः" (य. या. ३. ११. २) इत्यादिष् ॥ १३ ॥ तिदिदमाह—

कर्तृत्वानभ्युपगमेन, 'कर्ता करणं च प्रथिग्विम् ' (१४) इति कर्तृकरणविभागोवत्यसंभवात् । तस्य वेदविरुद्धत्वे तत्त्वोपदेशाय तदुपन्यासायोगात् । अविरुद्धत्वेऽपि वेदमूलत्वस्यैशङ्गीकर्तवयत्वे वेद एव विश्रमात । अर्थोचित्याय च रूदिपरित्यागेन यौगिकार्थावरुम्बनस्य सर्वसंमते: । अतो बेदेप्बेव यथा-वस्थिततत्त्वनिर्णयाय पद्यतो भागः सांख्यकृतान्तशब्देन विविक्षत इत्यभिषायेण निर्वक्ति संख्या वृद्धि-रिति । पकरणानुरोधेन वृद्धि विशिनष्टि यथावस्थितेति । यदिह शङ्करेणोक्तम् , "पदार्थाः संस्यायन्ते यसिन् शास्त्रे तत् सारुवं वेदान्तः ; स एव कृतान्तः ; कृतस्य-कर्मगोऽसिन्नन्तः इति : <sup>1</sup>तदसत्त . वेदान्तेष्विप कर्मान्वयस्य स्थापितत्वात् । रूदिपरित्यागे चावश्यंभाविन्युचिततमयोगस्येव प्रहीतं युक्त-त्वात् । अन्तराञ्दो निश्चयपरतया नैघण्डुकैः पठितः स एव बुद्धिपूर्वसंपादिततया कृतशब्देन विशेष्यत इत्यभिषायेण अनुसंहिते निर्णय इत्युक्तम् । यहां\निर्णयशब्दोऽल निर्णातवस्तुपरः ; कृतान्तशब्दस्य सिद्धान्तपर्यायस्य तत्तदभ्युपगतार्थरूढस्वात् । अत एव हि अनुसंहित इति विशेषितम् । न हि निर्णय एवानुसन्धातन्यः । अथवा प्राचां निर्णयः परेरनुसंहित इति भावः । निर्णायकशब्दपरो वाऽत निर्णय-शब्दः रे तदानीं प्रोक्तानीत्यनेन समन्वयः । सिद्धिशब्देन फळपर्यन्तत्वादिकमिहाविवक्षितम् : 'यत्कर्म प्रारमते, पञ्चेते तस्य हेतवः' इति कर्मस्वरूपोपसंपत्तेरेवानन्तरोक्तेरित्यमित्रायेणाह **उत्पत्तस** इति । सस कारणानीत्यसंभवात् मदीयानि कारणानीत्यक्तेरिह दैवशब्दिनिर्दिष्टस्य खत्य खकीयत्वामावेनानन्वया-दुचितमन्वयमाह मम सकाशादनुसन्धरस्वेति । वक्ष्यमाणानां पञ्चानां यथादर्शनं विविक्ते हेतुमावे मनस्समाधानविधानार्थमिद्मिति मावः । षङ्विंशकमनम्युपगच्छतां पञ्चविशकं च कर्तृत्वारोपमात्नाधि-करणं प्रतिपादयतां प्रकरणमिदं विरुद्धमित्यभिप्रायेण यौगिकार्थप्रत्वमुपपादयति वैदिकी हीति । 🏲 **ऋरीरेन्द्रियप्राणजीवात्मोपकरण**मिति बहुबीहिः । उपकरणं विबक्षितकार्यार्थतयोपातः परिकरः ॥ १ 🔾

उक्तविवरणतया श्लोकद्वयस्यापुनरुक्ति परमते विरोधं चाभिपेत्याह तदिदमाहेति। तत

<sup>1</sup> कृतान्तराष्ट्रस्य सिद्धान्तपर्यायतायाः प्रसिद्धत्वात् अनुसंहितो निर्णय इत्यर्थ एव युक्तः, न तु कृतं कर्म, तस्यान्तः अवसानिमिति । एवञ्च सांख्यपदमिप स्वरसयोगार्थं विहाय न वेदान्तार्थकं कृष्णितुं युक्तमिति भावः । यथावत् तत्त्वज्ञानमूलके प्राक्तनानुसंहिते सिद्धान्ते इति विशिष्टार्थः । वेदान्ते कर्मानन्वयस्त्र वाधितः ।

अधिष्टानं तथा कर्ता करणं च प्रथग्विधम् । विविधा च प्रथक्चेष्टा दैवं चैवात पञ्चमम् ॥ शरीरवाङ्मनोभिर्यत कर्म प्रारमते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चेते तस्य हेतवः ॥ १५ न्याय्ये शास्त्रसिद्धे, विपरीते प्रतिषिद्धे वा सर्वसान् कर्मणि शारीरे, वाचिके, मानसे च पञ्चेते हेतवः । अधिष्ठानम् शरीरम् ; अधिष्ठीयते जीवारमनेति महाभुतसंघातरूपं शरीर-मधिष्टानम् । तथा कर्ता जीवात्माः अस्य जीवात्मनो ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं च, 'ज्ञोऽत एव' (ब्र. २. ३. १९) [इति ?], 'कर्ता शास्त्रार्थवस्वातु' (३३) इति च स्त्रोपपादितम् । करणं च पृथिक्षम्— वाक्पाणिपादादिपञ्चकं समनस्कं कर्मेन्द्रियं पृथिक्षिम् कर्मनिष्पत्तौ पृथिग्व्या-श्रुतिसिद्धम् , इदं विवक्षितमित्यर्थः । न्यारयं न्यायादनपेतम् ; ''धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ' (अष्टा. ४. . १.९२) इत्यनुशासनात् । न्यायशब्दश्चातः अर्थान्तरानौचित्यात् व्यत्पत्त्यनुरोधाच शास्त्रमेवा-नुसन्धत इत्यभिपायेणाह **शास्त्रसिद्ध** इति । शास्त्रसिद्धेन सह ठौकिकविवक्षायां तदन्यद्वेति वक्तव्यम् ; विहिते निर्दिष्टे विपरीतशब्दश्च निषिद्धे सरसः; कैमुत्येन च लौकिकं लभ्यमित्यभिपायेणाह प्रतिषिद्धे वेति । सर्वस्मिन कर्मणीति फलितोक्तिः । यथा शारीरमानसवाचिकेषु कर्मसु शरीरादीनां प्राधान्येन प्रतिनियतता ; न तथाऽमी पञ्च हेतयः ; अपितु प्रतिकर्म पञ्चाप्यपेक्षिता इत्यभिषायेण शारीरत्वाबुक्तिः । पश्चहेतुकेषु सर्वेषु कर्मसु <sup>2</sup>प्राधान्यादेव हि शारीरत्वादिविभागः । यद्यपि जगत्सृष्ट्यादिषु परमात्मैव कारणम् , तथापि क्षेत्रज्ञकर्तृकेषु परमात्मना स्वेच्छ्यैवसुपकरणीकृतान्येता-नीत्यभिप्रायेण हेत्वन्तरोक्तिः ।

"अधिष्ठानं क्षेत्रमाहुः" (भा. मो. ३१९. १४) इति करालायाइ वसिष्ठः ; तदनुसारेणाइ अधिष्ठानं ग्रिश्मिति । श्रुतिश्च, "मधवन् ; मध्य वा इदं शरीरमातं मृत्युना तदस्यामृतस्या-शरीरस्यासमनोऽधिश्चानमः" (छा. ८. १२. १) इति शरीरेऽधिष्ठानशन्दं प्रयुक्ते । "क्टलस्युटो वहुल्म्" (अष्टा. ३. १. ११३) इति कर्मार्थतवा शरीरे अधिष्ठानशन्दं न्युत्पादयति अधिष्ठीयत इति । अधिष्ठानुर्जीवस्यापि परमात्माधिष्ठेयत्वात् तद्यवच्छेदाय जीवात्मनेति विशेषितम् । जीवाधिष्ठेयस्यापि करणादेः पृथङ्गित्देशात् तत्सकोचायाह महाभूतभ्यातस्यामिति । विश्वकर्तुरिह देवशन्देन पृथम्प्यहणात्, कर्तृशन्दस्य चात्र "शास्त्रमुलं प्रयोक्तरिं" (प्. मा. ३. ७. १७) इति न्यायस्यनार्थत्वाच कर्ता जीवात्मेरयुक्तम् । ननु कर्तृत्वे हि ज्ञानिकिषिपृवैककमधिययत्वयोगित्वम् ; ज्ञानमात्रस्यात्मनो ज्ञातृत्वासम्यवा तम्मूलं कर्तृत्वमि न स्यादेवेत्यत आह अस्य जीवात्मनो ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं चेति । 'ज्ञोऽत एव' इत्यादिस्त्वप्रहणं श्वत्यादेरि तत एवाऽऽकर्षणात् । कर्मोत्विच हेत्पन्यासात् करणशन्दोऽत्व कर्मेन्द्रियमात्वपर इत्यिमिप्रयेणाह वािति । यद्यपि ज्ञानेन्द्रियणां

अनेकावान्तरभेद्वान् प्राणापानादिर्वायुरिति वा प्राणापानादेव्यीपार इति वाऽर्थः ।

प्राधान्यादेव—तत्तत्कर्माश्रयत्वरूपात् प्राधान्यादेव ।

<sup>3 &#</sup>x27;अधिष्ठेयस्यापीति । अधिष्ठानपदेनैव ब्राह्यत्वे सत्यपीति यावत् ।

पारम् । विविधा च पृथवचेष्टा । चेष्टाञ्चदेन पञ्चातमा वायुरिभधीयते तद्रश्विवाचिनाः 
श्रारीरेन्द्रियधारणस्य प्राणापानादिभेदिभन्नस्य वायोः पञ्चातमनो विविधा च चेष्टा विविधा 
चृत्तिः । दैवं चैवात पञ्चमम् — अत कर्मरेतुकरुषे देवं पञ्चमम् – परमात्मा यन्तर्यामी कर्मनिष्पत्ती 
तत्तिद्विषयज्ञानोत्पादनद्वारा परम्परया कर्मणि हेतुःत्वमस्ति, तथाऽपि वस्तुमान्नेष्वाखोचितेषु मनसा 
संकरुपवेव कर्मकरणात् मनस्धान्यव्यापारव्यवधानामावात् समनस्क्रितर्षुकस् । ज्ञानेन्द्रियस्वापि 
मनसः कर्मेन्द्रियपृष्टित्विष साधारण्यात् कर्मेन्द्रियस्वोक्तः । श्रारीरवाञ्चनोभिरिति अलैवोक्तः मनसः 
संकरुपादिकमपिक्षया वा कर्मेन्द्रियस्ववादः । मान्त्यरैरप्येवमेषोक्तम् , "वुद्धीन्द्रियाणि चश्चश्योलद्वाणरसनस्त्वगास्त्र्यानि । वावपाणिपादपाद्यपृष्यान् कर्मेन्द्रियाण्याहः ॥ उत्त्यात्मकमत् मनः संकरुपक्रमिन्द्रियं 
च साधम्यात्" (सां. का. २६. २७) इति । कर्महेतुपूपादीयमानेषु प्रथिवधमिति विशेषणं 
तदुपयुक्तव्यापारास्वयेविधापरमित्याहं कर्मनिष्पत्तौ पृथग्वपारमिति । वागादिष्वेकैकस्य वचनादानविहरणोरस्मर्गनन्दसंकरुपादिकियाच्यापारो हि मिथो विद्यवणः ।

तद्वती अन्यस्मिन्-चेप्टाव्यितिरिक्तं ।
 तद्वृत्तिवाचिनित भाष्यस्थपदस्य तद्धीनवृत्तिवाचिना, तद्वृत्तिनिमित्तकशरीरव्यापाररूप चेप्टावाचिनेत्यर्थं इति भावेमैनदुक्तिः ।

<sup>3</sup> पकस्यैव वायोः स्थलमेदेन प्राणादिशब्दमात्नभेदात् व्यक्तिपञ्चकःसंभवादाहः पञ्चञ्चकित्वेति।
4 क्रमनियामकप्रमाणानि वद् श्रुत्यर्थपाठस्थानमुख्यपञ्चत्याख्यानि मीमांसोकानि ; तत्र
कस्याप्यभावादित्यर्थः। 5 पञ्चस्वेकमिति युक्तमः न त पञ्चममितीति भावः।

प्रधानहेतुरित्यर्थः । उक्तं हि, "सर्वस्य चाहं हृदि सिवविष्टो मत्तः स्मृतिर्क्वानमपोहनं च"

पुरुषात्र परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गति: ॥' (३.११) इतीन्द्रियादिसमस्तपवृत्तौ श्वानहेतु: परमप्रको वशीकरणीयकाष्ठाःवेन निर्दिष्टः. <sup>1</sup>तद्वदिहापीत्यभिमायेणाह परमारमा अन्तयोमीति ।

नन. 'दैवं पुराकृतं कर्म'. 'दैवं दिष्टं भागधेयम् ' (नाम. १. का) इत्यादिषु प्राचीनकर्मरूप-भाग्यपर्यायतया देवशब्दं पठन्ति । तस्य च हेतुत्वमुपपन्नम् । अतः कथमत परमात्मेत्युच्यते ? इत्थम । न हि प्रागेव विनष्टानां कर्मणां खरूपेण हेत्रत्वं संभवति । अतः कर्मजन्याद्रष्टरूपपर्मपुरुष-संकरुपस्यैव हेत्रत्वं वक्तव्यम् । ततो वरं तस्यैव दैवशब्देन प्रतिपादनम् । अस्ति च दैवशब्दस्य दैवत-पर्यायतयाऽपि छोकवेदयोः प्रतिद्धिः ; यथा, "सत्यं सत्यं पुनस्सत्यमुद्धृत्य मुजमुच्यते । वेदशास्त्रात् परं नास्ति न दैवं केशवात् परम् ॥" (ना पु १८. ३३) इति । न ह्यलार्थान्तरं संभवति । एवं श्रीमदामायणेऽपि. "स्वाधीन समितकम्य मातरं पितरं गरुम । अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारिंगीम-राध्यते ॥" (अ. ३०. ३३) इति । तथा सभापर्वणि, "श्रयतां परमं दैवं दुर्विज्ञेयं मयाऽपि च । नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्यति: ॥'' (४६.४०) इति । तथा याज्ञवरुक्यपणीते योगगास्ते, ''आर्षे छन्दश्च मन्त्राणां दैवतं ब्राह्मणं तथा'' इत्युक्त एवार्थः पुनः, ''आर्षे छन्दश्च दैवं च'' इत्यादिनाऽपि निर्दिश्यते । तत्वेव दैत्यमोहनार्थे प्रजापत्यपदेशानुवादे, ''आत्मानं पूजयेत्वित्यं भूषणाच्छादनादिभिः । स्बदेह एव दैवं स्यादन्यत दैवं न विद्यते ॥" इति । तथा, "दैवाधीनं जगत सर्वे मन्त्राधीनं त दैवतम् । तन्मन्तं ब्राह्मणाधीनं तस्मात् विषा हि दैवतम् ॥" (विह. स. २२. १५) इति । अस्मिन्नपि शास्त्रे. 'साधिभुताधिदैवं माम् ' (७. ३०) इति प्रस्ताव्य, 'अधिदैवं किमुच्यते' (८. १) इति पृष्टमर्थे 'पुरुषश्चाधिदैवतम्' (८.४) इति प्रतिवक्ति । (१) छान्दोग्ये <sup>२</sup>च आदित्यास्यदैवतवर्तिनः पुरुषस्याधिदैवत-मिति [निदेशेन अहरिति(?)] नामोच्यते, तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतं तस्योपनिषदहमित्यध्यात्ममिति ।(१) एवमन्यलापि द्रष्ट्रच्यम् । अन्यैरपि चात्र दैवशब्दश्रक्षुराद्यनुशाहकादित्यादिविषयतया च्याख्यातः । वयं त आदित्यादीनामप्यनुप्राहकं परमात्मानमिह दैवं ब्रम इति विशेषः । प्रयुक्तं च स्तोत्रे, "प्रख्याद्भैवपरमार्थ-विदां मतैश्व'' (१५) इति । सःभीकल्याणेऽपि च, "धर्मे प्रमाणं समयस्तदीयो वेदाश्च तत्त्वं च तिहृष्टैवम्'' इति । तसाद्दैवशुब्दोऽल देवतापर्यायः । स चाल सर्वप्रवर्तकहेतुपरत्वात् विशेषकाभावाच

<sup>1</sup> तद्वदिति । अत हेत्रकाष्टोक्तिरिति भावः । 2 छान्दोग्ये चेति वाक्यम् अध्यात्मितीत्यन्त-मपपाठः। अस्य छान्दोग्ये अभावात्। बृहद्।रण्यके अंशतः एतद्वाक्यमस्ति। मीमांसितञ्च ३.३.२० श्रीभाष्ये । तत्नापि अधिदैवतम् अध्यात्ममिति पदे न स्तः । मुद्रणीयरीतिः एतदशद्धिश्च भाष्यार्थदर्पणेऽसाभिरदर्श्वत । अस्य वाक्यस्यात प्रकृतोपयोगोऽपि नास्ति । दैवराब्दस्य, तस्य दैवतार्थकत्वसाधकांशस्य चाताभावात् । तसात् अन्यतापीति चन्द्रिकाशब्दविवरणधिया केन-चिद्विमृज्य ताले प्रश्निप्तमेतदिखवधेयम् । अत्र मध्ये 'पुरुपस्य नामोच्यते' इति लेखनीये, 'पुरुषस्याधिदैवतमिति नामोच्यते' इति छेखनमध्यग्रद्धम् । अधिदैवतपदस्य नामत्वाभावात् ।

(१५. १५) इति । वक्ष्यति च, "ईश्वरः सर्वभृतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति । श्रामयन् सर्व-भृतानि यन्त्रारूढानि मायया ।" (६१) इति । परमात्मायत्तं च जीवात्मनः कर्तृत्वम् , "पराचु तच्छते।" (म. २. ३. ४०) इत्युपपादितम् ।

नन्वेतं परमात्मायत्ते जीवात्मनः कर्तृत्वे जीवात्मा कर्मण्यनियोज्यो भवतीति विधि-निषेधशास्त्राण्यनर्थकानि स्युः ॥ स्दमपि चोद्य सत्रकारेणैव परिहृतम् , "कृतप्रयत्नापेक्षस्तु

परदेवताविषय उचित इति परमात्माऽन्तर्यामी कर्मनिष्पत्ती प्रधानहेतु रित्युक्तम् ।

्रयथाऽसौ सर्वेषामात्मा, न तथाऽस्य कश्चिदित्यतः परमात्मा । यथा शरीरादेः प्रवृत्तौ जीवः प्रधानहेतुः, तथा तस्याप्यसावित्यभिपायेणान्तर्यामित्वोक्तिः । तिद्ववश्चामत्र पूर्वापराभ्यां स्थापयिति उक्तं हीत्यादिना । नतु "स्वतन्तः कर्ता" (अष्टा. १. ४. ५४) इति कर्तृरुक्षणमनुशिष्टम् ; इह् च कर्तेति क्षेत्रज्ञ एव निर्दिष्टः। अतः कारकान्तरप्रयोवतृत्वं कारकान्तराप्रयोज्यत्यं च तस्याङ्गीकर्त्वच्यम् । तस्मात् देवमप्यताधिष्ठानादिवत् तद्रपेश्चया गुणीम्नं वक्तव्यमित्यत्वाह परमात्मायत्तं चेति । उत्यवज्ञानचिकीषायवत्यतः १ पुरुष्वस्य कारकान्नरप्रयोवनृत्यादिकम् ; ज्ञानाद्युर्वातरेव तु परमात्मायतेति श्रुतिसिद्धत्वात् जीवस्य परायत्तर्कर्तृत्वं स्वातन्त्रयं चाविरुद्धमिति शारीरके स्थापितमिति भावः ।

इसमिषायमजानन् वायूदकादिवत् परमात्मनः पेरकत्विभिति [मत्वाः] चोदयित नन्गेविभिति । ज्योतिष्टोमादिषु यदि परमात्मा गेरयित, तदा न जीवस्य किंचिद्विधेयम् ; न हि प्रवलेन हियमाणस्य गमनविषिः। अथ निरुम्धे, तथापि न विधेयम् ; न हि तुर्वलस्य पवलेन निरुद्धस्य गमन-विधिः। एवं यल परमात्मा प्रवर्तयितं, तल निष्टत्तेरश्वयत्वालिषेधो निष्फलः। यल तु न प्रवर्तयेत् , तल तु पृष्टतेरश्वयत्वालिषेधो निष्फलः। यल तु न प्रवर्तयेत् , तल तु पृष्टतेरश्वयत्वालि मावः। इयमल चार्वाकेतरसमस्तिस्द्धान्तावलम्बिनी चोधकाष्ठा—निग्रहानुग्रहाज्ञात्वात्वात्वात्वाद्वप्रचोदितः।निग्रहानुग्रहाद्वाई इतीदं घटते कथम् इति।

जीवस्य ज्ञानुत्वकर्नृत्वपारतन्त्रचामावचोद्यवत् पारतन्त्रचेऽपि विधिनिषेधवैध्ध्येपसङ्गचोद्यमपि पञ्चमवेदतदुपनिषदोद्वेष्टा भगवान् बादरायणः स्वयमेव परिजहारेत्याह **इदमपी**ति । विहितपतिषिद्धा-वैयथ्योदिहेतुस्य एव चेतनेन कृतं प्रयत्नमपेश्य परमात्मा उत्तरोत्तरेषु प्रवर्तयतीति सूलार्थः । तत्व <sup>1</sup>सर्वपृत्तिषु परमात्माधीनासु कथं कृतप्रयत्नापेक्षत्वसुच्यते ? वैयर्थ्यचोद्यस्य चावैयर्थ्यसिद्धचर्यतया

परायत्तत्विषये तात्पर्यचित्र्कायाः श्रुतप्रकाशिकायाक्ष्वैकाभिप्रायकत्वं स्पष्टं स्थित-मवधेयम् । सर्वप्रवृत्तिष्वति । कृतप्रयत्तराञ्चिविक्षिता या प्रवृत्तिः, तस्या अपि परायत्तत्वात् जीवकृतत्वेन तिर्वर्देशो न युज्यत इति शंका । साध्याविशेष इति । वैयथ्यं आपादिते तत्परिहा-रार्थं प्रतितर्कः प्रयोक्तस्यः—यदि शास्त्रवैयथ्यं स्थात् , यदि शास्त्र न स्थात् , तिर्हं न किञ्चद्यं कृतवान् स्यादिति । एतम् युक्तम् ; शास्त्राभावेषि परमात्मप्रेरणादेच सालभिक्तकादिकियावत् सर्वजीवकर्मोपपत्तिरित शंकार्थः ।

## विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिस्यः" (२. ३. ४१) इति । एतदुक्तं भवति---परमात्मना दत्तैस्तदाधारैश्र करणकलेवरादिभिस्तदाहितशक्तिभिः स्वयं च जीवात्मा तदाधारस्तदाहित-

परिहारे साध्याविशेषश्च स्यादिति शङ्कायां स्वस्याभियायिकमथैमाह एतदुक्तभिति। अयमभिप्राय:-यत् तावत् ईश्वरस्य यन्वादिवत् व्वसंकरपकिष्यतपद्धित्तर्वाद्वातावत् ईश्वरस्य यन्वादिवत् व्वसंकरपकिष्यतपद्धित्तर्वाद्वात् सर्वप्रवृत्तिन्वन्त्वातुगुण्येन व्वरूपकरपक्ष्यत्व सर्वाधारतयाऽवस्थानम्, यद्धि करणकलेवराद्य-धिष्ठानशक्तिपदानम्, यच पद्दस्यालम्बनवाह्यविषयपुरस्करणम्, तत् सर्वे जीवस्य कर्तृत्वातुगुणं सर्वप्रदृतिनिद्वतिसाधारणं चेति न तव चोधावकाशः । <sup>1</sup>एतावतेव सर्वप्रदृत्तिनद्वत्तिसाधारणन्तदासीनन्त्वं भगवत उच्यते । एवं लब्दशक्तेः पुरुषस्य प्रदृत्तिकाले यत् कार्यनिष्यस्थिमीधरस्यानुमन्तृत्वम्, तदिष

ग्रेतावतैवित । विहितं निषिद्धिम्रसादिविशेषं विना सामान्यतः जीवकर्तृकक्रियासामान्ये यावत्कारणापेक्षाः, तावत्कारणसंघटनस्य भगवद्धीनत्वात् सामान्यतः परायत्तत्वमक्षतम् । एतदंगीकारे उद्दासीनत्वं कथमिति चेत्—उद्दासीनत्वं नाम न कारणसंमेलनाद्यहेतुन्वमि । क्षित्तं कार्यविशेष विशेषक्षपेण कारणत्वाभाव इति भावः । पराजु इति सृतं तु विशेषक्षपेण कारणत्वाभाव इति भावः । पराजु इति सृतं तु विशेषक्षपेण कारणत्वाभी यथाई स्थापियतुमित्याशयेनाह एविमिति । अवृत्तिकाल इत्यनेन न प्रथमप्रवृत्ति-विषयेऽनुमन्तत्वप्रथाप्रवृत्ति । अनुमन्तृत्वविरोधात् । जीविनष्टां चिकीपीमगुरुष्य द्यनुमननम् । तत्र चिकीपीननुरुष्य द्यनुमननम् । तत्र चिकीपीननुरुष्य च इतप्रयत्नं प्रवर्तयतीत्वयं वश्यित । तदेव च इतप्रयत्त्वप्रवर्तकत्वमनुमन्तृत्वम् । न च प्रथमप्रवृत्तिवदेव स्वकारणकलापवशात् द्वितीयाद्यश्वितसंभवे किमित्यनुमन्तृत्वस्वीकार इति वाच्यम्—श्वितवलात् तदंगीकार इति तज्ञ्वतेरिति सृत्रखण्डेनोक्तत्वात् । न च श्वतेः एषप्यसाधुकर्मत्वादिविविश्वत्वक्विशेषविष्यकत्वं युक्तम् ; अन्तर्यमिश्वत्या शरीरात्मभावेत सर्वत्रवृत्तिहेतुत्वावगमात् तद्विरोधात् । शांकरे इतप्रयत्वापेक्ष इति सृत्रे इतप्रयत्वापं पृवैद्यत्वधर्मपर्मप् व्याख्यातम् । एवञ्च पृवैकमीनुगुणमिदानीं कर्म कार्यतीति प्रथमप्रवृत्तिरिप विशिष्यत्वरेरणाधीनेत्युक्तं भवति ।

नमु तलापि पक्षे ईश्वरानपेक्षाया वा तस्मिन् वैषम्यादिदोपस्य वा दुर्वेवत्वात् तथैवाधिकरण-सारावित्रप्रवृत्तेश्च तथैव स्वीकरणं युक्तम् । प्रथमप्रवृत्तेरित तद्वीनतायामेवान्तयिमित्वपौकल्यात् । अत एव स पक्षः श्रुतप्रकाशिकायां न दृषित इति चेत्-तथा सित प्रथममुपेक्षकत्वं पश्चाद्गुमन्तृत्वञ्च प्रायः, किचदेव तु प्रथमप्रपि प्रवर्तकत्वमित्यवस्थात्रयोपपादकमाध्य—शुतप्रकाशिकाविरोधात् । अत चिद्रकायामण्युदासीनत्वानुमन्तृत्वरूषद्वाभेद-तद्गुरूपस्वार्थकथनाच । पूर्वेद्यतधमिधमिपरत्वे सीत्रं प्रयत्तपदञ्च न स्वरसम् । कर्मानादित्वादिति प्रागेवोक्तया तद्वत् कर्मापेक्ष इत्येवोक्तिसंगात् । न च साल्यभिक्षकाद्वाविव न देह्व्यापारहेतुत्वमात्रमीश्वरगतप्रेरकत्वम् । जैवज्ञानचिक्तिप्रयत्वापेक्षाऽप्यस्तीति स्वातन्त्रयप्रदर्शनेन शास्त्रसार्थक्योपपादकं प्रयत्वपद्मिति वाच्यम्—तदा अप्रतिकित्विप्रयत्वापेक्षः ज्ञानाव्यक्षेत्र इत्येवोक्तिसंभवात् कृतेति निदेशस्यारस्यामावात् । अतः एककार्यमाधकप्रवृत्तिकूरान्तर्गता प्रवृत्तिदेव प्रयत्वपद्धर्थः । तत्र प्रथमातिक्रमे मानाभावात् प्रथम

न जीवस्य कर्तृतां वारयति : अपितृत्तभातीति न ततोऽपि विधिनिषेधवैयर्थ्यम् । न चैकस्मिन्नेव

प्रयत्नग्रहणम् । न चास्यापि प्रयत्नस्य पूर्वेकमिधीनत्वात् प्राथय्यं दुर्वेचमिति वाच्यम् , पूर्वेक्टतकायंव्यत्त्यपेक्षया प्रकृतकार्यव्यक्तरन्यतया एतद्विपयकप्रयत्नकृटे आधस्य प्रधमत्वाक्षतेः । तस्य प्रधमस्यापि
प्रयत्नस्य परमात्मप्रेरणाधीनत्वांगीकारे उदासीनत्वमंगः । न च-यद्यनेनैवं पूर्वं कर्मं न छतं स्यात्,
नाहमत्र नियोजिषण्यामि : कृतत्वात्तु एवं नियोजिषामि इति नियोजि निर्वन्थं श्रद्धां विना तत्करणादेवोदासीनत्वमिति वाच्यम् , तादशोदासीनत्वस्य परचादिप तुल्यत्वात् , प्रथममिपि प्रयोजिषित्वस्य
तुल्यत्वात् काळभेदेन व्यक्तिभेदेन तत्त्विक्रपक्रभाष्यसारस्य भंगात् । न च प्रथमप्रपृत्रचेरप्यदृष्टाः
धीनत्वस्यावस्यकत्वात् अदृष्टस्य च भगवत्संकत्यक्रपत्वात् कथं संकत्यानधीनत्वमिति वाच्यम्—
अदृष्टस्य दृष्टमामश्रीसंघटनद्वारा कार्यकरस्य तद्धीनप्रयत्नविपयकत्वेऽपि मामान्येन तद्विपयकत्वं
प्रथमम् , विशेषण तद्विषयकत्वं परचादिति वैपय्यक्तिकारात् । उक्तञ्च व्यास्त्रयाँ, "साधारणोपकार—
विशेषोपकारवैपम्येण सर्वासामुतुपपत्तीनां परिहृतत्वात् । इति । चामरवीजनाद्यं चेटीं संनिधापयति परमात्मिन तस्यां प्रसक्तं नयनप्रमत्तर्थ भोगप्रवणस्य राजकुमारस्य भोगहेतुरिप भवति,
योग्यतावलात् न तु प्रथमं तद्विपयकपरमात्मप्रस्या । जीवेन व्याद्यवधोद्देशेन कृतः प्रहारो
यहच्छ्या नतसमय समापतित प्राण्यन्तरे पतित्य था । एवं द्शात्रयवैपस्यद्शिवचनजाततातामस्त्यायैय
स्व कृतप्रयत्नीति पद्विशेषप्रयोग इति भाष्याशयः । प्रथमप्रवृत्तिस्मये तद्विवारणाच्योपेक्षकत्वम् ।

पवसुपेक्षकत्वानुमन्तृत्वाष्ट्रपपादनस्य शुतप्रकाशिकायामत्र तात्पर्यचन्द्रिकायाञ्चैकरूपतायाः प्रत्यक्षरमुपलम्भात् उभयोरेकाभिप्रायकत्वे स्थिते एतद्विरोधेन प्रथमप्रवृत्तिद्विनीयप्रवृत्तिरूपमेदं विना सर्वेतैकरूपप्रवर्तकत्वमेवाधिकरणसारावलीप्टीमिति वर्णनं न युक्तम् । तथा तदर्थवर्णन-संभवे ऽपि, शांकराहते तत्पक्षे अधिकरणपूर्वपक्षपरिहारस्य यथावज्ञातत्वे ऽपि, इह संभवत्सामरस्य-त्यागस्यैवायुक्तत्वात् । सामान्याकारेणापि प्रथमप्रवृत्तिविपयकत्वं परमात्मसंकल्पस्य न युक्तमित्या-राकायां किञ्चिद्रूपप्रवर्तकत्वं प्रथममप्यस्तीत्युपपादनमेवाधिकरणसाराविलिचिकीर्षितम् । "वैयर्थ्य यावता न स्यात् विधानप्रतिषेधयोः । नियन्तृत्वश्रुतेस्तावान् संकोचो न त्वनः परः" इति टीकया-ऽण्ययमेवार्थ उच्यते । अस्यास्य कर्मण इदमिद फलमिति व्यवस्था नावत् ईश्वरेण कृताऽस्ति । तस्र फलं विषयानुभवः शास्त्रानुमत्।ननुमतसाधारणः सहकारिसमबधानदशानुसारेण तत्र तत्न भिद्यते। अयमस्य फलमनुभवितं प्रवर्तनामिति साधारण्येनैव प्रथमं संकल्पयति । देशकालादिवशाज्जीवपवृत्ते-र्विशेषविषयकत्वे स्थिते अथ तदेवानुमन्यते विशेषेणेश्वरः इत्येतद्विषये नानोदाहरणसंभवात् तत्र जीवस्य संभवत् खातन्त्र्यं सौत-वृतप्रयन्तरान्द्रखारस्यञ्च नोपेक्ष्यम् । ईदशस्यले उदासीनत्वा-विरोधि सामान्यरूपं प्रवर्तकत्वम्। कस्यचित् कर्मणः पापचर्येव फलं भवति. तत् प्रथमप्रवृत्ताविप विशेषत एव संकल्पः। एष एवेति वाक्यं तु न सर्वविषयकम् , एभ्यो छोकेभ्य इति निर्देशेन व्यक्ति-विशेषपरत्वप्रतितेः। एवं सर्वविषयकत्वायोगेन शांकरवैलक्षण्यमेव श्रीभाष्ये साध्वसाधुकर्मप्ररण-विषयकवाक्यव्याख्यानेन दर्शितम् । तथा च विशेषप्रवर्तकत्वे गमकं यत्र, तत्र सर्वत्र प्रथमप्रवृत्ताविष विशेषनः परायत्तत्वम् : तद्भावे उत्सर्गतः सामान्यतः प्रवर्तकत्वमिति अन्तर्यामिश्रुतेरुभय-विषयकत्वाञ्चातीव संकोच इति । नन्वेवमधिकरणसाराविलश्चतप्रकाशिकयोरेकार्थत्वे, "भाष्यादि-ग्रन्थलेशोऽप्यवहितमनसायैद्रप्रथ्यं भकेत<sup>ा</sup> हति स्केः क्यं प्रमृतिरिति चेत्—न हाद्मुपेक्षकत्वातुः मन्तःवादितिरस्कारेण प्रवृत्तम् ; किंतु, "सर्वास क्रियास प्रस्पेण कृतं प्रयत्नमुद्योगमपेक्ष्य अन्तर्यामी

कमिण परमास्मास्यकर्वन्तरसाहचर्य जीवत्यानियोज्यताकारणम्; परयेकमशक्येषु संमूय बहुमिरनुष्ठीयमानेष्विप लोके विधिनिषेषतरफलादिदर्शनात् मृहतिज्ञक्तरयेच्छायामग्येरिनवार्यस्वेन स्वातन्त्र्यादिसिद्धेः । एवम्, ''कार्यते खवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः'' (गी. ३. ५) इत्यादिष्विप ज्ञानेच्छापुरस्कारेण प्रवर्तनात् इच्छाविशेषादेश्च स्वभासनादिविशेषम्लस्वात् जीवत्य कर्नृत्वं मुस्थितम् । अत
एव द्यस्त हेतुपश्चके कर्तेति समास्यासमाधिना कर्नृत्वंनैव जीवो निरूप्यते ।

यतु करणकलेवरशक्तिञ्चानवाञ्छादिषु विषमप्रदानम् अहतपृष्ठतौ अनिवारणम् अनुमननं प्रत्यवायजननं च, तदप्यनादिपूर्वकर्मवेषम्योपधिकतया नेश्वरस्य वेषम्यनेष्ठिण्यापादकम् । प्रष्टृतिवेषम्यस्यादृष्ट्यनेष्ठस्य वेषम्यनेष्ठिण्यापादकम् । प्रष्टृतिवेषम्यस्यादृष्ट्यनेष्ठस्य वेषम्यनेष्ठिण्यापादकम् । प्रष्टृतिवेषम्यस्यादृष्ट्यनेष्ठस्य तदेवादृष्ट्यं शास्त्रप्रति शास्त्रज्ञमञ्जद्भचादि सामेक्षस्यात् तस्य । एवं पापहेतुम्तमप्यदृष्टं स्वतुद्धचेव निवृत्तियोग्यत्या शासनानहेद्दशामापाद्य पापे प्रवर्तयित ; तदिष तथिति । अन्यथा, अदृष्टमूल्यात् हिताहितप्रवृत्यमेने शास्त्रापेश्वति वादिनः 1पूर्वादृष्टेऽपि तथा प्रसङ्गात् स्ववचनविरोधः । अथ अंदृष्टमूल्यवे शास्त्रवेयर्थप्रसङ्गः ; सार्थकं च शास्त्र परे-रभ्युपगम्यत इत्यदृष्टमूल्यमेव नोपपद्यतिति मन्यसे—तदिष न ; ठौकिकविधिनिषेषयोरिष तथा प्रसङ्गात् । तलापि हि सामगीवैचित्रयम्लल्ये प्रवृतिनिवृत्त्यादिवैचित्र्यस्य, कि गामानयेत्यादिनियोगेन १ अथ सोऽपि नियोगः स्वसामग्रचोपनीतः प्रवृत्तिनवृत्त्यादिवैचित्र्यस्य, कि गामानयेत्यादिनियोगेन १ अथ सोऽपि नियोगः स्वसामग्रचोपनीतः प्रवृत्तिनवृत्तिसामग्रीमध्यनस्यास इति चतः, इन्त परस्परसंव्यवहार-व्यवस्पर्यास्यसंभवात् विकीनं लोकायतेनापिति सूकीमव । एवं सामान्यतः सर्वेषु अदृष्टवेषम्यम्लेष्विकर्मास्य शास्त्रसंवाद्यवहार-व्यवस्यासंभवात् विकीनं लोकायतेनापिति सूकीमव । एवं सामान्यतः सर्वेषु अदृष्टवेषम्यम्लेष्विकर्मास्य शास्त्रे साक्षादे तिवेष विवार विवार । वश्वस्य साक्षादे तिव तत्र परिचोदनाकारः । न चैष दोषः । यथोक्तमाचार्यवादिद्यसाम्ब्रवादैः,

''वैषम्ये सित कर्मणामविषमः किं नाम कुर्यात् कृती किं वोदारतया ददीत वरदो वाञ्छन्ति चेत् दुर्गतिम्'' इति ।

परमात्मा खानुमतिदानेन प्रवर्तयति" इति भाष्यात् उद्योगमनपेक्ष्य न प्रवर्तयतीति सिद्धया न प्रथमप्रवृत्तौ ईश्वरो हेतुरिति न मन्तव्यम् । विशिष्यानुमतिदान एव प्रथमोद्योगापेक्षा, प्रथमोद्योगस्तु सामान्यप्रवर्तनसाध्य एवेति व्युत्पादनार्थं प्रवृत्तमिति । शेषं साराविळव्याख्यानावसर एव सुविदादं कार्यम् ।

1 पूर्विदृष्टेऽपीति । अदृष्टमूळकत्वात् न शास्त्रापेक्षेति न ; शास्त्राभावे पूर्विदृष्ट्याय्यभावात् अदृष्टप्रकलकत्वायोगात् । अतोऽन्वयव्यतिरेकप्रत्यक्षिद्धकारणभावस्य शास्त्रज्ञानादेनं त्यागसंभवः ।

2 ननु अदृष्टस्य जीवगतत्वे स्थातेन ज्ञानादितुल्येन गुण्यं पापं वा कुवैन्तं फलमनुभावयतीति युज्यते ; अदृष्टस्य भगवत्पीत्यादिरूपत्वे स्थयं कारियत्वाऽनुभावयतीति दोषः स्यादिति चेन्न-तत्पीत्यादिरूपत्वेऽपि तस्य जैवपूर्वेक्तियाज्ञनितत्वात् तज्जीवविषयकत्वाच्च स्वकार्ये स्थमेव कारणं भवतीति युक्तः फलानुभव इति ।

श्रक्तिस्सन् कर्मनिष्पत्तये स्वेच्छया करणाद्यधिष्ठानाकारं प्रयत्नं चारभते ; तदन्नरवस्थितः परमात्मा स्वानुमतिदानेन तं प्रवतंयतीति जीवस्थापि स्ववृद्वचैत्र प्रवृत्तिहेतुत्वमस्ति ; यथा गुरुत्ररिश्चामहीरुहादिचलनादिकलप्रवृत्तिषु बहुपुरुषसाध्यासु बहुनां हेतुन्वं विधिनिषेध-माक्त्वं चेति ॥ १४ ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यकृतबुद्धिःवान्न स पश्यति हुर्मतिः॥ १६ एवं वस्तुतः परमात्मानुमतिपूर्वके जीवात्मनः कर्तृत्वे मति, तल कर्मणि केवलमात्मानः

तदयं चार्वाकेतरसमस्तिसद्धान्तनिष्ठानां साधारणपरिहारसार:---

तत्तिद्दृष्टदृष्ठभास्त्रवरयद्शान्वयात् । पुनस्तयात्थाः इष्टृष्ट्याद्वतः (ष्टसंप)त्तिहृष्यद्यते ॥ पुमर्थसाधनत्त्वेन प्रतीतेः स्वेच्छया पुमान् । प्रवर्तेतेति ताद्य्यात् सावकाशाऽत्र चोदना ॥ इति ॥ अत्र करणकलेवरप्रदानादिसाधारणोपकारसापेक्षसया जीवकर्तृत्वस्य परापेक्षस्य मिह्मत्यन्ते-नोक्तम् । कर्मानेष्यत्तये इत्यादिना तु प्रवृत्तिविद्योष<sup>ा</sup> जीवस्य स्वातस्त्रयं दक्षितम् । तत्रापि परस्य किवित्कारः तदन्तरवस्थित इत्यादिनोक्तः । तं कृतप्रयवनित्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥

यथेर्व पश्चानां हेतुत्वेऽप्यास्मैव कर्ता, तर्बकर्तृत्वानुसंघानं श्रान्तिरूपमेव स्थात् । विधिनिषधित्रसंद्र्षणाय कर्तृत्वं तावत् दुस्त्यजम् । न च सहकारिनिर्पेक्षकर्तृत्वं वनिष्यत इति वाच्यम् ; तस्य प्रसक्षामावेन प्रतिषेधायोगात् । न हि कश्चित् देहीन्द्रयदण्डचकादिनिरपेक्षः करोमीति मन्यते-इति शक्कायां नियन्तन्तरनिरपेक्षस्वामाविककर्तृत्वश्रमस्य, देहाद्यात्मश्रमवनां चानेकाधीने कर्मण्यनन्याधीन त्वामिमानस्य निवारणमकर्तृत्वानुसंघानमित्युच्यते तत्रेविमिति श्लोकेन । प्रमात्मानुमितपूर्वक इति सर्वनिविह्वकप्रधानहेतुमहः । आत्मानमिति । स्वात्मानमित्यर्थः । अत्य एव च कर्तृशब्दोऽत्र न पूर्ववत् धर्मिसमर्पकः ; इतरथा कर्मप्रारमहेतुमित्यध्याहारप्रसङ्गाचेत्यभिभायणाहं केवलपात्मानमेव कर्तारमिति । स्वात्मानिक्तर्वेऽति वा केवलशब्दाथि एवकारः । नन्वत्र केवलशब्दाथाणार्थो व्याख्यातः । शक्कानिवर्तकत्वेऽपि वा केवलशब्दाथी एवकारः । नन्वत्र केवलशब्दाथी एवकारः । नन्वत्र केवलश्चदेन स्वामाविककर्तृत्वाद्यवादामातं स्यादिति चेत्रः चतुर्भिसंस्यकरणे प्रस्तुते तदनभिज्ञनिन्दायां तद्व्यवच्छेदार्थत्वसारस्यात् ; तस्यापेक्षितत्वाच । तत्र यत् परैरुक्तम्, "आत्मनोऽविक्रयस्मावत्वेनाधिष्ठान्तिमित्तिवत्वानुत्पत्तेः । विक्रियावतो क्रम्यैसंहननं, संहत्य वा कर्तृत्वं स्यात् ; न तु अविक्रियस्यात्मनः केनिवरसंहननमस्तिति न संभूयकारित्वमुत्पयते" इति — तदसत् , स्वन्त्पोत्वन्यादिविकार-रहितस्यात्मनः, "दार्क्यमिर्वयं तैलं तिले तद्वत् पुमानि । प्रधानेऽवस्थिने व्यापी चेतनात्माऽऽ-रमवेदनः ॥" (वि. २ ७. २८) इत्यादिभिः शास्त्रदेन्यान्तरेण संहननस्य ज्ञानिकनिर्वाधाधार-रमवेदनः ॥" (वि. २ ७. २८) इत्यादिभिः शास्त्रदेत्वान्तरेण संहननस्य ज्ञानिकनिर्वाधाधार-

पृत्तिविशेषे इति । प्रथमप्रवृत्तिरिप यत्न विशिष्येश्वरसंकर्णाधीना, तत्नापि जीवस्य बानचिकीणीप्रयत्नवस्वरूपसातन्त्र्यं न हन्यते । निवृत्तिक्षमस्यानिवृत्त्या तद्वस्वं हि स्वातन्त्र्यमेव । यत्न तु सामान्यरूपः संकर्णः, तत्न प्रवृत्तिविशेषे विशेषरूप्णरप्रेपणानधीनप्रवृत्तिकत्वरूपं स्वतन्त्र्याप्यस्त । इदमेव हि इत्रव्यत्नप्रस्वारस्यद्विमाप्यकृद्भिसंहितमिति गावः ।

मेव कर्तारं यः पञ्यति, स दुर्मतिः विषरीतमतिः अञ्चतवुद्धिःवात् अनिष्पन्नयथावस्थितवस्तु-बुद्धित्वात् न पश्यति न यथावस्थितं कर्तारं पश्यति ॥ १६ ॥

यस्य नाइंग्रतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हःवाऽपि स इमाँहोकान्न हन्ति न निवध्यते ॥१७ परमपुरुषकर्तृत्वानुसंघानेन यस्य भावः कर्तृत्वविषयो मनोबृत्तिविशेषः नाइंग्रतः नाहमभिमानकृतः। <sup>1</sup> श्रद्धं करोमीति ज्ञानं यस्य न विद्यत हत्यर्थः <sup>2</sup>। बुद्धिरीस्य न लिप्यते अस्मिन्

तया सहकारिभिस्तंभ्यकर्तृत्वस्य च स्थापनात् ; अन्यथाऽत्रापि पञ्चेत तसा हेतवः इति कर्तुरिप हेतु-त्वेन परिगणनस्य भङ्गभसङ्गादिति । स दुर्मतिरिति एतदुक्तस्यैशानुवादः ; अन्यथा पौनरुक्त्यादित्यभि-प्रायेणाह विपरीतमितिरिति । अञ्चतनुद्धिरिहाध्यात्मशास्त्रेरिन-पादितनुद्धिः ; तदाह अनिष्पन्नेति । 'यः पश्यित, न स पश्यशी'ति व्याघातात् , सदिप दर्शनसयथासावेनास्करुपतया निन्यत इत्यमि-प्रायेणाह न यथावस्थिनभिति । बाह्येषु यथावस्थितदर्शनसभवात् प्रकृतविषये निश्चन्छति कर्तारमिति । स्वभाव-अर्थ-शास्त्रपतिरक्तेषु न प्रवर्तेतः ; अवश्यक्तिव्येषु स्वभावादिप्राप्तेष्विप स्वसिन्निधिष्ठानादिषु च यथांश्च कर्मबन्धं न्यस्य प्रवर्तेतिति हृदयम् ॥ १६ ॥

दुर्मितिशसन्ने कस्तर्हि सुमितिरित प्रान्तः । से च प्रकरणात् समिनिश्वाहाराच विशेष्यते कर्तु-स्विषयो मनोकृतिविशेष इति । अहंकृतः इत्यत्न कर्त्वरेषे मनोकृतिविशेषस्याहमिमानविषय-स्वायोगात् तम्मुल्स्वमात् विशेष्यते कर्तु-स्विषयो मनोकृतिविशेष इति । अहंकृतः इत्यत्न कर्त्वश्वेषेऽपि मनोकृतिविशेषस्याहमिमानविषय-स्वायोगात् तम्मुल्स्वमात्नमिह विविक्षितमित्याह अहमिमानकृत इति । अलाहंशब्देनाहमिमानकृत इति । अलाहंशब्देनाहमिमानकृत इति । अलाहंशब्देनाहमिमानकृत इति । अलाहंशब्देनाहमिमानकृत इति एल्सिणा वा । यद्वा 'अहंकृतः' इति 'मुक्ता ब्राह्मणाः' इतिवत् कर्तरि कः । अहमिमानकृत इति फल्टितोक्तिः । ननु आत्मनोऽहमर्थस्वात् कथमहमिमानविजनम् १ तल्लाह अहं करोमीति । सावधारणमिदं योजयम् , अन्यथा साक्षात्कर्तृत्विरोषात् । एवं कर्तृत्वत्यागे कष्टोक्ते परिशेषात् तेनार्थसिद्धः फल्टिसङ्ग्याः बुद्धिरस्य न लिप्यते इत्यन्यतः इत्याह अस्मिकिति । ''नाविरतो दुश्चरितात्'' (क.

अहमिति । नाहंकृत इत्यस्य, यस्य भावः नाहं करोमि किं तु परमात्मेत्याकारक इत्यत्न पर्यवसानम् । द्वितीयपादे तथा निष्कर्षात् ।

<sup>2</sup> प्रथमपादे सर्वत कार्ये कहित्वाभिमानराहित्यमुक्तम् । अत एव हननरूपकार्यविशेषकत्रीभिमानिविलक्षण इति तद्धतूकरणेन तृतीयपादार्थः। अवैध्यक्तल्रागायाहहननविषये सारिवकत्यागायोगात् न हन्तीति दुर्वचम् । अतो युद्धे हत्वेत्युक्तम् । युद्धे हन्तारः सर्वेऽप्यहन्तार एव ; धार्मिकत्वात् ; अतः को मुमुक्षौ विशेष इति चेत्-न हन्तीत्यस्य काम्ययुद्धकृतेपुरुषविलक्षण इत्यर्थः । (न हन्तीत्यस्य हननकृत्वत्यागी भवतीत्यर्थः) हत्वापीत्यस्य भगवद्धीनहननकृत्वाथयोपीत्यर्थः । युद्धे हन्यमानानां केषाञ्चित् प्रतिवन्धकवशात् कत्याणतमविष्रहाभावे योद्धुर्हननकृत्वत्यसंभावनायामि सारिवकत्यागिनो न हन्त्वत्यमित्यपर्थः। रिपृणां नारिकत्वेऽपि न ते हानिरिति । हननं मारणं वा सुखानुवर्कविनाहेत् व्यापारो वा । यथाईमत्रार्थो भाव्यः ।

कर्मणि मम कर्तृत्वाभावादेवत्फलं न मया संवष्यते, न च मदीयं कर्मेति यस्य बुद्धिर्जायत इत्यर्थः । स इमान् लोकान् युद्धे इत्वापि तान्न निइन्ति ; न केवलं भीष्मादी-नित्यर्थः । ततस्तेन युद्धारुचेन कर्मणा न निवध्यते । तत्फलं नानुभवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

सर्वमिदमकर्तृत्वाद्यतुसन्धानं सन्वगुणबृद्धवैत्र भवतीति सन्तरस्योपादेयताञ्चापनाय कर्मणि सन्तादिगुणकृतं वैषस्यं प्रपश्चयिष्यन् कर्मचोदनाप्रकारं तावदाह्य----

१क्षानं श्रेयं परिश्वाता त्रिविधा कर्मचोदना । करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ज्ञानम् कर्तं ध्यकमिविषयं झानम्, ज्ञेयं च कर्तव्यं कर्म, परिज्ञाता तस्य बोद्धेति त्रिविधा कर्मचोदना । बोधबोद्धध्य(बोध्य)बोद्धृयुक्तो ज्योतिधोमादिकमिं विधिरित्यथः । तत्र बोद्धध्य २. २४) इत्यादिप्रतिषद्धवैवेतरहननन्युदासाय शास्त्रोथकमादिसिद्धमनुक्रप्याह युद्धे इत्वाऽपीति । न हन्ति हननामिमानजन्याहष्टवत्तया तत्फलसंवन्ध्योग्यहन्त्रन्तर्विल्क्षण इत्यर्थः ; अन्यथा 'हत्वािष न हन्ति व्याधातात् । यतु परेरतोक्तम् 'आत्मनो हननकर्तृत्वामावात् तत्कार्येणाधमिकलेन न संबध्यत इत्युच्यते' इति ; तदसत् , 'यत्य नाहंकृतो भावः' इति विशेषणवैयध्यति । अविदुषोऽन्यस्यापि तन्मते कर्तृत्वामावात् । तस्त्रत्रिष् च कर्मफललेक्स्य मिध्यात्वाश्युपनमात् । 'कथं भीष्मम् ' (२. ४) इत्यादेः प्रश्नस्य केसुत्येन प्रतिक्षेपार्थम् इमाङ्गोकािनिति सामान्येनोच्यत इत्यमिप्रायेणाह न केवलमिति । अत न हन्तीत्यस्य न निवध्यते इति व्याख्यानमिति योजना समीचीने गत्यन्तरे संभवति न यक्ता । अतो 'यस्य नाहंकृतो मावः', 'बुद्धिः यस्य न लिप्यते' इत्यनयो हेतुसाध्यभावेनावस्थितयोः फलमिति हेतुसाध्यभावेन न हन्ति न निवध्यते इत्यन्त्रच हत्यम् तत्र इति न निवध्यते इत्यन्त्रच कर्मसाध्यमोक्षविरोधिफलानन्ययो विवक्षित इत्यमिप्रायेणाह तत्फलं नासुमवतीित। एतेन, 'क्रियाकाले नाहंकाः , क्रियोत्काले मया क्रुतमिति प्रतिसंधानालेषः, न हन्ति, न निवध्यते इत्युमाभ्यामैहिका-स्थान्यविष्ठियः' इति योजनान्तरं निरस्तम् ॥ १७ ॥

एवं सात्त्विकत्यागो विशोधित:। अथ तद्यै 'नित्यसत्त्वस्थः' (२. ४५) इत्यादिभिर्बहुषा प्रागर्वाक् च प्रसक्ता सत्त्वोपादेयता निरवरोषं विशोध्या; तल मध्ये कर्मचोदनाप्रकारादिकथनं कथं संगच्छत इत्यलाह सर्वमिति। कर्मचोदनाप्रकारोक्तिस्तदनुन्निषषु ज्ञानदिषु गुणतक्षेविध्यं प्रपन्नयिद्वमित्यर्थः। कर्तव्यकर्मित्यर्थात् कर्तव्यकर्मित्यपित्यादि । (ज्ञानज्ञेयज्ञान्यञ्चाः सामान्यविषया अपि कर्मचोदनालैविध्यार्थत्वात् विशेषपरा इति भावः। एतेन ज्ञानशब्दस्याल शास्त्रपरत्वत्याख्या निरस्ता । प्रवत्कवचनरूपचोदनास्व-रूपविरुक्षणानां ज्ञानादीनां कथं चोदनामेदत्वोक्तिरित्यलाह बोधवोध्यवोद्गृक्त इति । ज्ञानादीनां

श्रायते अनेनेति झानम् इति शांकरम् यद् झानं बेत्तीति २१ क्लोकोक्तिविरुद्धम्। तथा करणं श्रोत्नादि, कर्मे कर्नुरीिष्सिततमं कर्मकारकमित्यर्थवर्णनमपि न श्रिष्टम्; उपरिसा-रिवकादिभेदेन निरूपिष्यमाणायाः क्रियायाः कर्मपदेन, तदन्तरङ्गस्योपकरणस्य च करणपदेन ग्रहणस्यैव युक्तत्वात् इति भाष्यटीकयोराझयः।

रूपं कर्म त्रिविधं संगृह्यते करणं कर्म कर्नेति । करणम् साधनभृतं द्रव्यादिकम् ; कर्म यागादिकम् ; कर्ता अनुष्टातेति ।। १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च विश्वेच गुणसेदतः । प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तात्यिष ॥ १९ कर्तव्यक्रमेविषयं ज्ञानम् , अनुष्टीयशानं च कर्म, तस्यानुष्टाता च सत्त्वादिगुणभेदत-स्त्रिवैव प्रोच्यते गुणसंख्याने गुणकार्यगणने । यथावच्छृणु तात्यिष तानि गुणतो भिन्नानि ज्ञानादीनि यथावच्छुणु ॥ १९.॥

. सर्वभूतेषु येनैकं भावमध्ययमीक्षते । अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सास्त्रिकम् ॥ २० जानगक्षत्रियत्रसम्बारिगृहस्यादिरूपेण विभक्तेषु सर्वेषु कृतेषु कर्माधिकारिषु येन ज्ञानेन

चोदबानुविश्यत्मालेश विधाशक्त्रोक्तं प्रकारत्विमित्यथिः हे एवं विविधः कमसंग्रहः इत्यत्न हेतुद्वयसिटितस्वरूपेण लेविध्यम् । अनुक्तविषयत्नेविध्यान्तरोक्तिश्चाश्चर्यासाय विविव्यतः इत्याह
त्रत्नेति । संग्रहशक्तरस्य कमीण व्युत्पत्तिमाह संगृह्यतः इति । कमैंव संग्रहः इति कमैधारयः । कमैंणो
वा संग्रहः । 'त्रीहिणियिनेत' (आप श्रो ६. ३१. २५) 'दश्च जुहोति' (,, ६. २५. १०) इत्यादिप्रतिपादितं क्रियाकरणिम्हं करणशक्तेनोच्यते । फलापेक्षया तु कमीण एव करणत्वादित्यभिमायेणाहं
साधनभृतं द्रव्यादिकमिति । आदिशक्तेन जात्यादिग्रहणम् । नन्यत्र ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं, तदेव
करणिमत्युच्यते ; ज्ञानादित्वयमेव हि करणकमंकर्तृशक्तेविद्यामिति युक्तम् ; अत एव हि ज्ञानं कम्
च कर्ता चेत्यनन्तरानुवादसंगितिरिति चेत् — मैवम् ; शब्दस्वारस्थाभावात् , उक्तमात्वस्य च शब्दान्तरेण
पुनर्राभवाने प्रयोजनाभावात् ; उक्तावान्तरविभजनस्य त्रु विवेकोपयुक्तस्वादिति भावः। कर्तृकरणसमित्याहारात् कर्मशब्दोऽपि कारकविशेषविषय इति शङ्कामपाकरोति कमे यागादिकमिति । क्रियासस्वर्ष
हि गुणतिस्विविधं विभक्ष्यते (विभज्यिते) इति भावः । नियोज्यावस्वतया पशिज्ञातेति निर्दिष्ट एव
अनुष्टात्वस्थतया पुनः कर्मशेषत्या तत्पकारत्वेन कर्तेति व्यपदिश्यत इत्याह कर्ता अनुष्टातेति ॥१८॥

'ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता' इत्युक्ता एव पदार्थाः **ज्ञानं कर्म च कर्ता** चेत्यन्यन्ते । ज्ञातृत्व-कर्तृत्वयोरवस्थाभेदमालत्वात् ज्ञानोक्त्येव (कर्तृक्त्येव?) ज्ञातुरि सिद्धेरिहानुक्तिः ; ज्ञेयशब्दस्य च कर्मविषयत्वात् । करणं तु कर्मानुभविष्टत्वाल प्रथावमक्ष्य(जिन्ब)ते । **गुणसंख्यान**शब्देन सांस्यराद्धान्तविवक्षायां प्रमाणामावात् प्रकृते चानुपयोगात् गुणस्ररूपगणने च ज्ञानादेरनुभवेशा-मावात् गुणकार्यगणन इत्युक्तम् । यथावच्छूणु — यथावच्छूवणयोग्यमवधानं कुर्वित्यर्थः । यथाव-दिति विवक्षितं भकारमाह गुणतो मिन्नानीति ॥ १९ ॥

सात्त्विकज्ञानादिकथनं कर्तृत्वे गुणपारतः वज्ञापनार्थम् । सर्वभूतशब्दाभिष्रेतमनात्मविद्धिरग्र-संहितं बाह्ये निवयमाद ब्राक्षणेत्यादिना । ज्ञानशब्दस्याल प्रकृतकर्मचोदनानुबन्धिकर्मानुष्ठानदश्चापिक

<sup>(1</sup> संग्रह्मत इति धात्वर्थरूपमावमात्रे ध्युत्पादनमित्याशयेन पक्षान्तरमाह कर्मणो वा संग्रह् इति । अनुष्ठापकप्रमाणस्य चोदनापदेन गृहीतत्वात् संग्रहपदेनानुष्ठानग्रहणं युक्तमित्याशयः।

एकम् आत्मारूयं मार्व, तन्नाष्यविभक्तम् त्राक्षणत्वाद्यनेकाकारेष्वि भृतेषु पितदीर्घादिविभाग-वत्सु ज्ञानाकारे <sup>1</sup>आत्मिन विभागरहितम्, अन्ययं व्ययस्वमावेष्विप ब्राह्मणादिश्वरीरेषु अव्ययम् अविकृतं फलादिसङ्गानहं च कर्माधिकारवेलायामीक्षते, तत् ज्ञानं सान्विकं विद्धि॥२० पृथक्तवेन तु यज्ज्ञानं नाना <sup>4</sup>भावान् पृथिकाष्यान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥

ज्ञापन(ज्ञान ?)परत्वात् कर्माधिकारिष्वित स्तानि विशेषितानि । मावशब्दोऽत्र पदार्थपर्यायः । एकमिति जात्वैवयिववसयोच्यते ; आत्मबहुत्वस्य प्रागेव समर्थितत्वात् , अद्वैतदर्शनं सात्त्विकज्ञानमिति परोक्तस्य निर्मृहत्वस्य ; आत्मबहुत्वस्य प्रागेव समर्थितत्वात् , अद्वैतदर्शनं सात्त्विकज्ञानमिति परोक्तस्य निर्मृहत्वस्यमात्मविषयत्वौचित्येन अप्रमात्मपरत्वायोगाचेत्यभिप्रायेणाद्व आत्माख्य-मिति । सितद्गीर्वेत्यादिना, "गवामनेकवर्णानां क्षीरस्य त्वेकवर्णता" (अ. वि. उ) इत्यादिश्रुति-स्वनम् । अत्र सर्वभृत्वशब्देन ब्राह्मणत्वादिजातिमहणात् गुणाद्यवान्तर्विभागपरो विभक्तशब्द इति च भावः । केनाकारेणेकत्विमत्यत्वाह् ज्ञानाकार इति । प्रतिषिध्यमानस्य व्ययस्य प्रसङ्गकमाह् व्ययस्य भावः । केनाकारेणेकत्विमत्यत्वाह् ज्ञानाकार इति । प्रतिषिध्यमानस्य व्ययस्य प्रसङ्गकमाह् व्ययस्य भावेद्वस्ति । प्रागुक्तं फलादिसङ्गह्यत्वित्रतिहत्यम्यविकृतत्वररेणाव्ययशब्देन संगृहीतिमित्याह् फलादिसङ्गानकृत्वे चिति । सङ्गोऽत्र संवन्धः ; अनुभव इत्यर्थः । इच्छापरत्वेऽपि भोगोऽर्थसिद्धः । कर्मचीदनानुवन्धिज्ञानफळत्वात् कर्माधिकारवेळायामित्युक्तम् । मयेदं करीव्यमित्यनुसंधानदशाया-मित्यर्थः । येन ज्ञानेन ईश्वते विषयीकरोतित्यर्थः ॥ २०॥

- 1 आत्मनीत्यस्य स्वस्मिन्नित्यर्थः । आत्मस्वरूप इति यावत् ।
- 2 कर्तेति प्रकृतेति । अधिष्ठानं तथा कर्ता इति कर्तृशब्दोक्तेत्वर्थः ।
- 3 परमात्मपरत्वायोगाञ्चिति।यद्यपि सर्वभृतेषु विभक्तेषु-नानाजीवेषु व्यापिनमिवभक्तं भाव-परमात्मानं येन गृह्णाति तत् झानं सात्विकमित्यर्थः स्वरसो मुख्यश्च। पकपदस्य साम्यपरत्वह्नेज्ञोऽपि नास्ति-अथाप्यल सात्त्विकत्यागिविशिष्ठमर्मानुष्ठानसंदर्भे कर्मयोगापेक्षित-तदन्तर्गतजीवात्मझानं विहाय अप्रधानभूतस्य भक्तियोगे मुख्योपयोगिनः परमात्मझानस्य ग्रहणं न स्वरसम्। कर्तृत्वं गुणेष्वारोप्यापि कर्मयोगादिकरणसंभवात् तदाऽप्यवश्यापेक्षितं जीवात्मझानमेव। वश्यमाण ना-नाभाव प्रतिकोटिभृत एव चैको भावोऽत्र वक्तुमुचितः इति तत्यरतयैव भाष्ये व्याख्यानमिति भावः। कर्मझानं सात्त्विकराजसादिसर्वाधिकायेपेक्षितम्। सात्विकापेक्षितं तु आत्मझानमेव।
- 4 नतु नानाभावश्चानस्य तामसाधिकारिसाधारण्यात् को राजसे विशेष इति चेत्-उच्यते-सत्यम् ; भाष्येष्युत्तरस्टोके पूर्ववदेवेति पदेनाविशेषो श्चाप्यते । एवं तु मेदः — अनेककर्मन्यासकत्वं सात्त्विके ऽप्यस्ति । परं तु व्यवसायात्मकतुद्धिमस्वादुत्त्व्यध्मेकमेव लक्ष्यं ततः ; तदुवितमात्मेक-रूपत्वश्चानञ्च । राजसे आत्मवैविष्यश्चानं नानाफलार्थनानाप्रवृत्तिश्च । तामसे एकश्चद्र-फलमात्नोदेशेन एकत्नैव कर्मणि सर्वकर्मविषयव्यासङ्गतुत्यः संगः, इतरतोनिवृत्तिश्चिति । एवञ्च "सितदीर्घादिषृथक्त्वेन च फलादिसंयोगयोग्यान्" इति अनेकफलसंगकथनात् नामस व्यावृत्ति । राजसानां श्चद्राश्चद्रसर्वफलटिः । तामसानां श्चद्रमात्ने । एकस्मिन्नित्यस्य श्चद्रन्वेनैकरूपे इत्यर्थः ॥

सर्वेषु भ्रतेषु त्राक्षणादिषु त्राक्षणाद्याकारपृथवस्वेनात्माख्यानिष भावान् नानाभृतान् सितदीर्घादिपृथवस्वेन च पृथिन्यान् फलादिसंयोगयोग्यान् कर्माधिकारवेळायां यत् ज्ञानं वेत्ति, तत् ज्ञानं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥

यत्तु इत्स्ववदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहे(है) तुकम् । अतस्वार्थवद्वयं च तत् तामसमुदाहतम् ॥२२ यत्तु ज्ञानम् , एकस्मिन् कार्ये एकस्मिन् कर्तव्ये कर्मणि प्रेतभृतगणाद्याराधनरूपे अत्यवपफले क्रत्स्वफलवत्त् सक्तम् , अहेतुकम् वस्तुतस्त्वकृत्स्वफलवत्त्या तथाविधसङ्गहेतुरहितम् अतन्वविधयं पूर्ववदेवारमिन पृथवस्वादियुक्ततया मिथ्याभृतार्थविषयम्, अत्यवपफलं च प्रेतभृताद्याराधनिषयस्वाद्वयं च, तत् ज्ञानं तामसमुदाहतम् ॥ २२ ॥

पृथक्त्वादिशब्दानां पुनरुक्तिपरिहारायाह **न्नाक्षणाद्याकारपृथक्त्वेन**ति । सर्वेषु भृतेष्विति विशिष्टानुवादः ; तत्र भावानिति विशेष्यनिष्कर्षे इत्यभिषायेणाह आत्माख्यानिष भावानिति । पृथक्तेन च पृथिण्यधान् पृथक्तेन विशेषितानित्यर्थः । जातिभेदिविशेष्यभेदगुणादिभेदपरतया पृथक्त्वनानापृथिण्विधशब्दानामपुनरुक्तिः । <sup>1</sup>उक्तव्यतिरेकपरतया फ्लादिसंयोगयोग्यत्वोक्तिः । ज्ञानं वेत्तीति कर्नृत्वोपचारः ॥ २१ ॥

कार्यशब्दोऽल नोत्पत्तिपालपरः (नोत्पत्तिमत्परः ?); सक्तेव्यविषयस्वात् । एकशब्दध्य सङ्गानिद्वाय फल्रह्मारा परिमितपरः; तस्यापि हेतुः प्रागुक्तपरिमितशक्तीनामाराधनस्विमित्यिपप्रायेणाह एकिस्मिन कर्तृच्ये कर्मणि प्रेतभूतगणाद्याराधनरूपेऽत्वरपफल इति । <sup>2</sup>क्मेस्ररूपकायमालस्यापि सङ्गयोग्यस्वामावः (वाय ?) तलापि फल्रविवक्षायामाह (वक्षामाह ?) (वक्षया आह ?) कृत्स्यफल्रविदि । कृत्स्वफल्रहेतुभृतकर्मणीवेत्वर्थः। कार्यभृतस्य ज्ञानस्य सङ्गस्य वा कारणमालिविषययोगात् प्रेक्षावस्यङहेतुरिह प्रतिषिध्यत इत्याह वस्तुत इति । अहितुकमिति पाठेऽपि हेतुकादन्यस्वविवक्षयाऽयमेवार्थो प्राष्टः । पूर्ववदेवेति । राजसविदस्यर्थः । एकिस्मन् कार्ये सक्तमहेतुकमित्यनेनेवावपक्रस्वसिद्धः खद्योतप्रकाशवत् स्वरूपत एवाव्यस्य स्वरायस्व स्वरूपत स्वर्ते स्वरापत्रकारविद्यभिमायेण अत्यस्पफलं च प्रेतभृताद्याराध्य अत्यस्पफलं च प्रेतभृताद्याराध्य विवयस्वाद्यद्व चेरकुक्तम् । "सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्" (१४.१७) इति पूर्वेकं तु राजसत्तामसज्ञानयोरज्ञानस्वविवक्षया। उक्तं हि "एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा" (१३.११) इति ॥

1 उक्तव्यतिरेकेति । पूर्वेश्ठोके अध्ययपद्विवक्षिताविकृतरूपार्थव्यतिरेकप्रदर्शनायेत्यर्थः । पूर्याग्यधानित्यस्य विकृतानित्येवमर्थाग्तरं वा भाव्यम् । 2 कर्मास्क्ष्प कार्यमात्तस्य-कर्मरूपस्य कार्यपदार्थस्य कृत्सनस्य । 3 शांकरे निर्विशेषाद्वैतवानं सार्विकम्, वेदोत्थमेव अनेकात्मादिरूपदेतवानं राजसम्, देहपरिमाणो जीवात्मा, दारुपापाणादिरीध्यर इत्येवं नानाक्ष्मणकवानं तामसमिति विभागः रुतः । स न युक्तः । कर्मोपयोगिज्ञानस्यव वाज्यत्वात् अद्वैतवानस्य तिद्वरोधित्वात् । सप्तदशाध्याये वैदिक एव अद्धावयविभागवत् वैदिकज्ञान एव वैविध्यवचनस्य युक्ततया जैनादिग्रहणायोगाच । अत न भाष्ये साव्विकृत्याग्युक्तकर्मानुष्ठानोपयोगिज्ञानं सार्विकम्, अधिकसुखाद्यर्थनिकदेवादिशरीर-परिग्रहार्थ्य कर्मवानं राजसम्, अतिश्चद्रक्रमात्रस्यासक्षुक्षगतं तद्दर्थवानं तामसमिति विभाग इष्टः।

एवं कर्तन्यकर्मविषयज्ञानस्याधिकारवेलायामधिकार्यशेन गुगतस्त्रैविष्यसुक्त्वा अनुष्टेयस्य कर्मणो गुगतस्त्रैविष्यमाह—

नियतं सङ्गरिहतमरागद्वेपतः इतम् । अफल्येष्युना कमे यत् तत् सारिवकमुच्यते ॥ २३ नियतम् स्ववर्णाश्रमोचितम्, सङ्गरिहतम् कर्तृत्वादिसङ्गरिहतम्, अरागद्वेषतः इतम् कीर्तिरागात् अकीर्तिदेशाच न कृतम् ; अदम्भेन कृतमित्यर्थः ; अफल्येष्युना अफलाभिम्ननिधना कार्यमित्येव कृतं यत् कमे, तत् सारिवकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः । क्रियते बहुळायासं तत् राजसमुदाहतम् ॥ २४ यत्तु पुनः कामेप्सुना फलप्रेप्सुना साहंकारेण वा-वाजब्दश्रार्थे-कर्तृत्वाभिमानयुक्तेन च, बहुळायासं यत् कर्म क्रियते, तत् राजसम् बहुळायात्तिम्दं कर्म मर्थेव क्रियत इत्येवक्ष्पाभिमानयुक्तेन यत् कर्म क्रियते, तत् राजसमित्यर्थः ॥ २४ ॥

-अनुवन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्यं च पौरुषम् । भोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसमुख्यते ॥

कृते कर्मण्यनुवध्यमानं दुःखमनुबन्धः ;्रश्चयः कर्मणि क्रियमाणे अर्थविनाशः ; हिंसा तत्र प्राणिपीडा ; पौरुषम् आत्मनः कमसमापनगामध्यम् ; एतानि अनवेक्ष्य

अधिकायँशेनेति । अविभक्तस्विभक्तस्वादिविरोपिनकर्गा तिकारिकस्यानुसंधानेनेत्यर्थः । विशिष्टं कर्मणि विरोपणतयाऽधिकारिणः अंशस्योक्तिः । यद्यपि सङ्गरुद्धः विभव्य फलसङ्गरुद्धस्यागप्रतिपादने विरोपणतयाऽधिकारिणः अंशस्योक्तिः । यद्यपि सङ्गरुद्धः विभव्य फलसङ्गरुद्धस्यागप्रतिपादने विषय इत्याद कर्तृस्वादिसङ्गरहितमित । आदिशब्द्धन मन्ना गृह्यते । 'गुक्तसङ्गोऽनत्वादी' (२३) हत्यादिकथितः कर्तृषमे इह तद्द्धारा कर्मविशेषणस्येन योजितः । त्रव्याण रागान् संसारहेषाच क्रियमणस्य कर्मणः कथमरागद्वेषतः इत्यत्वमित्यत्वाह कीर्तिरामाद्क्षिति । सङ्गश्यव्यपुत्तरुक्ति धानेन परिहृता । अकारस्यासमस्तस्वविवक्षया वा फलितोक्तियस्या वा न कृतिस्युक्तम् । 'तयो दम्मेन वैव यत्' (१९. १८) इत्याधुक्तपितिपधार्थमिद्मित्यिमशयेणाहः अध्मेनेति । कार्यमिरयेनेवित सान्तिवस्यागसारणम् ॥ २३ ॥

कामेप्सनेत्यनेन अपत्रवेष्ट्वनेत्युक्तिव्यरीतोस्ति व्यनक्ति पत्रप्रेष्मनेति । संयन्धसामान्य-षष्ठबाडल समासः । अल विकल्पाद्यसंभवात् वासन्दश्चार्थं इत्युक्तम् । प्रश्चित्रधानरजोन्हत्वया अनुपयुक्तप्रयासमिश्रणात् वहुलायासत्वम् । तल च सर्वत स्वयमेव हेतुरित्यिममानः साहंकारशब्देन विवक्षितः। तल एव बहुलायासपदं च सप्रयोजनिमत्यमिपायेणाह् वहुलायासमिदं कमं मयेवेति ॥२४

श्वयशब्देन तादात्तिकार्थन्ययदोषिववश्चणादुवसरीश्ववस्था च अनुबन्धशब्द एनस्सैविधनया वश्चाद्वाविदुःखवर इत्याह कृते कर्मणीति भिहिसा स्विषया परिविधया चित्यभिषायेण तत्र प्राणिपीढेनि सामान्योक्तिः । दैवपनिसंबन्धिनः पौरुषस्य पुरुषमेविध्यहष्टमागधीसमवधानरूपतामाह आत्मनः कर्मसमापनसामध्येनिति । मिविष्यतोऽनुबन्धादेः साक्षात्कारासंभवान् युक्तिमरागमैश्च

अविमृत्य, मोहात् परमपुक्रपकर्तृत्वाज्ञानात् यत् कर्मारभ्यते, तत् तामपमुच्यते ॥ २५ ॥ मुक्तसक्षोऽनहंबादी भृत्युत्साहसमन्वितः । सिद्धवसिद्धवोर्तिविकारः कर्ता सारिवक उच्यते ॥

मुक्तसङ्गः फलसङ्गगहितः अनहंवादी कर्तृत्वाभिमानरहितः, षृत्वुत्साहममन्वितः आग्रद्धे कर्मणि यावत्कभिमाप्ति-अवर्जनीयदुःखधारणं धृतिः ; उत्साहः उद्युक्तचेतस्त्वम् ; ताभ्यां समन्वितः, सिद्ध्यसिद्ध्योनिर्विकारः युद्धादौ कर्मणि तदुषकरणभृतद्रव्यार्जनादिषु च सिद्ध्य-सिद्ध्योगविकृतिचनः कर्ता सान्विक उच्यते ॥ २६ ॥

रागी कर्मफळप्रप्रुर्डच्यो हिंसात्मकोऽग्रुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥
रागी यशोर्थी, कर्मफळप्रेप्तः कर्मफळार्थी; छ्रव्यः कर्मापेक्षितद्रव्यव्ययस्वभावरितः,
हिंसात्मकः परान् पीडियत्वा तैः कर्म कुर्वाणः, अग्रुचिः कर्मापेक्षितग्रुद्धिरहितः, हर्षशोकान्वितः युद्धादौ कर्मणि जयादिसिद्धचसिद्धचिहिष्शोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७
अयुक्तः प्राहृतः स्तव्यः शटो नैकृतिकोऽल्रसः। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८
अयुक्तः प्राहृतः स्तव्यः शटो नैकृतिकोऽल्रसः। विकास स्वर्यतः अनिष्मत्विद्यः, स्वय्यः अनारम्म-

अपरामशों इन्नान वेक्षणिमत्याह **अविमुश्ये**ति । अनुबन्धायज्ञानस्य पृथ(प्रा) गुक्तत्वात् प्रकान्तोकर्नृत्य-ज्ञानपत्यनीकोऽल मोह्यवदार्थ इत्याह प्**रम्पुरुषे**ति ॥ २५ ॥

अन्द्रंशादीत्यनेन कर्नृत्वामिमानरूपसंगस्य पृथङ्निषेषात् सुक्तमङ्ग इत्यत्न सङ्ग्यन्दः संकृत्वितविषय इत्याह फलसङ्गरहित इति । तत एव कर्मणि स्क्रीयतानुसम्धानरूपसङ्गोऽपि शतिषिद्धः । अहंबदनशीन्दः अहंबादी ; तदम्योऽनहंबादी ; तत्न मनःपूर्वी हि वागित्यिमप्रयेणाह कर्नृत्वाभिमानरहित इति । कर्नृत्वस्य विविष्यमानत्वात् तदुपयुक्ता धृतिरिह विविक्षतेत्याह आरब्ध इति । प्रयत्नरूपस्याहस्य कर्नृशन्देनैव सिद्धत्वात् राजसादिकर्नृसाधारण्याच विशेषविवक्षामाह उद्युक्तचेतरस्य । मिति । सुक्तसङ्गं इत्यनेन स्वर्गोदिफलसङ्गनिष्टत्तेरुक्तस्यात् सिद्धयसिद्धयोर्निर्वकार इत्यस्य इप्रकृत्विवयतामाह युद्धादाविति । सुक्तसङ्गत्वस्त्वं वा निर्विकारत्वम् ॥ २६ ॥

कम्पलप्रेप्सुरित्यनेनानुश्रविकस्वर्गीदिफलार्थित्वस्वाभिषानात् रागीति आनुषङ्गिकृष्टकसङ्गविवसा-माह यशोर्थाति । अपात्कवयादिराहित्यस्य गुणत्वात् कर्मापेक्षितेति विशेषितम् । "काममात्मानं भावाँ पुत्रं वोपरुन्धात् ; न त्वेव दासकर्मकरम्" (आप. २.८.९.१) इत्याचुक्तविपरीतस्वभावताऽत्रं हिसा-त्मकशब्देन विवक्षितेत्याह एगान्पीडियत्वेति । कर्तृत्वोपयोगाय तैः कर्म कुर्वाण इति फलितोक्तिः। एवं कर्भापेक्षितशुद्धिरहित इत्यपि । न हि दर्शनस्वश्रीनादियोग्यशुचित्वमातेण कर्मण्यतानिप्विति भावः ॥

अवधानाभावादेः प्राञ्चत इत्यादिना सिद्धेः अयुक्तश्चदेन अनहैत्वं विवक्षितिमत्याह शार्खायेति । अशुचिशव्दिनिर्देष्टात् राजसस्यायोग्यस्वादिषिकमयोग्यस्वमिह विवक्षितमित्याह विकर्मस्य इति । एवं हि तस्यायोग्यतातिशयः ; यथा "शैशान् पाशुपतान् स्पृष्टा छोकायतिकनास्तिकान् । विकर्मस्थान् द्विजान् शुद्धान् सनेको जलमाविशेत् ॥" (....) इति । शास्त्राध्यननतदर्थोपदेशादि- शीलः, शठः अभिचारादिकर्मरुचिः, नैकृतिकः वश्चनपरः, अल्सः आरब्धेष्वपि कर्मसु मन्दप्रवृत्तिः, विषादी अतिमात्रावसादशीलः दीर्घसूती अभिचारादिकर्म कुर्वन् परेषु दीर्घकालः वर्त्यनर्थपर्यालीचनशीलः, एवंभृतो यः कर्ता, स तामसः ॥ २८ ॥

एवं कर्तव्यकर्मविषयञ्चाने कर्तक्ये च कर्मणि अनुष्ठाति च गुणतस्त्रैविध्यमुक्तम् ; इदानीं सर्वतत्त्वसर्वपुरुषार्थनिश्रयरूपाया बुद्धेषृतिश्र गुणतस्त्रैविध्यमह---

वृद्धेभेंदं धतेश्चेव गुणतिस्रविधं शृण् । प्रोच्यमानमशेषेण प्रथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ बुद्धिः विवेकपूर्वकं निश्चयरूपं ज्ञानम् : धृतिः आरव्धायाः क्रियाया विघ्नोपनिपातेऽपि जनितसात्त्विककर्मानुष्ठानानुगुणविशेषराहित्यं प्राकृतशब्देन विवक्षितमित्याह अन्धिगतविद्य इति । पुज्येष्वपि <sup>1</sup>त्वरितावश्यकर्तव्ययथोचितपणामाद्यारम्भविपरीतं स्तिमितस्वभावत्वमिह स्तव्यशब्दार्थं इत्याह अनारम्भञ्चील इति । गुढविपियक्कत्त्वं क्रठत्वम् । तच प्रकरणात् शास्त्रोदिततामसकर्मद्वारेत्याह अभिचारादिकर्मरुचिरिति । पुनरुक्तिपरिहाराय मायाप्रतारणादिङौकिककर्मद्वारा नैक्रतिकत्वमाहं वश्चनपर इति । 'श्व:कार्यमद्य कुर्वीत' इति न्यायात् ज्ञास्त्रीयेषु त्वरितेन भवितव्यम् । तद्वैपरी-त्यमिहाऽऽलस्यम् । तत्नानारम्भस्य स्तब्धशब्देनोक्तत्वात् आरब्धेष्विति विशेषितम् । विषादीत्यत्न धातोरेवावसादार्थत्वात उपसर्गेण तत्पकर्षः, प्रत्ययेन ताच्छील्यं च विवक्षितमित्याह अतिमात्रावसादशील इति । अवसादश्च लक्षितो **वाक्यकारेण.** "<sup>2</sup>देशकालवैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यन्म्मृतेश्च तज्ञं दैन्यमभा-खरत्वं मनसोऽवसादः" इति । पारव्यकर्मणां शीव्रमसमापनरूपमन्द्रपृष्ट्वित्वादेरस्रसादिशभ्देन निर्दिष्टत्वात् अवयवशक्तेः शास्त्रा(शास्त्रा)दिसमभिन्याहारस्य चानुगुण(ण?)(णतया ?)दीधसुत्रत्वं विशिनष्टि अभिचारादिकम् क्रवेन परेषु दीर्घकालवर्यनर्थपर्यालोचनजील इति । 'सुत सुत्रणे' इति घातु:। स्त्रणं चिन्तनम् ; ताच्छीरयार्थपत्ययः ; दीर्घसृत्रणात् दीर्धमृती । निरपराधशुकुन्तादिमहणार्थदीर्घसृत-कर्तृसमानतया दीर्घस्त्वीत्यौपचारिकप्रहण तु मन्दिमति भावः ॥ २८ ॥

ज्ञानतिविध्यमुक्तम् ; प्रनर्बुद्धित्वैविध्यं वक्ष्यते ; तत्र पर्यायतया पुनरुक्तिश्चक्षः परिहर्तुमुक्तस्य विशेषविषयतामनुवदिति एवं कर्तव्यकर्मविषयज्ञान इति । प्रकृतोपयुक्तमनन्तरं प्रस्तूयत इति संगत्यिम् प्रायेणाह इदानीमिति । ज्ञानतेविध्यं पूर्वोक्तम् , पुनरिह तैविध्यक्षयनं किमर्थमिति शङ्कायामनुष्ठान-दशाभाव्यनुसंघानाद्विरुक्षणस्त्रद्वेत्तया ततः पूर्वभाविशास्त्रादिजन्योऽध्यवसाय इह बुद्धिशब्दार्थं इत्याह सर्वतत्त्ववर्षयुक्षपर्यानिश्चयक्षपाया इति । एतेन 'ज्ञानं बुद्धेर्ट्टीचः, बुद्धिस्तु वृत्तिनती' इति एरोक्तं निश्चयक्षपं ज्ञानमिति । विवेकपूर्वं-पक्षान्तरप्रदिक्षेप-पर्यन्तविचारपूर्वमित्यर्थः । पस्तुतिविविधानुष्ठानोपयुक्तमकारेण विविधाया धृतेस्साधारणं रूपमाह आर
1 त्वरितेति । त्वरितेन-त्वरया त्वरितं वा कर्तव्यत्यर्थः। 2 वाक्यकारप्रन्यस्थार्थः श्रीभाष्य (जि. रु. सि.) व्याख्यानेषु इष्टव्यः । अनुबद्तीति । पूर्वोक्तक्षानस्य कर्मचोदनान्तर्गतन्वात् कर्तव्यविपयकक्षान-

रूपत्वं शतमेव: बुद्धेरस्यास्त बन्धमोक्षाद्यनेकविषयकत्वात् सर्वार्थानित्युत्तया च तता भिन्नता।

धारणम्, तयोस्सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधं भेदं पृथक्त्येन प्रोच्यमानं <sup>1</sup>यथावच्छृणु ॥ २९ ॥ प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्यकार्यं नयामये। वन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विक्षी ॥३०

प्रवृत्तिः अभ्युद्यसाधनभूतो धर्मः, निष्टतिः मोक्षसाधनभूतः , ताबुभौ यथावस्त्रितौ या बुद्धिवेत्ति ; कार्याकार्ये सर्ववर्णानां प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मयोग्न्यत्तरिष्ठानां देशकालावस्थाः विशेषेषु 'इदं कार्यम् , इदमकार्यम्' इति या वेति ; भयाभये-श्रास्त्रातिवृत्तिर्भयस्थानं तदनुवृत्तिरभयस्थानम् , विहित्ते उभे)या वेति ?] बन्धं मोक्षं च संसारयाथात्म्यं तदिग्रमयाथात्म्यं च या वेति ; सा सान्विकी बुद्धिः ॥ ३०॥

ब्धाया इति । अयमिप संकल्पदाब्बीदिख्यो बुद्धिसभाविशोष एव । गुणतो विभक्ते वाच्ये वचने चासंकीर्णसरूपेऽन्वयात् त्रिविधपृथवन्वशब्दयोरपुनरुक्तिमाह त्रिविधं मेदं पृथवन्दवेन प्रोच्यमान-मिति । एवं बुद्धचादिकार्यकारस्येपरस्य अशेषेणेत्यस्य अवणेऽन्वयादपुनरुक्तिः यथावच्छृण्विति दर्शिता । सावधानं संशयविपर्ययहितं शृण्वित्यर्थः । दिग्विजये मानुषदैवधनवत् शमादिधनं च जेतब्य-मिति संबुद्धेभीवः ॥ २९ ॥

कार्याक्षायेशब्दाभ्यां पुनरुक्तिशक्कापरिहाराय "प्रश्वित्वक्ष्मणं धर्म प्रजापितरथाव्रवीत् । निष्टतिकक्षणं धर्मसृषिनारायणोऽव्रवीत् ॥" (भा. मो. २१९. १. १) इत्याद्यनुसारेण प्रश्वितिन्धृतिकृष्मणं धर्मसृषिनारायणोऽव्रवीत् ॥" (भा. मो. २१९. १. १) इत्याद्यनुसारेण प्रश्वितिन्धृतिकृष्मणं प्रधानकर्मविषयत्वमाह अभ्युद्यसाधनभृत इत्यादिना । राजसतामसबुद्धचोः अयथावदित्यादिविशेषणात् इहार्धतत्वित्रवृत्तेविविश्वतत्वज्ञापनाय यथावस्थित्वत्वोक्तिः । कार्याकार्यश्वव्यारिह्
प्रकृतप्रधानकर्मेतिकर्तव्यतामृतदृष्टादृष्टव्यापारपरस्वमाह सर्ववर्णानामित्यादिना । तत्र सृक्ष्मधिवेद्यत्वाय
देशकालावस्थाविशेषिष्वित विशेषितम् । सम्येते हि, "शरीरं बलमायुश्च वयः कारुं च कर्म च ।
समीक्ष्य धर्मवित् बुद्धचा प्रायश्चित्तानि निर्दिशेत् ॥" (वो स्. १. १. १६) इति ; "देशं कारुं
तथाऽऽत्मानम् " (....) इत्यादि च । अत्र शक्यशावययोरिष कार्याकार्यश्चमेन प्रहणम् ।
सयाभययोस्त्वरुष्णानस्य सर्वसाधारणस्वादिह तिन्नित्तत्तांनं विविश्वतम् ; तच्च पाकरणिकविशेषविवयमाह शास्त्रातिवृत्तिर्भयस्थानिति । विभेत्यस्थादिति भयम् ; सर्वप्रशासितुरीश्वरादेव हि
तत्त्वविदां स्थमभयं च । न हि तत्थिरणमन्तरेण केनिच्दाधितुम्बाधितु वा शवयम् । ततस्तदाज्ञानुवृत्त्यतिवृत्ति प्रयास्यमितिति भावः । वन्धमेक्षस्रावज्ञानस्यापि साधारण्यात् याथारम्यमिति विशेषितम् । बन्धस्य मिथ्यात्वादिवादः मोक्षस्य पाषाणवद्भावादिमतं च याथारम्यशब्देन
व्यवस्यम् । वेत्तिति कर्तृत्वोपचारः ; स्वाच्छन्त्वेत्वति विषयीकरोतित्यर्थः ॥ ३०॥

<sup>1</sup> कर्मचोद्नेति शास्त्रीयांश एव सात्त्विकादिविधोत्तया अन्यत्रायं विभागो नास्त्ति किमिति शंकायां बुद्धेरित्याद्यारम्मः । तत्र अशेषेणेति प्रयोगात् बुद्धिपदेन तत्त्वादिसृवैबुद्धिः धृतिपदेन सर्वै-कार्यधृतिश्च ब्राह्या । 2 धर्माभिष्रायेण पुिंशनिर्देशः । 3 शास्त्रातिवृत्तिरित्यादिप्रथमान्तनिर्देशात् उत्तरत्नान्वयार्हम्, पूर्ववत्, इति या वेत्तीति स्थितं गलितमिति भाव्यते । ते उभे इति वाऽध्याहार्यम् ।

यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावन् प्रजानाति तुद्धिः सा पार्थं गजसी ॥ ३१ यथा पूर्वोक्तं द्विविधं धर्मं तद्विपरीतं च तिन्नष्टानां देशकालावस्थादिषु कार्यं चाकार्यं च यथावन्न<sup>1</sup> जानाति, सा राजसी तुद्धिः ॥ ३१ ॥

अधर्मे धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता। सर्वार्थान् विषरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थं तामसी॥ तामसी॥ तामसी॥ तामसी॥ तमसाऽऽवृता सती सर्वार्थान् विषरीतान् मन्यते। अधर्मं धर्मे, धर्मे चाधर्मे, सन्तं चार्थमसन्तम्, असन्तम् चार्थं सन्तं, परं च तत्त्वसपरम्, अपरं च तत्त्वं

धृतिसाधनं धर्म इति व्युत्पत्त्या धर्मशब्दस्य पष्टितिनृश्तिधर्मभाधारण्यादुभयप्रसहाच पूर्वोक्तं द्विविधिमास्युक्तम् ॥ ३१ ॥

तामसीत्यनेनैव तमोम्हरविषद्धेः तमसाऽऽवृतेत्यनेन वादाव्यिकनमोनिरुद्धसस्तरं विविक्षत-मित्याह तमसाऽऽवृता सतीति । सर्वार्थानित्यनेन सिद्धसाध्यक्ष्यसमन्मानुक्तग्रेमहमाह नन्ने चार्थ मसन्तिमित्यादिना । एतेन बाझानां कुहष्टीनां च मतं तामसिमिति दर्शितम् । उक्तं च मनुता, "या वेदबाझाः स्मृतयो याश्च काश्च कुहष्टयः । सर्वीम्ना निष्कलाः भेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" (१२. ९५) इति । अत राजसतामसबुद्धचोरियान् विशेषः-असमग्रवेदनमन्यथावेदनं च राजस्याम् ; यथात्रक्ष जानाति इति व्याख्यानात् ; तामस्यां तु सर्वे विषरीतं मन्यते, सर्वार्थान् इत्युक्तेरित्येके । अन्ये स्वाहुः प्रकारान्यथास्वं प्रकार्थन्यथास्वं च विशेषः। श्रियचि उभयताधिष्ठानस्ते धर्मिण्यतद्धमं एवाध्यस्यते; तथाऽपि

किञ्च तेषां कमेण प्रकाराप्रवृत्तिनियमहेतुतया सुखदुःखमोहहेतुतया च सिद्धःबाघ वैयर्थ्यम् । सत्त्वात् प्रकारो शानरूपः, रजसः प्रवृत्तिः—कर्मः तमसस्त नियमः—प्रवृत्तिनिरोधः,। एवञ्ज

मूले अन्यथास्थातिः प्रतीयते : अस्यातिपक्षाद्ग्णेन मेदाग्रहपरतया व्यास्थानं कृतम् । उत्तरकोकेऽपीदमनुक्तिसिद्धम् । आवृतेति पदाश्च ।

 <sup>2</sup> धर्मिणः भ्रमाधिष्ठानपदेन व्यवहारात् सर्वत प्रकाराध्यास प्रवेति चेत् आह यद्यपीति ।

नतु सस्यरजस्तमसां बयाणामिप शःनहेतुन्वे. 'सःचात् मञ्जायने वातम्' इति सस्यमाञस्य श्वानहेतुन्वं प्रागुक्तं कथं घउत इति चेत्—तत्व त्याच्यायां तत् सप्ताहितमेव—यथार्थवानं प्रति सस्यमेव कारणम्, अन्ये तु अमं प्रतिति। अमेऽपि धर्म्यशे यथार्थ्यस्यष्टवात् सस्यमेव तत्व कारणमिति सर्वेव बाने सर्वसंवन्धः। अमञ्ज द्वियि त्यरीतच्यातिः। अवेदमयध्यम्—अमः प्रमिति सर्वेव बाने सर्वसंवन्धः। अमञ्ज द्वियि विपरित्तच्यातिः। अवेदमयध्यम्—अमः प्रमिति द्विविध्वातस्वीकारिणामन्य्याच्यातिवादिनां पक्षे पर्व विभागो गुर्च्यते। मर्वे वातं अम प्रवेति पक्षे सत्त्वं कृत कारणमिति विचार्यम् । स व द्वायक्षः सत्त्वादिसंगन्त्वास्तिकदृत्यं नारोहतीति चेत् सत्यम् । यथार्थं सर्वविद्वानमिति परमास्तिकपक्षे कथं रजस्तमसोक्षनिहेतुतः। शोधने तत्र पीतशेव— सत्यम् । यथार्थं सर्वविद्वानमिति परमास्तिकपक्षे कथं रजस्तमसोक्षनिहेतुतः। शोधने तत्र पीतशेवन् शुक्तिस्त्रतादिवाने पीतवानशेव्ववासंत्रागिहःः तमःकार्यः शुक्ता रजनभेदःशदः इति अप्रहकार्यत्वादेवा रजनभेदः। शक्ते पीतक्षासंस्वानिकारणत्वम् । पवश्च सत्त्वात् संजायते वानमित्युक्तमुपपन्नम् । अवाष्ट्रते रजस्तमसोक्षनिकारणत्वोक्तिः वानस्य अमत्वापादके अप्रहविशेषे तयोः कारणत्वादेव । न च रजस्तमसोवेवर्थ्यम् , सस्वकार्यग्रहवारकतयैवोपयोगातः।

पम्म । एवं सर्वे विषयीनं मन्यत इत्यर्थः । ३२ ॥

भृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्तियाः । योगेनाःत्यभिवारिण्या भृतिः सा पार्थं सास्विकी ॥
यया भृत्या योगेनान्यभिवारिण्या मनःप्राणेन्द्रियाणां क्रियाः पुरुषो धारयते ;
योगः मोक्षपाधनभृतं मगवदुपासनम् ; योगेन प्रयोजनभृतेनान्यभिवारिण्या विगोदेशेन
प्रवृत्तास्तत्माधनभृता मनःप्रमृतीनां क्रियाः यया भृत्या धारयते, सा सास्विकीत्यर्थः ॥ ३३
स्वरूपिन्द्रपत्रभिवेतरीत्ये तामसता ; यथा शुक्तिरजनअमे ; निक्षपितस्वक्षपविशेषकधर्मवैपरीत्ये तु
राजसता ; यथा पीतशंस्वभम इति ॥ ३२ ॥

राजसभृतौ लिवर्गोक्तरपर्वर्गसाधनभृतं योग इह विविश्वतः ; स चानन्योपासनमेव प्रागनुडिग्रिमित्याह योगो मोक्षसाधनभृतं भगवदुपासनिति । फलान्तरसङ्गोऽल व्यभिचारः ; योगस्य तिलरोधकरणं स्वरूपतः फलतश्च महानन्दरूपत्वेनेत्याह योगेन प्रयोजनभृतेनेति । योगाव्यभिचारोक्तिसामध्यीत् यथासम्बस्प्रवार्गत्वक्षया योगोदेशेन प्रवृत्ताः तरसाधनभृता इत्युक्तम् । मानसी क्रिया तावत साक्षात् करणम् । प्राणिक्षयाऽपि ; "यल मनस्तल वायुर्यल वायुस्तल मनः" इत्यन्योन्यपरिवज्ञात् । यथोच्यते, "पुनर्वायुर्यं प्राप्य मनो अमित वायुवत्" (....) इति । तथा प्राणायामप्रक्रियया च योगिरोधिक्रेशपापादिजयहेतुत्वात् । वाश्चेन्द्रिक्षया तु "साध्यायात् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसंपरया परमात्मा प्रकाशते ॥" (वि. ६ ६. २) इत्यादिभिक्त्यानकाल्यावियोगाङ्गनिवेवणरूपेण, प्रत्याहारे निरुध्यमानरूपेण वा ॥ ३३ ॥

सारिवकप्रवृत्ताविष रज्ञ एव कारणम्, तत्कर्तृकतिबुत्ताविष तमः। सांसारिकप्रवृत्ताविष ज्ञानद्वारा सत्त्वमेव कारणम् । गुणत्वयस्यापि मिळितत्वात् यथायथं वळावळातुरोधेन सर्वेसंभवः ।

नमु सर्वदर्शनसंमतरीत्या जामाति इच्छति यतत इति कमात् बानादेवेच्छायाः ततः प्रयत्नस्य प्रवृत्तिनिवृत्यन्यतराहमनः संभवे, किमिति रजस्तप्रसोरंगीकारः। मोक्षस्थाने रजस्तमसोरमावेऽपि सिद्धप्यकरागासद्विप्रयक्तिवृत्त्यादिदर्शनाच । तत बानविकासस्य स्थिरवात् सर्वगुणस्य स्थितस्या-प्रकारणत्वेऽपि अत बानोत्यत्तेस्तदा तदाऽपेक्षितत्वात् स्याचाम सरवमात्रमपेक्षितमिति चेत् — न हि तकेण वर्ष सरवादि स्थाप्यक्षः। तथा स्वति तदमावेऽपि तार्किकरीत्या सर्वोपपादनसंभवात्। श्रस्यादिशागण्यात्व तत्वपस्वीकारः।

अथ 'सत्त्वं मुखे सञ्जयितं' इत्यादिता चतुरंशे उक्तरीत्या बातसुखसंगतर्धीनप्रवृत्यादिकं स्वं सत्त्वाधीनम्, भ्राममूल्वेपिकसुखरागतत्सुखहेतुवद्वायासक्रियाप्रवृत्यादिकं रजोधीनम्, विपरीतमितिम्लदुःखप्रायात्यसुखरागतदर्थप्रवृत्यादिकं तमोधीनमिति विभाग एवास्तुः किं सवैश्रवृत्ती रज्ञसः, सर्वेत्र निवृत्तौ तमस्त्र कारणत्यस्वीकारेण। एवमिप, 'रजो रागात्मकं विद्वि तृष्णासंगसमुद्भवम्, तमस्वकानजं विद्वि मोहनं सर्वेदेहिनाम्। प्रमादालस्य निद्रामिस्तिन्वध्नाति' इत्येतत् उपपन्नमिति चेत्-एवमिप ब्रान-असंसर्गाग्रह-मेदाग्रहकारणत्या सुखदुःखमोहकारणत्या च गुणवयसिद्धिरनिवार्य। त्रयाणां सर्वेत्र मिल्लित्वात्तु बानकियानिरोधक्रपेषु विषु वयाणां मे कारणत्वोपपादनमित्यलम्। अन्यत् चतुरंशे उक्तम्।

1 योगेनाव्यभिचारिण्या-योगस्पप्रयोजनव्याप्ययेस्पर्थः । यया भृत्येत्यनेनान्वयः ।

यया तु धर्मकामार्थात् भृत्या भारपने ऽर्जुन । यसक्षेत्र महाकारक्षी भृतिस्या पार्थ राजसी ॥३४ फलाकाङ्क्षी पुरुषः प्रकृष्टसक्षेत्र धर्मकामार्थान् यया भृत्या भारयते, सा राजसी । धर्मकामार्थक्षेत्र तत्माधनभृता मनः प्राणेन्द्रिय किया लक्ष्यन्ते । कलाकाङ्कीत्यतापि कल्याव्येत्र राजसन्वात् धर्मकामार्था एव विवक्षिताः । अतो धर्मकामार्थपिक्षया मनः प्रमृतीनां किया यया भृत्या धारयते, सा राजभीत्युक्तं भवति ॥ ३४ ॥

यया स्वर्ध भयं शोकं विपादं मद्मेव च । न विमुखति दुमेंघा धृतिःना पार्थ तामसी ॥६५ वया धृत्या । स्वर्ध निद्राम् । मदं विषयानुभवजनितं मदम् । स्वममदाबुद्दिश्य प्रवृत्ता मनःप्राणादीनां क्रियाः दुमें ।। विमुखति धारयति । भयशोकविषादशब्दाश्य भयशोकादिदायि-विषयपराः ; तत्माधनभूताश्च मनःप्राणादिक्रिया यया धारयते, सा धृतिस्नामसी ॥ ३५ ॥ स्त्रुं विद्यानीं विविधं शृष्ण में भरतर्थम ।

पूर्वीकाः सर्वे ज्ञानकर्मकर्त्रादयो यच्छेपभूताः, तच सुखं गुणतिस्र्विधमिदानीं शृणु ॥

प्रसङ्गशब्दोऽल न प्रासङ्गिकस्यार्थः, तरनुपप्रोगात् । धृतेः खन्यापारविषयस्याय प्रकृत प्रक्रियानुसाराय च धर्मादिशब्दैग्तलस्साधनस्यशोक्ता । सानान्यस्यापि फ्रस्टशब्दस्याल सास्विक-त्यागफस्रादपवर्गात् सङ्कोचायाह फराकाङ्धीत्यतापीनि । स्राक्षणिकप्रयोगाभिषेतं विदृण्यन् शब्दतोऽर्थतथ्य फरितमाह अन इति ॥ ३४ ॥

स्वर्मशब्दोऽस्त सुपुतेरप्युवलक्षक इत्यभिषायेणाइ निद्रामिति । देवायतोन्मादादिव्यवच्छेदाय दुर्नीतिम्हल्वं मदस्यात दर्शयित विषयानुभवजनित्मिति । अस्वाधीनानां स्वप्नादीनां कथं पुरुषेण घारणमिति शङ्कायमम्बापि हेतुलक्षणा पूर्वेशित्याह स्वर्मम्पदादुिद्दश्येति स्वप्नमदयोरपुत्वाभिमाना स्वदत्या भयादेः पृथवकृत्य व्याल्यानम् । दुर्मेधाः । दुर्भेधन्त्वादित्यर्थः । धारणमेवाल मोक्तन्यत्व (दुर्भेधन्त्वादित्यर्थः । दुर्भेधन्त्वं मेधातो मोक्तन्यत्वहेतुरिति । धारणमेव मेधातो मोक्तन्यत्वहे स्वनाय न विमुख्यतिस्वयत्वद्वस्यादित्यर्थः ; दुर्भेधन्त्वं हेतुरिति । धारणमेव मेधातो मोक्तन्यत्वहे स्वनाय न विमुख्यतिस्वयत्वद्वसम्वयोणाह न विमुख्यति धार्म्यतीति । न चाल भीरोधितिवित्रहेति वाच्यम् , आगान्यन्वेक्षणेन दुर्मतेस्तद्वेदवनुवर्तनपरत्वात् । भयदायी विषयो दुर्मानम्ह्यवल्यविद्वादाः ; विषादत्वादी तु क्रोधादिम्हल्यव्यवादिः ॥ ३५ ॥

अनन्तरप्रन्थसंगत्यर्थं तुशबद्द्योतितं व्यनिक पूर्वोक्ता इति । भगतप्रभशब्दोऽत प्रकृष्टसात्त्विक-

<sup>35</sup> दुर्मेधस्वादित्यर्थः इत्येतद्दनन्तरम् धारणमेवात् मोक्तव्यत्वत्वस्वनाय 'न विमुञ्जती' त्युच्यत इत्येतावनेव पाठः कवित् । अत न क्षेत्रः। भृत्या यया धारयते इत्यवेव धारयतीति वक्तव्ये प्रतियोगिपुरस्कारेणोक्तिः कुत इति चेत् , स्वादयो मोक्तव्याः, हन्त तान् न मुञ्जतीत्याशयवैशद्यायेति तद्र्यः । अन्यस्तु पाठ इह, "दुर्मेधस्व।दित्यर्थः । दुर्मेधस्वं मेघातो मोक्तव्यत्वहेतुर्गिति स्चनाय न विमुञ्जतीत्युच्यतः" इति । अयमनिवतः । 'हेतुरिति' इतीदं दुर्मेधस्वमित्येतद्दनन्तरं स्यात् । अथ प्रथमपाठ इव धारणमेवेति पूरणीयम् । मेधावलात् स्वन्नादेमोंक्रव्यत्वम् ।

अभ्यासात् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥ यत् तद्ये विपमित्र परिणामेऽमृतोपमम्। तत् सुखं सान्त्रिकं प्रोक्तमात्मबुद्धित्रसादजम् ॥३७

यसिन् छुखे चिरकालाभ्यासात् क्रमेण निर्शतित्रयां रति प्रामोति, दुःखानं च निगच्छति निस्वितस्स सांसारिकस्स दुःसस्यान्तं निगच्छति ॥ तदेव विश्विनष्टि—

यत् तत् सुखम् , अत्रे योगोपक्रमवेलायां बह्वायाससाव्यत्वात् विविक्त सहपत्यानतुभृत-

युख्यसङ्गयोग्यताज्ञापनार्थः । इरानीमिति । साधनमेदस्योक्तस्य साध्यमेदाकाङ्क्षावसर इत्यर्थः ॥ आपातमयुरत्वामावात् सात्त्विकसुखस्याभ्याससापेक्षत्वम् । स्रोकेऽप्याभ्यासिकी क्षुद्रा वीतिरस्ति ; तद्वयुदासाय ऋमेण निरतिश्चराक्षित्यक्षम् । रतिष् अत्यन्तादरमित्यर्थः । दुःख्वशन्दस्यात्व संकोचकाभावात् क्रस्त्वविषयस्योक्तिः ॥ ३६ ॥

अभ्याससापेक्षस्वदुःखान्तहेतुत्वयोः प्रयोजकरूपमनन्तरमुच्यत इत्यभिष्रायेणाह तदेव विद्य-मधीत । यत्तदिति तच्छव्दशिरस्केण यच्छव्देनानुवादः क्षुत्यादिष्ठसिद्धतर्ग्वयोतनाय । तस्सुख-मिति प्रीत्यतिदेशः । विष्मिवेत्यनेन आपातप्रातिक्र्व्यमात्रं विषक्षितमित्याह दुःखाँ प्रवेति । अनेन मन्दमतीनां जिहासास्पदस्वं दर्शितम् । न हि सुखं नाम किंचिद्रस्तु विषवत् अमृतवच्च परिणमते ; अतस्ततुपचरितमाह अभ्यासबस्त्रेन विविक्तात्मश्चरूपाविभाव इति । बुद्धेरास्मीयस्वादिमालोक्तेः

<sup>37</sup> तत् सुखमिति । सात्विकं सुखमिति न मोक्षसुखमुच्यते । तस्य खामाविकतया आविभेवतः सत्त्वजन्यत्वाभावात् । अतः प्रकृतिमण्डले सत्त्वगुणसाध्यजीवातमपरमात्मानुभवरूपं योगसाध्यं सुखमेवेदम् । अस्य क्रमेण मोक्षे पर्यवसानात् 'दुःखान्तञ्च निगच्छति पुरुषः' इत्युक्तम् । इदमनन्तर-रक्षोकभाष्ये व्यक्तमेव । नन् सुखसामान्यस्य सत्त्वैकजन्यतया कथं राजसादिविभागं इति चेन्न-सुखं सर्वे सत्वगुणजन्यमपि सात्त्विकोपायायत्त्वात् राजसोपायायत्त्वात् तामसोपायायत्त्वाच तथा तथा व्यपदिस्यते इति पूर्वोक्तोपायसाध्येषु सुखेषु स्थितं वैषम्यमेवात्रोच्यते । नन्वसान्मते सुखदु:खे ज्ञानरूपे। ज्ञानञ्च सत्त्वजन्यम्। तत् कथं रजोगुणस्य दु:खहेतुत्वमिति चेत्-प्रतिकूलत्वेन क्षानं हि दुःखम् । तत्र लोके सर्वस्याप्यनुकृतल्यमेत्र स्वभाव इति तत्र कवित् प्रतिकृतल्याभावाग्रहे सति दु:खमित्यच्यते । अत एव सर्वज्ञानामीदशमेदाग्रहस्य दुवैचत्यात् ईश्वरनित्यमुक्तानां न कदापि दु:खर्मिति ब्रजः। तत्र धर्मिधर्मज्ञानयोः सत्त्राधीनत्वेऽपि भेदात्रहांशस्य रजःकार्यत्वात् दुःखं रजोजन्यमित्युच्यते । तर्हि तमसोपि धर्मिमेदात्रहहेतुःवात् दुःखहेतुःवं स्यात् । तथा च मोह-हेतुस्तम इति पृथकारो न युज्यत इति चेत्—नः न हि मेदाश्रहः सर्वो दुःखमित्युच्यते ; किं तु प्रतिकृत्यभेदाग्रहः : प्रतिकृत्यक्षपधर्माभावाग्रह इति यावत् । धर्मो द्विविधः सक्रानिक्षकः, निरूपितस्वरूपविशेषणभूतश्चेति । आद्यस्यात्रहस्तमःकायः, द्वितीयस्यात्रहो रजःकार्यः । अनुकुळ-त्वादेश्च निरूपितस्वरूपविशेषणत्वात् तदग्रहो रजःकार्य एवेति दुःखं रजोजन्यमेव । तदत्र सत्त्वजन्य एव सुखे उपायभेदप्रयुक्तं वैषम्यं प्रतिपाद्यत इति सुस्थम् ।

त्वाच विषमिव दुःस्वमिव भवति, परिणामेऽध्वोषनस् । परिणासे विषाके अस्यायवलेन विविकात्मस्रस्याविभवि अस्यायवलेन सिविकात्मस्रस्याविभवि अस्योपस्य भवति, सच्च आस्मवृद्धिः, तस्याः निवृत्तस्यकेतर्विषयपु गृद्धिः आत्मवृद्धिः, तस्याः निवृत्तस्यकेतर्विषयपु विविक्तस्यभावात्मानुः भवजनितं सुर्स्यमसृतोषम् भवति ; तत् सुर्स्य सार्त्यिकं प्रोक्तम् ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगात् यत्तद्येऽस्तोषतम् । परिणामे विषमित्र तत् सुखं राजसं स्पृतम् ॥ ३८ अम्रे अनुभववेस्रायां विषयेन्द्रियसंशोगात् यत्तदसृतमित्र भवतः, परिणामे विषाके विषयाणां सुखत।निमित्तक्षुदादी निष्टले तस्य च सुखस निर्वादिनिमित्तवात् विषमित्र पीतं भवति, तत् सुखं राजसं रसूतम् ॥ ३८ ॥

अफल्रत्वात् **आरमिविषये**रयुक्तम् । बुद्धेरत्रीय्यविषयसंसर्गस्यकालुय्यनिष्ट्यिहिं प्रसादः इत्यभिषायेणाहं निवृत्तसकलेतर्गवषयरविषितः । जरामरणाद्दिनिर्वतेकत्वात् भोग्यतमत्वेन हातुमशक्यत्वाच्चामृतोषम्-त्वम् । परशेषतेकरसस्य स्वरूपस्य यथावदाविषावे परमात्मानुभवसुग्वायान्तर्नीतत्वादिह पृथमनुक्तिः ॥३७

विषयाणां तत्तविद्वयार्थानामलपानादीनामित्यर्थः । सुस्ततानिःमस्तदुरादौ निश्चे इति राजसञ्जलस्य दृष्टपातिक्र्ल्यनिदानोक्तिः । यदुक्तं भगवता प्राभरेण, "अग्नेः शीतेन तीयस्य तृषा भक्तस्य च क्षुषा । क्रियते क्षुस्कर्नृश्चं निश्चेत्रात्रस्य चेत्रौतेः ॥" वि. १. १७. ६४) इति । "क्षुनृष्णोन्यसमं तद्वस्क्ष्टीतासुप्रममं सुस्तम । मन्यते वालवुद्धित्वातृदुःस्त्रमेव हि तत् पुनः ॥" (,,, ६०) इति च । दृष्टपुत्रतानिमित्तनिवृत्तावृपेक्षणीयतामाल्यवावृत्त्रस्य दुःस्त्रोदक्ष्यं परिणामे विपमित्रेत्यनेन व्यववर्ते । परदारिकरसादीनि हि भयादिभूधिष्ठक्षणिकश्चद्रतरस्यानि अनन्तरकाल्याव्यनिद्योगिनियनिव्यवदुःस्वाय भवन्तीत्यागामिकं विषत्वमाह निरयादिनिम्नन्त्वादिनि ॥ ३८ ॥

अनुवध्यत हत्यनुबन्धो विषाकः । मोहनशब्दत्यात भावार्थानन्वयात् करणार्थरवमाह मोहहेतु-रिति । निद्रादिजन्यसुखस्य विषरीतज्ञानहेतुस्वाभावात् मोहोऽत्र यथायिध्यत्वस्त्वप्रकाशः इयुक्तम् । राजससुखस्य विषाके मोहहेतुस्वम् , तामससुखस्य तु तदानीमपीः होकंसद्धिस्त्यभिवायेणोकं विष्टणोति निद्रादयो हीति । स्पष्टमिति न युक्त्यागमसापेक्षमित्यर्थः । अलसस्य पष्टस्यमावमान् हर्यते, न ज्ञानाभाव इत्यताह आलस्यामिन्द्रयव्यापागमान्द्यमिति । ततः किष्यत्यत्रहाह इन्द्रियति । करण-व्यापारतारतस्यानुगुणं हि कार्यतारतस्यम् । ज्ञानस्य मान्दां चाल्यविषयस्वम् । तच विषयान्तर्यकाशा-भावगर्भमिति भावः । प्रमादस्य सहरोजैवापेक्षिताञ्चानस्यतामाह कृत्यानवधानस्य इति । एवमालस्य- इति तत्रापि ज्ञानमान्धं भवति । तत्रश्च तयोगपि मोहहेतुस्वम् । तत् सुखं तामससुदाहृतम् । अतो मुमक्षणा रजस्तमसी अभिभृष सत्त्वमेवोषादेयमित्यक्तं भवति ॥ ३९ ॥

न तद्दित पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः । स्त्यं प्रकृतिजैर्मुकं यदेभिः स्यात् विभिर्गुणैः ॥
पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा प्रकृतिसंसृष्टेषु व्रशादिषु स्थावसन्तेषु प्रकृतिजैरेभि<sup>क्</sup>स्भर्गुणैर्मुकं यत् सत्त्वं प्राणजातम् , न तदिस्त ॥ ४० ॥

''त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'' (ना) इत्यादिषु मोश्वसाधनतया निर्दिष्टस्त्यागः संन्यासग्रव्दार्थादनन्यः । स च कियमाणेष्वेव कर्मसु कर्तृत्वत्यागमृत्तः फलकर्मणोस्त्यागः । कर्तृत्व
त्यागश्च पम्मपुरुषे कर्तृत्वानुसंघानेनेत्युक्तम् । एतत् सर्व सत्त्वपुणवृद्धिकार्यमिति सत्त्वोपादेयताज्ञापनाय सत्त्वरज्ञस्तमसां कार्यभेदाः प्रपश्चिताः । इदानीमेवेभृतस्य मोश्वसाधनत्या कियमाणस्य कर्मणः परमपुष्ठपाराधनवेषतां तथानुष्टितस्य च कर्मणस्तरप्राप्तिरुक्षणं फलं प्रतिपादियत्तं
न्नाश्चाद्यधिकारिणां स्वमावानुविश्वसत्त्वादिगुणभेदिमिन्तं वृत्त्या सह कर्तृव्यकस्त्रस्त्रस्त्रमाह—
प्रमादयोरज्ञानानुविद्धस्यं दर्शितस् । तद्धेतुत्वं तु कथमित्यलाह तत्रश्चेति । ज्ञानसापदृत्यं हि कमादत्यन्ताज्ञाने विश्राम्यतीति भावः । निद्रायाः सुस्वहेतुत्वमायासविश्रमहेतुत्वादिभिः, विन्छेदकेषु रोषाच
छोकसिद्धस् । इन्द्रियव्यापारमान्यस्यात्यक्रसंक्षोभादिनिवृत्तिद्वाराः । अनवधानस्य तु वुद्धेरेकाम्रताक्त्रस्वस्वप्रयासिनवृत्त्वयेति । सुस्वामासप्रसङ्गेनाकालनिद्वादिकं नोपादेयमित्युक्तं भवति । सरन्ति च, "यामद्वयं
शयानम्तु त्रश्चम्याय कर्वते" (द. रस्) इत्यादि । आहुत्रायुर्वदिद्यः, "अकालेडितिमक्षक्षाः न च
निद्धा निपंविता । सुस्वायुषी पराकुर्यात् काल्ररालिरिवापरा"(....) इति । गुणकृतविभागपकरणतात्पर्यमन्त्रसुवस्वसन्त्वप्रयोजनेनोपसंहरति अत इति ॥ ३९ ॥

प्रश्निक्ष शिक्षान्य । अन्तरमान्य प्राप्त विद्योग्य प्राप्त विद्योग्य । प्राप्त विवतदेशकालकल्मोगैरुकाववैस्सीवेरि क्षेत्रेन । सुणलयप्रकरणं विगम्यते न तद्स्तीति क्षोकेन । सुणलयप्रकरणं तु नालोगसंहतम् , अनन्तरमि (स्त्रमावप्रमविग्रीणः) इत्युक्तः । दिवि देवेष्विति सत्त्वोत्तरदेशाधिकारिणासुग्वलणम् । तत्तुल्यतया पृथिन्यामित्यलापि मनुष्यादिष्विति राजसतामसाधिकारिविवक्षास्त्रयापनम् । "हिर्ण्यगर्मो भगवान् " (वि. ६. ७. ५६) "आत्रक्षसम्वर्यन्ताः" (वि. ध. १०४. २२) इत्यावनुसरोण बहुवचनाभिन्नेतमाह त्रक्षादिष्विति । सुणप्रकरणात् सत्त्वश्वत्यस्य सुण-विश्वति । सन्वर्याद्यस्य स्वराप्त्रस्य स्वरापत्रस्य स्वराप्ति स्वराप्त्रस्य स्वराप्ति स्वराप्ति स्वराप्ति स्वराप्त्रस्य स्वराप्ति स्वरप्ति स्वराप्ति स्वरप्ति स्वर

एवं सर्वेषां संसारिणां गुणलयवश्यत्वमुक्तम् अथ न्त्रानुग्रन्थस्यभेष्टविकारिकाः विकासिकाः वर्षाधिकारं शास्त्रेविकासिकां वर्षाधिकारं शास्त्रेविकासिकां कर्मादीनि विविच्यन्ते । तस्य परमशस्त्रतेन संगत्यर्थमध्यायारम्भशकान्तं प्रदर्शयित त्यागेने त्यादिना । संन्यासग्रन्दार्थादनन्य इति । श्रुताविष हि, 'त्यागेनैके' (ना) 'संन्यासग्रन्दार्थादनन्य इति । श्रुताविष हि, 'त्यागेनैके' (ना) 'संन्यासग्रन्दार्थादनन्य हिते । विविधत्यागयुक्तस्येत्यर्थः। वृत्त्या सहैति ।

्रवाक्षणक्षत्रियविशां रहिराणां च परंतय । कर्माणि प्रविभक्ताति स्वभावप्रभवेर्गुणेः ॥ ५१ व्राक्षणक्षत्रियविशां स्वकीयो भावः समावः व्राक्षणादिजन्महेतुभृतं प्राचीनकमेत्सर्थः ; तत्प्रभवाः सन्वादयो गुणाः । ब्राह्मणस्य स्वभावप्रभवो ग्जस्तमोभिमवेनोद्भृतः सन्वगुणः; स्वित्रयस्य स्वभावप्रभवः तमस्तन्वाभिमवेनोद्भृतो रज्ञोगुणः ; वैदयस्य स्वभावप्रभवः सन्वर्वोभिभवेनात्पुद्धिकः स्वभावप्रभवस्तु ग्जस्तन्वाभिभवेनात्पुद्धिकः स्वभोगुणः । एभिः स्वभावप्रभवेर्गुणेः सह प्रविभक्तानि कर्माणि श्रास्तेः प्रतिपादितानि । ब्राक्षणाद्य एवंगुणकाः, तेषां चैतानि कर्माण, वृत्तपश्चेता इति हि विभज्य प्रतिपादयन्ति शास्ताणा।

ेशमो दमस्तपदशौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्राक्षं कर्म स्वभावजम् ॥ ४२ व्याः वाह्येन्द्रियानियमनम् ; दमः अन्तःकरणानियमनम् ; तपः मोगनियमनम्

कृषिगोरक्ष्यादीनि है वश्यमाणानि जीविकाविशेषा इति भावः । अत्र व्राक्षणक्षित्यविद्यामिति समासो द्विज्ञत्वे सित वेदाधिकारात् । प्राचीनकर्मानुरूपं सत्त्वादिगुणवृद्धिः प्राग्व प्रषिता । अतः तद्धेतुकं कर्मात्व तत्त्वदुण्णपञ्चरपुरुषासाधारणधर्मतया स्वभाव इति दर्शितम् । एतेन, "कर्मवश्या गुणा होते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते" (वि. २. १३. ७०) इति वचनादौपाधिकानां गुणानां चात्र स्वाभाविकतो कृत्ययुः किश्वक्षाऽपि निरस्ता । गुणिवभागप्रकारो व्राक्षपुराणादिषु प्रपश्चितः। तस्यायं संक्षेपः, "तमश्चर्द्धे रजः क्षेत्रे व्याक्षणे सत्त्वयुत्तमम् " (भा. आश्च. ३९. ११) इति । अस्यार्थं वदन् प्रकृतं विवृणोति राजसमोभिभवेनोद्भृतः सत्त्वगुण इति । उत्तमशब्दस्य, रजः क्षेत्रे इत्यादिव्वय्यन्वयमाह श्वत्वियस्ये त्यादिन । अस्पोद्धिक इति श्रुद्धात् व्यवच्छेदाय । अतीन्द्रियाणां गुणानामपि शास्त्राधीनिवभागत्वात् कर्मश्रविभागे गुणानां कर्तृत्वाद्यसंभवाच गुणैरसहेत्युक्तमः । गुणापेक्षया शास्त्रेण विभक्तत्त्वा गुणम्वसक्तिविनारा श्वत्विमित्वाची उचित इति भावः । कैर्विभक्तानीति शक्कायां श्वास्त्रेरिति शेषपूर्णम् । स्वस्वविभागस्य शास्त्राधीनत्वाभावादसंकिणिवोधनं विवक्षितिस्याह प्रतिपादितानीति । विभव्य प्रतिपादनं विवृणोति व्राक्षणाद्यः इति । कर्मश्चव्य एव सामान्यतो वृतिमपि संगृह्वाति ; तादश्विद्वा तदा क्षेत्र इत्यभिग्रायेणाह वृत्तपर्यतेति । जीवनोपाया इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

'शमो <sup>2</sup>दमः' इत्यादौ पूर्वे व्याख्यातानामपि गुणानां पुनवर्याख्यानं <sup>3</sup>वर्णानुबन्धेन विधाने अवान्तरविदोषराक्कापाकरणार्थम् , **बाधं कर्मे**त्युक्तकर्मत्वसिद्धये नियमनादिख्येण पुरुषव्यापारसाध्यत्व

तनु कर्तव्यं कॅमैवालोक्तम् ; न तु ब्राह्मणः प्रतिप्रहादिन। द्रव्यमजेयेदित्यादिविहिता वृत्तिरित्यताह । रुष्यादेः कर्तव्यक्रमत्वेऽपि वृत्तित्वमप्यक्ति । तन प्रवात्रान्यतमप्रहणम् ।

<sup>2</sup> शामद्रमशब्दयोरेकार्थत्वमिवशेषात्, 'अदान्तगोभिः', 'शमान्विताय' इत्यादिप्रयोगाश्च सिद्धम् । अपौनस्कचार्यार्थमेदाश्ययणम् । तत्नासति वाधे वाह्यन्द्रियनियमनं प्रथमशब्दार्थः । षोडशे तु पूर्वापरस्तदर्भानुसारादन्ययेति । 3 वर्णेति । शामदमादेः सर्ववर्णसाधारण्यात् अत्न ब्राह्मणमात्ने पतदुक्त्या पतदर्थोऽन्य इति अर्थविशेषशंकापरिहाराय पुनर्व्यासम् ।

शास्त्रसिद्धः कायक्वेशः ; शौवं शास्त्रीयकर्मयोग्यतः ; क्षान्तिः परैः पीडचवानस्थाप्यिविक्ठत-चित्तता ; आर्जवं परेषु मनोनुरूपं वाद्यचेष्टाप्रकाशनम् ; ज्ञानं परावरतत्त्वयाथात्म्यज्ञानम् ; विज्ञानं परतत्त्वयाथात्म्यज्ञानम् ; विज्ञानं परतत्त्वयायात्म्यज्ञानम् ; विज्ञानं परतत्त्वयायात्म्यज्ञानम् ; विज्ञानं परतत्त्वयायात्म्यज्ञानम् ; व्यात्तिव्यः परव्रव्याः । प्रकान् पुरुषोत्तमो वासुदैवः परव्रव्याव्यामिष्टेयो निरस्तनित्विकदोषगन्यः स्वाभाविकानविध्वातिशयज्ञानशक्त्याद्यसङ्ख्येयक्त्याणगुणगणो नित्विकदेवदोन्ववेद्यः ; स एव नित्विकज्ञगदेककारणं नित्विकज्ञगद्याधारभृतः ; नित्विकस्य स एव प्रवर्तयता ; तदाराधनभृतं च वैदिकं क्रःस्रं कर्मः तैरते राराधितो धर्मार्थकाममोक्षास्यं फलं प्रयच्छतीत्वस्यार्थस्य सत्त्यतानिश्रय आस्तिक्यम् ; 'वेदैश्र सर्वैग्हमेव वेद्यः' (१५, १५), 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तसर्वे प्रवर्तते' (१०, ८), 'मिय सर्वभिदं प्रोतम् (७, ७), 'भोक्तारं यज्ञतपर्माः...ज्ञात्वा मां शान्तिस्वस्टछति' (५, २९), 'मतः परतः नान्यत् कि ज्ञदस्ति धनज्ञय' (७, ७), 'यतः प्रवृत्तिभृतानां येन सर्वभिदं ततम् । स्वर्क्षणा तमस्यव्यं सिद्धं विन्दति मानवः ॥' (१८, ४६), 'यो मामजमनादिं च वेत्ति कोकमहेश्वरम्' (१०, ३) इति ह्याच्यते । तदेतत् वाक्षणस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४२ ॥

ज्ञापनार्थं च । अतरशौचादाविप तदापादनं <sup>2</sup>माझम् । अस्ति मितरस्येत्यास्तिकः ; तद्वाव आस्तिवयम् । तच्चापामाणिकेषु भवत् दोषाय । प्रत्यक्षादिसिद्धं तु नासावित्रयः। शास्त्रीयेप्विप काचित्कसंशयादौ कुदृष्टिस्वप्रसङ्गः। अतो वैदिक[ार्थ] स कुरस्त्रस्येत्युक्तम् । सह्पठितविज्ञानादेर्भेदज्ञापनाय सत्यतानिश्चयत्य प्रश्नुष्टर्वोक्तिः। तत् विष्टृणोति केनापीति । वैदिकस्य कुरस्त्रस्येत्युक्तं कुदृष्ट्याचानिमत्वैदिकार्थसंप्रहृत्युदाः साय प्राधान्येन संकरूटय व्यनक्ति भगवादिनत्यादिना । अत्र विशेषणानां प्रागेव व्याख्यातस्वादिह ....[न तत्र व्यापियते(?)....] । सर्ववेदसारतयोद्भुतस्यार्थस्य तदुपबृह्णेऽस्मित्व्छास्त्रे तथारवेनैव प्रस्पष्टतामाह् वेदैश्चिति । निस्तिस्वदेदवेदान्तवेद्य इत्युक्तार्थक्रमानुसारेण विप्रकीर्णवावयोद्धारक्षमः । स्क्रोकार्थं निगमयित तदेतिदिति । ब्रह्मणः श्रीकार्यम् ब्रह्मस्वाद्योऽत्र ब्राह्मणक्ष्येति ।।ऽत्या

<sup>।</sup> प्रकृष्ट इत्यस्यार्थमाह केनापीति ।

<sup>2</sup> तदापादनमिति । शौचक्षान्तिज्ञानादिशब्दा अपि तत्तन्मुख्यार्थानुकूळव्यापारपरा इति भावः।

<sup>3</sup> ब्रह्मणः कर्मेति । ब्रह्मण इदं ब्राह्मम् । तस्य कर्मस्वं कर्मपदस्यादेव उभ्यते । यद्वा कर्मपदं कर्मण्युत्पत्तितात्पर्यप्राहकम् । रामाद्यः ब्राह्मणस्मावजाः । ब्राह्मणस्वात्तप्रयोजकाति पूर्वक्रम्मणि स्मावराव्यव।च्याति रामादिकर्मजननस्वरूपयोग्याति भवन्ति । कार्यकारणभावोऽयं शास्त्र-सिद्धः । तत्र तत्र तथा फलोपधानामावः सहकारिवैकत्यप्रयुक्तः । ब्राह्मण्यस्योद्धिकस्वस्वरूपत्यात् तद्धतोः पूर्वकर्मणः शमादिखरूपयोग्यताऽस्तिः शमादिखरूपयोणकार्यत्वात् , तस्य च सत्त्र्याधीनन्वात् । मानसमिष सत्त्र्यमस्य शारीरसत्त्वस्य मुख्यं सहकारि । तद्दभावे तु शमादेखिदिति । प्वं क्षातं कर्म समावजमित्यादावि गुणतारतस्यात्मकतत्त्त्रद्वर्णयोगकस्य पूर्वकर्मणः शौर्यादित्तत्व्यापारजननस्वरूपयोग्यताऽस्तित्योवदेव विवक्षितम् । फलनिष्पत्तिः सामप्रयायत्ता। तत्नापि शब्दानां तत्त्वद्वर्थहेतुव्यापारपर्यन्तार्थकत्वं भाव्यम् ।

शौर्यं तेजो धृतिदक्षियं युद्धे चाल्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षातं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ शौर्यं युद्धे निर्भयप्रवेशसामध्येम्, तेजः परैरनिममवनीयता, धृिः आरब्धे कर्मणि विद्नोपनिवातेऽवि तत्समापनसामध्येम्, दाक्ष्यं सर्विक्रयानिर्धृतिसामध्येम्, युद्धे चात्यपलायनम् युद्धे चात्ममरणनिश्चयेऽप्यनिवर्तनम् ; दानं आत्मीयस्य धनस्य परस्तत्वापादनपर्यन्तस्त्यागः ईश्वरभावः स्वय्यतिरिक्तमकळजननियमनसामध्येम्; एतत् श्वत्रियस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४२

कृषिगो(गौ)रक्ष्यवाणिज्यं वैक्यं कर्म खभावजम्।

कृषिः सस्योत्पादनं कर्षणम् । गोरक्ष्यम् पञ्चपालनमित्यर्थः। वाणिज्यम् धनसञ्चयहेतुभृतं ऋयविक्रयात्मकं कर्म । एतत् वैक्यस्य स्वमावजं कर्म ॥

परिचर्यात्मकं कर्म शुद्धस्थापि स्वभावजम्॥

કક

पूर्ववर्णत्रयपरिचर्यारूपं शहस्य स्वभावजं कर्म । तदेतत् चतुर्णां वर्णानां वृत्तिमिस्सह कर्तव्यानां शास्त्रविहितानां यञ्जादिकर्मणां प्रदर्शनार्थमुक्तम् । यञ्जादयो हि लयाणां वर्णानां

"शूरं भीरं कवि जडम्" (भा मो. १७४. ३२) इति शीरुपतियोगिनि शूरशब्द इत्यमि-प्रायेणाह निर्भयप्रवेशसामध्यमिति । मानसशारीरसंवकनिमदम् । प्रविष्टस्य परेः परिभवे प्रवेशोऽपि दोषस्यात् ; अतस्तत्परिहाराय तेज इहोक्तमित्याह परेरनिममवनीयतेति । दाध्यात् धृनेविंशेषो विन्नोपनिपातेऽपीति दर्शितः । पष्ट्रिसामध्योत् प्रष्टुणापरित्यागो द्याय एव । युद्धे चापीत्यत्र अपिशब्द-द्योतितं तीत्रं फळायननिमित्तमाह आत्ममरणनिश्चयेऽपीति । अतस्वरमावशब्देन दुष्टनिमह-शिष्टानुमह-शक्तिविंवक्षितेत्यभिमायेणाह स्वच्यतिरिक्तित । सक्छजनेति स्वाराष्ट्राधविन्छन्नविषयम् ॥ ४३ ॥

रुढि <sup>1</sup>ब्युत्पति चानुस्त्य फळतः खरूपतश्च कृषि दश्यिति सस्योत्पाद् न कर्षणमिति । एवं काणिज्यव्यास्थानेऽपि श्राह्मम् । गौः रक्ष्या यस्न, तत् कर्म गोरक्ष्यमित्यभिश्ययेणाह पशुपास्त्रमिति । रक्ष्यमिति भावार्थं वा ; रक्षणमित्यर्थः । <sup>श</sup>गौरक्ष्यमिति वा पाठः । गां रक्ष गीत गोरक्षः ; नस्य कर्म गौरक्षं पशुपास्त्रमम् । विणजः कर्म वाणिज्यमितिवत् । एवं विशः कर्म वैष्यम् ; "गुणवचन- ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (अष्टा. ५.१.१२४) इति प्यवृत्ययः ॥ ४४ ॥

शास्त्रान्तरानुसारेण परिचर्यायाः प्रकृतित्रवानुबन्धित्वमाह पूर्वत्रणेत्रयेति । ननु षट्कर्मा ब्राह्मणः । तिकर्माणौ क्षत्रियन्दे । शुद्धस्यापि, "भायरितिः शुचिर्धत्यमती श्राद्धक्रियारतः । नमस्कारेण मन्त्रेण पश्चयज्ञाच हापयेत् ॥" (याज्ञ. १. ५. १२१) इत्यादयो धर्मा विधीयन्ते ; तत् कथिमह तत्कर्मणामियनानिर्देश इत्यत्नाह तदेनदिति । अदर्शनीयान् उदाहरति यञ्चादयो हीति । अदर्शनीयान्

क्षणं भावार्थकः किन्प्रत्यय इति न्युत्पत्तिरुभ्योऽर्थः । सस्योत्पादकत्वं ऋढिसिद्धम् ।

<sup>2</sup> रक्ष्यपदस्य विशेषणवाचिनः उत्तरत्वे भावार्थकत्वे च क्रेशात् शांकरपाठमेशस्य तदुक्तमर्थमेवाऽऽह गौरक्ष्यमिति।

साधारणाः । अमादपोऽपि त्रयाणां वर्णानां प्रमुक्षूणां साधारणाः । त्राक्षणस्य तु सत्त्वोद्रेकस्य स्वाभाविकत्वेन शमदमादयः सुखोषादाना इति कृत्वा तस्य शमादयः समावजं कर्मे त्युक्तम् । श्रृ त्रयवैश्ययोम्तु स्वतो रजस्तामःप्रधानत्वेन शमदमादयो दुःस्वोपादाना इति कृत्वा न तत्त्कर्मेन्युक्तम् । त्राक्षणस्य वृत्तिपाजनाध्यापनप्रतिग्रहाः श्रृ त्रयस्य जनपदपि पालनम् : वैश्यस्य जनपदपि पालनम् : वैश्यस्य जनपदपि पालनम् : वैश्यस्य जनपदपि पालनम् : वैश्यस्य च कृष्यादयो यथोक्ताः ; श्रृ त्रस्य तु कर्तव्यं यृत्तिश्र पृद्वेवणित्रयपरिचर्येव ॥ हेत्वन्तरमाह श्रामादयोऽपीति । शमादीनां मोक्षार्थिवर्णत्रयसाग्रण्येन कथं बाह्यणस्य व तत्रक्तित्रसाह न्नाह्मणस्य तिति । स्वभावप्रभवेति पृवोक्तानुविधानात् सहज्ञविविवश्रयाश्रव स्वभावज्ञव्य हत्यमिप्रयोगाह सत्त्वोद्रेकस्य स्वामाविकत्वेन श्रमदमादयस्सुखोपादाना इति । वर्णान्तरगुणसंभवे विविद्य स्वामाविकत्वेन श्रमदमादयस्सुखोपादाना इति । वर्णान्तरगुणसंभवे व्यक्तित्व स्वत्रयवैश्वयोदिति । न तत्कर्मेत्युक्तमिति । तत्कर्मेति नोक्तमत्यन्यः । उक्तानां वृतीनां प्रदर्शनाश्रस्वाय चतुर्णां वृत्त्यं विविद्य विविन्ति न्नाह्मणस्य वृत्तिरसादिन । शृहपर्मा वृत्तिश्च याज्ञवक्त्येन सर्वते, "शृहस्य व्रिजश्चश्चा तया जीवन् विष्या मवेत् । शिल्पेवी विविधिवीवीव् द्विजातिहितमाचरन्" (१. ५. १२०) इति ; मनुत्तत्र विशेषमाह, "विश्वसेवैव शृहत्वणीत्रयपरिचर्येवित । कितिसेवैत' (१०.१२३) इति ; तिददमिभिष्रत्याह शृहस्य तु कर्तव्यं वृत्तिश्च पृवैवर्णत्रयपरिचर्येवित ।

निवदमशुक्तमः ; भार्यार्तिरित्यादेरुक्तस्वातः ; "मां हि पार्थ व्यपान्नित्यः" इत्यारभ्य , "श्चियो वैश्यान्त्रथा शृद्धास्तेऽपि यान्ति परां गतिन्" (९. ३२) इति च स्वयमेवाहः ; "वसन्ते दीक्षयेद्विप्रम्" इत्यारभ्य "हेमन्ते शृद्धमेव च । श्चियं च वर्षाकाले तु पश्चरात्रविधानतः" इति भगवरसमाराधनार्थं दीक्षा च विहिता । तथा, "ब्राझणैः क्षत्तिर्थेवैश्येश्युह्मैश्च कृतलक्षणैः । अर्चनीयश्च सेव्यश्च नित्यशुक्तिस्त्व-कर्मेष्ठ । सास्त्वतं विधिमास्त्राय गीतस्तकर्षणेन यः" (मा. भी. ६६. ३९) इति दीक्षितराद्भारेय-वद्भनादिकं स्पष्टमुक्तम् । तथा युग्धमीन् प्रक्रम्योच्यते, "कृतं नाम युगं पूर्वे यत्र धर्मः सनातनः । कृतमेव न(च) कर्तव्यं यस्तिन् काले नरोत्तम । ब्राझणाः क्षतिया वैश्याश्स्यद्वाश्च कृतलक्षणाः । कृते युगे समभवन् स्वर्भनिरतास्तदा । एक्वेदसमायुक्ता एकम(व)न्तविधिक्रयाः । प्रथममान् स्त्वेकवेदा(द्या) धर्ममेकमनुत्रताः । चातुराश्चरयुक्तेन कर्मणा काल्योगिना । अकामफलसंथोगात् प्राप्नुवन्ति परां गतिन्" (वि. ध. १०८. १९) इति ।

श्रीसारवते (२-७, ८,९,१०,११) च, "अष्टाङ्गयोगयुक्तानां हृद्यागनिरतात्मनाम् । योगि-नामधिकारः स्वादेकस्मिन् हृद्ययेशये । व्यामिश्रयागसुक्तानां विप्राणां वेदवादिनाम् । समन्ते तु चतु-र्थृहे क्षिकारो न चान्यथा । त्रयाणां क्षत्रियादीनां प्रपन्नानां च तत्त्वतः । अमन्त्रमधिकारस्तु चतु-

<sup>1</sup> शुद्धस्यापीत्यत्र अपि: नुद्दाब्दार्थे इति भावः। यद्वा नुदाब्दः खयं प्रयुक्तः; अपिदाब्दः, पूर्वे 'द्युद्धाणाञ्च परन्तप' इत्यत्न चकारश्च अनुल्लोमप्रतिलोमसर्वजातिस्मदार्थः। तत्तज्ञातीयानामपि प्रतिनियतकमीनिदैशस्य धर्मदास्त्रि प्रसिद्धत्वात्। तथा च तत्तत्कमौपियिकं गुणतारतम्यं तेषु पूर्वकमीयत्तमित्युक्तं भवति।

व्यूहिकियाकमे । सिकिये मन्त्रचके तु वैभवीये विवे(को)िकिनाम् । ममतासंनिरसानां स्वकर्मनिरतासमनाम् । कर्मवाब्यानसैः सम्यग्भक्तानां परमेश्वरे । चतुर्णानिश्वकारो वै द्वेते (शासे) दीक्षाक्रमे सित ॥" (२. ७-११) इत्यधिकारिविशेषनियमः इतः । सप्तमे च व्रतिविधानपरिच्छेदे, "दाने(ना)चैने तु श्रूद्धाणां व्रतकर्मणि सर्वदा । असिद्धानं तु विहितं सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छया ॥ स्वकर्मणा यथोरकर्ष- मभ्येति च (न) तथाऽचैनात् । तसात् स्वेनाधिकारेण कुर्यादाराधनं सदा ॥ धर्वताधिकृतो विशे वाह्य- देवादिपूजने । यथा तथा न क्षत्राधास्तसाच्छाक्षोक्त(कार्य)माचरेत् ॥ नयेवक्ताशनैर्भक्त्या दिनान्येतानि मौद्गछ । व्रताद्यन्ते तु विहितं परिपीडं हि तस्य वा ॥" (५३-५६) इति व्रतविशेषक्रमो दर्शितः । मौद्गछेति भगवच्छाक्षे शृद्धनाम । परिपीड ह्यपवासः । तथा मन्त्रेषु चैवं नियमोऽन्यत् कृतः, "वौष्ट् खाहावष्ट्कारनिष्ठानां तु प्रतिक्रिया । नमस्कारेण विहिता" इति ।

तथा नारदीये श्रीमदृष्टाक्षरकरमे, "न खरः प्रणबोऽङ्गानि नाप्यन्यविधयस्तथा । झीणां तु शृह्वजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिप्यते ॥'' (१. १०२) इति । एवमेकादशीव्रतादयोऽपि सर्वसाधारणाः पुराणादिषु पठ्यन्ते । तथा अन्येऽपि वर्ष्यावर्ष्यनियमाः कतिकति धर्मत्रास्चादिषु कथ्यन्ते । यथा, "कपिळाक्षीरपानेन वाक्षणीगमनेन च । सुद्दे वेदाश्वरेणेच निष्कृतिर्ने विधीयते ॥'' (छ पा. १. ७४), "ह्त्कण्ठतालुगामिस्तु यथासंस्थं द्विजातयः। ग्रुभ्येरन् स्त्री च शृद्धः सक्कत्रपृष्टामिरन्ततः" (याज्ञ.आ.२१), "तेषां स एवाऽऽज्यमनकरुषः। अधिकमहरहः केश्वरम् श्रुलोमनस्ववापनम्" (आप.२.१.३ ५,६) इत्यादि।

तसात्, "जपत्तवस्तीर्थयाता प्रवच्या मन्त्रसाधनम् । देवताराधनं चैव स्तीराद्वपतनानि षट् ॥" (अति. १३३) इत्यादिकं विहितन्यतिरिक्त-वर्णत्रयग्रुश्रूषाविरुद्धविषयमिति योज्यम् । अपि च, "न राद्वा भगवद्धका विभा भागवताः स्मृताः" (विह. २४ १०) इत्यादिवचनात् , जयास्यसंहितादिषु भागवतानां चतुर्णां समत्ववचनाच भगवत्परिचर्याच्यात् वर्णत्रयपरिचर्यानिवृत्तिरिष संभवेत् । अतः कयं राद्वस्य तु कर्तव्यं वृत्तिश्च पूर्ववर्णत्रयपरिचर्यानेति भाषितम् ?—

अल ब्र्मः — यद्यपि विहितःयतिरिक्तविषयाः सर्वनिषेधाः ; विशिष्टसंस्कारगुणविशेषादिमतां च राद्राणामपि धर्मविशेषा विहिताः, तथाऽपि ते सर्वे वर्णलयपरिचर्यास्त्यप्रधानधर्माविरोधेन तिलयुक्तैः राद्रदेः तत्परिचर्याभावनयेवानुष्ठेयाः । अत एव ब्रालोच्यते परिचर्यारमकं कर्मेति । अन्यथा परिचर्यत्येव वक्तव्यम् । न च निष्पयोजनाधिकप्रहण युक्तम् । आमनित च रहस्याम्नायविदः, "ज्ञानज्ञापन् संपेषणकर्मा ब्राह्मणः, ज्ञानपरिलाणकर्मा क्षलियः, ज्ञानवीजवर्धनकर्मा वैश्यः, ज्ञानपर्युत्थानकर्मा राद्रः । कृतयुगस्यान्ते लेतायुगस्यादौ ब्राह्मणक्षलियवैश्यश्रद्धा भिद्यन्ते । तेषा भिन्नानां दृष्टः न तथा भवित, श्रिष्या रसना न तथा भवित ; पुष्पफलमोषधिवनस्पतयो न तथा द्यते ; ता दृष्टा ब्राह्मणक्षलिय-

<sup>1 &#</sup>x27;एवं तदीया विप्राश्च क्षत्रिया वैक्यजातयः । मीइल्याचास्तयाऽन्ये च न तश्चिद्वविवर्जिताः' (पारमेश्वरे प्रतिष्ठाच्याये १५-९६१) इति सश्चरित्ररक्षोवाहृतं वचनमिष्ठानुसन्धेयम् ।

<sup>2</sup> अपराधपरिहारसारासादिन्यामत पाठमेदो द्रश्यते।

<sup>1</sup>स्वेस्वे कर्मण्यभिरतस्संसिद्धिं छभते नरः । स्वकर्मनिरतस्सिद्धं यथा विन्दति तच्छुणु ॥४५॥ स्वेस्वे यथोदिते कर्मण्यभिरतो नरः संसिद्धं परमपदप्राप्ति छभते । स्वकर्मीनरतो यथा

वैश्यश्रद्धाणामसूया पादुर्वमूव ; शुद्धः प्रथमजातिः, न वः पर्युत्थास्यामीति, वैश्यो द्वितीयजातिः न वो बीजानि वर्धविष्यामीति, क्षतियस्त्रतीयजातिः, न वः परित्रास्य इति ; तान् ब्राह्मण इत्याह, आस्थिता युयम् : न वो वक्ष्यामीति । अत्र पर्यत्थानं-परिचर्या । एवं "शुद्रस्तावुः" (वि. ६. २. ६) इत्यादिशकरणान्तराणि च दृष्टव्यानि । एतेन, ''न शूद्रा भगवद्भक्ता'' (बिह. २४. १०) इत्यादि-स्ततिवाययेन वर्णत्रयपरिचर्यादिनिवृत्तिप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः, भगवदेकान्तराद्रस्थैव पर्युत्थानविधेः । भगवद्भक्तिस्तुतिपरत्वादेव हि, "सर्ववर्णेषु ते शूदा ये द्यमक्ता जनार्दने" इति व्यतिरेकनिन्दा । किं तर्धेत स्तुतिनिन्दालम्बनम् ? आन्तरः सत्त्वादिगुणोन्मेषः : यदपेक्षया बाह्मणादेरेव ब्राह्मण्यादिकं श्रत्यादिषु कीर्त्यते, ''अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः'' (वृ. ५. ५. १) इति ।, ''विष्णुं कान्तं वासुदेवं विजानन् विषो विषत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी" (भा. आनु. १६ २), "चण्डारुपपि वृत्तस्थं त देवा बाह्मणं विदः " इत्यादि । यत शरीरसत्त्वादिगुणतारतम्यनिवन्धनं जातिरूपं ब्राह्मण्यादिकम् , तस्यान्तरसत्त्वो नमेषादावप्यनुवृत्तेराशरीरपातं जातिनियमः स्थित एव । तदनुवन्धिनश्च धर्मास्तत एवा-वतिष्ठाते । अत एव हि विदित्त<sup>2</sup>त्रक्षविद्योऽपि विद्रः स्वस्य तद्वचनेऽनधिकारमाह, "शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वकुमुरसहे'' (भा. उ. ४१. ५) इति । शमादिगुणपौष्करुययोगिनि तु शुद्रादौ, स्त्रीधर्मिण्यां<sup>3</sup> जनन्यामिवावज्ञानादिनिवृतिमात्नविशेषापेक्षया जातिसामान्यत्रीक्षणपतिषेष इति । यथा स्मरन्ति. "एतैः समेतदराद्वोऽपि वार्धके मानमहीत'' (याज आ ११५) इति । अत एव, "मक्तिरष्टविधा द्वेषा यसिन् म्लेच्छेऽपि वर्तते । तसे देयं ततो माह्यं स च पूच्यो यथा बहम्' ॥ (गा. पू. २१९. ८) इत्यादिकमनुषष्ठवपर्यन्ततय।ऽपि निर्च्युद्धम् । साम्योक्तिरपि सर्वोत्कर्षफलादिसाम्यविषया ; अपशूद्रनयाद्य-विरोधश्च । उक्तं <sup>4</sup>चाचार्यः, भागवतत्वेन शूद्रस्योत्कर्षे ब्राह्मणस्यापि तेनैवोत्कर्षे इति पुनर्वेषम्यम्' इति सर्वे समञ्जसम् । अतः सुष्ट्रक्तं शृद्धस्य वृत्तिकर्तन्ययो रैवयमिति ॥ ४४ ॥

वर्णधर्मविभागो मोक्षज्ञास्त्रे किमर्थ इत्यलाह स्वेस्वे कर्मणीति । संसिद्धिशब्दस्याल परमपद-प्राप्तिविषयत्वं प्रकरणात् सिद्धम् । "शाश्वतं पदमब्ययम्" (५६) इति हि बक्ष्यति । यद्वा सिद्धिशब्दः 'नैण्कर्म्यसिद्धिम्' इति बक्ष्यमाणविषयः । तत्पर्यवसानज्ञापनायात् परमप्राप्यप्रहणम् । ननु स्वकर्म-

<sup>1</sup> ब्राह्मणक्षत्रियविद्यामित्याद्यारम्मो यदर्थः, तदाह स्त्रेस्त्रे इति । 'सर्वेकमेफलत्यागम्', 'पतान्यपि तु कर्माणि' इति सारिवकत्यागपूर्वकसर्वानुष्ठानसंगत्या विद्यादिना राजस्याद्यनुष्ठानमिति क्रियेतेति वर्णाश्रमधर्मेनियमभंगो न कार्य इति पतावता ज्ञापितमिति भावः । तत्र फलान्तरार्थिभिरीश्वरदेवताद्यक्षानेनानुष्ठितमि यथा फलति न तथा, किं तु मुमुश्चणा ईश्वराराधनत्याऽनुष्ठान एव फलमित्याह स्क्कमेत्यादिना ।

व्रह्मविद्यापदं विद्यासाधकमन्त्रादिशब्दपरम् ।
 स्तीधर्मणी-रज्ञखळा ।

<sup>4</sup> अत्र आचार्यशब्देन वादिहंसाम्बुवाहा विवक्षिता इति प्रभावव्यवस्थाधिकारतो ज्ञायते ।

सिद्धि विन्दति परमपदं प्रामोति, तथा शृषु । ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिभृतानां येन सवैमिदं ततम् । स्वक्रमेणा तमभ्यन्यं सिद्धि विन्दृति मानयः ॥ ४६ यतो भृतानामुन्यन्यादिका प्रवृतिः, येन च मर्वमिदं ततम्, स्वक्रमेणा तं मामि न्द्राद्यन्तरात्मत्याऽविस्थितमभ्यन्धं मन्त्रपादात् मन्त्राप्तिरूषां विद्धि विन्दृति मानयः । मत्त एव सर्वमुत्यद्यते, मया च सर्वमिदं ततिमिति पूर्वमेयोक्तम्, "श्रहं क्रन्स्रत्य जगतः प्रभवः प्रस्रवस्य । मत्तः प्रतरं नान्यिकंचिद्दित्त धनक्षयः । "(७. ६), "मया ततिमदं मर्वं जगद्यक्षमृर्तिना" (९. ४), "मयाऽभ्यक्षेण प्रकृतिः स्रयते सवराचःष्र्" (९. १०) "श्रहं सर्वस्य प्रभवो मत्तर्स्ववं प्रवर्तनेन" (१०. ७) इत्यादिषु ॥ ४६ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मान् स्वनुष्टितात् ।

निरतस्यापि श्द्रस्य कथं परमपदमाप्तिः ? तस्य हि मोक्षसाधनविद्यायामनधिकारः शारीरके अवश्द्रद्राधिकरणे शिक्षितः ॥ सत्यम् ; भवान्तराधिकारद्वारा परम्परया परमपदमाप्तिर्वविद्यात्त्वात्र विरोधः । विदुरादिवत् जातिस्मरेषु जन्मान्तरपारच्यपरिवद्याप्रतिसंधायिषु स्कर्मणामकरणनिमित्तपत्यवायपरिहारार्थं
साक्षात्संसिद्धियोग्यत्वं द्रष्टस्यम् । यथोक्तं भगवता श्रीनकेन, "धर्मव्याधादयोऽप्यन्ये पूर्वाभ्यासाज्जुगुप्तिते । वर्णावरत्वे संमाप्ताः संसिद्धं अमणी यथा" (वि. ध. १०२. ३०) इति । ननु परिमितकस्त्रपदानसमर्थेन्द्राद्याराधनरूपाणां तत्तद्वणाश्रमकर्मणां कथं परमपदपाप्तिहेतुत्वमित्यत्रोत्वरं स्वकर्मनिरत इति । यथेत्यत्य प्रतिनिर्द्वत्वात् तच्छन्दः प्रकारपरामर्थीत्याद्य त्राप्ति । ४५ ॥

सर्वकारणभूतः सर्वान्तयामी परमातमा सर्छज्यस्वर्गरास्त्रेन्द्रादिवाचकः शब्देरान्नायत इति तत्समाराधनत्वात् संसिद्धिसाधनत्वं वर्णाश्रमधर्माणामुपपन्नमित्युच्यते यतः प्रवृत्तिरिति क्षेत्रेन । प्रवृत्तिशब्दस्यात चेष्टामालपरवव्युदासायाह उत्पच्यादिकेति । चेतनाचेतनवाचिभृतशब्दसमन्वतः प्रवृत्तिशब्दाऽत्र विशेषकाभावात् सर्वविधव्यापारसंग्राहक इति भावः । सर्वविधकारणत्वोपयुक्त आकार उच्यते येन सर्वमिदं तत्रमिति । तत्रम् ; नियन्तृत्वेनेति हृदयम् । तमिति परोक्षतयाः निर्दिष्टः कथं मामिति व्याख्यायत इति शक्कायां यत इत्यनुवादस्य प्राप्तयर्थे पुरोवादं स्मारयति मत्त एवेति । कारणत्वसर्वीधकत्वसर्वव्यापित्वसर्वनियन्तृत्वादिषु यथासंभवं वचनानि योज्यानि ॥ ४६ ॥

एवं वर्णाश्रमधर्माणां सरूपेणापरित्याज्यस्वं परमाप्तिसाधनस्वपकारश्च दर्शितः । अर्थ तेषामेव 'दैवमेवापरे यज्ञम्' (४. २५) इत्याद्युक्तप्रधानधर्मयोगेन नियमविशेषादियोगेन च कर्मयोगान्तर्भूनानां ज्ञानयोगाधिकारिणामप्यपरित्याज्यस्वं (३. २५) प्रागुक्तं प्रत्यमिज्ञाप्यते — श्रे**यान् स्वर्धाः** इत्यादिभिः । <sup>1</sup>अत्न स्व**धर्मशन्द**ो न वर्णाश्रमनियनधर्मपरः, तथा सनि **परधर्म**शन्देन वर्णान्नरादिधर्मोन

ननु श्रेयानित्यादेः स्वरसार्थत्यागेन किमिति क्लिप्टं व्याख्यायते । स्ववर्णधर्मात्यागेन परवर्णधर्मो न प्राष्ट्य इति हि स्पष्टोऽर्थः । संदर्भानुगुणश्च । शौर्यतेजःप्रश्नृतिघोरकर्मस्यागेन स्नान्तिमुखविप्रधर्मेश्रहणस्योचितस्वद्रांकायां स्वेश्वेकर्मणीति समाधानमुक्तं प्रत्, तद्दर्धाकरण-मवेति सुवचत्वादित्यताऽऽद्ययं द्रीयति अंत्रत्यादिना ।

एवं त्यक्त क्रिवादिको सदागधनरूपः खधमः। स्वेनैवोपादातुं योग्यो धर्मः ; प्रकृति-मंस्रुष्टेन हि पुरुषेणेन्द्रियव्यापाररूपः कर्मयोगात्मको धर्मः सुकरो भवति । अतः कर्मयोगात्यः स्वधमो विगुणोर्ध्य परधर्मात्--हन्द्रियज्ञयनिषुणपुरुषधर्मात् ज्ञानयोगात् सक्लेन्द्रियनिय-मनरूपतया सममादात् कदाचित्स्वनुष्ठितात् श्रेयान् ।

## तदेवोपपादयति-

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विपम ॥

ورد

प्रकृतिसंसृष्टस्य पुरुषस्य इन्द्रियच्यापारहृपतया स्वभावत एव नियतत्वात् कर्मणः, कर्म कुर्वन् किल्विषं संगारं न प्रामोति : अप्रमादत्वात् कर्मणः । ज्ञानयोगस्य सक्लेन्द्रिय-नियमनसाध्यतया सप्रमादत्वात् तिश्वष्ठस्तु प्रमादात् किल्विषं प्रतिपद्येतापि ॥ ४७ ॥

पादानप्रसङ्गात् । न च तत् युक्तम् , तस्य निषिद्धत्वेनाधर्मतया स्वधमस्य तत्र प्रशस्यतस्वरुक्षणश्रेयस्त्व-वचनायोगात् ; न हि पापास्तुण्यं श्रेय इति कथ्येत । अत एव "वेदवाह्यधर्माद्वैदिकस्य धर्मस्य श्रेयस्त्वमु-च्यते" इत्यपि न योज्यम् । क्षत्रियस्वार्जुनस्य, "श्रेयो भोक्तुं भैक्षम्" (२. ५) इत्युक्तज्ञाह्यणधर्ममृतप्रवृष्ठ्या-प्रतिषेधोऽयमिति चेत्र ; तस्याप्तौ निषेधायोगात् ; अपाप्तौ पापत्वादेव दत्तोत्तरत्वात् । आपत्व्वनन्तरा च वृत्तिर्दुस्त्यज्ञा । अतोऽत्र स्वधर्मपरधर्मश्वव्दौ । अत्ययोत्तरम्यानन्वयपसङ्गात् । स्वश्वव्दस्य ज्ञातिविव साध्यद्वासायाह् स्वेनैवेति । स्वभावनियतं कर्मत्यानन्त्रत्वात् । स्वश्वव्दस्य ज्ञातिविव साध्यद्वासायाह् स्वेनैवेति । स्वभावनियतं कर्मत्यानन्त्रत्वमुत्तारेण कर्मविषयः स्वधर्मश्वव्दः प्रकरणात् निष्कामकर्मविषयः । तत्व स्वेनैवोपादातुं योग्य इत्युक्तं विवृणोति प्रकृतीति । विगुणशब्दस्य त्याज्यत्वशङ्कापरत्वमाह् विगुणोऽपीति । गत्यन्तराभावादमुक्ष्वकत्वत्वनानुमतोऽपीत्वर्थः । स्वश्वव्दस्य स्वृष्ठितत्वं कथं स्यादित्यवाह कदाचिदिति ।

स्वभाविनयतमित्यत्र जातिनियतत्वराङ्कान्युद्धासायाह् तदेवेति । यथा विषतरुनिग्वतिन्ति-ग्यादिजातानां जन्तूनां स्वभाविनयता आहारा इति भावः । कि त्वेषकाव्दोऽस्रानिष्टतमस्वद्योतनाय संसारशब्देन तत्फळपर्यन्ततया व्यास्त्र्यातः । ज्ञानवोगनिष्ठासंभावितनिषेद्याय वा, विशेषनिषेषः शेषा-भ्यनुज्ञापर इत्यभिषायेण वाऽऽह द्वानयोगस्येति ॥ ४७॥

<sup>1</sup> प्राग्वदिति । अवस्यश्च एतावदुषगदितकर्मयोगझानयोगपुरस्सरमेव प्रन्थोपसंहारे अल मक्तियोगो निगमनीयः। यदि एतच्छोकस्य स्वयस्वर्णधर्मपरतयाऽथैः सुववः स्यात्, तर्हि 'असक्त-बुद्धिः' (४९) इति श्लोकमारभ्य तदुषसंहार इति स्वीक्रियेत । स्वयस्वर्णधर्मविषयकत्यैव निर्वाहिऽपि त नः कापि हानिः। अर्थान्तरस्य सुवचत्वाभावात्तु अयमपि श्लोकः कर्मयोगादि-विषयक एव । अस्यैवमर्थः पूर्वमण्येवमेत्र श्लोकः चनय।ऽपि निश्चीयते । समानानुपूर्वीकवाक्ये पूर्वेक्कप्तार्थत्यागस्य।युक्तत्वादिति भावः।

अतः कर्मनिष्ठैत ज्यायसीति तृतीयाध्यायोक्तं (३.८) सारयति—
सहज कर्म कीन्त्रेय सदोपप्रित त्वजेत् । सर्वारम्मा हि दोपेण धूमेनाग्निरिवाऽऽञ्चताः॥ ४८
अतः सहज्ञत्वेन सुकरमप्रमादं च कर्म सदोधे सदुःसमि न त्यजेत् ; ज्ञानयोगयोग्योऽिष कर्मयोगमेव कुर्वीतेत्यर्थः । सर्वारम्माः,--कर्मारम्भाः झानारम्भाश्च हि दोपेण दुःस्तेन धूमेनाग्निरिवाऽऽञ्चताः । ह्यांस्तु विशेषः-कर्मयोगः सुकरोऽप्रमादश्च, झानयोगस्तद्विपरीतः इति ॥४८ असक्तजुद्धिस्मर्थेत जितात्मा विगतस्तृष्टः । नैष्कर्म्यसिद्धं परमां संन्यासेनाधिगच्छिति ॥ ४९ स्वैत फलादिषु असक्तजुद्धिः, जितात्मा--जितमनाः, परमपुरुषकतृत्वानुसंघानेनाऽऽत्म-कर्तृत्वे विगतस्पृद्दः, एवं त्यागादनन्यत्वेन निर्णीतेन संन्यासेन पुक्तः कर्म कुर्वन परमां नैक्कर्म

अर्थान्तरपरत्वशङ्काव्युदासायाऽऽदरातिशयविवक्षया, पुनरुक्तिपरिहाराय च तृतीयाध्यायोक्तं स्मारयतीत्युक्तम् । सहजत्वेन । वासनानियतत्वादित्यर्थः। ततः कथं त्याउपरवामाय इत्यताह सुकरः मिति । दोपशव्देन पापविवक्षा न युक्ताः ; विहिते तदयोगात् । तथा (तदा ?) च न त्यन्तिति न युक्तम् , पापाशस्य सर्वैः परित्याउयत्वातः ; अतः कायक्रेशादिमात्रगर्भत्वमिह सदोपत्विनिरयुच्यते, ताव-मात्रेऽप्यव्यतानां त्याउपतानुद्धिः त्यादित्यमिशायेणाह सदुःस्वमपीति । <sup>1</sup>ण्तेन कापिव्यमतान्वारोहिण सदोषमपीत्यनुवाद इति व्याख्यान्तरं निरस्तम् । सुमुक्षोः कथं शाखीये श्रेयस्वेन चोक्तं क्षुद्रक्केशासहत्वेन त्याज्यतानुद्धिः ? अतः प्रसङ्गामावात् प्रतिषेधो न युक्त इत्यताह हानयोगयोग्योऽपीति । अपिशब्दोऽन्यस्य केसुत्यज्ञापनार्थः । अक्केशोपायदर्शने त्वाधिकारमप्रतिसंधाय तत्र प्रवृत्तिः त्यादिति ततो नियम्यत इत्यर्थः । सदुःखत्वनिर्दुःखत्वव्यक्षणवैषम्यमन्यारुद्धात्मादत्वादिभिनियम उक्तः ; अथ सदुः- खत्वमपि द्वयोस्तमानमित्युच्यते सर्वोरम्मा हीत्यर्थेन । कमीरम्माः विनायमाश्चत्यनेन सर्वशब्दस्यात प्रकृतशाखीयकारस्य्येपरत्वमाह । दुःखसाम्ये सति किमन्यतर्वियमेन, कथं च [न] तत्तत्य हितिति । कमीरम्मेषु कथावन्येश्योन्तमः ; ज्ञानारम्मेषु तु अत्यासन्नत्वद्वि पितस्य स्वाधिकारस्येपरत्वमाह । दुःसमाम्ये सति किमन्यतर्वियमेन, कथं च [न] तत्तत्य हित्रत्वाह ह्यानिति । कमीरम्भेषु कथावन्येश्योनन्य ; ज्ञानारम्भेषु तु अत्यासन्नत्वद्वि पितस्य । स्वाधिकारसम्योनियमनम्ययासो दुःखात्मक इति भावः ॥ ४८ ॥

सर्वतासक्त बृद्धिः इत्युक्तेऽपि पुनः विगतस्पृद्धः इत्येतत् फलसङ्गनिष्टिक्तिक्तित्वागसहपित्तकर्तृत्व-त्यागविषयत्वौचित्यात् स्वप्नादिष्विप स्वात्मनि कर्तृत्वानुसंघानपसङ्गनिष्टिक्तिक्त्यत्यागकाष्ठाविवक्षयेत्याह आत्मकर्तृत्वे विगतस्पृद्धः इति । सन्यासेनाधिगच्छतीति न ज्ञानयोगादिषरम् ; कर्म न त्यजेदिति शक्कतानन्वयात् , अध्यायरम्भोक्तसंन्यासविषयत्वौचित्याचेत्यमिमायेणाह एवं त्यागादनन्यत्वेन निर्णीतेनेति । अत्र नैष्कमर्यसिद्धिशच्दो न मोक्षविषयः, सिद्धिं प्राप्त इत्यादिना पुनः कर्नव्यविषा-

<sup>1</sup> बाह्यस्थापारात्मकं कर्म अन्तश्चिम्ताविरोधि इति दोपवत्त्वेऽपीत्यथोंऽपि कथिञ्चद् ग्राह्यः। अग्राह्यपर्थमाह पत्तेनेति।

<sup>2</sup> ज्ञानारम्मा इति । तत्नापि कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा सारन् इत्युक्तदोपोऽर्स्ताति भावः। 3 कफोणि:-भुजहस्तर्सन्धियन्धवाद्यावयवः । तत्र निश्चितं गुडं मुखेन दृशहम् ।

सिद्धिमधिगच्छति— परमां ध्याननिष्ठां ज्ञानयोगस्थापि फलभूतामधिगच्छतीत्यर्थः । वक्ष्य माणध्यानयोगावाप्तिं सर्वेन्द्रियकमीपरितिह्वणामधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथामिति निवोध मे । समासेनैव कौन्तेय निष्टा ज्ञातस्य या परा ॥५० सिद्धिं प्राप्तः आप्रयाणादहरहरनुष्टीयमानकमयोगनिष्पाद्यश्यानसिद्धिं प्राप्तः, यथा येन प्रकारेण वर्तमानो ब्रह्म प्राप्तोति, तथा समासेन मे निवोध । तदेव ब्रह्म विशेष्यते निष्ठा ज्ञानस्य या परेति । ज्ञानस्य श्यानात्मकस्य या परा निष्ठा-परम्रप्राप्यमित्यर्थः ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो घृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
राव्यादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्धेषौ व्युद्ध्य च ॥ ५१
विविक्तसेवी ठङ्घारी यतवाकायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं धेराम्यं समुपाधितः॥ ५२
अहङ्कारं वळं दर्पं कामं कोधं परित्रहम् । विमुच्य निर्मेशदशान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३
बुद्ध्या विशुद्धया यथाविस्तात्मतत्त्वविषयया युक्तः, धृत्या आत्मानं नियम्य च विषयविद्युत्तीकरणेन योगयोग्यं मनः कृत्वा, शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा—असिद्धितान् कृत्वा,
नातः , नापि ज्ञानयोगमात्तविषयः, परमामिति विशेषणातः , नैष्कर्म्यश्चव्यानिष्ठामिति । नैष्कर्म्यस्य
सिद्धिनिति समासवशात् परमत्विद्यशेषणशक्त्या वा सिद्धं विद्योति ज्ञानयोगसापि फळभृतामिति ।
उक्तार्थपरत्वमुत्तरमन्थानुगुण्येनाह वक्ष्यमाणस्यानयोगानापिमित्यादिना । निर्गतकर्मा निष्कर्मा,
तस्य भावो नैष्कर्म्यमिति व्युत्पति व्यविक्त स्थिनिक सर्वेन्द्रियक्रमीप्रतिरूप्तिति ॥ ४९ ॥

सिद्धि प्राप्तः इत्यस्योक्तानुवादतां सप्तकारहेतुनिर्देशेनाह आप्रयाणादिति । सिद्धि प्राप्तस्य ब्रह्मभासधिभागात् तद्व्यतिरिक्तिविषयत्वज्ञापनाय ध्यानसिद्धिभित्युक्तम् । यथेत्यस्थानन्तरमन्यानुसारेण पुरुषव्यापारोपादेपप्रापकप्रकारपरतामाह येन प्रकारेण वर्तमान इति । मे निबोध । मत्तो निश्चयेना-वधारयेत्यर्थः। परमे फले खुपायो नितिष्ठति ; अतस्तदेवोपायपर्यवसानम्भितया निष्ठेत्युच्यत इत्यभिप्रायेणाह तदेव ब्रह्म विशेष्यत्य इति । ज्ञानशब्दस्यालानन्तरोच्यमानध्यानिवश्रान्तिमह ध्यानात्मकस्येति ॥५०॥

बुद्धिशन्दोऽल पस्तुतत्रव्यश्वास्त्रवाभिषेतविषयबुद्धिगोचरः, तत्याश्युद्धिश्चासमप्रविषयस्वसंशयि-पर्ययरूपदोषराहित्यमित्याह यथाबिखतात्मतत्त्वविषययेति । धृन्येति पूर्वोक्तसभकारसात्त्विकधितपरा मश्चमाह विषयविद्यस्वीकरणेनेति । अल धृत्या मनोनियमनं कर्मोक्तम् ; अपि च पूर्वमेव त्यक्तविषयस्य (त्यक्तविषयः ; तदस्यः) कोऽसौ तदानींतनस्त्याग इत्यलाह अत्राह्मिहतान् कृत्वेति । विषयसिविधिर्हि विजितेन्द्रियमपि क्षोमयेदिति मावः । रागद्वेषौ व्युदस्येति वैषयिकरागद्वेषयोर्ध्वदासस्यापि तादात्वि-

अत्र ब्रह्मदास्य खात्मपरत्वे ब्रह्मामोतीत्येतत् ब्रह्मभृयाय कृष्यतः इत्येतत्समानार्थकम्, परमात्मपरत्वे, शाश्वतं पदमव्ययमित्यत्रैतद्विवरणसमाप्तिः।

तिक्रिमित्ती च शाग्रहेथी व्युद्ध्य, विकित्तसेथी—संवैद्धार विकितिर्वितिक देशे वर्तमानः, व्यवाशी—अत्यक्षनानश्चर्द्दः, व्यवाकायमानसः—६० तािक्ष्मित्तीकृतकाय वाञ्चनीवृत्तिः, व्यवाश्ययमानसः—६० तािक्षम् वीकृतकाय विच्यानेवितः, व्यवाश्ययम् वाञ्चनेवितः, व्यव्यवितिक्तिविष्यदोपावस्क्षेन व्यवत्य विश्वयतः अहंकारम्-अतारमिन आरमाभिम्मानं, वर्व--तद्वृद्धिहेतुभृतवामनावर्तः, तिक्षिमत्तं द्वी कामं क्रोधं परिव्रहं विद्वच्य, निर्ममः सर्वेद्धनात्मीयेच्यिद्धिहेतुभृतवामनावर्तः, वान्तः-आरक्षतुभ्यत्यः, एवंभृतो व्यानयोगं कृर्वन् व्यक्षम्याय करवते—[ब्रद्धभावाय करवते ;] सर्ववस्थिति व्यवस्थितः यथावस्थितमानमानम् वित्ववस्थितः। ५१-५३।।

व्यस्तः -- आविर्भृतापांगिन्छ सङ्गानेकाका । ॐ तिकस्त गवानम् स्वष्णः, 'इतस्त्वन्यं किववयस्याय, तैराग्यं समुपाथित । एतेन विषयासिवधानम् प्रदर्शति । यहः निप्रकृषेत्वि । एतेन विषयासिवधानम् प्रदर्शति । यहः निप्रकृषेत्वि । एतेन विषयासिवधानम् प्रदर्शति । यहः निप्रकृषेत्वि । युग्यसित्ते । निर्मेद्धाय हि । भावः । विविक्तत्वं रहितत्वम् ; तत् प्रकृतिपयोगेन विशिवणि मर्थव्याति । भावः । विविक्तत्वं रहितत्वम् ; तत् प्रकृतिपयोगेन विशिवणि मर्थव्याति । भावः । विविक्तत्वं रहितत्वम् ; तत्व प्रकृति । अत्यादिक्षं सार्थवः इत्याद्धात्रकानान्य न्यानामिष्ट्रति । भवत्यादिका यनवाक्षायमानसः इत्यान्य प्रतर्कतिविद्यायाह व्यानामिष्ट्रति । श्रव्याप्तिम् स्वावन्य प्रतर्मानिष्ठिप्रवः ; वाचन् । प्रवानिक्रत्वावन्य । स्वस्ता । स्वत्याविष्ट्रति । स्वयावस्त्रविद्यायाह प्रविक्रत्याविष्टः ; वाचन् । प्रवानिक्रत्विक्षत्याह स्वान्य । स्वस्ता विश्वयाविष्ट्रति । स्वयावस्त्राप्ति विश्वयाविष्ट् । स्वस्त्रविष्ट्रति । स्वयावस्त्राप्ति विश्वयाविष्ट् स्वयावस्त्राप्ति । स्वस्त्रविष्ट् स्वयावस्त्राप्ति । स्वयावस्त्रविष्ट । स्वयावस्त्रविष्ट । अप्ति स्वयावस्त्रविष्ट । स्वयावस्त्रविष्टि । स्वयावस्त्रविष्ट । स्वयावस्त्रविष्ट । स्वयावस्त्रविष्ट विश्वव्यापारेष्टिः । अप्ति । स्वयावस्त्रविष्ट वास्यवस्त्रविष्ट । स्वयावस्त्रविष्ट । स्वयावस्ति । स्वयावस्त्रविष्ट । स्वयावस्त्रविष्ट । स्वयावस्त्रविष्ट । स्वयावस्

एवं कर्मवोगादिसाध्यपत्वयात्मानुभवस्य पर्भक्त्यधिकारापादकरवमुच्यते व्रक्षभृतः इति

1 विविक्ते—पृथम्भूते : रहिते । ८ अमाअस्य वाञ्चनोमावविषयकस्याभात्रात् न वाञ्चनसेति समास्मानकार्ययः । 3 तथा च ध्यानयोगयगे नित्यमित्यस्य अस्ते अपि योजना स्यादिति भाव्यम् ।

प्रमुतारमंखमुख्लामादिनि भावः । उक्तंपु मुर्वेषु <sup>अ</sup>ध्याववीगस्याक्तित्वमाह **एवंभूती घ्यानयोग कुवै-जिति** । ध्यानमेवाल कोमः, ध्यानेन वा योगः । अवर एको कथियरावर्धन व्याववहरसाल स्वासन

विषयतामाह सर्ववन्धेति ॥ ५१ — ५३ ॥

प्रकृति विद्धि मे पराम्' (७.५) इति हि स्वशेषतीका । प्रसन्नात्मा-क्रेशकमीदिभिरकलुपस्वरूपी मद्यतिरिक्तं न कंचन भृतिविशेषं प्रति शोचति; न किंचन काङ्क्षति; अपितु मद्यति-रिक्तेषु सर्वेषु भृतेषु अनादरणीयतायां समी निखिलं वस्तजातं तृणवन्मन्यमानी मद्रिकं लमते पराम् मिय सर्वेश्वरे निविल्जगर्द्भवस्थितिप्रलयलीले (जगद्दयविभवलयलीले) निरस्तः समस्तहेयगन्धेऽनवधिकातिश्रयासंख्येयकल्याणगुणगणैकताने लावण्यामृतसागरे श्रीमति श्लोकेन । तद्भिभायेण परशेषतैकस्वमावस्वस्याप्याविर्माव उक्तः । योगसाध्यं ब्रह्मास्य(ब्रह्मास्यजीवा ब्रह्मत्वमित्यशिष्रायेणापरिच्छित्रज्ञानाविर्भावोक्तिः । शेषत्वस्य स्वरूपानुबन्धत्वं नभवरूपः)मिह प्रागेवोक्तमित्याह इतस्त्वन्यामिति । "रागादिद्रिषते चित्ते नास्पदी मधुसूदनः" (वि. ध. ९. १०) इत्यायुक्तपरभकृत्यनहीतानिवृत्तिः प्रसन्नारमेत्युच्यत इत्याह क्केशकर्मादिभिग्कस्मपस्रस्य इति । आदिशब्देन विवाकाशयवीर्धहणम् ; तयोर्गप कालुप्यरूपरवात् ; "क्वेशकर्मविवाकाशयैः" (यो. स्. 🕴. २४) इति सन्नियोगशिष्टस्याच ।  $^{1}$ अविद्याऽस्मितादयः पश्च क्वेशाः ; कर्म पुण्यपायरूपम् ; जात्यायुर्भोगाः विपाकाः ; आशयाः संस्काराः । 'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचारयते' (६.२२) इति त्रागुक्तं **न शोचती**ति परासृष्टम् । तथा, 'यं छञ्च्वा चापरं छाभं मन्यते नाधिकं ततः' (६. २२) इत्युक्तं न काङक्षतीति सारितम् । अत्र न हृध्यतीति पाठान्तरमशसिद्धत्वादन ङ्गीकृतम् । तत्नात्मानुमवनुत्वेन बाह्यवैतृष्ण्यं तावज्ञायते ; परमात्मनस्तु प्रत्यगात्मनोऽप्यधिकपुखतया अतत्वात् तदनुवसूषा स्वायिनीत्यभिषायेण मद्मतिरिक्त[मिति ?]शब्द । शोककाङ्क्षानुदयहेतुः सम इत्युच्यत इत्यभित्रायेण अनादम्णीयतायां सम इत्युक्तम् । तुल्यानादर इत्यर्थः । परावरतत्त्व-विवेकफलम् अन्यानादरसाम्यं व्यनक्ति निखिलमिति । वस्तुजातमित्यनेन ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामेव मेर्वेपेक्षया माषसर्पपादीनामियाबान्तरोस्कर्षस्यानाद्रस्योग्यत्वं सूचितम् । तृणवदिनि । न हि रत्नपर्वत-मारुरक्षोः पठारुक्टे सङ्गः स्यादिति भावः । अत्र **म**च्छब्देन परभवस्युरपतिविदृद्धचर्थतया पूर्वेत्र, शास्त्रान्तरेषु च प्रपश्चितानामुपासनद्शायामनुसंघेयानां च आकाराणामभिषेतत्वमाह मय सर्वेश्वर इत्यादिभिः । सर्वेश्वर इति । ईशितव्यस्य बद्धस्य किं तथामुतैः ईशितव्यान्नेरैरिति भावः । निखिलः जगदुदयविभवलयलील इति । 'कारणं तु ध्येयः' (अश्वर्व, ३) इति हि श्रुतिरिति भावः । यद्वा करणकलेवरपदानादिभिमेहोपकारके चतुर्विधमृतहेतुम्ते तस्मिन् तिष्ठति सृष्टिसंहारकमेत्यैवावस्थितः कोऽन्यः समाश्रयणीय इति भावः। निरस्तपमस्तहेयगन्ध इति। न ह्यस्मिन् यथावत्प्रतीते वस्त्वन्तरेप्विवावज्ञावैमुख्यादिकारणमस्तीति भावः। अत्रवधिकेत्यादि । एकैकगुणश्रकर्षोऽपि चित्ताकर्षकः; किसुतैवं संमृत इति भावः । यद्धि परं सुरुभं च, तदेव ह्याश्रयणीयमिति सौरुभ्योपयुक्तगुणानामप्यत्न संग्रहः । लावण्यामृतमागर इति उन्छन्नियान् ो ज्यापन् । श्रीमतीति । श्रीहिं सर्वेषामा-

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेद्याः क्रेंद्र्याः । अस्मिता नाम अहंकारः ।

## पुण्डरीकनयने स्वस्वामिनि अत्यर्थित्रयानुभवरूपां परां भक्ति लभते ॥ ५४ ॥

श्रयणीया ; साऽप्येनं नित्यमाश्रितेति हृदयम् । श्रीयते श्रयते चेति श्रीशब्दो निरुक्तः । मतुप् नित्ययोगे । श्रुतिश्च, "हिश्चि ते रूक्ष्मीश्च पत्यो" (ना) इत्यादिका । सम्भेते च "नित्येवैषा 'काम्माता विष्णोदश्रीरनपायिनी" (वि १.८.१७) इति । एतेनोपास्यत्यपाप्यत्वादिकं सर्वे सप्तिकस्येति ज्ञापितम् । आमनन्ति च रहस्यास्रायपिद इममेवार्थम्, "नित्यसित्निहितशक्तिः" इति । पुण्डरीकनयन इत्यवयवसीन्दर्शोपरुक्षणम् । "तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमशिणी । तस्योदिति नाम । स एव सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः । उदिति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः, य एवं वेदः" (छा. १.६.७) इति सर्वपायिक्मोक्षव्यक्तमस्योपास्तार्थतया पुण्डरीकाक्षत्वमप्युपिद्वम् । चक्षुपा तव सीम्येन पूताऽसिष्ट (रा. आ. ७४.१३), 'यं पर्यमाष्टुस्तृदनः" (भा. मो. ३४९.७३) इत्यादिषु च तद्वीक्षणस्य पावनतमत्वमुच्यत इति भावः । भवत्युरप्रयादौ सर्विमिद्मेकतः ; स्वामित्वं चैकतः ; न चासा-वेकोनसर्वसानीत्यभिषायेणाहं स्वस्वामिनीति ॥ ५४॥

श्रियः आविभीवतिरोभावसन्त्रेऽपि केनचिद्रुपेण नित्यानपायिन्येय सेत्यर्थः । निष्ठसुत्यादिकं त नात्र प्रसक्तम् ।

<sup>2</sup> विमोक्षकामस्येति । नन्विदं छान्दोग्य (१-६) वाक्यम् उद्दीयावयवभूते प्रणवे आदित्य-मण्डलाधिकरणक-हिरणमय-पण्डरीकाक्ष-उद्यामध्यय-अध्येलोकदेवकामैदापुरुपदृष्टिविधायकम् एत-त्फलञ्च आहित्यमण्डलोध्वेचातिलोक—देवकामाचाप्तिः. तथा तबैव अध्यधिकरणक-हिरण्मय-पण्डरीकाक्षोत्रामक-अक्षिरूपस्थातार्वाचीनलोकमन्यकामेशपरुपर्दाष्ट्रियधानमप्यस्ति मनुष्यकामाचातिफळोद्देशेन । "न वा प्रकरणभेदान परोवरीयस्वादिवन" (३-३-७) इति सुत्रे श्रीभाष्येऽपि हिरणमयपुरुषदृष्टिविधिरयमिति स्पष्टम । अतो नेदं मोक्षोद्देशेन पण्डरीकाक्षोपासन-विधायकम् । एवं दृष्टिविधिवाक्यजानमध्यनिविष्टम् . "उद्ति ह वै सर्वभ्यः पाष्मभ्यां य एवं वेद्" इति वाक्यं न पृथक् फलसमर्पकम् । केवलमुद्धामकत्वप्रशंसनमातम् उच्छन्दार्थपुरस्कारेण । तत् कथमत्रैवमुच्यत इति चेतु-सत्यम्। नाव टीकायां द्रष्टिविधिपक्षविरोधि किमपि लक्ष्यते। 'उदेति ह वै' इति वाक्यस्यार्थवादत्वेऽपि अर्थवादोपात्तफलस्य मीमांसकमत इवास्मन्मने उपेक्षणाभावात् पापक्षयरूपफळस्याविरोधित्वाचोन्नामकत्वानुसन्धानांशे तत्फळस्यापि स्वयं भवतः कास्यमानत्वम-क्षतम् । उन्नामकत्वानुसंघानञ्च पुण्डरीकाक्षविपय एव कर्तन्यमिति 'उपासनार्थतया पुण्डरीकाक्षत्व-मुपदिएम् इत्येतत् संगतमेव । सर्वेषापविमोक्षोऽयं मुक्रवर्थोगासन्जानत सर्वेषापमोक्षरूपो न भवति : इष्टिरूपोपासनांदाभृतोन्नामकत्वानुसंधानसाध्यत्वादिति चेत्-मा भूत् । प्रकृतोपयुक्तो यावान् पापविमोक्षः, नावानेवास्तः किं तेनेति । नन् दृष्ट्यपानन् जापन्वे ऽत्यस्य वाक्यस्य, 'उदैति हवै' इति वाक्यस्वारस्यात् मुत्त्तयर्थमुत्रामकपुण्डरीकाक्षोपास्निविधायकत्वमपि कल्यतामिति चेत्-कामं कल्पताम , गमकं चेत प्रवलमस्ति ।

<sup>3</sup> य एवं वेदेन्युक्तवेदने पुण्डरीकाक्षविज्ञेष्यकर्त्यौचित्याय तद्दश्याः पावनत्वे संवादमिप द्रशयति चश्चपेत्यादिना । अतो भाष्ये पावनत्वप्रमकृत्यभावेऽपि न क्षतिः ।

<sup>1</sup>तत्फलमाह-—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तस्वतः । ततो मां तस्वतो झात्वा विशते तद्दनन्तरम्॥ स्वरूपतः स्वभावतश्च योऽहम् ; गुणतो विभृतितोऽपि यावांश्चाहम् , तं मामेवंरूपया भक्त्या तत्त्वतोऽभिजानाति ; मां तत्त्वतो ज्ञात्वा तद्दनन्तरम्-तत्त्वज्ञानानन्तरं ततः भक्तितः मां विशते प्रविशति । तत्त्वतस्स्वरूपस्वभावगुणविभृतिद्दीनोत्तरकारुभाविन्या अन्वधि-

तरफलमाहेति । अवयवहितं च्यवहितं चेति होषंः । पूर्वप्रश्चोक्तजगरकारणस्वरुक्षितसर्वधरा स्यध्यभिभाषेण य इत्यस्यर्थिमाह स्वरूपत हित । विधिनिषेषक्षराहेषकवावयावसितसर्वविद्या नुसंधेयस्वरूपनिरूपक्षभियोगः स्वभावत हित निर्दिष्टः । सरूपनिरूपक्षभिभावे अनिरूपितसरूपवया
 निःस्वभावमेव वस्तु स्यात् । 'स्वरूपशब्दः सरूपनिरूपक्षभिपरः, स्वभावशब्दस्तु सौरूभ्यपरः' हित
 केचित् । यावच्छव्दो हि प्रकर्षनिकर्ष(निप्कर्षः)परामर्श्वयोग्याकार्विषयो युक्त इत्यभिषायेणाह गुणतो
 विभृतितोऽपि यावांधाहिनित । गुणशब्दोऽस्त निरूपितस्कर्भविशेषकञ्चानशक्त्यादिसमस्त्वभिविषयः ।
 यावान् यश्चेत्यनयोव्धिक्रमेण व्याख्यानं बुद्धचारोहक्रमप्रदर्शनार्थम् । तस्वत इत्यस्य यावान् यश्चे
 त्यक्षानपेक्षणात् अभिज्ञानातीत्यस्य संशयादिव्युदासाय तदपेक्षणाच तस्वतिऽभिज्ञानातीति
 योजितम् । मां तस्वतोऽभिज्ञानातीत्युक्तस्यैव मां तस्वतो ज्ञात्वेनुभाषणमुपायमृतस्यापि<sup>2</sup> स्वादुतमत्या
 सुदुर्छभरवेनादरातिशयार्थम् । तस्वतो ज्ञात्वेत्यनेनैव आनन्तर्यसिद्धचर्थहेतुपैष्करयज्ञापकानुवादस्य
 सिद्धस्वात् , तद्नन्तर्मात्यनेनैव प्रवेशस्यानन्तर्थकष्ठोक्तः, भक्तत्या स्वनन्ययेत्यादौ प्रवेशेऽपि
 हेतुत्या भक्तरेव प्रागुक्तस्यच्य ततो भक्तिनो मां विश्वते इत्येवान्वयो दर्शितः । प्रवेष्ट्यिनि

तत्फलमाहेत्युक्तवा पूर्वाधोंकं परज्ञानं नोपायरूपीमित ज्ञाप्यते। अव्यवहितफलिमिति टीका ।

कातिश्रयमक्त्या मां प्रामोतीत्यर्थः । अत्र तत इति प्राप्तिहेतुतया, निर्दिष्टा मक्तिरेवाभिधीयते ; "मक्त्या त्वनन्यया शक्यः" (११. ५४) इति तस्या एव तत्त्वतः प्रवेशहेतुत्वाभिधानात् ॥ ५५ ॥

एवं वर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तिककर्मणां परित्यक्तफ्ठादिकानां परमपुरुषाराधन-रूपेणानुष्ठितानां विषाक उक्तः । इदानीं काम्यानामपि कर्मणाधुक्तेनैव प्रकारेणानुष्ठितानां स एव विषाक इत्याह —

्र सर्वेकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्यपाश्रयः । मन्त्रसाद।द्वामोति शाश्वतं पदमन्ययम् ॥ ५६ न केवलं नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि, अपितु सर्वाणि काम्यान्यपि कर्माणि, मद्यपाश्रयः मिय संन्यस्तकर्तुःवादिकः कुर्वाणो मन्त्रमादाच्छाश्वतं पदम् अन्ययम् अविकलं प्राप्नोति । पद्यते गम्यत इति पदम् ; मां प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

प्राभुक्तेकार्थ्यज्ञापनाय परस्पैपदसिद्धये च प्रविद्यातिस्यक्तन् । यथाव ज्ञानमपि काष्टापासभक्तः । अन्योन्याश्रयणं च भक्तेः पर्वभेदात् परिहनम् । सैव तु तथाविधावस्था साक्षात् मोक्षसाधनमित्याह तत्त्वत हत्यादिना । दर्शन शब्देनानुभाषणात् तत्त्वतोऽभिज्ञानातीत्यस्य साक्षात्कारपरस्यं व्यक्तितम् । 'परभवत्याऽपि तत्त्वज्ञानमेव साध्यम् ; तदेव तु साक्षान्मोक्षसाधनम्' इति कुर्हाष्टमतमपाकरोति अत्रेति । एवकारेण दर्शनव्यवच्छेदः । यथप्यत्र भक्तिश्चरो व्यवहितः, तत्त्वज्ञानं स्वव्यवचित्तपामर्शे एव युक्तः ; अन्यथा तत्त्वनो ज्ञात्वेत्यादिना पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । अत्र दर्शनजनकभवत्यनुवादे प्रयोजनाभावात् सैव तदुत्तरावस्या परामृश्यत इति भावः । प्रामुक्तं हेतुमाह भक्त्या स्वनन्ययेति । अयमभिष्रायः—उपक्रमन्यायात् पूर्वं प्रवलम् ; न्पष्टाम्पष्टयोध्य न्पष्टानुसारेणः त्यत् गमिवतव्यमिति ॥ ५५ ॥

पूर्वत्र ज्ञाननिष्ठोक्ता, अनन्तर कमिनिष्ठोच्यत इति शङ्काव्युद्धासाय पूर्वतापि कमिनिष्ठाया-मेवाबान्तरिबशेषविषक्तिमनुबदन् संगतिमाह एवमिति । विषाकोऽल पूर्वक्षोकह्रयोक्तपरभक्तिपरज्ञान-परमभक्तिपर्यन्तः । बिहितकर्मणां पूर्वमुक्तत्वात् सर्वक्रमण्यपीति निषिद्धानुष्ठानं भगवद्गन्यतास्तु त्यर्थमुपक्षिप्यत इति स्वैराभिलाषिशङ्करादिमत(धाशङ्का)मपाकरोनि इदानीं काम्यानामपि कर्मणा-मिति । सर्वशब्दोऽल शास्त्रीयेष्वेवानुक्तसंग्रहणार्थ इति भावः । तदेव विवृणोति न केवलमित्यादिना । पूर्वक्षोकस्थ्रव्याप्यमेवालापि सविशेषणपद्यव्यदेन निर्दिष्टमित्यभिवायेण निर्विक्त पद्यत इति ॥ ५६॥

प्रताबदुक्तस्यार्थस्यात्र निगमनं क्रियते । सदा-क्रमयोगावसानान्तमुख्योपायान्यसङ्कालेषु । 2 स्रोकस्थेति : मां विशत इत्युक्तमेवेत्यर्थः । सर्वकर्माणीति क्रमीवश्यकः सदेति भांकयोगान्तोपायावश्यक्तं मदित्यादिना सारिअकत्यागः, प्रभादादिति भक्तियोगस्याप्रधानोपायत्वम् , शाश्वतं पदमिति मामित्युक्तस्य परमगदस्थविषयकत्वञ्च कथ्यत इति सर्वनिगमनिमदम् ।

यसादेवम् , तसात-

1चेतन्ता सर्वक्रमाणि मिय संन्यस्य मत्परः । बुद्धियोगमुपाश्रित्य मिश्चत्तस्सततं भव ॥ ५७ चेतसा — आत्मनो मदीयत्वमित्रयाभ्यत्वबृद्ध्या । उक्तं हि, 'मिय सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा' (३. ३०) इति । सर्वकर्माणि सकर्तृकाणि साराध्यानि मिय संन्यस्य, मत्परः — अहमेव फलत्या प्राप्य इत्यतुसंद्धानः, कर्माणि कुर्वन् इममेव बुद्धियोगसुपाश्रित्य सततं मिह्नतो भव ॥ ५७ ॥

मिश्चत्तः सर्वेदुर्गीणि मत्यसादात् तरिष्यसि । अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्श्यसि ॥
एवं मिश्चतः सर्वेकमीणि कुवेन् सर्वाणि सांसारिकाणि दुर्गाणि मत्प्रसादादेव तरिष्यसि । अथ त्वम् अहंकारात् अहमेव कृत्याकृत्यविषयं सर्व जानामीति भावात् मदुक्तं

उक्तं परमपुरुवार्थसाधनत्वमनन्तरोपायानुशासनहेतुरित्याह यसादेविमित । चेतदशब्दसाफस्याय तद्भियेतं चेतसो भगवति कर्मसंन्यासकरणस्यं येन प्रकारेण, तमाह आत्मनो मदीयन्वमित्रयाभ्य त्वयुद्धचेति । अत्र चेतरशब्दस्येवं तात्वयं पाचीनसविशेषणनिर्देशेन स्थापयि उक्तं हीति । अभ्यात्मः चेतसा । परशेषत्वादिविशेषितयथावस्थितात्मगोचरबुद्धचेत्यर्थः । सर्वशब्देन सरूपकात्म्य्येवत् अनुवन्धिकात्म्येमिप प्रामुक्तपकारेणाभिषेतिमत्याह सकर्तृकाणि साराध्यानीति । बुद्धियोगशब्देन सुमुक्षोर-साधारणमकर्तृत्वानुसंधानादिकं थ्रैसवै प्रत्यभिज्ञाण्यत इत्याह इममेव बुद्धियोगिमिति ॥

मिचत्तस्सर्वदुर्गाणीत्यत्न मिचत्त्रशब्देन पूर्वस्थोकोक्तस्यैवानुवादात् तत्न च बुद्धिविद्योविविधिष्टकर्मविधिपरत्वात् उत्तरेप्विषि श्रम्थेषु युद्धारूयस्वधमेशोरसाहनस्यैव स्फुटत्वादिहापि तिद्विवक्षामाह एवं
मिचत्तस्सर्वकर्माणि कुर्विन्निति । मिचत्त्वमालस्य विवेयत्वे अनन्तरं युद्धनिवृत्त्यथ्यवसायप्रतिक्षेपो
न संगच्छत इति भावः । दुर्गशब्दस्य गिरिवनजळादिदुर्गेषु असिद्धिपकषोत् क्षलियस्य चार्जुनस्य
युयुत्सोस्तिल्तारापेक्षासंभवात् तिद्विवयत्वश्रक्षाम्प्यपाकर्तुं पूर्वापरानुरोधेन सांसारिकाणीति विदेशयुव्यत्सोस्तिल्तारापेक्षासंभवात् तिद्ववयत्त्वश्रक्षामम्ययाकर्तुं पूर्वापरानुरोधेन सांसारिकाणीति विदेशपत्ति । मत्त्रसादादित्यनेन व्यत्त्वस्वश्रासमश्रुतिस्मृत्यादिविरुद्धापूर्वादिकल्पनाव्युदासः, स्वस्य फल्प्यः
पदाने प्रतिवन्धनिवृत्त्यादिमालसाकाङ्क्षत्वं च सूच्यत इत्यमिप्रायेणाह सन्त्रसादादेविते । एवं नित्यनिमित्तिककाम्यरूपाणां कर्मणां वृत्तिः । प्राप्तिन्यमान्त्रते कर्मयोगश्रविद्यानां परम्परया परिपूर्णभगवत्याप्तिपर्यन्तं विषाकस्यपपाद्य सर्वथा कर्मयोग एव ते कर्तव्य इति निगमितम् । अथ तदकरणे पत्यवायमाह अथ चेदित्यर्थेन । हितवचनानादरस्य निमित्तम्तमहङ्कारविद्योपमाह अद्यनेव कृत्याकृत्यविषयं
सर्व जानामीति भावादिति । न श्रोष्यसीति श्रुयमाणेऽपि <sup>3</sup>श्रुतफळनिवृत्त्यमिपायम् । विनङ्क्य-

एवं सामान्येन खोक्तं प्रकृताजुनविषये विशिष्य वदन् गीतार्थं निगमयित चेतसेति ।

<sup>2</sup> सर्वमित्यनेन, तब्र तं बुद्धिसंयोगं रुभते, ददामि बुद्धियोगमित्यादिसर्वेसंग्रहः। यद्वा पूर्वीधं कर्मयोगः, तृतीयपादे आत्मावरुोक्तं, मिश्चत्त इति भक्तियोग इति विवक्षा। 3 चेत्र श्रोप्यसि-यथा श्रुतं तथा नातुष्ठास्यसि चेदित्यर्थः।

न श्रोष्यसि चेत् , विनब्ध्यसि--विनष्टो भविष्यसि । न हि कश्चिन्मझितिरिक्तः क्रस्सस्य प्राणिजातस्य क्रत्याकृत्ययोजीता प्रशासिता वाऽस्ति ॥ ५८ ॥

<sup>1</sup>यदाहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे । मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्थां नियोक्ष्यति ॥५९ वि अहंकारम् आत्मिनि हिताहित**ज्ञाने खात-त्र्यामिमानम् आश्रित्य मिश्रयोगमनादत्य** न योत्स्य इति मन्यसे, एष ते खातन्त्र्यच्यनसायो मिथ्या मिक्यित ; यतः प्रकृतिस्वां युद्धे नियोक्ष्यित मत्स्वातन्त्रयोद्विप्तं त्वामञ्च प्रकृतिर्नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

#### तदपपादयति--

स्वभावजेन कौन्तेय निवद्धः स्वेन कर्मणा । कर्तुं नेच्छसि यन्मोहान् करिप्यम्यवशोऽिष ह्तत् ॥ सीत्यनेनादिकालमनुवृत्तस्यात्मनाशस्योत्तरकालेऽप्यनुवृत्तिर्विविक्षित्तत्यिमयायेणाह — विनशे अभिविष्यस्मीति । 'बुद्धिनाशात्मणश्यिति' (२. ६३) इति शामुक्तप्रत्यिभिज्ञापनिमिति भावः । अश्रवणादिनिदान-माप्तान्तरादिसंभवमणकुर्वेन् विनङ्क्षयसीत्यस्य शापवचनतुत्त्यनाव्यावृत्त्यर्थं स्वस्यवाप्तनमत्वकथनेन स्वो- अदिष्ठस्याधिस्थितिक्षपतायामभिषायमाह न हि कश्चिदिति । अन्ये हि वक्तारो मया वाचिनाः परिमित्विषयं किंचिद्वदन्ति ; अहं तु सर्वस्याधिकारिणस्प्तविष्यहिताहितवेदी ; यानि च परोक्तानि शास्त्राणि, अनक्तानि च च्छन्दांसि, तान्यपि मदाज्ञारूपतयैव प्रमाणभृतानीति भावः ॥ ५८ ॥

एवमश्रवणफलमृतयुद्धनिवृतेर्विनाशहेतुत्वमुक्तम् ; अथ युद्धनिवृतेरेवाशव्यत्वमुच्यते । किंच भवतु कर्मयोगो मया कर्तव्यः ; युद्धव्यतिरिक्तं किमिष कर्मयोगान्तरमुपाददानस्य मे विनाशो न स्यादिति शङ्कामपाकरोति यद्यदृङ्कार्यमित स्रोकेन । अहंकारं युद्धनिवृत्त्यानुगुण्येन विशिनिष्ट आन्मिन हिताहितेति । अहंकाराश्रयणफलमाह मन्नियोगमनाद्दरयेति । न श्रोष्यमीत्यस्यैवायमर्थः । एष इत्यनेन परामृष्टमाह स्वातन्त्र्यच्यवसाय इति । स्वातन्त्र्याभिमानगर्भस्तम्यूलो वा व्यवसायः स्वातन्त्र्यव्यवसायः । तदुभयं मन्यसे इत्यनेन अहंकारमाश्रित्येत्यनेन च सूचितम् । प्रकृतिर्नियोन्स्यतित्यगुक्तम् , अचेतनत्वात् तस्याः, चेतनव्यापारत्वाच नियोगस्यिति शङ्कागुलालम्मामिषायेण परिहरति अन्तर्यातत्त्र्यात्नेत्योदिमं त्वामिति । मदुक्तकरणे सर्वज्ञस्य मे सर्वे भरस्त्यात् ; मन्नियोगातिकमे तु मय्युदासीने प्रकृतिपरतन्त्रस्त्वमितिवेव प्रवस्थितीति भावः ॥ ५९॥

पुनरुक्तिपरिहारायाह तद्पपाद्यतीति। प्रकृतेः परकत्वप्रकारमवान्तर्ज्यापारेण द्श्येवतीत्पर्थः।

<sup>।</sup> नानुष्टास्यसीत्यनुकृत्वा न थोष्यसीत्युक्तेभीचं चिराद्यित यदीति । मन्मुखागतप्ररास्तरी-त्याऽननुष्टानेषि सर्वेथाऽननुष्टानं न भविष्यति : कित्वईकारात् प्रान्टनलोकशित्या युद्धानुष्टान-मापतिष्यतीति भावः । 2 अवशोऽषि—मद्वरो अभवन्नपि ।

<sup>3</sup> यथा पतावत्पर्यन्तं विनष्टः, तथैवोपर्यपि भविष्यसीत्यर्थः। अनुष्ठप्रते उक्तफलालाभ इति भावः। 4 मन्स्वातन्त्र्येति। मत्स्वातन्त्र्योपेक्षया तव स्वातन्त्र्यं न भविष्यति। किंतु प्रकृतिपारनव्न्त्यमेवः, मया त्वदुपेक्षणादिति भावः।

स्वभावजं हि क्षत्रियस कर्म शौर्यम् । स्वभावजेन शौर्यास्येन स्वेन कर्मणा निवद्धः, तत एवा वशः, परैर्घर्षणमसहमानस्त्वमेव तद्युदं किस्पितः, यदिदानीं मोहात् अञ्चानात् कर्ते नेच्छितः ॥ सर्वे हि भृतजातं सर्वेश्वरेण मया पूर्वकर्मानुगुण्येन प्रकृत्यतुवर्तने नियमितम् ; तच्छृणु । र्वेश्वरः सर्वेभृतानां हदेशेऽर्जुन तिष्ठति । आमयन् सर्वेभृतानि यन्त्रास्टानि मायया ॥ ६१ हिश्वरः सर्वेभृतानां हदेशे ताहित । सर्वेश्वरः सर्वेनियमनशीलो वासुदेवः सर्वभृतानां हदेशे सङ्क्षत्रवृत्तम् स्वेनैव निर्मितं तिष्ठति । कथं कि कुर्वेस्तिष्ठति ? यन्त्रास्टानि सर्वभृतानि मायवा अन्यवत् । स्वेनैव निर्मितं

प्रकृतिरिति निर्दिष्ट एवायमर्थः स्वभावशब्देनानूदितः । स्वभावशब्द्धः 'स्वभावपमर्थेगुणैः' (४१) इत्यस्य व्याख्यातः । प्रकृतिशब्दस्यात्र देहाद्याकारपरिणतपकृतिविषयस्वेऽपि स्वभावशब्दः पूर्वोक्तार्थं एव । 'शौर्यं तेजः' (४३) इत्यादिकं स्मारयित स्वभावजं ईशि । स्वेतः स्रित्यासाधारणेनेत्वर्थः । शौर्यं निर्भयपवेशसामर्थ्यं ; तेन तन्मूछं कर्मात वासनावशात् रुचिविषयतया वश्यकत्वेनोक्तम् । मदुक्तान्तदरे प्रकारान्तरेणापि करिष्यस्येवेति अपिशब्दार्थः । तदिमिपायेणाह त्वमैवेति । परैर्घर्षणमसह-मान इति विशेषणम् अवशस्य कर्थं कर्मकर्तृत्वमिति शङ्कापरिहारार्थम् । अमर्पचिकीर्धादिस्पर्यकर्णुणपारवस्यं कर्तृत्वस्योपयुक्तमेवेति भावः । 'कर्तुं नेच्छिस यन्मोहात्' इति वाक्यान्तर्वावयनिवेशो हास्य करुण्यस्यवेशेन । तद्विविनक्ति यदिदानीमिति । प्राप्तावसरे धर्मयुद्धानुष्ठानं परित्यज्य अतिकान्तावसरे पर्परिभवत्रीखिते । गतज्ञस्येतुवन्धं करिष्यसीति वर्तमानभविष्यद्वचपदेश्योक्तारपर्थमिति भावः । न श्रोष्यसीतिवत् उपदिष्टस्य चिनानारोह इह मोहशब्देन विवक्षित इत्याह अज्ञानादिति ॥ ६०॥

उक्तार्थक्षापनाय, 'त्वय्युदासीने कथमहं प्रवर्तेय; तथारवे वा कथं तव सर्वहेतुत्वम्' इति चोचम् ईश्वरः इति श्लोकेन परिहियत इत्याह सर्वे हीति । उक्तं खमावपारतम्व्यमिप मत्ययुक्तम्; मम च साधारणकारणस्वाल कश्चिद्विरोध इति भावः । ईश्वरशब्दस्वाल इन्द्रादिशब्दवत् अर्वाचीनेश्वर-विषयरुद्धिश्वद्वात् यौगिकमर्थमम्बर्थसमारुव्यया स्थापयित सर्वित्ययनश्चीत्रो वासुदेव इति । ''सापेक्षनिरपेक्ष्योर्निरपेक्षे संप्रत्ययः'' इति न्यायादीश्वरत्वस्य सर्वविषयत्वं सिद्धम् । तस्य च व्यासिम् इत्यं वासुदेवशब्देन दर्शितम् । वक्तृविषयत्वज्ञापनाय वासुदेवशब्दः । सर्वेश्वरेण मयेति ध्वस्तात् दर्शितम् । सर्वत्यासस्य इद्देशे विशेषस्थितवचनं किमर्थमित्यत आह सक्तः प्रवृत्तिनिर्द्धिन्तम् स्वज्ञानोद्यप्रदेश इति । एतेन हृद्धस्थितेः भ्रामयित्यत्वत्ययोगो दर्शितः । कथमिति उपकरणाभिन्यम् । मायम् । माययेति हि ततुत्तरम् । किंकुर्वित्वति । ईश्वरशब्देन नियन्तुनेकनिरूपणीयतया प्रतिपन्नोऽसौ कीटशं नियननं कुर्वित्रत्यशः । यन्त्रेत्यादि भ्रामयान्त्यन्तमेकं वावयं प्रश्ववन्यादाकृष्टेन तिष्ठतिना अन्वत्वव्यम् । प्रागुक्तसर्ववरामर्गेनं यन्त्वमायादिशब्दानामर्थं विद्यणोति स्वेतेव निर्मितमित्यादिन। ।

<sup>!</sup> सर्वेद्यापिनोऽस्य हृदेशे स्थितिकथनं यद्थं तदाह सकलप्रवृत्तीत्यादि । तत्र हृदेशपरेन तत्रत्यजीवात्मग्रहणम् , तदन्तरात्मत्वं विवक्षितमिति कश्चित् पक्षः । तदा सर्वभूतेष्वित्येवालम् । हृदेशेति कथनमन्तर्यामिविग्रहविवक्षयेति पक्षान्तरम् ।

देहेन्द्रियावस्थं प्रकृत्यारूयं यन्त्रमारूढानि सर्वभूतानि स्वकीयया सन्त्वादिगुणमय्या मायया गुणानुगुणं प्रवर्तयंस्तिष्ठतीत्यर्थः । पूर्वमप्येतदुक्तम्, ''सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मन्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'' (१५.१५) इति ; ''मन्तम्सर्वे प्रवर्तते'' (१०.८) इति च । ''य आत्मनि तिष्ठन्'' (इ. ५. ७. २२) इत्यदिका श्रुतिश्र ॥ ६१ ॥

एतन्मायानिष्टतिहेतुमाह —

गतमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तृत्यसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
भूतशब्देन हृत्यदेशिनंदेशेन, पुरुषपृष्ठतिविशेषानुगुण्यात्, अर्थल्यावेन च यन्त्रशब्दोऽत देहिन्द्रिय
संघातिवशेषविषयः । 'महतः परमव्यक्तस् हृत्यव्यक्तश्वदेन निर्दिष्टं तेत्रेत्र च, 'शरीरं रथमेव तु'
(क. ३. ३, ११) इति रथास्ययन्त्रत्वेन रूपितिमिति ज्ञापनाय देहिन्द्रयावस्यं प्रकृत्यास्यमित्युक्तम् । तथा च श्रूयते, ''सर्वाजीवे सर्वभंग्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसी आग्यते त्रश्चवके । पृथगात्मानं
वेरितारं च मत्या जुप्रस्तत्ततेनामृतत्वमेति'' (श्वे. १. ६) इति । एतेन 'यन्त्रारुद्धानीव' इति
इवशब्दरुरोपेन व्याकुर्वन्तो निरस्ताः । स्वक्रीययेति— आदौ 'गुणमयी मम माया' (७. १४) इति
बुक्तम् ; श्रुतिश्च, ''अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तर्सिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ मायां तु प्रकृति
विद्यान्मायनं जु महेश्वरम्'' (श्वे. ४. ९. ९) इति । जीवस्य कर्मृत्वादिमङ्गपरिहाराय गुणानुगुणमित्युक्तम् । न हि जीवमीश्वरो मृनावेशन्यायेन प्रव्तयित ; अपितु सत्त्वादिगुणमयान् भावान्
पुरस्कृत्य पूर्वसिद्धवासनाविशेषजनितसङ्गहोरोगिते न विरोषः । स्रामयन् श्रन्यतित्यश्वः । तत्व
पृत्रसिद्धवासनाविशेषजनितसङ्गहोरोगित न विरोषः । स्रामयन् श्रन्यत्तित्यश्वः । तत्व
पृत्रसिद्धवासनाविशेषजनितसङ्गहोरोगित न विरोषः । स्रामयन् श्रन्यतित्यश्वः । तत्व
पृत्रसिद्धवासनाविशेषजनितसङ्गहोरोगित न विरोषः । स्रामयन् श्रन्यतित्यश्वः । तत्व
पृत्रसिद्धवास गोहनमन्तर्नीतम् , न तु शाव्दमित्याद्द प्रवर्तयानाद पूर्वभपीति । 'य आत्मिनित्वह्यः (त्व. ५. ५. २. सा) इत्यादिनिर्दिष्टोऽन्तर्यामी सौत्रालिक्ष्यान्वपनिषदि नारायण इति विशेषतः, ''एष सर्वभतान्तरात्याऽवहत्यापमा दिव्यो देव एको नारायणः' इति ॥ ६१ ॥

खतन्त्रे खमायया प्रेरयति परतन्त्रम्तां कथं निम्तरेदित्यत्रोत्तरं तमेव श्लरणमिति श्लोक इत्याह एतन्मायानिवृत्तिहेतुमाहेति ।

<sup>1</sup> अस्य तमेवेति क्लोकस्य शेपभूतः ईश्वर इति पूर्वक्लोक इत्यपि मुबचम् । तस्य तत्पूर्व-क्लोकशेपत्वं भाष्यात् प्रतीयते इति तद्ण्यस्योव । तमेवेति परोक्षनिर्देशस्यायमाशयः— अहमिदानीं सार्थ्येऽवस्थितोपि तुभ्यमुपदेष्ट्यं सर्वमुपादिक्षम् । यथावसरं गृहीतस्पर्णमेवानुष्टानार्थमपेक्षितम् , न त्पदेशः । मर्वस्य चाहं हदि संनिविद्यो मत्तः स्मृतिक्षतिमपोहनञ्जति मम हद्देशस्थता स्परणादिजनतायेति प्रागेवोक्तम् । तद्वपमुखेन मर्वस्य साध्यत्वात् तमेव शरणं गच्छ । स एव हि प्रायो योगिनामप्युपास्यः । तद्वमनेन क्ष्पेण पुरःस्थितेन असंनिहितोऽपि तेन क्ष्पेण ते सदा संनिहित इति ।

<sup>2</sup> भ्वादौ दिवादौ च अमुघातौ अपित आय्यति इति रूपमेदिपि णिचि अपयतीत्येव रूपम् । अतोऽत अमयित्येव ब्राह्मम् । न तु आमो नाम अपगध इति अपराधयित्रत्यर्थ इत्यर्थः ।

यसादेवम् , तस्मात् तमेव सर्वस्य प्रशासिताग्य् , आश्रितवात्सवयेन त्वत्साग्य्येऽवस्थितम् , 'इत्यं क्रुरु' इति च शासितागं सर्वेसावेन सर्वात्मना शरणं गच्छ। सर्वात्मनाऽनुवर्तस्य। अन्ययाऽपि तन्मायाप्रेरितेनाचेन त्वया युद्धादिकरणभवर्जनीयम् । तथा सित नष्टो भविष्यिति । अतस्त-दृक्तप्रकारेण युद्धादिकं कृर्वित्यर्थः । एवं कुर्वाणस्तरभ्रसादात् परां शास्ति सर्वकर्मवन्धोपस्रमं शाश्चतं च स्थानं प्राप्यस्म । यदमिशीयते श्रुतिशतः, 'तद्विष्णोः पग्नं पदं सदा पश्यन्ति स्त्रयः', 'ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' (पु), 'यत्र ऋष्यः प्रथमजा ये पुगणाः' (यज्ञ. ४. ७. १३), 'परेण नाकं निहितं गुह्याम्' (ना), 'योऽस्थान्यक्षः परमे न्योमन्' (तै. त्रा. २. ८. ९). 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्शिप्यते'

यसादेवम् । अन्वथाऽपि बुद्धचा निवर्तियतुमशक्यस्वादित्यर्थः ; सर्वस्येश्वराधीनस्वा-दिति वा । तमेपेल्यनेन (तस्य) मायां कोऽन्यो निवर्तियतं शकनोतीति सुचितिमत्याह मर्वस्य प्रजारंभतारभिति । अत्यन्तस्वतन्त्रः स एव हीदानीं रथिनस्तव सार्थारवेन परतन्त्रः प्रशास्तीत्यभिपायेण आध्यत्वारसल्येनेत्यादिकमुक्तम् । एवमनुवर्तनीयत्वाय परत्वं सौकभ्यं च द्शितम् । भावशन्दोऽल मनोवृत्तिपर इत्याह सर्वास्मनेति । सर्वप्रकारेणेति वाऽर्थः । तेन 'वासुदेवस्सर्वम्' (७. १९) इत्यक्तप्रक्रिययाऽन्तर्यामित्वेनोपदेष्टत्वेन पाप्यत्वपापकत्वादिभिध्येक एवा वस्थित इत्यनुसन्धानं ....वा ? .... विविक्षतम् । अत श्रामाशव्दं उपदेशादिमुखेन गोप्तविषयः : तेनैव द्वारेणोपायगरो वा । यथोपदिष्टकरणमेवाल शरणःगतिरित्यभिषायेणाह सर्वात्मनाऽनवर्तस्वेति । न श्रोध्यसि, न योत्स्ये इत्युक्तनिषेधपरत्वात् अनुवर्तनमेवात शरणागितिरिति दशीयतुं पक्ततेन विपर्वयेषस्यवायेन योजयित अन्यथाऽपीति । प्रकृतोपयोगेतान्तृतिं विशिषन् विवक्षितस्पसंहरति अतस्तद्कप्रकारेणेनि । स्ववर्णाश्रमानुरूपतदाज्ञानुवर्तनमेव हि तत्वीणनमिति भावः । उक्तान्त्रतिं प्रसादहेत्ततथोत्तरार्धेन थोजयति एवं क्रवाणस्तत्त्रसादादिति । मत्त्रसादात (५८) इत्युक्त एवार्थः तत्पसादात् इत्यत्न निर्दिष्टः। तलोक्तं सर्वद्रगैतरणमिह परा शान्तिः। शान्तिश्चाल परत्व निवृत्तजानीय [स्य ?] कारणसःमानाधिकरण्यांवरहेणापनरङ्करत्वमित्यमिनायेणाहः सर्वकर्मेति । सर्वकर्मवन्योपशमपरशान्ति शब्देन अनिष्टनिवृत्तिरुक्ता ; स्थानं प्राप्समीति इष्ट्याप्तिरुच्यते । श्राश्चतशब्देन ब्रह्मादिस्थानन्यवच्छेदः। म्ळप्रकृतिस्त्क्ष्मावस्था मुक्तपाप्यस्थानमिति केचित्<sup>1</sup>; सत्यलोकादिष्वेव वैष्णवस्थानमिति चापरे: तत् स्थानशब्दस्य मुख्यार्थस्थीकाराय, वादिक्षेपाय चापाकृतस्थानं श्रुतिभिरुपपाद्यति यद्भिधीयत इति । अधीतवेदानां संपतिपत्त्यतिशयार्थे <sup>2</sup>श्रुतिश्चतैरित्युक्तम् । एतेन कारणश्रुतीनाम् 'एकमेवा हितीयम्' (छा. ६ २.१) इत्यादीनां स्रक्ष्यमाणकार्यप्रवश्चमास्रतस्य बहुश्रुत्यिवरोषाय दर्शितस्। ति देख्योरिति वावयं प्रत्येकं सदापश्यदनेकस्रिविशिष्टविधिपरम् ; क्रत्वत्याप्राप्तत्वात् । विष्णोरिति

केचित् यादवप्रकाशादयः। अपरेषां पक्षः शाध्वतमिति पदेनैव निरस्तः। 2 'आहित्सवर्ण तमसः परस्तात्', 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके', 'ज्ञानानन्दमया छोकाः' इत्यादिकमपि प्राह्मम्। क्रा —75

(छा. ३. १३. ७), 'सोऽध्वनः पारमामोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क. ३. ९) इत्यादिमिः ॥ इति ते बानमाध्यातं गुज्ञाद्गुज्ञतरं मया । विमुक्तैतदशेषेण यथेच्छिति तथा कुरु ॥ ६३ इति-एवं ते मुमुक्षुभिरधिमन्तथ्यं ज्ञानं सर्वसाद्भ्याद्भुज्ञाद्भुज्ञतरं कर्मयोगविषयं ज्ञानयोगित्वयं स्वित्तयं स्वत्ति । एतदशेषेण विमुक्त्य स्वाधिकारानुरूषं यथेच्छिति, वैयिकरण्याच नात स्वरूपपरता युक्ता । यत्र पूर्वे साध्यास्मन्तीत्यत्नापि अनवच्छेदात् निर्द्यं सन्तिति विद्धम । अत्र च शाक्षतं स्थानिति विद्यमः । अत्र च शाक्षतं स्थानिति विद्यमः । एते वै निर्या कामचाराणि विमानानि समास्तथा ॥ आक्रीडा विविधा राजन् पश्चिम्यश्चामस्रोदकाः । एते वै निर्या स्वात स्थानत्य परमात्मनः'' (भो. मो. १९६.४) इति । आह च भगवान् पराचरः, "एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये । तेषां तन् परमं स्थानं यद्वै परयत्ति सूर्यः'' (वि. १. ६. ३९) इति ॥

एवमर्जनस्य युद्धे प्रोत्साहनव्याजेन सर्वाध्यात्मशास्त्रार्थजातमुपदिश्य सर्वाधु निष्ठासु नित्यकर्मणो दुस्त्यजतया अन्तेऽपि युद्धकर्तन्यत्वमेव स्थापितम् । अथ, "स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पद्वेदने" (भा. आध. १६. १२) इति प्रत्यभिज्ञापयिष्यमाणयकारेण श्रोतःयान्तरामायज्ञापनाय प्रकान्तनिन्ना-त्वयं पुष्कलोपदिष्टतया यथाधिकारमनुष्ठेयरवेन निगम्यते इति ते झानमारूयान्मिति स्रोकेन । वाच्य-वचनयोस्सम्यक्तवं पौष्करुयं च इतिकरणेन विवक्षितमित्यभिषायेणाह इत्येवमिति । ते 'यच्छेयः स्यात्' (२ ७) इत्यादिवादिने पपन्नाय शिष्यायेत्यर्थः । अत होकिकप्रमाणप्रसिद्धविषयेभ्य <sup>1</sup>आयुर्धनुर्गा-न्धर्ववेदार्थनीित्रास्त्रादिजन्येभ्यो ज्ञानेभ्यः प्रकृष्टातीन्द्रियपारलौकिकस्त्रमादिपुरुषार्थतदपायविषयं वेदारुयशास्त्रम् विविधज्ञानं गुह्मशब्देन विवक्षितम् । गुह्मतग्शब्देन तु वेदान्तनिष्पाद्यं तदुपवृंहण्-भतेतच्छास्रविशोधितं सुसुक्षमिर्वथाधिकारमन्द्रेयं व्यवहिताव्यवहितसुमन्तमोक्षोपायज्ञानं पद्दर्वते । तल तिवर्गमात्रमक्तेभ्यो गोपनीयतया गुद्धतग्रत्वोक्तिरित्यनिवायेगाह मुमुक्षभिरधिमन्तव्यं ज्ञानं सर्व-साद्रह्माद्रह्मतरमिति । ननु एतच्छास्त्रोक्तेप्वेव गुह्मगुद्धनरियमागः स्यात् ; तल्लाप्यन्निमाध्यायोक्तमेव गुह्म-तरतयाञ्च निगम्यत इति शङ्कामपाकरोति कर्मयोगविषयं ज्ञानयोगविषयं भक्तियोगविषयं चेति। 'विमर्श्येतदरोषेण यथेन्छसि तथा कुरु' इत्यनन्तरवावश्वरामर्शस्वारस्यात् गीताशास्त्रोक्तं कृतस्वामह गद्यतस्थान्देन विवक्षितमिति गम्यते । तदवान्तरतारतम्यं तु सर्वगुद्धतममित्यनन्तर्श्लोके वक्ष्यत इति भावः । आस्यातमित्यनेन वक्तव्यान्तराभावो व्यक्तिन इत्यभिषायेणाह सर्वमास्यातमिति । मया-स्वतस्सार्वच्यादिगुणयोगादासतमेन हितैषिणा चेत्यर्थः । अशेषेण विमृत्रयेत्यनेन विवक्षितमाह स्वाधि-कारानुरूपिनि । सहसैव पूर्वपूर्वपरित्यागो न युक्त इति भावः । यथेच्छिम् तथा कुर्वित्येतन्न युद्धः करणाकरणविषयम् : निष्ठात्तयेऽपि नित्यनैमित्तिकानां वर्णाश्रमानुबन्धिकर्मणामवस्यानुष्ठेयस्वोक्तेः, 'यद्य-हंकारमाश्रित्य' (५९) इत्यादिस्ठोकाभ्यामर्जुनेन युद्धस्य दुस्त्यज्ञां वद्नो भगवतस्तन्निवृत्तिविवस्था

<sup>1</sup> आयुर्वेदधर्नुवेदगान्धर्ववेद-अर्थशास्त्र नीतिशास्त्रेत्यर्थः ।

तथा कुरु कर्मयोगं ज्ञानयोगं भक्तियोगं वा 1यथेष्टवातिष्टेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

सर्वगुद्धतमं भूयः श्र्णु मे परमं वचः । इष्टोऽस्ति मे दहमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ सर्वेद्वेतेषु गुद्धेषु भक्तियोगस्य श्रेष्ठचात् गुद्धतमम् इति <sup>८</sup>पूर्वमेशोक्तम् 'इदं तु ते गुद्धतसं प्रवस्याम्यनस्यवे' (९. १) इत्यादौ । भृयोऽपि तद्विषयं परमं मे वचः शृणु । इष्टोऽसि मे नुवपतेश्च । अतोऽत्र तत्तदिषकारानुरूपमुपविष्टेषु शास्त्रार्थपवेसु बुद्धिनतरस्यं कर्मशानमक्तिषु कर्मण्यस्तिन् ममेदानीमिधिकार इति परामुश्य तस्तिन् पर्वणि परिगृहीतस्वर्णाश्चमर्थम एव वर्तस्वेरुच्यत इत्यभिपायोगाइ कर्मयोगं ज्ञानयोगं भक्तियोगं वा यथेष्टमातिष्ठेति । एतेन, 'कर्मज्ञानयोगयोरिदं निगमनम् सर्वगुद्धतमित्यादिना मक्तियोगनिगमनम् इति श्रीधदक्ती विभागो निरसः ॥ ६३ ॥

अविशेषण तिविधेऽपि हि निगमिते त्याणामप्यस्यापेक्षया गुह्यतरस्वे चोक्ते तिब्वितेष्ठि व्यवहिताव्यवहितोपयिवभागेन गुह्यतमाध्यवसायार्थं, पुनः प्राधान्यात् त्रत्नेव शास्त्रतारपर्योतिशयद्योतन्ताय सर्वगुद्धतममित्यादिक्षोकद्वयेन भक्तियोगरूपशास्त्रसारार्थः प्रतिसंघाप्यते । तदिभपायेण हि, "शास्त्र सारार्थ उच्यते" (सं २२) इति संगृहीतम् । विष्ठतं विध्यायादौ । अत्र सारार्थशेशवत्या सारतं प्रश्नेव चरमस्क्षोकेन प्रतिपाद्यते इति सोऽपि 'शास्त्रसारार्थः' इत्यनेनैव कोडिकृतः ॥ सर्वगुद्धतम् मित्रस्य योगविभागवता, 'सप्तमी शोण्डैः' (अष्टा. २ १. ४०) इत्यनेन समासमिन्नित्य सर्वेष्वेतिष्विति सप्तमीनिर्देशः । गुद्धतमहत्वस्यमित्रानात् भ्यश्चतद्वस्यारस्यात् 'मन्मना भवः इति स्रोक्त्य च अल्पान्तरस्य पूर्वोक्तस्यैव पाठात् स एव भक्तियोग इह शास्त्रान्ते शास्त्रसारस्वज्ञापनायोद्धियते ; न त्वर्थान्तरस्य पूर्वोक्तस्यव पाठात् स एव भक्तियोग इह शास्त्रान्ते शास्त्रसार्याद्वापनायोद्धियते ; न त्वर्थान्तरस्य पूर्वोक्तरस्य प्रद्यात्रसार्था प्रद्यत्व व चस्युपचितिस्याह भूयोऽपि तद्विषयमिति पूर्वमेवोक्तमिति । अत्र वाच्यस्य गुद्धनमत्वमेव व चस्युपचितिस्याह भूयोऽपि तद्विषयमिति । अवणमालाह्नेतः श्रृण्वित्यन्तेवस्य गुद्धनाविषयत्वपरो अत्र भूयश्चवद्धः ; व्यवधाननेरपेक्ष्येण गुद्धतमित्रसार्था पुनर्वचनं सार्थमिति भावः । वचसः परसन्त्रोक्तिः नातः परं वक्तव्यमस्तीति निगमनाभिष्राया । यद्धा वाच्यस्य परमत्यात् तद्धचलोऽपि तदुच्यते । "यसाद्यमित्रदेशि धर्मो विद्यते नेह कश्चनः" (भा मो. २५६ १) इति भगवद्योगश्च सर्वेभ्यो यज्ञादिभ्यः परमः, परमन्तररहितश्चोच्यते । तथा, "इच्याचारदमाईसाद्याचस्यप्रकर्मणाम् । अथे तु परमा धर्मी यत्य योगोनात्मदर्शनम्" (याज्ञ. आ ८) इति । आत्मा ह्यत्र सर्वन्तरात्मा । उपच्छन्दन

<sup>ा</sup> यथेष्टम्—दैवमेवापरे इत्याष्ट्रकेषु कर्मयोगेषु यं कञ्चित् कर्मयोगं पूर्वपर्कोक्तक्षात्रयोगपञ्चाग्निव्ययोर्मध्ये आत्मावलोकनार्थमेकम्, भक्तियोगेष्वनेकषु च कञ्चिद्दातिष्टत्यर्थः। 2 रहोके इतं तु इति क्षानगर्वप्रयोगात् तद्युसारेणात्वापि गृह्यतममिति क्षाविनिदेशः। प्रस्तरकोके तु गृह्यतमशब्दः तिक्ष्रियकवचःगरः। 3 अनेन, एवं योगत्रयपरतया अन्यैरिष कैश्चित् गीता व्याख्यातेति ज्ञायते। 4 अध्यायादौ-अष्टादशाध्यायारम्मे भाष्ये अवतारिकायाम्। 5 वस्तुतः सारतप्रमिष सारशेषतया प्रतिपायत इत्यर्थः। 6 सोऽपीति। प्रपद्तमिष शास्त्रसारार्थं इत्यर्थः। सारार्थःश्चस्य विषयत्वात् विचयमाधान्यात् पुद्धिकृता। इति—इतिहेतोः अनेनैव-सारार्थपदेन गृह्यतमपदेन च स कोडीस्त इति। भाष्ये गृह्यतमपतित क्रीवनिदेशः ज्ञानाभित्रायेण। अत्र पुंनिदेशः अर्थपदानुसारेण।

अन्यपदार्थः ।

दृढमिति ततस्ते हितं वश्यामि ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मयाजी मां ननस्कुरः । मामेवंप्यसि सन्यं ते प्रतिज्ञाने प्रियोऽसि मे ॥६५ वेदान्तेषु, ''वेदाहमें पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं नससः परस्तात् । तमेवं विद्वान् अमृत इह भवांत नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' (उ.ना)हत्यादिषु विहितं वेदनं(दन)स्थानो पासनादिश्वश्वाच्यं द्श्रेनसमाना ।। स्मृतियंतानमत्यर्थप्रियमिह मन्मना भवेति विश्वीयते । स्तुत्यादिशक्कापिहाराय इष्टोऽसीत्यादिकम् । इष्टः भीतिविषय इत्यर्थः ; प्रियोऽसीत्यनन्तरवत् । स्हिसीष्टः अत्यर्थे प्रियः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं म य मम प्रियः' (७.१७) इत्यादिमः प्रामुक्तज्ञानिवत् अतिहृदमिष्टोऽसि ; प्रथा मुक्तने प्रकाशनीयम् , तथा प्रीनिविषयम्तोऽसीत्यर्थः । श्रेष्ट इति यतः ततस्ते हितं वक्ष्यःमीति वा ॥ ६४ ॥

मन्मना भवेत्यस्याव्यवहितफलसाधनतया ग्रायनमाजित्वरूपपरत्वं दर्शयित् तस्वरूपं तावत प्रमाणतः शिक्षयति वेदानतेष्विति । वेदाहमित्यादिपुरुपस्क्तवावयोपादानम्-उपनिषदनतराणां तदन्-वर्तित्वज्ञापनार्थम् , 'नान्यः पन्थाः' इति हि (१) तत्साध्योपायान्तरत्यवधानशङ्कानिरासार्थम् . अत्र च(१) 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषो<sup>त</sup>मः' (१५.१८) इति वक्तुश्च(?) वामुदेवस्य तत्प्रतिपाद्यस्वात् मन्मना भवेति विहितस्य महापुरुषोपासनत्वज्ञापनार्थं च । वेदनं ह्यत्रोक्तम् , न त भक्तिरित्यत्राह **ष्यानोपासनादिश्रव्दवाच्य**मिति । आदिश्रव्देन तत्तत्समृत्युक्तभक्तिसेवादिशव्दग्रहणम् । समान-प्रकरणस्थाभ्यां ध्यानोपासनञ्जदाभ्यां वेदन हि विशेष्यते । अन्यथा गुरुलघुविकल्पाद्यनुपपत्त्या ध्यानादिविधिवैयध्येत्रसङ्ग इति भावः । विद्युपास्योव्यिनिकरेगोपक्रमोप्भहारदर्शनाच वेदनसुपासनमित्येव व्यक्तमुपपादितं शारीरकपाष्यादिष् । किंच 'द्रष्टन्यः श्रोतन्त्रो नन्तत्र्यो निदिध्यासित्रत्यः' (ब्र.४.४.५) इत्युक्त्वा तान्येव दर्शनादीम्यनुवदन्ती श्रुतिः विज्ञानशब्देन निदिष्यासनमनुवदति, "आरमनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या त्रिज्ञानेन" (च. ४ ४. ५) इति । एवं "तस्मिन् दृष्टे परापरे" (मु २ २. ९) इति वान्यैः(नये?)दर्शनं न साक्षात्यत्यक्षरूपम् ; गुरुरुष्ट्यिकरूपाद्यनुपपतेरेव । न चाधिकारिमेदेन तत्संभवः ; व्यवस्थापकाभावात् । न च द्वारिद्वारभावकरपना श्वयः, श्रवानुम्मृतेर्द्शनन्य वाविशेषेण-अन्यवहितसाधनत्वश्रते: । अत ऐकार्थ्येऽत्यवस्यभाविनि अन्यतरम्यौपचारिकत्वमन्तरेण तदसंभवात , निष्पयोजनस्योपचारस्यायोगात् , स्मृतिशब्देन च प्रत्यक्षस्योपचारेऽतिशयासिद्धः, विपर्यये तु दर्शनसमानाकारत्वरुक्षणवैशयविधानेन सथयोजनत्वाच, 'ख्रमधीगम्यम्' (मनु. १२ १२२) इत्याचपब्रहणाभिषेतवैशचविशिष्टा स्मृतिरेव 'तस्मिन् हृष्टे', (मु.), 'निचाय्य तं' (क ३.१'-) 'द्रष्ट्रयः' वृः इत्यादिभिर्विधीयत इत्यभिषायेणाह दर्शनसमानाकारमिति । समृतिमंतानमिति समृतिः संतन्यते यत्रेति वा, स्मृतेः संतानो यत्रेति वा च्युत्पत्त्या <sup>3</sup>न्पुंसकत्वमत्न नेत्रच्यम् । तत्रिश्चितकायसं श्राद्यर्थः । । इतीत्यस्य वचरश्रवणार्हतयेत्यर्थः : इष्टोऽसीत्यतान्वयः इति भाषः। 🕹 इतिशब्दभन्यथा योजयति इष्ट इतीति । 3 भाष्ये समानाकारस्मृतिसंतानीमित समस्तं प्रयुक्तं स्यान् । 4 शम्शर्थः—वहुवीही

मद्रक्तः अत्यर्थवितिष्रयः । अत्यर्थमितिष्रयत्वेन निरितिश्चयिष्यां स्मृतिसंतितं कुरुष्वेत्यथः । मद्याजी : तत्रापि मद्रक्त इत्यतुषज्यते । यजने पूजनम् । अत्यर्थप्रियमदाराधनपरो भव । आराधनं हि परिपूर्णशेषद्वत्तिः। मां नमस्कुरु । नमः-नमनम् । मय्यतिमात्तप्रह्वीमाव मत्यर्थप्रियं कुर्वित्यर्थः। एवं वर्तमानो मामेर्वष्यमि । एतत् सत्यं ते शतिजाने-तव प्रतिज्ञां करोमि ; रोपण्डन्द्रसमसम् ;

तेन तन्मुलज्ञानलक्षणया हैलघारावद्विच्छन्नत्वं सुचितम् । वेदनं वा सामान्यक्षपमलान्यपदार्थः । तल वेदनमिति पाठे तदेव विशेष्यम् । वेदनध्यानोपासनादीति पाठे त स्मृतिसंतानस्य विशेष्य-रवात । तस्यैव भक्तिरूपरवायाह अत्यर्थप्रियमिति । इह-अन्यवहितमोक्षोपायोपदेशदशायामित्यर्थः । वेदान्तिविहितस्यापि अर्जनेनाविदितस्यात् तं पति मन्मना भवेति विधिरेवेत्याह विधीयतः इति । मद्भक्तशब्दार्थमाह अत्यर्थमितिवय इति । अत्यर्थमहं प्रीतिविषयमुतो यस्य सोऽलात्यर्थमितिपयः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थनहम्' (७. १७) इति इक्तम् । विधेयस्य कर्तव्यस्य वैशिष्ट्यामिप्रायेण कर्तरि विशेषणनित्याह अत्यर्थमृतिययत्वेन निरतिशयप्रियामिति । मद्याजी, मां नमस्क्रक इत्यभाभ्याम् अङ्गिकोटिनिवेशनार्हान्तरङ्गपरिकरयोग उपलक्ष्यत इति दशियतुमाह तत्रापीति । यजिनाऽलाविवक्षित्रज्योतिष्टोमादिपतीतिव्यदासाय धात्रशक्तिं स्मार्यति यजनं पूजनमिति । फल्ति-माह अत्यर्थाप्रयेति । भवत्यनुप्रवेशेन खरूपानुरूपत्वद्योतनाय, सारतमत्वसिद्धचै सारार्थप्राहक-भगवच्छास्त्रादिनोदितां प्रक्रियां सारयति आराधानं हीति । अन्तःकरणवृत्तिविशेषप्रवेवसानायाह नमो नमनभिति । एतेन प्रणिपातमालपरत्वत्यदासः । तिविधा हि प्रणितः शास्त्रेषु शिष्यते । मद्भक्तपदान्यज्ञविशेषितं तद्यभिषेतमाह सयीति । आत्मात्मीयं सर्वे भगवत एवेत्यन्तसंघानादति-मालपहीमावः । <sup>1</sup> एतं वर्तमान इत्येतेनात्यर्थप्रियत्वाद्यनुषच्छन्दनमालत्वं तद्यतिक्रमे स्वात्माधारणं च दर्शितम् । (त्वाद्यनुवादमालत्वं विवक्षितम् ; न तद्व्यतिरेकेण स्वात्माधारत्वम्,) अवधारणेनाव्यवधानं विवक्षितम् । सत्यभिति <sup>१</sup>प्रतिज्ञाविशेषणम् ; न तु प्रतिज्ञातस्योक्ति-रित्याह एतदिति । ''वास्तोप्पते प्रतिज्ञानीश्वस्मान्'' (यजु ३.४.१०) इत्यादिप्विवोपसर्गस्य

2 प्रतिक्षायां सत्यःविविशेषणं भक्तप्रतिक्षारक्षणाय कदाचित् स्वप्रतिक्षाया अपि त्यागात् तथेयं न भवतीति क्षापनाय। एवं हि कौन्तेय प्रतिज्ञानीहीत्यत्र वर्णपन्ति ।

<sup>।</sup> एविमित्यादि । अत्र पाठह्रयं दृश्यते । कुण्डलितपाठेऽयमथः—एवं वर्तमान इत्येतत् नवमाध्यायस्लोके युक्तवेवमात्मानमिति भागवत् अत्यर्थप्रियत्वादिषृत्रोक्तभजनकर्ते व्यत्यातुवादमात्वम् । त त मिय वर्तमान इति स्वात्माधारकत्वं विवक्षितमिति । विवक्षितमित्वस्य प्रथमवाक्ये इष्टमित्येतावानेवार्थः । नेत्यादिवाक्ये त वक्तुमिष्टमिति सुख्यार्थं एव । प्रथमपाठे तु एवंवर्तमान इति पद्वयेत, पूर्वोक्तात्व्यप्रियत्वादिविशिष्ट्य भजनस्य न केवलं मद्यित्वज्ञत्वप्रस्यामात्वत्योक्तिः । कित्त त्यादस्यव्यव्यवस्य मत्याभितिति हेतुनेति तदावस्यकत्यं वृद्धितम् । मामित्यादेः फलं पाठह्येऽपि तृत्यम् । एवकारस्य फलं साक्षादेव भगवत्यासिरिति । प्रतिज्ञाने इत्यवेवोपच्छन्दनभावत्वाभावस्य भाष्यं कथनात् अत्रैवं पाठो न स्यात् । पाठो निरीक्ष्यः ।

यतस्तं प्रियोऽित मे । "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" (७.१७) इति पूर्वमेगोक्तम् । यस्य मय्यतिमात्रा प्रीतिवितिते, ममापि तासन् अतिमात्रा प्रीतिवितिति । ६५॥ सर्वधमित् परित्यस्य मामेकं रारणं वजा । अहं त्वा सर्वपापेश्यो मास्रियित्यामि मा स्रुवः ॥ ६६ कमयोगञ्चानयोगमिक्तयोगरूपान् सर्वात् धर्मान् परमनिकश्रेयसमाधनभूतान् , मदाराधनत्वेन अतिमात्रप्रीत्या यथाधिकार कुर्वाण एव, उक्तरीत्या फरकर्मकर्तृत्वादिपरित्यागेन गत्यमाविषयमिवित्रवित्यं तिराकरोति प्रतिज्ञां करोमीति । "द्याः पतेत् प्रथिवी दीवित् हिमवान् स्कलीभवेत् । स्वत्येत्व तोविधिः कृष्णे न मे मोधं वचो भवेत्" (भा उ.८१.४९) हत्यादिमगवह्मवयान्त्रयोगाभिवेतमाह नोपच्छन्दनमात्रमिति । अल भियवचनेन परोचनच्यार्थवादत्वं त्वया न शक्कनीवित्यर्थः । एवं वर्तमानस्य स्वप्नाते स्वपीन्त्रसणहारमुपहिष्योपच्छन्दनश्चाह्मात्रति । स्वत्यक्तव्याद्य यतस्त्वमिति । साध्यमित ज्ञानित्वं भिद्धवत्कृत्वा प्रियोऽपीति तत्कलो किरित्यभिपायेण, 'पियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् दित सामान्येन पागुक्तवयोजकप्रस्थम् । एतेन भूव-शब्दस्योक्ताधियरत्वमित । तत्कलिनमाह इति तद्वियोगिमिति । हेतुवावयार्थे साध्येन संगमयित अतम्मस्यिति । प्रतिज्ञातमिति । प्रतिज्ञाति । प्रति । प्रतिज्ञाति । प्रतिज्ञाति । प्रतिष्याप्ति । प्रतिष्याप्त । प्याप्ति । प्रतिष्याप्ति । प्रतिष्य

एवं विकरेण संप्रहेण चोकानां कर्मयोगादीनां त्रयाणां साधारणं सारतमानुसन्धानिक्दोषसुद्धृत्य तत एव मामेविष्यसीत्युक्तेष्टभाष्ठेः प्रतिवन्धकी-मृतानिष्टानां निञ्चतिरुच्यते सर्वधमानिति
क्षोकेन । तदाह कर्मयोगेत्यादिना । मर्वशब्देन प्रकृतित्वकमिवशेषात् गृह्यते । कर्मयोगादीनां धृतिसाधनत्वलक्षणधर्मशब्दवाच्यत्वमाह परमानिकश्चेयमसाधनभृतानिति । यथायोगं परम्परया साक्षाचेति
शेषः । तत्साधकत्वययोजकमाह मदाराधनत्वेनेति । व्ववीवैनुस्यहेतुमाह अतिमात्रप्रीत्येति ।
यथेच्छामि तथा कुर्विति पूर्वोक्तोपजीवनेनाह यथाधिकारं कुर्वाण इति । कमात् सर्वं बस्यानुष्ठेयं
स्वादिति च भावः । कुर्वाण एवेत्यनेन स्वस्यत्यागादिपक्षान्तामसत्वादिभिनित्वता इति स्मारितम् ।
परित्यागशब्दविवक्षितमाह उक्तरीत्येति । अध्यायारम्भवशोधितपकारेण-यथः । मरुक्रक्रमकर्तृत्वादिपरित्यागेनेति । कर्मत्यागः स्वशियतामिमानत्यागः । भक्तियोगेऽपि एथ्यवीदिक्तलानतं त्याप्यमेय ।
मोक्षाख्यफलस्वापि हि सर्वशोधिनगवच्छेषत्विया स्वशेषनाधीः परिहार्या । आदिशब्देन कञ्चुकभूतेन्द्रादीनामाराध्यत्वामिमानः संगृहीतः। [एवं ?] कर्मणि कर्नृत्वं (त्वे ?) सक्रीयताद्वद्विः आदिशब्देन

<sup>1</sup> हितं भूगः श्रणु इत्यतुक्त्या वचो भूगः श्रणु इत्युक्तया नवमाध्यायान्तोकातुपूर्वी तथैबोच्यत इति इत्यत्यते । तदेकार्थकत्वइाढ्यं तेन सिध्यति । मर्वधमिनित इत्येकस्य स्ततन्व-प्रपत्तिपरत्या योजनायां तु सर्वगुद्धिति इत्योकस्यायमधः—पूर्वोक्तमेव गुह्यतमिवययकं नवमाध्या-यान्तस्थितं वचः पुनः श्रणु. भजनस्य मुख्योपायत्यात् । ततस्तु त्यं मेऽत्यन्तिम् इति हेतोः ते हितं यक्क्ववित तदनन्तरस्योकेन धक्ष्यामि ; अवधत्स्वेति । ततः—तदनन्तरस्य । ते हितम् अकिञ्चनहितम् ।

परित्यज्य, मामेकमेव कर्तारमाराध्यं प्राप्यक्षपायं चातुसंघरत्व । एप एव सर्वधर्माणां शास्त्रीयः परित्याग इति, 'निश्चयं शृषु मे तत्र त्यागे भरतसत्तमः । त्यागो हि पुरुषव्याघ त्रिविधः संप्रकीर्तितः । '(१) इत्यारम्य, ''सङ्गं त्यक्तवा फरुं चैव स त्यागस्मार्ग्वको मतः ॥ ...न हि देहमृता श्रक्यं त्यकुं कर्माण्यशेषतः । युस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यशिधीयते ॥'' (११) इति अध्यायादी सुट्दप्रपादितम् । अहं त्या स्वीपापनो मोक्षयिष्यामि-एवं वर्तमानं त्वां मत्प्राप्तिविशेधिम्योऽनादिकालसंचितानन्ता इत्यक्षरणकृत्यक्षणकृत्यस्यः पापेम्यो मोक्षयिष्यामि । मा शुचः—शोकं मा कृषाः ।

संगृह्यते । परित्यागेन परित्यज्येति <sup>1</sup>विशेषेण सामान्यावच्छेदः । अन्यत खात्मनि कर्तृत्वं ततोऽ-न्यस्मिनिन्द्रादावपास्यत्वं तद्भयान्यस्मिन् स्वर्गादौ प्राप्यत्वं तेभ्यो व्यतिरिक्ते कर्मण उपायत्वं चामि-मत्य ह्यनधीतवेदान्ताः प्रवर्तन्ते ; न तथा त्वयाऽनुसंधेयम् ; एतत् सर्वमेकस्मिन् मय्यनुसंधत्स्वेति मामेकं शरणं व्रजेत्यस्यानियायः ; तदाह मामेकमेवेत्यादिना अल कर्तृत्वादिषु चतुर्षु पत्येकं समुद्रायतः एकोपाधिना **शरण**शब्दवाच्यत्वासंभवात् कर्तृत्वादिकं सामेकिमत्वनेनाभिषेतमन्दितम् । ल्यायमिति त शरणशब्दार्थोक्तिः । कर्तार-कर्तः प्रयोजकतयाऽन्तर्यामित्वेन अनुमन्त्रत्या च अव-स्थितिमत्यर्थः । तदनुसंघानात् स्वकृतित्वाभिमानत्यागः । कर्मणां देवतान्तरशेषत्वस्वशेषत्वधीत्यागार्थ-माह आराध्यविति । 'अहं हि सर्वयज्ञानां मोक्ता च' (९. २४), 'बकर्मणा तमभ्यर्च्ये' (१८. ४६) इत्यादिकं धुक्तम् । प्राप्यम् । साक्षात्वरंपरया चेति शेषः । ते (तेन ?) खगीदिफलत्यागः । सिविध-त्यागार्थमनृदितमाकारत्रयमुक्तम् ; अत्र शरणशब्देन विधित्सितमाह उपायमिति । स हि सर्वेषु शास्त्रेषु शीत: फुळ दुदातीति शागेव निर्णीतम् । [तद्यमर्थः-?] स्वसाध्यनश्चरयज्ञोपासन[रूप ?]धारवर्थेषु काला-न्तरभाविफलसाधनत्वबुद्धि परित्यन्य, सिद्धे स्थायिनि सर्वज्ञे सत्यसङ्करपत्वमहोदारत्वादिगणशालिनि सकलशास्त्रार्थसमाराध्ये फलपद्रलमनुसंघरस्वेत्रि । स्वरूपत्यागादिपक्षे प्रकरणवैषट्यमाह एष एदेति । सुदृद्धपुपपादितमिति । अयमभिशायः एउच्छ्छोकापातप्रतीत्या कूट्युक्तिमिश्च यथा वर्णाश्रमधर्म खरूपत्यागादिपक्षो नोदेति, तथोपपादितमिति । अहम् । उक्तप्रकारेणाराधितः फलपः।नौपयिकसार्वज्ञच-सर्वशक्तित्वपरमकारुणिकत्वादिगुणगणिविशिष्ट इति भावः । अनुष्ठितोषायावस्थाविशेषविषयोऽत्र स्वा इति निर्देश इत्याह एवं वर्तमानमिति । अञ्यवहितोपायस्यापि सर्वधर्मशन्देनोपादानात् , मामेवैप्य-सीत्यनन्तरोक्तत्वाच मन्प्राप्तिविरोधिभ्य इत्युक्तम् । अञ्च-पतिवन्धनिवृत्तिरेवोषायसाध्या, भगवत्नाप्तिस्तु स्वरूपविभीवरुक्षणा स्वत एव स्यादित्यभिषायः। अत्र सर्वशब्दिविक्षितमाह अनादिकालेत्यादिना ।

ननु लिप्विप योगेषु निगदितेषु सर्वगुष्ठनमे च शास्त्रसारार्थे पुनर्विविच्य प्रदर्शिते तनोऽप्युपिर लयाणां साधारणानुसंघानस्य प्रावभपश्चितस्यैवाल पुनः प्रतिपादने कि प्रयोजनम् १ न चायमर्थान्तरपरः स्टोकः ; अप्रतीतेः, संग्रहादिषु<sup>2</sup> तथाऽनुक्तेश्च । शास्त्रादावप्युक्तं **भाष्ये**ऽपि 'तसुवाच' (२.१०)

ज्योतिष्टोमेनेष्ट्वेतिवत् । उक्तपरित्यागिवशेषक्षपं परित्यागं कृत्वेत्यर्थः ।

<sup>2</sup> आदिना भाष्य पूर्वभावि यामुनग्रन्थान्तरादि ग्रहणम्।

अथवा, सर्वपापविनिर्मुक्तात्यर्थ(न्त)भगवित्यपुरुष-नेर्वत्यत्वात् मिक्तयोगस्य, तदारम्भ-चिगोधिपापानामानन्त्यात् तत्प्रायश्चित्तरूपैर्धमैः [अ]परिमितकालकृतैन्तेषां दुन्तरतया आत्मनो भिक्तयोगारम्भानईतामालोच्य शोचनोऽर्जुनस्य शोक्तपपुदत् श्रीमगवानुवाच— सर्वधर्मान् परित्यय्य मामेकं शरणं त्रजेति। मिक्तयोगारम्मविरोध्यनाः|दकालपंचितनान।विधा-नन्तपापासुगुणान् तत्तत्प्रायश्चित्तरूपान् कृष्ण्यान्द्रायणकृत्रमाण्डवैश्वानभ्वातपतिपविवेष्ठिविव-

भन्मना भव मद्रकः' इति पूर्वश्चोकं मक्तियोगस्य प्रकृतत्वात् तदारम्भिवरोधिय्वेत योक-निमित्तपापिषयोऽत्व सर्वपापशब्दः । तत्तिवराकरणायोक्तधर्मवर्गीविषयः सर्वधमशब्दः; अस्वैनत्संमह-शासनम्, "धर्मेण पापमपनुदति" (ना) इति । बहुवचनेन सर्वशब्देन च वैविध्यमानन्त्यं च पापेषु धर्मेषु च व्यव्यते । तदिदमाह मिक्तियोगारम्भिवरोधीत्यादिना । कृष्ट्यचान्द्रायणेत्यादिना संप्रति पन्नपापनिवर्गणोदाहरणम् । <sup>1</sup>अग्निष्टोमादयोऽपि विनियोगपृथक्तेचेन अनेकफलमाधका इति पागे वोक्तम । <sup>8</sup>श्वादिशब्देन कर्मयोगाचान्तरमेद्रतया दैवमेवापरे यज्ञम् (४. २५) इत्यादिमिः प्रावनपश्चि तानामनुक्तानां च ग्रहणम् । एवं ज्ञानयोगोऽप्यादिशब्देन समृहीतः, तस्यापि भक्तियोगामम्भिवरोधि

अग्निष्टोमः ज्योतिष्टोमः । तस्य नित्यत्ववत् सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोच इति काम्यत्वमिष ।

<sup>2</sup> आत्रावलोकनरूपफलार्थकर्मयोगादिस्थाने प्रपत्तिकरणमभिमतिमव ।

## द्रिप्रशिमादिकान् नानाविधान् अनन्तांस्त्वया पश्मितकालवर्तिना दुरतुष्ठानान् सर्वान् धर्मान्

पापनिवईणस्वेन प्रागेव प्रपञ्चनात् । परिमितकास्रवर्तिनेत्येकशरीरामिप्रायः (म् १) । अतिदुष्करानुष्ठान-मूळानेकजन्मसंसिद्धिसाध्यरवनिश्चयादेव इस्य शोकः । स**र्वधर्मान परित्यज्ये**ति<sup>री</sup> स्वरूपत्याग एवास्यां योजनायाम् । न च ठावता नित्यनैमित्तिकलोषप्रसङ्गः, दुरनुष्ठानप्रायधित्तादिविषयरगेक्तेः । तुरुयः न्यायतया तु नित्यैनैमित्तिकेष्यि यानि दुरनुष्ठानानि, तत्तैवं स्यात् । [नः १] शक्तमधिकृत्यैव शास्त्रप्रदे अशक्तस्याकरणे दोपाभावात् । अनुकल्पमात्रशक्तो च तस्यैवानुष्ठेयत्वात् । इह च मुख्याशक्तस्य (मुख्य-प्रायश्चिताशक्तस्य?) सर्वप्रकारमुख्यानुकल्पतया एकस्पैव भगवस्थपद्वस्य विधानात् । शक्ताशक्ताधिकारि-भेदाच सुर्वानुकर क्षोस्तर्भ प्रस्पविशोसके. अत एव गुरुखबुविकरपानुपपतिवस्काभावः, यथा "प्रणव वा तिरभ्यस्येत् स्तरेद्वा विष्णुमन्ययम् '' इति । यथा च, "मान्त्रं भौमं तथाऽऽग्नेयं वायन्यं दिन्यमेव च । वारुणं मानसं चेति स्नानं सप्तिवधं स्मृतम् " (पाद्ये चर्यापादे) (यो. या. ३. ४) इति विष्युचिनस्तरमेश दरहर । हिस्स्सर्थन्त प्रति तत्कलसाथकतया विधीयते, तथेहापीति न कश्चित् दोष इति । अल दुप्करतया चिरकालसाध्यतया चाल्पशक्तिना परिमितकालवर्तिना च दुरनुष्ठानानां धर्माणामश्रीसद्ध एव त्यागो भगवदेकोपायतावरणविधेरुवकारित्वेन विधिच्छाययाऽनृद्यते; यथा निदिध्या-सनोपकारितया रागवाप्ते श्रवणमनने 'श्रोतब्यो मन्तब्यः' इति । तदेकोषायतावरणविधानं च तद्रयो पायपरित्यागित्रिशप्टिवषयम् । तेन तत्फललाधनत्वेन चोदितानामन्यदेवताविषयाणाम् , भगवति च धर्मा न्तराणां त्यागः संगृष्ठते । अर्थसिद्धे च देवतान्तरघर्भनिषेधे, तिस्तिध्यर्थं नात व्यधिकरणसमासः समा श्रयणीय इत्यभिशायेण सर्वान् धर्मानिति दर्शितम् । ननु शक्तमधिकृत्य निषेघे शास्त्रवैयर्थ्यम् , त्रात्ता प्रकारणाच्या अपाप् अपाणाल प्रकार । उत्तर्भवाद्वाता वाता आलावादा । अशक्तं प्रति तु न विध्यपेक्षेति चेन्न ; अशक्तं प्रत्येव ब्रह्मास्रवस्थादाविवोषायान्तरपरिग्रहस्य तद्विरोधित्व-ज्ञापनेनापेक्षितत्वात् । यद्वा यदर्थे शरणत्रज्याऽनुष्ठिता, तदर्थोपायान्तरशक्तेः पश्चास्कृतिश्चिद्वेतुनशात् संमवेऽपि तद्र्थे तद्पादानस्याकर्तव्यताज्ञापनेन सार्थम् ।

## (सर्वेपद्सत्वेऽपि नित्यनैमित्तिकत्यागायोगः)

अल 'अहं त्वा सर्वपापेन्यो मोक्षविष्यापि मा शुचः' इति फलस्य भगवदेकाथीनतया तदेकपपदनमेकं फलतया(तदेकफलतया पपदनमेकम् ?) अनुष्ठेयं शिष्टम् । सर्वधर्मपरित्यागस्य तु वाक्यात् तच्छेपत्वं सिद्धम् । फलबस्सिन्नधौ चाफलं तदङ्गम् । तत्र पूर्वसिद्धाकारपरामशें अधिकारकोटौ निवेशः, अन्यथा(दा?) तु लिङ्गात् तदेकशरणत्रज्योपयोगिरूपे विश्रान्तिः। तदेकोपायताध्यवसायो हि तदन्योपाय-परिम्रहेण विरुद्धः । अतः त्यागस्य, अवहन्तेः शेष्यपेक्षिततण्डुलोपयोगिरूपे पर्यवसानवत्, तदेकपपदन-विरोधिधर्मत्यागे पर्यवसानात् अतत्फलार्थानामविरोधिनां नित्यादीनां त्यागोऽस्य नापेक्षित इति वर्गाश्रमाद्यसुवन्तिस्य-स्वरिधिपाप्तः तथै(तद्वदे)वावतिष्ठस्ते । नच तेऽपि प्रषदनस्याङ्गानि, अङ्गिनो वा ; तथा नियोगाभावात् । अशक्तं प्रति गुल्हरकार्वे १ । इनिविधानारं सवान् । अतदङ्गस्यापि यज्ञादेरस्यार्थमा

<sup>1 &#</sup>x27;सर्वधर्मान् परित्यज्य तमेव शरणं व्रजेत्' इति संकर्षणसंहितावाक्यं स्तोत्नभाष्ये (22) उपात्तम् ।

परित्यत्य भक्तियोगारम्भसिद्धये मामेकं परमकारुणिकमनालीचित्रविशेषाशेषलोकशरण्यम् आश्रितदात्सक्यजलिंघ शरणं प्रषद्यस्य । अहं त्वा सर्वपापेभ्यः यथोदितस्यरूपभक्त्यारम्भ विशेष्टिभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यः मोश्वयिष्यामि : मा श्रुचः ॥ ६६ ॥

श्रमाद्यर्थं चान्छानोपपत्तेः । ... ? ...सर्वशब्दनिर्दिष्ट्यत्यनीकतया वा मामेकमित्येकशब्दः। ततश्च भगव त्प्रपदनमेकमेव सर्वपायश्चितं स्यादित्युक्तं भवति । शरणागतिस्वभावात् तदस्योपायपरित्यागः सिध्येत् । यथा रुक्षयन्ति, ''अनन्यसाध्ये खाभीष्टे महाविधासपूर्वकम् । तदेकोपायतायाच्या प्रपत्तिः शरणागितः॥'' (विष्व) (भरतज्ञास्त्र) इति । **जरण**ज्ञान्द्रोऽत्रोषायपर्याय: । यथोक्तं अपत्तिमकरणे, "उपाये गृहरक्षित्रो: शब्द: शरणमित्ययम । वर्तते सांप्रतं त्वेष उपायर्थिकवाचकः'' (अहि. ३६. ३३) इति । पठन्ति च. ''शरणं गृहरक्षित्रोरुपाये च निगद्यते'' (नाम. ३ २०९) इति । उपायत्वं च कारुण्यादिगुण-विशिष्टस्यः उपायस्थानेऽवस्थायः तत्कार्यकरणादित्यभिष्रायेणः परमकारुणिकत्वादिगणोक्तिः । एकमिति नैरपेक्ष्यपरं वा । तत्सिद्धचर्थमपि **मामि**त्यनेनाभियेननया कारुण्यादिग्रहणम् । **परमकारुणिक**मिति । 'वधाईमपि काकृतस्थः कृपया पर्यपालयत् ' (रा. स. ३८. ३४) इत्यादिभिः कृपायाः पारम्यम् , ततरशरण्यत्वं च सिद्धम् । तस्यासङ्कोचमाह अनालोचितविशेषाञेषलोकअरण्यमिति । "सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं सुहृत्'' (श्वे. ३. १७) इति श्रति:। ''सर्वेकोकशरण्याय'' (रा. यु. १७.१४) इति रावणावरजवावयम् । स्ववावयं च. "विभीषणो वा समीव यदि वा रावणः स्वयम्" (रा.य १७.२४) इति । विशेषरान्दोऽल जातिवर्णविद्यादृत्तगुणसंस्कारभूतभान्युपकारादिपरः । उक्तगुणाविनाभूत गुणान्तरमाह **आश्रितवात्सल्यजलिय**मिति । "विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवरमलः" (रा. स्र. २१.१९) इति धक्तम् । "दोषो यद्यपि तस्य स्थात्" (रा.स.१८.३) इत्यादिप्रकियया दोषानादराय वात्सरयोक्तिः । गत्यर्थानां बुद्धचर्थनया प्रयोगात् वजतिधातः पूर्वशोजनायामनुसंधानः मालपरतया व्याख्यात: । इह त रक्षिप्यतीति महाविश्वासपूर्वक्र<sup>1</sup>विशिष्टाध्यवसायलक्षणबुद्धिविशेष-निरुद्धपदेन व्याच्छे प्रपद्मस्वेति श्रिंगंहं न्वेति । सर्वज्ञः सर्वशक्तिरहम् अल्पज्ञमलपशक्ति च त्वामित्यर्थः । मा ग्रुचः । एकेन सुकरेणार्विलम्बेनाशेषपापनिवृत्तिसिद्धरनन्तैर्द्वकरैर्विलम्बय(म्ब)कारिमिः प्रत्येकपाप निवर्हणैरिदानीं भक्तियोगारम्भार्हनासंपादनस्याश्वयतानिमित्तशोकं मा कथा इत्यर्थः

<sup>2</sup>एवं सकलाभिमतसाधनतया **भगवच्छास्नादिषु** प्रसिद्धं भगवस्वपदनमिह पक्रतभक्तियोगारम्भ विरोधिपापनिवर्दणरूपोदाहरणविशेषे प्रवर्शितम् ।

श्ली. धुदुष्करेण शोचेत् यो येनयेनेप्टहेतुना । सस् तस्याहमेवेति चरमश्लोकसंग्रहः ॥ अतएबातत्यभाष्यभन्थस्य, **गद्यस्तुते**श्चाबिरोध इति ।

<sup>1</sup> विशिष्टाध्यवसायेति। रक्षापेक्षाविशिष्टभरन्यासेत्यर्थः। रक्षापेक्षेति न्यासविंशतिक्र्लोकोऽ-तुर्सघेषः। 2 नतु मोक्षार्थस्तन्त्रप्रपत्तः पाञ्चरात्नादिसुप्रसिद्धायाः स्वरस्तोऽर्थत्वसंभवे किमित्येवं भाषणमित्यत्नाह एवमिति। अत एव भक्तिरेवोपर्यस्युच्यते इति भावः।

#### (शांकरचरमश्रोकार्थनिरासः)

यदिह शंकरेणोक्तम्, "मनमना भवेति स्रोकेन सर्वकर्मयोगनिष्ठायाः परमं रहस्यमीश्वर-शरणतामुपसंहत्य, अथेदानी कर्मयोगनिष्ठाफ्ळं सम्यन्दर्शनं सर्ववेदान्तसारं विहितं वक्तव्यमित्याह सर्वधर्मा निति'' इति । अयमपि 'सर्वार्थान् विपरीतांश्च' (१८. ३२) इत्यस्योदाहारणविशेषः; कर्मयोगनिष्ठायाः पृथक्त्वेन मक्तियोगनिष्ठायाः पद्शितत्वात् । अत्रैव शरणं त्रजेति कष्ठोक्तिदर्शनेन पूर्वत्र तदुपसंहार-वाचोयुक्तरसंगतत्वात् । यचात्र, 'मामेकं सर्वात्मानं समं सर्वमृतस्थमीश्वरमहमेवेत्येवमेकं शरणं व्रज-न मतोऽन्यदस्तीत्यवधारय' इत्युक्तम् ; अत्र तावन्न शब्दस्यैवं शक्तिः। न च तद्परोधेन लाक्षणिकार्थस्वीकारे हेतुं पश्यामः । प्रत्युत अ**हं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामी**त्यादिस्वारस्यात् राघवविभीषणादिवत् शरण्य-शरणागतयोर्गोप्तृत्वरक्षितव्यत्वरुक्षणो भेदः प्रतीयते । शास्त्राम्तराणि चैतद्विरोधेन पूर्वमेव स्थापितानि ।

यचाल सर्वधर्मान् परित्यज्येत्यनेन सर्वकर्मस्वरूपसंन्यासविधिरिति, इदमप्यध्यायारम्भोक्त-तामसत्यागस्वीकरणम् । एतन्निराकरणायैव सान्तिवकस्त्यागोऽन्न भाष्ये दर्शितः । नत् कर्माधिक्रतेप्वे-वायं । सात्त्विकराजसतामसरूपः त्यागविकरुपः ; सर्वकर्मसन्यासिनां तत्त्वविदां मोहदुःखमूळत्यागा-संगवात् सात्त्विकत्यागोऽपि कर्मनिष्ठमधिकृत्यैवोच्यत इति तत्त्वैवास्माभिव्योख्यातमिति चेत्-तदसत् , सामान्यतस्त्यागसंन्यासरूपविषयत्वात्प्रश्नस्य,उत्तरत्यापि सामान्यविषयत्व प्रतीयते । ज्ञाननिष्ठानामपि नित्य-नैमित्तिककर्मस्वरूपपरित्यागस्य प्रागेव दूषितत्वाच । यचानुगीतायामुच्यते, "नैव धर्मी न चाधर्मी न चापि हि ग्रुभाग्रुभी । यः स्यादेकासने लीनस्तूर्णी किंचिदचिन्तयन्" ॥ (भा. आश्व. २०. ७) इति, ''ज्ञानं संन्यासलक्षणम्'' (भा. आ. ४३. २६) इत्यादि च ; यच श्रीमित भागवते पुराणे, "तसात् त्वमुद्धवोत्स्टब्य <sup>2</sup>चोदनां प्रतिचोदनाम् । पर्द्वातं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च । मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् । याहि सर्वात्मभावेन यास्यसि बकुतोभयम्" (११. १२. १४) इति ; यच्चान्यल "त्यज धर्ममधर्मै च त्यज सत्यानृते अपि । उमे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यजः" (भा. मो. ३३०. ४०) इति — एवमीहञ्चानि वचनानि सान्त्रिकत्यागोक्तप्रक्रिययैव नेतव्यानि । समाधिदशातत्परेषु तु वचनेषु न कश्चित् विरोधः । ''त्यज धर्ममसंकल्पादधर्मे चाप्यिलिप्स(हिंस)या । उमे सत्यानृते बुद्धचा बुद्धि परमनिश्चयात्" (भा.शा.मो .३३७ ४१) इत्यादिषु च सात्त्विक एव धर्मत्यागस्तत्तद्वचनोक्त इति सुव्यक्तम् ।

मामेकमित्यल च निर्विरोषचिन्मालेक्यादिविवक्षां शृण्वन्तो वाहा अपि परिहसेयुः। भाष्योक्तस्त एकशब्दार्थो वचनलारस्यपूर्वापरशास्त्रान्तरसङ्गतः। एकशब्दश्चात्यन्तापृथम्भूतेष्वपि इस्यते,

कर्माधिकृतेष्वेवेति एवकारेण ज्ञानयोगाधिकृतव्यवच्छेदः ।

<sup>2</sup> एतदादिप्रमाणवाक्यानामर्थः श्रीमद्रहस्यत्रयसारे प्रभावव्यवस्थाधिकारे विदादः । काम्यधर्मतत्त्रवृत्तितद्विषयचोदनाविचाराः न कार्याः प्रकादशीं कृष्णां नोपवसेद्गृही इत्यादिः काम्यो निषेधो वर्ज्यः । भूताहितं सत्यमनृतवत् वर्ज्यम् । श्रुद्रफललिप्सया तन्न कार्यम् । एवं त्याग कुर्वेच्चपि तत्करणं परमात्मायत्तं मन्दीतेति रीत्या एषामर्थवर्णनं कार्यम् ।

"अपेत्याहमिमां" हिस्या संश्रीयप्ये निरामयम् । क्षमं नम तहानेन नैकत्वमनया सह" (मा. मो. ३०८. ३८) इति । तथा, "बानराणां नराणां च कथमाभीत् समागमः" (ग मृ. ३५. २) इति प्रश्ने, "रामसुग्रीवयो रैवयं देवयंवं समजायत" (५२) इत्यादिषु ।

या तु सर्वेधमीन् परित्यज्येत्यत् विरोधिधर्ममात्रत्यागविषयत्वेन यादवपकाशादीनां योजना, न तत्नार्थविवादः । सर्वेधमीन् अवस्यकरणीयानपि परित्यज्येति स्तुतिरूपयोजना तु अपिशब्दाध्याहा-रादिभिरयुक्ता ।

अनियतधर्मपरित्यागोऽत्र विवक्षित इति <sup>2</sup>नारायणार्यव्याख्यायामपि नानुष्ठानियरोधः । (ज्ञांकरपूर्णगीतार्थनियरमः)

ंअपिचालादितः प्रमृति <sup>3</sup>संमृत्तामः -प्रथमे तावत् अध्यायेऽर्जुनस्याम्यानस्वेहकारुण्यादिभिः शालो-छङ्कनपसङ्गेष्मनोपश्चिमपूर्वेपक्षवुद्धिपत्रमनाय द्विनीयेनाभ्यात्मशास्त्रमन्यतिमत्येतायनि सर्वेषामविवादः । द्वितीयाध्यायोक्तस्य,योगादेरपि भगवानेवाराध्य इत्यत्नापि न विप्तनिपत्तिः । त्रीद्यादिविषयैः प्रोक्षणावधा-तादिशास्त्रार्थेरपि हि स एवाराध्यते । स नु नल न साक्षाद्विषय इनि प्रकरणादिवरुग्त, साक्षाद्वस्वयोगिनश्च, "योगिनामपि सर्वेषां मद्धतेनान्तरात्मना" (६.४०) इत्यादि प्रम्नुत्य प्रनिपाद्यिप्यमाणस्त्राच्च समर्थितम् ।

तृतीये योगारुयोपायांशभृतयोः क्रियायोगयुद्धियोगयोर्विमश्च इत्येतद्रिष्, "ज्ञानयोगन् सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्" (३. ३) इत्यिकारिभेदर्गगेनेन निरम्नमः। न च "दूरेण खर्वरं कर्म" (२ ४९) इति प्रतिपादनात् तुष्ट्यकः यत्वानुपपनिरित्ति बाच्यमः; तत्य तत्यकरणिन्य काम्यक्रमीवपयत्यस्थापनात्। "यस्त्वात्मरित्तेव स्यान्" (३ १७) इत्यादिस्टीकद्वये दृष्टानुश्चिक विषयवितृष्णस्य परमात्मैकरतेः पुरुषस्य क्रत्यानुष्ठाने प्रयोजनामायः अकृत्यकरणे प्रत्यवायामायश्च प्रिणादा इति यदुच्यते, तद्ययप्रक्तम् "नाविरते दृश्चरितान्" (क. २. २४) इत्यादिवरोधोपन्यादनात्। तत् एव, 'हत्वाद्रिप स इमांहोकान्" (१८. १७) इत्यादेरिप वश्यमाणस्यात्रोदाहतत्यान्यविषयत्वस्थापनात्। अत्र चेत् समाधिद्यायां कर्नस्यान्तरामावोद्रसिन् स्रोकद्वये विविद्यत्यत्व परित्रोधोपन्यायः, तद्दा तु अक्तद्वयायामिव विरोधामावादम्यनुज्ञानीमः। उक्तं च समाधिद्याविषयत्वं पष्टे रेते । तथा हि, "ये सन्यास इति पानुर्तिमं ने विद्य पण्डव" (६. २) इति स्रोकं 'समाधि वेद्यायामेव कर्मसंन्यासः कार्यः, नाम्यदेनि याविन्युक्तमः। 'आरुरक्षोर्मुनेयोगन्' (६. ३) इत्यत्व

<sup>1</sup> इमां—प्रकृतिम् । निरामयं—नारायणम् ।

गीतायां ७-२३, ११-२७, अत च नारायणायाः गृहीताः सञ्चरित्रस्का (१४१. पु) सुदर्श-नाधिकारोक्तयाद्वप्रकाशमतानुसारिणां नारायणायां भवेतुः ।

<sup>3</sup> अस्मित् संमर्शे शांकरभाष्यव्याख्यागता एव वहवें।शाः ।

<sup>4</sup> तदा तु मुक्तदशायामिवेति । अतेत रहेकद्वयमित्रं मुक्तविषयकमिति स्वाक्ष इति श्वापितम्। शिष्टं तत्न रहोकव्याख्याने टिष्पणे च द्रष्टव्यम्। उक्तञ्चत्यादिकं शांकरव्याख्यात् त्रजनविष्यम्।

चैवं व्यक्षितम्, 'यस्य विश्वनो योगेन सकळकर्मकाळो व्यासः, तस्य कर्मपरित्यागो युक्तः, नान्यस्य' इति । एतदेव तृतीयचतुर्थयद्वमेप्वति भगवता प्रतिपादितमित्यनुर्भयातःव्यम् । तृतीये तावत् 'यस्त्वात्मरितेरेव स्यात्' (१७) इत्यत्वः चतुर्थेऽपि 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' (११) इत्यत्व, पश्चमे च 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते (१३) इत्यत्व । तेनास्तरिनो विश्वना योगारुद्धानामेव कर्मसंन्यासो युक्तः ; तेषापि छोकिविक्यातानां सर्वछोकादर्शम्तानां विदुषामारमानुष्रहामावेऽपि छोकानुष्रहार्थे कर्मयोग एव <sup>1</sup>युक्त इति भगवद्मिप्रायो प्राह्म इति निगमित्म । यत् पुनर्निषिद्धानुष्ठाने प्रत्यवायाभावात् तदकरणे प्रयोजनं नास्तीति, एतत् तस्यामवस्थायामश्रसक्तेपन्यासः । यतु "कर्मणेव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" (३. २०) इत्यत्व राज्ञामुपन्यासस्तद्वृत्वान्तानामेव छोके प्रसिद्धस्वादिति, अत्रायमेव भाव उचितः । यस्त्वनन्तरं पक्षान्तरमुक्तम् , "एवंपरम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः" (१. २) इति छिङ्गात् राज्ञामेवायं योगानां कर्मापरित्यागोपदेशः, नान्येषामिति—तम्यन्तः ; अन्येषामिपि कर्मस्वरूपपरित्यागस्य सर्वत्व सुस्पष्टत्वात् ; अत एव हि चर्चुये स्वयमेवोक्तम् । इह केचित् राज्ञपद्यम् (२) इति वक्ष्यमाणस्वाच राज्ञमेवासिन् भगवदुषदिष्ठे योगेऽधिकारः, नान्येषामिति मन्यन्ते ; तदयुक्तम् , नवमेऽध्याये 'खियो वैद्यास्त्व्या शूद्धस्तेऽपि यान्ति परां गतिम्" (३२) इति वैद्यामित्व वक्ष्यमाणस्वात् । तस्तात् प्रदर्शनार्थे राज्ञां प्रवृतिविद्येषायुप्त्यासः, नान्यथेत्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

ेशतु पश्चमे, 'संन्यासः कमेयोगध्य निःश्रेयसकरात्रुमौ' (२) इत्युक्तसंन्यासकर्मयोगाभ्याम् अनन्तरं 'सांख्ययोगो प्रथम्यालाः' (४) इत्याद्युक्तसांख्ययोगयोर्थान्तरत्योगपादनम्—तदिष मन्दम्, 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' (४) इति प्रागुक्तप्रत्यिम्ञानात् । न च प्रतिद्विविरोधः, अस्मिन् शास्त्रे तयोरेवमेव प्रसिद्धेः। न च 'निःश्रेयसकरात्रुमौ' इत्युक्तेन पुनरुक्तिः ; संग्रहविस्तररूपत्वादिना तत्परिहारात् । सर्वत्न चैवं सर्वैरप्युपगमात् । यदिष 'पण्डिताः समदिशिनः' (१८) इत्यत्न सर्वत्नाहिंस्यतावुद्धिर्रमुप्राध्यतावुद्धिः सर्वेशां मृतानामीश्वरातुप्राध्यतावुद्धिरिक्तत्ववुद्धिश्च समदर्शननमभिनेतिन्ति, तावित न विवादः; यतु त्लानन्तरसुक्तम्, "न पुनिर्हसात्रुप्रदेषु फलसाम्यवुद्धिः ब्राक्षण्यादिविशेष-तिरस्कारो वा; कृत एतत् १ शास्त्रान्तरानुसारात् प्रमाणान्तरानुसाराच्यः इति, अयमप्यात्मव्यतिरिक्तमिथ्यान्त्वादिवादिनां मतस्योपालम्भः, न पुनः स्तःपरस्परसमानानामात्मनामौषाधिकसस्यवैषम्यवादिमतस्य ; विवमदेहादीनामिष स्ररूपसाम्यदर्शने शास्त्रान्तरप्रमाणान्तरिविरोधाभावात् , प्रस्युत तस्ववाद्विति ।

एवं निगमनं ३-२० श्लोकव्याख्यानान्ते द्रष्टव्यम् ।

<sup>2</sup> न च राजतद्वराणामेवाधिकार इति युक्तम्, तत्नैव 'कि पुनर्वाह्मणाः' इति विप्राणा-मण्यधिकारवर्णनात् ।

<sup>3</sup> चतुर्थे विकर्मादिविषये वक्तव्यं तत्त्रैय व्यक्तमिति अत तद्य्यायानुकिः । अथवा चतुर्था-ध्यायविषये ऽपि पृथगुक्तं नष्टं स्यात् ।

षष्ठोक्तयोगस्य विषयविशेषादिकं तत्तेव मुस्पष्टमुपगदितम् । दुरपहवं च तैरिप योगिनां वैविध्यम् । अत एव हि, 'योगिनामपि सर्वेषाम्' (४७) इति स्ठोके व्याचल्युः—''योगिनश्चित्तालम्बन-वैचित्र्याद्वहृत्विधाः । तेषु मय्यपितचित्रो मामेव श्रद्धया भजते, स मे युक्ततमो मत इति खाह'' इति, ''योऽस्मामिरिह संसेपविस्तराभ्यामुप्यत्यस्तो योगः, स सर्वेभ्यो योगभ्यः श्रेष्ठनमो मतः ' इति च । 'शब्दत्रद्वातिवर्तते' (४४) इत्येतद्वि तिवर्गातिलङ्कानविषयमेवाभ्युपगन्तव्यम् । अत्र वेदद्वारा तत्सल्यविवक्षायां लक्षितल्यलासंकोचादिर्महान् कलेशः । भाष्योक्तप्रतिया तु श्रुक्तमाहिकया विवक्षितं वक्तीति विशेषः। 'तपित्वभ्योऽधिको योगी' (४६) इति स्रोके यदुक्तम्—अत तपश्चव्देन वानपस्थधमीणां परिष्ठाः; द्वानशब्देन त्रक्षचारिष्मणाम् , कर्मशब्देन गृहस्थधमीणामिति—अयं विभागो निर्मृतः; सर्वेप्वाश्चाचा स्वाश्चराविरोधनां तपोजनाकमीणां संभवात् यथाश्चतिवरोषामावात् ; वानप्रस्थादिलक्षणायाः प्रयोजनामावाच ।

सप्तमोक्तचेतनाचेतनरूपपक्वितद्वयस्यापि वश्चस्वरूपाद्वस्यन्ये।ऽस्मामिन्वत्वत्व समर्थितः । अपरपक्वितरप्टषाविभागश्च यथाश्चत एवोपपत्र इति स्यापितम् । यच 'रसोऽहमप्पु' (८) इत्यादिसामान् नाधिकरण्यनिविद्यानेक्तम् , ''समस्तकस्याणगुणसमिष्टिविश्रहोऽइन् । अतो मदेशाः सर्वे सर्वत्र कल्याणगुणा इत्यमिपायेणाह'' इति ; तत्र तावत् रसादिकस्याणगुणसमिष्टिनै भगवरस्वरूपम् , नचापाक्वतत्य विश्रहस्य पाक्कतरसादिमयस्वम् । अतः परिशेषात् रसादीनामेव विश्रहस्वमुक्तं स्यात् । तत्र समिष्टःयिष्टमोवेनांश्च त्वोक्तिनिष्पत्र । तस्मात् तदुरपिततादधीन्यादिभिरेव सामानाधिकरण्यगमिका समीचीना । मेदाभित्येव कस्याणगुणतादास्यविवक्षायाम् अकस्याणरिषि सर्वास्मनस्तस्य तादारम्यात् समस्तहेयाम्पदस्वादिवेषम्बन्नः । एवमुत्तरेप्यपि सामानाधिकरण्येषु भाव्यम् ।

अष्टमे च 'कि तद्रक्ष' (१) इत्यादिपश्चानामेकाधिकारिवेद्यविषयःव तत्नैवास्माभिर्नराकृतम् । व्रयायुर्दिवसकरपना पौरुषाहोरात्रकरपनामृत्नमहाकरवपिक्रियोपन्यास्थ्य स्मृत्यन्तरानुमारेणास्माभिरप्यभ्युपन्यात् हिरण्यमभिद्रवसावसाने महाम्रुष्ठयवादिनामयमुपाल्यमः: 'प्रयं प्राप्य न निवर्गन्ते तद्धाम परमं मम'
(२१) इत्यस्य परमन्योमविषयतायां सिद्धान्तिवरोधामावेऽप्यत्न परिगुद्धात्मविषयत्वे युक्तयमत्त्रवेदावस्यापिताः । यत् पुनः 'अभिव्योतिः' (२४) 'धूमो रातिः' (२५) इत्यत्नामिधृमशब्दाभ्यामहोरात्रेकदेशभृतः कालविशेषो लक्ष्यत इति–तदसत् ; तत्तच्छन्देरत्न द्वयानपितृयाणाल्यगतिद्वयभत्यभिन्नानत् , 'नैते सती' (२७) इति निगमनात् , 'यत्न काले' (२३) इत्युपकमस्थकालशब्दस्य
कालाभिमानिदेवतातिवाहिकम्यस्त्वविवक्षया स्थापितत्वाच । अतः 'उद्गयनपृवेपश्चाहःपृवीद्धसत्तिवाते
व्रक्षविद्धर्योगिभिरपुनरावृत्तये प्रयातव्यम्' इति नियमनमशवयम् । दक्षिणायनापरपश्चापराद्धरात्रियु प्रयातानां योगिनां चान्द्रमस्त्वयोतिः प्राप्य पुनरावृत्तिपादनमुत्तेरणं स्थेकेन क्रनमित्यप्यसतः ; "निशि
नेति चेत्र संवन्यस्य यावहेहमाविस्वाह्यर्थति च" (व ४.२.१८), "अत्रध्यायनेऽपि दक्षिण्यः" (१९)

अतासद्द्विडव्याख्याग्रन्थे लिखितं द्रष्टव्यम् ।

इत्यधिकरणाभ्यां दक्षिणायनरात्रिमृतस्यापि योगिनस्तैतिरीयोक्तपित्रया चन्द्रसायुज्यपूर्वकं पर्वश्च प्रास्त्रयुनराष्ट्रस्योः समर्थितःवेनास्य श्लोकस्य साक्षाद्योगिन्यतिरिक्तपूमादिमार्गोचिताधिकारिविषयःव न्यवस्थापनात् । यच न कथं पुनः अभिज्योतिर्भूमज्ञन्दयोग्र्ययोक्तकान्नविद्योग्रत्रस्यनयाभ्यत इति परिचोदनापूर्वकमुक्तम् , 'श्लुतिषु च समस्ताषु उदगयनपूर्वपक्षाहःपूर्वाह्णानां सामान्यतो दैवकमीज्ञन्त्वोपदेशात् प्रयाणकान्त्रसरणस्यापि दैवत्वाविशेषात् <sup>1</sup>शास्त्रान्तरेष्वनयो दैवकमीत्वेन दक्षिणायनादिषु वर्जनमसङ्गादिति, .........(१) ।

यत् पुनः — 'असमाहितचित्तानामिष सुकरं सुखावगमं क्षिपं फळं प्रति भगवरप्रपित्तियकारं वक्तुं भगवानुवाच इति नवमारम्मे व्याख्यानम् , तदिष पूर्वोक्तज्ञानिसाध्यानन्यभजनस्यैव प्रपश्चनपरत्वप्रतीतिरपाळ्तम् । यच 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' (१५) इति छोके प्रकल्वितम् , "सांख्ययोगाभ्यां समुचिताभ्यामुपासनमेकत्वेनोपासनम् ; विकल्पिताभ्यामुपासनं प्रथक्तवेनोपासनम् ; विकल्पिताभ्यामुपासनं प्रथक्तवेनोपासनम् ; विकल्पिताभ्यामुपासनं प्रथक्तवेनोपासनम् ; केचित् कर्मयोगवुद्धियोगाभ्यां समुचिताभ्यामुपासते ; केचित् केवलेन कर्मयोगवुद्धियोगाभ्यां समुचिताभ्यामुपासते ; केचित् केवलेन कर्मयोगवुद्धियोगनत्येवं बहुषोपासते'' इति । अत्र सांख्ययोगादिप्रसञ्जकं न क्रिट्विन्द्द्वयते । 'अहं कृतुः' (१६) इत्याचनन्तरविवरणप्रम्थानुसारेण एकत्वपृथवत्वयोगादिप्रसञ्जकं क्रिट्विन्द्वयस्य ॥ ''अनन्याश्चिन्त्यन्तो माम्'' (२२) इत्याद्यते तु, ''न चावश्यभाविने योगक्षेमायापि मद्धक्तेरेकान्तिभिर्देवतान्तराणि धर्मान्तराणि वाऽपेक्षणीयानि'' इत्यादिकं सर्वमङ्गीकृतनस्सामिः । द्रश्मे च, 'विस्तरेणात्मनो योगं विमृतिं च' (१८) इत्यत्व योगशव्यत्यः मगवत्कर्मयोगविषयत्या व्याख्यानम् युक्तम् ; 'पश्य मे योगमैश्वरम्' (११.८), 'एतां विमृतिं योगं च' (१०.७) इत्यादित्रत्यभिज्ञाविरोधात् ; अनन्तरमित्वध्ययो तिद्वस्तरादर्शनाच । मत्कर्मकृदित्याधेकाद्वश्चायानित्वर्थक्तव्या सामानाधिकर्ण्यवर्णनमपि प्रागुक्तस्त्रदेषस्वादित्रसङ्गक्तियया परास्तम् । एवं श्रीविश्वरूप्वविग्वस्त्वाय्वव्यवत्वेन विश्वस्य वर्णनमपि प्रागुक्तस्त्रीवस्वादित्रसङ्गप्तव्यवस्य परास्तम् । एवं श्रीविश्वरूप्वविग्वस्त्वाव्यवस्यने विश्वस्य वर्णनमपि प्रागुक्तस्त्रीमागादवश्चतम् ।

द्वादश्चोक्तस्वाक्षरोपासनस्य भगवद्यपासनाद्धेदः स्ववावयसारस्यपुरुषोत्तमस्वादिपकरणान्तरकरस्या-दिभिः साधितः । यत् पुनः, "भेदच्यपदेशास्तु कथेचिदवस्थाभेदमाश्रित्य नेतन्याः ; अवस्थाभेदश्चात्त निर्विद्योवनिस्तिलवस्तुमात्तस्यता, आविर्भृतसमस्तकल्याणगुणसमष्टिरूपता च विवक्षिता", इति ; तदे तत् अनेकविषयव्यापातिवसंस्युलमात्रुमारमपद्दास्यम् । अन्यत्त च दूषणप्रपञ्चनादिहोपरम्यते । त्वयोदद्ये श्रेतज्ञविषये वक्तव्यं सर्वे पूर्वमेवोक्तम् । यत्य तद्तिः (३) पाठोऽप्रसिद्धः । तथा पाठेऽपि ज्ञान-परामशोऽस्वरसः। क्षेत्रस्य नित्यस्वेनाहेतुकस्यात् हेतुनं निर्दिष्ट इस्युक्तमिति चेत्-सत्यमुक्तम् ; दुरुक्तंतु तत्,

उपात्तग्रन्थगतमुत्तरवाक्यजातम् अत्र विषये खण्डनञ्च नष्टम् । खण्ड्यांशः शांकरभाष्य-व्याख्यागतः स्थात् ।

<sup>2</sup> तदुत्तरम्-कर्मयोगविस्तरप्रक्तस्योत्तरभूत इत्यर्थः। पृथगेकादशाध्यायार्थाविचारो गतार्थत्वात्।

'महामुतान्यहंकारः' (५) इत्यादिना वस्यमाणस्य क्षेत्रसाय्यक्तःयतिरिक्तस्य समग्नस्यानित्यस्वसंपितिवत्तेः 'तस्माद्य्यक्तसुत्वत्तं त्रिगुणं द्विजसत्तमः' (भा. मो. २२५. २१) 'अय्यक्तं पुरुषं व्रम्नतिष्किष्ठे संप्रकीयते' (,,, २४७. २१) इत्यादिभिर्नित्यस्याप्यव्यक्तस्य परव्यक्ष्ययेकीमाववचनाच । यन 'व्यस्तस्वविदेशवे (४) इत्यत्नोक्तम्-'क्षेतादिन्द्वच्यवस्यापनपराणि पश्चित्रसादिवणीनानि मृत्वपदानि' इति, तद्य्यनादेशिकम् ; पश्चित्रसादिव्यश्चे व्यस्त्रप्तिस्वधभावात् । यतु, ''मद्रक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोप् पद्मते'' (१८) इति निगमनात् भगवानेव 'ज्ञयं यत् तत् ववस्यामि' (१२) इत्यत्न ज्ञेयस्वेनोक्त इति-तन्न ; 'इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चौक्तं समासनः' (१८) इति निगमिनानां वयाणामेतन्द्वव्यदेनानुवादात् , तत् श्लेत्ज्ञानक्त्यस्यापि मोक्षोपयोगित्योपपनेः, क्षेत्रादिज्ञानक्त्यस्यापि शास्त्राध्यस्यस्त्रज्ञानस्त्रसापि सोक्षार्थस्यस्त्रज्ञासित्तुभगवतः समाराधनक्त्यस्त्रन्तं, 'मद्रक्त एत्यृविज्ञाव' (१८) इत्यनेन विरोधामावाच।

यद्पि चतुर्देशे, 'मम योनिर्महद्भा निस्तन् गर्भे द्धार्यहम् (३) इत्यत्र परावर्षऋरवोजींवा व्यक्तसंज्ञयोरंशो मिलितो गर्भः' इत्युक्तम् । तत्र त्रबंशव्हेनात्यक्तम्य निर्देष्टवात् तत्र नदंशाधानवजनस्य प्रयोजनामावात्, 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' (१३. २६) इत्युक्तम्य चात्र पत्यंभज्ञानात् गर्भशब्देन चेतनिविवक्षैत्र युक्ता । "सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायने । ज्ञाने यदा तदा विद्याष्ट्रिद्धं सत्त्वमित्युत'' (११) इति स्रोके प्रकाशज्ञानशब्द्योः बाद्धान्नरिद्ध्यश्चितिविषयनया व्यवस्थापनमञ्जवयम्, 'विपरिवर्तेऽपि विरोधाभावात् ; वस्यमाणराजसतामसज्ञानन्यवन्द्धेदार्थे प्रकाशज्ञावद्भयोगोपविषेध्य । रजः- कार्यक्षेके स्रोभप्रवृत्तिवर्धेभोद्भव इति समम्तनया व्याक्यानमयुक्तम् ; तथाऽनध्ययनात् , 'अपकाशोऽ- प्रवृत्तिथ्यं 'इति तमःकार्यक्षोके सत्त्वकार्यपकाशनिपेधवत् रजःकार्यपकृतिनिपेधस्यापि पृथगुपन्यासात् तत्प्रतियोगितया प्रवृत्तेरिह पृथक्तिनिर्देशोपवरोः। 'आरम्भः कर्मणाम्' इत्यस्य तु गोवस्रीवर्दन्यायेन निर्वाहात्।

पश्चद्रशेऽिष, 'मप्रवेयतः 'मप्रवितः' (४) इति पाठोऽपिसद्धः । यदिष, 'ममैवांशो जीवलोके जीवस्त्रस्मातनः' (७) इत्यत्न संसारित्यितिरिक्तः सर्वेश्वर्स्थैव किश्चदंशो जीवशब्दार्थतया प्रथमं व्याख्यायि-तल-यद्यपि वर्षविरोधो नास्ति, तथाऽिष विम्निषकरणमध्यपाठात् , अन्नर्यामणम् 'सर्वस्य चाहं हृदि सिन्निवृष्टः' (१५) इत्यन-तरमेव वश्यमाणस्वात , परमारमांश्रविशेषे च जीवशब्दस्य प्रसिद्धिमकर्षामावात् , मानवादिशाखान्तरप्रसिद्धेरिष 'जीवस्तां महावाहो' (७. ५) इति खशाख सिद्धेव्यव्यत्तेन स्वीकृतुंमुचितस्वात् , 'विषयानुपसेवते' (९) इत्यत्न च प्रतिकृत्येदासीनभोगेभ्यः संकोचस्य क्रिष्टस्यात् , उत्क्रमणाबुक्तः, हृद्यश्यासेर-त्रर्थामणः खारम्यात् , इत्द्रिश्याधिष्ठानेश्वर्यः प्रकर्णोचितार्थपप्रप्यपत्ते, 'आस्मय्यवस्थितम्' (११) इत्यत्र च आस्मशब्द्रस्य नानार्थस्य प्रकर्णोचितार्थपप्रप्यपत्ते, 'आस्मय्यवस्थितम्' (११) इत्यत्र च आस्मशब्द्रस्य नानार्थस्य प्रकर्णोचितार्थपप्रस्य प्रतर्णे इत्यत्य च हित्रीये योजना माष्यकृत्यमना सभीनीति मन्यामहे । 'वेर्देश्व सर्वेद्यस्य च जीवस्वपरमक्रतिव्यतिरिक्तं सक्त वृत्तिश्च सायुतरा ।

<sup>।</sup> तथापाठेऽपि निर्वाहः भाष्यादौ अन्यथापद्विभागेन इत एव ।

इदं ते नातपस्काय नामकाय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यस्यति॥ ६७ इदं ते परमं गुद्धं शास्त्रं मथाऽऽख्यातम् अतपस्काय अतप्ततपसे त्वया न वाच्यम् ; त्विय चक्तरि, मिय चामकाय कदाचन न वाच्यम् । तप्ततपसे चामकाय न वाच्यमित्ययं।। न चाशुश्रूषवे । भक्तायाय्यशुश्रूषवे न वाच्यम् । न च मां योऽभ्यस्यति । मत्ब्रुरूपे मदैश्वये

यतु पोड से प्रोक्तम्-प्रकारान्तरेणाप्यर्जुनस्य शोकमपनेतुं देवपक्रतीनां रूपं, तेषां परमकत्याण-प्रत्यासितः, अर्जुनस्य दैवपक्रतित्वम्, आयुरपक्रतीनां रूपं, तिविभित्तता च सकलस्यानर्धवादः तिक्त-मिति नत्ययुक्तम् ; शास्त्रारम्भेऽर्जुनस्य स्वपक्रत्यतिर्घारणम्लशोकप्रसङ्गामायात्, अत तत्यसिङ्ग तद्यनोदनस्यापि पासिङ्गिकस्य युक्तत्यात् । अतः, "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" इति निगमनानुतारेण सगवद्यापुनेयोक्तपक्षियया शास्त्रवर्थतेवाध्यायप्रधानार्थः ।

सप्तद्शे श्रद्धात्रैविध्यं शास्त्रीयेतरविषयनित्ययुक्तम् ; अनन्तरम् 'अशास्त्रविहितम्' (५) इति पृथगिमिधानात् । न च तत्र श्रद्धात्रैविध्यमिषि समुचेतु शक्यम् ; तदनुक्तेः तत्क्ळप्तयनुष्यतेश्च । 'ओं तत्सिविति निर्देशः' (२३) इत्यत्न मुसुसूणां यज्ञादिषु किंचिदक्तं तेषां वीयोतिशयार्थमुपदिश्यत् इत्ययुक्तम् , अमुमुक्षूणामिषि तद्विरोधात् विशेषकाभावाच । अतः, 'लक्षणं शास्त्रसिद्धस्य विधा' (गी. सं. २१) इत्ययमेवार्थं उचितः ।

अष्टादशे त्यागलरूपादिविवेके नातीव विरोधः ; वरमश्चीके वक्तव्यं तु सर्वे स्कमसामिः । एवमन्येपविष भूतेषु भविष्यत्म च श्रीमहीताभाष्येषु भगवद्याद्धनाचार्यभाष्यकारहृदया(मता)तु-सारेण विद्योहः प्रशमयितव्यः ; अक्षण्याचित्रे वर्षणिक्यवोजन मेनेषु च उदासितव्यमित्यरुमतिवसङ्गेन ।

पिशाच-रन्तिदेव-गुप्त-शङ्कर-यादवप्रकाश-भास्कर-नारायणार्थ-यञ्चलामिशसृतिनिः स्वस्व मतमास्थितैः पर्दशतैर्भाष्यकृद्धिः, अस्मरिसद्धान्ततीर्थकरैश्च भगवद्याद्धनाचार्यभाष्यकारादिभिः अवि-गीतपरिगृहीतोऽयमल सारार्थः-भगवानेव परं तत्त्वम्, अनन्यशरणैर्यथाधिकारं तदेकाश्रयणं परमर्थमेः इति ॥

एवं स्वोपदेशेन प्रतिष्ठिततस्विहितज्ञानस्यार्जुनस्य कर्तस्यविशेषोपदेशस्याजेन संभदायविधिसिद्धधर्थमस्मिन् साक्षेऽनिधकारिणस्तावत् च्यनिक इदं त इति स्रोकेन । इद्मिति सामान्येन निर्दिष्टं
पूर्वापरभ्रन्थस्थैः पदैविंबुणोति इदं ते परमं गुद्धं साक्षं मधाऽऽख्यातिमिति। अत्न तेशन्दः 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' इति स्रोकादाङ्कष्टः ; स्रोकस्थस तु तेशन्दस्य त्वयेति न्याकिया। अतपस्कशन्देन तपःप्रारम्भमाले क्रतेऽपि श्रवणानधिकारित्वं विविश्वतिमत्याहं अतस्तपम इति। ''यस्य देवे परा भक्तियेथा देवे तथा
गुरौ।' (श्व. ६. २३) इति श्रत्यनुसारेणाह त्वयि वक्तिरि मिष ाभक्तायेति। अभक्तस्ये विशेष
संकोचकामावात् , मद्भक्तेष्वरिमास्यतीत्यनन्तरं भक्तावादर्दर्शनाच। कद्राचनेत्यनेन तपि
सन्यगनुष्ठितेऽपीति विविश्वतिमत्याहं तस्तपसे चामक्तायेति। प्रत्येकपरिहरणीयस्वाय च नन्ध्रयोगाऽऽवृतिः। उत्तरीचरतीत्रत्वतात्येण कमिथेशेष इत्यमिप्रायेणाह भक्तायाष्यग्रश्रुवव इति। अल्रापि

महुणेषु च कथितेषु यो दोषमाविष्करोति, न तस्मै वाच्यम् । अप्रमानविभक्तिनिर्देशः तस्यात्यन्तपश्हिरणीयताज्ञापनाय ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेषु यः अभिधास्यति व्याख्यास्यति, सः मयि पश्मां मक्ति कृत्वा मामेवैष्यति : न तत्न संशयः ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९

संकोचहेरवभावः(वात्) पूर्ववत् । "प्रवृहि तं अह्मानाय' मद्यम्" (क. १. १३) इति क्रुत्या च गृश्र्वाप्राधान्यमवगतम् । मामभ्यस्यति मद्यमभ्यस्यतीत्वर्थः । कुष्वदृहेर्न्यान्यार्थनामित्यत्व, यं प्रति कोषः (अष्टा. १. ४. ३७) इति कर्भरतस्यापि सिद्धत्वात् द्वितीयाऽवानपोदिता । मां भत्यस्यतीत्युक्तं भवति । विषयतो छक्षणतन्ध अस्यां व्यवक्ति मत्वस्य हति वक्तव्ये प्रक्रमभङ्गेन विक्रपवानयकरणं केनाभिषायेणीत्यताह असमानेति । 'अस्यकायानृजवे' (भा. मो. २४६. १७), 'अस्यकाय मां मा दाः' (मनु. २. ११४) इत्यादिभिरस्यामात्रवते प्रवचनं निषद्धम् । भगवत्यभ्यस्यवते तु प्रवचनस्यन्यपद्धरायित भावः । न च....बाच्यम् इत्यनेनानधिकारिषु प्रवचने प्रत्यवायः स्वितः । अत्र 'मेधाविने तपस्वने वा' इत्यनयोर्विकल्पोऽन्यत्व दृष्टः ; भक्तादेस्तु न तथा । अतो भवत्यादिरहिताय न मेधाविने नापि तपस्विने वाच्यम् ; सर्वगुणयोगेऽपि भगवत्यभ्यस्यग्वावते न वाच्यमित्युक्तं भवति ॥ ६७ ॥

अश्राधिकारिविद्रोषेट्ववइयवक्तव्यतं तेषु वचनस्यापवर्गाष्ट्रथक्रस्पर्यवसानं चोच्यते य इद्मिति स्रोकेन । मञ्जक्तिव्यसन्तैवातपरकःवादिद्रोषा दूरोत्सारिताः, सितमनसां तेषां तदसंभवात् । "श्रावयेचतुरो वर्णान्" (भा. मो. २२५. ४८) इत्येतावता सर्वेषु वक्तव्यम्<sup>2</sup>, तेष्वेव मञ्जका एव श्रव णाधिकारिण इत्युक्तं भर्वात । अलाभिधास्त्वीति अर्थश्रावणपर्यन्तितिस्याह व्याख्यास्तिति । यद्भुव-वशात् भा इति अध्याहतम् । योग्येषु व्याख्यानमपि कर्मयोगादिकोटौ, भक्तियोगाङ्करे वा निविद्यं परभक्ति जनयतिति मिक्तं प्राय कृत्वेत्युच्यते । मामेवेत्यवधारणेन मद्गीताव्याख्यायिनो न क्षुद्रकलेषु सङ्गं जनयामीत्यभिष्रतम् । अर्थलेतमाह न तत्र संश्रय इति । असंश्रय इति संशय एव वा निषिध्यते ॥ स्वशाख्याख्यानस्य स्वशासिसाधनत्वे द्वारसुच्यते न च तस्यादिति स्रोकेन । विश्वकृतमत्व

श्रद्दधानायेत्येतत्त्तमानार्थकत्वात् शुश्रुषुत्वं तीवश्रवणेच्छावत्वम् : न तु परिन्वरणकर्तृत्वम् ।
 यद्यपीति वा येषिवति वा यथोचितं पदमध्याष्ट्रत्य पतद्धीं व च्यः । नन्वेवं विप्रपुरस्करणेन

यवपाति वा पाण्यात वा प्रयाजित पद्मच्याहृत्य पतद्या व.च्यः । तन्त्रव विप्रपुरस्करण सर्वेऽपि गीताभाष्यं श्राविधनव्याः । उच्यते । श्रुतिवाक्याद्युगन्यासं विना हि नटा वक्तव्यम् ।

<sup>3</sup> अङ्कुर इति । 'अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मगरभो भवेत्युक्तेरिति भावः ।

<sup>4</sup> बहुर्वाहिसमास प्वातेति पक्षे इदं फलितकथनम् । तत्पुरुषोऽपि भवतीति स्वीकृत्याहोपरि ।

सर्वेषु मनुष्येष्वितः पूर्वे तसाद्वयो मनुष्यो मे न कश्चित् प्रियकुत्तमोऽभृत् ; इत उत्तरं च न भविता । अयोग्यानां प्रथमप्रुषादानं योग्यानामकथनाद्षि तस्कथनस्यानिष्ठतमत्वात् ॥ अध्येष्यते च य इमं धम्यं संवादमावयोः । बानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मितः ॥ ७० य इममावयोधेम्यं संवादमध्येष्यते, तेन ज्ञानयज्ञेनाहमिष्टस्यामिति मे मितः-अस्मिन् यो ज्ञानयज्ञोऽभिधीयते, तेनाहमेतदस्ययनमात्रेषेष्टः स्यामित्यर्थः ॥ ७० ॥

प्रियतरत्वयोहेंतुकार्यमावेन मित्तेरयुपातिकययैवान्वये संभत्यिष कास्त्रवविविधेऽधेगौरवेण तात्पर्यस्त्रद्यं मनुष्येष्वतः पूर्वमित्याद्युक्तम् । नतु शास्त्रत्याधिकारी अपेक्षितः ; अतः स तावत् वक्तव्यः ; अनिधकारी तु तत एवार्थात् वयुदस्यते ; प्रधानतमाद्यिकारिणोऽनन्तरं वा व्यवच्छेयतया—अनिधिकारि वक्तव्यः ; इह तु तद्वैपरीत्ये कि निवन्धनित्यत्वाह अयोग्यानामिति । तन्क्यमस्य-अयोग्यान् प्रति कथनस्येत्यर्थः । अनिष्टतमत्वान्-अनिष्टतमत्वज्ञापनार्थिनित्यर्थः । योग्यानामकथनन्यः-निष्टत्वम् , 'प्रोवाच ता तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मु. १.२.१३) इति ब्रह्मविद्याप्रवचनस्य वैधत्वाह्यस्यते । प्रोवाच श्र्यादित्यर्थः ; 'छन्दिस छङ्ग् हिटः' (अष्टा. ३. ४. ६) इति विधानात् । अन्यथा 'स गुरुमेवाभिगच्छेत' इति प्रथमेन वावयेनानन्वयात् ॥ ६९ ॥

एवसुपदे ष्टुः फलमुक्तम् ; अथ शब्दतोऽर्थतश्च गुरुसकाशादृष्येतुः फलमुच्यते अध्येष्यते इत्यादिना स्रोकद्वयेन । (१) मृशुयादिति परेरधीयमानपाठश्रवणमातं वा । अध्येष्यते इति । न हि सर्वज्ञस्य भगवतो भवित्यद्वारतिनवन्यावेक्षणेन स्वतंवाद्वाध्ययनमावित्वोक्तिः ; अपितु मृतावेक्षणेन । महाभारतं हि धृतराष्ट्राष्ट्र्यंद्वतः प्रागेव भगवत्यसाद्युक्त्यदित्यवश्चुषा भगवता व्यासेन निवद्धम् ; अनुज्ञातं च शिष्येभ्यः; तैश्च 'नारदोऽश्रावयत् देवान् असितो देवलः पितृन् । गन्धवैयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ॥' (भा. आ. ११३) इति मानुष्व्यतिरिक्तेषु लोकेषु प्रकाशितम् । मानुषे तु लोके जन्मेजयपुरस्कारेण प्रकाशित्यिः (भा. अत्रा. ११३) इति मानुष्यतिरिक्तेषु लोकेषु प्रकाशितम् । मानुषे तु लोके जन्मेजयपुरस्कारेण प्रकाशित्यिः (भा. अत्र. ११३) इति याः प्रथमपट्के ज्ञानयज्ञोऽभिहितः, नासायत्र विविश्वतः दृष्यि मक्तियोगप्रकरणे, "ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते" (९. १५) इति यो भगवदनुसंवान्विशेषस्पो ज्ञानयज्ञ उक्तः, स एवाल शास्त्रसारम्तो विविश्वत इत्यमिपायेणाह अस्मिन् यो ज्ञानयज्ञ हति । विश्वत्यपे पात्रस्य मान्नतेष्टं भवति । अयमभिपायः— "योऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद" (अश्च. २), "यंथं क्षनुमधीते तेनतेनास्येष्टं भवति ' (य

१ इदमनिवतिमिव । अथवा चकारर्थविवेकोऽत । चकारार्थः पूर्वश्रोकोकोपदेष्टु फलसमुखयः इति अवतारिकया शापितम् । अन्यः चकारार्थं इहोच्यते । श्रृणुयादितीत्यनेन य इदंश्युण्याश्चित्यं यक्चापि परिक्रतियेदिति वाक्यानुसंधानम् । तन्त्यायेनात्रापि अवणशातस्यापि फलिनित । वस्तुत इदं वाक्यमुत्तरश्लोके श्रृणुयादित्येतद्व्याख्यानान्ते स्थितं ततक्बुतिमिति तत्रैव निवेक्यम् ।

<sup>2 &#</sup>x27;विधियक्। जापयक्षो विशिष्टो दशिभर्गुणैः' इत्यादि मार्गिम्।

श्रद्धावान् अनस्यु(य)श्र श्र्णुयाद्यपि यो नगः। सोऽपि मुक्तः श्रुमांहोकान् प्राप्त्यपत् पुण्यकर्मणाम्॥ श्रद्धावान् अनस्रपुत्र यो नरः शृणुयाद्षि, तेन श्रवणमात्रेण सोऽपि मक्तिविरोधि-पापेक्यो मुक्तः पुण्यकर्मणां सद्धकानां द्योकान् समृद्दान् प्राप्तुयात् ५ ७१ ॥

कचिदेतच्छुतं पार्थं त्वयैकाप्रण चेतसा । कचिद्रकानसंमाहः प्रनष्टस्ते धनअय ॥

COI

मया कथितमेतत् पार्थं त्वया अव हेतेन चेतमा कचित् अतम् , तवाज्ञानसमोहः कचित् प्रनष्टः, येनाज्ञानेन मृहो न योव्यामीत्युक्तवान् ॥ ७२ ॥ अर्जन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्कथ्या त्वत्प्रयादानमयाऽच्युत । स्थितोऽस्मि गतसंदेतः करिष्ये वचनं तव ॥ मोहः विपरीतज्ञानम् । त्वत्प्रयादानमन तत् विनष्टम् । म्यृतिः यथावस्थिततत्त्वज्ञानम् ।

आ. २. १५) इत्यादिषु यथा तत्तकात्वध्यवनस्य न्तुल्यफलना, तथा अत्रापि ज्ञानयज्ञवन् भगवन्धीति-जनकत्वं तद्गीताध्ययनस्य इति ॥ ७० ॥

'श्रद्धावाननसुयुश्च' इति चकारादलानुषकानामपि प्रायुक्तानां प्रणिपानविष्यश्चर्यानां ग्रहणम् । श्रृणुयादित्यनेन आचार्यसकाशादिनि गन्यते । श्रृयते हि, "तिह्नज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" (स. १. १. १२) इति । "आचार्याद्धेय विद्या विदिता साथिष्ठं प्राप्तः" (छ. ४. ९. १) इति च । एतेन स्वयं गन्धितिशिक्षणम् , अन्यायेनान्यसाहृत्यं च त्यविष्ठवते । [शृणुयादिनि परेरधीयमान्यावश्ववणमात्तं चा १] । सोऽपीनि विरुत्यः स्वयते । तेन मिक्तिवेगेषिभ्यो मुक्त इत्युक्तम् । अन्यथा विध्यन्तर्वेवस्यविद्यसङ्ग इति भावः । अर्थज्ञानादिननध्य केमुत्यम् अपिशन्देन व्यक्तितम् । प्रवचनवरुत्रवेभेविक्तम् पूर्वमुक्तस्य पूर्वमुक्तस्य प्रवम्यत्रव्यायान् श्रवणऽपि तादशक्तं भगवद्मभिनेतं स्वीकर्तुम्वितम् ; न तु नरकक्तस्यक्षमीदिः, तत्याभरनिमनत्यान् । अतो मद्भक्तानां सोक्तिस् समृहानित्युक्तम् । अत वादश्ववणादियीनो भगवान् एतं स्थनकान् प्रत्यवित् । भगवद्भकानां प्राप्तिर्हिं योगोवदेशादिद्वारा मोक्षाय स्यात् ॥ ०१ ॥

अथार्जुनस्य विदितारानोऽपि भगवान् आदरेग अविस्मरणानोपदेशमाफन्यं जिज्ञामगान इव प्रस्कृति किस्ति। एतदित्यर्थपर्थन्तस्यान् अनिमिति अथेपीपर्यन्तम् । मन्कथिनमेनत् कि निर्धिक मित्यभित्रायेणेतस्थल्य इत्याह मया कथितमेत्रिति । अज्ञानसेनोटः किस्ति प्रनष्ट इति श्रुनफलानुयोगः । अज्ञानहेतुकं आन्तिज्ञानमिहाज्ञानसंगोदः । येनाज्ञानेन मृद इत्यस्य अज्ञानसंगोह इति प्रतिनिर्देशे तेनाज्ञानेन जनितसंगोह इत्यन्ययो भाष्यः ॥ ७२ ॥

अथ कृतज्ञतांशं वयक्षयन् श्रुनफळिनिद्ध्या प्रतिविक्ति नष्टो मोहः इति । अजेनेनास्यार्थस्येतः पूर्वमनन्त्रमात् वाक्येन प्रथमं म्मृतेरनुद्दयात तम्मृलमृतज्ञव्यज्ञन्योऽनुभव इहः म्मृतिज्ञव्देन रूक्यत् इत्याह म्मृत्येथावस्थिततत्त्वज्ञानमिति । "स नो देवः गृमयः ममृत्या संयुनकु" (ना) हत्यस्य मम्बस्य, "स नो बुद्धया ग्रुमया संयुनकु" (वे. ३. ४) इति शाखान्तरे पाटदर्शनात ममृतिबुद्धि-

त्वस्प्रसादादेव तच लब्धम्। अनात्मनि प्रकृतौ आहमाभिमानाह्णो मोहः, परमपुहण्यग्रेरतया तदात्मकस्य क्रत्स्नस्य चिद्विद्वस्तुनः अतदात्माभिभानहृत्यः, नित्यनेश्मानहृत्यः क्ष्मैणः परमपुहणागधनतया तत्प्राप्त्युपायभृतस्य वन्धकत्ववृद्धिरूप्य सर्वे विनष्टः। आत्मनः प्रकृति-विलक्षणत्व-तत्स्यभावरहितता-ज्ञानृत्येकस्यभावता-परमपुहण्येवता-तिव्याम्पत्येकस्यस्यता ज्ञानम्, निखिलजगदुद्भवस्तित्रलयलील-अश्रेषाविकानविध्यम्पत्रस्य विवयम्पत्यक्षित्रस्य विवयम्पत्यक्षित्रस्य विवयम्पत्यक्षित्रस्य विवयम्पत्यक्षित्रस्य विवयम्पत्यक्षित्रस्य विवयम्पत्यक्षित्रस्य विवयम्पत्यक्षित्रस्य विवयम्पत्रस्य विवयम्पत्यक्षित्रस्य विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित्रस्य विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्रकृति विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्रकृति विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्रकृति विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्रकृति विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्रकृति विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्रकृति विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयम्पत्यक्षित् विवयस्य विवयस्य

धृतस्ष्ट्राय स्वपुत्राः पाण्डवश्च युद्धे कि <sup>1</sup>कस्थिपनीति पृच्छते संजय उवाचरू

्रद्रत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः । संवाद्मिममश्रीपमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ इति एवं वासुदेवस्य **वसुदेवस्रनो**ः, पार्थस्य च **तत्पिनृष्वसुः पुतस्य च** महात्मनः सहा-

शन्दावरूर्विप्रकॉर्णेकार्थी युक्ताविति भावः । निवर्धमोहस्वरूपं च उपदेशस्य आम्.ठचूड्परामर्शेन व्यन्ति अनात्मनीत्यादिना । प्रकृतिविन्दक्षणस्य स्वकाशस्यादिभिः । विकाराचमावात् तरस्वभाव-रहितता । स्वस्थः प्रकृतिस्थ इत्यर्थः । उपदेशवचनस्य स्वरूपेणाननुष्ठेयत्वात् तेन तरपित्यायं रुक्ष्यत इत्याह यथोक्तं युद्धादिक्तिति । उपवेशवचनस्य स्वरूपेणाननुष्ठेयत्वात् तेन तरपित्यायं रुक्ष्यत इत्याह यथोक्तं युद्धादिक्तिति । उपवं चाभिषायः(१)...। आदिशन्दिन भक्तियोगपर्थन्तप्रहणम् । अननुष्ठानं तु स्पृतिश्रंशात् । इति हि (स्पृतिश्रंशादिति हि) वस्यति, "यतु तत् भवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहदात् । तत् सर्व पुरुष्ययात्र अष्टं मे नष्टचेतसः" (भा. आध. १७. ६) इति । प्रतिवश्यति च भगवान्, "श्रावितस्यं मया गुद्धं ज्ञापितश्च सनातनम् । धर्मं स्वरूपिणं पार्थं सर्वद्योकांश्च शाश्चतान् । अबुद्धचा यन्न गृहीयास्तन्मे सुमहद्वियम् '....स हि धर्मः सुपर्योतो त्रज्ञणः पदवेदने" (१२) इति ॥ भगवाः पाण्डवाश्चेव किमकुर्वेत संजय' (१.१) इति प्रश्ने कृत्वः संगमयतीत्याह ।

किंकरिप्यन्तीत्यस्य किमकुर्वश्चित्येवार्थः । भीष्मपतनानन्तरं हि तत्प्रश्नः ।

<sup>2</sup> अत हुरे स्थित्वा युद्धं इप्यवता भवता रथान्तः कृतस्तयोः सङ्घापः कथं धृतः, किं केवलमृहः इति धृतरापृत्वितकं च्युदमितुमाइ इतीत्यादिः अहं धृतवानेवः, तत्न कारणं व्यासप्रसाद इत्येव कित्तप्रयक्तोकानविद्यो भवति । एवप्रपान्तमस्लोकावैयर्थ्याय एतच्छलोकानरभैवान्यथा अवतारितं धृतेति इति ध्येयम् । ३ एवञ्चाभिकाय इतीदमनन्वितमिव । इदं न स्यात् । यहा अभिक्रायान्तरसमुच्यय आरब्धः , तत्वदर्शकमुगरितनवाक्यजातं अप्रमिति भाव्यम् ।

बुद्धेस्तत्यदृदृदृमाश्रितस्येमं रोमहर्पणमद्भुनं संवादमहं 1यथोक्तमश्रोपन् श्रूनवानहृष् ॥ ७४ ॥ र्व्यासप्रसादाच्कृतवान् पतद्गुद्धमहं परम् । योगं योगेश्वरात् रुष्णान् साक्षान् कथयनः स्वयम् ॥

व्यास्तवसादात् व्यासानुग्रहेण दिव्यचक्षुःश्रीत्रस्तामात् एतत् परं योगारूपं <sup>2</sup>गुद्धं योगेश्व-रात् ज्ञानवरुष्यिर्धर्यार्थशक्तितेजसां निधेर्भगवतः कृष्णात् स्वयमेव कथयतः साक्षात् श्रुत-वान् अहम् ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्यसंस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् । केशवार्जुनयोः पुण्यं हृप्यामि च मुहुर्मुद्धः ॥ ७६ केशवार्जुनयोशिमं पुण्यमद्भुतं संवादं माक्षाच्छ्रुतं स्मृत्वा(स्मृत्वारमृत्वार)मुहुर्मुहुर्दृष्यामि ॥ तच संस्मृत्यसंस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान् राजन् हृप्यामि च पुनःपुनः॥ ७७

षृतराष्ट्रायेति । महात्मनः इत्युक्तं व्यनक्ति तत्पदद्दन्द्वमाश्चितस्येति । "ऋष्णश्याः ऋष्णवलाः कृष्णानाथाश्च पाण्डवाः" (मा. द्रो. १८३. २४) इति बन्यतोक्तम् । अत च, "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां पपत्रम्" (२ ७) इति । अद्मुतत्वातिशयात् रोमद्दर्णयत्वम् । यथोक्तमश्रीपमिति । यथा ताभ्यामुक्तम्— तत्र ममाश्चुतांशो नास्तीत्यर्थः ; एतेन यथार्थदर्शित्वं व्यक्षितम् ; यद्वा यथा तव मयोक्तम्–एवमेव श्वुतवानिस्म । ततश्च यथाद्यविद्धं व्यक्षितं । भवति । <sup>1</sup>अद्दमश्रीपमिति योजना ।।

मन्दस्य मोहनकालुष्यिनृष्टिक्ष्यणप्रसादस्याताभावात् व्यासानुग्रहेणेत्युक्तम् । देवैरप्यदृश्यस्यः, श्रीविश्वरूपस्य दर्शनार्थं दृरस्यवानयश्रवणार्थं च अनुग्रहावान्तरःयापारमाह दिव्यच्क्षुदृश्योत्रलामादिति । अतीन्द्रियादिग्रहणसामथ्योदिमात्रेणात्र दिव्यत्यम् । एतदिति नपुंसकनिष्यत्यये योगश्चन्दं विदोषणीकरोति व्यामाण्यमिति । परं गुद्धमित्यश्रवगयोग्यतःभियायम् । तथामृतमपि हि मया श्रुनमिति व्यासमाहास्यव्यक्षनम् । योगश्चरादित्यत्र योगशब्दः कत्याणगुणयोगपरः, 'एतां विसूर्ति योगं च' (१०. ७) इति प्रामुक्तवित्याह ह्वानेति स्थासमेव कथयतः । न तु परैर्वाचयत इत्यर्थः । तेन वक्त्येत्रक्ष्यणेक्तिः । यथा "पञ्चरात्रस्य कृत्यस्य वक्ता नारायणः स्वयम्" (भा. मो. ३५०. ६८) इति । साक्षाच्छृतवा नहमिति । न तु विवस्वदर्जुनादितिस्छप्यद्वारेत्यर्थः ; यद्वा दूरस्थोऽपि प्रत्यत्रं श्रुनवानितं ॥ ७५ ॥

अद्भुतत्रस्वनाह राजिन्नित्यादिना श्लोकद्वयेन । पुण्यं-श्रवणमान्नेणापि ज्ञानयज्ञादिवत् पावनम् । अद्भुतं शुब्दतोऽर्थतश्च आश्चर्यावहम् ॥ ७६ ॥ 🗸

तच रूपिनत्येतत् सर्वजनप्रत्यक्षवसुदेवतनयरूपात् व्यवच्छेदार्थमित्याह अर्जुनाय प्रकाशित-

भाष्ये संवादमहमितीदमहम्पदम् अश्रीपमित्यतान्वेति । उपिर श्रुतवानित्यत्वात्यत्
 अहम्पदमिति भावः । कृष्णादिति अर्जुनस्यात्युग्रन्थश्चम् , पूर्वोत्तरश्चोकानुमारात् ।

<sup>2</sup> कृष्णोपिद्धस्य सर्वस्य योगरान्द्रेनात श्लोके विशेषणान् प्रत्यध्यायमन्ते योगरान्द्रघटनेना-ध्यायनामिनिर्देशो व्यासादिसंमत इति स्पष्टम् । तथा 'कृष्णार्जनस्वादे' इतीदं पूर्वश्लोकमनुस्त्य ।

योग्यतेति । दूरस्थत्वादशक्यश्रवणिमत्येव त : श्रवणायोग्यमि रहस्यत्वादिति भावः ।
 संजयस्यैव श्रोतृत्वे गीतां निवद्धवतो व्यासस्य श्रोतृत्वं कैमुत्यसिद्धम् । भाविनमिषु हि-स पश्यित ।

तचार्जनाय प्रकाशितसैश्वरं हरेरत्यद्भुतं रूपं मया साक्षान्कृतं संस्मृत्यसंस्मृत्य हृष्यतो मे महान् विस्मयो जायते ; पुनःपुनश्च हृष्यामि ॥ ७७ ॥ किमत बहुनोक्तेन ?

यत्रं योगेश्वरः रुःणो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीविजयो भृतिश्चेवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ अतित्सत् इति श्रीभगवद्गीतास्पनिषत्सु श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

## इति तृतीयषट्रम् ॥ श्रीमगवद्गीता संपूर्णा ।

यत्न योगेश्वरः कृत्स्नस्योचावचरूपेणावस्थितस्य चेननस्याचेतनस्य च वस्तुनो येथे स्वभावयोगाः, तेषां सर्वेषां योगानामीश्वरः, स्वसंकरतायत्तस्वरसमस्तवस्तुस्तरूपिस्यति-प्रवृत्तिभेदः, कृष्णः वसुदेवस्तुः, यत्न च पार्थो धनुर्वरः तत्त्वतृष्वसुः पृतः तत्वददुन्द्वैकाश्रयः, मैश्वरं रूपिनित । संस्मृत्येत्यस्य समानकर्तृत्वाय हृष्यामीति समिन्व्याहारानुसारेण हृष्यतः इत्युपात्तम् । दृष्टं च फळं महत्तरमिति अस्य स्रोकस्य मावः ॥ ७७ ॥

सुयोधनविजयवुमुस्सयां कृतस्य प्रक्षस्य सहसा साक्षादुत्तरं वक्तुम्शवनुवन्, "अधीक्ताः कृरु पाञ्चालाः" इति मस्य गृहामिसंधिः संवादावृभुतस्वादिकमुक्तवान् । तावताऽप्यजानतः सर्वात्माऽन्यस्य साक्षादुत्तरमाहित्याह किमत वहुनेति । अनिभायज्ञस्य ते भगवता अर्जुनायाध्यासोपदेश विध्यस्य्यप्रकाशनादिभिः पाण्डविजयस्वकैरलम् ; स्वितमेव स्पष्टं वदामीत्युच्यत इति भावः । यत्त यस्मिन् पश्च इत्यर्थः । श्रयोगेश्वरशब्दस्य कथयतस्य पास्त्यत्वासतमस्वाय पागुक्तादर्थान्तरः कथनन् ; अनेकार्थसंमवात् प्रकरणानुगुण्येन तत्तद्विशेषपरिग्रहोपपतेश्व । ईश्वरशब्दस्य नियन्तव्यशाक्षास्यया योगशब्ददेन नियन्तव्यविशेषसम्पेणं च युक्ततमम् । अतो विवश्वितविजयाधनुगुणमर्थमाह कृरस्त्रस्येत्यादिना।तत्र फलितमाह स्वसंकरोपिः। अवस्यान्तरेऽपि श्याममृतः। अतः कृष्णशब्दोऽस्रावतार-दशायामिष योगश्वरत्वेनाजहस्त्यसमावत्वस्य स्वत्यार्थ इत्यमिषायेणाह वसुदेवसुनुरिति । पार्थसवन्यविशेषोऽपि अनेन मृत्तिः । अत एव हि पार्थशब्द एवं व्याख्यायते तित्यत्वस्युः। प्रत्र । "विश्वय स्वरं चापम्" (१ ४७) इति प्रागुक्तावस्थाव्यतिरेकपरोऽस्र घनुष्वेशशब्दः भगवदनुशिष्टयशोक्तस्यार्थन्त्रस्य माल्यस्य सहास्तरः" (१८. ७४) इति प्रागुक्तमहामितव्यं पार्थशब्दन स्वितमित्याह तत्यदद्वते साथः । तत्रिति । न स्वर्ते । स्वर्युव्यवत् कृष्टणमभ्यस्य निस्तारान् परिज्ञाहिति भावः । तत्रेति असामान्यनिर्देशः प्रत्यक्षपारस्यपिहारार्थः । श्रीः— राज्यादिभोग्यसमुद्धिरुपः । विजयः श्वुविनरासः ।

हप्यत इति । अन्यथा संस्मृत्येत्यस्य हप्यामीत्यत्रान्वये, तृतीयपादो मध्यगतः भिन्नवाक्यी-कर्तव्य इति क्वेदा इति भावः । विस्मयदान्द्रघटकधात्वर्थे संस्मृत्येतदन्वयो न भवति, विस्मयस्य विधेयन्वात् । संस्मरणस्योद्देरयकोटिगतत्वात् । योगेश्वरात् कृष्णादित्यत्न परं योगेश्वर-द्यादस्य।र्थान्तरवर्णनं कुत इत्यत्वाह योगेति । प्रागुक्तात्–योगेश्वर ततो मे त्यमित्यादाबुकात् ।

<sup>3</sup> पाण्डवपक्ष एव श्रीरिति विशिष्यानिर्देश इत्यर्थः।

तत्र श्रीर्विजयो भृतिर्नीतिश्च ध्रुवा निश्चला <sup>1</sup>इति मिनिर्ममेति ॥ ९८ ॥ इति श्रीमगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीतामाध्ये अष्टादञोऽष्यायः ॥ १८ ॥ श्रीगीतामाध्यं संपूर्णम्

#### शुभमस्तु

तल ध्रुवः इति विपरिणामः। भ्रुतिः ऐश्वर्यम् ; "विभ्रुतिर्भृतिरैश्वर्यम्" (नाम. १. स्व) इति पर्यायपाठात् । तिनास्य पुरुषस्य प्रभुत्वादिशक्तियोगो विवक्षितः । उत्पन्नाय र । पृदेश्चरोत्तराभिष्टद्विरूपभवनं वा भृतिः, नीतिः अर्थशास्त्रज्ञन्यकर्तव्यतिश्वयः ; तच्चोदित्यभाविरुद्धः वा वृतिः । पदुपन्नैरवहतैरिष युष्माभिः चतुर्भिरप्युपायैरकम्पनीयो(य इतिः) नयो ध्रुवशन्दाभिषेत इत्याह तिश्वर्रोतः । मनिर्मेनत्यस्यान्वयार्थम् इतिशब्दोऽष्ट्याहृतः । ममैव मतिः, "विद्याः (मृणु) राजन् न ते विद्या मम विद्या न हीयते । विद्याहीनस्ताोष्वस्तो नाभिजानासि केशवम् ॥....मायां न सेवे अदं ते न वृथा धर्ममाचरे । शुद्धमावं गतो भवत्या शास्त्रात् वेद्या जनादिनम् " (भा. उ. ६८. २-५) इति । अतस्ते प्रवा नैवं मतिः, मम विद्या नातिस्र्वजातिति भावः ॥ ७८ ॥

<sup>8</sup>कृष्णसत्त्वं परं तत् परमपि च हितं तत्पदैकाश्रयत्वं शास्त्राबोऽयं च षट्केस्निमिरिह कथितस्तत्व पूर्वेत पट्के । भनत्यर्थस्वात्मदृष्टेः कर्युगळदशा मध्यमे भनस्युपायः स्वोक्तानुष्ठानृष्टिं द्रदियनुमिस्लंळं शोक्तमन्तेऽप्यशोधि ॥ १ ॥ अध्यायैशिशण्यमोह⁴सत्तृपशमविधिः² कमेयोगो³ऽस्य मेदाः⁴ <sup>8</sup>तस्सौकर्यादियोगस्तद्चितमहिमा<sup>8</sup> मृतिकामादि<sup>7</sup>मेद³ः(भक्तनस्कृत्यमेरौ) ।

महिमा—झानगर्भत्वम् ; भूतिकामादिभेद इति । भूतिकामादीति पृथक्परं सप्तमाध्यायविषयकम् । मेद इति अष्टमविषयकम् । यद्वा भूतिः फलम् । तद्विषयके कामे-कामनायां भेदः सप्तमोकः । आदिपदेन तत्तरुपासनानुष्टानप्रकाराणामष्टमोक्तामां प्रहणम् । भक्ततत्त्रत्यभेद इति पाठान्तरं वा ।

<sup>े</sup> भ्रवा नीतिमेतिमेत्येव संवैराहतः पाठः। कविदेव तु प्राचीनगीतेति निर्दिष्य
मुद्रिते ध्रवाणीति मितर्ममेति पाठः। अन्यत्र काःभीरमुद्रणे भ्रवा इति मितर्ममेति पाठः सर्यते । मतेः
श्रीभृत्यादिविययकत्त्रस्य शाय्यतया इतिराव्यं विना तत्तन्त्रगतेस्तद्दावस्यकत्त्रस्य शाय्ये इतिराव्याः
ध्याहारेण दर्शितम्। यदि तु श्रीप्रभृतीनामित्र सञ्जयमतेरापि भ्रवत्वं विवस्यते, इतिराव्याभावेऽपि
सामान्यतः स्मतिर्भुवत्वोक्तौ प्रकृतपार्थविजयादिविषयकस्यमतेरपि तदुक्तं भवतीति च
विस्त्यते—तदा भ्रवाः इति पदं विभव्य विपरिणामादिकं विना, तत्र श्रीर्वजयो भृतिरव मम
मितरव भ्रवाः इत्यन्ययोऽपि घटते । भाष्ये इतिराव्याग्रनिष नाष्याहारामित्रायेण ; किंतु
प्रकृतविषयकत्वं मतेः प्रत्याययितुमितीतं चन्द्रिकायाम्, "अतस्ते ध्रवा तैव मितः" इति मितिष्ठ अत्वघटनेन स्त्यते । 2 ममत्वेवमित्यादि । आचार्याणां चन्द्रिकारप्रयाव्यादितित समीचीनेयं
मितः संजातेति चात्र ध्वन्यते । 3 पूर्णगीतार्यं पर्कत्रयार्थां स्वाह कृष्ण इति । पत्तर्यानुग्रद्दरूप
प्रवार्थान्यस्यते । अस्परीयः स्रोकः ।

| भक्ति $^9$ स्तम्मूलभूमा $^{10}$ भजनसुलभता $^{11}$ भक्तिरीव्रचादि $^{12}$ जीवः $^{13}$ । त्रैगुष्यं $^{14}$ $^{15}$ शासिताऽऽज्ञा $^{16}$ तद्धिगमपरः $^{17}$ सारवर्गश्च $^{18}$ गीताः ॥ २ ॥          |  |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--|
| 1 ।  इत्यादिः सर्वयोगो भगवति परमैकान्त्यसंगीतियुक्तम् (१) ।  एषा(येषा)मन्योन्ययोगो भवति च कळ्या नित्यनैमित्तिकानां  क्रिव्वप्येतेषु योगं परममितफळं वक्तुमन्यत् प्रसक्तम् ॥ ३ ॥                     |  |
| <sup>2</sup> शुद्धादेशवशंवदीकृतयतिक्षोणीशवाणीशता<br>प्रज्ञातरुपपरिष्कृत्श्रुतिशिरःप्रासादमासेदुषी ।<br>नित्यानन्दविम्तिसन्निधिसदासामोददामोदर-<br>द्विल्लालिकनदौर्केलित्यलिकोम्मेषा मनीषाऽस्तु मे ॥ |  |
| <sup>8</sup> तत्त्वं यत् प्रणवे धनझयरथेऽप्यमे दरीहश्यते<br>तम्बतो सुवि वें <b>कटेश्वरकवि</b> भेक्तोऽनुकम्प्यः सताम् ।                                                                              |  |

## तद्धिगमपरः - श्रद्धाभेदेन तद्ग्राहिपुरुषः तद्ग्राहकप्रणवादिचिद्धविशेषो वा।

- 1 स्रोकोऽयं गीतार्थसंत्रहे उपसंहारगतानामर्थानां कोडीकाराय निवद्धः तृटितभागत्वादस्यष्टार्थः। 2 गुद्धत्यादि । अत्र यतिराजसाततौ पाठभेदः । गुद्धाः सच्छा आदेशाः गुरूपदेशो गुर्वेनुम्रहो
  स्यमीवाक्षा च । तैः करणैः वशेवदीकृतं यतिराजवाणीनां शतम् यया । यद्धा यतिराजवाणीषु ईशता
  (ईशत्यं) आदेशवशेवदीकृता यया । भगवतो नित्यानन्दभृते हे अपि विभृती । समीचीनश्च निष्धिः
  कक्ष्मीः । ततः सदा सामोदो दामोदरः । तिष्ठपयकाणि द्वित्राणि आलिङ्गनानि, भिक्तगोचरतया
  प्रपत्तिगोचरतया च स्वीकरणे हे, परतस्वपरिहतपरपुरुगर्थक्रपेण स्वीकरणानि च त्रीणि । तत्र दौर्ळलित्यम् अधिकोत्साहः । तेन लिल्ताभिवृद्धिभवतु मन्मनीषैव भगवन्मिहणी । अस्याः दिव्यमिहण्याः
  गुद्धाक्षया वशंवदीकृतं वाणीशतं सपत्नीशतादि । तत्यमुत्कष्टम्, प्रासादश्चात्युिक्त्तः, पुनः पुनः
  भगवदालिङ्गनानुभवभाग्यपोषकसर्वेसमृद्धिमस्यञ्चति ईद्धामनीषाक्षयाऽपितया सुतया भगवतोऽहं
  श्वशुरो भवामीति अहो मे भाग्यं श्रीविष्णुचिक्तभावभावितोत्कर्षमिति भावः ।
- 3 विष्णुचित्तत्वमेवोपिर दर्शयित तत्विमित्यादिना । प्रणवे प्रथमत एव दृश्यं परं तत्वम्, अकारवाच्यत्वात् । धनक्षयरथे च सार्राधत्वात् प्रथमं दृश्यं भवित । पश्चात्तु शेषभूतो जीवः अभयत दृश्यः । भुवीति सर्वसद्ग्रहणार्थम् ।

तत्ताद्रम्गुरुदृष्टिपात्तमहिममस्तैनसा येन सा (मस्तेन यसेनसा) गीताविष्णुपदी यतीश्वरवस्तीर्थरवागाद्वात ॥

इति श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्वर्यचन्द्रिकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रखननतस्य श्रीमद्वेश्वटनाथस्य

वेदान्ताचार्थस्य क्वतिषु श्रीगीताभाष्यतात्पर्यचन्द्रिका संपूर्णो ॥

श्रीगस्तु ।

तत्ताहिगिति। तच्छव्देन प्रणवगार्थरथयथोः प्रथान्द्रस्यारमपुरुपकवेन नाम्यमुगदिद्य प्रणवार्थ-प्राह्मकः श्रीमद्द्यास्यत्व्यास्वात्वस्यरे स्वाचार्य इति अभिसंहितम् । एवं प्रणवार्थभूनदिव्यद्रगति-नम्दराव्याभिमतभगवद्भागवतपारतन्त्य-नारायणराव्याभिमतः।पृथिक्वित--चतुःवृद्धिक्षंकर्यरूपार्थ-विशेषोदाहरणानि श्रीमद्रामायणे स्वाचार्यः प्रदर्शयामानः वित्यग्मेद्विद्यास्थानवित्यपस्थयभूनः कर्मब्रह्मात्मकशास्त्रकौतस्कुतनिवहनिवर्वकथ्यासीदिति तन्भिहमानुसंधानं ताद्यिति । सर्विमिदं श्रीमद्रहस्यवयसारे प्रधानप्रतितन्त्वाधिकारे द्रष्ट्यम् । गीताविष्णुग्दिति । श्रीहण्णगीतानामेव पदानां स्ठोकात्मना संनिवेशनं व्यासविहितम् । एवञ्च श्रीहण्णपरन्तपर्धिति विश्वनिव्यं गीतायाः विष्णुपदाश्च । सेयं गीता विष्णुपद्दी । तवैक्षेकस्थोकभाष्यमध्येक्षेकं तीर्थम् । तवदस्थापप्रघटकमेदेन तीर्थमेदः गीतार्थसंत्रहप्रस्थात् प्रतिपन्तः । प्रतिदस्योक्षत्रार्थिनिद्वभीत्यादिति ॥

तत्तद्गीतास्थराव्दं तद्गभिधिविषयञ्चार्थमसावतीन्द्रैरर्थ संद्शितञ्च खरसमिममञ्ज्ञान्वयं तत्र भावम् ।
येकार्थ्यं संप्रहेणाप्यक्रव्यद्त्तप्राह्मवर्थपीइविन्द्रकार्यां
श्रीमान् वेदान्तस्रिः खयममृतमिदं सद्भिरास्मादनीयम् ॥
भाष्यार्थटीकार्थविवेचनार्थं यद्यास्थ्रया विस्तर आद्रियेत ।
स्यान्मुद्रणक्रेशवत् ईक्षितृणामात्रस्यमित्यादतसंत्रहार्शस्म ॥
यतिष्ट्रिष्णमारच्य्य विहिता गीतार्थनाम्नी हृतिः
भाष्योक्तस्य च चित्रकाविश्वादितस्यार्थस्य संप्राहिता ।
दृष्टा द्रामिडवाङ्मयीमपि च तां गृहन्तु मन्तोर्थ्यं
स्रोकानामवतारणेऽप्यतिशयं भावस्य चोद्घाटने ॥
श्रीगङ्गव्रक्षमणमुनेः शिक्षावीक्षासमृद्धारित्यम् ।
श्रीवीरराधवार्यो व्यष्यत्त वास्यो रक्षास्वादम् ॥

इति अभिनवदेशिकवात्स्यवीरगधवाचार्यकृती एता चादः ॥



श्रीः

#### श्रीकृष्णाय परमात्मने नमः

नमो नमो यामुनाय यामुताय नमो नमः। नमो नमो यामुनाय यामुनाय नमो नमः॥

[क्टस्थशीमवाथमुनिपौत्राय सिद्धान्तस्थापनार्जितार्थराज्याय सिद्धित्रयस्तोत्रद्वयागमप्रामाण्य गीतार्थसंत्रहादिग्रन्थरत्नकृते गुरुपंक्तिनिविद्याय नमः]

> यत्पद्माम्भोरुहध्यानविध्वस्ताशेषक्रसमः। वस्तुतामुपयातोऽहं यामुनेयं नमामि तम्॥

#### श्रीगीतार्थसंग्रहः तद्वचाख्यानभाष्यस्क्तयश्च ।

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यमक्त्येकगोचरः ।

नारायणः परं ब्रह्म गीताञ्चास्त्रे समीरितः ॥

ज्ञानकमीत्मिके निष्ठे योगलक्ष्ये ससंस्कृते ।

आत्मानुभृतिसिद्धचेर्थं पूर्वषट्केन चोदिते ॥

•

ş

"परमप्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणः......शीमतो नारायणस्य प्राप्युपायभृतं तदुपासनं वक्तुं प्रथमेनाध्यायपट्केन तदङ्गभूतमात्मज्ञानपूर्वककर्मानुष्ठानसाध्यं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथातस्य-दर्शनमुक्तम् ॥"

मध्यमे भगवतत्त्वयाथात्म्यावाप्तिसिद्धये ।

ज्ञानकर्माभिनिर्वत्यों सक्तियोगः प्रकीर्तितः ॥

₹

"मध्यमेन पट्केन परब्रह्मभूतपरमपुरुपस्वरूपं तदुपासनञ्च भक्तिदाब्द्वाच्यमुच्यते । अतिदायितैद्वर्यापेद्वाणामात्मकेवस्थमात्नापेद्वाणाञ्च भक्तियोगस्तत्तद्पेक्षासाधनमिति च ।"

प्रधानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वरविवेचनम् ।

कर्म चीर्भक्तिरित्यादिः पूर्वशेषोऽन्तिमोदितः ॥

S

"उपरितनपट्के च प्रकृतिपुरुपतःसंसर्गरूपप्रपञ्चेश्वरयाथात्म्य-कर्मशानभक्तिस्वरूपतदुपादान-प्रकाराश्च पट्टकद्वयोदिताः विशोध्यन्ते।"

अस्थानस्नेह-कारुण्य-धर्माधर्मभया(धियाSS)कुलम् ।

पार्थं प्रपन्नमुहिस्य शास्त्रावतरणं कृतम् ॥

٤

"एवमस्थानस्नेहकारुण्याभ्यामप्रकृति गतं क्षत्रियाणां युद्धं परमधर्ममण्यधर्मे मन्वानं धर्मवुभुत्तया च शरणागतं पार्थमुद्दिश्य, आत्मयाथाम्यक्षानेन, युद्धस्य फलामिसंधिरहितस्याऽऽत्म-प्राप्त्यापायाज्ञानेन च विना अस्य मोहो न शाम्यतीति मत्वा भगवता परमपुरुषेणाध्यात्मशास्त्रा-वतरणं कृतम्।"

नित्यात्मासंगकर्मेहागोचरा सांख्ययोगधीः ।

द्वितीये स्थितधीलक्षा घोक्ता तन्मोहशान्तये॥

"एवमात्मयाथास्यं युद्धास्यस्य च कर्मणस्तःश्राति-राधनतामज्ञानतः, शरीरात्मकानेन मोहितस्य, तेन च मोहेन युद्धानिवृत्तस्य मोहशान्तयं नित्यात्मविषया सांस्यवृद्धिः, तत्प्रविका च असंगकमन्त्रिष्टानरूपकर्मयोगविषया बुद्धिः स्थितप्रजनायोगसाधनभूता द्वितीये ऽध्याये प्रोक्ता । (। स्थितप्रज्ञत्वतन्मूलकयोगोभयसाधनभूनेत्वर्थः)

> असक्तया लोकरक्षाये गुणेव्यारोप्य कर्नृताम् ः सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता ॥

Ø

"तृतीयेऽध्याये प्रकृतिसंस्पृथ्य सुमुक्षोः सहसा ज्ञानयोगेऽनधिकारात् कर्मयोग एव कार्यः, ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि अकर्तृत्वात् संधानपूर्वककर्मयोग एव श्रेयानिति सहेतृकसूक्तम ।" "प्रकृतिविविवक्तात्मस्वरूपनिरूपणेन गुणेषु कर्तृत्वमारोप्य कमीनुष्टानप्रकारः उक्तः । तथा आत्मेनां परमपुरुपदारीरतया तन्नियाम्यत्वस्वरूपनिरूपणेन भगवति पुरुपोत्तमे सर्वात्मभूते गुणकृतं च कर्तृत्वमारोप्य कर्मकर्तव्यता।"

प्रसङ्गात् स्वस्वभावोक्तिः कर्मणोऽकर्मताऽस्य च ।

मेदाः ज्ञानस्य माहात्म्यं चतुर्थाच्याय उच्यते ॥

2

"चतुर्थेन……..अस्यैव कर्मयोगस्य निखिलजगदुद्धरणाय मन्त्रन्तरादाचेचोपदिष्टतया कर्तव्यतां द्रवियत्वा, अन्तर्गतञ्चानतया अस्थेत्र ज्ञानयोगाकारतां प्रदृष्ट्यं, कर्मयोगस्वरूपम् , तद्भेदाः, कर्मयोगे ज्ञानांशस्य प्राधान्यञ्चोच्यते : प्रसंगाचः भगवद्वताग्यायातम्यम् (आद्ौ) ।"

कर्मयोगस्य सोकर्ये शैव्रचं काश्चन तद्विधाः ।

वहाजानप्रकारश्च पञ्चमाध्याय उच्यते ॥

"कर्मयोगस्याऽऽत्मन्नाप्तिसाधनत्वे ज्ञाननिष्ठ।याः(पेक्षया) दैान्नयं कर्मयोगान्तर्गताकर्तृत्वानु-संधानप्रकारञ्च प्रतिपाद्य तन्मूलं ज्ञानञ्च विशोध्यते ।"

योगाभ्यासविधिः योगी चतुर्धा योग अधनम् ।

योगसिद्धिः खयोगस्य पारम्थं षप्र उच्यते ॥

80

"उक्तः कर्मयोगः सपरिकरः। इट्रानी श्रानयोगकर्मयोगसाध्यात्मावलोकनरूपयोगाभ्यान्तविधि-रुच्यते। तत्र कर्मयोगस्य निरपेक्षसाधनत्वं द्रढयितुं झत्नाकरः कर्मयोगो योगशिरस्कोऽनूचने।"

खयाथात्म्यं प्रकृत्याऽस्य तिरोधिः शरणागतिः ।

भक्तभेदः पबुद्धस्य श्रष्ठश्चं सप्तम उच्यते ॥

११ सप्तमे ''उपास्त्रभूतपरमपुरुपस्तरूपयाथात्म्यम् (दोपित्वं कारणत्वमाधारत्वं सर्वदारीरतया सर्वेशव्द्रवाच्यत्वं नियन्तृत्वं परतरत्वम्) प्रस्त्या तत्तिरोधानम्, तन्निवृत्तये भगवत्प्रपत्तिः, उपासकविधामेदः, ज्ञानिनः श्रष्टवञ्चोच्यते ।"

ऐश्वर्याक्षरयाधारम्यमगवचरणार्थिनाम् । वेद्योपादेवमावानाम् अष्टमे मेद् उच्यते ॥ "सप्तमे लयाणां (पेरवर्याक्षरयाथात्रयभगवचरणार्थिनां) ज्ञातव्योपादेयभेदांश्च प्रास्तौषीत् । अष्टमे प्रस्तुतान् ज्ञातव्योपादेयभेदान् (ब्रह्म अध्यात्प्रम् कर्म अधिमृतम् अधिदेवम् अधियज्ञः इत्यादीन् ) विविनक्ति ।"

> स्वमाहारम्यं मनुष्यत्वे परत्वञ्च महारमनाम् । विशेषो नवमे योगो मक्तिरूपः प्रकीर्तिनः ॥

१३

नवमे "उपास्पस्य परमपुरुपस्य माहात्म्यम् , ज्ञानिनाञ्च विशेषं विशोध्य भक्तिरूपोपासनस्य स्वरूपमुच्यते ।"

स्वक्रयाणगुणानन्त्य-कृत्स्नस्वाधीनतामतिः ।

मक्तज्ञत्पत्तिविवृद्धचर्था विस्तीर्गा दशमोदिता ॥

88

दशमे ''भक्तपुरेपत्तये तिहबुद्धये च भगवतो निरङ्कुदौश्वयीदिकस्याणगुणगणानस्यम्, इत्स्नस्य जगतस्तर्र्व्यरीरतया तदात्मकत्वेन तत्र्ववर्यत्वञ्च प्रपञ्चयते ॥''

एकादशे खयाथात्म्यसाक्षात्कारावलोकनम् ।

दत्तमुक्तं, विदिपाप्त्योभिक्तयेकोपायता तथा ॥

بها و

"भक्तियोगनिष्ठानां परमदाप्यभूतस्य.......नारायणस्य निरंकुशैष्वर्यं साक्षात्कर्तुकामाय अर्जुनाय स्वैद्वर्यं यथावद्वस्थितं दक्षितम् [उक्तमेकाद्देः]। उक्तञ्च तस्वतो भगवञ्जानदर्शन-प्राप्तीनामैकान्तिकात्यन्तिकमगवद्गस्त्येकळभ्यत्वम्।"

मक्तेः श्रेष्ठचम् उपायोक्तिः अशक्तस्यात्मनिष्ठता ।

तस्त्रकारास्त्वतित्रीतिर्भक्ते द्वादश उच्यते ॥

98

"आत्मप्राप्तिसाधनात् आत्मोपासनात् भक्तिरूपस्य भगवदुपासनस्य स्वतास्यनिष्पादने द्रीघ्रधात् सुसुखोपादानत्वाच श्रेष्ठयं भगवदुपासनोपायः तद्दशक्तस्याक्षरनिष्ठता तदपेक्षिता-इचोच्यन्ते']द्वादशे] ।

देहस्वरूपम् आत्माप्तिहेतुः आत्मविशोधनम् ।

बन्धहेतः विवेकश्च स्रयोदश उदीर्यते ॥

७ ५

"त्रयोदरो देहात्मनोः खरूपं देहयाथात्म्यशोधनं देहवियुक्तात्म्यरूपप्राप्यः विविक्तात्मस्यरूपसंशोधनम् , तथाविधस्याऽऽत्मनोऽचित्संबन्धहेतुः, ततो विवेकानुसंधान-प्रकारक्वोच्यते।"

गुणबन्धविधा तेषां कर्तृत्वं तन्निवर्तनम् ।

गतिलयस्वमूलस्वं चतुर्दश उदीर्थते ॥

86

"बन्बहेतुः पूर्वपूर्वगुणवयसुखादिसंग इत्यमिहितं बयोदशे । अथ गुणानां बन्धहेतुताप्रकारो गुणनिवर्तनप्रकारक्लोच्यते" [चतुर्दशे]।

अचिन्मिश्रात् विशुद्धाच चेतनात् पुरुषोत्तमः ।

व्यापनात् भरणात् स्वाम्यात् अन्यः पश्चदशोदितः ॥

१९

"चतुर्दशे गुणसंगप्रकारं स्विस्तरं प्रतिश्य गुणसंगितवृत्तिपूर्वकानमः। शास्यावािषक्ष भगवद्गतिम् हेन्युक्तम् । इदातीं (पञ्चरंश) भणनीयस्य भगवतः अराक्षरात्मकवत्रमुक्तोभयविभूति-मत्तां...भगवतः पुरुगोत्तमत्वञ्च वक्रतुमारभते । तत्रासंगरारकवेद्यवस्थावश्चरारपविभूति वक्रतुं हेद्यस्यवस्थाकारेण विततमित्रस्यश्चमध्यत्यवश्चाकारं कर्यसन्त्रवात्त्र ।"

> देवासुरविभागोक्तिपूर्विका शास्त्रवदयना । तत्त्वानुष्ठानविज्ञानस्थिस्ने घोडश उच्यते ॥

२०

[पोडरो] ''उक्तस्य सर्वस्थार्थस्य स्थेग्ने शास्त्रप्रदयतां वक्त्तुं शास्त्रप्रदयतद्विपरीतयोः दैवासुरस्तर्गयोर्विमागं श्रीभगवानुवाच ।''

> अशास्त्रमासुरं ऋत्स्तं शास्त्रीयं गुणतः पृथक् । रूक्षणं शास्त्रसिद्धस्य त्रिषा सप्तरशोदितम् ॥

२१

'दिवासुरिविभागोक्तिसुखेन प्राप्यतस्वधानं नव्याप्ययुगयद्यानञ्च बेद्दैकमूलिमयुक्तम् । इदानीम् (सप्तदशे) अशास्त्रविहितस्य आसुरत्वेनाकलन्वमः शास्त्रविहितस्य च गुणतस्त्रविध्यं शास्त्रसिद्धस्य (ओं तत् सिद्ति निर्देशवस्वरूपं) लक्षणञ्जोच्यते ।

> ईश्वरे कर्तृनाबुद्धिः सत्त्वोपादेवताऽन्तिमे । स्वकर्मपरिणामश्च शास्त्रसारार्थे उत्त्यते ॥

२२

२३

२४

२५

"अष्टादशे मोक्षसाधनतया निर्दिष्टयोक्त्यानसंन्यातयोक्तंत्रयम्, त्यागस्य स्वरूपम्, भगनति सर्वकर्मणां कर्तृत्वानुसंघानम्, सत्त्वगुणस्यात्रद्योपादियन्यम्, कर्मणां परमपुरुराराधनभूतानां परमपुरुपप्राप्तिनवितनप्रकारः, कृत्सनस्य गीताशास्त्रस्य न्यागर्थो भक्तियोगः इत्येतेऽर्थाः प्रतिपाद्यन्ते ॥"

कर्मयोगः तपत्तिथिदानयज्ञादिसेवनम् । ज्ञानयोगो जितत्वान्तैः परिग्रुद्धात्मनि स्थितिः ॥ भक्तियोगः परैकान्त्यभीत्या ध्यानादिषु स्थितिः । लयाणामिष योगानां लिभिरन्योन्यसङ्गमः ॥ नित्यनैभित्तिकानाञ्च पराराधनरूषिणाम् । आत्मदृष्टेखयोऽप्येते योगद्वारेण साथकाः ॥

निरस्तनिखिलाज्ञानो हथ्याऽऽत्मानं परानुगम् ।

प्रतिलभ्य परां भक्ति तथैवामोति तत्पदम् ॥ २६

वयाणां-कर्मयोगदानयोगमिक्तयोगानामिषि विविः—मिक्तदानकर्मानः सगमः। एकैकस्मिक्तपि योगे कर्मक्षानमिक्तरपादावयमस्ति । भगवित महनीये प्रतिरूपमेक्तः शास्त्रमूळतस्वक्षानस्य नित्य-कर्मानुष्टानस्य च सर्ववापिक्षितःवात् । विवेकिकियमाणे नित्यनैमिक्तितनुष्टाने प्रीप उक्तमगवर्व्याति-तस्वक्षानघटनात् भंशवयं निविष्टमेव ।

| श्रीगीतार्थसंग्रहः तद्वचारूयानभाष्यसूक्तयश्च      | 623 |
|---------------------------------------------------|-----|
| भक्तियोगः तदर्थी चेत् समग्रैश्वर्यसाधकः ।         |     |
| आत्मार्थी चेत् त्रयोऽप्येते तत्कैवल्यस्य साधकाः ॥ | २७  |
| ऐकान्त्यं भगवत्येषां चनाननिकानिकान् ।             |     |
| यावत्याप्ति परार्थी चेत् , तदेवात्यन्तमश्तुते ॥   | २८  |
| ज्ञानी तु परमैकान्ती तदायतात्मजीवनः ।             |     |
| त्रसंक्षेप्रविशेरीकपुष्टतुःसः तदेकधीः ॥           | २९  |
| नगबद्धचानथोगोक्तिबन्दनम्तुनिकीतिः ।               |     |
| लब्बात्मा नहनपारानोषुठीन्द्रिविषयः ॥              | ३०  |
| निजकर्मादि भक्त्यन्तं कुर्यात् प्रीत्यैव कारितः । |     |
| उपायतां परित्यज्य न्यस्येत् देवे तु तामभीः ॥      | ३१  |

'सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजः' इत्यस्य, 'उपायतां परित्यज्य न्यस्येत् देवे तु तामंभीः' इति विवरणम् । कर्तृत्वममताफलत्यागवत् क्रियमाणे धर्मे उपायत्वत्यागोऽपि ब्राह्मः । तिईं त्यागिश्रविध इति कथमिति चेत्—कर्तृरिव सर्वेषायपि कारकाणां सखत्यापारकर्तृत्वात् करणत्वा-देरिप कर्तृत्वान्तर्मावात् । ब्रह्मापणमिति स्रोकोक्तरीत्या सर्वस्य भगवदितिरिक्तगतधर्मस्य भगवद्व-धीनत्वात् तिस्मनेय सर्वापणमिति तस्त्रम् ।

एकान्तात्यन्तदास्यैकरतिः तत्पदमाप्नुयात् । तत्प्रधानमिदं शास्त्रमिति गीतार्थसंग्रहः ॥

३२

## इति श्रीभगवद्यासनस्रुनिवरिवरिवतो गीतार्थपंत्रहः

तद्व्याख्यान श्रीगीताभाष्यसुक्तयादिसहितः ।

ग्रभमस्तु

## अन्ततो गीताकृतो ग्रहस्योपदेशः

| "सर्वेगुह्मतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।"           |              |
|----------------------------------------------------|--------------|
| नवमान्ते भक्तियोगविषयं ते वचो मया।                 |              |
| सर्वेगुद्यतमं प्रोक्तं भूयः श्रृणु विचाग्य॥        | (8)          |
| "इप्टोऽसि मे दढमिति ततो वक्ष्यामि ने हितम ।"       | ,            |
| कर्मयोगादिभक्तवन्तमोक्षोपायमिमं यदि ।              |              |
| दुष्करं मन्यसे मोक्षे कांक्षाञ्च लगसेऽधिकाम ॥      | ( <b>૨</b> ) |
| ततो बक्ष्यामि ते तस्मादन्यत् किञ्चित् वरं हितम ।   |              |
| त्वं हि मेऽत्यन्तमिष्टोऽसि मुमुश्चस्पन् अकिञ्चनः । | (३)          |
| "सर्वधर्मीन् परित्यज्य मामेकं शरणं बज ।"           |              |
| भक्तियोगं ज्ञानयोगं कर्मयोगञ्च दुःकरम् ।           |              |
| सर्वं प्रोक्तं परित्यज्य मामुपायं विभावय ॥         | (૪)          |
| कथं भक्तेरकरणे मोक्षः स्यादिति वैक्कवीम ।          | ,            |
| वहन् वृथा तत्र यत्ने मा कुरुष्वायथायथम्॥           | (14)         |
| काम्यान् ऐस्वर्यकैयस्यफलार्थानिय तार्नापः।         |              |
| धर्मास्यक्त्वाऽनुकृलस्सन् प्रातिकृत्यञ्च वर्जयन ॥  | (3)          |
| अत्यन्ताप्तस्य मे वाचि विस्त्रम्भञ्च दृढं वहन् ।   |              |
| मोक्षदानेन मां रक्षाकिञ्चनं दययेति च ॥             | (v)          |
| याचन् मां मयि ते भारं निक्षिय स्वामिनीश्वरे ।      |              |
| एपैच रारणबज्या निष्किञ्चनहितोत्तमा ॥               | (८)          |
| "अहं त्वा सर्वेषापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"    |              |
| नरकर्स्वर्गभौमादिनानानिष्टकराः पुरा ।              |              |
| धर्माधर्ममयाः पापव्यापाराः ये त्वया कृताः ॥        | (%)          |
| तेभ्योऽहं मोक्षयिष्यामि ततस्ते परमे पदे।           |              |
| पूर्णब्रह्मानुभूत्यादि स्वयमेव भविष्यति ॥          | (१०)         |
| यावदायुस्तावदत्र नित्यनैमित्तिकेस्तु माम् ।        |              |
| प्रीत्या परिचरन् शोकभयहीनः सुर्खा भव ॥             | (११)         |
| इति श्रुतीतिहासश्रीपाञ्चगत्नप्रमाधिताम ।           |              |
| प्रपत्तिं प्रियशिष्याय प्रावोचत् पार्थसारिधः ॥     | (१૨)         |
|                                                    |              |

गुभम**स्तु** 

## उमयवेदान्तग्रन्थमालासंपादकः

#### BOOKS READY FOR SALE

| 1.  | Sri Bhashya with Sruta Prakasika                                                       | 50 | 00 |
|-----|----------------------------------------------------------------------------------------|----|----|
| 2.  | Sri Bhashya with Bhashyartha Darpana                                                   | 25 | 00 |
| 3.  | Vedanta Dipa                                                                           | 4  | 00 |
| 4.  | Paramartha Bhushana                                                                    | 25 | 00 |
| 5.  | Vaiseshika Darsana with Rasayana                                                       | 7  | 00 |
| 6.  | Tarkasangraha with Sukha Pravesini                                                     | 1  | 00 |
| 7.  | Upayukta Parayana                                                                      | 2  | 50 |
| 8.  | Rakshagranthas — by Srimad Vedanta Desika                                              | 10 | 00 |
| 9.  | Seswara Mimamsa and Mimamsa Paduka with Commentary                                     | 10 | 00 |
| 10. | Yadavabhyudaya with Appayya Dikshita's<br>Commentary and Tamil Translation             | 40 | 00 |
| 11. | Paduka Sahasra with ", ",                                                              |    |    |
| 12. | Sankalpa Suryodaya with Sanskrit and Tamil Commentaries                                | 30 | 00 |
| 13. | Subhashita Nivi " "                                                                    | 15 | 00 |
| 14. | Sri Bhagavad Gita with Sri Ramanuja Bhashya<br>& Sri Desika's Commentary and footnotes | 35 | 00 |
| 15. | ஸ்ரீ பகவத்கீதை தமிழ் பெயர்ப்பு—கீதார்த்தம்                                             | 20 | 00 |

All other Sri Desika's works are being published.

# Ubhaya Vedanta Granthamala

25, Nathamuni Street, T. Nagar Madras - 17